

ऋग्वेद-भाष्यम्

भगवत्पाद-दयानन्दसरस्वती-विरचितम्

[उपोद्घातेन विविधाभिष्टिप्पणीभिः सूचीभिश्चालंकृतम्]

तस्यायं

प्रथमो भागः

मण्डल १, सूक्त १—१६

सम्पादकः—
युधिष्ठिरो मीमांसकः

प्रकाशकः—
चौधरी प्रतापसिंह
५७ एल. माडल टाउन
करनाल (हरयाणा)

प्राप्ति-स्थानम्—
रामलाल कपूर ट्रस्ट
बहालगढ़
(सोनीपत-हरयाणा

प्रथमं संस्करणम्—१०००
सं० २०२९, सन् १९७३
मूल्यम् २५-००

मुद्रकः—
सुरेन्द्रकुमार कपूर
रामलाल कपूर ट्रस्ट
बहालगढ़ (सोनीपत

समर्पण

ब्रह्मा से लेकर जैमिनि पर्यन्त वेद के द्रष्टा-मन्ता-प्रवक्ता-उपदेष्टा
ऋषि-मुनि-आचार्यों के वेदविषयक मन्तव्य के अनुसार
वर्तमान युग के विलुप्तवेदविद्या के पुनरुद्धारक
युग-प्रवर्तक योगिराज महातपस्वी आनन्दकन्द

महर्षि दयानन्द सरस्वती

विरचित ऋग्वेदभाष्य के
सुसम्पादित संस्करण के
प्रथम भाग को
'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये'
के अनुसार आपके ग्रन्थ को
आपकी पवित्र स्मृति में
पत्र-पुष्प रूप में
आप को ही

समर्पित

करता हूं।

प्रतापसिंह (करनाल)

प्रकाशकीय

ऋषि दयानन्द के ऋग्वेदभाष्य का सुसम्पादित कोई संस्करण अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ। उसके सुसम्पादित शुद्ध प्रामाणिक संस्करण की महती आवश्यकता थी। उसे पूरा करने की शुभ इच्छा से मैंने श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक से विचार किया, और उन्हें इस कार्य को करने के लिये कहा। श्री मीमांसक जी ने इस महत्वपूर्ण कार्य को करना स्वीकार करके मुझे उत्साहित किया। आपने ऋषि दयानन्द के हस्तलेखों और मुद्रित संस्करणों से मिलान करके इसका सुसम्पादन किया। भाषा को भी, जहां वह ऋषि के मूल संस्कृत-पाठ के अनुकूल न थी, थोड़ा-बहुत शोध कर संस्कृत-भाष्य के अनुकूल बना दिया। साथ ही ऋषि के भाष्य पर शतशः उपयोगी टिप्पणियां देकर इस संस्करण को महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक बना दिया। साथ ही अपने निरीक्षण में रामलाल कपूर ट्रस्ट के प्रेस में छपाने की सुव्यवस्था की। इस कार्य से मुझे भी ऋषि-ऋण से कुछ उऋण होने और वैदिक साहित्य की सेवा करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। ऋषि दयानन्द के ऋग्वेद-भाष्य के सुसम्पादित प्रथम भाग को वेद-प्रेमी सज्जनों के हाथों में उपस्थित करते हुए मुझे प्रसन्नता हो रही है। इसका दूसरा भाग भी छप रहा है, वह भी कुछ मास पश्चात् प्रकाशित हो जायेगा।

इस कार्य का अधिक भार श्री मीमांसक जी को ही उठाना पड़ा। उनके ऊपर रामलाल कपूर ट्रस्ट का कार्य-भार पहले ही पर्याप्त था, फिर भी उन्होंने इसे पूर्ण करने का जो उद्योग किया है, उसके लिए मैं उनका आभारी हूं।

इस कार्य में श्री पं० वीरसेन जी वेदश्रमी, और श्री डा० रत्नचन्द्र जी शर्मा, प्रि० दयालसिंह कालेज करनाल का सहयोग भी प्राप्त हुआ। इसके लिये मैं इन दोनों महानुभावों का भी आभार प्रकट करता हूं।

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट के अधिकारियों ने ऋषि के इस कार्य को अपना ही कार्य समझते हुए श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक को इस कार्य के करने की अनुमति प्रदान की। इसके लिये मैं श्री रा.ला. कपूर ट्रस्ट के अधिकारियों का भी आभारी हूं।

रामलाल कपूर ट्रस्ट के कार्यकर्त्ताओं विशेषकर श्री पं० महेन्द्र शास्त्रीजी का भी आभारी हूं, जिनके सहयोग से यह ग्रन्थ सुन्दर एवं शुद्ध छप सका।

अन्त में श्री आर० सी० सेठी जी, एजेण्ट 'कर्मचन्द थापर एण्ड ब्रदर्स' का धन्यवाद करता हूं, जिन्होंने समय पर और उचित मूल्य पर कागज देकर हमारी सहायता की।

५७ एल. माडल टाउन
करनाल (हरयाणा)

निवेदक—
प्रतापसिंह

भगवद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनां वेदभाष्यस्य महत्त्वम्

वेदप्रचारायोत्सर्गीकृतकायस्याशेषशेमुषीसम्पन्नस्य श्रीमद्भगवत्पाददयानन्दसरस्वतीस्वामिनः कृतस्यर्ग्वेदभाष्यस्य प्रथमं भागं वेदविद्याजुषां वैदिकवाङ्मये कृतभूरिपरिश्रमाणां विदुषां करकमलेषूपस्थापयन् कमपि परमं सन्तोषमलौकिकमानन्दं चाहमनुभवामि। मम चिरकालाद् भगवत्पादकृतस्य वेदभाष्यस्य सुसम्पादितसंस्करण-प्रकाशनस्य महतीच्छाऽऽसीत् । तस्याः कार्यरूपे परिणतिरेतद्भागप्रकाशनेन प्रारब्धा । कार्यमिदमत्यन्तपरिश्रमसाध्यं बहुद्रव्यविनियोजनसाध्यं च वर्तते । तथापि—

'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते । स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥'

इति भगवद्गीतावचनमनुसरन्नस्मिन् दुःसाध्ये कर्मण्यहं प्रवृत्तः । यद्यहं स्वजीवने साधनाभावान्नैरोग्याभावाच्च समापने समर्थो न भविष्यामि, तदाप्यात्मतोषस्तु सम्पत्स्यत एव यदेतद्दङ्महत्कर्मसम्पादनेनाहमृष्यृणात् स्वल्पेऽप्यंशे मुक्तोऽभूवम् ।

भगवत्पादप्रादुर्भावात् प्राक्कालिका स्थितिः

वैदिकर्षिमुन्याचार्यवर्येष्वस्तन्नेष्वस्यां भारतभुवि वेदविद्या क्रमशो ह्रासतामगच्छत् । वेदविद्यारूपिणि सूर्येऽस्तंगते नानाऽनृषिकृताः कल्पितेतिहासपुराणोपपुराणस्मृत्युपस्मृतिग्रन्थाः खद्योता

महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य का महत्त्व

वेद-प्रचार के लिये प्राणों का भी बलिदान देनेवाले परम बुद्धिमान् भगवान् दयानन्द सरस्वती कृत ऋग्वेदभाष्य के प्रथम भाग को वेद-विद्या-प्रेमी विद्वानों के सन्मुख उपस्थित करते हुए मैं परम सन्तोष और आनन्द का अनुभव करता हूं। मेरी चिरकाल से अभिलाषा थी कि भगवत्पाद दयानन्द के वेदभाष्य का सुसम्पादित सुन्दर संस्करण प्रकाशित किया जाये। इस इच्छा की कार्यरूप में परिणति इस भाग के प्रकाशन से आरम्भ हुई है। यह कार्य महान् परिश्रम-साध्य एवं बहुत धन-साध्य है। फिर भी गीता (२।४०) के 'शुभ कर्म में प्रवृत्ति फलदायिनी होती है, उसके पूर्ण न होने पर भी अधर्म का स्पर्श नहीं होता। इस धर्म का स्वल्प पालन भी भावी महाभय से रक्षा करता है' इस वचन का अनुसरण करते हुए मैं इस दुःसाध्य कर्म में प्रवृत्त हुआ हूं। यदि मैं अपने जीवन में साधनों के अभाव तथा शारीरिक अस्वस्थता के कारण इसके समापन में समर्थ न भी होऊं, तो भी यह आत्मसंतोष तो होगा ही कि मैं ऋषि ऋण के स्वल्प अंश से तो उऋण हुआ हूं।

भाष्यकार से पूर्वकालिक परिस्थिति – वैदिक ऋषि-मुनि-आचार्यों के इस भारतभूमि से समाप्त हो जाने पर वेदविद्या क्रमशः ह्रास को प्राप्त होती गई। वेदविद्यारूपी सूर्य के अस्त हो

इव प्रतिष्ठामलभन्त, वेदविरुद्धाश्चार्वाकबौद्धजैनवाममार्गादीन्यनेकमतमतान्तराणि च प्रादुरभवन्। एतेषां प्रचारेण प्रवृद्धया चाविद्यातामिस्रं प्रावर्धत, वेदवेदाङ्गानां पठनपाठनं च नामशेषमवाशिष्यत। तत्रापि वेदानां पठनपाठनं केवलं कण्ठस्थीकरणमात्रमेव प्राचलत्। एवंविधे काले केचन स्कन्दस्वामिवेङ्कटमाधवोवटसायणमहीधरादयो विद्वांसो नानावेदभाष्याण्यकार्षुः। वास्तविकवेदज्ञानविरहत्वादेते भाष्यकारा वेदमपौरुषेयं मन्यमाना अपि नानाकल्पितपुराणेतिहासादीन् आश्रित्य लौकिकेतिहासभूगोलपशुसंज्ञापनादीन् अन्यांश्चावैदिकान् आचारान् स्ववेदभाष्येषु वर्णितवन्तः। एतेषां वेदभाष्यैर्न केवलं लोक एव वेदान् प्रत्यनास्था प्रादुरभवद्, अपि तु पाश्चात्यैर्यहूदीसाईमतापक्षपातिभिर्विद्वद्भिर्यद् वैदिकवाङ्मये कार्यं कृतं तत्र तैरमान्यान्येव भाष्याण्यग्रेकृत्य वैदिकवाङ्मयविषये बहुविधानास्थोत्पादकमतानि प्रादुष्कृतानि। तानि च पुरस्कृत्य ईसाईमुसलमानमतावलम्बिनो जना वैदिकधर्मिण आर्यान् स्वस्वमते दीक्षयितुं महत्प्रयत्नमातिष्ठन्त।

भगवत्पाददयानन्दस्वामिनः प्रादुर्भावः

एवंविधेऽन्धतामिस्रे काले भगवत्पादस्य तत्रभवतः श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनः प्रादुर्भावोऽभूत्। तैर्यथावद् वेदादीनि शास्त्राण्यधीत्याऽऽर्यावर्तवासिनां शारीरिकमानसिक-पीडामनुभूय, तत्कारणं च विज्ञाय भारते वर्षे प्रसृतान्यनेकविधावैदिकमतान्युन्मूलयितुं शास्त्रतर्कसमन्वितमभियानं प्राचालि। सर्वविधस्याज्ञानस्य मूलं वैदिकवाङ्मयस्याप्रचारं निश्चित्य वेदानां यथावत् प्रचाराय

जाने पर जुगनुओं के समान नाना साधारणजन-कल्पित इतिहास, पुराण, उपपुराण, स्मृति, उपस्मृति आदि ग्रन्थ प्रतिष्ठा को प्राप्त हुए, और अनेक वेदविरुद्ध चार्वाक बौद्ध जैन वाममार्ग आदि गतमतान्तर प्रादुर्भूत हुए। इनके प्रचार और वृद्धि से अविद्यारूपी अन्धकार बढ़ा, और वेद-वेदाङ्गों का पठन-पाठन शिथिल हुआ। उनमें भी वेद का पठन-पाठन केवलमात्र कण्ठ करने तक ही सीमित हो गया। ऐसे काल में स्कन्द स्वामी वेङ्कटमाधव उवट सायण महीधर आदि ने वेदों के कई भाष्य लिखे। वास्तविक वैदिक ज्ञान से रहित होने के कारण इन भाष्यकारों ने वेद को अपौरुषेय मानते हुए भी नाना कल्पित इतिहास पुराणों का आश्रय लेकर लौकिक इतिहास भूगोल पशुबलि आदि तथा अन्य अवैदिक आचारों का अपने वेदभाष्यों में वर्णन किया। इन लोगों के वेदभाष्यों से केवल लोक में ही वेदों के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न न हुई, अपितु पाश्चात्य यहूदी ईसाई मत के पक्षपाती विद्वानों ने वैदिक वाङ्मय के विषय में जो भी कार्य किया उसमें उक्त भाष्यों को ही आधार बनाकर वैदिक वाङ्मय के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करनेवाले नानावादों को उजागर किया। उन्हीं मतों का आश्रय लेकर ईसाई मुसलमान वैदिकधर्मी आर्यों को अपने मत में दीक्षित करने के महान् प्रयत्न में प्रवृत्त हुए।

भगवान् दयानन्द का प्रादुर्भाव—इस प्रकार के महा अन्धकारमय काल में भगवान् दयानन्द का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने यथावत् वेदादिशास्त्रों का अध्ययन करके, भारतीय आर्यों की शारीरिक और मानसिक पीड़ा का अनुभव करके, उसके मुख्य कारण का निदान करके भारतवर्ष में फैले हुए बहुविध अवैदिक मतों के खण्डन के लिये शास्त्र-तर्क-समन्वित अभियान चलाया। सब प्रकार के अज्ञान का मूल वैदिक वाङ्मय का अप्रचार है, ऐसा निश्चय करके उनके यथावत्

भारतस्यार्धाधिके भागे भ्रमणं विधाय शास्त्रार्थोपदेशपाठशालास्थापनादिविविधकार्यैः सह स्थायि-लाभाय ग्रन्थनिर्माणकार्यमपि प्रारम्भि।

भगवत्पादकृतो ग्रन्थराशिः

भगवत्पादेन सर्वमपि कार्यजातं स्वजीवनस्यान्तिमे दशके एव कृतम् (ततः पूर्वं द्वित्रा एव स्वल्पकाया ग्रन्था रचिताः)। तत्र प्रचाराय सर्वत्र भ्रमणं कुर्वता यद् ग्रन्थप्रणयनं विहितं तद्धस्तलेख-परिमाणमुपविंशतिसहस्रपृष्ठमितं वर्तते। दशवर्षमितेऽल्पीयसि काले देशाटनपूर्वकशास्त्रार्थोपदेशादि-बहुकार्यसंकुलिते उक्तपरिमाणमितं ग्रन्थनिर्माणकार्यमत्यन्तमाश्चर्यकरम्। तत्र भगवत्पादकृता इमे ग्रन्थाः—

१. सन्ध्या	(संस्कृत)	काल	१६२०	वैक्रमाब्दः
२. भागवत-खण्डनम्	,,	,,	१६२३	,,
३. अद्वैतमत-खण्डनम्	,,	,,	१६२७	,,
४. सत्यार्थ-प्रकाशः	(भाषा)	,,	१६३१	,,
५. सन्ध्योपासनादि-पञ्चमहायज्ञ-विधिः [भाष्य-सहितः]	(संस्कृत)	,,	१६३१	,,
६. वेदान्तिध्वान्त-निवारणम्	(भाषा)	,,	१६३१	,,
७. वेदविरुद्धमत-खण्डनम्	(संस्कृत)	,,	१६३१	,,
८. शिक्षापत्रीध्वान्त-निवारणम्	,,	,,	१६३१	,,
६. वेदभाष्यनिदर्शनाङ्कः	(सं० गुज० मराठी)	,,	१६३१	,,
१०. आर्याभिविनयः	(भाषा)	,,	१६३२	,,
११. संस्कारविधिः	(संस्कृत-भाषा)	,,	१६३२	,,
१२. चतुर्वेद-विषयसूची	(संस्कृत)	,,	१६३३	,,
१३. वेदभाष्यनिदर्शनाङ्कः (पुनः)	(संस्कृत-भाषा)	,,	१६३३	,,
१४. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका	,, ,,	,,	१६३३	,,

प्रचार के लिये आधे से अधिक भूभाग में भ्रमण करके शास्त्रार्थ-उपदेश और पाठशालाओं का स्थापन आदि विविध कार्यों के साथ-साथ ग्रन्थ-निर्माण कार्य भी आरम्भ किया।

भगवत्पादकृत ग्रन्थराशि—भगवान् दयानन्द ने उक्त समस्त कार्य अपने जीवन के अन्तिम दश वर्षों में ही किया (उससे पूर्व दो-तीन ही छोटी पुस्तिकाएं लिखीं)। इस स्वल्पकाल में भी सर्वत्र भ्रमण करते हुए जो ग्रन्थ लिखे, उनके हस्तलेखों का परिमाण फुलसकेप आकार के लगभग २० सहस्र पृष्ठ हैं। दश वर्ष के काल में देशाटन पूर्वक शास्त्रार्थ-उपदेशादि कार्य करते हुए उक्त परिमाण में ग्रन्थराशि का लिखना ही अपने आप में आश्चर्यजनक है। भगवद्दयानन्दकृत ४३ ग्रन्थ हैं—

ग्रन्थों के नाम और काल का निर्देश ऊपर संस्कृत-भाग में किया है, वहां देखें।

१५. पञ्चमहायज्ञविधिः [पुनर्निबद्धा]	(संस्कृत-भाषा)	कालः	१९३४	वैक्रमाब्दः
१६. ऋग्वेदभाष्यम् [मं० ७, सू० ६१, मन्त्र २ पर्यन्तम्]	,, ,,	,,	१९३४	,,
१७. यजुर्वेदभाष्यम् [सम्पूर्णम्]	,, ,,	,,	१९३४	,,
१८. आर्योद्देश्यरत्नमाला	(भाषा)	,,	१९३४	,,
१९. भ्रान्ति-निवारणम्	,,	,,	१९३४	,,
२०. अष्टाध्यायी-भाष्यम् [चतुर्थाध्यायान्तम्]	(संस्कृत-भाषा)	,,	१९३५	,,
२१. आत्मचरितम्	(भाषा)	,,	१९३६	,,
२२. संस्कृतवाक्यप्रबोधः	(संस्कृत-भाषा)	,,	१९३६	,,
२३. व्यवहारभानुः	(भाषा)	,,	१९३६	,,
२४. गोतम-अहल्या की कथा	(?)	,,	१९३७	,,
२५. भ्रमोच्छेदनम्	(भाषा)	,,	१९३७	,,
२६. अनुभ्रमोच्छेदनम्	,,	,,	१९३७	,,
२७ गोकरुणानिधिः	,,	,,	१९३७	,,
२८—४१ वेदाङ्गप्रकाशः [चतुर्दशभागात्मकः]	,,	,,	१९३६-३८	,,

१. वर्णोच्चारणशिक्षा	८. आख्यातिकः
२. सन्धिविषयः	९. सौवरः
३. नामिकः	१०. पारिभाषिकः
४. कारकीयः	११. धातुपाठः (सम्पादनम्)
५. सामासिकः	१२. गणपाठः (सम्पादनम्)
६. स्त्रैणताद्धितः	१३. उणादिकोशः (संस्कृत-व्याख्या)
७. अव्ययार्थः	१४. निघण्टुः (सम्पादनम्)

४२. सत्यार्थ-प्रकाशः [पुनरुपनिबद्धः]	(भाषा)	कालः	१९३९	वैक्रमाब्दः
४३. संस्कारविधिः [पुनरुपनिबद्धः]	,,	,,	१९४०	,,

भगवत्पादकृतानामेतेषां ग्रन्थानां विस्तरेण परिचयोऽस्मत्कृते 'ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास' नाम्नि ग्रन्थे द्रष्टव्यः।

भगवत्पादकृतं वेद-भाष्यम्

वेदान् यथावत् पुनः प्रतिष्ठापयितुं, तद्विषये प्रसृतान् विविधवादानुन्मूलयितुं च तत्र भवताऽऽचार्यवर्येण वेदभाष्यस्योपक्रमः कृतः। भगवत्पादस्य चतुर्णामपि वेदानां भाष्यकरणस्या-

---

भगवान् दयानन्द विरचित इन सभी ग्रन्थों का विस्तार से परिचय मेरे 'ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास' नामक ग्रन्थ में देखें।

भगवान् दयानन्दकृत वेदभाष्य—वेदों की पुनः यथावत् प्रतिष्ठा के लिये, और वेद के विषय में प्रचलित विविध मतों का उन्मूलन करने के लिये भगवान् दयानन्द ने वेदभाष्य रचने का

भिलाषाऽऽसीत्, परन्तु तत्र दैवदुर्विपाकेन केनचिद् आततायिना विषदानेन तदीयान् प्राणान् उन्मूल्य तुषारापातो व्यधायि। तेन तज्जीवनस्य प्रधानभूतं कार्यमिदं पूर्ति नालभत। यजुर्वेदस्य सम्पूर्णम्, ऋग्वेदस्य सप्तममण्डलस्यैकषष्टितमस्य च सूक्तस्य द्वितीयमन्त्रं यावदेव भाष्यं रचयित्वा दिवं गतवान्।

वेदभाष्यनिर्माणात्, पूर्वं भाष्यकारेण चतुर्णामपि वेदानां यथावद् अवगाहनं कृत्वा करिष्यमाणस्य स्वीयवेदभाष्यस्य रूपरेखा निर्धारिता। वेदभाष्यसाहाय्यार्थं सर्वप्रथमं 'चतुर्वेद-विषयसूची' नाम्ना वेदचतुष्टयप्रतिपादितानां विषयाणामानुपूर्व्येण संकलनं विहितम्। संकलनमिदं तन्निर्वाणाद् अष्टाशीतिवर्षानन्तरं गतवर्ष एव तदुत्तराधिकारिण्या परोपकारिणीसभया प्रकाशितम्।

एवं चतुर्णामपि वेदानां करिष्यमाणस्य भाष्यस्य रूपरेखां निश्चित्य वेदभाष्यकर्म प्रारब्ध-वान्। तत्रादौ चतुर्वेदभाष्याणाम् 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' नाम्नीं महत्त्वपूर्णां भूमिकां व्यरचयत्। तदनन्तरं च १९३४ वैक्रमाब्दस्य मार्गशीर्षमासस्य शुक्लपक्षस्य षष्ठ्यां तिथौ मंगलवारे ऋग्वेद-भाष्योपक्रमो विहितः। ततः सप्तत्रिंशद् दिवसानन्तरमेव १९३४ वैक्रमाब्दस्य पौषमासस्य शुक्ल-पक्षस्य त्रयोदश्यां तिथौ गुरुवारे यजुर्वेदभाष्यस्यारम्भः कृतः।

यद्यपि यजुर्वेदभाष्यारम्भे 'ऋग्वेदस्य विधाय वै भाष्यं' इत्युक्तं, तथाप्युभयोर्भाष्ययोरुपक्रमे सप्तत्रिंशद्दिनानामेवान्तरदर्शनाद् 'विधाय' पदस्य 'आरभ्य' इत्यर्थ एव तात्पर्यं, नर्ग्वेदभाष्य-समाप्ताविति स्पष्टमेव।

उपक्रम किया। आचार्यवर की चारों वेदों के भाष्य करने की अभिलाषा थी, परन्तु हमारी हत-भाग्यता से किसी आततायी ने विष देकर उनके प्राणों को हर लिया, और उनकी अभिलाषा पूर्ण न हो सकी। वे अपने जीवन में यजुर्वेद का सम्पूर्ण तथा ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के इकसठवें सूक्त के दूसरे मन्त्र तक ही भाष्य रचकर दिवंगत हो गये।

वेदभाष्य की रचना से पूर्व भाष्यकार ने चारों वेदों का भली-भांति विचार करके भावी वेदभाष्य की रूपरेखा निर्धारित की, और वेदभाष्य की सहायता के लिये **'चतुर्वेद-विषय-सूची'** का संकलन किया। इस संकलन को उनके स्वर्गवास के ८८ वर्ष के पश्चात् गत वर्ष ही उनकी उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा ने प्रकाशित किया है।

इस प्रकार चारों वेदों के भाष्यों की रूपरेखा का निश्चय करके उन्होंने वेदभाष्य आरम्भ किया। वेदभाष्य से पूर्व चारों वेदों के भाष्यों की **'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका'** नामक महत्वपूर्ण भूमिका लिखी। उसके अनन्तर १९३४ वैक्रमाब्द के मार्गशीर्षमास के शुक्लपक्ष की छठी तिथि मंगलवार के दिन 'ऋग्वेदभाष्य' का आरम्भ किया। उसके ३७ दिन बाद ही सं० १९३४ के पौष शुक्ल त्रयोदशी गुरुवार को 'यजुर्वेदभाष्य' का आरम्भ भी कर दिया।

यद्यपि यजुर्वेदभाष्य के आरम्भ में **'ऋग्वेद के भाष्य को** (विधाय=) **करके**...' लिखा है, फिर भी दोनों भाष्यों के आरम्भ करने में ३७ दिन का ही भेद होने से यहां **'विधाय'** का अर्थ **'आरम्भ करके'** इतना ही अभिप्रेत है, न कि ऋग्वेदभाष्य को पूर्ण करके, यह स्पष्ट है।

आमहाप्रयाणात् (कार्तिक कृ० ३०, सं० १९४० पर्यन्तं) भगवद्दयानन्दसरस्वत्या ऋग्वेदस्य सप्तममण्डलस्यैकषष्टितमसूक्तस्य द्वितीयमन्त्रं यावदेव भाष्यं विहितमित्युक्तं पुरस्तात्।

यजुर्वेदभाष्यस्य समाप्तिबोधकं वाक्यं ग्रन्थान्त एवं दृश्यते—मार्गशीर्ष कृष्ण १ शनौ संवत् १९३९ में समाप्त किया।

एवं यजुर्वेदभाष्यस्य रचनोपपञ्चवर्षेष्वभवत्। यजुर्भाष्यरचनया सहैवर्ग्वेदभाष्यरचना-कार्यमपि प्राचलत्।

भाष्यकारस्य वेदविषयिका धारणा

तत्र भगवतो भाष्यकारस्य वेदविषयिका या धारणा सा तदीयया चतुर्वेदविषयसूच्या ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकया च स्पष्टं शक्यते ज्ञातुम्। तत्र यद् वस्तुतत्त्वं विस्तरेणोक्तं, तस्यायं संक्षेपः—

१. वेदोऽपौरुषेयः, देवाधिदेवस्य मनीषिणः स्वयम्भुवः कवेः काव्यम्, महाभूतस्य परब्रह्मणो निश्वासभूतो नित्यः। अत एव—

२. तत्र तत्र निर्दिष्टा मन्त्राणामृषयस्तेषां द्रष्टार एव न तु कर्तारः। अत एव (ऋषि-प्रणीतत्वाभावादेव)—

३. वेदे कस्यचिद्देशस्य जातेर्व्यक्तेर्वेतिवृत्तं नास्ति। तत्र तत्र प्रतीयमानाः कथा आलङ्-कारिकाः, न वास्तविक्यः। अत एव—

महाप्रयाण से पूर्व (कार्तिक कृ० ३०, सं० १९४०) तक भगवान् दयानन्द ने ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के इकसठवें सूक्त के दूसरे मन्त्र तक ही भाष्य किया था, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।

यजुर्वेदभाष्य का समाप्ति-बोधक वाक्य ग्रन्थ के अन्त में इस प्रकार मिलता है—**मार्गशीर्ष कृष्ण १ शनौ संवत् १९३९ में समाप्त किया**। इस प्रकार यजुर्वेद का भाष्य लगभग पांच वर्षों में पूरा हुआ। यजुर्वेद भाष्य के साथ-साथ ऋग्वेदभाष्य का भी लेखनकार्य बराबर चलता रहा।

भगवान् दयानन्द की वेदविषयक धारणा—भाष्यकार भगवान् दयानन्द की वेद-विषयक क्या धारणायें थी, यह उनकी 'चतुर्वेद-विषय-सूची' और 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' से स्पष्टतया जानी जा सकती हैं। वहां पर उन्होंने जो बातें विस्तार से लिखी हैं, उनका संक्षेप इस प्रकार जानना चाहिये—

१. वेद अपौरुषेय, देवाधिदेव मनीषी स्वयम्भू कवि का काव्य हैं, महाभूत परब्रह्म से निःश्वास के समान प्रादुर्भूत नित्य हैं। इसलिये—

२. वैदिक वाङ्मय में निर्दिष्ट मन्त्रों के ऋषि उनके द्रष्टा हैं, न कि रचयिता। इसी कारण (ऋषियों द्वारा प्रणीत न होने से)—

३. वेद में किसी देश जाति वा व्यक्ति विशेष का वर्णन नहीं है। यत्र तत्र प्रतीयमान कथाएं आलङ्कारिक हैं, वास्तविक नहीं। इसी कारण—

४. वेदे नामानि न रूढानि, अपि त्वाख्यातजानि यौगिकानि। अत एव तानि सर्वविध-प्रक्रियागामीनि। अत एव—

५. वेदः सर्वसत्यविद्यानामाकरग्रन्थः। अत एव—

६. वेदे समस्तमप्याधिभौतिकमाधिदैविकं पदार्थविज्ञानं सूत्ररूपेण निहितम्। सहैतेन—

७. वेदस्य मुख्यं तात्पर्यमध्यात्मज्ञाने परिणतिं लभते। अत एव—

८. वेदे निर्दिष्टानि अग्निवाय्विन्द्रादीनि समस्तानि दैवतपदानि उपासनाप्रकरणे (अध्यात्म-प्रक्रियायां) परब्रह्मण एव वाचकानि, न भौतिकपदार्थानाम्। तथा च

९. याज्ञिकक्रियाकाण्डस्याधिदैविकसृष्टियज्ञे (विज्ञाने) पर्यवसानम्। तेन—

१०. युक्तिप्रमाणसिद्धो याज्ञिकक्रियाकलापो मन्त्रार्थानुसृतो विनियोगः। तदनुसारी याज्ञिक-प्रक्रियानुरूपोऽर्थो ग्राह्यः, न तद्विपरीतः।

११. वेदस्य मनीषिणः स्वयम्भुवः कवेः काव्यत्वात् तद्वाक्यरचना बुद्धिपूर्वा। अत एव—

१२. वेदे भौतिकपदार्थानामुपासना, तेभ्योऽभिलषितवस्तुनो याचना, अश्लीलता, वर्गद्वेषः, पशुहिंसा इत्येवमादीनामसम्भवानर्थकारिणां विषयाणां लेशमात्रमपि न सम्भवति। तथा च—

१३. परब्रह्मणा सविश्वोत्पादिता अग्निवाय्वादयः पदार्था यथा सार्वजनीना, एवं तदीयं वेदरूपं ज्ञानमपि सार्वजनीनम्। न तत्र कस्यचिदेव वर्णस्य पुंव्यक्तेरेवाधिकारः।

---

४. वेद में कोई नाम रूढ़ नहीं है, अपितु सभी नाम धातुज (=धातुओं से निष्पन्न) होने से यौगिक हैं।

५. वेद सब सत्यविद्याओं की खान हैं। इसी कारण—

६. वेदों में समस्त आधिभौतिक एवं आधिदैविक ज्ञान-विज्ञानरूप पदार्थविद्या सूत्ररूप से निहित है। इसी के साथ—

७. वेद का मुख्य तात्पर्य अध्यात्मज्ञान में समाप्त होता है। इसी कारण—

८. वेद में निर्दिष्ट अग्नि वायु इन्द्र आदि देवतावाची पद उपासनाप्रकरण (अध्यात्म) में परब्रह्म के ही वाचक होते हैं, भौतिक पदार्थों के नहीं। इसके साथ ही—

९. याज्ञिक क्रियाकाण्ड की आधिदैविक सृष्टयज्ञ में परिसमाप्ति होती है। इस कारण—

१०. युक्ति-प्रमाण-सिद्ध याज्ञिक क्रियाकलाप, मन्त्रार्थ के अनुकूल विनियोग और तदनुसारी याज्ञिक प्रक्रिया पर मन्त्रार्थ भी ग्राह्य है, उससे विपरीत नहीं।

११. वेद मनीषी स्वयम्भू कवि का काव्य है। अतः उसकी वाक्य-रचना बुद्धिपूर्वक ही है। इसी कारण—

१२. वेद में भौतिक पदार्थों की उपासना, उनसे अभीष्ट वस्तु की प्रार्थना, अश्लीलता, वर्ग-द्वेष, पशुहिंसा इत्यादि असम्भव एवं अनर्थकारी विषयों का वर्णन लेशमात्र भी नहीं है। तथा—

१३. परब्रह्म से उत्पादित अग्नि वायु आदि पदार्थ जैसे प्राणिमात्र के लिये उपकारक हैं,

१४. वेदः प्रकाशवत् स्वतःप्रमाणम् । अन्यत्समस्तमपि लौकिकं वैदिकं च वाङ्मयं पः प्रमाणम् । तेनैतद् वेदविरोधे सत्यनपेक्ष्यम्, अर्थाद् अप्रमाणम् । अत एव—

१५. वेदव्याख्याविधाने व्याकरणनिरुक्तछन्दोज्योतिषपदपाठप्रातिशाख्यादिभ्यः, आ वेदाद्युपवेदेभ्यः, मीमांसादिदर्शनशास्त्रेभ्यः, शाखाब्राह्मणारण्यकोपनिषत्कल्पसूत्रादिभ्यश्च साहा ग्रहीतुं शक्यते । परन्तु तद्विरोधादनन्वयाच्चैव न काचिन्मन्त्रव्याख्याऽप्रामाणिकीति शक्यते वक्तु यावत्सा स्वयं वेदविरुद्धा न स्यात् ।

१६. वैदिकानि छन्दांस्यपि येन लक्षणेन यथावदुपपद्यन्ते, तदनुसारमेव निर्देष्टुमर्हा (पिङ्गलछन्दःसूत्रस्य सर्ववेदसाधारणत्वात्तस्यैव प्राधान्येनानुगमो युक्तः), न तेन लक्षणे यमाश्रित्य छन्दस्सु व्यूहादिकल्पना कर्तव्या भवेत् (सर्वानुक्रमण्याद्यनुसारं छन्दांसि व्यूहितव्या जायन्ते)[१] ।

एतद्भाष्यविषय इदमन्यद् विज्ञेयम्—प्राचीनैर्ऋषिमुन्याचार्यवर्यैरधियज्ञाधिदैवताध्या विषयिका त्रिविधा वेदव्याख्योररीक्रियते । तदनुसारमयमपि भाष्यकारस्त्रिविधां मन्त्रार्थप्रत्रि

उसी प्रकार उसका वेदरूपी ज्ञान भी मनुष्यमात्र के लिये है । इस कारण उस पर किसी वर्ण लिङ्ग-विशेष व्यक्ति का ही अधिकार नहीं है ।

१४. वेद प्रकाश के समान स्वतःप्रमाण हैं । अन्य सम्पूर्ण लौकिक-वैदिक-साहित्य परत प्रमाण है । इस कारण वेद के साथ विरोध होने पर वह अप्रमाण होता है । इसी कारण—

१५. वेद की व्याख्या लिखने में व्याकरण निरुक्तादि वेदाङ्गों, आयुर्वेदादि उपवेदों, मीमां आदि दर्शनशास्त्रों, शाखा-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत्-कल्पसूत्र आदि से सहायता तो ली सकती है, परन्तु कोई मन्त्रार्थ इस कसौटी पर अप्रमाण नहीं माना जा सकता कि वह इन से विरुद्ध है, जब तक कि वह स्वयं वेद से विरुद्ध न होवे ।

१६. मन्त्रों के छन्द जिस शास्त्र या लक्षण से यथावत् उपपन्न होवें, उसी का उपयोग चाहिये (पिङ्गलसूत्र के सर्ववेदसाधारण होने से उसका अनुसरण ही युक्त है) । उस शास्त्र लक्षण का आश्रय नहीं लेना चाहिये, जिसका आश्रय करने पर अक्षरों की कमी को पूरा करने लिये व्यूह की कल्पना करनी पड़े (ऋक्सर्वानुक्रमणी आदि के अनुसार छन्दोनिर्देश में व्यूह कल्पना करनी पड़ती है) ।[२]

इस भाष्य के विषय में यह भी जानने योग्य है कि प्राचीन ऋषि मुनि आचार्यों ने अधिय अधिदेव अध्यात्म तीनों परक मन्त्रव्याख्या स्वीकार की है । उनके मतानुसार इस भाष्य रचयिता भी तीनों प्रकार की मन्त्रव्याख्या को यथावत् स्वीकार करता है (द्र०—ऋ० भाष्य भूमिक

---

१. एतस्य विस्तरेण ज्ञानायास्मदीयायाः 'वैदिक-छन्दोमीमांसायाः' अष्टादशोऽध्यायो द्रष्टव्यः ।

२. इस विषय को विस्तार से जानने के लिए हमारे 'वैदिक-छन्दो-मीमांसा' ग्रन्थ का १८वां अध्या देखना चाहिये ।

यथावत् स्वीकरोति (द्र०—ऋ० भा० भूमिका पृष्ठ ३८८–३९१ प्रतिज्ञाविषये), परन्तु भाष्ये न ता आश्रित्य मन्त्रान् विवृणोति । एतासामनाश्रयणे किं कारणमिति जिज्ञासाशान्त्यै ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां प्रतिज्ञाविषयो द्रष्टव्यः ।

वेदानां पञ्चजनोपयोगित्वम्[1]

वेदानां पूर्वोक्तस्त्रिविधोऽर्थोऽत्यन्तं गूढः, न च स सर्वसाधारणैर्ग्रहीतुमाचरितुं वा शक्यः । तथा सति, यथा परब्रह्मणा निर्मिताः पदार्थाः सर्वलोकोपकारिणः सर्वजनोपयोगिनः सन्ति, तथा यदि वेदरूपं तदीयं ज्ञानं न सार्वजनीनं स्यात्तर्हि कस्तस्य लाभः ? एतस्मिन् विषये तत्र भगवान् मनुराह—

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च । सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥

भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति ॥

बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् । तस्मादेतत् परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥

मनु० १२ । १००, ९७, ९९ ॥

एतैः श्लोकैर्भगवान् मनुर्वेदानां सर्वजनोपयोगित्वं प्रतिपादयन् राजनीतिप्रवर्तनं, वर्णाश्रमाणां धर्माणां भूतभव्यभविष्योपयोगिनां विधानानां प्रकल्पनप्रभृति सर्वमपि लौकिकव्यवहारजातं

पृष्ठ ३८८-३९१) । परन्तु अपने वेदभाष्य में उन प्रक्रियाओं का आश्रयण करके सब मन्त्रों की व्याख्या नहीं की । वेदव्याख्या में इनके साक्षात्रूप से आश्रयण न करने का कारण भी ऋ०भा० भूमिका के प्रतिज्ञा-विषय में भाष्यकार ने लिख दिया है ।

वेदों का मनुष्यमात्र[2] के लिये उपयोग—वेदों का पूर्वोक्त तीन प्रकार का अर्थ अत्यन्त गूढ़ है । सर्वसाधारण द्वारा उसका समझना वा आचरण करना अशक्य है । इसलिये परब्रह्म-निर्मित अन्य पदार्थों के समान वेद सब जनों के लिये कल्याणकारी न होवें, तो उसका क्या लाभ हो सकता है ? इसी कारण भगवान् मनु ने लिखा है—

'सेनापतित्व (रणनीति), राजनीति, वर्णाश्रम के धर्मों का भूत भविष्य वर्तमान देशकाल के अनुरूप विधान आदि समस्त व्यावहारिक ज्ञान वेद से ही सम्भव है ।'

इस प्रकार के व्यावहारिक विषयों का विधान वेद के व्यावहारिक अर्थ का अनुसरण करके ही किया जा सकता है । और वह व्यवहारिक अर्थ कहीं उपमा, कहीं लुप्तोपमा, कहीं अन्य

---

१. पञ्चजनाः—ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रातिशूद्राः । तथा चाह याजुषी श्रुतिः—'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय स्वाय चारणाय च' (२६।२) । वेदाधिकारनिरूपणप्रसङ्गे सत्यव्रतसामश्रम्यप्याह—'शूद्रस्य वेदाधिकारे साक्षाद् वेदवचनमपि दर्शितं स्वामिदयानन्देन—यथेमां ……… चारणाय च' । ऐतरेयालोचन, पृष्ठ ७ ।

२. वेद पढ़ने का स्त्रीशूद्र अतिशूद्र को भी अधिकार है । इसका निरूपण ग्रन्थकार ने 'यथेमां वाचं कल्याणीम्' (यजुः २६ । २) मन्त्र से दर्शाया है । इस अभिप्राय को पं० सत्यव्रत सामश्रमी सदृश उदार चेता विद्वानों ने भी स्वीकार किया है । द्र०—ऐतरेया लोचन पृष्ठ ७ ।

वेदेभ्य एव सम्भवतीति प्रतिजज्ञे। एतादृशां सर्वकर्मणां विधानं वेदानां व्यावहारिकार्थमनुसृत्यैव सम्भवति। स च व्यावहारिकार्थः क्वचित् साक्षात् प्रयुक्तयोपमया क्वचिल्लुप्तोपमया क्वचिदन्यैश्चालङ्कारैरेव द्योत्यते। तद्यथा—

जायेव पत्य उशती सुवासा (ऋ० १०।७१।४) इति; विधवेव देवरम् (ऋ० १०।४०।२)इति च।

अत्र प्रथमया जायया ऋतुकालेषु सुवासांसि धार्याणीति द्योत्यते, अपरया च पत्यौ मृते यथादेशकालं विधवाया देवरेण नियोगो विवाहो वा सम्भवतीति प्रदर्श्यते।

इदमेव च दर्शनमाश्रित्य तत्र भवान् शबरस्वाम्यपि केषाञ्चिल्लौकिकशिष्टव्यवहाराणां प्रामाण्यं निदर्शयन् (मी० भा० १।३।२) आह—

(१) गुरुरनुगन्तव्य इत्यस्मिन् विषये—तथा च दर्शयति—'तस्माच्छ्रेयांसं पूर्वं यन्तं पापीयान् पश्चादन्वेति' (मै० सं० ३।१।३) इति।

(२) प्रपा प्रवर्तयितव्या तडागः खनितव्य इत्यस्मिन् विषये—तथा च दर्शनम्—'धन्वन्निव प्रपा असि' (ऋ० १०।४।१) इति। तथा 'स्थलयोदकं परिगृह्णन्ति' (तै० सं० १। ६। ११) इति च।

(३) शिखाकर्म कर्तव्यम् इत्यस्मिन् विषये—दर्शनं च—'यत्र बाणाः सं पतन्ति कुमारा विशिखा इव' (ऋ० ६।७५।१७) इति।

शबरस्वामिनोद्धृतानां वचनानां वास्तविकोऽर्थस्तु तत्तत्प्रकरणानुसारं भिन्न एव, परन्त्वेतैरेव लौकिकव्यवहाराणां विधानमपि शबरस्वामिना प्रदर्शितम्।

इममेव प्राचीनं पन्थानमाश्रित्यायं वेदभाष्यकारोऽप्यृग्यजुषोर्भाष्ययोः प्राधान्येन सर्वजनोपयोगिनां लौकिककर्मणां प्रतिपादनं चकार। भाष्यकारस्यानेन प्रयत्नेन मनुजानां जीवने समाजे वा वेदानां क उपयोग इति विस्पष्टतरं विज्ञायते। यथा ऋग्वेदस्य प्रथममण्डलस्थयोरुषःसूक्तयो-

---

अलङ्कारों से ही बोधित होता है। जैसे—'जायेव पत्य उशती सुवासा' (ऋ० १०। ७१। ४) में प्रयुक्त उपमा से ऋतुकाल में स्त्रियों को सुन्दर शुद्ध वस्त्र धारण करने चाहियें; '**विधवेव देवरम्**' (ऋ० १०। ४०। २) से विधवा का देवर के साथ नियोग या विवाह रूप अर्थ द्योतित होता है।

इस प्रक्रिया के अनुसार शबर स्वामी ने श्रेष्ठ पुरुषों का अनुगमन करना, प्याऊ लगाना, तालाब बनवाना, शिखा रखनी आदि कर्मों का निदर्शन मन्त्रब्राह्मण से दर्शाया है। यद्यपि शबर स्वामी द्वारा उद्धृत वचनों का तात्पर्य स्व-स्व प्रकरण में भिन्न है, तथापि उनसे इन अर्थों का भी विधान माना है।

इसी प्राचीन मार्ग का अनुसरण करते हुए भगवान् दयानन्द ने भी ऋग् और यजु के भाष्यों में प्रधानरूप से सर्वजनोपयोगी विषयों का प्रतिपादन किया है। भाष्यकार के इस प्रयत्न से 'वेद का मानव-जीवन के साथ सीधा सम्बन्ध है' यह विस्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है। उदाहरण के लिये ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के उषःसम्बन्धी सूक्तों के भाष्य को ही देखें। वहां उन्होंने

र्वाचकलुप्तोपमालङ्कारेण उषर्वत् स्त्रियः कैः कैः शुभैर्गुणैर्युक्ताः स्युरिति भाष्यकारो विस्तरेण वर्णयाञ्चकार। तद्यथा—

उषर्वद्धितसम्पादिके। ऋग्भाष्ये १।४८।१२॥

प्रभातवद् बहुगुणयुक्ते। ऋग्भाष्ये १।४८।११॥

उषवत् कल्याणनिमित्ते। ऋग्भाष्ये १।४६।१॥

उषर्वत् पुरुषार्थनिमित्ते। ऋग्भाष्ये १।४६।३॥

इदमस्य वेदभाष्यस्यान्येभ्यो वेदभाष्येभ्यो महद् वैशिष्ट्यमिति स्पष्टं शक्यते वक्तुम्।

इदं चान्यद् वैशिष्ट्यमन्येभ्यो वेदभाष्येभ्यः—

प्रायेण सर्व एव वेदभाष्यकारा मन्त्राणां व्याख्यानं लौकिककाव्य-व्याख्यानवद् अन्वयानुसारं विदधति। तेन मन्त्रार्थो यस्यां कस्यांचिदेव प्रक्रियायां संकुचितो भवति। अपि च बहुत्र अर्थ-प्राधान्यप्रदर्शनाय पादादौ वाक्यादौ वा प्रयुक्तानामुदात्तानामाख्यातानां वाक्यान्तेऽन्वयात् तेषां मुख्यार्थत्वं मृदितं भवति[1]। अतोऽयं भाष्यकारो विविधप्रक्रियानुगतविविधार्थनिदर्शनाय मुख्यार्थस्य चानाशाय निरुक्तादिप्राचीनमन्त्रव्याख्यानवत् मन्त्रपदानुसारं पदार्थं तावद् व्याचष्टे। पदार्थस्य पार्थक्येनोक्तत्वादत्र पूर्वोक्तौ दोषावपाकृतौ भवतः। साम्प्रतिका ये विपश्चितोऽन्वयबद्ध-मेवार्थं बोद्धुं समर्थास्तान् लक्ष्यीकृत्य भाष्यकारः पदार्थानन्तरं सान्वयमर्थमाह। ये नाम साधारणाः संस्कृतज्ञा न पदार्थं बोद्धुं समर्था न, चान्वयनिबद्धं तान् मन्त्राभिप्रायं बोधयितुमन्ते

लुप्तोपमादि अलङ्कारों से 'स्त्रियों को किन-किन शुभ गुणों से युक्त होना चाहिये' विषय का हृदयहारी वर्णन किया है। यह इस वेदभाष्य का अन्य वेद-भाष्यों से महान् अन्तर है।

अन्य वेदभाष्यों की अपेक्षा यह एक और वैशिष्ट्य इस भाष्य में हैं—

प्रायः करके सभी वेदभाष्यकार मन्त्रों की व्याख्या लौकिक काव्यों के अन्वयपूर्वक करते हैं। इस विधि में दोष हैं। **प्रथम**—मन्त्रार्थ किसी एक ही प्रक्रिया तक सीमित रह जाता है। **दूसरा**—मन्त्रों में अर्थ की प्रधानता की दृष्टि से पाद वा वाक्य के आरम्भ में प्रयुक्त उदात्त क्रियाओं का मुख्यार्थ प्रायः नष्ट हो जाता है।[2] इसलिये भगवान् दयानन्द निरुक्तादि प्राचीन मन्त्र-व्याख्याओं के समान अनेकार्थत्वद्योतन और मुख्यार्थ के रक्षण के लिये पहले मन्त्रपद-क्रमानुसार पदार्थ का निरूपण करते हैं। पदार्थ का पृथक् कथन होने से पूर्वोक्त दोनों दोष दूर हो जाते हैं। वर्त्तमान विद्वान् जो विना अन्वय के मन्त्रार्थ-ज्ञान में असमर्थ हैं, उनके लिये भाष्यकार पदार्थ के पश्चात् अन्वय का निरूपण करते हैं। जो साधारण संस्कृतज्ञ अन्वय से भी मन्त्रार्थ-ज्ञान में समर्थ नहीं हो सकते

---

१. एतद्विषयेऽस्माभिः 'वैदिकस्वरमीमांसा' ग्रन्थस्य पञ्चमेऽध्याये (पृष्ठ ६१-७२, सं० २), तथा 'वैदिक-छन्दोमीमांसा' ग्रन्थस्य पञ्चमेऽध्याये (पृष्ठ ७८-८०) च विस्तरेण प्रतिपादितं, तत्रैव द्रष्टव्यम्।

२. इस विषय का निरूपण हमारे 'वैदिकस्वरमीमांसा' के पञ्चमाध्याय (पृष्ठ ६१-७२, सं० २) तथा 'वैदिकछन्दोमीमांसा' के पञ्चमाध्याय (पृ० ७८–८०) में देखना चाहिये। वहां यह विषय विस्तार से लिखा है।

भावार्थं लिलेख। अपि च, यथा लौकिकग्रन्थेषु पठिष्यमाणः सन्दर्भः कमर्थं प्रतिपादयिष्यतीति निदर्शनाय सारल्येनार्थबोधनाय च प्रतिसन्दर्भं संदर्भशीर्षकमादावुपादीयते, तथैव भाष्यकारेणापि व्याख्यास्यमानो मन्त्रः कं विषयं ब्रूते इति निदर्शनाय प्रतिमन्त्रं मन्त्रपाठात् प्राक् तदर्थबोधकं शीर्षकं विन्यस्यते। एवमयं भाष्यकारः सर्वजनानां सुखेन मन्त्रार्थबोधाय चतुर्धा प्रयतितवान्।

अपि च, प्राचीना वेदभाष्यकारा मन्त्रव्याख्याने यद्यपि तदीयमार्षं पदपाठमाद्रियन्ते, तथापि ते मन्त्रव्याख्यानात् पूर्वं तं नोपन्यस्यन्ति (मुद्रितेषु केषुचिद् भाष्येषु यः पदपाठनिर्देश उपलभ्यते, स सम्पादकेनोद्धृतो ज्ञेयः), परन्त्वयं भाष्कारः प्राचीनार्षपदपाठस्य रक्षायै प्रतिमन्त्रं पदपाठमपि समुद्धरति।

संस्कृतभाष्यान्ते मन्त्रोक्तं व्यावहारिकं पारमार्थिकं वा विषयमसंस्कृतज्ञेभ्यो भाषामात्रविज्ञेभ्योऽपि बोधयितुं भाषायामन्वयानुगतं पदार्थं भावार्थं च प्रत्यपादयत्। भारते वर्षे प्रथमतो वेदाभिप्रायस्य भाषायां निरूपणस्य श्रेयो भगवद्दयानन्दावाप्तः।

एतेन महता प्रयत्नेनेदं स्पष्टं ज्ञातुं शक्यते, यदयं भाष्यकारो वेदानां प्रचाराय लौकिकार्थजुष्टं पारमार्थिकार्थसमन्वितं च यद्भाष्यं रचितवान्, तस्मिन् स सम्पूर्णतया सफलीभूतः। अत एवैतद्भाष्यकारसमकालिको वेदविद्याविचक्षणः सत्यव्रतसामश्रमी स्वीयैतरेयालोचनग्रन्थे सबहुमानमाह--

---

उनको मन्त्र का अभिप्राय बताने के लिये भावार्थ दिखाते हैं। इतना ही नहीं, जैसे लौकिक ग्रन्थों में अगले सन्दर्भ में कहे जानेवाले अभिप्राय को सरलता से जताने के लिये आरम्भ में शीर्षक (हैडिंग) दिया जाता है, उसी प्रकार मन्त्र के भाष्य में प्रकट किये जानेवाले विषय को प्रत्येक मन्त्र के आरम्भ में दर्शाते हैं। इस प्रकार भाष्यकार ने सब प्रकार के संस्कृतज्ञों को सुख से मन्त्रार्थ का बोध कराने के लिये चार प्रकार से प्रयत्न किया है।

इस भाष्य में एक यह भी वैशिष्ट्य है—सभी प्राचीन वेदभाष्यकार यद्यपि मन्त्र के प्राचीन प्रामाणिक पदपाठ के अनुसार प्रायः व्याख्यान करते हैं, तथापि वे उस पदपाठ को उपस्थित नहीं करते (छपे हुए ग्रन्थों में जहां पदपाठ मिलता है, वह सम्पादकों द्वारा निर्दिष्ट है) भगवान् दयानन्द प्रतिमन्त्र प्राचीन पदपाठ का भी निर्देश करते हैं (इसमें जहां-जहां भेद मिलता है, वह प्रायः लिपिकर एवं मुद्रकों के प्रमाद से हुआ जानना चाहिये)।

जो लोग संस्कृत नहीं जानते वे वेद के अभिप्राय से सर्वथा वञ्चित न रह जावें, इसलिये अन्त में सान्वय पदार्थ और भावार्थ भाषा में भी कर दिया है। भारतवर्ष में वेद का हिन्दी भाषा में अर्थ प्रकाशित करने का प्रथम श्रेय भगवान् दयानन्द को ही प्राप्त है।

इस महान् प्रयत्न से यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि भगवान् भाष्यकार ने वेद के प्रचार के लिये व्यावहारिक और पारमार्थिक अर्थयुक्त जो भाष्य रचा है, उसमें वह पूर्णरूप से सफल हुए हैं। इसी कारण उनके समकालिक वैदिक विद्वान् **सत्यव्रत सामश्रमी** ने अपने **ऐतरेयालोचन** ग्रन्थ के पृष्ठ १२६ पर परम आदर युक्त शब्दों में उनको स्मरण किया है।

वेदवैदिकमतप्रचारार्थोत्सर्गीकृत-जीवनेनाद्यतनसर्वार्यवर्येणास्मच्छ्रद्धाभाजनेनाचार्यदयानन्द-स्वामिना ..... पृ० १२६।

भाष्यकारस्यास्येदं वेदप्रचारलक्ष्यं लक्ष्यीकृत्य तदनुयायिभिर्बहुभिरार्यविद्वद्भिर्वेदानां संस्कृतप्राकृतोभयभाषानिबद्धं भाषामात्रनिबद्धं च व्याख्यानं, विभिन्नविषयाणां वा मन्त्राणां व्याख्यानमकारि। येन वेदप्रचारकार्ये महत्साहाय्यं समपद्यत।

बहवो विपश्चिता एतद्भाष्यविधातुर्महाभागस्य मुख्यं प्रयोजनं विलक्ष्यीकृत्य तद्व्याख्यान-सरणिं याथातथ्यतोऽनवगाह्य निरुक्तादिव्याख्यानप्रक्रियां चाननुनिशम्य सर्ववेदभाष्यकारोक्तं याज्ञिकार्थमत्रापश्यन्तो भाष्यमिदमप्रामाणिकमित्युद्घोषयन्ति। परं त्वहं मन्ये घोषणेयं भाष्यकारेण सह न्यायं न विदधाति।

महाविदुषोऽरविन्दस्य दयानन्दीय-वेदविषयिका धारणा

अन्तेऽस्याः शताब्द्याः प्रसिद्धमनीषिणोऽरविन्दस्य दयानन्दसरस्वतीस्वामिनो वेदभाष्य-विषये या महत्त्वपूर्णा धारणा, तामुद्धृत्य विरम्यते। १९१६ खीस्ताब्दे 'वैदिक मैगजीन' पत्रिकायां तत्र भवान् अरविन्दः प्रतिपादयति—

[1]"दयानन्दीयवेदभाष्यस्याधारभूतान् तान् प्रसिद्धनियमान् उल्लिखामि, ये मयाऽवगताः—

सायणभाष्यं यथार्थं मन्यमाना दयानन्दसरस्वतीकृतस्य वेदभाष्यस्य विषये न किमपि वक्तुं समर्थाः। महाविदुषः सायणस्य वेदभाष्यमापाततो महत्त्वपूर्णं दृश्यमाणमपि वेदस्य यथार्थम् ऋज्वर्थ-समन्वितं नास्ति। तस्मिन् हि पूर्वकल्पितसिद्धान्ताग्रहपूर्वकं मन्त्राणामनृजुना पथा संगतिप्रदर्शनस्य

भगवान् दयानन्द सरस्वती के वेद प्रचार को लक्ष्य में रखकर उनके बहुत से अनुयायी विद्वानों ने संस्कृत वा हिन्दीभाषा में वेदों के भाष्य लिखे वा लिख रहे हैं। इस प्रयत्न से वेद के प्रचार में बहुत सहयोग प्राप्त हुआ।

बहुत से विद्वान् भगवान् दयानन्द के वेदभाष्य रचने के मुख्य प्रयोजन की उपेक्षा करके, उनकी भाष्य-सराणी का यथावत् आलोचन न करके, निरुक्त आदि प्राचीन प्रक्रिया को न समझ कर, अन्य भाष्यकारों द्वारा निर्दिष्ट याज्ञिक अर्थ का इसमें उल्लेख न पाकर इसे अप्रामाणिक कहने का साहस करते हैं। हमारा विचार है कि वे इस वेदभाष्यकार के साथ अन्याय करते हैं।

अन्त में इस शताब्दी के महान् विचारक योगीराज अरविन्द ने भगवान् दयानन्द कृत वेदभाष्य के सम्बन्ध में अपनी जो महत्त्वपूर्ण धारणा सन् १८१६ की 'वैदिक मैगजीन' पत्रिका में छापी उसे उद्धृत करके इस प्रकरण को समाप्त करते हैं—

"मैं दयानन्द के वेदभाष्य के आधाररूप उन प्रसिद्ध नियमों का उल्लेख करूंगा, जो मुझे समझ में आये हैं। सायण के भाष्य को ठीक समझनेवाले लोग दयानन्द सरस्वती के भाष्य के विषय में कुछ नहीं कह सकते। महा विद्वान् सायण का भाष्य ऊपर से महत्त्ववाला दिखाई देता हुआ भी वेद का यथार्थ और सीधा अर्थ नहीं है, उसमें पूर्वकल्पित सिद्धान्तों के साथ मन्त्रों की

---

१. मनीषिणोऽरविन्दस्य मूलभूतोऽङ्ग्रेजीभाषानिबद्धो लेखः परिशिष्टे द्रष्टव्यः।

प्रयत्नः कृतो दृश्यते । पाश्चात्या विद्वांसोऽपि दयानन्दीयभाष्यविषये न किमपि वक्तुं समर्थाः । तेषां वैदिकवाङ्मयपरिचयेन, शुभेच्छया अनुसन्धानशक्त्यापि चैकस्यां शताब्द्यां कृतो वेदार्थो न यथार्थः, यतस्तस्मिन् पूर्वापरसंगतेरभावो दृश्यते । अपि च, सन्दिग्धविषयान् प्रमाणीकृत्य सोऽर्थो विहितः ।

वेदार्थस्तु वेदेनैव कर्तव्यः । एतस्मिन् विषये दयानन्दसरस्वतीस्वामिनो विचारः सुस्पष्टः, तस्याधारशिला चाभेद्या । वैदिकसूक्तानि विभिन्नैर्नामभिरेकमीश्वरमेव संबोध्य गीतानि । विप्रा अर्थात् ऋषय एकमेव परमात्मानम् अग्नीन्द्रयममातरिश्ववाय्वादिभिर्नामभिर्बहुधा वदन्ति । वैदिकर्षयः स्वधर्मविषये मैक्समूलररायप्रभृतीनामपेक्षयाधिकं विदुः । अतएव वेदः स्पष्टं ब्रवीति—'एकस्यैव परमात्मनोऽनेकानि नामानि सन्ति' ।

वयमेतदपि विद्मो यदाधुनिका विद्वांस इमं विषयमनृजुना पथा (खींचातानी से) विपर्ययन्ति । ते ब्रुवन्ति—'सूक्तमिदं नूतनम्, एतादृशो महान् विचारः प्राचीननानामर्याणां मनसि प्रादुर्भवितुमयोग्यः' । एतद्विपरीतं वयं पश्यामो यद् वेदे बहूनि सूक्तानीममेव भावं प्रकटयन्ति—'अग्नावेव सर्वा अन्या दैव्यः शक्त्यो वर्तन्ते' इत्यादि । देवतानां विशेषणान्यप्येतादृशि सन्ति यानि परेशादन्यस्य भवितुं न समर्थानि । पाश्चात्या विपश्चितोऽस्माद् उद्विजन्ते—अहो एतादृशेण वेदार्थेन न भवितव्यम् । [प्रश्न उदेति] किं सत्यं स्वात्मानमाच्छादयेत् बुद्धिः स्वविषयं परित्यज्य प्रधावेत्, येनैकः सिद्धान्तः (क्रमिकविकासरूपः) प्रफुल्लेत् प्रफलेच्च । मया पृच्छ्यते ? यदस्मिन् विषये दयानन्दसरस्वती वेदस्य ऋज्वर्थं ब्रूते उत पाश्चात्या विद्वांसः ?

खींचातानी से संगति लगाने की चेष्टा की गई है । पाश्चात्य विद्वान् भी स्वामी दयानन्द के भाष्य के विषय में कुछ नहीं कह सकते । उनका परिचय शुभेच्छा, अनुसधान शक्ति से एक शताब्दी में किया गया अर्थ भी ठीक नहीं, क्योंकि इसमें पूर्वापर के सम्बन्ध का अभाव है, और संदिग्ध विषयों को प्रमाणभूत मानकर अर्थ किया गया है ।

वेदार्थ तो वेद से ही होना चाहिए । इस विषय में दयानन्द सरस्वती का विचार सुस्पष्ट है, उसकी आधारशिला अभेद्य है । वेद के सूक्त भिन्न-भिन्न नामों से एक ईश्वर को ही संबोधन करके गाये गये हैं । विप्र अर्थात् ऋषि एक परमात्मा को ही अग्नि, इन्द्र, यम, मातरिश्वा और वायु आदि नामों से बहुत प्रकार से कहते हैं । वैदिक ऋषि अपने धर्म के विषय में मैक्समूलर वा राय की अपेक्षा अधिक जानते थे । अतः वेद स्पष्ट कहता है कि एक ईश्वर के ही अनेक नाम हैं ।

हम जानते हैं, आधुनिक विद्वान् किस प्रकार इस बात को खींचतान करके उलटते हैं । वे कहते हैं—'यह सूक्त नये काल का है, ऐसा ऊंचा विचार बहुत प्राचीन आर्य लोगों के मन में नहीं आ सकता था ।' इसके विपरीत हम देखते हैं कि वेद में सूक्तों पर सूक्त इसी भाव को बताते हैं कि—'अग्नि में ही सब दूसरी दैवी शक्तियां हैं' इत्यादि । देवताओं के ऐसे विशेषण हैं, जो सिवाय ईश्वर के और किसी के हो ही नहीं सकते । पाश्चात्य इस बात से घबड़ाते हैं । अहो ! वेद का ऐसा अर्थ नहीं होना चाहिए । क्या सत्य अपने को छिपा ले, बुद्धि मैदान को छोड़कर भाग जाय,

अस्तु, अस्यैकस्य प्रज्ञानेन, दयानन्दस्य मौलिकसिद्धान्तस्य स्वीकारेण, नहि नहि, वेदकर्षीणां प्रकृतविश्वासस्य 'सर्वा देवता एकस्यैव महत आत्मनो नामानि' इति विज्ञानेन वयं वेदस्य वास्तविकं भावं विज्ञातुं समर्था भवामः। सत्येवम्, वेदस्य तदेव तात्पर्यमधिगम्यते यद्दयानन्द-सरस्वत्या प्रकटीकृतम्। एतेन केवलो याज्ञिकार्थः सायणस्य बहुदेवतावादो वा भस्मसाज्जायते, पाश्चात्यानां केवलमन्तरिक्षादिलोकस्थदेवतानां सम्बन्धेन कृतोऽर्थोऽपि मृदितो भवति। तथा सति वेदः सत्यधर्मस्य ग्रन्थः, संसारस्यैकं पवित्रं पुस्तकं, श्रेष्ठस्यैकस्योच्चतमस्य च धर्मस्य दैवी वाक् सम्पद्यते।' इति

नमः परमर्षये नमः परमर्षये !!

ताकि एक क्रमिक विकास का सिद्धान्त फल फूल सके ? मैं पूछता हूं, कि इस बात में दयानन्द सरस्वती वेद का सीधा अर्थ करता है, वा पाश्चात्य विद्वान् ?

बस एक के समझने से दयानन्द के इस मौलिक सिद्धान्त को मानने से, नहीं नहीं, वैदिक ऋषियों के इस विश्वास के जानने से कि **'सब देवता एक महान् आत्मा के नाम हैं'**, हम वेद का वास्तविक भाव जान लेते हैं। फिर बस वेद का वही तात्पर्य निकलता है जो दयानन्द सरस्वती ने इससे निकाला। **केवल याज्ञिक अर्थ या सायण का बहुदेवतावाद का अर्थ भस्मीभूत हो जाता है। पाश्चात्यों का केवल अन्तरिक्ष आदि लोकों के देवताओं के सम्बन्ध में किया हुआ अर्थ मिटिया मेट हो जाता है।** इनके स्थान में वेद एक वास्तविक धर्म ग्रन्थ, संसार का एक पवित्र पुस्तक और एक श्रेष्ठ और उच्च धर्म का दैवी शब्द हो जाता है।"

वेदविद्या के पुनरुद्धारक परमर्षि दयानन्द के लिये नमो नमः !!

एतत्संस्करणस्य सम्पादनकर्मण्याधारभूतानां

हस्तलेखानां मुद्रित-संस्करणानां च परिचयः

भगवत्पाददयानन्दसरस्वतीस्वामिनो विरचितस्यास्यर्ग्वेदभाष्यस्य प्रस्तुतसंस्करणसम्पादन-कर्मणि येषां हस्तलेखानां मुद्रितानां च संस्करणानां साहाय्यं गृहीतम्, तेषां परिचयः प्रस्तूयते—

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकाया आधारग्रन्थाः—

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायाः षड् हस्तलेखाः सन्ति। अद्य यावदस्या नव संस्करणानि मुद्रितानि। पञ्चमषष्ठयोर्मध्ये शताब्दीसंस्करणनाम्नि संग्रहेऽप्यस्याः प्रकाशनमभूत्। एकमन्यतमं संस्करणं संस्कृतभागमात्रस्यापि स्वतन्त्ररूपेण प्रकाशितम्। एवं वैदिकयन्त्रालयमुद्रितान्याहृत्यै-कादश संस्करणानि सन्ति।

हस्तलेखाः—अस्या भूमिकायाः सम्पूर्णा असम्पूर्णा उत्तरोत्तरं परिष्कृताः परिवृद्धाश्च षड् हस्तलेखा अजमेरनगरस्थ-परोपकारिणीसभायाः संग्रहे सुरक्षिताः सन्ति। तेषां संक्षिप्तपरिचयो-ऽधस्तात् प्रदीयते—

प्रथमः—अयं हस्तलेखः पूर्णो विद्यते। अत्र केवलं संस्कृतभाग एव दृश्यते, न भाषाभागः। इह भूमिकाया विषयाणां न्यूनाधिकता क्रमविपर्यासश्चोपलभ्यते।

पृष्ठसंख्या—अत्रादितः पञ्चत्रिंशदुत्तरशतसंख्या क्रमशो दृश्यते। अन्ते व्याकरणविषय-कान्यष्टौ पृष्ठानि प्रवर्धितान्युपलभ्यन्ते। एवमाहृत्यास्य हस्तलेखस्य १३५+८+१४७ सप्तचत्वा-रिंशदधिकशतं पृष्ठानि सन्ति।

पङ्क्तयः—प्रतिपृष्ठम् उपद्वात्रिंशाः पङ्क्तयः।

अक्षराणि—प्रतिपङ्क्ति उपचतुर्विंशत्यक्षराणि।

कागदम्—प्रारम्भे कतिपयेषु पृष्ठेषु सूक्ष्मं नीलं सरेखं फुलसकेपाकारं कागदं व्यवहृतम्, शेषभागे स्थूलं नीलम्, अन्तेऽष्टौ पृष्ठानि हस्तनिर्मितकागदस्य सन्ति।

लिपिकरः—आरम्भतः ६० षष्टिपृष्ठं यावदेकस्य लिपिकरस्य लेखो दृश्यते, ६३ त्रिषष्टि-पृष्ठतोऽन्तपर्यन्तं द्वितीयस्य, मध्ये ६१, ६२ पृष्ठयोरनयोर्भिन्नो लेखकः प्रतिभाति।

संशोधनम्—अस्मिन् कोशे कृष्णया रक्तया च मस्या ग्रन्थकारस्य स्वयंकृतं संशोधनमुप-लभ्यते। क्वचित् क्वचिद् अपपाठपरिमार्जनाय हरतालस्य प्रयोगोऽपि दृश्यते।

विशेषः—अस्मिन् कोशे केवलं संस्कृतभाग एव वर्तते, विषयाणां न्यूनाधिक्यं क्रमविपर्या-सश्च दृश्यते।

द्वितीयः—अयमपि कोशः पूर्णो वर्तते। अत्रापि केवलं संस्कृतभाग एवोपलभ्यते।

पृष्ठानि—अत्र १४० चत्वारिंशदधिकशतं पृष्ठानि।

पङ्क्तयः—प्रतिपृष्ठम् उपैकत्रिंशाः पङ्क्तयः।

अक्षराणि—प्रतिपङ्क्ति उपचतुर्विंशान्यक्षराणि।

कागदम्—३१ एकत्रिंशत्पृष्ठपर्यन्तं नीलं स्थूलं चिक्कणं सरेखं फुल्सकेपाकारं कागदं वर्तते, अग्रे स्थूलं श्वेतं हस्तनिर्मितम्।

लिपिकरः—अस्य हस्तलेखस्य अक्षरविन्यासैर्द्विना लिपिकाराः प्रतीयन्ते।

संशोधनम्—अस्मिन् कोशे रक्तमस्या कृष्णतूलिकया च ग्रन्थकारस्य स्वहस्तकृतं शोधनं दृश्यते। क्वचित् कृष्णमस्या लिपिकरकृतं संशोधनमप्युपलभ्यते। कृष्णतूलिकया कृतं शोधनमधिकतरं वर्तते।

विशेषः—प्रथमकोशवदेव।

तृतीयः—अयं हस्तलेखोऽपूर्णो वेदनित्यत्वप्रकरणान्त एव वर्तते।

पृष्ठानि—अत्र ५१ एकपञ्चाशत् पृष्ठानि।

पङ्क्तयः—प्रतिपृष्ठमुपषोडशः पङ्क्तयः।

अक्षराणि—प्रतिपङ्क्ति उपषट्त्रिंशान्यक्षराणि।

कागदम्—हस्तनिर्मितं स्थूलं श्वेतं कागदम्।

संशोधनम्—अत्र लिपिकरकृतमेव शोधनं दृश्यते; क्वचिद् हरितालस्यापि प्रयोगः।

विशेषः—अत्र संस्कृतप्राकृतयोर्[1] उभयोर्भाषयोर्लेखो दृश्यते।

चतुर्थः—अयं कोशो द्वयोर्भागयोर्विभक्त उपलभ्यते। उभौ भागौ मिलित्वाऽयं कोशः पूर्णतामेति।

'पूर्वभागः'—अयमारम्भतो गणितविद्यासमाप्तिपर्यन्तः। अत्र संस्कृतप्राकृतोभयभाषयोर्लेखः।

पृष्ठानि—अत्रारम्भतः १८० संख्या क्रमशो दृश्यते, परन्तु १४७ पृष्ठसंख्यातोऽग्रे दश पृष्ठानि पृथग् रूपेण परिवर्धितानि। तस्मादाहत्य १८०+१०=१९० नवत्युत्तरैकशतं पृष्ठानि सन्ति।

पङ्क्तयः—प्रतिपृष्ठमुपषोडशाः पङ्क्तयः।

अक्षराणि—प्रतिपङ्क्ति उपषट्त्रिंशान्यक्षराणि।

कागदम्—हस्तनिर्मितम्।

---

१. ग्रन्थकारो हिन्दीभाषार्थे प्राकृतभाषाऽर्थभाषापदे प्रयुनक्ति। तदनुसारमेवत्रापि हिन्दीभाषार्थे प्राकृतभाषापदस्य प्रयोगोऽस्माभिः कृतः।

संशोधनम्—कृष्णमस्या ग्रन्थकारस्य स्वयंकृतं शोधनं दृश्यते, अन्ते रक्तमस्याऽपि शोधनमुपलभ्यते ।

'अपरो भागः'—अयं भागो गणितविषयतोऽग्रे समाप्तिपर्यन्तः । अत्र केवलं प्राकृतभाषात्मक एव लेखः ।

पृष्ठानि—आरम्भतः १३८ पृष्टसंख्या दृश्यते । चतुर्थी पृष्ठसंख्या द्विर्निर्दिश्यते । अतोऽत्र १३६ पृष्ठानि ज्ञेयानि ।

पङ्क्तयः—प्रतिपृष्ठमुपपञ्चिंशाः पङ्क्तयः ।

अक्षराणि—प्रतिपङ्क्ति उपषड्विंशान्यक्षराणि ।

कागदम्—नीलं फुलसकेपाकारं कागदम् ।

लिपिकरः—अस्मिन् भागे द्वित्राणां लेखकानां लेख उपलभ्यते ।

संशोधनम्—ग्रन्थकारेण कृष्णमस्या स्वहस्तकृतं शोधनमन्तपर्यन्तं विद्यते ।

पञ्चमः—अयमपि हस्तलेखो द्वयोः खण्डयोः पूर्णतां गतः ।

'पूर्वभागे'—पृष्ठानि—आरम्भतः १०६ पृष्ठपर्यन्तानि ।

पङ्क्तयः—प्रतिपृष्ठमुपदशाः पङ्क्तयः ।

अक्षराणि—प्रतिपङ्क्ति उपद्वाचत्वारिंशान्यक्षराणि ।

कागदम्—स्थूलं श्वेतं हस्तनिर्मितम् ।

लिपिकरः—अनेकलेखकानां लेखोऽत्र दृश्यते ।

संशोधनम्—ग्रन्थकारेण स्वयं कृतं शोधनं सर्वत्र वर्तते ।

'अपरभागे'—पृष्ठानि—अत्र ११२ संख्यात् आरभ्य ३२२ संख्यान्तानि ।

पङ्क्तयः—प्रतिपृष्ठमुपषड्विंशाः पङ्क्तयः ।

अक्षराणि—प्रतिपङ्क्ति द्वाचत्वारिंशान्यक्षराणि ।

कागदम्—नीलं सरेखं फुलसकेपाकारकम् ।

लिपिकः—बहूनां लेखकानां लेखोऽत्रोपलभ्यते ।

संशोधनम्—आदित आरभ्यान्तपर्यन्तं ग्रन्थकारेण स्वयंकृतं शोधनमत्र बाहुल्येनोपलभ्यते ।

षष्ठः—कोशोऽयमादित आरभ्यान्तपर्यन्तं पूर्णो वर्तते ।

पृष्ठानि—आदित आरभ्य ४१० संख्यापर्यन्तानि ।

पङ्क्तयः—प्रतिपृष्ठमुपसप्तविंशाः पङ्क्तयः ।

अक्षराणि—प्रतिपङ्क्ति उपचतुर्विंशान्यक्षराणि ।

कागदम्—नीलं स्थूलं फुलसकेपाकारम् ।

लिपिकरः—अत्रानेकलेखकानां लेखो दृश्यते ।

संशोधनम्—अस्मिन् कोशे ग्रन्थकारेण स्वहस्तेन कृतं शोधनं पर्याप्तमुपलभ्यते, लिपिकर कृतमप्यल्पीयः शोधनं दृश्यते ।

विशेषः—उपरिनिर्दिष्टाः कोशा उत्तरोत्तरं क्रमशः परिवर्धिताः परिष्कृताश्च सन्ति । भूमिकाया यदाधारेण मुद्रणमभूत् स कोशोऽत्र संग्रहे न दृश्यते । सम्भाव्यते यत्रास्या मुद्रणमभूत् ततः स हस्तलेखो न प्राप्तः ।

मुद्रितानि संस्करणानि—अस्या भूमिकायास्त्रिभिः प्रकाशकैः प्रकाशितानि संस्करणान्युपलभ्यन्ते । तत्र वैदिकयन्त्रालयात् प्रकाशितान्येकादशसंस्कराणि, गोविन्दरामहासानन्द (कलकत्ता) द्वारा वेदतत्त्वप्रकाशनामकं संस्करणम्, आर्यसाहित्यमण्डल (अजमेर) द्वारा प्रकाशितानि त्रीणि संस्करणानि । एवमस्माभिः सम्पादनकार्ये वैदिकयन्त्रालयमुद्रितानि गोविन्दरामहासानन्दप्रकाशितं चाहृत्य द्वादश संस्करणान्युपयुक्तानि । तेषामयं संक्षिप्तः परिचयः—

प्रथम संस्करणम्—अस्य संस्करणस्यादितः ३३३ पृष्ठानि काशीस्थे 'लाजरसकम्पनी नाम्नि' यन्त्रालये मुद्रितानि, शिष्टानि ३७६ संख्यापर्यन्तानि शुद्धिपत्रविषयसूचीविषयकान्यष्टौ पृष्ठानि च मुम्बईनगरस्थे निर्णयसागरयन्त्रालये मुद्रितानि । संस्करणमिदं मासिकपुस्तिकारूपेण चतुर्विंशतिपृष्ठात्मकेषु षोडशाङ्केषु १९३४ वैक्रमाब्दस्य चैत्रमासादारभ्य १९३५ वैक्रमाब्दस्य (१५-१६ अङ्कावेकीकृत्य) ज्येष्ठमासं यावत् पञ्चदशमासेषु प्राकाश्यं गतम् ।

द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पञ्चम-संस्कराणि—इमानि संस्करणानि क्रमशः १९४९, १९६१, १९७०, १९७६ वैक्रमाब्देषु अजमेरनगरस्थे वैदिकयन्त्रालये मुद्रितानि ।

प्रथमसंस्करणे भाषाविषयिकायाः सामान्या अशुद्धय आसन्, तासां मध्ये कासांचित् शोधनं प्रथमसंस्करणे शुद्धिपत्रे कृतमभूत् । तच्छोधनसरणिमनुसृत्य द्वितीये संस्करणे भाषायाः शोधनं संशोधकेन विहितम् । संस्कृतपाठे पञ्चषाणि नूत्नान्यपि शोधनान्युपलभ्यन्ते । पञ्चमसंस्करणं यावत् द्वितीयसंस्करणवदेव उपलभ्यते ।

शताब्दी-संस्करणम्—१९८२ वैक्रमाब्दे परोपकारिणीसभया ग्रन्थकारकृतानां केषांचिद् ग्रन्थानां द्वयोर्भागयोः प्रकाशनं विहितम् । तत्र द्वितीये भागे भूमिकाया अस्या मुद्रणमपि कृतम् । अस्य संस्करणस्य सम्पादनं गुरुकुल-कांगड़ीस्थेन श्रीपण्डितविश्वनाथवेदोपाध्यायेन विहितम् (अत्र सम्पादकस्य नामनिर्देशो नोपलभ्यते) । संस्करणमिदं प्रथमसंस्करणानुरूपमेव मुद्रितम् । सम्पादकेन प्रथमसंस्करणान्ते शुद्धिपत्रे निर्दर्शितानि संशोधनान्यपि न दृष्टानि । तेन संस्कृतभागे तेऽपपाठा ये प्रथमसंस्करणस्थे शोधनपत्रे शोधिता अभूवन्, अत्र ते पुनः प्रविष्टिमलभन्त । अत्र सम्पादकप्रत्ताः कतिपया नूतनाष्टिप्पण्योऽपि दृश्यन्ते ।

षष्ठ-सप्तम-संस्करणे—इमे संस्करणे शताब्दीसंस्करणप्रतिलिपिरूपे स्तः ।

अष्टमं संस्करणम्—अस्य सम्पादन श्रीपण्डित महेन्द्रशास्त्रिणा विहितम् । संस्करणमिदं पूर्वापेक्षया सुन्दरं परिष्कृतं च वर्तते । अत्राऽनेके नूतनाः सन्दर्भविभागाः कृताः, बहूनामुद्धरणानां मूलस्थाननिर्देशश्चोट्टङ्कितः ।

नवमं संस्करणम्—अस्य सम्पादनं श्रीपण्डितधर्मचन्देन कोठारीत्युपनामकेन विहितः। अत्र बहूव्यष्टिप्पण्यो हस्तलेखपाठविषयिकाः पाठशोधननिर्देशिकाश्च संवेशिताः। बहुत्र चतुरस्रे [ ] कोष्ठके त्रुटितपदानि निर्दिष्टानि। द्वित्रेषु स्थानेषु पूर्वसंस्करणेष्वस्थाने मुद्रिताः पाठा यथास्थानं स्थापिताः। पूर्वसंस्करणेषूद्धरणस्थानिर्देशे यत्र यत्रापूर्णताऽऽसीत् तत्र-तत्र चतुरस्रे कोष्ठके पूर्णता विहिता। प्रथमसंस्करणस्थशुद्धिपत्रानवलोकनमूला येऽपपाठाः पूर्वसंस्करणेषु प्रविष्टिं प्रापुस्तेषां पुनः शोधनं विहितम्। एवमिदं संस्करणं यद्यपि पूर्वसंस्करणेभ्यो वैशिष्ट्यमलभत तथाऽप्यत्र बहूव्यष्टिप्पण्योऽनावश्यकाः प्रदत्ताः। तासु काश्चिदस्य महानुभावस्य व्याकरणाज्ञानसूचिका अपि दृश्यन्ते (यथा २५७ तमे पृष्ठे द्वितीया टिप्पणी)। एतासां यथास्थानं टिप्पण्यामस्माभिर्निर्देशः कृतः।

संस्कृतमात्रं संस्करणम्—इदं संस्करणम् १८×२०=अष्टपृष्ठाकारे १९९१ वैक्रमाब्दे प्रकाशिततम्। अस्मिन् संस्करणे केचन पाठाः परिवर्तिता दृश्यन्ते। तेषां निर्देशोऽस्माभिर्यथास्थानं कृतः (यथा १६८ तमे पृष्ठे द्वितीय टिप्पण्याम्)।

गोविन्दरामहासानन्द-संस्करणम्—अस्य सम्पादनं श्रीपण्डितसुखदेवविद्यावाचस्पतिना कृतम्। अत्र बहुत्र सन्दर्भविभागः, प्रश्नोत्तराणां पार्थक्येन निर्देशः, टिप्पण्यामस्पष्टपाठानां स्पष्टीकरणम्, भापार्थपरिमार्जनरूपं च चतुःप्रकारकं वैशिष्ट्यं दृश्यते। अस्य प्रकाशनम् १९९१ वैक्रमाब्देऽभवत्।

अस्मदीयं संस्करणम्—पूर्वोक्तानि सर्वाण्यपि संस्करणानि यथावत् पर्यालोच्य, यथामति संशोध्य, पूर्वमुद्रितान् अपपाठान् दूरीकृत्य, अस्थाने मुद्रितान् पाठान् यथास्थानं प्रापय्य, भाषार्थं चाल्पतमपरिष्कारेण संस्कृतपाठानुसारिणं विधायोपसार्धसहस्रटिप्पणीभिश्चालंकृत्य अस्माभिः २०२४ वैक्रमाब्दे बृहदाकारयुतं स्थूलाक्षरमुद्रितं संस्करणं प्रकाशितम्। अत्र यत्सम्पादकीयं कार्यं तद्विस्तरोऽन्यत्र सम्पादकीये लेखे द्रष्टव्यः।

ऋग्वेदभाष्यस्याधारभूता ग्रन्थाः—

अस्मिन संस्करणे ऋग्वेदभाष्यस्य आधारभूता ये हस्तलेखा मुद्रितग्रन्थाश्च तेषां परिचयः—

हस्तलेखाः—ऋग्वेदभाष्यस्य त्रयोहस्तलेखाः परोपकारिणीसभायाः सग्रहे विद्यन्ते। अस्य मुद्रणं नवसु भागेष्वभूत्। तत्र केषाञ्चिद् भागानां त्रीणि संस्कराणि केषांचित् चत्वारि संस्करणन्यद्य यावन्मुद्रितानि।

प्रथमो हस्तलेखः—अयं पाण्डुलिपि (रफ कापी) स्वरूप आदित आरभ्य सप्तम-मण्डलस्यैकषष्टितमसूक्तस्य द्वितीयमन्त्रपर्यन्तं वर्तते। अस्य विवरणम्—

प्रथमं मण्डलम्—आदित आरभ्य ४२४ पृष्ठ पर्यन्ते भागे १—३२ सूक्तानि। ४२५ पृष्ठत आरभ्य ६२१ पृष्ठान्ते ३३-३९ सूक्तभाष्यात्मको भागो ग्रन्थस्य नाशान्नोपलभ्यते। ६२२ पृष्ठत आरभ्य २५२२ पृष्ठात्मकेभागे ४०—१९१ सूक्तानि सन्ति। अत्र २५२२ पृष्ठेषु ९७ पृष्ठानि नष्टानि, शिष्टानि २४१९ पृष्ठान्युपलभ्यन्ते।

द्वितीयं मण्डलम्—अयं भागः २५२३ पृष्ठत आरभ्य २९५६ पृष्ठपर्यन्त सम्पूर्णो लभ्यते। अत्र ४३० पृष्ठानि सन्ति।

तृतीयं मण्डलम्—अयं भाग: २६५७ पृष्ठत आरभ्य ३०३८ पृष्ठान्त:, तथा प्रथमसंख्यात: पुनरारभ्य ५५७ पृष्ठान्त: पूर्णो विद्यते । अत एवात्र ८२+५५७ सम्मेल्य ६३९ पृष्ठानि सन्ति ।

चतुर्थं मण्डलम्—अयं भाग: ५५८ पृष्ठत आरभ्य ९४८ पृष्ठान्त: (शुद्धा संख्या ११३८ ज्ञेया) पूर्णो वर्तते ।

विशेष:—अत्र लेखकेन ६७० पृष्ठसंख्या-स्थाने प्रमादात् ७८० पृष्ठसंख्या निर्दिष्टा । इयं १९० पृष्ठसंख्याया अशुद्धिरुत्तरत्र षष्ठमण्डलं यावद् वर्तते । केनचित् शोधकेन रक्तमस्या शुद्धा पृष्ठसंख्या-निवेशरूपो यत्नो व्यधायि, परन्तु स प्रयत्न: ८९२ पृष्ठं प्राप्य विरमते । अतोऽस्मिन् भागे ३९१+१९०=५८१ पृष्ठानि सन्ति ।

पञ्चमं मण्डलम्—अयं भाग: ९४९ पृष्ठत आरभ्य १६९३ पृष्ठपर्यन्त: सम्पूर्णो वर्तते । अत्र ७४५ पृष्ठानि सन्ति ।

षष्ठं मण्डलम्—अयं भाग: १६९४ पृष्ठत आरभ्य २५४५ पृष्ठान्त: पूर्ण उपलभ्यते । अत्र ८५२ पृष्ठानि सन्ति ।

सप्तमं मण्डलम्—अयं भाग प्रथमसंख्यात आरभ्य ५०५ संख्यान्तेषु पृष्ठेषु वर्तते ।

लिपिकरा: अस्मिन् हस्तलेखे आदित आरभ्यान्तपर्यन्तं बहूनां लिपिकराणां विनियोगो दृश्यते ।

कागदम्—अस्मिन् कोशे बहुविधं फुलस्केपाकारं कागदं प्रयुक्तमुपलभ्यते । क्वचिद्धस्ति-मुद्राङ्कितं सूक्ष्मं, क्वचित् स्थूलं, क्वचित्सरेखं, क्वचिदरेखं कागदं वर्तते । हस्तिमुद्राङ्कितेषु कागदेषु १८७७—१८८२ खीस्ताब्द-निर्देश उपलभ्यते ।

संशोधनम्—अस्मिन् हस्तलेखे ग्रन्थकारेण स्वहस्तेन कृतं शोधनं आरम्भत: प्रथममण्डलस्य १००तमसूक्तपर्यन्तं संस्कृतप्राकृतयोरुभयोर्भाषयोर्दृश्यते । अग्रे द्वितीयमण्डलान्तपर्यन्तं केवलं संस्कृत-भाग एवोपलभ्यते । तदप्युत्तरत्र क्रमशो ह्रसति । द्वितीये मण्डले मन्त्रार्थशीर्षकं '......... **विषयमाह**' ग्रन्थकारस्य स्वहस्तलिखितो दृश्यते । तृतीये मण्डले पञ्चदशसूक्तस्य द्वितीयमन्त्र-पर्यन्तं ग्रन्थकारस्य स्वयं कृतं शोधनं क्वचित् क्वचिदुपलभ्यते । इतोऽग्रे ३, १५, ३ - ७, ६१, २ पर्यन्ते समस्ते हस्तलेखे ग्रन्थकारकृतं शोधनं नोपलभ्यते ।

विशेष:—ऋ० ३, १५, ३ मन्त्रत आरभ्य पञ्चममण्डलस्य पूर्वार्ध-(१३३७ पृष्ठ)पर्यन्तं मन्त्रार्थशीर्षकरूप: '.... विषयमाह' पाठो न दृश्यते । अत: प्रतीयते मुद्रिते ग्रन्थे एतावति भागे यन्मन्त्रार्थशीर्षकमुपलभ्यते, तत् शुद्धप्रति (प्रेसकापी)विधातृभि: पण्डितैर्विन्यस्तम् । अत एवा-स्मिन् भागे मन्त्रार्थशीर्षकं क्वचिन्मन्त्रार्थतो विसङ्गतमपि दृश्यते । शिष्टे पञ्चमे सम्पूर्णे च षष्ठे मण्डले मन्त्रार्थशीर्षकमुपलभ्यते, परन्तु तदपि न तल्लिपिकर-हस्तविन्यस्तं येन भाष्यं लिखितम् । सम्भाव्यतेऽस्मिन् भागेऽपि मन्त्रार्थशीर्षकं पश्चात् पण्डितै: प्रवर्धितम् । यद्वा—ग्रन्थकारेणैवाऽन्य-लिपिकरहस्तेन लेखायितम् ।

द्वितीयो हस्तलेख:—अयं पूर्वस्य पाण्डुलिप्यात्मकस्य कोशस्य संशोधितप्रतिरूप: । अयं कोश आदित आरभ्य प्रथममण्डलस्य ७७ सूक्तपर्यन्तमेवास्ति ।

पृष्ठानि—अत्र प्रथमत आरभ्य १०६८ संख्यामितानि पृष्ठानि ।

कागदम्—हस्तिमुद्राङ्कितं १८७७ खीताब्दनिर्दिष्टं वर्तते ।

संशोधनम्—अत्र ग्रन्थकारेण स्वयंकृतानि भूयांसि शोधनानि दृश्यन्ते ।

तृतीयो हस्तलेखः—अयं ग्रन्थप्रकाशनार्थं मुद्रणालये प्रेषितः संशोधितः कोशः ।

पृष्ठानि—अत्र प्रथमत आरभ्य २००६ पर्यन्ता पृष्ठसंख्या क्रमशो दृश्यते । तदनु पृष्ठसंख्या ६८० संख्यातः प्रारब्धा सती ८६४ संख्यासु पर्यवसिता (अत्र ६८० संख्यातः पृष्ठसंख्याया आरम्भस्य कारणं न ज्ञायते) । तदनन्तरं पुनः प्रथमसंख्यात आरभ्यापञ्चममण्डलान्तं १३२८ संख्योपलभ्यते । षष्ठमण्डले नवीना पृष्ठसंख्या प्रारभ्यते । सा च मण्डलेन सह १७३५ संख्यासु समाप्यते । सप्तमण्डले पुनर्नवीना पृष्ठसंख्या दृश्यते । सा एकषष्टितमस्य द्वितीयमन्त्रभाष्यपर्यन्तं (यावद् भाष्यं ग्रन्थकृता विहितम्) वर्तते ।

कागदम्—अस्मिन् हस्तलेखे बहुप्रकारक कागदं व्यवह्रियते ।

संशोधनम्—अस्मिन् कोशे प्रथममण्डलस्य १०० शतसूक्तानि यावत् ग्रन्थकारेण स्वहस्तेन कृतानि भूयांसि शोधनानि दृश्यन्ते । तदनु ११४ सूक्तपर्यन्तं क्वचित् क्वचिदल्पीयांस्येव शोधनानि ग्रन्थकारस्य प्रतीयन्ते ।

प्रथममण्डलस्य ११४ सूक्तानन्तरमाग्रन्थान्तं रक्तमस्या कृतानि संशोधनानि पण्डितभीमसेन-ज्वालादत्तयोः कृतानि सन्ति ।

ग्रन्थकारस्य निर्वाणकाले तदीयवेदभाष्य-हस्तलेखानां स्थितिः

भगवद्दयानन्दसरस्वतीपादस्य निर्वाणकाले ऋग्यजुर्वेदभाष्ययोः का स्थितिरिति परिज्ञाय तद्विवरणप्रस्तुतीकरणाय परोपकारिणीसभायास्तात्कालिकेन मन्त्रिणा पण्डितमोहनलालविष्णुलाल-पण्ड्याभिधेयेन भगवत्पादान्तेवासी ब्रह्मचारी रामानन्दो नियुक्तः । तेन वेदभाष्यहस्तलेखानां विवरणात्मकं यत्पत्रं परोपकारिणीसभामन्त्रिणः पुरस्तादुपस्थापितं, तदित्थं वर्तते—

रामानन्दब्रह्मचारिणः पत्रम्

श्रीयुतमाननीयानेकशुभगुणगणालंकृतब्रह्मकर्मसमर्थश्रीमत्पंडितवर्यमोहनलालविष्णुलालपण्ड्या-भिधेयेष्वितो रामानन्दब्रह्मचारिणोऽनेकधाप्रणतयः समुल्लसन्तुतरामिति ।

भगवन्, आपने जो मुझे श्रीयुत परमहंस परिव्राजकाचार्यवर्य्य श्री १०८ श्रीमद्दयानन्द-सरस्वती स्वामीजी कृत ऋग्वेदादिभाष्य के विषयों की परीक्षा करके श्रीमती परोपकारिणी सभा में निवेदन करने के लिये (एक सारांश) बनाने की प्रेरणा की थी, सो आपकी आज्ञानुसार उसको बनाकर आपकी सेवा में समर्पित कर्ता हूं, अवलोकन कीजियेगा ।

इत्यलं प्रशंसनीयबुद्धिमद्वर्य्येषु

मिति पौष कृष्ण ३,
रवि सम्वत् १९४०

शुभचिन्तक
रामानन्द ब्रह्मचारी

ऋग्वेद भाष्य

श्रीयुत परमहंस परिव्राजकाचार्य्यवर्य्य श्री१०८श्रीमद्दयानन्द सरस्वतीजी कृत ऋग्वेदादिभाष्य की व्यवस्था निम्नलिखित प्रमाणे जानना चाहिये। अर्थात्—

ऋग्वेद का भाष्य १ मण्डल के आरम्भ से ७ मंडल के ६२वें[1] सूक्त के २ मन्त्र तक रचा गया।

१ मंडल के आरम्भ से ८६ सूक्त के ५ मन्त्र तक मुद्रित हो चुका, अर्थात् ५०+५१ अङ्क तक।

१ मंडल ८६ सूक्त के ६ मन्त्र से ९१ सूक्त के ३ मन्त्र तक की शुद्ध प्रति छपने में, शेष मुन्शी समर्थदानजी के पास वैदिक यन्त्रालय प्रयाग में है।

१ प्रथ[म] मंडल के ९१ सूक्त के ४ मन्त्र से १ प्रथम मंडल के ११४वें सूक्त के ५वें मन्त्र तक की शुद्ध प्रति लिखी हुई छपाने योग्य है।

१ प्रथम मंडल के ११४वें सूक्त के ६ मन्त्र से १ मंडल के १२४वें सूक्त के १२वें मन्त्र तक की भाषा बनी हुई है।

१ मंडल के ······मन्त्र से १ मंडल के ·· सूक्त की समाप्ति पर्यन्त का भाष्य पं० ज्वालादत्तजी [के पास] भाषा बनाने के लिये वैदिक यन्त्रालय प्रयाग में है।

१ मंडल के १४४वें सूक्त से ७ मंडल के ६२वें[1] सूक्त के २ मन्त्र तक का भाष्य अशुद्ध संस्कृत[2] में बना हुआ है।

१ मंडल के ६१वें सूक्त के ५वें मन्त्र से १ मंडल के ११४वें सूक्त के ५वें मन्त्र के ऋग्वेद-भाष्य के [3]रद्दी पत्रे हैं, अर्थात् शुद्ध प्रति हो गई।

यजुर्वेद भाष्य

यजुर्वेद का भाष्य सम्पूर्ण हो गया, अर्थात् ४०वें अध्याय की समाप्ति पर्यन्त रचा।

१५वें अध्याय के ११ मन्त्र तक का भाष्य मुद्रित हो गया, अर्थात् ५० और ५१ अङ्क तक।

१५वें अध्याय के १२वें मन्त्र से लेकर २१वें मन्त्र तक की शुद्ध प्रति छपने में, शेष मुन्शी समर्थदानजी के पास वैदिक यन्त्रालय प्रयाग में है।

१५वें अध्याय के २२वे मन्त्र से २३व अध्याय के ४९ मन्त्र तक छपने योग्य शुद्ध प्रति लिखी हुई है।

२३वें अध्याय के ५०वें मन्त्र की भाषा बनी हुई शुद्ध प्रति में लिखने योग्य है।

२३वें अध्याय के ५१वें मन्त्र से ६५ मन्त्र तक, अर्थात् अध्याय की समाप्ति पर्यन्त की भाषा नहीं बनी।

२४वें अध्याय·········—अध्याय तक का भाष्य भाषा बनाने के लिये पं० ज्वालादत्तजी के पास वैदिक यन्त्रालय प्रयाग में है।

२७वें अध्याय के आरम्भ से ४०वें अध्याय की समाप्ति-पर्यन्त का अशुद्ध संस्कृत[2] भाष्य बना हुआ है, अर्थात् बिना शुधी संस्कृत है।

१३वें अध्याय के २१वें मन्त्र से २३वें अध्याय के ४९वें मन्त्र तक के [3]रद्दी पत्रे हैं, अर्थात् शुद्ध [प्रति] हो गई।

मिती पौष कृष्ण ३ रवि सं० १९४०

---

१. अत्र शुद्ध. पाठः '६१ वें सूक्त' इत्येवं ज्ञेयः   २. अत्र प्रयुक्तयोः 'अशुद्ध संस्कृत' पदयोस्तात्पर्यं पाण्डुलिपि (रफ कापी) रूपेण लिखितः तादृशः संस्कृत-पाठो ज्ञेयो, यस्य ग्रन्थकारेण पुनः शोधनं न कृतम्।

३. अत्र 'रद्दी पत्रे हैं, अर्थात् शुद्ध प्रति हो गई' इत्यत्र 'रद्दी पत्रे'=पाण्डुलिपिरूपाणि, शुद्ध प्रति= मुद्रणार्थं प्रेषयितुं योग्या प्रतिरित्यर्थो द्रष्टव्यः।

रामानन्दब्रह्मचारिण इदं पत्रं १८८३ खैस्ताब्दस्य २८ दिसम्बरे परोपकारिणी सभाया: प्रथमेऽधिवेशने सभाया मन्त्रिणोपस्थापितम्। एतद्विषये सभाया अधिवेशनानां मुद्रिते विवरणे तृतीयपृष्ठे पञ्चमप्रस्तावे एवमुपलभ्यते—

'एक पत्र इस विषय पर पढ़ा गया कि स्वर्गवासी स्वामीजी ऋक् और यजुर्वेदभाष्य का कौन-कौनसा भाग समाप्त और असमाप्त छोड़ गये हैं। प्रतीत होता है कि समग्र यजुर्वेद का भाष्य स्वामीजी पूर्ण कर गये, परन्तु बहुत थोड़ा भाग उसका अब तक मुद्रित हुआ है, और ऋग्वेद का सप्तम मण्डल तक।

सबकी सम्मति से यह स्वीकृत हुआ कि पण्डित भीमसेन तथा ज्वालादत्त प्रूफ शोधने और संस्कृतभाष्य का हिन्दी अनुवाद करने के कार्य पर नियत किये जायें, और प्रति व्यक्ति २५) पच्चीस मुद्रा मासिक वेतन मिले…।'

पूर्वनिर्दिष्टेन रामानन्दब्रह्मचारिण: पत्रेण ग्रन्थकारस्य निर्वाणकालेऽस्य ऋग्वेदभाष्यस्य का स्थितिरासीदिति याथातथ्यतो विज्ञायते। एतत्पत्रस्य प्रामाण्यमपि परोपकारिणीसभाया: प्रथमाधिवेशनस्य पूर्वनिर्दिष्टात् प्रस्तावात् विस्पष्टम्। उक्तप्रस्तावेनेदमपि व्यक्तं यद् भगवतो दयानन्दस्य निर्वाणकाले ऋग्वेदभाष्यस्य प्रथममण्डलस्य १४४ सूक्तादारभ्याग्रन्थान्त पाण्डुलिपिरेवासीत्, यस्य भगवता पुन: शोधनमपि नाकारि। एतावतो भागस्य पाण्डुलिप्यात्मक: संस्कृतपाठोऽपि भीमसेन-ज्वालादत्ताभ्यां संशोधित:, तस्य भाषानुवादश्च कृत:।

ऋग्वेदभाष्यस्य मुद्रितानि संस्करणानि

प्रथमं संस्करणम्—ऋग्वेदभाष्यस्य प्रथमं संस्करणं मासिकरूपेष्वङ्केषु १९३५ वैक्रमाब्दस्य श्रावणमासत आरभ्य १९५६ वैक्रमाब्दस्य आषाढमासपर्यन्तं द्वाविंशतिवर्षेषु पूर्तिमगात्। अस्य १३ त्रयोदशाङ्का मुम्बइस्थे निर्णयसागरयन्त्रालये मुद्रिता:। तदनन्तरं समग्र: शिष्टो भागो ग्रन्थकारेण स्थापिते वैदिकयन्त्रालये मुद्रित:।

द्वितीयं संस्करणम्—अस्य भाष्यस्य द्वितीयसंस्करणस्य प्रथमो भाग: (ऋ० १।१-६१) १९७१ वैक्रमाब्दे प्रकाशित:। इदं प्रथमसंस्करणस्य प्रतिलिपिरूपमेव।

तृतीयं संस्करणम्—अस्य संस्करणस्य प्रथमो भाग: (ऋ० १।१-६१) २०११ वैक्रमाब्दे मुद्रित:। अत्र उद्धृतानां प्रमाणानां पाठोऽन्यमुद्राक्षरेषु धृत:, बहवो नूतना: सन्दर्भविभागा: कृता:।

चतुर्थं संस्करणम्—अस्य प्रथमो भाग: (ऋ० १।१-६१) २०२० वैक्रमाब्दे प्राकाश्यं गत:। अस्मिन् संस्करणे केचनापपाठा: शोधिता:, क्वचित् भाष्ये त्रुटितांशो चतुरस्रे [ ] कोष्ठके परिवर्धित:।

एषु संस्करणेषु मन्त्रपाठे पदपाठे भाष्ये च बहवो हस्तलेखे दृश्यमाना लिपिकरादिदोषदुष्टा अपपाठा मुद्रणदोषाश्च समानरूपेणैव प्रायेणोपलभ्यन्ते।

❧

सम्पादकीयम्

येषां हस्तलेखानां मुद्रित संस्करणानां च साहाय्येन ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकया सनाथी-कृतस्य भगवद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृतस्यर्ग्वेदभाष्यस्यास्माभिः सम्पादनं कृतं, तेषां विवरणं पुरस्तात् प्रस्तुतम्। इदानीं स्वसम्पादन-कार्यविषये किञ्चिद् उच्यते—

भगवत्पाददयानन्दसरस्वतीकृतं बह्वर्थविभूषितं सर्वलोकोपकारक्षमं विश्वमपीदं वेदभाष्यं लिपिकराणां मुद्रणकर्तॄणां च प्रमादात् यत्र तत्र त्रुटिपूर्णं पूर्वापरप्रसङ्गविरहितं बहुधाऽशुद्धमुद्रित-मुपलभ्यते। भाषानुवादोऽपि लिपिकराणामनुवादकानां च प्रमादाद् बह्वन्यथाभूतमुपलभ्यते। एतेषां बहुविधदोषाणां निदर्शनायात्रैकैकमुदाहरणमुपन्यस्यते। तत्र तावत् संस्कृतभाष्ये—

१. लिपिकर-प्रमादात् पाठत्यागः। यथा—

ऋ० १।३।११ मन्त्रभाष्ये '(सरस्वती) वाणी' पदार्थो नोपलभ्यते। अयं पाठः कफकोश आसीत्, परन्तु शुद्धप्रतिलिपिकर्त्रा प्रमादात् त्यक्तः। अत एव मुद्रिते ग्रन्थे न दृश्यते। द्र०—पृष्ठ ७५।[1] अस्मिन् संस्करणे पृष्ठ ४६०।

२. लिपिकर-प्रमादात् पाठानां विपर्यासः। यथा—

ऋ० १।३।१ मन्त्रपदार्थे निरुक्तस्य (१२।१; १३।५) द्वावुद्धरणौ निर्दिष्टौ। तत्र प्रथमो-

---

जिन हस्तलेखों और मुद्रित ग्रन्थों के साहाय्य से 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका'सहित भगवत्पाद दयानन्द सरस्वती के ऋग्वेदभाष्य का सम्पादन किया है, उनका विवरण हम पूर्व दे चुके हैं। अब अपने सम्पादन-कार्य के विषय में कुछ संक्षेप से निर्देश करते हैं—

भगवान् दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य में लिपिकर (=लेखक) मुद्रक तथा प्रूफ संशोधकों के प्रमाद से बहुत स्थानों पर पाठ त्रुटित, पूर्वापरप्रसङ्गरहित, बहुधा अशुद्ध मुद्रित उपलब्ध होता है। भाषानुवाद में भी ऐसे ही दोष मिलते हैं। बहुत स्थानों पर भाषानुवाद संस्कृत के साथ मेल भी नहीं खाता। जैसे—

१. लिपिकरों के प्रमाद से पाठ का त्याग—जैसे ऋ० १।३।११ के संस्कृत-पदार्थ में '(सरस्वती) वाणी' पदार्थ उपलब्ध नहीं होता। यह पाठ क-संज्ञक रफ कापी में विद्यमान है। शुद्ध कापी लिखते समय लिपिकर के प्रमाद से छूट गया। इसी कारण मुद्रित संस्करण में भी नहीं मिलता। द्र०—पृष्ठ ७५; इस संस्करण में पृष्ठ ४६०।

२. लिपिकरों के प्रमाद से पाठों का आगे-पीछे होना—जैसे ऋ० १।३।१ के संस्कृत-

---

१. अत्र सर्वत्र निर्दिष्टा प्रथमपृष्ठसंख्या वै० य० मुद्रितस्य द्वितीयसंस्करणस्य ज्ञेया।

द्धरणस्य 'सूर्याचन्द्रमसाविति' इत्यस्यानन्तरं पठ्यमानः 'तयोः कालः ⋯ भागो' अंश उत्तरस्योद्धरणस्य तत्स्थाननिदर्शकपाठस्य मध्ये 'हन्तारौ' पदादनन्तरमुपलभ्यते। द्र०—पृष्ठ ५५। अस्मिन् संस्करणे पृष्ठ ४७५।

३. लिपिकर-प्रमादाद् अन्यथालेखः। यथा—

ऋ० १।१७।७,८ मन्त्रयोर्भावार्थयोः, नवममन्त्रस्य चान्वये 'मित्रावरुणौ' पदमुपलभ्यते। मन्त्रेषु सर्वत्र 'इन्द्रावरुण' पदं श्रूयते, भाष्ये च व्याख्यायते। तस्मादत्र 'इन्द्रावरुणौ' पदस्थाने 'मित्रावरुणौ' पदविन्यासः स्पष्टमेव लिपिकरप्रमादजनितः।

४. क्वचिद् ग्रन्थकारवचोविरुद्धः पाठोऽपि दृश्यते। यथा—

ऋ० १।६।१ मन्त्रभाष्ये 'अध्न'पदार्थे 'अश्वनामसु च १।१४।' इत्युपलभ्यते। अस्मिन् मन्त्रे 'अध्न'शब्दस्याश्वार्थो ग्रहीतुमयोग्यः इति भावार्थान्ते मैक्समूलरव्याख्यानखण्डने स्पष्टमुच्यते—'भट्टमोक्षमूलराख्येनास्य मन्त्रस्यार्थो रथेऽश्वस्य योजनरूपो गृहीतः। सो अन्यथाऽस्तीति भूमिकायां लिखितम्।' द्र०—पृ० ११६, ११७। अस्मिन् संस्करणे पृष्ठ ५१६,५१७।

अत्र संकेतितोऽभिप्राय ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायामित्थं प्रतिपाद्यते—

'क्वचिन्निघण्टावश्वस्यापि अध्नारुषौ नाम्नी पठिते। परन्त्वस्मिन् मन्त्रे तद्घटना नैव सम्भवति, शतपथादिव्याख्यानविरोधात्, मूलार्थविरोधात्⋯⋯।⋯⋯परन्तु न जाने भट्टमोक्षमूलरेणायम[श्वा]र्थ आकाशाद् वा पातालाद्[वा] गृहीतः।' अस्मिन्नेव संस्करणे पृष्ठ १६०।

एतस्मिन् विषये ग्रन्थकृता स्वकीये 'सत्यार्थप्रकाश'ग्रन्थेऽप्युक्तम्—

'⋯⋯मोक्षमूलर साहब ने इधर-उधर आर्यावर्तीय लोगों की की हुई टीका देखकर कुछ-कुछ यथा-तथा लिखा है। जैसा कि—'युञ्जति⋯⋯'इस मन्त्र [में ब्रध्न] का अर्थ घोड़ा किया

पदार्थ में निरुक्त १२।१ तथा १३।५ के दो उद्धरण दिये हैं। उनमें प्रथम उद्धरण का 'तयोः कालः ⋯ भागो' भाग १३।५ के उद्धरण के अन्त में छपा है। द्र०—पृष्ठ ५५; इस संस्करण में पृष्ठ ४७५।

३. लिपिकरों के प्रमाद से कुछ का कुछ लिखा जाना—जैसे ऋ० १।१७।७, ८ के संस्कृत-भावार्थ में तथा ६ के अन्वय में 'इन्द्रावरुणौ' के स्थान में 'मित्रावरुणौ' छपा मिलता है। मन्त्र में 'इन्द्रावरुण' का पाठ होने से 'मित्रावरुण' का कोई प्रसंग ही नहीं है। मित्रावरुण का प्रसंग पूर्व सूक्त में है।

४. कहीं-कहीं ग्रन्थकार के अपने वचन के विरुद्ध भी पाठ मिलता है—जैसे ऋ० १।६।१ के संस्कृत-पदार्थ में 'अध्न' शब्द के अर्थ में 'अश्वनामसु च। १।१४।' प्रमाण छपा मिलता है। इस मन्त्र में 'अध्न' शब्द का अश्व अर्थ संगत नहीं है, यह भाष्यकार ने भावार्थ के अन्त में मोक्षमूलर के अश्वार्थ का खण्डन करते हुए लिखा है। द्र०—पृ० ११६,११७; इस संस्करण में पृष्ठ ५१६,५१७।

प्रकृत मन्त्र के भावार्थ के अन्त में मोक्षमूलर के 'अश्वार्थ' की जो आलोचना की है, वैसी ही 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका'(पृ० १६० यही संस्करण) तथा 'सत्यार्थ-प्रकाश' समु० ११ के आरम्भ में (पृष्ठ ४१२, ४१३ रा.ला.क.ट्र. संस्क०) भी की है।

है। इससे तो जो सायणाचार्य ने सूर्य अर्थ किया है, सो अच्छा है।······इतने से जान लीजिए कि जर्मनी देश और मोक्षमूलर साहब में संस्कृत विद्या का कितना पाण्डित्य है।' स० प्र० समु० ११, पृष्ठ ४१२, ४१३, रा० ला० क० ट्र० संस्करण।

५. बहुत्र एकदेशे संशोधनमुपलभ्यते। तेन तद्विषयकेणासंशोधितांशेन विरोध उपलभ्यते। यथा—

ऋ० १।२२।१० मन्त्रपदार्थे '(वह) प्राप्नुहि। अत्र व्यत्ययो लडर्थे लोट् च' इत्येवं पाठ उपलभ्यते। अत्र 'प्राप्नुहि' इत्येतद् 'लडर्थे लोट्' इत्यनेन विरुध्यते। नह्यत्र 'वह' इत्यस्य लडर्थेऽर्थनिर्देशः, अपि तु लोडर्थ एव। अत्र पाठव्यत्यासस्येदं कारणम्—क.ख.कोशयोः '(वह) प्राप्नोति' इत्येवं लटोऽर्थो निर्दिष्ट आसीत्। उत्तरकाले 'प्राप्नोति' इत्यस्य स्थाने 'प्राप्नुहि' इत्येवं शोधनं विहितम्, परन्तु 'प्राप्नोति' अर्थेन सह उक्तः पाठः 'अत्र व्यत्ययो लडर्थे लोट् च' नापमृष्टः। द्र०—पृ० ४०४।

एवमस्मिन् भाष्ये यत्र क्वचित् परस्परं विरोधोऽसंबद्धो वा पाठ उपलभ्यते, तत्र सर्वत्रैवमेव एकदेशे संशोधनमपरांशे च संशोधनाभावरूपकारणं विज्ञेयम्।

६. असम्बद्ध-प्रमाणोपन्यासोऽपि बहुत्र दृश्यते। यथा—

ऋ० १।६।५ मन्त्रपदार्थे '(चित्) एवार्थे। चिदिति पूजायाम्। निरु० १।४।' इत्येवं पाठ उपलभ्यते। 'चित्' पदस्य एवार्थे उक्ते पूजार्थे प्रमाणोपन्यासो न युज्यते। प्रतीयते यदत्रापि कदाचित् पूर्वं '(चित्) पूजार्थे' इत्येवं व्याख्यातं स्यात्। द्र०—पृष्ठ १२५। अस्मिन् संस्करणे पृष्ठ ५२४।

इत्थमेव ऋ० १।२२।३ मन्त्रपदार्थे '(सूनृतावती) सूनृता प्रशस्ता बुद्धिर्विद्यते यस्यां सा। सूनृतेति वाङ्नामसु पठितम्। निघं० १।११।' इत्येवं पाठ उपलभ्यते। अत्र सूनृतापदस्य बुद्धि-

---

५. एकदेश में संशोधन—कई स्थानों पर यह भी देखने में आता है कि संशोधन-काल में आधे भाग में संशोधन करके पाठ बदल दिया, शेष आधा पुराना पाठ ही रह गया। जैसे—ऋ० १।२२।१० के मन्त्र-पदार्थ में पहले पाठ था—'(वह) प्राप्नोति। अत्र व्यत्ययो लडर्थे लोट् च'। पीछे से प्राप्नोति के स्थान में प्राप्नुहि संशोधन कर दिया, अर्थात् लोट् का लोट् के अर्थ में निर्देश कर दिया, परन्तु 'अत्र व्यत्ययः लडर्थे लोट् च' पंक्ति जो 'प्राप्नोति' अर्थ के साथ संगत थी, काटनी रह गई। द्र०—पृष्ठ ४०४।

६. असम्बद्ध प्रमाणों का निर्देश—जैसे ऋ० १।६।५ के मन्त्र-पदार्थ में 'चित्' का अर्थ 'एव' किया है, पर प्रमाण उद्धृत किया है पूजार्थ-विषयक—'चिदिति पूजायाम्। निरु० १।४।' सम्भव है यहां पहिले 'चित्' का अर्थ पूजा ही लिखा हो, उस अर्थ में प्रमाण ठीक है। पीछे से 'पूजायाम्' के स्थान में 'एवार्थे' बना दिया हो, और प्रमाण काटना रह गया हो (जैसे संख्या ५ में उदाहरण दिया है)। द्र०—पृ० १२५; इस संस्करण में पृ० ५२४।

इसी प्रकार १।२२।३ मन्त्र के पदार्थ में 'सूनृतावती' में' सूनृता का अर्थ 'बुद्धि' किया है, पर प्रमाण दिया है 'वाक्' अर्थ का—'सूनृतेति वाङ्नामसु पठितम्। निघं० १।११।' द्र०—पृष्ठ ३९३।

रूगार्थनिर्देशात् 'सूनृतेति वाङ्नामसु पठितम्' इति प्रमाणनिर्देशो न संगच्छते। अत्र '(सूनृतावती) सूनृता प्रशस्ता वाग् विद्यते यस्या बुद्धेः सा' इति भूतपूर्वः पाठ आसीत्। तस्मिन् पाठे 'सूनृतेति वाङ्नामसु पठितम्' इत्यादि प्रमाणोपन्यास युक्त आसीत्।

७. संस्कृतान्वये बहुत्र मन्त्रपदानां परित्याग उपलभ्यते। यथा—

ऋ० १।७।४ मन्त्रान्वये 'इन्द्र' पदम्, १।७।८ मन्त्रान्वये 'ओजसा यूथेव' पदे, १।८।४ मन्त्रान्वये 'वयम्' पदम्।

अन्वये त्रुटितानि मन्त्रपदानि यथास्थानमस्माभिः [ ] चतुरस्रकोष्ठकेषु परिवर्ध्य पूरितानि।

८. मुद्रणकाले प्रमादाद् भ्रष्टाः पाठा अन्यत्र प्रायेण दृश्यन्ते। यथा—

ऋ० १।३।३ मन्त्रभावार्थे '…युष्माभिः सर्वसुखशिल्पविद्यासिद्धये दुःखविनाशायाग्निजलयोर्यथावदुपयोगः कर्तव्य इति' इत्थं विपर्यस्तः पाठ उपलभ्यते। क.ख.ग. (=प्रेसकापी) कोशेषु '… युष्माभिः सर्वसुखसिद्धये दुःखविनाशाय च शिल्पविद्यायामग्निजलयोर्यथावदुपयोगः कर्तव्य इति' एवं शुद्धः पाठो वर्तते। यदा ग. कोशे (प्रेसकापी) यदाधारेण ग्रन्थस्य मुद्रणमभूत् तस्मिन्नपि शुद्धः पाठो दृश्यते, तदा मुद्रित-ग्रन्थ उपलभ्यमानः पाठविपर्यासः मुद्राक्षरसंयोजकस्य मुद्रणपत्र (प्रूफ) संशोधकस्य वा प्रमाददभूदित्येवानुमातुं शक्यते। भाषाभावार्थे पाठो यथावदुपलभ्यते। द्र०—पृष्ठ ६१। अस्मिन् संस्करणे पृष्ठ ४८०।[1]

९. मुद्रणकाले प्रमादात् पाठत्यागोऽपि बहुत्रोपलभ्यते। यथा—

ऋ० १।२६।३ मन्त्रस्य 'आ हि स्म' पदानामर्थाः पदार्थे नोपलभ्यन्ते। एषां पदानां ख.ग. कोशयोः '(आ) अभितः (हि) निश्चये (स्म) स्पष्टार्थे। अत्र निपातस्य चेति दीर्घः' इत्येवं पाठः पदार्थे दृश्यते। अत्र पाठपरित्यागो मुद्रकसंशोधकप्रमादाभ्यामजनीति स्पष्टमेव। भाषार्थे एषां पदार्थमर्था यथावदुपलभ्यन्ते। द्र० – पृष्ठ ५२८।

---

७. **अन्वय में मन्त्रपदों का परित्याग**—जैसे ऋ० १।७।४ के अन्वय में 'इन्द्र' पद का; १।७।८ में 'ओजसा यूथेव' पदों का; १।८।४ में 'वयम्' पद का निर्देश नहीं मिलता। हमने ऐसे पदों को यथास्थान [ ] कोष्ठक में दे दिया है।

८. **मुद्रणकाल में शुद्ध पाठ का अशुद्ध छपना**—जैसे ऋ० १।३।३ के भावार्थ में 'युष्माभिः सर्वसुखशिल्पविद्यासिद्धये दुःखविनाशायाग्निजलयोर्यथावदुपयोगः कर्तव्यः' ऐसा अशुद्ध पाठ छपा हुआ मिलता है। परन्तु क.ख.ग.(प्रेस कापी) सभी हस्तलेखों में—'युष्माभिः सर्वसुखसिद्धये दुःखविनाशाय च शिल्पविद्यायामग्निजलयोर्यथावदुपयोगः कर्तव्यः' इस प्रकार शुद्ध पाठ विद्यमान है। हिन्दी-भावार्थ भी हस्तलेखों के पाठ के अनुसार है। द्र० – पृष्ठ ६१; इस संस्करण में पृष्ठ ४८०।[2]

९. **मुद्रणकाल में प्रमाद से पाठ छूटे**—जैसे ऋ० १।२६।३ के संस्कृत-पदार्थ में मन्त्रगत 'आ

---

१. अस्मत्संस्करणेऽपि 'सर्वसुखशिल्पविद्यासिद्धये' इति प्रमादजन्यपाठो मुद्रितः। तस्य संशोधनपत्रे शोधनं विहितम्।

२. हमारे संस्करण में भी हमारी अनवधानता से यह पाठ कुछ अशुद्ध छप गया है, उसका संशोधन शुद्धाशुद्धि पत्र में कर दिया है।

१०. पदपाठेऽपि बहुत्र पदानां त्यागोऽवग्रहप्रदर्शनाभावोऽन्यथा मुद्रणं चेत्येवं प्रकाराः प्रमादा बहुश उपलभ्यन्ते । ते चात्र न प्रदर्श्यन्ते । अत्र लिपिकरमुद्रकप्रमाद एव कारणम् ।

यावन्तो दोषा वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु संस्कृतभागे प्रदर्शितास्तावन्त एव दोषाः प्रायेण भाषार्थेऽप्युपलभ्यन्ते । तत्र केचन प्रस्तूयन्ते—

११. बहुत्र भाषार्थे परिवर्धनं दृश्यते, परन्तु संस्कृतपाठे नोपलभ्यते । यथा—

ऋ० १।२२।७ मन्त्रस्य भाषाभावार्थानन्तरं 'इसके आगे······दूषित करनेहारी है' इत्येवं पञ्चपङ्क्तिमितः पाठो भाषायां प्रवर्धितः, परन्तु संस्कृतपाठे प्रवर्धनं नाभूत् । संस्कृतपाठेऽप्यावश्यकोऽयं पाठः । द्र०—वै० य० मु० पृष्ठ ४२३,४२४ ।

१२. पाठ-परित्यागः । यथा—

ऋ० १।२।७ मन्त्रस्य भाषार्थे 'घृताचीं धियं साधन्ता' इत्येतेषां त्रयाणां पदानां निर्देशस्तदर्थाश्च नोपलभ्यन्ते । द्र०—पृ० ५० ।

१३. भूतपूर्वसंस्कृतपाठस्य भाषार्थस्योपस्थितिः । यथा—

ऋ० १।१।२ मन्त्रस्य पदार्थान्वयभाषा भूतपूर्वस्य संस्कृतान्वयस्य विद्यते । संस्कृतान्वयस्य शोधने कृतेऽपि भाषाकारैः शुद्धसंस्कृतान्वयपाठानुसारं भाषार्थो नैव शोधितः ।

यत्र यत्र संस्कृतपाठानुसारी भाषार्थो वै० य० मुद्रिते नोपलभ्यते, तत्र सर्वत्रैवमेव कारणं

हि स्म' पदों का अर्थ नहीं मिलता । परन्तु ख.ग. हस्तलेखों में इनक अर्थ '(आ) अभितः (हि) निश्चये (स्म) स्पष्टार्थे । अत्र निपातस्य चेति दीर्घः' इस प्रकार विद्यमान है । द्र०—पृष्ठ ५२८ ।

१०. पदपाठ में मन्त्रपदों का त्याग, अवग्रह का निर्देश न करना, तथा अन्य प्रकार से अशुद्ध छपना आदि दोष मुद्रित संस्करण में दिखाई देते हैं । उनके उदाहरण यहां नहीं दर्शाये ।

जिस प्रकार के लेखक वा मुद्रण-सम्बन्धी दोष संस्कृत-भाग में दर्शाये हैं, वैसे ही भाषाभाग में भी मिलते हैं । जैसा कि—

११. भाषा-पाठ में पाठ बढ़ाया गया, परन्तु संस्कृत में बढ़ाना रह गया—जैसे ऋ० १।२२।७ में हिन्दी-भावार्थ के अन्त में 'इसके आगे······दूषित करनेहारी है' पांच पङ्क्तियां मिलती हैं, परन्तु संस्कृत-पाठ में नहीं हैं । द्र०—वै० य० मु० पृष्ठ ४२३, ४२४ ।

१२. पाठ का परित्याग—जैसे ऋ० १।२।७ के भाषापदार्थ में 'घृताचीं धियं साधन्ता' तीन मन्त्रगत पद और उनका भाषापदार्थ नहीं मिलता । द्र०—पृष्ठ ५० ।

१३. भूतपूर्व (=कटे हुए) संस्कृतपाठ की भाषा का उपलब्ध होना—जैसे ऋ० १।१।२ के मन्त्र का जो भाषापदार्थ उपलब्ध होता है, वह उस अन्वय के अनुसार है जिसे ग्रन्थकार ने काट दिया था । काटकर जो नया अन्वय लिखा उसके अनुसार भाषा करनेहारे पण्डितों ने भाषापदार्थ में शोधन नहीं किया । इससे संस्कृत अन्वय और भाषागत अन्वय में भेद हो गया ।

भाष्यकार भगवान् दयानन्द के वेदभाष्य की भाषा में जहां-जहां भी संस्कृतपाठ और भाषा

ज्ञेयम् । ग्रन्थकारस्तु प्राधान्येन संस्कृतपाठ एव शोधनं विहितवान् । परिशोधितसंस्कृतपाठानुसार भावार्थस्य शोधनं भावार्थकाराणां कार्यमासीत् । परन्तु तत्र तैः बहुधा प्रमादः कृतः । ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकाया अत्रैको भाषाकारस्य विशिष्टः प्रमाद उपन्यस्यते—

देवताप्रकरणे वै० य० मुद्रितायां भूमिकायां (पृष्ठ ८२, अस्मिन् संस्करणे) भाषार्थ एवमुपलभ्यते—'और ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, मन, अन्तरिक्ष, वायु, द्यौ और मन्त्र ये मूर्तिरहित देव हैं। तथा पांच ज्ञानेन्द्रियां, बिजुली और विधियज्ञ ये सब देव मूर्तिमान् और अमूर्तिमान् भी हैं।'

अस्मिन् पाठे 'हैं' पदानन्तरं चिह्नं दत्वा टिप्पणी दीयते—

'इन्द्रियों की शक्तिरूप द्रव्य अमूर्तिमान्, और गोलक मूर्तिमान् । तथा विद्युत् और विधियज्ञ में जो-जो शब्द तथा ज्ञान अमूर्तिमान्, और दर्शन तथा सामग्री मूर्तिमान् जानना चाहिये। पृ० ८२, इदमेव संस्करणम् ।

अत्र वै० य० मुद्रितायां भूमिकायामेव संस्कृतपाठ एवं दृश्यते—

'एवं एकादश रुद्रा द्वादशादित्या मनःषष्ठानि ज्ञानेन्द्रियाणि वायुरन्तरिक्षं द्यौर्मन्त्राश्चेति शरीररहिताः । तथा स्तनयित्नुविधियज्ञौ सशरीराशरीरे देवते स्त इति'। पृष्ठं ८१ ।

अत्र संस्कृतपाठे पञ्चानां ज्ञानेन्द्रियाणां शरीररहितत्वमुक्तम् । भाषार्थे तु तेषां विद्युद्विधियज्ञाभ्यां सह सशरीराशरीरत्वं प्रतिपादितम् । मन्ये, उक्तदोषमेव लक्ष्यीकृत्य तमपाकर्तुमधस्ताट्टिप्पणी प्रदत्ता । साऽपि मूलसंस्कृतपाठविरोधाच्चिन्त्यैव ।

अत्र यो भाषार्थो भूमिकायां प्रकाश्यते स भूमिकायाश्चतुर्थे हस्तलेखे विद्यमानस्य संस्कृतपाठस्यानुरूपः । संस्कृतपाठश्चतुर्थ एव हस्तलेखे ग्रन्थकारेण परिशोधितः, परन्तु भाषार्थो भाषाविधात्रा पण्डितेन पञ्चमषष्ठयोर्हस्तलेखयोरपि संशोधितसंस्कृतपाठानुसारं न परिष्कृतः ।

१४. बहुत्र संस्कृतपाठे ग्रन्थकारेण पाठः परिवर्धितः, परन्तु भाषाकारैः प्रमादाद् भाषायां तावानंशो न परिवर्धितः । यथा—

ऋ० १।३।५ मन्त्रस्य संस्कृतभावार्थस्यान्ते 'नैवं विनाऽयं केनचिन्मनुष्येण प्राप्तुं शक्य

पाठ में भेद मिलता है, उसका प्रधान कारण यही है कि भाष्यकार ने संस्कृतपाठ का तो शोधन कर दिया, किन्तु भाषा बनानेहारे पण्डितों ने शोधे हुए संस्कृतपाठ के अनुसार भाषा का शोधन नहीं किया, भाषा पुराने संस्कृतपाठ की ही रह गई। इसके विषय में ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के देवता प्रकरण (यही संस्क० पृष्ठ ८२) के संस्कृतपाठ और भाषापाठ की तुलना से स्पष्ट हो जाता है। यहां जो भाषा वै० य० मुद्रित संस्करणों में मिलती है, वह चतुर्थ हस्तलेख के संस्कृतपाठ की है। इसके पश्चात् पञ्चम और षष्ठ हस्तलेख संशोधित होकर लिखे गए, परन्तु भाषा चतुर्थ हस्तलेख के संस्कृतपाठ की ही बनी रह गई। इस पर इस संस्करण के पृष्ठ ८२ की टि० १ देखें।

१४. संस्कृत में बढ़ाये पाठ की भाषा का उपलब्ध न होना—जैसे ऋ० १।३।५ मन्त्र के संस्कृतभावार्थ के अन्त में 'नैवं विनाऽयं केनचिन्मनुष्येण प्राप्तुं शक्य इति' पाठ ग्रन्थकार ने बढ़ाया है,

इति' एतावानंशः ख.कोशे ग्रन्थकृता परिवर्धितः। भाषाकारेण प्रमादवस्य भाषार्थो भाषाभावार्थे नैव परिवर्धितः। द्र०—पृ० ६५। एवमेवोत्तरमन्त्रभावार्थान्ते 'अस्तीति बोध्यम्' पाठो परिवर्धितः, परन्तु भाषायां परिवर्धनं पण्डितैर्नाकारि।

१५. बहुत्र संस्कृतपाठस्य भाषानुवादो यथावन्न दृश्यते। यथा—

वै० य० मुद्रिते ऋ० १।३।१२ मन्त्रव्याख्यानन्तरं पूर्वपरसूक्तयोः संगतिनिदर्शकयोः संस्कृत-भाषापाठयोस्तुलनया दोषोऽयं प्रत्यक्षं ज्ञातुं शक्यते। द्र०—पृ० ७८, ७६।

एवमस्यर्ग्वेदभाष्यस्य वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु यावन्तो दोषा अस्मद्दृष्टिपथं गतास्तेऽस्मिन् संस्करणे क्वचित्पाठशोधनेन क्वचिट्टिप्पणीप्रदानेनापाकर्तुं प्रयत्नो व्यधायि। संस्कृत-पाठे यत्र स्वल्पीयः शोधनमपि कृतं तत्र वै० य० मुद्रितः पाठोऽस्माभिः सर्वत्र टिप्पण्यां प्रदर्शितः। भाषार्थस्तु यथासम्भवं संस्कृतपाठानुसारं परिष्कृतः, न तत्र टिप्पण्यां भूतपूर्वः पाठो निदर्शितः। यतो हि भाष्यकारेण भाष्यमिदं गीर्वाणवाण्यामेव निबद्धम्। अतस्तदेव प्रमाणीभूतम्, भाषार्थस्तु भाष्यकारेण सहायकैः पाण्डितैः कारितः। अतो भाषार्थे यावन्तोऽपि दोषा उपलभ्यन्ते, ते सर्वे भाषानुवादविधातॄणां पण्डितानामेवाज्ञानात् प्रमादाद् वा समुत्पन्नाः।

अत्र भाषार्थोऽपि नास्माभिरामूलं परिवर्तितः, अपि तु पूर्वपठित एव भाषार्थे यथासम्भवम-ल्पपरिवर्तनेन परिवर्धनेन यथास्थाननयनेन च परिष्कृतः।

परन्तु भाषाकार पण्डितों ने इस पाठ की भाषा नहीं बढ़ाई। इसी प्रकार अगले मन्त्र के संस्कृत-भावार्थ के अन्त में **'अस्तीति बोध्यम्'** पद ग्रन्थकार ने संस्कृतपाठ में बढ़ा दिये, पर इनकी भाषा नहीं बढ़ाई गई।

१५. संस्कृतपाठ का यथावत् भाषानुवाद का न होना—इस भाष्य में अनेक ऐसे स्थान हैं जहां संस्कृतपाठ का भाषानुवाद ठीक-ठीक नहीं मिलता। ऋ० १।३।१२ मन्त्रव्याख्या के अन्त में पूर्व पर सूक्तों के संगति-निदर्शक संस्कृतपाठ और भाषापाठ की तुलना से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

इस प्रकार इस ऋग्वेदभाष्य के वै० य० मुद्रित संस्करणों में जितने भी दोष हमारी दृष्टि में आये, उनको इस संस्करण में कहीं पाठशोधन के द्वारा और कहीं टिप्पणी देकर दूर करने का प्रयत्न किया है। **संस्कृतपाठ में जहां-कहीं थोड़ा सा भी पाठ का शोधन किया है, वहां प्रायः सर्वत्र वै० य० मुद्रित अपपाठ को हमने नीचे टिप्पणी में दर्शा दिया है।** क्योंकि भाष्यकार ने अपना भाष्य संस्कृतभाषा में ही लिखा है, इसलिए वही प्रमाणीभूत है। हमारी अनवधानता वा अज्ञान से यदि पाठशोधन का यत्न करते हुए अन्यथा शोधन हो गया हो, तो विद्वानों को पूर्व मुद्रित पाठ का भी ज्ञान होना आवश्यक हो जाता है। इसलिए अपपाठ का शोधन करते समय पूर्वपाठों का निर्देश अवश्य होना चाहिये। साधारणजनों के ज्ञान के लिये भाष्यकार ने भाषार्थ स्वाश्रित पण्डितों के द्वारा कराया था, इस कारण भाषार्थ का शोधन करते समय हमने उसके वै०य० मुद्रित अपपाठ टिप्पणी में नहीं दर्शाये।

यहां यह भी ध्यान रखने योग्य है कि हमने भाषार्थ का शोधन करते हुए उसे आमूल

विविधाष्टिप्पण्यः

अस्मिन् संस्करणेऽस्माभिर्विविधाष्टिप्पण्यः प्रदत्ताः । ताश्चैवं द्रष्टव्याः—

१. उद्धरणानां मूलस्थाननिर्देशः—भाष्यकारेण स्वस्मिन् भाष्ये येषामुद्धरणानां मूलस्थान-निर्देशो नाकारि, तेषां यथासम्भवं मूलस्थानमन्विष्य टिप्पण्यां प्रदर्शितः ।

२. उद्धरणानां मूलस्थाननिर्देशस्य पूर्तिः—बहुत्र भाष्यकृतोद्धरणानां ग्रन्थनिर्देशमात्रं मूलस्थानस्यैकदेशमात्रं वा निर्दिष्टम् । तत्र तथाविधानामुद्धरणानां यथायथं मूलस्थाननिर्देशस्य पूर्तिष्टिप्पण्यां विहिता ।

३. उद्धरणानां पाठभेदनिर्देशः—ग्रन्थकारेणोद्धृतेषु बहुषूद्धरणेषु सम्प्रत्युपलभ्यमानग्रन्थेषु पाठभेदा उपलभ्यन्ते । तत्र ग्रन्थकारोद्धृतपाठं यथावत् रक्षयित्वा साम्प्रतिकः पाठभेदष्टिप्पण्यां प्रदर्शितः ।

४. अर्थतः साम्यं भजतामुद्धरणानां निर्देशः—यत्र यथावत् पठितानामुद्धरणानां मूलस्थानं नोपलब्धं, तत्रार्थतः साम्यं भजतामुद्धरणानां निर्देशष्टिप्पण्यां कृतः ।

५. मूलपाठशोधनम्—पूर्वं भाष्यस्य संस्कृतभागे दशविधा अपपाठाः सोदाहरणं निरूपिताः । तादृशानामपपाठानां यथासम्भवं संशोधनं विधाय वै०य० मुद्रितोऽपपाठोऽधस्तात् टिप्पण्यां प्रदर्शितः, क्वचिच्चापपाठानपि वै० य० मुद्रितपाठवत् पठित्वा तेषां पाठशोधनं टिप्पण्यां निदर्शितम् ।

६. भाष्यकारमन्तव्यानामुपबृंहणम्—बहुत्र भाष्यकारस्य मन्तव्यानां टिप्पण्याम् उपबृंहणं कृतम् । तेन तादृशां मन्तव्यानां साधुत्वं याथार्थ्यतः प्रमाणीभवति ।

७. प्रसङ्गाद् विविधविषयाणां परीक्षणम्—साक्षाद्भाष्यकारेणासंस्पृष्टानां वैदिकविषयाणां

चूल बदलने का प्रयत्न नहीं किया, अपितु पुरानी भाषा की रक्षा करते हुए यथासम्भव स्वल्प परिवर्तन वा परिवर्धन करके उसे संस्कृतपाठ के अनुसार बनाने का प्रयत्न किया है ।

विविध प्रकार की टिप्पणियां

इस संस्करण में हमने यथास्थान अनेक प्रकार की टिप्पणियां दी हैं । जैसे—

१. उद्धरणों के मूल स्थानों का निर्देश करना ।

२. उद्धरणों के अधूरे दिये गये पतों की पूर्ति करना ।

३. उद्धृत पाठों में जहां वर्तमान में पाठभेद मिलता है, उसका निर्देश करना ।

४. मूल उद्धरण का पता ज्ञात न होने पर उसी अर्थवाले अन्य पाठ का निर्देश करना ।

५. जहां पाठ शोधन किया है, उसके वै० य० मुद्रितपाठ का उल्लेख करना । कहीं-कहीं व० य० मुद्रितपाठ को छापते हुए उसका टिप्पणी में संशोधन दर्शाना ।

६. भाष्यकार के मन्तव्य का पोषण करना ।

७. प्रसङ्ग से अन्य विषयों पर भी टिप्पणी में प्रकाश डालना ।

प्रसङ्गाद् आलोचनं टिप्पण्यामुपटङ्कितम्। येन तादृग्गहनविषयाणां विचारे साहाय्यं सम्पद्येत।

अत्र सप्तविधासु टिप्पणीषु प्रथमाः पञ्चविधाः सम्पादनकर्मणोऽङ्गभूताः सन्ति। सम्पादन-कार्यं कुर्वता प्रत्येकेन सम्पादकेन तादृशाष्टिप्पण्योऽवश्यं प्रदेया भवन्ति। षष्ठविधाष्टिप्पण्यः प्रायेण तत्रोपनिबद्धा यत्र भाष्यकर्तृमते विरोधोऽप्रामाण्यं वा निदर्शयितुं शक्यते। अतो भाष्यकार-मतावलम्बिनः सम्पादकस्यैतत् कर्तव्यं भवति यत्स तादृक्स्थानेषु ग्रन्थकारमतं सप्रमाणं सत्या-पयेत्। एतादृश्यष्टिप्पण्यो भूमिकाभागे विशेषतो निर्दिष्टाः, यतस्तत्रैव भगवता भाष्यकारेण स्व-कीया वेदविषयिका धारणा वेदभाष्यशैली च प्राधान्येन प्रतिपादिता। सप्तमविधाष्टिप्पण्यस्तु द्वित्रा एव सन्ति।

विविधानि परिशिष्टानि

अस्य संस्करणस्योपयोगितायाः परिवृद्ध्यै ग्रन्थान्तेऽष्टौ परिशिष्टान्युपनिबद्धानि। यथा—

प्रथमे परिशिष्टे भाष्यादावुपन्यस्तामृग्गणनां लक्ष्यीकृत्यर्ग्वेदस्य ऋक्संख्या विषये यावन्तो वादाः समुपलभ्यन्ते, तान् विविच्यर्ग्वेदस्य शुद्धा ऋक्संख्या प्रदर्शिता। तत्र कस्को विद्वान् ऋग्गणनायां कुत्र कथं च भ्रान्तः, ऋग्गणनायाः के के प्रकाराः प्राचीनैराचार्यैराश्रिताः, कस्यां चर्ग्गणनायां का ऋक्संख्या सम्पद्यत इत्येवमादयो बहवो विषया विवेचिताः। परिशिष्टस्यास्य महत्त्वमभिलक्ष्य संस्कृतहिन्दीभाषयोरिदमुपन्यस्तम्।

इन सात प्रकार की टिप्पणियों में पहली पांच टिप्पणियां तो सम्पादन-कार्य की अङ्गभूत है। इस प्रकार की टिप्पणियों का देना प्रत्येक सम्पादन का कर्त्तव्य है। छठे प्रकार की टिप्पणियों में भाष्यकार के मत में जहां विरोध वा अप्रामाण्य की आशंका की जाती हो वा आशङ्का हो सकती हो, उनका निराकरण अथवा प्रामाण्य दर्शाया है। इस प्रकार की टिप्पणी का निर्देश करना उन सम्पादकों के लिये अत्यन्त आवश्यक होता है, जो भाष्यकार के मत के अनुयायी हों। इस प्रकार की टिप्पणियां अधिकतर भूमिका-भाग में दी गई हैं। क्योंकि भाष्यकार ने भूमिका में ही अपनी वेदविषयक धारणाओं एवं वेदभाष्य की शैली का प्रतिपादन किया है। सातवें प्रकार की टिप्पणियां दो चार ही हैं।

विविध परिशिष्ट

इस संस्करण को विशेष रूप से उपयोगी बनाने के लिए इस भाग के अन्त में आठ प्रकार के परिशिष्ट जोड़े हैं—

प्रथम परिशिष्ट में ऋग्वेद की ऋक्संख्या के विषय में जो मतभेद है, उस पर विचार किया है। उसमें विद्वानों के जितने मत हैं, उनकी परीक्षा करके वास्तविक ऋक्संख्या का निर्देश किया है। ऋग्वेद की ऋक्संख्या की गणना के जितने प्रकार प्राचीन आचार्यों ने स्वीकार किये हैं, उनका विवरण दिया है। तदनुसार किस प्रकार गणना करने पर क्या ऋक्संख्या उपपन्न होती है इत्यादि बहुत से विषयों का प्रतिपादन किया है।

द्वितीये परिशिष्टे भगवता भाष्यकारेण के के ग्रन्थाः प्रमाणार्हा अप्रमाणार्हा वा स्वीकृतास्तेषां निदर्शनमकारि ।

तृतीये परिशिष्टे—भाष्यकारेणाऽस्मिन् भागे उपन्यस्तानामुद्धरणानां वर्णक्रमानुसारं सूची निबद्धा ।

चतुर्थे परिशिष्टे टिप्पण्यामुपटङ्कितानामुद्धरणानां वर्णक्रमानुसारिणी सूची प्रदत्ता ।

पञ्चमे परिशिष्टे भाष्यकारेण प्रकृतग्रन्थे प्रमाणत्वेनोपन्यस्तानां ग्रन्थानां सूची संग्रथिता ।

षष्ठे परिशिष्टे टिप्पण्यामुद्धृतानां ग्रन्थानां सूची निबद्धा ।

सप्तमे परिशिष्टे भाष्यकारेण स्मृतानां व्यक्तिविशेषाणां स्थानविशेषाणां वा नाम्नां सूची प्रदत्ता ।

अष्टमे परिशिष्टे टिप्पण्यामुद्धृतानां व्यक्तिविशेषाणां स्थानविशेषाणां वा नाम्नां सूची उपन्यस्ता ।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायाः सह मुद्रणे कारणम्

यद्यपि भगवत्पादविरचिता ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृथग्रूपेण मुद्रिता उपलभ्यत एव, पुनस्तस्या भाष्येण सह मुद्रणस्य द्रव्यव्ययीकरणस्य च को लाभ इति वक्ष्यन्ति लोकाः । अतस्तस्य सह मुद्रणे ये कारणविशेषास्तेऽधस्तात् प्रस्तूयन्ते—

द्वितीय परिशिष्ट में भाष्यकार द्वारा निर्दिष्ट प्रमाणाप्रमाण के योग्य ग्रन्थों का विषयानुसार निर्देश किया है । साथ में सत्यार्थ-प्रकाश और संस्कारविधि में निर्दिष्ट ग्रन्थों का भी निर्देश कर दिया है ।

तृतीय परिशिष्ट में भाष्य में उद्धृत उद्धरणों की वर्णानुक्रम से सूची दी है ।

चतुर्थ परिशिष्ट में टिप्पणी भाग में निर्दिष्ट उद्धरणों की सूची दी है ।

पञ्चम परिशिष्ट में भाष्यकार ने जिन ग्रन्थों को प्रमाणरूप में उद्धृत किया है, उनकी सूची है ।

षष्ठ परिशिष्ट में टिप्पणी भाग में उद्धृत ग्रन्थों की सूची है ।

सप्तम परिशिष्ट में भाष्यकार द्वारा स्मृत व्यक्तिविशेषों वा स्थान विशेषों के नामों की सूची दी है ।

अष्टम परिशिष्ट में टिप्पणी में उद्धृत व्यक्तिविशेषों वा स्थानविशेषों की सूची दी है ।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका को साथ में छापने का कारण

अनेक व्यक्ति यह आशंका करेंगे कि ऋ० भा० भूमिका जब अलग छपी हुई मिलती है, तो इसको साथ में छापकर ग्रन्थ को व्यर्थ में क्यों बढ़ाया गया ? इसका उत्तर यह है—

१. भूमिकान्ते प्रथमे श्लोके भाष्यकारेणोक्तम्—

सम्पूर्णाकार्यथेदं भवति सुरुचि यन्मन्त्रभाष्यं मयात:,
पश्चादीशानभक्त्या सुमतिसहितया तन्यते सुप्रमाणम् ।

द्वितीयेन च श्लोकेन प्रथमश्लोके प्रतिज्ञातस्य भाष्यस्य प्रकार एवमुच्यते—

मन्त्रार्थभूमिका ह्यत्र मन्त्रस्तत्पदानि च ।
मन्त्रार्थान्वयभावार्था: क्रमाद् बोध्या विचक्षणै: ।।

एताभ्यां वचनाभ्यां विस्पष्टतरं भवति यदियमृग्वेदादिभाष्यभूमिका वेदभाष्यस्यैकदेश-भूता । अतस्तस्या ऋग्वेदभाष्येण सह प्रकाशनमावश्यकम् ।

२. कस्यचिदपि ग्रन्थस्य भूमिकाभागो कारणविशेषात् पृथक् प्रकाशितुं शक्यते, तथापि स ग्रन्थो यस्य सा भूमिका वर्तते, तद्विरहितो न केनापि प्रकाश्यते । भूमिका चेयं भाष्यकारेण संकल्पितस्य वेदचतुष्टयभाष्यस्यैकैव, अतस्तस्या: प्रथमेन ऋग्वेदभाष्येण सहैव प्रकाशनमुचितम् ।

३. यद्यपि भाष्यकारेण भूमिकान्तो भाग: पृथगुपनिबद्धस्तथापि तस्या: पृथङ् निबन्धने तस्या अतिशयेन प्रचारो भवेदित्येव कारणमासीत्, न तां विनाऽपि वेदभाष्यविक्रये तात्पर्यमभूत् । अतएव ऋग्वेदस्य यजुर्वेदस्य च भाष्ययोर्विक्रयो भूमिकया विना न भवेदित्यस्मिन् विषये भाष्यकारेणेत्थं विज्ञापितम्—

जो कोई भूमिका के विना केवल वेद ही लेना चाहे सो नहीं मिल सकते, किन्तु भूमिका ५) रु० देने पर पृथक् मिल सकती है । द्र०—ऋ०द० के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ १३८, द्वि सं० ।

४. भाष्यकारीयोक्तघोषणायां सत्यामप्यद्ययावत् ग्रन्थकारस्योत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा तदीयं वेदभाष्यं भूमिकया विनैव विक्रीणीते इत्यहो प्रमाद: सभाया: । भगवतो भाष्यकारस्य वेदभाष्यं न तावत् कश्चिद् बोद्धुं समर्थो यावत्स तस्य भूमिकां न पठेत् । यतस्तत्रैव भाष्यकारेण

---

१. भूमिका के अन्त में ग्रन्थकार ने जो दो श्लोक दिए हैं उनके अनुसार यह भूमिका उनके वेदभाष्य की अङ्गभूत है, यह स्पष्ट है । अत: भूमिका और भाष्य दोनों को साथ-साथ छापना चाहिये ।

२. कोई भी ग्रन्थ विना भूमिका के नहीं छपता । यह भूमिका भाष्यकार द्वारा संकल्पित वेदभाष्य-चतुष्टय की है । अत: प्रथम ऋग्वेदभाष्य के साथ इसका छापना आवश्यक है ।

३. भगवान् दयानन्द सरस्वती ने भी एक विज्ञापन में इस सम्बन्ध में निम्न महत्त्वपूर्ण घोषणा की थी—

जो कोई भूमिका के विना केवल वेद ही लेना चाहे तो नहीं मिल सकते, किन्तु भूमिका ५) रु० देने पर पृथक् मिल सकती है । द्र०—ऋ० पत्र और विज्ञापन पृष्ठ १३८ (द्वि० सं०) ।

४. सबसे महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि भाष्यकार द्वारा घोषणा होने पर भी उनकी उत्तरा-धिकारिणी परोपकारिणी सभा जब भी कोई वेदभाष्य मंगवाता है, तो वह उसे विना भूमिका के ही भेज देती है । विचारने का विषय है कि जब तक भाष्य मंगवानेवाला भाष्यकार की शैली से, जिसका

स्वीयवेदभाष्यस्य विस्तरेण विवेचनमपूर्वत्वं च प्रकटीकृतम्। अतोऽद्ययावत् प्रचलितं प्रमादमपाकर्तुमेवास्माभिर्ऋग्वेदभाष्येण सहैव भूमिका निबद्धा।

एवं महता प्रयत्नेन मया यथाशक्ति यथाप्रज्ञं च भगवतो दयानन्दस्यर्ग्वेदभाष्यस्य सम्पादन विधाय तस्य प्रथमं भागं वेदविद्याजुषां विपश्चिद्वर्याणां करकमलेषूपस्थाप्यते। अत्र यत्सारभूतं तत् संगृह्यासारं च परित्यज्य मम मतिमान्द्यात् प्रमादाद् दृष्टिदोषतो वात्र या अशुद्धयोऽन्यथा लेखो वा संजातः स्यात्, तं परिमार्ष्टुं मां सूचयित्वोपकरिष्यन्ति। इत्यलमतिविस्तरेण विपश्चिद्वर्येषु।

धन्यवादार्हाः

अस्मिन् महति कर्मणि यैर्महानुभावैरहमुपकृतस्त इमे—

१. चौधरी प्रतापसिंहः—एतैर्महानुभावैर्बहुव्ययसाध्यस्य भगवत्पाददयानन्दसरस्वतीस्वामिन ऋग्वेदभाष्यस्य सुसम्पादितसंस्करणस्य प्रकाशनं स्वीकृत्य मदीयां चिरन्तनामिच्छां पूरयितुं मह्यं तादृशोऽवसरः प्रस्तुतो कृतो, येनाहमृषिऋणतोऽल्पांश आनृण्यं लब्धुं समर्थः स्याम्। अत एते महाभागाः प्रथमं धन्यवादार्हाः। एतेषां महत्या वेदर्षिभक्त्यैव च विद्वत्समाजो भगवत्पादस्यर्ग्वेदभाष्यस्य शुद्धं सुसम्पादितं संस्करणं लब्धुं द्रष्टुं वा समर्थोऽभूदित्यतोऽखिलविदुषामप्येते धन्यवादार्हाः सन्ति।

२. श्रीपण्डितमहेन्द्रशास्त्री—एतैर्विद्वद्वरैरस्य भाष्यस्य मुद्रितपत्रशोधनकर्मात्मीयभावेन महता परिश्रमेण च कुर्वद्भिर्बहुत्र मम प्रमादान् दृष्टिदोषान् वा प्रस्तुत्य बहुत्रोचितशोधनं कर्तुं साहाय्यं प्रदाय महदुपकृतम्। एतेषां साहाय्यं विना नायं ग्रन्थ एतादृशं स्वरूपमुपलब्धुं समर्थोऽभविष्यदिति नातिशयितं वचनम्। अत एते विपश्चिद्वर्या अपि धन्यवादार्हाः सन्ति।

३. रामलालकपूरन्यास (ट्रस्ट) संस्थाया अधिकारिणोऽप्यसितरां धन्यवादार्हाः सन्ति, यैरिदं कार्यं स्वकीयं मन्यमानैर्मह्यमेतत्कर्म कर्तुं स्वीकृतिः प्रदत्ता।

अपि च यैः कैश्चिद् अस्मिन् कर्मण्यल्पमपि साहाय्यं कृतं ते सर्वे, रामलालकपूरट्रस्ट-प्रेस-कर्मिणश्च धन्यवादार्हाः सन्ति।

मकर-संक्रान्तिः, सं० २०२६ — विदुषां वशंवदः—

बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा) — युधिष्ठिरो मीमांसकः

निर्देश इस भूमिका में किया है, परिचित न होगा, तब तक वह उनके वेदभाष्य को कैसे समझ सकता है? लगभग ८८ साल से परोपकारिणी सभा द्वारा बिना भूमिका के वेदभाष्य को बेचने का जो अनर्थकारी क्रम प्रचलित है, उसे समाप्त करने और वेदभाष्य को यथावत् रूप से समझने में सहायता के लिए हमने इस महंगाई के युग में भी भूमिका को साथ में छापने का प्रयास किया है।

इस प्रकार महान् प्रयास से किये गये कार्य में भी जहां मेरी अज्ञानता वा प्रमाद से भूल चूक हुई हो उसके लिये मैं विद्वानों से प्रार्थना करता हूं कि वे मेरी भूल को दर्शाकर मुझे उपकृत करें।

जिन-जिन महानुभावों ने इस कार्य के सम्पादन में विशेष सहयोग दिया है उनका धन्यवाद संस्कृत में कर दिया है।

ऋग्वेदभाष्यस्य प्रथमभागस्य विषय-सूची

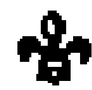
ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकाया विषयाः

ऋग्वेदस्य तद्भाष्यगताश्च विषयाः



अस्य वेदभाष्यस्य वैशिष्ट्यम्

अत्र वेदमन्त्राणां संस्कृतप्राकृतभाषाभ्यां सप्रमाणः पदशोऽर्थो लेखिष्यते। यत्र यत्र व्याकरणादिप्रमाणावश्यकत्वमस्ति तत्तदपि तत्र तत्र लेखिष्यते। येनेदानीन्तनानां वेदार्थविरुद्धानां सनातनव्याख्यानग्रन्थप्रतिकूलानामनर्थकानां वेदव्याख्यानानां निवृत्त्या सर्वेषां मनुष्याणां वेदानां सत्यार्थदर्शनेन तेष्वत्यन्ता प्रीतिर्भविष्यतीति बोध्यम्। संहितामन्त्राणां यथाशास्त्रं यथाबुद्धि च सत्यार्थप्रकाशेन यत्सायणाचार्य्यादिभिः स्वेच्छानुचारतो लोकप्रवृत्त्यनुकूलतश्च लोके प्रतिष्ठार्थं भाष्यं लिखित्वा प्रसिद्धीकृतम्, अनेनात्रानर्थो महान् जातः। तद्द्वारा यूरोपखण्डवासिनामपि वेदेषु भ्रमो जात इति। यदास्मिन्नीश्वरानुग्रहेणर्षिमुनिमहर्षिमहामुनिभिरार्य्यैर्वेदार्थगर्भितेष्वैतरेयब्राह्मणादिषूक्तप्रमाणान्विते मया कृते भाष्ये प्रसिद्धे जाते सति सर्वमनुष्याणां महान् सुखलाभो भविष्यतीति विज्ञायते।



—स्वामी-दयानन्द-सरस्वती

ऋग्वेद-भाष्यम्

[ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकया सह मं० १, सूक्त १-१६ पर्यन्तम्]

* ओ३म् *

अथ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

ओ३म्[1] सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै ।[2]
तेजस्वि नावधीतमस्तु[3] मा विद्विषावहै ॥ ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥१॥

तैत्तिरीयारण्यके, नवमप्रपाठके[4], प्रथमानुवाके ॥

ब्रह्मानन्तमनादि विश्वकृदजं सत्यं परं शाश्वतं,
विद्या यस्य सनातनी निगमभृद् वैधर्म्यविध्वंसिनी ।
वेदाख्या विमला हिता हि जगते नृभ्यः सुभाग्यप्रदा‡,
तन्नत्वा निगमार्थभाष्यमतिना भाष्यं तु तन्तन्यते ॥१॥
कालरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे (१९३३) भाद्रमासे सिते दले ।
प्रतिपद्यादित्यवारे भाष्यारम्भः कृतो मया ॥२॥
दयाया आनन्दो विलसति परः स्वात्मविदितः,
सरस्वत्यस्याग्रे निवसति हिता हीशशरणा ।
इयं ख्यातिर्यस्य प्रततसुगुणा वेदमननाऽ-
स्त्यनेनेदं भाष्यं रचितमिति बोद्धव्यमनघाः ॥३॥

---

१. यह 'ओ३म्' मन्त्र का अवयव नहीं है । आरम्भ में प्लुत ओंकार के उच्चारण का शास्त्रों में विधान होने से यह प्लुत ओंकार मन्त्र के आरम्भ में पढ़ा है ।

२. सं० ५ तक इसी प्रकार पाठ है । सं० ६-८ तक 'भुनक्तु' के पश्चात् विराम-चिह्न मिलता है । सं० ९ में 'अवतु' के पश्चात् भी विराम-चिह्न लगा दिया है । मुद्रित तै० आ० में दोनों स्थानों पर चिह्न है ।

३. प्रथम सं० में आगे विराम है । मुद्रित स्वर के अनुस्वार अशुद्ध होने से उसे हमने हटा दिया है ।

४. सं० वि० के आरम्भ और उसके गृहस्थ-प्रकरण के अन्त में 'अष्टम प्रपाठक' का निर्देश है । और 'आर्याभिविनय' में 'दशम प्रपाठक' का । तै० आ० में इस का पाठ तीनों प्रपाठकों के आरम्भ में मिलता है । परन्तु ग्रन्थ के अवयवरूप में इसका मुख्य पाठ 'अष्टम प्रपाठक' में ही है । नवम और दशम प्रपाठक में यह पाठ ग्रन्थ का अवयव न होकर प्रथम अनुवाक से पूर्व शान्तिपाठ के रूप में मिलता है ।

‡ अयमपपाठ इति केचन संगिरन्ते । एवमग्रेऽपि बहव एतादृशाः प्रयोगा विद्यन्ते, यान् सांप्रतिका वैयाकरणा असाधून् मन्यन्ते । यत्र यत्रैतादृशाः प्रयोगा आगमिष्यन्ति, तेषामग्रे ‡ एतादृक् चिह्नं विधास्यते । एतादृशानां प्रयोगाणां साधुत्वपरिज्ञानाय **'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-परिशिष्ट'**नामा ग्रन्थो द्रष्टव्यः । अस्मिन् ग्रन्थे विपक्षिभिर्विद्वद्भिः कृतानामाक्षेपाणां यान्युत्तराणि ग्रन्थकृता स्वयं प्रदत्तानि, तेषामपि संग्रहो विद्यते ।

मनुष्येभ्यो हितायैव सत्यार्थं सत्यमानतः ।
ईश्वरानुग्रहेणेदं वेदभाष्यं विधीयते ॥४॥
संस्कृतप्राकृताभ्यां यद् भाषाभ्यामन्वितं शुभम् ।
मन्त्रार्थवर्णनं चात्र क्रियते कामधुङ् मया ॥५॥
आर्याणा मुन्यृषीणां या व्याख्यारीतिः सनातनी ।
तां समाश्रित्य मन्त्रार्था विधास्यन्ते तु नान्यथा ॥६॥
येनाधुनिकभाष्यैर्ये टीकाभिर्वेददूषकाः ।
दोषाः सर्वे विनश्येयुरन्यथार्थविवर्णनाः ॥७॥
सत्यार्थश्च प्रकाश्येत वेदानां यः सनातनः ।
ईश्वरस्य सहायेन प्रयत्नोऽयं सुसिध्यताम् ॥८॥

भाषार्थ[1]--(सह नाव०) हे सर्वशक्तिमन् ईश्वर ! आपकी कृपा रक्षा और सहाय से हम लोग परस्पर एक-दूसरे की रक्षा करें[2]। (सह नौ भु०) और हम सब लोग परमप्रीति से मिलके सब से उत्तम ऐश्वर्य अर्थात् चक्रवर्तिराज्य आदि सामग्री से आनन्द को आपके अनुग्रह से सदा भोगें। (सह वी०) हे कृपानिधे ! आपके सहाय से हम लोग एक-दूसरे के सामर्थ्य को पुरुषार्थ से सदा बढ़ाते रहें। (तेजस्वि०) और हे प्रकाशमय सब विद्या के देनेवाले परमेश्वर ! आपके सामर्थ्य से ही हम लोगों का पढ़ा और पढ़ाया सब संसार में प्रकाश को प्राप्त हो, और हमारी विद्या सदा बढ़ती रहे। (मा विद्विषा०) हे प्रीति के उत्पादक ! आप ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे हम लोग परस्पर विरोध कभी न करें, किन्तु एक दूसरे के मित्र होके सदा वर्तें।

(ओं शान्तिः०) हे भगवन् ! आपकी करुणा से हम लोगों के तीन ताप—एक **'आध्यात्मिक'** जो कि ज्वरादि रोगों से शरीर में पीड़ा होती है, दूसरा **'आधिभौतिक'** जो दूसरे प्राणियों से [दुःख] होता है, और तीसरा **'आधिदैविक'** जो कि मन और इन्द्रियों के विकार अशुद्धि और चञ्चलता से

१. ऋषि दयानन्द के जितने भी ग्रन्थ संस्कृत और हिन्दी दो भाषाओं में मिलते हैं, उनमें संस्कृत-भाग ऋषि दयानन्द का है। और भाषानुवाद पण्डितों द्वारा कराया हुआ है, यह ग्रन्थकार के पत्रों से सुस्पष्ट है। इन ग्रन्थों में अनेकत्र भाषापाठ संस्कृतपाठ में नहीं मिलता। अनेक स्थानों पर वह मूलभूत संस्कृत-पाठ से विपरीत भी उपलब्ध होता है। इसका प्रधान कारण ग्रन्थकार द्वारा प्रेस कापी तक संस्कृतपाठ में संशोधन कर देना, और भाषापाठ में पूर्वपाठ का अनुवाद ही बना रहना है। हमने इस ग्रन्थ के भाषापाठ को प्रायः यथावत् ही रखा है। परन्तु जहां भाषा संस्कृत से असम्बद्ध अथवा विपरीत है, वहां हमने संस्कृत-अनुसारी पाठ बना दिया है। जहां भाषा के संस्कृत से पूर्ण सामञ्जस्य न होने पर भी उसका भावार्थ आ गया है, उसे वैसे ही रहने दिया है। जहां हमने पाठ बढ़ाया है, उसे [ ] इस कोष्टक में दे दिया है। और जहां भाषा में परिवर्तन किया है, वहां पूर्व मुद्रित-पाठ नीचे टिप्पणी में दर्शा दिया है।

२. प्रथम सं० में 'करैं, भोगैं, रहैं' आदि क्रियारूप मिलते हैं। ये पण्डितों द्वारा प्रयुक्त प्रादेशिक रूप हैं। इसी प्रकार प्रथम सं० में 'होय, जिस्से, उस्से, इस्से' आदि प्रयोग भी मिलते हैं। इनमें से कतिपय स्थलों का 'हो, जिससे, उससे, इससे' इस प्रकार संशोधन प्रथम सं० के संशोधनपत्र में दर्शाया है। इसलिए हमने 'करैं' आदि का तृतीय सं० में शोधित रूप 'करें, भोगें, रहें' आदि ही स्वीकार किया है।

क्लेश होता है, इन तीनों तापों को आप शान्त अर्थात् निवारण कर दीजिये। जिससे हम लोग सुख से इस वेदभाष्य को यथावत् बनाके सब मनुष्यों का उपकार करें। यही आपसे चाहते हैं, सो कृपा करके हम लोगों को सब दिनों के लिये सहाय कीजिये ॥१॥

(ब्रह्मानन्त०) जो ब्रह्म अनन्त आदि विशेषणों से युक्त है, जिसकी वेद-विद्या सनातन है, उसको अत्यन्त प्रेम भक्ति से मैं नमस्कार करके इस वेदभाष्य के बनाने का आरम्भ करता हूं ॥१॥

(कालरा०) विक्रम के संवत् १९३३ भाद्रमास के शुक्लपक्ष की प्रतिपदा, रविवार के दिन इस वेदभाष्य का आरम्भ मैंने किया है ॥२॥

(दयाया०) सब सज्जन लोगों को यह बात विदित हो कि जिनका नाम 'स्वामी दयानन्द सरस्वती' है, उन्होंने इस वेदभाष्य को रचा है ॥३॥

(मनुष्ये०) ईश्वर की कृपा के सहाय से सब मनुष्यों के हित के लिये इस वेदभाष्य का विधान मैं करता हूं ॥४॥

(संस्कृतप्रा०) सो यह वेदभाष्य दो भाषाओं में किया जाता है—एक संस्कृत और दूसरी प्राकृत। इन दोनों भाषाओं में वेदमन्त्रों के अर्थ का वर्णन मैं करता हूं ॥५॥

(आर्याणां०) इस वेदभाष्य में अप्रमाण लेख कुछ भी नहीं किया जाता है। किन्तु जो ब्रह्मा से लेके व्यास-पर्यन्त मुनि और ऋषि हुए हैं, उनकी जो व्याख्या-रीति है, उससे युक्त ही यह वेदभाष्य[1] बनाया जायगा ॥६॥

(येनाधु०) यह भाष्य ऐसा होगा कि जिससे वेदार्थ से विरुद्ध अब के बने भाष्य और टीकाओं से वेदों में भ्रम से जो मिथ्या दोषों के आरोप हुए हैं, वे सब निवृत्त हो जायंगे ॥७॥

(सत्यार्थश्च०) और इस वेदभाष्य से वेदों का जो सत्य अर्थ है, सो संसार में प्रसिद्ध हो। कि वेदों के सनातन अर्थ को सब लोग यथावत् जान लें, इसलिये यह प्रयत्न मैं करता हूं। सो परमेश्वर के सहाय से यह काम अच्छे प्रकार सिद्ध हो। यही सर्वशक्तिमान् परमेश्वर से मेरी प्रार्थना है ॥८॥

विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑ सुव। यद् भ॒द्रं तन्न॒ आ सु॑व ॥१॥

यजुर्वेदे अध्याये ३०। मन्त्रः ३॥

भाष्यम्—**हे सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप! हे परमकारुणिक! हे अनन्तविद्य! हे विद्याविज्ञानप्रद! (देव) हे सूर्यादिसर्वजगद्विद्याप्रकाशक! हे सर्वानन्दप्रद! (सवितः) हे सकलजगदुत्पादक! (नः)[2] अस्माकम् (विश्वानि) सर्वाणि (दुरितानि) दुःखानि सर्वान् दुष्टगुणांश्च (परा सुव) दूरे गमय। (यद्भद्रम्) यत् कल्याणं सर्वदुःखरहितं सत्यविद्या-**

१. 'यह वेदभाष्य' पद प्रथम सं० के संशोधन-पत्र में हटा दिए हैं, पुनरपि उत्तर संस्करणों में वाक्य की विस्पष्टता के लिए यथापूर्व रहने दिए हैं। अतएव हमने भी इन्हें हटाना उचित नहीं समझा।

२. मन्त्र एकमेव 'नः' पदमन्ते श्रूयते, तस्यैवेहाऽपकर्षं कृत्वा भाष्यकारेण सम्बन्धः प्रदर्शित इति ज्ञेयम्।

प्राप्त्याऽभ्युदयनिःश्रेयससुखकरं भद्रमस्ति (तन्नः) अस्मभ्यम् (आ सुव) आ समन्ताद् उत्पादय कृपया प्रापय ।

अस्मिन् वेदभाष्यकरणानुष्ठाने ये दुष्टा विघ्नास्तान् प्राप्तेः पूर्वमेव परासुव दूरं गमय । यच्च शरीरबुद्धिसहायकौशलसत्यविद्याप्रकाशादि भद्रमस्ति, तत् स्वकृपाकटाक्षेण हे परब्रह्मन् ! नोऽस्मभ्यं प्रापय । भवत्कृपाकटाक्षसुसहाय‡प्राप्त्या सत्यविद्योज्ज्वलं प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धं भवद्रचितानां वेदानां यथार्थं भाष्यं वयं विदधीमहि‡ । तदिदं सर्वमनुष्योपकाराय भवत्कृपया भवेत् । अस्मिन् वेदभाष्ये सर्वेषां मनुष्याणां परमश्रद्धयाऽत्यन्ता प्रीतिर्यथा स्यात्, तथैव भवता कार्यमित्योऽम् ।

भाषार्थ—हे सत्यस्वरूप ! हे विज्ञानमय ! हे सदानन्दस्वरूप ! हे अनन्तसामर्थ्ययुक्त ! हे परमकृपालो ! हे अनन्तविद्यामय ! हे विज्ञानविद्याप्रद ! (देव) हे परमेश्वर ! आप सूर्यादि सब जगत् का और विद्या का प्रकाश करनेवाले हैं[1], तथा सब आनन्दों के देने वाले हैं[1] । (सवितः) हे सर्वजगदुत्पादक सर्वशक्तिमन् ! आप सब जगत् को उत्पन्न करने वाले हैं[1] । (नः)[2] हमारे (विश्वानि) सब जो (दुरितानि) दुःख हैं उनको, और हमारे सब दुष्ट गुणों को कृपा से आप (परा सुव) दूर कर दीजिये । अर्थात् हमसे उनको और हमको उनसे सदा दूर रखिये । (यद्भद्रम्) और जो सब दुःखों से रहित कल्याण है, जो कि सब सुखों से युक्त भोग है, उसको हमारे लिये सब दिनों में प्राप्त कीजिये[3] । सो सुख दो प्रकार का है—एक, जो सत्य विद्या की प्राप्ति से[4] अभ्युदय अर्थात् चक्रवर्ति राज्य इष्ट-मित्र धन पुत्र स्त्री और शरीर से अत्यन्त उत्तम सुख का होना, और दूसरा—जो निःश्रेयस सुख है कि जिसको मोक्ष कहते हैं, और जिसमें ये दोनों सुख होते हैं, उसी को भद्र कहते हैं । (तन्न आ सुव) उस सुख को आप हमारे लिये सब प्रकार से प्राप्त करिये[3] ।

और आपकी कृपा के सहाय से सब विघ्न हमसे दूर रहें । कि जिससे इस वेदभाष्य के करने का हमारा अनुष्ठान सुख से पूरा हो । इस अनुष्ठान में हमारे शरीर में आरोग्य, बुद्धि, सज्जनों का सहाय, चतुरता और सत्यविद्या का प्रकाश सदा बढ़ता रहे । इस भद्रस्वरूप सुख को आप अपनी सामर्थ्य से ही हमको दीजिये । जिस कृपा के सामर्थ्य से हम लोग सत्यविद्या से युक्त जो आपके बनाये वेद हैं, उनके यथार्थ अर्थ से युक्त भाष्य का सुख से विधान करें । सो यह वेदभाष्य आपकी कृपा से सम्पूर्ण होके सब मनुष्यों का सदा उपकार करनेवाला हो । और आप अन्तर्यामी की प्रेरणा से सब मनुष्यों का इस वेदभाष्य में श्रद्धासहित अत्यन्त उत्साह हो । जिससे वेदभाष्य करने में जो हम लोगों का प्रयत्न है, सो यथावत् सिद्धि को प्राप्त हो । इसी प्रकार से आप हमारे और

१. सं० १-९ तक सभी में 'हो' पाठ मिलता है । प्रथम सं० के अन्त में संशोधनपत्र में 'हैं' संशोधन दर्शाया है । अतः हमने 'हैं' पाठ ही स्वीकार किया है ।

२. मन्त्र में एक ही 'नः' पद अन्त में है । उसी का अपकर्ष करके भाष्यकार ने यहां भी सम्बन्ध दर्शाया है, ऐसा जानना चाहिए ।

३. अर्थात् 'कराइये' । इस ग्रन्थ की भाषा में भी संस्कृत के समान बहुत्र अन्तर्णीत ण्यर्थ देखा जाता है ।

४. वै० यं० मु० में 'में' पाठ है ।

सब जगत् के ऊपर कृपादृष्टि करते रहें। जिससे इस बड़े सत्य काम को हम लोग सहज से सिद्ध करें ॥ १ ॥

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥१॥
यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम् ।
दिवं यश्चक्रे मूर्द्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥२॥
यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः।
अग्निं यश्चक्र आस्यं[1] तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥३॥
यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् ।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥४॥

अथर्ववेदसंहितायां काण्डे १०, प्रपाठके २३, अनुवाके ४, मं० १, ३२, ३३, ३४[1] ॥

भाष्यम् - (यो भूतं च०) यो भूतभविष्यद्वर्त्तमानान् कालान् (सर्वं यश्चाधि०) सर्वं जगच्चाधितिष्ठति, सर्वाधिष्ठाता सन् कालादूर्ध्वं विराजमानोऽस्ति, (स्वर्य०) यस्य च केवलं निर्विकारं स्वः सुखस्वरूपमस्ति, यस्मिन् दुःखं लेशमात्रमपि नास्ति, यदानन्दघनं ब्रह्मास्ति, (तस्मै ज्ये०) तस्मै ज्येष्ठाय सर्वोत्कृष्टाय ब्रह्मणे महतेऽत्यन्तं नमोऽस्तु नः ॥ १ ॥

(यस्य भू०) यस्य भूमिः प्रमा यथार्थज्ञानसाधनं पादाविवास्ति, (अन्तरिक्षमु०) अन्तरिक्षं यस्योदरतुल्यमस्ति, यश्च सर्वस्मादूर्ध्वं सूर्यरश्मिप्रकाशमयमाकाशं दिवं मूर्धानं शिरोवच्चक्रे कृतवानस्ति, तस्मै० ॥ २ ॥

(यस्य सू०) यस्य सूर्यश्चन्द्रमाश्च पुनः पुनः सर्गादौ नवीने चक्षुषी इव भवतः, योऽग्निमास्यं मुखवच्चक्रे कृतवानस्ति, तस्मै० ॥ ३ ॥

(यस्य वातः०) वातः समष्टिर्वायुर्यस्य प्राणापानाविवास्ति, (अङ्गिरसः) 'अङ्गिरा अङ्गारा अङ्कना अञ्चनाः' इति निरुक्ते (अ० ३, खं० १७) प्रकाशकाः[2] किरणाश्चक्षुषी इव भवतः, यो दिशः प्रज्ञानीः प्रज्ञापिनीर्व्यवहारसाधिकाश्चक्रे, तस्मै ह्यनन्तविद्याय ब्रह्मणे महते सततं नमोऽस्तु ॥ ४ ॥

---

१. अथर्ववेद में उद्धरण तीन प्रकार से दिए जाते हैं—काण्ड-सूक्त-मन्त्र, काण्ड-अनुवाक-सूक्त-मन्त्र, तथा प्रपाठक-वर्ग-मन्त्र। यहां तीनों का सम्मिश्रण है, और वह भी अधूरा। 'काण्ड-सूक्त-मन्त्र' क्रम सुगम है। ग्रन्थकार का पाठ यथावत् रहने दिया जाएगा, परन्तु पाठकों की सरलता के लिए नीचे सरल क्रम से अथर्ववेद के पते देंगे। यहां इस प्रकार समझें—'काण्ड १०, सूक्त ८, मं० १ तथा सू० ७ मन्त्र ३२,३३,३४' ॥

२. वै० य० मुद्रिते 'प्रकाशिकाः' पाठोऽशुद्धो वर्तते, यतो ह्यस्य विशेषणं 'किरणाः' नित्यपुंलिङ्गोऽस्ति।

भाषार्थ—(यो भूतं०) जो परमेश्वर एक भूतकाल=जो व्यतीत हो गया है, (च) चकार[1] से दूसरा जो वर्तमान है, (भव्यं च) और तीसरा भविष्यत् जो होनेवाला है, इन तीनों कालों के बीच में जो कुछ होता है, उन सब व्यवहारों को वह यथावत् जानता है। (सर्वं यश्चाधितिष्ठति) तथा जो सब जगत् को अपने विज्ञान से ही जानता, रचता, पालन, लय करता, और संसार के सब पदार्थों का अधिष्ठाता अर्थात् स्वामी है,[2] [सबका अधिष्ठाता होकर] सब कालों के ऊपर विराजमान है। (स्वर्यस्य च केवलं) जिसका सुख ही केवल स्वरूप है, जो कि मोक्ष और व्यवहारसुख का भी देनेवाला है, जिसको लेशमात्र भी दुःख नहीं होता, जो आनन्दघन परमेश्वर [है], (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) ज्येष्ठ अर्थात् सबसे बड़ा, सब सामर्थ्य से युक्त ब्रह्म जो परमात्मा है, उसको हमारा नमस्कार प्राप्त हो ॥१॥

(यस्य भूमिः प्रमा०) जिस परमेश्वर के होने और ज्ञान में भूमि जो पृथिवी आदि पदार्थ हैं, सो प्रमा अर्थात् यथार्थज्ञान की सिद्धि होने का दृष्टान्त है, तथा जिसने अपनी सृष्टि में पृथिवी को पादस्थानी रचा है, (अन्तरिक्षमुतोदरम्) अन्तरिक्ष, जो पृथिवी और सूर्य के बीच में आकाश है सो जिसने उदरस्थानी किया है, (दिवं यश्चक्रे मूर्धानम्) और जिसने अपनी सृष्टि में दिव अर्थात् प्रकाश करनेवाले पदार्थों को सबके ऊपर मस्तकस्थानी किया है, अर्थात् जो पृथिवी से लेके सूर्यलोकपर्यन्त सब जगत् को रचके, उसमें व्यापक होके, जगत् के सब अवयवों में पूर्ण होके सबको धारण कर रहा है, (तस्मै०) उस परब्रह्म को हमारा अत्यन्त नमस्कार हो ॥२॥

(यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्र०) और जिसने नेत्रस्थानी सूर्य और चन्द्रमा को किया है, जो कल्प-कल्प के आदि में सूर्य और चन्द्रमादि पदार्थों को वारंवार नये-नये रचता है, (अग्निं यश्चक्र आस्यम्) और जिसने मुखस्थानी अग्नि को उत्पन्न किया है, (तस्मै०) उसी ब्रह्म को हम लोगों का नमस्कार हो ॥ ३ ॥

(यस्य वातः प्राणापानौ) जिसने ब्रह्माण्ड के वायु को प्राण और अपान की नाईं किया है, (चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्) तथा जो प्रकाश करनेवाली[3] किरण हैं, वे चक्षु की नाईं जिसने की हैं, अर्थात् उनसे ही रूप ग्रहण होता है, (दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्त०) और जिसने दश दिशाओं को सब व्यवहारों को सिद्ध करनेवाली बनाई हैं, ऐसा जो अनन्तविद्यायुक्त परमात्मा सब मनुष्यों का इष्टदेव है, उस ब्रह्म को निरन्तर हमारा नमस्कार हो ॥ ४ ॥

---

१. 'अनेक चकारों से' वै० य० मुद्रित पाठ है।

२. यहां से आगे वै० य० मुद्रित भाषापाठ अव्यवस्थित तथा आगे पीछे है। हमने संस्कृत के अनुसार यथास्थान रख दिया है। वै० य० मुद्रित पाठ इसप्रकार है—अर्थात् स्वामी है। (स्वर्यस्य च केवलं) जिसका सुख ही केवल स्वरूप है, जो कि मोक्ष और व्यवहार सुख का भी देनेवाला है, (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) ज्येष्ठ अर्थात् सबसे बड़ा सब सामर्थ्य से युक्त ब्रह्म जो परमात्मा है। उनको अत्यन्त प्रेम से हमारा नमस्कार हो। जो कि सब कालों के ऊपर विराजमान है, जिसको लेशमात्र भी दुःख नहीं होता, उस आनन्दघन परमेश्वर को हमारा नमस्कार प्राप्त हो ॥ १ ॥'

३. 'अङ्गिरसः' का यह अर्थ संस्कृत भाग में दिए गए निरुक्त के प्रमाण से किया गया है।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्य [1]छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥५॥

यजुः अ० २५, मं० १३ ॥

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥६॥

यतोयतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु ।
शन्नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः ॥७॥ यजुः अ० ३६, मं० १७, २२ ॥

यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिँश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥८॥

यजुः अ० ३४, मं० ५ ॥

भाष्यम्—(य आत्मदाः) य आत्मदा विद्याविज्ञानप्रदः, (बलदाः) यः शरीरेन्द्रियप्राणात्ममनसां पुष्ट्युत्साहपराक्रमदृढत्वप्रदः, (यस्य०) यं विश्वेदेवाः सर्वे विद्वांस उपासते यस्यानुशासनं च मन्यन्ते, (यस्य छाया०) यस्याश्रय एव मोक्षोऽस्ति, यस्याच्छायाऽकृपाऽनाश्रयो मृत्युर्जन्ममरणकारकोऽस्ति, (कस्मै०) तस्मै कस्मै प्रजापतये 'प्रजापतिर्वै कस्तस्मै हविषा विधेम' इति शतपथब्राह्मणे (काण्डे ७, अ० ३, [ब्रा० १, कं० २०]), सुखस्वरूपाय ब्रह्मणे देवाय प्रेमभक्तिरूपेण हविषा वयं विधेम, सततं तस्यैवोपासनं कुर्वीमहि ॥ ५ ॥

(द्यौः शान्तिः०) हे सर्वशक्तिमन् परमेश्वर ! त्वद्भक्त्या त्वत्कृपया च द्यौरन्तरिक्षं पृथिवी जलमोषधयो वनस्पतयो विश्वेदेवाः सर्वे विद्वांसो ब्रह्म वेदः सर्वं जगच्चास्मदर्थं शान्तं निरुपद्रवं सुखकारकं सर्वदाऽस्तु, अनुकूलं भवतु नः । येन वयं वेदभाष्यं सुखेन विदधीमहि‡ । हे भगवन् ! एतया सर्वशान्त्या विद्याबुद्धिविज्ञानारोग्यसर्वोत्तमसहायैः‡ भवान् मां सर्वथा वर्धयतु, तथा सर्वं जगच्च ॥ ६ ॥

(यतो य०) हे परमेश्वर ! यतो यतो देशात् त्वं समीहसे, जगद्रचनपालनार्थां चेष्टां करोषि, ततस्ततो देशान्नोऽस्मानभयं कुरु । यतः सर्वथा सर्वेभ्यो देशेभ्यो भयरहिता भवत्कृपया वयं भवेम । (शन्नः कु०) तथा तत्रस्थाभ्यः प्रजाभ्यः पशुभ्यश्च नोऽस्मानभयं कुरु । एवं सर्वेभ्यो देशेभ्यस्तत्रस्थाभ्यः प्रजाभ्यः पशुभ्यश्च नोऽस्मान् शं कुरु । धर्मार्थकाममोक्षादिसुखयुक्तान् त्वानुग्रहेण सद्यः संपादय ॥ ७ ॥

---

१. यजुर्वेद में 'यस्य छाया' मूल पाठ है । द्र० कात्यायन प्रातिशाख्य ४।२६। यजुर्वेद के कई मुद्रित संस्करणों में भी 'यस्य च्छाया' चकार सहित पाठ मिलता है, वह अशुद्ध है ।

(यस्मिन्नृ०) हे भगवन् कृपानिधे ! यस्मिन् मनसि ऋचः सामानि यजूंषि[1] च प्रतिष्ठितानि भवन्ति, यस्मिन् यथार्थमोक्षविद्या च प्रतिष्ठिता भवति,[2] कस्यां क इव ? रथनाभौ अरा इव, (यस्मिंश्चि०) यस्मिंश्च प्रजानां चित्तं स्मरणात्मकं सर्वमोतमस्ति । सूत्रे मणिगणवत् प्रोतमस्ति । तन्मे मम मनो भवत्कृपया शिवसंकल्पं कल्याणप्रियं सत्यार्थप्रकाशं चास्तु, येन वेदानां सत्यार्थः प्रकाश्येत ।

हे सर्वविद्यामय सर्वार्थवित् ! मदुपरि कृपां विधेहि, यया[3] निर्विघ्नेन वेदार्थभाष्यं सत्यार्थं पूर्णं वयं कुर्वीमहि, भवद्यशो वेदानां सत्यार्थं विस्तारयेमहि । यं दृष्ट्वा वयं सर्वे सर्वोत्कृष्टगुणा भवेम । ईदृशीं कृपामस्मदुपरि करोतु भवान्, एतदर्थं प्रार्थ्यते । अनया प्रार्थनयाऽस्मान् शीघ्रमेवानुगृह्णातु । यत इदं सर्वोपकारकं कृत्यं सिद्धं भवेत् ॥८॥

भावार्थ— (य आत्मदाः०) जो जगदीश्वर अपनी कृपा से ही अपने आत्मा का विज्ञान देनेवाला है, जो सब विद्या और सत्य सुखों की प्राप्ति करानेवाला है, [जो शरीर इन्द्रिय प्राण आत्मा और मन की पुष्टि उत्साह पराक्रम और दृढ़ता का देने वाला है] जिसकी उपासना सब विद्वान् लोग करते आये हैं, और जिसका अनुशासन जो वेदोक्त शिक्षा है, उसको अत्यन्त मान्य से सब शिष्ट लोग स्वीकार करते हैं, जिसका आश्रय करना ही मोक्षसुख का कारण है, और जिसकी अकृपा ही जन्ममरण रूप दुःखों को देने वाली है । अर्थात् ईश्वर और उसका उपदेश–जो सत्यविद्या सत्यधर्म और सत्यमोक्ष हैं—उनको नहीं मानना, और जो वेद से विरुद्ध होके अपनी कपोल-कल्पना अर्थात् दुष्ट इच्छा से बुरे कामों में वर्तता है, उसपर ईश्वर की अकृपा होती है, वही सब दुःखों का कारण है, और जिसकी आज्ञापालन ही सब सुःखों का मूल है, (कस्मै०) जो सुखस्वरूप और सब प्रजा का पति है[4], उस परमेश्वर देव की प्राप्ति के लिये सत्यप्रेम भक्तिरूप सामग्री से हम लोग नित्य भजन करें । जिससे हम लोगों को किसी प्रकार का दुःख कभी न हो ॥ ५ ॥

(द्यौः शान्तिः०) हे सर्वशक्तिमन् भगवन् ! आपकी भक्ति और कृपा से ही 'द्यौः' जो सूर्यादि लोकों का प्रकाश और विज्ञान है, यह सब दिन हमको सुखदायक हो । तथा जो आकाश,[5]

---

१. अत्र मन्त्रे त्रयाणामेव वेदानां निर्देशो मन्त्राणां त्रिविधत्वमाश्रित्योक्तम् । तदुक्तं जैमिनिना—'**यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था सा ऋक्, गीतिषु सामाख्या, शेषे यजुःशब्दः**' (मीमांसा २।१।३५-३७) इति । तेन चतुर्ष्वपि वेदेषु ये पद्यरूपा मन्त्रास्ते ऋचः, गद्यरूपा यजूंषि, गीतिरूपाः सामान्युच्यन्ते । यद्वा यथा ग्रन्थकृदग्रे 'प्रश्नोत्तर' विषये अथर्ववेदस्य त्रयाणां वेदानां पारिशेष्यत्वं वक्ष्यति, तथा तस्य त्रिष्वेवान्तर्भावो द्रष्टव्यः । तेनाथर्वणः साक्षादनुल्लेखेऽपि न तस्य वेदेभ्यो बहिष्कारोऽर्वाचीनत्वं वा विज्ञायते ।

२. इत उत्तरवर्ती पाठः 'कस्यां क इव?रथनाभौ अरा इव' वै०य०मुद्रसंस्करणेषु '**मणिगणवत् प्रोतमस्ति**' पाठानन्तरं पठित उपलभ्यते । अस्माभिर्मन्त्रपाठानुरोधाद् ग्रन्थकारकृते यजुर्वेदभाष्ये सत्यार्थप्रकाशे (समु० ७, पृष्ठ २६६ रामलाल क० ट्र० सं०) च पूर्वार्ध एवोपमासम्बन्धस्योपलम्भाच्चेहाप्यस्याभिर्यथास्थानं स्थापितः ।

३. वै०य० मुद्रितेषु १-५ संस्करणेषु '**यया**' इत्येव शुद्धः पाठो दृश्यते । षष्ठसंस्करणाद् 'यथा' पाठ उपलभ्यते, सोऽशुद्धो ज्ञेयः ।

४. 'कः' का अर्थ 'प्रजापति' है, यह श० ब्रा० ७।३।१।२० के उद्धरण से संस्कृत भाग में दर्शाया है ।

५. वै० य० मु० पाठ 'आकाश में' है । यहां 'में' पाठ असम्बद्ध है ।

पृथिवी, जल, ओषधि, वनस्पति, वट आदि वृक्ष, जो संसार के सब विद्वान्, ब्रह्म जो वेद, ये सब पदार्थ और इनसे भिन्न भी जो जगत् है, वे सब सुख देनेवाले हमको सब काल में हों, कि सब पदार्थ सब दिन हमारे अनुकूल रहें, जिससे इस वेदभाष्य के काम को सुखपूर्वक हम लोग सिद्ध करें। हे भगवन्! इस सब शान्ति से हमको विद्या बुद्धि विज्ञान आरोग्य और सब उत्तम सहाय को कृपा से दीजिये। तथा हम लोगों और सब जगत् को उत्तम गुण और सुख के दान से बढ़ाइये ॥ ६ ॥

(यतो य०) हे परमेश्वर ! आप जिस-जिस देश से जगत् के रचन और पालन के अर्थ चेष्टा करते हैं, उस-उस देश से [हमको] भय से रहित करिये। अर्थात् किसी देश से हमको किञ्चित् भी भय न हो। (शन्नः कुरु०) वैसे ही सब दिशाओं में जो आपकी प्रजा और पशु हैं, उनसे भी हमको भयरहित करें, तथा हमसे उनको सुख हो। और उनको भी हमसे भय न हो, तथा आपकी प्रजा में जो मनुष्य और पशु आदि हैं, उन सबसे। जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पदार्थ हैं, उनको आपके अनुग्रह से हम लोग शीघ्र प्राप्त हों। जिससे मनुष्यजन्म के धर्मादि जो फल हैं, वे सुख से सिद्ध हों ॥ ७ ॥

(यस्मिन्नृचः) हे भगवन् कृपानिधे ! (ऋचः) ऋग्वेद (साम) सामवेद (यजूꣳषि) यजुर्वेद, और इन तीनों के अन्तर्गत होने से अथर्ववेद[1] भी, ये सब जिसमें स्थित होते हैं, तथा जिसमें मोक्षविद्या अर्थात् ब्रह्मविद्या[2] स्थित है, जैसे रथ के पहिये के नाभिरूप बीच के भाग में आरे स्थित होते हैं अर्थात् जुड़े होते हैं, (यस्मिँश्चि०) जिसमें सब प्रजा का चित्त, जो स्मरण करने की वृत्ति है, सो सब गँठी हुई है, जैसे माला के मणिये सूत्र में गँठे हुए होते हैं। ऐसा जो मेरा मन है, सो आपकी कृपा से शुद्ध हो। तथा कल्याण जो मोक्ष और सत्यधर्म का अनुष्ठान, तथा असत्य के परित्याग करने का संकल्प जो इच्छा है, इससे युक्त सदा हो। जिस मन से हम लोगों को आपके किये वेदों के सत्य अर्थ का यथावत् प्रकाश हो।

हे सर्वविद्यामय सर्वार्थवित् जगदीश्वर ! हम पर आप कृपा धारण करें। जिससे हम लोग विघ्नों से सदा अलग रहें। और सत्य अर्थ सहित इस वेदभाष्य को सम्पूर्ण बनाके आपके बनाए

---

१. महर्षि जैमिनि के मतानुसार (मी० २।१।३५-३७) चारों वेदों में तीन प्रकार के मन्त्र हैं— ऋक्=पद्यरूप, साम=गानयुक्त, और यजुः=गद्यरूप। इस प्रकार चारों वेद ऋक् यजुः साम रूप मन्त्रों के अन्तर्गत हैं। इसी भाव से ग्रन्थकार ने भी इस ग्रन्थ के 'प्रश्नोत्तर विषय' में अथर्ववेद को तीनों वेदों में प्रतिपादित विषयों का पूर्ति करनेवाला कहा है।

२. यहां से आगे वै० य० मुद्रित पाठ संस्कृत-पाठ के समान ही अस्थान में है। हमने उसे यथास्थान व्यवस्थित रूप में कर दिया है। वै० य० मुद्रित पाठ इस प्रकार है—'ब्रह्मविद्या और सत्यासत्य का प्रकाश होता है, (यस्मिंश्चि०) जिसमें ······· गंठे हुए होते हैं और जैसे रथ के पहिए के बीच भाग में आरे लगे होते हैं कि उस काष्ठ में जैसे अन्य काष्ठ लगे रहते है, ऐसा जो मेरा मन'।

वेदों के सत्य अर्थ की विस्ताररूप जो कीर्ति है, उसको जगत् में सदा के लिये बढ़ावें। और इस भाष्य को देखके वेदों के अनुसार सत्य का अनुष्ठान करके हम सब लोग श्रेष्ठ गुणों से युक्त सदा हों। इसलिये हम लोग आपकी प्रार्थना प्रेम से सदा करते हैं। इसको आप कृपा से शीघ्र सुनें। जिससे यह जो सबका उपकार करनेवाला वेदभाष्य का अनुष्ठान है, सो यथावत् सिद्धि को प्राप्त हो ॥८॥

इतीश्वरप्रार्थनाविषयः

अथ वेदोत्पत्तिविषयः

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।

छन्दाᳪसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥ १ ॥

यजुः० अ० ३१, मं ७ ॥

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् । सामानि यस्य

लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ २ ॥

अथर्व० कां १०, प्रपा० २३, अनु० ४, मं० २० ॥[1]

भाष्यम्—(तस्माद् यज्ञात् स०) तस्माद् यज्ञात् सच्चिदानन्दादिलक्षणात् पूर्णात् पुरुषात् सर्वहुतात् सर्वपूज्यात् सर्वोपास्यात् सर्वशक्तिमतः परब्रह्मणः (ऋचः) ऋग्वेदः, (यजुः) यजुर्वेदः, (सामानि) सामवेदः, (छन्दाᳪसि) अथर्ववेदश्च (जज्ञिरे) चत्वारो वेदास्तेनैव प्रकाशिता इति वेद्यम् । 'सर्वहुतः' इति वेदानामपि विशेषणं भवितुमर्हति, वेदाः सर्वहुतः, यतः सर्वमनुष्यैर्होतुमादातुं[2] ग्रहीतुं योग्याः सन्त्यतः । 'जज्ञिरे, अजायत' इति क्रियाद्वयं वेदानामनेकविद्यावत्त्वद्योतनार्थम्[3] । तथा 'तस्माद्' इति पदद्वयमीश्वरादेव वेदा जाता इत्यवधारणार्थम्[4] । वेदानां गायत्र्यादिछन्दोन्वितत्वात् पुनश्छन्दांसीति पदं चतुर्थस्याथर्ववेदस्योत्पत्तिं ज्ञापयतीत्यवधेयम् । यज्ञो वै विष्णुः । श० कां० १, अ० १, ब्रा० २, कं० १३ ।[5] इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । यजुः०

---

१. अथर्व १०।७।२०॥ २. हु दानादनयोः, आदाने चेत्येके (धातुपाठ ३।१) ।

३. एकार्थशब्दानां प्रयोगाद् एकस्यैव वा शब्दस्याभ्यासाद् अर्थविशेषो द्योतते । तदुक्तं निरुक्तकारेण—'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते' (१०।४२) । लोकेऽपि 'ग्रामो ग्रामो रमणीयः', 'देवदत्तः पचति पचति' इत्यादिभ्यो वीप्सानित्यतादयोऽर्था व्यज्यन्ते । अनेनैव नियमेनेह एकार्थकानां **जज्ञिरे जज्ञिरे अजायत** पदानां श्रवणादर्थविशेषो ग्रन्थकृता द्योतितः ।

४. द्रष्टव्या इहस्थैव पूर्वा टिप्पणी ।

५. वै० य० मुद्रिते नवमसंस्करणे 'ब्रा० २ । कं० १३' इत्यंशः [ ] कोष्ठे प्रदर्श्यते । स चिन्त्यः । यतो ह्ययमंशः प्रथमसंस्करण एव संशोधनपत्रे परिवर्धित उपलभ्यते । तत्र 'ब्रा० २' इत्यस्य स्थाने 'ब्रा० १' मुद्रणदोषो ज्ञेयः ।

अ० ५, मन्त्र १५।[1] इति सर्वजगत्कर्त्तृत्वं विष्णौ परमेश्वर एव घटते, नान्यत्र। वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स विष्णुः परमेश्वरः ॥ १ ॥

(यस्मादृचो) यस्मात् सर्वशक्तिमतः ऋचः ऋग्वेदः (अपातक्षन्) अपातक्षत् उत्पन्नोऽस्ति। यस्मात् परब्रह्मणः (यजुः) यजुर्वेदः (अपाकषन्) प्रादुर्भूतोऽस्ति। तथैव यस्मात् (सामानि) सामवेदः (अ[थर्व]ाङ्गिरसः) अथर्ववेदश्चोत्पन्नौ स्तः। एवमेव यस्येश्वरस्याङ्गिरसोऽथर्ववेदो मुखं मुखवन्मुख्योऽस्ति, सामानि लोमानीव सन्ति, यजुर्यस्य हृदयम्, ऋचः प्राणश्चेति[2] रूपकालङ्कारः। यस्माच्चत्वारो वेदा उत्पन्नाः स कतमः स्विद्देवोऽस्ति[3] ? तं त्वं ब्रूहीति प्रश्नः। अस्योत्तरम्—(स्कम्भं तं०) तं स्कम्भं सर्वजगद्धारकं परमेश्वरं त्वं जानीहीति। तस्मात् स्कम्भात् सर्वाधारात् परमेश्वरात् पृथक् कश्चिदप्यन्यो वेदो वेदकर्त्ता नैवास्तीति मन्तव्यम् ॥ २ ॥

एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः ॥३॥
श० कां० १४, अ० ५, ब्रा० ४, कं० १० ॥[4]

अस्यायमभिप्रायः—याज्ञवल्क्योऽभिवदति—हे मैत्रेयि ! महतः आकाशादपि बृहतः परमेश्वरस्यैव सकाशाद् ऋग्वेदादिवेदचतुष्टयं (निःश्वसितं) निश्वासवत् सहजतया निःसृतमस्तीति वेद्यम्। यथा शरीराच्छ्वासो निःसृत्य पुनस्तदेव प्रविशति, तथैवेश्वराद् वेदानां प्रादुर्भावतिरोभावौ भवत इति निश्चयः ॥ [३ ॥]

---

१. इहापि वै० य० मुद्रिते नवमसंस्करणे 'अ० ५। मन्त्र १५' इति पाठः [ ] कोष्ठे प्रदर्श्यते। अयमपि प्रथमसंस्करण एव संशोधनपत्रे परिवर्धितत्वात्, २-८ संस्करणेषु तथैव मुद्रितत्वाच्च, नवमसंस्करणे कोष्ठकान्तर्गतो निर्देशः चिन्त्यः। नवमसंस्करणे सम्पादकेन '[ ] कोष्ठान्तर्गतः पाठोऽस्माभिः प्रवर्धितः' इति सूचितमादौ।

२. एतस्मिन् मन्त्रे ऋग्यजुषो रूपकविषये न किमप्युक्तम्, तथापि ग्रन्थकारेण एतयो रूपकसम्बन्ध 'परूंषि यस्य सम्भारा ऋचो यस्यानूक्यम्। सामानि यस्य लोमानि यजुर्हृदयमुच्यते (अथर्व ९।६(१)। १-२) मन्त्रयोराधारेण प्रदर्शितः। अत्र यजुषो हृदयत्वं स्पष्टमुक्तं द्वितीये मन्त्रे। प्रथममन्त्रे ऋचः प्राणत्वं स्पष्टमनुक्त्वा अनूक्यत्वं निर्दिशितम्। सायणेन अनूक्यशब्दस्यार्थः 'अस्थिसन्धिः' प्रदर्शितः। परन्त्वयमर्थः 'परूंषि' शब्देन गतार्थ इति मत्वा ग्रन्थकारेण अनूक्यशब्दस्य 'अनूच्यते समवाप्यते इति' यौगिकार्थं पुरस्कृत्य प्राणरूपोऽर्थः प्रदर्शितः।

३. एतद्व्याख्यानेन प्रतीयते यद् ग्रन्थकार एतस्मिन् प्रकरणे सर्वत्र 'कतमः स्विद् देवः सः' पाठं मनुते। अस्यैव प्रकरणस्य 'यत्र लोकांश्च०' मन्त्र अस्मिन्नेव ग्रन्थे ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यप्रकरणे पञ्चमहायज्ञविधौ च 'शन्नो देवी०' मन्त्रव्याख्याने उद्धृत्य व्याख्यातः। यस्मादृचो अपातक्षन् मन्त्रश्च सत्यार्थप्रकाशे (समु० ७)ऽपि व्याख्यातः। सर्वत्रैव ग्रन्थकारेण 'स कतमःस्विद् देवोऽस्ति' इत्येवंरूपेणैव व्याख्यानं विहितम्। पदपाठे तु 'कतमः, स्वित्, एव, सः' इत्येव पदविभागो दृश्यते। मन्त्र-स्वरोऽपीहैवानुकूलः।

४. इहापि वै० यं० मुद्रिते नवमसंस्करणे 'ब्रा० ४। कं० १०' पाठः कोष्ठके [ ] निर्दशितः। अयमपि सम्पादकस्य प्रमाद एव, प्रथमसंस्करण एव संशोधनेऽस्य निर्देशात्।

भाषार्थ—प्रथम ईश्वर को नमस्कार और प्रार्थना करके, पश्चात् वेदों की उत्पत्ति का विषय लिखा जाता है—कि वेद किसने उत्पन्न किये हैं ?

(तस्माद् यज्ञात् स०) 'सत्' जिसका कभी नाश नहीं होता है, 'चित्' जो सदा ज्ञानस्वरूप है, जिसको अज्ञान का लेश भी कभी नहीं होता, 'आनन्द' जो सदा सुखस्वरूप और सबको सुख देनेवाला है, इत्यादि लक्षणों से युक्त पुरुष जो सब जगह परिपूर्ण हो रहा है, जो सब मनुष्यों को उपासना के योग्य इष्टदेव और सब सामर्थ्य से युक्त है। उसी परब्रह्म से (ऋचः) ऋग्वेद (यजुः) यजुर्वेद (सामानि) सामवेद, और (छन्दांसि) इस शब्द से अथर्व भी, ये चारों वेद उत्पन्न हुए हैं। [इस मंत्र में पठित '**सर्वहुतः**' पद वेदों का भी विशेषण हो सकता है, अर्थात् वेद 'सर्वहुत' हैं। क्योंकि ये सब मनुष्यों से ग्रहण[1] करने योग्य हैं।] इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि वेदों का ग्रहण करें, और वेदोक्त रीति से ही चलें। '**जज्ञिरे**' और '**अजायत**' इन दोनों क्रियाओं के अधिक[2] होने से वेद अनेक विद्याओं से युक्त हैं, ऐसा जाना जाता है[3]। वैसे ही '**तस्मात्**' इन दोनों पदों के अधिक होने से यह निश्चय जानना चाहिये कि ईश्वर से ही वेद उत्पन्न हुए हैं,[4] किसी मनुष्य से नहीं। वेदों में सब मन्त्र गायत्र्यादि छन्दों से युक्त ही हैं, फिर '**छन्दांसि**' इस पद के कहने से चौथा जो अथर्ववेद है, उसकी उत्पत्ति का प्रकाश होता है। शतपथ आदि ब्राह्मण और वेदमन्त्रों के प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि 'यज्ञ' शब्द से 'विष्णु' का, और 'विष्णु' शब्द से सर्वव्यापक जो परमेश्वर है उसी का ग्रहण होता है। क्योंकि सब जगत् की उत्पत्ति करनी परमेश्वर में ही घटती है, अन्यत्र नहीं ॥१॥

(यस्मादृचो अपा०) जो सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है, उसी से (ऋचः) ऋग्वेद (यजुः) यजुर्वेद (सामानि) सामवेद (अ[थर्व]ाङ्गिरसः) अथर्ववेद, ये चारों उत्पन्न हुए हैं। इसी प्रकार रूपकालङ्कार से वेदों की उत्पत्ति का प्रकाश ईश्वर करता है कि—अथर्ववेद मेरे मुख के समतुल्य, सामवेद लोमों के समान, यजुर्वेद हृदय के समान और ऋग्वेद प्राण[5] की नाईं है। (ब्रूहि कतमः

---

१. '**सर्वहुतः**' को वेदों का विशेषण मानने पर 'हुत' भाग '**हु दानादनयोः**' धातु से निष्पन्न होता है। कई आचार्यों के मत में इस धातु का आदान अर्थ भी है (द्र० माधवीया धातुवृत्ति)।

२. दोनों क्रियाओं के समानार्थक होने से एक क्रिया से कार्य चल सकता था। अतः दोनों में से एक का प्रयोग अधिक है।

३. एकार्थक शब्दों के अथवा एक ही शब्द के अभ्यास=पुनः प्रयोग से विशेष अर्थ द्योतित होता है, ऐसा निरुक्तकार का कथन है—'**अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते**' (निरुक्त १०।४२)। इसी नियम से यहां वेदों की अनेक विद्याओं का द्योतन होता है।

४. द्र० इसी पृष्ठ की टि० २। यहां अभ्यास से अवधारण=निश्चयरूप अर्थ व्यक्त होता है।

५. इस मन्त्र में यजुः और ऋक् के रूपक विषय में कुछ नहीं कहा है। पुनरपि ऋषि दयानन्द ने उनके रूपकों का सम्बन्ध अथर्व ६,६ (१), १-२ के '**पङ्क्ति यस्य संभारा ऋचो यस्यानूक्यम्। सामानि यस्य लोमानि यजुर्हृदयमुच्यते**' मन्त्रों के आधार पर दर्शाया है। इनमें यजुः का हृदयत्व स्पष्ट है, परन्तु ऋक् का प्राणत्व स्पष्टनिर्दिष्ट नहीं है। मन्त्र में ऋक् के साथ 'अनूक्य' शब्द का निर्देश है। सायण ने अनूक्य का अर्थ

स्विदेव सः) कि चारों वेद जिससे उत्पन्न हुए हैं, सो कौनसा देव है?[1] उसको तुम मुझसे कहो। इस प्रश्न का यह उत्तर है कि—(स्कम्भं तं०) जो सब जगत् का धारणकर्ता परमेश्वर है, उसका नाम 'स्कम्भ' है, उसी को तुम वेदों का कर्ता जानो। और यह भी जानो कि उसको छोड़के मनुष्यों को उपासना करने के योग्य दूसरा कोई इष्टदेव नहीं है। क्योंकि ऐसा अभागी कौन मनुष्य है, जो वेदों के कर्ता सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को छोड़के दूसरे को परमेश्वर मानके उपासना करे ॥ २ ॥

(एवं वा अरेऽस्य०) याज्ञवल्क्य महाविद्वान् जो महर्षि हुए हैं, वह अपनी पण्डिता मैत्रेयी स्त्री को उपदेश करते हैं कि—'हे मैत्रेयी! जो आकाशादि से भी बड़ा सर्वव्यापक परमेश्वर है, उससे ही ऋक् यजुः साम और अथर्व ये चारों वेद उत्पन्न हुए हैं। जैसे मनुष्य के शरीर से श्वास बाहर को आके फिर भीतर को जाता है, इसी प्रकार सृष्टि के आदि में ईश्वर वेदों को उत्पन्न करके संसार में प्रकाश करता है। और प्रलय में संसार में वेद नहीं रहते, परन्तु उसके ज्ञान के भीतर वे सदा बने रहते हैं, बीजाङ्कुरवत्। जैसे बीज में अङ्कुर प्रथम ही रहता है, वही वृक्षरूप होके फिर भी बीज के भीतर रहता है, इसी प्रकार से वेद भी ईश्वर के ज्ञान में सब दिन बने रहते हैं, उनका नाश कभी नहीं होता। क्योंकि वह ईश्वर की विद्या है। इससे इनको नित्य ही जानना' ॥ ३ ॥

अत्र केचिदाहुः—निरवयवात् परमेश्वराच्छन्दमयो वेदः, कथमुत्पद्येतेति ?

अत्र ब्रूमः। न सर्वशक्तिमतीश्वरे शङ्केयमुपपद्यते। कुतः, मुखप्राणादिसाधनमन्तरापि तस्य कार्यं कर्तुं सामर्थ्यस्य सदैव विद्यमानत्वात्। अन्यच्च, यथा मनसि विचारणावसरे प्रश्नोत्तरादिशब्दोच्चारणं[2] भवति, तथेश्वरेऽपि मन्यताम्। योऽस्ति खलु सर्वशक्तिमान्, स नैव कस्यापि सहायं कार्यं कर्तुं गृह्णाति। यथास्मदादीनां सहायेन विना कार्यं कर्तुं सामर्थ्यं नास्ति, न चैवमीश्वरे। यदा निरवयवेनेश्वरेण सकलं जगद्रचितं, तदा वेदरचने का शङ्कास्ति ? कुतः, वेदस्य सूक्ष्मरचनवज्जगत्यपि महदाश्चर्यभूतं रचनमीश्वरेण कृतमस्त्यतः।

भावार्थ—इस विषय में कितने ही पुरुष ऐसा प्रश्न करते हैं कि—'ईश्वर निराकार है, उससे शब्दरूप वेद कैसे उत्पन्न हो सकते हैं' ?

'अस्थिसन्धि' दर्शाया है। परन्तु यह अर्थ 'पर्व' से यथार्थ मानकर ऋषि दयानन्द ने 'अनूक्य' शब्द का 'अनूच्यते समवाप्यते इति' ऐसा यौगिक अर्थ मानकर 'प्राण' अर्थ स्वीकार किया है।

१. मन्त्र में **'कतमः स्विद् एव सः'** पाठ है। परन्तु उपर्युक्त व्याख्यान से प्रतीत होता है कि यहां ग्रन्थकार को **'कतमः स्विद् देवः सः'** पाठ अभिप्रेत है। इसी प्रकरण का **'यत्र लोकांश्च०'** मन्त्र इसी ग्रन्थ के 'ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्य' प्रकरण के अन्त में नवग्रहपूजा प्रकरण और पञ्चमहायज्ञविधि के **'शन्नो देवी०'** मन्त्र के व्याख्यान में उद्धृत करके व्याख्यात है। **'यस्माद्‍चो अपातक्षन्०'** मन्त्र सत्यार्थप्रकाश (समु० ७) में व्याख्यात है। सर्वत्र यही व्याख्यान उपलब्ध होता है।

२. 'प्रश्नोत्तरादिरूपेण शब्दोच्चारणम्' इत्यर्थः।

इसका यह उत्तर है कि—परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है, उसमें ऐसी शङ्का करनी सर्वथा व्यर्थ है। क्योंकि मुख और प्राणादि साधनों के विना भी परमेश्वर में मुख और प्राणादि के काम करने का अनन्त सामर्थ्य [है।] अर्थात्[1] मुख के विना मुख का काम, और प्राणादि के विना प्राणादि का काम वह अपने सामर्थ्य से यथावत् कर सकता है। यह दोष तो हम जीव लोगों मे आ सकता है कि मुखादि के विना मुखादि का कार्य नहीं कर सकते हैं। क्योंकि हम लोग अल्प सामर्थ्यवाले हैं। और इसमें यह दृष्टान्त भी है कि—मन में मुखादि अवयव नहीं हैं, तथापि जैसे उसके भीतर प्रश्नोत्तर आदि शब्दों का उच्चारण मानस-व्यापार में होता है, वैसे ही परमेश्वर में भी जानना चाहिये। और जो सम्पूर्ण सामर्थ्यवाला है, सो किसी कार्य के करने में किसी का सहाय ग्रहण नहीं करता। क्योंकि वह अपने सामर्थ्य से ही सब कार्यों को कर सकता है। जैसे हम लोग विना सहाय से कोई काम नहीं कर सकते, वैसा ईश्वर नहीं है। जैसे देखो कि जब जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था, उस समय निराकार ईश्वर ने सम्पूर्ण जगत् को बनाया। तब वेदों के रचने में क्या शङ्का रही? जैसे वेदों में अत्यन्त सूक्ष्म विद्या का रचन ईश्वर ने किया है, वैसे ही जगत् में भी नेत्र आदि पदार्थों का अत्यन्त आश्चर्यरूप रचन किया है। तो क्या वेदों की रचना निराकार ईश्वर नहीं कर सकता?

ननु जगद्रचने तु खल्वीश्वरमन्तरेण न कस्यापि सामर्थ्यमस्ति, वेदरचने त्वन्यस्यान्यग्रन्थ-रचनवत् स्यादिति?

अत्रोच्यते—ईश्वरेण रचितस्य वेदस्याध्ययनानन्तरमेव ग्रन्थरचने कस्यापि सामर्थ्यं स्यात्, न चान्यथा। नैव कश्चिदपि [तस्य] पठनश्रवणमन्तरा विद्वान् भवति, यथेदानीं किंचिदपि शास्त्रं पठित्वोपदेशं श्रुत्वा व्यवहारं च दृष्ट्वैव मनुष्याणां ज्ञानं भवति। तद्यथा कस्यचित् सन्तानमेकान्ते रक्षयित्वाऽन्नपानादिकं युक्त्या दद्यात्, तेन सह भाषणादिव्यवहारं लेशमात्रमपि न कुर्याद्, यावत् तस्य मरणं न स्यात्। यथा तस्य किंचिदपि यथार्थं ज्ञानं न भवति, यथा च महारण्यस्थानां मनुष्याणामुपदेशमन्तरा पशुवत् प्रवृत्तिर्भवति, तथैवादिसृष्टिमारभ्याद्यपर्यन्तं वेदोपदेशमन्तरा सर्वमनुष्याणां प्रवृत्तिर्भवेत्। पुनर्ग्रन्थरचनस्य तु का कथा?

भाषार्थ—प्र०—जगत् के रचने में तो ईश्वर के विना किसी जीव का सामर्थ्य नहीं है, परन्तु जैसे व्याकरण आदि शास्त्र रचने में मनुष्यों का सामर्थ्य होता है, वैसे वेदों के रचने में भी जीव का सामर्थ्य हो सकता है?

उ०—नहीं। किन्तु जब ईश्वर ने प्रथम वेद रचे हैं, उनको पढ़ने के पश्चात् ग्रन्थ रचने का सामर्थ्य किसी मनुष्य को हो सकता है। उसके पढ़ने और ज्ञान से विना कोई भी मनुष्य विद्वान् नहीं हो सकता। जैसे इस समय में किसी शास्त्र को पढ़के, किसी का उपदेश सुनके, और मनुष्यों के परस्पर व्यवहारों को देखके ही मनुष्यों को ज्ञान होता है, अन्यथा कभी नहीं होता। जैसे किसी मनुष्य के बालक को जन्म से एकान्त में रखके उसको अन्न और जल युक्ति से देवे,

१. 'सामर्थ्य है कि मुख' ऐसा वै० य० मुद्रित पाठ है।

उसके साथ भाषणादि व्यवहार लेशमात्र भी कोई मनुष्य न करे, कि जब तक उसका मरण न हो। तब तक उसको इसी प्रकार से रक्खे, तो मनुष्यपन का भी ज्ञान नहीं हो सकता। तथा जैसे बड़े वन में [रहने वाले] मनुष्यों को विना उपदेश के यथार्थ ज्ञान नहीं होता, किन्तु पशुओं की नाईं उनकी प्रवृत्ति देखने में आती है, वैसे ही वेदों के उपदेश के विना भी सब मनुष्यों की प्रवृत्ति हो जाती। फिर ग्रन्थ रचने के सामर्थ्य की तो कथा क्या ही कहनी है? इससे वेदों को ईश्वर के रचित मानने से ही कल्याण है, अन्यथा नहीं।

मैवं वाच्यम्। ईश्वरेण मनुष्येभ्यः स्वाभाविकं ज्ञानं दत्तं, तच्च सर्वग्रन्थेभ्य उत्कृष्टमस्ति। नैव तेन विना वेदानां शब्दार्थसम्बन्धानामपि ज्ञानं भवितुमर्हति। तदुन्नत्या ग्रन्थरचनमपि करिष्यन्त्येव। पुनः किमर्थं मन्यते वेदोत्पादनमीश्वरेण कृतमिति?

एवं प्राप्ते वदामहे—नैव पूर्वोक्तायाशिक्षितायैकान्ते रक्षिताय[1] बालकाय महारण्यस्थेभ्यो मनुष्येभ्यश्चेश्वरेण स्वाभाविकं ज्ञानं दत्तं किम्? कथं नास्मदादयोऽप्यन्येभ्यः शिक्षाग्रहणमन्तरेण वेदाध्ययनेन च विना पण्डिता भवन्ति? तस्मात् किमागतम्? न शिक्षया विनाध्ययनेन च स्वाभाविकज्ञानमात्रेण कस्यापि निर्वाहो भवितुमर्हति। यथास्मदादिभिरप्यन्येषां विदुषां विद्वत्कृतानां ग्रन्थानां च सकाशादनेकविधं ज्ञानं गृहीत्वैव ग्रन्थान्तरं रच्यते, तथेश्वरज्ञानस्य सर्वेषां मनुष्याणामपेक्षाऽवश्यं भवति। किञ्च, न सृष्टेरारम्भसमये पठनपाठनक्रमो ग्रन्थश्च कश्चिदप्यासीत्। तदानीमीश्वरोपदेशमन्तरा न च कस्यापि विद्यासम्भवो बभूव। पुनः कथं कश्चिज्जनो ग्रन्थं रचयेत्? मनुष्याणां नैमित्तिकज्ञाने स्वातन्त्र्याभावात्। स्वाभाविकज्ञानमात्रेणैव विद्याप्राप्त्यनुपपत्तेश्च।

यच्चोक्तं स्वकीयं ज्ञानमुत्कृष्टमित्यादि, तदप्यसमञ्जसम्। तस्य साधनकोटौ प्रविष्टत्वात् चक्षुर्वत्[2]। यथा चक्षुर्मनःसाहित्येन विना ह्यकिञ्चित्करमस्ति, तथान्येषां विदुषामीश्वरज्ञानस्य च साहित्येन विना स्वाभाविकज्ञानमप्यकिञ्चित्करमेव भवतीति।

भावार्थ—प्र०—ईश्वर ने मनुष्यों को स्वाभाविक ज्ञान दिया है, सो सब ग्रन्थों से उत्तम है। क्योंकि उसके विना वेदों के शब्द अर्थ और सम्बन्ध का ज्ञान कभी नहीं हो सकता। और जब उस ज्ञान की क्रम से वृद्धि होगी, तब मनुष्य लोग विद्या-पुस्तकों को भी रच लेंगे। पुनः वेदों की उत्पत्ति ईश्वर से क्यों माननी?

उ०—जो प्रथम दृष्टान्त बालक का एकान्त में रखने का, और दूसरा वनवासियों का भी कहा था, क्या उनको स्वाभाविक ज्ञान ईश्वर ने नहीं दिया है? वे स्वाभाविक ज्ञान से विद्वान् क्यों नहीं होते? इससे यह बात निश्चित है कि ईश्वर का किया उपदेश जो वेद है, उसके विना किसी मनुष्य[3] को यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। जैसे हम लोग वेदों को पढ़े, विद्वानों की शिक्षा

१. इतः पूर्वं 'आदिसृष्टावुत्पन्नानाम्' इति विशेषणमर्थस्य स्पष्टत्वाय योजनीयम्।

२. अत्रेदमनुमानम्—स्वाभाविकं ज्ञानं साधनम्, तद्विना नैमित्तिकज्ञानानुत्पत्तेः, चक्षुर्वत्। यद्यद् विना नैमित्तिकं ज्ञानं नोत्पद्यते, तत्तत् साधनम्, तथा चेदम्। तस्मात् स्वाभाविकं ज्ञानं साधनम्।

३. यहां 'उसके विना सर्गारम्भ में उत्पन्न किसी मनुष्य को' ऐसा अभिप्राय जानना चाहिए।

और उनके किये ग्रन्थों को पढ़े विना पण्डित नहीं होते, वैसे ही सृष्टि के आदि में भी परमात्मा जो वेदों का उपदेश नहीं करता, तो आज-पर्यन्त किसी मनुष्य को धर्मादि पदार्थों की यथार्थ-विद्या नहीं होती। इससे क्या जाना जाता है कि विद्वानों की शिक्षा और वेद पढ़ने के विना केवल स्वाभाविक ज्ञान से किसी मनुष्य का निर्वाह नहीं हो सकता। जैसे हम लोग अन्य विद्वानों से वेदादिशास्त्रों के अनेक प्रकार के विज्ञान को ग्रहण करके ही पीछे ग्रन्थों को भी रच सकते हैं, वैसे ही ईश्वर के ज्ञान की भी अपेक्षा [सर्गारम्भ में] सब मनुष्यों को अवश्य है। क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में पढ़ने और पढ़ाने की कुछ भी व्यवस्था नहीं थी, तथा विद्या का कोई ग्रन्थ भी नहीं था। उस समय ईश्वर के किये वेदोपदेश के विना विद्या के नहीं होने से कोई मनुष्य ग्रन्थ की रचना कैसे कर सकता? क्योंकि सब मनुष्यों को निमित्त से उत्पन्न होने वाले[1] ज्ञान में स्वतन्त्रता नहीं है। और स्वाभाविक ज्ञानमात्र से विद्या की प्राप्ति किसी को नहीं हो सकती। इसी से ईश्वर ने सब मनुष्यों के हित के लिये वेदों की उत्पत्ति की है।

और जो यह कहा था कि अपना [स्वाभाविक] ज्ञान सब वेदादि ग्रन्थों से श्रेष्ठ है, सो भी अन्यथा है[2]। क्योंकि वह स्वाभाविक जो ज्ञान है, सो साधन कोटि में है। जैसे मन के संयोग के विना आंख से कुछ भी नहीं देख पड़ता, तथा आत्मा के संयोग के विना मन से भी कुछ नहीं होता,[3] वैसे ही जो स्वाभाविक ज्ञान है, सो वेद और विद्वानों की शिक्षा के ग्रहण करने में साधनमात्र ही है। तथा पशुओं के समान व्यवहार का साधन भी है। परन्तु वह स्वाभाविक ज्ञान धर्म अर्थ काम और मोक्षविद्या का साधन स्वतन्त्रता से कभी नहीं हो सकता।

वेदोत्पादने ईश्वरस्य किं प्रयोजनमस्तीत्यत्र वक्तव्यम् ?

उच्यते—वेदानामनुत्पादने खलु तस्य किं प्रयोजनमस्तीति ? अस्योत्तरं तु वयं न जानीमः। सत्यमेवमेतत्। तावद् वेदोत्पादने यदस्ति प्रयोजनं, तच्छृणुत—

ईश्वरेऽनन्ता विद्यास्ति न वा ? अस्ति। सा किमर्थास्ति ? स्वार्था। ईश्वरः परोपकारं न करोति किम् ? करोति। तेन किम् ? तेनेदमस्ति—विद्या स्वार्था परार्था च भवति, तस्यास्तद्विषयत्वात्। यद्यस्मदर्थमीश्वरो विद्योपदेशं न कुर्यात्, तदान्यतरपक्षे सा निष्फला स्यात्। तस्मादीश्वरेण स्वविद्याभूतवेदस्योपदेशेन सप्रयोजनता[4] सम्पादिता।

परमकारुणिको हि परमेश्वरोऽस्ति, पितृवत्। यथा पिता स्वसन्तानं प्रति सदैव करुणां दधाति, तथेश्वरोऽपि परमकृपया सर्वमनुष्यार्थं वेदोपदेशमुपचक्रे। अन्यथाऽन्धपरम्परया मनुष्याणां धर्मार्थकाममोक्षसिद्ध्या विना परमानन्द एव न स्यात्। यथा कृपायमाणेनेश्वरेण प्रजासुखार्थं

---

१. वै० य० मुद्रित 'सहायकारी ज्ञान में' पाठ असम्बद्ध है, तथा संस्कृत से विपरीत है।

२. अर्थात् ठीक नहीं है।

३. यहां से आगे सम्पूर्ण भाषा पाठ अस्पष्ट है। यहां संस्कृत के अनुसार—'वैसे ही स्वाभाविक ज्ञान भी विद्वानों और वेदों के ज्ञान के साहाय्य के विना अकिञ्चित्कर अर्थात् निरर्थक है' ऐसा पाठ होना चाहिए।

४. 'स्वविद्यायाः सप्रयोजनता' ऐसा स्पष्टीकरण जानना चाहिए।

कन्दमूलफलतृणादिकं रचितं, स कथं न सर्वसुखप्रकाशिकां सर्वविद्यामयीं वेदविद्यामुपदिशेत् ? किञ्च ब्रह्माण्डस्योत्कृष्टसर्वपदार्थप्राप्त्या यावत् सुखं भवति, न तत्[1] विद्याप्राप्तसुखस्य सहस्रतमेनांशेनापि तुल्यं भवति । अतो वेदोपदेश ईश्वरेण कृत एवास्तीति निश्चयः ।

भाषार्थ—प्र०—वेदों के उत्पन्न करने में ईश्वर को क्या प्रयोजन था ?

उ०—मैं तुमसे पूछता हूं कि वेदों के उत्पन्न नहीं करने में उसको क्या प्रयोजन था ? जो तुम यह कहो कि इसका उत्तर हम नहीं[2] जानते । ठीक है । पहले वेदों की उत्पत्ति में जो प्रयोजन है, सो आप लोग सुनें—

प्र०[3]—ईश्वर में अनन्त विद्या है वा नहीं ? उ०—है । प्र०—सो उसकी विद्या किस प्रयोजन के लिये है ? उ०—अपने ही लिये, जिससे सब पदार्थों का रचना और जानना होता है । प्र०—अच्छा तो मैं आपसे पूछता हूं कि ईश्वर परोपकार को करता है, वा नहीं ? उ०—ईश्वर परोपकारी है । इससे क्या आया ? इससे यह बात आती है कि विद्या जो है, सो स्वार्थ और परार्थ के लिये होती है । क्योंकि विद्या का यही गुण है कि स्वार्थ और परार्थ इन दोनों को सिद्ध करना । जो परमेश्वर अपनी विद्या का हम लोगों के लिये उपदेश न करे, तो विद्या से जो परोपकार करना गुण है, सो उसका नहीं रहे । इससे परमेश्वर ने अपनी वेदविद्या का हम लोगों के लिये उपदेश करके [अपनी विद्या की] सफलता सिद्ध करी है ।

परमेश्वर हम लोगों का माता पिता के समान है । हम सब लोग जो उसकी प्रजा हैं,उन पर नित्य कृपादृष्टि रखता है । जैसे अपने सन्तानों के ऊपर पिता और माता सदैव करुणा को धारण करते हैं कि सब प्रकार से हमारे पुत्र सुख पावें, वैसे ही ईश्वर भी सब मनुष्यादि सृष्टि पर कृपादृष्टि सदैव रखता है । इससे ही वेदों का उपदेश हम लोगों के लिये किया है । जो परमेश्वर अपनी वेदविद्या का उपदेश मनुष्यों के लिये न करता, तो धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि किसी को यथावत् प्राप्त न होती । उसके विना परम आनन्द भी किसी को नहीं होता । जैसे परमकृपालु ईश्वर ने प्रजा के सुख के लिये कन्द, मूल, फल और घास आदि छोटे-छोटे भी पदार्थ रचे हैं, सो ही ईश्वर सब सुखों के प्रकाश करनेवाली, सब सत्य विद्याओं से युक्त वेदविद्या का उपदेश भी प्रजा के सुख के लिये क्यों न करता ? क्योंकि जितने ब्रह्माण्ड में उत्तम पदार्थ हैं,

१. 'न तावत्' वै० य० मुद्रिते पाठः ।

२. यहां से आगे वै० य० मुद्रित पाठ इस प्रकार है—जान सकते तो ठीक है, क्योंकि वेद तो ईश्वर की नित्य विद्या है, उसकी उत्पत्ति या अनुत्पत्ति हो ही नहीं सकती । परन्तु हम जीव लोगों के लिए ईश्वर ने जो वेदों का प्रकाश किया है, सो उसकी हम पर परम कृपा है । जो वेदोत्पत्ति का प्रयोजन' । यह पाठ मूल से असम्बद्ध वा अप्राकरणिक है ।

३. यह 'प्रश्न' सिद्धान्ती का है, और अगला 'उत्तर' पूर्वपक्षी का । जहां सिद्धान्ती पूर्वपक्षी से प्रश्न करता है और पूर्वपक्षी उत्तर देता है, वहां सर्वत्र इसी प्रकार समझना चाहिए ।

उनकी प्राप्ति में जितना सुख होता है, सो सुख विद्याप्राप्ति से होनेवाले सुख के हजारहवें[1] अंश के भी समतुल्य नहीं हो सकता। ऐसा सर्वोत्तम विद्या-पदार्थ जो वेद है, उसका उपदेश परमेश्वर क्यों न करता? इससे निश्चय करके यह जानना कि वेद ईश्वर के ही बनाये हैं।

ईश्वरेण लेखनीमसीपात्रादिसाधनानि वेदपुस्तकलेखनाय कुतो लब्धानि?

अत्रोच्यते—अहहह! महतीयं शङ्का भवता कृता। विना हस्तपादाद्यवयवैः काष्ठलोष्ठादिसामग्रीसाधनैश्च यथेश्वरेण जगद्रचितं, तथा वेदा अपि रचिताः। सर्वशक्तिमतीश्वरे वेदरचनं प्रत्येवं माशङ्कि। किन्तु पुस्तकस्था वेदा तेनादौ नोत्पादिताः। किं तर्हि? ज्ञानमध्ये प्रेरिताः[2]। केषाम्? अग्निवाय्वादित्याङ्गिरसाम्। ते तु ज्ञानरहिता जडाः सन्ति? मैवं वाच्यम्, सृष्ट्यादौ मनुष्यदेहधारिणस्ते ह्यासन्[3]। कुतः? जडे ज्ञानकार्यासम्भवात्। यत्रार्थासम्भवो[4]ऽस्ति, तत्र लक्षणा भवति[5]। तद्यथा कश्चिदाप्तः कञ्चित्प्रति वदति—मञ्चाः क्रोशन्तीति। अत्र मञ्चस्था मनुष्याः क्रोशन्तीति विज्ञायते। तथैवात्रापि विज्ञायताम्। विद्याप्रकाशसंभवो मनुष्येष्वेव भवितुमर्हतीति।

अत्र प्रमाणम्—

तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्ताग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः॥

श० कां० ११। अ० ५॥

एषां ज्ञानमध्ये प्रेरयित्वा[6] तद्द्वारा वेदाः प्रकाशिताः।

सत्यमेवमेतत्। परमेश्वरेण तेभ्यो ज्ञानं दत्तम्। ज्ञानेन तैर्वेदानां रचनं कृतमिति विज्ञायते?

मैवं विज्ञायि। ज्ञानं किंप्रकारकं दत्तम्? वेदप्रकारकम्। तदीश्वरस्य वा तेषाम्? ईश्वरस्यैव। पुनस्तेनैव प्रणीता वेदा आहोस्वित् तैश्च? यस्य ज्ञानं तेनैव प्रणीताः। पुनः किमर्था शङ्का कृता तैरेव रचिता इति? निश्चयकरणार्था।

---

१. यहां वै० य० मुद्रित पाठ इस प्रकार है—'विद्या प्राप्ति होने से हजारहवें'।

२. द्र०—ऋ० १०, ७१, १ 'तदेषां निहितं गुहाविः'। गोपथब्राह्मणे (१,१,९)ऽपि पठ्यते—'श्रेष्ठो हि वेदस्तपसोऽधिजातो ब्रह्मज्ञानां हृदये संबभूव'। अयं पाठः सायणेनाथर्वभाष्यभूमिकायाम् (पृष्ठ ६, वि० शोध-संस्थान संस्करण) उद्धृतः। गोपथब्राह्मणे तु 'हृदये' इत्यस्य स्थाने 'क्षितये' पठ्यते।

३. सायणाचार्येण ऋग्भाष्योपक्रमणिकायाम्—'जीवविशेषैरग्निवाय्वादित्यैर्वेदानामुत्पादितत्वात्' इत्युक्तम्।

४. अर्थात् मुख्यार्थस्यासम्भवे।

५. तथा चाह काव्यप्रकाशे मम्मटः—मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्। अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया।२।९॥ अतद्भावेऽपि तदुपचारे दश कारणान्याह भगवान् गोतमः। तद्यथा—सहचरण-स्थान-तादर्थ्य-वृत्त-मान-धारण-सामीप्य-योग-साधनाऽऽधिपत्येभ्यो ब्राह्मण-मञ्च-कट-राज-सक्तु-चन्दन-गङ्गा-शाटकाऽन्न-पुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदुपचारः। न्याय २।२।६४॥

६. शत० ११।५।८।३॥

भाषार्थ—प्र०—वेदों के रचने और वेदपुस्तक लिखने के लिये ईश्वर ने लेखनी स्याही और दवात आदि साधन कहां से लिये? क्योंकि उस समय में कागज आदि पदार्थ तो बने ही न थे?

उ०—वाह वाह वाह जी! आपने बड़ी शङ्का करी। आपकी बुद्धि की क्या स्तुति करें? अच्छा आपसे मैं पूछता हूं कि हाथ पग आदि से विना, तथा काष्ठ लोह आदि सामग्री-साधनों से विना ईश्वर ने जगत् को क्योंकर रचा है? जैसे हाथ आदि अवयवों से विना उसने जगत् को रचा है, वैसे ही वेदों को भी सब साधनों के विना रचा है। क्योंकि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। इससे ऐसी शङ्का उसमें आपको करनी योग्य नहीं। परन्तु इसके उत्तर में इस बात को जानो कि—वेदों को पुस्तकों में लिखके सृष्टि के आदि में ईश्वर ने प्रकाशित नहीं किये थे। प्र०—तो किस प्रकार से किये थे? उ०—ज्ञान के बीच में। प्र०—किन के ज्ञान में? उ०—अग्नि वायु आदित्य और अङ्गिरा के। प्र०—वे तो जड़ पदार्थ हैं? उ०—ऐसा मत कहो। वे सृष्टि के आदि में मनुष्य-देहधारी हुये थे[1]। क्योंकि जड़ में ज्ञान के कार्य का असम्भव है। और जहां जहां असम्भव होता है, वहां वहां लक्षणा होती है। जैसे किसी सत्यवादी विद्वान् पुरुष ने किसी से कहा कि—'खेतों में मञ्चान पुकारते हैं', इस वाक्य में लक्षणा से यह अर्थ होता है कि 'मञ्चान के ऊपर [बैठे] मनुष्य पुकार रहे हैं'। इसी प्रकार से यहां भी जानना कि—'विद्या के प्रकाश होने का सम्भव मनुष्यों में ही हो सकता है, अन्यत्र नहीं'। इसमें 'तेभ्यः०' इत्यादि 'शतपथ ब्राह्मण' का प्रमाण लिखा है। उन चार मनुष्यों के ज्ञान के बीच में वेदों का प्रकाश करके उनसे ब्रह्मादि के [ज्ञान के] बीच में वेदों का प्रकाश कराया था।

प्र०—सत्य बात है कि ईश्वर ने उनको ज्ञान दिया होगा, और उनने अपने ज्ञान से वेदों का रचन किया होगा?

उ०—ऐसा तुमको कहना उचित नहीं। क्योंकि तुम यह भी जानते हो कि ईश्वर ने उनको ज्ञान किस प्रकार का दिया था? उ०—उनको वेदरूप ज्ञान दिया था। प्र०—अच्छा तो मैं आपसे पूछता हूं कि वह ज्ञान ईश्वर का है, वा उनका? उ०—वह ज्ञान ईश्वर का ही है। प्र०—फिर आपसे मैं पूछता हूं कि वेद ईश्वर के बनाये हैं, वा उनके? उ०—जिसका ज्ञान है, उसीने वेदों को बनाया। प्र०—फिर उन्हीं ने वेद रचे हैं, यह शङ्का आपने क्यों की थी? उ०—निश्चय करने और कराने के लिये।

ईश्वरो न्यायकार्यस्ति वा पक्षपाती? न्यायकारी। तर्हि चतुर्णामेव हृदयेषु वेदाः प्रकाशिताः, कुतो न सर्वेषामिति?

अत्राह—अतः ईश्वरे पक्षपातस्य लेशोऽपि नैवागच्छति। किन्त्वनेन तस्य न्यायकारिणः परमात्मनः सम्यङ् न्यायः प्रकाशितो भवति। कुतः? न्यायेत्यस्यैव[2] नामास्ति—यो यादृशं कर्म

---

१. सायणाचार्य ने भी ऋग्वेदभाष्य की उपक्रमणिका में अग्निवायु आदि को जीवविशेष माना है—'जीवविशेषैरग्निवाय्वादित्यैर्वेदानामुत्पादितत्वात्।'

२. प्रातिपदिकस्य स्वरूपनिदर्शनायाविभक्त्यन्तः प्रयोगः। एषा च प्राचां शैली। एवमन्यत्राप्यविभक्त्यन्त-प्रयोगे इदमेव कारणं विज्ञेयम्।

कुर्यात् तस्मै तादृशमेव फलं दद्यात्। अत्रैवं वेदितव्यम्—तेषामेव पूर्वपुण्यमासीद्यतः खल्वेतेषां हृदये वेदानां प्रकाशः कर्तुं योग्योऽस्ति।

किं च, ते तु सृष्टेः प्रागुत्पन्नास्तेषां पूर्वपुण्यं कुत आगतम् ?

अत्र ब्रूमः—सर्वे जीवा स्वरूपतोऽनादयः। तेषां कर्माणि सर्वं कार्यं जगच्च प्रवाहेणैवानादीनि सन्तीति। एतेषामनादित्वस्य प्रमाणपूर्वकं प्रतिपादनमग्रे करिष्यते।

भाषार्थ—प्र०—ईश्वर न्यायकारी है वा पक्षपाती ? उ०—न्यायकारी। प्र०—जब परमेश्वर न्यायकारी है, तो सब के हृदयों में वेदों का प्रकाश क्यों नहीं किया ? क्योंकि चारों के हृदय में प्रकाश करने से ईश्वर में पक्षपात आता है।

उ०—इससे ईश्वर में पक्षपात का लेश [भी] कदापि नहीं आता, किन्तु उस न्यायकारी परमात्मा का साक्षात् न्याय ही प्रकाशित होता है। क्योंकि 'न्याय' उसको कहते हैं कि जो जैसा कर्म करे, उसको वैसा ही फल दिया जाय। अब जानना चाहिये कि उन्हीं चार पुरुषों का ऐसा पूर्व पुण्य था कि उनके हृदय में वेदों का प्रकाश किया गया।

प्र०—वे चार पुरुष तो सृष्टि के आदि में उत्पन्न हुये थे, उनका पूर्व पुण्य कहां से आया ?

उ०—सब जीव स्वरूप से अनादि हैं। जीवों के कर्म और स्थूल कार्य जगत् ये प्रवाह से अनादि हैं। इनके अनादित्व का प्रतिपादन प्रमाणपूर्वक आगे करेंगे।[1]

किं गायत्र्यादिच्छन्दोरचनमपीश्वरेणैव कृतम् ?

इयं कुतः शङ्काभूत् ? किमीश्वरस्य गायत्र्यादिच्छन्दोरचनज्ञानं नास्ति ? अस्त्येव, तस्य सर्वविद्यावत्त्वात्। अतो निर्मूला सा शङ्कास्ति।

चतुर्मुखेण ब्रह्मणा वेदा निरमायिषतेत्यैतिह्यम् ?

मैवं वाच्यम्। ऐतिह्यस्य शब्दप्रमाणान्तर्भावात्। 'आप्तोपदेशः शब्दः' (न्यायशास्त्रे अ० १, [आ० १,] सू० ७) **इति गोतमाचार्येणोक्तत्वात्।** 'शब्द ऐतिह्यम्[2]' **इत्यादि च। अस्यैवोपरि[3]**— 'आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा, यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा, साक्षात्करणमर्थस्याऽऽप्तिस्तया प्रवर्तत इत्याप्तः' **इति न्यायभाष्ये[4] वात्स्यायनोक्तेः। अतः सत्यस्यैवैतिह्यत्वेन ग्रहणं नानृतस्य। यत् सत्यप्रमाणमाप्तोपदिष्टमैतिह्यं तद् ग्राह्यं, नातो विपरीतमिति।**

---

१. वै० य० मुद्रित में भाषा इस प्रकार है—'जीव, जीवों के कर्म, और स्थूल कार्य जगत्, ये तीनों अनादि हैं। जीव और कारणजगत् स्वरूप से अनादि हैं, कर्म और स्थूल कार्यजगत् प्रवाह से अनादि है। इसकी व्याख्या प्रमाणपूर्वक आगे की जायेगी।' यह पाठ कुछ अंश में संस्कृत से विपरीत है।

२. द्र०—न्यायशास्त्र २।२।२॥ तत्र 'शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावात्……' इत्येवं पाठः। न्यायवार्तिके त्वित्थं पाठः—'शब्द ऐतिह्यमन्तर्भवति समानलक्षणत्वात्। न शब्दलक्षणमैतिह्यं निवर्तते' (२।२।२)।

३. अस्यैव 'आप्तोपदेशः शब्दः' इत्यस्यैवेत्यर्थः। ४. न्यायभाष्य १।१।७॥

अनृतस्य प्रमत्तगीतत्वात् । एवमेव व्यासेनर्षिभिश्च वेदा रचिता इत्याद्यपि मिथ्यैवास्तीति मन्यताम् । नवीनपुराणग्रन्थानां त अग्रन्थानां च वैयर्थ्यापत्तेश्चेति[1] ।

भाषार्थ—प्र०–क्या गायत्र्यादि छन्दों का रचन ईश्वर ने ही किया है ?

उ०—यह शङ्का आपको कहां से हुई ? प्र०—मैं तुमसे पूछता हूं—क्या गायत्र्यादि छन्दों के रचने का ज्ञान ईश्वर को नहीं है ? उ०—ईश्वर को सब ज्ञान है । अच्छा तो ईश्वर के समस्त विद्यायुक्त होने से आपकी यह शङ्का भी निर्मूल है ।

प्र०—चार मुख के ब्रह्माजी ने वेदों को रचा, ऐसे इतिहास को हम लोग सुनते हैं ।

उ० ऐसा मत कहो । क्योंकि इतिहास को शब्दप्रमाण के भीतर गिना है । (आप्तो०) अर्थात् सत्यवादी विद्वानों का जो उपदेश है, उसको 'शब्दप्रमाण' में गिनते हैं । ऐसा 'न्यायदर्शन' में गोतमाचार्य ने लिखा है । तथा शब्दप्रमाण से जो युक्त है, वही इतिहास मानने योग्य है, अन्य नहीं इस सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि ने 'आप्त' का लक्षण कहा है कि–"जो साक्षात् सब पदार्थ-विद्याओं का जानने वाला, कपट आदि दोषों से रहित धर्मात्मा है, कि जो सदा सत्यवादी, सत्यमानी और सत्यकारी है । जिसको पूर्ण विद्या से आत्मा में जिस प्रकार का ज्ञान है, उसके कहने की इच्छा की प्रेरणा से सब मनुष्यों पर कृपादृष्टि से सब सुख होने के लिये सत्य उपदेश का करनेवाला है । और जो पृथिवी से लेके परमेश्वरपर्यन्त सब पदार्थों को यथावत् साक्षात् करना और उसी के अनुसार वर्तना है, इसी का नाम 'आप्ति' है । इस आप्ति से जो युक्त [होकर व्यवहार में प्रवृत्त] हो, उसको 'आप्त' कहते हैं ।" उसी के उपदेश का प्रमाण होता है, इससे विपरीत मनुष्य का नहीं, क्योंकि सत्य वृत्तान्त का ही नाम इतिहास है, अनृत का नहीं । सत्यप्रमाणयुक्त जो इतिहास है, वही सब मनुष्यों को ग्रहण करने के योग्य है, इससे विपरीत इतिहास[2] का ग्रहण करना किसी को योग्य नहीं । क्योंकि प्रमादी पुरुष के मिथ्या कहने का इतिहास में ग्रहण ही नहीं होता । इसी प्रकार व्यास जी ने चारों वेदों की संहिताओं का संग्रह किया है इत्यादि इतिहासों को भी मिथ्या ही जानना चाहिये । जो आजकल के बने ब्रह्मवैवर्तादि पुराण और ब्रह्मयामल आदि तन्त्र ग्रन्थ हैं, इनमें कहे इतिहासों का प्रमाण करना किसी मनुष्य को योग्य नहीं । क्योंकि इनमें असम्भव और अप्रमाण कपोल-कल्पित मिथ्या इतिहास बहुत लिख रक्खे हैं । और जो सत्य-ग्रन्थ शतपथब्राह्मणादि हैं उनके इतिहासों का कभी त्याग नहीं करना चाहिये ।

यो मन्त्रसूक्तानामृषिर्लिखितस्तेनैव तद्रचितमिति कुतो न स्यात् ?

मैवं वादि । ब्रह्मादिभिरपि वेदानामध्ययनश्रवणयोः कृतत्वात् । 'यो वै ब्रह्माणं[3] विदधाति'

१. वैयर्थ्यापत्तेश्च तदुक्तानामितिहासादीनामपि मिथ्यात्वं ज्ञेयमिति शेषः । वैयर्थ्यापत्तेः पदस्य साधुत्व-मित्थं ज्ञेयम्—अर्थस्य भावो वैयर्थ्यम्, यद्वा व्यर्थमेव वैयर्थ्यम्, प्रज्ञादित्वाद् (५।४।३) अण्, तस्यापत्तिः, तस्याः ।

२. मिथ्या लेख इतिहास के अन्तर्गत नहीं आते, यह इस प्रकरण से स्पष्ट है । अतः ऐसे स्थानों पर पूर्वपक्षी के मतानुसार इतिहासाभासों के लिये इतिहास शब्द का व्यवहार किया, यह जानना चाहिए ।

३. ग्रन्थकृता सत्यार्थप्रकाशे (समु० ७, पृष्ठ २९६, रालाकट्रसं०) अप्ययमेव पाठ उद्ध्रियते । उपनिषदि तु 'यो ब्रह्माणं' इत्येव दृश्यते ।

पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै०' इति श्वेताश्वतरोपनिषदादिवचनस्य[1] विद्यमानत्वात् । एवं यदर्षीणामुत्पत्तिरपि[2] नासीत्, तदा ब्रह्मादीनां समीपे वेदानां वर्त्तमानत्वात् । तद्यथा—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ।। १ ।। अ० १ ।[3]
अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः ।।[२।।] अ० २ ।[4]

इति मनुसाक्ष्यत्वात् । अग्न्यादीनां सकाशाद् ब्रह्मापि वेदानामध्ययनं चक्रे । अन्येषां व्यासादीनां तु का कथा ?

भाषार्थ—प्र०—जो सूक्त और मन्त्रों के ऋषि लिखे जाते हैं, उन्होंने ही वेद रचे हों, ऐसा क्यों नहीं माना जाय ?

उ०—ऐसा मत कहो, क्योंकि ब्रह्मादि ने भी वेदों को पढ़ा है । सो 'श्वेताश्वतर' आदि उपनिषदों में यह वचन है कि–'जिसने ब्रह्मा को उत्पन्न किया,और ब्रह्मादि को सृष्टि के आदि में अग्नि आदि के द्वारा वेदों का भी उपदेश किया है, उसी परमेश्वर के शरण को हम लोग प्राप्त होते हैं ।' इसी प्रकार ऋषियों ने भी वेदों को पढ़ा है । क्योंकि जब मरीच्यादि[5] ऋषि और व्यासादि मुनियों का जन्म भी नहीं हुआ था, उस समय भी ब्रह्मादि के समीप वेद वर्तमान थे[6] । इसमें मनु के श्लोकों की भी साक्षी है कि–'पूर्वोक्त अग्नि वायु रवि और अङ्गिरा से ब्रह्माजी ने वेदों को पढ़ा था ।' जब ब्रह्मा जी ने वेदों को पढ़ा था तो व्यासादि[7] की तो कथा क्या ही कहनी है ? ;

कथं वेदः श्रुतिश्च द्वे नाम्नी ऋक्संहितादीनां जाते इति ?

अर्थवशात् । विद ज्ञाने[8], विद सत्तायाम्,[9] विद्लृ लाभे[10], विद विचारणे[11] एतेभ्यो 'हलश्च'[12] इति सूत्रेण करणाधिकरणकारकयोर्घञ् प्रत्यये कृते वेदशब्दः साध्यते । तथा श्रु श्रवणे[13] इत्यस्माद्धातोः करणकारके 'क्तिन्'प्रत्यये कृते श्रुतिशब्दो व्युत्पद्यते । विदन्ति=जानन्ति, विद्यन्ते=भवन्ति, विन्दन्ति विन्दन्ते=लभन्ते, विन्दते=विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या

१. श्वे० उ० ६।१८।।
२. मन्त्रसूक्तसंबद्धानामृषीणाम् इत्यर्थः ।
३. मनु० १।२३।।
४. मनु० २।१५१।।
५. यहां 'मधुच्छन्दा आदि' ऐसा पाठ अधिक ठीक होगा । क्योंकि प्रश्न मन्त्र-सूक्तों के साथ सम्बद्ध मधुच्छन्दा आदि ऋषियों के विषय में ही है ।
६. वै० य० मुद्रित पाठ है—'वेदों का वर्तमान था' ।
७. वै० य० मुद्रित में 'व्यासादि और हम लोगों की' पाठ है ।
८. धातुपाठ २।५७।।
९. धातुपाठ ४।६०।।
१०. धातुपाठ ६।१४१।।
११. धातुपाठ ७।१३।।
१२. अष्टा० ३।३।१२१।।
१३. धातुपाठ १।६७५।।

येषु वा तथा विद्वांश्च भवन्ति ते 'वेदाः'। तथाऽऽदिसृष्टिम्[1] आरभ्याद्यपर्यन्तं ब्रह्मादिभिः सर्वाः सत्यविद्याः श्रूयन्तेऽनया सा 'श्रुतिः'। न कस्यचिद्देहधारिणः सकाशात् कदाचित् कोऽपि वेदानां रचनं दृष्टवान्। कुतः? निरवयवेश्वरात् तेषां प्रादुर्भावात्। अग्निवाय्वादित्याङ्गिरसस्तु निमित्तीभूता वेदप्रकाशार्थमीश्वरेण कृता इति विज्ञेयम्, तेषां ज्ञानेन वेदानामनुत्पत्तेः। वेदेषु शब्दार्थसम्बन्धाः परमेश्वरादेव प्रादुर्भूताः, तस्य पूर्णविद्यावत्त्वात्। अतः किं सिद्धम्? अग्निवायुरव्यङ्गिरोमनुष्यदेहधारिजीवद्वारेण[2] परमेश्वरेण श्रुतिर्वेदः प्रकाशीकृत इति बोध्यम्।

भाषार्थ—प्र०—वेद और श्रुति ये दो नाम ऋग्वेदादि संहिताओं के क्यों हुए हैं?

उ०—अर्थभेद से। क्योंकि एक 'विद' धातु ज्ञानार्थ है, दूसरा 'विद' सत्तार्थ है, तीसरे 'विद्लृ' का लाभ अर्थ है, चौथे 'विद' का अर्थ विचार है। इन चार धातुओं से करण और अधिकरण कारक में 'घञ्' प्रत्यय करने से 'वेद' शब्द सिद्ध होता है। तथा 'श्रु' धातु श्रवण अर्थ में है। इससे करण कारक में 'क्तिन्' प्रत्यय के होने से 'श्रुति' शब्द सिद्ध होता है। 'जिनके पढ़ने से यथार्थ विद्या का विज्ञान होता है, जिनको पढ़ के विद्वान होते हैं, जिनमें सब सुखों का लाभ होता है, और जिनसे ठीक-ठीक सत्यासत्य का विचार मनुष्यों को होता है, इससे ऋक्संहितादि का 'वेद' नाम है।' वैसे ही सृष्टि के आरम्भ से आज पर्यन्त, और ब्रह्मादि से लेके हम लोग पर्यन्त जिससे सब सत्यविद्याओं को सुनते आते हैं, इससे वेदों का 'श्रुति' नाम पड़ा है।" क्योंकि किसी ने वेदों के बनाने वाले देहधारी को साक्षात् कभी नहीं देखा। इस कारण से जाना गया कि वेद निराकार ईश्वर से ही उत्पन्न हुए हैं। और उनको सुनते सुनाते ही आज पर्यन्त सब लोग चले आते हैं। तथा अग्नि वायु आदित्य और अङ्गिरा इन चारों मनुष्यों को, जैसे वादित्र को कोई बजावे वा काठ की पुतली को चेष्टा करावे, इसी प्रकार ईश्वर ने उनको निमित्तमात्र किया था, क्योंकि उनके ज्ञान से वेदों की उत्पत्ति नहीं हुई। किन्तु इससे यह जानना कि वेदों में जितने शब्द अर्थ और सम्बन्ध हैं, वे सब ईश्वर से ही प्रकट हैं क्योंकि वह पूर्णविद्यावाला है[3]।

वेदानामुत्पत्तौ कियन्ति वर्षाणि व्यतीतानि?

अत्रोच्यते—एको वृन्दः, षण्णवतिः कोटयो,ऽष्टौ लक्षाणि, द्विपञ्चाशत्सहस्राणि, नवशतानि, षट्सप्ततिश्चैतावन्ति १९६०८५२९७६ वर्षाणि व्यतीतानि। सप्तसप्ततितमोऽयं संवत्सरो वर्त्तते[4] इति वेदितव्यम्। एतावन्त्येव वर्षाणि वर्तमानकल्पसृष्टेश्चेति।

१. सृष्टेरादिः—आदिसृष्टिः तस्यामित्यर्थः। अत्र **धर्मादिषूभयम्** (२।२।११) इति गणसूत्रेण धर्मादीनामाकृतिगणत्वाद् आदिपदस्य पूर्वनिपातो द्रष्टव्यः। यथा **आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च** (३।४।७१) इति पाणिनीयसूत्रे 'कर्मण आदौ' इत्यर्थे 'आदिकर्मणि' पदं प्रयुज्यते। 'सृष्ट्यादौ' पदमपि ग्रन्थकारः प्रयुङ्क्ते। यथा—'एवं सृष्ट्यादावीश्वरोपदेशाऽध्यापनाभ्यां विना...' (वेदनित्यत्वप्रकरणे)।

२. द्र०—पूर्वत्र (पृष्ठ १९, टि० ३) सायणवचनम्।

३. वै० य० मुद्रित में 'ईश्वर ने अपने ही ज्ञान से उनके द्वारा प्रकट किये हैं' ऐसा पाठ है।

४. १९३३ तमे वैक्रमाब्दे। अस्यां गणनायां प्रतिमन्वन्तरं भवाः सप्त सन्धयो न परिगणिताः। तेनात्र कृतयुगपरिमितानां (१७२८००० × ७ =) सप्तसन्धीनां १२०९६००० वर्षाणां योगे कृते शुद्धा १९७२९४८९७६

कथं विज्ञायते ह्येतावन्त्येव वर्षाणि व्यतीतानीति ?

अत्राह—अस्यां वर्त्तमानायां सृष्टौ सैव वतस्य सप्तमस्यास्य मन्वन्तरस्येदानीं वर्त्तमानत्वाद-स्मात् पूर्वं षण्णां मन्वन्तराणां व्यतीतत्वाच्चेति। तद्यथा—स्वायम्भवः स्वारोचिष औत्तमिस्तामसो रैवतश्चाक्षुषो वैवस्वतश्चेति सप्तैते मनवस्तथा सावर्ण्यादय आगामिनः सप्त च, एते मिलित्वा १४ चतुर्दशैव भवन्ति। तत्रैकसप्ततिश्चतुर्युगानि[1] ह्येकैकस्य मनोः परिमाणं भवति। ते चैक-स्मिन् ब्राह्मदिने १४ चतुर्दश भुक्तभोगा भवन्ति। एकसहस्रं १००० चतुर्युगानि ब्राह्मदिनस्य परिमाणं भवति। ब्राह्म्या रात्रेरपि तावदेव परिमाणं विज्ञेयम्। सृष्टेर्वर्त्तमानस्य दिनसंज्ञास्ति, प्रलयस्य च रात्रिसंज्ञेति। अस्मिन् ब्राह्मदिने षट् मनवस्तु व्यतीताः, सप्तमस्य वैवस्वतस्य वर्त्तमानस्य मनोरष्टाविंशतितमोऽयं कलिर्वर्त्तते। तत्रास्य वर्त्तमानस्य कलियुगस्यैतावन्ति ४९७६ चत्वारि सहस्राणि नवशतानि षट्सप्ततिश्च वर्षाणि तु गतानि। सप्तसप्ततितमोऽयं संवत्सरो वर्त्तते, यमार्या विक्रमस्यैकोनविंशतिशतं त्रयस्त्रिंशत्तमोत्तरं (१९३३) संवत्सरं वदन्ति। अत्र विषये प्रमाणम्—

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः।
एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत॥ १॥
चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तु[2] कृतं युगम्।
तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च तथाविधः॥ २॥
इतरेषु ससन्ध्येषु ससन्ध्यांशेषु च त्रिषु।
एकापायेन वर्त्तन्ते सहस्राणि शतानि च॥ ३॥
यदेतत् परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम्।
एतद् द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते॥ ४॥
दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया।
ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावती रात्रिरेव[3] च॥ ५॥

वर्षगणनोपपद्यते। तदभावेऽत्र उच्यमाना १००० परिमिता चतुर्युगसंख्या नोपपद्यते। विशेषो भाषाभागे टिप्पण्यां द्रष्टव्यः।

१. इहोत्तरपङ्क्तौ च 'चातुर्युगानि' इति पाठ उपलभ्यते। तत्रेहत्यस्य चातुर्युगानीत्यस्य प्रथमसंस्करणान्ते मुद्रिते शोधपत्रे 'चतुर्युगानि' इत्येवं पाठः शोधितः। तदनुसारमेव चोत्तरपङ्क्तेः पाठोऽपि शोधनीयः। वै० य० मुद्रितेषु सर्वेष्वेव संस्करणेष्वयमपपाठ उपलभ्यते। यद्यस्य 'चातुर्युगानि' पदस्य साधुत्वमिष्यते चेत् प्रज्ञादित्वात् (५।४।३८) स्वार्थेऽण् कल्पनीयः।

२. मनुस्मृतौ 'तत् कृतं' पाठ उपलभ्यते

३. मनुस्मृतौ 'तावतीं रात्रिमेव च' पाठ उपलभ्यते।

तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः ।
रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ ६ ॥

यत्प्राग्द्वादशसाहस्रमुदितं दैविकं युगम् ।
तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ॥ ७ ॥

मन्वन्तराण्यसंख्यानि सृष्टिः[1] संहार एव च ।
क्रीडन्निवैतत् कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥ ८ ॥ मनु० अध्याये १।[2]

कालस्य परिमाणार्थं ब्राह्माहोरात्रादयः सुगमबोधार्थाः संज्ञाः क्रियन्ते । यतः सहजतया जगदुत्पत्तिप्रलययोर्वर्षाणां वेदोत्पत्तेश्च परिगणनं भवेत् । मन्वन्तरपर्य्यावृत्तौ सृष्टेर्नैमित्तिकगुणानामपि पर्य्यावर्त्तनं किञ्चित् किञ्चिद्भवत्यतो मन्वन्तरसंज्ञा क्रियते । अत्रैवं संख्यातव्यम्—

एकं दश शतं चैव सहस्रमयुतं तथा ।
लक्षं च नियुतं चैव कोटिरर्बुदमेव च ॥ १ ॥

वृन्दः खर्वो निखर्वश्च शङ्खः पद्मं च सागरः ।
अन्त्यं मध्यं परार्द्धं च दशवृद्ध्या यथाक्रमम् ॥ २ ॥

इति सूर्यसिद्धान्तादिषु संख्यायते[3] । अनया रीत्या वर्षादिगणना कार्येति । 'सहस्रस्य प्रमासि सहस्रस्य प्रतिमासि' (य० अ० १५ । मं० ६५) । 'सर्वं वै सहस्रं सर्वस्य दातासि' (श० कां० ७ । अ० ५)[4] । सर्वस्य जगतः सहस्रमिति[5] नामास्ति, कालस्य चानेन सहस्रमहायुगसंख्यया परिमितस्य दिनस्य नक्तस्य च ब्रह्माण्डस्य प्रमा परिमाणस्य कर्त्ता परमेश्वरोऽस्ति । मन्त्रस्यास्य सामान्यार्थे वर्त्तमानत्वात्[6] सर्वमभिवदतीति । एवमेवाग्रेऽपि योजनीयम् । ज्योतिषशास्त्रे प्रतिदिनचर्याऽभिहिता-

---

१. मनुस्मृतौ 'सर्गः' पाठ उपलभ्यते । २. मनु० १।६८-७३, ७६, ८० ॥

३. अत्र निर्दिष्टे श्लोके शब्दकल्पद्रुमकोशे वाचस्पत्याभिधाने च 'संख्या' शब्दे ब्रह्माण्डपुराणनाम्नोद्धृते उपलभ्येते । तत्र द्वितीयस्य द्वितीये पादे 'शङ्खपद्मौ च' इत्येवं पाठो दृश्यते ।

४. शत० ७।५।२।१३॥

५. वै० य० मुद्रिते 'सर्वमिति अपपाठः । प्रकरणानुसारमिह 'सहस्रमिति' पाठो युक्तः । भाषाऽनुवादेऽपि **'सब संसार की सहस्र संज्ञा है'** पाठः 'सहस्रमिति' पाठस्यैवोपपद्यते । उत्तरत्र सृष्टिविद्याविषये **'हिरण्यगर्भः'** इत्यस्य मन्त्रस्य व्याख्याने शातपथीयं 'सर्वं वै सहस्रं०' इत्यादि प्रमाणमुपन्यस्य स्पष्टं व्याख्यायते—**सर्वमिदं जगत् सहस्रनामकमस्तीति विज्ञेयम्** । जगतः 'सहस्र' नाम तस्य सहस्रदेवचतुर्युगैः परिमितत्वाज्ज्ञेयम् । उत्तरपङ्क्त्याऽप्ययमर्थो व्यज्यते ।

६. अयमेवार्थो ग्रन्थकारेण वेदविषयविचारनाम्नि प्रकरणे **'तत्प्रकृतीतरद्'** इत्यादि-निरुक्तोद्धरण-व्याख्याने **'सामान्यवृत्तौ वर्तमानानां मन्त्राणामर्थज्ञानविषया भवति'** इत्येवं प्रतिपाद्यते । अस्यायं भावः—वैदिकशब्दा यौगिकत्वाद् धात्वर्थवृत्त्या सामान्यभूतमर्थं प्रतिपादयन्तो महार्थाः (बह्वर्थाः) सन्ति । तेन यथाप्रकरणं यथाबुद्धि

ऽऽर्य्यैः क्षणमारभ्य कल्पकल्पान्तस्य गणितविद्यया स्पष्टं परिगणनं कृतम्। अद्यपर्यन्तमपि क्रियते, प्रतिदिनमुच्चार्य्यते, ज्ञायते च। अतः कारणादियं व्यवस्थैव सर्वैर्मनुष्यैः स्वीकर्त्तुं योग्यास्ति, नान्येति निश्चयः। कुतो ह्यार्यैर्नित्यम्—'ओं तत्सत् श्रीब्रह्मणो द्वितीयप्रहर[रेऽप]रार्द्धे वैवस्वते मन्वन्तरेऽष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणेऽमुकसंवत्सरायनर्तुमासपक्षदिननक्षत्रलग्नमुहूर्तेऽत्रेदं कृतं क्रियते च'[1] इत्याबालवृद्धैः प्रत्यहं विदितत्वाद्, इतिहासस्यास्य सर्वत्रार्य्यावर्त्तदेशे वर्त्तमानत्वात्, सर्वत्रैकरसत्वात् अशक्येयं व्यवस्था केनापि विचालयितुमिति विज्ञायताम्। अन्यद्युगव्याख्यानमग्रे करिष्यते[2], तत्र द्रष्टव्यम्।

भाषार्थ—प्र०—वेदों की उत्पत्ति में कितने वर्ष हो गये हैं?

उ०—एक वृन्द, छानवे करोड़, आठ लाख, बावन हजार, नवसौ छहत्तर अर्थात् (१९६०८५२९७६) वर्ष वेदों की और जगत् की उत्पत्ति में हो गये हैं। और यह संवत् ७७ सतहत्तरवां वर्त रहा है।

प्र०— यह कैसे निश्चय हो कि इतने ही वर्ष वेद और जगत् की उत्पत्ति में बीत गये हैं?

उ०—यह जो वर्तमान सृष्टि है, इसमें सातवें (७) वैवस्वत मनु का वर्तमान है, इससे पूर्व छः मन्वन्तर हो चुके हैं। स्वायम्भव १, स्वारोचिष २, औत्तमि ३, तामस ४, रैवत ५, चाक्षुष ६, ये छः तो बीत गये हैं, और ७ सातवां वैवस्वत वर्त्त रहा है। और सावर्णि आदि ७ सात मन्वन्तर आगे भोगेंगे। ये सब मिलके १४ चौदह मन्वन्तर होते हैं। और एकहत्तर चतुर्युगियों का नाम 'मन्वन्तर' धरा गया है। [ऐसे १४ मन्वन्तर एक ब्राह्मदिन में होते हैं, और इतना ही परिमाण ब्राह्मी रात्रि का भी होता है।] सो उसकी गणना इस प्रकार से है कि (१७२८०००) सत्रह लाख, अट्ठाईस हजार वर्षों का नाम 'सतयुग' रखा है। (१२९६०००) बारह लाख, छानवे हजार वर्षों का नाम 'त्रेता'। (८६४०००) आठ लाख, चौंसठ हजार वर्षों का नाम 'द्वापर' और (४३२०००) चार लाख बत्तीस हजार वर्षों का नाम 'कलियुग' रक्खा है। तथा आर्यों ने एक क्षण और निमेष से लेके एक वर्ष पर्यन्त भी काल की सूक्ष्म और स्थूल संज्ञा बांधी है। और इन चारों युगों के (४३२००००) तितालीस लाख बीस हजार वर्ष होते हैं, जिनका 'चतुर्युगी' नाम है। एकहत्तर (७१) चतुर्युगियों के अर्थात् (३०६७२००००) तीस करोड़ सरसठ लाख बीस हजार वर्षों की एक मन्वन्तर संज्ञा की है। और ऐसे-ऐसे छः मन्वन्तर मिलकर अर्थात् (१८४०३२००००) एक अर्ब चौरासी करोड़ तीन लाख बीस हजार वर्ष [व्यतीत] हुए। और सातवें मन्वतन्र के

च विभिन्नान् बहून् अर्थान् ब्रुवन्ति। तदुक्तं भगवता निरुक्तव्याख्यात्रा दुर्गेण—"अनुपक्षीणमाणशक्तयो हि वेदशब्दाः, यथाप्रज्ञं पुरुषाणामर्थाभिधानेषु विपरिणममानाः सर्वतोमुखाम् अनेकार्थान् ब्रुवन्ति" (नि० टी० १।२) इति। पुनश्चोक्तम्—"न एते वक्तुरभिप्रायवशादन्यत्वमपि भजन्ते मन्त्राः। नहि एतेषु अर्थस्येयत्तावधारणमस्ति, महार्थाश्चैते दुष्परिज्ञानाश्च।……तस्मादेतेषु यावन्तोऽर्था उपपद्येरन्—आधिदैवाध्यात्माधियज्ञाश्रयाः सर्व एव ते योज्याः, नात्रापराधोऽस्ति" (नि० टी० २।८) इति।

१. प्रतिदिनमार्यावर्ते ब्राह्मणैः सन्ध्यादिकर्मसु पठ्यमानः संकल्प इह संक्षेपेणोदाहृतः।

२. अस्मिन् ग्रन्थेऽग्रे न क्वचिद् युगव्याख्यानमुपलभ्यते। अस्याः पङ्क्त्या भाषार्थेऽप्येवमेवोच्यते।

भोग में यह (२८) अट्ठाईसवीं चतुर्युगी है। इस चतुर्युगी में कलियुग के (४९७६) चार हजार नवसौ छहत्तर वर्षों का तो भोग हो चुका है, और बाकी (४२७०२४) चार लाख सत्ताईस हजार चौबीस वर्षों का भोग होने वाला है। जानना चाहिये कि (१२०५३२९७६) बारह करोड़ पांच लाख बत्तीस हजार नवसौ छहत्तर वर्ष तो वैवस्वत मनु के भोग हो चुके हैं। और (१८६१८७०२४) अठारह करोड़ एकसठ लाख सत्तासी हजार चौबीस वर्ष भोगने के बाकी रहे हैं। इनमें से यह वर्तमान वर्ष (७७) सतहत्तरवां है, जिसको आर्य लोग विक्रम का (१९३३) उन्नीस सौ तेतीसवां संवत् कहते हैं।

जो पूर्व चतुर्युगी लिख आये है, उन एक हजार चतुर्युगियों की 'ब्राह्मदिन' संज्ञा रक्खी है, और उतनी ही चतुर्युगियों की रात्रि संज्ञा जाननी चाहिये। सो सृष्टि की उत्पत्ति करके हजार चतुर्युगी पर्यन्त ईश्वर इसको बना रखता है, इसी का नाम 'ब्राह्मदिन' रक्खा है। और हजार चतुर्युगी-पर्यन्त सृष्टि को मिटाके प्रलय अर्थात् कारण में लीन रखता है, उसका नाम 'ब्राह्मरात्रि रक्खा है। अर्थात् सृष्टि के वर्तमान होने का नाम 'दिन' और प्रलय होने का नाम 'रात्रि' है। यह जो वर्तमान ब्राह्मदिन है, इसके (१९६०८५२९७६) एक अर्ब छानवे करोड़ आठ लाख बावन हजार नवसौ छहत्तर वर्ष इस सृष्टि की तथा वेदों की उत्पत्ति में भी व्यतीत हुए हैं।[1] और (२३३३२२७०२४) दो अर्ब तेतीस करोड़ बत्तीस लाख सत्ताईस हजार चौबीस वर्ष इस सृष्टि को भोग करने के बाकी रहे हैं[1]। इनमें से अन्त का यह चौबीसवां वर्ष भोग रहा है। आगे आने वाले भोग के वर्षों में से एक-एक घटाते जाना, और गत वर्षों में क्रम से एक एक वर्ष मिलाते जाना चाहिये, जैसे आज-पर्यन्त घटाते-बढ़ाते आए हैं।

---

१. यहां वि० सं० १९३३ तक इस कल्प के भुक्त वर्षों की, और भोगे जाने वाले अगले वर्षों की जो संख्या लिखी है, उसमें एक भूल हो गई है। इस कारण भुक्त और भोग्य कालों की गणना अशुद्ध हो गई है। उस भूल का संशोधन इस प्रकार जानना चाहिए—

गणना करने वाले ने भुक्त और भोग्य मन्वन्तरों की वर्ष संख्याओं का ही योग किया है। इस गणना में भुक्त काल में सात सन्धियों और भोग्य वर्ष संख्या में ८ सन्धियों का काल जोड़ना रह गया है। ग्रन्थकार के मतानुसार ब्राह्मदिन में १००० सहस्र चतुर्युग होते हैं, यह स्पष्ट है। परन्तु एक मन्वन्तर में ७१ चतुर्युग होते हैं, ऐसे १४ मन्वन्तरों में (७१×१४=९९४) कुल ९९४ चतुर्युग ही होते हैं। यहां प्रत्यक्ष ६ चतुर्युगों की न्यूनता है। यह ६ चतुर्युग परिमित काल सूर्यसिद्धान्त आदि आर्षग्रन्थों के अनुसार एक कल्प की १५ सन्धियों का है। एक मन्वन्तर सन्धि का काल कृतयुग के (१७२८०००) वर्षों के बराबर होता है। इस (१७२८०००) सन्धिकाल में १५ का गुणा करने पर (२५९२००००) वर्ष सन्धिकाल के होते हैं। यह काल ६ चतुर्युग (एक चतुर्युग=४३२००००×६=२५९२००००) के बराबर होता है। इस प्रकार ७१ चतुर्युग परिमाण के १४ मन्वन्तरों की ९९४ चतुर्युग संख्या में १५ सन्धियों के ६ चतुर्युग काल को जोड़ने से १००० चतुर्युग संख्या ब्राह्मदिन की उपपन्न हो जाती है।

इस प्रकार उपरिनिर्दिष्ट व्यतीत १९६०८५२९७५ वर्षसंख्या में विगत सात सन्धियों के (एक सन्धिकाल १७२८०००×७=) १२०९६००० वर्ष जोड़ने से विगत वेदोत्पत्ति वा विगत सृष्टि का शुद्ध काल (१९६०८५२९७६+१२०९६०००=) १९७२९४८९७६ उपपन्न हो जाता है। इसी प्रकार भोग्य काल

'ब्राह्मदिन' और 'ब्राह्मरात्रि' अर्थात् ब्रह्म जो परमेश्वर उसने संसार के वर्तमान और प्रलय की संज्ञा की है। इसीलिये इसका नाम ब्राह्मदिन है। इसी प्रकरण में मनुस्मृति के श्लोक साक्षी के लिये लिख चुके हैं सो देख लेना। इन श्लोकों में दैव वर्षों की गणना की है, अर्थात् चारों युगों के बारह हजार (१२०००) वर्षों की 'दैवयुग संज्ञा की है। इसी प्रकार असंख्यात मन्वन्तरों में, कि जिनकी संख्या नहीं हो सकती, अनेक बार सृष्टि हो चुकी है, अनेक बार होगी। सो इस सृष्टि को सदा से सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर सहज स्वभाव से रचता पालन और प्रलय करता है, और सदा ऐसे ही करेगा।

क्योंकि सृष्टि की उत्पत्ति वर्तमान प्रलय और वेदों की उत्पत्ति के वर्षों को मनुष्य लोग सुख से गिन लें, इसीलिये यह ब्राह्मदिन आदि संज्ञा बांधी है। और मन्वन्तर के परिवर्तन में सृष्टि के

की २३३३२२७०२४ वर्षसंख्या में भोग्य ८ सन्धियों की (१७२८००० × ८ =) १३८२४००० वर्ष संख्या जोड़ने से शुद्ध भोग्य काल की (२३३३२२७०२४ + १३८२४००० =) २३४७०५१०२४ वर्ष संख्या उपलब्ध होती है। इस प्रकार शुद्ध भुक्तकाल १९७२९४८९७६ में शुद्ध भोग्यकाल २३४७०५१०२४ जोड़ने से कल्प अथवा ब्राह्मदिन का ४३२०००००० शुद्ध काल बन जाता है। अन्यथा १५ सन्धियों का काल न जोड़ने पर न तो १००० चतुर्युगों की संख्या पूरी होती है और न कल्प अथवा ब्राह्मदिन की वर्षसंख्या उपपन्न होती है। इसलिए ग्रन्थकार निर्दिष्ट कालगणना में उभयत्र (भुक्त और भोग्य काल में) भुक्त ७ और भोग्य ८ सन्धियों के काल की गणना छूट गई है, यह निर्विवाद है। इस ग्रन्थ में जो सृष्टिकाल लिखा है, वही ग्रन्थकार ने सत्यार्थप्रकाश समु० ८ तथा 'मेला चान्दपुर' में भी लिखा है। वहां भी इस भूल का कारण यही है कि ग्रन्थकार ने इन दोनों ग्रन्थों से पूर्व यह ग्रन्थ लिखा था। अतः उनमें इसी के अनुसार काल का निर्देश किया गया।

अनेक व्यक्ति ग्रन्थकार-निर्दिष्ट कालगणना की उपपत्ति के लिये सन्धिकाल को कल्प आद्यन्त में जोड़ने का आग्रह करते हैं, और कहते हैं कि ग्रन्थकार ने अवान्तर-प्रलय का निर्देश नहीं किया है। यह आग्रह भी शास्त्र-विरुद्ध है। ग्रन्थकार ने सत्यार्थप्रकाश समु० ८ में 'जब महाप्रलय होता है, उसके पश्चात् आकाशादि क्रम अर्थात् जब आकाश वायु का प्रलय नहीं होता और अग्न्यादि का होता है, अग्न्यादि क्रम......अर्थात् जिस-जिस प्रलय में जहां-जहां तक प्रलय होता है.........' इत्यादि लेख में महाप्रलय से अन्यत्र भी प्रलय का होना स्वीकार किया है। यह लेख मन्वन्तरों के मध्य कही गई शास्त्रीय अवान्तर प्रलय का ही बोधक है। यही बात ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ के इसी प्रकरण में भी मनुस्मृति के श्लोकों के उद्धरण के पश्चात् **'मन्वन्तरपर्यावृत्तौ सृष्टेर्नैमित्तकगुणानामपि पर्यावर्तनं किञ्चित् किञ्चित् भवत्यतो मन्वन्तरसंज्ञा क्रियते'** लेख से भी सूचित किया है।

कई लोग वेदोत्पत्ति काल में और सृष्टिकाल में भेद करके दोनों के भिन्न कालों की उपपत्ति करते हैं। वह ठीक नहीं है। क्योंकि ग्रन्थकार ने संस्कृत और भाषानुवाद दोनों में वेदोत्पत्तिकाल के बराबर ही सृष्टिकाल बीता है, ऐसा स्पष्ट कहा है। अतः दोनों की कालगणना में भेद मान कर ग्रन्थकार के भुक्त और भोग्यकाल की गणना को सिद्ध करना न केवल अनुचित ही है, अपितु ग्रन्थकार के लेख के विपरीत भी है। इत्यलमतिविस्तरेण।

नैमित्तिक गुणों का भी कुछ कुछ परिवर्तन होता है[१], इसीलिये 'मन्वन्तर' संज्ञा बांधी है। वर्तमान सृष्टि की 'कल्प' संज्ञा और प्रलय की 'विकल्प' संज्ञा की है।

और इन वर्षों की गणना इस प्रकार से करनी चाहिये कि (एकं दश शतं चैव०) एक (१), दश (१०), शत (१००), हजार (१०००), दश हजार (१००००), लाख (१०००००), नियुत (१००००००), करोड़ (१०००००००), अर्बुद (१००००००००), वृन्द (१०००००००००), खर्व (१००००००००००), निखर्व (१०००००००००००), शंख (१००००००००००००), पद्म (१०००००००००००००), सागर, (१००००००००००००००) अन्त्य (१०००००००००००००००), मध्य (१००००००००००००००००), और परार्द्ध (१०००००००००००००००००), और दश दश गुणा बढ़ाकर इसी गणित से सूर्यसिद्धान्त आदि ज्योतिषग्रन्थों में गिनती की है।‡

(सहस्रस्य प्र०) सब संसार की 'सहस्र' संज्ञा है, तथा पूर्वोक्त ब्राह्मदिन और रात्रि की भी 'सहस्र' संज्ञा की जाती है। क्योंकि यह मन्त्र सामान्य अर्थ में वर्त्तमान है। सो हे परमेश्वर! आप हजार चतुर्युगी का दिन और रात्रि को प्रमाण अर्थात् निर्माण करने वाले हो।

इसी प्रकार ज्योतिषशास्त्र में यथावत् वर्षों की संख्या आर्य लोगों ने गिनी है। सो सृष्टि की उत्पत्ति से लेके आजपर्यन्त दिन दिन गिनते और क्षण से लेके कल्पान्त की गणितविद्या को प्रसिद्ध करते चले आते हैं। अर्थात् परम्परा से सुनते-सुनाते, लिखते-लिखाते और पढ़ते-पढ़ाते आज पर्यन्त हम लोग चले आते हैं। यही व्यवस्था सृष्टि और वेदों की उत्पत्ति के वर्षों की ठीक है, और सब मनुष्यों को इसी को ग्रहण करना योग्य है। क्योंकि आर्य लोग नित्यप्रति—'ओं तत् सत्' परमेश्वर के इन तीन नामों का प्रथम उच्चारण करके कार्यों का आरम्भ और परमेश्वर का ही नित्य धन्यवाद करते चले आते हैं कि आनन्द में आजपर्यन्त परमेश्वर की सृष्टि और हम लोग बने हुए हैं। और बहीखाते की नाईं लिखते-लिखाते पढ़ते-पढ़ाते चले आये हैं कि पूर्वोक्त ब्राह्मदिन के दूसरे प्रहर के ऊपर मध्याह्न के निकट दिन आया है। और जितने वर्ष वैवस्वत मनु के भोग होने को बाकी हैं, उतने ही मध्याह्न में बाकी रहे हैं। इसीलिये यह लेख है—(**श्रीब्रह्मणो द्वितीये प्रह[रेऽप]रार्द्धे०**)।

यह वैवस्वत मनु का वर्त्तमान है। इसके भोग में यह (२८) अट्ठाईसवां कलियुग है। कलियुग के प्रथम चरण का भोग हो रहा है। तथा वर्ष, ऋतु, अयन, मास, पक्ष, दिन, नक्षत्र, मुहूर्त, लग्न और पल आदि समय में हमने फलाना काम किया था और करते हैं। अर्थात् **जैसे विक्रम् के संवत् १९३३ फाल्गुण मास, कृष्णपक्ष षष्ठी, शनिवार के दिन चतुर्थ प्रहर के आरम्भ में यह[२] बात हमने लिखी है**। इसी प्रकार से सब व्यवहार आर्य लोग बालक से वृद्धपर्यन्त करते और जानते चले आये हैं। जैसे बहीखाते में मिति डालते हैं, वैसे ही महीना और वर्ष बढ़ाते घटाते

१. वै० य० मुद्रित पाठ इस प्रकार है—'और सृष्टि का स्वभाव नया पुराना प्रतिमन्वन्तर में बदलता जाता है'। यह पाठ संस्कृत का पूरा अभिप्राय व्यक्त नहीं करता।

‡ कहीं कहीं इसी संख्या को १९ उन्नीस अङ्क पर्यन्त गिनते हैं। सो यहां भी जान लेना। द० स०

२. अर्थात् वेदोत्पत्ति की कालगणना।

चले जाते हैं। इसी प्रकार आर्य्य लोग तिथिपत्र[1] में भी वर्ष, मास और दिन आदि लिखते चले आते हैं। और यही इतिहास आजपर्यन्त सब आर्यावर्त्त देश में एकसा वर्त्तमान हो रहा है[2], और सब पुस्तकों[3] में भी इस विषय में एक ही प्रकार का लेख पाया जाता है। किसी प्रकार का इस विषय में विरोध नहीं है। इसीलिये इसको अन्यथा करने में किसी का सामर्थ्य नहीं हो सकता। क्योंकि जो सृष्टि की उत्पत्ति से लेके बराबर मितिवार लिखते न आते, तो इस गिनती का हिसाब ठीक ठीक आर्य्य लोगों को भी जानना कठिन होता, अन्य मनुष्यों का तो क्या ही कहना है ? और इससे यह भी सिद्ध होता है कि सृष्टि के आरम्भ से लेके आज-पर्यन्त आर्य लोग ही बड़े बड़े विद्वान् और सभ्य होते चले आये हैं।

जब जैन और मुसलमान आदि लोग इस देश के इतिहास और विद्यापुस्तकों का नाश करने लगे, तब आर्य्य लोगों ने सृष्टि के गणित का इतिहास कण्ठस्थ कर लिया। और जो पुस्तक ज्योतिशास्त्र के बच गये हैं, उनमें और उनके अनुसार जो वार्षिक पञ्चाङ्गपत्र बनते जाते हैं, इनमें भी मिति से मिति बराबर लिखी चली आती है। इनको अन्यथा कोई नहीं कर सकता।

यह वृत्तान्त इतिहास का इसलिये [लिखा] है कि पूर्वापर काल का प्रमाण यथावत् सबको विदित रहे। और सृष्टि की उत्पत्ति प्रलय तथा वेदों की उत्पत्ति के वर्षों की गिनती में किसी प्रकार का भ्रम किसी को न हो। सो यह बड़ा उत्तम काम है। इसको सब लोग यथावत् जान लेवें। परन्तु इस उत्तम व्यवहार को लोगों ने टका कमाने के लिये बिगाड़ रखा है, यह शोक की की बात है। और टके के लोभ ने भी जो इसके पुस्तक-व्यवहार को बना रखा, नष्ट न होने दिया, यह बड़े हर्ष की बात है। जो चारों युगों के चार भेद और उनके वर्षों की घट-बढ़ संख्या क्यों हुई है, इसकी व्याख्या आगे करेंगे, वहां देख लेना चाहिये। यहां इसका प्रसंग नहीं है, इसलिये नहीं लिखा।

एतावता कथनेनैवाध्यापकविलसनमोक्षमूलराद्यभिधैर्यूरोपाख्यखण्डस्थैर्मनुष्यरचितो वेदोऽस्ति, श्रुतिर्नास्तीति यदुक्तं, यच्चोक्तम्—चतुर्विंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशदेकत्रिंशच्च शतानि वर्षाणि वेदोत्पत्तौ व्यतीतानीति, तत्सर्वं भ्रममूलमस्तीति वेद्यम्। तथैव प्राकृतभाषया व्याख्यानकारिभिरप्येवमुक्तं, तदपि भ्रान्तमेवास्तीति च।

—: इति वेदोत्पत्तिविचारः :—

भाषार्थ—इससे जो अध्यापक विलसन साहेब और अध्यापक मोक्षमूलर साहेब आदि यूरोपखण्डवासी विद्वानों ने बात कही है कि—'वेद मनुष्य के रचे हैं किन्तु श्रुति नहीं है,' उनकी यह बात ठीक नहीं है। और दूसरी यह है—कोई कहता है (२४००) चौबीस सौ वर्ष वेदों की उत्पत्ति को हुए, कोई (२९००) उनतीस सौ वर्ष, कोई (३०००) तीन हजार वर्ष, और कोई कहता है (३१००)

१. अर्थात् पञ्चाङ्ग।

२. अर्थात् सर्वत्र देश में एकसा ही यह इतिहासरूप संकल्प का पाठ पढ़ा जाता है।

३. समस्त पञ्चाङ्गरूपी पुस्तकों में भी यही कालगणना (जो हमने शुद्ध करके लिखी है) लिखी जाती है।

एकतीस सौ वर्ष वेदों को उत्पन्न हुए बीते हैं। उनकी यह भी बात झूठी है। [इसी प्रकार] [1]जिन जिन ने अपनी अपनी देशभाषाओं में अन्यथा व्याख्यान वेदों के विषय में किया है, उन उन का भी व्याख्यान मिथ्या है[1]। क्योंकि उन लोगों ने हम आर्य्य लोगों की नित्यप्रति की दिनचर्या का लेख और संकल्पपठन विद्या को भी यथावत् न सुना और न विचारा है। नहीं तो इतने ही विचार से यह भ्रम उन को नहीं होता। इससे यह जानना अवश्य चाहिये कि वेदों की उत्पत्ति परमेश्वर से ही हुई है। और जितने वर्ष अभी ऊपर गिन आये हैं, उतने ही वर्ष वेदों और जगत् की उत्पत्ति में भी हो चुके हैं। इससे क्या सिद्ध हुआ कि जैसा प्रथम लिख आये हैं, जब पर्यन्त हजार चतुर्युगी व्यतीत न हो चुकेंगी, तब पर्यन्त ईश्वरोक्त वेद का पुस्तक, यह जगत्, और हम सब मनुष्य लोग भी ईश्वर के अनुग्रह से सदा वर्त्तमान रहेंगे।[2]

॥ इति वेदोत्पत्तिविचारः ॥



१. 'जिन जिन···मिथ्या है' यह पंक्ति वै० य० मुद्रित में आगे 'इससे क्या सिद्ध हुआ कि' पाठ के पश्चात् अस्थान पर छपी है।

२. इस भाषा के लेख से यह भ्रान्ति होती है कि ग्रन्थकार प्रतिमन्वन्तर अवान्तर प्रलय नहीं मानते। परन्तु यह ध्यान रहे कि यह लेख संस्कृत भाषा में नहीं है।

रहा अवान्तर-प्रलय का प्रश्न। इस विषय में ग्रन्थकार का मत स्पष्ट है। वे महाप्रलय और अवान्तर प्रलय दोनों मानते हैं। इसके लिए सत्यार्थप्रकाश का निम्न सन्दर्भ देखना चाहिए—

"जब महाप्रलय होता है उसके पश्चात् आकाशादि क्रम, अर्थात् जब आकाश और वायु का प्रलय नहीं होता और अग्न्यादि का होता है [तब] अग्न्यादि क्रम से, और जब विद्युत् अग्नि का भी नाश नहीं होता, तब जलक्रम से सृष्टि होती है, अर्थात् जिस जिस प्रलय में जहां जहां तक प्रलय होता है, वहां वहां से सृष्टि की उत्पत्ति होती है।" सत्यार्थप्रकाश समु० ८, पृष्ठ ३२४ रामलाल क० ट्र० सं०।

यहां स्पष्ट ही महाप्रलय और खण्डप्रलय का वर्णन ग्रन्थकार ने किया है। 'जहां जहां तक प्रलय होता है, वहां वहां से सृष्टि उत्पत्ति होती है' वाक्य अवान्तरप्रलय वा खण्डप्रलय का ही बोधक है। महाप्रलय में तो सम्पूर्ण स्थूल जगत् का लय हो जाता है। प्रकृति साम्यावस्था तक पहुंच जाती है। महाप्रलय और अवान्तरप्रलय में वेदोत्पत्ति की प्रक्रिया में शास्त्रकारों ने भेद माना है। महाप्रलय के पीछे ऋषियों के हृदय में परमेश्वर द्वारा वेद प्रेरित होते हैं, और अवान्तरप्रलय के पश्चात् सुप्तप्रबुद्ध न्याय से वेदों का प्रकाश होता है। अर्थात् मनुष्य जिस ज्ञान से युक्त रात्रि में सोता है, वह ज्ञान उसे दूसरे दिन प्रातः उठने पर भी प्राप्त होता है। इसी प्रकार मन्वन्तर के अन्त में जिनको वेदों का ज्ञान था, वह ज्ञान उन्हें अगले मन्वन्तर के आरम्भ में स्वतः प्राप्त होता है। महाप्रलय की स्थिति पुनर्जन्म के सदृश होती है। जैसे पुनर्जन्म में माता पिता आदि से पुनः ज्ञान ग्रहण करना पड़ता है, वैसे ही महाप्रलय के पश्चात् सृष्टि के आरम्भ में नए रूप में परमेश्वर से ज्ञान-प्राप्ति की अपेक्षा होती है।

अथ वेदानां नित्यत्वविचारः

ईश्वरस्य सकाशाद् वेदानामुत्पत्तौ सत्यां स्वतो नित्यत्वमेव[1] भवति, तस्य सर्वसामर्थ्यस्य नित्यत्वात् ।

भाषार्थ—अब वेदों के नित्यत्व का विचार किया जाता है। सो वेद ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं, इससे वे स्वतः नित्यस्वरूप ही हैं। क्योंकि ईश्वर का सब सामर्थ्य नित्य ही है।

अत्र केचिदाहुः—न वेदानां शब्दमयत्वान्नित्यत्वं सम्भवति। शब्दोऽनित्यः कार्यत्वात्, घटवत्। यथा घटः कृतोऽस्ति तथा शब्दोऽपि। तस्माच्छब्दानित्यत्वे वेदानामप्यनित्यत्वं स्वीकार्यम्।

मैवं मन्यताम्। शब्दो द्विविधो नित्यकार्यभेदात्। ये परमात्मज्ञानस्थाः शब्दार्थसम्बन्धाः[2] सन्ति, ते नित्या भवितुमर्हन्ति। येऽस्मदादीनां वर्त्तन्ते, ते तु कार्याश्च[3]। कुतः? यस्य ज्ञानक्रिये नित्ये स्वभावसिद्धे अनादी स्तः, तस्य सर्वं सामर्थ्यमपि नित्यमेव भवितुमर्हति। तद्विद्यामयत्वाद् वेदानामनित्यत्वं नैव घटते।

भाषार्थ—प्र०—इस विषय में कितने ही पुरुष ऐसी शङ्का करते हैं कि वेदों में शब्द छन्द पद और वाक्यों के योग होने से वे नित्य नहीं हो सकते। जैसे विना बनाने से घड़ा नहीं बनता, इसी प्रकार से [शब्दरूप] वेदों को भी किसी ने बनाया होगा। क्योंकि बनाने के पहले नहीं थे, और प्रलय[4] में भी न रहेंगे। इससे वेदों को नित्य मानना ठीक नहीं है।

उ०—ऐसा आपको कहना उचित नहीं। क्योंकि शब्द दो प्रकार का होता है—एक नित्य और दूसरा कार्य। इनमें से जो शब्द अर्थ और सम्बन्ध परमेश्वर के ज्ञान में हैं, वे सब नित्य ही होते हैं। और जो हम लोगों की कल्पना[5] से उत्पन्न होते हैं, वे कार्य होते हैं। क्योंकि जिसका ज्ञान

---

१. इह 'एव' पदमुत्तरान्वयी द्रष्टव्यम्—'नित्यत्वं भवत्येव।

२. शब्दः, तदर्थः, शब्दार्थयोः सम्बन्धश्चेत्यभिप्रायः।

३. चानित्याश्च। अयं भावः—अस्मद्व्यवहारे ये वैदिकाः शब्दाः प्रयुज्यन्ते ते नित्याः, ये चास्माभिर्यदृच्छादिरूपेण निर्मिता अर्थविशेषेषु परिभाषिताः टि-घु-घादयः संज्ञाशब्दास्तेऽनित्याः। शब्दनित्यानित्यत्वविषये ग्रन्थकारस्येदं दर्शनमपूर्वमस्ति। अनेन नित्यानित्यवादिनां विविधमतानां समन्वयोऽञ्जसा जायते।

४. वै० य० मुद्रित 'प्रलय के अन्त में' पाठ अशुद्ध है।

५. कल्पना से अर्थात् यदृच्छा द्वारा। इससे स्पष्ट है कि संस्कृतभाषा में जो वैदिक शब्द उसी रूप से प्रयुक्त होते हैं, वे ग्रन्थकार के मत में नित्य हैं, और अन्य अनित्य।

और क्रिया स्वभाव से सिद्ध और अनादि है, उसका सब सामर्थ्य भी नित्य ही होता है। इससे वेद भी उसकी विद्यास्वरूप होने से नित्य ही हैं। क्योंकि ईश्वर की विद्या अनित्य कभी नहीं हो सकती।

किं च भोः ! सर्वस्यास्य जगतो विभागं प्राप्तस्य कारणरूपस्थितौ सर्वस्थूलकार्याभावे पठनपाठनपुस्तकानामभावात्[1] कथं वेदानां नित्यत्वं स्वीक्रियते ?

अत्रोच्यते—इदं तु पुस्तकपत्रमसीपदार्थादिषु घटते, तथास्मत्क्रियापक्षे[2] च, नेतरस्मिन् । अतः कारणादीश्वरविद्यामयत्वेन वेदानां नित्यत्वं वयं मन्यामहे । किं च, न पठनपाठनपुस्तकानित्यत्वे वेदानित्यत्वं जायते । तेषामीश्वरज्ञानेन सह सर्वदा विद्यमानत्वात् । यथास्मिन् कल्पे वेदेषु शब्दाक्षरार्थसंबन्धाः सन्ति, तथैव पूर्वमासन्नग्रे भविष्यन्ति च । कुतः ? ईश्वरविद्याया नित्यत्वादव्यभिचारित्वाच्च । अत एवेदमुक्तमृग्वेदे—

'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्'[3] इति ।

अस्यायमर्थः—सूर्यचन्द्रग्रहणमुपलक्षणार्थम् । यथा पूर्वकल्पे सूर्यचन्द्रादिरचनं तस्य ज्ञानमध्ये ह्यासीत्, तथैव तेनास्मिन् कल्पेऽपि रचनं कृतमस्तीति विज्ञायते । कुतः ? ईश्वरज्ञानस्य वृद्धिक्षयविपर्ययाभावात् । एवं वेदेष्वपि स्वीकार्यम्, वेदानां तेनैव स्वविद्यातः सृष्टत्वात् ।

भाषार्थ—प्र०—जब सब जगत् के परमाणु अलग अलग होके कारणरूप हो जाते हैं, तब जो कार्यरूप सब स्थूल जगत् है उसका अभाव हो जाता है। उस समय वेदों के पुस्तकों का [और पठन-पठन का] भी अभाव हो जाता है। फिर वेदों को नित्य क्यों मानते हो ?

उ०—यह बात पुस्तक पत्र मसी और अक्षरों की बनावट आदि पक्ष में घटती है, तथा हम लोगों के क्रियापक्ष में भी बन सकती है, वेदपक्ष में नहीं घटती। क्योंकि वेद तो शब्द अर्थ और सम्बन्धस्वरूप ही हैं, मसी कागज पत्र पुस्तक और अक्षरों की बनावटरूप नहीं हैं। यह जो मसी आदि द्रव्य और लेखनादि क्रिया है, सो मनुष्यों की बनाई है, इससे यह अनित्य है। और ईश्वर के ज्ञान में सदा बने रहने से वेदों को हम लोग नित्य मानते हैं। इससे क्या सिद्ध हुआ कि पढ़ना-पढ़ाना और पुस्तक के अनित्य होने से वेद अनित्य नहीं हो सकते। क्योंकि वे बीजांकुर न्याय से ईश्वर के ज्ञान में नित्य वर्त्तमान रहते हैं। सृष्टि की आदि में ईश्वर से वेदों की प्रसिद्धि होती है, और प्रलय में जगत् के नहीं रहने से उनकी अप्रसिद्धि होती है। इस कारण से वेद नित्यस्वरूप ही बने रहते हैं। [इसीलिये ऋग्वेद में कहा है— 'परमेश्वर ने सूर्य-चन्द्र को पूर्व कल्प के समान ही बनाया है। यहां सूर्य-चन्द्र ग्रहण उपलक्षणार्थ है। इसलिये] जैसे इस कल्प की सृष्टि में शब्द अक्षर अर्थ और सम्बन्ध वेदों में हैं, इसी प्रकार से पूर्वकल्प में थे और आगे भी होंगे। क्योंकि जो ईश्वर की विद्या है, सो नित्य एक ही रस बनी रहती है। उनके एक अक्षर का भी विपरीतभाव कभी नहीं होता। सो ऋग्वेद से लेके चारों वेदों की संहिता अब जिस प्रकार की हैं कि इनमें

१. 'पठनपाठने पुस्तकानि च तेषामभावात्' इत्येवं विग्रहो द्रष्टव्यः ।

२. क्रियापक्षेऽर्थात् पठनपाठनरूपे लेखनरूपे च ।

३. ऋ० १०।१९०।३॥

शब्द अर्थ सम्बन्ध पद और अक्षरों का जिस क्रम से वर्तमान है, इसी प्रकार का क्रम सब दिन बना रहता है। क्योंकि ईश्वर का ज्ञान नित्य है। उसकी वृद्धि क्षय और विपरीतता कभी नहीं होती। इस कारण से वेदों को नित्यस्वरूप ही मानना चाहिये।

अत्र वेदानां नित्यत्वे व्याकरणशास्त्रादीनां साक्ष्यर्थं प्रमाणानि लिख्यन्ते। तत्राह महाभाष्यकारः पतञ्जलिमुनिः—

'नित्याः शब्दा नित्येषु शब्देषु'[1] कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिरिति।' **इदं वचनं प्रथमाह्निकमारभ्य बहुषु स्थलेषु व्याकरणमहाभाष्येऽस्ति। तथा—**

'श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः।' **इदम् 'अइउण्'[2] सूत्रभाष्ये चोक्तमिति।**

अस्यायमर्थः[3]—वैदिका लौकिकाश्च सर्वे शब्दा नित्याः सन्ति। कुतः? शब्दानां मध्ये कूटस्था विनाशरहिता अचला अनपाया अनुपजना अविकारिणो वर्णाः सन्त्यतः। अपायो लोपो निवृत्तिरग्रहणम्, उपजन आगमः, विकार आदेशः, एते न विद्यन्ते येषु शब्देषु तस्मान्नित्याः शब्दाः।

भाषार्थ—यह जो वेदों के नित्य होने का विषय है, इसमें व्याकरणादि-शास्त्रों का प्रमाण साक्षी के लिये लिखते हैं। इनमें से जो व्याकरणशास्त्र है, सो संस्कृत और भाषाओं के सब[4] शब्दविद्या का मुख्य मूल प्रमाण है। उसके बनाने वाले महामुनि पाणिनि और पतञ्जलि हैं। उनका ऐसा मत है कि—'सब शब्द नित्य हैं। क्योंकि इन शब्दों में जितने अक्षरादि अवयव हैं, वे सब कूटस्थ अर्थात् विनाशरहित हैं, और वे पूर्वापर विचलते भी नहीं, उनका अभाव (=लोप) वा आगम कभी नहीं होता'।[5] इससे वैदिक अर्थात् जो वेद के शब्द, और वेदों से जो शब्द लोक में आये हैं वे लौकिक कहाते हैं, वे भी सब नित्य ही होते हैं। क्योंकि उन शब्दों के मध्य में सब वर्ण अविनाशी और अचल हैं। तथा इनमें लोप आगम और विकार नहीं बन सकते। इस कारण से पूर्वोक्त शब्द नित्य हैं।

ननु[6] गणपाठाष्टाध्यायीमहाभाष्येष्वपायादयो विधीयन्ते, पुनरेतत् कथं संगच्छते? इत्येवं प्राप्ते ब्रूते महाभाष्यकारः—

---

१. महाभाष्ये **'नित्याश्च शब्दाः। नित्येषु च शब्देषु'** इत्येवं पाठ उपलभ्यते। द्र०-पस्पशाह्निकेऽन्यत्र च।

२. अक्षरसमाम्नायसूत्र १। ३. अत्र 'अस्य' पदेन प्रथममुद्धरणं निर्दिश्यते। उत्तरस्योद्धरणवचनस्य त्वर्थोऽग्रे वक्ष्यते। ४. यहां **'सब भाषाओं की शब्दविद्या का'** ऐसा पाठ अधिक युक्त है।

५. यहां से आगे वै० य० मुद्रित में 'तथा काल से...शब्द कहते हैं' पाठ है। यह संस्कृत पाठानुसार आगे होना चाहिये। अतः हमने इसे आगे यथास्थान जोड़ दिया है।

६. इदं प्रकरणं पूर्वोद्धरणव्याख्यानेन सम्बद्धमिति कृत्वा पूर्वमुपन्यस्य द्वितीयोद्धरणस्य व्याख्यानमग्रे करिष्यति ग्रन्थकारः।

'सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः ।
एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते' ॥ १ ॥

[इदं] 'दाधा घ्वदाप्'[1] इत्यस्य सूत्रस्योपरि महाभाष्यवचनम् ।

अस्यायमर्थः—सर्वे संघाताः सर्वेषां पदानां स्थान आदेशा भवन्ति । अर्थाच्छब्दसंघातान्तराणि स्थानेष्वन्ये शब्दसंघाताः प्रयुज्यन्ते । तद्यथा—'वेदपार, गम्, ड, सु, भू, शप्, तिप्' इत्येतस्य वाक्य समुदायस्य स्थाने 'वेदपारगोऽभवत्' इतीदं समुदायान्तरं प्रयुज्यते । अस्मिन् प्रयुक्तसमुदाये 'गम् सु, शप् तिप्, इत्येतेषाम् 'अम् ड् उँ, श् प् इ प्' इत्येतेऽपयन्तीति केषांचद् बुद्धिर्भवति, भ्रममूलैवास्ति । कुतः ? शब्दानाम् 'एकदेशविकारे च' इत्युपलक्षणात् । नैव शब्दस्यैकदेशापाय एकदेशोपजन एकदेशविकारे[2] सति दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेराचार्यस्य मते शब्दानां नित्यत्वमुपपन्न भवत्यतः । तथैवाडागमे[3], भू इत्यस्य स्थाने भो इति विकारे चैवं संगतिः कार्येति ।

(श्रोत्रोपलब्धिरिति) श्रोत्रेन्द्रियेण ज्ञानं यस्य, बुद्ध्या नितरां ग्रहीतुं योग्य उच्चारणेनाभिप्रकाशितो यो यस्याकाशो देशोऽधिकरणं वर्त्तते, स: 'शब्दो' भवतीति बोध्यम् । अनेन शब्दलक्षणेनापि शब्दो नित्य एवास्तीत्यवगम्यते । कथम् ? उच्चारणश्रवणादिप्रयत्नक्रियायाः क्षणप्रध्वंसित्वात् । 'एकैकवर्णवर्तिनी वाक्' इति महाभाष्यप्रामाण्यात्[4] । प्रतिवर्णं [च] वाक्क्रिया [वि]परिणमते, अतस्तस्या एवानित्यत्वं गम्यते, न च शब्दस्येति ।

भाषार्थ—प्र०—गणपाठ, अष्टाध्यायी और महाभाष्य में अक्षरों के लोप आगम और विकार आदि कहे हैं, फिर शब्दों का नित्यत्व कैसे हो सकता है ?

इस प्रश्न का उत्तर महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि देते हैं कि—शब्दों के समुदायों के स्थानों में अन्य शब्दों के समुदायों का प्रयोगमात्र होता है। जैसे 'वेदपार गम् ड सु, भू शप् तिप्' इस पदसमुदाय वाक्य के स्थान में 'वेदपारगोऽभवत्' इस समुदायान्तर का प्रयोग किया जाता है। इसमें किसी पुरुष की ऐसी बुद्धि होती है कि 'अम् ड् उँ श् प् इ प्' इनकी निवृत्ति हो जाती है। सो उनकी बुद्धि में भ्रममात्र है। क्योंकि शब्दों के समुदाय के स्थानों में दूसरे शब्दों के समुदायों के प्रयोग किये जाते हैं। सो यह मत दाक्षी के पुत्र पाणिनि मुनिजी का है, जिनने अष्टाध्यायी आदि व्याकरण के ग्रन्थ बनाये हैं। [इसी प्रकार 'अट्' के आगम और 'भू' के स्थान में 'भो' विकार के विषय में भी संगति लगा लेनी चाहिये।] सो इस प्रकार से शब्द[5] नित्य ही होते हैं।

[6]तथा 'कान से सुनके जिनका ग्रहण होता है, बुद्धि से जो जाने जाते हैं, जो वाक् इन्द्रिय से उच्चारण करने से प्रकाशित होते हैं, और जिनका निवास का स्थान आकाश है, उनको 'शब्द' कहते

१. अष्टा० १।१।१९॥ २. वै० य० मुद्रिते 'एकदेशविकारिणि' इत्यपपाठः ।
३. वै० य० मुद्रिते 'तथैवाडागमो' इत्यपपाठः, उत्तरत्र 'विकारे च' इति सप्तमीनिर्देशात् ।
४. अ० १, पा० ४, सू० १०८ । ५. वै० य० मुद्रित 'सो मत इस प्रकार से है कि शब्द' पाठ असम्बद्ध है । ६. 'तथा...कहते हैं' पाठ वै० य० मुद्रित में पूर्व अस्थान में है । द्र०-पृ० ३५, टि० ५ ।

हैं।' क्योंकि जो उच्चारण और श्रवणादि हम लोगों की क्रिया है, उसके क्षणभङ्ग होने से अनित्य गिनी जाती है। इससे शब्द अनित्य नहीं होते। क्योंकि यह जो हम लोगों की वाणी है, वही वर्ण-वर्ण के प्रति अन्य-अन्य होती जाती है। परन्तु शब्द तो सदा अखण्ड एकरस ही बने रहते हैं।

ननु च भोः! शब्दोऽप्युपरतागतो[1] भवति। उच्चारित उपागच्छति[2], अनुच्चारितोऽनागतो भवति, वाक्क्रियायत्। पुनस्तस्य कथं नित्यत्वं भवेत्?

अत्रोच्यते—नाकाशवत्[3] पूर्वस्थितस्य शब्दस्य साधनाभावादभिव्यक्तिर्भवति, किन्तु तस्य प्राणवाक्क्रिययाऽभिव्यक्तिश्च[4]। तद्यथा गौरित्यत्र यावद्वाग् गकारेऽस्ति, न तावदौकारे, यावदौकारे, न तावद् विसर्जनीये। एवं वाक्क्रियोच्चारणस्य पायोपजनौ भवतः, न च शब्दस्याखण्डैकरसस्य, तस्य सर्वत्रोपलब्धत्वात्। यत्र खलु वायुवाक्क्रिये न भवतस्तत्रोच्चारणश्रवणे अपि न भवतः। अतः शब्दस्त्वाकाशवदेव सदा नित्योऽस्तीत्यादिव्याकरणमतेन सर्वेषां शब्दानां नित्यत्वमस्ति, किमुत वैदिकानामिति।

भावार्थ—प्र०—शब्द भी उच्चारण किये [जाने] के पश्चात् नष्ट हो जाता है, और उच्चारण के पूर्व सुना नहीं जाता है। जैसे उच्चारण-क्रिया अनित्य है, वैसे ही शब्द भी अनित्य हो हो सकता है। फिर शब्दों को नित्य क्यों मानते हो?

उ०—शब्द तो आकाश की नाईं सर्वत्र एकरस भर रहे हैं, परन्तु जब उच्चारणक्रिया नहीं होती, तब प्रसिद्ध सुनने में नहीं आते। जब प्राण और वाणी की क्रिया से उच्चारण किये जाते हैं, तब शब्द प्रसिद्ध होते हैं। जैसे 'गौः' इसके उच्चारण में जब पर्यन्त उच्चारणक्रिया गकार में रहती है, तब पर्यन्त औकार में नहीं, जब औकार में है तब गकार और विसर्जनीय में नहीं रहती। इसी प्रकार वाणी की क्रिया की उत्पत्ति और नाश होता है, शब्दों का नहीं। किन्तु आकाश में शब्द की प्राप्ति होने से शब्द तो अखण्ड एकरस सर्वत्र भर रहे हैं। परन्तु जब पर्यन्त वायु और और वाक् इन्द्रिय की क्रिया नहीं होती, तब पर्यन्त शब्दों का उच्चारण और श्रवण भी नहीं होता। इससे यह सिद्ध हुआ कि शब्द आकाश की नाईं नित्य ही हैं। जब व्याकरण शास्त्र के मत से सब शब्द नित्य होते हैं, तो वेदों के शब्दों की कथा तो क्या ही कहनी है? क्योंकि वेदों के शब्द तो सब प्रकार से नित्य ही बने रहते हैं।

एवं जैमिनिमुनिनापि शब्दस्य नित्यत्वं प्रतिपादितम्—

---

१. इह 'शब्दोऽप्युपरतोऽनागतश्च भवति' इति पाठो युक्तः प्रतीयते, उत्तरवाक्ये तथैव व्याख्यातत्वात्।

२. इह 'उच्चारितोऽप्यगच्छति' इत्येव साधीयान् पाठः प्रतिभाति, पूर्वत्र 'उपरतशब्दप्रयोगात्।' पूर्वत्र वा '०प्युपागतानगतो' इत्येवं पाठः कल्पनीयः।

३. पूर्वस्थितस्याप्याकाशस्य न कदाचिदभिव्यक्तिर्भवत्यतोऽयं दृष्टान्तो नोपपद्यते। अतोऽत्र 'यथा तमसि पूर्वावस्थितस्य द्रव्यस्य प्रदीपादिसाधनाभावेऽभिव्यक्तिर्न भवति तथैव ········' पाठोऽनुसंधेयः।

४. '०भिव्यक्तिर्भवति' इत्येवं पाठोऽत्र युक्ततरः स्यात्।

'नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात्' ॥ पूर्वमीमांसा अ० १, पा० १, सू० १८ ॥

अस्यायमर्थः—'तु' शब्देनानित्यशङ्का निवार्यते । विनाशरहितत्वाच्छब्दो नित्योऽस्ति, कस्मात् ? दर्शनस्य परार्थत्वात् । दर्शनस्योच्चारणस्य परस्यार्थस्य ज्ञापनार्थत्वात्, शब्दस्यानित्यत्वं नैव भवति । अन्यथाऽयं गोशब्दार्थोऽस्तीत्यभिज्ञाऽनित्येन शब्देन भवितुमयोग्यास्ति[1] । नित्यत्वे सति ज्ञाप्यज्ञापकयोर्विद्यमानत्वात् सर्वमेतत् संगतं स्यात् । अतश्चैकमेव गोशब्दं युगपदनेकेषु स्थलेष्वनेक उच्चारका उपलभन्ते, पुनः पुनस्तमेव चेति । एवं जैमिनिना शब्दनित्यत्वेऽनेके हेतवः प्रदर्शिताः ।

भाषार्थ—इसी प्रकार जैमिनि मुनि ने भी शब्द को नित्य माना है-[(नित्यस्तु०)] शब्द में जो अनित्य होने की शङ्का आती है, उसका 'तु' शब्द से निवारण किया है। शब्द नित्य ही हैं, अर्थात् नाशरहित हैं। क्योंकि उच्चारणक्रिया से जो शब्द का श्रवण होता है, सो अर्थ के जनाने ही के लिये है, इससे शब्द अनित्य नहीं हो सकता। जो शब्द का उच्चारण किया जाता है, उसकी ही प्रत्यभिज्ञा होती है कि श्रोत्र द्वारा ज्ञान के बीच में वही शब्द स्थिर रहता है। फिर उसी शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है। जो शब्द अनित्य होता, तो अर्थ का ज्ञान कौन कराता ? क्योंकि वह शब्द ही नहीं रहा, फिर अर्थ को कौन जनावे ? और जैसे अनेक देशों में अनेक पुरुष एक काल में ही एक गो शब्द का उच्चारण करते हैं, इसी प्रकार उसी शब्द का उच्चारण वारंवार भी होता है। इस कारण से भी शब्द नित्य है। जो शब्द अनित्य होता, तो यह व्यवस्था कभी नहीं बन सकती। सो जैमिनि मुनि ने इस प्रकार के अनेक हेतुओं से पूर्वमीमांसाशास्त्र में शब्द को नित्य सिद्ध किया है।

अन्यच्च वैशेषिकसूत्रकारः कणादमुनिरप्यत्राह—

'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' ॥ वैशेषिके अ० १ ॥[2]

अस्यायमर्थः-तद्वचनात् तयोर्धर्मेश्वरयोर्वचनाद्धर्मस्यैव कर्त्तव्यतया प्रतिपादनादीश्वरेणोक्तत्वाच्चाम्नायस्य वेदचतुष्टयस्य प्रामाण्यं सर्वैर्नित्यत्वेन स्वीकार्यम् ।

भाषार्थ—इसी प्रकार वैशेषिकशास्त्र में कणाद मुनि ने भी कहा है -(तद्वचना०) वेद ईश्वरोक्त हैं। इनमें सत्यविद्या और पक्षपातरहित धर्म का ही प्रतिपादन है। इससे चारों वेद नित्य हैं, ऐसा ही सब मनुष्यों को मानना उचित है। क्योंकि ईश्वर नित्य है, इससे उसकी विद्या भी नित्य है।

तथा स्वकीयन्यायशास्त्रे गोतममुनिरप्यत्राह—

'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्' ॥

[न्याय०] अ० २। आ० १। सू० ६७ ॥[3]

---

१ शब्दस्योच्चरितप्रध्वंसित्वाद् अर्थेन सह संबन्धस्य प्रतिपत्तुमशक्यत्वात् 'अयमस्यार्थः' इत्येवं प्रत्यभिज्ञा न स्यादित्यभिप्रायः । २. वै० द० १।१।३॥ ३. न्यायदर्शन के विविध संस्करणों में सूत्रसंख्या में भेद उपलब्ध होता है। अतः निर्दिष्ट संख्या पर यदि पाठ न मिले, तो एक दो संख्या आगे पीछे ढूंढ लेना चाहिए।

अस्यायमर्थः—तेषां वेदानां नित्यानामीश्वरोक्तानां प्रामाण्यं सर्वैः स्वीकार्यम्। कुतः? आप्तप्रामाण्यात्। धर्मात्मभिः कपटछलादि[1]दोषरहितैर्दयालुभिः सत्योपदेष्टृभिर्विद्यापारगैर्महायोगिभिः सर्वैर्ब्रह्मादिभिराप्तैर्वेदानां प्रामाण्यं स्वीकृतमतः। किंवत्? मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवत्। यथा सत्यपदार्थविद्याप्रकाशकानां मन्त्राणां विचाराणां सत्यत्वेन प्रामाण्यं भवति, यथा चायुर्वेदोक्तस्यैकदेशोक्तौषधसेवनेन रोगनिवृत्त्या तद्भिन्नस्यापि भागस्य तादृशस्य प्रामाण्यं भवति, तथा वेदोक्तार्थस्यैकदेशप्रत्यक्षेणेतरस्यादृष्टार्थविषयस्य वेदभागस्यापि प्रामाण्यमङ्गीकार्यम्।

एतत्सूत्रस्योपरि भाष्यकारेण वात्स्यायनमुनिनाप्येवं प्रतिपादितम्—

'द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चानुमानम्। य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेदप्रभृतीनाम्। इत्यायुर्वेदप्रामाण्यवद् वेदप्रामाण्यमनुमातव्यमिति। नित्यत्वाद् वेदवाक्यानां प्रमाणत्वे तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यादित्युक्तम्[2]'।

अस्यायमभिप्रायः—यथाप्तोपदेशस्य प्रामाण्यं भवति, तथा सर्वथाप्तेनेश्वरेणोक्तानां वेदानां सर्वैराप्तैः प्रामाण्येनाङ्गीकृतत्वाद् वेदाः प्रमाणमिति बोध्यम्। अत ईश्वरविद्यामयत्वाद् वेदानां नित्यत्वमेवोपपन्नं भवतीति दिक्।

भाषार्थ—वैसे ही न्यायशास्त्र में गोतम मुनि भी शब्द को नित्य कहते हैं—(मन्त्रायु०) वेदों को नित्य ही मानना चाहिये। क्योंकि सृष्टि के आरम्भ से लेके आज-पर्यन्त ब्रह्मादि जितने आप्त होते आये हैं, वे सब वेदों को नित्य ही मानते आये हैं। उन आप्तों का अवश्य ही प्रमाण करना चाहिये। क्योंकि 'आप्त' लोग वे होते हैं, जो धर्मात्मा, कपट छलादि दोषों से रहित, सब विद्याओं से युक्त, महायोगी और सब मनुष्यों के सुख होने के लिये सत्य का उपदेश करने वाले हैं, जिनमें लेशमात्र भी पक्षपात वा मिथ्याचार नहीं होता। उन्होंने वेदों का यथावत् नित्य गुणों से प्रमाण किया है। [किस प्रकार वेदों का प्रामाण्य स्वीकार करना चाहिये? मन्त्र और आयुर्वेद के प्रामाण्य के समान। जैसे सत्य पदार्थविद्या के प्रकाशक मन्त्र=विचार सत्य होने से प्रमाण माने जाते हैं, और जैसे] आयुर्वेद वैद्यकशास्त्र के एकदेश में कहे औषध और पथ्य के सेवन करने से रोग की निवृत्ति से सुख प्राप्त होता है, जैसे उसके एक देश के कहे के सत्य होने से उसके दूसरे भाग का भी प्रमाण होता है, इसी प्रकार वेदों का भी प्रमाण करना सब मनुष्यों को उचित है। क्योंकि वेद के एकदेश में कहे अर्थ का सत्यपन विदित होने से उससे भिन्न जो वेदों के भाग हैं, कि जिनका अर्थ प्रत्यक्ष न हुआ हो, उनका भी नित्य प्रमाण अवश्य करना चाहिये। क्योंकि आप्त पुरुष का उपदेश मिथ्या नहीं हो सकता।

'(मन्त्रायु०) इस सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि ने वेदों का नित्य होना स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि—जो आप्त लोग हैं, वे वेदों के अर्थ को देखने-दिखाने और जनाने वाले हैं। जो जो उस मन्त्र के अर्थ के द्रष्टा-[प्र]वक्ता होते हैं, वे ही आयुर्वेद आदि के बनाने वाले हैं। जैसे उनका

१. 'छलकपटादि०' इति सुवचम्।

२. वात्स्यायन-भाष्ये '०दित्ययुक्तम्' पाठ उपलभ्यते।

कथन आयुर्वेद में सत्य है, वैसे ही वेदों के नित्य मानने का उनका जो व्यवहार है, सो भी सत्य ही है ऐसा मानना चाहिये। क्योंकि जैसे आप्तों के उपदेश का प्रमाण अवश्य होता है, वैसे ही सब आप्तों का भी जो परम आप्त, सब का गुरु परमेश्वर है, उसके किये वेदों का भी नित्य होने का प्रमाण अवश्य ही करना चाहिये।'

अत्र विषये योगशास्त्रे पतञ्जलिमुनिरप्याह—

'स एष[1] पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' ॥

पातञ्जलयोगशास्त्रे अ० १।[2] पा० १। सू० २६॥

यः पूर्वेषां सृष्टयादावुत्पन्नानामग्निवाय्वादित्याङ्गिरोब्रह्मादीनां प्राचीनानाम् अस्मदादीनामिदानीन्तनानाम् अग्रे भविष्यतां च सर्वेषामेव ईश्वर एव गुरुरस्ति। गृणाति वेदद्वारोपदिशति सत्यानर्थान् स 'गुरुः'। स च सर्वदा नित्योऽस्ति, तत्र कालगतेरप्रचारत्वात्। न स ईश्वरो ह्यविद्यादिक्लेशैः पापकर्मभिस्तद्वासनया च कदाचिद् युक्तो भवति। यस्मिन् निरतिशयं नित्यं स्वाभाविकं ज्ञानमस्ति, तदुक्तत्वाद् वेदानामपि सत्यार्थवत्त्वनित्यत्वे स्तो इति।

भाषार्थ—इस विषय में योगशास्त्र के कर्ता पतञ्जलि मुनि भी वेदों को नित्य मानते हैं—(स० एष०) जो कि प्राचीन अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा और ब्रह्मादि पुरुष सृष्टि के आदि में उत्पन्न हुए थे, उनसे लेके हम लोग पर्यन्त और हमसे आगे जो होनेवाले हैं, उन सब का गुरु परमेश्वर ही है। क्योंकि वेद द्वारा सत्य अर्थों का उपदेश करने से परमेश्वर का नाम 'गुरु' है। सो ईश्वर नित्य ही है। क्योंकि ईश्वर में क्षणादि काल की गति का प्रचार ही नहीं है। और वह अविद्या आदि क्लेशों से और पापकर्म तथा उनकी वासनाओं के भोगों से अलग है। जिसमें अनन्त विज्ञान सर्वदा एकरस बना रहता है, उसी के रचे वेदों का भी सत्यार्थपना और नित्यपना भी निश्चित है। ऐसा ही सब मनुष्यों को जानना चाहिये।

एवमेव स्वकीयसांख्यशास्त्रे पञ्चमाध्याये कपिलाचार्योऽप्यत्राह—

'निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतःप्रामाण्यम्' ॥ सू० ५१ ॥[3]

अस्यायमर्थः—वेदानां निजशक्त्यभिव्यक्तेः पुरुषसहचारिप्रधानसामर्थ्यात् प्रकटत्वात् स्वतःप्रामाण्यनित्यत्वे स्वीकार्य्ये इति।

भाषार्थ—इसी प्रकार से सांख्यशास्त्र में कपिलाचार्य भी कहते हैं—'(निज०) परमेश्वर की

---

१. अनेकव्याख्याकाराणां मते 'स एषः' पदं सूत्रोत्थानिकारूपं भाष्यम्।

२. योगदर्शन में चार ही पाद हैं, अतः अध्याय का निर्देश नहीं किया जाता है।

३. अध्यायनिर्देशस्य सूत्रोत्थानिकायामुक्तत्वादिह पुनरध्यायसंख्या न निर्दिष्टा। एवं चेह अ० ५, सू० ५१ संख्या ज्ञेया।

निज अर्थात् स्वाभाविक जो विद्या-शक्ति है, उससे प्रकट होने से वेदों का नित्यत्व और स्वतः-प्रामाण्य सब मनुष्यों को स्वीकार करना चाहिये।'

अस्मिन् विषये स्वकीयवेदान्तशास्त्रे कृष्णद्वैपायनो व्यासमुनिरप्याह—

'शास्त्रयोनित्वात्' ॥ अ० १। पा० १। सू० ३॥

अस्यायमर्थः—'ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। न हीदृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः संभवोऽस्ति। यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात् पुरुषविशेषात् संभवति, यथा व्याकरणादि पाणिन्यादेर्ज्ञेयैकदेशार्थमपि स ततोऽप्यधिकतरविज्ञान इति [प्र]सिद्धं लोके किमु वक्तव्यमिति।'

इदं वचनं शङ्कराचार्येणास्य सूत्रस्योपरि स्वकीयव्याख्याने गदितम्। अतः किमागतम्? सर्वज्ञस्येश्वरस्य शास्त्रमपि नित्यं सर्वार्थज्ञानयुक्तं च भवितुमर्हति।

अन्यच्च तस्मिन्नेवाध्याये—

'अत एव च नित्यत्वम्' ॥ पा० ३। सू० २९॥[1]

अस्यायमर्थः—अत ईश्वरोक्तत्वान्नित्यधर्मकत्वाद् वेदानां स्वतःप्रामाण्यं सर्वविद्यावत्त्वं सर्वेषु कालेष्वव्यभिचारित्वान्नित्यत्वं च सर्वैर्मनुष्यैर्मन्तव्यमिति सिद्धम्।

न वेदस्य प्रामाण्यसिद्ध्यर्थमन्यत् प्रमाणं स्वीक्रियते। किन्त्वेतत् साक्षिवद्विज्ञेयम्। वेदानां स्वतःप्रमाणत्वात्, सूर्यवत्। यथा सूर्यः स्वप्रकाशः[2] सन् संसारस्थान्महतोऽल्पांश्च पर्वतादीन् त्रसरेण्वन्तान् पदार्थान् प्रकाशयति, तथा वेदोऽपि स्वयं स्वप्रकाशः सन् सर्वा विद्याः प्रकाशयतीत्यवधेयम्।

भावार्थ—इसी प्रकार से वेदान्तशास्त्र में वेदों के नित्य होने के विषय में व्यासजी ने भी लिखा है—(शास्त्र०)। इस सूत्र के अर्थ में शङ्कराचार्य ने भी वेदों को नित्य मानके व्याख्यान किया है कि—'ऋग्वेदादि जो चारों वेद हैं, वे अनेक विद्याओं से युक्त हैं। सूर्य[3] के समान सब सत्य अर्थों के प्रकाश करनेवाले हैं। उनका बनानेवाला सर्वज्ञादि गुणों से युक्त परब्रह्म है। क्योंकि सर्वज्ञ ब्रह्म से भिन्न कोई जीव सर्वज्ञगुणयुक्त इन वेदों को बना सके, ऐसा सम्भव कभी नहीं हो सकता। किन्तु वेदार्थविस्तार के लिये किसी जीवविशेष पुरुष से अन्य शास्त्र बनाने का संभव होता है। जैसे पाणिनि आदि मुनियों ने व्याकरणादि शास्त्रों को बनाया है। उनमें विद्या के एक-

१. इहाप्यध्यायसंख्या सूत्रोत्थानिकायां निर्दिष्टेतिकृत्वा पुनर्न निर्दिष्टा। एवं चेह अ० १, पाद ३, सू० २९ संख्या ज्ञेया। २. स्वं प्रकाशयतीति स्वप्रकाशः।

३. शाङ्करभाष्य के पाठ के अनुसार 'प्रदीप के समान' पाठ होना चाहिए।

एक देश का प्रकाश किया है। सो भी वेदों के आश्रय से बना सके हैं। और जो सब विद्याओं से युक्त वेद हैं, उनको सिवाय परमेश्वर के दूसरा कोई भी नहीं बना सकता। क्योंकि परमेश्वर से भिन्न सब विद्याओं में पूर्ण कोई भी नहीं है। किञ्च परमेश्वर के बनाये वेदों के पढ़ने विचारने और उसी के अनुग्रह से मनुष्यों को यथाशक्ति विद्या का बोध होता है, अन्यथा नहीं।' ऐसा शङ्कराचार्य ने भी कहा है। इससे क्या आया कि वेदों के नित्य होने में सब आर्य्य लोगों की साक्षी है। और यह भी कारण है कि जो ईश्वर नित्य और सर्वज्ञ है, उसके किये वेद भी नित्य और सर्वज्ञ होने के योग्य हैं। अन्य का बनाया ऐसा ग्रन्थ कभी नहीं हो सकता।

(अत एव०) इस सूत्र से भी यही आता है कि—'वेद नित्य हैं, और सब सज्जन लोगों को भी ऐसा ही मानना उचित है।' तथा वेदों के प्रमाण और नित्य होने में अन्य शास्त्रों के प्रमाणों को साक्षी के समान जानना चाहिये। क्योंकि वे अपने ही प्रमाण से नित्य सिद्ध हैं। जैसे सूर्य के प्रकाश में सूर्य का ही प्रमाण है, अन्य का नहीं। और जैसे सूर्य स्वप्रकाशक[1] है, [और] पर्वत से लेके त्रसरेणुपर्यन्त पदार्थों का [भी] प्रकाश करता है, वैसे वेद भी स्वयंप्रकाश हैं, और सब सत्यविद्याओं का भी प्रकाश कर रहे हैं।

अत एव स्वयमीश्वरः स्वप्रकाशितस्य वेदस्य स्वस्य च सिद्धिकरं प्रमाणमाह—

'स पर्य॑गाच्छु॒क्रम॑का॒यम॑व्र॒णम॑स्नावि॒रꣳ शु॒द्धमपा॑पविद्धम्। क॒विर्म॑नी॒षी प॑रि॒भूः स्व॑य॒म्भूर्या॑थात॒थ्य॒तोऽर्थान्॒ व्य॑दधाच्छाश्व॒तीभ्यः॒ समा॑भ्यः' ॥ य० अ० ४०। मं० ८॥

अस्यायमभिप्रायः—यः पूर्वोक्तः सर्वव्यापकत्वादिविशेषणयुक्त ईश्वरोऽस्ति, (स पर्यगात्) परितः सर्वतोऽगात् गतवान् प्राप्तवानस्ति, नैवैकः परमाणुरपि तद्व्याप्त्या विनास्ति। (शुक्रम्) तद् ब्रह्म सर्वजगत्कर्तृ वीर्यवद् अनन्तबलवद् अस्ति। (अकायम्) तत् स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरत्रयसम्बन्धरहितम्, (अव्रणम्) नैवैतस्मिंश्छिद्रं कर्त्तुं परमाणुरपि शक्नोति, अत एव छेदरहितत्वादक्षतम्, (अस्नाविरम्) तन्नाडीसम्बन्धरहितत्वाद् बन्धनावरणविमुक्तम्, (शुद्धम्) तदविद्यादिदोषेभ्यः सर्वदा पृथग्वर्तमानम्, (अपापविद्धम्) नैव तत् पापयुक्तं पापकारि च कदाचिद् भवति। (कविः) सर्वज्ञः, (मनीषी) यः सर्वेषां मनसामीषी साक्षी ज्ञातास्ति। (परिभूः) सर्वेषामुपरि विराजमानः, (स्वयंभूः) यो निमित्तोपादानसाधारणकारणत्रयरहितः, स एव सर्वेषां पिता नह्यस्य कश्चित् जनकः, स्वसामर्थ्येन सहैव सदा [2]वर्तमानोऽस्ति। य एवंभूतः सच्चिदानन्दस्वरूपः परमात्मा, स सर्गादौ स्वकीयाभ्यः (शाश्वतीभ्यः) निरन्तराभ्यः (समाभ्यः) प्रजाभ्यो[2] (याथातथ्यतः) यथार्थस्वरूपेण वेदोपदेशेन (अर्थान् व्यदधात्) विधत्तवान्। अर्थात् यदा यदा सृष्टिं करोति

१. वै० य० मुद्रित में 'सूर्य प्रकाशस्वरूप है' पाठ है।

२. अत्र 'वर्तमानोऽस्ति, (शाश्वतीभ्यः) य एवंभूतः सच्चिदानन्दस्वरूपः परमात्मा (सः) सर्गादौ स्वकीयाभ्यः शाश्वतीभ्यो निरन्तराभ्यः प्रजाभ्यो०' इति पाठो वै० य० मुद्रिते दृश्यते (अष्टमसंस्करणे 'समाभ्यः' पदं कोष्ठके प्रदर्शितः), भ्रमप्रमादः।

तदा तदा प्रजाभ्यो हितायादिसृष्टौ[1] सर्वविद्यासमन्वितं वेदशास्त्रं स एव भगवानुपदिशति। अत एव नैव वेदानामनित्यत्वं केनापि मन्तव्यम्, तस्य विद्यायाः सर्वदैकरसवर्त्तमानत्वात्।

भाषार्थ—ऐसे ही परमेश्वर ने अपने और अपने किये वेदों के नित्य और स्वतःप्रमाण होने का उपदेश किया है। सो आगे लिखते हैं—

(स पर्यगात्) यह मन्त्र ईश्वर और उसके किये वेदों का प्रकाश करता है कि—जो परमेश्वर सर्वव्यापक आदि विशेषणयुक्त है, सो सब जगत् में परिपूर्ण हो रहा है। उसकी व्याप्ति से एक परमाणु भी रहित नहीं है। सो ब्रह्म (शुक्रम्) सब जगत् का करनेवाला और अनन्त विद्यादि बल से युक्त है। (अकायम्) जो स्थूल सूक्ष्म और कारण इन तीनों शरीरों के संयोग से रहित है, अर्थात् वह कभी जन्म नहीं लेता। (अव्रणम्) जिसमें एक परमाणु भी छिद्र नहीं कर सकता, इसीसे वह सर्वदा छेदरहित है। (अस्नाविरम्) वह नाड़ियों के बन्धन से अलग है। जैसा वायु और रुधिर नाड़ियों में बंधा रहता है, ऐसा बंधन परमेश्वर में नहीं होता, (शुद्धम्) जो अविद्या अज्ञानादि क्लेश और सब दोषों से पृथक् है, (अपापविद्धम्) सो ईश्वर पापयुक्त वा पाप करनेवाला कभी नहीं होता, क्योंकि वह स्वभाव से ही धर्मात्मा है, (कविः) जो सब का जानने वाला है, (मनीषी) जो सबका अन्तर्यामी है, और भूत भविष्यत् तथा वर्त्तमान इन तीनों कालों के व्यवहारों को यथावत् जानता है, (परिभूः) जो सबके ऊपर विराजमान हो रहा है, (स्वयंभूः) जो कभी उत्पन्न नहीं होता, और उसका कारण भी कोई नहीं, किन्तु वही सबका कारण अनादि और अनन्त है। इससे वही सबका माता पिता है, और अपने ही सत्य सामर्थ्य से सदा वर्त्तमान रहता है, इत्यादि लक्षणों से युक्त जो सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर है, (शाश्वतीभ्यः०) उसने सृष्टि की आदि में अपनी प्रजा को, जो कि उसके सामर्थ्य में सदा से वर्त्तमान है, उसके सब सुखों के लिये (अर्थान् व्यदधात्) सत्य अर्थों का उपदेश किया है। इसी प्रकार जब-जब परमेश्वर सृष्टि को रचता है, तब-तब प्रजा के हित के लिये सृष्टि के आदि में सब विद्याओं से युक्त वेदों का भी उपदेश करता है। और जब-जब सृष्टि का प्रलय होता है, तब-तब वेद उसके ज्ञान में सदा बने रहते हैं। इससे उनको सदैव नित्य मानना चाहिये। [क्योंकि उस परमात्मा की विद्या सदा एकरस बनी रहती है।]

यथा शास्त्रप्रमाणेन वेदा नित्याः सन्तीति निश्चयोऽस्ति, तथा युक्त्यापि। तद्यथा—

'नासत आत्मलाभो, न सत आत्महानम्, योऽस्ति स भविष्यति'[2] **इति न्यायेन वेदानां नित्यत्वं स्वीकार्यम्। कुतः? यस्य मूलं नास्ति, नैव तस्य शाखादयः संभवितुमर्हन्ति, वन्ध्यापुत्र-विवाहदर्शनवत्। पुत्रो भवेच्चेत् तदा वन्ध्यात्वं न[3] सिध्येत्, स नास्ति चेत् पुनस्तस्य विवाहदर्शने[4]**

१. द्रष्टव्या पूर्वत्र (पृष्ठ २४) टिप्पणी १।

२. 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'। गीता० अ० २, श्लोक १६॥

३. वै० य० मुद्रिते नवमसंस्करणे 'न न सिद्ध्येत्' इति नञ्द्वयपाठः संशोधयितृप्रमादमूलः।

४. विवाहस्तद्दर्शनं चेति द्वे क्रिये।

कथं भवतः ? एवमेवात्रापि विचारणीयम् । यदीश्वरे विद्याऽनन्ता न भवेत्, कथमुपदिशेत् ? सः नोपदिशेच्चेन्नैव कस्यापि मनुष्यस्य विद्यासम्बन्धो दर्शनं च स्याताम्, निर्मूलस्य प्ररोहाभावात् । नह्यस्मिन् जगति निर्मूलमुत्पन्नं किञ्चिद् दृश्यते ।

यस्य सर्वेषां मनुष्याणां साक्षादनुभवोऽस्ति, सोऽत्र प्रकाश्यते—यस्य प्रत्यक्षोऽनुभवस्तस्यैव संस्कारो, यस्य संस्कारस्तस्यैव स्मरणं ज्ञानं, तेनैव प्रवृत्तिनिवृत्ती भवतो, नान्यथेति । तद्यथा—येन संस्कृतभाषा पठ्यते, तस्याऽस्या एव संस्कारो भवति, नाऽन्यस्याः । येन देशभाषाऽधीयते, [तस्य] तस्या एव संस्कारो भवति, नातोऽन्यस्याः[1] । एवं [2]सृष्ट्यावादावीश्वरोपदेशाऽध्यापनाभ्यां विना नैव कस्यापि विद्याया अनुभवः स्यात्, पुनः कथं संस्कारः ? तेन विना कुतः स्मरणम् ? न च स्मरणेन विना विद्याया लेशोऽपि कस्यचिद्भवितुमर्हति ।

भावार्थ—जैसे शास्त्रों के प्रमाणों से वेद नित्य हैं, वैसे ही युक्ति से भी उनका नित्यपन सिद्ध होता है । क्योंकि 'असत् से सत् का होना अर्थात् अभाव से भाव का होना कभी नहीं हो सकता । तथा सत् का अभाव भी नहीं हो सकता । जो सत् है उसी से आगे प्रवृत्ति भी हो सकती है । और जो वस्तु ही नहीं है, उससे दूसरी वस्तु किसी प्रकार से नहीं हो सकती ।' इस न्याय से भी वेदों को नित्य ही मानना ठीक है । क्योंकि जिसका मूल नहीं होता है, उसकी डाली पत्र, पुष्प और फल आदि भी कभी नहीं हो सकते । जैसे कोई कहे कि वन्ध्या के पुत्र का विवाह मैंने देखा, यह उसकी बात असम्भव है । क्योंकि जो उसके पुत्र होता, तो वह वन्ध्या ही क्यों होती ? और जब पुत्र ही नहीं है, तो उसका विवाह और दर्शन कैसे हो सकते हैं ? वैसे ही जब ईश्वर में अनन्तविद्या है, तभी मनुष्यों को विद्या का उपदेश भी किया है । और जो ईश्वर में अनन्तविद्या न होती, तो वह उपदेश कैसे कर सकता ? और वह जगत् को भी कैसे रच सकता ? जो मनुष्यों को ईश्वर अपनी विद्या का उपदेश न करता, तो किसी मनुष्य को विद्या, जो यथार्थ ज्ञान है, सो कभी नहीं होता । क्योंकि इस जगत् में निर्मूल का होना वा बढ़ना सर्वथा असम्भव है । इससे यह जानना चाहिये कि परमेश्वर से वेदविद्या मूलरूप में प्राप्त[3] होके मनुष्यों में विद्यारूप वृक्ष विस्तृत हुआ है ।

इसमें और भी युक्ति है कि जिसका सब मनुष्यों को अनुभव और प्रत्यक्ष ज्ञान है[4] । उसी का दृष्टान्त देते हैं—देखो कि जिसका साक्षात् अनुभव होता है, उसी का ज्ञान में संस्कार होता है । संस्कार से स्मरण, स्मरण से इष्ट में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति होती है, अन्यथा नहीं । जो संस्कृतभाषा को पढ़ता है, उसके मन में उसी का संस्कार होता है, अन्य भाषा का नहीं । और जो किसी देशभाषा को पढ़ता है, उसको [उसी] देशभाषा का संस्कार होता है, अन्य का नहीं । इसी प्रकार जो वेदों का उपदेश ईश्वर न करता, तो किसी मनुष्य को विद्या का [अनुभव नहीं होता ।

१. वै० य० मुद्रित 'नातोऽन्यथा' इत्यपपाठः । पूर्ववाक्यानुरोधात् भाषानुरोधाच्चास्मन्निर्दिष्टः पाठ एव साधुः ।

२. अन्यत्र ग्रन्थकारः 'आदिसृष्टौ' प्रयुङ्क्ते, तदपि साधु । द्र० — २४ पृष्ठस्था टि० १ ॥

३. वै० य० मुद्रित में 'मूल की प्राप्त' पाठ है ।

४. वै० य० मुद्रित में 'होता है' पाठ है ।

अनुभव के विना] संस्कार नहीं होता। जब विद्या का संस्कार न होता, तो उसका स्मरण भी नहीं होता। स्मरण से विना किसी मनुष्य को विद्या का लेश भी न हो सकता। इस युक्ति से क्या जाना जाता है? कि ईश्वर के उपदेश से वेदों को सुन-पढ़के और विचारके ही मनुष्यों को विद्या का संस्कार आजपर्यन्त होता चला आया है, अन्यथा कभी नहीं हो सकता।

किं च भोः! मनुष्याणां स्वाभाविकी या प्रवृत्तिर्भवति, तत्र सुखदुःखानुभवश्च, तयोत्तरोत्तरकाले[1] क्रमानुक्रमाद् विद्यावृद्धिर्भविष्यत्येव, पुनः किमर्थमीश्वराद् वेदोत्पत्तेः स्वीकार इति?

एवं प्राप्ते ब्रूमः—एतद् वेदोत्पत्तिप्रकरणे परिहृतम्।[2] तत्रैव निर्णयः—यथा नेदानीमन्येभ्यः पठनेन विना कश्चिदपि विद्वान् भवति तस्य ज्ञानोन्नतिश्च, तथा नैवेश्वरोपदेशागमेन[3] विना कस्यापि विद्याज्ञानोन्नति[4] र्भवेत् अशिक्षितबालकवनस्थवत्[5]। यथोपदेशमन्तरा न बालकानां वनस्थानां च विद्यामनुष्यभाषाविज्ञाने अपि[6] भवतः, पुनर्विद्योत्पत्तेस्तु का कथा? तस्मादीश्वरादेव या वेदविद्याऽऽगता, सा नित्यैवास्ति, तस्य सत्यगुणवत्त्वात्।

यन्नित्यं वस्तु वर्त्तते, तस्य नामगुणकर्माण्यपि नित्यानि भवन्ति, तदाधारस्य नित्यत्वात्। नैवाधिष्ठानमन्तरा नामगुणकर्मादयो गुणाः[7] स्थितिं लभन्ते, तेषां पराश्रितत्वात्। यन्नित्यं नास्ति, न तस्यैतान्यपि नित्यानि भवन्ति। नित्यं चोत्पत्तिविनाशाभ्यामितरद्वदितुमर्हति। उत्पत्तिर्हि पृथग्भूतानां द्रव्याणां या[8] संयोगविशेषाद् भवति। तेषामुत्पन्नानां कार्यद्रव्याणां सति वियोगे विनाशश्च संघाताभावात्। अदर्शनं च विनाशः[9]। ईश्वरस्यैकरसत्वान्नैव तस्य संयोगवियोगाभ्यां संस्पर्शोऽपि भवति। अत्र कणादमुनिकृतं सूत्रं प्रमाणमस्ति—

'सदकारणवन्नित्यम्' ॥ १ ॥ वैशेषिके अ० ४।सू० १ ॥[10]

---

१. अत्र 'तेनोत्तरोत्तरकाले' इति पाठो युक्तः प्रतिभाति। 'तया' पदेन प्रवृत्तेः परामर्शः। न च प्रवृत्त्यैवोत्तरोत्तरकालेऽपि ज्ञानवृद्धिर्भवितुमर्हति पशुवत्। तस्मात् सुखदुःखानुभवस्य परामर्शार्थं 'तेन' पाठो युक्तः। अनुभवेन ज्ञानवृद्धिः प्रत्यक्षं दृश्यते।

२. पूर्वत्र पृष्ठ १६। ३. आगमेन = प्राप्त्या।

४. विद्या च ज्ञानोन्नतिश्चेति इतरेतरयोगे 'विद्याज्ञानोन्नती' पाठेन भाव्यम्। समाहारे च 'विद्याज्ञानोन्नति' इति नपुंसकत्वं द्रष्टव्यम्। समाहारे नपुंसकत्वाभावोऽपि क्वचिद् दृश्यते। यथा—'**ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः**' (अष्टा० १।२।२७) इति सूत्रे। ५. अत्र '**अशिक्षितबालकवनस्थपुरुषवत्**' इति पाठो ज्यायान् प्रतिभाति।

६. वै० य० मुद्रितेषु षष्ठसंस्करणपर्यन्तं शुद्धः पाठ उपलभ्यते। अष्टमनवमयोस्तु संशोधकप्रमादाद-ज्ञानाद्वा '०भाषाविज्ञानेऽपि०' इति दुःसन्धिरपपाठः समजायत।

७. अत्र 'गुणाः' पदं प्रमादपठितमिव प्रतीयते, नामकर्मणोर्गुणत्वाभावात्। तस्मात् '०कर्मादयः स्थितिं' इति शुद्धः पाठो ज्ञेयः।

८. 'या' पदं प्रमादपठितं स्यात्, अन्वयाभावात्। यद्वा 'या संयोगविशेषात् संहतिर्भवति सोच्यते' इत्येवं पाठः कल्पनीयः, यत्तदोर्नित्यसंबन्धात्। ९. द्र०—णश अदर्शने। धातुपाठ ४।८३॥

१०. अत्र 'अ० ४, आ० १, सूत्र १' इत्येवं पाठो ज्ञेयः। प्रथमसंस्करणस्थे संशोधनपत्रे 'अ० ४, पा० ४, सू० १' इत्येवं संशोधितः पाठोऽप्यशुद्ध एव।

अस्यायमर्थः—यत्कार्यं कारणादुत्पद्य विद्यमानं भवति, तदनित्यमुच्यते, तस्य प्रागुत्पत्तेरभावात् । यत्तु कस्यापि कार्यं नैव भवति, किन्तु सदैव कारणरूपमेव तिष्ठति, तन्नित्यं कथ्यते ।

यद्यत्संयोगजन्यं तत्तत्कर्त्रपेक्षं भवति । कर्तापि संयोगजन्यश्चेत् तर्हि तस्याप्यन्योऽन्यः[1] कर्त्तास्तीत्यागच्छेत् । एवं पुनः पुनः प्रसङ्गादनवस्थापत्तिः । यच्च संयोगेन प्रादुर्भूतं, नैव तस्य प्रकृतिपरमाण्वादीनां संयोगकरणे सामर्थ्यं भवितुमर्हति, तस्मात् तेषां सूक्ष्मत्वात् । यद् यस्मात् सूक्ष्मं तत्तस्यात्मा[2] भवति, स्थूले सूक्ष्मस्य प्रवेशार्हत्वात्, अयोऽग्निवत् । यथा सूक्ष्मत्वादग्निः कठिनं स्थूलमयः प्रविश्य तस्यावयवानां पृथग्भावं करोति, यथा[3] जलमपि पृथिव्याः सूक्ष्मत्वात् तत्कणान् प्रविश्य संयुक्तमेकं पिण्डं करोति, छिनत्ति च, तथा परमेश्वरः संयोगवियोगाभ्यां पृथग्भूतो विभरस्त्यतो नियमेन रचनं विनाशं च कर्तुमर्हति, न चान्यथा । यथा संयोगवियोगान्तर्गतत्वान्नास्मदादीनां प्रकृतिपरमाण्वादीनां संयोगवियोगकरणे सामर्थ्यमस्ति, तथेश्वरेऽपि भवेत् ।

अन्यच्च—यतः संयोगवियोगारम्भो भवति, स तस्मात् पृथग्भूतोऽस्ति, तस्य संयोगवियोगारम्भस्याविकारणत्वात्[4] । आविकारणस्याभावात् संयोगवियोगारम्भस्यानुत्पत्तेश्च । एवंभूतस्य सदा निर्विकारस्वरूपस्याजस्यानादेर्नित्यस्य सत्यसामर्थ्यस्येश्वरस्य सकाशाद् वेदानां प्रादुर्भावात्, तस्य ज्ञाने सर्वेव वर्तमानत्वात् सत्यार्थवत्त्वं नित्यत्वं चैतेषामस्तीति सिद्धम् ।

—: इति वेदानां नित्यत्वविचारः :—

भाषार्थ—प्र०—मनुष्यों की स्वभाव से जो चेष्टा है, उसमें सुख और दुःख का अनुभव भी होता है । उससे उत्तर-उत्तरकाल में क्रमानुसार से विद्या की वृद्धि भी अवश्य होगी, तब वेदों को भी मनुष्य लोग रच लेंगे । फिर ईश्वर ने वेद रचे, ऐसा क्यों मानना ?

उ०—इसका समाधान वेदोत्पत्ति के प्रकरण में कर दिया है ।[5] वहां[6] यही निर्णय किया है कि जैसे इस समय में अन्य विद्वानों से पढ़े विना कोई भी विद्यावान् नहीं होता, और इसके विना किसी पुरुष में ज्ञान की वृद्धि भी देखने में नहीं आती, वैसे ही सृष्टि के आरम्भ में ईश्वरोपदेश की प्राप्ति के विना किसी मनुष्य की विद्या और ज्ञान की बढ़ती कभी नहीं हो सकती । इसमें अशिक्षित बालक और वनवासियों का दृष्टान्त दिया था कि—जैसे उस बालक और वन में रहनेवाले मनुष्य को यथावत् विद्या का ज्ञान नहीं होता, तथा अच्छी प्रकार उपदेश के विना उनको लोकव्यवहार का भी ज्ञान नहीं होता, फिर विद्या की प्राप्ति तो अत्यन्त कठिन है । इससे क्या जानना

---

१. 'तस्याप्यन्यः' इत्येव शुद्धः पाठोऽत्र ज्ञेयः । यद्वा 'तस्याप्यन्यस्तस्याप्यन्यः' इत्येवं पाठेन भाव्यम् । मुद्रितपाठस्त्वयुक्त इव प्रतिभाति ।

२. 'अतति व्याप्नोतीत्यात्मा,' व्यापक इत्यर्थः ।

३. वै० य० मुद्रिते 'तथा' इत्यपपाठः, उत्तरवाक्ये 'तथा' पदप्रयोगात् ।

४. वै० य० मुद्रिते '०वियोगारब्धस्यादि०' पाठ उपलभ्यते, सोऽपपाठः । प्रकृतेऽनन्वयात्, उत्तरवाक्ये च 'आरम्भ' शब्दस्यैव प्रयोगाच्च ।

५. द०—पूर्वत्र पृष्ठ १६ ॥

६. वै० य० मुद्रित में 'यहीं' अपपाठ है, संस्कृत में 'तत्र' पाठ है ।

चाहिये ? कि परमेश्वर के उपदेश [से] वेदविद्या [के] आने के पश्चात् ही मनुष्यों को विद्या और ज्ञान की उन्नति करनी भी सहज हुई है। क्योंकि उसके सभी गुण सत्य हैं। इससे उसकी विद्या जो वेद है, वह भी नित्य ही है।

जो नित्य वस्तु है, उसके नाम गुण और कर्म भी नित्य ही होते हैं। क्योंकि उनका आधार नित्य है। और विना आधार से नाम गुण और कर्मादि स्थिर नहीं हो सकते। क्योंकि वे द्रव्यों के आश्रय सदा रहते हैं। जो अनित्य वस्तु है, उसके नाम गुण और कर्म भी अनित्य होते हैं। सो नित्य किसको कहना ? जो उत्पत्ति और विनाश से पृथक् है। तथा 'उत्पत्ति' वह[1] कहाती है कि जो [पृथग्भूत] अनेक द्रव्यों के संयोगविशेष से स्थूल पदार्थ का उत्पन्न होना [है]। और जब वे पृथक्-पृथक् होके उन द्रव्यों के वियोग से जो कारण में उनकी परमाणुरूप अवस्था होती है, उसको 'विनाश' कहते हैं। और जो द्रव्य संयोग से स्थूल होते हैं, वे चक्षु आदि इन्द्रियों से देखने में आते हैं। फिर उन स्थूल द्रव्यों के परमाणुओं का जब वियोग हो जाता है, तब सूक्ष्म के होने से वे द्रव्य देख नहीं पड़ते, इसका नाम नाश है। क्योंकि अदर्शन को ही 'नाश' कहते हैं[2]। जो द्रव्य संयोग और वियोग से उत्पन्न और नष्ट होता है, उसी को कार्य और अनित्य कहते हैं। और जो संयोग और वियोग से अलग है, उसकी न कभी उत्पत्ति और न कभी [3]नाश होता है। ईश्वर में संयोग-वियोग नहीं होता। क्योंकि वह सदा अखण्ड एकरस ही बना रहता है। इसी से उसको 'नित्य' कहते हैं।

इसमें कणादमुनि के सूत्र का भी प्रमाण है—

(सदकार[4]०) जो किसी का कार्य है, कि कारण से उत्पन्न होके विद्यमान होता है, उसको 'अनित्य' कहते हैं [क्योंकि वह उत्पत्ति से पूर्व उस रूप में नहीं था]। जैसे मट्टी से घड़ा होके वह नष्ट भी हो जाता है [अर्थात् उसका जो कारण मट्टी है तद्रूप हो जाता है]। इसी प्रकार परमेश्वर के सामर्थ्य कारण से सब जगत् उत्पन्न होके विद्यमान होता है। फिर प्रलय में स्थूलाकार नहीं रहता, किन्तु वह कारणरूप तो सदा ही बना रहता है। इससे क्या आया ? कि जो विद्यमान हो और जिसका कारण कोई भी न हो, अर्थात् स्वयं कारणरूप ही हो, उसको 'नित्य' कहते हैं।

क्योंकि जो-जो संयोग से उत्पन्न होता है, सो-सो बनानेवाले की अपेक्षा अवश्य रखता है। जैसे कर्म नियम और कार्य ये सब कर्त्ता नियन्ता और कारण की ही सदा अपेक्षा रखते[5] हैं। और जो कोई ऐसा कहे कि कर्त्ता को भी किसी ने बनाया होगा, तो उससे पूछना चाहिये—'उस कर्त्ता के कर्ता को किसने बनाया है'? इसी प्रकार यह अनवस्था प्रसंग अर्थात् मर्यादा-रहित होता है।

---

१. वै० य० मुद्रित में 'क्या' पाठ है।

२. नाश शब्द जिस णश (=नश) धातु से बनता है, उसका अर्थ पाणिनि ने 'अदर्शन' ही पढ़ा है—'णश अदर्शने' (धातुपाठ ४।८३)।

३. वै० य० मुद्रित में 'नाश होता है। इस प्रकार का पदार्थ एक परमेश्वर और दूसरा जगत् का कारण है क्योंकि' अपपाठ है।

४. वै० य० मुद्रित में 'सत्कार०' अपपाठ है।

५. वै० य० मुद्रित में 'कारण को ही सदा जनाते हैं' पाठ है।

जिसकी मर्यादा नहीं है, वह व्यवस्था के योग्य नहीं ठहर सकता। और जो संयोग से उत्पन्न होता है, वह प्रकृति और परमाणु आदि के संयोग करने में समर्थ ही नहीं हो सकता। इससे क्या आया? कि जो जिससे सूक्ष्म होता है वही उसका आत्मा[1] होता है, अर्थात् स्थूल में सूक्ष्म व्यापक होता है। जैसे लोहे में अग्नि प्रविष्ट होके उसके सब अवयवों में व्याप्त होता है, और जैसे जल पृथ्वी [के कणों] में प्रविष्ट होके उसके कणों के संयोग से पिण्डा करने में हेतु होता है, तथा उसका छेदन भी करता है, वैसे ही परमेश्वर सब संयोग और वियोग से पृथक्, सब में व्यापक, प्रकृति परमाणु आदि से भी अत्यन्त सूक्ष्म और चेतन है। इसी कारण से प्रकृति और परमाणु आदि द्रव्यों के संयोग करके जगत् को रच सकता है। जो ईश्वर उनसे स्थूल होता, तो उनका ग्रहण-रचन कभी नहीं कर सकता। क्योंकि जो स्थूल पदार्थ होते हैं, वे सूक्ष्म पदार्थों के नियम करने में समर्थ नहीं होते। जैसे हम लोग प्रकृति और परमाणु आदि के संयोग और वियोग करने में समर्थ नहीं हैं। क्योंकि जो संयोग-वियोग के भीतर[2] है, वह उसके संयोग-वियोग करने में समर्थ नहीं हो सकता।

तथा जिससे संयोग-वियोग का आरम्भ होता है, वह संयोग और वियोग से अलग ही होता है। क्योंकि वह संयोग और वियोग के आरम्भ का कर्त्ता और आदिकरण होता है। तथा आदिकरण के अभाव से संयोग और वियोग का होना ही असम्भव है। इससे क्या जानना चाहिये? कि जो सदा निर्विकारस्वरूप अज अनादि नित्य सत्यसामर्थ्य से युक्त और अनन्त विद्यावाला ईश्वर है, उसकी विद्या से वेदों के प्रकट होने और उसके ज्ञान में वेदों के सदैव वर्तमान रहने से वेदों को सत्यार्थयुक्त और नित्य सब मनुष्यों को मानना योग्य है। यह संक्षेप से वेदों के नित्य होने का विचार किया।

इति वेदानां नित्यत्वविचारः

१. आत्मा = व्यापक, 'अत सातत्यगमने'। धातुपाठ १।३१॥

२. भीतर अर्थात् स्वयं संयोगवियोगवान् है।

अथ वेदविषयविचारः

अत्र चत्वारो वेदविषयाः सन्ति, विज्ञानकर्मोपासनाज्ञानकाण्डभेदात्[1]। तत्रादिमो विज्ञानविषयो हि सर्वेभ्यो मुख्योऽस्ति[2]। तस्य परमेश्वरादारभ्य तृणपर्यन्तपदार्थेषु साक्षाद् बोधान्वयत्वात्। तत्रापीश्वरानुभवो मुख्योऽस्ति। कुतः? अत्रैव सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमस्ति[3], ईश्वरस्य खलु सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यः प्रधानत्वात्। अत्र प्रमाणानि—

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्'॥

कठोपनि० वल्ली २। मं० १५॥

'तस्य वाचकः प्रणवः'॥ योगशास्त्रे अ० १।[4] पा० १। सूत्र २७॥

'ओ३म् खं ब्रह्म'॥ यजुः अ० ४०॥[5]

'ओमिति ब्रह्म'॥ तैत्तिरीयारण्यके प्र० ७। अनु० ८॥

'तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते॥ १॥

'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद् भूतयोनिं[7] परिपश्यन्ति धीराः॥ २॥[8] मुण्डके १। खण्डे १। मं० ५-६॥

---

१. नात्र वेदक्रमानुसारं विज्ञानादीनां क्रमोऽभिप्रेतः। यतो हि ग्रन्थकारः स्वयं प्रतिज्ञाविषये प्रश्नोत्तरविषये च ऋग्वेदे ज्ञानकाण्डम्, यजुर्वेदे कर्मकाण्डम्, सामवेद उपासनाकाण्डम्, अथर्ववेदे च विज्ञानकाण्डमस्तीति वक्ष्यति। तत्र काठकब्राह्मणमपि चतुर्णां वेदानां विषयमुपवर्णयन्नाह—

यदेनमृग्भिः शंसन्ति, यजुर्भिर्यजन्ति, सामभिः स्तुवन्ति, अथर्वभिर्जपन्ति। डॉ०—डा० कालण्डेन सम्पादितं काठकब्राह्मणसंकलनम्। वै० वा० इतिहास, ब्राह्मण-आरण्यक भाग, पृष्ठ २६६ पर उद्धृत।

२. विज्ञानकाण्डस्य प्राधान्यं ग्रन्थकारः प्रतिज्ञाविषयेऽपि प्रतिपादयिष्यति—'**एवं काण्डत्रयेण योऽभिनिष्पन्नः उपकारो गृह्यते तच्च विज्ञानकाण्डमिति।**

३. एतस्मिन् विषये उत्तरत्र वक्ष्यते विशेषेण।

४. अध्यायस्यात्र निर्देशो व्यर्थः, तत्र पादचतुष्टयानामेव सद्भावात्। ५. मन्त्र १७।

६. उपनिषदि 'यत्तदद्रेश्य०' इत्येवं पाठः, अर्थस्तु स एव।

७. उपनिषदि 'तद् भूतयोनिं' इत्येवं पाठ उपलभ्यते। ८. अस्य व्याख्यानमत्र न कृतम्।

एषामर्थः—(सर्वे वेदाः०) यत्परमं पदं मोक्षाख्यं परब्रह्मप्राप्तिलक्षणं सर्वानन्दमयं सर्वदुःखेतरदस्ति, तदेवौङ्कारवाच्यमस्ति। (तस्य०) तस्येश्वरस्य प्रणव ओङ्कारो वाचकोऽस्ति, वाच्यश्चेश्वरः। (ओम्०) ओमिति परमेश्वरस्य नामास्ति। तदेव परं ब्रह्म सर्वे वेदा आमनन्ति, आसमन्तादभ्यस्यन्ति, मुख्यतया प्रतिपादयन्ति। (तपांसि०) सत्यधर्मानुष्ठानानि तपांस्यपि तदभ्यासपराण्येव सन्ति। (यदिच्छन्तो०) ब्रह्मचर्यग्रहणमुपलक्षणार्थं, ब्रह्मचर्यगृहस्थवानप्रस्थसंन्यासाश्रमाचरणानि सर्वाणि तदेवामनन्ति, ब्रह्मप्राप्त्यभ्यासपराणि सन्ति। यद् ब्रह्मेच्छन्तो विद्वांसस्तस्मिन्नध्यासमाना वदन्त्युपविशन्ति च। हे नचिकेतः! अहं यमो यदीदृशं पदमस्ति तदेतत्ते तुभ्यं संग्रहेण संक्षेपेण ब्रवीमि॥

(तत्रापरा०) वेदेषु द्वे विद्ये वर्तेते, अपरा परा चेति। तत्र यया पृथिवीतृणमारभ्य प्रकृतिपर्यन्तानां पदार्थानां ज्ञानेन यथावदुपकारग्रहणं क्रियते सा अपरोच्यते। यया चादृश्यादिविशेषणयुक्तं सर्वशक्तिमद् ब्रह्म विज्ञायते, सा पराऽर्थादपरायाः सकाशादत्युत्कृष्टास्तीति वेद्यम्।

भाषार्थ—अब वेदों के नित्यत्वविचार के उपरान्त वेदों में कौन-कौन विषय किस-किस प्रकार के हैं, इसका विचार किया जाता है। वेदों में अवयवरूप विषय तो अनेक हैं, परन्तु उनमें से चार मुख्य हैं—(१) एक 'विज्ञान' अर्थात् सब पदार्थों को यथार्थ जानना, (२) दूसरा 'कर्म', (३) तीसरा 'उपासना', और (४) चौथा 'ज्ञान' है। 'विज्ञान' उसको कहते हैं कि जो कर्म उपासना और ज्ञान इन तीनों से यथावत् उपयोग लेना, और परमेश्वर से लेके तृणपर्यन्त पदार्थों के साक्षाद् बोध का होना, उनसे यथावत् उपयोग का करना। इससे यह विषय इन चारों में प्रधान है[1]। सो भी दो प्रकार का है—एक तो परमेश्वर का यथावत् ज्ञान, और उसकी आज्ञा का बराबर पालन करना। और दूसरा यह है कि उसके रचे हुए सब पदार्थों के गुणों को यथावत् विचारके उनसे कार्य सिद्ध करना। अर्थात् ईश्वर के कौन-कौन पदार्थ किस-किस प्रयोजन के लिये रचे हैं। और इन दोनों में से भी ईश्वर का जो प्रतिपादन है सो ही प्रधान है। क्योंकि इसी में वेदों का मुख्य तात्पर्य है।[2]

इसमें आगे कठवल्ली आदि के प्रमाण लिखते हैं—(सर्वे वेदाः०) परमपद अर्थात् जिसका नाम मोक्ष है, जिसमें परब्रह्म को प्राप्त होके सदा[3] सुख में ही रहना, जो सब आनन्दों से युक्त सब

१. इससे आगे वै० य० मुद्रित में 'क्योंकि इसी में वेदों का मुख्य तात्पर्य है' पंक्ति है। यह अस्थान में होने के कारण हमने इसे इस संदर्भ के अन्त में यथास्थान रख दिया है।

२. द्र० इसी पृष्ठ की टिप्पणी १।

३. सदा का 'अर्थ मोक्ष-कालावधिपर्यन्त काल' ही समझना चाहिये। मीमांसा में '**पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति सर्वान् लोकान् जयति**' आदि में प्रयुक्त 'सर्व' पद के अर्थ पर विचार करते हुए लिखा है—'**सर्वत्वमाधिकारिकम्**' (मीमांसा १।२।१६)। सर्व का अर्थ 'कृत्स्न' नहीं है, अपितु जिसका जितना अधिकार है, तद्विषयक सर्वत्व समझना चाहिये। अर्थात् पूर्णाहुति से जितने अधिकार की प्राप्ति सम्भव है, उतना पूर्णाधिकार प्राप्त होता है। इसी प्रकार यहां भी मोक्ष का जितना काल है, वह सदा शब्द से कहा गया है, ऐसा समझना चाहिए।

दुःखों से रहित और सर्वशक्तिमान् परब्रह्म है, जिसके नाम 'ओम्' आदि हैं, उसी में सब वेदों का मुख्य तात्पर्य है। इसमें योगसूत्र [यजुर्वेद और तैत्तिरीय आरण्यक][1] का भी प्रमाण है–(तस्य०) परमेश्वर का ही ओंकार नाम है। (ओं खं०) तथा (ओमिति०) ओं और खं ये दोनों ब्रह्म के नाम हैं। और उसी की प्राप्ति कराने में सब वेद प्रवृत्त हो रहे हैं। उसकी प्राप्ति के आगे किसी पदार्थ की प्राप्ति उत्तम नहीं है। क्योंकि जगत् का वर्णन, दृष्टान्त और उपयोगादि का करना, ये सब [उसी] परब्रह्म को ही प्रकाशित करते हैं। तथा सत्यधर्म के अनुष्ठान, जिनको तप कहते हैं, वे भी परमेश्वर की ही प्राप्ति के लिये हैं। तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम के सत्याचरणरूप जो कर्म हैं, वे भी परमेश्वर की ही प्राप्ति कराने के लिये हैं, जिस ब्रह्म की प्राप्ति की इच्छा करके विद्वान लोग प्रयत्न और उसी का उपदेश भी करते हैं। नचिकेता और यम इन दोनों का परस्पर यह संवाद है कि–हे नचिकेतः! जो अवश्य प्राप्ति करने के योग्य परब्रह्म है, उसी का मैं तेरे लिये संक्षेप से उपदेश करता हूं।[2] और यहां यह भी जानना उचित है कि अलंकार-रूप कथा से नचिकेता नाम से जीव और यम से अन्तर्यामी परमात्मा को समझना चाहिये।[2]

(तत्रापरा०) वेदों में दो विद्या हैं—एक अपरा, दूसरी परा। इनमें से अपरा यह है कि जिससे पृथिवी और तृण से लेके प्रकृतिपर्यन्त पदार्थों के गुणों के ज्ञान से ठीक-ठीक कार्य सिद्ध करना होता है। और दूसरी परा कि जिससे सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की यथावत् प्राप्ति होती है। यह परा विद्या अपरा विद्या से अत्यन्त उत्तम है, क्योंकि अपरा का ही उत्तम फल परा[3] विद्या है।

[4][(यत्तदद्रश्यम्०) उस ब्रह्म का ज्ञानेन्द्रियों से ग्रहण नहीं होता, हस्त से पकड़ा नहीं जा

अनेक ज्ञानविदग्ध इन शास्त्रीय नियमों के अज्ञान के कारण विवाह-प्रकरण में पठित '**इहैव स्तं मा वियोष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्**' अर्थात् कृत्स्न आयु पर्यन्त घर में ही रहना चाहिए, अर्थात् वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम अवैदिक है, ऐसा प्रचार करते हैं, वह ठीक नहीं। यहां भी 'विश्वमायुः' का अर्थ गृहस्थाश्रम के लिये नियत आयु ही अर्थ है, न कि कृत्स्न आयु।

१. यह कोष्ठान्तर्गत पाठ वै० य० मुद्रित सं० ६ में कोष्ठक में ही परिवर्धित किया गया है।

२. 'और यहां...समझना चाहिए' वाक्य संस्कृतपाठ में नहीं है। अतः इसकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है।

३. वैदिक मतानुसार प्राकृत जगत् का जिसे भले प्रकार ज्ञान हो जाता है, वही मुक्ति का अधिकारी होता है। इसीलिए वैदिक धर्म में ज्ञान की महती स्तुति उपलब्ध होती है। उपनिषद् में कहा है—'**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**'। यजुर्वेद में विराट्, पुरुष, प्रजापति, हिरण्यगर्भ आदि नामों से आधिदैविक पक्ष में प्राकृतिक महद्‌दण्ड और उससे निर्मित जगत् को जानकर ही विद्वान् मृत्यु का अतिक्रमण करता है, ऐसा कहा है—**वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय**॥[यजुः ३१।१८।] यजुर्वेद के ४०वें अध्याय में भी कहा है—'**विद्ययाऽमृतमश्नुते**' (मं० १४)। इसीलिए ऋषि दयानन्द ने अपरा विद्या=सृष्टिविद्या को पुष्प-स्थानीय मान कर परा विद्या को फल-स्थानीय कहा है। यहां निरुक्त १,१६ भी द्रष्टव्य है।

४. '**यत्तदद्रश्यं**' प्रमाण का अर्थ संस्कृत में भी नहीं है, सम्भव है सुगमार्थ होने से वहां अर्थ न दिया होगा। परन्तु भाषानुवाद में भी इसकी व्याख्या वै० य० मुद्रित में नहीं मिलती। अतः हमने इसका अर्थ कोष्ठक में बढ़ा दिया है।

सकता, उसका कोई गोत्र वा वर्ण नहीं, वह नेत्र और कर्ण से रहित है, उसके हाथ और पांव नहीं, वह नित्य है, व्यापक है, सर्वान्तर्यामी है, सूक्ष्म है, नाशरहित है। इस सम्पूर्ण जगत् के कारण ब्रह्म को जो ध्यान द्वारा साक्षात् करते हैं, वे धीर मनुष्य हैं।]

अन्यच्च—

'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम् ॥१॥'

ऋग्वेदे अष्टके १, अध्याये २, वर्गे ७, मन्त्रः ५ ॥[1]

अस्यायमर्थः—यत् (विष्णोः) व्यापकस्य परमेश्वरस्य (परमम्) प्रकृष्टानन्दस्वरूपं (पदम्) पदनीयं सर्वोत्तमोपायैर्मनुष्यैः प्रापणीयं मोक्षाख्यमस्ति, तत् (सूरयः०) विद्वांसः सदा सर्वेषु कालेषु पश्यन्ति। कीदृशं तत्? (आततम्) आसमन्तात् ततं विस्तृतं यद् देशकालवस्तुपरिच्छेदरहितमस्ति, अतः सर्वैः सर्वत्र तदुपलभ्यते, तस्य ब्रह्मस्वरूपस्य विभुत्वात्। कस्यां किमिव? (दिवीव चक्षुराततम्) दिवि मार्तण्डप्रकाशे नेत्रदृष्टेर्व्याप्तिर्यथा भवति,[2] तथैव तत्पदं ब्रह्मापि वर्तते। मोक्षस्य च सर्वस्मादधिकोत्कृष्टत्वात् तदेव द्रष्टुं प्राप्तुमिच्छन्ति। अतो वेदा विशेषेण तस्यैव प्रतिपादनं कुर्वन्ति।

एतद्विषयकं वेदान्तसूत्रं व्यासोऽप्याह—

'तत्तु समन्वयात्' ॥ अ० १। पा० १। सू० ४॥

अस्यायमर्थः—तदेव ब्रह्म सर्वत्र वेदवाक्येषु समन्वितं प्रतिपादितमस्ति। क्वचित् साक्षात् क्वचित् परम्परया च[3]। अतः परमोऽर्थो वेदानां ब्रह्मैवास्ति।

तथा यजुर्वेदे प्रमाणम्—

'यस्मान्न जातः परोऽअन्योऽअस्ति यऽआविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणि ज्योतीꣳषि सचते स षोडशी ॥'

य० अ० ८। मं ३६॥

---

१. यह मन्त्रसंख्या वर्गान्तर्गत मन्त्र की संख्या है, ऐसा जानना चाहिए। सूक्तक्रमानुसार इसका पता होगा—मं० १, सूक्त २२, मन्त्र २०॥ ऐसा ही सर्वत्र समझें। ग्रन्थकार ने अपने अनेक ग्रन्थों में अष्टक अध्याय वर्ग विभागानुसार ही ऋङ्मन्त्रों के पते दिए हैं।

२. उपमा द्विविधा ज्यायसी हीना च (द्र०—निरुक्त ३।१३-१४)। यत्र श्रेष्ठेन हीन उपमीयते सा ज्यायसी, हीनेन च श्रेष्ठ उपमीयते सा हीना। प्रकृतमन्त्रे सर्वव्यापकस्य विष्णोः पददर्शनं दिव्याततेन चक्षुषोपमीयते, यतः प्राकृतजगत्यप्यस्माकं चक्षुः कणवद वर्तते, तस्मादेषा हीनोपमा ज्ञेया।

३. एतस्य विशेषव्याख्यानं ग्रन्थकृता प्रतिज्ञाविषये करिष्यते—'**यस्य यस्य मन्त्रस्य**' इत्यारभ्य '**कार्यस्येश्वरेण सहान्वयाश्च**' इत्यन्तेन प्रकरणेन।

एतस्यार्थः – (यस्मात्[1]) नैव परब्रह्मणः सकाशात् (परः) उत्तमः पदार्थः (जातः) प्रादुर्भूतः प्रकटः (अन्यः) भिन्नः कश्चिदप्यस्ति। (प्रजापतिः) प्रजापतिरिति ब्रह्मणो नामास्ति, प्रजापालकत्वात् (य आविवेश भु० –) यः परमेश्वरः (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि (भुवनानि) सर्वलोकान् (आविवेश) व्याप्तवान् अस्ति, (सꣳरराणः) सर्वप्राणिभ्योऽत्यन्तं सुखं दत्तवान् सन् (त्रीणि ज्योतीꣳषि) त्रीण्यग्निसूर्यविद्युदाख्यानि सर्वजगत्-प्रकाशकानि (प्रजया) ज्योतिषोऽन्यया सृष्ट्या सह तानि (सचते) समवेतानि करोति कृतवानस्ति, अतः[2] (सः) स एवेश्वरः (षोडशी) येन षोडशकला[3] जगति रचिताः, ता विद्यन्ते यस्मिन् यस्य वा तस्मात् स षोडशीत्युच्यते। अतोऽयमेव परमोऽर्थो वेदितव्यः।

'ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानम्' ॥

इदं माण्डूक्योपनिषद्वचनमस्ति ॥

अस्यायमर्थः—ओमित्येतद्यस्य नामास्ति तदक्षरम्, यन्न क्षीयते कदाचिद् यच्चराचरं जगदश्नुते व्याप्नोति तद् ब्रह्मैवास्तीति विज्ञेयम्। अस्यैव सर्वैर्वेदादिभिः शास्त्रैः सकलेन जगता वोपगतं व्याख्यानं मुख्यतया क्रियतेऽतोऽयं प्रधानविषयोऽस्तीत्यवधार्यम्।

किं च, नैव प्रधानस्याग्रेऽप्रधानस्य ग्रहणं भवितुमर्हति। 'प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययः' इति व्याकरणमहाभाष्यवचन[4]प्रामाण्यात्। एवमेव सर्वेषां वेदानामीश्वरे मुख्येऽर्थे मुख्यतात्पर्यमस्ति। तत्प्राप्तिप्रयोजना एव सर्वे उपदेशाः सन्ति। यतस्तदुपदेशपुरःसरेणैव त्रयाणां कर्मोपासनाज्ञानकाण्डानां पारमार्थिकव्यावहारिकफलसिद्धये यथायोग्योपकाराय चानुष्ठानं सर्वैर्मनुष्यैर्यथावत् कर्त्तव्यमिति।

भाषार्थ—और भी इस विषय में ऋग्वेद का प्रमाण है कि—(तद्वि०)। (विष्णोः) अर्थात् व्यापक जो परमेश्वर है उसका (परमम्) अत्यन्त उत्तम आनन्दस्वरूप (पदम्) जो प्राप्ति होने के योग्य अर्थात् जिसका नाम मोक्ष है, उसको (सूरयः) विद्वान् लोग (सदा पश्यन्ति) सब काल में देखते हैं। वह कैसा है? सब में व्याप्त हो रहा है, और उसमें देश काल और वस्तु का भेद नहीं है। अर्थात् उस देश में है और इस देश में नहीं, तथा उस काल में था इस काल में नहीं, उस वस्तु में है और इस वस्तु में नहीं [ऐसा भेद नहीं है।] इसी कारण से वह पद सब जगह में सबको प्राप्त होता है। क्योंकि वह ब्रह्म सब ठिकाने परिपूर्ण है। इसमें यह दृष्टान्त है कि (दिवीव

१. इह 'यस्मान्न' इत्येवं प्रतीकग्रहणं युक्ततरं स्यात्।

२. वै० य० मुद्रिते '(सः) अतः स' इत्येवं पूर्वापरपाठः।

३. षोडशकलाः (प्रश्नो० ६।४) अग्रे भाषानुवादे परिगणितास्तत्र द्रष्टव्याः।

४. महाभाष्ये नैतद् वचनं साक्षात् पठ्यते। महाभाष्ये तु द्विः कृत्वाऽयमर्थो निर्दिश्यते। तद्यथा—'प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययाच्छेषो भविष्यति' (१।२।६९ सूत्रभाष्ये) 'प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययो भवति' (३।१।१ सूत्रभाष्ये)। वैयाकरणैस्तु 'प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययः' इति वचनं परिभाषारूपेण पठ्यते। एतस्याप्य मूलमुक्तभाष्यवचनमेव। तदुक्तं परिभाषेन्दुशेखरे नागेशेन—'स्पष्टा चेयं पुमान् स्त्रिया नपुंसकमनपुंसकेनैत्यनयोर्भाष्ये' इति (द्र० – परिभाषा १०६)।

चक्षुराततम्) जैसे[1] आकाश में व्याप्त सूर्य के प्रकाश में[1] नेत्र की दृष्टि व्याप्त होती है,[2] इसी प्रकार परब्रह्म पद भी स्वयंप्रकाश, सर्वत्र व्याप्तवान् हो रहा है। उस पद की प्राप्ति से कोई भी प्राप्ति उत्तम नहीं है। इसलिये चारों वेद उसी की प्राप्ति कराने के लिये विशेष करके प्रतिपादन कर रहे हैं।

इस विषय में वेदान्तशास्त्र में व्यासमुनि के सूत्र का भी प्रमाण है—(तत्तु समन्वयात्)। सब वेदवाक्यों में ब्रह्म का ही विशेष करके प्रतिपादन है। कहीं-कहीं साक्षात्रूप और कहीं-कहीं परम्परा से[3]। इसी कारण से वह परब्रह्म वेदों का परम अर्थ है।

तथा इस विषय में यजुर्वेद का भी प्रमाण है कि—(यस्मान्न जा०)। जिस परब्रह्म से (अन्यः) दूसरा कोई भी (परः) उत्तम पदार्थ (जातः) प्रकट (नास्ति) अर्थात् नहीं है, (य आविवेश भु०) जो सब विश्व अर्थात् सब जगह में व्याप्त हो रहा है, (प्रजापतिः प्र०) वही सब जगत् का पालनकर्ता और अध्यक्ष है, [तथा (स ँ्रराणः) सब प्राणियों को सुख देता है,] जिसने (त्रीणि ज्योतीँषि) अग्नि, सूर्य और बिजली इन तीन ज्योतियों को सर्वजगत्[4] के प्रकाश होने के लिये [(प्रजया) इन ज्योतियों से अन्य सृष्टियों के साथ] (सचते) रचके संयुक्त किया है, और जिसका नाम (षोडशी) है, अर्थात् (१) ईक्षण—जो यथार्थ विचार (२) प्राण—जो कि सब विश्व का धारण करनेवाला (३) श्रद्धा—सत्य में विश्वास (४) आकाश (५) वायु (६) अग्नि (७) जल (८) पृथिवी (९) इन्द्रिय (१०) मन अर्थात् ज्ञान (११) अन्न (१२) वीर्य, अर्थात् बल और पराक्रम (१३) तप, अर्थात् धर्मानुष्ठान सत्याचार (१४) मन्त्र, अर्थात् वेदविद्या (१५) कर्म, अर्थात् सब चेष्टा (१६) नाम, अर्थात् दृश्य और अदृश्य पदार्थों की संज्ञा, ये ही सोलह कला कहाती हैं। ये सब ईश्वर ही के बीच में हैं, इससे उसको 'षोडशी' कहते हैं। इन षोडश कलाओं का प्रतिपादन प्रश्नोपनिषद् के ६ छठे प्रश्न में लिखा है।[5]

---

१. वै० य० मुद्रित में 'जैसे सूर्य का प्रकाश आवरणरहित आकाश में व्याप्त होता है, और जैसे उसके प्रकाश में' पाठ मन्त्र तथा ग्रन्थकार कृत संस्कृत व्याख्यान से विरुद्ध है।

२. उपमा दो प्रकार की होती हैं एक ज्यायसी उपमा, दूसरी हीनोपमा (द्र०—निरुक्त ३।१३,१४)। जहां किसी की श्रेष्ठ वस्तु से उपमा दी जाती है वह ज्यायसी उपमा होती है, और जहां उपमेय से हीन पदार्थ द्वारा उपमा दी जाती है वह हीनोपमा कहाती है। यहां प्रकृत मन्त्र में सर्वव्यापक विष्णु के पद-दर्शन को द्यु प्रकाश में विस्तृत चक्षु की व्याप्ति से उपमा दी है। अतः यह हीनोपमा है। सारा प्राकृत जगत् विष्णु के एक पाद में है (तीन पाद अमृतरूप हैं—यजुः ३१।३)। उस एकपाद् जगत् में हमारी चक्षु तो एक कणवद् है।

३. इस विषय में ग्रन्थकार ने 'प्रश्नोत्तर विषय' में विशेषरूप से प्रतिपादन किया है।

४. वै० य० मुद्रित में 'सर्वजगत्' के स्थान में 'प्रजा' पाठ है।

५. उक्त षोडशकलाओं और प्रश्नोपनिषद् में निर्दिष्ट नामों में एक नाम का अन्तर है। इनका निर्देश ग्रन्थकार ने यजुर्भाष्य ८।३६; ३२।५ तथा आर्याभिविनय प्र० २, मं० १४ में भी किया है, वहां भी कुछ अन्तर है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में षोडश कलाओं का ४।२५ तथा १।४६ में उल्लेख मिलता है। दोनों ही स्थानों का वर्णन परस्पर में तथा प्रश्नोपनिषद् के निर्देश से सर्वथा भिन्न है। इस सबका निर्देश इस प्रकार है—

[(ओमित्येतत्) ओम् यह जिसका नाम है, वह अक्षर है, उसका कभी नाश नहीं होता। वही चराचर जगत् में व्याप्त है, वही ब्रह्म है। इसी का ही वेदादि सकल शास्त्रों से व्याख्यान मुख्यतया किया जाता है।] इससे परमेश्वर ही वेदों का मुख्य अर्थ है, और उससे पृथक् जो यह जगत् है सो वेदों का गौण अर्थ है[1]। और इन दोनों में से प्रधान का ही ग्रहण होता है। इससे क्या आया कि वेदों का मुख्य तात्पर्य परमेश्वर ही की प्राप्ति कराने और प्रतिपादन करने में है। उस परमेश्वर से उपदेशरूप वेदों के कर्म उपासना और ज्ञान इन तीनों काण्डों का इस लोक और

	प्रश्नोप० ६।४	यभा ८।३६	यभा ३२।५	ऋभाभूपृ० ५४	आर्या २।१४	जैउब्रा ४।२४	जैउब्रा १।४६
		इच्छा		ईक्षण	ईक्षण		
१	प्राण	प्राण	प्राण	प्राण	प्राण	सत्)	भद्र
२	श्रद्धा	श्रद्धा	श्रद्धा	श्रद्धा	श्रद्धा	असत्)	समाप्ति
३	ख (आकाश)	आकाश	आकाश	आकाश	आकाश	असत्)	आभूति
४	वायु	वायु	वायु	वायु	वायु	सत्)	संभूति
५	ज्योति	अग्नि	अग्नि	अग्नि	अग्नि	वाक्)	भूत
६	आपः	आपः	जल	जल	जल	मनः)	सर्व
७	पृथिवी	पृथिवी	पृथिवी	पृथिवी	पृथिवी	मनः)	रूप
८	इन्द्रिय	इन्द्रिय	इन्द्रिय	इन्द्रिय	इन्द्रिय	वाक्)	अपरिमित
९	मनः	मनः	मनः	मनः	मनः	चक्षुः)	श्री
१०	अन्न	अन्न	अन्न	अन्न	अन्न	श्रोत्र)	यशः
११	वीर्य	वीर्य	वीर्य	वीर्य	वीर्य	श्रोत्र)	नाम
१२	तपः	तपः	तपः	तपः	तपः	चक्षुः)	अग्र
१३	मन्त्र	मन्त्र	मन्त्र	मन्त्र	मन्त्र	श्रद्धा)	सजात
१४	कर्म		कर्म	कर्म	कर्म	तपः)	पयः
१५	लोक	लोक	लोक		लोक)	तपः)	महीयस्
१६	नाम	नाम	नाम	नाम	लोकों के नाम)	श्रद्धा)	रस

इन सब स्थानों में जैमिनि उपनिषद् की दोनों षोडश कलायें प्रश्नोपनिषद् से भिन्न हैं। यजुर्वेदभाष्य ३२।५ में षोडश कलाओं का निर्देश ठीक प्रश्नोपनिषद् के अनुसार है। यजुर्भाष्य ८।३६, ऋभाभूमिका तथा आर्याभिविनय में प्राण से पूर्व **'इच्छा'** वा **'ईक्षण'** (दोनों समानार्थक हैं) का समानरूप से निर्देश मिलता है। परन्तु इच्छा वा ईक्षण की वृद्धि हो जाने से १६ की संख्या की पूर्ति के लिए यभा ८।३६ में **'कर्म'** को छोड़ा है, और ऋभाभूमिका में **'लोक'** को, आर्याभिविनय में **'लोक लोकों के नाम'** को सम्भवतः इकट्ठा गिना है, अन्यथा एक संख्या की वृद्धि होगी। इस प्रकार यभा ८।३६ के अतिरिक्त ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों में सर्वत्र कुछ-कुछ भेद उपलब्ध होता है। केन उपनिषद् में प्राण से पूर्व **'ईक्षण'** का निर्देश तो अवश्य है, परन्तु उसकी षोडश कलाओं में गणना नहीं है।

१. अर्थात् वेद का विज्ञान परक आधिदैविक व्याख्यान आध्यात्मिक व्याख्यान की अपेक्षा गौण है, याज्ञिक व्याख्यान उससे भी गौणतर है। याज्ञिक आधिदैविक और आध्यात्मिक में पूर्व पूर्व की अपेक्षा उत्तर उत्तर की श्रेष्ठता निरुक्तकार ने **याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा** (निरुक्त १।२०) में पुष्प और फल शब्दों से दर्शाई है।

परलोक के व्यवहारों के फलों की सिद्धि और यथावत् उपकार करने के लिये सब मनुष्य इन चार विषयों के अनुष्ठानों में पुरुषार्थ करें। यही मनुष्यदेह धारण करने के फल हैं।

तत्र द्वितीयो विषयः कर्मकाण्डाख्यः, स सर्वः क्रियामयोऽस्ति। नैतेन विना विद्याभ्यासज्ञाने अपि पूर्णे भवतः। कुतः? बाह्यमानसव्यवहारयोर्बाह्याभ्यन्तरे युक्तत्वात्। स चानेकविधोऽस्ति। परंतु तस्यापि खलु द्वौ भेदौ मुख्यौ स्तः—एकः परमपुरुषार्थसिद्धयर्थोऽर्थाद् य ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाज्ञापालनधर्मानुष्ठानज्ञानेन मोक्षमेव साधयितुं प्रवर्त्तते। अपरो लोकव्यवहारसिद्धये यो धर्मेणार्थकामौ निर्वर्त्तयितुं संयोज्यते।

स यदा परमेश्वरस्य प्राप्तिमेव फलमुद्दिश्य क्रियते तदाऽयं श्रेष्ठफलापन्नो निष्कामसंज्ञां लभते, अस्य खल्वनन्तसुखेन योगात्[1]। यदा चार्थकामफलसिद्धयवसानो लौकिकसुखाय योज्यते, तदा सोऽपरः सकाम एव भवति। अस्य जन्ममरणफलभोगेन युक्तत्वात्[2]।

स चाग्निहोत्रमारभ्याश्वमेधपर्यन्तेषु यज्ञेषु सुगन्धिमिष्टपुष्टरोगनाशकगुणैर्युक्तस्य सम्यक् संस्कारेण शोधितस्य द्रव्यस्य वायुवृष्टिजलशुद्धिकरणार्थमग्नौ होमः क्रियते, स तद्द्वारा सर्वजगत्सुखकार्येव भवति। यं च भोजनाच्छादनयानकलाकौशलयन्त्रसामाजिकनियमप्रयोजनसिद्धयर्थं विधत्ते सोऽधिकतया स्वसुखायैव भवति।

भावार्थ—उनमें से दूसरा कर्मकाण्ड [का] विषय है, सो सब क्रियाप्रधान ही होता है। जिसके विना विद्याभ्यास और ज्ञान पूर्ण नहीं हो सकते। क्योंकि मन का योग बाहर की क्रिया और भीतर के व्यवहार में सदा रहता है। वह अनेक प्रकार का है, परन्तु उसके दो भेद मुख्य हैं—एक परमार्थ, दूसरा लोकव्यवहार। अर्थात् पहिले से परमार्थ और दूसरे से लोकव्यवहार की सिद्धि करनी होती है। प्रथम जो परम पुरुषार्थरूप कहा, उसमें परमेश्वर की (स्तुति) अर्थात् उसके सर्वशक्तिमत्त्वादि गुणों का कीर्तन उपदेश और श्रवण करना, (प्रार्थना) अर्थात् जिस करके ईश्वर से सहयता की इच्छा करनी, (उपासना) अर्थात् ईश्वर के स्वरूप में मग्न होके उसकी सत्यभाषणादि आज्ञा का यथावत् पालन करना। सो उपासना वेद और पातञ्जल योगशास्त्र की रीति से ही करनी चाहिये। तथा धर्म का स्वरूप न्यायाचरण है। 'न्यायाचरण' उसको कहते हैं जो पक्षपात को छोड़के सब प्रकार से सत्य का ग्रहण और और असत्य का परित्याग करना। इसी धर्म का जो ज्ञान और अनुष्ठान का यथावत् करना है, सो ही कर्मकाण्ड का प्रधान भाग है। और दूसरा यह है कि जिससे पूर्वोक्त अर्थ काम और उनकी सिद्धि करने वाले साधनों की प्राप्ति होती है।

सो इस भेद को इस प्रकार से जानना कि जब मोक्ष अर्थात् सब दुःखों से छूटके केवल परमेश्वर की ही प्राप्ति के लिये धर्म से युक्त सब कर्मों का यथावत् करना, यही निष्काम मार्ग कहाता है। क्योंकि इसमें संसार के भोगों की कामना नहीं की जाती। इसी कारण से इसका फल अक्षय है। और जिसमें संसार के भोगों की इच्छा से धर्मयुक्त काम किये जाते हैं, उसको सकाम

१. श्रेष्ठत्वमिति शेषः। २. हीनत्वमिति शेषः।

कहते हैं। इस हेतु से इसका फल नाशवान् होता है। क्योंकि सब कर्मों करके इन्द्रियभोगों को प्राप्त होके जन्म-मरण से नहीं छूट सकता।

अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध-पर्यन्त जो कर्मकाण्ड है, उसमें चार प्रकार के द्रव्यों का होम करना होता है। एक–सुगन्धगुणयुक्त, जो कस्तूरी केशरादि हैं। दूसरा–मिष्टगुणयुक्त, जो कि गुड़ और सहत आदि कहाते हैं। तीसरा–पुष्टिकारकगुणयुक्त, जो घृत दुग्ध और अन्न आदि हैं। और चौथा–रोगनाशकगुणयुक्त, जो कि सोमलतादि औषधि आदि हैं। इन चारों का परस्पर शोधन, संस्कार और यथायोग्य मिलाके अग्नि में युक्तिपूर्वक जो होम किया जाता है, वह वायु और वृष्टिजल की शुद्धि करनेवाला होता है। इससे सब जगत् को सुख होता है। और जिसको भोजन-छादन, विमानादि यान, कलाकुशलता, यन्त्र और सामाजिक नियम होने के लिये करते हैं, वह अधिकांश से कर्त्ता को ही सुख देनेवाला होता है।

अत्र पूर्वमीमांसायाः प्रमाणम्—

'द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्' ॥

अ० ४। पा० ३। सू० १॥

'द्रव्याणां तु क्रियार्थानां संस्कारः क्रतुधर्मः स्यात्' ॥

अ० ४। पा० ३। सू० ८॥

अनयोरर्थः—द्रव्यं संस्कारः कर्म चैतत् त्रयं यज्ञकर्त्रा कर्त्तव्यम्। द्रव्याणि पूर्वोक्तानि चतुःसंख्याकानि सुगन्धादिगुणयुक्तान्येव गृहीत्वा तेषां परस्परमुत्तमोत्तमगुणसंपादनार्थं संस्कारः कर्त्तव्यः। यथा सूपादीनां संस्कारार्थं सुगन्धयुक्तं घृतं चमसे संस्थाप्याग्नौ प्रतप्य[1] सधूमे जाते सति तं सूपपात्रे प्रवेश्य तन्मुखं बद्ध्वा प्रचालयेच्च, तदा यः पूर्वं धूमवद्बाष्प उत्थितः स सर्वः सुगन्धो हि जलं भूत्वा प्रविष्टः सन् सर्वं सूपं सुगन्धम् एव करोति, तेन पुष्टिरुचिकरश्च भवति। तथैव यज्ञाद्यो बाष्पो जायते, स वायुं वृष्टिजलं च निर्दोषं कृत्वा सर्वजगते सुखायैव भवति। अतश्चोक्तम्—

'यज्ञोऽपि तस्यै जनतायै कल्पते, यत्रैवं विद्वान् होता भवति' ॥

ऐ० ब्रा० पं० १। अ० २।[2]

जनानां समूहो जनता, तत्सुखायैव यज्ञो भवति, यस्मिन् यज्ञेऽमुना प्रकारेण विद्वान् संस्कृतद्रव्याणामग्नौ होमं करोति। कुतः? तस्य परार्थत्वात्। यज्ञः परोपकारायैव भवति। अत एव फलस्य श्रुतिः श्रवणमर्थवादोऽनर्थवारणाय भवति। तथैव होमक्रियार्थानां द्रव्याणां पुरुषाणां च यः संस्कारो भवति, स एव क्रतुधर्मो बोध्यः। एवं क्रतुना यज्ञेन धर्मो जायते, नान्यथेति।

भावार्थ—इसमें पूर्वमीमांसा धर्मशास्त्र की भी सम्मति है—(द्रव्य०) एक तो द्रव्य, दूसरा संस्कार, और तीसरा उनका यथावत् उपयोग करना, ये तीनों बात यज्ञ के कर्त्ता को अवश्य करनी चाहियें। सो पूर्वोक्त सुगन्धादियुक्त चार प्रकार के द्रव्यों का अच्छी प्रकार संस्कार करके अग्नि

१. अन्तर्णीतण्यर्थो द्रष्टव्यः—'प्रताप्य' इत्यर्थः। २. ऐ० ब्रा० पं० १। अ० २। खं० १॥

में होम करने से जगत् का अत्यन्त उपकार होता है। जैसे दाल और शाक आदि में सुगन्धद्रव्य और घी इन दोनों को चमचे में अग्नि पर तपाके उनमें छोंक देने से वे सुगन्धित हो जाते हैं, क्योंकि उस सुगन्ध द्रव्य और घी के अणु उनको सुगन्धित करके दाल आदि पदार्थों को पुष्टि और रुचि बढ़ानेवाले कर देते हैं, वैसे ही यज्ञ से जो भाफ उठता है, वह भी वायु और वृष्टि के जल को निर्दोष और सुगन्धित करके सब जगत् को सुखी करता है। इससे वह यज्ञ परोपकार के लिये ही होता है।

इसमें ऐतरेय ब्राह्मण का प्रमाण है कि—(यज्ञोऽपि त०) अर्थात् जनता नाम जो मनुष्यों का समूह है, उसी के सुख के लिये यज्ञ होता है। और संस्कार किये द्रव्यों का होम करनेवाला जो विद्वान् मनुष्य है, वह भी आनन्द को प्राप्त होता है। क्योंकि जो मनुष्य जगत् का जितना उपकार करेगा, उसको उतना ही ईश्वर की व्यवस्था से सुख प्राप्त होगा। इसलिये यज्ञ का अर्थवाद* यह है कि अनर्थ दोषों को हटाके जगत् में आनन्द को बढ़ाता है। परन्तु होम के द्रव्यों का उत्तम संस्कार और होम के करनेवाले मनुष्यों को होम करने की श्रेष्ठ विद्या अवश्य [ज्ञात] होनी चाहिये। सो इसी प्रकार के यज्ञ करने से सबको उत्तम फल प्राप्त होता है। विशेष करके यज्ञकर्त्ता को, अन्यथा नहीं।

अत्र प्रमाणम्—

'अग्नेर्वै धूमो जायते धूमादभ्रमभ्राद् वृष्टिरग्नेर्वा एता जायन्ते तस्मादाह तपोजा इति' ॥ श० कां० ५। अ० ३॥[1]

अस्यायमभिप्रायः—अग्नेः सकाशाद् धूमवाष्पौ जायेते। यदाऽयमग्निर्वृक्षौषधिवनस्पति-जलादिपदार्थान् प्रविश्य तान् संहतान् विभिद्य तेभ्यो रसं च पृथक् करोति, पुनस्ते लघुत्वमापन्ना वाय्वाधारेणोपर्य्याकाशं गच्छन्ति। तत्र यावान् जलरसांशस्तावतो वाष्पसंज्ञास्ति। यश्च निःस्नेहो भागः स पृथिव्यंशोऽस्ति। अत एवोभयभागयुक्तो धूम इत्युपचर्य्यते। पुनर्धूमगमनानन्तरमाकाशे जलसंचयो भवति। तस्मादभ्रं घना जायन्ते। तेभ्यो वायुदलेभ्यो[2] वृष्टिर्जायते। अतोऽग्नेरेवैता यवादयः ओषधयो जायन्ते। ताभ्योऽन्नमन्नाद् वीर्यं वीर्याच्छरीराणि भवन्तीति।

भाषार्थ—इसमें शतपथ ब्राह्मण का भी प्रमाण है कि—(अग्नेर्वै०) जो होम करने के द्रव्य अग्नि में डाले जाते हैं, उनसे धुआं और भाफ उत्पन्न होते हैं। क्योंकि अग्नि का यही स्वभाव है कि [वह वृक्ष, ओषधि, वनस्पति तथा जलादि] पदार्थों में प्रवेश करके उनको भिन्न-भिन्न कर देता है। फिर वे हलके होके वायु के साथ ऊपर आकाश में चढ़ जाते हैं। उनमें जितना जल का अंश है वह भाफ कहाता है, और जो शुष्क है वह पृथ्वी का भाग है। इन दोनों के योग का नाम धूम है।

* इस शब्द का [विशेष] अर्थ आगे वेदसंज्ञा-प्रकरण में लिखा जायेगा। द० स०

१. शत० कां० ५। अ० ३। ब्रा० ५। कं० १७॥

२. तेभ्यो धूममिश्रितेभ्यो वायुदलेभ्य इत्यर्थः। वायुदलशब्दस्यैव 'यु'लोपे 'बादल' इत्यपभ्रंश उपपद्यते।

वे परमाणु मेघमण्डल में वायु के आधार से रहते हैं । फिर वे परस्पर मिलके बादल होके उनसे वृष्टि, वृष्टि से [यव आदि] ओषधि, ओषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से[1] शरीर और शरीर से कर्म बनता है ।

अत्र विषये तैत्तिरीयोपनिषद्यप्युक्तम्—

'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः, आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्यो[2]ऽन्नं, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः[3], स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' ॥ आनन्दवल्यां[4] प्रथमेऽनुवाके ॥

'स तपोऽतप्यत तपस्तप्त्वा अन्नं ब्रह्मेति विजानात्[5] । अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, अन्नेन जातानि जीवन्ति, अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति' ॥

भृगुवल्ल्यां [प्रथमेऽनुवाके] द्वितीयेऽनुवाके [च] ॥

अन्नं ब्रह्मेत्युच्यते, जीवनस्य बृहद्धेतुत्वात् । शुद्धान्नजलवाय्वादिद्वारैव प्राणिनां सुखं भवति, नातोऽन्यथेति ।

भाषार्थ—इस विषय में तैत्तिरीय उपनिषद् का भी प्रमाण है कि—(तस्माद्वा०) परमात्मा के अनन्त सामर्थ्य से आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी आदि तत्व उत्पन्न हुए हैं । और उनमें ही पूर्वोक्त क्रम के अनुसार शरीर आदि उत्पत्ति जीवन और प्रलय को प्राप्त होते हैं । यहां अन्न का नाम ब्रह्म है ।[6] क्योंकि जिसका जो कार्य है वह उसी में मिलता है । वैसे ही ईश्वर के सामर्थ्य से जगत् की तीनों अवस्था[7] होती हैं, और सब जीवों के जीवन का मुख्य साधन है, इससे अन्न को 'ब्रह्म' कहते हैं । जब होम से वायु जल और औषधि आदि शुद्ध होते हैं, तब सब जगत् को सुख, और अशुद्ध होने से सबको दुःख होता है । इससे इनकी शुद्धि अवश्य करनी चाहिये ।

---

१. वै० य० मुद्रित में 'अन्न से धातु, धातुओं से' पाठ है ।

२. तै० उपनिषदि 'ओषधीभ्यो०' पाठ उपलभ्यते ।

३. तै० उपनिषदि 'अन्नात् पुरुषः' पाठ उपलभ्यते । तैत्तिरीयोपनिषद् तैत्तिरीयारण्यके पठ्यते । तत्र 'अन्नाद्रेतः रेतसः पुरुषः' इत्यपि पाठः क्वचिदुपलभ्यते । द्र०—आनन्दाश्रम पूना संस्करण प्र० ८, अ० २, भाग २, पृष्ठ ५६३, टि० ४ ॥

४. 'पदेषु पदैकदेशान्' इति न्यायेन 'आनन्दवल्ली' शब्देनेह ब्रह्मानन्दवल्ली ज्ञेया । तदुक्तम्—'पदेषु पदैकदेशान्—देवदत्तो दत्तः, सत्यभामा भामेति' । महाभाष्य १।१।४४॥

५. तै० उपनिषदि 'स तपस्तप्त्वा······ व्यजानात्' इत्येवं पाठ उपलभ्यते ।

६. वै० य० मुद्रित में 'यहां ब्रह्म का नाम अन्न और अन्न का नाम ब्रह्म भी है' ऐसा पाठ है । यह तथा अगला पाठ संस्कृत अनुसारी नहीं है ।

७. जायन्ते, जीवन्ति, प्रयन्ति=उत्पन्न होना, जीना, नष्ट होना रूप तीन अवस्थायें ।

तत्र द्विविधः प्रयत्नोऽस्तीश्वरकृतो जीवकृतश्च। ईश्वरेण खल्वग्निमयः सूर्यो निर्मितः, सुगन्धपुष्पादिश्च। स निरन्तरं सर्वस्माज्जगतो रसानाकर्षति। तस्य सुगन्धदुर्गन्धाणुसंयोगत्वेन तज्जलवायू अभीष्टानिष्टगुणयोगात् मध्यगुणौ भवतस्तयोः सुगन्धदुर्गन्धमिश्रितत्वात्। तज्जलवृष्ट्यौषध्यन्नरेतःशरीराण्यपि मध्यमान्येव भवन्ति। तन्मध्यमत्वाद् बलबुद्धिवीर्य्यपराक्रमधैर्य्यशौर्य्यादयोऽपि गुणा मध्यमा एव जायन्ते। कुतः ? यस्य यादृशं कारणमस्ति, तस्य तादृशमेव कार्य्यं भवतीति दर्शनात्[1]। अयं खल्वीश्वरसृष्टेर्दोषो नास्ति। कुतः ? दुर्गन्धादिविकारस्य मनुष्यसृष्ट्यन्तर्भावात्। यतो दुर्गन्धादिविकारस्योत्पत्तिर्मनुष्यादिभ्य एव भवति, तस्मादस्य निवारणमपि मनुष्यैरेव करणीयमिति। यथेश्वरेणाज्ञा दत्ता 'सत्यभाषणमेव कर्त्तव्यं नानृतम्' इति[2], यस्तामुल्लङ्घ्य प्रवर्त्तते स पापीयान् भूत्वा क्लेशं चेश्वरव्यवस्थया प्राप्नोति, तथा 'यज्ञः कर्त्तव्यः' इतीयमप्याज्ञा तेनैव दत्तास्ति[3], तामपि यः उल्लङ्घयति सोऽपि पापीयान् सन् क्लेशवांश्च भवति।

[4]कुतः ? सर्वोपकाराकरणात्। यत्र खलु यावान्मनुष्यादिप्राणिसमुदायो भवति, तत्र तावानेव दुर्गन्धसमुदायो जायते। न चैवायमीश्वरसृष्टिनिमित्तो भवितुमर्हति। कुतः ? तस्य मनुष्यादिप्राणिसमुदायनिमित्तोत्पन्नत्वात्। यत्तु खलु मनुष्याः स्वसुखार्थं हस्त्यादिप्राणिनामेकत्र बाहुल्यं कुर्वन्ति, अतस्तज्जन्योऽप्यधिको दुर्गन्धो मनुष्यसुखेच्छानिमित्त एव जायते। एवं वायुवृष्टिजलदूषकः सर्वो दुर्गन्धो मनुष्यनिमित्तादेवोत्पद्यतेऽतस्तस्य निवारणमपि मनुष्या एव कर्तुमर्हन्ति।

[5]तेषां मध्यान्मनुष्या एवोपकारानुपकारौ वेदितुमर्हाः सन्ति। मननं विचारस्तद्योगादेव मनुष्यत्वं जायते[6]। परमेश्वरेण हि सर्वदेहधारिप्राणिनां मध्ये मनस्विनो विज्ञानं कर्त्तुं योग्या मनुष्या एव सृष्टास्तद्देहेषु परमाणुसंयोगविशेषेण विज्ञानभवनानुकूलानामवयवानामुत्पादितत्वात्। अतस्त एव धर्माधर्मयोर्ज्ञानमनुष्ठानाननुष्ठाने च कर्तुमर्हन्ति न चान्ये। अस्मात् कारणात् सर्वोपकाराय सर्वैर्मनुष्यैर्यज्ञः कर्त्तव्य एव।

भाषार्थ—सो उनकी शुद्धि करने में दो प्रकार का प्रयत्न है—एक तो ईश्वर का किया हुआ, और दूसरा जीव का। उनमें से ईश्वर का किया यह है कि उसने अग्निरूप सूर्य और सुगन्धरूप पुष्पादि पदार्थों को उत्पन्न किया है। वह सूर्य निरन्तर सब जगत् के रसों को पूर्वोक्त प्रकार से ऊपर खैंचता है। और जो पुष्पादि का सुगन्ध है वह भी दुर्गन्ध को निवारण करता रहता है। परन्तु वे परमाणु सुगन्ध और दुर्गन्धयुक्त होने से जल और वायु को भी मध्यम [गुणवाले] कर देते हैं। उस जल की वृष्टि से ओषधि अन्न वीर्य और शरीरादि भी मध्यम गुणवाले हो जाते हैं।

---

१. 'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः।' वैशे० द० २।१।२४॥
२. 'अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥ यजुः १।५॥
३. यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। यजुः ३१।१६॥
४. अयं पाठः वै० य० मुद्रितेऽग्रे पठ्यते, स चानेनैव सन्दर्भेण सम्बद्ध इति कृत्वेहानीतः।
५. अयमपि पाठः वै० य० मुद्रितेऽपूर्वपाठादग्रे पठ्यते, स चाप्यनेनैव सन्दर्भेण सम्बद्ध इति कृत्वेहानीतः।
६. मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति, मनस्यमानेन सृष्टाः। निरु० ३।७॥

और उनके योग से बुद्धि बल पराक्रम,धैर्य और शूरवीरतादि गुण भी मध्यम[1] ही होते हैं। क्योंकि जिसका जैसा कारण होता है, उसका वैसा ही कार्य होता है। यह दुर्गन्ध से वायु और वृष्टिजल का तापयुक्त होना सर्वत्र देखने में आता है। सो यह दोष ईश्वर की सृष्टि से नहीं, किन्तु मनुष्यों ही की सृष्टि से होता है इस कारण से उसका निवारण करना भी मनुष्यों ही को उचित है। जैसे ईश्वर ने सत्यभाषणादि धर्मव्यवहार करने की आज्ञा दी है, मिथ्याभाषणादि को नहीं[2]। जो इस आज्ञा से उलटा काम करता है, वह अत्यन्त पापी होता है, और ईश्वर की न्यायव्यवस्था से उसको क्लेश भी होता है। वैसे ही ईश्वर ने मनुष्यों को यज्ञ करने की आज्ञा दी है[3], इसको जो नहीं करता, वह भी पापी होके दुःख का भागी होता है।

[4]क्योंकि सबके उपकार करनेवाले यज्ञ को नहीं करने से मनुष्यों को दोष लगता है। जहां जितने मनुष्य आदि के समुदाय अधिक होते हैं, वहां उतना ही दुर्गन्ध भी अधिक होता है। वह ईश्वर की सृष्टि से नहीं, किन्तु मनुष्यादि प्राणियों के निमित्त से ही उत्पन्न होता है। क्योंकि हस्ती आदि के समुदायों को मनुष्य अपने ही सुख के लिये इकट्ठा करते हैं, इससे उन पशुओं से भी जो अधिक दुर्गन्ध उत्पन्न होता है, सो मनुष्यों के ही सुख की इच्छा से होता है। इससे क्या आया? कि जब वायु और वृष्टिजल को बिगाड़नेवाला सब दुर्गन्ध मनुष्यों के ही निमित्त से उत्पन्न होता है, तो उसका निवारण करना भी उनको ही योग्य है।

[4]क्योंकि जितने प्राणी देहधारी जगत् में हैं, उनमें से मनुष्य ही उत्तम हैं। इससे वे ही उपकार और अनुपकार को जानने के योग्य हैं। मनन नाम विचार का है, जिसके होने से ही 'मनुष्य' नाम होता है, अन्यथा नहीं। क्योंकि ईश्वर ने मनुष्य के शरीर में परमाणु आदि के संयोगविशेष [से विज्ञानोत्पत्ति के अनुकूल अवयव] इस प्रकार रचे हैं कि जिनसे उनको ज्ञान की उत्पत्ति[5] होती है। इसी कारण से धर्म का अनुष्ठान और अधर्म का त्याग करने को भी वे ही योग्य होते हैं, अन्य नहीं। इससे सबके उपकार के लिये यज्ञ का अनुष्ठान भी उन्हीं को करना उचित है।

किंच भोः ! कस्तूर्यादीनां सुरभियुक्तानां द्रव्याणामग्नौ प्रक्षेपणेन विनाशात् कथमुपकाराय यज्ञो भवितुमर्हतीति ? किं त्वीदृशैरुत्तमैः पदार्थैर्मनुष्यादिभ्यो भोजनादिदानेनोपकारे कृते होमादप्युत्तमं फलं जायते, पुनः किमर्थं यज्ञकरणमिति ?

अत्रोच्यते -नात्यन्तो विनाशः कस्यापि संभवति।[6] विनाशो हि यद् दृश्यं भूत्वा पुनर्न दृश्ये-

१. वै० य० मुद्रित में 'निकृष्ट' पाठ है। वह प्रकरण और संस्कृत पाठ के विपरीत होने से त्याज्य है।

२. द्र०—पूर्व पृष्ठ ६०, टि० २।

३. द्र० पूर्व पृष्ठ ६०, टि० ३॥

४. इससे पूर्व वै० य० मुद्रित में 'भाषार्थ'-- पद का निर्देश है। इसके संस्कृत भाग का पूर्व सन्दर्भ से सम्बन्ध होने से हमने इसे पूर्व संस्कृत पाठ के पश्चात् छापा है। अतः यहां 'भाषार्थ' पद के अनावश्यक होने से हमने इसे हटा दिया है।

५. वै० य० मुद्रित में 'उन्नति पाठ' है।

६. 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।' गीता २।१६॥

तेति[1] विज्ञायते। परन्तु दर्शनं त्वया कतिविधं स्वीक्रियते? अष्टविधं चेति। किंच तत्?

अत्राहुर्गौतमाचार्या न्यायशास्त्रे—

'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्' ॥१॥

'अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतो दृष्टं च' ॥ २ ॥

'प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्' ॥ ३ ॥

'आप्तोपदेशः शब्दः' ॥ ४ ॥ अ० १ । आह्निकम् १ । सू० ४—७ ॥

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावसाधनभेदादष्टधा प्रमाणं मया मन्यत इति।

तत्र यदिन्द्रियार्थसम्बन्धात् सत्यमव्यभिचारि ज्ञानमुत्पद्यते, तत् प्रत्यक्षम्। सन्निकटे[2] दर्शनान्मनुष्योऽयं नान्य इत्याद्युदाहरणम्॥ १ ॥

यत्र लिङ्गज्ञानेन लिङ्गिनो ज्ञानं जायते तदनुमानम्। पुत्रं दृष्ट्वाऽऽसीदस्य पितेत्याद्युदाहरणम्॥ २ ॥

उपमानं सादृश्यज्ञानम्। यथा देवदत्तोऽस्ति तथैव यज्ञदत्तोऽप्यस्तीति साधर्म्याद् उपदिशतीत्याद्युदाहरणम्॥ ३ ॥

शब्द्यते प्रत्याय्यते दृष्टोऽदृष्टश्चार्थो येन स शब्दः। ज्ञानेन मोक्षो भवतीत्याद्युदाहरणम्॥४॥

भाषार्थ—प्र०—सुगन्धयुक्त जो कस्तूरी आदि पदार्थ हैं, उनको अन्य द्रव्यों में मिलाके अग्नि में डालने से उनका नाश हो जाता है, फिर यज्ञ से किसी प्रकार का उपकार नहीं हो सकता। किन्तु ऐसे उत्तम-उत्तम पदार्थ मनुष्यों को भोजनादि के लिये देने से होम से भी अधिक उपकार हो सकता है। फिर यज्ञ किस लिये[3] करना चाहिये?

उ०—किसी पदार्थ का विनाश नहीं होता, केवल वियोगमात्र होता है। परन्तु यह तो कहिये कि आप विनाश किसको कहते हैं? जो स्थूल होके प्रथम देखने में आकर फिर न देख पड़े, उसको हम विनाश कहते हैं। प्र०—आप कितने प्रकार का दर्शन मानते हैं? उ०—आठ प्रकार का। प्र०—कौन कौन सा? उ०—प्रत्यक्ष १, अनुमान २, उपमान ३, शब्द ४, ऐतिह्य ५, अर्थापत्ति ६, सम्भव ७, और अभाव ८। इस भेद से हम आठ प्रकार का दर्शन मानते हैं।

[इस विषय में गौतमाचार्य न्यायदर्शन में कहते हैं—]

(इन्द्रियार्थ०) इनमें से 'प्रत्यक्ष' उसको कहते हैं कि जो चक्षु आदि इन्द्रिय और रूप आदि विषयों के सम्बन्ध से सत्यज्ञान उत्पन्न हो। जैसे दूर से देखने में संदेह हुआ कि वह मनुष्य है वा

१. द्र०—णश (=नश) अदर्शने धातुः (धातुपाठ ४।८३)।

२. 'सन्निकृष्टे' इति शुद्धतरः पाठः स्यात्। ३. वै० य० मुद्रित में 'यज्ञ करना किसलिए' पाठ है।

कुछ और । फिर उसके समीप होने से निश्चय होता है कि यह मनुष्य ही है अन्य नहीं । इत्यादि प्रत्यक्ष के उदाहरण हैं ।।१।।

(अथ तत्पू०) और जो किसी पदार्थ के चिह्न देखने से उसी पदार्थ का यथावत् ज्ञान हो, वह 'अनुमान' कहाता है । जैसे किसी के पुत्र को देखने से ज्ञान होता है कि इसके माता पिता आदि हैं, वा अवश्य थे । इत्यादि उसके उदाहरण हैं ।।२।।

(प्रसिद्ध०) तीसरा 'उपमान' कि जिससे किसी का तुल्यधर्म देखके समान धर्मवाले का ज्ञान हो । जैसे किसी ने किसी से कहा कि जिस प्रकार का यह देवदत्त है, उसी प्रकार का वह यज्ञदत्त भी है, उसके पास जाके इस काम को कर ला । इस प्रकार के तुल्यधर्म से जो ज्ञान होता है, उसको 'उपमान' कहते हैं ।।३।।

(आप्तोप०) चौथा 'शब्द' प्रमाण है कि जो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष अर्थ का निश्चय करानेवाला है । जैसे 'ज्ञान से मोक्ष होता है', यह आप्तों के उपदेश शब्द प्रमाण का उदाहरण है ।।४।।

न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात् ।। ५ ।।

शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावाद् अनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावानामनर्थान्तरभावा-च्चाप्रतिषेधः ।। ६ ।। अ० २ । आ० २ । सू० १, २ ।।

न चतुष्ट्वमिति सूत्रद्वयस्य संक्षिप्ततोऽर्थः क्रियते—

(ऐतिह्यम्) शब्दोपगतमाप्तोपदिष्टं ग्राह्यम्—'देवासुराः संयत्ता आसन्'[1] इत्यादि ।।५।।

(अर्थापत्तिः) अर्थादापद्यते सार्थापत्तिः । केनचिदुक्तं सत्सु घनेषु वृष्टिर्भवतीति । किमत्र प्रसज्यते ?, असत्सु घनेषु न भवतीत्याद्युदाहरणम् ।। ६ ।।

(सम्भवः) सम्भवति येन यस्मिन् वा स सम्भवः । केनचिदुक्तं मातापितृभ्यां सन्तानं जायते, सम्भवोऽस्तीति वाच्यम् । परन्तु कश्चिद् ब्रूयात्—'कुम्भकरणस्य क्रोशचतुष्टयपर्यन्तं श्मश्रुणः केशा ऊर्ध्वं स्थिता आसन्, षोडशक्रोशमूर्ध्वं नासिका च' असम्भवत्वान्मिथ्यैवास्तीति विज्ञायते, इत्याद्युदाहरणम् ।। ७ ।।

(अभावः) कोऽपि ब्रूयाद्—घटमानयेति, स तत्र घटमपश्यंस्तत्र घटो नास्तीत्यभावलक्षणेन यत्र घटो वर्तमानस्तस्मादानयति[2] ।। ८ ।। [५ । ६]

इति प्रत्यक्षादीनां संक्षेपतोऽर्थः । एवमष्टविधं वचनमथोज्ज्ञानं मया मन्यते । सत्यमेवमेतत् । नैवमङ्गीकारेण विना समग्रौ व्यवहारपरमार्थौ कस्यापि सिध्येताम् ।

---

१. शत० १३।३।४।१।।

२. वै० य० मुद्रिते 'आनीयते' अपपाठः, वाक्यादौ 'सः' पदस्य दर्शनात् ।

'यथा कश्चिदेकं मृत्पिण्डं विशेषतश्चूर्णीकृत्य वेगयुक्ते वायौ बाहुवेगेनाकाशे प्रक्षिपेत्, तस्य नाशो भवतीत्युपचर्यते, चक्षुषा दर्शनाभावात्। 'णश अदर्शने' अस्माद् घञ्प्रत्यये कृते नाश इति शब्दः सिध्यति। अतो नाशो बाह्येन्द्रियाऽदर्शनमेव भवितुमर्हति। किंच, यदा परमाणवः पृथक् पृथक् भवन्ति, तदा ते चक्षुषा नैव दृश्यन्ते, तेषामतीन्द्रियत्वात्। यदा चैते मिलित्वा स्थूलभावमापद्यन्ते, तदैव तद् द्रव्यं दृष्टिपथमागच्छति, स्थूलस्येन्द्रियकत्वात्। यद् द्रव्यं विभक्तं[2] विभागानर्हं भवति, तस्य परमाणुसंज्ञा चेति व्यवहारः। ते हि विभक्ता अतीन्द्रियाः सन्त आकाशे वर्त्तन्त एव।

भाषार्थ—(ऐतिह्यम्) सत्यवादी विद्वानों के कहे वा लिखे इतिवृत्त[3] का नाम 'इतिहास' है। जैसे 'देव और असुर युद्ध करने के लिये तत्पर हुए थे'। जो यह इतिहास ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मणादि सत्यग्रन्थों में लिखा है, उसी का ग्रहण होता है, अन्य का नहीं। यह पांचवां प्रमाण है ॥५॥

और छठा (अर्थापत्तिः) जो एक बात किसी ने कही हो, उससे विरुद्ध दूसरी बात समझी जावे। जैसे किसी ने कहा कि—'बादलों के होने से वृष्टि होती है'। दूसरे ने इतने ही कहने से जान लिया कि 'बादलों के विना वृष्टि कभी नहीं हो सकती'। इस प्रकार के प्रमाण से जो ज्ञान होता है, उसको 'अर्थापत्ति' कहते हैं।

सातवां (संभवः) जैसे किसी ने किसी से कहा कि—'माता-पिता से सन्तानों की उत्पत्ति होती है'। तो दूसरा मान ले कि इस बात का तो सम्भव है। परन्तु जो कोई ऐसा कहे कि –'रावण के भाई कुम्भकरण की मूंछ चार कोश तक आकाश में ऊपर खड़ी रहती थी। और उसकी नाक १६ सोलह कोशपर्यन्त लम्बी-चौड़ी थी,' उसकी यह बात मिथ्या समझी जायगी। क्योंकि ऐसी बात का संभव कभी नहीं हो सकता ॥७॥

और आठवां (अभावः) जैसे किसी ने किसी से कहा कि—'तुम घड़ा ले आओ'। और जब उसने वहां नहीं पाया, तब वह जहां पर घड़ा था, वहां से ले आया ॥८॥

इन आठ प्रकार के प्रमाणों को मैं मानता हूं। यहां इन आठों का अर्थ संक्षेप से किया है।*

उ०—यह बात सत्य है कि इनके विना माने सम्पूर्ण व्यवहार और परमार्थ किसी का सिद्ध नहीं हो सकता। इससे इन आठों को हम लोग भी मानते हैं।

नाश को समझने के लिये यह दृष्टान्त है कि कोई मनुष्य मट्टी के ढेले को पीसके वायु के बीच में बल से फेंकदे। फिर जैसे वे छोटे-छोटे कण आंख से नहीं दीखते। [उसके लिये कहा जाता

*कहीं कहीं शब्द में ऐतिह्य और अनुमान में अर्थापत्ति संभव और अभाव को मानने से (४) चार प्रमाण रहते हैं। द० स०

१. अयं पाठो वै० य० मुद्रिते उत्तरत्र पृथग्रूपेण पठ्यते। अस्य पूर्वसन्दर्भेण सहैकवाक्यत्वाद-स्माभिरयमिहानीतः।

२. प्रथमसंस्करणे 'विभक्तं विभक्तमन्ते विभागानर्हं' पाठो दृश्यते। स चात्र युक्तः, परन्तु तदीयसंशोधन-पत्रे 'विभक्तमन्ते' पाठो निष्कासितः।

३. वै० य० मुद्रित में 'उपदेश' पाठ है।

है कि वह नष्ट हो गया।] क्योंकि (णश) धातु का अदर्शन ही अर्थ है। [इसी से 'घञ्' प्रत्यय होकर 'नाश' शब्द बनता है। इसलिये नाश बाह्येन्द्रिय से अदर्शन के लिये ही प्रयुक्त होता है।] जब परमाणु अलग-अलग हो जाते हैं, तब वे देखने में नहीं आते, इसी का नाम 'नाश' है। और जब परमाणु के संयोग से द्रव्य स्थूल[1] अर्थात् बड़ा होता है, तब वह देखने में आता है। और 'परमाणु' उनको कहते हैं कि जिसका विभाग फिर कभी न हो सके।[2]

तथैवाग्नौ यद् द्रव्यं प्रक्षिप्यते तद्विभागं प्राप्य देशान्तरे वर्त्तत एव। न हि तस्याभावः कदाचिद् भवति। एवं यद् दुर्गन्धादिदोषनिवारकं सुगन्धादि[युक्तं] द्रव्यमस्ति, तच्चाग्नौ हुतं सद् वायोर्वृष्टिजलस्य शुद्धिकरं भवति। तस्मिन्निर्दोषे सति सृष्टये महान् ह्युपकारो भवति सुखं च। अतः कारणाद् यज्ञः कर्त्तव्य एवेति।

किंच भोः! वायुवृष्टिजलशुद्धिकरणमेव यज्ञस्य प्रयोजनमस्ति चेर्त्तार्ह गृहाणां मध्ये सुगन्ध[युक्त]द्रव्यरक्षणेनैतत् सेत्स्यति, पुनः किमर्थमेतावानाडम्बरः?

नैवं शक्यम्। नैव तेनाशुद्धो वायुः सूक्ष्मो भूत्वाऽऽकाशं गच्छति, तस्य पृथक्त्वलघुत्वाभावात्। तत्र तस्य स्थितौ सत्यां नैव बाह्यो वायुरागन्तुं शक्तोऽस्त्यवकाशाभावात्। तत्र पुनः सुगन्धदुर्गन्धयुक्तस्य वायोर्वर्त्तमानत्वाद् आरोग्यादिकं फलमपि भवितुमशक्यमेवास्ति।

भाषार्थ—वैसे ही जो सुगन्ध आदि युक्त द्रव्य अग्नि में डाला जाता है, उसके अणु अलग-अलग होके आकाश में रहते ही हैं। क्योंकि किसी द्रव्य का वस्तुता से अभाव नहीं होता। इससे वह द्रव्य दुर्गन्धादि दोषों का निवारण करनेवाला अवश्य होता है। फिर उससे वायु और वृष्टिजल की शुद्धि के होने से जगत् का बड़ा उपकार और सुख अवश्य होता है। इसी कारण से यज्ञ को करना ही चाहिये।

प्र०—जो यज्ञ से वायु और वृष्टिजल की शुद्धि करनामात्र ही प्रयोजन है, तो इसकी सिद्धि अतर और पुष्पादि के घरों में रखने से भी हो सकती है। फिर इतना बड़ा परिश्रम यज्ञ में क्यों करना?

उ०—यह कार्य अन्य किसी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि अतर और पुष्पादि का सुगन्ध तो उसी दुर्गन्ध वायु में मिलके रहता है। उसको छेदन करके बाहर नहीं निकाल सकता,

१. वै० य० मुद्रित में 'स्थूल द्रव्य' अपपाठ है।

२. यहां से आगे वै० य० मुद्रित में 'परन्तु यह बात केवल एकदेशी है, क्योंकि उसका भी ज्ञान से विभाग हो सकता है। जिसकी परिधि और व्यास बन सकता है उसका भी टुकड़ा हो सकता है। यहां तक कि जब पर्यन्त वह एकरस न हो जाय तब पर्यन्त ज्ञान से बराबर कटता ही चला जाएगा।' यह पाठ मिलता है। यह न्याय-वैशेषिक के सिद्धान्त के विपरीत है। प्रतीत होता है कि भाषानुवादक ने शाङ्करमत के अनुसार ये पंक्तियां अपनी ओर से डाल दीं। संस्कृत भाग में इस मत का सर्वथा अभाव है। ऋषियों में प्रामाण्यबुद्धि रखने वाले ग्रन्थकार न्याय वैशेषिक दर्शन के विपरीत निर्देश नहीं कर सकते।

और न वह ऊपर चढ़ सकता है। क्योंकि उसमें हलकापन नहीं होता। उसके उसी अवकाश में रहने से बाहर का शुद्ध वायु उस ठिकाने में जा भी नहीं सकता। क्योंकि खाली जगह के विना दूसरे का प्रवेश नहीं हो सकता। फिर सुगन्ध और दुर्गन्धयुक्त वायु के वहीं रहने से रोगनाशादि फल भी नहीं हो सकते।

यदा तु खलु तस्मिन् गृहेऽग्निमध्ये सुगन्ध्यादिद्रव्यस्य होमः क्रियते, तदाऽग्निना पूर्वो वायुर्भेदं प्राप्य लघुत्वमापन्न उपर्याकाशं गच्छति। तस्मिन् गते सति तत्रावकाशत्वाच्चतसृभ्यो दिग्भ्यः शुद्धो वायुराद्रवति। तेन गृहाकाशस्य पूर्णत्वाद् आरोग्यादिकं फलमपि जायते।

भाषार्थ—और जब अग्नि उस वायु को वहां[1] से हल्का करके निकाल देता है, तब वहां शुद्ध वायु भी प्रवेश कर सकता है। इसी कारण यह फल यज्ञ से ही हो सकता है, अन्य प्रकार से नहीं। क्योंकि जो होम के परमाणु[ओं से] युक्त शुद्ध वायु है, सो पूर्वस्थित दुर्गन्धवायु को निकालके, उस देशस्थ वायु को शुद्ध करके, रोगों का नाश करनेवाला होता, और मनुष्यादि सृष्टि को उत्तम सुख को प्राप्त कराता है।

यो होमेन सुगन्धयुक्तद्रव्यपरमाणुयुक्त उपरिगतो वायुर्भवति, स वृष्टिजलं शुद्धं कृत्वा वृष्टयाधिक्यमपि करोति। तद्द्वारौषध्यादीनां शुद्धेरुत्तरोत्तरं जगति महत्सुखं वर्धत इति निश्चीयते। एतत् खल्वग्निसंयोगरहितसुगन्धेन वायुना भवितुमशक्यमस्ति। तस्माद्धोमकरणमुत्तममेव भवतीति निश्चेतव्यम्।

भाषार्थ—जो वायु सुगन्ध्यादि द्रव्य के परमाणुओं से युक्त होम द्वारा आकाश में चढ़के वृष्टिजल को शुद्ध कर देता, और उससे वृष्टि भी अधिक होती है। क्योंकि होम करके नीचे गर्मी अधिक होने से जल भी ऊपर अधिक चढ़ता है। शुद्ध जल और वायु के द्वारा अन्नादि ओषधि भी अत्यन्त शुद्ध होती हैं। ऐसे प्रतिदिन सुगन्ध के अधिक होने से जगत् में नित्यप्रति अधिक-अधिक सुख बढ़ता है। यह फल अग्नि में होम करने के विना दूसरे प्रकार से होना असम्भव है। इसमें होम का करना अवश्य है।

अन्यच्च, दूरस्थले केनचित् पुरुषेणाग्नौ सुगन्धद्रव्यस्य होमः क्रियते, तद्युक्तो वायुर्दूरस्थमनुष्यस्य घ्राणेन्द्रियेण संयुक्तो भवति। सोऽत्र सुगन्धो वायुरस्तीति जानात्येव। अनेन विज्ञायते वायुना सह सुगन्धं दुर्गन्धं च द्रव्यं गच्छतीति। तद्यदा स दूरं गच्छति तदा तस्य घ्राणेन्द्रियसंयोगो न भवति, पुनर्बालबुद्धीनां भ्रमो भवति—स सुगन्धो नास्तीति, परन्तु तस्य द्रुतस्य पृथग्भूतस्य वायुस्थस्य सुगन्धयुक्तस्य द्रव्यस्य देशान्तरे वर्त्तमानत्वात्[2] तैर्न विज्ञायते। अन्यदपि खलु होमकरणस्य बहुविधमुत्तमं फलमस्ति, तद्विचारेण बुधैर्विज्ञेयमिति।

---

१. अर्थात् उस घर में से जहां होम करते है।

२. 'तैः' बालबुद्धिभिरज्ञैरित्यर्थः।

भावार्थ --और भी सुगन्ध के नाश नहीं होने में कारण है कि—किसी पुरुष ने दूर देश में सुगन्ध चीजों का अग्नि में होम किया हो, उस सुगन्ध से युक्त जो वायु है, सो होम के स्थान से दूर देश में स्थित हुए मनुष्य के नाक इन्द्रिय के साथ संयुक्त होने से उसको यह ज्ञान होता है कि यहां सुगन्ध वायु है। इससे जाना जाता है कि द्रव्य के अलग होने में भी द्रव्य का गुण द्रव्य के साथ ही बना रहता है। और वह वायु के साथ सुगन्ध और दुर्गन्धयुक्त सूक्ष्म होके जाता-आता है। परन्तु जब वह द्रव्य दूर चला जाता है, तब उसके नाक इन्द्रिय से संयोग भी छूट जाता है। फिर बालबुद्धि मनुष्यों को ऐसा भ्रम होता है कि वह सुगन्धित द्रव्य नहीं रहा। परन्तु यह उनको[1] अवश्य जानना चाहिये कि वह सुगन्ध द्रव्य आकाश में वायु के साथ बना ही रहता है। इनसे अन्य भी होम करने के बहुत से उत्तम फल हैं, उनको बुद्धिमान् लोग विचार से जान लेंगे।

यदि होमकरणस्यैतत् फलमस्ति, तद्धोमकरणमात्रेणैव सिध्यति। पुनस्तत्र वेदमन्त्राणां पाठः किमर्थं क्रियते ?

अत्र ब्रूमः—एतस्यान्यदेव फलमस्ति। किम् ?, यथा हस्तेन होमो, नेत्रेण दर्शनं, त्वचा स्पर्शनं च क्रियते, तथा वाचा वेदमन्त्रा अपि पठ्यन्ते। तत्पाठेनेश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाः क्रियन्ते। होमेन किं फलं भवतीत्यस्य ज्ञानं, तत्पाठानुवृत्त्या वेदमन्त्राणां रक्षणम्, ईश्वरस्यास्तित्वसिद्धिश्च। अन्यच्च, सर्वकर्मादावीश्वरस्य प्रार्थना कार्य्येत्युपदेशः। यज्ञे तु वेदमन्त्रोच्चारणात् सर्वत्रैव तत्प्रार्थना भवतीति वेदितव्यम्।

भावार्थ—प्र०—होम करने का जो [यह] प्रयोजन है, सो तो केवल होम से ही सिद्ध होता है, फिर वहां वेदमन्त्रों के पढ़ने का क्या काम है ?

उ०—उनके पढ़ने का प्रयोजन कुछ और ही है। प्र०—वह क्या है ? उ०—जैसे हाथ से होम करते, आंख से देखते, और त्वचा से स्पर्श करते हैं,वैसे ही वाणी से वेदमन्त्रों को भी पढ़ते हैं। क्योंकि उनके पढ़ने से वेदों की रक्षा, ईश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना होती है। तथा होम से जो-जो फल होते हैं उनका स्मरण भी होता है। वेदमन्त्रों के वारंवार पाठ करने से वे कण्ठस्थ भी रहते हैं [तथा वेदों की रक्षा भी होती है।] और ईश्वर का होना भी विदित होता है कि कोई नास्तिक न हो जाय।[2] ईश्वर की प्रार्थनापूर्वक ही सब कर्मों का आरम्भ करना होता है। सो वेद-मन्त्रों के उच्चारण से यज्ञ में तो उसकी प्रार्थना सर्वत्र होती है। इसलिये सब उत्तम कर्म वेदमन्त्रों से ही करना उचित है।

कश्चिदत्राह—वेदमन्त्रोच्चारणं विहायान्यस्य कस्यचित् पाठस्तत्र क्रियेत, तदा किं दूषणमस्तीति ?

अत्रोच्यते—नान्यस्य पाठे कृते सत्येतत् प्रयोजनं सिध्यति। कुतः ? ईश्वरोक्ताभावान्निरतिशयसत्यविरहाच्च। यद्धि यत्र क्वचित् सत्यं प्रसिद्धमस्ति, तत्तत् सर्वं वेदादेव प्रसृतमिति विज्ञेयम्। यद्यत् खल्वनृतं, तत्तदनीश्वरोक्तं वेदाद् बहिरिति च। अत्रार्थे मनुराह—

१. अर्थात् बालबुद्धि अज्ञानियों को। २. वै० य० मुद्रित में 'क्योंकि ईश्वर की' पाठ है।

त्वमेको ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुवः ।
अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित् प्रभो ॥ १ ॥ अ० १ । श्लोक ३ ॥

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।
भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति ॥ २ ॥

बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ।
तस्मादेतत् परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥ ३ ॥

अ० १२ । श्लोक ९७, ९९ ॥

भाषार्थ—प्र०—यज्ञ में वेदमन्त्रों को छोड़के दूसरे का पाठ करें, तो क्या दोष है ?

उ०—अन्य के पाठ में यह प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता । ईश्वर के वचन से जो सत्य प्रयोजन सिद्ध होता है, सो अन्य के वचन से कभी नहीं हो सकता । क्योंकि जैसा ईश्वर का वचन सर्वथा भ्रांतिरहित सत्य होता है, वैसा अन्य का नहीं । [1](और जो कोई वेदों के अनुकूल अर्थात् आत्मा की शुद्धि, आप्त पुरुषों के ग्रन्थों का बोध, और उनकी शिक्षा से वेदों को यथावत् जानके कहता है, उसका भी वचन सत्य होता है । और जो केवल अपनी बुद्धि से कहता है वह ठीक-ठीक नहीं हो सकता ।) इससे यह निश्चय है कि जहां-जहां सत्य दीखता और सुनने में आता है, वहां-वहां वेदों में से ही फैला है । और जो-जो मिथ्या है सो-सो वेद से नहीं, किन्तु वह जीवों ही की कल्पना से प्रसिद्ध हुआ है । क्योंकि जो ईश्वरोक्त ग्रन्थ से सत्य प्रयोजन सिद्ध होता है, सो दूसरे से कभी नहीं हो सकता । इस विषय में मनु का प्रमाण है कि—

(त्वमे०) मनुजी से ऋषि लोग कहते हैं कि स्वयंभू जो सनातन वेद हैं, जिनमें असत्य कुछ भी नहीं, और जिनमें सब सत्यविद्याओं का विधान है, उसके अर्थ को जाननेवाले केवल आप ही हैं ॥१॥

(चातु०) अर्थात् चार वर्ण, [तीनों लोक,] चार आश्रम, भूत भविष्यत् और वर्त्तमान आदि की सब विद्या वेदों से ही प्रसिद्ध होती हैं ॥२॥ क्योंकि—

(बिभर्त्ति०) यह जो सनातन वेदशास्त्र है सो सब विद्याओं के दान से सम्पूर्ण प्राणियों का धारण और सब सुखों को प्राप्त कराता[2] है, इस कारण से हम लोग उसको सर्वथा उत्तम मानते हैं । और इसी प्रकार मानना भी चाहिये, क्योंकि सब जीवों के लिये सब सुखों का साधन यही है ॥३॥

किं यज्ञानुष्ठानार्थं भूमिं खनित्वा वेदिः, प्रणीतादीनि पात्राणि, कुशतृणं, यज्ञशाला, ऋत्विजश्चैतत्[3] सर्वं करणीयमस्ति ?

१. इस कोष्ठान्तर्गत पाठ का मूल संस्कृत-भाग में नहीं है ।
२. वै० य० मुद्रित में 'करता' अपपाठ है ।
३. 'ऋत्विग्वरणं चैतत्' इत्येवं पाठो युक्ततरः स्यात् ।

अत्र ब्रूमः—यद्यदावश्यकं युक्तिसिद्धं तत्तत् कर्त्तव्यं, नेतरत्। तद्यथा—भूमिं खनित्वा वेदी रचनीया। तस्यां होमे कृतेऽग्नेस्तीव्रत्वाद् धुतं द्रव्यं सद्यो विभेदं प्राप्याकाशं गच्छति। तथा वेदिदृष्टान्तेन त्रिकोणचतुष्कोणगोलश्येनाद्याकारवत्करणाद् रेखागणितमपि साध्यते। तत्र चेष्टकानां परिगणितत्वादनया गणितविद्यापि गृह्यते। एवमेवोत्तरेऽपि पदार्थाः सप्रयोजनाः सन्त्येव। परन्त्वेवं प्रणीतायां रक्षितायां पुण्यं स्याद् एवं पापमिति यदुच्यते, तत्र पापनिमित्ताभावात् सा कल्पना मिथ्यैवास्ति। किन्तु खलु यज्ञसिद्ध्यर्थं यद्यदावश्यकं युक्तिसिद्धमस्ति, तत्तदेव ग्राह्यम्। कुतः? तैर्विना तदसिद्धेः।

भाषार्थ—प्र०—क्या यज्ञ करने के लिये पृथिवी खोद के वेदिरचन, प्रणीता, प्रोक्षणी और चमसादि पात्रों का स्थापन, दर्भ का रखना, यज्ञशाला का बनाना और ऋत्विजों का [वरण] करना, यह सब करना ही चाहिये?

उ०—करना तो चाहिये, परन्तु जो-जो युक्तिसिद्ध हैं, सो-सो ही करने के योग्य हैं। क्योंकि जैसे वेदि बनाके उसमें होम करने से वह द्रव्य शीघ्र भिन्न-भिन्न परमाणुरूप होके वायु और अग्नि के साथ आकाश में फैल जाता है, ऐसे ही वेदि में भी अग्नि तेज होने, और होम का साकल्य इधर-उधर बिखरने से रोकने के लिये वेदि अवश्य रचनी चाहिये। और वेदि के त्रिकोण, चतुष्कोण, गोल तथा श्येन पक्षी आदि के तुल्य बनाने के दृष्टान्त से रेखागणित विद्या भी जानी है कि जिससे त्रिभुज आदि रेखाओं का भी मनुष्यों को यथावत् बोध हो। तथा उसमें जो ईंटों की संख्या की है, उससे गणितविद्या भी समझी जाती है।[1] इस प्रकार से कि जब इतनी लम्बी चौड़ी और गहरी वेदि हो, तो उसमें इतनी बड़ी ईंटें इतनी लगेंगीं, इत्यादि वेदि के बनाने में बहुत प्रयोजन हैं। तथा सुवर्ण, चांदी वा काष्ठ के पात्र इस कारण से बनाते हैं कि उनमें जो घृतादि पदार्थ रक्खे जाते हैं वे बिगड़ते नहीं। और कुश इसलिये रखते हैं कि जिससे यज्ञशाला का मार्जन हो, और चिंवटी आदि कोई जन्तु वेदि की ओर अग्नि में न गिरने पावें। ऐसे ही यज्ञशाला बनाने का यह प्रयोजन है कि जिससे अग्नि की ज्वाला में वायु अत्यन्त न लगे, और वेदि में कोई पक्षी किंवा उनकी बीठ भी न गिरे। इसी प्रकार ऋत्विजों के विना यज्ञ का काम कभी नहीं हो सकता, इत्यादि प्रयोजन के लिये यह सब विधान यज्ञ में अवश्य करना चाहिये। इनसे भिन्न द्रव्य की शुद्धि और संस्कार आदि भी अवश्य करने चाहियें। परन्तु इस प्रकार से प्रणीतापात्र रखने से पुण्य और इस प्रकार रखने से पाप होता है, इत्यादि कल्पना मिथ्या ही है।[2] किन्तु जिस प्रकार करने में यज्ञ का कार्य अच्छा बने, वही करना अवश्य है, अन्य नहीं।

यज्ञे देवताशब्देन किं गृह्यते? याश्च वेदोक्ताः। अत्र प्रमाणानि—

अ॒ग्निर्दे॒वता॒ वातो॑ दे॒वता॒ सूर्यो॑ दे॒वता॑ च॒न्द्रमा॑ दे॒वता॒ वस॑वो दे॒वता॑ रु॒द्रा

१. यहां से आगे की भाषा पूर्व वाक्य के वैशद्यार्थ अनुवादमात्र है।

२. यहाँ पापरूप कल्पना का मिथ्यात्व दर्शाया है। इसका यह भाव नहीं कि वेदि में जो पात्र जिस स्थान पर रखने का विधान है, उसका यथोचित पालन न किया जाए।

दे॒वता॑ऽऽदि॒त्या दे॒वता॑ म॒रुतो॑ दे॒वता॒ विश्वे॑ दे॒वा दे॒वता॒ बृह॒स्पति॑र्दे॒वतेन्द्रो॑ दे॒वता॒ वरु॑णो दे॒वता॑ ॥ यजुः अ० १४ । मं० २० ॥

अत्र कर्मकाण्डे देवताशब्देन वेदमन्त्राणां ग्रहणम् । गायत्र्यादीनि छन्दांसि ह्यग्न्यादिदेवतास्यान्येव गृह्यन्ते, तेषां कर्मकाण्डादिविधेर्द्योतकत्वात् । यस्मिन्मन्त्रे चाग्निशब्दार्थप्रतिपादनं वर्त्तते, स एव मन्त्रोऽग्निदेवतो गृह्यते । एवमेव वातः सूर्यश्चन्द्रमा वसवो रुद्रा आदित्या मरुतो विश्वेदेवा बृहस्पतिरिन्द्रो वरुणश्चेत्येतच्छब्दयुक्ता मन्त्रा देवताशब्देन गृह्यन्ते । तेषामपि तत्तदर्थस्य द्योतकत्वात्, परमाप्तेश्वरेण कृतसंकेतत्वाच्च ।

भाषार्थ—प्र०—यज्ञ में देवता-शब्द से किसका ग्रहण होता है ?

उ०—जो-जो वेद में कहे हैं, उन्हीं का ग्रहण होता है । इसमें यह यजुर्वेद का प्रमाण है कि—(अग्निर्देव०) कर्मकाण्ड अर्थात् यज्ञक्रिया में मुख्य करके देवता शब्द से वेदमन्त्रों का ही ग्रहण करते हैं । क्योंकि जो गायत्र्यादि छन्द हैं, वे ही 'देवता' कहाते हैं । और इन वेदमन्त्रों से ही सब विद्याओं का प्रकाश भी होता है । इसमें यह कारण है कि जिन-जिन मन्त्रों में अग्नि आदि शब्द हैं, उन-उन मन्त्रों का और उन-उन शब्दों के अर्थों का अग्नि आदि देवता-नामों से ग्रहण होता है । मन्त्रों का देवता नाम इसलिये है कि उन्हीं से सब अर्थों का यथावत् प्रकाश होता है ।

अत्राह यास्काचार्य्यो निरुक्ते—

'कर्मसंपत्तिर्मन्त्रो वेदे' ॥ निरु० अ० १ । खं० २ ॥

'अथातो दैवतम् । तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षते । सैषा देवतोपपरीक्षा । यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति । तास्त्रिविधा ऋचः । परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च' ॥

निरु० अ० ७ । खं० १ ॥

अस्यार्थः—(कर्मसं०) कर्मणामग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तानां शिल्पविद्यासाधनानां च संपत्तिः संपन्नता संयोगो भवति येन स मन्त्रो वेदे देवताशब्देन गृह्यते । तथा च कर्मणां संपत्तिर्मोक्षो भवति येन परमेश्वरप्राप्तिश्च, सोऽपि मन्त्रो मन्त्रार्थश्चाङ्गीकार्य्यः ।

[(अथातो०)] अथेत्यनन्तरं दैवतं किम् ? उच्यते । यत्प्राधान्येन स्तुतिर्यासां देवतानां क्रियते तद्दैवतमिति विज्ञायते । यानि नामानि मन्त्रोक्तानि येषामर्थानां मन्त्रेषु विद्यन्ते, तानि सर्वाणि देवतालिङ्गानि भवन्ति । तद्यथा—

'अ॒ग्निं दू॒तं पु॒रो द॑धे हव्य॒वाह॒मुप॑ ब्रुवे । दे॒वाँ २ऽ आ सा॑दयादि॒ह ॥

यजुः० अ० २२ । मं १७ ॥

अत्राग्निशब्दो लिङ्गमस्ति । अतः किं विज्ञेयम् ? यत्र यत्र देवतोच्यते तत्र तत्र तल्लिङ्गो मन्त्रो ग्राह्य इति । यस्य द्रव्यस्य नामाङ्कितं यच्छब्दोऽस्ति, तदेव दैवतमिति बोध्यम् । सा एषा देवतोपपरीक्षाऽतीता आगामिनी चास्ति । अत्रोच्यते—

ऋषिरीश्वरः सर्वदृग्, यत्कामो यं कामयमान इममर्थमुपदिशेयमिति स यत्कामः, यस्यां देवतायामार्थपत्यमर्थस्य स्वामित्वमुपवेष्टुमिच्छन् सन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते, तदर्थगुणकीर्त्तनं प्रयुक्तवानस्ति, स एव मन्त्रस्तद्दैवतो भवति । किञ्च यदेवार्थप्रतीतिकरणं दैवतं प्रकाश्यं येन भवति, स मन्त्रो देवताशब्दवाच्योऽस्तीति विज्ञायते । देवताभिधा ऋचो याभिर्विद्वांसः सर्वाः सत्यविद्याः स्तुवन्ति प्रकाशयन्ति, ऋच स्तुताविति धात्वर्थयोगात् । ता श्रुतयस्त्रिविधास्त्रिप्रकारका सन्ति—परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्चेति । यासां देवतानामृचां परोक्षकृतोऽर्थोऽस्ति ताः परोक्षकृताः । यासां प्रत्यक्षमर्थो दृश्यते ताः प्रत्यक्षकृता ऋचो देवताः । आध्यात्मिक्यश्चाध्यात्मं जीवात्मानं तदन्तर्यामिणं परमेश्वरं च प्रतिपादितुमर्हा या ऋचो मन्त्रास्ता आध्यात्मिक्यश्चेति । एता एव कर्मकाण्डे देवताशब्दार्था सन्तीति विज्ञेयम् ।

भाषार्थ—(कर्मसं) वेदमन्त्रों करके अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्य्यन्त सब यज्ञों की [तथा] शिल्पविद्या और उनके साधनों की सम्पत्ति अर्थात् प्राप्ति होती, और कर्मकाण्ड[1] को लेके मोक्षपर्य्यन्त सुख मिलता है, इसी हेतु से उनका नाम 'देवता' है ।

(अथातो०) दैवत उनको कहते हैं कि जिनके गुणों का कथन किया जाय, अर्थात् जो-जो संज्ञा जिन-जिन मन्त्रों में जिस-जिस अर्थ की होती है, उन-उन मन्त्रों का नाम वही देवता होता है । जैसे 'अग्निं दूतं०' इस मन्त्र में अग्नि शब्द चिह्न है, यहां इसी मन्त्र को अग्नि देवता जानना चाहिये । ऐसे ही जहां-जहां मन्त्रों में जिस-जिस शब्द का लेख है, वहां-वहां उस-उस [लिङ्ग] वाले मन्त्र को ही देवता समझना होता है । इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिये । सो देवता शब्द से जिस-जिस गुण से जो-जो अर्थ लिये जाते हैं, सो-सो निरुक्त और ब्राह्मणादि ग्रन्थों में अच्छी प्रकार लिखा है ।

इसमें यह कारण है कि ईश्वर ने जिस-जिस अर्थ को जिस-जिस नाम से वेदों में उपदेश किया है, उस-उस नामवाले मन्त्रों से उन्हीं अर्थों को जानना होता है । सो वे मन्त्र तीन प्रकार के हैं । उनमें से कई एक परोक्ष अर्थात् अप्रत्यक्ष अर्थ के, कई एक प्रत्यक्ष अर्थात् प्रसिद्ध अर्थ के, और कई एक आध्यात्मिक अर्थात् जीव, परमेश्वर ([2]और सब पदार्थों के कार्य्य कारण) के प्रतिपादन करनेवाले हैं । इससे क्या आया कि त्रिकालस्थ जितने पदार्थ और विद्या हैं, उनके विधान करनेवाले मन्त्र ही हैं । इसी कारण से इनका नाम देवता है ।

तद्येऽनादिष्टदेवता मन्त्रास्तेषु देवतोपपरीक्षा—यद्दैवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा

१. यहां भाषानुवाद ठीक नहीं है । इस प्रकार चाहिये—'उन वेदमन्त्रों से कर्मों की सम्पत्ति अर्थात् मोक्षलाभ और परमेश्वर की प्राप्ति होती है, इसी हेतु से उन मन्त्रों और मन्त्रार्थों का नाम देवता है ।'

२. कोष्ठान्तर्गत पाठ असम्बन्ध सा है ।

तद्देवता भवन्ति, अथान्यत्र यज्ञात् प्राजापत्या इति याज्ञिकाः, नाराशंसा इति नैरुक्ताः, अपि वा सा कामदेवता स्यात्, प्रायोदेवता वा, अस्ति ह्याचारो बहुलं लोके— देवदेवत्यम्, अतिथिदेवत्यं, पितृदेवत्यं, याज्ञदेवतो मन्त्र इति ॥ निरु० अ० ७। खं० ४॥

(तद्येऽनादि०) तत्तस्माद् ये खल्वनादिष्टदेवता मन्त्रा अर्थान्न विशेषतो देवतादर्शनं नामार्थो वा येषु दृश्यते, तेषु देवतोपपरीक्षा कास्तीत्यत्रोच्यते—यत्र विशेषो न दृश्यते तत्रवं यज्ञो देवता, यज्ञाङ्गं वेत्येतद्देवताख्यमिति विज्ञायते। ये खलु यज्ञादन्यत्र प्रयुज्यन्ते ते वं प्राजापत्याः परमेश्वरदेवताका मन्त्रा भवन्तीत्येवं याज्ञिका मन्यन्ते। अत्रैवं विकल्पोऽस्ति—नाराशंसा मनुष्यविषया इति नैरुक्ता ब्रुवन्ति। तथा या कामना सा कामदेवता भवतीति सकामा लौकिका जना जानन्ति। एवं देवताविकल्पस्य प्रायेण लोके बहुलमाचारोऽस्ति। क्वचिद्देवदेवत्यं कर्म, मातृदेवत्यं, विद्वद्देवत्यम्, अतिथिदेवत्यं, पितृदेवत्यं चैतेऽपि पूज्याः सत्कर्त्तव्याः सन्त्यतस्तेषामुपकारकर्तृत्वमात्रमेव देवतात्वमस्तीति विज्ञायते। मन्त्रास्तु खलु यज्ञसिद्धये मुख्यहेतुत्वाद् याज्ञदेवता एव सन्तीति निश्चीयते।

भावार्थ—जिन-जिन मन्त्रों में देवतारूप से किसी[1] विशेष अर्थ का नाम प्रसिद्ध नहीं दीख पड़ता, वहां-वहां यज्ञ आदि को देवता जानना होता है। (अग्निमीळे०) इस मन्त्र के भाष्य[2] में जो तीन प्रकार का यज्ञ लिखा है, अर्थात् एक तो अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध-पर्य्यन्त, दूसरा प्रकृति से लेके पृथिवी-पर्य्यन्त जगत् का रचनरूप तथा शिल्पविद्या, और तीसरा सत्सङ्ग आदि से जो विज्ञान और योगरूप यज्ञ है, ये ही उन मन्त्रों के देवता जानने चाहियें। तथा जिनसे यह यज्ञ सिद्ध होता है, वे यज्ञाङ्ग भी मन्त्रों के देवता[3] हैं। और जो इनसे भिन्न मन्त्र हैं [वे] प्राजापत्य अर्थात् उनका परमेश्वर ही देवता है। तथा जो मन्त्र मनुष्यों का प्रतिपादन करते हैं, उनके मनुष्य देवता है। इसमें बहुत प्रकार के विकल्प हैं—कि कहीं पूर्वोक्त देवता कहाते हैं, कहीं यज्ञादि कर्म, कहीं माता, कहीं पिता, कहीं विद्वान्, कहीं अतिथि और कहीं आचार्य्य देव कहाते हैं। परन्तु इसमें इतना भेद है कि यज्ञ में मन्त्र और परमेश्वर को ही देव मानते हैं।

अत्र परिगणनम्—गायत्र्यादिच्छन्दोन्विता मन्त्राः, ईश्वराज्ञा, यज्ञः, यज्ञाङ्गं, प्रजापतिः परमेश्वरः, नराः, कामः, विद्वान्, अतिथिः, माता, पिता, आचार्य्यश्चेति कर्मकाण्डादीन् प्रत्येता देवताः सन्ति। परन्तु मन्त्रेश्वरावेव याज्ञदैवते भवत इति निश्चयः।

भाषार्थ—जो जो गायत्र्यादि छन्दों से युक्त वेदों के मन्त्र, उन्हीं में ईश्वर की आज्ञा यज्ञ और उनके अङ्ग अर्थात् साधन, प्रजापति जो परमेश्वर, नर जो मनुष्य, काम, विद्वान्, अतिथि,

---

१. वै० य० मुद्रित में 'मन्त्रों में सामान्यरूप अर्थात् जहां जहां किसी' ऐसा अपपाठ है।

२. यहां ऋग्वेदभाष्य का २४ पृष्ठ का जो नमूने का अंक वि० सं० १९३३ में छपा था, उसमें व्याख्यात 'अग्निमीळे' मन्त्र के भाष्य की ओर यह संकेत है। इस ऋग्भाष्य के लिये 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका परिशिष्ट' नामका संग्रह देखें। इसके पृष्ठ ९ पर तीन प्रकार के यज्ञ का वर्णन है।

३. यहां वै० य० मुद्रित में 'वे भी उन यज्ञों के देवता' ऐसा अपपाठ है।

माता, पिता और आचार्य्य, ये अपने अपने दिव्यगुणों से ही देवता कहाते हैं। परन्तु यज्ञ में तो वेदों के मन्त्र और ईश्वर को ही देवता माना है।

अन्यच्च—'देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा' ॥
निरु० अ० ७। खं० १५॥

'मन्त्रा मननाच्छन्दांसि छादनात्' ॥ निरु० अ० ७। खं० १२॥

अस्यार्थः—(देवो दानात्) यत्स्वस्यत्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वोत्पादनं तद्दानं भवति, (दीपनात्) दीपनं प्रकाशनम्, [(द्योतनात्)] द्योतनमुपदेशादिकं च। अत्र 'दानशब्देनेश्वरो[1] विद्वांसो मनुष्याश्च देवतासंज्ञाः सन्ति। दीपनात् सूर्य्यादयो, द्योतनान्मातृपित्राचार्य्यातिथयश्च। [(द्युस्थानः)] तथा द्यौः किरणा आदित्यरश्मयः [2]प्राणसूर्य्यादयो वा स्थानं स्थित्यर्थं यस्य स द्युस्थानः। प्रकाशकानामपि प्रकाशकत्वात् परमेश्वर एवात्र देवोऽस्तीति विज्ञेयम्। अत्र प्रमाणम्—

'न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' ॥
कठ० वल्ली ५। मं० १५॥

तत्र नैव परमेश्वरे सूर्य्यादयो भान्ति प्रकाशं कुर्वन्ति। किन्तु तमेव भान्तं प्रकाशयन्तमनु पश्चात् ते हि प्रकाशयन्ति। नैव खल्वेतेषु कश्चित् स्वातन्त्र्येण प्रकाशोऽस्तीति। अतो मुख्यो देव एकः परमेश्वर एवोपास्योऽस्तीति मन्यध्वम्।

भाषार्थ—(देवो दाना०) दान देने से देव नाम पड़ता है, और 'दान' कहते हैं अपनी चीज दूसरे के अर्थ दे देना[3]। 'दीपन' कहते हैं प्रकाश करने को। 'द्योतन' कहते हैं सत्योपदेश को। इनमें से दान का दाता मुख्य एक ईश्वर ही है कि जिसने जगत् को सब पदार्थ दे रक्खे हैं। तथा विद्वान् मनुष्य भी विद्यादि पदार्थों के देने वाले होने से देव कहाते हैं। (दीपन) अर्थात् सब मूर्तिमान् द्रव्यों का प्रकाश करने से सूर्य्यादि लोकों का नाम भी देव है। [(द्योतन)] तथा माता, पिता, आचार्य्य और अतिथि भी पालन विद्या और सत्योपदेशादि के करने से देव कहाते हैं। वैसे ही सूर्य्यादि लोकों का भी जो प्रकाश करने वाला है, सो ही ईश्वर सब मनुष्यों को उपासना करने के के योग्य इष्टदेव है, अन्य कोई नहीं। इसमें कठोपनिषद् का भी प्रमाण है कि—

'सूर्य, चन्द्रमा, तारे, बिजुली और अग्नि ये सब परमेश्वर में प्रकाश नहीं कर सकते, किन्तु इन सबका प्रकाश करने वाला एक वही है। क्योंकि परमेश्वर के प्रकाश से ही सूर्य आदि सब

---

१. अत्र 'दानात् शब्देनेश्वरो०' इत्येवं पाठो द्रष्टव्यः। यथाऽग्रिमवाक्ये 'दपनात्' 'द्योतनात्' प्रतीके निर्दिष्टे तथैवेह 'दानात्' प्रतीकनिर्देशो ज्ञेयः।　२. 'प्राणाः सूर्यादियो वा' इति युक्तः पाठः स्यात्।

३. यह अधूरा अनुवाद है। यहां 'दान कहते हैं किसी वस्तु के विषय में अपने स्वामीपन को छोड़ते हुए दूसरे के स्वामीपन को उत्पन्न करना' ऐसा भाषानुवाद होना चाहिए।

जगत् प्रकाशित हो रहा है।' इसमें यह जानना चाहिये कि ईश्वर से भिन्न कोई पदार्थ स्वतन्त्र प्रकाश करनेवाला नहीं है, इससे एक परमेश्वर ही देव है।

'नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्शत्[1] ॥' य० अ० ४० । मं० ४ ॥

अत्र देवशब्देन मनःषष्ठानि श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि गृह्यन्ते। तेषां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां सत्यासत्ययोश्चार्थानां द्योतकत्वात् तान्यपि देवाः। यो देवः सा देवता, 'देवात्तल्'[2] इत्यनेन सूत्रेण स्वार्थे 'तल्' विधानात्। स्तुतिर्हि गुणदोषकीर्तनं भवति। यस्य पदार्थस्य मध्ये यादृशा गुणा वा दोषाः सन्ति तादृशानामेवोपदेशः स्तुतिर्विज्ञायते। तद्यथा—अयमसिः प्रहृतः सन्नतीक्ष्णछेदनं करोति, तीक्ष्णधारः स्वच्छो धनुर्वन्नाम्यमानोऽपि न त्रुट्यतीत्यादि गुणकथनम्, अतो विपरीतोऽसिर्नैव तत् कर्तुं समर्थो भवतीत्यसेः स्तुतिर्विज्ञेया।

भाषार्थ—(नैनद्देवा०) इस वचन में देव शब्द से इन्द्रियों का ग्रहण होता है। जो कि श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जीभ, नाक और मन, ये छः देव कहाते हैं। क्योंकि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सत्य और असत्य इत्यादि अर्थों का इनसे प्रकाश होता है। और देव शब्द से स्वार्थ में 'तल्' प्रत्यय करने से देवता शब्द सिद्ध होता है। जो-जो गुण जिस-जिस पदार्थ में ईश्वर ने रचे हैं, उन-उन गुणों का लेख, उपदेश, श्रवण और विज्ञान करना तथा मनुष्यसृष्टि के गुण-दोषों का भी लेख आदि करना, इसको 'स्तुति' कहते हैं। क्योंकि जितना-जितना जिस-जिस में गुण है, उतना-उतना उसमें देवपन है। इससे वे किसी के इष्टदेव नहीं हो सकते। जैसे किसी ने किसी से कहा कि यह तलवार काट करने में बहुत अच्छी और निर्मल है, इसकी धार बहुत तेज है, और यह धनुष के समान नमाने से भी नहीं टूटती, इत्यादि तलवार के गुण कथन को स्तुति कहते हैं।

तद्वदन्यत्रापि विज्ञेयम्। परन्त्वयं नियमः कर्मकाण्डं प्रत्यस्ति। उपासनाज्ञानकाण्डयोः कर्मकाण्डस्य निष्कामभागेऽपि च परमेश्वर एवेष्टदेवोऽस्ति। कस्मात्? तत्र तस्यैव प्राप्तिः प्रार्थ्यते। यश्च तस्य सकामो भागोऽस्ति तत्रेष्टविषयभोगप्राप्तये[3] परमेश्वरः प्रार्थ्यते। अतः कारणाद् भेदो भवति। परन्तु नैवेश्वरार्थत्यागः क्वापि भवतीति वेदाभिप्रायोऽस्ति।

भाषार्थ—इसी प्रकार सर्वत्र जान लेना। [परन्तु यह नियम कर्मकाण्ड में ही है।] इस नियम के साथ कि केवल परमेश्वर ही उपासना और ज्ञानकाण्ड [तथा कर्मकाण्ड के निष्काम भाग] में सब का इष्टदेव स्तुति, प्रार्थना, पूजा और उपासना करने योग्य है। क्योंकि गुण वे कहाते हैं, जिनसे कर्मकाण्डादि में उपकार लेना होता है। परन्तु सकाम[4] कर्मकाण्ड में भी इष्टभोग प्राप्ति के लिये परमेश्वर [की प्रार्थना करनी होती है। उस] का त्याग नहीं होता। क्योंकि कार्य्य कारण सम्बन्ध से ईश्वर ही सर्वत्र स्तुति, प्रार्थना, उपासना से पूजा करने के योग्य होता है।

---

१. ग्रन्थकारकृते यजुर्वेदभाष्ये 'अर्षत्' पाठो दृश्यते। अयं काण्वशाखायाः पाठः।

२. अष्टा० ५।४।२७॥

३. अत्र 'तत्रापीष्टविषयभोगप्राप्तये' इति युक्तः पाठो ज्ञेयः।

४. वै० य० मुद्रित में 'सर्वत्र' अपपाठ है।

अत्र प्रमाणम्—'माहाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति। ..... कर्मजन्मान आत्मजन्मान आत्मैवैषां रथो भवत्यात्माश्वा[1] आत्मायुधमात्मेषव आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य' ॥ निरु० अ० ७। खं० ४॥

(माहाभाग्याद्दे०) सर्वासां व्यवहारोपयोगिदेवतानां मध्य आत्मन एव मुख्यं देवतात्वमस्ति। कुतः? आत्मनो माहाभाग्यादर्थात् सर्वशक्तिमत्त्वादिविशेषणवत्त्वात्। न तस्याग्रेऽन्यस्य कस्यापि देवतात्वं गण्यं भवितुमर्हति। कुतः? सर्वेषु वेदेष्वेकस्याद्वितीयस्यासहायस्य सर्वत्र व्याप्तस्यात्मन एव बहुधा बहुप्रकारैरुपासना विहितास्ति। अस्मादन्ये ये देवा उक्ता वक्ष्यन्ते च, ते सर्व एकस्यात्मनः परमेश्वरस्य प्रत्यङ्गान्येव भवन्ति। अङ्गमङ्गं प्रत्यञ्चन्तीति निरुक्त्या तस्यैव सामर्थ्यस्यैकैकस्मिन् देशे प्रकाशिताः सन्ति। ते च (कर्मज०) यतः कर्मणा जायन्ते तस्मात् कर्मजन्मानो यत आत्मन ईश्वरस्य सामर्थ्याज्जातास्तस्मादात्मजन्मानश्च सन्ति। अथैतेषां देवानामात्मा परमेश्वर एव रथो रमणाधिकरणम्। स एवाश्वा गमनहेतवः। स आयुधं विजयावहम्, इषवो बाणा दुःखनाशकाः स एवास्ति। तथा चात्मैव देवस्य देवस्य सर्वस्वमस्ति। अर्थात् सर्वेषां देवानां स एवोत्पादको धाताधिष्ठाता मङ्गलकारी वर्त्तते। नातः परं किंचिदुत्तमं वस्तु विद्यत इति बोध्यम्।

भाषार्थ—इसमें निरुक्त का भी प्रमाण है कि व्यवहार के [उपयोगी] देवताओं की उपासना कभी नहीं करनी चाहिये, किन्तु एक परमेश्वर ही की करनी उचित है। इसका निश्चय वेदों में अनेक प्रकार से किया है कि एक अद्वितीय परमेश्वर के ही प्रकाश, धारण, उत्पादन करने से वे सब व्यवहार के देव प्रकाशित हो रहे हैं। इनका जन्म और कर्म ईश्वर के सामर्थ्य से होता है। और इनका रथ अर्थात् जो रमण का स्थान, अश्व अर्थात् शीघ्र सुख-प्राप्ति का कारण, आयुध अर्थात् सब शत्रुओं के नाश करने का हेतु, और इषु अर्थात् जो बाण के समान सब दुष्टगुणों का छेदन करनेवाला शस्त्र[2] है, सो एक परमेश्वर ही है। क्योंकि परमेश्वर ने जिस-जिस में जितना-जितना दिव्यगुण रक्खा है, उतना-उतना ही उन द्रव्यों में देवपन है, अधिक नहीं। इससे क्या सिद्ध हुआ कि केवल परमेश्वर ही उन सबका उत्पादन, धारण और मुक्ति का देनेवाला है।

अत्रान्यदपि प्रमाणम्—

'ये त्रिंशति त्रयस्परो देवासो बर्हिरासदन्। विदन्नह द्वितासनन् ॥ १ ॥'

ऋ० अ० ६। अ० २। व० ३५। मं० १॥[3]

---

१. निरुक्ते तु 'अश्व' इत्येकवचनान्तः पाठ उपलभ्यते।

२. यहां 'अस्त्र' पाठ युक्त है। जिनको फेंककर शत्रुओं को मारा जाये अस्त्र कहाते हैं, और जिन्हें हाथ में पकड़कर शत्रुओं को मारा जाये वे शस्त्र कहाते हैं।

३. ऋ० मं० ८। सू० २८। मं० १॥

'त्रयस्त्रिꣳशतास्तुवत भूतान्यशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासीत् ।। २ ।।'

य० अ० १४ । मं० ३१ ।।

'यस्य त्रयस्त्रिꣳशद् देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा ।
निधिं तमद्य को वेद यं देवा अभिरक्षथ ।। ३ ।।
यस्य त्रयस्त्रिꣳशद् देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे ।
तान् वै त्रयस्त्रिꣳशद् देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ।। ४ ।।'

अथर्व० कां० १० । प्रपा० २३ । अनु० ४ । मं० २३,२७ ।।[1]

'स होवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिꣳशत्त्वेव देवा इति । कतमे ते त्रयस्त्रिꣳशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिꣳशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिꣳशाविति ।।५।।

कतमे वसव इति ? अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसवः । एतेषु हीदꣳ सर्वं वसु हितमेते हीदꣳ सर्वं वासयन्ते, तद्यदिदꣳ सर्वं वासयन्ते तस्माद् वसव इति ।। ६ ।।

कतमे रुद्रा इति ? दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्मान्मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति, तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति ।। ७ ।।

कतम आदित्या इति ? द्वादश मासाः संवत्सरस्यैत आदित्याः । एते हीदꣳ सर्वमाददाना यन्ति, तद्यदिदꣳ सर्वमाददाना यन्ति[2] तस्मादादित्या इति ।। ८ ।।

कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति ? स्तनयित्नुरेवेन्द्रो, यज्ञः प्रजापतिरिति । कतमः स्तनयित्नुरित्यशनिरिति । कतमो यज्ञ इति ? पशव इति ।। ९ ।।

कतमे ते त्रयो देवा इतीम एव त्रयो लोका एषु हीमे सर्वे देवा इति । कतमौ द्वौ देवावित्यन्नं चैव प्राणश्चेति । कतमोऽध्यर्ध इति ? योऽयं पवत इति ।। १० ।।

तदाहुः । यदयमेक एव पवतेऽथ कथमध्यर्ध इति ? यदस्मिन्निदꣳ सर्वमध्यार्ध्नोत्तेनाध्यर्ध इति । कतम एको देव इति ? स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते ।। ११ ।।'

श० कां० १४ । अ० ६ ।[3]

---

१. अथर्व० १० । ७ । २३, २७ ।।

२. वै० य० मुद्रिते शतपथे 'तद्यदिदꣳ सर्वमाददाना यन्ति' इत्येतावान् पाठस्त्रुटितो वर्तते ।

३. शत० १४ । ६ । ९ । ३—७, ९, १० ।।

अर्थंथामर्थः—वेदमन्त्राणामेतार्थो ब्राह्मणग्रन्थेषु प्रकाशित इति द्रष्टव्यम्। शाकल्यं प्रति याज्ञवल्क्योक्तिः—त्रयस्त्रिंशदेव देवाः सन्ति। अष्टौ वसवः, एकादश रुद्राः, द्वादशादित्याः, इन्द्रः प्रजापतिश्चेति।

तत्र (वसवः)—अग्निः, पृथिवी, वायुः, अन्तरिक्षम्, आदित्यः, द्यौः, चन्द्रमाः, नक्षत्राणि च। एतेषामष्टानां वसुसंज्ञा कृतास्ति। आदित्यः सूर्य्यलोकः, तस्य प्रकाशोऽस्ति द्यौः सूर्य्यसन्निधौ पृथिव्यादिषु वा। अग्निलोकोऽस्त्यग्निरेव। कुत एते वसवः इति? यद्यस्मादेतेष्वष्टस्वेवेदं सर्वं सम्पूर्णं वसु वस्तुजातं हितं धृतमस्ति। किञ्च सर्वेषां वासाधिकरणानीम एव लोका सन्ति। हि यतश्चेदं वासयन्ते सर्वस्यास्य जगतो वासहेतवस्तस्मात् कारणादग्न्यादयो वसुसंज्ञका सन्तीति बोद्धव्यम्।

(एकादश रुद्राः)—ये पुरुषेऽस्मिन् देहे प्राणः, अपानः, व्यानः, समानः, उदानः, नागः, कूर्मः, कृकलः, देवदत्तः, धनञ्जयश्च इमे दश प्राणाः; एकादशमः आत्मा, सर्वे मिलित्वैकादश रुद्रा भवन्ति। कुत एते रुद्रा इत्यत्राह—यदा यस्मिन् कालेऽस्मान्मरणधर्मकाच्छरीरादुत्क्रामन्तो निःसरन्तः सन्तोऽथेत्यनन्तरं मृतकसम्बन्धिनो जनांस्ते रोदयन्ति। यतो जना रुदन्ति,[1] तस्मात् कारणादेते रुद्राः सन्तीति विज्ञेयम्।

(द्वादशादित्याः) चैत्राद्याः फाल्गुनान्ता द्वादश मासा आदित्या विज्ञेयाः। कुतः? हि यत एते सर्वं जगदाददाना अर्थादासमन्ताद् गृह्णन्तः प्रतिक्षणमुत्पन्नस्य वस्तुन आयुषः प्रलयं निकटमानयन्तो यन्ति गच्छन्ति, चक्रवद् भ्रमणेनोत्तरोत्तरं जातस्य वस्तुनोऽवयवशिथिलतां परिणामेन प्रापयन्ति। तस्मात् कारणान्मासानामादित्यसंज्ञा कृतास्ति।

इन्द्रः परमैश्वर्य्ययोगात् स्तनयित्नुरशनिर्विद्युदिति। प्रजापतिर्यज्ञः पशवः इति। प्रजायाः पालनहेतुत्वात् पशूनां यज्ञस्य च प्रजापतिरिति गौणकी संज्ञा कृतास्ति। एते सर्वे मिलित्वा त्रयस्त्रिंशद् देवा भवन्ति। देवो दानादित्यादिनिरुक्त्या[2] ह्येतेषु व्यावहारिकमेव देवत्वं योजनीयम्[3]।

त्रयो लोकास्त्रयो देवाः, के त इत्यत्राह निरुक्तकारः—

'धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति' ॥निरु० अ० ६। खं० २८॥

'त्रयो लोका एत एव। वागेवायं लोको मनोऽन्तरिक्षलोकः प्राणोऽसौ लोकः॥'
श० कां १४। अ० ४॥[4]

एतेऽपि त्रयो देवा ज्ञातव्याः। द्वौ देवावन्नं प्राणश्चेति। अध्यर्धो ब्रह्माण्डस्थः सूत्रात्माख्यः सर्वजगतो वृद्धिकरत्वाद् वायुर्देवः। किमेते सर्व एवोपास्याः सन्तीत्यत्राह—

१. 'यतो जनात् रोदयन्ति' इति शुद्धः पाठो ज्ञेयः।

२. द्र० निरुक्त ७। १५॥

३. नौगासनिकमिति शेषः।

४. शत० १४। ४। ३। ११॥

नैव, किन्तु (स ब्रह्म०) यत्सर्वजगत्कर्त्तृ सर्वशक्तिमत् सर्वस्येष्टं सर्वोपास्यं सर्वाधारं सर्वव्यापकं सर्वकारणम् अनादि सच्चिदानन्दस्वरूपम् अजं न्यायकारीत्यादिविशेषणयुक्तं ब्रह्मास्ति, स एवैको देवश्चतुस्त्रिंशो वेदोक्तसिद्धान्तप्रकाशितः परमेश्वरो देवः सर्वमनुष्यैरुपास्योऽस्तीति मन्यध्वम्। ये वेदोक्तमार्गपरायणा आर्य्यास्ते सर्वदैतस्यैवोपासनं चक्रुः, कुर्वन्ति, करिष्यन्ति च। अस्माद् भिन्नस्येष्टकरणेनोपासनेन चानार्य्यत्वमेव मनुष्येषु सिध्यतीति निश्चयः। अत्र प्रमाणम्--

'आत्मेत्येवोपासीत ॥ स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रिय५ँ रोत्स्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत, स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति ॥ योऽन्यां देवतामुपासते, न स वेद यथा पशुरेव५ँ स देवानाम् ॥'

श० कां० १४। अ० ४॥[1]

अनेनार्य्येतिहासेन विज्ञायते न परमेश्वरं विहायान्यस्योपासका आर्य्या ह्यासन्निति।

भावार्थ—अब आगे देवता-विषय में तेतीस देवों का व्याख्यान लिखते हैं। जैसा ब्राह्मण ग्रन्थों में वेद-मन्त्रों का व्याख्यान लिखा है—(त्रयस्त्रिंशत्०) अर्थात् व्यवहार के ये (३३) तेतीस देवता हैं—(८) आठ वसु, (११) ग्यारह रुद्र, (१२) बारह आदित्य, एक इन्द्र और एक प्रजापति।

उनमें से आठ वसु ये हैं—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौः, चन्द्रमा और नक्षत्र। [आदित्य का अर्थ सूर्यलोक, और उसका प्रकाश द्यौः कहाता है।] इनका 'वसु' नाम इस कारण से है कि सब पदार्थ इन्हीं में वसते हैं, और ये ही सबके निवास करने के स्थान हैं।

ग्यारह रुद्र ये कहाते हैं—जो शरीर में दश प्राण हैं, अर्थात् प्राण अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और ग्यारहवां जीवात्मा है। क्योंकि जब वे इस शरीर से निकल जाते हैं तब मरण होने से उसके सम्बन्धी लोग रोते हैं। वे निकलते हुए उनको रुलाते हैं, इससे इनका नाम 'रुद्र' है।

इसी प्रकार आदित्य [चैत्र से लेकर फाल्गुन पर्यन्त] बारह महीनों को कहते हैं। क्योंकि वे सब जगत् के पदार्थों का आदान अर्थात् सबकी आयु को ग्रहण करते चले जाते हैं, इसी से इनका नाम 'आदित्य' है।

ऐसे ही 'इन्द्र' नाम बिजुली का है। क्योंकि वह उत्तम ऐश्वर्य की विद्या का मुख्य हेतु है। और 'यज्ञ' को प्रजापति इसलिये कहते हैं कि उससे वायु और वृष्टि जल की शुद्धि द्वारा प्रजा का पालन होता है। तथा पशुओं की यज्ञसंज्ञा होने का यह कारण है कि उनसे भी प्रजा का जीवन होता है। ये सब मिलके अपने-अपनें दिव्य गुणों से तेंतीस देव कहाते हैं।

---

१. शत० १४। ४। २। १८, १९, २२। यहां प्रतिकण्डिका उद्धृत पाठ के आगे हमने दो दो विराम चिह्न दे दिये हैं। अन्तिम उदाहरण में '०मुपास्ते' के आगे 'अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति' इतना पाठ ग्रन्थकार ने छोड़ दिया है अथवा लेखन में छूट गया है यह सन्दिग्ध है।

और तीन देव—स्थान, नाम और जन्म को कहते हैं। दो देव—अन्न और प्राण को कहते हैं। अध्यर्धदेव अर्थात् जिससे सबका धारण और वृद्धि होती है, जो सूत्रात्मा वायु सब जगत् में भर रहा है, उसको अध्यर्धदेव कहते हैं।

प्र०—क्या ये चालीस[1] देव भी सब मनुष्यों को उपासना के योग्य हैं ?

उ०—इनमें से कोई भी उपासना के योग्य नहीं है, किन्तु व्यवहारमात्र की सिद्धि के लिये ये सब देव हैं। और सब मनुष्यों के उपासना के योग्य तो देव एक ब्रह्म ही है। इसमें यह प्रमाण है—(स ब्रह्म०) जो सब जगत् का कर्त्ता, सर्वशक्तिमान्, सबका इष्ट, सबको उपासना के योग्य, सबका धारण करनेवाला, सबमें व्यापक और सबका कारण है, जिसका आदि अन्त नहीं, और जो सच्चिदानन्द स्वरूप है, जिसका जन्म कभी नहीं होता, और जो कभी अन्याय नहीं करता इत्यादि विशेषणों से वेदादिशास्त्रों में जिसका प्रतिपादन किया है, उसी को इष्टदेव मानना चाहिये। और जो कोई इससे भिन्न देव मानता है, उसको अनार्य्य अर्थात् अनाड़ी कहना चाहिये। क्योंकि—

(आत्मेत्ये०[2]) इसमें आर्यों का इतिहास शतपथ ब्राह्मण में है कि परमेश्वर जो सबका आत्मा है, सब मनुष्यों को उसी की उपासना करनी उचित है। [(स योऽन्य०)] इसमें जो कोई कहे कि परमेश्वर को छोड़के दूसरे में भी ईश्वर-बुद्धि से प्रेमभक्ति करनी चाहिये, तो उससे कहे कि सदा दुःखी होके रोदन करेगा। क्योंकि जो ईश्वर की उपासना करता है वह सदा आनन्द में ही रहता है। [(योऽन्यां०)] जो दूसरे में ईश्वर-बुद्धि करके उपासना करता है वह कुछ भी नहीं जानता, इसलिये वह विद्वानों के बीच में पशु अर्थात् गधा के समान है। इससे यह निश्चय हुआ कि आर्य लोग सब दिन से एक ईश्वर ही की उपासना करते आये हैं।

अतः फलितार्थोऽयं जातः—देवशब्दे दिवुधातोर्ये [3]दशार्थास्ते संगता भवन्तीति। तद्यथा—क्रीडा, विजिगीषा, व्यवहारः, द्युतिः, स्तुतिः, मोदः, मदः, स्वप्नः, कान्तिः, गतिश्चेति। एषामुभयत्र समानार्थत्वात्। परन्त्वन्याः सर्वा देवताः परमेश्वरप्रकाश्याः सन्ति। स च स्वयंप्रकाशोऽस्ति। तत्र क्रीडनं क्रीडा, दुष्टान् विजेतुमिच्छा विजिगीषा, व्यवह्रियन्ते यस्मिन् व्यवहरणं [वा] व्यवहारः, स्वप्नो निद्रा, मदो ग्लेपनं दीनता, एते मुख्यतया लौकिकव्यवहारवत्तयो भवन्ति। तत्सिद्धिहेतवो ऽग्न्यादयो देवताः सन्ति। अत्रापि नैव सर्वथा परमेश्वरस्य त्यागो भवति, तस्य सर्वत्रानुसङ्गतया सर्वोत्पादकाधारकत्वात्। तथा द्युतिर्द्योतनं प्रकाशनं, स्तुतिर्गुणेषु गुणकथनं

---

१. वसु आदि ३३, लोक ३, अन्न और प्राण २, वायु अध्यर्ध १—३९ देव होते हैं। और यज्ञ के प्रजापति तथा पशु दो अर्थों की एक यज्ञरूप से गणना करके ४० संख्या बनती है। संस्कृत पाठ में ४० संख्या का उल्लेख नहीं है। आगे इसी देवता-प्रकरण के अन्त में (पृष्ठ ८१) मूर्तिमान् और मूर्तिरहित देवों की गणना के प्रसंग में ४० संख्या अन्य प्रकार से गिनाई है, सो वहां देखें।

२. वै० य० मुद्रित सं० ८ तक 'आत्मेत्ये०' पाठ है, सं० ९ में 'ओमित्ये०' भ्रष्ट पाठ छपा है।

३. धातुपाठे (४।१) पाणिनिना निर्दिशिताः। धातुपाठ उक्ता धात्वर्थाः पाणिनीया एव, न तु भीमसेनप्रोक्ताः (यथाऽर्वाचीना ब्रुवते)। द्र० क्षीरतरङ्गिण्या अस्मदीय उपोद्घातः (पृष्ठ ६-११) अस्मदीये च 'सं० व्या० शास्त्र का इतिहास' नाम्नि ग्रन्थ एकविंशोऽध्यायः।

स्थापनं च, मोदो हर्षः प्रसन्नता, कान्तिः, शोभा, गतिर्ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति। एते परमेश्वरे मुख्यवृत्त्या यथावत् संगच्छन्ते। अतोऽन्यत्र तत्सत्तया गौण्या वृत्त्या वर्त्तन्ते। एवं गौणमुख्याभ्यां हेतुभ्यामुभयत्र देवतात्वं सम्यक् प्रतीयते।

भाषार्थ—इससे यह सिद्ध हुआ कि 'दिवु' धातु के जो दश अर्थ हैं, वे व्यवहार और परमार्थ इन दोनों अर्थ में यथावत् घटते हैं। क्योंकि इनके दोनों अर्थ की योजना वेदों में अच्छी प्रकार से की है। इनमें इतना भेद है कि पूर्वोक्त वसु आदि देवता परमेश्वर के ही प्रकाश से प्रकाशित होते हैं, और परमेश्वर देव तो अपने ही प्रकाश से सदा प्रकाशित हो रहा है। इससे वही एक सब का पूज्यदेव है। और 'दिवु' धातु के दश अर्थ ये हैं कि—एक क्रीड़ा जो खेलना, दूसरा विजिगीषा जो शत्रुओं को जीतने की इच्छा होना, तीसरा व्यवहार जो कि दो प्रकार का है एक बाहर और दूसरा भीतर का, चौथा निद्रा और पांचवां मद। ये पांच अर्थ मुख्य करके व्यवहार[1] में ही घटते हैं। क्योंकि अग्नि आदि ही पदार्थ व्यवहारसिद्धि के हेतु हैं। परन्तु परमेश्वर का त्याग इसमें भी सर्वथा नहीं होता। क्योंकि वे देव उसी की व्यापकता और रचना से दिव्य गुण वाले हुए हैं। तथा द्युति जो प्रकाश करना, स्तुति जो गुणों का कीर्तन करना, मोद [जो] प्रसन्नता, कान्ति जो शोभा, गति जो ज्ञान गमन और प्राप्ति है, ये पांच अर्थ परमेश्वर में मुख्य करके वर्त्तते हैं। क्योंकि इनसे भिन्न अर्थों में जितने-जितने जिन-जिन में गुण हैं उतना-उतना ही उनमें देवतापन लिया जाता है। परमेश्वर में तो सर्वशक्तिमत्त्वादि सब गुण अनन्त हैं। इससे पूज्यदेव एक वही है। [इस प्रकार गौण और मुख्य वृत्ति रूप हेतुओं से व्यवहार और परमार्थ दोनों विषयों में देवतापन भले प्रकार जाना जाता है।]

अत्र केचिदाहुः—वेदेषु जडचेतनयोः पूजाभिधानाद् वेदाः संशयास्पदं प्राप्ताः सन्तीति गम्यते ?

अत्रोच्यते—मैवं भ्रमि। ईश्वरेण सर्वेषु पदार्थेषु स्वातन्त्र्यस्य रक्षितत्वात्। यथा चक्षुषि रूपग्रहणशक्तिस्तेन रक्षितास्ति, अतश्चक्षुष्मान् पश्यति नैवान्धश्चेति व्यवहारोऽस्ति। अत्र कश्चिद् ब्रूयान्नेत्रेण सूर्य्यादिभिश्च विनेश्वरो रूपं कथं न दर्शयतीति, यथा तस्य व्यर्थेयं शङ्कास्ति तथा [पूजाविषयेऽपि ज्ञेया। यतः] पूजनं, पूजा, सत्कारः, प्रियाचरणं, अनुकूलाचरणं चेत्यादय पर्य्याया भवन्ति। इयं पूजा चक्षुषोऽपि सर्वैर्जनैः क्रियते। एवमग्न्यादिषु यावदर्थद्योतकत्वं विद्याक्रियोपयोगित्वं चास्ति, तावद्देवतात्वमप्यस्तु, नात्र काचित् क्षतिरस्ति। कुतः ? वेदेषु यत्र यत्रोपासना विधीयते तत्र तत्र देवतात्वेनेश्वरस्यैव ग्रहणात्।

भाषार्थ—प्र०—इस विषय में कोई-कोई मनुष्य ऐसा कहते हैं कि वेदों के प्रतिपादन से एक ईश्वर की पूजा सिद्ध नहीं हो सकती। क्योंकि उनमें जड और चेतन की पूजा लिखी है। इससे वेदों में संदेह सहित कथन मालूम पड़ता है।

१. अर्थात् लौकिक व्यवहार में।

उ०—ऐसा भ्रम मत करो। क्योंकि ईश्वर ने सब पदार्थों के बीच में स्वतन्त्र गुण रक्खे हैं। जैसे उसने आंख में देखने का सामर्थ्य रक्खा है, तो उससे दीखता है, यह लोक में व्यवहार है। इसमें कोई पुरुष ऐसा कहे कि ईश्वर नेत्र और सूर्य के विना रूप को क्यों नहीं दिखलाता है? जैसे यह शङ्का उसकी व्यर्थ है, वैसे ही पूजा-विषय में भी जानना। क्योंकि जो दूसरे का सत्कार प्रियाचरण अर्थात् उसके अनुकूल काम करना है,इसी का 'नाम 'पूजा' है। सो सब मनुष्यों को करनी उचित है'[1]। इसी प्रकार अग्नि आदि पदार्थों में जितना-जितना अर्थ का प्रकाश, दिव्यगुण, क्रिया-सिद्धि और उपकार लेने का सम्भव है, उतना-उतना उनमें देवपन मानने से कुछ भी हानि नहीं हो सकती। क्योंकि वेदों में जहां-जहां उपासना-व्यवहार लिया जाता है, वहां-वहां एक अद्वितीय परमेश्वर का ही ग्रहण किया है।

तत्रापि मन्तव्यं [2]विग्रहवत्यविग्रहवद्देवताभेदात्। तच्चोभयं पूर्वं प्रतिपादितम्। अन्यच्च—

'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव'॥

[तै० आ०] प्रपा० ७। अनु० ११॥

'त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि, त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि'॥

[तै० आ०] प्रपा० ७। अनु० १॥

इति सर्वमनुष्योपास्याः पञ्च देवतास्तैत्तिरीयोपनिषद्युक्ताः[3]। यथात्र मातापितरावाचार्य्योऽतिथिश्चेति सशरीरा देवताः सन्ति, एवं सर्वथा निश्शरीरं ब्रह्मास्ति।

भाषार्थ—इस देवता-विषय में दो प्रकार का भेद है। एक-मूर्तिमान् और दूसरा-अमूर्तिमान्। जैसे माता, पिता, आचार्य, अतिथि ये चार तो मूर्तिमान् देवता हैं। और पांचवां परब्रह्म अमूर्तिमान् है, अर्थात् उसकी किसी प्रकार की मूर्ति नहीं है। इस प्रकार से पांच देव की पूजा में यह दो प्रकार का भेद जानना उचित है।

तथैव पूर्वोक्तासु देवतास्वग्निपृथिव्यादित्यचन्द्रमोनक्षत्राणि चेति पञ्च वसवो विग्रहवत्यः सन्ति। एवमेकादश रुद्रा द्वादशादित्या मनःषष्ठानि ज्ञानेन्द्रियाणि वायुरन्तरिक्षं द्यौर्मन्त्राश्चेति शरीररहिताः। तथा स्तनयित्नुर्विधियज्ञौ च सशरीराशरीरे देवते स्त इति[4]। एवं सशरीर-

---

१. यहां इस प्रकार भाषानुवाद होना चाहिए—'नाम पूजा है। यह (=अनुकूल आचरणरूप) पूजा तो आंख की भी सब लोग करते हैं।'

२. अत्रेत्थं समासो ज्ञेयः—विग्रहवती चाविग्रहवती च विग्रहवत्यविग्रहवत्यौ। विग्रहवत्यविग्रहवत्यौ च ते देवते च विग्रहवत्यविग्रहवद्देवते। 'पुंवत्कर्मधारय०'(अष्टा० ६।३।४०) इत्यादिना पुंवद्भावः। ततः षष्ठीसमासः।

३. तै० उप० शिक्षावल्ली अनु० ११ और १। तै० उ० तैत्तिरीय आरण्यक के अन्तर्गत है, अतः मूल पाठ में उभयत्र तै० आ० के पते लिखे हैं।

४. पूर्व पृष्ठ ७८,७९ पर निर्दिष्ट ४० देवताओं की गणना यहां इस प्रकार की है—५ वसु (अग्नि पृथिवी आदित्य चन्द्रमा नक्षत्र), ११ रुद्र, १२ आदित्य, ६ इन्द्रियां मन सहित, ४ वायु अन्तरिक्ष द्यौः मन्त्र, २ स्तनयित्नु विधियज्ञ=४० देवता।

निश्शरीरभेदेन देवताद्वयं भवति । तत्रैतासां व्यवहारोपयोगित्वमात्रमेव देवतात्वं गृह्यते । इत्थमेव मातृपित्राचार्यातिथीनां व्यवहारोपयोगित्वं परमार्थप्रकाशकत्वं चैतावन्मात्रं च । परमेश्वरस्तु खल्विष्टोपयोगित्वेनैवोपास्योऽस्ति । नातो वेदेषु ह्यपरा काचिद्देवता पूज्योपास्यत्वेन विहितास्तीति निश्चीयताम् ।

भाषार्थ—इसी प्रकार पूर्वोक्त आठ वसुओं में से अग्नि, पृथिवी, आदित्य, चन्द्रमा और नक्षत्र ये पांच मूर्तिमान् देव हैं । और ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, मन, अन्तरिक्ष, वायु द्यौ और मन्त्र ये मूर्तिरहित देव हैं । तथा पांच ज्ञानेन्द्रियां[1] बिजुली और विधियज्ञ ये सब देव मूर्तिमान् और और अमूर्तिमान् भी हैं[*] । इससे साकार और निराकार भेद से दो प्रकार की व्यवस्था देवताओं में जाननी चाहिये । इनमें से पृथिव्यादि का देवपन केवल व्यवहार में, तथा माता, पिता, आचार्य और अतिथियों का व्यवहार में उपयोग और परमार्थ का प्रकाश करनामात्र ही देवपन है । और ऐसे ही मन और इन्द्रियों का उपयोग व्यवहार और परमार्थ करने में होता है । परन्तु सब मनुष्यों को उपासना करने योग्य एक परमेश्वर ही देव है ।

अत इदानीन्तनाः केचिदार्य्या यूरोपखण्डवासिनश्च भौतिकदेवतानामेव पूजनं वेदेष्वस्तीत्यूचुर्वदन्ति च, तदलीकतरमस्ति । तथा यूरोपखण्डवासिनो बहव एवं वदन्ति—पुरा ह्यार्य्या भौतिकदेवतानां पूजका आसन्, पुनस्ताः संपूज्यं संपूज्य च बहुकालान्तरे परमात्मानं पूज्यं विदुरिति । तदप्यसत् । तेषां सृष्टयारम्भमारभ्यानेकैरिन्द्रवरुणाग्न्यादिभिर्नामभिर्वेदोक्तरीत्येश्वरस्यैवोपासनानुष्ठानाचारागमात् ।

भाषार्थ—प्र०—कितने ही आजकल के आर्य और यूरोपदेशवासी अर्थात् अंगरेज आदि लोग इसमें ऐसी शंका करते हैं कि वेदों में पृथिव्यादि भूतों की पूजा कही है । वे लोग यह भी कहते हैं कि पहिले आर्य्य लोग भूतों की पूजा करते थे, फिर [उन्हें] पूजते-पूजते बहुत काल पीछे उन्होंने परमेश्वर को भी पूज्य जाना था ।

---

१. यह भाषानुवाद और नीचे की टिप्पणी दोनों संस्कृतपाठ के विपरीत हैं । संस्कृतपाठ में मन-सहित ६ इन्द्रियों को शरीररहित लिखा है । परन्तु भाषानुवाद में स्तनयित्नु तथा विधियज्ञ के साथ पांच इन्द्रियों को भी गिना है । नीचे की टिप्पणी संस्कृतपाठ से विपरीत भाषानुवाद की पुष्टिरूप में है । उपरि-निर्दिष्ट भाषानुवाद का मूल संस्कृतपाठ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के चतुर्थ हस्तलेख में विद्यमान है । परन्तु ग्रन्थकार ने उसे काटकर वर्तमान संस्कृतपाठ बनाया है (द्र०—ऋ० द० के ग्रन्थों का इतिहास, पृष्ठ ८८, ८९) । यहां संस्कृतपाठ में शोधन हो जाने पर भी पांचवें और छठे (भूमिका के ६ हस्तलेख हैं, वे उत्तरोत्तर परिवर्धित हैं) हस्तलेख में भी भाषा का शोधन नहीं हुआ, और नीचे की टिप्पणी भी उसी प्रकार अछूती रह गई । विद्वानों को इस पर गम्भीरता से विचार करना चाहिये ।

*इन्द्रियों की शक्तिरूप द्रव्य अमूर्तिमान्, और गोलक मूर्तिमान् । तथा विद्युत् और विधियज्ञ में जो-जो शब्द तथा ज्ञान अमूर्तिमान्, और दर्शन तथा सामग्री मूर्तिमान् जानना चाहिये । (वै० य० मुद्रित)

उ०—यह उनका कहना मिथ्या है। क्योंकि आर्य्य लोग सृष्टि के आरम्भ से आज पर्य्यन्त इन्द्र, वरुण और अग्नि आदि नामों करके वेदोक्त प्रमाण से एक परमेश्वर की ही उपासना करते चले आये हैं। इस विषय में अनेक प्रमाण हैं, उनमें से थोड़े से यहां भी लिखते हैं—

अत्र प्रमाणानि—

(अग्निमी०) अस्य मन्त्रस्य व्याख्याने[1] हि 'इन्द्रं मित्रम्०'[2] ऋग्मन्त्रोऽयम्। अस्योपरि 'इममेवाग्निं महान्तमात्मानम्'[3] इत्यादि निरुक्तं च लिखितं, [तत्] तत्र द्रष्टव्यम्। तथा 'तदेवाग्निस्तदादित्य०'[4] इति यजुर्मन्त्रश्च।

'तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियंजिन्वमवसे हूमहे वयम्।
पूषा नो यथा वेदसामसद्वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये' ॥१॥

ऋ० अ० १। अ० ६। व० १५। मं० ५॥[5]

'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥२॥'

ऋ० अ० ८। अ० ७। व० ३। मं० १॥[6]

इत्यादयो नव[7] मन्त्रा एतद्विषयाः सन्ति।

'प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहा सत्।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पितासत् ॥३॥

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥४॥

---

१. संकेतोऽयं ग्रन्थकर्तुः स्वीयभाष्यस्य निदर्शनाङ्क (नमूने का अंक) प्रति वर्तते। अस्य निदर्शनाङ्कस्य मुद्रणं १९३३ वैक्रमाब्देऽभूत्। अस्या भूमिकायाश्च १९३४ वैक्रमाब्दस्य चैत्रे मासे मुद्रणं प्रारब्धम्। तत्र निदर्शनाङ्क एव 'इन्द्रं मित्रम्' इति ऋक्, 'इममेवाग्निम्' इति निरुक्तम्, 'तदेवाग्निः' इति यजुर्मन्त्रश्चोद्धृतः। इदं निदर्शनात्मकं भाष्यम् 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-परिशिष्ट' नाम्नि ग्रन्थे सुसम्पादनपुरःसरं प्रकाशितम्। द्र० पृष्ठ ३।

२. ऋ० १। १६४। ४६॥ ३. निरुक्त ७। १८॥ यजु० ३२। १॥

५. ऋ० मं० १। सू० ८९। मं० ५॥ ६. ऋ० मं० १०। सू० १२१। मं० १॥

७. इत आरभ्य तृतीयवर्गस्थाः पञ्च, चतुर्थवर्गस्थाश्च चत्वारः, अर्थात् दशममण्डलस्य १२१ तमसूक्तस्यादिमा नव मन्त्राः। अथवोपरिनिर्दिष्टमन्त्रातिरिक्ता नव मन्त्रा ज्ञेयाः। तथा सति सूक्तस्य दशमो मन्त्रोऽपि संगृह्यते।

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च ।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश ॥५॥'
य० अ० ३२ । मं० ९,१०,११ ॥

'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥६॥'
य० अ० ३१ । मं० १८ ॥

'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥७॥' य० अ० ४० । मं० ५ ॥

'स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्'[1] इत्यादि च ॥

'य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत्पिता नः ।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ२ आविवेश ॥८॥

किꣳस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित् कथासीत् ।
यतो भूमिं जनयन्विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः ॥९॥

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥१०॥'
य० अ० १७ । मं० १७, १८, १९ ॥

इत्यादयो मन्त्रा यजुषि बहवः सन्ति ॥ तथा सामवेदस्योत्तरार्चिके त्रिकम्[2] ११—

'अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः ।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥ ११ ॥

१. यजु० ४० । ८ ॥ २. उत्तरार्चिके प्रथमप्रपाठके प्रथमार्धे एकादशं त्रिकम् ॥ यह ध्यान रहे कि सामवेद के उत्तरार्चिक में अर्धप्रपाठकान्तर्गत त्रिकरूप अवान्तर भाग का निर्देश होता है, जैसे ऋग्वेद में वर्ग वा सूक्त का । 'त्रिक' शब्द का मूल अर्थ है जिसमें तीन ऋचाएं हों । परन्तु सामवेद में यह रूढ संज्ञा होने से यह आवश्यक नहीं कि त्रिक में सर्वत्र तीन ऋचाएं ही हों । दो वा तीन से अधिक ऋचाएं भी त्रिक में देखी जाती हैं । साममन्त्रों पर स्वरनिर्देश भी हमने किया है ।

१ २र ३ २ ३ १ २र ३ २ ३ १ २र
न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे ॥ १२ ॥[1] इत्यादयश्च ।

'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥ १३ ॥
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥ १४ ॥'

इत्यन्ताः सप्त[1] मन्त्रा ऋग्वेदे ॥ ऋ० अ० ८ । अ० ७ । व० १७ । मं० १,७ ॥[2]

'यत्परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम् ।
कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र यन्न प्राविशत् कियत्तद् बभूव ॥ १५ ॥'

'यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता । यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातास्तिष्ठन्त्यार्पिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १६ ॥'

अथर्व० कां० १० । अनु० ४ । मं० ८ ।१२ ॥[3]

इत्यादयोऽथर्ववेदेऽपि बहवो मन्त्राः सन्ति । एतेषां मन्त्राणां मध्यात् केषांचिदर्थः पूर्वं प्रकाशितः, केषांचिदग्रे[4] विधास्यतेऽत्राप्रसङ्गान्नोच्यते ।

'अणोरणीयान्महतो महीयान् आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ १ ॥[5]
अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥ २ ॥[6]
यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ ३ ॥[7]
एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ ४ ॥[8]

---

१. 'नासद्' इत्यारभ्य 'इयम्' इत्यन्ताः सप्तेत्यर्थः । २. ऋ० मं० १० । सू० १२९ । मं० १-७॥
३. अथर्व १० । ७ । ८, १२ ॥ ४. सृष्टिविद्याविषयादिषु वेदभाष्ये चेति भावः ।
५. कठो० २ । २० ॥ ६. 'कठो० ३ । १५ ॥ अत्र वै०य० मुद्रिते 'तं मृत्यु०' इति प्रामादिकः पाठः ।
७. कठो० ४ । १० ॥ ८. कठो० ५ । १२ ॥

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ।। ५ ।।'[१]
इति कठवल्ल्युपनिषदि ।

'दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः ।। ६ ।।[२]
यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यैष महिमा भुवि ।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः ।। ७ ।।' इति मुण्डकोपनिषदि[३] ।

'नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्म्यप्रत्ययसारं[४] प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ।। ८ ।।' इति माण्डूक्योपनिषदि[५] ।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायाम् ।
परमे व्योमन्त्सोऽश्नुते सर्वान् कामान् ब्रह्मणा सह[६] विपश्चितेति ।।९।।'
इति तैत्तिरीयोपनिषदि[७] ।

'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम् । भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति ।। यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति स भूमा । अथ यत्रान्यत् पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद् विजानाति तदल्पम् । यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यं स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि ।। १० ।।' इति छान्दोग्योपनिषदि[८] ।

वेदोक्तेशानादिविशेषणप्रतिपादितोऽणोरणीयानित्याद्युपनिषदुक्तविशेषणप्रतिपादितश्च यः परमेश्वरोऽस्ति, स एवाऽऽर्य्यैः सृष्टिमारभ्याद्यपर्य्यन्तं यथावद् विदित्वोपासितोऽस्तीति मन्यध्वम् । एवं परब्रह्मविषयप्रकाशकेषु प्रमाणेषु सत्सु यज्ञदुमोक्षमूलरैरुक्तमार्य्याणां पूर्वमीश्वरज्ञानं नासीत् पुनः क्रमाज्जातमिति, न तच्छिष्टग्रहणार्हमस्तीति विजानीमः ।

भाषार्थ—(इन्द्रं मित्रम्०) इसमें चारों वेद, शतपथ आदि चारों ब्राह्मण, निरुक्त और छः शास्त्र आदि के अनेक प्रमाण हैं कि जिस सद्वस्तु ब्रह्म के इन्द्र, ईशान, अग्नि आदि वेदोक्त नाम हैं, और 'अणोरणीयान्' इत्यादि उपनिषदों के विशेषणों से जिसका प्रतिपादन किया है, उसी की

१. कठो० ५ । १३ ।। २. मुण्डक २ । खं० १ । मं० २ ।।
३. मु० २ । खं० २ । मं० ७ ।। ४. उपनिषदि 'मेकात्मप्रत्ययसारं' पाठ उपलभ्यते ।
५ माण्डूक्यो० मं० ७ ।। ६. उपनिषदि 'कामान् सह ब्रह्मणा' इत्येवं पाठ उपलभ्यते ।
७. तैत्ति० ब्रह्मा० १ ।। ८. छा० उ० प्रपा० ७ । खं २३, २४ ।।

उपासना आर्य्य लोग सदा से करते आये हैं। इन मन्त्रों मे से जिनका अर्थ भूमिका में नहीं किया है, उनका आगे वेदभाष्य में किया जायगा। और कोई-कोई आर्य्य लोग किंवा यूरोप आदि देशों में रहनेवाले [मोक्षमूलर आदि] लोग[1] कहते हैं कि प्राचीन आर्य्य लोग अनेक देवताओं और भूतों की पूजा करते थे, यह उनका कहना व्यर्थ है। क्योंकि वेदों और उनके प्राचीन व्याख्यानों में अग्नि आदि नामों से उपासना के लिये एक परमेश्वर का ही ग्रहण किया है, जिसकी उपासना आर्य्य लोग करते थे। इससे पूर्वोक्त शंका किसी प्रकार से नहीं आ सकती।

[2]**किंच—'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिः०'[3] एतन्मन्त्रव्याख्यानावसरेऽयं मन्त्रोऽर्वाचीनोऽस्ति छन्दस इति शारमण्यदेशोत्पन्नैर्भट्टमोक्षमूलरैः स्वकीयसंस्कृतसाहित्याख्ये ग्रन्थ एतद्विषये यदुक्तं, तन्न संगच्छते। यच्च वेदानां द्वौ भागावेकश्छन्दो द्वितीयो मन्त्रश्च। तत्र यत्सामान्यार्थाभिधानं परबुद्धिप्रेरणाजन्य[4] स्वकल्पनया रचनाभावं,[5] यथा ह्यज्ञानिनो मुखाद् अकस्मान्निस्सरेद् ईदृशं यद्रचनं तच्छन्दं[6] इति विज्ञेयम्। तस्योत्पत्तिसमय एकत्रिंशच्छतानि वर्षाण्यधिकादधिकानि व्यतीतानि। तथैकोनत्रिंशच्छतानि वर्षाणि मन्त्रोत्पत्तौ चेत्यनुमानं तेषामस्ति। तत्र तैरुक्तानि प्रमाणानि—'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत'[7] इत्यादीनि ज्ञातव्यानि।**

तदिदमप्यन्यथास्ति। कुतः? हिरण्यगर्भशब्दस्यार्थज्ञानाभावात्। अत्र प्रमाणानि—

'ज्योतिर्वै हिरण्यं ज्योतिरेषोऽमृतꣳ हिरण्यम्॥' श० कां ६। अ० ७॥[8]

'केशी केशा रश्मयस्तैस्तद्वान् भवति। काशनाद्वा प्रकाशनाद्वा। केशीदं ज्योतिरुच्यते॥' निरु० अ० १२। खं० २५।[9] [, २६]॥

'यशो वै हिरण्यम्॥' ऐ० पं० ७। अ० ३॥[10]

'ज्योतिरेवायं पुरुष इत्यात्मज्योतिः॥' श० कां० १४। अ० ७॥[11]

'ज्योतिरिन्द्राग्नी॥' श०कां० १०। अ० ४॥[12]

---

१. वै० य० मुद्रित में 'अंगरेज' पद है। यह अपपाठ है। मोक्षमूलर जर्मन देश का था। अग्रिम सन्दर्भ में उसे 'शार्मण्य-देशोत्पन्न' स्पष्ट कहा है।

२. इतः पूर्वं वै० य० मुद्रितसंस्करणेषु 'भाष्यम्' पदं दृश्यते। तच्चिन्त्यम्, मन्त्रादीनां व्याख्यानाभावात्। एवमग्रेऽपि क्वचिद् 'भाष्यम्' इत्येवमस्थाने निर्दिश्यते।

३. ऋ० १०।१२१।१॥ ४. 'प्रेरणा-अजन्यम्' इत्येवं सन्धिच्छेदो ज्ञेयः।

५. छन्दःपदस्य स्वातन्त्र्यवाचकत्वात् तत्र कल्पनापूर्विका रचना न विद्यते। मन्त्रास्तु मननात् ज्ञानपूर्वकं विनिर्मिताः, अतस्तत्र पुरुषस्य कल्पनया रचना भवति।

६. एतद्विपरीतं या स्वकल्पनया मननपूर्विका रचना सा मन्त्रपदवाच्येति ज्ञेया।

७. ऋ० १। १। २॥ ८. शत० ६। ७। १। २॥

९. निरुक्त १२।२५,२६। **'केशीदं ज्योतिरुच्यते'** यह मन्त्रभाग है।

१०. ऐ० ब्रा० ७। ३। ६॥ ११. शत० १४।७।१।६। १२. शत० १०।४।१।६॥

एषामर्थः—[हिरण्यं] ज्योतिर्विज्ञानं गर्भः स्वरूपं यस्य स हिरण्यगर्भः। एवं च ज्योतिर्हिरण्यं प्रकाशो ज्योतिरमृतं मोक्षो ज्योतिरादित्यादयः केशाः प्रकाशका लोकाश्च, यशः सत्कीर्तिर्धन्यवादश्च, ज्योतिरात्मा जीवश्च, ज्योतिरिन्द्रः सूर्य्योऽग्निश्चैतत् सर्वं हिरण्याख्यं गर्भं सामर्थ्यं यस्य स हिरण्यगर्भः परमेश्वरः।

अतो हिरण्यगर्भशब्दप्रयोगाद् वेदानामुत्तमत्वं सनात[न]त्वं तु निश्चीयते न नवीनत्वं च। अस्मात् कारणाद् यत्तेनोक्तम् हिरण्यगर्भशब्दप्रयोगान्मन्त्रभागस्य नवीनत्वं तु द्योतितं भवति, किन्त्वस्य प्राचीनवत्त्वे[1] किमपि प्रमाणं नोपलभामहे इति, तद् भ्रममूलमेव विज्ञेयम्। यच्चोक्तं मन्त्रभागनवीनत्वे 'अग्नि पूर्वेभिः'[2] इत्यादिकारणम्, तदपि तादृशमेव। कुतः? ईश्वरस्य त्रिकालदर्शित्वात्। ईश्वरो हि त्रीन् कालान् जानाति। भूतभविष्यद्वर्त्तमानकालस्थैर्मन्त्रद्रष्टृभिर्मनुष्यैर्मन्त्रैः प्राणैस्तर्कैश्चर्षिभि[3]रहमेवेड्यो बभूव[4] भवामि भविष्यामि चेति विदितवेदमुक्तमित्यदोषः। अन्यच्च—ये वेदादिशास्त्राण्यधीत्य विद्वांसो भूत्वाऽध्यापयन्ति ते प्राचीनाः, ये चाधीयते ते नवीनाः। तैर्ऋषिभिरग्निः परमेश्वर एवेड्योऽस्त्यतश्च।

भाषार्थ—इसी विषय में डाक्तर मोक्षमूलर साहेब ने अपने बनाये 'संस्कृत-साहित्य' ग्रन्थ में ऐसा लिखा है कि—'आर्य्य लोगों को क्रम से अर्थात् बहुत काल के पीछे ईश्वर का ज्ञान हुआ था। और वेदों के प्राचीन होने में एक भी प्रमाण नहीं मिलता, किन्तु उनके नवीन होने में तो अनेक प्रमाण पाये जाते हैं।' इसमें एक तो 'हिरण्यगर्भ' शब्द का प्रमाण दिया है कि छन्दोभाग से मन्त्रभाग दो सौ वर्ष पीछे बना है। और दूसरा यह है कि वेदों में दो भाग हैं—एक तो छन्द, और दूसरा मन्त्र। उनमें से छन्दोभाग ऐसा है जो सामान्य अर्थ के साथ सम्बन्ध रखता है, और दूसरे की प्रेरणा से प्रकाशित हुआ मालूम [नहीं][5] पड़ता है, कि जिसकी उत्पत्ति बनानेवाले [को किसी] की प्रेरणा से नहीं हुई[6]। और उसमें कथन इस प्रकार का है, जैसे अज्ञानी के मुख से अकस्मात् वचन निकला हो। उसकी उत्पत्ति में (३१००) इकत्तीस सौ वर्ष व्यतीत हुए हैं, और मन्त्रभाग की उत्पत्ति में (२९००) वर्ष हुए हैं। उसमें (अग्निः पूर्वेभिः०[7]) इस मन्त्र का भी प्रमाण दिया है।

१. 'प्राचीनत्वे' इति तु सुवचम्। २. ऋ० १।१।२॥

३. एतद्विषयेऽत्र उक्तानि ग्रन्थकर्तुर्ऋग्भाष्ये 'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः' (१।१।२) इति मन्त्रव्याख्याने चोद्धृतानि प्रमाणानि द्रष्टव्यानि। ४. वै० य० मुद्रिते सं० १-५ 'बभूवे' पाठः।

५. यहां 'नहीं' पद का निर्देश आवश्यक है। इसके विना 'छन्दः' पद का मोक्षमूलर कृत अर्थ स्पष्ट नहीं होता। उसका कथन है कि जो रचना न तो अन्य की प्रेरणा से की गई हो और न स्वबुद्धि से, वह छन्द कही जाती है। यही बात आगे अज्ञानी के मुख से अचानक निकले वचन के दृष्टान्त से स्पष्ट की है। यह भूल भाषानुवादकों की है। उन्होंने संस्कृतपाठ 'परबुद्धिप्रेरणाजन्यं' में 'अजन्यं' ऐसा सन्धिच्छेद नहीं समझा। पं० सुखदेवजी विद्यालंकार ने भी अपने संस्करण में इस भूल को नहीं सुधारा।

६. वै० य० मुद्रित में 'नहीं हो सकती' अपपाठ है।

७. इस छन्दोरचना के विपरीत जो रचना पर प्रेरणा से वा स्वमननपूर्वक की गई हो वह मन्त्र पदवाच्य है, ऐसा मोक्षमूलर का कहना है।

सो उनका यह कहना ठीक नहीं हो सकता। क्योंकि उन्होंने (हिरण्यगर्भः०)[1] और (अग्निः पूर्वेभिः०[2]) इन दोनों मन्त्रों का अर्थ यथावत् नहीं जाना है। तथा मालूम होता है कि उनको 'हिरण्यगर्भ' शब्द नवीन जान पड़ा होगा। इस विचार से कि 'हिरण्य' नाम है सोने का, वह सृष्टि से बहुत पीछे उत्पन्न हुआ है, अर्थात् मनुष्यों की उन्नति, राजा और प्रजा के प्रबन्ध होने के उपरान्त पृथिवी में से निकाला गया है। सो यह बात भी उनकी ठीक नहीं हो सकती। क्योंकि इस शब्द का अर्थ यह है कि [हिरण्य नाम है ज्योति का,] ज्योति कहते हैं विज्ञान को, सो जिसके गर्भ अर्थात् स्वरूप में है; ज्योति अमृत अर्थात् मोक्ष है सामर्थ्य में जिसके; और ज्योति जो प्रकाशस्वरूप सूर्य्यादि लोक जिसके गर्भ में हैं; तथा ज्योति जो जीवात्मा जिसके गर्भ अर्थात् सामर्थ्य में है; तथा यशः सत्कीर्ति जो धन्यवाद जिसके स्वरूप में है। इसी प्रकार ज्योति इन्द्र अर्थात् सूर्य वायु और अग्नि ये सब जिसके सामर्थ्य में हैं, ऐसा जो एक परमेश्वर है, उसी को 'हिरण्यगर्भ' कहते हैं।

इस हिरण्यगर्भ शब्द के प्रयोग से वेदों का उत्तमपन और सनातनपन तो यथावत् सिद्ध होता है, परन्तु इससे उनका नवीनपन सिद्ध कभी नहीं हो सकता। इससे डाक्तर मोक्षमूलर साहेब का कहना, जो वेदों के नवीन होने के विषय में है, सो सत्य नहीं है। और जो उन्होंने (अग्निः पूर्वेभिः०[2]) इसका प्रमाण वेदों के नवीन होने में दिया है, सो भी अन्यथा है। क्योंकि इस मन्त्र में वेदों के कर्त्ता त्रिकालदर्शी ईश्वर ने भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों कालों के व्यवहारों को यथावत् जानके कहा है कि वेदों को पढ़के जो विद्वान् हो चुके हैं वा जो पढ़ते हैं, वे प्राचीन और नवीन ऋषि लोग मेरी स्तुति करें। तथा ऋषि नाम [मन्त्रद्रष्टा मनुष्य,] मन्त्र, प्राण और तर्क का भी है,[3] इनसे ही मेरी स्तुति करनी योग्य है। इसी अपेक्षा से ईश्वर ने इस मन्त्र का प्रयोग किया है। इससे वेदों का सनातनपन और उत्तमपन तो सिद्ध होता है, किन्तु उन हेतुओं से वेदों का नवीन होना किसी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता। इसी हेतु से डाक्तर मोक्षमूलर साहेब का कहना ठीक नहीं।

[4]**अत्र निरुक्तेऽपि प्रमाणम्—**

'तत्प्रकृतीतरद्वर्त्तनसामान्यादित्ययं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽभ्यूढोऽपि श्रुतितोऽपि तर्कतो न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः, प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्या, नह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा। पारोवर्यवित्सु[5] तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवतीत्युक्तं पुरस्तात्

1. ऋ० १०।१२१।१॥ 2. ऋ० १।१।२॥

3. ऋषि शब्द के इन अर्थों के लिये आगे उल्लिखित और ऋग्भाष्य १।१।२ में उद्धृत प्रमाण देखने चाहियें।

4. इतः पूर्वं वै० य० मुद्रिते 'भाष्यम्' इत्यपपाठः।

5. कैयट (म० प्रदीप ५।२।१०) हरदत्त (पद० ५।२।१०) भट्टोजिदीक्षित (सि० कौ० ५।२।१०) प्रभृतयः परमप्रामाणिकस्य तत्रभवतो यास्काचार्यस्य **'पारोवर्यवित्'** प्रयोगमपशब्दं ब्रुवन्तो न लज्जन्ते। महाभाष्यकारस्तु **'शिष्टपरिज्ञानार्था अष्टाध्यायी'** (६।३।१०९) इति वदन् 'अष्टाध्यायीतोऽनिर्दिष्टसाधूनां' शिष्टप्रयोगाणां प्रामाण्यं स्वीकरोति। विशेषस्तु **'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकापरिशिष्ट'**नाम्नि ग्रन्थे 'स्वामी दयानन्द-प्रयुक्त-पद-प्रयोग-मीमांसा' प्रकरणे द्रष्टव्यः।

मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति । तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढं तस्माद्यदेव किं चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद्भवति ॥'
निरु० अ० १३ । खं० १२ ॥

भाष्यार्थः—(तत्प्रकृति०) तस्य मन्त्रसमूहस्य पदशब्दाक्षरसमुदायानामितरेत परस्परं विशेष्यविशेषणतया सामान्यवृत्तौ वर्त्तमानानां[1] मन्त्राणामर्थज्ञानचिन्ता भवति । कोऽयं खल्वस्य मन्त्रस्यार्थो भविष्यतीत्यभ्यूहो बुद्धावाभिमुख्येनोहो विशेषज्ञानार्थस्तर्को मनुष्येण कर्त्तव्यः । नैले श्रुतितः श्रवणमात्रेणैव तर्कमात्रेण च पृथक्-पृथक् मन्त्रार्था निर्वक्तव्याः । किन्तु प्रकरणानुकूलतया पूर्वापरसम्बन्धेनैव नितरां वक्तव्याः । किंच नैवैतेषु मन्त्रेष्वनृषेरतपसोऽशुद्धान्तःकरणस्याविदुषः प्रत्यक्षं ज्ञानं भवति । न यावद्वा पारोवर्य्यवित्सु कृतप्रत्यक्षमन्त्रार्थेषु मनुष्येषु भूयोविद्यो बहुविद्यान्वितः प्रशस्योऽत्युत्तमो विद्वान् भवति, न तावदभ्यूढः सुतर्केण वेदार्थमपि वक्तुमर्हतीत्युक्तं सिद्धमस्ति ।

अत्रेतिहासमाह—पुरस्तात् कदाचिन्मनुष्या ऋषिषु मन्त्रार्थद्रष्टृषूत्क्रामत्स्वतीतेषु सत्सु देवान् विदुषोऽब्रुवन्नपृच्छन् कोऽस्माकं मध्ये ऋषिर्भविष्यतीति । तेभ्यः सत्यासत्यविज्ञानेन वेदार्थबोधार्थं चैतं तर्कमृषिं ते प्रायच्छन् दत्तवन्तोऽयमेव युष्मासु ऋषिर्भविष्यतीत्युत्तरमुक्तवन्तः । कथंभूतं तं तर्कं ? मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम्, मन्त्रार्थविज्ञानकारकम् । अतः किं सिद्धम् ? यः कश्चिदनूचानो विद्यापारगः पुरुषोऽभ्यूहति, वेदार्थमभ्यूहते प्रकाशयते, तदेवार्षमृषिप्रोक्तं वेदव्याख्यानं भवतीति मन्तव्यम् । किंच यदल्पविद्येनाल्पबुद्धिना पक्षपातिना मनुष्येण चाभ्यूह्यते तदनार्षमनृतं भवति । नैतत्[2] केनाप्यादर्त्तव्यमिति । कुतः ? तस्यानर्थयुक्तत्वात् । तदादरेण मनुष्याणामप्यनर्थापत्तेश्चेति ।

अतः पूर्वैभिः प्राक्तनैः प्रथमोत्पन्नैस्तर्कैर्ऋषिभिस्तथा नूतनैर्वर्त्तमानस्थैश्चोतापि भविष्यद्भिश्च त्रिकालस्थैरग्निः परमेश्वर एवेड्योऽस्ति । नैवास्माद्भिन्नः कश्चित् पदार्थः कस्यापि मनुष्यस्येड्यः स्तोतव्य उपास्योऽस्तीति निश्चयः । एवम् 'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत' इत्यस्य मन्त्रस्यार्थसंगतेनैव वेदेष्वर्वाचीनाख्यः कश्चिद् दोषो भवितुमर्हतीति ।

भाषार्थ—[3]इसमें विचारना चाहिये कि वेदों के अर्थ को यथावत् विना विचारे उनके अर्थ में किसी मनुष्य को हठ से साहस करना उचित नहीं । क्योंकि जो वेद सब विद्याओं से युक्त हैं, अर्थात् उनमें जितने मन्त्र और पद हैं, वे सब सम्पूर्ण सत्यविद्याओं के प्रकाश करनेवाले हैं । [4]और ईश्वर ने वेदों का व्याख्यान भी वेदों से ही कर रक्खा है । क्योंकि उनके शब्द धात्वर्थ के साथ योग रखते हैं[4] । इसमें निरुक्त का भी प्रमाण है, जैसा कि यास्कमुनि ने कहा है—(तत्प्रकृतीत०) इत्यादि । वेदों के व्याख्यान करने के विषय में ऐसा समझना कि जब तक सत्य प्रमाण, सुतर्क, वेदों के शब्दों के पूर्वापर प्रकरणों, व्याकरण आदि वेदाङ्गों, शतपथ आदि ब्राह्मणों, पूर्वमीमांसा

१. द्र०—पूर्वत्र २६ पृष्ठस्थ टि० ६॥ २. 'नैव तत्' इति सुगमः पाठः ।
३. यह सारा भाषार्थ संस्कृतपाठ से भिन्न है ।
४. 'और ईश्वर ने ···· रखते हैं' इसका मूल संस्कृत में नहीं है ।

आदि शास्त्रों, और शास्त्रान्तरों का यथावत् बोध न हो, और परमेश्वर का अनुग्रह, उत्तम विद्वानों की शिक्षा, उनके सङ्ग से पक्षपात छोड़के आत्मा की शुद्धि न हो, तथा महर्षि लोगों के किये व्याख्यानों को न देखें, तब तक वेदों के अर्थ का यथावत् प्रकाश मनुष्य के हृदय में नहीं होता। इसलिये सब आर्य्य विद्वानों का सिद्धान्त है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से युक्त जो तर्क है, वही मनुष्यों के लिये 'ऋषि' है।

इससे यह सिद्ध होता है कि जो सायणाचार्य और महीधरादि अल्पबुद्धि लोगों के झूठे व्याख्यानों को देखके आजकल के आर्य्यावर्त्त और यूरोपदेश के निवासी लोग जो वेदों के ऊपर अपनी-अपनी देशभाषाओं में व्याख्यान करते हैं। वे ठीक-ठीक नहीं हैं। और उन अनर्थयुक्त व्याख्यानों के मानने से मनुष्यों को अत्यन्त दुःख प्राप्त होता है। इससे बुद्धिमानों को उन व्याख्यानों का प्रमाण करना योग्य नहीं। 'तर्क' का नाम ऋषि होने से सब आर्य लोगों का सिद्धान्त है कि सब कालों में अग्नि जो परमेश्वर है, वही उपासना करने के योग्य है।

अन्यच्च—'प्राणा वा ऋषयो दैव्यासः' ॥ ऐ० पं० २। अ० ४ ॥[1]

पूर्वेभिः पूर्वकालावस्थास्थैः कारणस्थैः प्राणैः कार्य्यद्रव्यस्थैर्नूतनैश्चर्षिभिः सहैव समाधियोगेन सर्वैर्विद्वद्भिरग्निः परमेश्वर एवेड्योऽस्त्यनेन श्रेयो भवतीति मन्तव्यम्।

भाषार्थ—जगत् के कारण प्रकृति में जो प्राण हैं, उनको 'प्राचीन', और उसके कार्य्य में जो प्राण हैं उनको 'नवीन' कहते हैं। इसलिये सब विद्वानों को उन्हीं [प्राणरूप] ऋषियों के साथ योगाभ्यास से अग्निनामक परमेश्वर की ही स्तुति प्रार्थना और उपासना करनी योग्य है। इतने से ही समझना चाहिये कि भट्ट मोक्षमूलर साहेब आदि ने इस मन्त्र का अर्थ ठीक-ठीक नहीं जाना है।

[2]यच्चोक्तं छन्दोमन्त्रयोर्भेदोऽस्तीति, तदप्यसंगतम्। कुतः? छन्दोवेदनिगममन्त्रश्रुतीनां पर्य्यायवाचकत्वात्। तत्र छन्दोऽनेकार्थवाचकमस्ति—वैदिकानां गायत्र्यादिवृत्तानां लौकिकानामार्य्यादीनां च वाचकम्, क्वचित् स्वातन्त्र्यस्यापि। अत्राहुर्यास्काचार्य्याः—

'मन्त्रा मननाच्छन्दांसि छादनात् स्तोमः स्तवनाद् यजुर्यजतेः साम संमितमृचा ॥'

निरु० अ० ७। खं० १२ ॥

[3]अस्यायमभिप्रायः—'मत्रि गुप्तपरिभाषणे'[4] अस्माद् 'हलश्च' इति सूत्रेण[5] 'घञ्' प्रत्यये कृते

---

१. ऐ० ब्रा० २।४।३॥ २. इतः पूर्वमपि वै० य० मुद्रिते 'भाष्यम्' इत्यपपाठः।

३. इत आरभ्य 'मन्त्रा गृह्यन्ते' इत्यन्तः सन्दर्भो वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'एता वै देवताश्छन्दांसि' इत्युद्धरणात् परं पठ्यते। स चास्थान इति कृत्वाऽस्माभिर्योग्ये स्थाने स्थापितः। अस्थानत्वं चास्य 'अस्य' इत्येकवचनान्तप्रयोगात्, 'मन्त्रा मननात्' इत्यादिनिरुक्तोद्धरणे प्रथमं पठितस्य 'मन्त्र'शब्दस्य व्याख्यानरूपत्वाच्च स्पष्टमेव। ४. धातु० १०।१४६॥ वै० य० मुद्रितेषु १-८ संस्करणेष्वयमेव पाठः। नवमसंस्करणे तु 'परि' शब्दः पृथक्कृतः। प्रतीयते केषुचिद् धातुपाठेषु 'गुप्तभाषणे' इत्येवोपलभ्य 'परि'शब्दोऽपाकृतः स्यात्तत्सम्पादकेन। ५. अष्टा० ३।३।१२१॥

मन्त्रशब्दस्य सिद्धिर्जायते। गुप्तानां पदार्थानां भाषणं यस्मिन् वर्त्तते स मन्त्रो वेद। तदवयवानामनेकार्थानामपि मन्त्रसंज्ञा भवति, तेषां तदर्थवत्त्वात्। तथा 'मन ज्ञाने'[1] अस्माद्धातोः 'सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्' इत्युणादिसूत्रेण[2] 'ष्ट्रन्' प्रत्यये कृते मन्त्रशब्दो व्युत्पद्यते। मन्यन्ते ज्ञायन्ते सर्वैर्मनुष्यैः सत्याः पदार्था येन यस्मिन् वा स मन्त्रो वेदः। तदवयवा 'अग्निमीडे पुरोहितम्'[3] इत्यादयो मन्त्रा गृह्यन्ते।

अविद्यादिदुःखानां निवारणात् सुखैराच्छादनाच्छन्दो वेदः। तथा 'चन्देरादेश्च छः' इत्यौणादिकं सूत्रम्,[4] चदि आह्लादने दीप्तौ च'[5] इत्यस्माद्धातोरसुन्प्रत्यये परे चकारस्य छकारादेशे च कृते 'छन्दस्' इति शब्दो भवति। वेदाध्ययनेन सर्वविद्याप्राप्तेर्मनुष्य आह्लादी भवति, सर्वार्थज्ञाता चातश्छन्दो वेदः।

'छन्दाᳬसि वै देवा वयोनाधाश्छन्दोभिर्हीद[ᳪ] सर्वं वयुनं नद्धम्॥'

श० कां० ८। अ० २॥[6]

'एता वै देवताश्छन्दाᳬसि॥' श० कां० ८। अ० ३॥[7]

यानि गायत्र्यादीनि छन्दांसि तदन्विता मन्त्राः सर्वार्थद्योतकत्वाद् देवताशब्देन गृह्यन्ते। अतश्च छन्दांस्येव देवाः वयोनाधाः सर्वक्रियाविद्यानिबन्धनास्तैश्छन्दोभिरेव वेदैर्वेदमन्त्रैश्चेदं सर्वं विश्वं वयुनं कर्मादि चेश्वरेण नद्धं बद्धं कृतमिति विज्ञेयम्। येन छन्दसा छन्दोभिर्वा सर्वा विद्याः संवृता आवृताः सम्यक् स्वीकृता भवन्ति तस्माच्छन्दांसि वेदा, मननान्मन्त्राश्चेति पर्यायौ। एवं—

'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः'। इति मनुस्मृतौ।[8]

'इत्यपि निगमो भवति'। इति निरुक्ते।[9]

श्रुतिर्वेदो मन्त्रश्च, निगमो वेदो मन्त्रश्चेति पर्य्यायौ स्तः। श्रूयन्ते वा सकला विद्या यया सा श्रुतिर्वेदो मन्त्राश्च श्रुतयः। तथा निगच्छन्ति नितरां जानन्ति प्राप्नुवन्ति वा सर्वा विद्या यस्मिन् स निगमो वेदो मन्त्रश्चेति।

भाषार्थ—[10]जैसे 'छन्द' और 'मन्त्र' ये दोनों शब्द एकार्थवाची अर्थात् संहिताभाग के नाम हैं, वैसे ही 'निगम' और 'श्रुति' भी वेदों के नाम हैं। भेद होने का कारण केवल अर्थ ही है। वेदों का नाम 'छन्द' इसलिये रक्खा है कि वे स्वतन्त्र प्रमाण और सत्यविद्याओं से परिपूर्ण हैं। तथा उनका 'मन्त्र' नाम इसलिये है कि उनसे सत्यविद्याओं का ज्ञान होता है। और 'श्रुति' इसलिये कहते हैं कि उनके पढ़ने अभ्यास करने और सुनने से सब सत्यविद्याओं को मनुष्य लोग जान सकते हैं।

१. धातु० ४।६५॥ २. उणादि० ४।१५९॥
३. ऋग्वेदस्यादिमो मन्त्रः। ४. उणादि० ४।२१९॥ ५. धातु० १।५६॥
६. शत० ८।२।२।८॥ ७. शत० ८।३।३।६॥ ८. मनु० २।१०॥
९. यथा २।१३; ३।५,२० इत्यादिषु बहुत्र। अत्रेदमपि विज्ञेयम्—यास्को 'निगम'पदस्य प्रयोगं मन्त्रोद्धरणप्रसङ्ग एव करोति, ब्राह्मणोद्धरणप्रसङ्गे तु 'इति विज्ञायते' इत्येवं निर्दिशति।
१०. यह भाषार्थ अत्यन्त संक्षिप्त अभिप्रायमात्र द्योतक है।

ऐसे ही जिस करके सब पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो उसको 'निगम' कहते हैं। इससे यह चारों शब्द पर्याय अर्थात् एक अर्थ के वाची हैं, ऐसा ही जानना चाहिये।

[1]तथा व्याकरणेऽपि—

'मन्त्रे घसह्वरणशवृदहाद्वृच्कृगमिजनिभ्यो लेः ॥ १॥'

अष्टाध्याय्याम् अ० २। पा० ४। सू० ८०॥

'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः ॥२॥' अ० ३। पा० ४। सू० ६॥

'वा षपूर्वस्य निगमे ॥३॥' अ० ६। पा० ४। सू० ९॥

अत्रापि च्छन्दोमन्त्रनिगमाः पर्य्यायवाचिनः सन्ति। एवं छन्दआदीनां पर्यायसिद्धेर्यो भेदं ब्रूते तद्वचनमप्रमाणमेवास्तीति विज्ञायते।

भाषार्थ—वैसे ही अष्टाध्यायी व्याकरण में भी छन्द मन्त्र और निगम ये तीनों नाम वेदों ही के हैं। इसलिये जो लोग इनमें भेद मानते हैं, उनका वचन प्रमाण करने के योग्य नहीं।

इति वेदविषय-विचारः



१. इतः पूर्वं वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'भाष्यम्' इत्यपपाठः।

अथ वेदसंज्ञाविचारः

अथ कोऽयं वेदो नाम ? मन्त्रभाग[1]संहितेत्याह । किञ्च 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इति कात्यायनो[2]क्तेर्ब्राह्मणभागस्यापि वेदसंज्ञा कुतो न स्वीक्रियत इति ?

मैवं वाच्यम् । न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा भवितुमर्हति । कुतः ? पुराणेतिहाससंज्ञत्वाद्[3] वेदव्याख्यानाद् ऋषिभिरुक्तत्वाद् अनीश्वरोक्तत्वात् कात्यायनभिन्नै[4]र्ऋषिभिर्वेदसंज्ञायामस्वीकृतत्वात् मनुष्यबुद्धिरचितत्वाच्चेति ।

भाषार्थ—प्र०—वेद किनका नाम है ? उ०—मन्त्र-संहिताओं का । प्र०—जो कात्यायन ऋषि ने कहा है कि 'मन्त्र और ब्राह्मणग्रन्थों का नाम वेद है,' फिर ब्राह्मणभाग को भी वेदों में ग्रहण आप लोग क्यों नहीं करते हैं ?

---

१. अत्र अन्यत्र च 'भाग' पदनिर्देशः पूर्वपक्षिणो मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदत्वं स्वीकर्तुं मतेन, न स्वमतेनेति विज्ञेयम् । यद्वा व्याख्येयव्याख्यानयोरौपचारिकमेकत्वं स्वीकृत्य भागपदप्रयोगो विज्ञेयः ।

२. कात्यायननाम्ना प्रसिद्धे वाजसनेयप्रातिशाख्यस्य परिशिष्टरूपे प्रतिज्ञापरिशिष्टे सूत्रमिदं दृश्यते । प्रतिज्ञापरिशिष्टनामकमेकमन्यदपि परिशिष्टम् अष्टादशसु श्रौतपरिशिष्टेषूपलभ्यते । तत्र नैतद् वचनं श्रूयते एवं च प्रतिज्ञापरिशिष्टनाम्नी द्वे परिशिष्टे स्तः ।

३. प्राचीनेष्वार्षग्रन्थेषु पुराणेतिहासकल्पगाथानाराशंस्यादिभिर्नामभिर्ब्राह्मणान्युच्यन्ते । तथा चाहुर्बृहदारण्यकोपनिषदो (२।४।१०) व्याख्याने शंकराचार्याः—"किं तन्निश्वसितमिव ततो जातमित्युच्यते—यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसश्चतुर्विधं मन्त्रजातम्, इतिहास इत्युर्वशीपुरूरवसोः संवादादिः 'उर्वशी हाप्सराः' इत्यादि ब्राह्मणमेव । ····" (इत्थमेव पुराणविद्योपनिषच्छ्लोकसूत्रानुव्याख्यानव्याख्यानपदानां विवरणेऽपि ब्राह्मणवचनान्येवोद्धृतानि) । एतदेव चानुसृत्य सायणाचार्येण तैत्तिरीयारण्यकव्याख्याने (८।२, पूना सं० पृष्ठ ५६३) उक्तम्—"ब्राह्मणं चाष्टधाभिन्नम् । तद्भेदास्तु वाजसनेयिभिराम्नायन्ते—'इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि' (बृ० उ० २।४।१०) इति ।" (अग्रे च सायणेन प्रकृतारण्यकग्रन्थत एव इतिहासादीनामुदाहरणानि प्रदत्तानि) ।

४. प्रतिज्ञापरिशिष्टं कात्यायनर्षिप्रोक्तमित्यननुमतमपि ग्रन्थकारस्य दुर्जनतोषन्यायेन प्रतिज्ञापरिशिष्टस्य कात्यायनप्रोक्तत्वं स्वीकृत्येदं वचनमिति ज्ञेयम् ।

अत्रेदं विशेषतो ज्ञेयम्—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इति वचनं सर्वेष्वपि समुपलभ्यमानेषु कृष्णयजुषः श्रौतसूत्रेषु परिभाषाप्रकरणे पठ्यते । आपस्तम्बादिकल्पसूत्रवचनानि ग्रन्थकृताऽसकृत् स्वीयग्रन्थेषूद्धृतानि । तस्माद् ग्रन्थकारेण कृष्णयजुषः श्रौतसूत्राणि नैव दृष्टानीति न शक्यते वक्तुम् । तथा सत्यपि, यदत्र ग्रन्थकारः 'कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिर्वेदसंज्ञायामस्वीकृतत्वात्' इति ब्रवीति, तेन तस्यात्र कश्चिद् विशिष्टोऽभिप्रायः

उ०—ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं हो सकते। क्योंकि उन्हीं का नाम इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नराशंसी भी है[1]। वे ईश्वरोक्त नहीं हैं, किन्तु महर्षि लोगों के किये वेदों के व्याख्यान हैं। एक कात्यायन को छोडके किसी अन्य ऋषि[2] ने उनके वेद होने में साक्षी नहीं दी है। और वे देहधारी पुरुषों के बनाये हैं। इन हेतुओं से ब्राह्मणग्रन्थों की वेदसंज्ञा नहीं हो सकती। और मन्त्रसंहिताओं का 'वेद' नाम इसलिये है कि ईश्वररचित और सब विद्याओं का मूल हैं।

सूच्यते। स च 'मन्त्ररूपाणाम् ऋग्यजुःसामाथर्वसंहितानां श्रौतसूत्रप्रवक्तृषु कात्यायनभिन्नैरन्यैर्ऋग्यजुःसामाथर्वश्रौतकारैर्ऋषिभिरेतादृशस्य वचनस्यानुक्तत्वाद्' इत्येवं ज्ञेयः। अत्र चेदमपि ध्येयम्—कात्यायननाम्ना प्रसिद्धमुक्तवचनमपि न तस्य श्रौतसूत्रे दृश्यते, न श्रौतपरिशिष्टेषु। कृष्णयजुषः सर्वासु शाखारूपासु संहितासु मन्त्रब्राह्मणयोः सम्मिश्रणं प्रत्यक्षमिति हेतोस्तत्सूत्रकाराणां परिभाषाप्रकरणे तादृश्याः पारिभाषिक्या वेदसंज्ञायाः करणं न दोषावहम्। पारिभाषिकी संज्ञा च स्वस्मिन् ग्रन्थ एव प्रवर्तते, न ततोऽन्यत्रेति सर्वसम्मतो राद्धान्तः। तेन कृष्णयजुषः श्रौतसूत्रेषूक्ता ब्राह्मणानां पारिभाषिकी वेदसंज्ञा न सामान्यरूपेण ब्राह्मणानां वेदत्वबोधनाय समर्था। अत एवापस्तम्बश्रौतव्याख्याता धूर्तस्वामिना '**केश्चिन्मन्त्राणामेव वेदत्वमाख्यातम्**', हरदत्तेन च '**केश्चिन्मन्त्राणामेव वेदत्वमाश्रितम्**' इत्युक्तम्। अयं च विषयोऽस्माभिः स्वीये '**वेद-संज्ञा-मीमांसा**' ग्रन्थे विस्तरेण वर्णितः। अत एतद्विषये विशेषजिज्ञासुभिः स ग्रन्थोऽवश्यं द्रष्टव्यः (अयं रामलालकपूरट्रस्टत उपलभ्यते)।

१. इतिहास पुराण आदि नाम ब्राह्मणग्रन्थों के हैं, इस विषय में **शंकराचार्य** और **सायणाचार्य** के वचन हमने ऊपर (पृष्ट ६४ टि० ३) में दर्शा दिए हैं। अतः पुनः यहां नहीं लिखते।

२. 'शुक्लयजुः-प्रातिशाख्य' से संबद्ध 'प्रतिज्ञापरिशिष्ट' में मन्त्र और ब्राह्मण को वेद कहा है। यह परिशिष्ट कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध है। ऋषि दयानन्द ने दुर्जनतोषन्याय से उस ग्रन्थ को कात्यायनकृत मानकर यह पङ्क्ति लिखी है। वस्तुतः वे उसे कात्यायनकृत नहीं मानते। यहां यह भी ध्यान रखना चाहिए कि 'प्रतिज्ञापरिशिष्ट' के नाम से एक अन्य परिशिष्ट भी मिलता है, जिसका 'कात्यायन-श्रौत-सूत्र' के साथ संबन्ध है।

यहां यह भी जानना चाहिए कि '**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**' वचन कृष्णयजुःशाखाओं के सभी श्रौतसूत्रों में उपलब्ध होता है। ऋषि दयानन्द ने आपस्तम्ब कल्प के अनेक वचन अपने ग्रन्थों में उद्धृत किये हैं। अतः उन्होंने कृष्णयजुः के श्रौतसूत्र नहीं देखे यह कल्पना नहीं की जा सकती (अनेक पौराणिक पण्डित ऐसा कहते हैं)। इसलिए ऋषि दयानन्द के 'एक कात्यायन को छोड़कर किसी अन्य ऋषि ने' कथन से विशेष अभिप्राय सूचित होता है। वह इस प्रकार है—'कृष्णयजुः की शाखारूप संहिताओं में मन्त्र और ब्राह्मण का सम्मिश्रण प्रत्यक्ष होने से उन शाखाओं के सूत्रकारों ने अपने श्रौतसूत्र के परिभाषा-प्रकरण में मन्त्र ब्राह्मण की पारिभाषिक वेदसंज्ञा कही है। पारिभाषिक संज्ञायें उसी ग्रन्थ के लिए प्रमाण होती हैं, जिनमें वह संज्ञा पढ़ी गई है, यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है। इसलिए इस सूत्र से कही गई पारिभाषिक वेद-संज्ञा सामान्यरूप से ब्राह्मणग्रन्थों की वेद-संज्ञा का विधान नहीं कर सकती। आपस्तम्ब श्रौत के उक्त परिभाषासूत्र की व्याख्या में **धूर्तस्वामी और हरदत्त** दोनों ने स्पष्ट लिखा है—'**कई आचार्य मन्त्रों को ही वेद-संज्ञा मानते हैं**'। इस विषय पर हमने अपने '**वेदसंज्ञामीमांसा**' ग्रन्थ में विस्तार से लिखा है। विशेष जिज्ञासुओं को चाहिए कि वे इस ग्रन्थ को अवश्य देखें।

'यथा ब्राह्मणग्रन्थेषु मनुष्याणां नामलेखपूर्वका लौकिका इतिहासाः सन्ति, न चैवं मन्त्रभागे'[2]।

किञ्च भोः !

'त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् ।
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नोऽअस्तु त्र्यायुषम् ॥१॥' यजुः० अ० ३ । मं० ६२ ॥

इत्यादीनि वचनान्यृषीणां नामाङ्कितानि यजुर्वेदादिष्वपि दृश्यन्ते । अनेनेतिहासादिविषये मन्त्रब्राह्मणयोस्तुल्यता दृश्यते, पुनर्ब्राह्मणानामपि वेदसंज्ञा कुतो न मन्यते ?

मैवं भ्रमि । नैवात्र जमदग्निकश्यपौ देहधारिणो मनुष्यस्य नाम्नी स्तः । अत्र प्रमाणम्—

'चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिर्यदेनेन जगत् पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः ॥'
श० कां० ८ । अ० १ ॥[3]

'कश्यपो वै कूर्मः' । 'प्राणो वै कूर्मः ।' श० कां० ७ । अ० ५ ॥[4]

अनेन प्राणस्य कूर्मः कश्यपश्च संज्ञास्ति । शरीरस्य नाभौ तस्य कूर्माकारावस्थितेः ।

अनेन मन्त्रेणेश्वर एव प्रार्थ्यते । तद्यथा—हे जगदीश्वर! भवत्कृपया नोऽस्माकं जमदग्निसंज्ञकस्य चक्षुषः कश्यपाख्यस्य प्राणस्य च (त्र्यायुषम्) त्रिगुणमर्थात् त्रीणि शतानि वर्षाणि यावत् तावदायुरस्तु । चक्षुरित्युपलक्षणमिन्द्रियाणां, प्राणो मनआदीनां च । (यद्देवेषु त्र्यायुषम्) अत्र प्रमाणम्—'विद्वांसो हि देवाः ।' श० कां० ३ । अ० ७[5] अनेन विदुषां देवसंज्ञास्ति । देवेषु विद्वत्सु यावद् विद्याप्रभावयुक्तं त्रिगुणमायुर्भवति (तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्) तत्सेन्द्रियाणां समनस्कानां नोऽस्माकं पूर्वोक्तं सुखयुक्तं त्रिगुणमायुरस्तु भवेत्, येन सुखयुक्ता वयं तावदायुर्भुञ्जीमहि । अनेनान्यदप्युपदिश्यते—ब्रह्मचर्यादिसुनियमैर्मनुष्यैरेतत् त्रिगुणमायुः कर्तुं[6] शक्यमस्तीति गम्यते ।

अतोऽर्थाभिधायकैर्जमदग्न्यादिभिः शब्दैरर्थमात्रं[7] वेदेषु प्रकाश्यते । अतो नात्र मन्त्रभागे हीतिहासलेशोऽप्यस्तीत्यवगन्तव्यम् । अतो यच्च सायणाचार्यादिभिर्वेदप्रकाशादिषु यत्र कुत्रेतिहासवर्णनं कृतं तद् भ्रममूलमस्तीति मन्तव्यम् ।

---

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु इतः पूर्वं पठ्यमानं 'भाष्यम्' पदं व्यर्थम्, कस्यचिद् वचनस्य व्याख्यानाभावात् ।

२. अत्रापि भागपदव्यवहारः पूर्वपक्षिणो मतेन, एवमुत्तरत्रापि सर्वत्र द्रष्टव्यम् ।

३. शत० ८।१।२।३॥ ४. शत० ७।५।१।५,७॥ ५. शत० ३।७।३।१०॥

६. तदुक्तं भगवताऽग्निवेशेन—ब्रह्मचर्यमायुष्याणाम् [प्रधानम्] । चरक सूत्र अ० २५ खण्ड ३८ ॥

७. सामान्यार्थमिति भावः ।

भाषार्थ—[जैसे ब्राह्मणग्रन्थों में मनुष्यों के नामलेखपूर्वक लौकिक इतिहास हैं, वैसे मन्त्रभाग में नहीं हैं।][1]

प्र०—[2]जैसे ऐतरेय[3] आदि ब्राह्मणग्रन्थों में याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी, गार्गी और जनक आदि के इतिहास लिखे हैं, वैसे ही[2] (त्र्यायुषं जमदग्नेः०[4]) इत्यादि वेदों में भी पाये जाते हैं। इससे मन्त्र और ब्राह्मणभाग ये दोनों बराबर होते हैं। फिर ब्राह्मणग्रन्थों को वेदों में क्यों नहीं मानते हो?

उ०—ऐसा भ्रम मत करो। क्योंकि 'जमदग्नि' और 'कश्यप' ये नाम [यहां] देहधारी मनुष्यों के नहीं हैं। इसका प्रमाण शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि—'चक्षु का नाम जमदग्नि और प्राण का नाम कश्यप है।' इस कारण से यहां [उपलक्षणरूप से] प्राण से अन्तःकरण और आंख से सब इन्द्रियों का ग्रहण करना चाहिये, अर्थात् जिनसे जगत् के सब जीव बाहर और भीतर देखते हैं।

(त्र्यायुषं ज०) सो इस मन्त्र से ईश्वर की प्रार्थना करनी चाहिये कि—'हे जगदीश्वर! आप के अनुग्रह से हमारे प्राण आदि अन्तःकरण और आंख आदि सब इन्द्रियों की (३००) तीन सौ वर्ष तक उमर बनी रहे। (यद्देवेषु०) सो जैसी विद्वानों के बीच में विद्यादि शुभगुण और आनन्दयुक्त उमर होती है, (तन्नो अस्तु०) वैसी ही हम लोगों की भी हो'। तथा '**त्र्यायुषं जमदग्नेः०**' इत्यादि उपदेश से यह भी जाना जाता है कि मनुष्य ब्रह्मचर्यादि उत्तम नियमों[5] से त्रिगुण चतुर्गुण आयु कर सकता है, अर्थात् (४००) चार सौ वर्ष तक भी सुखपूर्वक जी सकता है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि वेदों में सत्य अर्थ के वाचक शब्दों से सत्यविद्याओं का प्रकाश किया है, लौकिक इतिहासों का नहीं। इससे जो सायणाचार्यादि लोगों ने अपनी-अपनी बनाई टीकाओं में वेदों में जहां-तहां इतिहास वर्णन किये हैं, वे सब मिथ्या हैं।

[6]तथा ब्राह्मणग्रन्थानामेव पुराणेतिहासादिनामास्ति, न ब्रह्मवैवर्तश्रीमद्भागवतादीनां चेति निश्चीयते।

किंच भोः! ब्रह्मयज्ञविधाने यत्र क्वचिद् ब्राह्मणसूत्रग्रन्थेषु 'यद् ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीः'[7] **इत्यादीनि वचनानि दृश्यन्ते, एषां मूलमथर्ववेदेऽप्यस्ति**—

१. कोष्ठगत यह पङ्क्ति वै० य० मुद्रित सं० ८ में परिवर्धित है, यह आवश्यक भी है।

२. 'जैसे······वैसे ही' पङ्क्ति संस्कृत पाठ में नहीं है, परन्तु विषय की स्पष्टता के लिये उपयोगी है।

३. यहां 'शतपथ' होना चाहिए। क्योंकि आगे निर्दिष्ट सभी इतिहास शतपथ ब्राह्मण के अन्तर्गत हैं। उपलक्षणार्थ ऐतरेय पाठ मानने पर उसमें निर्दिष्ट 'कवष ऐलूष' आदि के इतिहास द्रष्टव्य हैं।

४. यजुः ३।६२॥

५. चरक संहिता सूत्र० अ० २५, खं० ३८ में 'ब्रह्मचर्य को आयुष्यवर्धकों में प्रधान' बताया है—'**ब्रह्मचर्यमायुष्याणां [प्रधानम्]**'।

६. इतः पूर्वं वै० य० मुद्रितसंस्करणेषु 'भाष्यम्' इत्यपपाठः।

७. तै० आ० २।९॥ तुलना कार्या—आश्व० गृह्य ३।३।१॥

'स बृहतीं दिशमनु व्यचलत्। तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानु-व्यचलन्। इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥' अथर्व कां० १५। प्रपा० ३०। अनु० १। मं० ४॥[1]

अतो ब्राह्मणग्रन्थेभ्यो भिन्ना भागवतादयो ग्रन्था इतिहासादिसंज्ञया कुतो न गृह्यन्ते ?

मैवं वाचि। एतैः[2] प्रमाणैर्ब्राह्मणग्रन्थानामेव ग्रहणं जायते, न श्रीमद्भागवतादीनामिति। कुतः, ब्राह्मणग्रन्थेष्वितिहासादीनामन्तर्भावात्[3]। तत्र—

'देवासुराः संयत्ता आसन्[4]।' इत्यादयः 'इतिहासा' ग्राह्याः।

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ॥' छान्दोग्योपनि०[5] प्रपा० ६॥[6]

'आत्मा वा इदमेकमेवाग्र आसीन्नान्यत् किंचन मिषत् ॥'[7]

इत्यैतरेयारण्यकोपनि० अ० १। खं० १॥

'आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास ॥' श० कां० ११। अ० १॥[8]

'इदं वा अग्रे नैव किंचिदासीत् ॥'[9] इत्यादीनि जगतः पूर्वावस्थाकथनपूर्वकाणि वचनानि ब्राह्मणान्तर्गतान्येव 'पुराणानि' ग्राह्याणि।

---

१ अथर्व १५।६।१०-१२॥

२. प्रकारे बहुवचनम्। तेन 'यद् ब्राह्मणानीतिहासान्' सदृशवचनप्रमाणैरित्यर्थो विज्ञेयः। न त्वत्रोक्ताथर्व-[illegible] (पूर्वनिर्दिष्टा टिप्पणी द्रष्टव्या)।

३. इतिहासपुराणादिशब्दैर्ब्राह्मणान्तर्गता एव विशिष्टा भागा उच्यन्त, इत्यस्मिन् विषये शंकराचार्य-[illegible]वचनानि पूर्वम् (पृष्ठ ६४, टि० ३) उद्धृतानि। यत्त्वत्राथर्ववेदस्य प्रमाणमुपन्यस्तं न तत्रेतिहासा-[illegible] विज्ञातुम्। कुतः, तेषां मन्त्रापेक्षया परकालत्वात्। अत एतस्मिन् मन्त्रे [illegible] मन्त्रा एव ग्राह्याः। यथा—'इति ह आस' इत्येवं भूतकालक्रियया युता हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् (ऋ० १०।१२१।१) इत्यादयो मन्त्रा इतिहासपदवाच्याः, नासदासीन्नो सदासीत् तदानीम् (ऋ० १०।१२९।१) इत्येवमादयः सृष्टिविषयका मन्त्राः पुराणपदवाच्याः। [illegible] विशिष्टा मन्त्रा अत्र ग्रहीतुं योग्याः सन्ति। इदमत्र सामान्येन ज्ञेयम्—इतिहास-पुराण-गाथा-[illegible]-नाराशंस्यादीनि पदानि प्राधान्येन तादृशीनां रचनाविशेषाणां वाचकान्येव। तेन [illegible] पदानि [illegible] मन्त्रानभिदधति, ब्राह्मणेषु ब्राह्मणवचनान्, लौकिकेतिहासादिषु लौकिके-[illegible]।

४. [illegible] ११।१।१।१॥ अत्रापि मन्त्रव्यतिरिक्तो भागो ब्राह्मणमुच्यते।

५. उपनिषदां ब्राह्मणेष्वन्तर्भावः।

६. छा० उ० ६।२।१॥

७. ऐ० आर० ४।१।१॥ तत्र 'इदमेक एवाग्र' पाठः।

८. शत० ११।१।६।१॥

९. तुलना कार्या—'नैवेह किञ्चनाग्र आसीत्।' बृ० उ० १।२।१॥

कल्पा—मन्त्रार्थसामर्थ्यप्रकाशकाः। तद्यथा—'इषे त्वोर्जे त्वेति वृष्ट्यै तदाह, यदाहेषे त्वेत्यूर्जे त्वेति यो वृष्टादूर्ग्रसो जायते तस्मै तदाह।' 'सविता वै देवानां प्रसविता सवितृप्रसूताः।।' श० कां० १। अ० ७॥[1] इत्यादयो ग्राह्याः।

'गाथाः'[2]—याज्ञवल्क्यजनकसंवादो यथा शतपथब्राह्मणे गार्गीमैत्रेय्यादीनां परस्परं प्रश्नोत्तर-कथनयुक्ताः सन्तीति।

'नाराशंस्यश्च'—अत्राहुर्यास्काचार्याः—'नराशंसो यज्ञ इति कात्थक्यो[3] नरा अस्मिन्नासीनाः शंसन्त्यग्निरिति शाकपूणिर्नरैः प्रशस्यो भवति।।' निरु० अ० ८। खं० ६।। नृणां यत्र प्रशंसा नृभिर्यत्र प्रशस्यते ता ब्राह्मणनिरुक्ताद्यन्तर्गताः कथा नाराशंस्यो ग्राह्याः, नातोऽन्या इति।

किञ्च तेषु तेषु वचनेष्वपीदमेव विज्ञायते यत् यस्माद् ब्राह्मणानीति संज्ञीपदमितिहासादि-स्तेषां संज्ञेति। तद्यथा—'ब्राह्मणान्येवेतिहासान् जानीयात् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसी-श्चेति'।[4]

भाषार्थ—और इस हेतु से ब्राह्मणग्रन्थों का ही 'इतिहासादि' नाम जानना चाहिये, श्रीमद्भागवतादि का नहीं।

प्र०—जहां-जहां ब्राह्मण और सूत्रग्रन्थों में (यद् ब्राह्मणा०) इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा, नाराशंसी इत्यादि शब्द देखने में आते हैं, तथा अथर्ववेद में भी इतिहास पुराणादि नामों का लेख है; इस हेतु से ब्राह्मणग्रन्थों से भिन्न ब्रह्मवैवर्त्त, श्रीमद्भागवतादि[5] का ग्रहण इतिहास पुराणादि नामों से क्यों नहीं करते हो?

उ०—इनके ग्रहण में कोई भी प्रमाण नहीं है। क्योंकि उनमें मतों के परस्पर विरोध औ[र] लड़ाई आदि की असम्भव मिथ्या कथा अपने-अपने मत के अनुसार लोगों ने लिख रक्खी हैं। इससे इतिहास और पुराणादि नामों से इनका ग्रहण करना किसी मनुष्य को उचित नहीं। [ब्राह्मणग्रन्थों में इतिहासादि का अन्तर्भाव होने से उनका ही इतिहास पुराणादि नामों से ग्रहण होता है।[6] वहां—]

---

१. शत० १।७।१।२,४॥

२. अत्रैवं पाठो युक्ततरः प्रतिभाति—गाथाः संवादरूपाः। यथा शतपथे याज्ञवल्क्यजनकसंवादो गार्गी-मैत्रेयादीनां परस्परं प्रश्नोत्तरकथनयुक्ताः सन्तीति।

३. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'कथक्यो' इत्यपपाठः। ४. अनुपलब्धमूलमिदम्।

५. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'श्रीमद्भागवत महाभारतादि' पाठ है। यह अपपाठ है, क्योंकि संस्कृत में 'महाभारत' पद नहीं है। और महाभारत प्रामाणिक आर्ष ग्रन्थ है, ब्रह्मवैवर्त आदि के समान अप्रमाण अनार्ष ग्रन्थ नहीं है।

६. इतिहास पुराण आदि से ब्राह्मण अन्तर्गत विशिष्ट भागों का ही ग्रहण होता है, यह हम पूर्व (पृ० ९४ टि० ३ में) शंकराचार्य और सायणाचार्य के मत से भी दर्शा चुके हैं।

जो ब्राह्मणग्रन्थों में (देवासुराः संयत्ता आसन्) अर्थात् 'देव विद्वान् और असुर मूर्ख ये दोनों युद्ध करने को तत्पर हुए थे' इत्यादि कथाओं का नाम 'इतिहास' है।

(सदेव सो०) अर्थात् जिसमें जगत् की [पूर्व अवस्था] उत्पत्ति आदि का वर्णन है, उस ब्राह्मण भाग का नाम 'पुराण' है।

(इषे त्वोर्जे त्वेति वृष्टये०) जो वेदमन्त्रों के अर्थ, अर्थात् जिनमें द्रव्यों के सामर्थ्य का कथन किया है, उनका नाम 'कल्प' है।

इसी प्रकार जैसे शतपथ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य, जनक, गार्गी, मैत्रेयी आदि की [प्रश्नोत्तर रूप] कथाओं का नाम 'गाथा' है।

और जिनमें नर अर्थात् मनुष्य लोगों ने ईश्वर धर्म आदि पदार्थविद्याओं और मनुष्यों की प्रशंसा की है, उनको 'नाराशंसी' कहते हैं।

(ब्राह्मणानीतिहासान्०) इस वचन में 'ब्राह्मणानि' संज्ञी और इतिहासादि संज्ञा है। अर्थात् ब्राह्मणग्रन्थों का नाम इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा नाराशंसी है। सो ब्राह्मण और निरुक्तादि ग्रन्थों में जो-जो जैसी-जैसी कथा लिखी हैं, उन्हीं का इतिहासादि से ग्रहण करना चाहिये, अन्य का नहीं।

[1]अन्यदप्यत्र प्रमाणमस्ति न्यायदर्शनभाष्ये—

[सू०—]'वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात् ॥१॥' अ० २। आ० १। सू० ६० ॥[2]

अस्योपरि वात्स्यायनभाष्यम्—'प्रमाणं शब्दो यथा लोके, [3]विभागश्च ब्राह्मणवाक्यानां त्रिविधः।'

अयमभिप्रायः--ब्राह्मणग्रन्थशब्दा लौकिका एव, न वैदिका इति। तेषां त्रिविधो विभागो लक्ष्यते—

सू०—'विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात् ॥२॥ अ० २। आ० १। सू० ६१ ॥

अस्योपरि वात्स्यायनभाष्यम्—'त्रिधा खलु ब्राह्मणवाक्यानि विनियुक्तानि, विधि-

१. अतः पूर्वं वै० य० मुद्रितसंस्करणेषु 'भाष्यम्' इत्यपपाठः।

२. विभिन्नेषु संस्करणेषु सूत्रसंख्यायां भेद उपलभ्यते। तत्र यथानिर्दिष्टसंख्यायामुद्धरणं नोपलभ्यते चेत् पूर्वापरसंख्या अनुसन्धेयाः।

३. 'विभागश्च' इत्यादिवाक्यमुत्तरसूत्रस्योत्थानिकारूपं ग्रन्थकृतेह्रैव पठित्वा व्याख्यातम्। एतच्चाग्रे व्याख्याने 'तेषां त्रिविधो विभागो लक्ष्यते' इतिवाक्येनोत्तरसूत्रस्योपस्थापनस्य दर्शनाद् विज्ञायते। इत्थमेव चाग्रे द्वितीयसूत्रस्य वात्स्यायनभाष्योद्धरणस्यान्ते 'तत्र' पदमपि तृतीयस्य सूत्रस्योत्थानिकारूपमेवेति ज्ञेयम्।

वचनान्यर्थवादवचनान्यनुवादवचनानीति । 'तत्र'[1]—

सू०—'विधिर्विधायकः ॥३॥' अ० २। आ० १। सू० ६२॥

अस्योपरि वात्स्यायनभाष्यम्—'यद्वाक्यं विधायकं चोदकं स विधिः। विधिस्तु नियोगोऽनुज्ञा वा, यथाऽग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इत्यादि।' ब्राह्मणवाक्यानामिति शेषः।

सू०—'स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः ॥४॥' अ० २। आ० १। सू० ६३॥

अस्योपरि वात्स्यायनभाष्यम्—"विधेः फलवादलक्षणा या प्रशंसा सा 'स्तुतिः' संप्रत्ययार्थं[2] स्तूयमानं श्रद्दधीतेति प्रवर्त्तिका च। फलश्रवणात् प्रवर्त्तते—सर्वजिता वै देवाः सर्वमजयन् सर्वस्याप्त्यै सर्वस्य जित्यै सर्वमेवैतेनाप्नोति सर्वं जयतीत्येवमादि। अनिष्टफलवादो 'निन्दा' वर्जनार्थं[3] निन्दितं न समाचरेदिति। स एष वा प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमो य एतेनानिष्ट्वाऽन्येन यजते गर्त्ते पतत्ययमे[वै]तज्जीर्यते वा इत्येवमादि। अन्यकर्तृकस्य व्याहतस्य विधेर्वादः 'परकृतिः'। हुत्वा वपामेवाग्रेऽभिघारयन्ति, अथ पृषदाज्यम्। तदु ह चरकाध्वर्य्यवः पृषदाज्यमेवाग्रेऽभिघारयन्ति। अग्नेः प्राणाः पृषदाज्यं स्तोममित्येवमभिदधतीत्येवमादि। ऐतिह्यसमाचरितो विधिः 'पुराकल्पः' इति। तस्माद्वा एतेन ब्राह्मणा [4]बहिःपवमानं साम स्तोममस्तौषन् योनेर्यज्ञं प्रतनवामहा इत्येवमादि। कथं परकृतिपुराकल्पौ अर्थवादा इति? स्तुतिनिन्दावाक्येनाभिसंबन्धाद् विध्याश्रयस्य कस्यचिदर्थस्य द्योतनादर्थवाद इति।"

भाषार्थ—ब्राह्मणग्रन्थों की इतिहासादि संज्ञा होने में और भी प्रमाण है—जैसे लोक में तीन प्रकार के वचन होते हैं, वैसे ब्राह्मणग्रन्थों में भी हैं।[5] उनमें से एक—विधिवाक्य है, जैसे—'देवदत्तो ग्रामं गच्छेत् सुखार्थम्' सुख के लिये देवदत्त ग्राम को जाय। इसी प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों में

---

१. अत्र पूर्व १०० पृष्ठस्था टिप्पणी ३ द्रष्टव्या।

२. क्वचित् 'सम्प्रत्ययार्था' इति पाठान्तरमुपलभ्यते। ग्रन्थकारनिर्दिष्टस्तु पाठस्तदानीतने कलिकत्तामुद्रिते वात्स्यायनभाष्य उपलभ्यते।

३. इहापि क्वचित् 'वर्जनार्था' इति पाठान्तरमुपलभ्यते उपर्युद्धृतः पाठः कलकत्तामुद्रिते ग्रन्थ उपलभ्यते।

४. वै० य० मुद्रितसंस्करणे 'हविः' इत्यपपाठो मुद्रणप्रमादजो वर्णविपर्ययात्मकः। अत्र 'बहिष्पवमानं' इति पकारवान् पाठो युक्तो ज्ञेयः, सामविशेषस्य तथैव संज्ञादर्शनात्।

५. यह अनुवाद अशुद्ध है। इस प्रकार होना चाहिए—'ब्राह्मण ग्रन्थों की वेदसंज्ञा न होने में अन्य भी प्रमाण है। न्यायदर्शन में कहा है—ब्राह्मण ग्रन्थों के शब्द लौकिक ही हैं, न कि वैदिक। उनका तीन प्रकार का विभाग देखा जाता है'।

भी है—'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' जिसको सुख की इच्छा हो वह अग्निहोत्रादि यज्ञों को करे। दूसरा—'अर्थवाद है, जो कि चार प्रकार का होता है। एक—(स्तुति) अर्थात् पदार्थों के गुणों का प्रकाश करना, जिससे मनुष्यों की श्रद्धा उत्तम काम करने और गुणों के ग्रहण करने में ही हो। दूसरी—(निन्दा) अर्थात् बुरे काम करने में दोषों का दिखलाना, जिससे उनको कोई न करे। तीसरा—(परकृतिः) जैसे इस चोर ने बुरा काम किया, इससे उसको दण्ड मिला, और साहूकार ने अच्छा काम किया, इससे उसको प्रतिष्ठा और उन्नति हुई। चौथा—(पुराकल्प) अर्थात् जो बात पहले हो चुकी हो, जैसे जनक की सभा में याज्ञवल्क्य, गार्गी, शाकल्य आदि ने इकट्ठे होके आपस में प्रश्नोत्तर रीति से संवाद किया था, इत्यादि इतिहासों को पुराकल्प कहते हैं।

सू०—'विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः ॥५॥' अ० २। आ० १। सू० ६४॥

अस्योपरि वात्स्यायनभाष्यम्—'विध्यनुवचनं चानुवादो विहितानुवचनं च। पूर्वः शब्दानुवादोऽपरोऽर्थानुवादः।'

सू०—'न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसंभवाभावप्रामाण्यात् ॥६॥'

अ० २। आ० २। सू० १॥

अस्योपरि वात्स्यायनभाष्यम्—'न चत्वार्य्येव प्रमाणानि। किं तर्हि? ऐतिह्यमर्थापत्तिः संभवोऽभाव इत्येतान्यपि प्रामाणानि। इति होचुरित्यनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारंपर्य्यमैतिह्यम्।'[2]

अनेन प्रमाणेनापीतिहासादिनामभिर्ब्राह्मणान्येव गृह्यन्ते, नान्यदिति।

भाषार्थ—[3]इसका तीसरा भाग 'अनुवाद' है, अर्थात् जिसका पूर्व विधान करके उसी का स्मरण और कथन करना। सो भी दो प्रकार का है—एक-शब्द का, और दूसरा—अर्थ का। जैसे 'वह विद्या को पढ़े' यह 'शब्दानुवाद' है। 'विद्या पढ़ने से ही ज्ञान होता है,' इसको 'अर्थानुवाद' कहते है। [5]इससे इसमें समझ लेना चाहिये कि जिस शब्द और अर्थ का दूसरी बार उच्चारण और विचार हो, इसको अनुवाद कहते हैं। सो ब्राह्मणपुस्तकों में लिखा है।

[6](जिसकी प्रतिज्ञा उसी में हेतु, उदाहरण, उपनय, और निगमन को घटाना हो। जैसे

१. यहां से आगे का भाषानुवाद भी ठीक नहीं है। वात्स्यायन-भाष्य के उदाहरणों का निर्देश न करके लौकिक उदाहरणमात्र दिये है।

२. इतः पूर्वं वै० य० मुद्रितसंस्करणेषु 'भाष्यम्' इत्यपपाठः।

३. अस्य भाषार्थो नोपलभ्यते।

४. प्रकृत भावार्थ भी संस्कृतपाठ का यथावत् नहीं है।

५. 'इससे······लिखा है' पाठ वै० य० मुद्रित में भाषा के अगले सन्दर्भ से आगे था, परन्तु इसका इस प्रकरण से सम्बन्ध होने से हम यहां ले आये हैं।

६. यह कोष्ठान्तर्गत सन्दर्भ यहां अप्रासङ्गिक है। संस्कृतपाठ में इसका किसी प्रकार का संकेत भी नहीं है। तथा 'न चतुष्ट्वम्' सूत्र और उसके भाष्य का भाषानुवाद भी नहीं है।

परमेश्वर नित्य है, यह 'प्रतिज्ञा' है। विनाशरहित होने से, यह 'हेतु' है। आकाश के समान है, इसको 'उदाहरण' कहते हैं। जैसा आकाश नित्य है वैसा परमेश्वर भी है, इसको 'उपनय' कहते हैं। और इन चारों का क्रम से उच्चारण करके पक्ष में यथावत् योजना करने को 'निगमन' कहते हैं। जैसे—परमेश्वर नित्य है, विनाशरहित होने से, आकाश के समान, जैसा आकाश नित्य है वैसा परमेश्वर भी।)

इस हेतु से भी ब्राह्मणपुस्तकों का नाम इतिहास आदि जानना चाहिये। क्योंकि इनमें इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी ये पांच प्रकार की कथा सब ठीक-ठीक लिखी हैं। और भागवतादि को इतिहासादि नहीं जानना चाहिये। क्योंकि उनमें मिथ्या कथा बहुत सी लिखी हैं।

[1]**अन्यच्च—ब्राह्मणानि तु वेदव्याख्यानान्येव सन्ति, नैव वेदाख्यानीति। कुतः, 'इषे त्वोर्जे त्वेति' श० कां० १। अ० ७॥[2] 'इत्यादीनि मन्त्रप्रतीकानि[3] धृत्वा ब्राह्मणेषु वेदानां व्याख्यानकरणात्।**

भाषार्थ—ब्राह्मणग्रन्थों की वेदों में गणना नहीं हो सकती। क्योंकि '**इषे त्वोर्जे त्वेति०**' इस प्रकार से उनमें मन्त्रों की प्रतीक धर-धरके वेदों का व्याख्यान किया है। और मन्त्रभाग संहिताओं में ब्राह्मणग्रन्थों की एक भी प्रतीक कहीं नहीं देखने में आती[4] इससे जो ईश्वरोक्त मूलमन्त्र अर्थात् चार संहिता हैं, वे ही वेद हैं, ब्राह्मणग्रन्थ नहीं।

अन्यच्च महाभाष्येऽपि—

केषां शब्दानाम्? लौकिकानां वैदिकानां च। तत्र लौकिकास्तावत्—गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इति। वैदिकाः खल्वपि—शन्नो देवीरभिष्टये। इषे त्वोर्जे त्वा।

१. इतः पूर्वं वै० य० मुद्रितसंस्करणेषु 'भाष्यम्' इत्यपपाठः। २. शत० १।७।१।२॥

३. क्वचिद् शुक्लयजुःसंहितायामपि प्रतीकानि पठ्यन्ते। तानि न संहिताया भागभूतानि, अपितु कर्मकाण्डस्य सौकर्याय तत्र तत्र पठितानि। अयं चाभिप्रायो ग्रन्थकृता एवं स्पष्टीकृतः—'अत्र **लोकं ता इन्द्रम्' द्वादशाध्यायस्थानां त्रयाणां मन्त्राणां प्रतीकानि सूत्रव्याख्यानं दृष्ट्वा केनचिद्धृतानि** (यजुर्भाष्ये १३।५८)। एवमेव १४।१०,२२,३१ याजुषमन्त्राणां भाष्येऽप्युक्तम्। विशेषस्त्वत्र वेदवाण्याः 'वेदविषयकभ्रान्तिनिवारणाङ्के' (वर्ष २४ अङ्क १) '**यजुर्वेद की मूलसंहिता**' नाम्न्यस्मदीये लेखे द्रष्टव्यः।

४. यजुर्वेद में क्वचित् उपलभ्यमान प्रतीकनिर्देश मूल यजुर्वेद के अंग नहीं हैं, यह ऋषि दयानन्द ने यजुर्वेद-भाष्य में कई स्थानों पर कहा है। यथा—(१) '**अत्र 'लोकं ता इन्द्रम्' द्वादशाध्यायस्थानां त्रयाणां मन्त्राणां प्रतीकानि सूत्रव्याख्यानं दृष्ट्वा केनचिद्धृतानि। शतपथेऽव्याख्यातत्वान्न गृह्यन्ते**। यजुर्भाष्य १३।५८॥ (२) इसी प्रकार अन्यत्र १४। १०, २२, ३१ मन्त्रों के भाष्य में भी कहा है। (३) अ० ३०। २० की टिप्पणी में लिखा है—'इस मन्त्र के आगे '**महा०**' '**कदा०**' '**कदा०**' ये तीन मन्त्रप्रतीकें पूर्व अ० ७। ४०; ८। २, ३ कहे क्रम से तीन मन्त्रों की किसी कारणविशेष के लिये लिखी हैं।' (४) अ० ३४ में भी इसी प्रकार उल्लेख मिलता है। विशेष देखिए वेदवाणी वर्ष २४ अङ्क १ में '**यजुर्वेद की 'मूलसंहिता'**' शीर्षक हमारा लेख।

अग्निर्मीळे पुरोहितम् । अग्न आ याहि वीतय इति ॥'[1]

यदि ब्राह्मणग्रन्थानामपि वेदसंज्ञाभीष्टाभूत् तर्हि तेषामप्युदाहरणमदात् । अत एव महाभाष्यकारेण मन्त्रभागस्यैव वेदसंज्ञां मत्वा प्रथममन्त्रप्रतीकानि वैदिकेषु शब्देषूदाहृतानि । किन्तु यानि 'गौरश्वः' इत्यादीनि लौकिकोदाहरणानि दत्तानि, तानि ब्राह्मणादिग्रन्थेष्वेव[2] घटन्ते । कुतः, तेष्वीदृशशब्दपाठव्यवहारदर्शनात् ।

'द्वितीया ब्राह्मणे ॥१॥' अ० २ । पा० ३ । सू० ६२ ॥

'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि ॥२॥' अ० २ । पा० ३ । सू० ६२ ॥

'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु ॥३॥' अ० ४ । पा० ३ । सू० १०५ ॥

इत्यष्टाध्याय्यां सूत्राणि

अत्रापि पाणिन्याचार्य्यैर्वेदब्राह्मणयोर्भेदेनैव प्रतिपादनं कृतम् । तद्यथा—पुराणैः प्राचीनैर्ब्रह्मादिभिः ऋषिभिः प्रोक्ता ब्राह्मणकल्पग्रन्था वेदव्याख्यानाः[3] सन्ति, अत एवैतेषां पुराणेतिहाससंज्ञा कृतास्ति । यद्यत्र छन्दोब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञाभीष्टा भवेत् तर्हि 'चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि' इत्यत्र छन्दोग्रहणं व्यर्थं स्यात्[4] । कुतः, 'द्वितीया ब्राह्मणे' इति ब्राह्मणशब्दस्य प्रकृतत्वात् । अतो विज्ञायते न ब्राह्मणग्रन्थानां वेदसंज्ञास्तीति । अतः किं सिद्धम् ? ब्रह्मेति ब्राह्मणानां नामास्ति । अत्र प्रमाणम्—

'ब्रह्म वै ब्राह्मणः, क्षत्रᳪ राजन्यः ॥' श० कां १३ । अ० १ ॥[5]

'समानार्थावेतौ [वृषशब्दो वृषन्शब्दश्च][6] ब्रह्मन्शब्दो ब्राह्मणशब्दश्च ॥'

इति व्याकरणमहाभाष्ये । अ० ५ । पा० १ । आ० १ ॥[7]

चतुर्वेदविद्भिर्ब्रह्मभिर्ब्राह्मणैर्महर्षिभिः प्रोक्तानि यानि वेदव्याख्यानानि तानि ब्राह्मणानि ।

अन्यच्च—कात्यायनेनापि ब्राह्मणा वेदेन सहचरितत्वात् सहचारोपाधिं[8] मत्वा ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा [तस्य] संमतेति विज्ञायते[9], एवमपि न सम्यगस्ति । कुतः, एवं तेनानुक्तत्वाद्, अतोऽन्यै-

---

१. महा० १। १। आ० १॥ २. एवशब्दोऽप्यर्थे ।

३. द्रष्टव्यं 'तस्य व्याख्यान इति च' इति पाणिनीये सूत्रे (४।३।६६) पुंस्त्वे प्रयोगः ।

४. पाठोऽयं व्यस्तः प्रतिभाति । ब्राह्मणशब्दानुवृत्तौ छन्दोग्रहणं मन्त्रार्थमुपपद्यते । सति च सार्थके ज्ञापकं न भवति । तेनात्र "यद्यत्र मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञाऽभीष्टा भवेत् तर्हि वेदपर्य्यायं छन्दपदं 'द्वितीया ब्राह्मणे' इत्यत्रैव 'द्वितीया छन्दसि' रूपेण पठेत् । तदेवं ब्राह्मणग्रहणं व्यर्थं सञ्ज्ञापयति न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञास्तीति ।" इत्येवं पाठेन भाव्यम् । ५. शत० १३।१।५।३॥ ६. प्रथमसंस्करणे मुद्रितोऽप्ययं पाठः संशोधनपत्रे निष्कासितः, पुनरपि महाभाष्ये सत्त्वात् वाक्यान्ते समुच्चयार्थकस्य चकारस्य पाठाच्चास्माभिः पुनः पठितः ।

७. महा० अ० ५, पाद १, सूत्र ७ ॥ ८. व्याख्येयव्याख्यानरूपसाहचर्योपाधिं मत्वेति भावः ।

९. अत्र 'विज्ञायेत' इति युक्तः पाठो भवेत् । तथा सति वाक्यविन्यासोऽप्यञ्जसोपपद्यते । भाषानुवादेनाप्ययमेव पाठः समर्थ्यते ।

र्द्दषिभिरगृहीतत्वात्, 'अनेनापि न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा भवितुमर्हतीति। इत्यादिबहुभिः प्रमाणै-र्मन्त्राणामेव वेदसंज्ञा, न ब्राह्मणग्रन्थानामिति सिद्धम्।

भाषार्थ—ब्राह्मणग्रन्थों की वेदसंज्ञा नहीं होने में व्याकरण महाभाष्य का भी प्रमाण है, जिसमें लोक और वेदों के भिन्न-भिन्न उदाहरण दिये हैं। जैसे '**गौरश्वः०**' इत्यादि लोक के, और '**शन्नो देवीरभिष्टय**' इत्यादि वेदों के हैं। किन्तु वैदिक उदाहरणों में ब्राह्मणों का एक भी उदाहरण नहीं दिया। और '**गौरश्वः**'इत्यादि जो लोक के उदाहरण दिये हैं, वे सब ब्राह्मणपुस्तकों में भी घटते हैं।[२] क्योंकि उनमें ऐसा[३] ही पाठ है। इसी कारण से ब्राह्मण-पुस्तकों की वेदसंज्ञा नहीं हो सकती।

और कात्यायन के नाम से जो दोनों की वेदसंज्ञा होने में वचन है, सो सहचार उपाधि-लक्षणा से किया हो, तो भी नहीं बन सकता। क्योंकि जैसे किसी ने किसी से कहा कि 'उस लकड़ी को भोजन करा दो,' और दूसरे ने इतने ही कहने से तुरन्त जान लिया कि लकड़ी जड़ पदार्थ होने से भोजन नहीं कर सकती, किन्तु जिस मनुष्य के हाथ में लकड़ी है उसको भोजन कराना चाहिये। इस प्रकार से कहा हो तो भी मानने के योग्य नहीं हो सकता। क्योंकि [कात्यायन ने सहचार उपाधि का निर्देश नहीं किया, तथा] इसमें अन्य ऋषियों की एक भी साक्षी नहीं है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि 'ब्रह्म' नाम ब्राह्मण का है। सो ब्रह्मादि जो वेदों के जाननेवाले महर्षि लोग थे, उन्हीं के बनाये हुए ऐतेरेय, शतपथ आदि वेदों के व्याख्यान हैं। इसी कारण से उनके किये ग्रन्थों का नाम 'ब्राह्मण' हुआ है। इससे निश्चय हुआ कि मन्त्रभाग की ही वेदसंज्ञा है, ब्राह्मणग्रन्थों की नहीं।

[४]किञ्च भोः! ब्राह्मणग्रन्थानामपि वेदवत् प्रामाण्यं कर्त्तव्यमाहोस्विन्नेति?

अत्र ब्रूमः— नैतेषां वेदवत् प्रामाण्यं कर्त्तुं योग्यमस्ति। कुतः? ईश्वरोक्ताभावात्, तदनुकूलतयैव प्रमाणार्हत्वाच्चेति। परन्तु सन्ति तानि परतःप्रमाणयोग्यान्येवेति।

भाषार्थ—प्र०—हम यह पूछते हैं कि ब्राह्मणग्रन्थों का भी वेदों के समान प्रमाण करना उचित है वा नहीं?

उ०—ब्राह्मणग्रन्थों का प्रमाण वेदों के तुल्य नहीं हो सकता। क्योंकि वे ईश्वरोक्त नहीं हैं। परन्तु वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण के योग्य तो हैं$ ॥

इति वेदसंज्ञा-विचारः

१. 'सहचारोपाधिनाऽपि' इत्यर्थः।

२. वै० य० मुद्रित में 'पुस्तकों के हैं' अपपाठ है। ३. क्रमनिर्देश की व्यवस्था से रहित।

४. इतः पूर्वं वै० य० मुद्रितसंस्करणेषु 'भाष्यम्' इत्यपपाठः।

$ इसमें इतना भेद है कि जो ब्राह्मणग्रन्थों में कहीं वेद से विरुद्ध हो, उसका प्रमाण करना किसी को न चाहिये। और ब्राह्मणग्रन्थों से विरोध आवे, तो भी वेदों का प्रमाण होता है॥ द० स०

अथ ब्रह्मविद्याविषयः

वेदेषु सर्वा विद्याः सन्त्याहोस्विन्नेति ।

अत्रोच्यते—सर्वाः सन्ति मूलोद्देशतः । तत्रादिमा[1] ब्रह्मविद्या संक्षेपतः प्रकाश्यते—

'तमीशा॑नं॒ जग॑तस्त॒स्थुष॒स्पतिं॑ धियंजि॒न्वमव॑से हूमहे व॒यम् ।
पू॒षा नो॒ यथा॒ वेद॑सा॒मस॑द् वृ॒धे र॑क्षि॒ता पा॒युरद॑ब्धः स्व॒स्तये॑ ॥१॥'

ऋ० अ० १ । अ० ६ । व० १५ । मं० ५ ॥[2]

'तद्विष्णो॑: पर॒मं प॒दं सदा॑ पश्यन्ति सू॒रय॑: । दि॒वी॑व॒ चक्षु॒रात॑तम् ॥२॥'

ऋ० अ० १ । अ० २ । व० ७ । मं० ५ ॥[3]

अनयोरर्थः—(तमीशानम्) ईष्टेऽसावीशानः सर्वजगत्कर्त्ता, (जगतस्तस्थुषस्पतिं) जगतो जङ्गमस्य तस्थुषः स्थावरस्य च पतिः स्वामी, (धियंजिन्वम्) यो बुद्धेस्तृप्तिकर्त्ता, (अवसे हूमहे वयम्) तमवसे रक्षणाय वयं हूमहे आह्वयामः । (पूषा) पुष्टिकर्त्ता (नः) स एवास्माकं पुष्टिकारकोऽस्ति । (यथा वेदसामसद् वृधे) हे परमेश्वर ! यथा येन प्रकारेण वेदसां विद्यासुवर्णादीनां धनानां वृधे वर्धनाय भवानस्ति, तथैव कृपया (रक्षिताऽसत्[4]) रक्षकोऽप्यस्तु । एवं (पायुरदब्धः स्वस्तये) अस्माकं रक्षणे स्वस्तये सर्वसुखाय (अदब्धः) अनलसः सन् पालनकर्त्ता सदैवास्तु ॥१॥

तद्विष्णोरिति मन्त्रस्यार्थो वेदविषयप्रकरणे विज्ञानकाण्डे गदितस्तत्र द्रष्टव्यः[5] ॥२॥

भाषार्थ—प्र०—वेदों में सब विद्या हैं, वा नहीं ?

उ०—सब हैं । क्योंकि जितनी सत्यविद्या संसार में हैं, वे सब वेदों से ही निकली हैं । उनमें से पहिले ब्रह्मविद्या संक्षेप से लिखते हैं—

(तमीशानम्) जो सब जगत् का बनानेवाला है, (जगतस्तस्थुषस्पतिं) अर्थात् जगत् जो चेतन और तस्थुष जो जड, इन दो प्रकार के संसार का जो राजा और पालन करनेवाला है, (धियंजिन्वम्) जो मनुष्यों को बुद्धि और आनन्द से तृप्ति करनेवाला है, उसकी (अवसे हूमहे

---

१. आदिमा प्रथमा मुख्येत्यर्थः । सर्ववेदानां ब्रह्मण्येव तात्पर्यात् । एतच्च पूर्वं वेदविषय-विचारप्रकरणे विस्तरेण प्रतिपादितम् । २. ऋ० १।८९।५॥ ३. ऋ० १।२२।२०॥

४. पूर्वचरणे पठितस्य 'असत्' पदस्यानुषङ्गेण इह पाठो ज्ञेयः । ५. पूर्वत्र ५२ तमे पृष्ठे द्रष्टव्यः ।

यम्) हम लोग आह्वान अर्थात् अपनी रक्षा के लिये प्रार्थना करते हैं। (पूषा नः) क्योंकि वह हमको सब सुखों से पुष्ट करनेवाला है। (यथा वेदसामसद् वृधे) हे परमेश्वर ! जैसे आप अपनी कृपा से हमारे सब पदार्थों और सुखों को बढ़ानेवाले हैं, वैसे ही (रक्षिता) सब की रक्षा भी करें। (पायुरदब्धः स्वस्तये) जैसे आप हमारे रक्षक हैं, वैसे ही सब सुख भी दीजिये ॥१॥

(तद्विष्णो०) इस मन्त्र का अर्थ वेदविषयप्रकरण के विज्ञानकाण्ड में अच्छी प्रकार लिख दिया है, वहां देख लेना[1] ॥२॥

'परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च ।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश ॥३॥

य० अ० ३२ । मं० ११ ॥

भाष्यम्—(परीत्य भू०) यः परमेश्वरो भूतान्याकाशादीनि परीत्य सर्वतोऽभिव्याप्य, सूर्य्यादींल्लोकान् परीत्य, पूर्वादिदिशः परीत्य, आग्नेयादिप्रदिशश्च परीत्य, परित: सर्वतः इत्वा प्राप्य विदित्वा च, (उपस्थाय प्र०) यः स्वसामर्थ्यस्याप्यात्मास्ति, यश्च प्रथमानि सूक्ष्मभूतानि[2] जनयति, तं परमानन्दस्वरूपं मोक्षाख्यं परमेश्वरं यो जीव आत्मना स्वसामर्थ्येनान्तःकरणेनोपस्थाय तमेवोपगतो भूत्वा विदित्वा च (अभिसंविवेश)[3] आभिमुख्येन सम्यक् प्राप्य स एव मोक्षाख्यं सुखमनुभवतीति ॥३॥

भाषार्थ—(परीत्य भू०) जो परमेश्वर आकाशादि सब भूतों में तथा (परीत्य लोकान्) सूर्य्यादि सब लोकों में व्याप्त हो रहा है, (परीत्य सर्वाः०) इसी प्रकार जो पूर्वादि सब दिशा और आग्नेयादि उपदिशाओं में भी निरन्तर भरपूर हो रहा है, अर्थात् जिस की व्यापकता से एक अणु भी खाली नहीं है, (ऋतस्या०) जो अपने भी सामर्थ्य का आत्मा है, (प्रथमजाम्) और जो कल्पादि में सृष्टि की उत्पत्ति करनेवाला है, उस आनन्दस्वरूप परमेश्वर को जो जीवात्मा अपने सामर्थ्य अर्थात् मन से यथावत् जानता है, वही उसको प्राप्त होके (अभि०) सदा मोक्षसुख को भोगता है ॥३॥

'महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे ।
तस्मिञ्छ्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः ॥४॥

अथर्व० कां० १० । प्रपा० २३ । अनु० ४ । मं० ३८ ॥[4]

भाष्यम्—(महद्यक्षम्) यन्महत् सर्वेभ्यो महत्तरं यक्षं सर्वमनुष्यैः पूज्यम्, (भुवनस्य) सर्वसंसारस्य (मध्ये) परिपूर्णम्, (तपसि क्रान्तम्) विज्ञाने वृद्धम्, (सलिलस्य) अन्तरिक्षस्य कारणरूपेण कार्यस्य प्रलयानन्तरं (पृष्ठे) पश्चात् स्थितमस्ति, तदेव ब्रह्म विज्ञेयम्। (तस्मिञ्छ्रय०)

१. पूर्व पृष्ठ ५३ पर देखें। २. पञ्चतन्मात्रारूपाणीत्यर्थः। ३. वै० य० मुद्रितसंस्करणेषु ( ) कोष्ठनिर्देशो नास्ति, व्याख्येयमन्त्रपदस्यादस्माभिरुभयतः कोष्ठनिर्देशः कृतः। ४. अथर्व १०। ७। ३८॥

तस्मिन् ब्रह्मणि ये के चापि देवास्त्रयस्त्रिंशद् वस्वादयस्ते सर्वे तदाधारेणैव तिष्ठन्ति । कस्य का इव ? (वृक्षस्य स्कन्धः०) वृक्षस्य स्कन्धे परितः सर्वतो लग्नाः शाखा इव ॥४॥

भावार्थ—(महद्यक्षम्) ब्रह्म जो महत् अर्थात् सबसे बड़ा और सबका पूज्य है, (भुवनस्य मध्ये) जो सब लोकों के बीच में विराजमान और उपासना करने के योग्य है, (तपसि क्रान्तम्) जो विज्ञानादि गुणों में सबसे बड़ा है, (सलिलस्य पृष्ठे) सलिल जो अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश है, उसका भी आधार और उसमें व्यापक, तथा जगत् के प्रलय के पीछे भी नित्य निर्विकार रहनेवाला है, (तस्मिञ्छ्रयन्ते य उ के च देवाः) जिसके आश्रय से वसु आदि पूर्वोक्त तेंतीस देव ठहरे हैं, (वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः) जैसे कि पृथिवी से वृक्ष का प्रथम अंकुर निकलके और वही स्थूल होके सब डालियों का आधार होता है, इसी प्रकार सब ब्रह्माण्ड का आधार वही एक परमेश्वर है ॥४॥

[1]'न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ॥५॥
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ॥६॥
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ॥७॥
[2][स सर्वस्मै वि पश्यति यच्च प्राणिति यच्च न ॥]
तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव ॥८॥
सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ॥९॥'

अथर्व० कां० १३ । अनु० ४ । मं० १६-१८,२०,२१॥[3]

भाष्यम्—(न द्वितीयो०) एतैर्मन्त्रैरिदं विज्ञायते परमेश्वर एक एवास्तीति । नैवातो भिन्नः कश्चिदपि द्वितीयः तृतीयः चतुर्थः ॥ ५ ॥ पञ्चमः षष्ठः सप्तमः ॥ ६ ॥ अष्टमो नवमो दशमश्चेश्वरो विद्यते ॥ ७ ॥

यतो नवभिर्नकारैर्द्वित्वसंख्यामारभ्य शून्यपर्यन्तेनैकमीश्वरं[4] विधायास्माद् भिन्नेश्वरभावस्यातिशयतया निषेधो वेदेषु कृतोऽस्त्यतो द्वितीयस्योपासनमत्यन्तं निषिध्यते ।

[5]सर्वान् अन्तर्यामितया प्राप्तः सन् जडं चेतनं च द्विविधं सर्वं जगत् स एव पश्यति, नास्य कश्चिद् द्रष्टास्ति । न चायं कस्यापि दृश्यो भवितुमर्हति ।

१. इतः पूर्वं वै०य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'भाष्यम्' इत्यपपाठः । मन्त्रपाठारम्भे 'भाष्यम्' पदस्यासम्भवात् ।
२. अयं मन्त्रोऽत्र लेखकप्रमादान्मुद्रणप्रमादाद् वा नष्टः । अस्य व्याख्यानं यथास्थानमुपलभ्यते ।
३. अथर्व० १३ । ४ । १६-१८, २०, २१ ॥
४. प्रतिमन्त्रं 'य एतं देवमेकवृतं वेद' इत्यस्य पाठादेकेश्वरविधानं कृतमिति ग्रन्थकाराभिप्रायः ।
५. इदं अस्य व्याख्यानं स मन्त्रो मन्त्रपाठे नष्टः । व्याख्या-दर्शनात् स मन्त्रोऽस्माभिर्यथास्थानं निर्दिष्टः ।

येनेदं जगद् व्याप्तं तमेव परमेश्वरमिदं सकलं जगदपि (निगतम्) निश्चितं प्राप्तमस्ति, व्यापकाद् व्याप्यस्य संयोगसंबन्धत्वात्। (सहः) यतः सर्वं सहते तस्मात् स एवैष सहोऽस्ति। स खल्वेक एव वर्त्तते, न कश्चिद् द्वितीयस्तदधिकस्तत्तुल्यो वास्ति, एकशब्दस्य त्रिर्ग्रहणात्। अतः सजातीयविजातीयस्वगतभेदराहित्यमीश्वरे वर्त्तत एव, द्वितीयेश्वरस्यात्यन्तनिषेधात्। कस्मात्? एकवृदेक एवेत्युक्तत्वात् स एष एक एकवृत्, एकेन चेतनमात्रेण वस्तुनैव वर्त्तते। पुनरेक एवासहायः सन् य इदं सकलं जगद् रचयित्वा धारयतीत्यादिविशेषणयुक्तोऽस्ति, तस्य सर्वशक्तिमत्त्वात् ॥८॥.

अस्मिन् सर्वशक्तिमति परमात्मनि सर्वे देवाः पूर्वोक्ता वस्वादय एकवृत एकाधिकरणा एव भवन्ति, अर्थात् प्रलयानन्तरमपि तत्सामर्थ्यं प्राप्यैककारणवृत्तयो भवन्ति ॥९॥

एवंविधाश्चान्येऽपि ब्रह्मविद्याप्रतिपादकाः 'स पर्यगाच्छुक्रमकायम्'[1] इत्यादयो मन्त्रा वेदेषु बहवः सन्ति। ग्रन्थाधिक्यभिया नात्र लिख्यन्ते। किन्तु यत्र यत्र वेदेषु ते मन्त्राः सन्ति, तत्तद्भाष्यकरणावसरे तत्र तत्रार्थान् उदाहरिष्याम इति।

भाषार्थ—(न द्वितीयो न०) इन सब मन्त्रों से यह निश्चय होता है कि परमेश्वर एक ही है, उससे भिन्न कोई न दूसरा, न तीसरा, न कोई चौथा परमेश्वर है ॥५॥ (न पञ्चमो न०) न पांचवां, न छठा, और न कोई सातवां ईश्वर है ॥६॥ (नाष्टमो न०) न आठवां, न नवमा, और न कोई दशमा ईश्वर है ॥७॥[2]

इन मन्त्रों में जो दो से लेके दश पर्यन्त अन्य ईश्वर होने का निषेध किया है, सो इस अभिप्राय से है कि सब संख्या का मूल एक (१) अङ्क ही है। इसी को दो, तीन, चार, पांच, छः, सात, आठ और नव वार गणने से २, ३, ४, ५, ६, ७, ८ और ९ नव अङ्क बनते हैं। और एक पर शून्य देने से १० का अङ्क होता है। उनसे एक ईश्वर का निश्चय कराके वेदों में दूसरे ईश्वर के होने का सर्वथा निषेध ही लिखा है।

[3][वही ब्रह्म सबको अन्तर्यामिता से प्राप्त होकर जड़ और चेतन दोनों प्रकार के सब जगत् को देखता है, उसका द्रष्टा कोई नहीं है। और न यह किसी का दृश्य हो सकता है ॥]

(तमिदं०) किन्तु वह सदा एक अद्वितीय ही है। उससे भिन्न दूसरा ईश्वर कोई भी नहीं। अर्थात् उसके एकपने में भी भेद नहीं, और वह शून्य भी नहीं। किन्तु जो सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त, एकरस परमात्मा है, वही सदा से सब जगत् में परिपूर्ण होके, पृथिवी आदि सब लोकों को रचके, अपने सामर्थ्य से धारण कर रहा है। तथा वह अपने काम में किसी का सहाय नहीं लेता। क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् है ॥८॥

---

१. यजुः ४०। ८॥ मन्त्रोऽयं पूर्वं ४२ तमे पृष्ठे व्याख्यातः।

२. वै० य० मुद्रित में यहां से आगे '(तमिदं)······कोई भी नहीं' पाठ है। यह अस्थान में सम्बद्ध है। संस्कृत पाठ में इस मन्त्र के व्याख्यान से पूर्व जो 'यतो नवभि ······' पङ्क्ति है, उसका भावार्थ 'इन मन्त्रों में ······निषेध ही लिखा है।' उसे '(तमिदं०)······कोई भी नहीं' से पूर्व होना चाहिये। अत एव हमने इसे यथास्थान रख दिया है। ३. यह भावार्थ यहां छूट गया है। संस्कृत में विद्यमान है।

(सर्वे अस्मिन्०) उसी परमात्मा के सामर्थ्य में वसु आदि सब देव, अर्थात् पृथिवी आदि लोक ठहर रहे हैं और प्रलय में भी उसके सामर्थ्य में लय होके उसी में कारणरूप से बने रहते हैं ॥ [६ ॥]

इस प्रकार के मन्त्र वेदों में बहुत हैं। यहां उन सबके लिखने की कुछ आवश्यकता नहीं। क्योंकि [वेदभाष्य करते समय] जहां-जहां वे मन्त्र आवेंगे, वहां-वहां उनका अर्थ कर दिया जायगा ॥

इति ब्रह्मविद्याविषयविचारः

अथ वेदोक्तधर्मविषयः संक्षेपतः प्रकाश्यते

'सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥१॥

ऋ० अ० ८। अ० ८। व० ४९। मं० २॥'

भाष्यम्—(संगच्छध्वं०) ईश्वरोऽभिवदति—हे मनुष्या ! मयोक्तं न्याय्यं पक्षपातरहितं सत्यलक्षणोज्ज्वलं धर्मं यूयं संगच्छध्वं सम्यक् प्राप्नुत, अर्थात् तत्प्राप्त्यर्थं सर्वं विरोधं विहाय परस्परं संगता भवत। येन युष्माकमुत्तमं सुखं सर्वदा वर्धेत, सर्वदुःखनाशश्च भवेत्। (सं वद०) संगता भूत्वा परस्परं जल्पवितण्डादिविरुद्धवादं विहाय संप्रीत्या प्रश्नोत्तरविधानेन संवादं कुरुत। यतो युष्मासु सम्यक् सत्यविद्याद्युत्तमगुणाः सदा वर्धेरन्। (सं वो मनांसि जानताम्) यूयं जानन्तो विज्ञानवन्तो भवत, जानतां वो युष्माकं मनांसि यथा ज्ञानवन्ति भवेयुस्तथा सम्यक् पुरुषार्थं कुरुत, अर्थाद् येन युष्मन्मनांसि सदानन्दयुक्तानि स्युस्तथा प्रयतध्वम्। युष्माभिर्धर्म एव सेवनीयो नाधर्मश्चेति। अत्र दृष्टान्त उच्यते—(देवा भागं यथा०) यथा पूर्वे संजानाना ये सम्यग् ज्ञानवन्तो देवा विद्वांस आप्ताः पक्षपातरहिता ईश्वरधर्मोपदेशप्रियाश्चासन्, युष्मत्पूर्वं विद्यामधीत्य वर्त्तन्ते, किंवा ये मृतास्ते यथाभागं भजनीयं सर्वशक्तिमदादिलक्षणमीश्वरं मदुक्तं धर्मं चोपासते, तथैव युष्माभिरपि स एव धर्म उपासनीयः। यतो वेदप्रतिपाद्यो धर्मो निश्शङ्कतया विदितश्च भवेत् ॥१॥

भाषार्थ—अब वेदों की रीति से धर्म के लक्षणों का वर्णन किया जाता है—

(संगच्छध्वं) देखो, परमेश्वर हम सभों के लिये धर्म का उपदेश करता है, कि हे मनुष्य लोगो ! जो पक्षपातरहित, न्याय, सत्याचरण से युक्त धर्म है, तुम लोग उसी को ग्रहण करो, उससे विपरीत कभी मत चलो। किन्तु उसी की प्राप्ति के लिये विरोध को छोड़के परस्पर सम्मति में रहो, जिससे तुम्हारा उत्तम सुख सब दिन बढ़ता जाय, और किसी प्रकार का दुःख न हो। (संवदध्वं०) तुम लोग विरुद्धवाद को छोड़के परस्पर अर्थात् आपस में प्रीति के साथ पढ़ना-पढ़ाना, प्रश्न-उत्तर सहित संवाद करो, जिससे तुम्हारी सत्यविद्या नित्य बढ़ती रहे। (सं वो मनांसि जानताम्) तुम लोग अपने यथार्थ ज्ञान को नित्य बढ़ाते रहो, जिससे तुम्हारा मन प्रकाशयुक्त होकर पुरुषार्थ को नित्य बढ़ावे, जिससे तुम लोग ज्ञानी होके नित्य आनन्द में बने रहो। और तुम लोगों को धर्म का ही सेवन करना चाहिये, अधर्म का नहीं। (देवा भागं य०) जैसे पक्षपातरहित धर्मात्मा विद्वान् लोग वेदरीति से सत्यधर्म का आचरण करते हैं, उसी प्रकार से तुम भी करो।

---

१. ऋ० १०। १९१। २॥

क्योंकि धर्म का ज्ञान तीन प्रकार से होता है—एक तो धर्मात्मा विद्वानों की शिक्षा, दूसरा आत्मा की शुद्धि तथा सत्य को जानने की इच्छा, और तीसरा परमेश्वर की कही वेदविद्या को जानने से ही मनुष्यों को सत्य-असत्य का यथावत् बोध होता है, अन्यथा नहीं ॥१॥

'समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥२॥'[1]

ऋ० अ० ८ । अ० ८ । व० ४९ । मं० ३ ॥

भाष्यम्—(समानो मन्त्रः) हे मानवा ! वो युष्माकं मन्त्रोऽर्थान्मामीश्वरमारभ्य पृथिवीपर्यन्तानां गुप्तप्रसिद्धसामर्थ्यगुणानां पदार्थानां भाषणमुपदेशनं ज्ञानं वा भवति यस्मिन् येन वा स मन्त्रो विचारो भवितुमर्हति । तद्यथा राज्ञो मन्त्री सत्यासत्यविवेककर्त्तेत्यर्थः । सोऽपि सत्यज्ञानफलः, सर्वोपकारकः, समानस्तुल्योऽर्थाद् विरोधरहित एव भवतु । यदा बहुभिर्मनुष्यैर्मिलित्वा संदिग्धपदार्थानां विचारः कर्त्तव्यो भवेत्, तदा प्रथमतः पृथक् पृथगपि सभासदां मतानि भवेयुः, तत्रापि सर्वेभ्यः सारं गृहीत्वा यद्यत् सर्वमनुष्यहितकारकं सद्गुणलक्षणान्वितं मतं स्यात्, तत्तत् सर्वं ज्ञात्वैकत्र कृत्वा नित्यं समाचरत । यतः प्रतिदिनं सर्वेषां मनुष्याणामुत्तरोत्तरमुत्तमं सुखं वर्धेत । तथा (समितिः समानी) समितिः सामाजिकनियमव्यवस्था, अर्थाद् या न्यायप्रचाराढ्या, सर्वमनुष्याणां मान्यार्ज्ञानप्रदा, ब्रह्मचर्यविद्याभ्यासशुभगुणसाधिका, शिष्टसभया राज्यप्रबन्धाद्याह्लादिका परमार्थव्यवहारशोधिका, बुद्धिशरीरबलारोग्यवर्धिनी शुभमर्यादापि समानी सर्वमनुष्यस्वतन्त्र-[2]दानसुखवर्धनायैकरसैव कार्य्येति । (समानं मनः०) मनः संकल्पविकल्पात्मकं, संकल्पोऽभिलाषेच्छेत्यादि, विकल्पोऽप्रीतिर्द्वेष इत्यादि । शुभगुणान् प्रति संकल्पः, अशुभगुणान् प्रति विकल्पश्च रक्षणीयः । एतद्धर्मकं युष्माकं मनः समानमन्योन्यमविरुद्धस्वभावमेवास्तु । यच्चित्तं पूर्वपरानुभूतं[3] स्मरणात्मकं धर्मेश्वरचिन्तनं तदपि समानमर्थात् सर्वप्राणिनां दुःखनाशाय सुखवर्धनाय च स्वात्मवत् सम्यक् पुरुषार्थेनैव कार्य्यम् । (सह) युष्माभिः परस्परस्य सुखोपकारायैव सर्वं सामर्थ्यं योजनीयम् । (एषाम्) ये ह्येषां सर्वजीवानां सङ्गे स्वात्मवद् वर्त्तन्ते, तादृशानां परोपकारिणां परसुखदातॄणामुपर्य्यहं कृपालुर्भूत्वा (अभिमन्त्रये वः) युष्मान् पूर्वपरोक्तं धर्ममाज्ञापयामि । इत्थमेव सर्वैः कर्त्तव्यमिति, येन युष्माकं मध्ये नैव कदाचित् सत्यनाशोऽसत्यवृद्धिश्च भवेत् । (समानेन वो०) हविर्दानं ग्रहणं च, तदपि सत्येन धर्मेण युक्तमेव कार्य्यम् । तेन समानेनैव हविषा वो=युष्मान् जुहोमि=सत्यधर्मेण सहैवाहं सदा नियोजयामि । अतो मदुक्त एव धर्मो मन्तव्यो नान्य इति ॥२॥

भावार्थ—(समानो मन्त्रः) हे मनुष्य लोगो ! जो तुम्हारा मन्त्र, अर्थात् सत्य असत्य का विचार है वह समान हो, उसमें किसी प्रकार का विरोध न हो । और जब-जब तुम लोग मिलके विचार करो, तब-तब सबके वचनों को अलग-अलग सुनके जो-जो धर्मयुक्त और जिसमें सब का

[1] ऋ० १०।१९१।३॥ [2] अत्र '०स्वातन्त्र्यदान०' इत्येवं '०स्वतन्त्रतादान०' इत्येवं वा साधुतरं स्यात् । अथवा विनापि भावप्रत्ययं भावप्रधाननिर्देशो ज्ञेयः ।

[3] 'पूर्वपरानुभूतस्मरणात्मकं' इत्येवं समस्तः पाठो युक्तः स्यात् ।

हित हो, सो-सो सब में से अलग करके, उसी का प्रचार करो, जिससे तुम सभों का बराबर सुख बढ़ता जाय। (समितिः समानी) और जिसमें सब मनुष्यों का मान, ज्ञान, विद्याभ्यास, ब्रह्मचर्य आदि आश्रम, अच्छे-अच्छे काम, उत्तम मनुष्यों की सभा से राज्य के प्रबन्ध का यथावत् करना, और जिससे बुद्धि, शरीर, बल, पराक्रम आदि गुण बढ़ें तथा परमार्थ और व्यवहार शुद्ध हों, ऐसी जो उत्तम मर्य्यादा है, सो भी तुम लोगों की एक ही प्रकार की हो, जिससे तुम्हारे सब श्रेष्ठ काम सिद्ध होते जायं। (समानं मनः सह चित्तम्) हे मनुष्य लोगो! तुम्हारा मन भी आपस में विरोध-रहित, अर्थात् सब प्राणियों के दुःख के नाश और सुख की वृद्धि के लिये अपने आत्मा के समतुल्य पुरुषार्थवाला हो। शुभ गुणों की प्राप्ति की इच्छा को 'संकल्प' और दुष्ट गुणों के त्याग की इच्छा को 'विकल्प' कहते हैं, जिससे जीवात्मा ये दोनों कर्म करता है, उसका नाम 'मन' है। उससे सदा पुरुषार्थ करो, जिससे तुम्हारा धर्म सदा दृढ़ और अविरुद्ध हो। तथा 'चित्त' उसको कहते हैं, कि जिससे सब अर्थों का स्मरण अर्थात् पूर्वापर कर्मों का यथावत् विचार हो, वह भी तुम्हारा एक सा हो। 'सह' जो तुम्हारा मन और चित्त है, ये दोनों सब मनुष्यों के सुख ही के लिये प्रयत्न में रहें। (एषाम्) इस प्रकार से जो मनुष्य सबका उपकार करने और सुख देनेवाले हैं, मैं उन्हीं पर सदा कृपा करता हूं। (समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः) अर्थात् मैं उनके लिये आशीर्वाद और आज्ञा देता हूं कि सब मनुष्य मेरी इस आज्ञा के अनुकूल चलें, जिससे उनका सत्य धर्म बढ़े और असत्य का नाश हो। (समानेन वो हविषा जुहोमि) हे मनुष्य लोगो! जब-जब कोई पदार्थ किसी को दिया चाहो अथवा किसी से ग्रहण किया चाहो, तब-तब धर्म से युक्त ही करो। उससे विरुद्ध व्यवहार को मत करो। और यह बात निश्चय करके जान लो कि मैं सत्य के साथ तुम्हारा और तुम्हारे साथ सत्य का संयोग करता हूं। इसलिये कि तुम लोग इसी को धर्म मानके सदा करते रहो, और इससे भिन्न को धर्म कभी मत मानो ॥२॥

'समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥३॥'
ऋ० अ० ८। अ० ८। व० ४९। मं० ४॥[1]

भाष्यम्—अस्यायमभिप्रायः—हे मानवा! वो युष्माकं यत्सर्वं सामर्थ्यमस्ति तद्धर्मसंबन्धे परस्परमविरुद्धं कृत्वा सर्वैः सुखं सदा संवर्धनीयमिति।

(समानी व०) आकूतिरध्यवसाय उत्साह आप्तरीतिर्वा सापि वो युष्माकं परस्परोपकार-करणेन सर्वेषां जनानां सुखायैव भवतु। यथा मदुपदिष्टस्यास्य धर्मस्य विलोपो न स्यात् तथैव कार्य्यम्। (समाना हृदयानि वः) वो युष्माकं हृदयान्यर्थान्मानसानि प्रेमप्रचुराणि कर्माणि निर्वैराय समानान्यविरुद्धान्येव सन्तु। (समानमस्तु वो मनः) अत्र प्रमाणम्—'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति ॥' श० कां० १४। अ० ४ ॥[2] **मनसा विविच्य पुनरनुष्ठातव्यम्। शुभगुणानामिच्छा**

1. ऋ० १।१९१।४॥
2. शत० १४।४।३।९॥

'कामः', तत्प्राप्त्यनुष्ठानेच्छा 'संकल्पः'। पूर्वं संशयं कृत्वा पुनर्निश्चयकरणेच्छा[रूपः] संशयो 'विचिकित्सा'। ईश्वरसत्यधर्मादिगुणानामुपर्यत्यन्तं विश्वासः 'श्रद्धा'। अनीश्वरवादाधर्मादिषूपरि सर्वथा ह्यनिश्चयोऽश्रद्धा'। सुखदुःखप्राप्त्यापीश्वरधर्मादिषूपरि सदैवनिश्चयरक्षणं 'धृतिः'। अशुभ-गुणानामाचरणं नैव कार्य्यमित्यधैर्य्यम् 'अधृतिः'। सत्यधर्माचरणेऽसत्याचरणे मनसः संकोचो घृणा 'ह्रीः'। शुभगुणान् शीघ्रं धारयेदिति धारणावती वृत्तिः 'धीः'। असत्याचरणादीश्वराज्ञा-भङ्गात् पापाचरणाद् ईश्वरो नः सर्वत्र पश्यतीत्यादि [मत्वा भय]वृत्तिः 'भीः'—एतद्धर्मकं मनो वो युष्माकं समानं तुल्यमस्तु। (यथा वः सुसहासति) हे मनुष्या! वो युष्माकं यथा परस्परं सुसहायेन स्वसति सम्यक् सुखोन्नतिः स्यात्तथा सर्वैः प्रयत्नो विधेयः। सर्वान् सुखिनो दृष्ट्वा चित्त आह्लादः कार्य्यः। नैव कञ्चिदपि दुःखितं दृष्ट्वा सुखं केनापि कर्त्तव्यम्, किन्तु यथा सर्वे स्वतन्त्राः सुखिनः स्युस्तथैव सर्वैः कार्य्यमिति ॥३॥

भाषार्थ—(समानी व आकूतिः) ईश्वर इस मन्त्र का प्रयोजन कहता है कि हे मनुष्य लोगो! तुम्हारा जितना सामर्थ्य है, उसको धर्म के साथ मिलाके सब सुखों को सब दिन बढ़ाते रहो। निश्चय उत्साह और धर्मात्माओं के आचरण को 'आकूति' कहते हैं। हे मनुष्य लोगो! तुम्हारा सब पुरुषार्थ सब जीवों के सुख के लिये सदा हो, जिससे मेरे कहे धर्म का कभी त्याग न हो। और सदा वैसा ही प्रयत्न करते रहो कि जिससे (समाना हृदयानि वः) तुम्हारे हृदय अर्थात् मन के सब व्यवहार आपस में सदा प्रेमसहित और विरोध से अलग रहें। (समानस्तु वो मनः) मनः शब्द का अनेक बार ग्रहण करने में यह प्रयोजन है कि जिससे मन के अनेक अर्थ जाने जायं—(कामः) प्रथम विचार ही करके सब उत्तम व्यवहारों का आचरण करना और बुरों को छोड़ देना, इसका नाम 'काम' है। (संकल्पः)—जो सुख और विद्यादि शुभ गुणों को प्राप्त होने के लिये प्रयत्न से अत्यन्त पुरुषार्थ करने की इच्छा है उसको 'संकल्प' कहते हैं। (विचिकित्सा)—जो-जो काम करना हो उस-उस को प्रथम शङ्का कर-कर के ठीक निश्चय करने के लिये जो संदेह करना है, उसका नाम 'विचिकित्सा' है। (श्रद्धा)—जो ईश्वर और सत्यधर्म आदि शुभ गुणों में निश्चय से विश्वास को स्थिर रखना है, उसको 'श्रद्धा' जानना। (अश्रद्धा)—अर्थात् अविद्या, कुतर्क, बुरे काम करने, ईश्वर को नहीं मानने, और अन्याय आदि अशुभ गुणों से सब प्रकार से अलग रहने का नाम 'अश्रद्धा' समझना चाहिये। (धृतिः)—जो सुख-दुःख, हानि-लाभ आदि के होने में भी अपने धीरज को नहीं छोड़ना, उसका नाम 'धृति' है। (अधृतिः)—बुरे कामों में दृढ़ न होने को 'अधृति' कहते हैं। (ह्रीः)—अर्थात् जो झूठे आचरण करने और सच्चे कामों को नहीं करने में मन को लज्जित करना है, उसको 'ह्रीः' कहते हैं। (धीः)—जो श्रेष्ठ गुणों को शीघ्र धारण करनेवाली वृत्ति है उसको 'धीः' कहते हैं। (भीः)—जो ईश्वर की आज्ञा अर्थात् सत्याचरण धर्म करना और उससे उलटे पाप के आचरण से नित्य डरते रहना, अर्थात् ईश्वर हमारे सब कामों को सब प्रकार से देखता है ऐसा जानकर उससे सदा डरना, कि मैं जो पाप करूंगा तो ईश्वर मुझ पर अप्रसन्न होगा [इस को 'भी' कहते हैं।]—इत्यादि गुण वाली वस्तु का नाम 'मन' है। इसको सब प्रकार से सबके सुख के लिये युक्त करो। (यथा वः सुसहासति) हे मनुष्य लोगो! जिस प्रकार अर्थात् पूर्वोक्त धर्मसेवन से तुम लोगों को उत्तम सुखों की बढ़ती हो, और जिस श्रेष्ठ सहाय से आपस में

में एक से दूसरे को सुख बढ़े, ऐसा काम सब दिन करते रहो। किसी को दुःखो देखके अपने मन में सुख मत मानो, किन्तु सबको सुखी करके अपने आत्मा को सुखी जानो। जिस प्रकार से स्वाधीन होके सब लोग सदा सुखी रहें, वैसा ही यत्न करते रहो ॥३॥

'दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धाᳬ सत्ये प्रजापतिः ॥४॥' य० अ० १९। मं० ७७॥

भाष्यम् (दृष्ट्वा०) अस्यायमभिप्रायः—प्रजापतिः परमेश्वरो धर्ममुपदिशति—सर्वैर्मनुष्यैः सर्वथा सर्वदा सत्य एव सम्यक् श्रद्धा रक्षणीयाऽसत्ये चाश्रद्धेति।

(प्रजापतिः) परमेश्वरः (सत्यानृते) धर्माधर्मौ (रूपे) प्रसिद्धाप्रसिद्धलक्षणौ दृष्ट्वा (व्याकरोत्) सर्वज्ञया स्वया विद्यया विभक्तौ कृतवानस्ति। कथमित्यत्राह—(अश्रद्धाम०) सर्वेषां मनुष्याणामनृतेऽसत्येऽधर्मेऽन्यायेऽश्रद्धामदधात्, अर्थादधर्मेऽश्रद्धां कर्तुमाज्ञापयति। तथैव वेदशास्त्रप्रतिपादिते सत्ये, प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः परीक्षिते, पक्षपातरहिते न्याय्ये धर्मे प्रजापतिः सर्वज्ञ ईश्वरः श्रद्धां चादधात्। एवं सर्वैर्मनुष्यैः परमप्रयत्नेन स्वकीयं चित्तं धर्मे प्रवृत्तमधर्मान्निवृत्तं च सर्वैव कार्य्यमिति ॥४॥

भाषार्थ—(दृष्ट्वा०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि प्रजापति परमेश्वर जो सब जगत् का स्वामी अर्थात् मालिक है, वह सब मनुष्यों के लिये धर्म का उपदेश करता है कि सब मनुष्यों को सब प्रकार से सब काल में सत्य में ही प्रीति करनी चाहिये, असत्य में कभी नहीं।

(प्रजापतिः) सब जगत् का अध्यक्ष जो ईश्वर है, सो (सत्यानृते) सत्य जो धर्म और असत्य जो अधर्म है, जिनके प्रकट और गुप्त लक्षण हैं§ (व्याकरोत्) उनको ईश्वर ने अपनी सर्वज्ञ विद्या के ठीक-ठीक विचार से देखके सत्य और झूठ को अलग-अलग किया है। सो इस प्रकार से हैं कि (अश्रद्धाम०) हे मनुष्य लोगो! तुम सब दिन अनृत अर्थात् झूठ अन्याय के करने में अश्रद्धा अर्थात् प्रीति कभी मत करो। वैसा ही (श्रद्धां स०) सत्य अर्थात् जो वेदशास्त्रोक्त, और जिसकी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से परीक्षा की गई हो, वा की जाय, वही पक्षपात से अलग न्यायरूप धर्म है, उसके आचरण में सब दिन प्रीति रक्खो। और जो-जो तुम लोगों के लिये मेरी आज्ञा है, उस-उस में अपने आत्मा प्राण और मन को सब पुरुषार्थ तथा कोमल स्वभाव से युक्त करके सदा सत्य ही में प्रवृत्त करो ॥४॥

'दृते दृᳬह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥५॥
य० अ० ३६। मं० १८॥

§जितना धर्म अधर्म का लक्षण बाहर की चेष्टा के साथ सम्बन्ध रखता है वह प्रकट, और जितना आत्मा के साथ सम्बन्ध रखता है वह गुप्त कहाता है॥ द० स०

भाष्यम्—(दृते दृꣳह०) अस्यायमभिप्रायः—सर्वे मनुष्याः सर्वथा सर्वदा सर्वैः सह सौहार्द्येनैव वर्त्तेरन्निति। सर्वैरीश्वरोक्तोऽयं धर्मः स्वीकार्य्यः, ईश्वरः प्रार्थनीयश्च, यतो धर्मनिष्ठा स्यात्। तद्यथा—

हे (दृते) सर्वदुःखविनाशकेश्वर ! मदुपरि कृपां विधेहि, यतोऽहं सत्यधर्मं यथावद् विजानीयाम्। पक्षपातरहितस्य सुहृदश्चक्षुषा प्रेमभावेन सर्वाणि भूतानि (मा) मां सदा समीक्षन्ताम् अर्थान्मम मित्राणि भवन्तु, इतीच्छाविशिष्टं मां (दृꣳह) दृंह, सत्यसुखैः शुभगुणैश्च सह सदा वर्धय। (मित्रस्याहं०) एवमहमपि मित्रस्य चक्षुषा स्वात्मवत् प्रेमबुद्ध्या (सर्वाणि भूतानि समीक्षे) सम्यक् पश्यामि। (मित्रस्य च०) इत्थमेव मित्रस्य चक्षुषा निर्वैरा भूत्वा वयमन्योऽन्यं समीक्षामहे, सुखसंपादनार्थं सदा वर्त्तामहे। इतीश्वरोपदिष्टो धर्मो हि सर्वैर्मनुष्यैरेक एव मन्तव्यः ॥५॥

भाषार्थ—(दृते दृꣳह०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि मनुष्य लोग आपस में सब प्रकार के प्रेमभाव से सब दिन वर्तें। और सब मनुष्यों को उचित है कि जो वेदों में ईश्वरोक्त धर्म है, उसी को ग्रहण करें। और वेदरीति से ही ईश्वर की उपासना करें,कि जिससे मनुष्यों की धर्म में ही प्रवृत्ति हो।

(दृते०) हे सब दुःखों के नाश करनेवाले परमेश्वर ! आप हम पर ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे हम लोग आपस में वैर को छोड़के एक दूसरे के साथ प्रेमभाव से वर्तें। (मित्रस्य मा०) और सब प्राणी मुझको अपना मित्र जानके बन्धु के समान वर्त्तें। ऐसी इच्छा से युक्त हम लोगों को (दृꣳह) सत्य सुख और शुभ गुणों से सदा बढ़ाइये। (मित्रस्याहं०) इसी प्रकार से मैं भी सब मनुष्यादि प्राणियों को अपने मित्र जानूं, और हानि-लाभ, सुख और दुःख में अपने आत्मा के समतुल्य ही सब जीवों को मानूं। (मित्रस्य च०) हम सब लोग आपस में मिलके सदा मित्रभाव रखें, और सत्यधर्म के आचरण से सत्य सुखों को नित्य बढ़ावें। जो ईश्वर का कहा धर्म है, यही एक सब मनुष्यों को मानने के योग्य है॥५॥

अग्ने॑ व्रतपते व्र॒तं च॑रिष्यामि॒ तच्छ॑केयं॒ तन्मे॑ राध्यताम्।
इ॒दम॒हमनृ॑तात् स॒त्यमुपै॑मि ॥६॥ य० अ० १। मं ५॥

भाष्यम्—(अग्ने व्र०) अस्यायमभिप्रायः—सर्वैर्मनुष्यैरीश्वरस्य सहायेच्छा सदा कार्येति। नैव तस्य सहायेन विना सत्यधर्मज्ञानं तस्यानुष्ठानपूर्त्तिश्च भवतः।

हे अग्ने व्रतपते ! सत्यपते ! (व्रतम्) सत्यधर्मं चरिष्याम्यनुष्ठास्यामि। अत्र प्रमाणम्—सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः। एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम्। श० कां १। अ० १॥[1] सत्याचरणाद् देवा असत्याचरणान्मनुष्याश्च भवन्ति, अतः सत्याचरणमेव धर्ममाहुरिति। (तच्छकेयम्) यथा तत् सत्याचरणं धर्मं कर्तुमहं शकेयं समर्थो भवेयम्,-(तन्मे राध्यताम्) तत्

१. शत० १।१।१।४,५॥

सत्यधर्मानुष्ठानं मे मम भवता राध्यतां कृपया सम्यक् सिद्धं क्रियताम् । किंच तद् व्रतमित्यत्राह— (इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि) यत् सत्यधर्मस्यैवाचरणमनृतादसत्याचरणादधर्मात् पृथग्भूतं तदेवोपैमि प्राप्नोमीति । अस्यैव धर्मस्यानुष्ठानमीश्वरप्रार्थनया स्वपुरुषार्थेन च कर्त्तव्यम्, नापुरुषार्थिनं मनुष्यमीश्वरोऽनुगृह्णाति । यथा चक्षुष्मन्तं दर्शयति नान्धं च, एवमेव धर्मं कर्तुमिच्छन्तं पुरुषार्थकारिणमीश्वरानुग्रहाभिलाषिणं प्रत्येवेश्वरः कृपालुर्भवति नान्यं प्रति चेति । कुतः ? जीवे तत्सिद्धिं कर्तुं साधनानामीश्वरेण पूर्वमेव रक्षितत्वात्, तदुपयोगकरणाच्च[1] । येन पदार्थेन यावानुपकारो ग्रहीतुं शक्यस्तावान् स्वेनैव ग्रहीतव्यस्तदुपरीश्वरानुग्रहेच्छा कार्य्येति ॥६॥

भाषार्थ (अग्ने व्र०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि सब मनुष्य लोग ईश्वर के सहाय की इच्छा करें, क्योंकि उसके सहाय के विना धर्म का पूर्ण ज्ञान और उसका अनुष्ठान पूरा कभी नहीं हो सकता ।

हे सत्यपते परमेश्वर ! (व्रतम्) मैं जिस सत्यधर्म का अनुष्ठान किया चाहता हूं, उसकी सिद्धि आपकी कृपा से ही हो सकती है । इसी मन्त्र का अर्थ शतपथब्राह्मण में भी लिखा है कि— "जो मनुष्य सत्य के आचरणरूप व्रत को करते हैं वे 'देव' कहाते हैं, और जो असत्य का आचरण करते हैं उनको 'मनुष्य' कहते हैं ।" इससे मैं उस सत्यव्रत का आचरण किया चाहता हूं । (तच्छकेयम्) मुझ पर आप ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे मैं सत्यधर्म का अनुष्ठान पूरा कर सकूं । (तन्मे राध्यताम्) उस अनुष्ठान को सिद्धि करनेवाले एक आप ही हो । सो कृपा से सत्यरूप धर्म के अनुष्ठान को सदा के लिये सिद्ध कीजिये । (इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि) सो यह व्रत है कि जिसको मैं निश्चय से चाहता हूं । उन सब असत्य कार्यों से छूटके सत्य के आचरण करने में सदा दृढ़ रहूं ।

परन्तु मनुष्य को यह करना उचित है कि ईश्वर ने मनुष्यों में जितना सामर्थ्य रक्खा है, उतना पुरुषार्थ अवश्य करें । उसके उपरान्त ईश्वर के सहाय की इच्छा करनी चाहिये । क्योंकि मनुष्यों में सामर्थ्य रखने का ईश्वर का यही प्रयोजन है कि मनुष्यों को अपने पुरुषार्थ से ही सत्य का आचरण अवश्य करना चाहिये । जैसे कोई मनुष्य आंखवाले पुरुष को ही किसी चीज को दिखला सकता है, अन्धे को नहीं, इसी रीति से जो मनुष्य सत्यभाव पुरुषार्थ से धर्म को किया चाहता है, उस पर ईश्वर भी कृपा करता है, अन्य पर नहीं । क्योंकि ईश्वर ने धर्म करने के लिये बुद्धि आदि बढ़ने के साधन जीव के साथ रक्खे हैं । जब जीव उनसे पूर्ण पुरुषार्थ करता है, तब परमेश्वर भी अपने सब सामर्थ्य से उस पर कृपा करता है, अन्य पर नहीं । क्योंकि सब जीव कर्म करने में स्वाधीन और उनके[2] फल भोगने में कुछ पराधीन भी हैं ॥६॥

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।

दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥७॥ य० अ० १९ । मं० ३० ॥

---

१. वै० य० मुद्रिते 'तदुपयोगाकरणाच्च' इत्यपपाठः । २. वै० य० मुद्रित में 'पापों के' अपपाठ है ।

भाष्यम्—(व्रतेन दी०) अस्याभिप्रायः—यदा मनुष्यो धर्मं जिज्ञासते, सत्यं चिकीर्षति, तदैव सत्यं विजानाति, तत्रैव मनुष्यैः श्रद्धेयम् नासत्ये चेति।

यो मनुष्यः सत्यं व्रतमाचरति, तदा दीक्षामुत्तमाधिकारं प्राप्नोति। (दीक्षयाप्नोति द०) यदा दीक्षितः सन्नुत्तमगुणैरुत्तमाधिकारी भवति, तदा सर्वतः सत्कृतः फलवान् भवति,साऽस्य दक्षिणा भवति। तां दीक्षया शुभगुणाचरणेनैवाप्नोति। (दक्षिणा श्र०) सा दक्षिणा यदा ब्रह्मचर्य्यादि-सत्यव्रतैः सत्काराढ्या स्वस्यान्येषां च भवति, [तदा] तदाचरणे श्रद्धां दृढं विश्वासमुत्पादयति। कुतः ? सत्याचरणमेव सत्कारकारकमस्त्यतः। (श्रद्धया०) यदोत्तरोत्तरं श्रद्धा वर्धते[1], तदा तया श्रद्धया मनुष्यैः परमेश्वरो मोक्षधर्मादिकं चाप्यते प्राप्यते, नान्यथेति। अतः किमागतम् ? सत्यप्राप्त्यर्थं सर्वदा श्रद्धोत्साहादिपुरुषार्थो वर्धयितव्यः ॥७॥

भाषार्थ—(व्रतेन दी०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि—जब मनुष्य धर्म को जानने की इच्छा करता है, तभी सत्य को जानता है। उसी सत्य में मनुष्यों को श्रद्धा करनी चाहिये, असत्य में नहीं।

(व्रतेन०) जो मनुष्य सत्य के आचरण का दृढ़ता से करता है, तब वह दीक्षा अर्थात् उत्तम अधिकार के फल को प्राप्त होता है। (दीक्षयाप्नोति०) जब मनुष्य उत्तमगुणों से युक्त होता है, तब सब लोग सब प्रकार से उसका सत्कार करते हैं। क्योंकि धर्म आदि शुभगुणों से ही उस दक्षिणा को मनुष्य प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं। (दक्षिणा श्र०) जब ब्रह्मचर्य आदि सत्य व्रतों से अपना और दूसरे मनुष्यों का अत्यन्त सत्कार होता है, तब उसी में दृढ़ विश्वास होता है। क्योंकि सत्यधर्म का आचरण ही मनुष्यों का सत्कार करानेवाला है। (श्रद्धया०) फिर सत्य के आचरण में जितनी-जितनी अधिक श्रद्धा बढ़ती जाती है, उतना-उतना ही मनुष्य लोग व्यवहार और परमार्थ के सुख को प्राप्त होते जाते हैं, अधर्माचरण से नहीं। इससे क्या सिद्ध हुआ, कि सत्य की प्राप्ति के लिये सब दिन श्रद्धा और उत्साह आदि पुरुषार्थ को मनुष्य लोग बढ़ाते ही जायं, जिससे सत्यधर्म की यथावत् प्राप्ति हो ॥७॥

श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्तऋते श्रिता ॥८॥[2]

सत्येनावृता श्रिया प्रावृता यशसा परीवृता ॥९॥

अथर्व० कां० १२। अनु० ५। मं० १,२॥[3]

भाष्यम्—(श्रमेण तपसा०) अभिप्रायः—श्रमेणेत्यादिमन्त्रेषु धर्मस्य लक्षणानि प्रकाश्यन्त इति।

---

१. अत्र 'वर्धते' इति युक्तः पाठः स्यात्।

२. प्रथमसंस्करणे इत आरभ्यैकसंख्या सर्वत्राधिका दृश्यते। तत्र कारणं मृग्यम्। उत्तरत्र राजप्रजाधर्म-प्रकरणेऽशीत्यमेवैकस्याः संख्याया भेद उपलभ्यते। तत्र तु हस्तलेखे लिखितस्य सव्याख्यस्य मन्त्रस्य मुद्रणजन्य-प्रमादेन त्यागात् भेद उपपन्नः। ३. अथर्व १२।५।१, २॥ ग्रन्थकारेणाथर्ववेदस्य सर्वे पाठा राथह्विटनीभ्यां संशोधितात् संस्करणाद् उद्धृता इति ज्ञेयम्।

श्रमः प्रयत्नः पुरुषार्थ उद्यम इत्यादि, तपो धर्मानुष्ठानम्। तेन श्रमेणैव तपसा च सहेश्वरेण सर्वे मनुष्याः सृष्टा[1] रचिताः। अतः (ब्रह्मणा०) वेदेन परमेश्वरज्ञानेन च युक्ताः सन्तो ज्ञानिनः स्युः। (ऋते श्रिता०) ऋते ब्रह्मणि पुरुषार्थे चाश्रिता[1] ऋतं सेवमानाश्च सर्वैव भवन्तु ॥८॥

(सत्येनावृ०) वेदशास्त्रेण प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैश्च परीक्षितेनाव्यभिचारिणा सत्येनावृता[1] युक्ताः सर्वे मनुष्याः सन्तु। (श्रिया प्रावृ०) श्रिया शुभगुणाचरणोज्ज्वलया चक्रवर्त्तिराज्यसेवमानया प्रकृष्टया लक्ष्म्याऽऽवृता[1] युक्ताः परमप्रयत्नेन भवन्तु। (यशसा०) उत्कृष्टगुणग्रहणं सत्याचरणं यशस्तेन परितः सर्वतो वृता[1] युक्ताः सन्तः प्रकाशयितारश्च स्युः ॥९॥

भाषार्थ—(श्रमेण तपसा०) इन मन्त्रों के अभिप्राय से यह सिद्ध होता है कि सब मनुष्यों को (श्रमेण०) इत्यादि धर्म के लक्षणों का ग्रहण अवश्य करना चाहिये।

क्योंकि ईश्वर ने (श्रम०) जो परम प्रयत्न का करना, और (तपः०) जो धर्म का आचरण करना है, इसी धर्म से युक्त मनुष्यों को रचा है। इस कारण से (ब्रह्मणा) ब्रह्म जो वेदविद्या और परमेश्वर के ज्ञान से युक्त होके सब मनुष्य अपने-अपने ज्ञान को बढ़ावें। (ऋते श्रिता) सब मनुष्य ऋत जो ब्रह्म, सत्यविद्या और धर्माचरण इत्यादि शुभ गुणों का सेवन करें ॥८॥

(सत्येनावृता) सब मनुष्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्य की परीक्षा करके सत्य के आचरण से युक्त हों। (श्रिया प्रावृता) हे मनुष्य लोगो! तुम शुभगुणों से प्रकाशित होके, चक्रवर्तिराज्य आदि ऐश्वर्य को सिद्ध करके, अतिश्रेष्ठ लक्ष्मी से युक्त होके शोभारूप श्री को सिद्ध करके, उसको[2] चारों ओर पहिनके शोभित हो। (यशसा परी०) सब मनुष्यों को उत्तम गुणों का ग्रहण करके सत्य के आचरण और यश अर्थात् उत्तम कीर्ति से युक्त होना चाहिये ॥९॥

स्वधया परिहिता श्रद्धया पर्यूढा दीक्षया गुप्ता यज्ञे प्रतिष्ठिता लोको निधनम् ॥१०॥
ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक् चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च ॥११॥

अथर्व० कां० १२। अनु० ५। मं० ३,७॥[3]

भाष्यम्—(स्वधया परि०) परितः सर्वतः स्वकीयपदार्थशुभगुणधारणेनैव सन्तुष्य सर्वे मनुष्याः सर्वेभ्यो हितकारिणः[4] स्युः। (श्रद्धया प०) सत्यमेव विश्वासमूलमस्ति नासदिति, तया सत्योपरि दृढविश्वासरूपया श्रद्धया परितः सर्वत ऊढाः[4] प्राप्तवन्तः सन्तु। (दीक्षया गुप्ता)

१. ग्रन्थकारमतेऽनयोर्मन्त्रयोः 'सृष्टाः श्रिताः आवृताः प्रावृताः परीवृताः' इत्येतानि पदानि बहुवचनान्तानि, तथैव व्याख्यानात्। संहिता-पदपाठानुसारं तु आवन्ताः। संस्कारविधावप्ययं ग्रन्थकार इत्थमेव मेने (द्र०—पृष्ठ २२६, २२७, रामलालकपूरट्रस्ट सं० ३)।

२. 'उससे चारों ओर से आच्छादित होके शोभित होवो' पाठ अधिक युक्त है।

३. अथर्व १२। ५। ३, ७॥

४. अस्मिन्नपि मन्त्रे ग्रन्थकारमते 'परिहिताः, पर्यूढाः, गुप्ताः, प्रतिष्ठिताः' इत्येतानि पदानि बहुवचनान्तानि। तथैव स संस्कारविधावपि व्याख्यास्यति (द्र०—पृष्ठ २२७, सं० ३)।

सद्भिराप्तैर्विद्वद्भिः कृतसत्योपदेशया दीक्षया गुप्ता रक्षिता[१], सर्वमनुष्याणां रक्षितारश्च स्युः। (यज्ञे प्रतिष्ठिता[२]) यज्ञो वै विष्णुः[३] व्यापके परमेश्वरे सर्वोपकारकेऽश्वमेधादौ शिल्पविद्याक्रियाकुशलत्वे च प्रतिष्ठिताः[२] प्राप्तप्रतिष्ठाश्च भवन्तु। (लोको निधनम्) अयं लोकः सर्वेषां मनुष्याणां निधनं यावन्मृत्युर्न भवेत् तावत् सर्वोपकारकं सत्कर्मानुष्ठानं कर्त्तुं योग्यमस्तीति सर्वैर्मन्तव्यमितीश्वरोपदेशः ॥१०॥

अन्यच्च--(ओजश्च) न्यायपालनान्वितः पराक्रमः,(तेजश्च) प्रगल्भता धृष्टता निर्भयता निर्दीनता सत्ये व्यवहारे कर्त्तव्या। (सहश्च) सुखदुःखहानिलाभादिक्लेशप्रदवर्त्तमानप्राप्तावपि हर्षशोकाकरणं, तन्निवारणार्थं परमप्रयत्नानुष्ठानं च सहनं[४] सर्वैः सदा कर्त्तव्यम्। (बलं च) ब्रह्मचर्यादिसुनियमाचरणेन शरीरबुद्ध्यादिरोगनिराकरणं, दृढाङ्गतानिश्चलबुद्धित्वसम्पादनं, भीषणाविकर्मयुक्तं[५] बलं च कार्य्यमिति। (वाक् च) विद्याशिक्षासत्यमधुरभाषणादिशुभगुणयुक्ता वाणी कार्य्येति। (इन्द्रियं च) मनआदीनि वाग्भिन्नानि षड्ज्ञानेन्द्रियाणि, वाक् चेति कर्मेन्द्रियाणामुपलक्षणेन कर्मेन्द्रियाणि च, सत्यधर्माचरणयुक्तानि पापाद् व्यतिरिक्तानि च सदैव रक्षणीयानि। (श्रीश्च) सम्राड्राज्यश्रीः परमपुरुषार्थेन कार्य्येति। (धर्मश्च) अयमेव वेदोक्तो न्याय्यः पक्षपातरहितः सत्याचरणयुक्तः सर्वोपकारकश्च धर्मः सदैव सर्वैः सेवनीयः। अस्यैवेयं पूर्वा परा सर्वा व्याख्यास्तीति बोध्यम् ॥११॥

भाषार्थ—(स्वधया परिहिता) सब प्रकार से मनुष्य लोग स्वधा अर्थात् अपने ही पदार्थों का धारण करें। इस अमृतरूप व्यवहार से सदा युक्त हों। (श्रद्धया पर्य्यूढा) सब मनुष्य सत्य व्यवहार पर अत्यन्त विश्वास को प्राप्त हों। क्योंकि जो सत्य है वही विश्वास का मूल, तथा सत्य का आचरण ही उसका फल और स्वरूप है, असत्य कभी नहीं। (दीक्षया गुप्ता) विद्वानों की सत्य शिक्षा से रक्षा को प्राप्त हों, और मनुष्य आदि प्राणियों की रक्षा में परम पुरुषार्थ करें। (यज्ञे प्रतिष्ठिता) यज्ञ जो सबमें व्यापक अर्थात् परमेश्वर, अथवा सब संसार का उपकार करनेवाला अश्वमेधादि यज्ञ, अथवा जो शिल्पविद्या सिद्ध करके उपकार लेना जो यज्ञ है, इस तीन प्रकार के यज्ञ में सब मनुष्य यथावत् प्रवृत्ति करें। (लोको नि०) जब तक तुम लोग जीते रहो, तब तक सदा सत्य कर्म में ही पुरुषार्थ करते रहो, किन्तु इसमें आलस्य कभी मत करो। ईश्वर का यह उपदेश सब मनुष्यों के लिये है ॥१०॥

(ओजश्च) धर्म के पालन से युक्त जो पराक्रम, (तेजश्च) प्रगल्भता अर्थात् भयरहित होके दीनता से दूर रहना, (सहश्च) सुख-दुःख हानि-लाभ आदि की प्राप्ति में भी हर्ष शोकादि

१. द्रष्टव्या पूर्वपृष्ठस्था चतुर्थी टिप्पणी।

२. पूर्वत्र (दीक्षया गुप्ता) इत्यत्राकारान्तपाठदर्शनादिहापि तथैव युक्तः प्रतिभाति, तत्र वा सविसर्गः पाठः प्रकल्पनीयः।

३. शत० १३। १। ८। ८॥ कौ० ब्रा० ४। २॥

४. 'सहनं च' इत्येवं युक्तः स्यात्। द्र०—उत्तरत्र 'बलं च कार्यम्' पाठः।

५. भीषणं भयजनकमात्रमिहाभिप्रेतम्, न तु हिंसादिरूपं क्रूरं कर्म।

छोड़के सत्यधर्म में दृढ़ रहना, दुःख का निवारण और सहन करना, (बलं च) ब्रह्मचर्य आदि अच्छे नियमों से शरीर का आरोग्य, बुद्धि की चतुराई आदि बल का बढ़ाना, (वाक् च) सत्य विद्या की शिक्षा, सत्य मधुर अर्थात् कोमल प्रिय भाषण का करना, (इन्द्रियं च) जो मन पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय हैं, उनको पाप कर्मों से रोकके सदा सत्य पुरुषार्थ में प्रवृत्त रखना, (श्रीश्च) चक्रवर्तिराज्य की सामग्री को सिद्ध करना, (धर्मश्च) जो वेदोक्त न्याय से युक्त होके पक्षपात को छोड़के सत्य ही का सदा आचरण और असत्य का त्याग करना है, तथा जो सबका उपकार करनेवाला, और जिसका फल इस जन्म और परजन्म में आनन्द है उसी को 'धर्म', और उससे उलटा करने को 'अधर्म' कहते हैं। उसी धर्म की यह सब व्याख्या है कि जो '**संगच्छध्वं०**'[1] इस मन्त्र से लेके '**यतोऽभ्युदय०**'[2] इस सूत्र तक जितने धर्म के लक्षण लिखे हैं, वे सब लक्षण मनुष्यों को ग्रहण करने के योग्य हैं ॥११॥

ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च ॥१२॥
आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च ॥१३॥
पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं च ऋतं च सत्यं चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च पशवश्च ॥१४॥

अथर्व कां० १२। अनु० ५। मं० ८-१०॥[3]

इत्याद्यनेकमन्त्रप्रमाणैर्धर्मो[4] वेदेष्वीश्वरेणैव सर्वमनुष्यार्थमुपदिष्टोऽस्ति।

भाष्यम्—(ब्रह्म च) ब्राह्मणोपलक्षणं सर्वोत्तमविद्यागुणकर्मवत्त्वं सद्गुणप्रचारकरणत्वं च ब्राह्मणलक्षणं,तच्च सर्वैव वर्धयितव्यम् (क्षत्रं च) क्षत्रियोपलक्षणं विद्याचातुर्य्यशौर्यधैर्यवीरपुरुषान्वितं च सदैवोन्नेयम्, (राष्ट्रं च) सत्पुरुषसभया सुनियमैः सर्वसुखाढ्यं शुभगुणान्वितं च राज्यं सदैव कार्य्यम्, (विशश्च) वैश्यादिप्रजानां व्यापारादिकारिणां भूगोले ह्यव्याहतगतिसंपादनेन[5] व्यापाराद् धनवृद्धयर्थं संरक्षणं च कार्य्यम्, (त्विषिश्च) दीप्तिः शुभगुणानां प्रकाशः, सत्यगुणकामना च शुद्धा प्रचारणीयेति, (यशश्च) धर्मान्विताऽनुत्तमा कीर्तिः संस्थापनीया, (वर्चश्च) सद्विद्याप्रचारं सम्यगध्ययनाध्यापनप्रबन्धं कर्म सदा कार्य्यम्, (द्रविणं च) अप्राप्तस्य पदार्थस्य न्यायेन प्राप्तीच्छा कार्य्या, प्राप्तस्य संरक्षणं, रक्षितस्य वृद्धिर्वृद्धस्य सत्कर्मसु व्ययश्च योजनीयः[6]। एतच्चतुर्विधपुरुषार्थेन धनधान्योन्नतिसुखे सर्वैव कार्य्ये ॥१२॥

(आयुश्च) वीर्य्यादिरक्षणेन भोजनाच्छादनादिसुनियमेन ब्रह्मचर्य्यसुसेवनेनायुर्बलं कार्य्यम्, (रूपं च) निरन्तरविषयासेवनेन सदैव सौन्दर्य्यादिगुणयुक्तं स्वरूपं रक्षणीयम्, (नाम च)

---

१. द्र०— पूर्वत्र पृष्ठ १११। २. एतत्प्रकरणान्ते सूत्रमिदं व्याख्यास्यते।

३. अथर्व० १२। ५। ८-१०॥ ४. 'धर्मोपदेशो०' इति प्रथमसंस्करणे मुद्रितस्तत्रैव च संशोधनपत्रेऽपमृष्टः पाठो शताब्दीसंस्करणे षष्ठसप्तमाष्टमसंस्करणेषु च पुनर्निवेशितः।

५. विशामव्याहतगतिः सम्पादनाय राष्ट्रस्य बलवती शक्तिरपेक्षते, तदैव विशां संरक्षणं सम्भवति, न शक्तिराहित्ये।

६. अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत् प्रयत्नतः। रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत्॥ मनु० ७।९९॥

सत्कर्मानुष्ठानेन नामप्रसिद्धिः कार्य्या, यतोऽन्यस्यापि सत्कर्मसूत्साहवृद्धिः स्यात्, (कीर्तिश्च) सद्गुणग्रहणार्थमीश्वरगुणानामुपदेशार्थं कीर्त्तनं, स्वसत्कीर्तिमत्त्वं च सर्वैव कार्य्यम्, (प्राणश्चापानश्च) प्राणायामरीत्या प्राणापानयोः शुद्धिश्चले कार्य्ये। शरीराद् बाह्यदेशं यो वायुर्गच्छति स 'प्राणः', बाह्याद् देशाच्छरीरं प्रविशति स 'वायुरपानः'[1], शुद्धदेशनिवासादिनैतयोः प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां[च]बुद्धिः शारीरबलं च संपादनीयम्, (चक्षुश्च श्रोत्रं च) चाक्षुषं प्रत्यक्षं, श्रोत्रं शब्दजन्यं, यावद् अनुमानादीन्यपि प्रमाणानि यथावद् वेदितव्यानि, तैः सत्यं विज्ञानं च सर्वथा कार्य्यम् ॥१३॥

(पयश्च रसश्च) पयो जलादिकं, रसो दुग्धघृतादिश्चैतौ वैद्यकरीत्या सम्यक् शोधयित्वा भोक्तव्यौ, (अन्नं चान्नाद्यं च) अन्नमोदनादिकम्, अन्नाद्यं भोक्तुमर्हं शुद्धं संस्कृतमन्नं संपाद्यैव भोक्तव्यम्, (ऋतं च सत्यं च) ऋतं ब्रह्म सर्वदैवोपासनीयम्, सत्यं प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः परीक्षितं यादृशं स्वात्मन्यस्ति तादृशं सदा सत्यमेव वक्तव्यं मन्तव्यं च, (इष्टं च पूर्त्तं च) इष्टं ब्रह्मोपासनं सर्वोपकारकं यज्ञानुष्ठानं च, पूर्त्तं तु यत्पूर्य्यं मनसा वाचा कर्मणा सम्यक् पुरुषार्थेनैव सर्ववस्तुसंभारैश्चोभयानुष्ठानपूर्त्तिः कार्येति, (प्रजा च पशवश्च) प्रजा सन्तानादिका राज्यं च सुशिक्षाविद्यासुखान्विता, हस्त्यश्वादयः पशवश्च सम्यक् शिक्षान्विताः[2]। बहुभिश्चकारैरन्येऽपि शुभगुणा अत्र ग्राह्याः ॥१४॥

भाषार्थ—(ब्रह्म च) सबसे उत्तम विद्या और श्रेष्ठ कर्म करनेवालों को ही ब्राह्मण वर्ण का अधिकार देना, उनसे विद्या का प्रचार कराना। और उन लोगों को भी चाहिये कि विद्या के प्रचार में ही सदा तत्पर रहें। (क्षत्रं च) अर्थात् सब कामों में चतुरता, शूरवीरपन, धीरज, वीरपुरुषों से युक्त सेना का रखना, दुष्टों को दण्ड देना और श्रेष्ठों का पालन करना, इत्यादि गुणों के बढ़ानेवाले पुरुषों को क्षत्रियवर्ण का अधिकार देना। (राष्ट्रञ्च) श्रेष्ठ पुरुषों की सभा के अच्छे नियमों से राज्य को सब सुखों से युक्त करना, और उत्तम गुणसहित होके सब कामों को सदा सिद्ध करना चाहिये। (विशश्च) वैश्य आदि वर्णों को व्यापारादि व्यवहारों में भूगोल के बीच में जाने-आने का प्रबन्ध करना, और उनकी अच्छी रीति से रक्षा करनी अवश्य है, जिससे धनादि पदार्थों की संसार में बढ़ती हो। (त्विषिश्च) सब मनुष्यों में सब दिन सत्य गुणों ही का प्रकाश करना चाहिये। (यशश्च) उत्तम कामों से भूगोल में श्रेष्ठ कीर्ति को बढ़ाना उचित है। (वर्चश्च) सत्यविद्याओं के प्रचार के लिये अनेक पाठशालाओं में पुत्र और कन्याओं का अच्छी रीति से पढ़ने-पढ़ाने का प्रचार सदा बढ़ाते जाना चाहिये। (द्रविणं च) सब मनुष्यों को उचित है कि पूर्वोक्त धर्म से अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा से सदा पुरुषार्थ करना, प्राप्त पदार्थों की रक्षा यथावत् करनी चाहिये, रक्षा किये पदार्थों को सदा बढ़ती करना, और सत्यविद्या के प्रचार आदि कामों में बढ़े हुए धनादि पदार्थों का खरच यथावत् करना चाहिये।[3] इस चार प्रकार के पुरुषार्थ से धनधान्यादि को बढ़ाके सुख को सदा बढ़ाते जाओ ॥१२॥

१. प्राणापानयोरयमेवार्थः प्राचीनः। तथाहि—योऽयमूर्ध्वमाक्रामत्येष वाव स प्राणः, अथ योऽयमवाङ् संक्रामत्येष वाव सोऽपानः। मैत्रायणीय आरण्यक २।६॥ तथा सायणोऽप्यथर्वभाष्ये (१८।२।४६) स्पष्टमाह—मुखनासिकाभ्यां बहिर्निस्सरन् वायुः प्राणः, अन्तर्गच्छन्नपानः। आधुनिकास्तु विपर्ययं संगिरन्ते।

२. 'कार्याः' इति शेषः। ३. द्र०—मनु ७।९९ श्लोक पूर्व पृष्ठ १२१ टि० ६ में निर्दिष्ट।

(आयुश्च) वीर्य आदि धातुओं की शुद्धि और रक्षा करना, तथा युक्तिपूर्वक ही भोजन और वस्त्र आदि का जो धारण करना है, इन अच्छे नियमों से उमर को सदा बढ़ाओ। (रूपं च) अत्यन्त विषय-सेवन[1] से पृथक् रहके और शुद्ध वस्त्र आदि धारण से शरीर का स्वरूप सदा उत्तम रखना। (नाम च) उत्तम कर्मों के आचरण से नाम की प्रसिद्धि करनी चाहिये, जिससे अन्य मनुष्यों का भी श्रेष्ठ कर्मों में उत्साह हो। (कीर्तिश्च) श्रेष्ठ गुणों के ग्रहण के लिये परमेश्वर के गुणों का श्रवण और उपदेश करते रहो, जिससे तुम्हारा भी यश बढ़े। (प्राणश्चापानश्च) जो वायु भीतर से बाहर आता है उसको 'प्राण'[2] के और जो बाहर से भीतर जाता है, उसको 'अपान'[2] कहते हैं। योगाभ्यास,शुद्ध देश में निवास आदि और भीतर से बल करके प्राण को बाहर निकालके रोकने से शरीर के रोगों को छुड़ाके बुद्धि आदि को बढ़ाओ। (चक्षुश्च श्रोत्रं च) [चाक्षुष और श्रोत्र शब्दजन्य] प्रत्यक्ष [और मन्त्र में पठित चकार से] अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य अर्थापत्ति, संभव और अभाव, इन आठ प्रमाणों के विज्ञान से सत्य का नित्य शोधन करके ग्रहण किया करो ॥१३॥

(पयश्च रसश्च) जो पय अर्थात् दूध जल आदि, और जो रस अर्थात् शक्कर ओषधि और घी आदि हैं, इनको वैद्यकशास्त्रों की रीति से यथावत् शोधके भोजन आदि करते रहो। (अन्नं चान्नाद्यं च) वैद्यकशास्त्र की रीति से चावल आदि अन्न का यथावत् संस्कार करके भोजन करना चाहिये। (ऋतं च सत्यं च) ऋत नाम जो ब्रह्म है, उसी की सदा उपासना करनी, जैसा हृदय में ज्ञान हो सदा वैसा ही भाषण करना, और सत्य को ही मानना चाहिये। (इष्टं च पूर्तं च) इष्ट जो ब्रह्म है उसीकी उपासना, और जो पूर्वोक्त यज्ञ सब संसार को सुख देनेवाला है, उस इष्ट की सिद्ध करने की पूर्ति, और जिस-जिस उत्तम कामों के आरम्भ को यथावत् पूर्ण करने के लिये जो-जो अवश्य हो सो-सो सामग्री पूर्ण करनी चाहिये। (प्रजा च पशवश्च) सब मनुष्य लोग अपने संतान और राज्य को अच्छी शिक्षा दिया करें, और हस्ती तथा घोड़े आदि पशुओं को भी अच्छी रीति से सुशिक्षित करना उचित है। इन मन्त्रों में [3]अनेक चकारों का यह भी प्रयोजन है कि सब मनुष्य लोग अन्य भी धर्म के शुभ लक्षणों का ग्रहण करें ॥१४॥

अत्र धर्मविषये तैत्तिरीयशाखाया अन्यदपि प्रमाणम्—

'ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्याय-प्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्याय-

---

१. वै० य० मुद्रित में 'विषय सेवा' पाठ है। २. प्राण और अपान का यही अर्थ प्राचीन वाङ्मय-सम्मत है। ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थों में सर्वत्र यही अर्थ लिखा है (द्र०—स० प्र० रालाकट्रस्ट० पृष्ठ ८८ टि० १)। इस अर्थ में मैत्रायणीय आरण्यक और सायणाचार्य के प्रमाण पूर्व पृष्ठ १२२ टि० १ में देखें।

३. वै० य० मुद्रित में 'मन्त्रों में और भी अनेक प्रयोजन हैं,' अपपाठ है। द्र०—संस्कृतपाठ।

प्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः॥१॥

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति—सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्य्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्॥ [१॥] देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि॥ २॥ नो इतराणि। [1]एके चास्मच्छ्रेयाᳬसो ब्राह्मणाः। तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्। अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्॥ [३॥] ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः[2], युक्ता आयुक्ताः[3], अलूक्षा धर्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्त्तेरन्, तथा तत्र वर्त्तेथाः। [4]अथाभ्याख्यातेषु ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः, युक्ता [3]आयुक्ताः, अलूक्षा धर्मकामाः स्युः, यथा ते तेषु वर्त्तेरन्, तथा तेषु वर्त्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम्॥४॥

तैत्तिरीय आरण्यके प्रपा० ७। अनु० ६, ११॥

भाष्यम्—(एतेषामभिप्रायः)—सर्वैर्मनुष्यैरेतानि वक्ष्यमाणाणि धर्मलक्षणानि सदैव सेव्यानीति।

---

१. शताब्दीसंस्करणपर्यन्तमयमेव पाठ उपलभ्यते। तदनन्तरं 'ये के' इत्येवं पाठः परिवर्तितः। तैत्तिरीयारण्यके 'ये के' इति पाठ उपलभ्यते। सत्यार्थप्रकाशे (समु० ३, पृष्ठ ७६, रालाकट्रसं०) 'ये के' इत्येव पाठः। संस्कारविधौ तु 'एके' इत्येव दृश्यते (द्र०—पृष्ठ १४० रालाकट्रसं० ३)।

२. सत्यार्थप्रकाशे 'समदर्शिनो' पाठ उपलभ्यते (द्र०—समु० ३, पृष्ठ ७६, रालाकट्रसं०)। इहाप्यस्य व्याख्यायां '**पक्षपातरहिताभ्यां**' इति वचनं 'समदर्शिनः' पाठस्यैवानुज्ञायते, सत्यार्थप्रकाशेऽपि तथैव व्याख्यानदर्शनात्। ३. प्रथमसंस्करणे 'अयुक्ताः' इत्येवं मुद्रितोऽपपाठस्तदन्त एव मुद्रिते शोधपत्रे संशोधितः, परन्तु वै० य० मुद्रितेषु पञ्चमषष्ठसप्तमाष्टमसंस्करणेषु 'अयुक्ताः' इत्येवोपलभ्यते। शताब्दीसंस्करणे नवमे च "बङ्गीयशियाटिक-सोसाइटी-मुद्रित-तैत्तिरीये 'आयुक्ताः' इति पाठः" इत्थं टिप्पणी पठ्यते। परन्त्वत्र '**योगिनाम्, अधर्मात् पृथग्भूतानाम्**' व्याख्यानं '**युक्ता अयुक्ताः**' पाठस्यैवोपलभ्यते (सत्यार्थप्रकाशेऽपि, पृष्ठ ७८) '**योगी अयोगी**' इत्येव व्याख्यानं दृश्यते। एताभ्यां ग्रन्थकारपरिगृहीतः पाठः 'युक्ता अयुक्ता' इत्येवानुमीयते।

४. 'अथाभ्याख्यातेषु ......तेषु वर्तेथाः' वाक्यमिह नैव व्याख्यायते, सत्यार्थप्रकाशे त्विदं नैव पठ्यते।

(ऋतं च०) यथार्थस्वरूपं यद् ज्ञानं, (सत्यं च०) सत्यस्याचरणं च, (तपश्च०) ज्ञानधर्मयोऋ॑तादिधर्मलक्षणानां यथावदनुष्ठानम्, (दमश्च०) अधर्माचरणादिन्द्रियाणि सर्वथा निवर्त्य तेषां सत्यधर्माचरणे सदैव प्रवृत्तिः कार्या, (शमश्च०) नैव मनसापि कदाचिदधर्मकरणेच्छा कार्येति, (अग्नयश्च०) वेदादिशास्त्रेभ्योऽन्यादिपदार्थेभ्यश्च पारमार्थिकव्यावहारिकविद्योपकारकरणम्, (अग्निहोत्रं च०) [1]नित्यहोममारभ्याऽश्वमेधपर्यन्तेन यज्ञेन वायुवृष्टिजलशुद्धिद्वारा सर्वप्राणिनां सुखसंपादनं कार्यम्, (अतिथयश्च०) पूर्णविद्यावतां धर्मात्मनां संगसेवाभ्यां सत्यशोधनं छिन्नसंशयत्वं च कार्यम्, (मानुषं च०) मनुष्यसम्बन्धिराज्यविद्याविवित्तं सम्यक् सिद्धं कर्त्तव्यम्, (प्रजा च०) धर्मेणैव प्रजामुत्पाद्य सा सदैव सत्यधर्मविद्यासुशिक्षयान्विता कार्या, (प्रजनश्च०) वीर्यवृद्धिः पुत्रेष्टिरीत्या ऋतुप्रदानं च कर्त्तव्यम्, (प्रजातिश्च०) गर्भरक्षा जन्मसमये संरक्षणं सन्तानशरीरबुद्धिवर्धनं च कर्त्तव्यम्। (सत्यमिति०) मनुष्यः सदा सत्यवक्तैव भवेदिति [सत्यवचसो] राथीतराचार्यस्य मतमस्ति। (तप इति) यादृतादिसेवनेनैव सत्यविद्याधर्मानुष्ठानमस्ति तन्नित्यमेव कर्त्तव्यमिति [तपोनित्यस्य] पौरुशिष्टेराचार्यस्य मतमस्ति। परन्तु [2]नाकस्य मौद्गल्यस्येदं मतमस्ति—स्वाध्यायो वेदविद्याध्ययनं, प्रवचनं तदध्यापनं चेत्युभयं सर्वेभ्यः श्रेष्ठतमं कर्मास्ति। इदमेव मनुष्येषु परमं तपोऽस्ति, नातः परमुत्तमं धर्मलक्षणं किंचिद्विद्यत इति ॥१॥

(वेदमनूच्या०) आचार्यः शिष्याय वेदानध्याप्य धर्ममुपदिशति—हे शिष्य! त्वया सदैव सत्यमेव वक्तव्यं, सत्यभाषणादिलक्षणो धर्मश्च सेवनीयः। शास्त्राध्ययनाध्यापने कदापि नैव त्याज्ये। आचार्यसेवा प्रजोत्पत्तिश्च, सत्यधर्मकुशलतैश्वर्यसंवर्धनसेवने सदैव कर्त्तव्ये [॥ १ ॥] देवा विद्वांसः पितरो ज्ञानिनश्च, तेभ्यो ज्ञानग्रहणं, तेषां सेवनं च सदैव सदैव कार्यम्। एवं मातृपित्राचार्यातिथीनां सेवनं चैतत् सर्वं संप्रीत्या कर्त्तव्यम्, नैतत् कदापि प्रमादात् त्याज्यमिति। वक्ष्यमाणरीत्या मात्रादय उपदिशेयुः—भो पुत्रा! यान्युत्तमानि कर्म्माणि वयं कुर्मस्तान्येव युष्माभिराचरितव्यानि। यानि तु पापात्मकानि कानिचिदस्माभिः क्रियन्ते तानि कदापि नैवाचरणीयानि ॥[२॥]

येऽस्माकं मध्ये विद्वांसो ब्रह्मविदः स्युस्तत्संगस्तदुक्तविश्वासश्च सदैव कर्त्तव्यो नेतरेषाम्। मनुष्यैर्विद्यादिपदार्थदानं प्रीत्याऽप्रीत्या[3] श्रिया लज्जया भयेन प्रतिज्ञया च सदैव कर्त्तव्यम्, अर्थात् प्रतिग्रहाद् दानमतीव श्रेयस्करमिति। भोः शिष्य! तव कस्मिंश्चिद् कर्मण्याचरणे च संशयो भवेत् ॥[३॥] तदा ब्रह्मविदां पक्षपातरहितानां योगिनामधर्मात् पृथग्भूतानां विद्यादिगुणैः स्निग्धानां धर्मकामानां विदुषां सकाशादुत्तरं ग्राह्यं, तेषामेवाचरणं च। यादृशेन मार्गेण ते

१. अर्थान्नैत्यिकादग्निहोत्रादारभ्य।

२. वै० य० मुद्रिते 'नाकोमौद्गल्यस्य' इत्यपपाठः। यत आरण्यके 'नाको मौद्गल्यः' इति नैकं पदम्, उभयोरुदात्तत्वदर्शनात्।

३. सायणेन 'अश्रद्धया देयम्' इत्यत्र 'अदेयम्' इत्येवं विच्छिद्य 'अश्रद्धया तु किञ्चिदप्यदेयम्' इत्येवं व्याख्यातम्। तत् स्वरदोषाच्चिन्त्यम्। 'देयम्' इत्यन्तोदात्तः पठ्यते, 'अदेयम्' पाठे तु आद्युदात्तस्वरः स्यात् (द्र०—अष्टा० ६।२।२)। वस्तुतः 'अश्रद्धया देयम्' इत्यादीनां दानप्रशंसायामेव तात्पर्यम्। एतदेवं चात्र ग्रन्थकर्त्ताऽपि 'अर्थात् प्रतिग्रहाद्०' इत्याद्युत्तरवाक्येन स्पष्टयति।

विचरेयुस्तेनैव मार्गेण त्वयापि गन्तव्यम् । अयमेव युष्माकं हृदय आदेश उपदेशो हि स्थाप्यते । इयमेव वेदानामुपनिषदस्ति । ईदृशमेवानुशासनं सर्वैर्मनुष्यैः कर्त्तव्यम् । ईदृगाचरणपुरःसरमेव परमश्रद्धया सच्चिदानन्दादिलक्षणं ब्रह्मोपास्यं नान्यथेति ।। [४] ।।

भाषार्थ—तैत्तिरीयशाखा में और भी धर्म का विषय है, सो आगे लिखते हैं—

(ऋतं च०) यह सब मनुष्यों को उचित है कि अपने ज्ञान और विद्या को बढ़ाते हुए एक ब्रह्म ही की उपासना करते रहें। उसके साथ वेदादि शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना भी बराबर करते जायें। (सत्यं च०) प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ठीक-ठीक परीक्षा करके जैसा तुम अपने आत्मा में ज्ञान से जानते हो, वैसा ही बोलो और उसी को मानो। उसके साथ पढ़ना-पढ़ाना भी कभी न छोड़ो। (तपश्च०) विद्याग्रहण के लिये ब्रह्मचर्य आश्रम को पूर्ण करके सदा धर्म में निश्चित रहो। (दमश्च०) अपनी आंख आदि इन्द्रियों को अधर्म और आलस्य से छुड़ाके सदा धर्म में चलाओ। (शमश्च०) अपने आत्मा और मन को सदा धर्मसेवन में ही स्थिर रक्खो। (अग्नयश्च०) वेदादिशास्त्रों[1] और अग्नि आदि पदार्थों से धर्म अर्थ काम और मोक्ष को सिद्ध करो, तथा अनेक प्रकार से शिल्पविद्या की उन्नति करो। (अग्निहोत्रं च०) वायु और वृष्टिजल की शुद्धि द्वारा अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध-पर्य्यन्त यज्ञों से सब सृष्टि का उपकार सदा करते रहो। (अतिथयश्च०) जो सब जगत् के उपकार के लिये सत्यवादी सत्यकारी पूर्ण विद्वान् सबका सुख चाहनेवाले हों, उन सत्पुरुषों के संग से करने के योग्य व्यवहारों को सदा बढ़ाते रहो। (मानुषं च०) सब मनुष्यों के राज्य और प्रजा के ठीक-ठीक प्रबन्ध से धन आदि पदार्थों को बढ़ाके रक्षा करके और अच्छे कामों में खर्च करके, उनसे धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चारों फल की सिद्धि द्वारा अपना जन्म सफल करो। (प्रजा च०) अपने सन्तानों का यथायोग्य पालन, शिक्षा से विद्वान् करके, सदा धर्मात्मा और पुरुषार्थी बनाते रहो। (प्रजनश्च०) जो सन्तानों की उत्पत्ति करने का व्यवहार है उसको 'पुत्रेष्टि' कहते हैं, उसमें श्रेष्ठ भोजन और औषध-सेवन सदा करते रहो, तथा ठीक-ठीक गर्भ की रक्षा भी करो। (प्रजातिश्च०) पुत्र और कन्याओं के जन्म-समय में स्त्री और बालकों की रक्षा युक्तिपूर्वक करो।

ऋत से लेके प्रजाति पर्यन्त धर्म के जो बारह लक्षण होते हैं, उन सबके साथ स्वाध्याय जो पढ़ना और प्रवचन जो पढ़ाने का उपदेश किया है, सो इसलिये है कि पूर्वोक्त जो धर्म के लक्षण हैं वे तब प्राप्त हो सकते हैं कि जब मनुष्य लोग सत्यविद्या को पढ़ें, और तभी सदा सुख में रहेंगे। क्योंकि सब गुणों में विद्या ही उत्तम गुण है। इसलिये सब धर्मलक्षणों के साथ स्वाध्याय और प्रवचन का ग्रहण किया है। सो इनका त्याग कभी न करना चाहिये। (सत्यमिति०) हे मनुष्य लोगो ! तुम सब दिन सत्यवचन ही बोलो। (तप इति०) धर्म और ईश्वर की प्राप्ति करने के लिये नित्य विद्या ग्रहण करो, अर्थात् विद्या का जो पढ़ना-पढ़ाना है, यही सबसे उत्तम है ।।१।।

(वेदमनूच्या०) जो आचार्य अर्थात् विद्या और शिक्षा का देनेवाला है, वह विद्या पढ़ने के समय और जबतक न पढ़ चुकें तबतक अपने पुत्र और शिष्यों को इस प्रकार उपदेश करे कि—

१. वै० य० मुद्रित में 'तीनों वेद' पाठ है, वह संस्कृतानुसारी नहीं है।

हे पुत्रो वा शिष्य लोगो ! तुम सदा सत्य ही बोला करो। और धर्म का ही सेवन करके एक परमेश्वर ही की भक्ति किया करो। इसमें आलस्य वा प्रमाद कभी मत करो। आचार्य को अनेक उत्तम पदार्थ देकर प्रसन्न करो। और युवावस्था में ही विवाह करके प्रजा की उत्पत्ति करो। तथा सत्यधर्म को कभी मत छोड़ो। कुशलता अर्थात् चतुराई को सदा ग्रहण करके, भूति अर्थात् उत्तम ऐश्वर्य को सदा बढ़ाते जाओ, और पढ़ने-पढ़ाने में कभी आलस्य मत करो ॥१॥

(देवपितृ०) देव जो विद्वान् लोग और पितृ अर्थात् ज्ञानी लोगों की सेवा और संग से विद्या के ग्रहण करने में आलस्य वा प्रमाद कभी मत करो। माता-पिता, आचार्य अर्थात् विद्या के देने-वाले, और अतिथि जो सत्य उपदेश के करनेवाले विद्वान् पुरुष हैं, उन की सेवा में आलस्य कभी मत करो। ऐसे ही सत्यभाषणादि शुभ गुणों और कर्मों ही का सदा सेवन करो। किन्तु मिथ्या-भाषणादि को कभी मत करो। माता-पिता और आचार्य आदि अपने सन्तानों तथा शिष्यों को ऐसा उपदेश करें कि—हे पुत्रो वा शिष्य लोगो ! हमारे जो सुचरित्र अर्थात् अच्छे काम हैं, तुम लोग उन्हीं का ग्रहण करो, किन्तु हमारे बुरे कामों को कभी नहीं ॥[२ ॥]

जो हमारे बीच में विद्वान् और ब्रह्म के जाननेवाले धर्मात्मा मनुष्य हैं, उन्हीं के वचनों में विश्वास करो, और उनको प्रीति वा अप्रीति से श्री वा लज्जा से भय अथवा प्रतिज्ञा से सदा दान देते रहो तथा विद्यादान सदा करते जाओ। और जब तुमको किसी बात में संदेह हो [॥३॥]

तब पूर्ण विद्वान्, पक्षपातरहित धर्मात्मा मनुष्यों से पूछके शङ्कानिवारण सदा करते रहो। वे लोग जिस-जिस प्रकार से जिस-जिस धर्म-काम में चलते होवें, वैसे ही तुम भी चलो। यही आदेश, अर्थात् अविद्या को हटाके उसके स्थान में विद्या का, और अधर्म को हटाके धर्म का स्थापन करना है। इसी को उपदेश और शिक्षा भी कहते हैं। इसी प्रकार शुभ लक्षणों को ग्रहण करके एक परमेश्वर ही की सदा उपासना करो ॥[४॥]

ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो[1] दमस्तपः शमस्तपो दानं तपो यज्ञस्तपो भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः ॥ तैत्ति० आरण्यक प्रपा० १० । अनु० ८ ॥

भाष्यम्—इदानीं तपसो लक्षणमुच्यते—(ऋतं०) यत्तत्त्वं ब्रह्मण एवोपासनं यथार्थज्ञानं च, (सत्यं०) सत्यकथनं सत्यमाचरणं च, (श्रुतं०) सर्वविद्याश्रवणं श्रावणं च, (शान्तं०) अधर्मात् पृथक्कृत्य मनसो धर्मे संस्थापनं मनःशान्तिः, (दमस्त०) इन्द्रियाणां धर्म एव प्रवर्त्तनमधर्मान्नि-वर्त्तनं च, (शमस्त०) मनसोऽपि निग्रहश्चाधर्माद् धर्मे प्रवर्त्तनं च, (दानं त०) तथा सत्यविद्यावि-दानं सदा कर्त्तव्यम्, (यज्ञस्त०) पूर्वोक्तं यज्ञानुष्ठानं च, एतत् सर्वं तपश्शब्देन गृह्यते नान्यदिति। अन्यच्च (भूर्भु०) हे मनुष्य ! सर्वलोकव्यापकं यद् ब्रह्मास्ति तदेव त्वमुपास्वैवमेव तपो मन्यस्व नातो विपरीतमिति ॥

---

१. तैत्तिरीयारण्यकस्य दशमप्रपाठकस्य द्विविधः पाठ उपलभ्यते। अयं च द्विविधोऽपि पाठः पूनासंस्करणे मुद्रितः। तत्रान्ते मुद्रिते 'दमस्तपश्शमस्तपो' इति पाठ उपलभ्यते। पूर्वपाठेऽपि टिप्पण्यां पाठान्तरत्वेन स्वीक्रियते। संस्कारविधावप्ययमेव पाठो दृश्यते (द्र०—पृष्ठ १४०, रामलाल कपूर ट्रस्ट सं० ३)।

भावार्थ[1]—(ऋतं तपः) 'तप' इसको कहते हैं कि जो 'ऋत' अर्थात् यथार्थ तत्त्व मानने, सत्य बोलने, 'श्रुत' अर्थात् सब विद्याओं को सुनने, 'शान्त' अर्थात् उत्तम कर्म करने और अच्छे स्वभाव के धारने में सदा प्रवृत्त रहो। तथा पूर्वोक्त दम, शम, दान, यज्ञ और प्रेम भक्ति से तीनों लोक में व्यापक ब्रह्म की जो उपासना करना है, उसको भी 'तप' कहते हैं। ऋत आदि का अर्थ प्रथम[2] कर दिया है॥

सत्यं परं परꣳ सत्यꣳ सत्येन न सुवर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते कदाचन, सताꣳ हि सत्यं, तस्मात् सत्ये रमन्ते। तप इति तपो नानशनात् परं, यद्धि परं तपस्तद् दुर्धर्षं तद् दुराधर्षं, तस्मात् तपसि रमन्ते। दम इति नियतं ब्रह्मचारिणस्तस्माद् दमे रमन्ते। शम इत्यरण्ये मुनयस्तस्माच्छमे रमन्ते। दानमिति सर्वाणि भूतानि प्रशꣳसन्ति, दानान्नातिदुष्करं, तस्माद् दाने रमन्ते। धर्म इति धर्मेण सर्वमिदं परिगृहीतं, धर्मान्नातिदुश्चरं, तस्माद्धर्मे रमन्ते। प्रजन इति भूयाꣳसस्तस्माद् भूयिष्ठाः प्रजायन्ते, तस्माद् भूयिष्ठाः प्रजनने रमन्ते। अग्नय इत्याह तस्मादग्नय आधातव्याः। अग्निहोत्रमित्याह तस्मादग्निहोत्रे रमन्ते। यज्ञ इति यज्ञेन हि देवा दिवंगतास्तस्माद् यज्ञे रमन्ते। मानसमिति विद्वाꣳसस्तस्माद् विद्वाꣳस एव मानसे रमन्ते। न्यास इति ब्रह्मा, ब्रह्मा हि परः, परो हि ब्रह्मा, तानि वा एतान्यवराणि तपाꣳसि, न्यास एवात्यरेचयत्। य एवं वेदेत्युपनिषत्।

प्राजापत्यो हाऽऽरुणिः सुपर्णेयः प्रजापतिं पितरमुपससार, किं भगवन्तः परमं वदन्तीति तस्मै प्रोवाच—सत्येन वायुरावाति, सत्येनाऽऽदित्यो रोचते दिवि, सत्यं वाचः प्रतिष्ठा, सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्मात् सत्यं परमं वदन्ति। तपसा देवा देवतामग्र आयन्, तपसर्षयः सुवरन्वविन्दन्, तपसा सपत्नान् प्रणुदामारातीस्तपसि सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्मात् तपः परमं वदन्ति। दमेन दान्ताः किल्विषमवधून्वन्ति, दमेन ब्रह्मचारिणः सुवरगच्छन्, दमो भूतानां दुराधर्षं, दमे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माद् दमं[3] परमं वदन्ति। शमेन शान्ताः शिवमाचरन्ति, शमेन नाकं मुनयोऽन्वविन्दञ्छमो भूतानां दुराधर्षं, शमे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माच्छमं[4] परमं वदन्ति। दानं यज्ञानां वरूथं दक्षिणा, लोके दातारꣳ सर्वभूतान्युपजीवन्ति, दानेनारातीरपानुदन्त, दानेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति, दाने सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माद् दानं परमं वदन्ति। धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति, धर्मेण पापमपनुदन्ति, धर्मे सर्वं

---

१. वै० य० मुद्रिते 'भाष्यार्थ' इत्यपपाठः। २. अर्थात् 'ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च' इत्यादि की व्याख्या में (द्र० पृष्ठ १२५, १२६)। ३. तैत्तिरीयारण्यके 'तस्माद्दमः' इत्येवं पाठ उपलभ्यते। ४. तैत्तिरीयारण्यके 'तस्माच्छमः' इत्येवं पाठ उपलभ्यते।

प्रतिष्ठितं, तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति । प्रजननं वै प्रतिष्ठा लोके साधु प्रजायास्तन्तुं तन्वानः पितॄणामनृणो भवति तदेव तस्य अनृणं, तस्मात् प्रजननं परमं वदन्ति ।

अग्नयो वै त्रयीविद्या देवयानः पन्था गार्हपत्य ऋक् पृथिवी रथन्तरमन्वाहार्यपचनो यजुरन्तरिक्षं वामदेव्यमाहवनीयः साम सुवर्गो लोको बृहत्, तस्मादग्नीन् परमं वदन्ति । अग्निहोत्रꣳ सायंप्रातर्गृहाणां निष्कृतिः स्विष्टꣳ सुहुतं यज्ञक्रतूनां प्रायणꣳ[1] सुवर्गस्य लोकस्य ज्योतिस्तस्मादग्निहोत्रं परमं वदन्ति । यज्ञ इति यज्ञेन हि देवा दिवं गता यज्ञेनासुरानपानुदन्त यज्ञेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माद्यज्ञं परमं वदन्ति । मानसं वै प्राजापत्यं पवित्रं मानसेन मनसा साधु पश्यति मानसा ऋषयः प्रजा असृजन्त मानसे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्मान्मानसं परमं वदन्ति ।

तैत्ति० आरण्यके प्रपा० १० । अनु० ६२, ६३ ॥

भाष्यम्—(सत्यं प०) सत्यभाषणात् सत्याचरणाच्च परं धर्मलक्षणं किञ्चिन्नास्त्येव । कुतः? सत्येनैव नित्यं[2] मोक्षसुखं संसारसुखं च प्राप्य पुनस्तस्मान्नैव कदापि च्युतिर्भवति[3] । सत्यपुरुषाणामपि सत्याचरणमेव लक्षणमस्ति । तस्मात् कारणात् सर्वैर्मनुष्यैः सत्ये खलु रमणीयमिति । तपस्तु ऋतादिधर्मलक्षणानुष्ठानमेव ग्राह्यम् । एवं सम्यग्ब्रह्मचर्यसेवनेन विद्याग्रहणं ब्रह्म इत्युच्यते । एवमेव दानादिष्वर्थगतिः कार्या । विदुषो लक्षणं मानसो व्यापारः । एवमेव सत्येन ब्रह्मणा वायुरागच्छति, सत्येनादित्यः प्रकाशितो भवति, सत्येनैव मनुष्याणां प्रतिष्ठा जायते नान्यथेति । मानसा ऋषयः प्राणाः विज्ञानादयश्चेति ॥

[**भाषार्थ**]—(सत्यं परं०) अब सत्य का स्वरूप दिखाया जाता है कि जिसका ऋत भी नाम है । सत्यभाषण और आचरण से उत्तम धर्म का लक्षण कोई भी नहीं है । क्योंकि सत्पुरुषों में भी सत्य ही सत्पुरुषपन है । सत्य से ही मनुष्यों को व्यवहार और मुक्ति का उत्तम सुख मिलता है । जिससे छूटके वे दुःख में कभी[4] नहीं गिरते । इसलिये सब मनुष्यों को सत्य में ही रमण करना

---

१. तैत्तिरीयारण्यके 'प्रायणꣳ' इत्येवं पाठ उपलभ्यते । यद्वेह यकारपकारयोर्लेखनसादृश्यमूलकोऽपपाठ एव स्यात् । २. नित्यशब्दोऽयं सापेक्षं नित्यत्वं ब्रवीति, न पारमार्थिकम् । यथा—'नित्या द्यौः, नित्या पृथिवी' (महाभाष्य अ० १ । पा० १ । आ० १) ।

३. अस्यायं भावः—यावान् मोक्षस्य कालस्तन्मध्ये नैव कदापि च्युतिर्भवति । **न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते** (छां०उप० ८।१५); **यद् गत्वा न निवर्तन्ते** (गीता १५।६) इत्यादिवचनानामप्यत्रैव तात्पर्यम् । अन्यथाऽन्यैः श्रुतिस्मृतिसूत्रवचनैर्विरोध आपद्येत । एतस्मिन् विषये विशेषो ग्रन्थकारकृते सत्यार्थप्रकाशस्य नवमसमुल्लासे द्रष्टव्यः । इहापि ग्रन्थकारः सृष्टिविद्याविषये '**यज्ञेन यज्ञमयजन्त०**' मन्त्रव्याख्याने '**न च तस्माद् ब्रह्मणश्शतवर्षसंख्यातात् कालात् [पुरा] कदाचित् पुनरावर्तन्ते**' इत्येवं वक्ष्यति ।

४. 'कभी नहीं गिरते' शब्द मोक्षकाल की अवधि=३६००० बार सृष्ट्युत्पत्तिप्रलयपरिमितकाल को लक्ष्य में रखकर कहे गये हैं । '**न च पुनरावर्तते**' इत्यादि उपनिषद्-वचनों का भी इसी में तात्पर्य है । इस

चाहिये। (तप इति०) जो अन्याय से किसी के पदार्थ को ग्रहण [न][1] करना, जिसका ऋत आदि लक्षण कह चुके हैं, जो अत्यन्त उत्तम और यद्यपि करने में कठिन भी है, तदपि विद्वान् मनुष्य को करना सब सुगम है। इससे तप में नित्य ही निश्चित रहना ठीक है। (दम इति०) जितेन्द्रिय होके जो विद्या का अभ्यास और धर्म का आचरण करना है, उसमें मनुष्यों को नित्य प्रवृत्त होना चाहिये। (दानमिति०) दान की स्तुति सब लोग करते हैं। और जिससे कठिन कर्म दूसरा कोई भी नहीं है जिससे शत्रु भी मित्र हो जाते हैं। इससे दान करने का स्वभाव सब मनुष्यों को नित्य रखना चाहिये।

(धर्म इति०) जो धर्मलक्षण प्रथम कह आये हैं और जो आगे कहेंगे, वे सब इसी धर्म के हैं। क्योंकि जो न्याय अर्थात् पक्षपात को छोड़के सत्य का आचरण और असत्य का परित्याग करना है, उसीको 'धर्म' कहते हैं। यही धर्म का स्वरूप और सबसे उत्तम धर्म है। सब मनुष्यों को इसी में सदा वर्तना चाहिये। (प्रजन इति०) जिससे मनुष्यों की बढ़ती होती है, जिसमें बहुत मनुष्य रमण करते हैं, इससे जन्म को 'प्रजन' कहते हैं। (अग्नय इत्याह०) वेदादि शास्त्रों[2] और अग्नि आदि पदार्थों से सब शिल्पविद्या सिद्ध करनी उचित है। (अग्निहोत्रं च०) अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्यन्त होम करके सब जगत् का उपकार करने में सदा यत्न करना चाहिये। (मानसमिति०) जो विचार करनेवाले मनुष्य है वे ही 'विद्वान्' होते हैं, इससे विद्वान् लोग विचार ही में सदा रमण करते हैं। क्योंकि मन के विज्ञान आदि गुण हैं।[3] इससे मन का बल और उसकी शुद्धि करना भी धर्म का उत्तम लक्षण है। (न्यास इति०) ब्रह्मा बनके अर्थात् चारों वेद को जानके, संसारी व्यवहारों को छोड़के, न्यास अर्थात् संन्यास आश्रम करके जो सब मनुष्यों को सत्यधर्म और सत्यविद्या से लाभ पहुंचाना है, यह भी विद्वान् मनुष्यों को धर्म का लक्षण जानके करना उचित है।

(सत्येन वा०) सत्य को उत्तम इसलिये कहते हैं कि सत्य जो ब्रह्म है, उससे सब लोगों का प्रकाश और वायु आदि पदार्थों का रक्षण होता है। सत्य से ही सब व्यवहारों में प्रतिष्ठा और परब्रह्म को प्राप्त होके मुक्ति का सुख भी मिलता है, तथा सत्पुरुषों में सत्याचरण ही सत्पुरुषपन है। (तपसा देवा०) पूर्वोक्त तप से ही विद्वान् लोग परमेश्वर देव को प्राप्त होके, सब काम क्रोध आदि शत्रुओं को जीतके, पापों से छूटके, धर्म ही में स्थिर रह सकते हैं, इससे तप को भी श्रेष्ठ कहते हैं। (दमेन०) दम से मनुष्य पापों से अलग होके और ब्रह्मचर्य आश्रम का सेवन करके विद्या

विषय में अधिक विचार ग्रन्थकार ने स० प्र० समु० ६ में किया है, वहां देखना चाहिए। इस ग्रन्थ में भी सृष्टिविद्याविषय में **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त'** मन्त्र के व्याख्यान में भी ग्रन्थकार लिखेंगे—'ब्रह्म के १०० वर्ष परिमित काल से पूर्व पुनः संसार में नहीं आते' (द्र०—संस्कृतपाठ, भाषानुवाद में नहीं है)। ब्रह्म के १०० वर्ष= ३६ सहस्रवार सृष्टि की उत्पत्ति प्रलय काल मोक्ष का है। द्र०—स० प्र० समु० ६।

१. यहां 'न' पद छूटा है, यह वाक्यविन्यास से ही स्पष्ट है।

२. वै० य० मुद्रित में 'तीन वेद' पाठ है। यहां पूर्व पृष्ठ १२६, टि० १ देखनी चाहिये।

३. यहां से आगे वै० य० मुद्रित में 'वे ही ईश्वर और जीव की सृष्टि के हेतु हैं' पाठ है। यह न संस्कृत के अनुकूल है, और न प्रकृत ही से सम्बद्ध है।

को प्राप्त होता है, इसलिये धर्म का दम भी श्रेष्ठ लक्षण है। (शमेन०) शम का लक्षण यह है कि जिससे मनुष्य लोग कल्याण का ही आचरण करते हैं, इससे यह भी धर्म का लक्षण है। (दानेन०) दान से ही यज्ञ, अर्थात् दाता के आश्रय से सब प्राणियों का जीवन होता है, और दान से ही शत्रुओं को भी जीतकर अपना मित्र कर लेते हैं, इससे दान भी धर्म का लक्षण है। (धर्मो वि०) सब जगत् की प्रतिष्ठा धर्म ही है, धर्मात्मा का ही लोक में विश्वास होता है, धर्म से ही मनुष्य लोग पापों को छुड़ा देते हैं। जितने उत्तम काम हैं वे सब धर्म में ही लिये जाते हैं, इसलिये सबसे उत्तम धर्म को ही जानना चाहिये। (प्रजननं०) जिससे मनुष्यों का जन्म और प्रजा में वृद्धि होती है, और जो परम्परा से ज्ञानियों की सेवा से ऋण अर्थात बदले का पूरा करना होता है, इससे प्रजन[न] भी धर्म का हेतु है। क्योंकि जो मनुष्यों की उत्पत्ति भी नहीं हो, तो धर्म को ही कौन करे ? इस कारण से भी धर्म को ही प्रधान जानो।

(अग्नयो वै०) अर्थात् जिससे तुम लोग साङ्गोपाङ्ग तीनों वेदों[1] को पढ़ो, क्योंकि विद्वानों के ज्ञानमार्ग को प्राप्त होके पृथिवी आकाश और स्वर्ग ये तीनों प्रकार की विद्या सिद्ध होती हैं, इससे इन तीनों अग्नि अर्थात् वेदों को श्रेष्ठ कहते हैं। (अग्निहोत्रं०) प्रातः और सन्ध्या काल में[2] [अग्निहोत्र द्वारा] वायु तथा वृष्टिजल को दुर्गन्ध से छुड़ाके सुगन्धित करने से सब मनुष्यों को स्वर्ग अर्थात् सुख की प्राप्ति होती है, इसलिये अग्निहोत्र को भी धर्म का लक्षण कहते हैं। (यज्ञ इति०) यज्ञ[3] से ही विद्वान् लोग स्वर्ग अर्थात् सुख को प्राप्त होते, और शत्रुओं को जीतके अपना मित्र कर लेते हैं, इससे यज्ञ[4] को भी धर्म का लक्षण कहते हैं। (मानसं वै०) मन के शुद्ध होने से ही विद्वान् लोग प्रजापति अर्थात् परमेश्वर को जानके नित्य[5] सुख को प्राप्त हो सकते हैं। पवित्र मन से सत्य का ज्ञान होता है, और उसमें जो विज्ञान [और प्राण] आदि ऋषि अर्थात् गुण हैं, उनमें परमेश्वर और जीव लोग भी अपनी-अपनी सब प्रजा को उत्पन्न करते हैं।[6] अर्थात् परमेश्वर के विद्या आदि गुणों से मनुष्य की प्रजा उत्पन्न होती है। इससे मन को जो पवित्र और विद्यायुक्त करना है, यह[7] भी धर्म का उत्तम लक्षण और साधन है। इससे मन के पवित्र होने से सब धर्मकार्य

---

१. यहां 'चारों वेदों को पढ़ो' पाठ होना चाहिए। तै० आ० में 'त्रयीविद्या' शब्द है। त्रयीविद्या अथवा 'त्रयी' कहने से चारों वेदों का ग्रहण होता है। यह पूर्व (पृष्ठ ६, टि० १) कहा जा चुका है।

२. वै० य० मुद्रित में 'प्रातःकाल में सन्ध्या और वायु' अपपाठ है।

३. वै० य० मुद्रित में 'विद्या से' अपपाठ है।

४. वै० य० मुद्रित में 'इससे विद्या और अध्वर्यु आदि यज्ञ' अपपाठ है।

५. द्र०—पूर्व पृष्ठ १२६, टि० ४। यहां नित्य शब्द अन्य अल्पकाल स्थित रहनेवाले सुख की अपेक्षा अधिक काल तक रहनेवाले सुख के लिए प्रयुक्त हुआ है। न्याय की परिभाषा में यह 'सापेक्ष नित्यत्व' कहाता है। 'नित्या द्यौः नित्या पृथिवी' (महाभाष्य अ० १ पा० १ आ० १) आदि प्रयोगों में अल्पकालस्थायी अन्य पदार्थों की अपेक्षा द्युलोक और पृथिवी लोक को चिरस्थायी होने के कारण नित्य कहा है। इसी प्रकार यहां भी समझें। ६. यहां पाठ अस्पष्ट है।

७. वै० य० मुद्रित में 'ये भी धर्म के……साधन हैं' अपपाठ है।

सिद्ध होते हैं। ये सब धर्म के ही लक्षण हैं। इनमें से कुछ तो पूर्व कह दिये और कुछ आगे भी कहेंगे।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥१॥

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम् ॥२॥

मुण्डकोपनिषदि मु० ३। खं० १। मं० ५,६॥

भाष्यम्—अनयोरर्थः—(सत्येन लभ्य०) सत्येन सत्यधर्माचरणेनैवात्मा परमेश्वरो लभ्यो नान्यथेत्ययं मन्त्रः सुगमार्थः॥ १॥

(सत्यमेव०) सत्यमाचरितमेव जयते, तेनैव मनुष्यः सदा विजयं प्राप्नोति, अनृतेनाधर्माचरणेन पराजयं च। तथा सत्यधर्मेणैव देवयानो विदुषां यः सदानन्दप्रदो मोक्षमार्गोऽस्ति, सोऽपि सत्येनैव विस्तृतः प्रकाशितो भवति। येन च सत्यधर्मानुष्ठानप्रकाशितेन मार्गेणाप्तकामा ऋषयस्तत्राक्रमन्ति गच्छन्ति यत्र सत्यस्य धर्मस्य परमं निधानमधिकरणं ब्रह्म वर्त्तते। तत्प्राप्य नित्यानन्दमोक्षप्राप्ता[1] भवन्ति, नान्यथेति। अत एव सत्यधर्मानुष्ठानमधर्मत्यागश्च सर्वैः कर्त्तव्य इति॥[२॥]

भाषार्थ—(सत्येन लभ्यस्तपसा०) अर्थात् जो सत्य आचरणरूप धर्म का अनुष्ठान, ठीक-ठीक विज्ञान और ब्रह्मचर्य करते हैं, इन्हीं शुभगुणों से सबका आत्मा परमेश्वर जाना जाता है। जिसको निर्दोष अर्थात् धर्मात्मा ज्ञानी संन्यासी लोग देखते हैं। सो सबके आत्माओं का भी आत्मा प्रकाशस्वरूप और सब दिन शुद्ध है। उसी की आज्ञा पालन करना सब मनुष्यों को चाहिये॥१॥

(सत्यमेव जय०) जो सत्य का आचरण करनेवाला है, वही मनुष्य सदा विजय और सुख को प्राप्त होता है। और जो मिथ्या आचरण और झूठे कामों का करनेवाला है, वह सदा पराजय और दुःख ही को प्राप्त होता है। विद्वानों का जो मार्ग है, सो भी सत्य के आचरण से ही खुल जाता है। जिस मार्ग से आप्तकाम, धर्मात्मा विद्वान् लोग चलके सत्यसुख को प्राप्त होते हैं, जहां ब्रह्म ही का सत्यस्वरूप सुख सदा प्रकाशित होता है। सत्य से ही उस सुख को वे प्राप्त होते हैं, असत्य से कभी नहीं। इससे सत्य धर्म का आचरण और असत्य का त्याग करना सब मनुष्यों को उचित है॥२॥

अन्यच्च—

'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' ॥१॥ पू० मी० अ० १। पा० १। सू० २॥

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' ॥२॥ वैशेषिके अ० १। पा० १। सू० २॥

---

१. द्र०—पूर्वत्र पृ० १२१, टि० २, ३।

अनयोरर्थः—(चोदना०) वेदद्वारा या सत्यधर्माचरणस्य प्रेरणास्ति तयैव सत्यधर्मो लक्ष्यते। योऽनर्थाद् अधर्माचरणाद् बहिरस्त्यतो धर्माख्यां लब्ध्वाऽर्थो भवति। यस्येश्वरेण निषेधः क्रियते सोऽनर्थरूपत्वाद् अधर्मोऽयमिति ज्ञात्वा सर्वैर्मनुष्यैस्त्याज्य इति ॥१॥

(यतोऽभ्यु०) यस्याचरणादभ्युदयः सांसारिकमिष्टसुखं सम्यक् प्राप्तं भवति, येन च निःश्रेयसं पारमार्थिकं मोक्षसुखं च, स एव धर्मो विज्ञेयः, अतो विपरीतो ह्यधर्मश्च। इदमपि वेदानामेव व्याख्यानमस्ति[1] ॥२॥

इत्यनेकमन्त्रप्रमाणसाक्ष्यादि[भिर्] धर्मोपदेशो वेदेष्वीश्वरेण सर्वमनुष्यार्थमुपदिष्टोऽस्ति, एक एवायं सर्वेषां धर्मोऽस्ति, नैव चास्माद् द्वितीयोऽस्तीति वेदितव्यम्।

—: इति वेदोक्तधर्मविषयः संक्षेपतः समाप्तः :—

भाषार्थ—(चोदना०) ईश्वर ने वेदों में मनुष्यों के लिये जिसके करने की आज्ञा दी है, वही 'धर्म', और जिसके करने की प्रेरणा नहीं की है, वह 'अधर्म' कहाता है। परन्तु वह धर्म अर्थयुक्त अर्थात् अधर्म का आचरण जो अनर्थ है उससे अलग होता है। इससे धर्म का ही जो आचरण करना है, वही मनुष्यों में मनुष्यपन है ॥१॥

(यतोऽभ्यु०) जिसके आचरण करने से संसार में उत्तम सुख और निःश्रेयस अर्थात् मोक्षसुख की प्राप्ति होती है, उसी का नाम धर्म है। यह भी वेदों की व्याख्या है ॥२॥

इत्यादि अनेक मन्त्रों के प्रमाणों और ऋषिमुनियों की साक्षियों से यह धर्म का उपदेश किया है कि सब मनुष्यों को इसी धर्म के काम करना उचित है। इससे विदित हुआ कि सब मनुष्यों के लिये धर्म और अधर्म एक ही हैं, दो नहीं। जो कोई इसमें भेद करे, तो उसको अज्ञानी और मिथ्यावादी ही समझना चाहिये।

❀ इति वेदोक्तधर्म-विषयः संक्षेपतः ❀



१. शाखाब्राह्मणारण्यकोपनिषदो वेदव्याख्यानार्थमेव प्रवृत्ता इति सार्वजनीनो राद्धान्तः। अङ्गोपाङ्गान्यपि परम्परया वेदव्याख्यानार्थं प्रवृत्तानीति तत्रभवान् ग्रन्थकारो मनुते। अत एव स 'भाष्यकरणशङ्कासमाधानादिविषये' वक्ष्यति—'यानि पाणिनिपतञ्जलियास्कादिमहर्षिभिश्च वेदव्याख्यानानि वेदाङ्गानि कृतानि, एवमेव जैमिन्यादिभिर्वेदोपाङ्गाख्यानि षट् शास्त्राणि, एवमुपवेदाख्यानि' इति।

अथ सृष्टिविद्याविषयः संक्षेपतः

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥१॥

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥२॥

तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥३॥

कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥४॥

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त् ।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात् ॥५॥

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ॥६॥

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥७॥

ऋ० अ० ८ । अ० ७ । व० १७ ॥[1]

भाष्यम्—एतेषामभिप्रायार्थः—यदिदं सकलं जगद् दृश्यते, तत् परमेश्वरेणैव सम्यग् रचयित्वा संरक्ष्य प्रलयावसरे वियोज्य च विनाश्यते । पुनः पुनरेवमेव सदा क्रियत इति ।

(नासदासी०) यदा कार्यं जगन्नोत्पन्नमासीत् तदाऽसत् सृष्टेः प्राक् शून्यमाकाशमपि

---

१. मन्त्र १-७ । नैवेह मन्त्रसंख्याया अतीव प्रयोजनम्, सप्तदशे वर्गे सप्तानामेव मन्त्राणां भावात् । मण्डलक्रमानुसारं १०।१२९।१-७ संख्या ज्ञेया ।

नासीत्[1]। कुतः ? तद्व्यवहारस्य वर्त्तमानाभावात्[2]। (नो सदासीत्तदानीं) तस्मिन्काले सत् प्रकृत्यात्मकमव्यक्तं सत्संज्ञकं यज्जगत्कारणं, तदपि नो आसीन्नावर्त्तत[3]। (नासीद्र०) परमाणवोऽपि नासन्[3]। (नो व्योमापरो यत्) व्योमाकाशम्[4] अपरं यस्मिन् विराडाख्ये, सोऽपि नो आसीत्। किन्तु परब्रह्मणः सामर्थ्याख्यमतीव सूक्ष्मं सर्वस्यास्य परमकारणसंज्ञकमेव[5] तदानीं समवर्त्तत। (किमावरीवः०) यत्प्रातः कुहकस्यावर्षाकाले[6] धूमाकारेण वृष्टं किञ्चिज्जलं वर्त्तमानं भवति, यथा नैतज्जलेन पृथिव्यावरणं भवति नदीप्रवाहादिकं च चलति, अत एवोक्तं तज्जलं गहनं गभीरं किं भवति ? नेत्याह। किन्त्वावरीव आवरकमाच्छादकं भवति? नैव कदाचित्, तस्यातीवाल्पत्वात्। तथैव सर्वं जगत् तत्सामर्थ्यादुत्पद्यास्ति। तच्छर्मणि शुद्धे ब्रह्मणि किं गहनं गभीरमधिकं भवति ? नेत्याह। अतस्तद् ब्रह्मणः कदाचिन्नैवावरकं भवति। कुतः ? जगतः किञ्चिन्मात्रत्वाद् ब्रह्मणोऽनन्तत्वाच्च ॥१॥

न मृत्युरासीदित्यादिकं सर्वं सुगमार्थम्, एषामर्थं भाष्ये वक्ष्यामि ॥[२–६॥]

(इयं विसृष्टिः) यतः परमेश्वरादियं प्रत्यक्षा विसृष्टिर्विविधा सृष्टिराबभूवोत्पन्नासीदस्ति। तां स एव दधे धारयति रचयति, यदि वा विनाशयति, यदि वा न रचयति। योऽस्य सर्वस्याध्यक्षः स्वामी, (परमे व्योमन्) तस्मिन् परमाकाशात्मनि परमे प्रकृष्टे व्योमवद् व्यापके परमेश्वर एवेदानीमपि सर्वा सृष्टिर्वर्त्तते। प्रलयावसरे सर्वस्यादिकारणे परब्रह्मसामर्थ्ये प्रलीना च भवति। (सोऽध्यक्षः) स सर्वाध्यक्षः परमेश्वरोऽस्ति। (अङ्ग वेद) हे अङ्ग मित्र जीव ! तं यो वेद स विद्वान् परमानन्दमाप्नोति। यदि तं सर्वेषां मनुष्याणां परमिष्टं सच्चिदानन्दादिलक्षणं नित्यं कश्चिन्नैव वेद, वा निश्चयार्थे, स परमं सुखमपि नाप्नोति ॥७॥

भाषार्थ—(नासदासीत्) जब यह कार्य-सृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी, तब एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर और दूसरा जगत् का कारण अर्थात् जगत् बनाने की सामग्री विराजमान थी। उस

१. अस्मिन् सूक्ते त्रिष्वपि जगत्कारणेषु ब्रह्मणः प्राधान्यमुच्यते, तस्य सर्वाध्यक्षत्वात्। नान्ययोः सत्तायाः प्रतिषेधेऽस्य सूक्तस्य तात्पर्यम्। एतच्च जैमिनीयदर्शनस्य प्रथमाध्यायस्य चतुर्थपादस्य षोडशाधिकरणन्यायेन स्पष्टम्। तत्र हि 'अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः' (तै० सं० ५।२।६) इत्यादिवचनानां विचारं प्रस्तुत्य 'गोऽश्वान् प्रशंसयितुमन्येषां निन्दा' इति भाष्यकृता सिद्धान्तितम्। अत एवेह ग्रन्थकृताऽपि 'तद्व्यवहारस्य वर्त्तमानाभावात्' इति तन्निषेधे कारणमुक्तम्। इदं च कारणं उत्तरत्राप्यनुषञ्जनीयम्।

२. कारणमिदमुत्तरप्रतिषेधेष्वपि योजनीयम्। ३. इहापि 'तद्व्यवहारस्य वर्त्तमानाभावात्' इत्यनुषञ्जनीयम्। ४. पूर्वत्र 'असद्' पदव्याख्याने 'शून्यमाकाशमपि नासीत्' इत्युक्तमिहापि 'व्योमाकाशमपरम्' इत्युक्तम्। उभयत्राकाशाभावस्योक्तत्वात् पुनरुक्तिदोष-परिहाराय पूर्वत्र शून्यमाकाशमित्यत्र आकाशपदमवकाशपरम्, इह चाकाशं भूतपरं व्याख्येयम्।

५. नह्यत्र 'एव' पदमन्यकारणानां व्यावृत्त्यर्थं प्रवृत्तम्, अपितु परब्रह्मरूपकारणस्य प्राधान्यं द्योतयितुमुपात्तम्। एतच्च 'अतीव सूक्ष्मं सर्वस्यास्य परमकारणसंज्ञकम्' पदानामिहोपादानात् प्रतीयते। इह च 'सामर्थ्य'-शब्देन सर्वशक्तिमतः शक्तिरेवोच्यते।

६. वै० य० मुद्रितेषु ६,७,८ संस्करणेषु शताब्दीसंस्करणे च 'कुहकस्य वर्षाकाले' इत्यपपाठः। पं० सुखदेवेनाप्येषाऽशुद्धिर्नापमृष्टा।

समय असत् शून्य नाम आकाश अर्थात् जो नेत्रों से देखने में नहीं आता, सो भी नहीं था। क्योंकि उस समय उसका व्यवहार नहीं था[1]। (नो सदासीत्तदानीं) उस काल में 'सत्' अर्थात् सतोगुण रजोगुण और तमोगुण मिलाके जो 'प्रधान' कहाता है, वह भी नहीं था। (नासीद्रजः) उस समय परमाणु भी नहीं थे। तथा (नो व्यो०) विराट् अर्थात् जो सब स्थूल जगत् के निवास का स्थान है, सो भी नहीं था[2]। (किमा०) जो यह वर्तमान जगत् है, वह भी अनन्त शुद्ध ब्रह्म को नहीं ढाक सकता, और उससे अधिक वा अथाह भी नहीं हो सकता, जैसे कोहरा का जल पृथिवी को नहीं ढाक सकता है, उस जल से नदी में प्रवाह भी नहीं चल सकता, और न वह कभी गहरा वा उथला हो सकता है। इससे क्या जाना जाता है कि परमेश्वर अनन्त है, और जो यह उसका बनाया जगत् है, सो ईश्वर की अपेक्षा से कुछ भी नहीं है ॥१॥

(न मृत्यु०) जब जगत् नहीं था, तब मृत्यु भी नहीं था। क्योंकि जब स्थूल जगत् संयोग से उत्पन्न होके वर्त्तमान हो, पुनः उसका और शरीर आदि का वियोग हो, तब मृत्यु कहावे। सो शरीर आदि पदार्थ उत्पन्न[3] ही नहीं हुए थे।

'न मृत्यु०' इत्यादि पांच[4] मन्त्र सुगमार्थ हैं। इसलिये इनकी व्याख्या भी यहां नहीं करते, किन्तु वेदभाष्य में करेंगे ॥[२–६॥]

(इयं विसृष्टिः०) जिस परमेश्वर के रचने से जो यह नाना प्रकार का जगत् उत्पन्न हुआ है, वही इस जगत् को धारण करता, नाश करता और मालिक भी है। हे मित्र लोगो! जो मनुष्य उस परमेश्वर को अपनी बुद्धि से जानता है, वही परमेश्वर को प्राप्त होता है। और जो उसको नहीं जानता, वही दुःख में पड़ता है। जो आकाश के समान व्यापक है, उसी ईश्वर में सब जगत्

---

१. 'व्यवहार नहीं था' इस कारण का सम्बन्ध आगे भी प्रकृति और परमाणुओं के अभाव-बोधक वाक्यों के साथ जोड़ें।

इस सारे सूक्त में जगत् की उत्पत्ति के प्रधान कारणों में से परब्रह्मरूप निमित्त कारण की प्रधानता दर्शाई है। यह प्रधानता इस सूक्त के अन्तिम मन्त्र **'इयं विसृष्टिर्यत आबभूव'** से स्पष्ट है। अनेक व्याख्याकार इस सूक्त में **सत् असत्** आदि के निषेध से यह दर्शाना चाहते हैं कि यह सारा जगत् ईश्वर से ही उत्पन्न हुआ है, प्रकृति आदि जगत् का उपादान कारण नहीं है। वस्तुतः यह विचारधारा शास्त्र-विपरीत है। मीमांसा दर्शन (१।४ अ० १२) के **'प्रशंसा'** सूत्र में **'अयज्ञो वा एष असामा'**; **'अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः; पशवो गोअश्वाः'** आदि वाक्यों पर विचार करते हुए सिद्धान्त किया है कि विधेय 'सामयुक्त यज्ञ' की प्रशंसा के लिए सामरहित यज्ञ की निन्दा=हीनता दर्शाई है। इसी प्रकार प्रकृत सूक्त में **'नासदासीन्नो सदासीत्'**, इत्यादि में सत् असत् के अभाव का निर्देश परब्रह्म की जगदुत्पादक शक्ति की प्रशंसा वा प्रधानत्व द्योतन के लिए है, न कि सत् प्रकृति आदि के सर्वथा निषेध करने के लिए। मीमांसकों का न्याय है—**नहि निन्दा निन्दितुं प्रवर्ततेऽपितु विधेयं स्तोतुम्'**। इसी प्रकार यहां भी समझें—**'नहि सदादिप्रतिषेधस्तान् प्रतिषेद्धुं प्रवृत्तः, अपितु परब्रह्म प्रशंसयितुम्, तस्य प्रधानत्वं द्योतयितुं वा।'**

२. यह भाषा संस्कृतानुसारी नहीं है।

३. 'उत्पन्न' पद वै० य० मुद्रित सं० १-८ तक है, सं० ९ में नष्ट हुआ है।

४. 'पांच' पद वै० य० मुद्रित सं० ९ में नहीं है, १-८ तक मिलता है।

निवास करता है। और जब प्रलय होता है, तब भी सब जगत् कारणरूप होके ईश्वर के सामर्थ्य में रहता है, और फिर भी उसी से उत्पन्न होता है ॥७॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१॥

ऋ० अ० ८। अ० ७। व० ३। मं० १ ॥[1]

भाष्यम्—(हिरण्यगर्भः०) अग्रे सृष्टेः प्राग्घिरण्यगर्भः परमेश्वरो जातस्यास्योत्पन्नस्य जगत एकोऽद्वितीयः पतिरेव समवर्त्तत। स पृथिवीमारभ्य द्युपर्य्यन्तं सकलं जगद् रचयित्वा (दाधार) धारितवानस्ति। तस्मै सुखस्वरूपाय देवाय हविषा वयं विधेमेति ॥१॥

भाषार्थ—(हिरण्यगर्भः०) हिरण्यगर्भ जो परमेश्वर है, वही एक सृष्टि के पहिले वर्त्तमान था। जो इस सब जगत् का स्वामी है, और वही पृथिवी से लेके सूर्यपर्यन्त सब जगत् को रचके धारण कर रहा है। इसलिये उसी सुखस्वरूप परमेश्वर देव की ही हम लोग उपासना करें, अन्य की नहीं ॥१॥

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं सर्वत स्पृत्वात्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम् ॥१॥ य० अ० ३१। मं० १ ॥



भाष्यम्—(सहस्रशीर्षा०) अत्र मन्त्रे पुरुष इति पदं विशेष्यमस्ति, सहस्रशीर्षेत्यादीनि विशेषणानि च। अत्र पुरुषशब्दार्थे प्रमाणानि—

'पुरुषं पुरिशय इत्याचक्षीरन् ॥' निरु० अ० १। खं० १३ ॥

(पुरि०) पुरि[2] संसारे शेते सर्वमभिव्याप्य वर्त्तते, स पुरुषः परमेश्वरः।

"पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः पूरयतेर्वा। पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य—'यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चित् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किंचित्[3]। वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण[4] सर्वम्' इत्यपि निगमो भवति ॥" निरु० अ० २। खं० ३ ॥

(पुरुषः) पुरि सर्वस्मिन् संसारेऽभिव्याप्य सीदति वर्त्तत इति। (पूरयतेर्वा) यः स्वयं परमेश्वर इदं सर्वं जगत् स्वस्वरूपेण पूरयति व्याप्नोति तस्मात् स पुरुषः। (अन्तरिति०) यो जीवस्याप्यन्तर्मध्येऽभिव्याप्य पूरयति तिष्ठति सः पुरुषः। तमन्तरपुरुषमन्तर्यामिनं परमेश्वर-

१. ऋ० १०।१२१।१॥
२. 'पुरि' पदं वै० य० मुद्रितेषु १–९ संस्करणेषु विद्यते।
३. निरुक्ते तै० आरण्यके (१०।१०) च 'कश्चित्' पाठ उपलभ्यते।
४. निरुक्ते तै० आरण्यके (१०।१०) च 'पुरुषेण' पाठ उपलभ्यते।

मभिप्रेत्येयमृक् प्रवृत्तास्ति—(यस्मात् पर०) यस्मात् पूर्णात् परमेश्वरात् पुरुषाख्यात् परं प्रकृष्ट-मुत्तमं किञ्चिदपि वस्तु नास्त्येव पूर्वं वा, (नापरमस्ति) यस्मादपरमर्वाचीनं तत्तुल्यमुत्तमं वा किञ्चिदपि वस्तु नास्त्येव। तथा यस्मादणीयः सूक्ष्मं, ज्यायः स्थूलं महद् वा किञ्चिदपि द्रव्यं न भूतं, न भवति, नैव च भविष्यतीत्यवधेयम्। य[1] स्तब्धो निष्कम्पः सर्वस्यास्थिरतां[2] कुर्वन् सन् स्थिरोऽस्ति। क इव ? (वृक्ष इव) यथा वृक्षः शाखापत्रपुष्पफलादिकं धारयन् तिष्ठति, तथैव पृथिवी-सूर्यादिकं सर्वं जगद् धारयन् परमेश्वरोऽभिव्याप्य स्थितोऽस्तीति। यश्चैकोऽद्वितीयोऽस्ति, नास्य कश्चित् सजातीयो विजातीयो वा द्वितीय ईश्वरोऽस्तीति। तेन पुरिषेण पुरुषेण परमात्मना यत इदं सर्वं जगत् पूर्णं कृतमस्ति, तस्मात् पुरुषः परमेश्वर एवोच्यते। इत्यत्र मन्त्रो निगमो निगमनं परं प्रमाणं[3] भवतीति वेदितव्यम्।

'सर्वं वै सहस्रं सर्वस्य दातासी'त्यादि ॥ श० कां ७। अ० ५ ॥[4]

(सर्वं०) सर्वमिदं जगत् सहस्रनामकमस्तीति विज्ञेयम्[5]।

(सहस्रशी०) सहस्राण्यसंख्यातान्यस्मदादीनां शिरांसि यस्मिन् पूर्णे पुरुषे परमात्मनि स सहस्रशीर्षा पुरुषः, (सहस्राक्षः स०) अस्मदादीनां सहस्राण्यक्षीणि यस्मिन्[6], एवमेव सहस्राण्य-संख्याताः पादाश्च यस्मिन् वर्त्तन्ते स सहस्राक्षः सहस्रपाच्च। (स भूमिं सर्वत स्पृत्वा) स पुरुषः परमेश्वरः सर्वतः सर्वेभ्यो बाह्यान्तर्देशेभ्यो, भूमिरिति भूतानामुपलक्षणं, भूमिमारभ्य प्रकृतिपर्यन्तं सर्वं जगत् स्पृत्वाभिव्याप्य वर्त्तते। (अत्य०) दशाङ्गुलमिति ब्रह्माण्डहृदययो[7]रुपलक्षणम्। अङ्गुलमित्यवयवोपलक्षणेन मितस्य जगतोऽत्र ग्रहणं भवति। पञ्च स्थूलभूतानि, पञ्च सूक्ष्माणि चैतदुभयं मिलित्वा दशावयवाख्यं सकलं जगदस्ति। अन्यच्च, पञ्च प्राणाः सेन्द्रियं चतुष्टयमन्तः-करणं दशमो जीवश्च। एवमेवान्यदपि जीवस्य हृदयं दशाङ्गुलपरिमितं च तृतीयं गृह्यते। एतत् त्रयं स्पृत्वा व्याप्यात्यतिष्ठत्। एतस्मात् त्रयाद् बहिरपि व्याप्तः सन्नवस्थितः। अर्थाद् बहिरन्तश्च पूर्णो भूत्वा परमेश्वरोऽवतिष्ठत इति बोध्यम् ॥ [१॥]

भाषार्थ—(सहस्रशी०) इस मन्त्र में पुरुष शब्द विशेष्य और अन्य सब पद उसके विशेषण हैं। 'पुरुष' उसको कहते हैं कि जो इस सब जगत् में पूर्ण हो रहा है, अर्थात् जिसने अपनी व्यापकता से इस जगत् को पूर्ण कर रक्खा है। 'पुर्' कहते हैं ब्रह्माण्ड और शरीर को, उसमें जो सर्वत्र व्याप्त, और जो जीव के भीतर भी व्यापक अर्थात् अन्तर्यामी है। इस अर्थ में निरुक्त आदि का प्रमाण संस्कृत-भाष्य में लिखा है, सो देख लेना।

---

१. वै० य० मुद्रिते प्रथमे संस्करणे 'यस्तब्धो' इत्येवं सांहितिकः पाठः। सं० २–८ 'यः स्तब्धो' इत्येवं पाठः। 'खर्परे शरि वा लोपो वक्तव्यः' (महा० ८।३।३६) इति वार्त्तिकेन विसर्गलोपोऽत्र ज्ञेयः।

२. सर्वान् लोकान् स्वस्वकक्षायां भ्रामयन्नित्यर्थः।

३. पुरुषशब्दार्थ इति शेषः।

४. शत० ७।५।२।१३॥

५. अयं विषयः सप्रमाणं पूर्वत्र (पृष्ठ ९६) निदर्शितः।

६. वै० य० मुद्रितेषु १–६ संस्करणेषु 'सहस्राण्यक्षीण्यस्मिन्' पाठः। सहस्रशीर्षा सहस्रपात् पदयो-र्व्याख्याने 'यस्मिन्' पददर्शनादस्माभिरस एव स्वीकृतः।

७. शताब्दीसंस्करणं विहाय सर्वेषु वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'ब्रह्माण्डहृदयोरु०' इत्यपपाठः।

'सहस्र' नाम है संपूर्ण जगत् का, और असंख्यात का भी नाम है। सो जिसके बीच में सब जगत् के असंख्यात शिर आंख और पग ठहर रहे हैं, उसको 'सहस्रशीर्षा' 'सहस्राक्ष' और 'सहस्रपात्' भी कहते हैं, क्योंकि वह अनन्त है। जैसे आकाश के बीच में सब पदार्थ रहते और आकाश सबसे अलग रहता है, अर्थात् किसी के साथ बन्धता नहीं है, इसी प्रकार परमेश्वर को भी जानो। (स भूमिꣳ सर्वतः स्पृत्वा) सो पुरुष सब जगह से पूर्ण होके पृथिवी को तथा सब लोकों को धारण कर रहा है। (अत्यतिष्ठद्०) 'दशाङ्गुल' शब्द ब्रह्माण्ड और हृदय का वाची है। अङ्गुलि शब्द अङ्ग का अवयववाची है, [सो अवयव के उपलक्षण से नपे हुए जगत् का यहां ग्रहण होता है]। पांच स्थूल भूत और पांच सूक्ष्म ये दोनों मिलके जगत् के दश अवयव होते हैं। तथा पांच प्राण, मन बुद्धि चित्त और अहंकार ये चार, और दशमा जीव और शरीर में जो हृदयदेश है, सो भी दश अङ्गुल के प्रमाण से लिया जाता है। जो इन तीनों में व्यापक होके इनके चारों ओर भी परिपूर्ण हो रहा है, इससे वह 'पुरुष' कहाता है। क्योंकि जो उस [तीनों प्रकार के] दशाङ्गुल स्थान का भी उल्लङ्घन करके सर्वत्र स्थिर है, वही सब जगत् का बनानेवाला है ॥१॥

पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥२॥

भाष्यम्—(पुरुष एवे०) एतद्विशेषणयुक्तः पुरुषः परमेश्वरः। (यद् भूतम्) यज्जगदुत्पन्नमभूत् यद् भाव्यमुत्पत्स्यमानं चकाराद् वर्त्तमानं च, तत् त्रिकालस्थं सर्वं विश्वं पुरुष एव कृतवानस्ति, नान्यः। नैवातो हि परः कश्चिज्जगद्रचयितास्तीति निश्चेतव्यम्। उतापि स एवेशान ईषणशीलः, सर्वस्येश्वरोऽमृतत्वस्य मोक्षभावस्य स्वामी दातास्ति। नैवैतद्दाने[1] कस्याप्यन्यस्य सामर्थ्यमस्तीति। पुरुषो यद्यस्मादन्नेन[2] पृथिव्यादिना जगता सहातिरोहति व्यतिरिक्तः सन् जन्मादिरहितोऽस्ति, तस्मात् स्वयमजः सन् सर्वं जनयति, स्वसामर्थ्याद्विकारणात् कार्यं जगदुत्पादयति। नास्यादिकारणं किञ्चिदस्ति। किञ्च, सर्वस्यादिनिमित्तकारणं पुरुष एवास्तीति वेद्यम् ॥२॥

भाषार्थ—(पुरुष एवे०) जो पूर्वोक्त विशेषण सहित पुरुष अर्थात् परमेश्वर है, सो जो जगत् उत्पन्न हुआ था, जो होगा, और जो इस समय में है, इस तीन प्रकार के जगत् को वही रचता है। उससे भिन्न कोई दूसरा जगत् रचनेवाला नहीं है। क्योंकि वह (ईशानः) अर्थात् सर्वशक्तिमान् है। (अमृत०) [अमृत] जो मोक्ष है उसका देनेवाला एक वही है, दूसरा कोई नहीं। सो परमेश्वर (अन्ने०) अर्थात् पृथिव्यादि जगत् के साथ व्यापक होके स्थित है, और इससे अलग भी है। क्योंकि उसमें जन्म आदि व्यवहार नहीं है। और अपनी सामर्थ्य से सब जगत् को उत्पन्न भी करता है, और आप कभी जन्म नहीं लेता। [इस का आदि कारण कोई नहीं है। और भी, सबका आदि निमित्त कारण पुरुष ही है, ऐसा जानना चाहिये] ॥२॥

१. वै० य० मुद्रितयोरष्टमनवमयोः संस्करणयोः 'नैवेतद्दाने' इत्यपपाठः।
२. 'यद् यस्मादनेन' इति वै० य० मुद्रिते नवमसंस्करणेऽपपाठः।

एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥३॥

भाष्यम्—(एतावानस्य०) अस्य पुरुषस्य भूतभविष्यद्वर्त्तमानस्थो यावान् संसारोऽस्ति, तावान्महिमा वेदितव्यः । एतावानस्य महिमाऽस्ति चेत्तर्हि तस्य महिम्नः परिच्छेद इयत्ता जातेति गम्यते ? अत्र ब्रूते—(अतो ज्यायांश्च पूरुषः) नैतावन्मात्र एव महिमेति । किं तर्हि ? अतोऽप्यऽधिकतमो महिमानन्तस्तस्यास्तीति गम्यते । अत्राह—(पादोऽस्य) अस्यानन्तसामर्थ्यस्येश्वरस्य (विश्वा०) विश्वानि प्रकृत्यादिपृथिवीपर्यन्तानि सर्वाणि भूतान्येकः पाद ऽस्ति, एकस्मिन्देशांशे सर्वं विश्वं वर्त्तते । (त्रिपादस्या०) अस्य दिवि द्योतनात्मके स्वस्वरूपेऽमृतं मोक्षसुखमस्ति, तथाऽस्य दिवि द्योतके संसारे त्रिपाज्जगद्[1] अस्ति । प्रकाश्यमानं जगदेकगुणमस्ति, प्रकाशकं च तस्मात्त्रिगुणमिति । स्वयं च मोक्षस्वरूपः, सर्वाधिष्टाता, सर्वोपास्यः, सर्वानन्दः, सर्वप्रकाशकोऽस्ति ॥३॥

भाषार्थ—(एतावानस्य०) तीनों काल में जितना संसार है, सो सब इस पुरुष का ही महिमा है । प्र०—जब उसके महिमा का परिमाण है, तो अन्त भी होगा ? उ०—(अतो ज्यायांश्च पूरुषः) उस पुरुष का अनन्त महिमा है । क्योंकि (पादोऽस्य विश्वा भूतानि) जो यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित हो रहा है, सो इस पुरुष के एकदेश में बसता है । (त्रिपादस्यामृतं दिवि) और जो प्रकाशगुणवाला जगत् है, सो उससे तिगुना है । तथा मोक्षसुख भी उसी [पुरुष के द्योतनात्मक] ज्ञानस्वरूप प्रकाश में है, और वह पुरुष सब प्रकाश का भी प्रकाश करनेवाला है ॥३॥

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः ।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि ॥४॥

भाष्यम्—(त्रिपादू०) अयं पुरुषः परमेश्वरः पूर्वोक्तस्य [2]त्रिपादुपलक्षितस्य सकाशाद् ऊर्ध्वमुपरिभागेऽर्थात् पृथग्भूतोऽस्त्येवेत्यर्थः । [2]एकपादुपलक्षितं यत्पूर्वोक्तं जगदस्ति, तस्मादपीहास्मिन् संसारे स पुरुषः पृथगभवत् व्यतिरिक्त एवास्ति । स च त्रिपात् संसार एकपाच्च मिलित्वा सर्वश्चतुष्पाद्भवति । अयं सर्वः संसार इहास्मिन् परमात्मन्येव वर्त्तते, पुनर्लयसमये तत्सामर्थ्यकारणे प्रलीनश्च भवति । तत्रापि स पुरुषोऽविद्यान्धकाराज्ञानजन्ममरणज्वरादिदुःखाद् ऊर्ध्वः परः(उदैत्) उदितः प्रकाशितो वर्त्तते । (ततो वि०) ततस्तत्सामर्थ्यात् सर्वमिदं विश्वमुत्पद्यते । किंच तत् ? (साशनानशने०) यदेकमशनेन भोजनकरणेन सह वर्तमानं जङ्गमं जीवचेतनादिसहितं जगत्,

१. 'त्रिपादज्जगद्' इति वै० य० मुद्रिते नवमसंस्करणेऽपपाठः ।

२. वै० य० मुद्रिते प्रथमसंस्करणे 'त्रिपादोपलक्षितस्य', 'एकपादोपलक्षितं' पाठयोः संशोधनपत्रे 'त्रिपादुप०' 'एकपादुप०' संशोधनं विहितम् । तदनुसारं पञ्चमसंस्करणपर्यन्तं शुद्धः पाठो मुद्रितः । तदनु शताब्दीसंस्करणसंशोधकेन विश्वनाथवेदोपाध्यायेन प्रथमसंस्करणस्य संशोधनपत्रमदृष्ट्वैव तत्र मुद्रितोऽपपाठः पुनर्निवेशितः । तदनुसारमेव षष्ठसप्तमाष्टमसंस्करणेष्वशुद्धः पाठ उपलभ्यते ।

द्वितीयमनशनमविद्यमानमशनं भोजनं यस्मिंस्तत् पृथिव्यादिकं च यज्जडं जीवसम्बन्धरहितं जगद् वर्त्तते, तदुभयं तस्मात् पुरुषस्य सामर्थ्यकारणादेव जायते। यतः स पुरुष एतद् द्विविधं जगत् विविधतया सुष्ठुरीत्या सर्वाभितयाऽञ्चति, तस्मात् सर्वं द्विविधं जगदुत्पाद्य (अभिव्यक्रामत्) सर्वतो व्याप्तवानस्ति ॥४॥

भाषार्थ—(त्रिपादूर्ध्वं उदैत् पु०) पुरुष जो परमेश्वर है, सो पूर्वोक्त त्रिपाद् जगत् से ऊपर भी व्यापक हो रहा है, तथा सदा प्रकाशस्वरूप, सबके भीतर व्यापक, और सबसे अलग भी है। (पादोऽस्येहाभवत् पुनः) इस पुरुष की अपेक्षा से यह सब जगत् किंचित्मात्र देश में है। और जो इस संसार के चार पाद होते हैं, वे सब परमेश्वर के बीच में ही रहते हैं। इस स्थूल जगत् का जन्म और विनाश सदा होता रहता है, और पुरुष तो जन्म-विनाश आदि धर्म से अलग और सदा प्रकाशमान है। (ततो विष्वङ् व्यक्रामत्) अर्थात् यह नाना प्रकार का जगत् उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है। (साशनान०) सो दो प्रकार का है—एक चेतन, जो कि भोजनादि के लिये चेष्टा करनेवाला[1] जीव-संयुक्त है। और दूसरा अनशन, अर्थात्[2] जो जड़, भोजन के लिये चेष्टा न करनेवाला जीव-संबन्धरहित पृथिव्यादिक जड़ जगत् है, वह दोनों प्रकार का जगत् उस पुरुष के अनन्त सामर्थ्य से ही उत्पन्न होता है[2]। सो पुरुष सर्वहितकारक होके उस दो प्रकार के जगत् को अनेक प्रकार से आनन्दित करता है। वह पुरुष इसका बनानेवाला, संसार में सर्वत्र व्यापक होके, धारण करके देख रहा, और वही सब जगत् का सब प्रकार से आकर्षण कर रहा है ॥४॥

ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः ॥५॥

भाष्यम्—(ततो विराडजायत) ततस्तस्माद् ब्रह्माण्डशरीरः सूर्य्यचन्द्रनेत्रो वायुप्राणः पृथिवीपाद इत्याद्यलङ्कारलक्षणलक्षितो[3] हि सर्वशरीराणां समष्टिदेहो, विविधैः पदार्थै राजमानः सन् विराड् अजायतोत्पन्नोऽस्ति। (विराजो अधिपूरुषः) तस्माद् विराजोऽधि उपरि पश्चाद् ब्रह्माण्डतत्त्वावयवैः पुरुषः, सर्वप्राणिनां जीवाधिकरणो देहः, पृथक् पृथक् अजायतोत्पन्नोऽभूत्। (स जातो अ०) स देहो ब्रह्माण्डावयवैरेव वर्धते, नष्टः संस्तस्मिन्नेव प्रलीयत इति। परमेश्वरस्तु सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽत्यरिच्यतातिरिक्तः पृथग्भूतोऽस्ति। (पश्चाद् भूमिमथो पुरः) पुरः पूर्वं भूमिमुत्पाद्य धारितवांस्ततः पुरुषस्य सामर्थ्यात् स जीवोऽपि देहं धारितवानस्ति। स च पुरुषः परमात्मा ततस्तस्माज्जीवादप्यत्यरिच्यत पृथग्भूतोऽस्ति ॥५॥

---

१. वै० य० मुद्रित में 'चेष्टा करता और जीव' पाठ है।

२. वै० य० मुद्रित में 'अर्थात् जो जड़ भोजन के लिये बना है, क्योंकि उसमें ज्ञान नहीं है, और अपने आप चेष्टा भी नहीं कर सकता। परन्तु उस पुरुष का अनन्त सामर्थ्य ही इस जगत् के बनाने की सामग्री है, कि जिससे यह सब जगत् उत्पन्न होता है' पाठ है। यह भ्रष्ट अनुवाद है।

३. द्रष्टव्यं पूर्वत्र पञ्चमषष्ठयोः पृष्ठयोः 'यस्य भूमिः प्रमा' इत्यादयो मन्त्राः तेषामर्थश्च।

भावार्थ—(ततो विराडजायत) विराट्, जिसका ब्रह्माण्ड के अलङ्कार से वर्णन किया है[1], जो उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है, जिसको मूलप्रकृति कहते हैं, जिसका शरीर ब्रह्माण्ड के समतुल्य, जिसके सूर्य्य-चन्द्रमा नेत्रस्थानी हैं, वायु जिसका प्राण और पृथिवी जिसका पग है, इत्यादि लक्षणवाला जो यह[2] समष्टि देह है, सो 'विराट्' कहाता है। वह प्रथम कलारूप परमेश्वर के सामर्थ्य से उत्पन्न होके प्रकाशमान हो रहा है। (विराजो अधि०) उस विराट्[3] के पश्चात् ब्रह्माण्ड के तत्त्वरूप अवयवों से सब अप्राणी और प्राणियों का देह पृथक्-पृथक् उत्पन्न हुआ है। जिसमें सब जीव वास करते हैं, और जो देह उसी पृथिवी आदि के अवयव अन्न आदि ओषधियों से वृद्धि को प्राप्त होता है, (स जातो अत्यरिच्यत) सो विराट् परमेश्वर से अलग, और परमेश्वर भी इस संसाररूप देह से सदा अलग रहता है। (पश्चाद् भूमिमथो पुरः) फिर भूमि आदि जगत् को प्रथम उत्पन्न करके पश्चात् जो धारण कर रहा है ॥५॥

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम् ।
पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ॥६॥

भाष्यम्—(तस्माद्य०) अस्यार्थो वेदोत्पत्तिप्रकरणे कश्चिदुक्तः[4]। तस्मात् परमेश्वरात् (संभृतं पृषदाज्यम्) 'पृषु सेचने' धातुः, पर्षन्ति सिञ्चन्ति क्षुन्निवृत्त्यादिकारकमन्नादि वस्तु यस्मिंस्तत् पृषत्, आज्यं घृतं मधु दुग्धादिकं च। पृषदिति भक्ष्यान्नोपलक्षणम्§, आज्यमिति व्यञ्जनोपलक्षणम्। यावद् वस्तु जगति वर्त्तते तावत् सर्वं पुरुषात् परमेश्वरसामर्थ्यादेव जातमिति बोध्यम्। तत्सर्वमीश्वरेण, स्वल्पं स्वल्पं जीवैश्च सम्यग्धारितमस्ति। अतः सर्वैरनन्यचित्तेनायं परमेश्वर एवोपास्यो नान्यश्चेति। (पशूंस्तांश्चक्रे०) य आरण्या वनस्थाः पशवो, ये च ग्राम्या ग्रामस्थास्तान् सर्वान् स एव चक्रे कृतवानस्ति। स च परमेश्वरो वायव्यान् वायुसहचरितान् पक्षिणश्चक्रे। चकारादन्यान् सूक्ष्मदेहधारिणः कीटपतङ्गादीनपि कृतवानस्ति ॥६॥

भावार्थ—(तस्माद्यज्ञात् स०) इस मन्त्र का अर्थ वेदोत्पत्तिप्रकरण में कुछ[5] कर दिया है। पूर्वोक्त पुरुष से ही (संभृतं पृषदाज्यम्) सब भोजन वस्त्र अन्न जल आदि पदार्थों को सब मनुष्य

---

§पृषदिति क्वचिदर्न्त्येष्टिसामग्र्या अपि नामास्ति। (द० स०) अत्र 'पृषदाज्यम्' इत्यपेक्ष्यते। अन्त्येष्ट्यां पृषदाज्यस्य विधानात्। तत्र दधिमिश्रितमाज्यं पृषदाज्यमित्युच्यते। तदुक्तमाश्वलायनगृह्येऽन्त्येष्टिप्रकरणे 'दधन्यत्र सर्पिरानयन्त्येतत् पित्र्यं पृषदाज्यम्' (४।१।१६)। सूत्रमिदं ग्रन्थकृताऽपि संस्कारविधावन्त्येष्टिप्रकरण उद्धृतम्। पृषदाज्यं हविरन्त्येष्ट्या अन्यत्रापि श्रौतेष्टिषु प्रयुज्यते।

१. इस अलंकार के लिये पूर्व पृष्ठ ५, ६ में 'यस्य भूमिः' आदि मन्त्र और उनके अर्थ देखने चाहिएं।

२. वै० य० मुद्रित में 'यह आकाश है' अपपाठ है।

३. वै० य० मुद्रित में 'विराट् के तत्त्वों के पूर्व भागों से सब' अपपाठ है।

४. पूर्वं ११ एकादशे पृष्ठे 'तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः०' इति मन्त्रव्याख्याने यज्ञसर्वहुत्पदयोरर्थ उक्तः।

५. इस मन्त्र में आये यज्ञ और सर्वहुत् शब्दों का अर्थ पूर्व पृष्ठ ११ में 'तस्मात् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः' मन्त्र के व्याख्यान में कर दिया है।

लोगों ने धारण अर्थात् प्राप्त किया है। क्योंकि उसीके सामर्थ्य से ये सब पदार्थ उत्पन्न हुए, और उन्हीं से सबका जीवन भी होता है। इससे सब मनुष्य लोगों को उचित है कि उसको छोड़के किसी दूसरे की उपासना न करें। (पशूं॰ तांश्चक्रे॰) ग्राम और वन के सब पशुओं को भी उसीने उत्पन्न किया है, तथा सब पक्षियों को भी बनाया है। और भी सूक्ष्मदेहधारी कीट पतङ्ग आदि सब जीवों के देह भी उसीने उत्पन्न किये हैं ॥६॥

तस्मा॑द्य॒ज्ञात्स॑र्व॒हुत॒ऽ ऋचः॒ सामा॑नि जज्ञिरे।
छन्दा॑ᳬसि जज्ञिरे॒ तस्मा॒द्यजु॒स्तस्मा॑दजायत ॥७॥

भाष्यम्—अस्यार्थ उक्तो वेदोत्पत्तिप्रकरणे[1] ॥७॥

भाषार्थ—(तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः॰) इस मन्त्र का अर्थ वेदोत्पत्ति[2]विषय में कर दिया है ॥७॥

तस्मा॒दश्वा॑ऽ अजायन्त॒ ये के चो॑भ॒याद॑तः।
गावो॑ ह जज्ञिरे॒ तस्मा॑त् तस्मा॑ज्जा॒ता ऽअ॑जा॒वयः॑ ॥८॥

भाष्यम्—(तस्मादश्वा॰) तस्मात् परमेश्वरसामर्थ्यादेवाश्वास्तुरङ्गा अजायन्त। ग्राम्यारण्यपशूनां मध्येऽश्वादीनामन्तर्भावाद् एषामुत्तमगुणवत्त्वप्रकाशनार्थो[3]ऽयमारम्भः। (ये के चोभयादतः) उभयतो दन्ता येषां त उभयादतः, ये केचिदुभयादत उष्ट्रगर्दभादयस्तेऽप्यजायन्त। (गावो ह ज॰) तथा तस्माद् पुरुषसामर्थ्यादेव गावो धेनवः किरणाश्चेन्द्रियाणि च जज्ञिरे जातानि। (तस्माज्जाता अजा॰) एवमेव चाजाश्छागा अवयश्च जाता उत्पन्ना इति विज्ञेयम् ॥८॥

भाषार्थ—(तस्मादश्वा अजायन्त) उसी पुरुष के सामर्थ्य से अश्व अर्थात् घोड़े और बिजुली[4] आदि सब पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। (ये के चोभयादतः) जिनके मुख में दोनों ओर दांत होते हैं, उन पशुओं को 'उभयादत' कहते हैं, वे ऊंट गधा आदि उसी से उत्पन्न हुए हैं। (गावो ह ज॰) उसी से गोजाति अर्थात् गाय पृथिवी किरण और इन्द्रिय उत्पन्न हुई हैं। (तस्माज्जाता अ॰) इसी प्रकार छेरी और भेड़ें भी उसी कारण से उत्पन्न हुई हैं ॥८॥

तं य॒ज्ञं ब॒र्हिषि॒ प्रौक्ष॒न् पुरु॑षं जा॒तम॑ग्र॒तः।
तेन॑ दे॒वाऽ अ॑यजन्त सा॒ध्याऽ ऋष॑यश्च॒ ये ॥९॥

१. पूर्व ११ एकादशे पृष्ठे। २. पूर्व पृष्ठ १३ पर।

३. ब्राह्मणवसिष्ठन्यायेनेत्यर्थः। अत एव ब्राह्मणे पठ्यते—'अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः' (तै॰ सं॰ ५।२।६)। अत्र 'गोऽश्वान् प्रशंसयितुमन्येषां निन्दा' इति मीमांसका मन्यन्ते (मी॰ अ॰ १, पा॰ ४, अधि॰ १६)।

४. यह 'अश्व' का अर्थ है। देखो 'गावः' का अर्थ भी।

भाष्यम्—(तं यज्ञं ब०) यमग्रतो जातं प्रादुर्भूतं, जगत्कर्त्तारं, पुरुषं पूर्णं, यज्ञं सर्वपूज्यं परमेश्वरं बर्हिषि हृदयान्तरिक्षे प्रोक्षन् प्रकृष्टतया यस्यैवाभिषेकं कृतवन्तः, कुर्वन्ति, करिष्यन्ति वेदेषूपदिश्यत ईश्वरेण, (तेन देवा०) तेन परमेश्वरेण पुरुषेण वेदद्वारोपदिष्टास्ते सर्वे देवा विद्वांसः, साध्या ज्ञानिनः, ऋषयो मन्त्रद्रष्टारश्च, ये चान्ये मनुष्यास्तं परमेश्वरमयजन्तापूजयन्त। अनेन किं सिद्धम्? सर्वे मनुष्याः परमेश्वरस्य स्तुतिप्रार्थनोपासनापुरःसरमेव सर्वकर्मानुष्ठानं कुर्युरित्यर्थः ॥९॥

भाषार्थ—(तं यज्ञं बर्हि०) जो सबसे प्रथम प्रकट था, जो सब जगत् का बनानेवाला है, और सब जगत् में पूर्ण हो रहा है, उस यज्ञ अर्थात् पूजने के योग्य परमेश्वर को जो मनुष्य हृदयरूप आकाश में अच्छे प्रकार से प्रेमभक्ति सत्य आचरण करके पूजन करता है, वही उत्तम मनुष्य है। ईश्वर का यह उपदेश सबके लिये है। (तेन देवा अयजन्त सा०) उसी परमेश्वर के वेदोक्त उपदेशों से (देवाः) जो विद्वान्, (साध्याः) जो ज्ञानी लोग, (ऋषयश्च ये) ऋषि लोग जो वेदमन्त्रों के अर्थ जाननेवाले, और अन्य भी मनुष्य जो परमेश्वर के सत्कारपूर्वक सब उत्तम ही काम करते हैं, वे ही सुखी होते हैं। क्योंकि सब श्रेष्ठ कर्मों के करने के पूर्व ही उसका स्मरण और प्रार्थना अवश्य करनी चाहिये। और दुष्टकर्म करना तो किसी को उचित ही नहीं ॥९॥

यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्येते ॥१०॥

भाष्यम्—(यत्पुरुषं व्य०) यद्यस्मादेतं पूर्वोक्तलक्षणं पुरुषं परमेश्वरं कतिधा कियत्प्रकारैः (व्यकल्पयन्) तस्य सामर्थ्यगुणकल्पनं कुर्वन्तीत्यर्थः, (व्यदधुः) तं सर्वशक्तिमन्तमीश्वरं विविधसामर्थ्यकथनेनावधुरर्थादनेकविधं तस्य व्याख्यानं कृतवन्तः, कुर्वन्ति, करिष्यन्ति च। (मुखं कि०) अस्य पुरुषस्य मुखं मुख्यगुणेभ्यः किमुत्पन्नमासीत्? (किं बाहू) बलवीर्यादिगुणेभ्यः किमुत्पन्नमासीत्? (किमूरू) व्यापारादिमध्यमैर्गुणैः किमुत्पन्नमासीत्? (पादा उच्येते) पादावर्थान्मूर्खत्वादिनीचगुणैः किमुत्पन्नं वर्त्तते? ॥१०॥

अस्योत्तरमाह—

भावार्थ—(यत्पुरुषं०) 'पुरुष' उसको कहते हैं कि जो सर्वशक्तिमान् ईश्वर कहाता है। (कतिधा व्य०) जिसके सामर्थ्य का अनेक प्रकार से प्रतिपादन करते हैं। क्योंकि उसमें चित्र विचित्र बहुत प्रकार का सामर्थ्य है। अनेक कल्पनाओं से जिसका कथन करते हैं। (मुखं किमस्यासीत्) इस पुरुष के मुख अर्थात् मुख्य गुणों से इस संसार में क्या उत्पन्न हुआ है? (किं बाहू) बल वीर्य शूरता और युद्ध आदि विद्यागुणों से इस संसार में कौन पदार्थ उत्पन्न हुआ है? (किमूरू) व्यापार आदि मध्यम गुणों से किस की उत्पत्ति हुई है? (पादा उच्येते) मूर्खपन आदि नीच गुणों से किसकी उत्पत्ति होती है? ॥१०॥

इन चारों प्रश्नों के उत्तर ये हैं कि—

'ब्राह्मणोऽस्य मुख॑मासीद् बा॒हू रा॑ज॒न्यः कृ॒तः ।
ऊ॒रू तद॑स्य॒ यद्वैश्यः॑ प॒द्भ्याᳬ शू॒द्रो अ॑जायत ॥११॥'

भाष्यम्—(ब्राह्मणोऽस्य०) अस्य पुरुषस्य मुखं ये विद्यादयो मुख्यगुणाः सत्यभाषणोपदेशादीनि कर्माणि च सन्ति, ते यो ब्राह्मण आसीद् उत्पन्नो भवतीति। (बाहू राजन्यः कृतः) बलवीर्य्यादिलक्षणान्वितो राजन्यः क्षत्रियस्तेन कृत आज्ञप्त आसीदुत्पन्नो भवति। (ऊरू तदस्य०) कृषिव्यापारादयो गुणा मध्यमास्तेभ्यो वैश्यो वणिग्जनोऽस्य पुरुषस्योपदेशाद् उत्पन्नो भवतीति वेद्यम्। (पद्भ्यां शूद्रो०) पद्भ्यां [1]'पादेन्द्रियनीचत्वमर्थाज्जडबुद्धित्वादिगुणेभ्यः शूद्रः सेवागुणविशिष्टः पराधीनतया प्रवर्त्तमानोऽजायत जायत इति वेद्यम्। अस्योपरि प्रमाणानि वर्णाश्रमप्रकरणे वक्ष्यन्ते। 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः।' अष्टाध्या० अ० ३। पा० ४। सू० ६ इति सूत्रेण सामान्यकाले त्रयो लकारा विधीयन्ते ॥११॥

भावार्थ—(ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्) इस पुरुष की आज्ञा के अनुसार जो विद्या सत्यभाषणादि उत्तम गुण और श्रेष्ठ कर्मों से ब्राह्मण वर्ण उत्पन्न होता है, वह मुख्य कर्म और गुणों के सहित होने से मनुष्यों में उत्तम कहाता है। (बाहू राजन्यः कृतः) और ईश्वर ने बल पराक्रम आदि पूर्वोक्त गुणों से युक्त क्षत्रिय वर्ण को उत्पन्न किया है। (ऊरू तदस्य०) खेती व्यापार और सब देशों की भाषाओं को जानना तथा पशुपालन आदि मध्यमगुणों से वैश्य वर्ण सिद्ध होता है। (पद्भ्यां शूद्रो०) जैसे पग सब से नीच अङ्ग है, वैसे मूर्खता आदि नीच गुणों से शूद्र वर्ण सिद्ध होता है। इस विषय के प्रमाण वर्णाश्रम की व्याख्या में लिखेंगे॥ ११॥

च॒न्द्रमा॒ मन॑सो जा॒तश्चक्षोः॒ सूर्यो॑ अजायत ।
श्रोत्रा॑द्वा॒युश्च॑ प्रा॒णश्च॒ मुखा॑द॒ग्निर॑जायत ॥१२॥

भाष्यम्—(चन्द्रमा मनसो०) तस्यास्य पुरुषस्य मनसो मननशीलात् सामर्थ्याच्चन्द्रमा जात उत्पन्नोऽस्ति, तथा चक्षोर्ज्योतिर्मयात् सूर्य्यो अजायत उत्पन्नोऽस्ति। (श्रोत्राद्वा०) श्रोत्राकाशमयादाकाशो नभ उत्पन्नमस्ति, वायुमयाद् वायुरुत्पन्नोऽस्ति प्राणश्च, सर्वेन्द्रियाणि चोत्पन्नानि सन्ति। मुखान्मुख्यज्योतिर्मयाद् अग्निरजायतोत्पन्नोऽस्ति ॥१२॥

भावार्थ—(चन्द्रमा०) उस पुरुष के मनन अर्थात् ज्ञानस्वरूप सामर्थ्य से चन्द्रमा, और तेजस्वरूप से सूर्य्य उत्पन्न हुआ है। (श्रोत्राद्वा०) श्रोत्र अर्थात् अवकाशरूप सामर्थ्य से आकाश, और वायुरूप सामर्थ्य से वायु उत्पन्न हुआ है। तथा सब इन्द्रियां भी अपने-अपने कारण से उत्पन्न हुई हैं। और मुख्य ज्योतिरूप सामर्थ्य से अग्नि उत्पन्न हुआ है ॥ १२ ॥

१. पाठोऽत्र व्यस्तः प्रतिभाति। कदाचिदत्र 'पादेन्द्रियवन्नीचेभ्योऽर्थाज्जडत्वादिगुणेभ्यः' इति साधुपाठः स्यात्।

नाभ्या॑ आसीद॒न्तरि॑क्षꣳ शी॒र्ष्णो द्यौः सम॑वर्त्तत ।
प॒द्भ्यां भूमि॒र्दिशः॒ श्रोत्रा॒त् तथा॑ लो॒काँ२ऽ अ॑कल्पयन् ॥१३॥

भाष्यम्—(नाभ्या०) अस्य पुरुषस्य नाभ्या अवकाशमयात् सामर्थ्याद् अन्तरिक्षमुत्पन्नमासीत् । एवं (शीर्ष्णः) शिरोवदुत्तमसामर्थ्यात् प्रकाशमयात् (द्यौः) सूर्य्यादिलोकः प्रकाशात्मकः समवर्त्तत सम्यगुत्पन्नः सन् वर्त्तते । (पद्भ्यां भूमिः) पृथिवीकारणमयात् सामर्थ्यात् परमेश्वरेण भूमिर्धरणिरुत्पादितास्ति जलं च । (दिशः श्रो०) शब्दाकाशकारणमयात् तेन दिश उत्पादिताः सन्ति ।(तथा लोकाँ२ऽ अकल्पयन्) तथा तेनैव प्रकारेण सर्वलोककारणमयात् सामर्थ्यादन्यान् सर्वान् लोकांस्तत्रस्थान् स्थावरजङ्गमान् पदार्थानकल्पयत् परमेश्वर उत्पादितवानस्ति ॥१३॥

भावार्थ—(नाभ्या आसीदन्त०) इस पुरुष के अत्यन्त सूक्ष्म सामर्थ्य से अन्तरिक्ष, अर्थात् जो भूमि और सूर्य्य आदि लोकों के बीच में पोल है, सो भी नियत किया हुआ है । (शीर्ष्णो द्यौः०) और जिसके सर्वोत्तम सामर्थ्य से सब लोकों के प्रकाश करनेवाले सूर्य्य आदि लोक उत्पन्न हुए हैं । (पद्भ्यां भूमिः) पृथिवी के परमाणु कारणरूप सामर्थ्य से परमेश्वर ने पृथिवी उत्पन्न की है, तथा जल को भी उसके कारण से उत्पन्न किया है । (दिशः श्रोत्रात्) उसने श्रोत्ररूप सामर्थ्य से दिशाओं को उत्पन्न किया है । (तथा लोकाँ २ऽ अकल्पयन्) इसी प्रकार सब लोकों के कारणरूप सामर्थ्य से परमेश्वर ने सब लोक और उनमें बसनेवाले सब पदार्थों को उत्पन्न किया है । १३ ॥

यत् पुरु॑षेण ह॒विषा॑ दे॒वा य॒ज्ञमत॑न्वत ।
व॒स॒न्तो॑ऽस्यासी॒दाज्यं॑ ग्री॒ष्मऽ इ॒ध्मः श॒रद्ध॒विः ॥१४॥

भाष्यम्—(यत्पुरुषेण०) देवा विद्वांसः पूर्वोक्तेन पुरुषेण हविषा गृहीतेन दत्तेन चाग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तं शिल्पविद्यामयं च यद् यं यज्ञं प्रकाशितमतन्वत विस्तृतं कृतवन्तः, कुर्वन्ति, करिष्यन्ति च । इदानीं जगदुत्पत्तौ कालस्यावयवाख्या सामग्र्युच्यते—(वसन्तो०) अस्य यज्ञस्य पुरुषादुत्पन्नस्य वा ब्रह्माण्डमयस्य[1] वसन्त आज्यं घृतवदस्ति । (ग्रीष्म इध्मः) ग्रीष्मर्त्तुरिध्म इन्धनाग्निर्वास्ति । (शरद्धविः) शरदृतुः पुरोडाशादिवद्धविर्हवनीयमस्ति ॥१४॥

१. ब्रह्मरूपिणा यजमानेन सम्पाद्यमानस्य ब्रह्माण्डमयस्य यज्ञस्यैव मुख्यरूपेण वेदेषु यज्ञपदेन व्यवहारो वर्तते । एतच्चैतन्मन्त्रेणैव स्पष्टम् । नहि वसन्ताद्या ऋतवो द्रव्यमयस्य यज्ञस्य आज्यादिसाधनानि संभवन्ति । अग्निहोत्रादारभ्याश्वमेधान्ता ये द्रव्ययज्ञा ऋषिभिर्विहितास्ते ब्रह्माण्डमयस्य यज्ञस्यैव व्याख्यानरूपाः सन्ति । येन यथा भूगोलखगोलज्ञाने तयोर्नानाविधप्रकारकाणि चित्राणि साधनरूपेणोपयुज्यन्ते, तथैव ब्रह्माण्डयज्ञस्य ज्ञाने अग्निहोत्रादयो द्रव्ययज्ञा साधनभावं गच्छन्ति । एष एवार्थो यास्काचार्येण 'याज्ञदैवते पुष्पफले' इत्यादिना प्रदर्शितः (नि० १ । २०) । ब्रह्माण्डज्ञानं चाध्यात्मज्ञाने साधनभावमुपगच्छति । तदुक्तम् 'देवताध्यात्मे वा [पुष्पफले] ।' (नि० १। २०) । यद् ब्रह्माण्डे तत् पिण्डे इति विदुषां लोकोक्तिरप्यत्र प्रमाणम् (अध्यात्मार्थे शरीरमप्यन्तर्गतं इति प्राचां मतम्) । अत एव आधिदैविकार्थे 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति' (यजुः ३१ । १८) [तम्=विराट्-पुरुषं ब्रह्माण्डम्] इति मन्त्रः प्रवृत्तः ।

भावार्थ—(यत्पुरुषेण०) देव अर्थात् जो विद्वान् लोग होते हैं, उनको भी ईश्वर ने अपने-अपने कर्मों के अनुसार उत्पन्न किया है। और वे ईश्वर के दिये पदार्थों का ग्रहण करके पूर्वोक्त यज्ञ का विस्तारपूर्वक अनुष्ठान करते हैं। और जो ब्रह्माण्ड का रचन पालन और प्रलय करना रूप यज्ञ है, उसी जगत् को बनाने की सामग्री कहते हैं—(वसन्तो०) पुरुष ने उत्पन्न किया जो यह ब्रह्माण्डरूप यज्ञ[1] है, इसमें वसन्त ऋतु अर्थात् चैत्र और वैशाख घृत के समान है। (ग्रीष्म इध्मः०) ग्रीष्म ऋतु जो ज्येष्ठ और आषाढ़ इन्धन है। श्रवण और भाद्रपद वर्षा ऋतु, आश्विन और कार्तिक शरद ऋतु, मार्गशीर्ष और पौष हिम ऋतु, और माघ तथा फाल्गुन शिशिर ऋतु कहाती है, यह इस यज्ञ में आहुति है। सो यहां रूपकालङ्कार से सब ब्रह्माण्ड का व्याख्यान जानना चाहिये ॥ १४ ॥

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः ।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥१५॥

भाष्यम्—(सप्तास्या०) अस्य ब्रह्माण्डस्य सप्त परिधयः सन्ति। परिधिर्हि गोलस्योपरिभागस्य यावता सूत्रेण परिवेष्टनं भवति स परिधिर्ज्ञेयः। अस्य ब्रह्माण्डस्य ब्रह्माण्डान्तर्गतलोकानां वा सप्त सप्त परिधयो भवन्ति—समुद्र एकः, तदुपरि त्रसरेणुसहितो वायुर्द्वितीयः, मेघमण्डलं तत्रस्थो वायुस्तृतीयः, वृष्टिजलं[2] चतुर्थः, तदुपरिवायुः पञ्चमः, अत्यन्तसूक्ष्मो धनञ्जयष्षष्ठः, सूत्रात्मा सर्वत्र व्याप्तः सप्तमश्च। एवमेकैकस्योपरि सप्त सप्तावरणानि स्थितानि सन्ति, तस्मात् ते परिधयो विज्ञेयाः। (त्रिः सप्त समिधः कृताः) एकविंशतिः पदार्थाः सामग्र्यस्य चास्ति। प्रकृतिर्महत्, बुद्धयाद्यन्तःकरणं, जीवश्चैषैका सामग्री परमसूक्ष्मत्वात्। दशेन्द्रियाणि—श्रोत्रं, त्वक्, चक्षुः, जिह्वा, नासिका, वाक्, पादौ, हस्तौ, पायुः, उपस्थं चेति। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्चतन्मात्राः। पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशम् इति पञ्चभूतानि च मिलित्वा दश भवन्ति। एवं सर्वा[3] मिलित्वैकविंशतिर्भवन्त्यस्य ब्रह्माण्डरचनस्य समिधः कारणानि विज्ञेयानि। एतेषामवयवरूपाणि तु तत्त्वानि बहूनि सन्तीति बोध्यम्। (देवा य०) तमिदं येन पुरुषेण रचितं तं यज्ञपुरुषं पशुं सर्वद्रष्टारं सर्वैः पूजनीयं देवा विद्वांसः (अबध्नन्) ध्यानेन बध्नन्ति। तं विहायेश्वरत्वेन कस्यापि ध्यानं नैव बध्नन्ति, नैव कुर्वन्तीत्यर्थः ॥१५॥

भावार्थ—(सप्तास्या०) ईश्वर ने एक-एक लोक के चारों ओर सात-सात परिधि ऊपर-ऊपर रची हैं। जो गोल चीज के चारों ओर एक सूत से नाप के जितना परिमाण होता है, उसको परिधि कहते हैं। सो जितने ब्रह्माण्ड में लोक हैं, ईश्वर ने उन एक-एक के ऊपर सात-सात आवरण बनाये।

---

१. वेद में इसी ब्रह्माण्डरूप यज्ञ का व्याख्यान है। अग्निहोत्रादि द्रव्ययज्ञ उसके ज्ञान में साधनभूत हैं। जैसे भूगोल खगोल के ज्ञान में विविध प्रकार के चित्र साधन होते हैं। यह साध्यसाधनभाव यास्काचार्य ने निरुक्त १। २० में दर्शाया है। २. सन्दिग्धमिवेदं पदम्। अत्र हि मेघमण्डलादप्युपरितनं सूक्ष्मं जलमभिप्रेतं स्यात्। तथा सति 'सूक्ष्मं जलं' पाठो द्रष्टव्यः।

३. सामग्रीपदापेक्षया स्त्रीत्वं ज्ञेयम्।

एक समुद्र, दूसरा त्रसरेणु, तीसरा मेघमण्डल का वायु, चौथा वृष्टिजल,[1] और पांचमा वृष्टिजल के ऊपर एक प्रकार का वायु, छठा अत्यन्त सूक्ष्म वायु जिसको धनञ्जय कहते हैं, सातमा सूत्रात्मा वायु जो कि धनञ्जय से भी सूक्ष्म है, ये सात परिधि कहाते हैं। (त्रिः सप्त समिधः०) और इस ब्रह्माण्ड की सामग्री २१ इक्कीस प्रकार की कहाती है। जिसमें से एक प्रकृति, बुद्धि और जीव ये तीनों मिलके हैं। क्योंकि यह अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ है। दूसरा श्रोत्र, तीसरी त्वचा, चौथा नेत्र, पांचमी जिह्वा, छठी नासिका, सातमी वाक्, आठमा पग, नवमा हाथ, दशमी गुदा, ग्यारहमा उपस्थ, जिसको लिङ्ग इन्द्रिय कहते हैं, बारहमा शब्द, तेरहमा स्पर्श, चौदहमा रूप, पन्द्रहमा रस, सोलहमा गन्ध, सत्रहमी पृथिवी, अठारहमा जल, उन्नीसमा अग्नि, बीसमा वायु, इक्कीसमा आकाश, ये इक्कीस समिधा कहाती हैं। (देवा य०) जो परमेश्वर पुरुष इस सब जगत् का रचनेवाला, सब का देखनेवाला और पूज्य है, उसको विद्वान् लोग सुनके और उसीके उपदेश से उसीके कर्म और गुणों का कथन प्रकाश और ध्यान करते हैं। उसको छोड़के दूसरे को ईश्वर किसी ने नहीं माना। और उसीके ध्यान में अपने आत्माओं को दृढ़ बांधने से कल्याण जानते हैं॥ १५॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥१६॥

भाष्यम्—(यज्ञेन यज्ञम्०) ये विद्वांसो यज्ञं यजनीयं पूजनीयं परमेश्वरं यज्ञेन तत्स्तुतिप्रार्थनोपासनरीत्या पूजनेन समेवायजन्त, यजन्ते यक्ष्यन्ति च। तान्येव धर्माणि प्रथमानि सर्वकर्मभ्य आदौ सर्वैर्मनुष्यैः कर्त्तव्यान्यासन्। न च तैः पूर्वं कृतैर्विना केनापि किंचित् कर्म कर्त्तव्यमिति। (ते ह ना०) त ईश्वरोपासका, हेति प्रसिद्धं नाकं सर्वदुःखरहितम् परमेश्वरं मोक्षं च, महिमानः पूज्याः सन्तः सचन्त समवेता भवन्ति। कीदृशं तत्? (यत्र पूर्वे साध्याः०) साध्याः साधनवन्तः कृतसाधनाश्च देवा विद्वांसः पूर्वे अतीता यत्र मोक्षाख्ये परमे पदे सुखिनः सन्ति। न तस्माद् ब्रह्मणःशतवर्षसंख्यातात् कालात् [पुरा] कदाचित् पुनरावर्तन्त[2] इति, किन्तु तमेव समसेवन्त।

अत्राहुर्निरुक्तकारा यास्काचार्य्याः—'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः, अग्निनाग्निमयजन्त देवाः, अग्निः पशुरासीत्तमालभन्त तेनायजन्तेति[3] च ब्राह्मणम्। तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्, ते ह नाकं महिमानः समसेवन्त, यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः साधनाः, द्युस्थानो देवगण इति नैरुक्ताः॥' निरु० अ० १२। खं० ४१॥

---

१. यहां 'वृष्टिजल' पाठ सन्दिग्ध है। हमारे विचार में यहां मेघमण्डल से ऊपर के अत्यन्त सूक्ष्म जलों का निर्देश होना चाहिये। क्योंकि वृष्टिजल तो मेघमण्डलस्थ जल से भी स्थूल हैं।

२. अनेन 'नित्यं मोक्षसुखम्' पृष्ठ (१२६), 'नित्यानन्दमोक्षप्राप्ताः' (पृष्ठ १३२), 'नित्यसुखाय' (राजप्रजाधर्मविषये 'को॰सि॰' पञ्चममन्त्रव्याख्याने) इत्येवमादिषु प्रयोगेषु नित्यशब्दः सापेक्षं नित्यत्वं ब्रवीति न पारमार्थिकमित्युक्तेन ग्रन्थकृद्वचनेन स्पष्टं द्योत्यते। अत्र १२६ पृष्ठस्था, २ टि० द्रष्टव्या।

३. तुलना कार्या—'अग्निः पशुरासीत्, तेनायजन्त।' तै० सं० ५।७।२६॥ ऐ० ब्रा० १।३।५॥

अग्निना जीवेनान्तःकरणेन वाग्नि परमेश्वरमयजन्त । अग्निः पशुरासीत्तमेव देवा आलभन्त । सर्वोपकारकमग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तं भौतिकाग्निनापि यज्ञं देवा समसेवन्तेति वा। साध्याः साधनवन्तो यत्र पूर्वे पूर्वंभूता मोक्षाख्यानन्दे पदे सन्ति। तमभिप्रेत्यात एव द्युस्थानो देवगण इति निरुक्तकारा वदन्ति। द्युस्थानः प्रकाशमयः परमेश्वरः स्थानं स्थित्यर्थं यस्य सः। यद्वा सूर्य्यप्राणस्थानः विज्ञानकिरणास्तत्रैव देवगणो देवसमूहो वर्त्तते इति ॥१६॥

भाषार्थ—(यज्ञेन यज्ञम०) विद्वानों को 'देव' कहते हैं, और वे सबके पूज्य होते हैं। क्योंकि वे सब दिन परमेश्वर ही की स्तुति प्रार्थना उपासना और आज्ञापालन आदि विधान से पूजा करते हैं। इससे सब मनुष्यों को उचित है कि वेदमन्त्रों से प्रथम ईश्वर की स्तुति प्रार्थना करके शुभ कर्मों का आरम्भ करें। (ते ह नाकं०) जो-जो ईश्वर की उपासना करनेवाले लोग हैं, वे-वे सब दुःखों से छूटके सब मनुष्यों में अत्यन्त पूज्य होते हैं। (यत्र पूर्वे सा०) जहां विद्वान् लोग परम पुरुषार्थ से जिस पद को प्राप्त[1] होके आनन्द में रहते हैं, उसी को 'मोक्ष' कहते हैं। क्योंकि उससे ब्रह्मा के सौ वर्ष पूर्व संसार के दुःखों में कभी नहीं गिरते। इस अर्थ में निरुक्तकार का भी यही अभिप्राय है कि जो परमेश्वर के अनन्त प्रकाश में मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, वे परमेश्वर ही के प्रकाश में सदा रहते हैं। उनको अज्ञानरूप अन्धकार कभी नहीं होता ॥ १६ ॥

अद्भ्यः संभृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्त्तताग्रे ।
तस्य त्वष्टा विदधद् रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे ॥१७॥

भाष्यम्—(अद्भ्यः संभृतः०) तेन पुरुषेण पृथिव्यै पृथिव्युत्पत्त्यर्थमद्भ्यो रसः सभृतः संगृह्य तेन पृथिवी रचिता। एवमग्निरसेनाग्नेः सकाशादाप उत्पादिताः। अग्निश्च वायोः साकाशाद्, वायुराकाशाद् उत्पादितः। आकाशः प्रकृतेः, प्रकृतिः स्वसामर्थ्याच्च। विश्वं सर्वं कर्म क्रियमाणमस्य स विश्वकर्मा, तस्य परमेश्वरस्य सामर्थ्यमध्ये कारणाख्येऽग्रे सृष्टेः प्राग् जगत् समवर्त्तत वर्त्तमानमासीत्। तदानीं सर्वमिदं जगत् कारणभूतमेव, नेदृशमिति। तस्य सामर्थ्यस्यांशान् गृहीत्वा त्वष्टा रचनकर्त्तेदं सकलं जगद् विदधत् पुनश्चेदं विश्वं रूपवत्त्वमेति। तदेव मर्त्यस्य मरणधर्मकस्य विश्वस्य मनुष्यस्यापि च रूपवत्त्वं भवति। (आजानमग्रे) वेदाज्ञापनसमये परमात्माज्ञप्तवान्, वेदरूपामाज्ञां दत्तवान् मनुष्याय—धर्मयुक्तेनैव सकामेन कर्मणा कर्मदेवत्वयुक्तं शरीरं धृत्वा विषयेन्द्रियसंयोगजन्यमिष्टं सुखं भवतु[2], तथा निष्कामेन विज्ञानपरमं मोक्षाख्यं चेति ॥१७॥

भाषार्थ—(अद्भ्यः संभृतः०) उस परमेश्वर पुरुष ने पृथिवी की उत्पत्ति के लिये जल में

१. व० य० मुद्रित में 'होके नित्य आनन्द में रहते हैं, उसी को मोक्ष कहते हैं, क्योंकि उससे निवृत्त होके संसार के दुःखों में कभी नहीं गिरते' पाठ है, यह संस्कृत से विपरीत है।

२. अन्तर्णीतण्यर्थेन सकर्मकत्वमिह ज्ञेयम्। यद्वा—'सुखमनुभवतु' इत्येवं पाठः कल्पनीयः।

सारांश रस को ग्रहण करके पृथिवी और [1]अग्नि के परमाणुओं को मिलाके पृथिवी रची है। इसी प्रकार अग्नि के परमाणुओं के साथ जल के परमाणुओं को मिलाके जल को, वायु के परमाणुओं के साथ अग्नि के परमाणुओं को मिलाके अग्नि को, वायु के परमाणुओं से वायु को रचा है। वैसे ही अपने सामर्थ्य से आकाश को भी रचा है, जो कि सब तत्त्वों के ठहरने का स्थान है। ईश्वर ने प्रकृति से लेके घास-पर्यन्त जगत् को रचा है। इससे ये सब पदार्थ ईश्वर के रचे होने से उसका नाम 'विश्वकर्मा' है। जब जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था, तब वह ईश्वर के सामर्थ्य में कारणरूप से वर्त्तमान था। (तस्य०) जब-जब ईश्वर अपने सामर्थ्य से इस कार्य्यरूप जगत् को रचता है, तब तब कार्य्यजगत् रूपगुणवाला होके स्थूल बनके देखने में आता है। (तन्मर्त्यस्य देवत्वमा०) जब परमेश्वर ने मनुष्यशरीर आदि को रचा है, तब मनुष्य भी दिव्य काम करके 'देव' कहाते हैं। और जब ईश्वर की उपासना से विद्या विज्ञान आदि अत्युत्तम गुणों को प्राप्त होते हैं, तब भी मनुष्यों का नाम 'देव' होता है। क्योंकि कर्म से उपासना और ज्ञान उत्तम हैं। इसमें ईश्वर की यह आज्ञा है कि जो मनुष्य उत्तम कर्म में शरीर आदि पदार्थों को चलाता है, वह संसार में उत्तम सुख पाता है। और जो परमेश्वर ही की प्राप्तिरूप मोक्ष की इच्छा करके उत्तम कर्म उपासना और ज्ञान में पुरुषार्थ करता है, वह उत्तम 'देव' होता है ॥ १७ ॥

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥१८॥

भाष्यम्—(वेदाहमेत पु०) किं विदित्वा त्वं ज्ञानी भवसीति पृच्छ्यते ? तदुत्तरमाह— यतः पूर्वोक्तलक्षणविशिष्टं सर्वेभ्यो महान्तं महत्तममादित्यवर्णं स्वप्रकाशविज्ञानस्वरूपं, तमसोऽज्ञानाविद्यान्धकारात् परस्तात् पृथग् वर्त्तमानं परमेश्वरं पुरुषमहं वेद जानाम्यतोऽहं ज्ञान्यस्मीति निश्चयः। नैव तमविदित्वा कश्चिज्ज्ञानी भवितुमर्हतीति। कुतः ? (तमेव विदित्वा०) मनुष्यस्तमेव पुरुषं परमात्मानं विदित्वाऽतिमृत्युं मृत्युमतिक्रान्तं मृत्योः पृथग्भूतं मोक्षाख्यमानन्दमेति प्राप्नोति, नवातोऽन्यथेति। एवकारात् तमीश्वरं विहाय नैव कस्यचिदन्यस्य लेशमात्राप्युपासना केनचित् कदाचित् कार्य्येति गम्यते। कथमिदं विज्ञायतेऽन्यस्योपासना नैव कार्य्येति ? (नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय) इति वचनात्। अयनाय व्यावहारिकपारमार्थिकसुखायाऽन्यो द्वितीयः पन्था मार्गो न विद्यते। किन्तु तस्यैवोपासनमेव सुखस्य मार्गोऽस्तो भिन्नस्येश्वरगणनोपासनाभ्यां मनुष्यस्य दुःखमेव भवतीति निश्चयः। अतः कारणादेष एव पुरुषः सर्वैरुपासनीय इति सिद्धान्तः ॥१८॥

भावार्थ— (वेदाहमेतं०) प्र०—किस पदार्थ को जानके मनुष्य ज्ञानी होता है ? उ०—उस पूर्वोक्त लक्षणसहित परमेश्वर ही को यथावत् जानके ठीक-ठीक ज्ञानी होता है, अन्यथा नहीं। जो सब से बड़ा, सबका प्रकाश करनेवाला, और अविद्या अन्धकार अर्थात् अज्ञान आदि दोषों से अलग है, उसी पुरुष को मैं परमेश्वर और इष्टदेव जानता हूं। उसको जाने विना कोई मनुष्य यथावत्

1. वै० य० मुद्रित में यहां से आगे की ४, ५ पङ्क्तियां संस्कृतपाठ से विपरीत हैं।

ज्ञानवान् नहीं हो सकता । क्योंकि (तमेव विदित्वा०) उसी परमात्मा को जानके और प्राप्त होके जन्म-मरण आदि क्लेशों के समुद्र समान दुःख से छूटके परमानन्दस्वरूप मोक्ष को प्राप्त होता है, अन्यथा किसी प्रकार से मोक्षसुख नहीं हो सकता । इससे क्या सिद्ध हुआ कि उसी की उपासना सब मनुष्य लोगों को करनी उचित है । उससे भिन्न की उपासना करना किसी मनुष्य को न चाहिये । क्योंकि मोक्ष का देनेवाला एक परमेश्वर के विना दूसरा कोई भी नहीं है । इसमें यह प्रमाण है कि (नान्यः पन्था०) व्यवहार और परमार्थ के दोनों सुख का मार्ग एक परमेश्वर की उपासना और उसका जानना ही है । क्योंकि इसके विना मनुष्य को किसी प्रकार से सुख नहीं हो सकता ॥१८॥

प्रजापतिश्चरति गर्भेऽ अन्तरजायमानो बहुधा वि जायते ।
तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥१९॥

भाष्यम्—(प्रजापति०) स एव प्रजापतिः सर्वस्य स्वामी जीवस्यान्यस्य च जडस्य जगतोऽन्तर्गर्भे मध्येऽन्तर्यामिरूपेणाजायमानोऽनुत्पन्नोऽजः सन्निरयं चरति । तत्सामर्थ्यादेवेदं सकलं जगद् बहुधा बहुप्रकारं विजायते विशिष्टतयोत्पद्यते । (तस्य योनिं०) तस्य परब्रह्मणो योनिं सत्यधर्मानुष्ठानं वेदविज्ञानमेव प्राप्तिकारणं धीरा ध्यानवन्तः (परिपश्यन्ति) परितः सर्वतः प्रेक्षन्ते । (तस्मिन् ह तस्थुर्भु०) यस्मिन् भुवनानि विश्वानि सर्वाणि सर्वे लोकास्तस्थुः स्थिताः सन्ति । हेति निश्चयार्थे, तस्मिन्नेव परमे पुरुषे धीरा ज्ञानिनो मनुष्या मोक्षानन्दं प्राप्य तस्थुः स्थिरा भवन्तीत्यर्थः ॥१९॥

भावार्थ—(प्रजापति०) जो प्रजा का पति अर्थात् सब जगत् का स्वामी है, वही जड़ और चेतन के भीतर और बाहर अन्तर्यामिरूप से सर्वत्र व्याप्त हो रहा है । जो सब जगत् को उत्पन्न करके अपने आप सदा अजन्मा रहता है । (तस्य योनिं०) जो उस परब्रह्म की प्राप्ति का कारण सत्य का आचरण और सत्यविद्या है, उसको विद्वान् लोग ध्यान से देखके परमेश्वर को सब प्रकार से प्राप्त होते हैं । (तस्मिन् ह त०) जिस में ये सब भुवन अर्थात् लोक ठहर रहे हैं, उसी परमेश्वर में ज्ञानी लोग भी सत्य निश्चय से मोक्षसुख को प्राप्त होके, जन्म-मरण आदि आने-जाने से छूटके, आनन्द में सदा[1] रहते हैं ॥ १९ ॥

यो देवेभ्यऽ आतपति यो देवानां पुरोहितः ।
पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये ॥२०॥

भाष्यम्—(यो देवेभ्य०) यः पूर्णः पुरुषो देवेभ्यो विद्वद्भ्यस्तत्प्रकाशार्थमातपति आसमन्तात् तदन्तःकरणे प्रकाशयति, नान्येभ्यश्च । यश्च देवानां विदुषां पुरोहितः सर्वैः सुखैः सह मोक्षे विदुषो

---

१. 'सदा' से अभिप्राय यहां ब्रह्म के १०० वर्ष काल की अवधि है । द्र०—इसी प्रकरण के सोलहवें मन्त्र की संस्कृतव्याख्या (पृष्ठ १४८) ।

वधाति । (पूर्वो यो देवेभ्यो जातः) देवेभ्यो विद्वद्भ्यो यः पूर्वः पूर्वमेव सनातनत्वेन वर्त्तमानः सन् जातः प्रसिद्धोऽस्ति, (नमो रुचाय०) तस्मै रुचाय रुचिकराय ब्रह्मणे नमोऽस्तु । यश्च देवेभ्यो विद्वद्भ्यो ब्रह्मोपदेशं प्राप्य ब्रह्मरुचिर्ब्राह्मि[1] ब्रह्मणोऽपत्यमिव वर्त्तमानोऽस्ति, तस्मा अपि ब्राह्मये ब्रह्मसेवकाय नमोऽस्तु ॥२०॥

भावार्थ--(यो देवेभ्य०) जो परमात्मा विद्वानों के लिये सदा प्रकाशस्वरूप है, अर्थात् उनके आत्माओं में प्रकाश को कर देता, और वही उनका पुरोहित अर्थात् अत्यन्त सुखों से धारण और पोषण करनेवाला है, इससे वे फिर दुःखसागर में कभी नहीं गिरते[2]। (पूर्वो यो देवेभ्यो जातः) जो सब विद्वानों से आदि विद्वान् और जो विद्वानों के ही ज्ञान से प्रसिद्ध अर्थात् प्रत्यक्ष होता है, (नमो रुचाय०) उस अत्यन्त आनन्दस्वरूप और सत्य में रुचि करानेवाले ब्रह्म को हमारा नमस्कार हो। और जो विद्वानों से वेदविद्यादि को यथावत् पढ़के धर्मात्मा अर्थात् ब्रह्म को पिता के समान मानके सत्यभाव से प्रेम प्रीति करके सेवा करनेवाला जो विद्वान मनुष्य है, उसको भी हम लोग नमस्कार करते हैं ॥ २० ॥

रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवाऽ अग्रे तदब्रुवन् ।
यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवाऽ असन् वशे ॥२१॥

भाष्यम्—(रुचं ब्राह्मं०) रुचं प्रीतिकरं ब्राह्मं ब्रह्मणोऽपत्यमिव ब्रह्मणः सकाशाज्जातं ज्ञानं जनयन्त उत्पादयन्तो देवा विद्वांसोऽन्येषामग्रे तज्ज्ञानं तज्ज्ञानसाधनं वाऽब्रुवन् ब्रुवन्तूपदिशन्तु च । (यस्त्वैवं०) यस्त्वेवममुना प्रकारेण तद् ब्रह्म ब्राह्मणो विद्यात्, (तु) पश्चात् तस्यैव ब्रह्मविदो ब्राह्मणस्य देवा इन्द्रियाणि वशे असन् भवन्ति नान्यस्येति ॥२१॥

भावार्थ—(रुचं ब्राह्मं०) जो ब्रह्म का ज्ञान है, वही अत्यन्त आनन्द करनेवाला और उस मनुष्य की उसमें रुचि का बढ़ानेवाला है। जिस ज्ञान को विद्वान् लोग अन्य मनुष्यों के आगे उपदेश करके उनको आनन्दित कर देते हैं। (यस्त्वैवं ब्राह्मणो०) जो मनुष्य इस प्रकार से ब्रह्म को जानता है, उसी विद्वान् के सब मन आदि इन्द्रिय वश में हो जाते हैं, अन्य के नहीं ॥ २१ ॥

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम् ।
इष्णन्निषाणामुं मऽ इषाण सर्वलोकं मऽ इषाण ॥२२॥ य० अध्याय ३१ ॥

भाष्यम्—(श्रीश्च ते०) हे परमेश्वर ! ते तव (श्रीः) सर्वा शोभा (लक्ष्मीः) शुभलक्षणवती धनादिश्च द्वे प्रिये पत्न्यौ पत्नीवत् सेवमाने स्तः । तथाहोरात्रे द्वे ते तव पार्श्वे पार्श्ववत् स्तः । ये कालचक्रस्य कारणभूतस्यापि कक्षावयववद् वर्त्तेते सूर्याचन्द्रमसौ नेत्रे वा, तथैव नक्षत्राणि तवैव

१. ब्रह्मन्शब्दात् छान्दसत्वात् अपत्यार्थे इञ् । २. द्र०—पूर्व पृष्ठ की टि० १।

सामर्थ्यस्यादिकारणस्यावयवाः सन्ति, तत्स्थं रूपवदस्ति। अश्विनौ द्यावापृथिव्यौ तवैव व्यात्तं विकाशितं मुखमिव वर्त्तेते। यथैव यत्किञ्चित् सौन्दर्यगुणयुक्तं वस्तु जगति वर्त्तते, तदपि रूपं तवैव सामर्थ्याज्जातमिति जानीमः। हे विराडधिकरणेश्वर! मे ममामुं परलोकं मोक्षाख्यं पदं कृपाकटाक्षेण (इष्णन्) इच्छन् सन् (इषाण) स्वेच्छया निष्पादय। तथा सर्वलोकं सर्वलोकसुखं सर्वलोकराज्यं वा मदर्थं कृपया त्वमिषाणेच्छ, स्वाराज्यं सिद्धं कुरु। एवमेव सर्वाः शोभा लक्ष्मीश्च शुभलक्षणवतीः सर्वाः क्रिया मे मदर्थमिषाण। हे भगवन्! पुरुष! पूर्णपरमेश्वर! सर्वशक्तिमन्! कृपया सर्वान् शुभान् गुणान् मह्यं देहि। दुष्टान् अशुभदोषांश्च विनाशय। सद्यः स्वानुग्रहेण सर्वोत्तमगुणभाजनं मां भवान् करोत्विति। अत्र प्रमाणानि—

'श्रीर्हि पशवः॥' श० कां० १। अ० ८॥[1]

'श्रीर्वै सोमः॥' श० कां० ४। अ० १॥[2]

'श्रीर्वै राष्ट्रम्। श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः॥' श० कां० १३। अ० २॥[3]

'लक्ष्मीर्लाभाद्वा लक्षणाद्वा लप्स्य[मा]नाद्वा लाञ्छनाद्वा लषतेर्वा स्यात् प्रेप्साकर्मणो[4] लज्जतेर्वा स्यादश्लाघाकर्मणः। शिप्रे इत्युपरिष्टाद्व्याख्यास्यामः॥'

निरु० अ० ४। खं० १०॥

अत्र श्रीलक्ष्म्योः पूर्वोक्तयोरर्थसंगतिरस्तीति बोध्यम्॥२२॥ इति पुरुषसूक्त[5]व्याख्या समाप्ता॥

भावार्थ—(श्रीश्च ते०) हे परमेश्वर! जो आपकी अनन्त शोभारूप श्री, और जो अनन्त शुभलक्षणयुक्त लक्ष्मी है, वे दोनों स्त्री के समान हैं। अर्थात् जैसे स्त्री पति की सेवा करती है, इसी प्रकार आपकी सेवा आपही को प्राप्त होती है। क्योंकि आपने ही सब जगत् को शोभा और शुभलक्षणों से युक्त कर रखा है। परन्तु ये सब शोभा और सत्यभाषणादि धर्म के लक्षणों से लाभ, ये दोनों आपकी ही सेवा के लिये हैं। सब पदार्थ ईश्वर के आधीन होने से उसके विषय में यह पत्नी शब्द रूपकालङ्कार से वर्णन किया है। वैसे ही जो दिन और रात्रि ये दोनों बगल के समान हैं। तथा सूर्य्य और चन्द्रमा भी दोनों आपके बगल के समान वा नेत्रस्थानी हैं। और जितने ये नक्षत्र हैं, वे आपके रूपस्थानी हैं। और द्यौः जो सूर्य आदि का प्रकाश और विद्युत् अर्थात् बिजुली, ये दोनों मुखस्थानी हैं। तथा ओठ के तुल्य और जैसा खुला मुख होता है, इसी प्रकार पृथिवी और सूर्य्यलोक के बीच में जो पोल है, सो मुख के सदृश है। (इष्णन्०) हे परमेश्वर! आपकी दया से (अमुम्) परलोक जो मोक्षसुख है, उसको हम लोग प्राप्त होते हैं। इस प्रकार की कृपादृष्टि से हमारे लिये इच्छा करो। तथा मैं सब संसार में सब गुणों से युक्त होके सब लोकों के सुखों का

---

१. शत० १। ८। १। ३६॥　　२. शत० ४। १। ३। ६॥

३. शत० १३। २। ६। २, ३॥ ४. इतोऽग्रे निरुक्ते 'लग्यतेर्वा स्यादाश्लेषकर्मणो' इत्यधिकः पाठः।

५. यजुर्वेदे 'अध्यायाः' सन्ति। सूक्तप्रयोगस्तु नास्माकं विदितः। तस्मादयं विचारार्ह इव प्रतिभाति। अथवा यौगिकोऽयं सूक्तशब्दः स्यात्, न पारिभाषिक इत्येवं समाधेयः।

अधिकारी जैसे होऊं, वैसी कृपा और इस जगत् में मुझको सर्वोत्तम शोभा और लक्ष्मी से युक्त सदा कीजिये। यह आप से हमारी प्रार्थना है, सो आप कृपा से पूरी कीजिये ॥ २२ ॥ इति पुरुषसूक्त[1]-व्याख्या समाप्ता ॥

यत् प॑र॒मम॑व॒मं यच्च॑ मध्य॒मं प्र॒जाप॑तिः सस॒ृजे वि॒श्वरू॑पम् ।
किय॑ता स्क॒म्भः प्र वि॑वेश॒ तत्र॒ यन्न प्रावि॑श॒त् किय॒त्तद् ब॑भूव ॥

अथर्व० कां० १० । अनु० ४ । मं० ८ ॥[2]

दे॒वाः पि॒तरो॑ मनु॒ष्या॑ गन्धर्वा॑प्स॒रस॑श्च ये ।
उच्छि॑ष्टाज्जज्ञि॒रे सर्वे॑ दि॒वि दे॒वा दि॑वि॒श्रितः॑ ॥ २ ॥

अथर्व० कां ११ । प्रपा० २४ । अनु० ४ । मं० २७ ॥[3]

भाष्यम्—(यत्परमं) यत्परमं सर्वोत्कृष्टं प्रकृत्यादिकं जगत्, यच्च (अवमम्) निकृष्टं तृण-मृत्तिका क्षुद्रकृमिकीटादिकं चास्ति, (यच्च म०) यन्मनुष्यदेहाद्याकाशपर्य्यन्तं मध्यमं च, तत् त्रिविधं सर्वं जगत् प्रजापतिरेव (ससृजे वि०) स्वसामर्थ्यरूपकारणादुत्पादितवानस्ति, योऽस्य जगतो विविधं रूपं सृष्टवानस्ति। (कियता०) एतस्मिंस्त्रिविधे जगति स्कम्भः प्रजापतिः स परमेश्वरः कियता सम्बन्धेन प्रविवेश, न चैतत् परमेश्वरे। (यन्न०) यत् त्रिविधं जगन्न प्राविशत्, तत्कियद् बभूव ? तदिदं जगत् परमेश्वरापेक्षयाल्पमेवास्तीति ॥१॥

(देवाः०) देवा विद्वांसः सूर्य्यादयो लोकाश्च, पितरो ज्ञानिनः, मनुष्या मननशीलाः, गन्धर्वा गानविद्याविदः सूर्यादयो वा, अप्सरस एतेषां स्त्रियश्च, ये चापि जगति मनुष्यादिजातिगणा वर्त्तन्ते, [(उच्छिष्टा०)] ते सर्व उच्छिष्टात् सर्वस्मादूर्ध्वं शिष्टात् परमेश्वरात्तत्सामर्थ्याच्च जज्ञिरे जाताः सन्ति। ये (दिवि देवा दिविश्रितः) दिवि देवाः सूर्य्यादयो लोका ये च दिविश्रिता[4]श्चन्द्रपृथिव्यादयो लोकास्तेऽपि सर्वे तस्मादेवोत्पन्ना इति ॥२॥

इत्यादयो मन्त्रा एतद्विषया वेदेषु बहवः सन्ति।

—: इति संक्षेपतः सृष्टिविद्याविषयः समाप्तः :—

भाषार्थ—(यत्परम०) जो उत्तम मध्यम और नीच स्वभाव से तीन प्रकार का जगत् है, उस सबको परमेश्वर ने ही रचा है। उसने इस जगत् में नाना प्रकार की रचना की है। और एक वही इस सब रचना को यथावत् जानता है। और इस जगत् में जो कोई विद्वान् होते हैं, वे

१. यजुर्वेद में अध्याय शब्द का व्यवहार होता है। यहां जो 'सूक्त' शब्द का व्यवहार है, वह विचारार्ह है। अथवा इसे पारिभाषिक न मानकर यौगिक मानना चाहिये। २. अथर्व० १० । ७ । ८ ॥

३. अथर्व० ११ । ७ । २७ ॥ वै० य० मुद्रितेषु केषुचित्संस्करणेषु मन्त्रपाठे 'दिविश्रिताः' इत्यपपाठः।

४. मन्त्रे 'दिविश्रितः' क्विबन्तो बहुवचनान्तः, इह व्याख्याने क्तान्तः इति भेदः।

भी कुछ-कुछ परमेश्वर की रचना के गुणों को जानते हैं। वह परमेश्वर सबको रचता है, और आप रचना में कभी नहीं आता ॥ १ ॥

(देवाः) विद्वान् अर्थात् पण्डित लोग और सूर्य्यलोक भी, (पितरः) अर्थात् यथार्थविद्या को जाननेवाले, (मनुष्याः) अर्थात् विचार करनेवाले, (गन्धर्वाः) अर्थात् गानविद्या के जाननेवाले, सूर्य्यादि लोक, और (अप्सरसः) अर्थात् इन सब की स्त्रियां, ये सब लोग और दूसरे लोग भी (उच्छि०) उसी ईश्वर के सामर्थ्य से उत्पन्न हुए हैं। (दिवि देवाः) अर्थात् जो प्रकाश करनेवाले और प्रकाशस्वरूप सूर्य्यादि लोक, और (दिविश्रितः[1]) अर्थात् चन्द्र और पृथिवी आदि प्रकाश-रहित लोक, वे भी उसी के सामर्थ्य से उत्पन्न हुए हैं ॥२ ॥

वेदों में इस प्रकार के सृष्टि[विद्या के] विधान करनेवाले मन्त्र बहुत हैं। परन्तु ग्रन्थ अधिक न हो जाय, इसलिये सृष्टिविषय संक्षेप से लिखा है।

❦ इति सृष्टिविद्याविषयः ❦

---

१. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'विविश्रिता:' यह अपपाठ है। मन्त्र और संस्कृत-व्याख्या में 'दिविश्रित:' ऐसा शुद्ध ही पाठ है।

अथ पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः

अथेदं विचार्य्यते पृथिव्यादयो लोका भ्रमन्त्याहोस्विन्नेति ? अत्रोच्यते — वेदादिशास्त्रोक्तरीत्या पृथिव्यादयो लोकाः सर्वे भ्रमन्त्येव । तत्र पृथिव्यादिभ्रमणविषये प्रमाणम्—

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥१॥ य० अ० ३ । मं० ६ ॥

भाष्यम्—अस्याभिप्रायः—'आयं गौ'रित्यादिमन्त्रेषु पृथिव्यादयो हि सर्वे लोका भ्रमन्त्येवेति विज्ञेयम् ।

(आयं गौः०) अयं गौः[1] पृथिवीगोलः[2] सूर्यश्चन्द्रोऽन्यो लोको वा पृश्निमन्तरिक्षमाक्रमीदाक्रमणं कुर्वन् सन् गच्छतीति, तथान्येऽपि । तत्र पृथिवी मातरं समुद्रजलमसदत् समुद्रजलं प्राप्ता सती, तथा (स्वः) सूर्यं पितरमग्निमयं च पुरः पूर्वं पूर्वं प्रयन् सन् सूर्य्यस्य परितो याति । एवमेव सूर्य्यो वायुं पितरमाकाशं मातरं च, तथा चन्द्रोऽग्निं पितरमपो मातरं प्रति चेति योजनीयम् । अत्र प्रमाणानि—

गौः, ग्मा, ज्मेत्याद्येकविंशतिषु पृथिवीनामसु गौरिति पठितं यास्ककृते निघण्टौ[3] ।

तथा च—स्वः, पृश्निः, नाक इति षट्सु साधारणनामसु ॥[4] पृश्निरित्यन्तरिक्षस्य नामोक्तं निरुक्ते[5] ।

---

१. मन्त्रे 'अयं गौः' इति पुंल्लिङ्गप्रयोगात् पृथिव्याः परिभ्रमणे नास्य मन्त्रस्य प्रमाणं सम्भवतीति यत्कैश्चिद् उच्यते, तन्न, तस्य लोकशब्दापेक्षया प्रयुक्तत्वात् । एतदेव च चाभिप्रेत्य ग्रन्थकृताऽपि विशेषतः 'पृथिव्यादयो हि सर्वे लोका भ्रमन्त्येव' इत्यादावुक्तम् । अपि च—अस्य मन्त्रस्य सूर्यः सर्पराज्ञी (द्र०—बृहद्देवता ८ । ८६-९०)च देवते । सर्पराज्ञीदेवतापक्षेऽस्य मन्त्रस्य पृथिव्येव देवता । तदुक्तमेतं मन्त्रमधिकृत्य शतपथे—**इयं वै पृथिवी सर्पराज्ञी** (२ । २ । ४ । ३० ; ४ । ६ । ९ । १७) इति । अनेन पृथिवीदेवताकोऽयं मन्त्र इति स्पष्टम् । अस्मिन् पक्षे 'अयम्' इत्यत्र लिङ्गव्यत्ययो द्रष्टव्यः । यथा—'**सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम्**' इतिवद् मन्त्रेष्वपि लिङ्गवचनविभक्त्यादीन्यतन्त्राणि ज्ञेयानि ।

२. पृथिवीलोकः इति साधुतरः पाठः स्यात्, उत्तरत्र सूर्यादिभिः सहापि लोकशब्दस्य प्रयोगात् ।

३. निघण्टु १ । १ ॥ यास्कीयनिरुक्तस्य व्याख्येयरूपो निघण्टुरपि यास्कप्रोक्त एवेति ग्रन्थकारस्य मतम् । साम्प्रतिका बहवो विद्वांसो निघण्टुमिमं यास्कप्रोक्तं न मन्यन्ते । एतेषां मतस्य निराकरणं पण्डितभगवद्दत्तेन '**वैदिक वाङ्मय का इतिहास**' ग्रन्थस्य '**वेदों के भाष्यकार**' नाम्नि भागे विस्तरेण कृतम् (पृष्ठ १८१-१९५), तत्रैव द्रष्टव्यम् ।

४. निघण्टु १ । ४ ॥

५. पृश्निरन्तरिक्षस्य नामेति निरुक्ते न क्वचित् साक्षात् पठ्यते, तथापि पूर्वोद्धृतस्य निघण्टुपाठस्य व्याख्याने (२ । १३, १४) स्वरादय आदित्यस्य दिवश्च साधारणनामानीत्युक्तम् यास्केन । तत्र 'दिव' शब्देन

'गौरिति पृथिव्या नामधेयं, यद् दूरं गता भवति, यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति ॥'
निरु० अ० २ । खं० ५ ॥

'गौरादित्यो भवति, गमयति रसान्, गच्छत्यन्तरिक्षे, अथ द्यौर्यत् पृथिव्या अधि दूरं गता भवति, यच्चास्यां ज्योतींषि गच्छन्ति ॥' निरु० अ० २ । खं० १४ ॥

'सूर्य्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्व इत्यपि निगमो भवति, सोऽपि गौरुच्यते ॥'
निरु० अ० २ । खं० ६ ॥[1]

'स्वरादित्यो भवति ॥' निरु० अ० २ । खं० १४ ॥

गच्छति प्रतिक्षणं भ्रमति या सा गौः पृथिवी । 'अद्भ्यः पृथिवी' इति तैत्तिरीयोपनिषदि[2] । यस्माद् यज्जायते सोऽर्थस्तस्य मातापितृवद् भवति । तथा स्वःशब्देनादित्यस्य ग्रहणात् पितुर्विशेषणत्वाद् आदित्योऽस्याः पितृवदिति निश्चीयते । यद् दूरं गता, दूरंदूरं सूर्य्याद् गच्छतीति विज्ञेयम् । एवमेव सर्वे लोकाः स्वस्य स्वस्य कक्षायां वाय्वात्मनेश्वरसत्तया च धारिताः सन्तो भ्रमन्तीति सिद्धान्तो बोध्यः ॥१॥

भाषार्थ—अब सृष्टिविद्याविषय के पश्चात् पृथिवी आदि लोक घूमते हैं वा नहीं, इस विषय में लिखा जाता है । इसमें यह सिद्धान्त है कि वेदशास्त्रों के प्रमाण और युक्ति से भी पृथिवी और सूर्य्य आदि सब लोक घूमते हैं । इस विषय में यह प्रमाण है—

(आयं गौः०) गौ नाम है पृथिवी, सूर्य्य, चन्द्रमादि लोकों का । वे सब अपनी-अपनी परिधि में, अन्तरिक्ष के मध्य में सदा घूमते रहते हैं । परन्तु जो जल है, सो पृथिवी की माता के समान है । क्योंकि पृथिवी जल के परमाणुओं के साथ अपने परमाणुओं के संयोग से ही उत्पन्न हुई है । और मेघमण्डल के जल के बीच में गर्भ के समान सदा रहती है । और सूर्य्य उसके पिता के समान है, इससे सूर्य्य के चारों ओर घूमती है । इसी प्रकार सूर्य का पिता वायु और आकाश माता, तथा चन्द्रमा का अग्नि पिता और जल माता, उनके प्रति वे घूमते हैं । इसी प्रकार से सब लोक अपनी-अपनी कक्षा में सदा घूमते हैं ।

इस विषय का संस्कृत में निघण्टु और निरुक्त का प्रमाण लिखा है, उसको देख लेना । इसी प्रकार सूत्रात्मा जो वायु है, उसके आधार और आकर्षण से सब लोकों का धारण और भ्रमण होता है । तथा परमेश्वर अपने सामर्थ्य से पृथिवी आदि सब लोकों का धारण भ्रमण और पालन कर रहा है ॥ १ ॥

नान्तरिक्षं गृह्यते इति भगवद्दयानन्दस्य मतम् । तथैव च भगवता स्ववेदभाष्ये बहुत्र पृश्निशब्दस्यान्तरिक्षमर्थो व्याख्यातः । निघण्टौ स्वरादिभ्यः साधारणनामभ्यः (१।४) प्राक् अन्तरिक्षनामानि पठ्यन्ते । तस्मात् आदित्येन सह साधारणनामत्वेन 'दिव' शब्देन अन्तरिक्षस्यापि ग्रहणं सम्भवति ।

[1] वै० य० मुद्रितेषु १-५ संस्करणेषु 'खं० ६' इत्यपपाठः । अतोऽयं पाठः संशोधितः ।

[2] ब्रह्मा० वल्ली अनु० १ ॥

या गौर्वर्त्तनिं पर्य्येति निष्कृतं पयो दुहाना व्रतनीरवारतः ।
सा प्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुषे देवेभ्यो दाशद्धविषा विवस्वते ॥२॥

ऋ० अ० ८ । अ० २ । व० १० । मं० १ ॥[1]

भाष्यम्—(या गौर्वर्त्तनिं[2]) या पूर्वोक्ता गौर्वर्त्तनिं स्वकीयमार्गं (अवारतः) निरन्तरं भ्रमन्ती सती पर्य्येति विवस्वतेऽर्थात् सूर्यस्य परितः सर्वतः स्वस्वमार्गं गच्छति । (निष्कृतं) कथंभूतं मार्गम् ? तत्तद्गमनार्थमीश्वरेण निष्कृतं निष्पादितम् । (पयो दुहाना) अवारतो निरन्तरं पयो दुहानाऽनेकरसफलादिभिः प्राणिनः प्रपूरयन्ती, तथा (व्रतनीः) व्रतं स्वकीयभ्रमणादिसत्यनियमं प्रापयन्ती, (सा प्र०) दाशुषे दानकत्र, श्रेष्ठकर्मकारिणे, देवेभ्यो विद्वद्भ्यश्च हविषा हविर्दानेन सर्वाणि सुखानि दाशत् ददाति । किं कुर्वती ? प्रब्रुवाणा सर्वप्राणिनां व्यक्तवाण्या हेतुभूता सतीयं वर्त्तत इति ॥२॥

भावार्थ—(या गौर्व०) जिस-जिस का नाम 'गौ' कह आये हैं, सो-सो लोक अपने-अपने मार्ग में घूमता, और पृथिवी अपनी कक्षा में सूर्य्य के चारों ओर घूमती है । अर्थात् परमेश्वर ने जिस-जिसके घूमने के लिये जो-जो मार्ग निष्कृत अर्थात् निश्चित किया है,उस-उस मार्ग में सब लोक घूमते हैं । (पयो दुहाना०) वह गौ अनेक प्रकार के रस फल-फूल तृण और अन्नादि पदार्थों से सब प्राणियों को निरन्तर पूर्ण करती है । तथा अपने-अपने घूमने के मार्ग में सब लोक सदा घूमते-घूमते नियम ही से प्राप्त हो रहे हैं । (सा प्रब्रुवाणा०) जो विद्यादि उत्तम गुणों का देनेवाला परमेश्वर है, उसी के जानने के लिये सब जगत् दृष्टान्त है । और जो विद्वान् लोग हैं उनको उत्तम पदार्थों के दान से अनेक सुखों को भूमि देती, और पृथिवी सूर्य्य वायु और चन्द्रमादि गौ ही सब प्राणियों की वाणी का निमित्त भी है ॥ २ ॥

त्वं सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आ ततन्थ ।
तस्मै त इन्दो[3] हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥३॥

ऋ० अ० ६ । अ० ४ । व० १३ । मं० ३ ॥[4]

भाष्यम्—(त्वं सोम०) अस्याभिप्रायः—अस्मिन् मन्त्रे चन्द्रलोकः पृथिवीमनुभ्रमतीत्ययं विशेषोऽस्ति ।

१. ऋ० १० । ६५ । ६ ॥

२. अयं मन्त्रः प्राधान्येन पृथिवीभ्रमणमाचष्टे, 'या गौः' इति स्त्रीलिङ्गनिर्देशात् । इयं पृथिवी सूर्यस्य परितो भ्रमति, न सूर्योऽस्याः परित इत्यस्यार्थस्य निर्देश आचार्यवर्यैः श्रीपण्डितब्रह्मदत्तजिज्ञासुभिः स्वकीये यजुर्वेदभाष्यविवरणे 'आयं गौः०' (३।६) मन्त्रव्याख्याने विस्तरेण विहितः । स तत्रैव द्रष्टव्यः ।

३. प्रथमसंस्करणान्ते शोधितोऽपि वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु केषुचित् 'इन्द्रो' इत्यपपाठ उपलभ्यते ।

४. ऋ० ८ । ४८ । १३ ॥

अयं सोमश्चन्द्रलोकः पितृभिः पितृवत् पालकगुर्णैः सह संविदानः सम्यक् ज्ञातः सन् भूमिमनु भ्रमति। कदाचित् सूर्यपृथिव्योर्मध्येऽपि भ्रमन् सन्नागच्छतीत्यर्थः। अस्यार्थं भाष्यकरणसमये स्पष्टतया वक्ष्यामि।

तथा 'द्यावापृथिवी एजेते'[1] इति मन्त्रवर्णार्था[द्] द्यौः सूर्य्यः, पृथिवी च भ्रमतश्चलत इत्यर्थः[2]। अर्थात् स्वस्यां स्वस्यां कक्षायां सर्वे लोका भ्रमन्तीति सिद्धम् ॥३॥

—: इति पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः संक्षेपतः :—

भाषार्थ—(त्वं सोम०) इस मन्त्र में यह बात है कि चन्द्रलोक पृथिवी के चारों ओर घूमता है। कभी-कभी सूर्य और पृथिवी के बीच में भी आ जाता है। इस मन्त्र का अर्थ अच्छी तरह से भाष्य में करेंगे।

तथा (द्यावापृथिवी) यह बहुत मन्त्रों में पाठ है कि द्यौः नाम प्रकाश करनेवाले सूर्य आदि लोक, और जो प्रकाशरहित पृथिवी आदि लोक हैं, वे सब अपनी-अपनी कक्षा में सदा घूमते हैं। इस से यह सिद्ध हुआ कि सब लोक भ्रमण करते हैं ॥ ३ ॥

इति संक्षेपतः पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः

१. अनुपलब्धमूलम्।

२. सर्वप्रमाणजातमभिमन्त्र्येति शेषः।

अथाकर्षणानुकर्षणविषयः

यदा ते हर्यता हरी वावृधाते दिवेदिवे ।
आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे ॥ १ ॥

ऋ० अ० ६ । अ० १ । व० ६ । मं० ३ ॥[1]

भाष्यम्—(यदा ते०) अस्याभिप्रायः—सूर्य्येण सह सर्वेषां लोकानामाकर्षणमस्ति, ईश्वरेण सह सूर्य्यादिलोकानां चेति ।

हे इन्द्रेश्वर वा वायो सूर्य्य ! (यदा) यस्मिन् काले (ते हरी) आकर्षणप्रकाशनहरणशीलौ बलपराक्रमगुणावश्वौ किरणौ वा (हर्यता)[2] हर्य्यतौ प्रकाशवन्तावत्यन्तं वर्धमानौ भवतस्ताभ्यां (आदित्) तदनन्तरं (दिवेदिवे) प्रतिदिनं प्रतिक्षणं च (ते) तव गुणाः प्रकाशाकर्षणादयो (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि (भुवनानि) सर्वान् लोकानाकर्षणेन (येमिरे) नियमेन धारयन्ति । अतः कारणात् सर्वे लोकाः स्वां स्वां कक्षां विहायेतस्ततो नैव विचलन्तीति ॥१॥

भावार्थ—(यदा ते०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि सब लोकों के साथ सूर्य्य का आकर्षण, और सूर्य आदि लोकों के साथ परमेश्वर का आकर्षण है ।

(यदा ते०) हे इन्द्र परमेश्वर ! आपके अनन्त बल और पराक्रम गुणों से सब संसार का धारण आकर्षण और पालन होता है । आपके ही सब गुण सूर्य्यादि लोकों को धारण करते हैं । इस कारण से सब लोक अपनी-अपनी कक्षा और स्थान से इधर-उधर चलायमान नहीं होते ।

दूसरा अर्थ—इन्द्र जो वायु सूर्य है, इसमें ईश्वर के रचे आकर्षण प्रकाश और बल आदि बड़े-बड़े गुण हैं । उनसे सब लोकों का दिन-दिन और क्षण-क्षण के प्रति धारण आकर्षण और प्रकाश होता है । इस हेतु से सब लोक अपनी-अपनी ही कक्षा में चलते रहते हैं, इधर-उधर विचल भी नहीं सकते ॥ १ ॥

यदा ते मारुतीर्विशस्तुभ्यमिन्द्र नियेमिरे ।
आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे ॥ २ ॥

ऋ० अ० ६ । अ० १ । व० ६ । मं० ४ ॥[3]

---

1. ऋ० ८ । १२ । २८ ॥ 2. वै० य० मुद्रितेष्वाष्टमसंस्करणं पठचमाममपि 'हर्यता' पदं नवमसंस्करणे कस्मादितो: पृथक् कृतमिति न ज्ञायते । मन्त्रपदत्वादस्योभयतः ( ) संकेतोऽस्माभिः कृतः ।

3. ऋ० ८ । १२ । २९ ॥

भाष्यम्—(यदा ते मारुती०) अस्याभिप्रायः—अत्रापि पूर्वमन्त्रवदाकर्षणविद्यास्तीति।

हे पूर्वोक्तेन्द्र! यदा ते तव मारुतीर्मारुत्यो मरणधर्माणो मरुत्प्रधाना वा विशः प्रजास्तुभ्यं येमिरे तवाकर्षणधारणनियमं प्राप्नुवन्ति, तदैव सर्वाणि विश्वानि भुवनानि स्थितिं लभन्ते। तथा तवैव गुणैर्नियेमिरे आकर्षणनियमं प्राप्तवन्ति सन्ति। अत एव सर्वाणि भुवनानि यथाकक्षं भ्रमन्ति वसन्ति च ॥२॥

भावार्थ—(यदा ते मारुती०) अभिप्राय—इस मन्त्र में भी आकर्षणविद्या है। हे परमेश्वर! आपकी जो प्रजा, उत्पत्ति स्थिति और प्रलयधर्मवाली और जिसमें वायु प्रधान है, वह आपके आकर्षणादि नियमों से तथा सूर्य्यलोक के आकर्षण करके भी स्थिर हो रही है। जब इन प्रजाओं को आपके गुण नियम में रखते हैं, तभी भुवन अर्थात् सब लोक अपनी-अपनी कक्षा में घूमते और स्थान में वस रहे हैं ॥ २ ॥

यदा सूर्य्यममुं दिवि शुक्रं ज्योतिरधारयः।
आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे ॥ ३ ॥

ऋ० अ० ६। अ० १। व० ६। मं० ५ ॥[1]

भाष्यम्—(यदा सूर्य०) अभिप्रायः—अत्रापि पूर्ववदभिप्रायः। हे परमेश्वरामुं सूर्य्यं भवान् रचितवानस्ति। यद्दिवि द्योतनात्मके त्वयि शुक्रमनन्तं सामर्थ्यं ज्योतिः प्रकाशमयं वर्त्तते, तेन त्वं सूर्य्यादिलोकानधारयो धारितवानसि। (आदित्ते) तदनन्तरं (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि भुवनानि सूर्य्यादयो लोका अपि (येमिरे) तदाकर्षणनियमेनैव स्थिराणि सन्ति। अर्थाद् यथा सूर्यस्याकर्षणेन पृथिव्यादयो लोकास्तिष्ठन्ति, तथा परमेश्वरस्याकर्षणेनैव सूर्यादयः सर्वे लोका नियमेन सह वर्त्तन्त इति ॥३॥

भावार्थ—(यदा सूर्य०) अभिप्राय—इस मन्त्र में भी आकर्षणविचार है। हे परमेश्वर! जब उन सूर्यादि लोकों को आपने रचा, और आपके ही प्रकाश से प्रकाशित हो रहे हैं, और आप अपने अनन्त सामर्थ्य से उनका धारण कर रहे हो, इसी कारण से सूर्य और पृथिवी आदि लोकों और अपने स्वरूप को धारण कर रहे हैं। इन सूर्य आदि लोकों का सब लोकों के साथ आकर्षण से धारण होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि परमेश्वर सब लोकों का आकर्षण और धारण कर रहा है ॥ ३ ॥

व्यस्तभ्नाद् रोदसी मित्रो अद्भुतोऽन्तर्वावदकृणोज्ज्योतिषा तमः।
वि चर्मणीव धिषणे अवर्त्तयद् वैश्वानरो विश्वमधत्त वृष्ण्यम् ॥ ४ ॥

ऋ० अ० ४। अ० ५। व० १०। मं० ३ ॥[2]

१. ऋ० ८।१२।३०॥ २. ऋ० ६।८।३॥

भाष्यम्—(व्यस्तभ्नाद्रोदसी०) अभिप्रायः—परमेश्वरसूर्यलोकौ सर्वांल्लोकानाकर्षणप्रकाशाभ्यां धारयत इति।

हे परमेश्वर! तव सामर्थ्येनैव वैश्वानरः पूर्वोक्तः सूर्यादिलोको रोदसी द्यावापृथिव्यौ भूमिप्रकाशौ व्यस्तभ्नात् स्तम्भितवानस्ति, अतो भवान् मित्र इव सर्वेषां लोकानां व्यवस्थापकोऽस्ति। अद्भुत आश्चर्यस्वरूपः स सवितादिलोको ज्योतिषा तमोऽन्तरकृणोत् तिरोहितं निवारितं तमः करोति। यावत् तयैव विषणे धारणकर्त्र्यौ द्यावापृथिव्यौ धारणाकर्षणेन व्यवर्त्तयत् विविधतयैतयोर्वर्त्तमानं कारयति। कस्मिन्निव? चर्मण्याकर्षितानि लोमानीव। यथा त्वचि लोमानि स्थितान्याकर्षितानि भवन्ति, तथैव सूर्य्यादिबलाकर्षणेन सर्वे लोकाः स्थापिताः सन्तीति विज्ञेयम्। अतः किमागतम्? वृष्ण्यं वीर्यवद् विश्वं सर्वं जगच्च सूर्यादिलोको धारयति। सूर्यादेर्धारणमीश्वरः करोतीति॥४॥

भावार्थ—(व्यस्तभ्नाद्रोदसी०) अभिप्राय—इस मन्त्र में भी आकर्षणविचार है। हे परमेश्वर! आपके प्रकाश से ही वैश्वानर सूर्य आदि लोकों का धारण और प्रकाश होता है। इस हेतु से सूर्य आदि लोक भी अपने-अपने आकर्षण से अपना और पृथिवी आदि लोकों का भी धारण करने में समर्थ होते हैं। इस कारण से आप सब लोकों के परम मित्र और स्थापन करनेवाले हैं. और आपका सामर्थ्य अत्यन्त आश्चर्यरूप है। सो सविता आदि लोक अपने प्रकाश से अन्धकार को निवृत्त कर देते हैं। तथा प्रकाशरूप और अप्रकाशरूप इन दोनों लोकों का समुदाय धारण और आकर्षण व्यवहार में वर्त्तते हैं। इस हेतु से इससे नाना प्रकार का व्यवहार सिद्ध होता है। वह आकर्षण किस प्रकार से है? कि जैसे त्वचा में लोमों का आकर्षण हो रहा है, वैसे ही सूर्य आदि लोकों के आकर्षण के साथ सब लोकों का आकर्षण हो रहा है। और परमेश्वर भी इन सूर्य आदि लोकों का आकर्षण कर रहा है॥ ४॥

आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥ ५॥

य० अ० ३३। मं० ४३॥

भाष्यम्—(आकृष्णेन०) अभिप्रायः—अत्राप्याकर्षणविचारोऽस्तीति सविता परमात्मा सूर्य्यलोको वा रजसा सर्वैर्लोकैः सहाकृष्णेनाकर्षणगुणेन सह वर्त्तमानोऽस्ति। कथंभूतेन गुणेन? हिरण्ययेन ज्योतिर्मयेन। पुनः कथंभूतेन? रमणानन्दादिव्यवहारसाधकज्ञानतेजोरूपेण रथेन। किं कुर्वन् सन्? मर्त्यं मनुष्यलोकममृतं सत्यविज्ञानं किरणसमूहं वा स्वस्वकक्षायां निवेशयन् व्यवस्थापयन् सन्। तथा च मर्त्यं पृथिव्यात्मकं लोकं प्रत्यमृतं मोक्षम्, ओषध्यात्मकं वृष्ट्यादिकं रसं च प्रवेशयन् सन् सूर्यो वर्त्तमानोऽस्ति। स च सूर्यो देवो द्योतनात्मको भुवनानि सर्वान् लोकान् धारयति। तथा पश्यन् दर्शयन् सन् रूपादिकं विभक्तं याति प्रापयतीत्यर्थः।[1]

१. ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का दो प्रकार का अर्थ (जो प्रकृत अर्थ से सम्बद्ध है) अहमदाबाद में पण्डितों के शास्त्रार्थ में हस्ताक्षर-सहित लिखकर दिया था। वह इस प्रकार है—

अस्मात् पूर्वमन्त्राद् द्युभिरक्तुभिरिति पदानुवर्त्तनात् सूर्य्यो द्युभिः सर्वैर्दिवसैरक्तुभिः सर्वाभी रात्रिभिश्चार्थात् सर्वांल्लोकान् प्रतिक्षणमाकर्षतीति गम्यते एवं सर्वेषु लोकेष्वात्मिका स्वा स्वाध्याकर्षणशक्तिरस्त्येव । तथानन्ताकर्षणशक्तिस्तु खलु परमेश्वरेऽस्तीति मन्तव्यम् । रजो लोकानां नामास्ति । अत्राहुर्निरुक्तकारा यास्काचार्य्याः—

'लोका रजांस्युच्यन्ते ॥' निरु० अ० ४ । खं० १९ ॥

'रथो रंहतेर्गतिकर्मणः, स्थिरतेर्वा स्याद्विपरीतस्य, रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा, रपतेर्वा,[1] रसतेर्वा ॥' निरु० अ० ९ । खं० ११ ॥

'विश्वानरस्यादित्यस्य ॥' निरु० अ० १२ । खं २१ ॥

अतो रथशब्देन रमणानन्दकरं ज्ञानं तेजो गृह्यते । इत्यादयो मन्त्रा वेदेषु धारणाकर्षणविधायका बहवः सन्तीति बोध्यम् ॥५॥

—: इति धारणाकर्षणविद्याविषयः संक्षेपतः :—

भावार्थ—(आकृष्णेन०) अभिप्राय—इस मन्त्र में भी आकर्षणविद्या है । सविता जो परमात्मा वायु और सूर्य लोक हैं, वे सब लोकों के साथ आकर्षण धारण गुण से सहित वर्त्तते हैं । सो हिरण्यय अर्थात् अनन्त बल ज्ञान और तेज से सहित (रथेन) आनन्दपूर्वक क्रीड़ा करने योग्य ज्ञान और तेज से युक्त हैं । इसमें परमेश्वर सब जीवों के हृदयों में अमृत अर्थात सत्य विज्ञान को सदैव प्रकाश करता है । और सूर्यलोक भी रस आदि पदार्थों को मर्त्य अर्थात् मनुष्यलोक में प्रवेश करता, और सब लोकों को व्यवस्था से अपने-अपने स्थान में रखता है । वैसे ही परमेश्वर धर्मात्मा ज्ञानी लोगों को अमृतरूप मोक्ष देता, और सूर्यलोक भी रसयुक्त जो ओषधि और वृष्टि के अमृत-

(आकृष्णेन) आकर्षणात्मना (रजसा) रजोरूपेण रजतस्वरूपेण वा (रथेन) रमणीयेन (देवः) द्योतनात्मकः (सविता) प्रसवकर्ता वृष्ट्यादेः (मर्त्यं) मर्त्यलोकम् (अमृतम्) ओषध्यादिकं रसं (निवेशयन्) प्रवेशयन् (भुवनानि पश्यन्) दर्शयन् याति रूपादिकं विभक्तं प्रापयतीत्यर्थः (हिरण्ययेन) ज्योतिर्मयेन ।

(सविता) सर्वस्य जगत उत्पादकः (देवः) सर्वस्य प्रकाशकः (मर्त्यम्) मर्त्यलोकस्थान् मनुष्यान् (अमृतम्) सत्योपदेशरूपं (निवेशयन्) प्रवेशयन् सर्वाणि (भुवनानि) सर्वजगन्ति (पश्यन्) सन् (आकृष्णेन) सर्वस्याकर्षणस्वरूपेण वर्तमानः सन् (याति) धर्मात्मनः स्वान् भक्तान् सकामान् प्रापयतीत्यर्थः । दयानन्द सरस्वती स्वामिनः ।

संवत् १९३१ पौषबदि षष्ठी बुधवार ७, काल ४० मिनट सही सम्मतिरत्र दयानन्दसरस्वतीस्वामिनः ।

(पं० देवेन्द्रनाथ संकलित महर्षि द० स० का जीवनचरित, भाग १, पृष्ठ ३२३, प्र० सं०) यहां 'पौष बदि ६ बुधवार' तिथि गुजराती पंचांग के अनुसार है । उत्तर भारतीय पंचाङ्ग के अनुसार माघ बदि ६ जानना चाहिए । उस दिन अंग्रेजी तारीख २७ जनवरी १८७५ थी ।

१. वै० य० मुद्रितेषु १-८ संस्करणेषु 'रयतेर्वा' इत्यपपाठो मुद्रणप्रमादजः ।

रूप जल को पृथिवी में प्रविष्ट करता है। सो परमेश्वर सत्य-असत्य का प्रकाश और सब लोकों का प्रकाश करके सबको जनाता है। तथा सूर्यलोक भी रूपादि का विभाग दिखलाता है।

इस मन्त्र से पहिले मन्त्र में 'द्युभिरक्तुभिः' इस पद से यही अर्थ आता है कि दिन-रात अर्थात् सब समय में सब लोकों के साथ सूर्यलोक का, और सूर्य आदि लोकों के साथ परमेश्वर का आकर्षण हो रहा है। तथा सब लोकों में ईश्वर ही की रचना से अपना-अपना आकर्षण है। और परमेश्वर की तो आकर्षणरूप शक्ति अनन्त है। यहां लोकों का नाम 'रज' है। और 'रथ' शब्द के अनेक अर्थ हैं, इस कारण से कि जिससे रमण और आनन्द की प्राप्ति होती है, उसको 'रथ' कहते हैं। इस विषय में निरुक्त का प्रमाण इसी मन्त्र के भाष्य में लिखा है, सो देख लेन
और आकर्षणविद्या के सिद्ध करनेवाले मन्त्र वेदों में बहुत हैं ।। ५ ।।

इति धारणाकर्षणविषयः संक्षेपतः



अथ प्रकाश्यप्रकाशकविषयः संक्षेपतः

सूर्य्येण चन्द्रादयः प्रकाशिता भवन्तीत्यत्र विषये विचारः—

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः ।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधि श्रितः ॥ १ ॥
सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही ।
अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः ॥ २ ॥

अथर्व० कां० १४ । अनु० १ । मं० १-२॥

कः स्विदेकाकी चरति क ऽ उ स्विज्जायते पुनः ।
किꣳ स्विद्धिमस्य भेषजं किम्वावपनं महत् ॥ ३ ॥
सूर्यऽ एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः ।
अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत् ॥ ४ ॥

य० अ० २३ । मं० ९-१० ॥

भाष्यम्— (सत्येनो०) एषामभिप्रायः—अत्र चन्द्रपृथिव्यादिलोकानां सूर्य्यः प्रकाशकोऽस्तीति ।

इयं भूमिः (सत्येन०[1]) नित्यस्वरूपेण ब्रह्मणोत्तभितोर्ध्वमाकाशमध्ये धारितास्ति वायुना सूर्येण च । (सूर्य्येण०) तथा द्यौः सर्वः प्रकाशः सूर्य्येणोत्तभितो धारितः । (ऋतेन०) कालेन सूर्येण वायुना वाऽऽदित्या द्वादश मासाः किरणास्त्रसरेणवो बलवन्तः सन्तो वा तिष्ठन्ति । (दिवि सोमो अधिश्रितः) एवं दिवि द्योतनात्मके सूर्य्यप्रकाशे सोमश्चन्द्रमा अधिश्रित आश्रितः सन् प्रकाशितो भवति । अर्थाच्चन्द्रलोकादिषु स्वकीयः प्रकाशो नास्ति, सर्वे चन्द्रादयो लोकाः सूर्य्यप्रकाशेनैव प्रकाशिता[2] भवन्तीति वेद्यम् ॥ १ ॥

(सोमेनादित्या०) सोमेन चन्द्रलोकेन सहादित्याः किरणाः संयुज्य ततो निवृत्य च भूमिं प्राप्य बलिनो बलं कर्तुं शीला भवन्ति, तेषां बलप्रापकशीलत्वात् । तद्यथा, यावति[3] मन्तरिक्षदेशे

१. 'सत्येन' पदादग्रे० विन्दुनिर्देशः उभयतः ( ) कोष्ठकनिर्देशश्चास्माभिर्वर्धितः, प्रतीकत्वात् ।

२. वै० य० मुद्रितयोः ८, ९ संस्करणयोः 'प्रकाशित' इत्यपपाठः ।

३. 'यावन्तो' इत्यपपाठो वै० य० मुद्रितसंस्करणेषु ।

सूर्य्यप्रकाशस्यावरणं पृथिवी करोति तावति देशेऽधिकं शीतलत्वं भवति। तत्र सूर्य्यकिरणपतनाभावात् तदभावे चोष्णत्वाभावात् ते बलकारिणो बलवन्तो भवन्ति। सोमेन चन्द्रमसः प्रकाशेन सोमाद्योषध्यादिना च पृथिवी मही बलवती पुष्टा भवति। अथो इत्यनन्तरमेषां नक्षत्राणामुपस्थे समीपे चन्द्रमा आहितः स्थापितः सन् वर्त्तत इति विज्ञेयम्॥२॥

(कः स्वि०) को ह्येकाकी ब्रह्माण्डे चरति ? कोऽत्र स्वेनैव स्वयं प्रकाशितः सन् भवतीति ? कः पुनः प्रकाशितो जायते ? हिमस्य शीतस्य भेषजमौषधं किमस्ति ? तथा बीजारोपणार्थं महत् क्षेत्रमिव किमत्र भवतीति प्रश्नाश्चत्वारः॥३॥

एषां क्रमेणोत्तराणि—(सूर्य्य एकाकी०) अस्मिन् संसारे सूर्य्य एकाकी चरति, स्वयं प्रकाशमानः सन्नन्यान् सर्वान् लोकान् प्रकाशयति। तस्यैव प्रकाशेन चन्द्रमाः पुनः प्रकाशितो जायते, नहि चन्द्रमसि स्वतः प्रकाशः कश्चिदस्तीति। अग्निर्हिमस्य शीतस्य भेषजमौषधमस्तीति। भूमिर्महदावपनं बीजारोपणादेरधिकरणं क्षेत्रं चेति॥४॥

वेदेष्वेतद्विषयप्रतिपादका एवंभूता मन्त्रा बहवः सन्ति।

—: इति [संक्षेपतः] प्रकाश्यप्रकाशकविषयः :—

भाषार्थ—(सत्येनो०) इन मन्त्रों में यही विषय और उनका यही प्रयोजन है कि लोक दो प्रकार के होते हैं—एक तो प्रकाश करनेवाले, और दूसरे वे जो प्रकाश किये जाते हैं।

अर्थात् सत्यस्वरूप परमेश्वर ने ही अपने सामर्थ्य से सूर्य आदि सब लोकों को धारण किया है। उसी के सामर्थ्य से सूर्यलोक ने भी अन्य लोकों का धारण और प्रकाश किया है। तथा ऋत अर्थात् "काल [ने बारह] महिने[3], सूर्य ने किरण और वायु ने भी यथायोग्य सूक्ष्म स्थूल त्रसरेणु आदि पदार्थों का यथावत् धारण किया है। (दिवि सोमो०) इसी प्रकार दिवि अर्थात् सूर्य के प्रकाश में [आश्रित होकर] चन्द्रमा प्रकाशित होता है। उसमें जितना प्रकाश है, सो सूर्य आदि लोक का ही है। और ईश्वर का प्रकाश तो सब में है। परन्तु चन्द्र आदि लोकों में अपना प्रकाश नहीं है, किन्तु सूर्य आदि लोकों से ही चन्द्र और पृथिव्यादि लोक प्रकाशित हो रहे हैं॥ १॥

(सोमेनादित्या०) जब आदित्य की किरण चन्द्रमा के साथ युक्त होके, उससे उलट कर[4] भूमि को प्राप्त होके बलवाली होती हैं, तभी वे शीतल भी होती हैं। क्योंकि आकाश के जिस-जिस देश में सूर्य के प्रकाश को पृथिवी की छाया रोकती है, उस-उस देश में शीत भी अधिक होता है। जिस-जिस देश में सूर्य की किरण तिरछी पड़ती हैं, उस-उस देश में गर्मी भी कमती होती है।

---

१. पदमिदं वै० य० मुद्रितेषु षष्ठसंस्करणपर्यन्तमुपलभ्यते। ८,६ संस्करणयोः प्रमादान्नष्टम्।

२. वै० य० मुद्रित संस्करण २-८ तक 'महीने' पाठ है। ३. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'काल महिने सूर्यकिरण और वायु ने भी सूक्ष्म स्थूल' पाठ मिलता है। यह असम्बद्ध सा पाठ है। हमारे द्वारा मुद्रित पाठ हस्तलेख पर आश्रित है। द्र०—वै० य० मुद्रित शताब्दी सं० तथा सं० ६, ७, ८,६ में मुद्रित टि०।

४. यहां से आगे भाषानुवाद कुछ अस्पष्ट है।

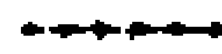
फिर गर्मी के कम होने और शीतलता के अधिक होने से सब मूर्तिमान् पदार्थों के परमाणु जम जाते हैं। उनको जमने से पुष्टि होती है। और जब उनके बीच में सूर्य की तेजरूप किरण पड़ती है, तब उनमें से भाफ उठती है। उनके योग से किरण भी बलवाली होती हैं। जैसे जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब अत्यन्त चमकता है, और चन्द्रमा के प्रकाश और वायु से सोमलता आदि ओषधियां भी पुष्ट होती हैं, और उनसे पृथिवी पुष्ट होती है। इसीलिये ईश्वर ने नक्षत्र लोकों के समीप चन्द्रमा को स्थापित किया है ॥ २ ॥

(कः स्वि०) इस मन्त्र में चार प्रश्न हैं। उनके बीच में से पहिला (प्रश्न)—कौन एकाकी अर्थात् अकेला विचरता, और अपने प्रकाश से प्रकाशवाला है? (दूसरा)—कौन दूसरे के प्रकाश से प्रकाशित होता है? (तीसरा)-शीत का औषध क्या है? और (चौथा)—कौन बड़ा क्षेत्र अर्थात् स्थूल पदार्थ रखने का स्थान है? ॥ ३ ॥

इन चारों प्रश्नों का क्रम से उत्तर देते हैं–(सूर्य एकाकी०)—(१) इस संसार में सूर्य ही एकाकी अर्थात् अकेला विचरता, और अपनी ही कील पर घूमता है, तथा प्रकाशस्वरूप होकर सब लोकों का प्रकाश करनेवाला है। (२) उसी सूर्य के प्रकाश से चन्द्रमा प्रकाशित होता है। (३) शीत का औषध अग्नि है। (४)और चौथा यह है—पृथिवी साकार चीजों के रखने का स्थान तथा सब बीज बोने का बड़ा खेत है।

वेदों में इस विषय के सिद्ध करनेवाले मन्त्र बहुत हैं। उनमें से यहां एकदेशमात्र लिख दिया है। वेदभाष्य में सब विषय विस्तारपूर्वक आ जावेंगे ॥ ४ ॥

॥ इति संक्षेपतः प्रकाश्यप्रकाशकविषयः ॥



अथ गणितविद्याविषयः

एका च मे तिस्रश्च मे तिस्रश्च मे पञ्च च मे पञ्च च मे सप्त च मे सप्त च मे नव च मे नव च मऽ एकादश च म एकादश च मे त्रयोदश च मे त्रयोदश च मे पञ्चदश च मे पञ्चदश च मे सप्तदश च मे सप्तदश च मे नवदश च मे नवदश च मऽ एकविꣳशतिश्च मऽ एकविꣳशतिश्च मे त्रयोविꣳशतिश्च मे त्रयोविꣳशतिश्च मे पञ्चविꣳशतिश्च मे पञ्चविꣳशतिश्च मे सप्तविꣳशतिश्च मे सप्तविꣳशतिश्च मे नवविꣳशतिश्च मे नवविꣳशतिश्च म एकत्रिꣳशच्च म एकत्रिꣳशच्च मे त्रयस्त्रिꣳशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १ ॥

चतस्रश्च मेऽष्टौ च मेऽष्टौ च मे द्वादश च मे द्वादश च मे षोडश च मे षोडश च मे विꣳशतिश्च मे विꣳशतिश्च मे चतुर्विꣳशतिश्च मे चतुर्विꣳशतिश्च मेऽष्टाविꣳशतिश्च मेऽष्टाविꣳशतिश्च मे द्वात्रिꣳशच्च मे द्वात्रिꣳशच्च मे षट्त्रिꣳशच्च मे षट्त्रिꣳशच्च मे चत्वारिꣳशच्च मे चत्वारिꣳशच्च मे चतुश्चत्वारिꣳशच्च मे चतुश्चत्वारिꣳशच्च मेऽष्टाचत्वारिꣳशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २ ॥ य० अ० १८ । मं० २४,२५ ॥

भाष्यम्—अभिप्रायः—अनयोर्मन्त्रयोर्मध्ये खल्वीश्वरेणाङ्कबीजरेखागणितं प्रकाशितमिति । (एका०) एकार्थस्य या वाचिका संख्यास्ति (१), सैकेन युक्ता द्वौ भवतः (२), यत्र द्वावेकेन युक्तौ सा त्रित्ववाचिका (३) ॥१॥

द्वाभ्यां द्वौ युक्तौ चत्वारः (४), एवं तिसृभिस्त्रित्वसंख्यायुक्ता षट् (६), एवमेव चतस्रश्च मे पञ्च[1] च मे इत्यादिषु परस्परं संयोगादिक्रिययाऽनेकविधाङ्कगणितविद्या सिध्यति । अन्यत् खल्वत्रानेकचकाराणां पाठान्मनुष्यैरनेकविधा गणितविद्याः सन्तीति वेद्यम् ।

सेयं गणितविद्या वेदाङ्गे [2]ज्योतिषशास्त्रे प्रसिद्धास्त्यतो नात्र लिख्यते । परन्त्वीदृशा मन्त्रा [2]ज्योतिषशास्त्रस्थगणितविद्याया मूलमिति विज्ञायते ।

---

१. अत्र 'चतस्रश्च मेऽष्टौ च मे' इति प्रतीकग्रहणं युक्तं स्यात् । 'पञ्च च मे' इत्यंशस्तु पूर्वपठितस्य मन्त्रस्यैकदेशः । न च तस्यात्र द्वितीयमन्त्रव्याख्यानप्रसंगे निर्देशावसरः ।

२. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायाः संस्कृतांशमात्रे संस्करणे ६१तमे पृष्ठे यथाक्रमं 'ज्योतिश्शास्त्रे' 'ज्योति-

इयमङ्कसंख्या निश्चितेषु संख्यातपदार्थेषु प्रवर्त्तते। ये चाज्ञातसंख्याः पदार्थास्तेषां विज्ञानार्थं बीजगणितं प्रवर्त्तते। तदपि[1] विधानम् 'एका च' इति। अ—क इत्यादिसंकेतेनैतन्मन्त्रादिभ्यो बीजगणितं निःसरतीत्यवधेयम् ॥२॥

२ ३ १ २ ३ १ २ २ १ ३ १ २ १२ २२ ३ १ २

अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये। नि होता सत्सि बर्हिषि ॥

साम० छं० प्र० १। खं० १॥[2]

यथा 'एका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा[3]' इति न्यायेन स्वरसङ्केताङ्कैर्बीजगणितमपि साध्यम् इति बोध्यम्।

एवं गणितविद्याया रेखागणितं तृतीयो भागः सोऽप्यत्रोच्यते[4]—

भावार्थ—(एका च मे०) इन मन्त्रों में यही प्रयोजन है कि अङ्क, बीज और रेखा भेद से जो तीन प्रकार की गणितविद्या सिद्ध की है, उनमें से प्रथम अङ्क (१) जो संख्या है, सो दो वार गणने से दो की वाचक होती है। जैसे १+१=२। ऐसे ही आगे एक, तथा एक के आगे दो, वा दो के आगे एक आदि जोड़ने से भी समझ लेना। इसी प्रकार एक के साथ तीन जोड़ने से चार (४), तथा तीन (३) को तीन (३) के साथ जोड़ने से (६), अथवा तीन को तीन से गुणने से ३×३=९ हुए ॥ १ ॥

इसी प्रकार चार के साथ चार, पांच के साथ पांच, छः के साथ छः, आठ के साथ आठ इत्यादि जोड़ने वा गुणने तथा सब मन्त्रों के आशय को फैलाने से सब गणितविद्या निकलती है। जैसे पांच के साथ पांच (५५), वैसे ही पांच पांच छः छः (५५) (६६) इत्यादि जान लेना चाहिये। ऐसे ही इन मन्त्रों के अर्थों की आगे योजना करने से अङ्कों से अनेक प्रकार की गणितविद्या अवश्य जाननी चाहिये। [5][और भी, यहां मन्त्रों में अनेक चकारों के पाठ से अनेकविध गणित विद्या है, ऐसा मनुष्यों को जानना चाहिये।]

और जो कि वेदों का अङ्ग ज्योतिषशास्त्र कहाता है, उसमें भी इसी प्रकार के मन्त्रों के अभिप्राय से गणितविद्या सिद्ध की है।

और अङ्कों से जो गणितविद्या निकलती है, वह निश्चित संख्यात[6] पदार्थों में युक्त होती है। और अज्ञात पदार्थों की संख्या जानने के लिये जो बीजगणित होता है, सो भी 'एका च मे०' इत्यादि मन्त्रों से ही सिद्ध होता है। जैसे (अ+क) (अ—क) (क÷अ) इत्यादि सङ्केत से निकलता है। यह भी वेदों ही से ऋषि-मुनियों ने निकाला है ॥ २ ॥

(स्वर-अङ्क: अ+क पर २ २, अ—क पर २ २, क÷अ पर ३ ३)

इशास्त्रस्य०' इत्येवं पाठो दृश्यते।

१. 'तद्विधानमपि' शुद्धः पाठो ज्ञेयः। २. साम पूर्वा० १।१।१।१॥ ३. सुभाषितं कस्यचित्।

४. अग्रिममन्त्राभ्यामिति शेषः। ५. कोष्ठान्तर्गत पाठ भाषानुवाद में छूटा हुआ है।

६. वै० य० मुद्रित सं० १, २ और हस्तलेख में—'निश्चित और असंख्यात' अपपाठ है।

(अग्न आ०) इस मन्त्र के संकेतों से भी बीजगणित निकलता है।
और इसी प्रकार से तीसरा भाग जो रेखागणित है, सो भी वेदों ही से सिद्ध होता है—

इयं वेदिः परोऽ अन्तः पृथिव्याऽ अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।
अयꣳ सोमो वृष्णोऽ अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥ ३ ॥
य० अ० २३। मं० ६२॥

कासीत् प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत् परिधिः क आसीत्।
छन्दः किमासीत् प्रउगं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे ॥ ४ ॥
ऋ० अ० ८। अ० ७। व० १८। मं० ३॥[1]

भाष्यम्—(इयं वेदिः०)। अभिप्रायः—अत्र मन्त्रयो[2] रेखागणितं प्रकाश्यत इति।

इयं या वेदिस्त्रिकोणा, चतुरस्रा, [3]श्येनाकारा, वर्तुलाकारादियुक्ता क्रियतेऽस्या वेदेराकृत्या रेखागणितोपदेशलक्षणं विज्ञायते। एवं पृथिव्याः परोऽन्तो यो भागोऽर्थात् सर्वतः सूत्रवेष्टनवदस्ति स परिधिरित्युच्यते। यश्चायं यज्ञो हि संगमनीयो रेखागणिते मध्यो व्यासाख्यो मध्यरेखाख्यश्च सोऽयं भुवनस्य भूगोलस्य ब्रह्माण्डस्य वा नाभिरस्ति। (अयꣳ सो०) सोमलोकोऽप्येवमेव परिध्यादि-युक्तोऽस्ति। (वृष्णो अश्व०) वृष्टिकर्त्तुः सूर्यस्याग्नेर्वायोर्वा वेगहेतोरपि परिध्यादिकं तथैवास्ति। (रेतः) तेषां वीर्यमोषधिरूपेण सामर्थ्यार्थं विस्तृतमप्यस्तीति वेद्यम्। (ब्रह्मायं वा०) यद् ब्रह्मास्ति तद्वाण्याः (परमं व्योम) अर्थात् परिधिरूपेणान्तर्बहिः स्थितमस्ति ॥३॥

(कासीत् प्रमा) यथार्थज्ञानं यथार्थज्ञानवान् तत्साधिका बुद्धिः कासीत्? सर्वस्येति शेषः। एवम् (प्रतिमा) प्रतिमीयतेऽनया सा प्रतिमा, यया परिमाणं क्रियते, सा कासीत्? एवमेवास्य [किं] (निदानम्) कारणं किमस्ति? (आज्यम्०) ज्ञातव्यं घृतवत् सारभूतं चास्मिन् जगति किमासीत्? सर्वदुःखनिवारकमानन्देन स्निग्धं सारभूतं च? (परिधिः क०) तथास्य सर्वस्य विश्वस्य पृष्ठा-वरणं क आसीत्? गोलस्य पदार्थस्योपरि सर्वतः सूत्रवेष्टनं कृत्वा यावती रेखा लभ्यते स परिधि-रित्युच्यते। (छन्दः०) स्वच्छन्दं स्वतन्त्रं वस्तु किमासीत्? (प्रउगं०) प्रह्रोक्थं स्तोतव्यं किमासीत्? इति प्रश्नाः। एषामुत्तराणि—(यद्देवा देवम्) यत् यं देवं परमेश्वरं विश्वे देवाः सर्वे विद्वांसः (अयजन्त) समपूजयन्त, पूजयन्ति, पूजयिष्यन्ति च, स एव सर्वस्य (प्रमा) यथार्थतया ज्ञातास्ति, (प्रतिमा) परिमाणकर्त्ता। एवमेवाग्रेऽपि पूर्वोक्तोऽर्थो योजनीयः।

अत्रापि 'परिधि'शब्देन रेखागणितोपदेशलक्षणं विज्ञायते। सेयं विद्या ज्योतिषशास्त्रे[4] विस्तरश उक्तास्ति। एवमेतद्विषयप्रतिपादका अपि वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्ति ॥४॥

—: इति संक्षेपतो गणितविद्याविषयः :—

१. ऋ० १०।१३०।३॥ २. 'अत्रानयोर्मन्त्रयो' इति संस्कृतमात्रसंस्करणे पाठः (पृष्ठ ६२)।
३. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'सेनाकारा' इत्यपपाठः, भाषार्थे 'श्येनपक्षी' पाठदर्शनात्।
४. 'ज्योतिश्शास्त्रे' इति संस्कृतमात्रसंस्करणे पाठः (पृष्ठ ६२)।

भाषार्थ—(इयं वेदिः०)। अभिप्राय— इन मन्त्रों में रेखागणित का प्रकाश किया है। क्योंकि वेदी की रचना में रेखागणित का भी उपदेश है। जैसे तिकोन, चौकोन, श्येनपक्षी[1] के आकार और गोल आदि जो वेदी का आकार किया जाता है, सो आर्यों ने रेखागणित ही का दृष्टान्त माना था। क्योंकि (परो अन्तः पृ०) पृथिवी का जो चारों ओर घेरा है उसको 'परिधि', और ऊपर से अन्त तक जो पृथिवी की रेखा है उसको 'व्यास' कहते हैं। इसी प्रकार से इन मन्त्रों में आदि मध्य और अन्त आदि रेखाओं को भी जानना चाहिये। और इसी रीति से तिर्यक विषुवत् रेखा आदि भी निकलती हैं ॥ ३ ॥

(कासीत् प्र०) अर्थात् यथार्थ ज्ञान क्या है? (प्रतिमा०) जिससे पदार्थों का तोल किया जाय सो क्या चीज है? (निदानम्०) अर्थात् कारण जिससे कार्य उत्पन्न होता है, वह क्या चीज है? (आज्यं०) जगत् में जानने के योग्य सारभूत क्या है? (परिधिः०) परिधि किसको कहते हैं? (छन्दः०) स्वतन्त्र वस्तु क्या है? (प्रउ०) प्रयोग और शब्दों से स्तुति करने योग्य क्या है? इन सात प्रश्नों का उत्तर यथावत् दिया जाता है—(यद्देवा देव०) जिसको सब विद्वान् लोग पूजते हैं, वही परमेश्वर 'प्रमा' आदि नामवाला है।

इन मन्त्रों में भी 'प्रमा' और 'परिधि' आदि शब्दों से रेखागणित साधने का उपदेश परमात्मा ने किया है। सो यह तीन प्रकार की गणितविद्या आर्यों ने वेदों से ही सिद्ध की है, और इसी आर्य्यावर्त्त देश से सर्वत्र भूगोल में गई है ॥४॥

॥ इति संक्षेपतो गणितविद्याविषयः ॥

१. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'सेनपक्षी' अपपाठ है।

अथेश्वरस्तुतिप्रार्थनायाचनासमर्पणोपासनाविद्याविषयः[1]

स्तुतिविषयस्तु 'यो भूतं च०'[2] इत्यारभ्योक्तो वक्ष्यते च। अथेदानीं प्रार्थनाविषय उच्यते—

तेजो॑ऽसि॒ तेजो॒ मयि॑ धेहि वी॒र्य्य॑मसि वी॒र्यं मयि॑ धेहि॒ बल॑मसि॒ बलं॒ मयि॑ धेहि।
ओजो॒ऽस्योजो॒ मयि॑ धेहि म॒न्युर॑सि म॒न्युं मयि॑ धेहि॒ सहो॑ऽसि॒ सहो॒ मयि॑ धेहि॥ १॥
य० अ० १९। मं० ९॥

मयी॒दमिन्द्र॑ इन्द्रि॒यं द॑धात्व॒स्मान् रायो॑ म॒घवा॑नः सचन्ताम्।
अ॒स्माकं॑ सन्त्वा॒शिषः॑ स॒त्या नः॑ सन्त्वा॒शिषः॑॥ २॥
य० अ० २। मं० १०॥

यां मे॒धां दे॑वग॒णाः पि॒तर॑श्चो॒पास॑ते।
तया॒ माम॒द्य मे॒धया॑ग्ने मे॒धावि॑नं कुरु॒ स्वाहा॑॥ ३॥ य० अ० ३२। मं० १४॥

भाष्यम्—अभिप्रायः—'तेजोऽसि' इत्यादिमन्त्रेषु परमेश्वरस्य स्तुतिप्रार्थनादिविषयाः प्रकाश्यन्त इति बोध्यम्।

(तेजोऽसि०) हे परमेश्वर! त्वं तेजो[3]ऽस्यनन्तविद्यादिगुणैः प्रकाशमयोऽसि, मय्यप्यसंख्यातं तेजो विज्ञानं धेहि। (वीर्य्यमसि०) हे परमेश्वर! त्वं वीर्यमस्यनन्तपराक्रमवानसि, कृपया मय्यपि शरीरबुद्धिशौर्य्यस्फूर्त्यादिवीर्य्यं पराक्रमं स्थिरं निधेहि[4]। (बलम०) हे महाबलेश्वर! त्वमनन्तबलमसि, मय्यप्यनुग्रहतः उत्तमं बलं धेहि स्थापय। (ओजो०) हे परमेश्वर! त्वमोजोऽसि, मय्यप्योजः सत्यं विद्याबलं धेहि। (मन्युरसि०) हे परमेश्वर! त्वं मन्युर्दुष्टान् प्रति क्रोधकृदसि, मय्यपि स्वसत्तया दुष्टान् प्रति मन्युं धेहि। (सहोऽसि०) हे[5] सहनशीलेश्वर! त्वं सहोऽसि,

---

१. वै० य० मुद्रितेऽष्टमसंस्करणे 'अथेश्वरस्तुतिप्रार्थनायाचनासमर्पणविषयः' इत्येव पाठः केनचित् संशोधकेन कृतः। स एव च नवमसंस्करणेऽप्यनुकृतः। संशोधकोऽग्रे 'अथोपासनाविषयः संक्षेपतः' इत्यवान्तरशीर्षकं दृष्ट्वा भ्रान्त इति प्रतीयते। २. द्रष्टव्यं पूर्वत्र, पृष्ठ ५।

३. वै य० मुद्रितेषु षष्ठसंस्करणपर्यन्तं 'वीर्यमस्य०' इत्यपपाठः।

४. वै० य० मुद्रिते प्रथमसंस्करणे 'धारय' इत्येवं मुद्रितः पाठस्तत्रैव संशोधनपत्रे 'निधेहि' इत्येवं शोधितः स च पञ्चमसंस्करणं यावन्मुद्रितोऽपि शताब्दीसंस्करणशोधकेन प्रथमसंस्करणस्थं शोधनपत्रमदृष्ट्वा 'धारय' इत्यपपाठः पुनर्निवेशितः, स च ६-७-८ संस्करणेषु मुद्रितः।

५. वै० य० मुद्रितेषु चतुर्थसंस्करणं यावत् मुद्रितमपि 'हे' पदं पञ्चमसंस्करणे प्रमादान्नष्टम्,तथैव षष्ठ-सप्तमसंस्करणयोर्मुद्रितम्। अष्टमसंस्करणे त्विदं पदं [हे] इत्येवं कोष्ठे परिवर्धितः।

मय्यपि सुखदुःखयुद्धादिसहनं धेहि । एवं कृपयैतदादिशुभान् गुणान् मह्यं वेहीत्यर्थः ॥१॥

(मयीदमिन्द्र०) हे इन्द्र परमैश्वर्यवन् परमात्मन् ! मयि मदात्मनि श्रोत्रादिकं मनश्च सर्वोत्तमं भवान् दधातु, तथाऽस्मांश्च पोषयतु, अर्थात् सर्वोत्तमैः पदार्थैः सह वर्त्तमानान् अस्मान् सदा कृपया करोतु पालयतु च । (अस्मान् रायो०) तथा नोऽस्मभ्यं, मघं परमं विज्ञानादिधनं विद्यते यस्मिन् स मघवा[1] भवान् स परमोत्तमं राज्यादिधनमस्मदर्थं दधातु । (सचन्ताम्) सचतां तत्र चास्मान् समवेतान् करोतु । तथा भवन्त उत्तमेषु गणेषु सचन्तां समवेता भवन्तितीश्वराऽऽज्ञास्ति । (अस्माकं८ स०) तथा हे भगवन् ! त्वत्कृपयाऽस्माकं सर्वा आशिष इच्छाः सर्वदा सत्या भवन्तु । मा काश्चिदस्माकं चक्रवर्तिराज्यानुशासनादय आशिष इच्छा मोघा भवेयुः ॥२॥

(यां मेधाम्) हे अग्ने परमेश्वर ! परमोत्तमया मेधया धारणावत्या बुद्धया सह (मा) मां मेधाविनं सर्वदा कुरु । का मेधेत्युच्यते—(देवगणाः०) विद्वत्समूहाः पितरो विज्ञानिनश्च यामुपासते, (तया) तया मेधया (अद्य) वर्त्तमानदिने मां सर्वदा युक्तं कुरु संपादय । (स्वाहा) अत्र स्वाहाशब्दार्थे प्रमाणं निरुक्तकारा आहुः—

'स्वाहाकृतयः, स्वाहेत्येतत्सु आहेति वा, स्वा वागाहेति वा, स्वं प्राहेति वा, स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा । तासामेषा भवति ॥' निरु० अ० ८ । खं० २० ॥

स्वाहाशब्दस्यायमर्थः—(सु आहेति वा) सु सुष्ठु कोमलं मधुरं कल्याणकरं प्रियं वचनं सर्वैर्मनुष्यैः सदा वक्तव्यम् । (स्वा वागाहेति वा) या ज्ञानमध्ये स्वकीया वाग्वर्त्तते सा यदाह तदेव वागिन्द्रियेण सर्वदा वाच्यम् । (स्वं प्राहेति वा) स्वं स्वकीयपदार्थं प्रत्येव स्वत्वं वाच्यं, न परपदार्थं प्रति चेति । (स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा) सुष्ठुरीत्या संस्कृत्य संस्कृत्य हविः सदा होतव्यमिति स्वाहाशब्दपर्य्यायार्थाः ॥३॥

भाषार्थ—अब गणितविद्याविषय के पश्चात् 'तेजोऽसि' इत्यादि मन्त्रों में केवल ईश्वर की प्रार्थना याचना समर्पण और उपासना विषय[2] है, सो आगे लिखा जाता है । परन्तु जानना चाहिये कि स्तुतिविषय तो 'यो भूतं च०' इत्यादि[3] मन्त्रों में कुछ-कुछ लिख दिया है, और आगे भी कुछ लिखेंगे । यहां पहिले प्रार्थनाविषय लिखते हैं—

---

१. अस्य मन्त्रस्य पदपाठे ग्रन्थकर्तुर्यजुर्वेदभाष्ये च 'मघवानः' इत्येकं पदम् । इह तु 'मघवा नः' इति द्विपदत्वं मत्वा व्याख्यानं कृतम् । यद्यप्यत्र द्विपदत्वे स्वरदोषो नोपपद्यते, तथापि 'सचन्ताम्' इति क्रियाया बहुत्वमेकत्वे परिणेतव्यं भवति । ग्रन्थकृता त्वत्र 'सचन्ताम्' इत्यस्य 'समवेतान् करोतु' इत्येवं व्याख्यायोत्तरवाक्ये 'समवेता भवन्तु' इत्येवं बहुत्वेऽपि संगतिर्दर्शिता । अत्रेदमप्यवधेयम्—आर्याभिविनयग्रन्थेऽपि ग्रन्थकारेण द्विपदत्वमेवाश्रितम् (द्र०—प्रथमद्वितीयसंस्करणे) ।

२. इस प्रकरण के आरम्भ के मुख्य शीर्षक का पाठ ८ अष्टम संस्करण में 'अथेश्वरस्तुतिप्रार्थनायाचनासमर्पणविषयः' इस प्रकार बदल दिया गया, उसी का अनुकरण नवम संस्करण में किया गया । इसका कारण सम्भवतः इसी प्रकरण में 'अथोपासनाविषयः संक्षेपतः' इस अवान्तर शीर्षक को मुख्य शीर्षक मान लेना है ।

३. द्रष्टव्य पूर्व पृष्ठ ६ ।

(तेजोऽसि०) अर्थात् हे परमेश्वर ! आप प्रकाशरूप हैं, मेरे हृदय में भी कृपा से विज्ञान रूप प्रकाश कीजिये। (वीर्यमसि०) हे जगदीश्वर ! आप अनन्त पराक्रमवाले हैं, मुझको भी पूर्ण पराक्रम दीजिये। (बलमसि०) हे अनन्तबलवाले महेश्वर ! आप अपने अनुग्रह से मुझको भी शरीर और आत्मा में पूर्ण बल दीजिये। (ओजो०) हे सर्वशक्तिमन् ! आप सब सामर्थ्य के निवास-स्थान हैं, अपनी करुणा से यथोचित सामर्थ्य का निवासस्थान मुझको भी कीजिये। (मन्युरसि०) हे दुष्टों पर क्रोध करनेहारे ! आप दुष्ट कामों और दुष्ट जीवों पर क्रोध करने का स्वभाव मुझ में भी रखिये। (सहोऽसि०) हे सबके सहन करनेहारे ईश्वर! आप जैसे पृथिवी आदि लोकों के धारण और नास्तिकों के दुष्टव्यवहारों को सहते हैं, वैसे ही सुख-दुःख, हानि-लाभ, सरदी-गरमी, भूख-प्यास और युद्ध आदि को सहनेवाला मुझको भी कीजिये। अर्थात् सब शुभ गुण मुझको देके अशुभ गुणों से सदा अलग रखिये ॥ १ ॥

(मयीदमिन्द्र०) हे उत्तम ऐश्वर्ययुक्त परमेश्वर ! आप अपनी कृपा से श्रोत्र आदि उत्तम इन्द्रिय और श्रेष्ठ स्वभाववाले मन को मुझमें स्थिर कीजिये [और हमें पुष्ट कीजिये], अर्थात् हमको उत्तम गुण और पदार्थों के सहित सब दिन के लिये कीजिये [और पालन कीजिये]। (अस्मान् रा०) हे [विज्ञानादि] परमधनवाले ईश्वर ! आप उत्तम राज्य आदि[1] धन हमारे लिये धारण कीजिये, (सचन्ताम्) [और उससे हमें संयुक्त कीजिये।] मनुष्यों के लिये ईश्वर की यह आज्ञा है कि हे मनुष्यो ! तुम लोग सब काल में सब प्रकार से उत्तम गुणों का ग्रहण और उत्तम ही कर्मों का सेवन सदा करते रहो। (अस्माकꣳ स०) हे भगवन् ! आपकी कृपा से हम लोगों की सब इच्छायें सर्वदा सत्य ही होती रहें, तथा सदा सत्य ही कर्म करने की इच्छा हो। किन्तु [2]चक्रवर्ती राज्य के अनुशासन आदि की इच्छायें कभी असफल न हों ॥ २ ॥

(यां मेधां०) इस मन्त्र का यह अभिप्राय है कि—हे परमात्मन् ! आप अपनी कृपा से, जो अत्यन्त उत्तम सत्यविद्यादि शुभगुणों को धारण करने के योग्य बुद्धि है, उससे युक्त हम लोगों को कीजिये। [कौनसी मेधा ?] कि जिसके प्रताप से देव अर्थात् विद्वान् और पितर अर्थात् ज्ञानी [जन जिसकी उपासना करते हैं। उसी मेधा से मुझे आज युक्त कीजिये, जिससे युक्त] होके हम लोग आपकी उपासना सब दिन करते रहें। (स्वाहा०) इस शब्द का अर्थ निरुक्तकार यास्क-मुनिजीने अनेक प्रकार से कहा है। सो लिखते हैं कि—

(सु आहेति वा) सब मनुष्यों को अच्छा, मीठा, कल्याण करनेवाला और प्रिय वचन सदा बोलना चाहिये। (स्वा वागाहेति वा) अर्थात् मनुष्यों को यह निश्चय करके जानना चाहिये कि जैसी बात उनके ज्ञान के बीच में वर्त्तमान हो, जीभ से भी सदा वैसा ही बोलें, उससे विपरीत नहीं। (स्वं प्राहेति वा) सब मनुष्य अपने ही पदार्थ को अपना कहें, दूसरे के पदार्थ को कभी नहीं। अर्थात् जितना-जितना धर्मयुक्त पुरुषार्थ से उनको पदार्थ प्राप्त हो, उतने ही में सदा सन्तोष

१. वै० य० मुद्रित में 'धन वाले हमको सदा के लिए कीजिए' पाठ संस्कृत से विपरीत है।

२. वै० य० मुद्रित में 'चक्रवर्ती राज्य आदि बड़े-बड़े काम करने की योग्यता हमारे बीच में स्थिर कीजिये' पाठ संस्कृत से विपरीत है।

करें। (स्वाहुतं ह०) अर्थात् सब दिन अच्छी प्रकार सुगन्धादि द्रव्यों का संस्कार करके सब जगत् के उपकार करनेवाले होम को किया करें। [1]और 'स्वाहा' शब्द का यह भी अर्थ है कि सब दिन मिथ्यावाद को छोड़के सत्य ही बोलना चाहिये ॥ ३ ॥

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे ।
युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः ॥ ४ ॥

ऋ० अ० १ । अ० ३ । व० १८ । मं० २ ॥[2]

इषे पिन्वस्वोर्जे पिन्वस्व ब्रह्मणे पिन्वस्व क्षत्राय पिन्वस्व द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्व ।
धर्मासि सुधर्मा मेन्यस्मे नृम्णानि धारय ब्रह्म धारय क्षत्रं धारय विशं धारय ॥ ५ ॥

य० अ० ३८ । मं० १४ ॥

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ६ ॥

य० अ० ३४ । मं० १ ॥

वाजश्च मे प्रसवश्च मे प्रयतिश्च मे प्रसितिश्च मे धीतिश्च मे क्रतुश्च मे० ॥[3]

भाष्यम्—(स्थिरा वः०) अभिप्रायः—ईश्वरो जीवेभ्य आशीर्ददातीति विज्ञेयम्—

हे मनुष्या![4] वो युष्माकं (आयुधा) आयुधान्याग्नेयास्त्रादीनि, शतघ्नीभुशुण्डीधनुर्बाणास्यादीनि शस्त्राणि च (स्थिरा) मदनुग्रहेण स्थिराणि[5] सन्तु । (पराणुदे) दुष्टानां शत्रूणां पराजयाय युष्माकं विजयाय च सन्तु। तथा (वीळू) अत्यन्तदृढानि प्रशंसितानि च (उत) एवं शत्रुसेनाया अपि (प्रतिष्कभे) प्रतिष्टम्भनाय पराङ्मुखतया पराजयकरणाय च सन्तु। तथा (युष्माकमस्तु तविषी०) युष्माकं तवीषी[6] सेनाऽत्यन्तप्रशंसनीया बलं चा[खण्डितम]स्तु। येन युष्माकं चक्रवर्ति-

१. अगली पङ्क्ति व्यर्थ है। इसमें कहा गया अभिप्राय पूर्वत्र 'स्वा वागाहेति वा' से उक्तार्थ है।

२. ऋ० १। ३९। २॥

३. यजु० अ० १८। नवमवर्जमन्येषु वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'मे' पदोत्तरं पाठस्यापूर्तिद्योतनाय० बिन्दुनिर्देशो वर्तते। एतद्भाष्येणाप्ययमेवाभिप्रायो द्योत्यते। परन्तु नवमसंस्करणसंशोधनकर्त्रा कोष्ठे [यजुः० १८। १]' इत्येवं संकेतः प्रदत्तः। स च ग्रन्थकृदभिप्रायविरुद्धः। अत्र केवलं यजुषोऽष्टादशाध्यायस्यैव निर्देशो युक्तः।

४. शताब्दीसंस्करणे 'हे मनुष्याः!' इत्येवं शोधितः, तदनु षष्ठसप्तमसंस्करणयोस्तथैव पठ्यते। अष्टमसंस्करणे तु 'हे मनुष्योः!' इत्येवं भ्रष्टः पाठो दृश्यते। अस्माभिस्तु मूलपाठ एव रक्षितः।

५. स्थिराणि अर्थाद् दृढानि नाशरहितानि सन्तु। प्रथमसंस्करणे 'स्थिराणि मदनुग्रहेण' इत्येवं मुद्रितः पाठस्तत्रैव संशोधनपत्रे 'मदनुग्रहेण स्थिराणि' इत्येवं शोधितः। परन्तु शताब्दीसंस्करणसंस्कर्त्रा संशोधनपत्रमदृष्ट्वा पुनः पाठः परिवर्तितः। तदनुसारं षष्ठसप्तमाष्टमसंस्करणेष्वपि तथैव मुद्रितः।

६. वै० य० मुद्रिते नवमसंस्करणे 'तविषि' इत्यपपाठः।

राज्यं स्थिरं स्यात्, दुष्टकर्मकारिणां युष्मद्विरोधिनां शत्रूणां पराजयश्च सदा भवेत्। (मा मर्त्यस्य मा०) परन्त्वयमाशीर्वादः सत्यकर्मानुष्ठानिभ्यो[1] हि ददामि, किन्तु मायिनोऽन्यायकारिणो मर्त्यस्य मनुष्यस्य च कदाचिद् माऽस्तु[2]। अर्थान्नैव दुष्टकर्मकारिभ्यो मनुष्येभ्योऽहमाशीर्वादं कदाचिद् ददामीत्यभिप्रायः ॥४॥

(इषे पिन्वस्व०) हे भगवन्! इषे उत्तमेच्छायै, परमोत्कृष्टायान्नाय चास्मान् त्वं पिन्वस्व स्वतन्त्रतया सर्वदा पुष्टिमतः प्रसन्नान् कुरु। (ऊर्जे) [उत्तमपराक्रमाय दृढप्रयत्नान् कृत्वा पिन्वस्व। (ब्रह्मणे०)][3] वेदविद्याविज्ञानग्रहणाय परमप्रयत्नकारिणो[4] ब्राह्मणवर्णयोग्यान् कृत्वा सदा पिन्वस्व वृद्धोत्साहयुक्तान् अस्मान् कुरु। (क्षत्रा०) क्षत्राय साम्राज्याय पिन्वस्व परमवीरवतः[5] क्षत्रियस्वभावयुक्तान् चक्रवर्तिराज्यसहितान् अस्मान् कुरु। (द्यावापृ०) एवं यथा द्यावापृथिवीभ्यां सूर्याग्निभूम्यादिभ्यः पदार्थेभ्यः सर्वजगते प्रकाशोपकारौ भवतः, तथैव कलाकौशलयानचालनादिविद्यां गृहीत्वा सर्वमनुष्योपकारं वयं कुर्मः, एतदर्थमस्मान् पिन्वस्वोत्तमप्रयत्नवतः कुरु। (धर्मासि०) हे सुधर्म परमेश्वर! त्वं धर्मासि न्यायकार्यसि, अस्मानपि न्यायधर्मयुक्तान् कुरु। (अमेनि०) हे सर्वहितकारकेश्वर! यथा त्वममेनिर्निर्वैरोऽसि, तथाऽस्मानपि सर्वमित्रान् निर्वैरान् कुरु। तथा[6] (अस्मे) अस्मदर्थं (नृम्णानि) कृपया सुराज्यसुनियमसुरत्नादीनि धारय। एवमेवास्माकं (ब्रह्म०) वेदविद्यां ब्राह्मणवर्णं च धारय, (क्षत्रं०) राज्यं क्षत्रियवर्णं च धारय: (विशं०) वैश्यवर्णं प्रजां च धारय, अर्थात् सर्वोत्तमान् गुणान् अस्मन्निष्ठान् कुर्विति प्रार्थ्यते याच्यते च भवान्। तस्मात् सर्वामस्मदिच्छां सम्पूर्णां संपादयेति ॥५॥

(यज्जाग्रतो दू०) यन्मनो जाग्रतो मनुष्यस्य दूरमुदैति, सर्वेषामिन्द्रियाणामुपरि वर्तमानत्वाद् अधिष्ठातृत्वेन व्याप्नोति, (दैवम्) ज्ञानादिदिव्यगुणयुक्तं (तदु०) तत्, उ इति वितर्के, सुप्तस्य पुरुषस्य (तथैव) तेनैव प्रकारेण स्वप्ने दिव्यपदार्थद्रष्टृ (एति) प्राप्नोति, एवं सुषुप्तौ च दिव्यानन्दयुक्तं चेति, तथा (दूरंगमम्) अर्थाद् दूरगमनशीलमस्ति, (ज्योतिषां ज्योति०) ज्योतिषामिन्द्रियाणां सूर्यादीनां च ज्योतिः सर्वपदार्थप्रकाशकम्, (एकम्) असहायं यन्मनोऽस्ति, हे ईश्वर! भवत्कृपया (तन्मे०) तन्मे मम मनो मननशीलं सत् शिवसंकल्पं कल्याणेष्टधर्मशुभगुणप्रियमस्तु ॥६॥

---

१. सत्यकर्मानुष्ठानशब्दान्मत्वर्थीय इनिर्द्रष्टव्यः। अत्रैव 'ददामि' स्थाने 'वर्तते' क्रिया द्रष्टव्या। यद्वा 'ददामि' पदं 'दीयते' इत्येवं परिणेतव्यः। यद्वा पूर्वत्र 'परन्त्विममाशीर्वादं' इत्येवं पाठः शोधनीयः।

२. माङ्योगे लुङ् एव भवतीति केचन वैयाकरणाः प्रतिजानते (द्र०—काशिकादयो ग्रन्थाः ३।३।१७५) तन्न, 'माङि लुङ्' इत्यत्र लिङ्लोटोरप्यनुवृत्तेः (द्र०—ग्रन्थकारकृतमेवाष्टाध्यायीभाष्यम् ३।३।१७५)। 'मा प्रश्नमनृतं वदेः' (विदुरनीति ३।२५) इति, 'मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि' (गीता २।४७) इति च प्रयोगदर्शनात्।

३. अयं 'ऊर्जे पिन्वस्व' मन्त्रपदयोरर्थरूपः पाठो वै० य० मुद्रितेषु सर्वेष्वेव संस्करणेषु नोपलभ्यते। पं० गुरुदेवसंस्करणेऽपि न दृश्यते। भाषायामनुवाददर्शनात् प्रतीयते शुद्धप्रतिलिपिलेखनकाले लेखकप्रमादान्नष्टोऽयं पाठः। ४. अष्टमसंस्करणे 'परमप्रयत्नकारिणा' इत्येवं मुद्रितोऽपपाठः, स एव नवमसंस्करणे 'परमप्रयत्नकारिणां' इत्येवं षष्ठ्यां विपरिणमय्य भ्रष्टतरः कृतः।

५. तृतीयसंस्करणपर्यन्तं 'परमवीरतः' इत्यपपाठ उपलभ्यते। ६. वै० य० मुद्रितचतुर्थसंस्करणपर्यन्तं 'तथा' पाठ एव मुद्रितः, पञ्चमादारभ्य अष्टमपर्यन्तं 'यथा' इत्यपपाठो दृश्यते।

एवमेव 'वाजश्च म' इत्यष्टादशाध्यायस्थैर्मन्त्रैः सर्वस्वसमर्पणं परमेश्वराय कर्त्तव्यमिति वेदे विहितम् । अतः परमोत्तमपदार्थो मोक्षमारभ्यान्नपानादिपर्य्यन्तमीश्वराद् याचितव्यमिति सिद्धम् ।

भाषार्थ—(स्थिरा वः०) इस मन्त्र में ईश्वर सब जीवों को आशीर्वाद देता है कि—हे मनुष्यो ! तुम लोग सब काल में उत्तम बलवाले हो । किन्तु तुम्हारे (आयुधा) अर्थात् आग्नेयादि अस्त्र और शतघ्नी=तोप, भुशुन्डी=बन्दूक, धनुषबाण और तलवार आदि शस्त्र सब स्थिर[1] हों । तथा (पराणुदे) मेरी कृपा से तुम्हारे अस्त्र और शस्त्र सब दुष्ट शत्रुओं के पराजय करने के योग्य होवें । (वीळू) तथा वे अत्यन्त दृढ़ और प्रशंसा करने के योग्य होवें । (उत प्रतिष्कभे०) अर्थात् तुम्हारे अस्त्र और शस्त्र सब दुष्ट शत्रुओं की सेना के वेग थांभने के लिये प्रबल हों । तथा (युष्माकमस्तु त०) हे मनुष्यो ! तुम्हारी (तविषी०) अर्थात् सेना अत्यन्त प्रशंसा के योग्य हो । जिससे तुम्हारा अखण्डित बल और चक्रवर्ति राज्य स्थिर होकर दुष्ट शत्रुओं का सदा पराजय होता रहे । (मा मर्त्यस्य०) परन्तु यह मेरा आशीर्वाद केवल धर्मात्मा, न्यायकारी और श्रेष्ट मनुष्यों के लिये है, और जो (मायि०) अर्थात् कपटी, छली, अन्यायकारी और दुष्ट मनुष्य हैं, उनके लिये नहीं । किन्तु ऐसे मनुष्यों का तो सदा पराजय ही होता रहेगा । इसलिये तुम लोग सदा धर्मकार्यों ही को करते रहो ॥ ४ ॥

(इषे पिन्वस्व०) हे भगवन् ! (इषे०) हमारी शुभ कर्म करने ही की इच्छा हो, और हमारे शरीरों को उत्तम अन्न से सदा पुष्टियुक्त रखिये । (ऊर्जे०) अर्थात् अपनी कृपा से हमको सदा उत्तम पराक्रमयुक्त और दृढ़ प्रयत्न वाले कीजिये । (ब्रह्मणे०) सत्यशास्त्र अर्थात् वेदविद्या के पढ़ने-पढ़ाने और उससे यथावत् उपकार लेने में हमको अत्यन्त समर्थ कीजिये । अर्थात् जिससे हम लोग उत्तम विद्यादि गुणों और कर्मों करके ब्राह्मणवर्ण हों । (क्षत्राय) हे परमेश्वर ! आपके अनुग्रह से हम लोग चक्रवर्तिराज्य और शूरवीर पुरुषों की सेना से युक्त हों, कि क्षत्रियवर्ण के अधिकारी हमको कीजिये । (द्यावापृ०) जैसे पृथिवी सूर्य अग्नि जल और वायु आदि पदार्थों से सब जगत् का प्रकाश और उपकार होता है, वैसे ही कला-कौशल विमान आदि यान चलाने के लिये हमको उत्तम सुखसहित कीजिये कि जिससे हम लोग सब सृष्टि के उपकार करनेवाले हों । (धर्मासि०) हे सुधर्मन् न्यायकरनेहारे ईश्वर ! आप न्यायकारी हैं, वैसे हमको भी न्यायकारी कीजिये । (अमे०) हे भगवन् ! जैसे आप निर्वैर होके सबसे वर्त्तते हो, वैसे ही सबसे वैररहित हमको भी कीजिये । (अस्मे) हे परमकारुणिक ! हमारे लिये (नृम्णानि०) उत्तम राज्य, उत्तम धन और शुभगुण दीजिये । (ब्रह्म०) हे परमेश्वर ! आप ब्राह्मणों को हमारे बीच में उत्तमविद्या युक्त कीजिये । (क्षत्रं०) हमको अत्यन्त चतुर शूरवीर और क्षत्रियवर्ण का अधिकारी कीजिये । (विशं०) अर्थात् वैश्यवर्ण और हमारी प्रजा का रक्षण सदा कीजिये, कि जिससे हम शुभ गुणवाले होकर अत्यन्त पुरुषार्थी हों ॥ ५ ॥

(यज्जाग्रतो०) हे सर्वव्यापक जगदीश्वर ! जैसे जाग्रत अवस्था में मेरा मन दूर-दूर

---

१. स्थिर=दृढ़ हों, टूटें नहीं ।

घूमनेवाला, सब इन्द्रियों का स्वामी, तथा (दैवं०) ज्ञान आदि दिव्यगुणवाला और प्रकाशस्वरूप रहता है, वैसे ही (तदु सु०) निद्रा अवस्था में भी शुद्ध और आनन्दयुक्त रहे। (ज्योतिषां०) जो प्रकाश का भी प्रकाश करनेवाला और एक है, (तन्मे०) हे परमेश्वर! ऐसा जो मेरा मन है, सो आपकी कृपासे (शिवसं०) कल्याण करनेवाला और शुद्धस्वभावयुक्त हो, जिससे अधर्म कामों में कभी प्रवृत्त न हो॥ ६॥

इसी प्रकार से (वाजश्च मे०) इत्यादि शुक्ल[1] यजुर्वेद के अठारहवें अध्याय में [वर्तमान] मन्त्र ईश्वर के अर्थ सर्वस्व समर्पण करने के ही विधान में हैं। अर्थात् सबसे उत्तम मोक्षसुख से लेके अन्न जल पर्यन्त सब पदार्थों की याचना मनुष्यों को केवल ईश्वर ही से करनी चाहिये।

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पताᳬं श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां वाग्यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पतामात्मा यज्ञेन कल्पतां ब्रह्मा यज्ञेन कल्पतां ज्योतिर्यज्ञेन कल्पताᳬं स्वर्यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्। स्तोमश्च यजुश्चऽऋक् च साम च बृहच्च रथन्तरं च। स्वर्देवाऽअगन्मामृताऽअभूम प्रजापतेः प्रजाऽअभूम वेट् स्वाहा॥७॥ य० अ० १८। मं० २९॥

भाष्यम्—(आयुर्यज्ञेन०) 'यज्ञो वै विष्णुः'। श० १। १। २। १३॥[2] वेवेष्टि व्याप्नोति सर्वं जगत् स विष्णुरीश्वरः। हे मनुष्यास्तेन यज्ञेनेश्वरप्राप्त्यर्थं सर्वं स्वकीयमायुः कल्पतामिति। यदस्मदीयमायुरस्ति तदीश्वरेण कल्पतां, परमेश्वराय समर्पितं भवतु। एवमेव (प्राणः), (चक्षुः), [(श्रोत्रं)][3], (वाक्) वाणी, (मनः) मननं ज्ञानम्, (आत्मा) जीवः, (ब्रह्मा) चतुर्वेदज्ञाता यज्ञानुष्ठानकर्त्ता, (ज्योतिः) सूर्यादिप्रकाशः, (धर्मः) न्यायः[4], (स्वः) सुखं, (पृष्ठम्)

---

१. वाजसनेयसंहिता के लिये शुक्ल शब्द का सबसे प्राचीन प्रयोग शतपथ ब्राह्मण के अन्त में मिलता है। ऋषि दयानन्द ने भी इस शब्द का प्रयोग अपने ग्रन्थों में कई स्थानों पर किया है। इसी ग्रन्थ के 'ग्रन्थ-प्रामाण्याप्रामाण्य' विषय में 'नमस्तीर्थ्याय च। ये तीर्थानि प्रचरन्ति सृकाहस्ता निषङ्गिणः इति शुक्लयजुर्वेद-संहितायाम्॥ अ० १६॥' ऐसा पाठ उपलब्ध होता है। इसी प्रकार 'ऋग्वेदभाष्य नमूने का अङ्क' में प्रथम मन्त्र के द्वितीय अर्थ में (द्र०—ऋ० भा० भू० परिशिष्ट, पृष्ठ ७); भ्रान्तिनिवारण (द्र०—ऋ० भा० भू० परिशिष्ट, पृष्ठ ४७); पूना प्रवचन (रा०ला०क०ट्र० सं० पृष्ठ १४, १४८); स० प्रकाश (प्र० सं० पृष्ठ ३३२) पर भी 'शुक्ल' शब्द का प्रयोग मिलता है। इसलिये यहां 'शुक्ल' पद का निर्देश ग्रन्थकार के अभिप्राय के विरुद्ध है, ऐसा कहना भ्रान्तिमूलक है।

२. अयं पाठः प्रथमसंस्करण एव संशोधनपत्रे परिवर्धितः। परन्तु तत्र 'श० १। २। १३॥' इत्येवमपपाठो वर्तते।

३. मन्त्रपदं सदत्र लेखकप्रमादान्नष्टम्, भाषायाम् वर्तते।

४. '(धर्मः) न्यायः' इत्यनावश्यकः पाठः, धर्मपदस्य मन्त्रेऽदर्शनात्। भाषायामप्यस्यानुवादो न दृश्यते। यद्वा—'धर्म'पदमुभयतो वर्तमानं कोष्ठकचिह्नमपनेयम्, तथासत्ययं 'ज्योतिः' पदस्यैवार्थः सम्भवति। ९ संस्करणेऽयं पाठो [ ] इत्येवं कोष्ठे निवेशितः। अष्टमसंस्करणे तु पृथक्करणान्नोपलभ्यते।

भूम्याद्यधिकरणम्, (यज्ञो०) अश्वमेधादिः शिल्पक्रियामयो वा, (स्तोमः) स्तुतिसमूहः, (यजुः) यजुर्वेदाध्ययनम्, (ऋक्) ऋग्वेदाध्ययनम् (साम) सामवेदाध्ययनम् चकारादथर्ववेदाध्ययनं च, (बृहच्च रथन्तरं च) महत्क्रियासिद्धिफलभोगः शिल्पविद्याजन्यं वस्तु चास्मदीयमेतत् सर्वं परमेश्वराय समर्पितमस्तु, येन वयं कृतज्ञाः स्याम । एवं कृते परमकारुणिकः परमेश्वरः सर्वोत्तमं सुखमस्मभ्यं दद्यात् । येन वयं (स्वर्देवा०[1]) सुखे प्रकाशिताः (अमृता०[2]) परमानन्दं मोक्षं (अगन्म[3]) सर्वदा प्राप्ता भवेम । तथा (प्रजापतेः प्र०) वयं परमेश्वरस्यैव प्रजाः (अभूम) अर्थात् परमेश्वरं विहायान्यमनुष्यं राजानं नैव कदाचिन्मन्यामह इति । एवं जाते (वेट् स्वाहा) सदा वयं सत्यं वदामः, भवदाज्ञाकरणे परमप्रयत्नेन उत्साहवन्तोऽभूम भवेम । मा कदाचिद् भवदाज्ञाविरोधिनो वयमभूम, किन्तु भवत्सेवायां सदैव पुत्रवद् वर्त्तेमहि ॥७॥

भाषार्थ—(आयुर्यज्ञेन०) यज्ञ नाम विष्णु का है, जो कि सब जगत् में व्यापक हो रहा है। उसी परमेश्वर के अर्थ सब चीज समर्पण कर देना चाहिये। इस विषय में यह मन्त्र है कि सब मनुष्य अपनी आयु को ईश्वर की सेवा और उसकी आज्ञापालन में समर्पित करें। (प्राणो०) अर्थात् अपना प्राण भी ईश्वर के अर्थ कर देवें। (चक्षु०) जो प्रत्यक्ष प्रमाण और आंख, (श्रोत्रं०) जो श्रवण विद्या और शब्द प्रमाणादि, (वाक्०) वाणी, (मनो०) मन और विज्ञान, (आत्मा०) जीव, (ब्रह्मा०) तथा चारों वेद को पढ़के जो पुरुषार्थ किया है, (ज्योतिः०) जो प्रकाश, (स्वर्यं०) जो सब सुख, (पृष्ठं०) जो उत्तम कर्मों का फल और स्थान, (यज्ञो०) जो कि पूर्वोक्त तीन प्रकार का यज्ञ[4] किया जाता है, ये सब ईश्वर की प्रसन्नता के अर्थ समर्पित कर देना अवश्य है। (स्तोमश्च०) जो स्तुति का समूह, (यजुश्च०) सब क्रियाओं की विद्या, (ऋक् च०) ऋग्वेद अर्थात् स्तुति स्तोत्र, (साम च०) सब गान करने की विद्या, चकार से अथर्ववेद, (बृहच्च) बड़े-बड़े सब पदार्थ, और (रथन्तरं च) शिल्पविद्या आदि के फलों में से जो-जो फल अपने आधीन हों, वे सब परमेश्वर के समर्पण कर देवें। क्योंकि सब वस्तु ईश्वर ही की बनाई हैं।

इस प्रकार से जो मनुष्य अपनी सब चीजें परमेश्वर के अर्थ समर्पित कर देता है, उसके लिये परमकारुणिक परमात्मा सब सुख देता है, इसमें सदेह नहीं। (स्वर्देवा०) अर्थात् परमात्मा की कृपा की लहर और परमप्रकाशस्वरूप विज्ञानप्राप्ति में शुद्ध होके, तथा सब संसार के बीच में कीर्त्तिमान् होके, हम लोग परमानन्दस्वरूप मोक्ष सुख को (अगन्म) सब दिन के लिये प्राप्त हों। (प्रजापतेः०) तथा हम सब मनुष्य लोगों को उचित है कि किसी एक मनुष्य को अपना राजा न मानें। क्योंकि ऐसा अभागी कौन मनुष्य है कि जो सर्वज्ञ, न्यायकारी, सबके पिता एक परमेश्वर को छोड़के दूसरे की उपासना करे और राजा माने। इसलिये हम लोग उसी को राजा मानके सत्य न्याय को प्राप्त हों। अर्थात् वही सब मनुष्यों के न्याय करने में समर्थ है, अन्य कोई नहीं। (वेट्

१. 'देवा' पदात् परं ० बिन्दुनिर्देशः षष्ठसंस्करणं यावद् दृश्यते, तदनन्तरं बिन्दोरपासनात् भ्रष्टोऽयं पाठः। २. अत्रापि 'अमृता' पदानन्तरं ० बिन्दुनिर्देशो विसर्गनिर्देशो वाऽऽवश्यकः।

३. अत्र '(अगन्म)' पाठो व्यर्थः। अस्य 'स्वर्देवा' पदेनान्वयात्। यद्वाऽस्य स्थाने 'अमृता' पदेन सम्बद्धः 'अभूम' पदस्य निर्देशः कर्तव्यः। ४. द्रष्टव्य पूर्वत्र पृष्ठ ७२, पं० १५–१७।

स्वाहा) अर्थात् हम लोग सर्वज्ञ, सत्यस्वरूप, सत्यन्याय करनेवाले परमेश्वर राजा की अपने सत्य-भाव से प्रजा होके यथावत् सत्य मानने, सत्य बोलने और सत्य करने में समर्थ होवें। सब मनुष्यों को परमेश्वर से इस प्रकार की आशा करनी उचित है कि हे कृपानिधे! आपकी आज्ञा और भक्ति से हम लोग परस्पर विरोधी कभी न हों, किन्तु आप और सबके साथ सदा पिता पुत्र के समान प्रेम से वर्तें॥ ७॥

॥ इतीश्वरस्तुतिप्रार्थनायाचनासमर्पणविषयः ॥



अथोपासनाविषयः संक्षेपतः[1]

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥ १ ॥

ऋ० अ० ४ । अ० ४ । व० २४ । मं० १ ॥[2]

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियम्[3] ।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्याऽअध्याभरत् ॥ २ ॥

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे । स्वर्ग्याय शक्त्या ॥ ३ ॥

युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्यतो धिया दिवम् ।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ॥ ४ ॥

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोकऽएतु पथ्येव सूरेः ।
शृण्वन्तु विश्वेऽअमृतस्य पुत्राऽआ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥ ५ ॥

य० अ० ११ । मं० १-३, ५ ॥[4]

भाष्यम्—(युञ्जते०) अस्याभिप्रायः—अत्र जीवेन सदा परमेश्वरस्यैवोपासना कर्त्तव्येति विधीयते ।

(विप्राः) ईश्वरोपासका मेधाविनः, (होत्राः) योगिनो मनुष्याः, (विप्रस्य) सर्वज्ञस्य [(बृहतः) सर्वस्मान्महतः (विपश्चितः) सर्वविद्यायुक्तस्य][5] परमेश्वरस्य मध्ये (मनः) (युञ्जते) युक्तं कुर्वन्ति । (उत) अपि (धियः) बुद्धिवृत्तीस्तस्यैव[6] मध्ये युञ्जते । कथंभूतः स परमेश्वरः ? सर्व-

---

१. पूर्वप्रकरणान्तर्गतोऽप्ययं विषयः प्राधान्याद् बहुवक्तव्यत्वाद् वा ग्रन्थकृतैव पृथक्त्वेन निर्दिष्टः, यद्वा—लेखकमुद्रकदोषात् स्वातन्त्र्यं प्राप्त इति न ज्ञायते ।   २. ऋ० ५ । ८१ । १ ॥

३. संहितायां 'धियः' इत्येवं पठ्यते । ग्रन्थकारस्तु मन्त्रे व्याख्याने च 'धियम्' पाठमेव मनुते । वेद-भाष्ये तु 'धियः' इत्येव पाठ उररीक्रियते ।

४. वै० य० मुद्रितेषु षष्ठसंस्करणं यावत् 'मं० १ । २ । ३ । ४ । ५ ॥' इत्यपपाठः ।

५. अयं पाठो लेखकप्रमादात् त्रुटितः । भाषानुवादानुसारमस्माभिर्वर्धितः ।

६. वै० य० मुद्रितेषु पञ्चमसंस्करणपर्यन्तम् 'अपि धिया बुद्धिवृत्तिस्तस्यैव' इत्यपपाठ उपलभ्यते ।

मिदं जगत् यः (विदधे) विदधे । तथा (वयुनावि०) सर्वेषां जीवानां शुभाशुभानि यानि प्रज्ञानानि प्रजाश्च तानि यो वेद स वायुनावित्, (एकः) स एकोऽद्वितीयोऽस्ति । (इत्) सर्वत्र व्याप्तो ज्ञान-स्वरूपश्च, नास्मात् पर उत्तमः कश्चन् पदार्थो वर्त्तत इति । तस्य (देवस्य) सर्वजगत्प्रकाशकस्य (सवितुः) सर्वजगदुत्पादकस्येश्वरस्य सर्वमनुष्यैः (परिष्टुतिः) परितः सर्वतः स्तुतिः कार्या । कथंभूता स्तुतिः ? (मही) महतीत्यर्थः । एवंकृते सति जीवाः परमेश्वरमुपगच्छन्तीति ॥१॥

(युञ्जानः) योगं कुर्वाणः सन् (तत्वाय) ब्रह्मादितत्वज्ञानाय प्रथमं मनो युञ्जानः सन् योऽस्ति, तस्य धियं[1] (सविता) कृपया परमेश्वरः स्वस्मिन्नुपयुङ्क्ते । (अग्नेर्ज्योतिः) यतोऽग्नेरीश्वरस्य ज्योतिः प्रकाशस्वरूपं (निचाय्य) यथावत् निश्चित्य (अध्याभरत्) स योगी स्वात्मनि परमात्मानं धारितवान् भवेत् । इदमेव पृथिव्या मध्ये योगिन उपासकस्य लक्षणमिति वेदितव्यम् ॥२॥

सर्वे मनुष्या एवमिच्छेयुः—(स्वर्ग्याय) मोक्षसुखाय (शक्त्या) योगबलोन्नत्या (देवस्य) स्वप्रकाशस्यानन्दप्रदस्य (सवितुः) सर्वान्तर्यामिनः परमेश्वरस्य (सवे) अनन्तैश्वर्ये (युक्तेन मनसा०) योगयुक्तेन शुद्धान्तःकरणेन वयं सदोपयुञ्जीमहीति ॥३॥

एवं योगाभ्यासेन कृतेन (स्वयंतः) शुद्धभावप्रेम्णा (देवान्) उपासकान् योगिनः (सविता) अन्तर्यामीश्वरः कृपया (युक्त्वाय) तदात्मसु प्रकाशकरणेन सम्यग् युक्त्वा (धिया) स्वकृपाधार-वृत्त्या (बृहज्ज्योतिः) अनन्तप्रकाशं (दिवं) दिव्यं स्वस्वरूपम् (प्रसुवाति) प्रकाशयति । तथा (करिष्यतः) सत्यभक्तिं करिष्यमाणान् उपासकान् योगिनः (सविता) परमकारुणिकान्तर्या-मीश्वरो मोक्षदानेन सदानन्दयतीति ॥४॥

उपासनाप्रवोपासनाग्रहीतारौ प्रति परमेश्वरः प्रतिजानीते—(ब्रह्म पूर्व्यम्) यदा तौ पुरातनं सनातनं ब्रह्म (नमोभिः) स्थिरेणात्मना सत्यभावेन नमस्कारैरुपासाते, तदा तद् ब्रह्म ताभ्यामाशीर्ददाति—(श्लोकः) सत्यकीर्त्तिः (याम्) (वि एतु) व्येतु व्याप्नोतु । कस्य केव ? (सूरेः) परमविदुषः (पथ्येव) धर्ममार्ग इव, (ये) एवं य उपासकाः (अमृतस्य) मोक्षस्वरूपस्य नित्यस्य परमेश्वरस्य (पुत्राः) तदाज्ञानुष्ठातारस्तत्सेवकाः सन्ति, त एव[2] (दिव्यानि) प्रकाश-स्वरूपाणि विद्योपासनायुक्तानि कर्माणि तथा दिव्यानि (धामानि) सुखस्वरूपाणि जन्मानि सुखयुक्तानि स्थानानि वा[3] (आतस्थुः) आ समन्तात् तेषु स्थिरा भवन्ति । ते (विश्वे०) सर्वे (वाम्) उपासनोपदेष्ट्रुपदेश्यौ द्वौ (शृण्वन्तु) प्रख्यातौ जानन्तु । इत्यनेन प्रकारेणोपासनां कुर्वाणौ वां युवां द्वौ प्रतीश्वरोऽहं (युजे) कृपया समवेतो भवामीति ॥५॥

भाषार्थ—अब ईश्वर की उपासना का विषय जैसा वेदों में लिखा है, उसमें से कुछ संक्षेप से यहां भी लिखा जाता है—(युञ्जते मन०) इसका अभिप्राय यह है कि जीव को परमेश्वर की उपासना नित्य करनी उचित है । अर्थात् उपासना समय में सब मनुष्य अपने मन को उसी में स्थिर करें ।

---

१. अत्रापि मन्त्रपाठानुसारं 'धियः' इति द्वितीयाबहुवचनपाठो युक्तो ज्ञेयः ।

२. 'त एव' इत्यनयोः पदयोर्वाक्यान्ते 'स्थिरा भवन्ति' पदाभ्यां प्रागन्वयो द्रष्टव्यः ।

३. अत्र वाक्यपूर्त्यर्थं 'यानि सन्ति' इत्यनयोः पदयोरध्याहारः कार्यः, उत्तरत्र 'तेषु' पदस्य श्रवणात् ।

और जो लोग ईश्वर के उपासक (विप्राः) अर्थात् बड़े-बड़े बुद्धिमान् (होत्राः) उपासना योग के ग्रहण करनेवाले हैं, वे (विप्रस्य) सबको जाननेवाला, (बृहत.) सबसे बड़ा, (विपश्चितः) और सब विद्याओं से युक्त जो परमेश्वर है, उसके बीच में (मनः युञ्जते) अपने मन को ठीक-ठीक युक्त करते हैं, तथा (उत धियः) अपनी बुद्धिवृत्ति अर्थात् ज्ञान को भी (युञ्जते०) सदा परमेश्वर ही में स्थिर करते हैं। जो परमेश्वर इस सब जगत् को (विदधे) धारण और विधान करता है, (वयुनाविदेक इत्) जो सब जीवों के ज्ञानों तथा प्रजा का भी साक्षी है, वही एक परमात्मा सर्वत्र व्यापक है कि जिससे परे कोई उत्तम पदार्थ नहीं है। (देवस्य) उस देव अर्थात् सब जगत् के प्रकाश, और (सवितुः) सबकी रचना करनेवाले परमेश्वर की (परिष्टुतिः) हम लोग सब प्रकार से स्तुति करें। कैसी वह स्तुति है, कि (मही) सबसे बड़ी, अर्थात् जिसके समान किसी दूसरे की हो ही नहीं सकती [ऐसा करने से जीव परमेश्वर के सामीप्य को प्राप्त करते हैं।] ॥ १ ॥

(युञ्जानः) योग को करनेवाले मनुष्य (तत्त्वाय) तत्त्व अर्थात् ब्रह्मज्ञान के लिये (प्रथमं मनः) जब अपने मन को पहिले परमेश्वर में युक्त करते हैं, तब (सविता) परमेश्वर उनकी (धियम्[1]) बुद्धि को अपनी कृपा से अपने में युक्त कर लेता है। (अग्नेर्ज्यो०) फिर वे परमेश्वर के प्रकाश को निश्चय करके (अध्याभरत्) यथावत् धारण करते हैं। (पृथिव्याः) पृथिवी के बीच में योगी का यही प्रसिद्ध लक्षण है ॥ २ ॥

सब मनुष्य इस प्रकार की इच्छा करें कि (वयम्) हम लोग (स्वर्ग्याय) मोक्षसुख के लिये, (शक्त्या) यथायोग्य सामर्थ्य के बल से (देवस्य०) परमेश्वर की सृष्टि में उपासना योग करके अपने आत्मा को शुद्ध करें, कि जिससे (युक्तेन मनसा) अपने शुद्ध मन से परमेश्वर के प्रकाशरूप आनन्द को प्राप्त हों ॥ ३ ॥

इसी प्रकार[2] वह परमेश्वर देव भी (देवान्) उपासकों को (स्वर्यतो धिया दिवम्) अत्यन्त सुख को देके (सविता) उनकी बुद्धि के साथ अपने आनन्दस्वरूप प्रकाश को करता है। तथा (युक्त्वाय) वही अन्तर्यामी परमात्मा अपनी कृपा से उनको युक्त करके उनके आत्माओं में (बृहज्ज्योतिः) बड़े प्रकाश को प्रकट करता है। और (सविता) जो सब जगत् का पिता है, वही (प्रसुवा०) उन उपासकों को ज्ञान और आनन्दादि से परिपूर्ण कर देता है। परन्तु (करिष्यतः) जो मनुष्य सत्य प्रेम भक्ति से परमेश्वर की उपासना करेंगे, उन्हीं उपासकों को परमकृपामय अन्र्यामी परमेश्वर मोक्षसुख देके सदा के लिये आनन्दयुक्त कर देगा ॥ ४ ॥

उपासना का उपदेश देनेवाले और ग्रहण करनेवाले दोनों के प्रति परमेश्वर प्रतिज्ञा करता है, कि जब तुम ([ब्रह्म]पूर्व्यम्) सनातन ब्रह्म की (नमोभिः) सत्यप्रेमभाव से अपने आत्मा को स्थिर करके नमस्कारादि रीति से उपासना करोगे, तब मैं तुमको आशीर्वाद देऊंगा कि (श्लोकः) सत्यकीर्ति (वाम्) तुम दोनों को (एतु) प्राप्त हो। किसके समान ? (पथ्येव सूरेः) जैसे परम

१. ग्रन्थकार ने यहां मन्त्रपाठ में 'धियम्' पद स्वीकार किया है; यह मन्त्रपाठ और इस व्याख्यान से स्पष्ट है। यजुर्वेदभाष्य में 'धियः' पाठ ही माना है।

२. इस मन्त्र का भाषार्थ अस्पष्ट है, और संस्कृतानुसारी भी नहीं है।

विद्वान् को धर्ममार्ग यथावत् प्राप्त होता है, इसी प्रकार तुमको सत्यसेवा से सत्यकीर्ति प्राप्त हो। फिर भी मैं सबको उपदेश करता हूं कि (अमृतस्य पुत्राः) हे मोक्षमार्ग के पालन करनेवाले मनुष्यो! (शृण्वन्तु विश्वे) तुम सब लोग सुनो कि (आ ये धामानि०) जो दिव्यलोकों अर्थात् मोक्षसुखों को (आतस्थुः) पूर्व प्राप्त हो चुके हैं, उसी उपासनायोग से तुम लोग भी उन सुखों को प्राप्त हो, इसमें संदेह मत करो। इसलिये (युजे) मैं तुमको उपासनायोग में युक्त करता हूं ॥ ५ ॥

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक् ।
धीरा देवेषु सुम्नया ॥ ६ ॥

युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम् ।
गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात् ॥ ७ ॥

य० अ० १२। मं० ६७, ६८

भाष्यम्—(कवयः) विद्वांसः क्रान्तदर्शनाः क्रान्तप्रज्ञा वा, (धीराः) ध्यानवन्तो योगिनः (पृथक्) विभागेन (सीराः) योगाभ्यासोपासनार्थं नाडीर्युञ्जन्ति, अर्थात् तासु परमात्मानं ज्ञातुमभ्यस्यन्ति। तथा (युगा) युगानि योगयुक्तानि कर्माणि (वितन्वते) विस्तारयन्ति। य एवं कुर्वन्ति, ते (देवेषु) विद्वत्सु योगिषु (सुम्नया) सुखेनैव स्थित्वा परमानन्दं (युञ्जन्ति) प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥६॥

हे योगिनो! यूयं योगाभ्यासोपासनेन परमात्मयोगेनानन्दं (युनक्त) तद्युक्ता भवत। एवं मोक्षसुखं सदा (वितनुध्वम्) विस्तारयत। तथा (युगा०) उपासनायुक्तानि कर्माणि (सीराः) प्राणादियुक्ता[1] नाडीश्च युनक्तोपासनाकर्मणि[2] योजयत। एवं (कृते योनौ) अन्तःकरणे शुद्धे कृते परमानन्दयोनौ कारण आत्मनि (वपतेह बीजम्) उपासनाविधानेन योगोपासनाया विज्ञानाख्यं बीजं वपत। तथा (गिरा च) वेदवाण्या विद्यया (युनक्त,) युङ्क्त, युक्ता भवत। किं च (श्रुष्टिः) क्षिप्रं शीघ्रं योगफलं (नो नेदीयः) नोऽस्मान्नेदीयोऽतिशयेन निकटं परमेश्वरानुग्रहेण (असत्) अस्तु। कथंभूतं फलम्? (पक्वम्) शुद्धानन्दसिद्धम् (एयात्) आ समन्तादियात् प्राप्नुयात्। (इत्सृण्यः) उपासनायुक्तास्ता योग-वृत्तयः सृण्यः सर्वक्लेशहन्त्र्य एव भवन्ति। इदिति निश्चयार्थे। पुनः कथंभूतास्ताः? (सभराः) शान्त्यादिगुणपुष्टाः। एताभिर्वृत्तिभिः परमात्मयोगं वितनुध्वम्। अत्र प्रमाणम्—

श्रुष्टीति क्षिप्रनामाशु अष्टीति ॥ निरु० अ० ६। खं० १२ ॥

द्विविधा सृणिर्भवति भर्त्ता च हन्ता च ॥ निरु० अ० १३। खं० ५ ॥७॥

भाषार्थ—(कवयः) जो विद्वान् योगी लोग और (धीराः) ध्यान करनेवाले हैं, वे (सीरा

---

१. अस्याभिप्रायोऽनुसन्धेयः। किमत्रान्यत्र प्रसिद्धे सूर्यचन्द्रनाड्यौ प्रति संकेतः? तथा सति 'प्राणसंयुक्ताः नाड्यः, सूर्यचन्द्रगुणसंयुक्ते च नाड्यौ' इत्यभिप्रायो ग्रहीतुं शक्यः। २. वै० य० मुद्रितेषु '०कर्माणि' इत्यपपाठः।

युञ्जन्ति पृथक्) यथायोग्य विभाग से नाड़ियों में अपने आत्मा से परमेश्वर की धारणा करते हैं। (युगा) जो योगयुक्त कर्मों में तत्पर रहते हैं, (वितन्वते) अपने ज्ञान और आनन्द को सदा विस्तृत करते हैं, (देवेषु सुम्नया) वे विद्वानों के बीच में प्रशंसित होके परमानन्द को प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥

हे उपासक लोगो! तुम योगाभ्यास तथा परमात्मा के योग से[1], नाड़ियों में ध्यान करके परमानन्द को (वितनुध्वम्) विस्तार करो। इस प्रकार करने से (कृते योनौ) योनि अर्थात् अपने अन्तःकरण को शुद्ध और परमानन्दस्वरूप परमेश्वर में स्थिर करके, उसमें उपासना-विधान से विज्ञानरूप (बीजम्) बीज को (वपत) अच्छी प्रकार से बोओ। तथा (गिरा च) पूर्वोक्त प्रकार से वेदवाणी करके परमात्मा में (युनक्त) युक्त होकर उसकी स्तुति प्रार्थना और उपासना में प्रवृत्ति करो। तथा (श्रुष्टिः) तुम लोग ऐसी इच्छा करो कि हम उपासना-योग के फल को [शीघ्र] प्राप्त होवें। और (नो नेदीयः) हमको ईश्वर के अनुग्रह से वह फल निकट ही (असत्) प्राप्त हो। कैसा वह फल है? कि (पक्वम्) जो परिपक्व शुद्ध परम आनन्द से भरा हुआ, और मोक्षसुख को प्राप्त करनेवाला है। (इत्सृण्यः) अर्थात् वह उपासनायोगवृत्ति कैसी है? कि सब क्लेशों को नाश करनेवाली, और (सभराः) सब शान्ति आदि गुणों से पूर्ण है। उन उपासनायोगवृत्तियों से परमात्मा के योग को अपने आत्मा में प्रकाशित करो ॥ ७ ॥

अ॒ष्टा॒वि॒ꣳशा॒नि॑ शि॒वानि॑ श॒ग्मानि॑ स॒ह योगं॑ भजन्तु मे।
योगं॒ प्र प॑द्ये॒ क्षेमं॑ च॒ क्षेमं॒ प्र प॑द्ये॒ योगं॑ च॒ नमो॑ऽहोरा॒त्राभ्या॑मस्तु ॥ ८ ॥

अथर्व० कां० १९। अनु० १। व० ८। मं० २ ॥[2]

भू॒यानरा॑त्याः॒ शच्याः॒ पति॒स्त्वमि॑न्द्रासि वि॒भूः प्र॒भूरिति॑ त्वोपा॑स्महे व॒यम् ॥९॥

नम॑स्ते अस्तु पश्यत॒ पश्य॑ मा पश्यत ॥ १० ॥

अ॒न्नाद्ये॑न॒ यश॑सा॒ तेज॑सा ब्राह्मणवर्च॒सेन॑ ॥ ११ ॥[3]

भाष्यम्—(अष्टाविंशानि) हे परमेश्वर भग[वन्[4]! भ]वत्कृपयाऽष्टाविंशानि (शिवानि) कल्याणानि कल्याणकारकाणि सन्त्वर्थाद् दशेन्द्रियाणि, दश प्राणाः, मनोबुद्धिचित्ताहङ्कारविद्या-

१. यह भाषार्थ संस्कृत भाष्य का अभिप्रायमात्र है। २. अथर्व १९।८।२॥

३. अथर्व १३।४।४७-४९॥ 'भूयानरात्याः' इत्यारभ्य 'प्रथो वरो०' इति वक्ष्यमाणमन्त्रपर्यन्ता मन्त्रा अथर्ववेदीया इति ग्रन्थकारो भाष्येऽनुपदं वक्ष्यति, अतो मन्त्रस्थाननिर्देशमपि तत्रैवोट्टङ्कयिष्यति।

४. वैयमुद्रितेषु द्वितीयादारभ्याष्टमसंस्करणपर्यन्तं 'हे परमेश्वर भगवन्! कृपया' इत्येवं पाठ उपलभ्यते। प्रथमनवमसंस्करणयोस्तु 'हे परमेश्वर भगवत् कृपया' इत्येवं पठ्यते। भाषानुसारं तु 'हे भगवन् परमेश्वर भवत्कृपया' इत्येवं पाठः प्रतीयते।

स्वभावशरीरबलं[1] चेति[2]। (शग्मानि) सुखकारकाणि भूत्वा (अहोरात्राभ्याम्) दिवसे रात्रौ चोपासनाव्यवहारं योगं (म) मम (भजन्तु) सेवन्ताम्। तथा भवत्कृपयाऽहं (योगं प्र पद्ये) प्राप्य (क्षेमं च) (प्र पद्ये) क्षेमं प्राप्य योगं च प्रपद्ये। यतोऽस्माकं सहायकारी भवान् भवेद्, एतदर्थं सततं नमोऽस्तु ते ॥८॥

इमे वक्ष्यमाणाश्च[3] मन्त्रा अथर्ववेदस्य सन्तीति बोध्यम्—(इन्द्रा०) हे इन्द्र परमेश्वर ! त्वं (शच्याः) प्रजाया वाण्याः कर्मणो वा पतिरसि। तथा (भूयान्) सर्वशक्तिमत्त्वात् सर्वोत्कृष्टत्वादतिशयेन बहुरसि। तथा (अरात्याः०) शत्रुभूताया वाण्यास्तादृशस्य कर्मणो वा शत्रुरर्थाद्[4] भूयान्निवारकोऽसि। (विभूः) व्यापकः (प्रभूः) समर्थश्चासि। (इति) अनेन प्रकारेणैवंभूतं (त्वा) त्वां वयं सदैव (उपास्महे) अर्थात् तवैवोपासनं कुर्महे इति। अत्र प्रमाणम्—

वाचो नामसु शचीति पठितम् ॥ निघण्टु अ० १। खं० ११ ॥

तथा—कर्मणां नामसु शचीति पठितम् ॥ निघण्टु अ० २। खं० १ ॥

तथा—प्रजानामसु[5] शचीति पठितम् ॥ निघण्टु अ० ३। खं० ६ ॥९॥

---

१. '० शरीरबलं' समाहारद्वन्द्वः। अत्र 'बलम्' शरीरात् पृथग्गणनीयम्; तच्च त्रिविधं शरीरात्ममनःसंबन्धेन। शरीरशब्देन चेह सूक्ष्मशरीरं ग्राह्यम्।

२. अत्र केचन प्रत्यवतिष्ठन्ते यन्नेदं व्याख्यानं समीचीनम्, वेदे नक्षत्राणां प्रकरणादिति। अत्रोच्यते—शब्दार्थस्य परिच्छेदे उपक्रमोपसंहारावपि प्रमाणमिति मीमांसकानां सिद्धान्तः। तयोरनुरोधेन च सन्दिग्धस्य शब्दार्थस्य संकोचविकासौ विज्ञायेते। तथा सति पूर्वसूक्ते नामनिर्देशपुरःसरं निर्दिष्टानि नक्षत्राणि ज्योतिश्शास्त्रप्रसिद्धान्येव ग्राह्याण्यन्यानि वेति सन्देहे 'वेदो वा प्रायदर्शनात्' (मी० ३। ३। २) इति न्यायेन एतत्सूक्तस्य प्रथमयर्चा पूर्वसूक्तोक्तानां नक्षत्राणां भवत्यर्थनिश्चयः। तथाहि मन्त्रवर्णः—'यानि नक्षत्राणि दिव्यन्तरिक्षे अप्सु भूमौ यानि नगेषु दिक्षु' इति। अत्र स्पष्टं पूर्वसूक्तोक्तानां नक्षत्राणां दिवि अन्तरिक्षे अप्सु भूमौ नगेषु दिक्षु चेत्येवं षट्सु स्थानेषु स्थितिरुक्ता। इहैव च 'यानि' पदस्य द्विःपाठात् 'यानि दिवि नक्षत्राणि, यानि अन्तरिक्षे, यानि अप्सु' इत्येवं प्रतिस्थानं नक्षत्राणां योजना करणीयेति द्योत्यते। एवं च कृत्वेह ज्योतिश्शास्त्रोक्तान्येव नक्षत्राणि ग्राह्याणीत्याग्रहस्तु मन्त्रविरोधादेव प्रत्युक्तः। अथेदं विचार्यते—सत्यपि नक्षत्राणां वैविध्ये ग्रन्थकृदुक्ता गणना कथमुपपद्यत इति। अत्र वदामः—मन्त्रे नगेष्वपि नक्षत्राणां स्थितिरुक्ता। नग-शब्दश्च वृक्षार्थे लोके प्रसिद्धः। मनुष्यशरीरं चोपनिषदि 'ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः' (कठ २। ३। १) इत्येवमश्वत्थवृक्षेणोपमीयते (गीतायामप्येतद् वर्णनमुपलभ्यते १५। १)। एतदेव च मनसि निधाय ग्रन्थकारेणेहोपासनाप्रकरणे मनुष्यशरीरस्थानि इन्द्रियादीन्यष्टाविंशतिनक्षत्राणि परिगृहीतानि। अपि च—'यानि नक्षत्राणि' इति मन्त्रस्योत्तरार्धे प्रकल्पयंश्चन्द्रमा यान्येति' इत्यत्रापि यथास्थानं नक्षत्राणामनुरोधेन चन्द्रमसोऽपि वैविध्यं कल्पनीयम्। उपक्रमानुरोधेनार्थपरिच्छेदस्योदाहरणं ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यप्रकरणे उपरिष्टान्निदर्शयिष्यते।

३. 'अथो वरो' इति पर्यन्ता इति भावः।

४. अत्र पाठो व्यस्त इति प्रतीयतेऽन्वयाभावात्। अस्मन्मते तु 'शत्रुर्भूया अर्थात् निवारकोऽसि' इति शुद्धः पाठः स्यात्।

५. वै० य० मुद्रितेषु पञ्चमसंस्करणपर्यन्तं 'प्रजानामसु' इत्येव पाठो दृश्यते। शताब्दीसंस्करणे तु

ईश्वरोऽभिवदति—हे मनुष्या ! यूयमुपासनारीत्या सदैव (मा) मां (पश्यत) [प्रेमभावेन स्वात्मनि सदा पश्यत । मदाज्ञां वेदविद्यां च] सम्यग् ज्ञात्वाऽऽचरत । उपासक एवं जानीयाद् वदेच्च—हे परमेश्वरानन्तविद्यायुक्त ! (नमस्ते अस्तु) ते तुभ्यमस्माकं सततं नमोऽस्तु भवतु ॥१०॥

(अन्नाद्येन) कस्मै प्रयोजनाय ? अन्नादिराज्यैश्वर्य्येण, (यशसा) सर्वोत्तमसत्कर्मानुष्ठानोद्भूतसत्प्रकीर्त्या, (तेजसा) निर्दीनतया प्रागल्भ्येन च, (ब्राह्मणवर्चसेन) पूर्णविद्यया सह वर्त्तमानान् अस्मान् हे परमेश्वर ! त्वं कृपया सदैव (पश्य) संप्रेक्षस्वैतदर्थं वयं त्वां सर्वदोपास्महे ॥११॥

भाषार्थ—(अष्टाविंशानि शिवानि०) हे परमैश्वर्य्ययुक्त मङ्गलमय परमेश्वर ! आपकी कृपा से मुझको उपासनायोग प्राप्त हो, तथा उससे मुझको सुख भी मिले । इसी प्रकार आपकी कृपा से दश इन्द्रिय, दश प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, विद्या, स्वभाव, शरीर[1] और बल, ये अट्ठाईस[2] सब कल्याणों में प्रवृत्त होके उपासनायोग को सदा सेवन करें । तथा हम भी (योगं) उस योग के द्वारा (क्षेमं) रक्षा को, और रक्षा से योग को प्राप्त हुआ चाहते हैं । इसलिये हम लोग रात-दिन आपको नमस्कार करते हैं ॥८॥

(भूयानरात्याः) हे जगदीश्वर ! आप (शच्याः) सब प्रजा[3] वाणी और कर्म इन तीनों के

मंशोधयित्रा 'निघं० अ० ३ खं० ९' इत्यग्रिमनिर्देशानुसारं 'प्रज्ञानामसु' इत्येवं पाठः शोधितः । अयमेव च नवम-संस्करणपर्यन्तमुपलभ्यते । परन्तु ग्रन्थकर्त्रा इह '(शच्याः) प्रजाया वाण्याः कर्मणो वा पतिः' इति व्याख्यातत्वात् 'प्रजा' इत्येव ग्रन्थकृदभिप्रेतः पाठ इति प्रतिभाति । भाषापदार्थेऽपि 'प्रजा' शब्द एव दृश्यते (द्र०—प्रजाशब्दे टिप्पणम) प्रजानामसु अर्थादपत्यनामसु (निघं० २ । २) शचीशब्दो न पठ्यते । अथवेह निघं० 'अ० ३ । खं ९' निर्देशात् 'प्रज्ञानामसु' इतिवत् शच्याः पदार्थेऽपि 'प्रज्ञायाः' इत्येवं पाठः शोधनीयः । पं० सुखदेवेन त्विहापि 'प्रज्ञायाः' इत्येवं पाठो विहितः ।

१. शरीर से यहां सूक्ष्मशरीर लेना चाहिये ।

२. मन्त्र में '**अष्टाविंशानि**' संख्या पूर्व प्रकृत नक्षत्रों के लिये प्रयुक्त हुई है । इससे पूर्व सूक्त में २८ नक्षत्र नाम निर्देशपूर्वक गिनाए हैं । परन्तु ये नक्षत्र ज्योतिष शास्त्र में प्रसिद्ध नक्षत्र हैं वा अन्य पदार्थ हैं इस सन्देह की निवृत्ति प्रकृत मन्त्र से पूर्व मन्त्र के '**यानि नक्षत्राणि दिव्यन्तरिक्षे अप्सु भूमौ यानि नगेषु दिक्षु**' निर्देश से हो जाती है । इस मन्त्र में पूर्वसूक्त पठित नक्षत्रों के द्यु-अन्तरिक्ष-अप-भूमि-नग और दिक् ये ६ स्थान बताए हैं । तथा इसी वचन में 'यानि' पद के दो बार पाठ होने से इसका सम्बन्ध 'जो नक्षत्र द्यु में, जो नक्षत्र अन्तरिक्ष में' इस प्रकार प्रत्येक स्थान के साथ है, यह भी स्पष्ट हो जाता है । इसलिए पूर्वसूक्तस्थ अट्ठाईस नक्षत्र केवल ज्योतिष शास्त्र प्रसिद्ध ही हैं, यह भ्रान्ति इस मन्त्र से दूर हो जाती है । इस प्रकार नक्षत्र द्यु-लोक आदि के भेद से ६ प्रकार के होने पर भी ग्रन्थकार की यह २८ गणना प्रकरण में कैसे सम्बद्ध होगी ? इसका यह उत्तर है कि 'नगों में २८ नक्षत्र हैं' यह मन्त्र में कहा । नग का वृक्ष अर्थ लोक में प्रसिद्ध है । उपनिषद् आदि में शरीर की अश्वत्थ से उपमा दी है—'**ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः**' (कठ २।३।१) इसी अभिप्राय को मन में रखकर ग्रन्थकार ने नग=शरीरस्थ इन्द्रियादि २८ नक्षत्रों का निर्देश किया है । ऐसा समझना चाहिए ।

३. वै० य० मुद्रित के १-५ सं० तक 'प्रजा' पाठ ही है । शताब्दी संस्करण में यहां 'प्रज्ञा' तथा संस्कृत भाग में 'प्रजानामसु' के स्थान में 'प्रज्ञानामसु' पाठ बनाया है । यही पाठ नवम संस्करण तक छपता चला आ रहा है । परन्तु संस्कृत में 'शच्याः' के अर्थ में 'प्रजायाः' ही पाठ छप रहा है । इस विरोध की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया ।

पति हैं, तथा (भूयान्) सर्वशक्तिमान् आदि विशेषणों से युक्त हैं। जिससे आप (अरात्याः) अर्थात् दुष्टप्रजा मिथ्यारूपवाणी और पापकर्मों को विनाश करने में अत्यन्त समर्थ हैं। तथा आपको (विभूः) सब में व्यापक और (प्रभूः) सब सामर्थ्यवाले जानके हम लोग आपकी उपासना करते हैं ॥९॥

(नमस्ते अस्तु०) अर्थात् परमेश्वर सब मनुष्यों को उपदेश करता है कि—हे उपासक लोगो! तुम मुझको प्रेमभाव से अपने आत्मा में सदा देखते रहो। और मेरी आज्ञा और वेदविद्या को यथावत् जानके उसी रीति से आचरण करो। फिर मनुष्य भी ईश्वर से प्रार्थना करें कि हे परमेश्वर! आप कृपादृष्टि से (पश्य मा) हमको सदा देखिये। इसलिये हम लोग आपको सदा नमस्कार करते हैं कि—॥ १० ॥

(अन्नाद्येन) अन्न आदि ऐश्वर्य, (यशसा) सबसे उत्तम कीर्ति, (तेजसा) भय से रहित, (ब्राह्मणवर्चसेन) और सम्पूर्ण विद्या से युक्त हम लोगों को करके कृपा से देखिये। इसलिये हम लोग सदा आपकी उपासना करते हैं ॥ ११ ॥

अम्भो॒ अमो॒ मह॒ः सह॒ इति॒ त्वोपा॑स्महे व॒यम् ॥ १२ ॥

अम्भो॒ अरु॒णं र॑ज॒तं रज॒ः सह॒ इति॒ त्वोपा॑स्महे व॒यम् ॥ १३ ॥

उ॒रुः पृ॒थुः सु॒भूर्भुव॒ इति॒ त्वोपा॑स्महे व॒यम् ॥ १४ ॥

प्रथो॒ वरो॒ व्यचो॑ लो॒क इति॒ त्वोपा॑स्महे व॒यम् ॥ १५ ॥

अथर्व० कां० १३ । अनु० ४ । मं० ४७, ४८, ४९, ५०, ५१, ५२, ५३ ॥[1]

भाष्यम्—हे ब्रह्मन्! (अम्भः) व्यापकं शान्तस्वरूपं जलवत् प्राणस्यापि प्राणम्, 'आप्लृ' धातो 'रसुन्' प्रत्ययान्तस्यायं प्रयोगः, (अमः) ज्ञानस्वरूपम्, (महः) पूज्यं सर्वेभ्यो महत्तरम्, (सहः) सहनस्वभावं ब्रह्म (त्वा) त्वां ज्ञात्वा (इति) अनेन प्रकारेण वयं सततमुपास्महे ॥१२॥

(अम्भः) आदरार्थो द्विरारम्भः[2], अस्यार्थ उक्तः[3]। (अरुणम्) प्रकाशस्वरूपं, (रजतम्) [4]रागविषयम् आनन्दस्वरूपम् (रजः) सर्वलोकैश्वर्य्यसहितम्, (सहः) सहनशक्तिप्रदम्, (इति त्वोपास्महे वयम्) त्वां विहाय नैव कश्चिदन्योऽर्थः कस्यचिदुपास्योऽस्तीति ॥१३॥

(उरुः) सर्वशक्तिमान्, (पृथुः) अतीव विस्तृतो व्यापकः, (सुभूर्भुवः) सुष्ठुतया सर्वेषु पदार्थेषु भवतीति सुभूः, अन्तरिक्षवदवकाशरूपत्वाद् भुवः, (इति) एवं ज्ञात्वा (त्वा) त्वां (उपास्महे वयम्)। 'बहुनामसु उरु'रितिप्रत्यक्षमस्ति[5]। निघण्टु अ० ३। खं० १ ॥१४॥

१. पूर्वपठितमन्त्रत्रयमप्यपेक्ष्यायं संख्यानिर्देशः। अत्रत्या मन्त्राः अथर्व १३।४।५०-५३ स्थाने द्रष्टव्याः।

२. नास्मिन् मन्त्रे 'अम्भः' पदं द्विः पठ्यते, तस्मात् पूर्वमन्त्रस्थापेक्षया द्वित्वमत्र ज्ञेयम्।

३. पूर्वमन्त्रार्थ इति शेषः।

४. प्रीतिविषयमित्यर्थः, न त्वज्ञानानुबन्धिरागविषयम्।

५. प्रत्यक्षमिति वचनात् अप्रत्यक्षमपठितानामपि तत्तन्नाम्नां क्वचिन्निर्देशो ग्रन्थकारेण यास्कशैलीमनुसृत्य कृत इति ज्ञेयम्। यथास्मिन्नेव प्रकरणे (पृष्ठ १८६) 'शचीति प्रजानामसु' पठितमिति वचनम्। तथा सति 'शच्याः प्रजायाः' इत्यर्थनिर्देशोऽप्युपपद्यत एव। अस्मिन् पक्षे यत्रत्य 'निघं० ३।९' इति संकेतः स प्रामादिको ज्ञेयः।

(प्रथ) सर्वजगत्प्रसारकः, (वरः) श्रेष्ठः, (व्यचः) विविधतया सर्वं जगज्जानातीति, (लोकः) लोक्यते सर्वजनैः, लोकयति सर्वान् वा (इति त्वो०) वयमीदृक्स्वरूपं सर्वज्ञं त्वामुपास्महे ॥१५॥

भाषार्थ—(अम्भः) हे भगवन्! आप सबमें व्यापक, शान्तस्वरूप और प्राण के भी प्राण हैं। तथा (अमः) ज्ञानस्वरूप और ज्ञान को देनेवाले हैं, (महः) सबके पूज्य, सबसे बड़े, और (सहः) सबके सहन करनेवाले हैं. (इति) इस प्रकार का (त्वा) आपको जानके (वयम्०) हम लोग सदा उपासना करते हैं॥ १२ ॥

(अम्भः) दूसरी वार[1] इस शब्द का पाठ केवल आदर के लिये है। (अरुणम्) आप प्रकाशस्वरूप, सब दुःखों के नाश करनेवाले, तथा (रजतम्) प्रीति के परम हेतु, आनन्दस्वरूप (रज) सब लोकों के ऐश्वर्य्य से युक्त, (सहः) (इस शब्द का भी [पुनः] पाठ आदरार्थ है[2]) और सहनशक्तिवाले हैं। इसलिये हम लोग आपकी उपासना निरन्तर करते हैं॥ १३ ॥

(उरुः) आप सब बलवाले, (पृथुः) [अति विस्तृत=व्यापक] अर्थात् आदि अन्त रहित, तथा (सुभूः) सब पदार्थों में अच्छी प्रकार से वर्त्तमान, और (भुवः) अवकाशस्वरूप से सबके निवासस्थान हैं। इस कारण हम लोग उपासना करके आपके ही आश्रित रहते हैं॥ १४ ॥

(प्रथो वरो०) हे परमात्मन्! आप सब जगत् में प्रसिद्ध और उत्तम हैं, (व्यचः) अर्थात् सब प्रकार से इस जगत् का धारण, पालन और वियोग करनेवाले तथा (लोकः) सब विद्वानों के देखने अर्थात् जानने के योग्य केवल आप ही हैं, दूसरा कोई नहीं॥ १५ ॥

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः। रोचन्ते रोचना दिवि॥

ऋ० अ० १। अ० १। व० ११। मं० १॥[3]

भाष्यम्—(युञ्जन्ति०) ये योगिनो विद्वांसः (परि तस्थुषः) परितः सर्वतः सर्वान् जगत्पदार्थान् मनुष्यान् वा (चरन्तम्) ज्ञातारं सर्वज्ञम् (अरुषम्) अहिंसकं करुणामयम्, 'रुष हिंसायाम्'। (ब्रध्नम्) विद्यायोगाभ्यासप्रेमभरेण सर्वानन्दवर्धकं, महान्तं परमेश्वरमात्मना सह युञ्जन्ति, (रोचनाः) त आनन्दे प्रकाशिता रुचिमया भूत्वा (दिवि) द्योतनात्मके सर्वप्रकाशके परमेश्वरे (रोचन्ते) परमानन्दयोगेन प्रकाशन्ते, इति प्रथमोऽर्थः।

अथ द्वितीयः—परि तस्थुषः[4] चरन्तमरुषमग्निमयं ब्रध्नमादित्यं सर्वे लोकाः सर्वे[5] पदार्थाश्च (युञ्जन्ति) तदाकर्षणेन युक्ताः सन्ति। एते सर्वे तस्यैव (दिवि) प्रकाशे (रोचनाः) रुचिकराः सन्तः (रोचन्ते) प्रकाशन्ते, इति द्वितीयोऽर्थः।

---

१. मन्त्र में तो 'अम्भः' का एक ही बार पाठ है, अतः यह वचन पूर्वमन्त्र की अपेक्षा करके लिखा गया है।

२. यहां भी पूर्ववत् समझें। ३. ऋ० १। ६। १॥

४. वै० य० मुद्रितेषु सप्तसंस्करणेषु मुद्रितः '(परितस्थु०)' इत्येवम् अपूर्णः पाठोऽष्टमसंस्करणे यथा-तथरूपेण पूरितः कोष्ठश्चापमृष्टः।

५. पदमिदं वै० य० मुद्रिते पञ्चमसंस्करणे संशोधकप्रमादान्नष्टं सद् अष्टमसंस्करणपर्यन्तं नोपलभ्यते।

अथ तृतीयः—य उपासकाः परि तस्थुषः सर्वान् पदार्थान् चरन्तमरुषं सर्वमर्मस्थं (ब्रध्नं) सर्वावयववृद्धिकरं प्राणमादित्यं प्राणायामरीत्या (दिवि) द्योतनात्मके परमेश्वरे वर्त्तमानं (रोचनाः) रुचिमन्तः सन्तो (युञ्जन्ति) युक्तं कुर्वन्ति। अतस्ते तस्मिन् मोक्षानन्दे परमेश्वरे (रोचन्ते) सदैव प्रकाशन्ते। अत्र प्रमाणानि—

मनुष्यनामसु 'तस्थुषः पञ्चजनाः' इति पठितम्॥ निघं० अ० २। खं० ३॥

'महत् ब्रध्नम्' [इति] महन्नामसु पठितम्॥ निघं० अ० ३। खं० ३॥

तथा 'युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तमिति। असौ वा आदित्यो ब्रध्नोऽरुषोऽमुमेवास्मा आदित्यं युनक्ति स्वर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै[1]'॥ श० कां० १३। अ० २॥[2]

'आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत् सर्वं यन्मूर्त्तं चामूर्त्तं च तस्मान्मूर्त्तिरेव रयिः॥५॥' प्रश्नोपनि० प्रश्न १। मं० ५॥

परमेश्वराद् महान् कश्चिदपि पदार्थो नास्त्येवातः [निघण्टुप्रमाणं प्रथमेऽर्थे योजनीयम्,] तथा शतपथप्रमाणं द्वितीयमर्थं प्रति, एवमेव प्रश्नोपनिषत्प्रमाणं तृतीयमर्थं प्रति च। क्वचिन्निघण्टावश्वस्यापि ब्रध्नारुषौ नाम्नी पठिते[3]। परन्त्वस्मिन् मन्त्रे तद्घटना नैव सम्भवति, शतपथादिव्याख्यानविरोधात्, मूलार्थविरोधाद् एकशब्देनाप्यनेकार्थग्रहणाच्च[4]।

एवं सति भट्टमोक्षमूलरेणर्ग्वेदस्येङ्ग्लैण्डभाषया व्याख्याने यदश्वस्य पशोरेव ग्रहणं कृतं, तद् भ्रान्तिमूलमेवास्ति। सायणाचार्य्येणास्य मन्त्रस्य व्याख्यायामादित्यग्रहणादेकस्मिन्नंशे तस्य व्याख्यानं सम्यगस्ति[5]। परन्तु न जाने भट्टमोक्षमूलरेणायम[श्वा]र्थ आकाशाद् वा पातालाद् [वा] गृहीतः[6]। अतो विज्ञायते स्वकल्पनया लेखनं कृतमिति ज्ञात्वा प्रमाणार्हं नास्तीति॥[१६]॥

भावार्थ—(युञ्जन्ति०) मुक्ति का उत्तम साधन उपासना है, इसीलिये जो विद्वान् लोग हैं, वे सब जगत् और सब मनुष्यों के हृदयों में व्याप्त ईश्वर को उपासना-रीति से अपने आत्मा के साथ युक्त करते हैं। वह ईश्वर कैसा है? कि (चरन्तम्) अर्थात् सबका जाननेवाला, (अरुषम्) हिंसादिदोषरहित, कृपा का समुद्र, (ब्रध्नम्) सब आनन्दों का बढ़ानेवाला, सब रीति से बड़ा है। इसीसे (रोचनाः) अर्थात् उपासकों के आत्मा सब अविद्यादि दोषों के अन्धकार से छूटके (दिवि)

१. वै० य० मुद्रिते 'समृष्ट्यै' लेखकमुद्रकप्रमादजन्योऽपपाठः। २. शत० १३।२।६।१॥

३. द्र० निघं० १। १४॥

४. अनेकार्थत्वेऽपि शब्दानां नैकस्यामेव प्रक्रियायामनेकार्थग्रहणं भवति। तेनेह 'प्रक्रियाभेदेन' इति पदमनुयोजनीयम्। व्यक्तं चायमर्थो ग्रन्थकृतैव ब्रध्नशब्दस्य प्रक्रियाभेदमनुरुध्य भिन्नार्थकरणाद् द्योतितः।

५. 'सम्यक्कृतमस्ति' इति वै० य० मुद्रितेषु तृतीयसंस्करणादारभ्याष्टमसंस्करणपर्यन्तमुपलभ्यते। प्रकरणमिदं सत्यार्थप्रकाशस्यैकादशसमुल्लासस्यादावपि ग्रन्थकृतोल्लिखितम्।

६. सत्यपि निघण्टौ ब्रध्नशब्दस्याश्ववाचके ग्रन्थकारस्यैतल्लेखने पूर्वनिर्दिष्टं 'परन्त्वस्मिन् मन्त्रे तद्घटना नैव सम्भवति' इत्यादिवचनम् अनुसन्धेयम्।

आत्माओं को प्रकाशित करनेवाले परमेश्वर में प्रकाशमय होकर (रोचन्ते) प्रकाशित रहते हैं ।। इति प्रथमोऽर्थः ।

अब दूसरा अर्थ करते हैं कि—[1](परि तस्थुषः) अपनी किरणों से सब ओर व्याप्त होनेवाले, अग्निमय (ब्रध्नम्) आदित्य को सब लोक और सब पदार्थ उसको आकर्षण से युक्त हो रहे हैं, और उसी के प्रकाश से प्रकाशवाले होकर प्रकाशित हो रहे हैं। विद्वान् लोग उसी को सब लोकों का आकर्षक जानते हैं ।। इति द्वितीयोऽर्थः ।

(युञ्जन्ति०) इस मन्त्र का और तीसरा यह भी अर्थ है कि—[2]सब पदार्थों की सिद्धि का मुख्य हेतु जो प्राण है, उसको प्राणायाम की रीति से अत्यन्त प्रीति के साथ परमात्मा में युक्त करते हैं। इसी कारण वे लोग मोक्ष को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं।

इन तीनों अर्थों में निघण्टु आदि के प्रमाण भाष्य में लिखे हैं, सो देख लेना। इस मन्त्र के इन अर्थों को नहीं जानके भट्ट मोक्षमूलर साहब ने 'घोड़े' का जो अर्थ किया है,सो ठीक नहीं है। यद्यपि सायणाचार्य्य का अर्थ भी यथावत् नहीं है, परन्तु मोक्षमूलर साहब के अर्थ से तो अच्छा ही है[3]। क्योंकि प्रोफेसर मैक्समूलर साहब ने इस अर्थ में केवल कपोलकल्पना की है [।।१६।।]

इदानीमुपासना कथंरीत्या कर्त्तव्येति लिख्यते—

तत्र शुद्ध एकान्तेऽभीष्टे देशे शुद्धमानसः समाहितो भूत्वा, सर्वाणीन्द्रियाणि मनश्चैकाग्रीकृत्य, सच्चिदानन्दस्वरूपमन्तर्यामिनं न्यायकारिणं परमात्मानं सञ्चिन्त्य, तत्रात्मानं नियोज्य च, तस्यैव स्तुतिप्रार्थनानुष्ठानं सम्यक्कृत्वोपासनयेश्वरे पुनः पुनः स्वात्मानं संलगयेत् । अत्र[4] पतञ्जलिमहामुनिना स्वकृतसूत्रेषु वेदव्यासकृतभाष्ये चायमनुक्रमो योगशास्त्रे प्रदर्शितः । तद्यथा—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।।१।। [5]अ० १ । पा० १ । सू० २ ।।

भाष्यम्—उपासनासमये व्यवहारसमये वा परमेश्वराद् अतिरिक्तविषयाद् अधर्मव्यवहाराच्च[6] मनसो वृत्तिः सदैव निरुद्धा रक्षणीयेति ।।१।।

---

१. वै०य० मुद्रित में इस मन्त्र का संस्कृत विपरीत भ्रष्ट भाषापदार्थ इस प्रकार छपा है—(परितस्थुषः) जो सूर्यलोक अपनी किरणों से सब मूर्तिमान् द्रव्यों के प्रकाश और आकर्षण करने में (ब्रध्नं) सबसे बड़ा और (अरुषं) रक्तगुणयुक्त है और जिसके आकर्षण के साथ सब लोक युक्त हो रहे हैं (रोचनाः) जिसके प्रकाश से सब प्रकाशित सब लोकों के आकर्षयुक्त जानते हैं ।'

२. यह भाषार्थ भावार्थरूप है ।

३. यह विषय सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास के आदि में भी मिलता है ।

४. 'अत्र' उपासनाविषय इत्यर्थः ।

५. अस्मिन् प्रकरणे सर्वत्रैव योगदर्शनस्य सूत्राणां स्थाननिर्देशप्रसङ्गे 'अ० १ ।' इत्येवं पाठो वै० य० मुद्रितेष्वष्टमसंस्करणं यावद् उपलभ्यते, नवमसंस्करणमारभ्य तदपाकृतम् । वस्तुतो योगशास्त्रे चतुर्णामेव पादानां सद्भावात् ग्रन्थान्ते ग्रन्थसंकेतविषये ऽध्यायनिर्देशस्यायुक्तत्वाच्चेह अध्यायनिर्देशो व्यर्थ एव प्रतिभाति ।

६. उपासनासमये परमेश्वरात्, व्यवहारसमये अतिरिक्तविषयाद् अधर्मव्यवहाराच्च इत्येवं संबन्धो योजनीयः । व्यवहारसमये यं विषयमधिकृत्य प्रवर्तते ततोऽतिरिक्तविषयाद् इत्यभिप्रायोऽत्र विज्ञेयः ।

निरुद्धा सती सा क्वावतिष्ठत इत्यत्रोच्यते—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ अ० १ । पा० १ । सू० ३ ॥

भाष्यम्—यदा सर्वस्माद् व्यवहारान्मनोऽवरुध्यते, तदास्योपासकस्य मनो द्रष्टुः सर्वज्ञस्य परमेश्वरस्य स्वरूपे स्थितिं लभते[1] ॥२॥

यदोपासको योग्युपासनां विहाय सांसारिकव्यवहारे प्रवर्त्तते, तदा सांसारिकजनवत्तस्यापि प्रवृत्तिर्भवत्याहोस्विद् विलक्षणेत्यत्राह—

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥३॥ अ० १ । पा० १ । सू० ४ ॥

भाष्यम्—इतरत्र सांसारिकव्यवहारे प्रवृत्तेऽप्युपासकस्य योगिनः शान्ता धर्मारूढा विद्याविज्ञानप्रकाशा सत्यतत्त्वनिष्ठाऽतीवतीव्रा साधारणमनुष्यविलक्षणाऽपूर्वैव वृत्तिर्भवतीति । नैवेदृश्यनुपासकानामयोगिनां कदाचिद् वृत्तिर्जायत इति[2] ॥३॥

कति वृत्तयः सन्ति, कथं निरोद्धव्या इत्यत्राह—

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ॥४॥

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥५॥

तत्र[3] प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥६॥

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥७॥

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥८॥

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥९॥

---

१. अस्मिन् व्याख्याने व्यासभाष्याद् आपाततो विरोधः प्रतिभाति । तस्य समाधानं पण्डितसुखदेवेनेत्थं विहितम्—"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् इत्यत्र 'स्वरूपप्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये' इति व्यासभाष्याद् 'कैवल्यवन्निरोधावस्थायां द्रष्टुर्जीवात्मनः स्वरूपे स्थितिर्भवति' इति प्रतीयते । महर्षिभाष्याच्च 'मनस्तदा द्रष्टुः परमेश्वरस्य स्वरूपे स्थितिं लभते' इति लभ्यते । भाष्ययोरेवं विरोधो नाशङ्कनीयः । कैवल्यवद् यदि निरोधेऽपि स्वरूपस्थितिस्तर्हि किमिति कैवल्यमिति वाच्यम् ? जीवात्मनः स्वरूपप्रतिष्ठा वा स्यात् परमात्मनः स्वरूपे जीवस्य स्थितिर्वा स्याद्, उभयत्रापि मोक्षस्यान्नातिरिच्यते । परमात्मनः स्वरूपावस्थाने जीवस्य स्वरूपावस्थानं नान्तरीयकम्, जीवस्य स्वरूपावस्थानप्रयत्नेतरप्रयत्नासाध्यं च परमात्मनः स्वरूपावस्थानमिति कैवल्यवन्निरोधेऽपि समानमित्युभयत्र शब्दभेदो नार्थभेदः" इति । द्र०—गोविन्दरामहासानन्दप्रकाशितर्ग्वेदादिभाष्यभूमिका (पृष्ठ २८६)।

२. इहापि व्यासभाष्यात् प्रतीयमानो विरोधः पण्डितसुखदेवेनेत्थं समाहितः—"वृत्तिसारूप्यमितरत्रेत्यत्र व्युत्थाने याश्चित्तवृत्तयस्तदविशिष्टवृत्तिः पुरुष इत्यर्थः प्रतीयते । महर्षिभाष्याच्च सांसारिकव्यवहारे प्रवृत्तेऽप्युपासकस्य साधारणपुरुषविलक्षणा वृत्तिर्भवतीति लभ्यते । तथाप्युभयत्र नास्ति विरोधः । केवलं वृत्तित्वेन विशेष्यांशे सारूप्येऽपि क्वचिद् विशेषणांशे शान्तघोरमूढरूपेण योग्ययोगिनो वैरूप्यमित्यर्थादापतति" इति । द्र०—सैव भूमिका (पृष्ठ २८७)।

३. 'तत्र' इति पदं भाष्यकारस्येत्येके भाषन्ते सूत्रस्येत्यपरे । उभयथाऽपि नाभिप्राये भेदः ।

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः ॥१०॥

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥११॥ अ० १ । पा० १ । सू० ५-१२ ॥

उपासनायाः सिद्धेः सहायकारि परमं साधनं किमस्तीत्यत्रोच्यते—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥१२॥ अ० १ । पा० १ । सू० २३ ॥

भाष्यम्—"प्रणिधानाद्भक्तिविशेषादावर्त्तित[2] ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण। तदभिध्यानादपि योगिनः आसन्नतमः समाधिलाभः फलञ्च भवतीति' ॥१२॥

भावार्थ—अब जिस रीति से उपासना करनी चाहिये, सो आगे लिखते हैं—

जब-जब मनुष्य लोग ईश्वर की उपासना करना चाहें, तब-तब इच्छा के अनुकूल एकान्त स्थान में बैठकर, अपने मन को शुद्ध और आत्मा को स्थिर करें। तथा सब इन्द्रिय और मन को सच्चिदानन्दादि लक्षणवाले अन्तर्यामी अर्थात् सबमें व्यापक और न्यायकारी परमात्मा की ओर अच्छी प्रकार से लगाकर, सम्यक् चिन्तन करके, उसमें अपने आत्मा को नियुक्त करें। फिर उसकी स्तुति प्रार्थना और उपासना को वारम्वार करके, अपने आत्मा को भलीभांति से उसमें लगा दें। इसकी रीति पतञ्जलि मुनि के किये योगशास्त्र और उन्हीं सूत्रों के वेदव्यासमुनिजी के किये भाष्य के प्रमाणों से लिखते हैं—

(योगश्चित्त०) चित्त की वृत्तियों को सब बुराइयों से हटाके, शुभ गुणों में स्थिर करके, परमेश्वर के समीप में मोक्ष को प्राप्त करने को 'योग' कहते हैं। और 'वियोग' उसको कहते हैं कि परमेश्वर और उसकी आज्ञा से विरुद्ध बुराइयों में फंसके उससे दूर हो जाना ॥ १ ॥

(प्रश्न) जब वृत्ति बाहर के व्यवहारों से हटाके स्थिर की जाती है, तब कहां पर स्थिर होती है ?

इस का उत्तर यह है कि—(तदा द्र०) जैसे जल के प्रवाह को एक ओर से दृढ़ बांधके रोक देते हैं, तब वह जिस ओर नीचा होता है, उस ओर चलके वहीं स्थिर होजाता है, इसी प्रकार मन की वृत्ति भी जब बाहर से रुकती है, तब परमेश्वर में स्थिर हो जाती है[3] ॥ २ ॥

---

१. इत उत्तरं यत्र यावानंशो व्यासभाष्यस्योद्ध्रियते, स उभयतः ' ' चिह्नेन द्योत्यते।

२. व्यासभाष्ये '०दावर्जित' इति पाठ उपलभ्यते।

३. वै० य० मुद्रित में इससे आगे 'एक तो चित्त की वृत्ति के रोकने का यह प्रयोजन है' इतना पाठ अधिक है, उसे संस्कृत से विरुद्ध होने से हमने हटा दिया।

विशेष-इस व्याख्या के विषय मे श्री पं० सुखदेवजी ने स्वसम्पादित ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में जो टिप्पणी दी है उसे हम संक्षेप से उद्धृत करते हैं—"महर्षि व्यास ने 'द्रष्टा' से जीवात्मा का ग्रहण किया है। उनका कथन है—'मोक्षावस्था की तरह निरोधावस्था में भी जीवात्मा अपने स्वरूप में स्थित रहता है। महर्षि दयानन्द ने 'द्रष्टा' से परमात्मा का ग्रहण किया है। वस्तुतः दोनों अर्थों में कोई भेद नहीं। अपने स्वरूप में स्थित होने का अर्थ ही यही है कि परमात्मा का आनन्द प्राप्त हो। अपनी स्वरूपस्थिति के लिये जो प्रयत्न किया जाता

[(प्रश्न) जब उपासक योगी उपासना को छोड़कर सांसारिक व्यवहार में प्रवृत्त होता है, तब उसकी प्रवृत्ति भी सांसारिक मनुष्य के समान होती है वा उससे विलक्षण ?]

[1]इस का उत्तर यह कि—(वृत्तिसा०) उपासक योगी और संसारी मनुष्य जब व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं, तब योगी की वृत्ति तो सदा हर्षशोकरहित, आनन्द से प्रकाशित होकर उत्साह और आनन्दयुक्त रहती है, और संसार के मनुष्य की वृत्ति सदा हर्षशोकरूप दुःखसागर में ही डूबी रहती है, उपासक योगी की तो [वृत्ति] ज्ञानरूप प्रकाश में सदा बढ़ती रहती है, और संसारी मनुष्य की वृत्ति सदा अन्धकार में फंसती जाती है[2] ।। ३ ।।

(वृत्तयः०) अर्थात् सब जीवों के मन में पांच प्रकार की वृत्ति उत्पन्न होती है। उसके दो भेद हैं—एक क्लिष्ट, दूसरी अक्लिष्ट, अर्थात् क्लेशसहित और क्लेशरहित। उनमें से जिनकी वृत्ति विषयासक्त, परमेश्वर की उपासना से विमुख होती है उनकी वृत्ति अविद्यादि क्लेशसहित, और जो पूर्वोक्त उपासक हैं उनकी क्लेशरहित शान्त होती हैं ।। ४ ।।

वे पाँच वृत्ति ये हैं—पहली (प्रमाण), दूसरी (विपर्य्यय), तीसरी (विकल्प), चौथी (निद्रा), और पांचमी (स्मृति) ।। ५ ।।

उनके विभाग और लक्षण ये हैं—(तत्र प्रत्यक्षा०) इसकी व्याख्या वेदविषय के होमप्रकरण में लिख दी है[3] ।। ६ ।।

(विपर्य्ययो०)दूसरी 'विपर्य्यय' कि जिससे मिथ्याज्ञान हो, अर्थात् जैसे को तैसा न जानना। अथवा अन्य में अन्य की भावना कर लेना, इसको 'विपर्य्यय' कहते हैं ।।७।।

तीसरी, 'विकल्पवृत्ति' (शब्दज्ञाना०) जैसे किसी ने कहा कि एक देश में हमने आदमी के शिर पर सींग देखे थे। इस बात को सुनके कोई मनुष्य निश्चय करले कि ठीक है, सींगवाले मनुष्य भी होते होंगे। ऐसी वृत्ति को 'विकल्प' कहते हैं। सो झूठी बात है, अर्थात् जिसका शब्द तो हो परन्तु किसी प्रकार का अर्थ किसी को न मिल सके, इसी से इसका नाम 'विकल्प' है ।।८।।

है, परमात्मा की प्राप्ति के लिये उससे भिन्न प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती और परमात्मा की प्राप्ति के लिये भी जीव की स्वरूपस्थिति आवश्यक होती है। इस प्रकार महर्षि दयानन्द ने परमात्मपरक अर्थ के द्वारा महर्षि व्यास के अर्थ में और भी अधिक सौन्दर्य पैदा कर दिया।"

१. वै० य० मुद्रित में 'और दूसरा यह है कि' पाठ है, यह संस्कृतपाठ से असंबद्ध है।

२. इस सूत्र के व्यासभाष्य के अनुसार सांसारिक अवस्था में योगी अयोगी दोनों की आत्मा में चित्त-वृत्ति से समानरूपता होती है, परन्तु ऋषि दयानन्द के लेखानुसार योगी अयोगी दोनों की अवस्था में भेद रहता है। यद्यपि साधारण दृष्टि से महर्षि व्यास के भाष्य और ऋषि दयानन्द के लेख में विरोध प्रतीत होता है तथापि मूलतः दोनों में भेद नहीं है। महर्षि व्यास ने केवल इतना ही कहा है कि सांसारिक अवस्था में योगी अयोगी दोनों की आत्मा चित्तवृति से अभिन्न होती है, यह समानता केवल वृत्तिरूप से है। ऋषि दयानन्द इसका विरोध नहीं करते। वे केवल इतना कहते हैं कि चित्त की शान्त घोर और मूढ़ वृत्तियों में से योगी की और अयोगी की वृत्ति में भिन्नता होती है। इस प्रकार ऋषि दयानन्द की व्याख्या व्यासभाष्य की पूरक है।

३. प्रत्यक्षादि प्रमाणों की व्याख्या पूर्व पृष्ठ ६२, ६३ पर देखो।

चौथी 'निद्रा' [(अभाव०)] अर्थात् जो वृत्ति अज्ञान और अविद्या के अन्धकार में फंसी हो, उस वृत्ति का नाम 'निद्रा' है ।।९।।

पांचमी 'स्मृति' (अनुभूत०) अर्थात् जिस व्यवहार वा वस्तु को प्रत्यक्ष देख लिया हो, उसी का संस्कार ज्ञान में बना रहता, और उस विषय को अप्रमोष=भूले नहीं, इस प्रकार की वृत्ति को 'स्मृति' कहते हैं ।।१०।।

इन पांच वृत्तियों को बुरे कामों और अनीश्वर के ध्यान से हटाने का उपाय कहते हैं कि—(अभ्यास०) जैसा अभ्यास उपासना प्रकरण में आगे लिखेंगे, वैसा करें। और वैराग्य अर्थात् सब बुरे कामों और दोषों से अलग रहें। इन दोनों उपायों से पूर्वोक्त पांच वृत्तियों को रोक के उनको उपासनायोग में प्रवृत्त रखना ।।११।।

तथा उस समाधि के योग होने का यह भी साधन है कि—(ईश्वरप्र०) ईश्वर में विशेष भक्ति होने पर [ईश्वर की कृपा से] मनका समाधान होके, मनुष्य समाधियोग को शीघ्र प्राप्त हो जाता है ।।१२।।

"अथ प्रधानपुरुषव्यतिरिक्तः कोऽयमीश्वरो नामेति'—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।।१३।।अ० १ । पा० १ । सू० १४ ।।

भाष्यम्—'अविद्यादयः क्लेशाः, कुशलाकुशलानि कर्माणि, तत्फलं विपाकस्तदनुगुणा वासना आशयाः, ते च मनसि वर्त्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते, स हि तत्फलस्य भोक्तेति । यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्त्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते । यो ह्यनेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुषविशेष ईश्वरः ।

कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः । ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्वा कैवल्यं प्राप्ताः । ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी । यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धनकोटिः प्रज्ञायते, नैवमीश्वरस्य । यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिः सम्भाव्यते, नैवमीश्वरस्य । स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति ।

योऽसौ प्रकृष्टसत्त्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः स किं सनिमित्त आहोस्विन्निर्निमित्त इति । तस्य शास्त्रं निमित्तम् । शास्त्रं पुनः किं निमित्तम् ? प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तम् । एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्त्वे वर्त्तमानयोरनादिसम्बन्धः । एतस्मादेतद्भवति सदैवेश्वरः सदैव मुक्त इति । तच्च तस्यैश्वर्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तं, न तावदैश्वर्यान्तरेण तदतिशय्यते । यदेवातिशयि स्यात् तदेव तत्स्यात् तस्माद् यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्य्यस्य स ईश्वरः'। न च तत्समानमैश्वर्यमस्ति । कस्मात्? द्वयोस्तुल्ययोरेकस्मिन् युगपत् कामितेऽर्थे नवमिदमस्तु पुराणमिदमस्त्विति, एकस्य सिद्धावितरस्य प्राकाम्यविधाताद् ऊनत्वं प्रसक्तम् । द्वयोश्च तुल्ययोर्युगपत् कामितार्थप्राप्तिर्नास्ति, अर्थस्य विरुद्ध-

१. इत आरभ्य योगसूत्राणां व्यासभाष्यमेवाग्रे लिख्यते । अत्र च क्वचित् सम्प्रत्युपलभ्यमानाद् व्यासभाष्याद् भेदो दृश्यते । अस्माभिस्तु यथास्थित एव पाठो मुद्रितः, न पाठभेदा निर्दिष्टाः । महर्षिणाऽऽज्ञयाऽपि व्यासभाष्यस्यैकं संस्करणं १९२९ वैक्रमाब्दे वाराणसीतः प्रकाशितमभूत् । तत्पाठा अपीहावलोकनीयाः ।

त्यात्। तस्माद् यस्य साम्यातिशयविनिर्मुक्तमैश्वर्य्यं स [एव][1] ईश्वरः, स च पुरुषविशेष इति'॥१३॥

'किं च'—

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥१४॥ अ० १। पा० १। सू० २५॥

भाष्यम्—'यदिदमतीतानागतप्रत्युत्पन्नप्रत्येकसमुच्चयातीन्द्रियग्रहणमल्पं बह्विति सर्वज्ञबीजमेतद्विवर्धमानं यत्र निरतिशयं स सर्वज्ञः। अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य, सातिशयत्वात्परिमाणवदिति। यत्र काष्ठाप्राप्तिर्ज्ञानस्य स सर्वज्ञः, स च पुरुषविशेष इति। सामान्यमात्रोपसंहारे कृतोपक्षयमनुमानं न विशेषप्रतिपत्तौ समर्थमिति। तस्य संज्ञादिविशेषप्रतिपत्तिरागमतः पर्य्यन्वेष्या। तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम्—ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामीति। तथा चोक्तम्—आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाचेति'॥१४॥

स एष[2] पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥१५॥ अ० १। पा० १। सू० २६॥

भाष्यम्—'पूर्वे हि गुरवः कालेनावच्छेद्यन्ते। यत्रावच्छेदार्थेन कालो नोपावर्त्तते, स एष पूर्वेषामपि गुरुः। यथाऽस्य सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्या सिद्धः तथातिक्रान्तसर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः'॥१५॥

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ अ० १ पा० १। सू० २७॥

भाष्यम्—'वाच्य ईश्वरः प्रणवस्य। किमस्य संकेतकृतं वाच्यवाचकत्वमथ प्रदीपप्रकाशवदवस्थितमिति? स्थितोऽस्य वाच्यस्य वाचकेन सम्बन्धः। संकेतस्त्वीश्वरस्य स्थितमेवार्थमभिनयति। यथावस्थितः पितापुत्रयोः सम्बन्धः संकेतेनावद्योत्यते—अयमस्य पिता, अयमस्य पुत्र इति। सर्गान्तरेष्वपि वाच्यवाचकशक्त्यपेक्षस्तथैव संकेतः क्रियते। संप्रतिपत्तिनित्यतया 'नित्यः शब्दार्थसम्बन्ध' इत्यागमिनः प्रतिजानते'॥१६॥

'विज्ञातवाच्यवाचकत्वस्य योगिनः'—

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥२७॥ अ० १। पा० १। सू० २८।

भाष्यम्—'प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावना[3]। तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते। तथा चोक्तम्—

स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते इति'॥१७॥

---

१. पदमिदं वै० य० मुद्रितयोरष्टमनवमयोरेव संस्करणयोरुपलभ्यते, न ततः पूर्वतनेषु। व्यासभाष्यं दृष्ट्वा पदमिदं निःक्षिप्तं स्यात्। २. वाचस्पत्यादीनां व्याख्यातॄणां मते 'स एष' इति पदे सूत्रस्योपस्थापिके स्तः। व्यासभाष्ये 'स एष पूर्वेषामपि गुरुः' इत्यानुपूर्विपाठात् सूत्रावयवोऽपि सम्भवति।

३. व्यासभाष्ये 'भावनम्' पाठ उपलभ्यते क्वचित्।

भाषार्थ—अब ईश्वर का लक्षण कहते हैं कि—(क्लेशकर्म०) अर्थात् इसी प्रकरण में आगे लिखे हैं जो अविद्यादि पांच क्लेश, और अच्छे बुरे कर्मों की जो-जो वासना, इन सबसे जो सदा अलग और बन्ध[न]रहित है, उसी पूर्ण पुरुष को 'ईश्वर' कहते हैं। फिर वह कैसा है? जिससे अधिक वा तुल्य दूसरा पदार्थ कोई नहीं, तथा जो सदा आनन्दज्ञानस्वरूप सर्वशक्तिमान् है, उसी को ईश्वर कहते हैं ॥१३॥

क्योंकि (तत्र निरति०) जिसमें नित्य सर्वज्ञ ज्ञान है, वही ईश्वर है। जिसके ज्ञानादि गुण अनन्त हैं, जो ज्ञानादि गुणों की पराकाष्ठा है, जिसके सामर्थ्य की अवधि नहीं। और जीव के सामर्थ्य की अवधि प्रत्यक्ष देखने में आती है, इसलिये सब जीवों को उचित है कि अपने ज्ञान [को] बढ़ाने के लिये सदैव परमेश्वर की उपासना करते रहें ॥१४॥

[(स एष०) इसका भाषार्थ वेदनित्यत्वविषय में लिख दिया है[1] ॥१५॥]

अब उसकी भक्ति किस प्रकार से करनी चाहिये, सो आगे लिखते हैं—(तस्य वा०) जो ईश्वर का ओंकार नाम है, सो पिता पुत्र के सम्बन्ध के समान है। और यह नाम ईश्वर को छोड़के दूसरे अर्थ का वाची नहीं हो सकता। ईश्वर के जितने नाम हैं, उनमें से ओंकार सबसे उत्तम नाम है ॥१६॥

इसलिये (तज्जप०) इसी नाम का जप अर्थात् स्मरण, और उसी का अर्थविचार सदा करना चाहिये, कि जिससे उपासक का मन एकाग्रता, प्रसन्नता और ज्ञान को यथावत् प्राप्त होकर स्थिर हो। जिससे उसके हृदय में परमात्मा का प्रकाश और परमेश्वर की प्रेम-भक्ति सदा बढ़ती जाय ॥१७॥

फिर उससे उपासकों को यह भी फल होता है कि—

'किं चास्य भवति'—

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥१८॥ अ० १। पा० १। सू० २९॥

भाष्यम्—'ये तावदन्तरायाः, व्याधिप्रभृतयस्ते तावदीश्वरप्रणिधानान्न भवन्ति। स्वरूपदर्शनमप्यस्य भवति। यथैवेश्वरः पुरुषः शुद्धः प्रसन्नः केवलः अनुपसर्गः, तथायमपि बुद्धेः प्रतिसंवेदी यः पुरुष इत्येवमधिगच्छति' ॥१८॥

'अथ केऽन्तरायाः ये चित्तस्य विक्षेपकाः। के पुनस्ते कियन्तो वेति'—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥१९॥ अ० १। पा० १। सू० ३०॥

भाष्यम्—'नवान्तरायाश्चित्तस्य विक्षेपाः। सहैते चित्तवृत्तिभिर्भवन्त्येतेषामभावे न भवन्ति। पूर्वोक्ताश्चित्तवृत्तयः। व्याधिर्धातुरसकरणवैषम्यम्। स्त्यानमकर्मण्यता चित्तस्य। संशय

१. पूर्वत्र पृष्ठ ४०।

उभयकोटिस्पृक् विज्ञानम्—स्यादिदमेवं नैवं स्यादिति । प्रमादः समाधिसाधनानामभावनम् आलस्यं कायस्य चित्तस्य च गुरुत्वादप्रवृत्तिः । अविरतिश्चित्तस्य विषयसंप्रयोगात्मा गर्द्धः भ्रान्तिदर्शनं विपर्ययज्ञानम् । अलब्धभूमिकत्वं समाधिभूमेरलाभः । अनवस्थितत्वं यल्लब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा, समाधिप्रतिलम्भे हि सति तदवस्थितं स्यादिति । एते चित्तविक्षेपा नव योगमलाः, योगप्रतिपक्षा योगान्तराया इत्यभिधीयन्ते' । १९॥

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥ २० ॥

अ० १ । पा० १ सू० ३१ ।

भाष्यम्—'दुःखमाध्यात्मिकम्, आधिभौतिकम्, आधिदैविकं च । येनाभिहताः प्राणिनस्तदुपघाताय प्रयतन्ते, तद् दुःखम् । दौर्मनस्यम्—इच्छाभिघाताच्चेतसः क्षोभः । यदङ्गान्येजयति कम्पयति तदङ्गमेजयत्वम् । प्राणो यद् बाह्यं वायुमाचामति स श्वासः । एते[1] विक्षेपसहभुवः विक्षिप्तचित्तस्यैते भवन्ति । समाहितचित्तस्यैते न भवन्ति ॥२०॥

'अथैते विक्षेपाः समाधिप्रतिपक्षाः, ताभ्यामेवाभ्यासवैराग्याभ्यां निरोद्धव्याः । तत्राभ्यासस्य विषयमुपसंहरन्निदमाह'—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥२१॥ अ० १ । पा० १ । सू० ३२ ॥

भाष्यम्—'विक्षेपप्रतिषेधार्थमेकतत्त्वावलम्बनं चित्तमभ्यस्येत्[2] । यस्य तु प्रत्यर्थनियतं प्रत्ययमात्रं क्षणिकं च चित्तं, तस्य सर्वमेव चित्तमेकाग्रं, नास्त्येव विक्षिप्तम् । यदि पुनरिदं सर्वतः प्रत्याहृत्यैकस्मिन्नर्थे समाधीयते तदा भवत्येकाग्रमित्यतो न प्रत्यर्थनियतम् ।

योऽपि सदृशप्रत्ययप्रवाहेण चित्तमेकाग्रं मन्यते, तस्यैकाग्रता यदि प्रवाहचित्तस्य धर्मः तदैकं नास्ति प्रवाहचित्तं, क्षणिकत्वात् । अथ प्रवाहांशस्यैव प्रत्ययस्य धर्मः, स सर्वः सदृशप्रत्ययप्रवाही वा विसदृशप्रत्ययप्रवाही वा, प्रत्यर्थनियतत्वादेकाग्र एवेति विक्षिप्तचित्तानुपपत्तिः । तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं चित्तमिति ।

यदि च चित्तेनैकेनानन्विताः स्वभावभिन्नाः प्रत्यया जायेरन्, अथ कथमन्यप्रत्ययदृष्टस्यान्यः स्मर्त्ता भवेत् । अन्यप्रत्ययोपचितस्य च कर्माशयस्यान्यः प्रत्यय उपभोक्ता भवेत् । कथञ्चित् समाधीयमानमप्येतद् गोमयपायसीयं[3] न्यायमाक्षिपति ।

किंच स्वात्मानुभवापह्नवः चित्तस्यान्यत्वे प्राप्नोति । कथम्, यदहमद्राक्षं तत् स्पृशामि, यच्चास्प्राक्षं तत्पश्यामीति । अहमिति प्रत्ययः [सर्वस्य प्रत्ययस्य भेदे सति प्रत्ययिन्यभेदेनोपस्थितः ।

---

१. "संस्करण १ में नहीं है, हस्तलेख में है" यह वै० य० मुद्रित सं० ६ में टिप्पणी है ।

२. '० मभ्यसेत्' इति प्रथमसंस्करणे, द्वितीयसंस्करणात् '०मभ्यस्येत्' इत्येव दृश्यते ।

३. गोमयं च पायसं चाधिकृत्य प्रवृत्तो न्यायः । गोमयं पायसं गव्यत्वाद् उभयसिद्धपायसवदिति वाचस्पतिव्यासभाष्यटीकायाम् । अस्यायं भावः—गोमयं पायसं चोभयमपि गोप्रभवम्, तस्माद् यथा गोः प्रभवं पायसं पायसम्, तथा गोप्रभवत्वादेव गोमयमपि पायसम्, यद्वा गोमय इव पायसमपि गोमयं गोप्रभवत्वात् ।

एकप्रत्ययविषयोऽयमभेदात्माऽहमिति प्रत्ययः][1] कथमत्यन्तभिन्नेषु चित्तेषु वर्त्तमानः सामान्यमेकं प्रत्ययिनमाश्रयेत् ? स्वानुभवग्राह्यश्चायमभेदात्मा अहमिति प्रत्ययः। न च प्रत्यक्षस्य माहात्म्यं प्रमाणान्तरेणाभिभूयते प्रमाणान्तरञ्च प्रत्यक्षबलेनैव व्यवहारं लभते। तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं च चित्तम्' ॥२१॥

'य[स्य चित्तस्यावस्थित][2]स्येदं शास्त्रेण परिकर्म निर्दिश्यते तत्कथम्'[3] ॥

भाषार्थ—इस मनुष्य को क्या होता है ? (ततः प्र०) अर्थात् उस अन्तर्यामी परमात्मा की प्राप्ति, और (अन्तराय) उसके अविद्यादि क्लेशों तथा रोगरूप विघ्नों का नाश हो जाता है ॥१८॥

वे विघ्न नव प्रकार के हैं—(व्याधि०) एक (व्याधि) अर्थात् धातुओं की विषमता से ज्वर आदि पीड़ा का होना। दूसरा (स्त्यान) अर्थात् सत्य कर्मों से अप्रीति। तीसरा (संशय) अर्थात् जिस पदार्थ का निश्चय किया चाहे, उसका यथावत् ज्ञान न होना। चौथा (प्रमाद) अर्थात् समाधिसाधनों के ग्रहण में प्रीति और उनका विचार यथावत् न होना। पांचवां (आलस्य) अर्थात् शरीर और मन में आराम की इच्छा से पुरुषार्थ छोड़ बैठना। छठा (अविरति) अर्थात् विषय-सेवा में तृष्णा का होना। सातवां (भ्रान्तिदर्शन) अर्थात् उलटे ज्ञान का होना, जैसे जड़ में चेतन और चेतन में जड़बुद्धि करना, तथा ईश्वर में अनीश्वर और अनीश्वर में ईश्वरभाव करके पूजा करना। आठवां (अलब्धभूमिकत्व) अर्थात् समाधि की प्राप्ति न होना। और नववां (अनवस्थितत्व) अर्थात् समाधि की प्राप्ति होने पर भी उसमें चित्त स्थिर न होना। ये सब चित्त की समाधि होने में विक्षेप अर्थात् उपासनायोग के शत्रु हैं ॥१६॥

अब इनके फल लिखते हैं—(दुःखदौर्म०) अर्थात् दुःख की प्राप्ति, मन का दुष्ट होना, शरीर के अवयवों का कंपना, श्वास और प्रश्वास के अत्यन्त वेग से चलने में अनेक प्रकार के क्लेशों का होना, जो कि चित्त को विक्षिप्त कर देते हैं। ये सब क्लेश अशान्त चित्तवाले को प्राप्त होते हैं, शान्त चित्तवाले को नहीं ॥ २० ॥

और उनके छुड़ाने का मुख्य उपाय यही है कि—(तत्प्रतिषेधा०) जो केवल एक अद्वितीय ब्रह्म तत्त्व है उसी में प्रेम, और सर्वदा उसी की आज्ञापालन में पुरुषार्थ करना है, वही एक उन विघ्नों के नाश करने को वज्ररूप शस्त्र है, अन्य कोई नहीं। इसलिये सब मनुष्यों को अच्छी प्रकार प्रेमभाव से परमेश्वर के उपासनायोग में नित्य पुरुषार्थ करना चाहिये, कि जिससे वे सब विघ्न दूर हो जायं ॥ २१ ॥

आगे जिस भावना से उपासना करनेवाले को व्यवहार में अपने चित्त को प्रसन्न करना होता है, सो कहते हैं—

---

१. अयं कोष्ठान्तर्गतः पाठो लेखकस्य दृष्टिदोषान्नष्टः, 'अहमिति प्रत्ययः' इति पाठस्य पूर्वत्र परत्र च समानत्वात्।

२. अयमपि कोष्ठान्तर्गतः पाठो लेखकप्रमादान्नष्टः प्रतिभाति। वाचस्पतिविरचितायाष्टीकायाः पाठोऽत्रानुसंधेयः।

३. इयं पङ्क्तिरुत्तरेण सूत्रेण संबध्यते।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥२२॥ अ० १। पा० १। सू० ३३॥

भाष्यम्—'तत्र सर्वप्राणिषु सुखसंभोगापन्नेषु मैत्रीं भावयेत्, दुःखितेषु करुणाम्, पुण्यात्मकेषु मुदिताम्, अपुण्यशीलेषूपेक्षाम्। एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते। ततश्च चित्तं प्रसीदति, प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते' ॥२२॥

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥२३॥ अ० १। पा० १ सू० ३४॥

भाष्यम्—'कोष्ठ्यस्य[1] वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद् वमनं प्रच्छर्दनम्, विधारणं प्राणायामः। ताभ्यां वा मनसः स्थितिं सम्पादयेत्।'

छर्दनं भक्षितान्नवमनवत् प्रयत्नेन शरीरस्थं प्राणं बाह्यदेशं निस्सार्य यथाशक्ति बहिरेव स्तम्भनेन चित्तस्य स्थिरता सम्पादनीया ॥२३॥

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥२४॥

अ० १। पा० २ सू० २८॥

भाष्यम्—एषामुपासनायोगाङ्गानामनुष्ठानाचरणादशुद्धिरज्ञानं प्रतिदिनं क्षीणं भवति, ज्ञानस्य च वृद्धिर्यावन्मोक्षप्राप्तिर्भवति ॥२४॥

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥२५॥

अ० १। पा० २ सू० २९॥

[2]तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥२६॥ अ १ पा २। सू० ३०॥

भाष्यम्—'तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः। उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतया तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते। तदवदातरूपकरणायैवोपादीयन्ते। तथा चोक्तम्—स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्त्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति।

सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे। यथा दृष्टं यथाऽनुमितं यथा श्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति। परत्र स्वबोधसङ्क्रान्तये वागुक्ता, सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा भवेत् इति, एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता, न भूतोपघाताय। यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत्, पापमेव भवेत्। तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण[3] कष्टं तमः प्राप्नुयात्। तस्मात् परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात्।

१. वै० य० मुद्रितेषु 'कोष्ठ्यस्य' इत्येव पाठः। स च कोष्ठशब्दाद् भवार्थे शरीरावयवाच्च (अष्टा० ४।३।५५) इति सूत्रेण यति प्रत्यये सिद्ध्यति। व्यासभाष्ये तु 'कौष्ठ्यस्य' पाठः। तत्र आर्षत्वाद् 'ष्यः' प्रत्ययो द्रष्टव्यः। यद्वा कोष्ठ्यात् स्वार्थेऽण् ज्ञेयः। २. 'तत्र' इति पदं सूत्रोपस्थानिकारूपमित्येके।

३. प्रथमसंस्करणे 'पुण्यप्रतिरूपकेन' इति णत्वाभाववर्जं शुद्धः पाठः। द्वितीयसंस्करणात्तु 'पुण्यप्रकृतिरूपकेन' इत्येवमपपाठो मुद्र्यते। नवमसंस्करणे 'पुण्यप्रकृतिरूपकेण' णत्ववान् पाठो दृश्यते।

स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणं, तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति ।

ब्रह्मचर्य्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः ।

विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनाद् अस्वीकरणमपरिग्रहः । इत्येते यमाः॥२६॥

एषां विवरणं प्राकृतभाषायां वक्ष्यते ।

भाषार्थ—(मैत्री०) अर्थात् इस संसार में जितने मनुष्य आदि प्राणी सुखी हैं, उन सबों के साथ मित्रता करना । दुःखियों पर कृपादृष्टि रखनी । पुण्यात्माओं के साथ प्रसन्नता । पापियों के साथ उपेक्षा, अर्थात् न उनके साथ प्रीति रखना और न वैर ही करना । इस प्रकार के वर्त्तमान से उपासक के आत्मा में सत्यधर्म का प्रकाश और उसका मन स्थिरता को प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

(प्रच्छर्दन०) जैसे भोजन के पीछे किसी प्रकार से वमन हो जाता है, वैसे ही भीतर के वायु को बाहर निकालके सुखपूर्वक जितना बन सके उतना बाहर ही रोक दे । पुनः धीरे-धीरे भीतर लेके पुनरपि ऐसे ही करे । इसी प्रकार बार बार अभ्यास करने से प्राण उपासक के वश में हो जाता है । और प्राण के स्थिर होने से मन, मन के स्थिर होने से आत्मा भी स्थिर हो जाता है । इन तीनों के स्थिर होने के समय अपने आत्मा के बीच में जो आनन्दस्वरूप अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके स्वरूप में मग्न हो जाना चाहिये । जैसे मनुष्य जल में गोता मारकर ऊपर आता है, फिर गोता लगा जाता है, इसी प्रकार अपने आत्मा को परमेश्वर के बीच में बार बार मग्न करना चाहिये ॥ २३ ॥

(योगाङ्गानु०) आगे जो उपासनायोग के आठ अङ्ग लिखते हैं, जिनके अनुष्ठान से अविद्यादि दोषों का क्षय, और ज्ञान के प्रकाश की वृद्धि होने से जीव यथावत् मोक्ष को प्राप्त हो जाता है ॥ २४ ॥

(यमनियमा०) अर्थात् एक (यम), दूसरा (नियम), तीसरा (आसन), चौथा (प्राणायाम), पांचवां (प्रत्याहार), छठा (धारणा), सातवां (ध्यान), और आठवां (समाधि) ये सब उपासनायोग के अङ्ग कहाते हैं । और आठ अङ्गों का सिद्धान्तरूप फल 'संयम' है ॥ २५ ॥

(तत्राहिंसा०) उन आठों में से पहिला 'यम' है । सो पांच प्रकार का है—एक (अहिंसा) अर्थात् सब प्रकार से, सब काल में, सब प्राणियों के साथ वैर छोड़के प्रेम-प्रीति से वर्त्तना । दूसरा (सत्य)—अर्थात् जैसा अपने ज्ञान में हो, वैसा ही सत्य बोले करे और माने । तीसरा (अस्तेय)—अर्थात् पदार्थवाले की आज्ञा के विना किसी पदार्थ की इच्छा भी न करना, इसी को चोरीत्याग कहते हैं । चौथा (ब्रह्मचर्य्य)—अर्थात् विद्या पढ़ने के लिये बाल्यावस्था से लेकर सर्वथा जितेन्द्रिय होना । और पच्चीसवें वर्ष से लेके अड़तालीस वर्ष पर्य्यन्त विवाह का करना, परस्त्री वेश्या आदि का त्यागना, सदा ऋतुगामी होना, विद्या को ठीक-ठीक पढ़के सदा पढ़ाते रहना, और उपस्थ इन्द्रिय का सदा नियम करना । पांचवां (अपरिग्रह)—अर्थात् विषय और अभिमानादि दोषों से रहित होना । इन पांचों का ठीक-ठीक अनुष्ठान करने से उपासना का बीज बोया जाता है ॥ २६ ॥

दूसरा अङ्ग उपासना का 'नियम' है । जो कि पांच प्रकार का है—

ते तु—

शौचसन्तोपतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ २७ ॥

अ० १ । पा० २ । सू० ३२ ॥

भाष्यम्—शौचं बाह्यमाभ्यन्तरं च । बाह्यं जलादिनाऽऽभ्यन्तरं रागद्वेषाऽसत्यादित्यागेन च कार्यम् । संतोषो धर्मानुष्ठानेन सम्यक् प्रसन्नता सम्पादनीया । तपः सदैव धर्मानुष्ठानमेव कर्त्तव्यम् । [स्वाध्यायः] वेदादिसत्यशास्त्राणामध्ययनाध्यापने प्रणवजपो वा । ईश्वरप्रणिधानं परमगुरवे परमेश्वराय सर्वात्मादिद्रव्यसमर्पणम् । इत्युपासनायाः पञ्च नियमा द्वितीयमङ्गम् ॥२७॥

अथाहिंसाधर्मस्य फलम्—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥२८॥

अथ सत्याचरणस्य फलम्—

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥२९॥

अथ चोरीत्यागफलम्—

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥३०॥

अथ ब्रह्मचर्य्याश्रमानुष्ठानेन यल्लभ्यते, तदुच्यते—

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥३१॥

अथापरिग्रहफलमुच्यते—

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथंतासंबोधः ॥३२॥

अथ शौचानुष्ठानफलम्—

शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥३३॥

किंच[1]—सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥३४॥

संतोषादनुत्तमसुखलाभः ॥३५॥

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥३६॥

स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः ॥३७॥

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥३८॥ योग० अ० १ । पा० २ । सू० ३५-४५ ॥

भाषार्थ—[(शौच०)]पहिला (शौच)—अर्थात् पवित्रता करनी । सो भी दो प्रकार की है—एक भीतर की, और दूसरी बाहर की । भीतर की शुद्धि धर्माचरण, सत्यभाषण, विद्याभ्यास,

१ 'किंच' इति पदं सूत्रोपस्थानिकारूपे स्तः ।

सत्संग आदि शुभगुणों के आचरण से होती है। और बाहर की पवित्रता जल आदि से शरीर स्थान मार्ग वस्त्र खाना पीना आदि शुद्ध करने से होती है। दूसरा (सन्तोष)—जो सदा धर्मानुष्ठान से अत्यन्त पुरुषार्थ करके [प्राप्त हो, उससे] प्रसन्न रहना, और दुःख में शोकातुर न होना। किन्तु आलस्य का नाम सन्तोष नहीं है। तीसरा (तपः)—जैसे सोने को अग्नि में तपाके निर्मल कर देते हैं, वैसे ही आत्मा और मन को धर्माचरण और शुभगुणों के आचरणरूप तप से निर्मल कर देना। चौथा (स्वाध्याय)—अर्थात् मोक्षविद्याविधायक वेदशास्त्र का पढ़ना-पढ़ाना, और ओंकार के विचार से ईश्वर का निश्चय करना-कराना। और पांचवां (ईश्वरप्रणिधान)—अर्थात् सब सामर्थ्य, सब गुण, प्राण आत्मा और मन के प्रेमभाव से आत्मादि सत्य द्रव्यों का ईश्वर के लिये समर्पण करना। ये पांच नियम उपासना का दूसरा अंग हैं॥ २७॥

अब पांच यम और पांच नियमों के यथावत् अनुष्ठान का फल कहते हैं—

(अहिंसाप्र०) अर्थात् जब अहिंसा धर्म निश्चय[1] हो जाता है, तब उस पुरुष के मन से वैरभाव छूट जाता है, किन्तु उसके सामने वा उसके संग से अन्य पुरुष का भी वैरभाव छूट जाता है॥ २८॥

(सत्यप्र०) तथा सत्याचरण का ठीक-ठीक फल यह है कि जब मनुष्य निश्चय करके केवल सत्य ही मानता बोलता और करता है, तब वह जो-जो योग्य काम करता और करना चाहता है, वे-वे सब सफल हो जाते हैं॥ २९॥

चोरी-त्याग करने से यह बात होती है कि—(अस्तेय०) अर्थात् जब मनुष्य अपने शुद्ध मन से चोरी के छोड़ देने की प्रतिज्ञा कर लेता है, तब उसको सब उत्तम-उत्तम पदार्थ यथायोग्य प्राप्त होने लगते हैं। और 'चोरी' इसका नाम है कि मालिक की आज्ञा के विना अधर्म से उसकी चीज को कपट से वा छिपाकर ले लेना॥ ३०॥

(ब्रह्मचर्य०) ब्रह्मचर्य-सेवन से यह बात होती है कि जब मनुष्य बाल्यावस्था में विवाह न करे, उपस्थ इन्द्रिय का संयम रक्खे, वेदादिशास्त्रों को पढ़ता-पढ़ाता रहे, विवाह के पीछे भी ऋतुगामी बना रहे, और परस्त्रीगमन आदि व्यभिचार को मन कर्म वचन से त्याग देवे, तब दो प्रकार का वीर्य अर्थात् बल बढ़ता है—एक शरीर का, दूसरा बुद्धि का। उसके बढ़ने से मनुष्य अत्यन्त आनन्द में रहता है॥ ३१॥

(अपरिग्रहस्थै०) अपरिग्रह का फल यह है कि जब मनुष्य विषयासक्ति से बचकर सर्वथा जितेन्द्रिय रहता है, तब मैं कौन हूं, कहां से आया हूं और मुझको क्या करना चाहिये, अर्थात् क्या काम करने से मेरा कल्याण होगा, इत्यादि शुभगुणों का विचार उसके मन में स्थिर होता है। ये ही पांच 'यम' कहाते हैं। इनका ग्रहण करना उपासकों को अवश्य चाहिये॥ ३२॥

---

१. यहां केवल 'निश्चय' तक ही अभिप्राय समाप्त नहीं होता, अपितु जब मनुष्य व्यवहार में भी अहिंसाधर्म में दृढ़ हो जाता है। तब उक्त फल प्राप्त होता है। क्योंकि निश्चय की परिसमाप्ति अथवा परीक्षा व्यवहार में ही होती है। ऐसा ही आगे भी सर्वत्र समझें।

परन्तु यमों का नियम सहकारी कारण है, जो कि उपासना का दूसरा अङ्ग कहाता है। और जिसका साधन करने से उपासक लोगों का अत्यन्त सहाय होता है। सो भी पांच प्रकार का है। उनमें से प्रथम शौच का फल लिखा जाता है—

(शौचात् स्वां०) पूर्वोक्त दो प्रकार[1] के शौच करने से भी जब अपना शरीर और उसके सब अवयव बाहर-भीतर से मलीन ही रहते हैं, तब औरों के शरीर की भी परीक्षा होती है कि सबके शरीर मल आदि से भरे हुए हैं। इस ज्ञान से वह योगी दूसरे से अपना शरीर मिलाने में घृणा अर्थात् संकोच करके सदा अलग रहता है ॥ ३३ ॥

और उसका फल यह है कि (किञ्च०)—अर्थात् शौच से अन्तःकरण की शुद्धि, मन की प्रसन्नता और एकाग्रता, इन्द्रियों का जय तथा आत्मा के देखने अर्थात् जानने की योग्यता प्राप्त होती है ॥ ३४ ॥

तदनन्तर (संतोषाद०) अर्थात् पूर्वोक्त संतोष से जो सुख मिलता है, वह सबसे उत्तम है। और उसी को 'मोक्षसुख' कहते हैं ॥ ३५ ॥

(कायेन्द्रिय०) अर्थात् पूर्वोक्त तप से उनके शरीर और इन्द्रियां अशुद्धि के क्षय से दृढ़ होके सदा रोगरहित रहते हैं ॥ ३६ ॥

तथा (स्वाध्याय०) पूर्वोक्त स्वाध्याय से इष्टदेवता अर्थात् परमात्मा के साथ सम्प्रयोग अर्थात् साझा होता है। फिर परमेश्वर के अनुग्रह का सहाय, अपने आत्मा की शुद्धि, सत्याचरण, पुरुषार्थ और प्रेम के सम्प्रयोग से जीव शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त होता है ॥ ३७ ॥

तथा (समाधि०) पूर्वोक्त प्रणिधान से उपासक मनुष्य सुगमता से समाधि को प्राप्त होता है ॥ ३८ ॥

तथा—

तत्र स्थिरसुखमासनम् ॥३९॥ अ० १। पा० २। सू० ४६ ॥

भाष्यम्—'तद्यथा पद्मासनं, वीरासनं, भद्रासनं, स्वस्तिकं, दण्डासनं, सोपाश्रयं, पर्यङ्कं, क्रौञ्चनिषदनं, हस्तिनिषदनम्, उष्ट्रनिषदनं, समसंस्थानं, स्थिरसुखं, यथासुखं चेत्येवमादीनि।' पद्मासनादिकमासनं विदध्यात्, यद्वा यादृशीच्छा तादृशमासनं कुर्यात् ॥३९॥

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥४०॥ अ० १। पा० २। सू० ४८ ॥

भाष्यम्—'शीतोष्णादिभिर्द्वन्द्वैरासनजयान्नाभिभूयते' ॥४०॥

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥४१॥

अ० १। पा० २। सू० ४९ ॥

1. पूर्व पृष्ठ २०२ में निर्दिष्ट।

भाष्यम्—'सत्यासनजये बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः, कोष्ठयस्य[1] वायोर्निस्सारणं प्रश्वासस्तयोर्गतिविच्छेद उभयाभावः प्राणायामः।'

आसने सम्यक्सिद्धे कृते बाह्याभ्यन्तरगमनशीलस्य वायोर्युक्त्या शनैः शनैरभ्यासेन जयकरणमर्थात् स्थिरीकृत्य गत्यभावकरणं प्राणायामः ॥४१॥

स तु[2]—बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः॥४२॥

अ० १। पा० २। सू० ५०॥

भाष्यम्—'यत्र प्रश्वासपूर्वको गत्यभावः स बाह्यः। यत्र श्वासपूर्वको गत्यभावः स आभ्यन्तरः। तृतीयः स्तम्भवृत्तिर्यत्रोभयाभावः सकृत्प्रयत्नाद् भवति। यथा तप्ते न्यस्तमुपले जलं सर्वतः संकोचमापद्यते तथा द्वयोर्युगपद् गत्यभाव इति।'

बालबुद्धिभिरङ्गुल्यङ्गुष्ठाभ्यां नासिकाछिद्रमवरुध्य यः प्राणायामः क्रियते स खलु शिष्टैस्त्याज्य एवास्ति। किन्त्वत्र बाह्याभ्यन्तराङ्गेषु शान्तिशैथिल्ये सम्पाद्य सर्वाङ्गेषु यथावत् स्थितेषु सत्सु बाह्यदेशं गतं प्राणं तत्रैव यथाशक्ति संरुध्य प्रथमो बाह्याख्यः प्राणायामः कर्त्तव्यः। तथोपासकैर्यो बाह्याद्देशादन्तः प्रविशति तस्याभ्यन्तर एव यथाशक्ति निरोधः क्रियते, स आभ्यन्तरो द्वितीयः सेवनीयः। एवं बाह्याभ्यन्तराभ्यामनुष्ठिताभ्यां द्वाभ्यां कदाचिदुभयोर्युगपत् संरोधो यः क्रियते, स स्तम्भवृत्तिस्तृतीयः प्राणायामोऽभ्यसनीयः ॥४२॥

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥४३॥ अ० १। पा० २। सू० ५१॥

भाष्यम्—'देशकालसंख्याभिर्बाह्यविषयः परिदृष्ट[3] आक्षिप्तः, तथाऽऽभ्यन्तरविषयः परिदृष्ट[3] आक्षिप्तः, उभयथा दीर्घसूक्ष्मः। तत्पूर्वको भूमिजयात् क्रमेणोभयोर्गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायामः। तृतीयस्तु विषयानालोचितो गत्यभावः सकृदारब्ध एव देशकालसङ्ख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः। चतुर्थस्तु श्वासप्रश्वासयोर्विषयावधारणात् क्रमेण भूमिजयादुभयाक्षेपपूर्वको गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायामः, इत्ययं विशेष इति।'

यः प्राणायाम उभयाक्षेपी स चतुर्थो गद्यते। तद्यथा यदोदराद् बाह्यदेशं प्रतिगन्तुं प्रथमक्षणे प्रवर्त्तेत तं संलक्ष्य[4] पुनः बाह्यदेशं प्रत्येव प्राणाः प्रक्षेप्तव्याः। पुनश्च यदा बाह्याद्देशादाभ्यन्तरं प्रथममागच्छेत्तमाभ्यन्तर एव पुनः पुनः यथाशक्ति गृहीत्वा तत्रैव स्तम्भयेत् स द्वितीयः। एवं द्वयोरेतयोः क्रमेणाभ्यासेन गत्यभावः क्रियते, स चतुर्थः प्राणायामः। यस्तु खलु तृतीयोऽस्ति स नैव बाह्याभ्यन्तराभ्यासस्यापेक्षां करोति, किन्तु यत्र यत्र देशे प्राणो वर्त्तते तत्र तत्रैव सकृत् स्तम्भनीयः। यथा किमप्यद्भुतं दृष्ट्वा मनुष्यश्चकितो भवति तथैव कार्य्यमित्यर्थः ॥४३॥

भाषार्थ—(तत्र स्थिर०) अर्थात् जिसमें सुखपूर्वक शरीर और आत्मा स्थिर हो, उसको 'आसन' कहते हैं। अथवा जैसी रुचि हो वैसा आसन करे॥ ३९ ॥

---

१. द्र०—पूर्वत्र पृष्ठ २०० टि० १। २. 'स तु' इत्यंशः सूत्रोपस्थानिकारूपः।

३. व्यासभाष्ये '०विषयपरिदृष्टः' इति समस्तः पाठ उपलभ्यते। सं०

४. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'संलक्ष्य' इत्यपपाठः।

(ततो द्वन्द्वा०) जब आसन दृढ़ होता है, तब उपासना करने में कुछ परिश्रम करना नहीं पड़ता है, और न सर्दी-गर्मी अधिक बाधा करती है ॥ ४० ॥

(तस्मिन्सति०) जो वायु बाहर से भीतर को आता है, उसको 'श्वास' और जो भीतर से बाहर जाता है, उसको 'प्रश्वास' कहते हैं। उन दोनों के जाने-आने को[1] विचार से रोके। नासिका को हाथ से कभी न पकड़े, किन्तु ज्ञान से ही उनके रोकने को 'प्राणायाम' कहते हैं ॥ ४१ ॥

और यह प्राणायाम चार प्रकार से होता है–(स तु बाह्या०) अर्थात् एक बाह्यविषय, दूसरा आभ्यन्तरविषय, तीसरा स्तम्भवृत्ति ॥ ४२ ॥

और चौथा जो बाहर-भीतर से रोकने से होता है। अर्थात् जो कि (बाह्याभ्यं०) इस सूत्र का विषय [है]। वे चार प्राणायाम इस प्रकार के होते हैं कि जब भीतर से बाहर को श्वास निकले, तब उसको बाहर ही रोक दे, इसको प्रथम प्राणायाम कहते हैं। जब बाहर से श्वास भीतर को आवे, तब उसको जितना रोक सके उतना भीतर ही रोक दे, इसको दूसरा प्राणायाम कहते हैं। तीसरा स्तम्भवृत्ति है कि न प्राण को बाहर निकाले और न बाहर से भीतर ले जाय, किन्तु जितनी देर सुख से हो सके, उसको जहां का तहां ज्यों का त्यों एकदम रोक दे। और चौथा यह है कि जब श्वास भीतर से बाहर को आवे, तब बाहर ही कुछ रोकता रहे, और जब बाहर से भीतर जावे, तब उसको भीतर ही थोड़ा-थोड़ा रोकता रहे, इसको बाह्याभ्यन्तराक्षेपी कहते हैं। और इन चारों का अनुष्ठान इसलिये है कि जिससे चित्त निर्मल होकर उपासना में स्थिर रहे ॥ ४३ ॥

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥४४॥ अ० १। पा० २। सू० ५२ ॥

भाष्यम्—एवं प्राणायामाभ्यासाद् यत् परमेश्वरस्यान्तर्यामिनः प्रकाशे सत्यविवेकस्यावरणाख्यमज्ञानमस्ति, तत् क्षीयते क्षयं प्राप्नोतीति ॥४४॥

किं च[2]—धारणासु च योग्यता मनसः ॥४५॥ अ० १। पा० २। सू० ५३ ॥

भाष्यम्—"प्राणायामाभ्यासादेव 'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य' इति वचनात्।" प्राणायामानुष्ठानेनोपासकानां मनसो ब्रह्मध्याने सम्यग्योग्यता भवति ॥४५॥

'अथ कः प्रत्याहारः ?'—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥४६॥
अ० १। पा० २। सू० ५४ ॥

भाष्यम्—यदा चित्तं जितं भवति, परमेश्वरस्मरणालम्बनाद् विषयान्तरे नैव गच्छति,

---

१. प्रथम संस्करण में 'जाने आने के' पाठ है। सं० २ से 'जाने आने को' पाठ मिलता है।

२. व्यासभाष्ये 'किं च' इत्यंशः सूत्रोपस्थापकः।

'तदेन्द्रियाणां प्रत्याहारोऽर्थान्निरोधो भवति। कस्य केषामिव ? यथा चित्तं परमेश्वरस्वरूपस्थं भवति तथैवेन्द्रियाण्यपि, अर्थाच्चित्ते जिते सर्वमिन्द्रियादिकं जितं भवतीति विज्ञेयम् ॥४६॥

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥४७॥ अ० १। पा० २। सू० ५५॥

भाष्यम्—ततस्तदनन्तरं स्वस्वविषयासंप्रयोगेऽर्थात् स्वस्वविषयान्निवृत्तौ सत्यामिन्द्रियाणां परमा वश्यता यथावद् विजयो जायते। उपासको यदा यदेश्वरोपासनं कर्तुं प्रवर्त्तते, तदा तदैव चित्तस्येन्द्रियाणां च वश्यत्वं कर्त्तुं शक्नोतीति ॥४७॥

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥४८॥ अ० १। पा० ३। सू० १॥

भाष्यम्—'नाभिचक्रे, हृदयपुण्डरीके, मूर्ध्नि, ज्योतिषि, नासिकाग्रे जिह्वाग्र इत्येवमादिषु देशेषु बाह्ये वा विषये[2] चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति बन्धो[3] धारणा' ॥४८॥

[बाह्ये विषये अर्थाद् ओंकारे बिन्दौ वा।][4]

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥४९॥ अ० १। पा० ३। सू० २॥

भाष्यम्—'तस्मिन् देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम् ॥४९॥'

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥५०॥ अ० १। पा० ३। सू० ३॥

भाष्यम्—ध्यानसमाध्योरयं भेदः—ध्याने मनसो ध्यातृध्यानध्येयाकारेण विद्यमाना वृत्तिर्भवति। समाधौ तु परमेश्वरस्वरूपे तदानन्दे च मग्नः स्वरूपशून्य इव भवतीति ॥५०॥

त्रयमेकत्र संयमः ॥५१॥ अ० १। पा० ३। सू० ४॥

भाष्यम्—'तदेतद् धारणाध्यानसमाधित्रयमेकत्र संयमः। एकविषयाणि त्रीणि साधनानि संयम इत्युच्यते। तदस्य त्रयस्य तान्त्रिकी परिभाषा संयम इति' ॥५१॥

संयमश्चोपासनाया नवमाङ्गम्

१. प्रथमसंस्करणे मुद्रितः 'तदन्द्रियाणां' इति एकारमात्रात्रुटिरूपोऽपपाठ इत्यविज्ञाय द्वितीयसंस्करणशोधयित्रा 'तदिन्द्रियाणां' इत्येवं भ्रष्टतरः पाठः संपादितः, स आसप्तमसंस्करणमुपलभ्यते।

२. प्रथमसंस्करणान्ते संशोधनपत्रे परिवर्धितः 'बाह्ये वा विषये' इति पाठः पञ्चमसंस्करणपर्यन्तं मुद्र्यमाणोऽपि शताब्दीसंस्करणशोधयित्राऽपमृष्टः। अत एवाऽष्टमसंस्करणपर्यन्तं नोपलभ्यते।

३. बन्धो' इत्यधिकः पाठो व्यासभाष्यान्निरर्थक इव प्रतीयते। प्रतिमापूजनविज्ञापनपत्रे त्वयं पाठो वर्तते। द्र०—'ऋ० द० पत्रविज्ञापन पृ० १६, सं० २।

४. अयं पाठो योगभाष्यस्थस्य 'बाह्ये वा देशे' इत्यस्य व्याख्यानरूपः। अयं हस्तलेखे पठ्यत इति वै० य० मुद्रितनवमसंस्करणशोधयितुष्टिप्पण्या प्रतीयते। प्रथमसंस्करणस्य शोधनपत्र एव 'बाह्ये वा विषये' इतिवदयं पाठः कुतो न वर्धित इति जायते विचारणा। अपि चात्र 'बिन्दौ' इति पदमप्यस्ति विचारार्हम्। 'बाह्ये वा विषये' इति व्यासभाष्यस्य व्याख्यानं प्रतिमापूजनविचारनामके ग्रन्थकर्तुर्विज्ञापनपत्रेऽपि द्रष्टव्यम्। द्र०—ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन पृष्ठ १६, सं० २।

भावार्थ—[(ततः०)] इस प्रकार प्राणायामपूर्वक उपासना करने से आत्मा के ज्ञान का आवरण अर्थात् ढांपनेवाला जो अज्ञान है, वह नित्यप्रति नष्ट होता जाता है, और ज्ञान का प्रकाश धीरे-धीरे बढ़ता जाता है ॥४४॥

उस अभ्यास से यह भी फल होता है कि—(किञ्च धारणा०) परमेश्वर के बीच में मन और आत्मा की धारणा होने से मोक्षपर्यन्त उपासनायोग और ज्ञान की योग्यता बढ़ती जाती है। तथा उससे व्यवहार और परमार्थ का विवेक भी बराबर बढ़ता रहता है। इसी प्रकार प्राणायाम करने से भी जान लेना ॥४५॥

(स्वविषया०) 'प्रत्याहार' उसका नाम है कि जब पुरुष अपने मन को जीत लेता है, तब इन्द्रियों का जीतना अपने आप हो जाता है। क्योंकि मन ही इन्द्रियों को चलानेवाला है ॥४६॥

(ततः पर०) तब वह मनुष्य जितेन्द्रिय होके जहां अपने मन को ठहराना वा चलाना चाहे, उसी में ठहरा और चला सकता है। फिर उसको ज्ञान हो जाने से सदा सत्य में ही प्रीति हो जाती है, असत्य में कभी नहीं ॥४७॥

(देशब०) जब उपासनायोग के पूर्वोक्त पांचों अङ्ग सिद्ध हो जाते हैं, तब उसका छठा अङ्ग धारणा भी यथावत् प्राप्त होती है। 'धारणा' उसको कहते हैं कि मन को चञ्चलता से छुड़ाके नाभि, हृदय, मस्तक, नासिका और जीभ के अग्रभाग आदि देशों में स्थिर करके ओंकार का जप और उसका अर्थ जो परमेश्वर है, उसका विचार करना ॥४८॥

तथा (तत्र प्र०) धारणा के पीछे उसी देश में ध्यान करने और आश्रय लेने के योग्य जो अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके प्रकाश और आनन्द में, अत्यन्त विचार और प्रेम-भक्ति के साथ, इस प्रकार प्रवेश करना कि जैसे समुद्र के बीच में नदी प्रवेश करती है। उस समय में ईश्वर को छोड़ किसी अन्य पदार्थ का स्मरण नहीं करना किन्तु उसी अन्तर्यामी के स्वरूप और ज्ञान में मग्न हो जाना। इसी का नाम 'ध्यान' है ॥४९॥

इन सात अंगों का फल समाधि है—(तदेवार्थ०) जैसे अग्नि के बीच में लोहा भी अग्निरूप हो जाता है, इसी प्रकार परमेश्वर के ज्ञान में प्रकाशमय होके, अपने शरीर को भी भूले हुए के समान जानके, आत्मा को परमेश्वर के प्रकाशस्वरूप आनन्द और ज्ञान से परिपूर्ण करने को 'समाधि' कहते हैं। ध्यान और समाधि में इतना ही भेद है कि ध्यान में तो ध्यान करनेवाला, जिस मन से, जिस चीज का ध्यान करता है, वे तीनों विद्यमान रहते हैं। परन्तु समाधि में केवल परमेश्वर ही के आनन्दस्वरूप ज्ञान में आत्मा मग्न हो जाता है। वहां तीनों का भेदभाव नहीं रहता। जैसे मनुष्य जल में डुबकी मारके थोड़ा समय भीतर ही रुका रहता है, वैसे ही जीवात्मा परमेश्वर के बीच में मग्न होके फिर बाहर को आ जाता है ॥५०॥

(त्रयमेकत्र०) जिस देश में धारणा की जाय, उसी में ध्यान और उसी में समाधि, अर्थात् ध्यान करने के योग्य परमेश्वर में मग्न हो जाने को 'संयम' कहते हैं। जो एक ही काल में तीनों का मेल होना है, अर्थात् धारणा से संयुक्त ध्यान, और ध्यान से संयुक्त समाधि होती है, उनमें बहुत सूक्ष्म काल का भेद रहता है। परन्तु जब समाधि होती है, तब आनन्द के बीच में तीनों का फल एक ही हो जाता है ॥५१॥

अथोपासनाविषये उपनिषदां प्रमाणानि

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥१॥ कठोपनि०[1] वल्ली० २ । मं० २४ ॥

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां[2] चरन्तः ।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥२॥
[मुण्डकोपनि०] मुण्ड० १ । खं० २ । मं० ११ ॥

अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति॥३॥

तं चेद् ब्रूयुर्यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥४॥

स ब्रूयाद्यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते । उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि । यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितमिति ॥५॥

तं चेद् ब्रूयुरस्मिंश्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वं समाहितं सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा यदैतज्जरावाप्नोति प्रध्वंसते वा किं ततोऽतिशिष्यत इति ॥६॥

स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यत एतत् सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन् कामाः समाहिता एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पो यथा[3] ह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति यथानुशासनं यं यमन्तमभिकामा भवन्ति यं जनपदं यं क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति ॥७॥ छान्दोग्योपनि० [4]प्रपा० ८ । १, २, ३, ४, ५, ॥

अस्य सर्वस्य भाषायामभिप्रायः प्रकाशयिष्यते ।

भावार्थ—यह उपासनायोग दुष्ट मनुष्य को सिद्ध नहीं होता । क्योंकि (नाविरतो०) जब तक मनुष्य दुष्ट कामों से अलग होकर, अपने मन को शान्त और आत्मा को पुरुषार्थी नहीं करता, तथा भीतर के व्यवहारों को शुद्ध नहीं करता, तब तक कितना ही पढ़े वा सुने, उसको परमेश्वर की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती ॥१॥

---

१. अ० १, व० २, मं० २४ ॥

२. उपनिषदि 'भैक्षचर्यां' इति पाठो दृश्यते । सत्यार्थप्रकाशे पञ्चमसमुल्लासेऽपीदं प्रमाणमुद्ध्रियते ।

३. वै० य० मुद्रितेषु 'तथा' इत्यपपाठः । ४. प्रपा० ८, खं० १, मं० १-५॥

(तपःश्रद्धे०) जो मनुष्य धर्माचरण से परमेश्वर और उसकी आज्ञा में अत्यन्त प्रेम करके, अरण्य अर्थात् शुद्ध हृदयरूपी वन में स्थिरता के साथ निवास करते हैं, वे परमेश्वर के समीप वास करते हैं। जो लोग अधर्म के छोड़ने और धर्म के करने में दृढ़, तथा वेदादि सत्य विद्याओं में विद्वान् हैं, जो भिक्षाचर्य्य आदि कर्म करके संन्यास वा किसी अन्य आश्रम में हैं, इस प्रकार के गुणवाले मनुष्य (सूर्य्यद्वारेण०) प्राणद्वार से परमेश्वर के सत्य राज्य में प्रवेश करके (विरजाः) अर्थात् सब दोषों से छूटके, परमानन्द मोक्ष को प्राप्त होते है, जहां कि पूर्ण पुरुष, सब में भरपूर सबसे सूक्ष्म, (अमृतः) अर्थात् अविनाशी, और जिसमे हानि-लाभ कभी नहीं होता, ऐसे परमेश्वर को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं ॥२॥

जिस समय इन सब साधनों से परमेश्वर की उपासना करके उसमें प्रवेश किया चाहें, उस समय इस रीति से करें कि—(अथ यदिद०) कण्ठ के नीचे, दोनों स्तनों के बीच में, और उदर के ऊपर जो हृदय देश है, जिसको ब्रह्मपुर[1] अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त है, उसमें कमल के आकार वेश्म अर्थात् अवकाशरूप एक स्थान है, और उसके बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर-भीतर एकरस होकर भर रहा है, वह आनन्दरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है। दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान वा मार्ग नहीं है ॥३॥

और कदाचित कोई पूछे कि—(तं चेद् ब्रूयु०) अर्थात् उस हृदयाकाश में क्या रक्खा है, जिसकी खोज की जाय ? ॥४॥

तो उसका उत्तर यह है कि—(स ब्रूयाद्या०) हृदय देश में जितना आकाश है, वह सब अन्तर्यामी परमेश्वर ही से भर रहा है, और उसी हृदयाकाश के बीच में सूर्य आदि प्रकाश, तथा पृथिवीलोक, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, विजुली और सब नक्षत्रलोक भी ठहर रहे हैं। जितने दीखनेवाले और नहीं दीखनेवाले पदार्थ हैं, वे सब उसी की सत्ता के बीच में स्थिर हो रहे हैं ॥५॥

(तं चेद् ब्रूयु०) इसमें कोई ऐसी शङ्का करे कि जिस ब्रह्मपुर हृदयाकाश में सब भूत और काम स्थिर होते हैं, उस हृदयदेश के वृद्धावस्था के उपरान्त नाश हो जाने पर उसके बीच में क्या बाकी रह जाता है कि जिसको तुम खोजने को कहते हो ? ॥६॥

तो इसका उत्तर यह है—(स ब्रूयात्०) सुनो भाई ! उस ब्रह्मपुर में जो परिपूर्ण परमेश्वर है उसको न तो कभी वृद्धावस्था होती है, और न कभी नाश होता है। उसी का नाम सत्य ब्रह्मपुर

---

१. यहां हृदय देश का जो लक्षण भाषा में लिखा है, वह संस्कृत में नहीं है। तथा यह लोक-प्रसिद्ध हृदय स्थान को लक्ष्य में रखकर अनुवादक पण्डितों द्वारा किया गया लक्षण प्रतीत होता है। अथर्ववेद १०।१२।३० में 'पुरं यो ब्रह्मणो वेद' कहकर अगले ३१,३२,३३ मन्त्रों में जिस हिरण्यमय कोशान्तर्गत ब्रह्मपुर में आत्मारूपी यक्ष और ब्रह्म की प्रतिष्ठा बतायी है, वह मस्तिष्कान्तर्गत आज्ञाचक्र समीपवर्ती स्थान है। इस विषय पर हमने वेदवाणी वर्ष ६ अङ्क १ में छपे 'अथर्ववेदप्रतिपादित आत्मा का शरीरान्तर्गत स्थान' लेख में विस्तार से लिखा है। मस्तिष्क का भी हृदय नाम है, यह भी प्राचीन ग्रन्थों से प्रमाणित किया है।

है कि जिसमें सब काम परिपूर्ण हो जाते हैं। वह (अपहतपाप्मा) अर्थात् सब पापों से रहित, शुद्धस्वभाव, (विरजः) जरा अवस्थारहित, (विशोकः) शोकरहित, (विजिघत्सोऽपि०) जो खाने-पीने की इच्छा कभी नहीं करता, (सत्यकामः) जिसके सब काम सत्य हैं, (सत्यसंकल्पः) जिसके सब संकल्प भी सत्य हैं। उसी आकाश में प्रलय होने के समय सब प्रजा प्रवेश कर जाती है, और उसी के रचने से उत्पत्ति के समय फिर प्रकाशित होती है। इस पूर्वोक्त उपासना से उपासक लोग जिस-जिस काम को, जिस-जिस देश को, जिस-जिस क्षेत्रभाग अर्थात् अवकाश की इच्छा करते हैं, उन सबको वे यथावत् प्राप्त होते हैं ॥७॥

सेयं तस्य परमेश्वरस्योपासना द्विविधास्ति—एका सगुणा, द्वितीया निर्गुणा चेति। तद्यथा—"स पर्यगाच्छुक्र०"[1] इत्यस्मिन् मन्त्र शुक्रं शुद्धमिति[2] सगुणोपासनम्। अकायमव्रणमस्नाविरमित्यादि निर्गुणोपासनं च। तथा—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापि सर्वभूतान्तरात्मा।
[3]सर्वाध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥१॥[4]

एको देव इत्यादि सगुणोपासनम्, निर्गुणश्चेति वचनान्निर्गुणोपासनम्। तथा सर्वज्ञादिगुणैः सह वर्त्तमानः सगुणः, अविद्यादिक्लेशपरिमाणद्वित्वादिसंख्याशब्दस्पर्शरूपरसगन्धादिगुणेभ्यो निर्गतत्वान्निर्गुणः। तद्यथा—परमेश्वरः सर्वज्ञः, सर्वव्यापी, सर्वाध्यक्षः, सर्वस्वामी चेत्यादिगुणैः सह वर्त्तमानत्वात् परमेश्वरस्य सगुणोपासनं विज्ञेयम्। तथा सोऽजोऽर्थाज्जन्मरहितः, अव्रणः छेदरहितः, निराकार आकाररहितः, अकायः शरीरसम्बन्धरहितः, तथैव रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणादयो गुणास्तस्मिन्न सन्तीत्यमेव तस्य निर्गुणोपासनं ज्ञातव्यम्।

अतो देहधारणेनेश्वरः सगुणो भवति देहत्यागेन निर्गुणश्चेति या मूढानां कल्पनास्ति, सा वेदादिशास्त्रप्रमाणविरुद्धा विद्वदनुभवविरुद्धा चास्ति। तस्मात् सज्जनैर्नैयं रीतिः सदा त्याज्येति शिवम्।

भावार्थ—सो उपासना दो प्रकार की है—एक सगुण और दूसरी निर्गुण। उनमें से 'स पर्य्यगा०'[5] इस मन्त्र के अर्थानुसार शुक्र अर्थात् जगत् का रचनेवाला, वीर्यवान् तथा शुद्ध, कवि, मनीषी, परिभू और स्वयंभू इत्यादि गुणों के सहित होने से परमेश्वर 'सगुण' है। और अकाय, अव्रण, अस्नाविर इत्यादि गुणों के निषेध होने से वह 'निर्गुण' कहाता है। तथा 'एको देव०' एक देव इत्यादि गुणों के सहित होने से परमेश्वर सगुण, और 'निर्गुणश्च' इसके कहने से निर्गुण समझा जाता है। तथा ईश्वर के सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, शुद्ध, सनातन, न्यायकारी, दयालु, सबमें व्यापक,

---

१. यजु० ४० । ८, पूर्वत्र पृष्ठ ४२ ॥
२. वै० य० मुद्रितेषु षष्टसंस्करणान्तमुपलभ्यमानः 'शुक्रशुद्धमिति' इत्यपपाठः ।
३. उपनिषदि 'कर्माध्यक्षः' इति पाठ उपलभ्यते । ४. श्वेताश्व० ६ । ११ ॥
५. यजु० ४० । ८ ॥ पूर्वत्र पृष्ठ ४२,४३ पर व्याख्यात ।

सबका आधार, मंगलमय, सबकी उत्पत्ति करनेवाला, और सबका स्वामी इत्यादि सत्यगुणों के ज्ञानपूर्वक उपासना करने को 'सगुणोपासना' कहते हैं। और वह परमेश्वर कभी जन्म नहीं लेता, निराकार अर्थात् आकारवाला कभी नहीं होता, अकाय अर्थात् शरीर कभी नहीं धारता, अव्रण अर्थात् जिसमें छिद्र कभी नहीं होता, जो शब्द स्पर्श रूप रस और गन्धवाला कभी नहीं होता, जिसमें दो तीन आदि संख्या की गणना नहीं बन सकती, जो लम्बा-चौड़ा और हलका-भारी कभी नहीं होता इत्यादि गुणों के निवारणपूर्वक उसका स्मरण करने को 'निर्गुण उपासना' कहते हैं।

इससे क्या सिद्ध हुआ कि जो अज्ञानी मनुष्य ईश्वर के देहधारण करने से सगुण, और देह-त्याग करने से निर्गुण उपासना कहते हैं, सो यह उनकी कल्पना सब वेदशास्त्रों के प्रमाणों और विद्वानों के अनुभव से विरुद्ध होने के कारण सज्जन लोगों को कभी न माननी चाहिये। किन्तु सबको पूर्वोक्त रीति से ही उपासना करनी चाहिये।

इति संक्षेपतो ब्रह्मोपासनाविधानम्



अथ मुक्तिविषयः संक्षेपतः

एवं परमेश्वरोपासनेनाऽविद्याऽधर्माचरणनिवारणाच्छुद्धविज्ञानधर्मानुष्ठानोन्नतिभ्यां जीवो मुक्तिं प्राप्नोतीति । अथात्र योगशास्त्रस्य प्रमाणानि, तद्यथा—

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः ॥ १ ॥

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ २ ॥

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ ३ ॥

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥ ४ ॥

सुखानुशयी रागः ॥ ५ ॥ दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ६ ॥

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ७ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० ३-९ ॥

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ॥ ८ ॥ अ० १ । पा० २ । सू० २५ ॥

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ९ ॥ अ० १ । पा० ३ । सू० ५० ॥

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ॥ १० ॥ अ० १ । पा० ३ । सू० ५५ ॥

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥ ११ ॥ अ० १ । पा० ४ । सू० २६ ॥

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥ १२ ॥
अ० १ । पा० २ । सू० ३४ ॥

अथ न्यायशास्त्रप्रमाणानि—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ॥ १ ॥

बाधनालक्षणं दुःखमिति ॥ २ ॥

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ॥ ३ ॥ न्यायद० अ० १ । आह्निक १ । सू० २, २१-२२ ।

भाषार्थ—इसी प्रकार परमेश्वर की उपासना करके, अविद्या आदि क्लेश तथा अधर्माचरण आदि दुष्ट गुणों को निवारण करके, शुद्ध विज्ञान और धर्मादि शुभ गुणों के आचरण से आत्मा की उन्नति करके जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाता है । अब इस विषय में प्रथम योगशास्त्र का प्रमाण लिखते हैं । पूर्व लिखी हुई पूर्व चित्त की पांच वृत्तियों[1] को यथावत् रोकने और मोक्ष के साधन में

१. पूर्व पृष्ठ १९२, आर्यभाषा में—पृष्ठ १९४, १९५ ।

सब दिन प्रवृत्त रहने से नीचे लिखे हुए पांच क्लेश नष्ट हो जाते हैं। वे क्लेश ये हैं—

(अविद्या०) एक अविद्या, दूसरा अस्मिता, तीसरा राग, चौथा द्वेष, और पांचवां अभिनिवेश ॥१॥

(अविद्या क्षेत्र०) उनमें से अस्मितादि चार क्लेशों और मिथ्याभाषणादि दोषों की माता अविद्या है, जो कि मूढ़ जीवों को अन्धकार में फंसाके जन्ममरणादि दुःखसागर में सदा डुबाती है। परन्तु जब विद्वान् और धर्मात्मा उपासकों की सत्यविद्या से अविद्या विच्छिन्न अर्थात् छिन्नभिन्न होके प्रसुप्ततनु=नष्ट हो जाती है, तब वे जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं ॥२॥

अविद्या के लक्षण ये हैं—(अनित्या०) अनित्य अर्थात् कार्य (जो शरीर आदि स्थूल पदार्थ तथा लोकलोकान्तर) में नित्यबुद्धि, तथा जो नित्य अर्थात् ईश्वर, जीव, जगत् का कारण, क्रिया-क्रियावान्, गुण-गुणी और धर्म-धर्मी हैं, इन नित्य पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध है, इनमें अनित्यबुद्धि का होना, यह अविद्या का प्रथम भाग है।

तथा 'अशुचि' मलमूत्र आदि के समुदाय, दुर्गन्धरूप मल से परिपूर्ण शरीर में पवित्रबुद्धि का करना। तथा तालाब, बावरी, कुण्ड, कूंआ और नदी आदि में तीर्थ और पाप छुड़ाने की बुद्धि करना, और उनका चरणामृत पीना। एकादशी आदि मिथ्या व्रतों में भूख प्यास आदि दुःखों का सहना। स्पर्श इन्द्रिय के भोग में अत्यन्त प्रीति करना इत्यादि अशुद्ध पदार्थों को शुद्ध मानना। और सत्यविद्या, सत्यभाषण, धर्म, सत्संग, परमेश्वर की उपासना, जितेन्द्रियता, सर्वोपकार करना, सबसे प्रेमभाव से वर्त्तना आदि शुद्ध व्यवहार और पदार्थों में अपवित्र बुद्धि करना। यह अविद्या का दूसरा भाग है।

तथा दुःख में सुखबुद्धि अर्थात् विषयतृष्णा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, शोक, ईर्ष्या, द्वेष आदि दुःखरूप व्यवहारों में सुख मिलने की आशा करना। जितेन्द्रियता, निष्काम, शम, सन्तोष, विवेक, प्रसन्नता, प्रेम, मित्रता आदि सुखरूप व्यवहारों में दुःखबुद्धि का करना। यह अविद्या का तीसरा भाग है।

इसी प्रकार अनात्मा में आत्मबुद्धि अर्थात् जड़ में चेतनभावना और चेतन में जड़भावना करना, अविद्या का चतुर्थ भाग है। यह चार प्रकार की 'अविद्या' संसार के अज्ञानी जीवों को बन्धन का हेतु होके उनको सदा नचाती रहती है। परन्तु विद्या अर्थात् पूर्वोक्त अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्मा में अनित्य, अपवित्रता, दुःख और अनात्मबुद्धि का होना, तथा नित्य, शुचि, सुख और आत्मा में नित्य, पवित्रता, सुख और आत्मबुद्धि करना यह चार प्रकार की 'विद्या' है। जब विद्या से अविद्या की निवृत्ति होती है, तब बन्धन से छूटके जीव मुक्ति को प्राप्त होता है ॥३॥

(दृग्दर्शन०) दूसरा क्लेश 'अस्मिता' कहाता है। अर्थात् जीव और बुद्धि को मिले के समान देखना। अभिमान और अहङ्कार से अपने को बड़ा समझना। इत्यादि व्यवहार को 'अस्मिता' जानना। जब सम्यक् विज्ञान से अभिमान आदि के नाश होने से इसकी निवृत्ति हो जाती है, तब गुणों के ग्रहण में रुचि होती है ॥४॥

(सुखानु०) तीसरा 'राग', अर्थात् जो-जो सुख संसार में साक्षात् भोगने में आते हैं, उनके संस्कार की स्मृति से जो तृष्णा के लोभसागर में बहना है, इसका नाम 'राग' है। जब ऐसा ज्ञान मनुष्य को होता है कि सब संयोग-वियोग वियोग-संयोगान्त हैं[1], अर्थात् संयोग के अन्त में वियोग और वियोग के अन्त में संयोग, तथा वृद्धि के अन्त में क्षय और क्षय के अन्त में वृद्धि होती है, तब इसकी निवृत्ति हो जाती है ॥५॥

(दुःखानु०) चौथा 'द्वेष' कहाता है। अर्थात् जिस अर्थ का पूर्व अनुभव किया गया हो, उस पर और उसके साधनों पर सदा क्रोधबुद्धि होना। इसकी निवृत्ति भी राग की निवृत्ति से ही होती है ॥६॥

(स्वरसवा०) पांचवां 'अभिनिवेश' क्लेश है, जो सब प्राणियों को नित्य आशा होती है कि हम सदैव शरीर के साथ बने रहें, अर्थात् कभी मरें नहीं, सो पूर्वजन्म के अनुभव से होती है। और इससे पूर्वजन्म भी सिद्ध होता है। क्योंकि छोटे-छोटे कृमि चींटा आदि जीवों को भी मरण का भय बराबर बना रहता है। इसी से इस[2] क्लेश को 'अभिनिवेश' कहते हैं। जो कि विद्वान् मूर्ख तथा क्षुद्रजन्तुओं में भी बराबर दीख पड़ता है। इस क्लेश की निवृत्ति उस समय होगी कि जब जीव परमेश्वर और प्रकृति अर्थात् जगत् के कारण को नित्य और कार्यद्रव्य के संयोग-वियोग को अनित्य जान लेगा। इन क्लेशों की शान्ति से जीवों को मोक्षसुख की प्राप्ति होती है ॥७॥

(तदभावात्०) अर्थात् जब अविद्यादि क्लेश दूर होके विद्यादि शुभ गुण प्राप्त होते हैं, तब जीव सब बन्धनों और दुःखों से छूटके मुक्ति को प्राप्त हो जाता है ॥८॥

(तद्वैराग्या०) अर्थात् शोकरहित आदि सिद्धि से भी विरक्त होके सब क्लेशों और दोषों का बीज जो अविद्या है, उसके नाश करने के लिये यथावत् प्रयत्न करे। क्योंकि उसके नाश के विना मोक्ष कभी नहीं हो सकता ॥९॥

तथा (सत्त्वपुरुष०) अर्थात् सत्त्व जो बुद्धि, पुरुष जो जीव, इन दोनों की शुद्धि से मुक्ति होती है, अन्यथा नहीं ॥१०॥

(तदा विवेक०) जब सब दोषों से अलग होके ज्ञान की ओर आत्मा झुकता है, तब कैवल्य मोक्षधर्म के संस्कार से चित्त परिपूर्ण हो जाता है, तभी जीव को मोक्ष प्राप्त होता है। क्योंकि जब तक बन्धन के कामों में जीव फंसता जाता है, तब तक उसको मुक्ति प्राप्त होना असम्भव है ॥११॥

कैवल्य मोक्ष का लक्षण यह है कि—(पुरुषार्थ०) अर्थात् कारण के सत्त्व रजो और तमोगुण और उनके सब कार्य पुरुषार्थ से नष्ट होकर, आत्मा में विज्ञान और शुद्धि यथावत् होके, स्वरूप-प्रतिष्ठा जैसा जीव का तत्त्व है, वैसा ही स्वाभाविक शक्ति और गुणों से युक्त होके, शुद्ध-

१. 'वियोग-संयोगान्त' में अन्त पद का दोनों पदों के साथ सम्बन्ध है—वियोगान्त-संयोगान्त। पूर्वनिर्दिष्ट 'संयोग-वियोग' का सम्बन्ध क्रमशः—संयोग-वियोगान्त और वियोग-संयोगान्त। वै० य० मुद्रित में "संयोगवियोग संयोगवियोगान्त हैं अर्थात् वियोग के अन्त में संयोग और संयोग के अन्त में वियोग" इस प्रकार क्रमविपरीत पाठ है।

२. वै० य० मुद्रित में 'हम' अपपाठ।

स्वरूप परमेश्वर के स्वरूप विज्ञान प्रकाश और नित्य[1] आनन्द में जो रहना है, उसी को कैवल्य मोक्ष कहते हैं ।।१२।।

अब मुक्तिविषय में गोतमाचार्य्य के कहे हुए न्यायशास्त्र के प्रमाण लिखते हैं—

(दुःखजन्म०) जब मिथ्याज्ञान अर्थात् अविद्या नष्ट हो जाती है, तब जीव के सब दोष नष्ट हो जाते हैं। उसके पीछे प्रवृत्ति अर्थात् अधर्म, अन्याय, विषयासक्ति आदि की वासना सब दूर हो जाती है।[2] उसके नाश होने से (जन्म) अर्थात् फिर जन्म नहीं होता। उसके न होने से सब दुःखों का अत्यन्त अभाव हो जाता है। दुःखों के अभाव से पूर्वोक्त परमानन्द मोक्ष में अर्थात् सब दिन के लिये[3] परमात्मा के साथ आनन्द ही आनन्द भोगने को बाकी रह जाता है। इसी का नाम 'मोक्ष' है ।।१।।

(बाधना०) सब प्रकार की बाधा अर्थात् इच्छाविघात और परतन्त्रता का नाम दुःख है ।। २ ।।

(तदत्यन्त०) फिर उस दुःख के अत्यन्त अभाव और परमात्मा के नित्य योग करने से जो सब दिन के लिये[3] परमानन्द प्राप्त होता है, उसी सुख का नाम 'मोक्ष' है ।।३।।

अथ वेदान्तशास्त्रस्य प्रमाणानि—

अभावं बादरिराह ह्येवम् ।। १ ।।

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ।। २ ।।

द्वादशाहवदुभयविधं[4] बादरायणोऽतः ।। ३ ।। अ० ४ । पा० ४ । सू० १०-१२ ।।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते[5] तामाहुः परमां गतिम् ।। १ ।।

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ।। २ ।।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः[6] ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ।। ३ ।।

---

१. 'नित्य' अथवा 'सब दिन के लिये' शब्दों का भाव मुक्तिकाल की अवधि-पर्यन्त से है। द्रष्टव्य पृष्ठ १२६, टि० ३,४ ।

२. ऋषि दयानन्द ने यहां दुष्ट कर्मों की वासना को ही पुनर्जन्म का कारण कहा है, परन्तु शुभ कर्म जो कि सकाम किये जाते हैं, की वासना भी पुनर्जन्म का कारण होती है। वस्तुतः निष्काम कर्म ही वासना से रहित होने के कारण पुनर्जन्म के निमित्त नहीं होते। फिर भी यहां सकाम शुभ कर्म का उल्लेख इसलिये नहीं किया कि वह निष्काम कर्म तक पहुंचने में सहायक होता है।

३. द्र० इसी पृष्ठ की टि० १ ।

४. वै० य० मुद्रितो दन्त्योष्ठ्यवान् अपपाठः ।

५. 'विचेष्टति' इत्युपनिषदि प्रायिकः पाठः ।

६. निर्णयसागरमुद्रणालये मुद्रिते ईशादिविंशोत्तरोपनिषदः संग्रहे (सन् १९४८) 'श्रिताः' इत्येव पाठः । तथापि क्वचित् 'स्थिताः' इत्यपि पाठ उपलभ्यते ।

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम् ॥ ४ ॥

कठो॰ वल्ली॰ ६[1] । मं॰ १०, ११, १४, १५ ॥

दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते ॥५॥

य एते ब्रह्मलोके तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते, तस्मात् तेषाꣳ सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः, स सर्वाꣳश्च लोकानाप्नोति सर्वाꣳश्च कामान्, यस्तमात्मानमनुविद्य [वि]जानातीति ह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच ॥६॥

यदन्तरापस्तद् ब्रह्म[2] तदमृतꣳ स आत्मा, प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये, यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशां यशोऽहमनुप्रापत्सि, स हाहं यशसां यशः० ॥७॥

छान्दो॰ प्रपा॰ ८ ॥[3]

अणुः पन्था विततः पुराणो माꣳ स्पृष्टो [अनु]वित्तो मयैव ।
तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविद उत्क्रम्य स्वर्गं लोकमितो विमुक्ताः ॥८॥

तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलं हरितं लोहितं च ।
एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित्तैजसः पुण्यकृच्च ॥९॥

प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः ।
ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यं मनसैवाप्तव्यं नेह नानास्ति किं चन ॥ १० ॥

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।
मनसैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम् ॥११॥

विरजः पर आकाशात् अज आत्मा महाध्रुवः ।
तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां[4] कुर्वीत ब्राह्मणः ॥१२॥ श॰ कां॰ १४ । प्र॰ ७ ॥[5]

---

१. उपनिषदि प्रत्यध्यायं तिस्रस्तिस्रो वल्ल्यः । इह सर्वाः संकलय्य ६ इत्युक्तम् ।

२. उपनिषदि 'ति यदन्तरा तद् ब्रह्म' इत्येवं पाठ उपलभ्यते ।

३. छा॰ उ॰ ८।१२।५,६; १४।१॥ आपञ्चमसंस्करणं वै॰ य॰ मुद्रितेषु उपरिनिर्दिष्ट एव पाठः । शताब्दीसंस्करणे 'खं॰ १२ । ४' एतावान् पाठो वर्धितः, तथैवाऽष्टमसंस्करणमुपलभ्यते । नवमसंस्करणे तु 'खं॰ १२ [प्रवाक ५,६ । खं॰] १४ [प्रवाक १]' इत्येवं संस्कृतः ।

४. 'प्रजां' इति शतपथे पाठः ।

५. श॰ १४।७।२।११,१२,९१,२२,२३ ॥

भाषार्थ—अब व्यासोक्त वेदान्तदर्शन और उपनिषदों में जो मुक्ति का स्वरूप और लक्षण लिखा है, सो आगे लिखते हैं—

(अभावं) व्यास जी के पिता जो बादरि आचार्य्य थे, उनका मुक्ति-विषय में ऐसा मत है कि जब जीव मुक्तदशा को प्राप्त होता है, तब वह शुद्ध मन से परमेश्वर के साथ परमानन्द मोक्ष में रहता है, और इन दोनों से भिन्न इन्द्रियादि पदार्थों का अभाव हो जाता है ।।१।।

तथा (भावं जैमिनि०) इसी विषय में व्यास जी के मुख्य शिष्य जो जैमिनि थे, उनका ऐसा मत है कि जैसे मोक्ष में मन रहता है, वैसे ही शुद्धसंकल्पमय शरीर तथा प्राणादि और इन्द्रियों की शुद्ध शक्ति भी बराबर बनी रहती है। क्योंकि उपनिषद् में 'स एकधा भवति, द्विधा भवति, त्रिधा भवति'[1] इत्यादि वचनों का प्रमाण है कि मुक्तजीव सङ्कल्पमात्र से ही दिव्यशरीर रच लेता है, और इच्छामात्र ही से शीघ्र छोड़ भी देता है, और शुद्ध ज्ञान का सदा प्रकाश बना रहता है ।।२।।

(द्वादशाह०) इस मुक्तिविषय में बादरायण जो व्यासजी थे, उनका ऐसा मत है कि मुक्ति में भाव और अभाव दोनों ही बने रहते हैं। अर्थात् क्लेश अज्ञान और अशुद्धि आदि दोषों का सर्वथा अभाव हो जाता है, और परमानन्द, ज्ञान शुद्धता आदि सब सत्यगुणों का भाव बना रहता है। इसमें दृष्टान्त भी दिया है कि जैसे वानप्रस्थ आश्रम में बारह दिन का प्राजापत्यादि व्रत करना होता है, उसमें थोड़ा भोजन करने से क्षुधा का थोड़ा अभाव और पूर्णभोजन न करने से क्षुधा का कुछ भाव भी बना रहता है।[2] इसी प्रकार मोक्ष में भी पूर्वोक्त रीति से भाव और अभाव समझ लेना। इत्यादि निरूपण मुक्ति का वेदान्तशास्त्र में किया है ।।३।।

अब मुक्तिविषय में उपनिषत्कारों का जो मत है, सो भी आगे लिखते हैं कि—

(यदा पञ्चाव०) अर्थात् जब मन के सहित पांच ज्ञानेन्द्रिय परमेश्वर में स्थिर होके उसी में सदा रमण करती हैं, और जब बुद्धि भी ज्ञान से विरुद्ध चेष्टा नहीं करती, उसी को परमगति अर्थात् मोक्ष[3] कहते है ।।१।।

(तां योग०) उसी गति अर्थात् इन्द्रियों की शुद्धि और स्थिरता को विद्वान् लोग योग की धारणा मानते हैं। जब मनुष्य उपासनायोग से परमेश्वर को प्राप्त होके प्रमादरहित होता है,

१. तुलना कार्या—'स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा भवति········। छा० उ० ७।२६।२।।

२. मीमांसा शास्त्र के अनुसार 'द्वादशाहवत्' का भाव है—जैसे 'द्वादशाह' संज्ञक क्रतु सत्र और असत्र अर्थात् अहीन दोनों प्रकार का होता है। सत्र में १७-२४ यजमान होते हैं, और यजमान ही ऋत्विक् कर्म भी करते हैं। अहीन में एक यजमान होता है, और १६ ऋत्विक् होते हैं। द्वादशाह के प्रकरण में 'य एवं विद्वांसः सत्रमुपयन्ति' वाक्य पठित है। उसमें 'उपयन्ति' यजमान के बहुत्व का द्योतक होने से सत्र-धर्म की प्राप्ति कराता है, और 'द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेत्' में एकवचन की क्रिया होने से अहीनत्व का=सत्राभाव का द्योतक है।

३. यह जीवनमुक्ति की अवस्था है, विदेहमुक्ति इससे उत्तरावस्था है। उसकी प्राप्ति में यह अवस्था साधनरूप है। साध्यसाधन में अभेदोपचार से यहां इसे ही 'मोक्ष' कहा है।

तभी जानो कि वह मोक्ष को प्राप्त हुआ। वह उपासनायोग कैसा है कि प्रभव अर्थात् शुद्ध और सत्यगुणों का प्रकाश करनेवाला, तथा (अप्ययः) अर्थात् सब अशुद्धि दोषों और असत्यगुणों का नाश करनेवाला है। इसलिये केवल उपासनायोग ही मुक्ति का साधन है ॥२॥

(यदा सर्वे०) जब इस मनुष्य का हृदय सब बुरे कामों से अलग होके शुद्ध हो जाता है, तभी वह अमृत अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होके आनन्दयुक्त होता है।

(प्रश्न)—क्या वह मोक्षपद कहीं स्थानान्तर वा पदार्थविशेष है? क्या वह किसी एक ही जगह में है, वा सब जगह में?

(उत्तर)—नहीं, ब्रह्म जो सर्वत्र व्यापक हो रहा है, वही मोक्षपद कहाता है। और मुक्त पुरुष उसी मोक्ष को प्राप्त होते है ॥३॥

तथा (यदा सर्वे०) जब जीव की अविद्यादि बन्धन की सब गांठें छिन्न-भिन्न होके टूट जाती हैं, तभी वह मुक्ति को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

(प्रश्न)—जब मोक्ष में शरीर और इन्द्रियां नही रहतीं, तब वह जीवात्मा व्यवहार को कैसे जानता और देख सकता है?

(उत्तर)—(दैवेन०) वह जीव शुद्ध इन्द्रिय शुद्ध मन से इन आनन्दरूप कामों को देखता और भोक्ता होकर उसमें सदा रमण करता है, क्योंकि उसका मन और इन्द्रियां प्रकाशस्वरूप हो जाती हैं ॥ ५ ॥

(प्रश्न)—वह मुक्त जीव सब सृष्टि में घूमता है, अथवा कहीं एक ही ठिकाने बैठा रहता है?

(उत्तर)—(य एते ब्रह्मलोके०)जो मुक्त पुरुष होते है, वे ब्रह्मलोक अर्थात् परमेश्वर को प्राप्त होके, और सबके आत्मारूप परमेश्वर की उपासना करते हुए, उसी के आश्रय से रहते हैं। इसी कारण से उनका जाना-आना सब लोकलोकान्तरों में होता है, उनके लिये कही रुकावट नहीं रहती। और उनके सब काम पूर्ण हो जाते हैं, कोई काम अपूर्ण नहीं रहता। इसलिये जो मनुष्य पूर्वोक्त रीति से परमेश्वर को सबका आत्मा जानके उसकी उपासना करता है, वह अपनी सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त होता है। यह बात प्रजापति परमेश्वर सब जीवों के लिये वेदों में बताता है ॥ ३ ॥

पूर्व प्रसङ्ग का अभिप्राय यह है कि मोक्ष की इच्छा सब जीवों को करनी चाहिये। (यदन्तरा०) जो कि आत्मा का भी अन्तर्यामी है, उसी को ब्रह्म कहते हैं, और वही अमृत अर्थात् मोक्षस्वरूप है। और जैसे वह सबका अन्तर्यामी है, वैसे उसका अन्तर्यामी कोई भी नहीं, किन्तु वह अपना अन्तर्यामी आप ही है। ऐसे प्रजानाथ परमेश्वर के व्याप्तिरूप सभास्थान को मैं प्राप्त होऊं। और इस संसार मे जो पूर्ण विद्वान् ब्राह्मण हैं, उनके बीच में (यशः) अर्थात्-कीर्ति को प्राप्त होऊं, तथा (राज्ञाम्) क्षत्रियों (विशाम्) अर्थात् व्यवहार में चतुर लोगों के बीच यशस्वी होऊं। हे परमेश्वर!

मैं कीर्तियों का भी कीर्तिरूप होके आपको प्राप्त हुआ चाहता हूं। आप भी कृपा करके मुझको सदा अपने समीप रखिये ॥ ७ ॥

अब मुक्ति के मार्ग का स्वरूप वर्णन करते हैं—(अणुः पन्था०) मुक्ति का जो मार्ग है, सो अणु अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म है। (वितरः) उस मार्ग से सब दुःखों के पार सुगमता से पहुंच जाते हैं, जैसे दृढ़ नौका से समुद्र को तर जाते हैं। तथा (पुराणः) जो मुक्ति का मार्ग है, वह प्राचीन है, दूसरा कोई नहीं। मुझको (स्पृष्टः) वह ईश्वर की कृपा से प्राप्त हुआ है। उसी मार्ग से विमुक्त मनुष्य सब दोष और दुःखों से छूटे हुए, (धीराः) अर्थात् विचारशील और ब्रह्मवित्, वेदविद्या और परमेश्वर के जाननेवाले जीव (उत्क्रम्य) अर्थात् अपने सत्य पुरुषार्थ से सब दुःखों का उल्लंघन करके, (स्वर्गं लोकम्) सुखस्वरूप ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं ॥ ८ ॥

(तस्मिञ्छुक्ल०) अर्थात उसी मोक्षपद में शुक्ल=श्वेत, (नीलम्)शुद्ध घनश्याम, (पिङ्गलम्) पीला श्वेत, (हरितम्) हरा और (लोहितम्) लाल ये सब गुणवाले लोक-लोकान्तर ज्ञान से प्रकाशित होते हैं। यही मोक्ष का मार्ग परमेश्वर के साथ समागम के पीछे प्राप्त होता है। उसी मार्ग से ब्रह्म का जाननेवाला, तथा (तैजसः०) शुद्धस्वरूप और पुण्य का करने वाला मनुष्य मोक्षसुख को प्राप्त होता है, अन्य प्रकार से नहीं ॥ ९ ॥

(प्राणस्य प्राण०)जो परमेश्वर प्राण का प्राण, चक्षु का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र, अन्न का अन्न और मन का मन है, उसको जो विद्वान् निश्चय करके जानते हैं, वे पुरातन और सब से श्रेष्ठ ब्रह्म को, मन से प्राप्त होने के योग्य मोक्षसुख को प्राप्त होके आनन्द में रहते हैं।(नेह ना०) जिस सुख में किंचित् भी दुःख नहीं है ॥ १० ॥

(मृत्योः स मृत्यु०) जो अनेक ब्रह्म अर्थात् दो, तीन, चार, दश, बीस जानता है, वा अनेक पदार्थों के संयोग से बना जानता है, वह वारंवार मृत्यु अर्थात् जन्म-मरण को प्राप्त होता है। क्योंकि वह ब्रह्म एक और चेतनमात्रस्वरूप ही है, तथा प्रमादरहित और व्यापक होके सब में स्थिर है। उसको मन से ही देखना होता है, क्योंकि ब्रह्म आकाश से भी सूक्ष्म है ॥११॥

(विरजः पर आ०) जो परमात्मा विक्षेपरहित, आकाश से परमसूक्ष्म, (अजः०) अर्थात् जन्मरहित, और महाध्रुव अर्थात् निश्चल है। ज्ञानी लोग उसी को जानके अपनी बुद्धि को विशाल करें। और वह इसी से ब्राह्मण कहाता है ॥१२॥

स होवाच । एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमस्पर्शमगन्धमरसमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखमनामागोत्रमजरममरमभयममृतमरजोऽशब्दमविवृतमसंवृतमपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यं न तदश्नोति कं चन न तदश्नोति कश्चन ॥ १३ ॥

श० कां० १४ । अ० ६ । कं० ८ ॥[1]

---

1. शत० १४ । ६ । ८ । ८ ॥

इति मुक्तैः प्राप्तव्यस्य मोक्षस्वरूपस्य सच्चिदानन्दादिलक्षणस्य परब्रह्मणः प्राप्तया जीवस्सदा सुखी भवतीति बोध्यम् ।

अथ वैदिकप्रमाणम्—

ये युज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सुख्यमंमृतत्वमानुश ।
तेभ्यो भुद्रमंङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानुवं सुमेधसः ॥१॥

ऋ० अ० ८ । अ० २ । व० १ । मं० १ ॥[1]

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यत्र देवाऽ अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥२॥

य० अ० ३२ । मं० १० ॥

भाष्यम्—अविद्यास्मितेत्यारभ्याध्यैरयन्तेत्यन्तेन मोक्षस्वरूपनिरूपणमस्तीति वेदितव्यम्, एषामर्थः प्राकृतभाषायां प्रकाश्यते[2] ।

भाषार्थ— (स होवाच ए०) याज्ञवल्क्य कहते हैं, हे गार्गि ! जो परब्रह्म नाश, स्थूल, सूक्ष्म, लघु, [दीर्घ,] लाल, चिक्कन, छाया, अन्धकार, वायु, आकाश, सङ्ग, शब्द,[3] स्पर्श, गन्ध, रस, नेत्र, कर्ण, [वाक्,] मन, तेज प्राण, मुख, नाम गोत्र, वृद्धावस्था, मरण, भय, आकार, विकाश, संकोच, पूर्व, अपर, भीतर, बाह्य अर्थात् बाहर, इन सब दोषों और गुणों से रहित मोक्षस्वरूप है, वह साकार पदार्थ के समान किसी को प्राप्त नहीं होता, और न कोई उसको मूर्त द्रव्य के समान प्राप्त होता है । क्योंकि वह सबमें परिपूर्ण, सबसे अलग, अद्भुतस्वरूप परमेश्वर है । उसको प्राप्त होनेवाला कोई नहीं हो सकता, जैसे मूर्त्त द्रव्य को चक्षुरादि इन्द्रियों से साक्षात् कर सकता है । क्योंकि वह सब इन्द्रियों के विषयों से अलग और सब इन्द्रियों का आत्मा है [॥१३॥]

तथा (ये यज्ञेन०) अर्थात् पूर्वोक्त ज्ञानरूप यज्ञ और आत्मादि द्रव्यों की परमेश्वर को दक्षिणा देने से वे मुक्त लोग मोक्षसुख में प्रसन्न रहते हैं । (इन्द्रस्य०) जो परमेश्वर के सख्य अर्थात् मित्रता से मोक्षभाव को प्राप्त हो गये हैं, उन्हीं के लिये भद्र नाम सब सुख नियत किये गये हैं । (अङ्गिरसः) अर्थात् उनके जो प्राण हैं, वे (सुमेधसः) उनकी बुद्धि को अत्यन्त बढ़ाने वाले होते हैं । और उस मोक्षप्राप्त मनुष्य को पूर्वमुक्त लोग अपने समीप आनन्द में रख लेते हैं । और फिर वे परस्पर अपने ज्ञान से एक दूसरे को प्रीतिपूर्वक देखते और मिलते है ॥१ ।

१. ऋ० १० । ६२ । १ ॥

२. इससे विदित होता है कि पहले सारा मुक्ति-प्रकरण संस्कृत में इकट्ठा लिखकर उसकी भाषा लिखी गई थी । अगले हस्तलेख में संस्कृत और भाषापाठ यथाप्रकरण साथ-साथ व्यवस्थित कर दिये गये ।

३. उपनिषद् पाठ में 'अशब्द' 'अरजो०' के आगे पठित है । अतः भाषा में भी 'आकार' शब्द से आगे उसका निर्देश होना चाहिये ।

(स नो बन्धुः०) सब मनुष्यों को यह जानना चाहिये कि वही परमेश्वर हमारा बन्धु अर्थात् दुःख का नाश करनेवाला, (जनिता०) सब सुखों का उत्पन्न और पालन करनेवाला है। तथा वही सब कामों को पूर्ण करता, और सब लोकों को जाननेवाला है, कि जिसमें देव अर्थात् विद्वान् लोग मोक्ष को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं। और वे तीसरे धाम अर्थात् शुद्ध सत्त्व से सहित होके सर्वोत्तम सुख में सदा स्वच्छन्दता से रमण करते हैं ॥२॥

इस प्रकार संक्षेप से मुक्तिविषय कुछ तो वर्णन कर दिया, और कुछ आगे भी कहीं-कहीं करेंगे, सो जान लेना। जैसे[1] 'वेदाहमेतं' इस मन्त्र में भी मुक्ति का विषय कहा गया है।

इति मुक्तिविषयः संक्षेपतः

---

१. यहां 'जैसे' पाठ होना चाहिये। क्योंकि यह मन्त्र पूर्व पृष्ठ १५० पर व्याख्यात हो चुका है।

अथ नौविमानादिविद्याविषयस्संक्षेपतः

तुग्रो ह भुज्युमश्विनोदमेघे रयिं न कश्चिन्ममृवाँ अवाहाः ।
तमूहथुर्नौभिरात्मन्वतीभिरन्तरिक्षप्रुद्भिरपोदकाभिः ॥१॥
तिस्रः क्षपस्त्रिरहातिव्रजद्भिर्नासत्या भुज्युमूहथुः पतङ्गैः ।
समुद्रस्य धन्वन्नार्द्रस्य पारे त्रिभी रथैः शतपद्भिः षळश्वैः ॥२॥

ऋ० अ० १ । अ० ८ । व० ८ । मं० ३,४ ॥[1]

भाष्यम्—'एषामभिप्रायः—[2] तुग्रो हेत्यादिषु मन्त्रेषु शिल्पविद्या विधीयते इति—

(तुग्रो ह) 'तुजि हिंसाबलादाननिकेतनेषु'[3] अस्माद् धातोरौणादिके 'रक्'प्रत्यये[4] कृते तुग्र इति पदं जायते । यः कश्चिद् धनाभिलाषी भवेत्, स (रयिम्) धनं कामयमानो, (भुज्युम्) पालनभोगमयं धनादिपदार्थभोगमिच्छन् विजयं च, पदार्थविद्यया स्वाभिलाषं प्राप्नुयात् । स च (अश्विना) पृथिवीमयैः[5] काष्ठलोष्ठादिभिः पदार्थैर्नावं रचयित्वाऽग्निजलादिप्रयोगेण (उदमेघे) समुद्रे गमयेद् आगमयेच्च, तेन द्रव्यादिसिद्धिं साधयेत् । एवं कुर्वन् (न कश्चित् ममृवान्) योगक्षेमविरहः सन् न मरणं कदाचित् प्राप्नोति । कुतः ? तस्य कृतपुरुषार्थत्वात् । अतो नावं (अवाहाः) अर्थात् समुद्रे द्वीपान्तरगमनं प्रति नावो वाहनावहने परमप्रयत्नेन नित्यं कुर्यात् । कौ साधयित्वा ? (अश्विना) द्यौरिति द्योतनात्मकाग्निप्रयोगेण पृथिव्या पृथिवीमयेनायस्ताम्ररजतधातुकाष्ठादिमयेन चेयं क्रिया साधनीया । अश्विनौ युव[ाम्य]ां तौ साधितौ द्वौ नावादिकं यानं (ऊहथुः) देशान्तरगमनं सम्यक्सुखेन प्रापयतः । पुरुषव्यत्ययेनात्र प्रथमपुरुषस्थाने मध्यमपुरुषप्रयोगः । कथंभूतैर्यानैः—(नौभिः) समुद्रे गमनागमनहेतुभूताभिः, (आत्मन्वतीभिः) स्वयं स्थिताभिः, स्वात्मीयस्थिताभिर्वा । राजपुरुषैर्व्यापारिभिश्च मनुष्यैर्व्यवहारार्थं समुद्रमार्गेण तासां गमनागमने नित्यं कार्य्ये इति शेषः । तथा ताभ्यामुक्तप्रयत्नाभ्यां भूयांस्यन्यान्यपि विमानादीनि साधनीयानि । एवमेव (अन्तरिक्षप्रुद्भिः) अन्तरिक्षं प्रति गन्तृभिर्विमानाख्ययानैः[6] साधितैः सर्वैर्मनुष्यैः परमैश्वर्यं सम्यक् प्रापणीयम् । पुनः

---

१. ऋ० १।११६।३,४॥ २. 'एषाम्' इति बहुत्वमस्मिन् प्रकरणे व्याख्यातान् मन्त्रानपेक्ष्य प्रयुक्तम्, न पूर्वनिर्दिष्टौ द्वावेव मन्त्रावभिप्रेत्य, अत एव 'तुग्रो हेत्यादिषु मन्त्रेषु' इत्यत्रापि बहुवचनमुक्तम् ।

३. धातुपाठः १० । ३५ ॥ ४. 'ऋज्रेन्द्राग्र०'(उ० २ । २८)इत्यादिना बाहुलकात् प्रत्ययो ज्ञेयः ।

५. 'काष्ठलोहादिभिः' युक्तः पाठः स्यात् । भाषानुवादे निरुक्तव्याख्याने स्पष्टमेव 'पृथिवी के विकार काष्ठ और लोहादि' पदानि पठ्यन्ते, द्रष्टव्यमग्रे पृष्ठ २२६ ।

६. यदा ग्रन्थकृता दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विमानस्य वर्णनमस्मिन् ग्रन्थे कृतं तदानीं पाश्चात्यदेशेषु

कथम्भूताभिर्नौभिः—(अपोदकाभिः) अपगतं दूरीकृतं [उदकं][1] जललेपो यासां ता अपोदका नावः, अर्थात् सच्छिद्रकानास्ताभिः, उदरे जलागमनरहिताभिश्च समुद्रे गमनं कुर्य्यात्। तथैव भूयानैर्भूमौ, जलयानैर्जले, अन्तरिक्षयानैश्चान्तरिक्षे चेति त्रिविध यानं रचयित्वा जलभूम्याकाशगमनं यथावत् कुर्य्यादिति। अत्र प्रमाणम्—

'अथातो द्युस्थाना देवतास्तासामश्विनौ प्रथमागामिनौ भवतोऽश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वं, रसेनान्यो ज्योतिषाऽन्योऽश्वैरश्विनावित्यौर्णवाभः। तत्कावश्विनौ द्यावापृथिव्यावित्येकेऽहोरात्रावित्येके सूर्य्याचन्द्रमसावित्येके ॥'[2] निरु० अ० १२। खं० १॥

तथाश्विनौ चापि भर्तारौ जर्भरी भर्तारावित्यर्थस्तुर्फरीतू हन्तारौ। उदन्यजेवेत्युदकजे इव, रत्ने सामुद्रे॥ निरु० अ० १३। खं० ५॥

एतैः प्रमाणैरेतत्सिध्यति वायुजलाग्निपृथिवीविकारकलाकौशलसाधनेन त्रिविधं यानं रचनीयमिति ॥१॥

(तिस्रः क्षपस्त्रिरहा०) कथंभूतैर्नौकादिभिः—तिसृभी रात्रिभिस्त्रिभिर्दिनैः, (आर्द्रस्य) जलेन पूर्णस्य समुद्रस्य तथा (धन्वनः) स्थलस्यान्तरिक्षस्य पारे, (अतिव्रजद्भिः) अत्यन्तवेगवद्भिः। पुनः कथम्भूतैः—(पतङ्गैः) प्रतिपातं वेगेन गन्तृभिः, तथा (त्रिभी रथैः) त्रिभी रमणीयसाधनैः, (शतपद्भिः) शतेनासंख्यातेन वेगेन पद्भ्यां यथा गच्छेत् तादृशैरत्यन्तवेगवद्भिः, (षडश्वैः) षडश्वा आशुगमनहेतवो यन्त्राण्यग्निस्थानानि वा येषु तानि षडश्वानि, तैः षडश्वैर्यानैस्त्रिषु मार्गेषु सुखेन गन्तव्यमिति शेषः। तेषां यानानां सिद्धिः केन द्रव्येण भवतीत्यत्राह—(नासत्या) पूर्वोक्ताभ्यामश्विभ्याम्[1]। अतः एवोक्तं 'नासत्यौ द्यावापृथिव्यौ०'[3]। तानि यानानि (ऊहथुः) इत्यत्र पुरुषव्यत्ययेन प्रथमस्य स्थाने मध्यमः, प्रत्यक्षविषयवाचकत्वात्। अत्र प्रमाणम्—'व्यत्ययो बहुलम् ॥' अष्टाध्यायाम् अ० ३। पा० १॥[4] अत्राह महाभाष्यकारः—

सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन ॥[5]

विमानस्य सत्ताऽपि नासीत्। पाश्चात्यदेशेषु विमानस्य प्रथममुड्डयनं ख्रिस्ताब्दस्य १९०१ तमे वत्सरेऽभूत्। ग्रन्थकृता तु भारतीयवाङ्मयाधारेणैव विमानविद्याया उल्लेखो यत्र तत्र स्वकीयेषु ग्रन्थेषु कृतः। रामायणे महाभारतेऽन्येषु च भारतीयग्रन्थेषु विमानानां बहुधा वर्णनमुपलभ्यते। समराङ्गणसूत्रधारे विमाननिर्माणं सक्षेपेण विहितमुपलभ्यते। कतिपयवर्षेभ्यः प्रागेव च भारद्वाजीयविमानशास्त्रस्य भूयानंशः समुपलब्धः प्राकाश्यं च गतः। ग्रन्थकृता तु १९३२ तमे वैक्रमाब्दे (१८७५ ख्रिस्ताब्दे) पूनानगरे विहिते पञ्चमे प्रवचने स्पष्टमुक्तम्—'मैंने भी एक विमान-रचना का पुस्तक देखा है'। १. उदकमभिप्रेत्य 'दूरीकृतम्' इति नपुंसकत्वं द्रष्टव्यम्।

२. 'नासत्यौ चाश्विनौ' इत्याह यास्कः। निरुक्त ६। १३॥

३. नासत्याश्विशब्दयोः समानार्थत्वाद् 'अश्विनौ' इत्यस्य व्याख्याने तत्कावश्विनौ? द्यावापृथिव्यावित्येके' (नि० १२।१) इति निर्देशाद् इह 'नासत्यौ द्यावापृथिव्यौ' इत्युक्तम्। ४. सूत्र ८५॥

५. पूर्वसूत्रे (३। १। ८५) एव।

इति महाभाष्यप्रामाण्यात् । तावेव नासत्यावश्विनौ सम्यग् यानानि वहतः, [छन्दसि लुङ्लङ्लिटः ।। अष्टा० ३।४।६] इत्यत्र सामान्यकाले लिड्विधानाद् ऊहथुरित्युक्तम् । तावेव तेषां यानानां मुख्ये साधने स्तः । एवं कुर्वन्तो[1] भुज्युमुत्तमसुखभोगं प्राप्नुयुर्नान्यथेति ।।२।।

भाषार्थ—अब मुक्ति के आगे समुद्र, भूमि और अन्तरिक्ष में शीघ्र चलने के लिये यानविद्या लिखते हैं, जैसी कि वेदों में लिखी है—

(तुग्रो ह०) 'तुजि' धातु से 'रक्' प्रत्यय करने से 'तुग्र' शब्द सिद्ध होता है। उसका अर्थ हिंसक, बलवान्, ग्रहण करनेवाला और स्थानवाला है। क्योंकि वैदिक शब्द सामान्य अर्थ[2] में वर्त्तमान हैं। जो शत्रु को हनन करके अपने विजय बल और धनादि पदार्थ और जिस-जिस स्थान में सवारियों से अत्यन्त सुख का ग्रहण किया चाहे, उन सभों का नाम 'तुग्र' है। (रयिम्) जो मनुष्य उत्तम विद्या, सुवर्ण आदि पदार्थों की कामनावाला है, उसका जिनसे पालन और भोग होता है, उन धनादि पदार्थों की प्राप्ति भोग और विजय की इच्छा को आगे लिखे हुये प्रकारों से पूर्ण करे। (अश्विना) जो कोई सोना, चांदी,[3] तांबा, पीतल, लोहा और लकड़ी आदि पदार्थों से अनेक प्रकार की कलायुक्त नौकाओं को रचके, उनमें अग्नि, वायु और जल आदि का यथावत् प्रयोग कर, और पदार्थों को भरके, व्यापार के लिये (उदमेघे) समुद्र और नदी आदि में (अवाहाः) आवे जावे, तो उसके द्रव्यादि पदार्थों की उन्नति होती है। जो कोई इस प्रकार से पुरुषार्थ करता है, वह (न कश्चिन्ममृवान्) पदार्थों की प्राप्ति और उनकी रक्षासहित होकर दुःख से मरण को प्राप्त कभी नहीं होता। क्योंकि वह पुरुषार्थी होके आलसी नहीं रहता। वे नौका आदि किनको सिद्ध करने से होते हैं—अर्थात् जो अग्नि, वायु और पृथिव्यादि पदार्थों में शीघ्रगमनादि गुण और अश्वि नाम से [प्र]सिद्ध हैं, वे ही यानों को धारण और प्रेरणा आदि अपने गुणों से वेगवान् कर देते हैं। वेदोक्त युक्ति से सिद्ध किये हुये नाव, विमान और रथ अर्थात् [जल आकाश] भूमि में चलनेवाली सवारियों का (ऊहथुः) जाना-आना जिन पदार्थों से देशदेशान्तरों में सुख से होता है। यहां पुरुषव्यत्यय से 'ऊहतुः' इसके स्थान में 'ऊहथुः' ऐसा प्रयोग किया गया है। उनसे किस-किस प्रकार की सवारी सिद्ध होती है, सो लिखते हैं—(नौभिः) अर्थात् समुद्र में सुख से जाने-आने के लिये अत्यन्त उत्तम नौका होती हैं, (आत्मन्वतीभिः) जिनसे उनके मालिक अथवा नौकर चलाके जाते-आते रहें। व्यवहारी और राजपुरुष लोग इन सावरियों से समुद्र में जावें-आवें। तथा (अन्तरिक्षप्रुद्भिः) अर्थात् जिनसे आकाश में जाने-आने की क्रिया सिद्ध होती है, जिसका नाम विमान[4] शब्द करके

१. वै० य० मुद्रितेषु 'कुर्वंतो' इत्ययमपपाठः ।

२. अर्थात् यौगिक धात्वर्थ-प्रधान अर्थ ।

३. संस्कृत में 'काष्ठलोष्ठादिभिः' पाठ है। वहां 'काष्ठलोहादिभिः' पाठ होना चाहिये। लोह शब्द संस्कृत में धातुमात्र के लिये व्यवहृत होता है। सम्भव है इसी कारण अनुवादक ने 'सोना चांदी' आदि का भी भाषा में निर्देश किया है। सोना चांदी बहुमूल्य धातु होने से उनकी या उनके योग से नौका बनाना सम्भव नहीं, अतः ये पद उचित प्रतीत नहीं होते। चांदी का निर्देश आगे 'त्रिर्नो अश्विना' मन्त्र के भाष्य में (पृष्ठ २३०) है।

४. बहुत से लोगों का यह कहना है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पाश्चात्य वैज्ञानिक उन्नति को देखकर वेद से भी उन्हीं बातों को दिखाने का प्रयत्न किया है। वस्तुतः यह कथन ठीक नहीं है। विमान को

प्रसिद्ध है। तथा (अपोदकाभिः) वे सवारी ऐसी शुद्ध और चिक्कन होनी चाहियें, जो जल से न गलें और न जल्दी टूटें-फूटें। इन तीन प्रकार की सवारियों की जो रीति पहिले कह आए और जो आगे कहेंगे, उसी के अनुसार बराबर उनको सिद्ध करें। इस अर्थ में निरुक्त का प्रमाण संस्कृत में लिखा है, सो देख लेना। उसका अर्थ यह है—

(अथातो द्युस्थाना दे०) वायु और अग्नि आदि का नाम अश्वि है, क्योंकि सब पदार्थों में धनञ्जयरूप करके वायु और विद्युत् रूप से अग्नि ये दोनों व्याप्त हो रहे हैं। तथा जल और अग्नि का नाम भी अश्वि है, क्योंकि अग्नि ज्योति से युक्त और जल रस से युक्त होके व्याप्त हो रहा है। 'अश्वैः' अर्थात् वे वेगादि गुणों से भी युक्त हैं। जिन पुरुषों को विमान आदि सवारियों की सिद्धि की इच्छा हो, वे वायु, अग्नि और जल से उनको सिद्ध करें, यह और्णवाभ आचार्य का मत है। तथा कई एक ऋषियों का ऐसा मत है कि अग्नि की ज्वाला और पृथिवी का नाम अश्वि है। पृथिवी के विकार काष्ठ और लोहा आदि के कलायन्त्र चलाने से भी अनेक प्रकार के वेगादि गुण सवारियों वा अन्य कारीगरियों में किये जाते हैं। तथा कई एक विद्वानों का ऐसा मत है कि 'अहोरात्रौ' अर्थात् दिन-रात्रि का नाम अश्वि है, क्योंकि इनमे भी सब पदार्थों के संयोग और वियोग होने के कारण से वेग उत्पन्न होते हैं, अर्थात् जैसे शरीर और ओषधि आदि में वृद्धि और क्षय होते हैं। इसी प्रकार कई एक शिल्पविद्या जाननेवाले विद्वानों का ऐसा भी मत है कि 'सूर्य्याचन्द्रमसौ' सूर्य्य और चन्द्रमा को अश्वि कहते हैं। क्योंकि सूर्य और चन्द्रमा के आकर्षणादि गुणों से जगत् के पृथिवी आदि पदार्थों में संयोग-वियोग, वृद्धि क्षय, आदि श्रेष्ठ गुण उत्पन्न होते हैं। तथा 'जर्भरी' और 'तुर्फरीतू' ये दोनों पूर्वोक्त अश्वि के नाम हैं। जर्भरी अर्थात् विमान आदि सवारियों के धारण करनेवाले और तुर्फरीतू अर्थात् कलायन्त्रों के हनन से वायु, अग्नि, जल और पृथिवी के युक्तिपूर्वक प्रयोग से विमान आदि सवारियों का धारण पोषण और वेग होते हैं। जैसे घोड़े और बैल चाबुक मारने से शीघ्र चलते हैं, वैसे ही कलाकौशल से धारण और वायु आदि को कलाओं करके प्रेरने से सब प्रकार की शिल्पविद्या सिद्ध होती है। 'उदन्यजे' अर्थात् वायु, अग्नि और जल के प्रयोग से समुद्र में सुख करके गमन हो सकता है ॥१॥

(निरु: क्षाम्भिय०)। (नासत्या०) जो पूर्वोक्त अश्वि कह आये हैं, वे (भुज्युमूहथुः) अनेक प्रकार के भोगों को प्राप्त कराते[२] हैं। क्योंकि जिनके वेग से तीन दिन रात में (समुद्र०) सागर (धन्वन्०) आकाश और भूमि के पार नौका विमान और रथ करके (व्रजद्भिः०) सुखपूर्वक पार जाने में समर्थ होते हैं। (त्रिभी रथैः) अर्थात् पूर्वोक्त तीन प्रकार के वाहनों से गमनागमन करना

की गोष्ठियें। पाश्चात्य देशों में सन् १६०१ में विमान की प्रथम उड़ान हुई थी, परन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सन् १८७६ में यह पुस्तक लिखी थी। लेखक ने जो कुछ भी लिखा है वह भारतीय वाङ्मय के आधार पर ही लिखा है। रामायण महाभारत और अन्य संस्कृत ग्रन्थों में विमान का वर्णन भरा पड़ा है। राजा भोज के समराङ्गण सूत्रधार ग्रन्थ (११ शती) में विमान बनाने का संक्षेप से वर्णन मिलता है। अभी कुछ ही वर्ष हुए श्री स्वामी ब्रह्ममुनिजी के परिश्रम से अतिप्राचीन भारद्वाज विमानशास्त्र छप चुका है। ग्रन्थकार ने भी सन् १८७५ पूना के ५वें प्रवचन (पृष्ठ ४२ रा०ला०क०ट्र० सं०) में कहा था—'मैंने भी विमान-रचना का पुस्तक देखा है'।

२. वै० य० मुद्रित में 'करते' पाठ है।

चाहियें। तथा (षडश्वैः) छः अश्व, अर्थात् उनमें अग्नि और जल के छः घर बनाने चाहियें। जैसे उन यानों से अनेक प्रकार के गमनागमन हो सकें, तथा (पतङ्गैः) जिनसे तीन प्रकार के मार्गों में यथावत् गमन हो सकता है ॥२॥

अनारम्भणे तदवीरयेथामनास्थाने अग्रभणे समुद्रे ।
यदश्विना ऊहथुर्भुज्युमस्तं शतारित्रां नावमातस्थिवांसम् ॥३॥

यमश्विना ददथुः श्वेतमश्वमघाश्वाय शश्वदित् स्वस्ति ।
तद्वां दात्रं महि कीर्तेन्यं भूत् पैद्वो वाजी सदमिद्धव्यो अर्यः ॥४॥

ऋ० अष्ट० १ । अ० ८ । व० ८, ९ । मं० ५, १ ॥[1]

भाष्यम्—हे मनुष्याः ! पूर्वोक्ताभ्यां प्रयत्नाभ्यां कृतसिद्धयानैः, (अनारम्भणे) आलम्बरहिते, (अनास्थाने) स्थातुमशक्ये, (अग्रभणे) हस्तालम्बनाविद्यमाने, (समुद्रे) समुद्रवन्त्यापो यस्मिन् तस्मिन् जलेन पूर्णे अन्तरिक्षे वा, कार्य्यसिद्ध्यर्थं युष्माभिर्गन्तव्यमिति । 'अश्विना ऊहथुर्भुज्यु'मिति पूर्ववद् विज्ञेयम् । तद्यानं सम्यक् प्रयुक्ताभ्यां ताभ्यामश्विभ्यां (अस्तम्) क्षिप्तं चालितं सम्यक् कार्य्यं साधयतीति । कथम्भूतां नावं समुद्रे चालयेत्? (शतारित्राम्) शतानि अरित्राणि लोहमयानि समुद्रस्थलान्तरिक्षमध्ये स्तम्भनार्थानि गाधग्रहणार्थानि च भवन्ति यस्यां तां शतारित्राम्। एवमेव शतारित्रं भूम्याकाशविमानं प्रति योजनीयम् । तथा तदेतत् त्रिविधं यानं शतकलं शतबन्धनं शतस्तम्भनसाधनं च रचनीयमिति । तद्यानैः कथम्भूतं (भुज्युम्) भोगं प्राप्नुवन्ति ? (तस्थिवांसम्) स्थितिमन्तमित्यर्थः ॥३॥

यद्यस्मादेवं भोगो जायते, तस्मादेवं सर्वमनुष्यैः प्रयत्नः कर्त्तव्यः (यमश्विना) यं सम्यक् प्रयुक्ताभ्यामग्निजलाभ्यामश्विभ्यां शुक्लवर्णं बाष्पाख्यमश्वम् (अघाश्वाय) शीघ्रगमनाय, शिल्पविद्याविदो मनुष्याः प्राप्नुवन्ति, तमेवाश्वं गृहीत्वा पूर्वोक्तानि यानानि साधयन्ति ।(शश्वत्०) तानि शश्वन्निरन्तरमेव (स्वस्ति) सुखकारकाणि भवन्ति । तद्यानसिद्धिं (अश्विना ददथुः) दत्तस्ताभ्यामेवायं गुणो मनुष्यैर्ग्राह्य इति। (वाम्) अत्रापि पुरुषव्यत्ययः । तयोरश्विनोर्मध्ये महासामर्थ्यं वर्त्तते, तत् कीदृशं ? (दात्रम्) दानयोग्यं, सुखकारकत्वात् पोषकं च, (महि) महागुणयुक्तम्, (कीर्त्तेन्यम्) कीर्त्तनीयमत्यन्तप्रशंसनीयम् । कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वन[2] इति 'केन्य' प्रत्ययः । अन्येभ्यस्तच्छ्रेष्ठोपकारकं (भूत्) अभूत् भवतीति । अत्र लडर्थे लुङ् विहित[3] इति वेद्यम् । स चास्याश्वो (वाजी) वेगवान्, (पैद्वः०) यो यानं मार्गे शीघ्रवेगेन गमयितास्ति। पैद्वपतङ्गावश्वनाम्नी ॥ निघं० अ० १ । खं० १४ ॥ (सदमित्) यः सदं वेगं इत् एति प्राप्नोतीतीदृशोऽश्वोऽग्निरस्माभिः (हव्यः) ग्राह्योऽस्ति । (अर्यः) तमश्वमर्यो वैश्यो वणिग्जनोऽवश्यं गृह्णीयात् । अर्यः स्वामिवैश्ययोः[4] इति पाणिनि-सूत्रात्, अर्यो वैश्यस्वामिवाचीति ॥४॥

---

१. अत्रैवं संकेतो ज्ञेयः—अष्ट० १, अ० ८, वर्ग ८, मं० ५; वर्ग ९, मं० १ ॥ मण्डलानुसारं तु—१।११६।५,६॥

२. अष्टा० ३ । ४ । १४ ॥

३. द्र०—अष्टा० ३ । ४ । ६ ॥

४. अष्टा० ३ । १ । १०३ ॥

त्रयः पवयो मधुवाहने रथे सोमस्य वेनामनु विश्व इद्विदुः ।
त्रयः स्कम्भासः स्कभितास आरभे त्रिर्नक्तं याथस्त्रिर्वश्विना दिवा ॥५॥

ऋ० अष्ट० १ । अ० ३ । वर्ग ४ । मं० २ ॥[1]

भाष्यम्—(मधुवाहने०) मधुरगतिमति रथे (त्रयः पवयः) वज्रतुल्याश्चक्रसमूहाः कलायन्त्रयुक्ता वृढाः शीघ्रं गमनार्थं त्रयः कार्य्याः । तथैव शिल्पिभिः (त्रयः स्कम्भासः) स्तम्भनार्थाः स्तम्भास्त्रयः कार्य्याः । किमर्थाः[2] ? (स्कभितासः) सर्वकलानां स्थापनार्थाः (विश्वे) सर्वे शिल्पिनो विद्वांसः (सोमस्य) सोमगुणविशिष्टस्य सुखस्य (वेनाम्) कमनीयां कामनासिद्धिं (विदुः) जानन्त्येव । अर्थात् (अश्विना) अश्विन्यागेर्यतद् यानमारब्धुमिच्छेयुः । कुतः ? तावेवाश्विनौ तद्यानसिद्धिं (याथः) प्रापयत इति । तत्कीदृशमित्यत्राह (त्रिर्नक्तं, त्रिर्दिवा) तिसृभी रात्रिभिस्त्रिभिर्दिनैश्चातिदूरमपि मार्गं गमयतीति बोध्यम् ॥५॥

भाषार्थ—(अनारम्भणे०) हे मनुष्य लोगो ! तुम पूर्वोक्त प्रकार से अनारम्भण अर्थात् आलम्बरहित समुद्र में अपने कार्यों की सिद्धि करने योग्य यानों को रच लो । (तद्वीरयेथाम्) वे यान् पूर्वोक्त अश्विनी से ही जाने-आने के लिये सिद्ध होते हैं । (अनास्थाने) अर्थात् जिस आकाश और समुद्र में विना आलम्ब से कोई भी नहीं ठहर सकता, (अग्रभणे) जिसमें हाथ से पकड़ने का आलम्ब कोई नहीं मिल सकता, (समुद्रे) ऐसा जो पृथिवी पर जल से पूर्ण समुद्र प्रत्यक्ष है, तथा अन्तरिक्ष का भी नाम समुद्र है, क्योंकि वह भी जल[3] से पूर्ण रहता है, उनमें किसी प्रकार का आलम्बन सिवाय नौका और विमान से नहीं मिल सकता, इससे इन यानों को पुरुषार्थ से रच लेवें । (यदश्विनौ ऊहथुर्भु०) जो यान वायु आदि अश्वि से रचा जाता है, वह उत्तम भोगों को प्राप्त कर देता है । क्योंकि (अस्तम्) जो उनसे चलाया जाता है, वह पूर्वोक्त समुद्र, भूमि और अन्तरिक्ष में सब कार्यों को सिद्ध करता है । (शतारित्राम्) उन नौकादि सवारियों में सैकड़ह अरित्र अर्थात् जल की थाह लेने, उनके थांभने और वायु आदि विघ्नों से रक्षा के लिये लोह आदि के लंगर भी रखने चाहिये, जिनसे जहां चाहे वहां उन यानों को थांभे । इसी प्रकार उनमें सैकड़ह कलबन्धन और थांभने के साधन रचने चाहिये । इस प्रकार के यानों से (तस्थिवांसम्) स्थिर भोग को मनुष्य लोग प्राप्त होते हैं ॥३ ।

(यमश्विना०) जो अश्वि अर्थात् अग्नि और जल हैं, उनके संयोग से (श्वेतमश्वम्) भाफरूप अश्व अत्यन्त वेग देनेवाला होता है । जिससे कारीगर लोग सवारियों को (अघाश्वाय) शीघ्र गमन के लिये वेगयुक्त कर देते हैं, जिस वेग की हानि नहीं हो सकती, उसको जितना बढ़ाया चाहे उतना बढ़ सकता है । (शश्वदित् स्वस्ति) जिन यानों में बैठ के समुद्र और अन्तरिक्ष में निरन्तर स्वस्ति अर्थात् नित्य सुख बढ़ता है । (ददथुः) जो कि वायु अग्नि और जल आदि से वेग गुण

१. ऋ० १ । ३४ । २ ॥ २. वै० य० मुद्रितेषु '(स्कभितासः) किमर्थाः' पूर्वापरोऽपपाठः ।

३. वै० य० मुद्रित में 'वर्षा के जल से' अपपाठ है । अन्तरिक्ष का नाम भी समुद्र है, क्योंकि वह पृथिवी से वाष्प रूप में गये सूक्ष्म जलों से पूर्ण रहता है ।

उत्पन्न होता है, उसको मनुष्य लोग सुविचार से ग्रहण करें। (वाम्) यह सामर्थ्य पूर्वोक्त अश्वि-संयुक्त पदार्थों ही में है। (तत्) सो सामर्थ्य कैसा है कि (दात्रम्) जो दान करने के योग्य, (महि) अर्थात् बड़े-बड़े शुभ गुणों से युक्त, (कीर्त्तेन्यम्) अत्यन्त प्रशंसा करने के योग्य और सब मनुष्यों का उपकार करनेवाला (भूत्) है। क्योंकि वही (पैद्वः) अश्व मार्ग में शीघ्र चलानेवाला है। (सदमित्) अर्थात् जो अत्यन्त वेग से युक्त है (हव्यः) वह ग्रहण और दान देने के योग्य है। (अर्य्यः) वैश्य लोग तथा शिल्पविद्या का स्वामी इसको अवश्य ग्रहण करे, क्योंकि इन यानों के बिना द्वीपान्तर में जाना-आना कठिन है ॥४॥

यह यान किस प्रकार का बनाना चाहिये कि (त्रयः पवयो मधु०) जिसमें तीन पहिये हों, जिनसे वह जल और पृथिवी के ऊपर चलाया जाय, और मधुर वेगवाला हो, उसके सब अङ्ग वज्र के समान दृढ़ हों, जिनमें कलायन्त्र भी दृढ़ हों, जिनसे शीघ्र गमन होवे। (त्रयः स्कम्भासः) उसमें तीन-तीन थम्भे ऐसे बनाने चाहिये कि जिनके आधार सब कलायन्त्र लगे रहें।[1] तथा (स्कभितासः) वे थम्भे भी दूसरे काष्ठ वा लोहे के साथ लगे रहें। जो कि नाभि के समान मध्य-काष्ठ होता है, उसी में सब कलायन्त्र जुड़े रहते हैं। (विश्वे) सब शिल्पी विद्वान् लोग ऐसे यानों को सिद्ध करना अवश्य जानें। (सोमस्य वेनाम्) जिनसे सुन्दर सुख की कामना सिद्ध होती है, (रथे) जिस रथ में सब क्रीड़ासुखों की प्राप्ति होती है, (आरभे) उसके आरम्भ में अश्वि अर्थात् अग्नि और जल ही मुख्य हैं। (त्रिर्नक्तं याथस्त्रिर्वश्विना दिवा) जिन यानों से तीन दिन और तीन रात में द्वीप द्वीपान्तर में जा सकते हैं ॥५॥

त्रिर्नो अश्विना यजता दिवेदिवे परि त्रिधातु पृथिवीमशायतम्।
तिस्रो नासत्या रथ्या परावत आत्मेव वातः स्वसराणि गच्छतम् ॥६॥

ऋ० अष्ट० १। अ० ३। व० ५। मं० १॥[2]

अरित्रं वां दिवस्पृथु तीर्थे सिन्धूनां रथः। धिया युयुज्र इन्दवः ॥७॥

ऋ० अष्ट० १। अ० ३। व० ३४। मं० ३॥[3]

वि ये भ्राजन्ते सुमखास ऋष्टिभिः प्रच्यावयन्तो अच्युता चिदोजसा।
मनोजुवो यन्मरुतो रथेष्वा वृषव्रातासः पृषतीरयुग्ध्वम् ॥८॥

ऋ० अ० १। अ० ६। व० ९। मं० ४॥[4]

---

१. वै० य० मुद्रित संस्करणों में इसके आगे '(आरा)' अपपाठ है, मन्त्र में 'आरा' पद नहीं है।

२. अत्र प्रथमसंस्करणे मन्त्रसंख्या ७ निर्दिष्टा वर्तते, तथापि सा वर्गविभागापेक्षया अशुद्धा। यतः पञ्चमवर्गस्यायं प्रथम एव मन्त्रो वर्तते। ७ संख्या तु सूक्तविभागापेक्षया साधु सम्भवति। ऋ० मं० १, सू० ३४, मं० ७॥

३. अत्रापि प्रथम सं० 'मं० ८' निर्दिष्टा, तथापि वर्गविभागापेक्षया ३ संख्यैव साध्वी ज्ञेया। ८ संख्या तु सूक्तविभागापेक्षया साध्वी संभवति। ऋ० मं० १, सू० ४६, मं० ८॥

४. ऋ० मं० १, सू० ८५, मं० ४॥

भाष्यम्—यत् पूर्वोक्तं भूमिसमुद्रान्तरिक्षेषु गमनार्थं यानमुक्तं तत् पुनः कीदृशं कर्त्तव्यमित्यत्राह - (परि त्रिधातु) अयस्ताम्ररजतादिधातुत्रयेण रचनीयम् । इदं कीदृग्वेगं भवतीत्यत्राह—(आत्मेव वात:०) आगमनागमने[1] यथात्मा मनश्च शीघ्रं गच्छत्यागच्छति, तथैव कलाप्रेरितौ वाय्वग्नी अश्विनौ तद्यानं त्वरितं गमयत आगमयतश्चेति विज्ञेयमिति संक्षेपतः ॥६॥

तच्च कीदृशं यानमित्यत्राह—(अरित्रम्) स्तम्भनार्थं साधनयुक्तं (पृथु) अतिविस्तीर्णम् । ईदृशः स रथः अत्यन्तवेगयुक्तः (सिन्धूनाम्) महासमुद्राणां (तीर्थे) तरणे कर्त्तव्येऽलं वेगवान् भवतीति बोध्यम् (धिया यु०) तत्र त्रिविधे रथे (इन्दवः) जलानि बाष्पवेगार्थं (युयुज्रे) यथावद्युक्तानि कार्य्याणि, येनातीव शीघ्रगामी स रथः स्यादिति । इन्दव इति जलनामसु निघण्टौ [अध्याये प्रथमे] खण्डे १२ पठितम् ।। 'उन्देरिच्चादेः' उणादौ प्रथमे पादे [१२] सूत्रम् । ७॥

हे मनुष्याः ! (मनोजुवः) मनोवद्वेगवतो वायवो यन्त्रकलाचालनैस्तेषु रथेषु पूर्वोक्तेषु त्रिविधयानेषु यूयम् (अयुग्ध्वम्) तान् यथावद्योजयत । कथम्भूता अग्निवाय्वादयः ? (आ वृषव्रातासः) जलसेचनयुक्ताः । येषां संयोगे बाष्पजन्यवेगोत्पत्त्या वेगवन्ति तानि यानानि सिद्धयन्तीत्युपदिश्यते ॥८॥

भाषार्थ—फिर वह सवारी कैसी बनानी चाहिये कि (त्रिर्नो अश्विना य०) (पृथिवीमशायतम्) जिन सवारियों से हमारा भूमि, जल और आकाश में प्रतिदिन आनन्द से जाना आना बनता है. (परि त्रिधातु) वे लोहा, तांबा, चांदी आदि तीन धातुओं से बनती हैं । और जैसे (रथ्या परावतः) नगर वा ग्राम की गलियों में झटपट जाना आना बनता है, वैसे दूर देश में भी उन सवारियों से शीघ्र-शीघ्र जाना आना होता है । (नासत्या) इसी प्रकार विद्या के निमित्त पूर्वोक्त जो अश्वि हैं, उनसे बड़े-बड़े कठिन मार्ग में भी सहज से जाना आना करें । जैसे (आत्मेव वात: स्व०) मन के वेग के समान शीघ्र गमन के लिये सवारियों से प्रतिदिन सुख से सब भूगोल के बीच जावें आवें ॥ ६॥

(अरित्रं वाम्) जो पूर्वोक्त अरित्रयुक्त यान बनते हैं, वे (तीर्थे सिन्धूनां रथः) जो रथ बड़े-बड़े समुद्रों के मध्य से भी पार पहुंचाने में श्रेष्ठ होते हैं, (दिवस्पृथु) जो विस्तृत और आकाश तथा समुद्र में जाने-आने के लिये अत्यन्त उत्तम होते हैं, उन रथों में जो मनुष्य यन्त्र सिद्ध करते हैं, वे सुखों को प्राप्त होते हैं । (धिया युयुज्रे) उन तीन प्रकार के यानों में (इन्दवः) वाष्पवेग के लिये एक जलाशय बनाके उसमें जलसेचन करना चाहिये, जिससे वह अत्यन्त वेग से चलनेवाला सिद्ध हो ॥७॥

(वि ये भ्राजन्ते०) हे मनुष्य लोगो ! (मनोजुवः) अर्थात् जैसा मन का वेग है, वैसे वेगवाले यान सिद्ध करो । (यन्मरुतो रथेषु) उन रथों में मरुत् अर्थात् वायु और अग्नि को मनोवेग के समान चलाओ । और (आ वृषव्रातासः) उनके योग में जलों का भी स्थापन करो । (पृषतीर-

1. आसमन्ताद् गमनागमने इत्यर्थः । अत्र दृष्टान्तः—यथात्मा मनश्च ।

युङ्ध्वम्) जैसे जल के वाष्प घूमने की कलाओं को वेगवाली कर देते हैं: वैसे ही तुम भी उनको सब प्रकार से युक्त करो। जो इस प्रकार से प्रयत्न करके सवारी सिद्ध करते हैं, वे (विभ्राजन्ते) अर्थात् विविध प्रकार के भोगों से प्रकाशमान होते हैं। और (सुमखास ऋष्टिभिः) जो इस प्रकार से इन शिल्पविद्यारूप श्रेष्ठ यज्ञ करनेवाले [हैं, वे] सब भोगों से युक्त होते हैं, (अच्युता चिदोजसा०) वे कभी दुःखी होके नष्ट नहीं होते, और सदा पराक्रम से बढ़ते जाते हैं। क्योंकि कला-कौशलता से युक्त वायु और अग्नि आदि पदार्थों की (ऋष्टि[भिः]) अर्थात् कलाओं से (प्रच्या०) पूर्व स्थान को छोड़के मनोवेग [वाले] यानों से जाते-आते हैं, उन ही से मनुष्यों को सुख भी बढ़ता है। इसलिये उत्तम यानों को अवश्य सिद्ध करें ॥८॥

आ नो॑ ना॒वा म॑ती॒नां या॒तं पा॒राय॒ गन्त॑वे।
यु॒ञ्जाथा॑मश्विना॒ रथ॑म् ॥ ९ ॥ ऋ० अष्ट० १। अ० ३। व० ३४। मं० १॥[1]

कृ॒ष्णं नि॒यानं॒ हर॑यः सुप॒र्णा अ॒पो वसा॑ना॒ दिव॒मुत्प॑तन्ति।
त आ व॑वृत्र॒न्त्सद॑नादृ॒तस्यादिद् घृ॒तेन॑ पृथि॒वी व्यु॑द्यते ॥१०॥

द्वाद॑श प्र॒धय॑श्च॒क्रमेकं॒ त्रीणि॒ नभ्या॑नि॒ क उ॒ तच्चि॑केत।
तस्मि॒न्त्सा॒कं त्रि॑श॒ता न श॒ङ्कवो॑ऽर्पि॒ताः प॒ष्टिर्न च॑लाच॒लासः॑ ॥११॥

ऋ० अष्ट० २। अ० ३। व० २३। मं १, २॥[2]

भाष्यम्—समुद्रे भूमौ अन्तरिक्षे गमनयोग्यमार्गस्य (पाराय) (गन्तवे) गन्तुं यानानि रचनीयानि। (नावा मतीनाम्) यथा समुद्रगमनवृत्तिनां मेधाविनां[3] नावा=नौकया पारं गच्छन्ति, तथैव (नः) अस्माकमपि नौरुत्तमा भवेत्। (आयुञ्जाथाम०) यथा मेधाविभिरग्निजले आसमन्ताद्यानेषु युज्येते, तथास्माभिरपि योजनीये भवतः। एवं सर्वैर्मनुष्यैः समुद्रादीनां पारावारगमनाय पूर्वोक्तयानरचने प्रयत्नः कर्त्तव्य इत्यर्थः। मेधाविनामसु निघण्टौ [तृतीयेऽध्याये] १५ खण्डे मतय इति पठितम् ॥९॥

हे मनुष्याः! (सुपर्णाः) शोभनपतनशीलाः (हरयः) अग्न्यादयोऽश्वाः (अपो वसानाः) जलपात्राच्छादिता अधस्ताज्ज्वालारूपाः काष्ठेन्धनैः प्रज्वालिताः कलाकौशलभ्रमणयुक्ताः कृताश्चे-

१. इह प्रथमसंस्करणे मुद्रिता ७ मन्त्रसंख्या वर्गविभागापेक्षयाऽसाध्वी, सूक्तविभागापेक्षया साध्वी सत्यपीह मण्डलसूक्तविभागानिर्देशादसाध्वी ज्ञेया। ऋ० मं० १, सू० ४६, मं० ७॥

२. इहापि प्र०सं० निर्दिष्टे ४७, ४८ मन्त्रसंख्ये वर्गविभागापेक्षयाऽसाध्व्यौ वर्तेते। ऋ० मं० १, सू० १६४, मं० ४७, ४८॥

३. अत्र पाठोऽस्पष्टः। एवमत्र स्पष्टता कर्तव्या—'मेधाविनां नावा नौकया सर्वे मनुष्याः पारं गच्छन्ति'। मेधाविनां नावाऽर्थाद् तैर्निर्मितया नावा।

तदा (कृष्णम्) पृथिवीविकारमयं (नियानम्) निश्चितं यानं (दिवमुत्प०) द्योतनात्मकमाकाश-मुत्पतन्ति[1], ऊर्ध्वं गमयन्तीत्यर्थः ॥१०॥

(द्वादश प्रधयः) तेषु यानेषु प्रधयः सर्वकलायुक्तानामराणां धारणार्था द्वादश कर्त्तव्याः। (चक्रमेकम्) तन्मध्ये सर्वकलाभ्रामणार्थमेकं चक्रं रचनीयम्। (त्रीणि नभ्यानि) मध्यस्थानि मध्यावयवधारणार्थानि त्रीणि यन्त्राणि रचनीयानि। तैः (साकं त्रिशता) त्रीणि शतानि (शङ्कवोऽर्पिताः) यन्त्रकला रचयित्वा स्थापनीयाः। (चलाचलासः) ताः कलाः चलाः चालनार्हा अचलाः स्थित्यर्हाः, (षष्टिः) षष्टिसंख्याकानि कलायन्त्राणि स्थापनीयानि। तस्मिन् याने एतदादिविधानं सर्वं कर्त्तव्यम्। (क उ तच्चिकेत) इत्येतत् कृत्यं को विजानाति? (न) नहि सर्वे ॥११॥

इत्यादयः एतद्विषया वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्त्यप्रसङ्गादत्र सर्वे नोल्लिख्यन्ते।

भाषार्थ—[2]हे मनुष्यों! (आ नो नावा मतीनाम्) जैसे बुद्धिमान् मनुष्यों के बनाये नाव आदि यानों से (पाराय०) समुद्र के पारावार जाने के लिये सुगमता होती है, वैसे ही (आ युञ्जाथाम०) पूर्वोक्त वायु और अग्नि का योग यथावत् करो। (रथम्) जिस प्रकार उन यानों से समुद्र के पार और वार में जा सको। हे मनुष्यो! आओ, आपस में मिलके इस प्रकार के यानों को रचें, जिनसे सब देश-देशान्तर में (नः) हमारा जाना-आना बने ॥९॥

(कृष्णं नि०) अग्निजलयुक्त कृष्ण अर्थात् खेंचनेवाला जो (नियानम्) निश्चित यान है, उसके (हरयः) वेगादि गुणरूप, (सुपर्णाः) अच्छी प्रकार गमन करानेवाले, जो पूर्वोक्त अग्न्यादि अश्व हैं, वे (अपो वसानाः) जलसेचनयुक्त वाष्प को प्राप्त होके (दिवमुत्पतन्ति[1]) उस काष्ठ लोहा आदि से बने हुए विमान को आकाश में उड़ा चलते हैं। (त आववृ०) वे जब चारों ओर से सदन अर्थात् जल[3] से वेगयुक्त होते हैं, तब (ऋतस्य) अर्थात् यथार्थ सुख के देनेवाले होते हैं। (पृथिवी घृ०) जब जलकलाओं के द्वारा पृथिवी जल से युक्त की जाती है, तब उससे उत्तम-उत्तम भोग प्राप्त होते हैं ॥१०॥

(द्वादश प्रधयः) इन यानों के बाहर भी थम्भे रचने चाहिये, जिनमें सब कलायन्त्र लगाये जायं। (चक्रमेकम्) उनमें एक चक्र बनाना चाहिये, जिसके घुमाने से सब कला घूमें। (त्रीणि नभ्यानि) फिर उसके मध्य में तीन चक्र रचने चाहिये कि एक के चलाने से सब रुक जायं, दूसरे के चलाने से आगे चलें, और तीसरे के चलाने से पीछे चलें। (तस्मिन् साकं त्रिशता०) उसमें तीन-तीन सौ (शङ्कवः०) बड़ी-बड़ी कीलें अर्थात् पेंच लगाने चाहियें कि जिनसे उनके सब अङ्ग जुड़ जायं, और उनके निकालने से सब अलग-अलग हो जायं। (षष्टिर्न चलाचलासः) उनमें ६० साठ कलायन्त्र रचने चाहिये, कई एक चलते रहें और कुछ बन्द रहें। अर्थात् जब विमान को

---

१. 'उत्पतन्ति' अन्तर्णीत ण्यर्थप्रयोग है।

२. यह भाषार्थ सुगम होते हुए भी संस्कृत से भिन्न है। इसी प्रकार अगले मन्त्रों के भाषार्थ में भी भिन्नता है।

३. निघण्टु १।१२ में सदन शब्द जलनामों में पढ़ा है।

ऊपर चढ़ाना हो, तब भाफघर के ऊपर के मुख बन्द रखने चाहिये, और जब ऊपर से नीचे उतारना हो तब ऊपर के मुख अनुमान से खोल देना चाहिये। ऐसे ही जब पूर्व को चलाना हो, तो पूर्व के बन्द करके पश्चिम के खोलने चाहिये, और जो पश्चिम को चलाना हो, तो पश्चिम के बन्द करके पूर्व के खोल देने चाहियें। इसी प्रकार उत्तर दक्षिण में भी जान लेना। (न) उनमें किसी प्रकार की भूल न रहनी चाहिये। (क उ तच्चिकेत) इस महागम्भीर शिल्पविद्या को सब साधारण लोग नहीं जान सकते, किन्तु जो महाविद्वान् हस्तक्रिया में चतुर और पुरुषार्थी लोग हैं, वे ही सिद्ध कर सकते हैं ॥११॥

इस विषय के वेदों में बहुत मन्त्र हैं, परन्तु यहां थोड़ा ही लिखने में बुद्धिमान् लोग बहुत समझ लेंगे।

॥ इति नौविमानादिविद्याविषयः संक्षेपतः ॥



अथ तारविद्यामूलं संक्षेपतः[1]

युवं पेदवे पुरुवारमश्विना स्पृधां श्वेतं तरुतारं दुवस्यथः ।
शर्यैरभिद्युं पृतनासु दुष्टरं चर्कृत्यमिन्द्रमिव चर्षणीसहम् ॥ १ ॥

ऋ० अष्ट० १ । अ० ८ । व० २१ । मं० ५[2] ॥

भाष्यम्—अस्याभिप्रायः—अस्मिन् मन्त्रे [3]तारविद्याबीजं प्रकाश्यत इति ।

हे मनुष्याः ! (अश्विना०) अश्विनोर्गुणयुक्तं, (पुरुवारम्) बहुभिर्विद्वद्भिः स्वीकर्त्तव्यं बहूत्तमगुणयुक्तम्, (श्वेतम्) अग्निगुणविद्युन्मयं शुद्धधातुनिर्मितम्, (अभिद्युम्) प्राप्तविद्युत्प्रकाशम्, (पृतनासु दुष्टरम्) राजसेनाकार्य्येषु दुस्तरं [4]प्लावयितुमशक्यम्, (चर्कृत्यम्) वारंवारं सर्वक्रियासु योजनीयम्, (तरुतारम्) ताराख्यं यन्त्रं यूयं कुरुत । कथम्भूतं गुणैर्युक्तम् ? (शर्य्यैः) पुनः पुनर्हननप्रेरणगुणैर्युक्तम् । कस्मै प्रयोजनाय ? (पेदवे) परमोत्तमव्यवहारसिद्धिप्रापणाय । पुनः कथम्भूतं?

---

१. अत्रान्यत्रेव **अथ तारविद्याविषयः संक्षेपतः** इत्यनुक्त्वा यत् '**अथ तारविद्यामूलं संक्षेपतः**' इति निर्दिशन्नाचार्यो यया विद्यया दूरस्थानि वृत्तान्यल्पकाल एव प्रेष्यन्ते, तन्मूलं वेदेऽपि वर्तते इति स्पष्टयति, न त्विदं तारयन्त्रमेव वेदे निर्दिष्टमिति । प्रथममन्त्रव्याख्यानारम्भे '**अस्मिन् मन्त्रे तारविद्याबीजं प्रकाश्यते**' इत्यनेनापि तमेवाभिप्रायं पुनः प्रकटयति ।

२. शताब्दीसंस्करणादारभ्याष्टमसंस्करणपर्यन्तं '५' संख्यैव वर्तते । इयमेव च वर्गविभागापेक्षया शुद्धा । १—५, तथा ६ संस्करणेषु '१०' संख्या निर्दिश्यते, साऽत्र वर्गविभागनिर्देशाद् अशुद्धा, यतः सा सूक्तविभागमपेक्षते । ऋ० मं० १, सू० ११९, मं० १० ॥

३. अत्र केचनाऽऽशङ्कन्ते यत्स्वामिदयानन्देन तात्कालिकीं ताराख्यां दूरसंवादसंचारव्यवस्थां दृष्ट्वा प्राचीनानामार्याणां विज्ञानोत्कर्षता प्रख्यापयितुमयमसत्प्रयत्नः कृत इति । अत्रोच्यते, नायमाचार्यपादानामसत्प्रयत्नोऽपि तु प्राचीनानामार्याणां वास्तविकीं विज्ञानोत्कर्षतां द्योतयितुमयं सत्प्रयत्नः । आसीत् पुराणानामार्याणां विमानज्ञानं विज्ञातम् इत्युक्तं पुरस्तात् नौविमानादिविद्याविषये (पृष्ठ २२३ टि० ३)। तथैवासीत् पुरा भारते दूरसंवादसंचारव्यवस्था । अत एव शुक्रनीतौ राज्यव्यवस्थाप्रकरणे दूरतमप्रदेशानां वार्ताविज्ञानायोच्यते—'**अयुतक्रोशजां वार्तां हरेदेकदिनेन वै**' (१।३६७) । अत्र दशसहस्रक्रोशजा (=२० सहस्रमीलजा=३२००० किलोमीटरजा) वार्ता यथा केन्द्रं प्रति (राजानं प्रति) एकेनैव दिनेन विदिता भवेत् तादृशः प्रयत्नो राज्ञा विधातव्य इति नीतिकाराणामादेशः । अत एवेह मन्त्रेऽपि '**पृतनासु दुष्टरम्**' इत्युक्तम् । यदि हि नाम पुरा नैतादृशी काचित् दूरसंवादसंचारव्यवस्थाऽभविष्यत् तर्हि कथं नीतिकारः शशशृङ्गायमाणां तादृशीं व्यवस्थां विधातुमुपादिक्ष्यत् । एतेन विज्ञायते आसन् पुरातना आर्या विविधविज्ञानसम्पत्समन्विता इति ।

४. प्रथमसंस्करणे 'प्लवितु' पाठः, तत्रान्तर्णीतण्यर्थो ज्ञेयः ।

(स्पृधाम्) स्पर्द्धमानानां शत्रूणां पराजयाय स्वकीयानां वीराणां विजयाय च परमोत्तमम् । पुनः कथम्भूतं ? (चर्षणीसहम्) मनुष्यसेनायां कार्यसहनशीलम् । पुनः कथम्भूतं ? (इन्द्रमिव०) सूर्यवद् दूरस्थमपि व्यवहारप्रकाशनसमर्थम् । (युवम्) युवामश्विनौ (हुवस्यथः) पुरुषव्यत्ययेन [मध्यमपुरुषः।] पृथिवीविद्युदाख्यावश्विनौ सम्यक् साधयित्वा तत्ताराख्यं यन्त्रं नित्यं सेवध्वमिति बोध्यम् ॥१॥

भाषार्थ—(युवं पेदवे०) अभिप्राय:—इस मन्त्र से तारविद्या का मूल[1] जाना जाता है। पृथिवी से उत्पन्न धातु तथा काष्ठादि के यन्त्र और विद्युत् अर्थात् बिजुली इन दोनों के प्रयोग से तारविद्या[2] सिद्ध होती है। क्योंकि 'द्यावापृथिव्योरित्येके' इस निरुक्त[3] के प्रमाण से इनका अश्वि नाम जान लेना चाहिये।

---

१. आचार्य ने इस विषय का निर्देश 'अथ तारविद्याविषयः संक्षेपतः' ऐसा न करके 'अथ तारविद्यामूलं संक्षेपतः' ऐसा किया। इससे ग्रन्थकार यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि जिस विज्ञान के आधार पर 'तार' यन्त्र का आविष्कार हुआ है उस विज्ञान का मूल वेद में है। वर्तमान तार यन्त्र का मूल वेद में है ऐसा ग्रन्थकार का अभिप्राय नहीं है।

२. अनेक लोग शंका करते हैं कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पाश्चात्य विज्ञानोन्नति को देखकर 'भारतीय प्राचीन आर्यों को भी ये विद्यायें ज्ञात थीं' ऐसे मिथ्याग्रह से तारादिविद्या का यहां संकेत किया है। इसका उत्तर यह है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने मिथ्याग्रह से प्राचीन आर्यों की मिथ्या विज्ञानोन्नति का विधान नहीं किया है, अपितु वास्तविकता का निर्देश किया है। प्राचीन आर्य विमानों का व्यवहार करते थे और वे देश काल और उपयोग की दृष्टि से विभिन्न प्रकार के विमानों का निर्माण करते थे, यह हम पूर्व नौविमानादि प्रकरण में (पृ० २२६) दर्शा चुके हैं। इसी प्रकार प्राचीन आचार्यों को कोई दूरसंवादसंचार प्रणाली भी ज्ञात थी, इसका स्पष्ट निर्देश शुक्रनीति नामक अति प्राचीन ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। उसमें राज्यव्यवस्था के प्रकरण में लिखा है कि राजा को अपने राज्य में ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये कि केन्द्र को १०००० दस सहस्रकोश (=२०००० मील=३२००० किलोमीटर) दूर हुई बात १ दिन में ज्ञात हो जाये। 'अयुतक्रोशजां वार्तां हरेदेकदिनेन वै' (शुक्रनीति १।३६७)। यदि भारत में अति प्राचीनकाल में दूरसंवादसंचार प्रणाली विदित न होती हो आचार्य शुक्र ऐसी असम्भव वार्ता के लिये प्रयत्न करने का विधान न करते। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन आर्यों को दूरसंवादसंचार के लिये किसी प्रकार की यान्त्रिक प्रणाली विदित थी। प्राचीन आर्य ऐसी व्यवस्था राज्यकार्य के लिये ही प्रायः रखते थे, क्योंकि उस समय राज्य की इकाई ग्राम्यव्यवस्था थी। बड़े-बड़े नगर उस समय नहीं थे (ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार आर्य सभ्यता ग्रामबहुला है और नगरबहुला आसुरी सभ्यता है)। इसलिये साधारण जनता को अत्यधिक देशदेशान्तर में जाने की आवश्यकता नहीं होती थी। आर्य लोग विद्युत् विद्या से भी भले प्रकार परिचित थे। उन्हें शुष्क और आर्द्र दो प्रकार की विद्युत् के उपयोग का ज्ञान था। विश्वामित्र ने राम को ये दोनों प्रकार की विद्युतों की विद्या सिखाई थी (द्र० वा० रा० १।२७।६)। इतना ही नहीं, निरुक्त ७।२३ से तो विदित होता है कि प्राचीन आर्य मध्यमस्थानी मेघस्थ विद्युत् को भी ग्रहण करके उससे कार्य लेने की विद्या भी जानते थे।

३. निरुक्त १२।१ में 'अश्विनौ' के प्रकरण में 'द्यावापृथिव्यावित्येके' पाठ है। ग्रन्थकार ने उसका अर्थतः उल्लेख किया है।

(पेदवे) अर्थात् वह अत्यन्त शीघ्रगमनागमन का हेतु होता है (पुरुवारम्) अर्थात् इस तारविद्या से बहुत उत्तम व्यवहारों के फलों को मनुष्य लोग प्राप्त होते हैं। (स्पृधाम्) अर्थात् लड़ाई करनेवाले जो राजपुरुष हैं, उनके लिये यह तारविद्या अत्यन्त हितकारी है। (श्वेतम्) वह तार शुद्ध धातुओं का होना चाहिये। (अभिद्युम्) और विद्युत् प्रकाश से युक्त करना चाहिये। (पृतनासु दुष्टरम्) सब सेनाओं के बीच में जिसका दुःसह प्रयोग होता, और उल्लंघन करना अशक्य है। (चर्कृत्यम्) जो सब क्रियाओं के वारंवार चलाने के लिये योग्य होता है। (अर्य्यैः) अनेक प्रकार कलाओं के चलाने से अनेक उत्तम व्यवहारों को सिद्ध करने के लिये, विद्युत् की उत्पत्ति करके उसका ताड़न करना चाहिये। (तरुतारम्) जो इस प्रकार का तारारूय यन्त्र है, उसको सिद्ध करके, प्रीति से सेवन करो। किस प्रयोजन के लिये? (पेदवे) परम उत्तम व्यवहारों की सिद्धि के लिये, तथा दुष्ट शत्रुओं के पराजय और श्रेष्ठ पुरुषों के विजय के लिये तारविद्या सिद्ध करनी चाहिये। (चर्षणीसह०) जो मनुष्यों की सेना के युद्धादि अनेक कार्यों के सहन करनेवाला है। (इन्द्रमिव०) जैसे समीप और दूरस्थ पदार्थों का प्रकाश सूर्य्य करता है, वैसे तारयन्त्र से भी दूर और समीप के सब व्यवहारों का प्रकाश होता है। (युवं दुवस्यथः) यह तारयन्त्र पूर्वोक्त अश्वि के गुणों ही से सिद्ध होता है। इसको बड़े प्रयत्न से सिद्ध करके सेवन करना चाहिये। इस मन्त्र में पुरुषव्यत्यय पूर्वोक्त नियम से हुआ है, अर्थात् मध्यम पुरुष के स्थान में प्रथम पुरुष समझना चाहिये ॥१॥

इति तारविद्यामूलविषयः संक्षेपतः



अथ वैद्यकशास्त्रमूलोद्देशः संक्षेपतः

सुमित्रिया नऽआपऽओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥ १ ॥ य० अ० ६ । मं० २२ ॥

भाष्यम्—अस्याभिप्रायार्थः—इदं वैद्यकशास्त्रस्यायुर्वेदस्य मूलमस्ति।

हे परमवैद्येश्वर ! भवत्कृपया (नः) अस्मभ्यं (ओषधयः) सोमादयः, (सुमित्रिया[1]) अत्र इयाडियाजीकाराणामुपसङ्ख्यानम् इति वार्त्तिकेन[2] 'जसः' स्थाने 'डियाच्'[1] इत्यादेशः। सुमित्राः सुखप्रदा रोगनाशकाः सन्तु, यथावद् विज्ञाताश्च। तथैव (आपः) प्राणाः सुमित्राः सन्तु। तथा (योऽस्मान् द्वेष्टि) योऽधर्मात्मा कामक्रोधादिर्वा रोगश्च विरोधी भवति, (यं च वयं द्विष्मः) यमधर्मात्मानं रोगं च वयं द्विष्मः, (तस्मै दुर्मित्रियाः) दुःखप्रदा विरोधिन्यः सन्तु। अर्थात् ये सुपथ्यकारिणस्तेभ्य ओषधयो मित्रवद् दुःखनाशिका भवन्ति। तथैव कुपथ्यकारिभ्यो मनुष्येभ्यश्च शत्रुवद् दुःखाय भवन्तीति।

एवं वैद्यकशास्त्रस्य मूलार्थविधायका वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्ति,[3] प्रसङ्गाभावान्नात्र लिख्यन्ते। यत्र यत्र ते मन्त्राः सन्ति तत्र तत्रैव तेषामर्थान् यथावदुदाहरिष्यामः।

भाषार्थ—(सुमित्रिया न०)। हे परमेश्वर ! आपकी कृपा से (आपः) अर्थात् जो प्राण और जल आदि पदार्थ, तथा (ओषधयः) सोमलता आदि सब ओषधि (नः) हमारे लिये, (सुमित्रिया सन्तु) सुखकारक हों। तथा (दुर्मित्रियाः) जो दुष्ट, प्रमादी, हमारे द्वेषी लोग हैं। और हम जिन दुष्टों से द्वेष करते हैं, उनके लिये विरोधिनी हों। क्योंकि जो धर्मात्मा और पथ्य के करनेवाले मनुष्य हैं, उनको ईश्वर के रचे सब पदार्थ सुख देने वाले होते हैं, और जो कुपथ्य करनेवाले तथा पापी हैं, उनके लिये सदा दुःख देनेवाले होते हैं॥

इत्यादि मन्त्र वैद्यकविद्या के मूल के प्रकाश करनेवाले हैं।

❦ इति वैद्यकविद्याविषयः संक्षेपतः ❦

---

१. अत्राऽऽकारान्तं पदच्छेदं मत्वा 'डियाच्' आदेशो विहितः। इत्थमेव ग्रन्थान्ते वैदिकव्याकरणनियमेष्वपि वार्तिकस्यास्य व्याख्याने मन्त्रांशोऽयमुद्धृतः। परन्त्विह 'दुर्मित्रियाः' पदं स्पष्टमेव सकारान्तं विद्यते। यजुर्वेदभाष्येऽपि सर्वत्र 'सुमित्रियाः' इत्येवं सकारान्तमेव पदं निर्दिश्यते। तथासति जसः स्थाने डियाजादेशे सकारान्तत्वं पदस्य नोपपद्यते। तस्मात् 'सुमित्रियाः, दुर्मित्रियाः' पदयोः स्वार्थे घच् प्रत्ययः (४।४।११८) उपसंख्येयः। तुलना कार्या—सुमित्र्याः दुर्मित्र्याः (मा० श्रौ० ३।५।२) सुमित्र्याः—ऋ० १०।६५।३॥

२. महा० ७।१।३९॥ ३. अत एव आयुर्वेद उपवेदत्वेन स्मर्यते।

अथ पुनर्जन्मविषयः संक्षेपतः

असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम् ।
ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृळया नः स्वस्ति ॥ १ ॥
पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पुनर्द्यौर्देवी पुनरन्तरिक्षम् ।
पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु पुनः पूषा पथ्यां या स्वस्तिः ॥ २ ॥

ऋ० अ० ८ । अ० १ । व० २३ । मं० १,२ ॥[1]

भाष्यम्—एतेषामभिप्रायः—एतदादिमन्त्रेष्वत्र पूर्वजन्मानि पुनर्जन्मानि च प्रकाश्यन्त इति ।

(असुनीते०) असवः प्राणा नीयन्ते येन सोऽसुनीतिस्तत्सम्बुद्धौ, हे असुनीते ईश्वर ! मरणानन्तरं द्वितीयशरीरधारणे वयं सदा सुखिनो भवेम । (पुनरस्मा०) अर्थाद्यदा वयं पूर्वशरीरं त्यक्त्वा द्वितीयशरीरधारणं कुर्मस्तदा (चक्षुः) चक्षुरित्युपलक्षणमिन्द्रियाणाम्, पुनर्जन्मनि सर्वाणीन्द्रियाण्यस्मासु धेहि । (पुनः प्राणमि०) प्राणमिति वायोरन्तःकरणस्योपलक्षणम्,[2] पुनर्द्वितीयजन्मनि प्राणमन्तःकरणं च धेहि । एवं हे भगवन् ! पुनर्जन्मसु (नः) अस्माकं (भोगम्) भोगपदार्थान् (ज्योक्) निरन्तरमस्मासु धेहि । यतो वयं सर्वेषु जन्मसु (उच्चरन्तं सूर्य्यम्) श्वासप्रश्वासात्मकं प्राणं प्रकाशमयं सूर्य्यलोकं च निरन्तरं पश्येम । (अनुमते) हे अनुमन्तः[3] परमेश्वर ! (नः) अस्मान् सर्वेषु जन्मसु (मृडय) सुखय । भवत्कृपया पुनर्जन्मसु (स्वस्ति) सुखमेव भवेदिति प्रार्थ्यते ॥ १ ॥

(पुनर्नो०) हे भगवन् ! भवदनुग्रहेण (नः) अस्मभ्यम् (असुम्) प्राणमन्नमयं बलं च (पृथिवी पुनर्ददातु) । तथा (पुनर्द्यौः०) पुनर्जन्मनि द्यौर्देवी द्योतमाना[4] सूर्य्यज्योतिरसुं ददातु (पुनरन्तरिक्षम्) तथान्तरिक्षं पुनर्जन्मन्यसुं जीवनं ददातु (पुनर्नः सोमस्त०) तथा सोम ओषधिसमूहजन्यो रसः पुनर्जन्मनि तन्वं शरीरं ददातु (पुनः पूषा०) हे परमेश्वर ! पुष्टिकर्त्ता भवान् (पथ्याम्) पुनर्जन्मनि धर्ममार्गं ददातु, तथा सर्वेषु जन्मसु (या स्वस्तिः) सा भवत्कृपया नोऽस्मभ्यं सदैव भवत्विति प्रार्थ्यते भवान् ॥ २ ॥

---

१. वै० य० मुद्रितेषु १-५, ६ संस्करणेषु ६,७ मन्त्रसंख्ये निर्दिश्येते, ते वर्गविभागापेक्षयाऽशुद्धे । अन्येषु संस्करणेषु शुद्धे संख्ये उपलभ्येते । ऋ० मं० १०, सूक्त ५९, मं० ६,७ ॥

२. 'वायोरन्तःकरणस्य च' इत्येवमिह चकारः समुच्चयायोहितव्यः ।

३. अनुमन्तृशब्दस्य संबुद्धौ रूपम् ।

४. ज्योतिशब्द इकारान्तोऽपि स्त्रीलिङ्गे दृश्यते ।

भावार्थ—(असुनीते) हे सुखदायक परमेश्वर ! आप (पुनरस्मासु चक्षुः) कृपा करके पुनर्जन्म में हमारे बीच में उत्तम नेत्र आदि सब इन्द्रियां स्थापन कीजिये। तथा (पुनः प्राणम्) प्राण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, बल, पराक्रम आदि युक्त शरीर पुनर्जन्म में कीजिये। (इह नो धेहि भोगम्) हे जगदीश्वर ! इस संसार अर्थात् इस जन्म और परजन्म में हम लोग उत्तम-उत्तम भोगों को प्राप्त हों। तथा (ज्योक् पश्येम सूर्य्यमुच्चरन्तम्) हे भगवन् ! आपकी कृपा से सूर्य्यलोक, प्राण और आपको विज्ञान तथा प्रेम से सदा देखते रहें। (अनुमते मृडय नः स्वस्ति) हे अनुमते=सबको मान देनेहारे ! सब जन्मों में हम लोगों को मृडय- सुखी रखिये, जिससे हम लोगों को स्वस्ति अर्थात् कल्याण हो ॥१॥

(पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पु०) हे सर्वशक्तिमन् ! आपके अनुग्रह से हमारे लिये वारंवार पृथिवी प्राण को, प्रकाश चक्षु को, और अन्तरिक्ष स्थानादि अवकाशों को देते रहें। (पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु) पुनर्जन्म में सोम अर्थात् ओषधियों का रस हमको उत्तम शरीर देने में अनुकूल रहे। तथा (पुनः पूषा०) पुष्टि करानेवाला परमेश्वर कृपा करके सब जन्मों में हमको सब दुःख निवारण करनेवाला पथ्यरूप स्वस्ति को देवे ॥२॥

पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन्। वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात् ॥ ३ ॥

यजु० अ० ४। मं० १५ ॥

पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च।
पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पयन्तामिहैव ॥ ४ ॥

अथर्व० कां० ७। अनु० ६। व० ६७। मं० १ ॥[1]

आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि।
धास्युर्योनिं प्रथम आ विवेशा यो वाचमनुदितां चिकेत ॥ ५ ॥

अथर्व० कां ५। अनु० १। व० १। मं० २ ॥[2]

भाष्यम्—(पुनर्मनः पु०) हे जगदीश्वर ! भवदनुग्रहेण विद्यादिश्रेष्ठगुणयुक्तं मन आयुश्च (मे) मह्यमागन्) पुनः पुनर्जन्मसु प्राप्नुयात्। [(पुनः प्राणः) पुनर्जन्मनि प्राणः शरीरधारको वायुः] (पुनरात्मा०) पुनर्जन्मनि मदात्मा विचारः शुद्धः सन्[3] प्राप्नुयात्। (पुनश्चक्षु:०) चक्षुः श्रोत्रं च मह्यं प्राप्नुयात्। (वैश्वानरः) य सकलस्य जगतो नयनकर्त्ता (अदब्धः) दम्भादिदोषरहितः (तनूपाः) शरीरादिरक्षकः (अग्निः) विज्ञानानन्दस्वरूपः परमेश्वरः (पातु दुरि०) जन्म-

१. अथर्व ७। ६७। १ ॥ २. अथर्व ५। १। २ ॥ ३. अत्र केचन पाठाशुद्धिं मत्वाऽनेकधा पाठशोधनं दर्शयन्ति। तत्र पण्डितसुखदेवेन 'मदात्मा=मम आत्मा इत्यस्य शुद्धो विचारः' इत्यभिप्रायो वर्णितः, स साधुरेव। यद्वा 'आत्मा' शब्दस्य 'विचारः' इत्यर्थो ज्ञेयः, स शुद्धः सन् प्राप्नुयादिति निरवद्यम्।

जन्मान्तरे दुष्टकर्मभ्योऽस्मान् पृथक्कृत्य पातु रक्षतु, येन वयं निष्पापा भूत्वा सर्वेषु जन्मसु सुखिनो भवेम ॥३॥

(पुनर्मं०) हे भगवन् ! पुनर्जन्मनीन्द्रियमर्थात् सर्वाणीन्द्रियाणि, आत्मा प्राणधारको बलाख्यः, (द्रविणम्) विद्यादिश्रेष्ठधनम्, (ब्राह्मणं च) ब्रह्मनिष्ठात्वम्, (पुनरग्नयः) मनुष्यशरीरं धारयित्वाऽऽहवनीयाद्यग्न्याधानकरणम्, (यन्तु) पुनः पुनर्जन्मस्वेतानि मामाप्नुवन्तु । (धिष्ण्या यथास्थाम०) हे जगदीश्वर ! वयं यथा[1] येन प्रकारेण पूर्वेषु जन्मसु धिष्ण्या धारणावत्या धिया उत्तमशरीरेन्द्रिया अस्थाम[2], तथैवेहास्मिन् संसारे पुनर्जन्मनि बुद्ध्या सह स्वस्वकार्य्यकरणे समर्था भवेम ; येन वयं केनापि कारणेन न कदाचिद् विकला भवेम ॥४॥

(आ यो ध०) यो जीवः (प्रथमः) पूर्वजन्मनि, धर्माणि यादृशानि धर्मकार्य्याणि, (आससाद) कृतवानस्ति, स (ततो वपूंषि०) तस्माद् धर्मकारणाद् बहून्युत्तमानि शरीराणि पुनर्जन्मनि कृणुते धारयति । एवं यश्चाधर्मकृत्यानि चकार स नैव पुनः पुनर्मनुष्यशरीराणि प्राप्नोति, किन्तु पश्वादीनि हि शरीराणि धारयित्वा दुःखानि भुङ्क्ते । इदमेव मन्त्रार्थेनेश्वरो ज्ञापयति । (धास्युर्योनिम्) 'धास्यतीति धास्युरर्थात् पूर्वजन्मकृतपापपुण्यफलभोगशीलो जीवात्मा, (प्रथमः) पूर्वं देहं त्यक्त्वा, वायुजलौषध्यादिपदार्थान् (आविवेश) प्रविश्य, पुनः कृतपापपुण्यानुसारिणीं योनिमाविवेश प्रविशतीत्यर्थः (यो वाचम०) यो जीवो[3] ऽनुदितामीश्वरोक्तां वेदवाणीम् आ समन्ताद् विदित्वा धर्ममाचरति, स पूर्ववद् विद्वच्छरीरं धृत्वा सुखमेव भुङ्क्ते । तद्विपरीताचरणस्तिर्य्यग् देहं धृत्वा दुःखभागी भवतीति विज्ञेयम् ॥५॥

भावार्थ—(पुनर्मनः पुनरात्मा०) हे सर्वज्ञ ईश्वर ! जब जब हम जन्म लेवें, तब तब हमको शुद्ध मन, पूर्ण आयु, आरोग्यता, प्राण, कुशलतायुक्त जीवात्मा, उत्तम चक्षु और श्रोत्र प्राप्त हों । (वैश्वानरोऽदब्ध०) जो विश्व में विराजमान ईश्वर है, वह सब जन्मों में हमारे शरीरों का पालन करे । (अग्निर्नः) सब पापों के नाश करनेवाले आप हमको (पातु दुरिताद् अवद्यात्) बुरे कामों और सब दुःखों से पुनर्जन्म में अलग रक्खें ॥३॥

(पुनर्मैत्विन्द्रियम्) हे जगदीश्वर ! आपकी कृपा से पुनर्जन्म में मन आदि ग्यारह इन्द्रिय मुझको प्राप्त हों । अर्थात् सर्वदा मनुष्य देह ही प्राप्त होता रहे । (पुनरात्मा) अर्थात् प्राणों को धारण करनेहारा सामर्थ्य मुझको प्राप्त होता रहे जिससे दूसरे जन्म में भी हम लोग सौ वर्ष वा उससे अधिक भी जीवें । (द्रविणम्) तथा सत्यविद्यादि श्रेष्ठ धन भी पुनर्जन्म में प्राप्त

1. मन्त्रे 'यथास्थाम' इत्येकं पदम् । तदिह द्विधा कृत्वा व्याख्यातम् । एकस्यापि पदस्य द्विधा कृत्वा व्याख्याने निरुक्तकारस्य 'पुरुषाद' इत्येकस्य पदस्य 'पुरुषान् अदनाय' (२।६) इति व्याख्यानमेव प्रमाणम् । तथा [illegible] —एकमेव द्विधाकृत्य ······ (२।१११) ।

2. [illegible] 'मृगयति' आदिवत् अनुक्तोऽपि 'धासु' दैवादिको वैदिको धातुर्ज्ञेयः । वेदे [illegible] शब्दानां प्रयोगदर्शनात् । 'धास्युः' इत्यत्र दस्युवद् युच् द्रष्टव्यः ।

3. [illegible] सर्वाभिरित्यर्थः ।

होते रहें। (ब्राह्मणं च) और सदा के लिये ब्रह्म जो वेद है, उसका व्याख्यानसहित विज्ञान तथा आप ही में हमारी निष्ठा बनी रहे। (पुनरग्नयः) तथा सब जगत् के उपकार के अर्थ हम लोग अग्निहोत्रादि यज्ञ को करते रहें। (धिष्ण्या यथास्थाम) हे जगदीश्वर! हम लोग जैसे पूर्वजन्मों मे शुभगुण धारण करनेवाली बुद्धि से उत्तम शरीर और इन्द्रियसहित थे, वैसे ही इस संसार में पुनर्जन्म में भी बुद्धि के साथ मनुष्यदेह के कृत्य करने में समर्थ हों। ये सब शुद्धबुद्धि के साथ (मैतु) मुझको यथावत् प्राप्त हों। (इहैव) जिनसे हम लोग इस संसार में मनुष्यजन्म को धारण करके धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सदा सिद्ध करें, और इस सामग्री से आपकी भक्ति को प्रेम से सदा किया करें। जिसे करके किसी जन्म में हमको कभी दुःख प्राप्त न हों ॥४॥

(आ यो धर्माणि०) जो मनुष्य पूर्वजन्म में धर्माचरण करता है, (ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि) उस धर्माचरण के फल से अनेक उत्तम शरीरों को धारण करता, और अधर्मात्मा मनुष्य नीच शरीर को प्राप्त होता है। (धास्युर्योनिं०) जो पूर्वजन्म में किये हुए पाप पुण्य के फलों को भोग करने के स्वभावयुक्त जीवात्मा है, वह पूर्व शरीर को छोड़के वायु के साथ रहता है, पुनः जल ओषधि वा प्राण आदि में प्रवेश करके वीर्य्य में प्रवेश करता है, तदनन्तर योनि अर्थात् गर्भाशय में स्थिर होके पुनः जन्म लेता है। (यो वाचमनुदिताम्) जो जीव अनुदित वाणी, अर्थात् जैसी ईश्वर ने वेदों में सत्यभाषण करने की आज्ञा दी है वैसा ही (आचिकेत) यथावत् जान के बोलता है, और धर्म ही में (ससाद) यथावत् स्थिर रहता है, वह मनुष्ययोनि में उत्तम शरीर धारण करके अनेक सुखों को भोगता है। और जो अधर्माचरण करता है, वह अनेक नीच शरीर अर्थात् कीट पतङ्ग पशु आदि के शरीर को धारण करके अनेक दुःखों को भोगता है ॥५॥

द्वे सृतीऽअशृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥ ६ ॥

य० अ० १९। मं० ४७॥

मृतश्चाहं[1] पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः।
नाना योनिसहस्राणि मयोषितानि यानि वै ॥ १॥
आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः।
मातरो विविधा दृष्टाः पितरः सुहृदस्तथा ॥ २ ॥
अवाङ्मुखः पीड्यमानो जन्तुश्चैव समन्वितः।
[2][सांख्यं योगं च समभ्यस्ये पुरुषं वा पञ्चविंशकम् ॥]॥७॥

निरु० अ० १३। खं० १९॥[3]

१. निरुक्त में स्वरयुक्त पाठ है, इससे सिद्ध है कि लौकिक भाषा के ग्रन्थ भी पुरा काल में सस्वर थे।

२. अयं कोष्ठान्तर्गतः पाठो नेह पठ्यते। भाषार्थेऽस्य व्याख्यानदर्शनादस्माभिः परिवर्धितः।

३. ग्रन्थकार इह निरुक्तस्य चतुर्दशाध्यायस्य षष्ठखण्डस्थं पाठं यजुर्भाष्ये १।२९ च चतुर्दशस्य द्वादश

भाष्यम्—(द्वे सृती०) अस्मिन् संसारे पापपुण्यफलभोगाय द्वौ मार्गौ स्तः। एकः पितॄणां ज्ञानिनां देवानां विदुषां च, द्वितीयः (मर्त्यानाम्) विद्याविज्ञानरहितानां मनुष्याणाम्। तयोरेकः पितृयानो‡ द्वितीयो देवयानश्‡ चेति[1]। यत्र जीवो मातापितृभ्यां देहं धृत्वा पापपुण्यफले सुखदुःखे पुनः पुनर्भुङ्क्ते, अर्थात् पूर्वापरजन्मानि च धारयति, सा पितृयानाख्या सृतिरस्ति। तथा यत्र मोक्षाख्यं पदं लब्ध्वा जन्ममरणाख्यात् संसाराद् विमुच्यते, सा द्वितीया सृतिर्भवति। तत्र प्रथमायां सृतौ पुण्यसञ्चयफलं भुक्त्वा पुनर्जायते म्रियते च। द्वितीयायां च सृतौ पुनर्न जायते न म्रियते चेति। अहमेवम्भूते द्वे सृती (अशृणवम्) श्रुतवानस्मि। (ताभ्यामिदं विश्वम्) पूर्वोक्ताभ्यां द्वाभ्यां मार्गाभ्यां सर्वं जगत् (एजत् समेति) कम्पमानं गमनागमने समेति सम्यक् प्राप्नोति। (यदन्तरा पितरं मातरं च) यदा जीवः पूर्वं शरीरं त्यक्त्वा वायुजलौषध्यादिषु भ्रमित्वा पितृशरीरं मातृशरीरं वा प्रविश्य पुनर्जन्म प्राप्नोति, तदा स सशरीरो जीवो भवतीति विज्ञेयम् ॥६॥

अत्र 'मृतश्चाहं पुनर्जातः' इत्यादि निरुक्तकारैरपि पुनर्जन्मधारणमुक्तमिति बोध्यम् ॥७॥

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथाऽभिरूढो[2]ऽभिनिवेशः ॥ ८ ॥

पात० अ० १। पा० २। सू० ९॥

पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः ॥ ९ ॥ न्या० अ० १। आ० १। सू० १९॥

भाष्यम्—(स्वरस०) योगशास्त्रे पतञ्जलिमहामुनिना तदुपरि भाष्यकर्त्रा वेदव्यासेन च पुनर्जन्मसद्भावः प्रतिपादितः—

[3][सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीर्नित्या भवति—मा न भूवम्, भूयासमिति। न चाननुभूतमरणधर्मकस्यैषा भवत्यात्माशीः। एतया च पूर्वजन्मानुभवः प्रतीयते। स चायमभिनिवेशः क्लेशः स्वरसवाही कृमेरपि जातमात्रस्य प्रत्यक्षानुमानागमैरसंभावितो मरणत्रास उच्छेददृष्ट्यात्मकः पूर्वजन्मानुभूतं मरणदुःखमनुमापयति]।

या सर्वेषु प्राणिषु जन्मारभ्य मरणत्रासाख्या प्रवृत्तिर्दृश्यते तया पूर्वापरजन्मानि भवन्तीति विज्ञायते। कुतः? जातमात्रकृमिरपि मरणत्रासमनुभवति, तथा विदुषोऽप्यनुभवो भवतीत्यतः।

खण्डस्थं पाठं त्रयोदशाध्याय एवान्तःकृत्य निर्देशं कृतवान्। इत्थमेवानेक आचार्या अपि चतुर्दशमध्यायं त्रयोदशाध्याय एवान्तर्भावयन्ति। अपि च निरुक्त एषु श्लोकेषु अन्यत्र (३।४) च स्वराङ्कनमपि दृश्यते तेन पुराकाले लौकिकोऽपि वाङ्मयः सस्वर आसीदिति विज्ञायते। तथा सत्येव पाणिनेर्भाषायां स्वरविधानमप्युपपद्यते।

१. अत्र व्याख्यान आपाततो विरोधः प्रतीयते। तस्यायं समाधिः—मन्त्रे द्वे सृती इत्युक्तम्, तत्र प्रथमा सृतिः पितॄणां देवानां च द्वितीया मनुष्याणाम्। तत्र प्रथमा सृतिरपि पितृयाणदेवयानभेदेन द्विविधेत्यभिप्रायोऽत्र ज्ञेयः॥

२. 'तथारूढो०' इति पातञ्जलदर्शनपाठः। पूर्वत्र मुक्तिविषयारम्भे 'तथारूढो०' इत्येव पठ्यते (पृ० २१३)।

३. इदं कोष्ठान्तर्गतं व्यासभाष्यं लिपिकृता प्रमादेन त्यक्तमिति प्रतीयते। यतो हि भाषायामस्य भाष्यस्य '(सर्वस्य प्रा०)' '(भूयासमिति०)' 'मा न भूवम्' इति त्रीणि प्रतीकानि निर्दिष्टान्युपलभ्यन्ते।

जीवेनानेकानि शरीराणि धार्य्यन्ते। यदि पूर्वजन्मनि मरणानुभवो न भवेच्चेत् तर्हि तत्संस्कारोऽपि न स्यात्, नैव संस्कारेण विना स्मृतिर्भवति, स्मृत्या विना मरणत्रासः कथं जायेत ? कुतः ? प्राणिमात्रस्य मरणभयदर्शनात् पूर्वापरजन्मानि भवन्तीति वेदितव्यम् ॥८॥

(पुनरु०) तथा महाविदुषा गोतमेनर्षिणा न्यायदर्शने तद्भाष्यकर्त्रा वात्स्यायनेनापि पुनर्जन्मभावो मतः। यत्पूर्वशरीरं त्यक्त्वा पुनर्द्वितीयशरीरधारणं भवति तत्प्रेत्यभावाख्यः पदार्थो भवतीति विज्ञेयम्। प्रेत्यार्थान्मरणं प्राप्य भावोऽर्थात् पुनर्जन्म धृत्वा जीवो देहवान् भवतीत्यर्थः ॥९॥

भाषार्थ—[1](द्वेसृती) इस संसार में पाप और पुण्य के फलभोग के लिये दो मार्ग हैं। एक—पितृ अर्थात् ज्ञानियों, देवों अर्थात् विद्वानों का, दूसरा—विद्या-विज्ञानरहित मनुष्यों का। उनमें एक पितृयान है, दूसरा देवयान[2]। जिसमें माता-पिता के संयोग से देह को धारण करके, पाप-पुण्य और सुख-दुःख को पुनः पुनः भोगता है अर्थात् पूर्वापर जन्मों को धारण करता है, वह पितृयान कहाता है। तथा जिसमें मोक्षपद को प्राप्त करके जन्ममरणरूप संसार से मुक्त हो जाता है, वह दूसरा [देवयान] मार्ग कहाता है। उनमें से प्रथम मार्ग में पुण्य संचय फल को भोगकर पुनः जन्म लेता है और मरता है। दूसरे [देवयान] मार्ग में न पुनः जन्म लेता है और न मरता है। इस प्रकार के दो मार्ग (अशृणवम्) मैंने सुने हैं। (ताभ्यामिदं विश्वम्) पूर्वोक्त दोनों मार्गों से सम्पूर्ण जगत् (एजत् समेति) कम्पमान=चल जगत् नियमित रूप से गति करता है। (यदन्तरा पितरं मातरं च) जब जीव पूर्वशरीर को छोड़कर वायु जल ओषधि आदि में भ्रमण करके पिता व माता के शरीर मे प्रविष्ट होकर पुनर्जन्म पाता है तब वह जीव शरीर सहित होता है, ऐसा जानना चाहिये ॥६॥

जैसा वेदों में पूर्वापरजन्म के धारण करने का विधान किया है, वैसा ही निरुक्तकार ने भी प्रतिपादन किया है—

जब मनुष्य को ज्ञान होता है तब वह ठीक-ठीक जानता है कि—(मृतश्चाहं पु०) मैंने अनेक बार जन्ममरण को प्राप्त होकर नाना प्रकार के हजारह गर्भाशयों का सेवन किया ॥१॥ (आहारा

१. वै० य० मुद्रित भाषार्थ संस्कृत भाष्य से सर्वथा विपरीत है। अतः हमने संस्कृतभाष्य के अनुसार यह भाषार्थ लिखा है। वै० य० मुद्रित भाषार्थ इस प्रकार है—(द्वे सृती) इस संसार में हम दो प्रकार के जन्मों को (अशृणवम०) सुनते हैं। एक मनुष्य शरीर का धारण करना और दूसरा नीच गति से पशु, पक्षी, कीट पतङ्ग, वृक्ष आदि का होना। इसमें मनुष्यशरीर के तीन भेद हैं—एक पितृ, अर्थात् ज्ञानी होना, दूसरा देव अर्थात् सब विद्याओं को पढ़के विद्वान् होना, तीसरा मर्त्य अर्थात् साधारण मनुष्यशरीर का धारण करना। इनमें प्रथम गति अर्थात् मनुष्यशरीर पुण्यात्माओं और पुण्यपाप तुल्य वालों को होता है, और दूसरा जो जीव अधिक पाप करते हैं उनके लिये है। (ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति) इन्हीं भेदों से सब जगत् के जीव अपने-अपने पुण्य और पापों के फल भोग रहे हैं। (यदन्तरा पितरं मातरं च) जीवों को माता और पिता के शरीर में प्रवेश करके जन्मधारण करना, पुनः शरीर का छोड़ना, फिर जन्म को प्राप्त होना, बारंबार होता है ॥

२. यहां कुछ विरोध सा प्रतीत होता है। उसका समाधान यह है कि मन्त्र में दो मार्ग कहे गये हैं। एक पितरों और देवों का, दूसरा मनुष्यों का। प्रथममार्ग भी पितृयाण और देवयान भेद से दो प्रकार का है यह यहां दर्शाया है।

वि०) अनेक प्रकार के भोजन किये, अनेक माताओं के स्तन का दुग्ध पिया, अनेक माता-पिता और सुहृदों को देखा [है] ।।२।। (अवाङ्मुख:) मैंने गर्भ में नीचे मुख ऊपर पग इत्यादि नाना प्रकार की पीड़ाओं से युक्त होके अनेक जन्म धारण किये। [1]परन्तु अब इन महादुःखों से तभी छूटूंगा कि जब परमेश्वर में पूर्ण प्रेम और उसकी आज्ञा का पालन करूंगा, नहीं तो इस जन्ममरण रूप दुःखसागर के पार जाना कभी नहीं हो सकता [३] ।।७।।

तथा योगशास्त्र में भी पुनर्जन्म का विधान किया है—(स्वरस०)। (सर्वस्य प्रा०[2]) हर-एक प्राणियों की यह इच्छा नित्य देखने में आती है कि (भूयासमिती०[2]) अर्थात् मैं सदैव सुखी बना रहूं, मरूं नहीं। यह इच्छा कोई भी नहीं करता कि (मा न भूवं०[2]) अर्थात् मैं न होऊं। ऐसी इच्छा पूर्वजन्म के अभाव से कभी नहीं हो सकती। यह 'अभिनिवेश' क्लेश कहलाता है, जो कि कृमिपर्य्यन्त को भी मरण का भय बराबर होता है। यह व्यवहार पूर्वजन्म की सिद्धि को जनाता है ।।८।।

तथा न्यायदर्शन के (पुनरु०) सूत्र, और उसी के वात्स्यायन भाष्य में भी कहा है कि—जो उत्पन्न अर्थात् किसी शरीर को धारण करता है, वह मरण अर्थात् शरीर को छोड़के, पुनरुत्पन्न दूसरे शरीर को भी अवश्य प्राप्त होता है। इस प्रकार मरके पुनर्जन्म लेने को 'प्रेत्यभाव' कहते हैं ।।९।।

अत्र केचिदेकजन्मवादिनो वदन्ति–यदि पूर्वजन्मासीत् तर्हि तत्स्मरणं कुतो न भवतीति ?

अत्र ब्रूम:—भो, ! ज्ञाननेत्रमुद्घाट्य द्रष्टव्यम्, अस्मिन्नेव शरीरे जन्मतः पञ्चवर्षपर्य्यन्तं यद्यत्सुखं दुःखं च भवति, यच्च जागरितावस्थास्थानां सर्वव्यवहाराणां [3]सुषुप्त्यवस्थायां च तदनुभूतस्मरणं न भवति, पूर्वजन्मवृत्तस्मरणस्य तु का कथा !

(प्रश्न:) यदि पूर्वजन्मकृतयोः पापपुण्ययोः सुखदुःखफले ह्यीश्वरोऽस्मिन् जन्मनि ददाति, तयोश्चास्माकं साक्षात्काराभावात् सोऽन्यायकारी भवति, नातोऽस्माकं शुद्धिश्चेति ?

अत्र ब्रूम:—द्विविधं ज्ञानं भवत्येकं प्रत्यक्षं द्वितीयमानुमानिकं च। यथा कस्यचिद् वैद्यस्यावैद्यस्य च शरीरे ज्वरावेशो भवेत्, तत्र खलु वैद्यस्तु विद्यया कार्य्यकारणसङ्गत्यनुमानतो ज्वरनिदानं जानाति नापरश्च, परन्तु वैद्यकविद्यारहितोऽपि ज्वरस्य प्रत्यक्षत्वात् किमपि मया कुपथ्यं पूर्वं

---

१. यहां से आगे का भावार्थ निरुक्त के 'साङ्ख्यं योगं च समभ्यस्ये पुरुषं वा पञ्चविंशकम्' इस अनुद्धृत उत्तरार्ध का है।

२. योगशास्त्र व्यासभाष्य पा० २। सू० ९ की ये प्रतीकें हैं। इससे प्रतीत होता है कि संस्कृत भाग में व्यासभाष्य लिखना छूट गया है।

३. अत्र कथंचित् पाठो भ्रष्ट इति प्रतीयते वाक्यार्थस्याप्रतीतेः। अस्मन्मतानुसारं त्विहेत्थं पाठेन भाव्यम्—'यच्च जागरितावस्थानां सर्वव्यवहाराणां कालान्तरे सुषुप्त्यवस्थायां च तदनुभूतस्मरणं न भवति'।

[illegible]
पापपुण्याभ्यां न कस्मैचित् सुखं दुःखं च दातुं शक्नोति । संसारे नीचोच्चसुखिदुःखिदर्शनाद् विज्ञायते पूर्वजन्मकृते पापपुण्ये बभूवतुरिति ।

अत्रैकजन्मवादिनामन्येऽपीदृशाः प्रश्नाः सन्ति, तेषां विचारेणोत्तराणि देयानि । किञ्च, न बुद्धिमतः प्रत्यखिललेखनं योग्यं भवति, ते ह्यु द्देश्यमात्रेणाधिकं जानन्ति । ग्रन्थोऽपि भूयान्न भवेदिति मत्वाऽत्राधिकं नोल्लख्यते ।

भावार्थ—इसमें अनेक मनुष्य ऐसा प्रश्न करते हैं कि जो पुनर्जन्म होता है, तो हमको उसका ज्ञान इस जन्म में क्यों नहीं होता ?

उत्तर—आंख खोल के देखो कि जब इसी जन्म में जो-जो सुख-दुःख तुमने बाल्यावस्था में अर्थात् जन्म से पांच वर्ष पर्य्यन्त पाये हैं, उनका ज्ञान नहीं रहता, अथवा जो कि नित्य पठन-पाठन और व्यवहार करते हैं, उनमें से भी कितनी ही बातें भूल जाते हैं, तथा निद्रा में भी यही हाल हो जाता है कि अब के किये का भी ज्ञान नहीं रहता । जब इसी जन्म के व्यवहारों को इसी शरीर में भूल जाते हैं, तो पूर्व शरीर के व्यवहारों का कब ज्ञान रह सकता है ?

तथा ऐसा भी प्रश्न करते हैं कि जब हमको पूर्वजन्म के पाप-पुण्य का ज्ञान नहीं होता, और ईश्वर उनका फल सुख वा दुःख देता है, इससे ईश्वर का न्याय वा जीवों का सुधार कभी नहीं हो सकता ।

(उत्तर) ज्ञान दो प्रकार का होता है—एक प्रत्यक्ष, दूसरा अनुमानादि से । जैसे एक वैद्य और दूसरा अवैद्य, इन दोनों को ज्वर आने से वैद्य तो इसका पूर्ण निदान जान लेता है, और दूसरा नहीं जान सकता । परन्तु उस पूर्व कुपथ्य का कार्य जो ज्वर है, वह दोनों को प्रत्यक्ष होने से वे जान लेते हैं कि किसी कुपथ्य से ही यह ज्वर हुआ है, अन्यथा नहीं । इसमें इतना विशेष है कि विद्वान् ठीक-ठीक रोग के कारण और कार्य्य को निश्चय करके जानता है, और वह अविद्वान् कार्य्य को तो ठीक-ठीक जानता है, परन्तु कारण में उसको यथावत् निश्चय नहीं होता । वैसे ही ईश्वर न्यायकारी होने से किसी को विना कारण से सुख वा दुःख कभी नहीं देता । जब हमको पुण्य-पाप का कार्य्य सुख और दुःख प्रत्यक्ष है, तब हमको ठीक निश्चय होता है कि पूर्वजन्म के पाप पुण्यों के विना उत्तम मध्यम और नीच शरीर तथा बुद्ध्यादि पदार्थ कभी नहीं मिल सकते । इससे हम लोग निश्चय करके जानते हैं कि ईश्वर का न्याय और हमारा सुधार ये दोनों काम यथावत् बनते हैं ।

इत्यादि प्रश्नोत्तर बुद्धिमान् लोग अपने विचार से यथावत् जान लेवें । मैं यहां इस विषय के बढ़ाने की आवश्यकता नहीं देखता ।[1]

॥ इति पुनर्जन्मविषयः संक्षेपतः ॥

---

१. ऋषि दयानन्द ने सं० १९३२ में पूना में 'जन्मविषयक' जो प्रवचन किया था, वह देखने योग्य है । उसमें कई बातें विस्तार से लिखी हैं । द्र० 'पूनाप्रवचन' अथवा 'उपदेशमञ्जरी' नाम से संगृहीत व्याख्यान ।

अथ विवाहविषयः संक्षेपतः

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः ।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ॥ १ ॥

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।
क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥ २ ॥

ऋ० अ० ८ । अ० ३ । व० २७, २८ । मं० १,२ ॥[1]

भाष्यम्—अनयोरभिप्रायः—अत्र विवाहविधानं क्रियत इति ।

हे कुमारि युवते कन्ये ! (सौभगत्वाय) सन्तानोत्पत्त्यादिप्रयोजनसिद्धये (ते हस्तम्) तव हस्तं (गृभ्णामि) गृह्णामि, त्वया सहाहं विवाहं करोमि, त्वं च मया सह । हे स्त्रि ! यथा येन प्रकारेण (मया पत्या) सह (जरदष्टिः असः) जरावस्थां प्राप्नुयास्तथैव त्वया स्त्रिया सह जरदष्टिरहं भवेयं वृद्धावस्थां प्राप्नुयाम् । एवमावां सम्प्रीत्या परस्परं धर्ममानन्दं [2]कुर्य्याविहि ! (भगः) सकलैश्वर्य्यसम्पन्नः (अर्य्यमा) न्यायव्यवस्थाकर्त्ता (सविता) सर्वजगदुत्पादकः (पुरन्धिः) सर्वजगद्धारकः परमेश्वरः (मह्यं [त्वादुः] गार्हपत्याय) गृहकार्य्याय त्वां मह्यं दत्तवान् । तथा (देवाः) अत्र सर्वे विद्वांसः साक्षिणः सन्ति । यद्यावां प्रतिज्ञोल्लङ्घनं [2]कुर्य्याविहि तर्हि परमेश्वरदण्ड्यौ विद्वद्दण्ड्यौ च भवेवेति ॥१॥

विवाहं कृत्वा परस्परं स्त्रीपुरुषौ कीदृशवर्त्तमानौ भवेताम् एतदर्थमीश्वर आज्ञां ददाति—(इहैव स्तम्) हे [3]स्त्रीपुरुषौ! युवां द्वाविहास्मिल्लोके गृहाश्रमे सुखेनैव सदा[4] स्तं[5] निवासं कुर्याताम् [6]तथा (मा वियौष्टम्) कदाचिद्विरोधेन देशान्तरगमनेन वा वियुक्तौ वियोगं प्राप्तौ मा भवेताम् ।

---

१. ऋ० १० । ८५ । ३६,३७ ॥

२. द्रष्टव्यम्—पञ्चमहायज्ञविधौ (सं० १-८) 'सायंसायं' मन्त्रव्याख्याने 'कुर्यावहि' पदम् ।

३. वै० य० मुद्रिते नवमसंस्करणे 'स्त्री' शब्दः प्रमादेन त्यक्तः ।

४. द्रष्टव्या अत्र १३१ पृष्ठस्था टिप्पणी ५ ।

५. अत्र 'स्तं' इत्येव युक्तः पाठः । तस्यैव 'निवासं कुर्याताम्' इत्यर्थः । वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'वसतम्' इति मन्त्रपदमिव कोष्ठे पठ्यते, न चैतन्मन्त्रपदमिति ।

६. वै० य० मुद्रितेषु '(मा वियौष्टम्) तथा' इतिपूर्वापरपाठो दृश्यते ।

एवं मदाशीर्वादेन धर्मं कुर्वाणौ सर्वोपकारिणौ मद्भक्तिमाचरन्तौ (विश्वमायुर्व्यश्नुतम्) विविध-सुखरूपमायुः प्राप्नुतम्। पुनः (स्वे गृहे०) स्वकीये गृहे पुत्रैर्नप्तृभिश्च सह मोदमानौ सर्वानन्दं प्राप्नुवन्तौ (क्रीडन्तौ) सद्धर्मक्रियां कुर्वन्तौ सदैव भवतम् ॥२॥

इत्यनेनाप्येकस्याः स्त्रिया एक एव पतिर्भवत्वेकस्य पुरुषस्यैकैव स्त्री चेति। अर्थादनेकस्त्रीभिः सह विवाहनिषेधो नरस्य, तथाऽनेकैः पुरुषैः सहैकस्याः स्त्रियाश्चेति, सर्वेषु वेदमन्त्रेषु [1]द्विवचनस्यैव निर्देशात्। एवं विवाहविधायका वेदेऽनेके मन्त्राः सन्तीति विज्ञेयम्।

भाषार्थ—(गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं०) हे स्त्री[2]! मैं सौभाग्य अर्थात् गृहाश्रम में सुख के लिये तेरा हस्त ग्रहण करता हूं और इस बात की प्रतिज्ञा करता हूं कि जो काम तुझको अप्रिय होगा उसको मैं कभी नहीं करूंगा। ऐसे ही स्त्री भी पुरुष से कहे कि जो व्यवहार आपको अप्रिय होगा, उसको मैं भी न करूंगी। और हम दोनों व्यभिचारादि दोषरहित होके वृद्धावस्थापर्य्यन्त परस्पर आनन्द के व्यवहारों को करेंगे। हमारी इस प्रतिज्ञा को सब लोग सत्य जानें कि इससे उलटा काम कभी न किया जायगा। (भगः) जो ऐश्वर्यवान् (अर्यमा) सब जीवों के पाप पुण्य के फलों को यथावत् देनेवाला (सविता) सब जगत् का उत्पन्न करने और सब ऐश्वर्य का देनेवाला तथा (पुरन्धिः) सब जगत् का धारण करनेवाला परमेश्वर है, वही हमारे दोनों के बीच में साक्षी है। तथा (मह्यं त्वा) परमेश्वर और विद्वानों ने मुझको तेरे लिये और तुझको मेरे लिये दिया है, कि हम दोनों परस्पर प्रीति करेंगे, तथा उद्योगी होकर घर का काम अच्छी तरह से करेंगे, और मिथ्याभाषणादि से बचकर सदा धर्म ही में वर्तेंगे। सब जगत् का उपकार करने के लिये सत्य विद्या का प्रचार करेंगे और धर्म से पुत्रों को उत्पन्न करके उनको सुशिक्षित करेंगे, इत्यादि प्रतिज्ञा हम ईश्वर की साक्षी से करते हैं कि इन नियमों का ठीक-ठीक पालन करेंगे। दूसरी स्त्री और दूसरे पुरुष से मन से भी व्यभिचार न करेंगे। (देवाः) हे विद्वान् लोगों! तुम भी हमारे साक्षी रहो कि हम दोनों गृहाश्रम के लिये विवाह करते हैं। फिर स्त्री कहे कि मैं इस पति को छोड़के मन, वचन और कर्म से भी दूसरे पुरुष को पति न मानूंगी, तथा पुरुष भी प्रतिज्ञा करे कि मैं इसके सिवाय दूसरी स्त्री को अपने मन, कर्म और वचन से कभी न चाहूंगा ॥१॥

(इहैव स्तम्) विवाहित स्त्री पुरुषों के लिये परमेश्वर की आज्ञा है कि तुम दोनों गृहाश्रम के शुभ व्यवहारों में रहो। (मा वियौष्टम्) अर्थात् विरोध करके अलग कभी मत होवो, और व्यभिचार भी किसी प्रकार का मत करो। ऋतुगामित्व से सन्तानों की उत्पत्ति, उनका पालन और सुशिक्षा, गर्भस्थिति के पीछे एक वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य और लड़कों को प्रसूता स्त्री का दुग्ध बहुत दिन न पिलाना, इत्यादि श्रेष्ठ व्यवहारों से (विश्वमा०) सौ १०० वा १२५ वर्ष पर्यन्त आयु को

---

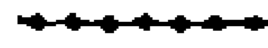
१. वै० य० मुद्रितेषु 'वेदमन्त्रेष्वेकवचनस्यैव' इत्यपपाठः। मन्त्रेषु सर्वत्र द्विवचनस्यैव दर्शनात् नियोग-विषये (द्र० पृष्ठ २४९) 'द्विवचनोच्चारणेन चैकस्य......' पाठ दर्शनाच्च।

२. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'स्त्रि' पाठ है। सर्वत्र एकरूपता के लिये 'स्त्री' बनाया है।

सुख से भोगो। (क्रीडन्तौ०) अपने घर में आनन्दित होके पुत्र और पौत्रों के साथ नित्य धर्मपूर्वक क्रीड़ा करो। इससे विपरीत व्यवहार कभी न करो और सदा मेरी आज्ञा में वर्त्तमान रहो ॥२॥

इत्यादि विवाहविधायक वेदों में बहुत मन्त्र हैं। उनमें से कई एक मन्त्र संस्कारविधि[1] में भी लिखे हैं, वहां देख लेना।

इति विवाहविषयः संक्षेपतः



१. ऋषि दयानन्द ने संस्कारविधि का प्रथम संस्करण सं० १९३२ में प्रकाशित किया था और पुनः संशोधित संस्करण सं० १९४० में प्रेस में भेजा था। अतः यह संकेत संस्कारविधि के प्रथम संस्करण की ओर है, न कि द्वितीयवार संशोधित प्रामाणिक माने जानेवाले संस्करण की ओर। द्वितीय सं० में भी इस विषय के अनेक मन्त्रों का व्याख्यान किया है। अतः उक्त संकेत में मौलिक भेद नहीं रहता है।

अथ नियोगविषयः संक्षेपतः

कुह स्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः ।
को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ ॥ १ ॥

ऋ० अ० ७ । अ० ८ । व० १८ । मं० २ ॥[1]

इयं नारी पतिलोकं वृणाना नि पद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम् ।
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि ॥ २ ॥

अथर्व० कां० १८ । अनु० ३ । व० ३ । मं० १ ॥[2]

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि ।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ ॥ ३ ॥

ऋ० मं० १० । सू० १८ । मं० ८ ॥[3]

भाष्यम्—एषामभिप्रायः—अत्र विधवाविस्त्रीकनियोगव्यवस्था विधीयत इति ।

(कुहस्विद्दोषा०) हे विवाहितौ स्त्रीपुरुषौ ! युवां (कुह) कस्मिन् स्थाने (दोषा) रात्रौ वसथः (कुह वस्तोः[4] अश्विना) दिवसे च क्व वासं कुरुथः (कुहाभि०) क्वाभिपित्वं प्राप्तिं (करतः) कुरुथः[5] । (कुहोषतुः) क्व युवयोर्निजस्थानवासोऽस्ति[6] । (को वां शयुत्रा) शयनस्थानं युवयोः क्वास्ति इति । स्त्रीपुरुषौ प्रति प्रश्नेन[7] द्विवचनोच्चारणेन चैकस्य पुरुषस्यैकैव स्त्री कर्तुं योग्यास्ति, तथैकस्याः स्त्रिया एक एव पुरुषश्च । तयोः परस्परं सर्वदा प्रीतिर्भवेन्न कदाचिद् वियोगव्यभिचारौ भवेतामिति द्योत्यते । (विधवेव देवरम्) कं केव ? यथा देवरं द्वितीयं वरं नियोगेन प्राप्तं विधवा इव । अत्र प्रमाणम्—

---

१. ऋ० १० । ४० । २ ॥ २. अथर्व १८ । ३ । १ ॥

३. इह मण्डलक्रमनिर्देशाद् मण्डलसूक्तविभागोऽपि ग्रन्थकृदनुमत इति ज्ञेयम् ।

४. वै० य० मुद्रितेषु '(दोषा) रात्रौ (वस्तोः) वसथः (कुह अश्विना) दिवसे' इत्यस्थाने दिवसवाचिनः 'वस्तोः' पदस्य लेखकप्रमादजः पाठ उपलभ्यते

५. वै० य० मुद्रितेषु 'कुरुतः' इत्यपपाठः, पूर्वत्र 'वसथः' 'कुरुथः' इत्युभयत्र मध्यमपुरुषश्रवणात् ।

६. वासस्य स्थानं स्थानवासम्, राजदन्तादित्वात् (२।२।३१) परनिपातो द्रष्टव्यः, तस्याकृतिगणत्वात् । निजश्चासौ स्थानवासश्च निजस्थानवासः ।

७. 'प्रश्ने' इति सुकरः पाठः ।

देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते ॥ निरु० अ०३। खं० १५॥

विधवाया द्वितीयपुरुषेण सह नियोगकरणे आज्ञास्ति, तथा पुरुषस्य च विधवया सह। विधवा स्त्री मृतकस्त्रीकपुरुषेण सहैव सन्तानार्थं नियोगं कुर्यान्न कुमारेण सह, तथा कुमारस्य विधवया सह च[1]। अर्थात् कुमारयोः स्त्रीपुरुषयोरेकवारमेव विवाहः स्यात् पुनरेवं नियोगश्च। नैव द्वितीयवारं विवाहो विधीयते। पुनर्विवाहस्तु खलु शूद्रवर्ण एव विधीयते, तस्य विद्याव्यवहाररहितत्वात्। नियोजितौ स्त्रीपुरुषौ कथं परस्परं वर्त्तेतामित्यत्राह—

(मर्यं न योषा) यथा विवाहितं मनुष्यं (सधस्थे)समानस्थाने सन्तानार्थं योषा विवाहिता स्त्री (कृणुते) आकृणुते, तथैव विधवा विगतस्त्रीकश्च सन्तानोत्पत्तिकरणार्थं परस्परं नियोगं कृत्वा विवाहितस्त्रीपुरुषवद् वर्त्तेयाताम्॥

(इयं नारी) इयं विधवा नारी (प्रेतम्) मृतं पतिं विहाय (पतिलोकं) पतिसुखं (वृणाना) स्वीकर्तुमिच्छन्ती सती (मर्त्यम्) हे मनुष्य ! (त्वा०) त्वामुपनिद्यते, त्वां पतिं प्राप्नोति, तव समीपं नियोगविधानेनागच्छति, तां त्वं गृहाणास्यां सन्तानान्युत्पादय। कथम्भूता सा ? (धर्मं पुराणं०) वेदप्रतिपाद्यं सनातनं धर्ममनुपालयन्ती सती त्वां नियोगेन पतिं वृणुते, त्वमपीमां वृणु। (तस्यै) विधवायै (इह) अस्मिन् समये लोके वा (प्रजां धेहि) त्वमस्यां प्रजोत्पत्तिं कुरु,(द्रविणम्) द्रव्यं वीर्यं (च) अस्यां धेहि अर्थाद् गर्भाधानं कुरु ॥२॥

(उदीर्ष्व ना०) हे विधवे नारि ! (एतं गतासुम्) गतप्राणं मृतं विवाहितं पतिं त्यक्त्वा (अभिजीवलोकम्) जीवन्तं देवरं द्वितीयवरं पतिं (एहि) प्राप्नुहि (उपशेषे) तस्यैवोपशेषे सन्तानोत्पादनाय वर्त्तस्व। तत्सन्तानं (हस्तग्राभस्य) विवाहे संगृहीतहस्तस्य पत्युः स्यात्। यदि नियुक्तपत्यर्थो नियोगः कृतस्तर्हि (दिधिषोः) तस्यैव सन्तानं भवति। (तवेदम्) इदमेव विधवायास्तव (जनित्वम्) सन्तानं भवति। हे विधवे ! विगतविवाहितस्त्रीकस्य पत्युश्चैतन्नियोगकरणार्थं त्वं (उदीर्ष्व) विवाहितपतिमरणानन्तरमिमं नियोगमिच्छ। तथा (अभिसंबभूथ) सन्तानोत्पत्तिं कृत्वा सुखसंयुक्ता भव ॥३॥

भावार्थ—'नियोग' उसको कहते हैं जिससे विधवा स्त्री और जिस पुरुष की स्त्री मर गई हो वह पुरुष ये दोनों परस्पर नियोग करके सन्तानों को उत्पन्न करते हैं। नियोग करने में ऐसा नियम है कि जिस स्त्री का पुरुष वा किसी पुरुष की स्त्री मर जाय, [2]अथवा उन में किसी प्रकार को स्थिर रोग हो जाय, वा नपुंसक वा वन्ध्यादोष पड़ जाय, और उनकी युवावस्था हो, तथा सन्तानोत्पत्ति की इच्छा हो, तो उस अवस्था में उनका नियोग होना अवश्य चाहिये। इसका नियम आगे लिखते हैं—

(कुहस्वित्०) अर्थात् तुम दोनों विवाहित स्त्री पुरुषों ने (दोषा) रात्रि में कहां निवास

१. नियोगो मा भवत्विति शेषः। यद्वा 'तथा कुमारो विधवया सह च' इत्येवं पाठो ज्ञेयः।

२. यहां से आगे का अंश संस्कृत पाठ में नहीं है, पुनरपि ग्रन्थकारकृत सत्यार्थप्रकाश (समु० ४, पृष्ठ १७२-१७३,१७५ आदि रालाकट्रसं०) में ऐसा उल्लेख मिलता है, अतः प्रामाणिक है।

किया था ? (कुह वस्तोरश्विना) तथा दिन में कहां बसे थे ? (कुहाभिपित्वं करतः) तुमने अन्न वस्त्र धन आदि की प्राप्ति कहां की थी ? (कुहोषतुः) तुम्हारा निवासस्थान कहां है ? (को वां शयुत्रा) रात्रि में तुम कहां शयन करते हो ?

वेदों में पुरुष और स्त्री के विवाहविषयक प्रश्न में द्विवचन के ही प्रयोग[1] करने से यह निश्चित हुआ कि वेद की रीति से एक पुरुष के लिये एक ही स्त्री और एक स्त्री के लिये एक ही पुरुष होना चाहिये, अधिक नही । और न कभी इन द्विजों का पुनर्विवाह वा वियोग होना चाहिये ।

(विधवेव देवरम्) जैसे विधवा स्त्री देवर के साथ सन्तानोत्पत्ति करती है, वैसे तुम भी करो । विधवा का जो दूसरा पति होता है, उसको 'देवर' कहते हैं । इसमें[2] यह नियम होना चाहिये कि द्विजों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों में दो-दो सन्तानों के लिये नियोग होना और शूद्रकुल में पुनर्विवाह मरणपर्य्यन्त के लिये होना चाहिये । [3]परन्तु माता, गुरुपत्नी, भगिनी, कन्या पुत्रवधू आदि के साथ नियोग करने का सर्वथा निषेध है । यह नियोग शिष्ट पुरुषों की सम्मति और दोनों की प्रसन्नता से हो सकता है । जब दूसरा गर्भ रहे तब नियोग छूट जाय, और जो कोई इस नियम को तोड़े उसको द्विजकुल में से अलग करके शूद्रकुल में रख दिया जाय ।।१।।

(इयं नारी पतिलोकं०) जो विधवा नारी पतिलोक अर्थात् पतिसुख की इच्छा करके नियोग किया चाहे, तो (प्रेतम्) अर्थात् वह पति मर जाने के अनन्तर दूसरे पति को प्राप्त हो । (उप त्वा मर्त्य) इस मन्त्र में स्त्री और पुरुष को परमेश्वर आज्ञा देता है, कि हे पुरुष ! (धर्मं पुराणमनुपालयन्ती) जो इस सनातन नियोग धर्म की रक्षा करनेवाली स्त्री है, उसके सन्तानोत्पत्ति के लिये (तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि) धर्म से वीर्य्यदान कर, जिससे वह प्रजा से युक्त होके आनन्द में रहे । तथा स्त्री के लिये भी आज्ञा है कि जब किसी पुरुष की स्त्री मर जाय और वह सन्तानोत्पत्ति किया चाहे, तब स्त्री भी उस पुरुष के साथ नियोग करके उसको प्रजायुक्त कर दे । इसलिये मैं आज्ञा देता हूं कि तुम मन, कर्म और शरीर से व्यभिचार कभी मत करो, किन्तु धर्मपूर्वक विवाह और नियोग से सन्तानोत्पत्ति करते रहो ।।२।।

(उदीर्ष्व नारि) हे स्त्री ! अपने मृतक पति को छोड़के (अभि जीवलोकम्) इस जीवलोक में (एतमुपशेष एहि) जो तेरी इच्छा हो तो दूसरे पुरुष के साथ नियोग करके सन्तानों को प्राप्त हो । नहीं तो ब्रह्मचर्याश्रम में स्थिर होकर कन्या और स्त्रियों को पढ़ाया कर । और जो नियोगधर्म में स्थित हो, [4]तो जब तक मरण न हो तब तक ईश्वर का ध्यान और सत्य धर्म के अनुष्ठान में प्रवृत्त होकर (हस्तग्राभस्य दिधिषोः) जो कि तेरा हस्तग्रहण करनेवाला दूसरा पति है, उसकी सेवा किया कर, वह तेरी सेवा किया करे[4] । और उसका नाम 'दिधिषु' है । (तवेदम्) वह तेरे

१. वै० य० मुद्रित में 'विवाह विषय में एक ही वचन के प्रयोग' पाठ है । वह संस्कृत से विपरीत है । मन्त्रपाठ में द्विवचन का ही निर्देश होने से मन्त्रपाठ से भी विपरीत है । २. मूलपाठ 'इससे' ।

३. यहां से अगले पाठ का मूल संस्कृत में नहीं है, तथापि मनुस्मृति ९ । ६४ में इस विषय का संकेत होने से प्रामाणिक है । ४. 'तो जब⋯किया करे' यह भाषा पाठ ग्रन्थकार के अभिप्राय और संस्कृत पाठ के अनुकूल नहीं है । नियुक्त स्त्री पुरुषों का सम्बन्ध यावज्जीवन नहीं रहता है ।

सन्तान की उत्पत्ति करनेवाला हो, और जो तेरे लिये नियोग किया गया हो तो वह तेरा सन्तान हो। (पत्युर्जनित्वम०) और जो नियुक्त पति के लिये नियोग हुआ हो, तो वह सन्तान पुरुष का हो। इस प्रकार नियोग से अपने-अपने सन्तानों को उत्पन्न करके दोनों सदा सुखी रहो ॥३॥

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु ।
दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि ॥ ४ ॥
सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः ।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥ ५ ॥

ऋ० अष्ट० ८ । अ० ३ । व० २८,२७ । मं० ५,५ ॥[1]

अदेवृघ्न्यपतिघ्नीहैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः ।
प्रजावती वीरसूर्देवृकामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य ॥ ६ ॥

अथर्व० कां० १४ । अनु २ । मं० १८ ॥[2]

भाष्यम्—इदानीं नियोगस्य सन्तानोत्पत्तेश्च परिगणनं क्रियते—कति वारं नियोगः कर्त्तव्यः, कियन्ति सन्तानानि चोत्पाद्यानीति । तद्यथा (इमां त्वमिन्द्र०) हे इन्द्र विवाहितपते ! (मीढ्वः) हे वीर्य्यदानकर्त्तस्त्वमिमां विवाहितस्त्रियं वीर्य्यसेकेन गर्भयुक्तां कुरु । तां (सुपुत्राम्) श्रेष्ठपुत्रवतीं (सुभगाम्) अनुत्तमसुखयुक्तां (कृणु) कुरु । (दशास्यां०) अस्यां विवाहितस्त्रियां दश पुत्रानाधेहि उत्पादय, नातोऽधिकमिति । ईश्वरेण दशसन्तानोत्पादनस्यैवाज्ञा पुरुषाय दत्तेति विज्ञेयम् । तथा (पतिमेकादशं कृधि) हे स्त्रि ! त्वं विवाहितपतिं गृहीत्वैकादशपतिपर्य्यन्तं नियोगं कुरु । अर्थात् कस्याञ्चिदापत्कालावस्थायां[3] प्राप्तायामेकैकस्याभावे सन्तानोत्पत्त्यर्थं दशमपुरुषपर्य्यन्तं नियोगं कुर्य्यात् । तथा पुरुषोऽपि विवाहितस्त्रियां मृतायां सत्यां सन्तानाभावे एकैकस्या अभावे दशम्या विधवया सह नियोगं करोत्विति, इच्छा नास्ति चेन्मा कुरुताम् ॥४॥

अथोत्तरोत्तरं पतीनां संज्ञां विधीयते— (सोमः प्रथमः०) हे स्त्रि ! यस्त्वां प्रथमं[4] (विविदे) विवाहितः पतिः प्राप्नोति स सौकुमार्य्यादिगुणयुक्तत्वात् सोमसंज्ञो भवति । (गन्धर्वो वि०) यस्तु उत्तरो द्वितीयो नियुक्तः पतिर्विधवां त्वां विविदे प्राप्नोति स गन्धर्वसंज्ञां लभते । कुतः ? तस्य भोगाभिज्ञत्वात् । (तृतीयो अ०) येन सह त्वं तृतीयवारं नियोगं करोषि सोऽग्निसंज्ञो जायते । कुतः ? द्वाभ्यां पुरुषाभ्यां [5]भुक्तभोगया त्वया सह नियुक्तत्वादग्निदाहवत्तस्य शरीरस्थधातवो

१. अत्र द्वयोर्वर्गयोर्मन्त्रयोश्च सह संख्यानिर्देशः कृतः । तत्र 'वर्ग २८, मं० ५; वर्ग २७, मं० ५' इत्येवं यथाक्रमं सम्बन्धो ज्ञेयः । ऋ० १०।८५।४४,४०॥

२. अथर्व० १४ । २ । १८ ॥

३. अर्थात् सन्तानाभावे, तदिच्छायाम्, उत्तरवाक्ये तथैव दर्शनात् ।

४. क्रियाविशेषणमेतत् । यदा पतेर्विशेषणं तदा 'प्रथमः' इत्येवं पाठेन भाव्यम् ।

५. अत्र पाठभ्रंशः प्रतीयते । पूर्वत्र सोमगन्धर्वनाम्नी पुरुषगुणापेक्षयोक्ते । इह तृतीयाऽग्निसंज्ञा स्त्रीधर्मा-

वहन्त इत्यतः। (तुरीयस्ते मनुष्यजाः) हे स्त्रि ! चतुर्थमारभ्य दशमपर्य्यन्तास्तव पतयः साधारणबलवीर्यत्वान्मनुष्यसंज्ञा भवन्तीति बोध्यम्। तथैव स्त्रीणामपि सोम्या, गन्धर्व्याग्नायी, मनुष्यजाः संज्ञास्तत्तद्गुणयुक्तत्वाद् भवन्तीति ॥५॥

(अदेवृघ्न्यपतिघ्नि) हे अदेवृघ्नि देवरसेविके ! हे अपतिघ्नि विवाहितपतिसेविके स्त्रि ! त्वं (शिवा) कल्याणगुणयुक्ता, (पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः) गृहकृत्येषु शोभननियमयुक्ता, गृहसम्बन्धिपशुभ्यो हिता, श्रेष्ठकान्तिविद्यासहिता, तथा (प्रजावती वीरसूः) प्रजापालनतत्परा, वीरसन्तानोत्पादिका, (देवृकामा) नियोगेन द्वितीयवरस्य कामनावती, (स्योना) सम्यक् सुखयुक्ता सुखकारिणी सती (इममग्निं गार्हपत्यम्) गृहसम्बन्धिनमाहवनीयादिमग्निं, सर्वं गृहसम्बन्धिव्यवहारं च (सपर्य्य) प्रीतया सम्यक् सेवय। अत्र स्त्रियाः पुरुषस्य चापत्काले नियोगव्यवस्था प्रतिपादितास्तीति वेदितव्यमिति ॥६॥

भाषार्थ—(इमां०) ईश्वर मनुष्यों को आज्ञा देता है कि, हे इन्द्र ! पते ! ऐश्वर्ययुक्त ! तू इस स्त्री को वीर्यदान देके, सुपुत्र और सौभाग्ययुक्त कर। हे वीर्यप्रद ! (दशास्यां पुत्रानाधेहि) पुरुष के प्रति वेद की यह आज्ञा है कि इस विवाहित या नियोजित स्त्री में दश सन्तानपर्य्यन्त उत्पन्न कर, अधिक नहीं। (पतिमेकादशं कृधि) तथा हे स्त्री ! तू नियोग में ग्यारह पति तक कर। अर्थात् एक तो उनमें प्रथम विवाहित और दश पर्यन्त नियोग के पति कर, अधिक नहीं।

इसकी यह व्यवस्था है कि [1]विवाहित पति के मरने वा रोगी होने से दूसरे पुरुष वा स्त्री के साथ सन्तानों के अभाव में नियोग करे। तथा दूसरे के भी मरण वा रोगी होने के अनन्तर तीसरे के साथ करले। इसी प्रकार दसवें तक करने की आज्ञा है। परन्तु एक काल में एक ही वीर्यदाता पति रहे, दूसरा नहीं। इसी प्रकार पुरुष के लिये भी विवाहित स्त्री के मर जाने पर विधवा के साथ नियोग करने की आज्ञा है। और जब वह भी रोगी हो वा मरजाय, तो सन्तानोत्पत्ति के लिये दशम स्त्रीपर्यन्त नियोग कर लेवे ॥४॥

अब पतियों की संज्ञा कहते हैं—(सोमः प्रथमो विविदे) उनमें से जो विवाहित पति होता है, उसकी सोम संज्ञा है। क्योंकि वह सुकुमार होने से मृदु आदि गुणयुक्त होता है। (गन्धर्वो विविद उत्तर) दूसरा पति जो नियोग से होता है, सो गन्धर्वसंज्ञक अर्थात् भोग में अभिज्ञ होता है। (तृतीयो अग्निष्टे पतिः) तीसरा पति जो नियोग से होता है, वह अग्निसंज्ञक अर्थात् तेजस्वी अधिक उमरवाला होता है।[2] (तुरीयस्ते मनुष्यजाः) और चौथे से लेके दशम पर्यन्त जो नियुक्त पति होते हैं, वे सब मनुष्यसंज्ञक कहाते हैं, क्योंकि वे मध्यम होते हैं ॥५॥

पेक्षयानिर्दिष्टा। एवं च क्रमभङ्गः स्पष्ट एव। इह भाषापदार्थे 'वह अग्निसंज्ञक अर्थात् तेजस्वी अधिक उमरवाला होता है' पाठो दृश्यते। तथैव सत्यार्थप्रकाशेऽपि 'वह (अग्निः) अत्युष्णतायुक्त होने से अग्निसंज्ञक' इत्येवं पुरुषगुणापेक्ष एव पाठ उपलभ्यते (द्र० स० प्र० पृ० १७० रा०ला०क० ट्र० सं०)।

१. यहां से आगे का लेख अस्पष्ट तथा भ्रमोत्पादक है। यहां संस्कृत के अनुसार 'इसकी यह व्यवस्था है कि आपत्काल में अर्थात् सन्तान के अभाव में सन्तान की प्राप्ति के लिये दश पुरुष पर्यन्त नियोग करे।

२. वै०य० मुद्रित नवमसंस्करण में टिप्पणी है—'संस्कृत के अनुसार—वह अग्निसंज्ञक, क्योंकि दो पुरुषों

(अदेवृघ्न्यपतिघ्नि) हे विधवा स्त्री ! तू देवर और विवाहित पति को सुख देनेवाली हो, किन्तु उनका अप्रिय किसी प्रकार से मत कर, और वे भी तेरा अप्रिय न करें। (एधि शिवा) इसी प्रकार मंगलकार्यों को करके सदा सुख बढ़ाते रहो। (पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः) घर के पशु आदि सब प्राणियों की रक्षा करके, जितेन्द्रिय होके, धर्मयुक्त श्रेष्ठ कार्यों को करती रहो। तथा सब प्रकार के विद्यारूप उत्तम तेज को बढ़ाती जा, (प्रजावती वीरसूः) तू श्रेष्ठप्रजायुक्त हो, बड़े-बड़े वीर पुरुषों को उत्पन्न कर। (देवृकामा) जो तू देवर की कामना करनेवाली है, तो जब तेरा विवाहित पति न रहे वा रोगी तथा नपुंसक हो जाय, तब दूसरे पुरुष से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर। (स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य्य) और तू इस अग्निहोत्रादि घर के कामों को सुखरूप होके सदा प्रीति से सेवन कर।

इसी प्रकार से विधवा और [मृतस्त्रीक] पुरुष तुम दोनों आपत्काल में धर्म करके[1] सन्तानोत्पत्ति करो, और उत्तम व्यवहारों को सिद्ध करते जाओ, गर्भहत्या वा व्यभिचार कभी मत करो। किन्तु नियोग ही कर लो, यही व्यवस्था सबसे उत्तम है ॥६॥

॥ इति नियोगविषयः संक्षेपतः ॥

से भुक्तभोगा स्त्री के साथ नियुक्त होने के कारण अग्निदाह के समान उसके शरीरस्थ धातु दग्ध होते हैं'। वस्तुतः यहां संस्कृत पाठ भ्रष्ट हुआ प्रतीत होता है। यहां का भावार्थ युक्त है। सत्यार्थप्रकाश में भी 'वह (अग्निः) अत्युष्णतायुक्त होने से अग्निसंज्ञक' ऐसा ही पाठ है। द्र०—रा०ला०क०ट्र० सं० पृष्ठ १७०।

१. अर्थात् नियोग-धर्मानुसार।

अथ राजप्रजाधर्मविषयः संक्षेपतः

त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि ।
अपश्यमत्र मनसा जगन्वान्[1] व्रते गन्धर्वा अपि वायुकेशान् ॥ १ ॥
ऋ० अ० ३ । अ० २ । व० २४ । मं० १ ॥[2]

क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसि ।
मा त्वा हिंसीन्मा मा हिंसीः ॥ २ ॥ य० अ० २० । मं० १ ॥

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह ।
तं लोकं पुण्यं यज्ञेषं[3] यत्र देवाः सहाग्निना ॥ ३ ॥ य० अ० २० । मं० २५ ॥

भाष्यम्—एषामभिप्रायः—अत्र मन्त्रेषु राजधर्मो विधीयत इति ।

यथा सूर्य्यचन्द्रौ (राजाना) सर्वमूर्त्तद्रव्यप्रकाशकौ भवतस्तथा सूर्य्यचन्द्रगुणशीलौ प्रकाशन्याययुक्तौ व्यवहारौ (त्रीणि सदांसि भूषथः) भूषयतोऽलङ्कुरुतः । (विदथे) ताभिः सभाभिरेव युद्धे (पुरूणि) बहूनि विजयादीनि सुखानि मनुष्याः प्राप्नुवन्ति । तथा (परि विश्वानि) राजधर्म्मादियुक्ताभिस्सभाभिर्विश्वस्थानि सर्वाणि वस्तूनि प्राणिजातानि च भूषयन्ति सुखयन्ति ।

इदमत्र बोध्यम्—राजार्य्यसभा,[4] तत्र विशेषतो राजकार्य्याण्येव भवेयुः । द्वितीयाऽऽर्य्यविद्या-

---

१. 'जगन्वान्' इत्यपपाठो वै० य० मुद्रितसंस्करणेषु ।　　२. ऋ० ३ । ३८ । ६ ॥

३. यजुःसंहितायाम् 'प्र ज्ञेषं' पाठ उपलभ्यते, ग्रन्थकृता च तत्र स्वीये भाष्ये '(प्र) (ज्ञेषम्) जानीयाम्' इत्येवं व्याख्यायते । 'यज्ञेषं' पाठे तस्याद्युदात्तत्वमपि नोपपद्यते ।

४. 'राजानौ' इति वै० य० मुद्रितसंस्करणेऽपपाठः ।

५. उत्तरत्र 'आर्यविद्यासभा' 'आर्यधर्मसभा' पदप्रयोगदर्शनाद् भाषायां च 'आर्यराजसभा' पदनिर्देशाच्चेहापि 'आर्यराजसभा' इत्येव पाठो युक्तो भवेत् । सत्यार्थप्रकाशे षष्ठसमुल्लासे चैतन्मन्त्रव्याख्यायां 'राजार्यसभा विद्यार्यसभा धर्मार्यसभा' प्रयोगदर्शनादिह 'आर्यविद्यासभा—आर्यधर्मसभा' पदयोः स्थाने 'विद्यार्यसभा, धर्मार्यसभा' पाठो वाऽनुसंधेयः । वयन्तूभयथापि प्रयोगदर्शनाद् आर्याणां राजा, आर्याणां विद्या, आर्याणां धर्मः इत्येवं षष्ठीसमासे 'राजदन्तादिषु परम्' (२।२।३१) इति नियमेन राजविद्याधर्माणां पूर्वनिपातः । 'क्वचिदपवादविषयेऽप्युत्सर्गः प्रवर्तते' इति नियमेन 'उपसर्जनं पूर्वम्' (२।२।३०) इत्युत्सर्गेण आर्यपदस्यादिप्रयोगोऽपि ज्ञेयः । एतच्च राजदन्तादिषु पठितेषु धर्मादिपदेषूभयथाऽपि प्रयोगदर्शनात् 'धर्मादिषूभयम्' इति नियमस्य स्वीकरणादपि समर्थ्यते ।

सभा, तत्र विशेषतो विद्याप्रचारोन्नती[1] एव कार्ये भवतः। तृतीयाऽऽर्यधर्मसभा, तत्र विशेषतो धर्मोन्नतिरधर्महानिश्चोपदेशेन कर्त्तव्या। परन्त्वेतास्तिस्रस्सभाः सामान्ये कार्ये मिलित्वैव सर्वान् उत्तमान् व्यवहारान् प्रजासु प्रचारयेयुरिति। यत्रैतासु सभासु धर्मात्मभिर्विद्वद्भिः सारासारविचारेण कर्त्तव्याकर्त्तव्यस्य[2] प्रचारो निरोधश्च क्रियते, तत्र सर्वाः प्रजाः सदैव सुखयुक्ता भवन्ति, यत्रैको मनुष्यो राजा भवति, तत्र पीडिताश्चेति निश्चयः (अपश्यमत्र) इदमत्राहमपश्यम्। ईश्वरोऽभिवदति–यत्र सभया राजप्रबन्धो भवति, तत्रैव सर्वाभ्यः प्रजाभ्यो हितं जायत इति। (व्रते) यो मनुष्यः सत्याचरणे (मनसा) विज्ञानेन सत्यं न्यायं (जगन्वान्) विज्ञातवान् स राजसभामर्हति नेतरश्च। (गन्धर्वान्) पूर्वोक्तासु सभासु गन्धर्वान् पृथिवीराजपालनादिव्यवहारेषु कुशलान् (अपि वायुकेशान्[3]) वायुवद् द्रुतप्रचारेण विदितसत्यव्यवहारान् सभासदः कुर्यात्। केशास्सूर्यरश्मयः[4] तद्वत्सत्यन्याय-प्रकाशकान् सर्वहितं चिकीर्षून् धर्मात्मनः सभासदः स्थापयितुमहमाज्ञापयामि, नेतरांश्चेतीश्वरोपदेशः सर्वैर्मन्तव्य इति ॥ १ ॥

(क्षत्रस्य योनिरसि) हे परमेश्वर! त्वं यथा क्षत्रस्य राजव्यवहारस्य योनिर्निमित्तमसि, तथा (क्षत्रस्य नाभिरसि) एवं राजधर्मस्य त्वं प्रबन्धकर्त्तासि। तथैव नोऽस्मानपि कृपया राज्य-पालननिमित्तान् क्षत्रधर्मप्रबन्धकर्तॄंश्च कुरु। (मा त्वा हिंसीन्मा मा हिंसीः) तथाऽस्माकं मध्यात् कोऽपि जनस्त्वां मा हिंसीद् अर्थाद् भवन्तं तिरस्कृत्य नास्तिको मा भवतु। तथा त्वं मां मा हिंसीरर्थान्मम तिरस्कारं कदाचिन्मा कुर्याः। यतो वयं भवत्सृष्टौ राज्याधिकारिणस्सदा भवेम ॥ २ ॥

(यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च) यत्र देशे ब्रह्म परमेश्वरो वेदो वा, ब्राह्मणो ब्रह्मविच्चैतत्सर्वं ब्रह्म, तथा क्षत्रं शौर्य्यधैर्यादिगुणवन्तो मनुष्याश्चैतौ द्वौ (सम्यञ्चौ) यथावद् विज्ञानयुक्तावविरुद्धौ (चरतः सह) (तं लोकम्) तं देशं (पुण्यं) पुण्ययुक्तं (यज्ञेयम्) यज्ञकरणेच्छाविशिष्टं विजानीमः[5]। (यत्र देवाः सहाग्निना) यस्मिन् देशे विद्वांसः परमेश्वरेणाग्निहोत्रादियज्ञानुष्ठानेन च सह वर्त्तन्ते, तत्रैव प्रजाः सुखिन्यो भवन्तीति विज्ञेयम् ॥३॥

भावार्थ—[6]'सब जगत् का राजा परमेश्वर ही है, और सब संसार उसकी प्रजा है। इसमें

१. प्रचारश्चोन्नतिश्च प्रचारोन्नती, विद्यायाः प्रचारोन्नती विद्याप्रचारोन्नती इत्येवं विग्रहो द्रष्टव्यः।

२. समाहारद्वन्द्वः। कर्तव्यस्य प्रचारः, अकर्तव्यस्य निरोध इति संबन्धः।

३. वै० य० मुद्रितेषु पञ्चमसंस्करणं यावत् 'वायुः केशान्' इत्यपपाठो दृश्यते।

४. तुलना कार्या—केशा रश्मयः (निरु० १२।२)। अत्र द्युस्थानिनः पदस्य निर्वचनसामर्थ्यात् केशाः सूर्यरश्मयः एव गृह्यन्ते।

५. एतद्विषये मन्त्रपाठस्य टिप्पणी द्रष्टव्या। यथा त्वस्मन्मतं तथाऽत्र 'प्रज्ञेषं' मन्त्रपदयोः 'विजानीम' इत्येवार्थः, 'यज्ञकरणेच्छाविशिष्ट' इति तु 'तं देशं' इत्यस्य विशेषणं भवितुमर्हति। एवं च सति ग्रन्थकृतो मनुभाष्ये व्याख्यानाद्युपपद्यते अत्र पाठान्तरकल्पनाऽपि न कर्तव्या भवति।

६. यह जिसका भावार्थ है तथा जो मन्त्र यहां उद्धृत किया गया है उसका निर्देश संस्कृतपाठ में नहीं है। प्रतीत होता है—यहां संस्कृत पाठ उत्तरकालीन शोधन के समय निकाल दिया परन्तु भावार्थ निकालना रह गया। ऐसी असावधानता प्रायः ग्रन्थकार के ग्रन्थों में देखी जाती है। यथा—यजुर्वेदभाष्य विवरण पृष्ठ ४

यह यजुर्वेद के अठारहवें अध्याय के २९वें मन्त्र के वचन का प्रमाण है—**'वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम'** अर्थात् सब मनुष्य लोगों को निश्चय करके जानना चाहिये कि हम लोग परमेश्वर की प्रजा हैं और यही एक हमारा राजा है।

[1](त्रीणि राजाना) तीन प्रकार की सभा ही को राजा मानना चाहिये, एक मनुष्य को कभी नहीं। वे तीनों ये हैं—प्रथम राज्यप्रबन्ध के लिये एक 'आर्य्यराजसभा' कि जिससे विशेष करके सब राज्यकार्य्य ही सिद्ध किये जावें, दूसरी 'आर्य्यविद्यासभा' कि जिससे सब प्रकार की विद्याओं का प्रचार होता जाय, तीसरी 'आर्य्यधर्मसभा' कि जिससे धर्म का प्रचार और अधर्म की हानि होती रहे। इन तीन सभाओं से (विदथे) अर्थात् युद्ध में (पुरूणि परि विश्वानि भूषथः) सब शत्रुओं को जीत के नाना प्रकार के सुखों से विश्व को परिपूर्ण करना चाहिये ॥१॥

(क्षत्रस्य योनिरसि) हे राज्य के देनेवाले परमेश्वर! आप ही राज्यसुख के परम कारण हैं। (क्षत्रस्य नाभिरसि) आप ही राज्य के जीवनहेतु हैं, तथा क्षत्रियवर्ण के राज्य का कारण और जीवन सभा ही है। (मा त्वा हिꣳसीन्मा मा हिꣳसीः) हे जगदीश्वर! सब प्रजा आपको छोड़के दूसरे को अपना राजा कभी न माने, और आप भी हम लोगों को कभी मत छोड़िये। किन्तु आप और हम लोग परस्पर सदा अनुकूल वर्त्तें ॥२॥

(यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च०) जिस देश में उत्तम विद्वान् ब्राह्मण विद्यासभा, और राजसभा विद्वान् शूरवीर क्षत्रिय लोग, ये सब मिलके राजकामों को सिद्ध करते हैं, वही देश धर्म और शुभ क्रियाओं से संयुक्त होके सुख को प्राप्त होता है। (यत्र देवाः सहाग्निना०) जिस देश में परमेश्वर की आज्ञापालन और अग्निहोत्रादि सत्क्रियाओं से वर्त्तमान विद्वान् होते हैं, वही देश सब उपद्रवों से रहित होके अखण्ड राज्य को नित्य भोगता है ॥३॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
अश्विनोर्भैषज्येन तेजसे ब्रह्मवर्चसायाभि षिञ्चामि ।
इन्द्रस्येन्द्रियेण बलाय श्रियै यशसेऽभि षिञ्चामि ॥ ४ ॥
कोऽसि कतमोऽसि कस्मै त्वा काय त्वा ।
सुश्लोक सुमङ्गल सत्यराजन् ॥ ५ ॥

की* चिह्नित टिप्पणी। इसका प्रधान कारण यह है कि ग्रन्थकार ने प्रायः संस्कृत भाग में ही संशोधन किया है। भाषार्थ का संशोधन पण्डितों पर आधृत रहा। उन्होंने संशोधित संस्कृतानुसार यथावत् भाषा में संशोधन नहीं किया। भूमिका तथा वेदभाष्य में जहां-जहां भी संस्कृत और भाषा में भेद वा विरोध दृष्टिगोचर होता है उसका यही मूल कारण है।

१. यह तथा अगले दोनों मन्त्रों का भाषार्थ भावार्थ रूप है।

२. इतोऽग्रे ग्रन्थकृता 'सरस्वत्यै······षिञ्चामि' पाठस्त्यक्तः। इह भाष्येऽप्यस्यांशस्यार्थो नोपलभ्यते। नवमसंस्करणे योऽत्र त्रुटितपाठनिदर्शकः······बिन्दुमुद्रणसंकेतः कृतः, सोऽनावश्यकः। नह्यत्र लेखकमुद्रणदोषात् पाठस्त्रुटितः, अपि तु ग्रन्थकृतैतावानंशो नोद्धृतः।

शिरो॑ मे॒ श्रीर्यशो॒ मुखं॒ त्विषिः॒ केशा॑श्च॒ श्मश्रू॑णि ।

राजा॑ मे प्रा॒णोऽअ॒मृतं॑ᳪ स॒म्राट् चक्षु॑र्वि॒राट् श्रोत्र॑म् ।। ६ ।। य० अ० २० । मं० ३-५ ।।

भाष्यम्—(देवस्य त्वा सवितुः) हे सभाध्यक्ष ! स्वप्रकाशमानस्य सर्वस्य जगत उत्पादकस्य परमेश्वरस्य (प्रसवे) अस्यां प्रजायां (अश्विनोर्बाहुभ्याम्) सूर्याचन्द्रमसोर्बाहुभ्यां बलवीर्याभ्यां, (पूष्णो हस्ताभ्याम्) पुष्टिकर्तुः प्राणस्य ग्रहणदानाभ्यां[1], (अश्विनोर्भैषज्येन) पृथिव्यन्तरिक्षौषधिसमूहेन सर्वरोगनिवारकेण सह वर्त्तमानं त्वां (तेजसे) न्यायादिसद्गुणप्रकाशाय, (ब्रह्मवर्चसाय) पूर्णविद्याप्रचाराय, (अभिषिञ्चामि) सुगन्धजलैर्मूर्द्धनि मार्जयामि । तथा (इन्द्रस्येन्द्रियेण) परमेश्वरस्य परमैश्वर्य्येण विज्ञानेन च (बलाय) उत्तमबलार्थं, (श्रियै) चक्रवर्तिराज्यलक्ष्मीप्राप्त्यर्थं च (अभिषिञ्चामि) राजधर्मपालनार्थं स्थापयामीतीश्वरोपदेशः ।।४।।

(कोऽसि) हे परमात्मन् ! त्वं सुखस्वरूपोऽसि, भवानस्मानपि सुराज्येन सुखयुक्तान् करोतु । (कतमोऽसि) त्वमत्यन्तानन्दयुक्तो[2]ऽसि, अस्मानपि राजसभाप्रबन्धेनात्यन्तानन्दयुक्तान् सम्पादय । (कस्मै त्वा) अतो नित्यसुखाय[3] त्वामाश्रयामः । तथा (काय त्वा) सुखरूपराज्यप्रदाय त्वामुपास्महे । (सुश्लोक) हे सत्यकीर्त्ते ! (सुमङ्गल) हे सुष्ठुमङ्गलमय सुमङ्गलकारक ! (सत्यराजन्) हे सत्यप्रकाशक सत्यराज्यप्रदेश्वर ! अस्मद्राजसभाया भवानेव महाराजाधिराजोऽस्तीति वयं मन्यामहे ।।५।।

सभाध्यक्ष एवं मन्येत—(शिरो मे श्रीः) राज्यश्रीर्मे मम शिरोवत् । (यशो मुखम्) उत्तमकीर्त्तिर्मुखवत् । (त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि) सत्यन्यायदीप्तिः मम केशश्मश्रुवत् । (राजा मे प्राणः) परमेश्वरः राजवत् । (चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्) सत्यविद्यादिगुणानां विविधप्रकाशकरणं श्रोत्रं चक्षुर्वत्[4] । एवं सभासदोऽपि मन्येरन् । एतानि सभाध्यक्षस्य सभासदां चाङ्गानि सन्तीति सर्वे विजानीयुः ।।६।।

भावार्थ—(देवस्य त्वा सवितुः) जो कोई राजा सभाध्यक्ष होने के योग्य हो उसका हम लोग अभिषेक करें और उससे कहें कि—हे सभाध्यक्ष ! आप सब जगत् को प्रकाशित और उत्पन्न करनेवाले ईश्वर की (प्रसवे) सृष्टि में प्रजापालन के लिये (अश्विनोर्बाहुभ्याम्) पुष्टि करनेवाले प्राण के ग्रहण और दान[5] के शक्तिरूप हाथों से, आपको सभाध्यक्ष होने में स्वीकार करते हैं । (अश्विनोर्भैषज्येन) परमेश्वर कहता है कि पृथिवी शुद्ध वायु और इन[6] ओषधियों से दिन रात में

---

१. दानशब्देनात्र विसर्जनरूपोऽर्थो ज्ञेयः ।

२. नायं कतमशब्द आतिशायिकस्तमप्प्रत्ययान्तः, किं तर्हि ? उत्तमशब्दवद् अव्युत्पन्न आतिशायिकार्थोऽन्तोदात्तः । तमप्प्रत्ययान्तत्वे त्वन्तोदात्तार्थं 'उत्तमशश्वत्तमौ सर्वत्र' (६।१।१६०) इति गणसूत्रे 'कतम' शब्दोऽप्युपसंख्येयः ।

३. एतद्विषये पूर्वत्र (पृष्ठ ५० टि० ३) टिप्पणी द्रष्टव्या ।

४. यजुर्भाष्येऽप्यत्र पदानां सम्बन्धोऽस्पष्ट एव । अत्र 'अमृतं सम्राट्' पदयोर्व्याख्यानमपि नास्ति । यथा तु मन्त्रपाठस्तथा 'राजा मे प्राणोऽमृतम्, सम्राट् चक्षुः, विराट् श्रोत्रम्' इत्येवं सम्बन्धेन भाव्यम् ।

५. दान अर्थात् विसर्जन ।

६. वै० य० मुद्रित में 'पृथिवीस्थ और शुद्ध वायु इन औषधियों' अपपाठ है ।

सब रोगों से[1] तुमको निवारण करके, (तेजसे) सत्यन्याय के प्रकाश, (ब्रह्मवर्चसाय) ब्रह्म के ज्ञान और विद्या की वृद्धि के लिये तथा (इन्द्रस्येन्द्रियेण) परमेश्वर के परमैश्वर्य और राज्य[2] के विज्ञान से (बलाय) उत्तम सेना, (श्रियै) सर्वोत्तम लक्ष्मी और (यशसे॰) सर्वोत्तम कीर्ति की प्राप्ति के लिये मैं तुम लोगों को सभा करने की आज्ञा देता हूं, कि यह आज्ञा राजा और प्रजा के प्रबन्ध के अर्थ हैं। इससे सब मनुष्य लोग इसका यथावत् प्रचार करें ॥४॥

हे महाराजेश्वर! आप (कोऽसि कतमोऽसि) सुखस्वरूप, अत्यन्त आनन्दकारक हैं. हम लोगों को भी सब आनन्द से युक्त कीजिये। (सुश्लोक) हे सर्वोत्तम कीर्ति के देनेवाले! तथा (सुमङ्गल) शोभनमङ्गलरूप आनन्द के करनेवाले जगदीश्वर! (सत्यराजन्) सत्यस्वरूप और सत्य के प्रकाश करनेवाले! हम लोगों के राजा तथा सब सुखों के देनेवाले आप ही हैं। (कस्मै त्वा काय त्वा) उसी अत्यन्त सुख, श्रेष्ठविचार और आनन्द के लिये हम लोगों ने आपका शरण लिया है, क्योंकि इसी से हमको पूर्ण राज्य और सुख निस्संदेह होगा ॥५॥

सभाध्यक्ष सभासद् और प्रजा को ऐसा निश्चय करना चाहिये कि – (शिरो मे श्रीः) श्री मेरा शिरस्थानी, (यशो मुखम्) उत्तम कीर्ति मेरा मुखवत्, (त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि) सत्य गुणों का प्रकाश मेरे केश और दाढ़ी मूछ के समान, तथा (राजा मे प्राणः) जो ईश्वर सबका आधार और जीवनहेतु है, वही प्राणप्रिय मेरा राजा, (अमृतꣳ सम्राट्) अमृतस्वरूप जो ब्रह्म और मोक्षसुख है. वही मेरा चक्रवर्ती राजा, तथा (चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्) जो अनेक सत्यविद्याओं के प्रकाश [से] युक्त मेरा श्रोत्र है, वही मेरी आंख है ॥६॥

बाहू मे बलमिन्द्रियꣳ हस्तौ मे कर्म वीर्य्यम् ।
आत्मा क्षत्रमुरो मम ॥ ७ ॥
पृष्ठीर्मे राष्ट्रमुदरमꣳसौ ग्रीवाश्च श्रोणी ।
ऊरू अरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः ॥ ८ ॥ य॰ अ॰ २० । मं॰ ७,८ ॥
[3][नाभिर्मे चित्तं विज्ञानं पायुर्मेऽपचितिर्भसत् ।
आनन्दनन्दावाण्डौ मे भगः सौभाग्यं पसः ।
जङ्घाभ्यां पद्भ्यां धर्मोऽस्मि विशि राजा प्रतिष्ठितः ॥ ९ ॥
य॰ अ॰ २० । मं॰ ९ ॥]

---

१. वै॰ य॰ मुद्रितेषु 'में' इत्यपपाठः। २. 'आज्ञा' इति वै॰ य॰ मुद्रित पाठ।

३. अयं मन्त्रः, अस्य भाष्यं च हस्तलेखे विद्यते। प्रथमसंस्करणेऽयं मन्त्र, भाष्यं चास्य नोपलभ्यते। परन्तु तत्रैवाग्रिममन्त्रान्ते '॥ १० ॥' दशसंख्या पठ्यते। अयं मन्त्रो भाष्यं चास्य ग्रन्थकृतैवापाकृतम् उत लेखकप्रमादान्नष्टमिति न ज्ञायते। यथाऽत्र मन्त्रो व्याख्यायते तथैव ग्रन्थकृतो यजुर्वेदभाष्येऽपि व्याख्यानमुपलभ्यते। तस्मात् लेखकप्रमादादयं पाठो नष्ट इति मत्वाऽस्माभिरिह मन्त्रपाठस्तद्भाष्यं च हस्तलेखानुसारं प्रवर्धितम्।

भाष्यम्—(बाहू मे बलम्) यदुत्तमं बलं तन्मम बाहुवदस्ति (इन्द्रियꣳ हस्तौ मे) शुद्धं विद्यायुक्तं मनः श्रोत्रादिकं च मम ग्रहणसाधनवत् (कर्म वीर्य्यम्) यदुत्तमपराक्रमधारणं तन्मम कर्मवत् (आत्मा क्षत्रमुरो मम) यन्मम हृदयं तत् क्षत्रवत्[1] ॥७॥

(पृष्ठीर्मे राष्ट्रम्) यद् राष्ट्रं तन्मम पृष्ठभागवत् (उदरमꣳसौ) यौ सेनाकोशौ स्तस्तत्कर्म मम हस्तमूलोदरवत् (ग्रीवाश्च श्रोणी) यत्प्रजायाः सुखेन [भूषणं पुरुषार्थिकरणं[2] च तत्कर्म मम नितम्बाङ्गवत् । (ऊरू अरत्नी) यत्प्रजाया व्यापारे गणितविद्यायां च निपुणीकरणं तन्ममोर्वरत्न्यङ्गवदस्ति । (जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः) यत्प्रजाराजसभयोः सर्वथा मेलरक्षणं तन्मम कर्म जानुवत्[3] ।

[4]एवं पूर्वोक्तानि सर्वाणि कर्माणि ममावयववत् सन्ति । यथा स्वाङ्गेषु प्रीतिस्तत्पालने पुरुषस्य श्रद्धा भवति, तथा प्रजापालने च स्वकीया बुद्धिस्सर्वैः कार्य्येति ॥८॥

[5][(नाभिर्मे चित्तम्) यच्चित्तं सदा ज्ञानरूपमस्ति तन्मम नाभिरङ्गवद् अस्ति (विज्ञानं पायुर्मे०) यद्विज्ञानं तन्मम पायुर्गुदेन्द्रियवद् अस्ति (अपचितिर्भसत्) याऽपचितिः पूजा सत्कारोऽस्ति तत् स्त्रियाः प्रजननेन्द्रियवद् अस्ति अर्थात् परमेश्वरपूजाऽस्मन्येव कार्या (आनन्दनन्दावाण्डौ मे) ये आनन्दसमृद्धी ते मम वृषणाङ्गवत् स्तः (भगः सौभाग्यं पसः) यन्ममैश्वर्यं सौभाग्यमुत्तमं सुखमस्ति तन्मम पसो लिङ्गेन्द्रियवदस्ति (जङ्घाभ्यां पद्भ्याम्) एवमहं जङ्घाभ्यां पद्भ्यां युक्तो भूत्वा धर्मात्माऽस्मि (विशि राजा प्रति०) यो विशि प्रजायां सर्वहितकरणादिगुणैः प्रतिष्ठितो भवति सोऽस्माकं राजा सभाध्यक्षो भवितुमर्हति ॥९॥]

भावार्थ—(बाहू मे बलम्) जो पूर्ण बल है वही मेरी भुजा, (इन्द्रियꣳहस्तौ०) जो उत्तम कर्म और पराक्रम से युक्त इन्द्रिय और मन हैं, वे मेरे हाथों के समान, (आत्मा क्षत्रमुरो मम) जो राजधर्म, शौर्य्य, धैर्य्य और हृदय का ज्ञान है, यही सब मेरे आत्मा के समान है ॥७॥

(पृष्ठीर्मे राष्ट्रम्) जो उत्तम राज्य है, सो पीठ के समतुल्य, (उदरमꣳसौ) जो राज्य [की] सेना और कोश है, वह मेरे हस्त का मूल और उदर के समान, तथा (ग्रीवाश्च श्रोणी) जो प्रजा को सुख से भूषित और पुरुषार्थी करना है, सो मेरे कण्ठ और श्रोणि अर्थात् नाभि के अधोभागस्थान के समतुल्य, (ऊरू अरत्नी) जो प्रजा को व्यापार और गणितविद्या में निपुण करना है, सो ही अरत्नी और ऊरू अङ्ग के समान, तथा (जानुनी) जो प्रजा और राजसभा का मेल रखना, यह

१. ग्रन्थकृता यजुर्भाष्ये एतन्मन्त्रव्याख्याने मन्त्रपदानां सम्बन्ध एवं प्रदर्शितः—'मे बलमिन्द्रियम् बाहू, मे कर्म वीर्यं हस्तौ, ममात्मा उरो हृदयं चास्तु' इति ।

२. द्वितीयसंस्करणात् 'पुरुषार्थीकरणम्' इत्येवं च्विप्रत्ययान्तः पठ्यते, सोऽपपाठः । पुरुषार्थिनः करणम् इत्यर्थोऽत्र विज्ञेयः, स च प्रसङ्गानुसारी । प्रथमसंस्करणे 'पुरुषार्थिकरणम्' इत्येव पाठ उपलभ्यते ।

३. अत्रापि ग्रन्थकृतो यजुर्भाष्ये मन्त्रपदानामन्यथा सम्बन्धः प्रदर्शितः, स तत एव द्रष्टव्यः ।

४. 'एवं' इत आरभ्य 'कार्येति' इत्यन्तः पाठो नवममन्त्रभाष्यान्ते योजनीयः । लेखकप्रमादात्तस्य नाशेऽष्टममन्त्रव्याख्यानान्ते सम्बद्ध इति प्रतीयते ।

५. एतद्विषये पूर्वपृष्ठस्था द्वितीया टिप्पणी द्रष्टव्या ।

मेरी जानु के समान है। (विशो मेऽङ्गानि सर्वतः) जो इस प्रकार से प्रजापालन में उत्तम कर्म करते हैं, वे सब मेरे अङ्गों के समान हैं ॥८॥

[(नाभिर्मे चित्तम्) जो चित्त सदा ज्ञानरूप है वह मेरे नाभि अङ्ग के समान है। (विज्ञानं पायुर्मे) जो विज्ञान है वह मेरी गुदेन्द्रिय के समान है। (अपचितिर्भसत्) जो पूजा सत्कार है वह स्त्री जननेन्द्रिय के समान है (आनन्दनन्दावाण्डौ मे) जो आनन्द और समृद्धि है वह मेरे वृषणों के समान है। (भगः सौभाग्यं पसः) जो मेरा ऐश्वर्य, सौभाग्य=उत्तम सुख है वह मेरी लिंगेन्द्रिय के समान है। (जङ्घाभ्यां पद्भ्याम्) इस प्रकार मैं जङ्घा और पैरों से युक्त होकर धर्मात्मा हूं। (विशि राजा प्रतिष्ठितः) जो प्रजा में सर्वहितकारी गुणों के कारण प्रतिष्ठित होता है, वह हमारा राजा सभाध्यक्ष हो सकता है ॥९॥

[2]इस प्रकार पूर्वोक्त सब कर्म मेरे अवयवों (=अङ्गों) के समान हैं। जैसे अपने अङ्गों में प्रीति और उनकी पालना में पुरुष की श्रद्धा होती है वैसी ही बुद्धि प्रजा और उसके पालन में सबको करनी चाहिये ॥]

प्रति॑ क्ष॒त्रे प्रति॑ तिष्ठामि रा॒ष्ट्रे प्रत्यश्वे॑षु॒ प्रति॑ तिष्ठामि गोषु॑ ।
प्रत्यङ्गे॑षु॒ प्रति॑ तिष्ठाम्या॒त्मन् प्रति॑ प्रा॒णेषु॒ प्रति॑ तिष्ठामि पु॒ष्टे
प्रति॒ द्यावा॑पृथि॒व्योः प्रति॑ तिष्ठामि य॒ज्ञे ॥ १० ॥

त्रा॒तार॒मिन्द्र॑मवि॒तार॒मिन्द्र॒ꣳ हवे॑हवे सु॒हव॒ꣳ शूर॒मिन्द्र॑म् ।
ह्वया॑मि श॒क्रं पु॑रुहू॒तमिन्द्र॒ꣳ स्व॒स्ति नो॑ म॒घवा॑ धा॒त्विन्द्रः॑ ॥ ११ ॥

य० अ० २० । मं० ५० ॥

भाष्यम्—(प्रति क्षत्रे प्रति तिष्ठामि राष्ट्रे) अहं परमेश्वरो धर्मेण प्रतीते क्षत्रे प्रतिष्ठितो भवामि, विद्याधर्मप्रचारिते देशे च। (प्रत्यश्वेषु०) प्रत्यश्वं प्रतिगां च तिष्ठामि। (प्रत्यङ्गेषु०) सर्वस्य जगतोऽङ्गमङ्गं प्रति तिष्ठामि, तथा चात्मानमात्मानं प्रति तिष्ठामि। (प्रति प्राणं०) प्राणं प्राणं प्रत्येवं पुष्टं-पुष्टं पदार्थं प्रति तिष्ठामि। (प्रति द्यावापृथिव्योः०) दिवं दिवं प्रति पृथिवीं पृथिवीं प्रति च तिष्ठामि। (यज्ञे) तथा यज्ञं यज्ञं प्रति तिष्ठामि, अहमेव सर्वत्र व्यापकोऽस्मीति। मामिष्ट-

---

१. नवम मन्त्र और उसका भाष्य हस्तलेख में विद्यमान है। परन्तु प्रथम सं० से ही वह छप नहीं रहा है। प्र० सं० में ८वें मन्त्र की ८ संख्या के आगे मन्त्र और भाष्य पर १० संख्या मिलती है। इससे ज्ञात होता है सम्भवतः यह पाठ लेखक प्रमाद से प्रतिलिपि में छूट गया। हमने संस्कृत भाष्य हस्तलेख के अनुसार प्रतिलिपि करके अपनी पुस्तक में जोड़ रखा था। भावार्थ का लेखन उस समय नहीं किया था। अतः यह भावार्थ हमारा किया हुआ है। अष्टम मन्त्र की व्याख्या के अन्त में पठित संस्कृत पाठ का भावार्थ उपलब्ध न होने से भी अनुमान होता है कि ९ मन्त्र और उसका भाष्य किसी कारण से नष्ट हुआ है।

२. यह पाठ अष्टम मन्त्र के संस्कृत भाष्य के अन्त में मुद्रित (नवम के अन्त में होना चाहिये। द्र०— पृष्ठ२६० टि०४) संस्कृत पाठ का अनुवाद रूप है। वै०य०मुद्रित संस्करणों में यह भावार्थ उपलब्ध नहीं होता।

देवं समाश्रित्य ये राजधर्ममनुसरन्ति तेषां सर्वदं विजयाभ्युदयौ भवतः। एवं राजपुरुषैश्चापि प्रजापालने सर्वत्र न्यायविज्ञानप्रकाशो रक्षणीयः, यतोऽन्यायाविद्याविनाशः स्यादिति ॥१०॥

(त्रातारमिन्द्र०) यं विश्वस्य त्रातारं रक्षकं, परमैश्वर्यवन्तं, (सुहव१ंशूरमिन्द्रं) सुहं शोभनयुद्धकारिणमत्यन्तशूरं, जगतो राजानमनन्तबलवन्तं, (शक्रम्) शक्तिमन्तं शक्तिप्रदं च (पुरुहूतम्) बहुभिः शूरैः सुसेवितं, (इन्द्रम्) न्यायेन राज्यपालकं, (इन्द्र१ंहवेहवे) युद्धे-युद्धे स्वविजयार्थम् इन्द्रं परमात्मनं (ह्वयामि) आह्वयामि आश्रयामि। (स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः) १ परमधनप्रदातेन्द्रः सर्वशक्तिमानीश्वरः सर्वेषु राज्यकार्येषु नोऽस्मभ्यं स्वस्ति धातु=निरन्तरं विजयसुखं दधातु ॥११॥

भावार्थ—(प्रति क्षत्रे प्रति तिष्ठामि राष्ट्रे) जो मनुष्य इस प्रकार के उत्तम पुरुषों की सभा से न्यायपूर्वक राज्य करते हैं, उनके लिये परमेश्वर प्रतिज्ञा करता है कि—हे मनुष्यो ! तुम लोग धर्मात्मा होके न्याय से राज्य करो, क्योंकि जो धर्मात्मा पुरुष हैं, मैं उनके क्षत्रधर्म और सब राज्य में प्रकाशित रहता हूं, और वे सदा मेरे समीप रहते हैं। (प्रत्यश्वेषु प्रति तिष्ठामि गोषु) उनकी सेना के अश्व और गौ आदि पशुओं में भी स्वसत्ता से प्रतिष्ठित रहता हूं। (प्रत्यङ्गेषु प्रति तिष्ठाम्यात्मन्) तथा सब सेना राजा के अंगों और उनके आत्माओं के बीच में भी सदा प्रतिष्ठित रहता हूं। (प्रति प्राणेषु प्रति तिष्ठामि पुष्टे) उनके प्राण और पुष्ट व्यवहारों में भी सदा व्यापक रहता हूं। (प्रति द्यावापृथिव्योः प्रति तिष्ठामि यज्ञे) जितना सूर्य्यादि प्रकाशरूप और पृथिव्यादि अप्रकाशरूप जगत् तथा जो अश्वमेधादि यज्ञ हैं, इन सब के बीच में भी मैं सर्वदा व्यापक होने से प्रतिष्ठित रहता हूं। इस प्रकार से तुम लोग मुझको सब स्थानों में परिपूर्ण देखो। जिन लोगों की ऐसी निष्ठा है, उनका राज्य सदा बढ़ता रहता है ॥१०॥

(त्रातारमिन्द्रम्) जिन मनुष्यों को ऐसा निश्चय है कि केवल परमैश्वर्य्यवान् परमात्मा ही हमारा रक्षक है,(अवितार०)जो ज्ञान और आनन्द का देनेवाला है,(सुहव१ंशूरमिन्द्र१ं हवे हवे) वही इन्द्र परमात्मा प्रति युद्ध में जो उत्तम युद्ध करानेवाला शूरवीर और हमारा राजा है, (ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रम्) जो अनन्त पराक्रमयुक्त ईश्वर है, जिसका सब विद्वान् वेदादि शास्त्रों से प्रतिपादन और इष्ट करते हैं, वही हमारा सब प्रकार से राजा है। (स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रम्) जो इन्द्र परमेश्वर मघवा अर्थात् परमविद्यारूप धनी और हमारे लिये विजय आदि सब सुखों का देनेवाला है, जिन मनुष्यों को ऐसा निश्चय है उनका पराजय कभी नहीं होता ॥११॥

इमं देवाऽअसपत्न१ं सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय। इममुमुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विशऽएष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणाना१ं राजा ॥ १२ ॥ य० अ० ९। मं० ४० ॥

इन्द्रो जयाति न परा जयाता अधिराजो राजसु राजयातै।
चर्कृत्य ईड्यो वन्द्यश्चोपसद्यो नमस्यो भवेह ॥ १३ ॥

त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युस्त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम्।
त्वं दैवीर्विश इमा वि राजायुष्मत् क्षत्रमजरं ते अस्तु ॥ १४ ॥

अथर्व० कां० ६। अनु० १०। व० ९८। मं० १,२ ॥[1]

भाष्यम्—(देवाः) हे देवा विद्वांसः सभासदः! (महते क्षत्राय) अतुलराजधर्माय (महते ज्यैष्ठ्याय) अत्यन्तज्ञानवृद्धव्यवहारस्थापनाय (महते जानराज्याय) जनानां विदुषां मध्ये परमराज्यकरणाय (इन्द्रस्येन्द्रियाय) सूर्यस्य प्रकाशवन्न्यायव्यवहारप्रकाशनायान्यायान्धकारविनाशाय (अस्यै विशे) वर्त्तमानायै प्रजायै यथावत्सुखप्रदानाय (इमम्) (असपत्नꣳसुवध्वम्) इमं प्रत्यक्षं शत्रूद्भवरहितं निष्कण्टकमुत्तमराजधर्मं सुवध्वमीशिध्वम्[2] ऐश्वर्यसहितं कुरुत। यूयमप्येवं जानीत—(सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाꣳ राजा) वेदविदां सभासदां मध्ये यो मनुष्यः सोम्यगुणसम्पन्नः सकलविद्यायुक्तोऽस्ति स एव सभाध्यक्षत्वेन स्वीकृतः सन् राजास्तु। हे सभासदः! (अमी) ये प्रजास्था मनुष्याः सन्ति तान् प्रत्यप्येदमाज्ञा श्राव्या—(एष वो राजा) अस्माकं वो युष्माकं च ससभासत्कोऽयं राजसभाव्यवहार एव राजास्तीति। एतदर्थं वयं (इमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रम्) प्रख्यातनाम्नः पुरुषस्य प्रख्यातनाम्न्याः स्त्रियाश्च सन्तानमभिषिच्याध्यक्षत्वे स्वीकुर्म्म इति ॥१२॥

(इन्द्रो जयाति) स एवेन्द्रः परमेश्वरः सभाप्रबन्धो वा जयाति विजयोत्कर्षं सदा प्राप्नोतु। (न पराजयातै[3]) स मा कदाचिद् पराजयं प्राप्नोतु (अधिराजो राजसु राजयातै) स राजाधिराजो विश्वस्येश्वरः सर्वेषु चक्रवर्तिराजसु माण्डलिकेषु वा स्वकीयसत्यप्रकाशन्यायेन सहास्माकं मध्ये सदा प्रसिध्यताम्। (चर्कृत्यः) यो जगदीश्वरः सर्वैर्मनुष्यैः पुनः पुनरुपासनायोग्योऽस्ति, (ईड्यः) अस्माभिः स एवैकः स्तोतुं योग्यः (वन्द्यश्च) पूजनीयः (उपसद्यः) समाश्रयितुं योग्यः (नमस्यः) नमस्कर्तुं योग्योऽस्ति। (भवेह) हे महाराजेश्वर! त्वमुत्तमप्रकारेणास्मिन् राज्ये सत्कृतो भव। भवत्सत्कारेण सह वर्त्तमाना वयमप्यस्मिन् चक्रवर्तिराज्ये सदा सत्कृता भवेम ॥१३॥

(त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युः) हे इन्द्र परमेश्वर! त्वं सर्वस्य जगतोऽधिराजोऽसि, श्रव इवाचरतीति, सर्वस्य श्रोता च, स्वकृपया मामपि तादृशं कुरु। (त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम्) हे भगवन्! त्वं भूः सदा भवसि। यथा जनानामभिभूतिरभीष्टस्यैश्वर्य्यस्य दातासि तथा मामप्यनुग्रहेण करोतु। (त्वं दैवीर्विश इमा विराजाः[4]) हे जगदीश्वर! यथा त्वं दिव्यगुणसम्पन्ना विविधोत्तमराजपालिताः, प्रत्यक्षविषयाः प्रजाः सत्यन्यायेन पालयसि तथा मामपि कुरु। ([5]युष्मत्क्षत्रमजरं

---

१. अथर्व ६। ९८। १,२ ॥

२. एतत्प्रयोगसाधुत्वज्ञानाय काशिका ७।२।७७ द्रष्टव्या।

३. अत्र नवमसंस्करणशोधयित्रा कोठारीरघुपालुयेन मन्त्रे साहितिकं कार्यमबुद्ध्वेह '(न पराजयाता) सं०' इत्येवं 'पराजयातै' स्थाने 'पराजयाता' पाठेन भाष्यम्' इत्येवं शोधनं प्रदर्शितम्, तल्लेट्लकारस्याज्ञानपरमेयम्। ४. अग्रिमा टिप्पणी ५ द्रष्टव्या।

५. मन्त्रपदानां स्वरानुरोधेन 'वि। राज। आयुष्मत्' इत्येवं विच्छेदो द्रष्टव्यः। इह तु 'विराजाः, युष्मत्' इत्येवं पदच्छेदः स्वीकृतः। स स्वरदोषाच्चिन्त्य इव प्रतीयते। नवमसंस्करणे 'ह० ले० में (आयुष्मत्क्ष०) पाठ है' एवं टिप्पणी दृश्यते। तेन प्रतीयतेऽवश्यमत्र लेखकादिप्रमादात् पाठो भ्रष्ट इति।

ते अस्तु) हे महाराजाधिराजेश्वर ! तव यदिदं सनातनं राजधर्मयुक्तं नाशरहितं विश्वरूपं राष्ट्रमस्ति तदिदं भवद्दत्तमस्माकमस्तु, इति याचितः सन्नाशीर्ददातीदं भूगोलाख्यं युष्मदधीनमस्तु ॥१४॥

भाषार्थ—(इमं देवा असपत्नम्) अब ईश्वर सब मनुष्यों को राज्यव्यवस्था के विषय में आज्ञा देता है कि—हे विद्वान् लोगो ! तुम इस राजधर्म को यथावत् जानकर अपने राज्य का ऐसा प्रबन्ध करो, कि जिससे तुम्हारे देश पर कोई शत्रु न आ जाय। (महते क्षत्राय०) हे शूरवीर लोगो ! अपने क्षत्रियधर्म, चक्रवर्ति राज्य श्रेष्ठकीर्ति, सर्वोत्तम राज्यप्रबन्ध के अर्थ (महते जानराज्याय) सब प्रजा को विद्वान् करके ठीक-ठीक राज्यव्यवस्था में चलाने के लिये तथा (इन्द्रस्येन्द्रियाय) बड़े ऐश्वर्य सत्य न्याय के प्रकाश करने के अर्थ (सुध्वयम्) अच्छे-अच्छे राज्य सम्बन्धी प्रबन्ध करो, कि जिनसे सब मनुष्यों को उत्तम सुख बढ़ता जाय ॥१२॥

(इन्द्रो जयाति) हे बन्धु लोगो ! जो परमात्मा अपने लोगों का विजय कराने वाला (न पराजयातै[1]) जो हमको दूसरों से कभी हारने नहीं देता (अधिराजः) जो महाराजाधिराज (राजसु राजयातै) सब राजाओं के बीच में प्रकाशमान होकर हमको भी भूगोल में प्रकाशमान करनेवाला है, (चर्कृत्यः) जो आनन्दस्वरूप परमात्मा सब जगत् को सुखों से पूर्ण करनेहारा, तथा (ईड्यो वन्द्यश्च) सब मनुष्यों को स्तुति और वंदना करने के योग्य, (उपसद्यो नमस्यः) सबको शरण लेने और नमस्कार करने के योग्य है, (भवेह) सो ही जगदीश्वर हमारा विजय करनेवाला, रक्षक, न्यायाधीश और राजा है। इसलिये हमारी यह प्रार्थना है कि हे परमेश्वर ! आप कृपा करके हम सबों के राजा हूजिये। और हम लोग आपके पुत्र और भृत्य के समान राज्याधिकारी होकर, आपके राज्य को सत्यन्याय से सुशोभित करें ॥१३॥

(त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युः) हे परमेश्वर ! आप ही सब संसार के अधिराज और आप्तों के समान सत्यन्याय के उपदेशक, (त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम्) आप ही सदा नित्यस्वरूप और सज्जन मनुष्यों को राज्य ऐश्वर्य के देनेवाले, (त्वं दैवीर्विश इमा विराजाः) आप ही इन विविध प्रजाओं को सुधारने और दुष्ट राजाओं का युद्ध में पराजय करानेवाले हैं। (युष्मत्क्षत्रमजरं ते अस्तु) हे जगदीश्वर ! आपका राज्य नित्य तरुण बना रहे कि जिससे सब संसार को विविध प्रकार का सुख मिले। इस प्रकार जो मनुष्य अपने सत्य प्रेम और पुरुषार्थ से ईश्वर की भक्ति और उसकी आज्ञा पालन करते हैं, उनको वह आशीर्वाद देता है कि—मेरे रचे हुए भूगोल का राज्य तुम्हारे आधीन हो ॥१४॥

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे ।

युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः ॥ १५ ॥

ऋ० अ० १ । अ० ३ । व० १८ । मं० २ ॥[2]

१. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'पराजयाता' अशुद्ध और संस्कृतपाठ से विपरीत है।

२. ऋ० १ । ३९ । २ ॥

तं सभा च समितिश्च सेना च ॥ १६ ॥

अथर्व० कां १५ । अनु० २ । व० ९ । मं० २ ॥[1]

इमं वीरमनु हर्षध्वमुग्रमिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम् ।
ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा ॥ १७ ॥

अथर्व० कां० ६ । अनु० १० । व० ९७ । मं० ३ ॥[2]

सभ्य सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः ।
त्वयेद्गाः पुरुहूत विश्वमायुर्व्यश्नवम् ॥ १८ ॥

अथर्व० का० १९ । अनु० ७ । व० ५५ । मं० ६ ॥[3]

भाष्यम्—(स्थिरा वः०) अस्यार्थः प्रार्थनाविषय उक्तः[4] ॥१५॥

(तं सभा च) राजसभा प्रजा च तं पूर्वोक्तं सर्वराजाधिराजं परमेश्वरं तथा सभाध्यक्षमभिषिच्य राजानं मन्येत । (समितिश्च) तमनुश्रित्यैव समितिर्युद्धम्[5] आचरणीयम्[6] । (सेना च) तथा वीरपुरुषाणां या सेना सापि परमेश्वरं, ससभाध्यक्षां सभां, स्वसेनानीं चानुश्रित्य युद्धं कुर्य्यात् ॥ १६ ॥

ईश्वरः सर्वान् मनुष्यान् प्रत्युपदिशति—(सखायः) हे सखायः ! (इमं वीरमुग्रमिन्द्रम्) शत्रूणां हन्तारं, युद्धकुशलं, निर्भयं, तेजस्विनं प्रतिराजपुरुषं[7] तथेन्द्रं परमैश्वर्य्यवन्तं परमेश्वरं (अनु हर्षध्वम्) सर्वे यूयमनुमोदध्वम् । एवं कृत्वैव दुष्टशत्रूणां पराजयार्थं (अनु संरभध्वम्) युद्धारम्भं कुरुत । कथम्भूतं तं ? (ग्रामजितम्) येन पूर्वं शत्रूणां समूहा जिताः (गोजितम्) येनेन्द्रियाणि पृथिव्यादिकं च जितं (वज्रबाहुम्) वज्रः प्राणो बलं बाहुर्यस्य [तम्] (जयन्तम्) जयं प्राप्नुवन्तं (प्रमृणन्तमोजसा) ओजसा बलेन शत्रून् प्रकृष्टतया हिंसन्तम् (अज्म) वयं तमाश्रित्य सदा विजयं प्राप्नुमः ॥ १७ ॥

(सभ्य सभां मे पाहि) हे सभायां साधो परमेश्वर ! मे मम सभां यथावत् पालय । 'मे' इत्यस्मच्छब्दनिर्देशात् सर्वान् मनुष्यानिदं वाक्यं गृह्णातीति । (ये च सभ्याः सभासदः) ये सभाकर्मसु साधवश्चतुराः सभायां सीदन्ति, तेऽस्माकं पूर्वोक्तां त्रिविधां सभां पान्तु यथावद् रक्षन्तु । (त्वयेद्गाः पुरुहूत) हे बहुभिः पूजित परमात्मन् ! त्वया सह ये सभाध्यक्षाः सभासद इद्गा[8] इतं

१. अथर्व १५ । ९ । २ ॥ २. अथर्व ६ । ९७। ३॥

३. अथर्व १९। ५५ । ६ ॥ अयं मन्त्रपाठो राथह्निटनीसंस्करणानुसारी वर्तते । केवलं 'र्व्यं' इत्यस्य स्थान आथर्वणिकानां 'र्व्यऽ' इति स्वरितचिह्नविशेषोऽस्माभिर्निर्दिष्टः । ४. पूर्वत्र पृष्ठ १७५ ।

५. समितिरिति संग्रामनामसु पठितम् । निघं० २ । १७ ॥ ६. 'आचरेत्' इति शुद्धः पाठो ज्ञेयः ।

७. वै० य० मुद्रितेषु केषुचित् संस्करणेषु 'प्रति राजपुरुषं' इत्येवं विच्छिन्नोऽपपाठ उपलभ्यते ।

८. स्वरानुरोधात् 'त्वया, इत्, गाः' इति त्रीणि पदानि । अत्र 'इत् गाः' इत्यनयोः पदयोरेकीकृत्यार्थः प्रदर्शितः । तथा चोक्तं बृहद्देवतायाम्—अनेकं ससथा चान्यदेकमेव निरुक्तवान् (२।११२-११३) इति ।

राजधर्मज्ञानं गच्छन्ति, त एव सुखं प्राप्नुवन्ति। (विश्वमायुर्व्यश्नवम्) एवं सभापालितोऽहं सर्वो ज शतवार्षिकं सुखयुक्तमायुः प्राप्नुयाम् ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(स्थिरा वः सन्त्वायुधा०) इस मन्त्र का अर्थ प्रार्थनादिविषय में कर दि है[1] ॥ १५ ॥

(तं सभा च) प्रजा तथा सब सभासद् राजाओं के राजा परमेश्वर को जानके, सब सभा में सभाध्यक्ष का अभिषेक करें। (समितिश्च) सब मनुष्यों को उचित है कि परमेश्वर औ सर्वोपकारक धर्म का ही आश्रय करके युद्ध करें। तथा (सेना च) जो सेना, सेनापति और सभ ध्यक्ष हैं, वे सब सभा के आश्रय से विचारपूर्वक उत्तम सेना को बनाके सदैव प्रजापालन और यु करें ॥१६॥

ईश्वर सब मनुष्यों को उपदेश करता है कि—(सखायः) हे बन्धु लोगो! (इमं वीरम् हे शूरवीर लोगो! न्याय और दृढ़भक्ति से अनन्त बलवान् परमेश्वर को इष्ट करके (अनु हर्षध्वम्) शूरवीर लोगों को सदा आनन्द में रक्खो। (उग्रमिन्द्रम्) तुम लोग अत्यन्त उ परमेश्वर के सहाय से एक सम्मति होकर (अनु संरभध्वम्) दुष्टों को युद्ध में जीतने का उपाय रचा करो। (ग्रामजितम्)[2] जिसने सब भूगोल तथा (गोजितम्) सबके मन और इन्द्रियों को जीत रक्खा है, (वज्रबाहुम्) प्राण जिसके बाहु, और (जयन्तम्) जो हम सब को जितानेवाला है, (अज्म) उसी को इष्ट जानके हम लोग अपना राजा मानें। (प्रमृणन्तमोजसा) जो अपने अनन्त पराक्रम से दुष्टों का पराजय करके हमको सुख देता है ॥१७॥

(सभ्य सभां मे पाहि) हे सभा के योग्य परमेश्वर! आप हम लोगों की राजसभा की रक्षा कीजिये। (ये च सभ्याः सभासदः) हम लोग जो सभा के सभासद् हैं, सो आप की कृपा से सभ्यतायुक्त होकर अच्छी प्रकार से सत्य न्याय की रक्षा करें। (त्वयेद्गाः पुरुहूत) हे सबके उपास्यदेव! (विश्वमायुर्व्यश्नवम्) हम लोग आप ही के सहाय से आपकी आज्ञा को पालन करते रहें, जिससे संपूर्ण आयु को सुख से भोगें ॥१८॥

[3]इयं राजधर्मव्याख्या वेदरीत्या संक्षेपेण लिखिता। अतोऽग्र ऐतरेयशतपथब्राह्मणादिग्रन्थरीत्या संक्षेपतो लिख्यते। तद्यथा—

जनिष्ठा उग्रः सहसे तुरायेति सूक्तमुग्रवत्सहस्वत्तत्क्षत्रस्य रूपं, मन्द्र ओजिष्ठ इत्योजस्वत्तत्क्षत्रस्य रूपम् ॥१॥

बृहत्पृष्ठं भवति, क्षत्रं वै बृहत् क्षत्रेणैव तत्क्षत्रं समर्द्धयत्यथो क्षत्रं वै बृहदात्मा यजमानस्य निष्केवल्यं तद्यद् बृहत्पृष्ठं भवति ॥२॥

---

१. पूर्वत्र पृष्ठ १७७। २. 'ग्रामजितं गोजितम्' का भावार्थ संस्कृत से भिन्न है।

३. अयं पाठो वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु उत्तरब्राह्मणपाठव्याख्यानस्यादौ पठ्यते। तस्य चेह स्थानमिति कृत्वेह समानीतः।

ब्रह्म वै रथन्तरं क्षत्रं बृहद्, ब्रह्मणि खलु वै क्षत्रं प्रतिष्ठितं क्षत्रे ब्रह्म ॥३॥

ओजो वा इन्द्रियं वीर्य्यं पञ्चदश ओजः क्षत्रं वीर्य्यं राजन्यस्तदेनमोजसा क्षत्रेण वीर्य्येण समर्द्धयति । तद्भारद्वाजं भवति भारद्वाजं वै बृहत् ॥४॥

ऐ० पं० ८। अ० १। कं० २,३ ॥

तानहमनु राज्याय साम्राज्याय भौज्याय स्वाराज्याय वैराज्याय पारमेष्ठ्याय राज्याय माहाराज्यायाधिपत्याय स्वावश्यायातिष्ठायां[1] रोहामीति ॥५॥

नमो ब्रह्मणे नमो ब्रह्मणे नमो ब्रह्मण इति त्रिष्कृत्वो ब्रह्मणे नमस्करोति । ब्रह्मण एव तत्क्षत्रं वशमेति, तद्यत्र वै ब्रह्मणः क्षत्रं वशमेति तद्राष्ट्रं समृद्धं तद्वीरवदाहास्मिन् वीरो जायते ॥६॥ ऐ० पञ्जि० ८। अ० २। कं० ६,९॥

भाष्यम्—(जनिष्ठा उग्रः०) राजसभायां, जनिष्ठा अतिशयेन जना विद्वांसो धर्मात्मानः श्रेष्ठप्रकृतीन् मनुष्यान् प्रति, सदा सुखदास्सौम्या भवेयुः, तथा दुष्टान् प्रत्युग्रो व्यवहारो धार्य्य इति । कुतो यद्राजकर्म्मास्ति तद् द्विविधं भवत्येकं सहस्वद्, द्वितीयमुग्रवद् अर्थात् क्वचिद् देशकालवस्त्वनुसारेण सहनं कर्त्तव्यम्, क्वचित्तद् विपर्य्यये राजपुरुषैर्दुष्टेषूग्रो दण्डो निपातनीयश्चैतत् क्षत्रस्य धर्मस्य स्वरूपं भवति । तथा (मन्द्र ओजिष्ठः०) उत्तमकर्मकारिभ्य आनन्दकरो दुष्टेभ्यो दुःखप्रदश्चास्ति, उत्तमवीरपुरुषसेनादिपदार्थसामग्र्या सहितो यो राजधर्मोऽस्ति स च क्षत्रस्य स्वरूपमस्ति ॥१॥

(बृहत्पृष्ठं०) यत् क्षत्रं कर्म तत् सर्वेभ्यः कृत्येभ्यो बृहन्महदस्ति । तथा पृष्ठमर्थान्निर्बलानां रक्षकं सत् पुनरुत्तमसुखकारकं भवति । एतेनोक्तेन च क्षत्रराजकर्म्मणा मनुष्यो राजकर्म्म वर्द्धयति । नातोऽन्यथा क्षत्रधर्मस्य वृद्धिर्भवितुमर्हति । तस्मात् क्षत्रं सर्वस्मात् कर्मणो बृहद् यजमानस्य प्रजास्थस्य जनस्य राजपुरुषस्य वात्माऽऽत्मवदानन्दप्रदं[2] भवति । तथा सर्वस्य संसारस्य निष्केवल्यं[3] निरन्तरं केवलं सुखं सम्पादयितुं यतः समर्थं भवति, तस्मात्तत् क्षत्रकर्म सर्वेभ्यो महत्तरं भवतीति ॥ २ ॥

(ब्रह्म वै रथन्तरं०) ब्रह्मशब्देन सर्वविद्यायुक्तो ब्राह्मणवर्णो गृह्यते, तस्मिन् खलु क्षत्रधर्मः प्रतिष्ठितो भवति । नैव कदाचित् सत्यविद्यया विना क्षत्रधर्मस्य वृद्धिरक्षणे भवतः । तथा (क्षत्रे ब्रह्म) राजन्ये ब्रह्माऽर्थात् सत्यविद्या प्रतिष्ठिता भवति । नैवास्माद् विना कदाचिद् विद्याया वृद्धिरक्षणे सम्भवतः । तस्माद् विद्याराजव्यवहारो मिलित्वैव राष्ट्रसुखोन्नतिं कर्त्तुं शक्नुत इति ॥३॥

(ओजो वा इन्द्रियं०)राजपुरुषैर्बलपराक्रमवन्तीन्द्रियाणि सदैव रक्षणीयानि अर्थाज्जितेन्द्रिय-

१. ऐतरेयब्राह्मणे 'स्वावश्यायातिष्ठायारोहामि' इति पाठः सम्प्रत्युपलभ्यते । ग्रन्थकृता तु यथोद्धृत एव पाठोऽत्र व्याख्यातः । २. क्षत्रं पदमभिप्रेत्य नपुंसकत्वम् ।

३. प्रथमसंस्करणे निष्केवल्यं इत्येव पाठः । हस्तलेखे तु 'निष्कैवल्य' इत्येवमपपाठो दृश्यते ।

तथैव सदैव वर्त्तितव्यम् । कुतः? "ओज एव क्षत्रं, वीर्य्यमेव राजन्यः"[1] इत्युक्तत्वात् । ततस्माद्योजसा क्षत्रेण वीर्य्येण राजन्येनैनं राजधर्मं मनुष्यः समर्द्धयति, सर्वसुखैरेधमानं करोति । इदमेव भारद्वाज भरणीयं, बृहद्वर्षान्महत् कर्मास्तीति ॥ ४ ॥

(तानहमनुराज्याय) सर्वे मनुष्या एवमिच्छां कृत्वा पुरुषार्थं कुर्युः—परमेश्वरानुग्रहेणाहमनुराज्याय सभाध्यक्षत्वप्राप्तये तथा माण्डलिकानां राज्ञामुपरि राजसत्ताप्राप्तये, (साम्राज्याय) सार्वभौमराज्यकरणाय, (भौज्याय) धर्मन्यायेन राज्यपालनायोत्तमभोगाय च, (स्वाराज्याय) स्वस्मै राज्यप्राप्तये, (वैराज्याय) विविधानां राज्ञां मध्ये महत्त्वेन प्रकाशाय (पारमेष्ठ्याय) परमराज्यस्थितये, (माहाराज्याय) महाराज्यसुखभोगाय, तथा (आधिपत्याय) अधिपतित्वकरणाय, (स्वावश्याय) स्वार्थप्रजावशत्वकरणाय च, (प्रतिष्ठायाम्) अत्युत्तमा विद्वांसस्तिष्ठन्ति यस्यां सा प्रतिष्ठा सभा, तस्यां[2] सर्वैर्गुणैः सुखैश्च (रोहामि) वर्द्धमानो भवामीति ॥ ५ ॥

(नमो ब्रह्मणे०) परमेश्वराय त्रिवारं चतुर्वारं वा नमस्कृत्य राजकर्मारम्भं कुर्य्यात् । यत् क्षत्रं ब्रह्मणः वशमेति, तद्राष्ट्रं समृद्धं सम्यक् ऋद्धियुक्तं वीरवद् भवति । तस्मिन्नेव राष्ट्रे वीरपुरुषो जायते, नान्यत्रेत्याह परमेश्वरः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—इस प्रकार वेदरीति से राजा और प्रजा के धर्म संक्षेप से कह चुके । इसके आगे वेद की सनातन व्याख्या, जो ऐतरेय और शतपथब्राह्मणादि ग्रन्थ हैं, उनकी साक्षी भी यहां लिखते है—

(जनिष्ठा उग्रः०) राजा की सेना और सभाओं में जो पुरुष हों, वे सब दुष्टों पर तेजधारी, श्रेष्ठों पर शान्तरूप, सुख-दुःख के सहन करनेवाले और धन के लिये अत्यन्त पुरुषार्थी हों । क्योंकि दुष्टों पर क्रुद्ध स्वभाव और श्रेष्ठों पर सहनशील होना यही राजा[3] का स्वरूप है । (मन्द्र ओजिष्ठः) जो आनन्दित और पराक्रमयुक्त होना है, वही राजा[3] का स्वरूप है [॥१॥]

क्योंकि राजव्यवहार सबसे बड़ा है । इसमें शूरवीर आदि गुणयुक्त पुरुषों की सभा और सेना रख कर अच्छी प्रकार राज्य को बढ़ाना चाहिये ॥२॥

(ब्रह्म वै रथन्तरं०) ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर और वेदविद्या से युक्त जो पूर्ण विद्वान् ब्राह्मण है, वही राज्य के प्रबन्धों में सुखप्राप्ति का हेतु होता है । इसलिये अच्छे राज्य के होने से ही सत्यविद्या प्रकाश को प्राप्त होती है ॥[३॥]

उत्तम विद्या और न्याययुक्त राज्य का नाम ओज है । जिसको दण्ड के भय से उल्लंघन वा अन्यथा कोई नहीं कर सकता । क्योंकि ओज अर्थात् बल का नाम क्षत्र और पराक्रम का नाम राजन्य है । ये दोनों जब परस्पर मिलते हैं, तभी संसार की उन्नति होती है ॥[४॥]

---

१. व्याख्यायमानोद्धरणस्य 'ओजः क्षत्रम्, वीर्यं राजन्यः' पाठस्यार्थतो अनुवादः ।

२. ऐतरेयब्राह्मणे 'प्रतिष्ठायारोहामि' इति पाठ इत्युक्तं प्राक् (पृष्ठ २६७, टि० १) इह तु 'प्रतिष्ठायाम्' पाठमाश्रित्य ग्रन्थकृता व्याख्या कृता ।

३. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'राज्य' अपपाठ है ।

इसके होने और परमेश्वर की कृपा से मनुष्य के राजकर्म, चक्रवर्तिराज्य, भोग का राज्य, अपना राज्य, विविध राज्य, परमेष्ठिराज्य, प्रकाशरूपराज्य, महाराज्य, राज्यों का अधिपतिरूप राज्य, और अपने वश का राज्य इत्यादि उत्तम-उत्तम सुख बढ़ते हैं ॥ [५॥]

इसलिये उस परमात्मा को मेरा वारंवार नमस्कार है कि जिसके अनुग्रह से हम लोग इन राज्यों के अधिकारी होते हैं ॥६॥

सप्रजापतिका अयं वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतम इममेवाभिषिञ्चामहा इति तथेति तद्वैतदिन्द्रमेव ॥७॥

सम्राजं साम्राज्यं भोजं भोजपितरं स्वराजं स्वाराज्यं विराजं वैराज्यं राजानं राजपितरं परमेष्ठिनं पारमेष्ठ्यं क्षत्रमजनि क्षत्रियोऽजनि विश्वस्य भूतस्याधिपतिरजनि विशामत्ताजनि पुरां भेत्ताजन्यसुराणां हन्ताजनि ब्रह्मणो गोप्ताजनि धर्मस्य गोप्ताजनीति ॥ स परमेष्ठी प्राजापत्योऽभवत् ॥८॥ ऐत० पं० ८ । अ० ३ । कं० १२,१४ ॥

स एतेनैन्द्रेण महाभिषेकेणाभिषिक्तः क्षत्रियः सर्वा जितीर्जयति सर्वान् लोकान् विन्दति, सर्वेषां राज्ञां श्रैष्ठ्यमतिष्ठां[1] परमतां गच्छति साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं माहाराज्यमाधिपत्यं जित्वास्मिँल्लोके स्वयंभूः स्वराडमृतोऽमुष्मिन्स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वामृतः सम्भवति यमेतेनैन्द्रेण महाभिषेकेण क्षत्रियं शापयित्वाऽभिषिञ्चति ॥ ९ ॥ ऐत० पं० ८ । अ० ४ । कं० १९ ॥

भाष्यम्—(सप्रजापतिका०) सर्वे सभासदः प्रजास्थमनुष्याः स्वामिनेष्टेन पूज्यतमेन परमेश्वरेणैव सह वर्त्तमाना भवेयुः । सर्वे मिलित्वैवं विचारं कुर्य्युर्यतो न कदाचित् सुखहानि-पराजयौ स्याताम् । यो देवानां विदुषां मध्ये (ओजिष्ठः) पराक्रमवत्तमः, (बलिष्ठः) सर्वोत्कृष्ट-बलसहितः, (सहिष्ठः) अतिशयेन सहनशीलः, (सत्तमः) सर्वैर्गुणैरत्यन्तश्रेष्ठः, (पारयिष्णुतमः) सर्वेभ्यो युद्धाविदुःखेभ्योऽतिशयेन सर्वांस्तारयितृतमो विजयकारकतमोऽस्माकं मध्ये श्रेष्ठतमोऽस्तीति वयं निश्चित्य तमेव पुरुषमभिषिञ्चाम इतीच्छेयुः, तथैव खल्वस्त्वति सर्वे प्रतिजानीयुः । एवंभूतस्योत्तमपुरुषस्याभिषेककरणं, सर्वैश्वर्य्यप्रापकत्वादिन्द्रमित्याहुः[2] ॥ २ ॥

(सम्राजं०) एवम्भूतं सार्वभौमराजानं, (साम्राज्यम्) सार्वभौमराज्यं, (भोजम्) उत्तम-भोगसाधकं (भोजपितरम्) उत्तमभोगानां रक्षकं, (स्वराजम्) राजकर्मसु प्रकाशमानं, सद्विद्यादि-गुणैस्स्वहृदये देदीप्यमानं, (स्वाराज्यम्) स्वकीयराज्यपालनं (विराजम्) विविधानां राज्ञां प्रकाशकं,

---

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'श्रैष्ठ्यप्रतिष्ठां' इत्यपपाठ उपलभ्यते । स च हस्तलेखे '०मतिष्ठां' इति शुद्धं पाठमपमृज्य '०प्रतिष्ठां' इत्यपपाठो यः केनचित् कृतः, तन्निमित्तो ज्ञेयः । व्याख्याने स्पष्टमेव 'श्रैष्ठ्यम्, प्रतिष्ठां' द्वे पदे व्याख्यायेते ।

२. अयमभिप्रायः—तथैव खलु सर्वे एवंभूतस्योत्तमपुरुषस्याभिषेककरणम् 'अस्तु' इति प्रतिजानीयुः, सर्वैश्वर्यप्रापकत्वादेव तम् 'इन्द्रम्' इत्याहुः ।

(वैराज्यम्) विविधराज्यप्राप्तिकरं, (राजानम्) श्रेष्ठैश्वर्य्येण प्रकाशमानं, (राजपितरम्) राज्ञां रक्षकं, (परमेष्ठिनम्) परमोत्कृष्टे राज्ये स्थापयितुं योग्यं, (पारमेष्ठ्यम्) परमेष्ठिसम्पादितं सर्वोत्कृष्टं पुरुषं वयमभिषिञ्चामहे। एवमभिषिक्तस्य पुरुषस्य सुखयुक्तं (क्षत्रमजनि) प्रादुर्भवतीति। अजनीति छन्दसि लुङ्लङ्लिटः [अष्टा० ३।४।६] इति वर्त्तमानकाले लुङ्। (क्षत्रियोऽजनि) तथा क्षत्रियो वीरपुरुषः (विश्व०) सर्वस्य प्राणिमात्रस्याधिपतिः सभाध्यक्षः (विशामत्ता०) दुष्टप्रजानामत्ता विनाशकः, (पुरां भे०) शत्रुनगराणां विनाशकः, (असुराणां हन्ता) दुष्टानां हन्ता हननकर्त्ता, (ब्रह्मणो०) वेदस्य रक्षकः, (धर्मस्य गो०) धर्मस्य च रक्षकोऽजनि प्रादुर्भवतीति। (स परमेष्ठी) स राजधर्मः सभाध्यक्षादिमनुष्यैः (प्राजापत्यः०) अर्थात् परमेश्वर [एव] इष्टः करणीयः। न तद्भिन्नोऽयं केनचित् मनुष्येणेष्टः कर्तुं योग्योऽस्त्यतः सर्वे मनुष्याः परमेश्वरपूजका भवेयुः॥ ८॥

यो मनुष्यो राज्यं कर्तुमिच्छेत् स (एतेनैन्द्रेण) पूर्वोक्तेन सर्वैश्वर्य्यप्राप्तिनिमित्तेन (महाभिषेकेणा०) अभिषिक्तः स्वीकृतः (क्षत्रियः) क्षत्रधर्मवान् (सर्वा०) सर्वेषु युद्धेषु जयति, सर्वत्र विजयं तथा सर्वानुत्तमाँल्लोकांश्च विन्दति प्राप्नोति। (सर्वेषां राज्ञां०) मध्ये श्रेष्ठ्यं सर्वोत्तमत्वं, पूर्वोक्तामतिष्ठां[1], या परेषु शत्रुषु विजयेन हर्षनिमित्ता तथा परेषां शत्रूणां दीनत्वनिमित्ता सा परमता[2]=सभा, तां वा गच्छति प्राप्नोति। तया सभया पूर्वोक्तं साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं माहाराज्यमाधिपत्यं राज्यं च जित्वास्मिन् लोके चक्रवर्तिसार्वभौमो महाराजाधिराजो भवति। तथा शरीरं त्यक्त्वाऽमुष्मिन् स्वर्गे सुखस्वरूपे लोके परब्रह्मणि (स्वयम्भूः) स्वाधीनः, (स्वराट्) स्वप्रकाशः, (अमृतः) प्राप्तमोक्षसुखः सन् सर्वान् कामानाप्नोति। (आप्त्वामृतः०) पूर्णकामोऽजरामरः सम्भवति। (यमेतेनैन्द्रेण०) एतेनोक्तेन सर्वैश्वर्येण (शापयित्वा) प्रतिज्ञां कारयित्वा यं सकलगुणोत्कृष्टं क्षत्रियं महाभिषेकेणाभिषिञ्चन्ति सभासदः सभायां स्वीकुर्वन्ति, तस्य राष्ट्रे कदाचिदनिष्टं न प्रसज्यत इति विज्ञेयम्॥ ६॥

भावार्थ—जो क्षत्र अर्थात् राज्य परमेश्वर आधीन और विद्वानों के प्रबन्ध में होता है, वह सब सुखकारक पदार्थ और वीर पुरुषों से अत्यन्त प्रकाशित होता [है]। (सप्रजापतिका०) और वे विद्वान् एक अद्वितीय परमेश्वर के ही उपासक होते हैं। [3]जो सब देवों विद्वानों के बीच में अनन्त विद्यायुक्त और अपार बलवान् है, तथा अत्यन्त सहनस्वभाव और सबसे उत्तम है, वही हमको सब दुःखों के पार उतारके सब सुखों को प्राप्त करानेवाला है। उसी श्रेष्ठतम पुरुष को हम लोग अपने

१. द्र०—पृ० २६८, टि० २। वै० य० मुद्रितेषु द्वितीयादारभ्याष्टमं यावत् संस्करणेषु 'पूर्वोक्तां प्रतिष्ठां' इत्येवमपपाठ एव दृश्यते। प्रथमसंस्करणे तु 'अतिष्ठां' इति शुद्धः पाठ एवोपलभ्यते।

२. कतिपयेषु वै० य० मुद्रितसंस्करणेषु 'परमता' इत्यपपाठ उपलभ्यते। ब्राह्मणेऽपि 'परमतां' इत्येव पाठः।

३. वै० य० मुद्रित भाषानुवाद भ्रष्ट तथा असम्बन्ध है, उसमें कुछ परिवर्तन करके ऊपर का पाठ बनाया है। पुराना पाठ इस प्रकार था—'उपासक होते हैं। क्योंकि वही एक परमात्मा सब देवों के बीच में……प्राप्त करानेवाला है। उसी परमात्मा को हम लोग……मानते हैं, तथा जिसका नाम इन्द्र अर्थात् परमैश्वर्ययुक्त है।'

राज्य और सभा में अभिषेक करके अपना न्यायकारी राजा सदा के लिये मानते हैं। तथा उसे ही सब ऐश्वर्यों के प्रापक होने से इन्द्र नाम से कहते हैं ॥[७॥]

वही हमारा सम्राट् अर्थात् चक्रवर्ति राजा, और वही हमको भी चक्रवर्ति राज्य देनेवाला है। जो पिता के सदृश सब प्रकार से हमारा पालन करनेवाला, स्वराट् अर्थात् स्वयं प्रकाशस्वरूप और प्रकाशरूप राज्य का देनेवाला है। तथा जो विराट् अर्थात् सबका प्रकाशक, विविध राज्य का देनेवाला है, उसीको हम राजा और सब राजाओं का पिता मानते हैं। क्योंकि वही परमेष्ठी सर्वोत्तम राज्य का भी देनेवाला है। उसी की कृपा से मैंने राज्य को प्रसिद्ध किया, अर्थात् मैं क्षत्रिय और सब प्राणियों का अधिपति हुआ, तथा प्रजाओं का संग्रह, दुष्टों के नगरों का भेदन, असुर अर्थात् चोर डाकुओं का ताड़न, ब्रह्म अर्थात् वेदविद्या का पालन और धर्म की रक्षा करनेवाला हुआ हूं ॥[८॥]

जो क्षत्रिय इस प्रकार के गुण और सत्यकर्मों से अभिषिक्त अर्थात् युक्त होता है, वह सब युद्धों को जीत लेता है। तथा सब उत्तम सुख और लोकों का अधिकारी बनकर सब राजाओं के बीच में अत्यन्त उत्तमता को प्राप्त होता है। जिससे इस लोक में चक्रवर्ति राज्य और लक्ष्मी को भोगके मरणान्तर परमेश्वर के समीप सब सुखों को भोगता है। क्योंकि ऐन्द्र अर्थात् महा ऐश्वर्य-युक्त अभिषेक से क्षत्रिय को प्रतिज्ञापूर्वक राज्याधिकार मिलता है। इसलिये जिस देश में इस प्रकार का राज्यप्रबन्ध किया जाता है, वह देश अत्यन्त सुख को प्राप्त होता है ॥९॥

क्षत्रं वै स्विष्टकृत् ॥ क्षत्रं वै साम। साम्राज्यं वै साम ॥ [१०॥]

श० कां० १२। अ० ८। ब्रा० ३ ॥[1]

ब्रह्म वै ब्राह्मणः क्षत्रꣳ राजन्यस्तदस्य ब्रह्मणा च क्षत्रेण चोभयतः श्रीः परिगृहीता भवति ॥ युद्धं वै राजन्यस्य वीर्य्यम् ॥ [११॥] श० कां० १३। अ० १ ब्रा० ५ ॥[2]

राष्ट्रं वा अश्वमेधः ॥ [१२॥] श० कां० १३। अ० १। ब्रा० ६ ॥[3]

राजन्य एव शौर्य्यं महिमानं दधाति तस्मात् पुरा राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जज्ञे ॥ [१३ ॥] श० कां० १३। अ० १। ब्रा० ९ ॥[4]

भाष्यम्—(क्षत्रं वै०) क्षत्रमर्थाद् राजसभाप्रबन्धेन यद्यथावत् प्रजापालनं क्रियते, तदेव स्विष्टकृदर्थादिष्टसुखकारि, (क्षत्रं वै साम) यद्वै दुष्टकर्मणामन्तकारि तथा सर्वस्याः प्रजायाः सान्त्वप्रयोगकर्तृ च भवति, (साम्राज्यं वै०) तदेव श्रेष्ठं राज्यं [इत्येवं] वर्णयन्ति ॥[१०॥]

(ब्रह्म वै०) [यो] ब्रह्मार्थाद् वेदं परमेश्वरं च वेत्ति स एव ब्राह्मणो भवितुमर्हति। (क्षत्रꣳ०) यो जितेन्द्रियो विद्वान् शौर्य्यादिगुणयुक्तो महावीरपुरुषः क्षत्रधर्मं स्वीकरोति, स राजन्यो भवितुम-

१. शत० १२। ८। ३। १९,२३ ॥ २. शत० १३। १। ५। ३, ६ ॥
३. शत० १३। १। ६। ३ ॥ ४. शत० १३। १। ९। २ ॥

र्हति। (तदस्य ब्रह्मणा०) तादृशैर्ब्राह्मणैः राजन्यैश्च सहास्य राष्ट्रस्य सकाशादुभयतः श्री राज्य-लक्ष्मीः परितः सर्वतो गृहीता भवति। नैवं राजधर्मानुष्ठानेनास्य श्रियः कदाचिद्ध्रासाऽन्यथात्वे भवतः। (युद्धं वै०) अत्रेदं बोध्यम्—युद्धकरणमेव राजन्यस्य वीर्य्यं बलं भवति। नानेन विना महाधनसुखयोः कदाचित् प्राप्तिर्भवति। कुतः? निघण्टौ (अ० २, खं० १७) संग्रामस्यैव महाधनसंज्ञत्वात्। महान्ति धनानि प्राप्तानि भवन्ति यस्मिन् स महाधनः संग्रामः, नास्माद् विना कदाचित् महती प्रतिष्ठा महाधनं च प्राप्नुतः ॥[११॥]

(राष्ट्रं वा अश्वमेधः) राष्ट्रपालनमेव क्षत्रियाणामश्वमेधाख्यो यज्ञो भवति। नाश्वं हत्वा तदङ्गानां होमकरणं चेति ॥ [१२॥]

(राजन्य एव०) पुरा पूर्वोक्तैर्गुणैर्युक्तो राजन्यो यदा शौर्य्यं महिमानं दधाति, तदा सार्व-भौमं राज्यं कर्तुं समर्थो भवति। तस्मात् कारणात् राजन्यः शूरो युद्धोत्सुको निर्भयः, (इषव्यः) शस्त्रास्त्रप्रक्षेपणे कुशलः, (अतिव्याधी) अत्यन्ता व्याधाः शत्रूणां हिंसका योद्धारो यस्य, (महारथः) महान्तो भूजलान्तरिक्षगमनाय रथा यस्येति। यस्मिन् राष्ट्रे ईदृशो राजन्यो (जज्ञे) जातोऽस्ति, नैव कदाचित् तस्मिन् भयदुःखे सम्भवतः ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(क्षत्रं वै०) राजसभाप्रबन्ध से जो यथावत् प्रजा का पालन किया जाता है, वही स्विष्टकृत् अर्थात् अच्छी प्रकार चाहे हुए सुख का करनेवाला होता है। (क्षत्रं वै सा०) जो राज-कर्म्म दुष्टों का नाश और श्रेष्ठों का पालन करनेवाला है, [(साम्राज्यं०)] वही साम्राज्यकारी अर्थात् राजसुखकारक होता है ॥[१०॥]

(ब्रह्म वै०) जो मनुष्य ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर और वेद का जाननेवाला है, वही ब्राह्मण होने के योग्य है। (क्षत्रं०) जो इन्द्रियों का जीतनेवाला, पण्डित, शूरतादिगुणयुक्त, श्रेष्ठ वीरपुरुष क्षत्रधर्म को स्वीकार करता है, सो क्षत्रिय होने के योग्य है। (तदस्य ब्रह्मणा०) ऐसे ब्राह्मण और क्षत्रियों के साथ न्यायपालक राजा को अनेक प्रकार से लक्ष्मी प्राप्त होती है, और उसके खजाने की हानि कभी नहीं होती। (युद्धं वै०) यहां इस बात को जानना चाहिये कि जो राजा को युद्ध करना है, वही उसका बल होता है। उसके विना बहुत धन और सुख की प्राप्ति कभी नहीं होती। क्योंकि निघण्टु में संग्राम ही का नाम 'महाधन' है। सो उसको 'महाधन' इसलिये कहते हैं कि उससे बड़े-बड़े उत्तम पदार्थ प्राप्त होते हैं, क्योंकि विना संग्राम के अत्यन्त प्रतिष्ठा और धन कभी नहीं प्राप्त होता ॥[११॥]

[(राष्ट्रं०)] और जो न्याय से राज्य का पालन करना है, वही क्षत्रियों का 'अश्वमेध' कहाता है। किन्तु घोड़े को मारके उसके अङ्गों का होम करना, यह 'अश्वमेध' नहीं है ॥ [१२॥]

(राजन्य एव०) पूर्वोक्त राजा जब शूरतारूप कीर्त्ति को धारण करता है तभी सम्पूर्ण पृथिवी के राज्य करने को समर्थ होता है। इसलिये जिस देश में युद्ध को अत्यन्त चाहनेवाला, निर्भय, शस्त्र-अस्त्र चलाने में अतिचतुर, और जिसका रथ पृथिवी समुद्र और अन्तरिक्ष में जाने-वाला हो, ऐसा राजा होता है, वहां भय और दुःख नहीं होते ॥[१३॥]

श्रीर्वै राष्ट्रम् ॥ श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः ॥ श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यम् ॥ क्षेमो वै राष्ट्रस्य शीतम् ॥ विड् वै गभो राष्ट्रं पसो राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः ॥ विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति न पुष्टं पशु मन्यत इति ॥ [१]४॥
शत० कां० १३ । प्र० २ । ब्रा० ६ ॥[1]

भाष्यम्—(श्रीर्वै राष्ट्रम्) या विद्याद्युत्तमगुणरूपा नीतिः सैव राष्ट्रं भवति। (श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः) सैव राज्यश्री राष्ट्रस्य सम्भारो भवति। (श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यम्) राष्ट्रस्य मध्यभागोऽपि श्रीरेवास्ति। (क्षेमो वै रा०) क्षेमो यद्रक्षणं तदेव राष्ट्रस्य [शीतं] शयनवन्निरुपद्रवं सुखं भवति। (विड् वै गभः) विड् या प्रजा सा गभाख्यास्ति। (राष्ट्रं पसो०) यद्राष्ट्रं तत्पसाख्यं भवति, तस्माद् यद् राष्ट्रसम्बन्धिकर्म तद्विशि प्रजायामाविश्य तामाहन्त्यासमन्तात् करग्रहणेन प्रजाया उत्तमपदार्थानां हरणं करोति। (तस्माद्राष्ट्री वि०) यस्मात् सभया विनैकाकी पुरुषो [राजा] भवति, तत्र प्रजा सदा पीडिता भवति। तस्मादेकः पुरुषो राजा नैव कर्त्तव्यः, नैकस्य पुरुषस्य राजधर्मानुष्ठाने यथावत् सामर्थ्यं भवति। तस्मात सभयैव राज्यप्रबन्धः कर्त्तुं शक्योऽस्ति। (विशमेव राष्ट्राया०) यत्रैको राजास्ति तत्र राष्ट्राय विशं प्रजामाद्यां भक्षणीयां भोज्यवत्ताडितां करोति। यस्मात् स्वसुखार्थं प्रजाया उत्तमान् पदार्थान् गृह्णन् सन् प्रजायै पीडां ददाति, तस्मादेको राष्ट्री विशमत्ति। (न पुष्टं पशु म०) यथा मांसाहारी पुष्टं पशुं दृष्ट्वा हन्तुमिच्छति, तथैको राजा न मत्तः कश्चिदधिको भवेदितीर्ष्यया नैव प्रजास्थस्य कस्यचिन्मनुष्यस्योत्कर्षं सहते। तस्मात् सभाप्रबन्धयुक्तेन राज्यव्यवहारेणैव भद्रम् इति। एवं राजधर्मव्यवहारप्रतिपादका मन्त्रा[2] बहवः सन्तीति ॥ [१४॥]

भाषार्थ—(श्रीर्वै राष्ट्रम्) श्री जो है लक्ष्मी, वही राज्य का स्वरूप, सामग्री और मध्य है। तथा राज्य का जो रक्षण करना है, वही शोभा अर्थात् श्रेष्ठभाग कहाता है। राज्य के लिये एक को राजा कभी नहीं मानना चाहिये। क्योंकि जहां एक को राजा मानते हैं, वहां सब प्रजा दुःखी और उसके उत्तम पदार्थों का अभाव हो जाता है। इसी से किसी की उन्नति नहीं होती ॥[१४॥]

इसी प्रकार सभा करके राज्य का प्रबन्ध आर्यों में श्रीमन्महाराज युधिष्ठिर पर्यन्त बराबर चला आया है, जिसकी साक्षी महाभारत के राजधर्म आदि ग्रन्थ तथा मनुस्मृत्यादि धर्मशास्त्रों में यथावत् लिखी है। उनमें जो कुछ प्रक्षिप्त किया है, उसको छोड़के बाकी सब अच्छा है। क्योंकि वह वेदों के अनुकूल है। और आर्यों की यह एक बात बड़ी उत्तम थी कि जिस सभा वा न्यायाधीश के सामने अन्याय हो, वह प्रजा का दोष नहीं मानते थे। किन्तु वह दोष सभाध्यक्ष, सभासद् और न्यायाधीश का ही गिना जाता था। इसलिये वे लोग सत्य न्याय करने में अत्यन्त पुरुषार्थ करते थे, कि जिससे आर्य्यावर्त्त के न्यायघर में कभी अन्याय नहीं होता था। और जहां होता था, वहां उन्हीं न्यायाधीशों को दोष देते थे। यही सब आर्यों का सिद्धान्त है। अर्थात् इन्हीं वेदादिशास्त्रों की रीति से आर्यों ने भूगोल में करोड़ों वर्ष राज्य किया है, इसमें कुछ सन्देह नहीं।

इति संक्षेपतो राजप्रजाधर्मविषयः

१. शत० १३ । २ । ६ । २-६, ८ ॥ २. अस्मिन् प्रकरणे मन्त्राणामाधिक्याद् ब्राह्मणवचनानां चाल्पत्वाद् इह भूमान्यायेन 'मन्त्र'पदस्य निर्देशो ज्ञेयः।

अथ वर्णाश्रमविषयः संक्षेपतः

तत्र वर्णविषयो मन्त्रो 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' इत्युक्तस्तदर्थश्च[1]। तस्यायं शेषः—

वर्णो वृणोतेः ॥१॥ निरु० अ० २। खं० ३॥

ब्रह्म हि ब्राह्मणः। क्षत्रꣳ हीन्द्रः क्षत्रꣳ राजन्यः ॥२॥ श० कां० ५। अ० १। ब्रा० १॥[2]

बाहू वै मित्रावरुणौ पुरुषो गर्तः॥ वीर्य्यं वा एतद्राजन्यस्य यद्बाहू, वीर्य्यं वा एतदपाꣳ रसः॥ श० कां० ५। अ० ४। ब्रा० ३॥[3]

इषवो वै दिद्यवः ॥३॥ श० कां ५। अ० ४। ब्रा० ४॥[4]

भाष्यम्—वर्णो वृणोतेरिति निरुक्तप्रामाण्याद् वरणीया वरीतुमर्हा, गुणकर्माणि च दृष्ट्वा यथायोग्यं व्रियन्ते ये ते वर्णाः ॥१॥

(ब्रह्म हि ब्राह्मणः) ब्रह्मणा वेदेन परमेश्वरस्योपासनेन च सह वर्त्तमानो विद्याद्युत्तमगुणयुक्तः पुरुषो ब्राह्मणो भवितुमर्हति। तथैव (क्षत्रꣳहीन्द्रः) क्षत्रं क्षत्रियकुलम्, यः पुरुष इन्द्रः परमैश्वर्यवान् शत्रूणां क्षयकरणाद् युद्धोत्सुकत्वाच्च प्रजापालनतत्परः, [स] (राजन्यः) क्षत्रियो भवितुमर्हति ॥२॥

(मित्रः) सर्वेभ्यः सुखदाता (वरुणः) उत्तमगुणकर्मधारणेन श्रेष्ठः, इमावेव क्षत्रियस्य द्वौ बाहुवद् भवेताम्। (वा) अथवा (वीर्यम्) पराक्रमो बलं चैतदुभयं (राजन्यस्य०) क्षत्रियस्य बाहू भवतः। (अपाम्) प्राणानां यो (रसः) आनन्दस्तं प्रजाभ्यः प्रयच्छतः क्षत्रियस्य वीर्य्यं वर्धते। तस्य (इषवः) बाणाः, शस्त्रा[स्त्रा]णामुपलक्षणमेतत् (दिद्यवः) प्रकाशकाः सदा भवेयुः ॥३॥

भाषार्थ—अब वर्णाश्रमविषय लिखा जाता है। इसमें यह विशेष जानना चाहिये कि प्रथम मनुष्य जाति सबकी एक है, सो भी वेदों से सिद्ध है। इस विषय का प्रमाण सृष्टिविषय में लिख दिया है। तथा 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' यह मन्त्र सृष्टिविषय में लिख चुके हैं[5]। वर्णों के प्रतिपादन करनेवाले वेदमन्त्रों की जो व्याख्या ब्राह्मण और निरुक्तादि ग्रन्थों में लिखी है, वह कुछ यहां भी लिखते हैं—

---

१. पूर्व पृष्ठ १४५॥ २. शत० ५।१।१।११॥

३. 'ब्रा० ३' अपपाठोऽयम्। शत० ५।४।१। १५,१७॥

४. 'ब्रा० ४' अपपाठोऽयम्। शत० ५।४।२।२॥ ५. पूर्व पृष्ठ १४५॥

मनुष्य जाति के ब्राह्मण,क्षत्रिय,वैश्य,शूद्र ये 'वर्ण' कहाते हैं। वेदरीति से इनके दो भेद हैं—एक आर्य और दूसरा दस्यु। इस विषय में यह प्रमाण है कि—**'विजानीह्यार्य्यान् ये च दस्यवो०'**[1] अर्थात् इस मन्त्र से परमेश्वर उपदेश करता है कि—हे जीव! तू आर्य अर्थात् श्रेष्ठ और दस्यु अर्थात् दुष्टस्वभावयुक्त डांकू आदि नामों से प्रसिद्ध मनुष्य के ये दो भेद जान ले। तथा **'उत शूद्रे उत आर्य्ये'**[2] इस मन्त्र से भी आर्य्य ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और अनार्य्य अर्थात् अनाड़ी जो कि शूद्र कहाते हैं, ये दो भेद जाने गये हैं। तथा **'असुर्या नाम ते लोका०'**[3] इस मन्त्र से भी देव और असुर अर्थात् विद्वान् और मूर्ख ये दो ही भेद जाने जाते हैं। और इन्हीं दोनों के विरोध को देवासुर संग्राम कहते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद ये चार भेद गुण कर्मों से किये गये हैं।

(वर्णो०) इनका नाम 'वर्ण' इसलिये है कि जैसे जिसके गुण कर्म हों, वैसा ही उसको अधिकार देना चाहिये। (ब्रह्म हि ब्रा०) ब्रह्म अर्थात् उत्तम कर्म करने से उत्तम विद्वान् ब्राह्मण वर्ण होता है। (क्षत्रं हि०) परम ऐश्वर्य (बाहू०) बल वीर्य्य के होने से मनुष्य क्षत्रिय वर्ण होता है, जैसा कि राजधर्म में लिख आये हैं[4] ॥१-३॥

आश्रमा अपि चत्वारः सन्ति—ब्रह्मचर्य्यगृहस्थवानप्रस्थसंन्यासभेदात्। ब्रह्मचर्य्येण सद्विद्या शिक्षा च ग्राह्या। गृहाश्रमेणोत्तमाचरणानां श्रेष्ठानां पदार्थानां चोन्नतिः कार्य्या। वानप्रस्थेनैकान्तसेवनं ब्रह्मोपासनं विद्याफलविचारणादि च कार्य्यम्। संन्यासेन परब्रह्ममोक्षपरमानन्दप्रापणं क्रियते, सदुपदेशेन सर्वस्मा आनन्ददानं चेत्यादि, चतुर्भिराश्रमैर्धर्मार्थकाममोक्षाणां सम्यक् सिद्धिः सम्पादनीया। एतेषां[5] मुख्यतया ब्रह्मचर्य्येण सद्विद्यासुशिक्षादयः शुभगुणाः सम्यग्ग्राह्याः।

अत्र ब्रह्मचर्याश्रमे प्रमाणम्—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥ १ ॥
इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्त्ति ॥ २ ॥
पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत्।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥ ३ ॥

अथर्व० कां० ११। अनु० ३। व० ५। मं० ३-५ ॥[6]

भाष्यम्—(आचार्य्य उ०) आचार्य्यो विद्याध्यापको ब्रह्मचारिणमुपनयमानो विद्यापठनार्थमुपवीतं दृढव्रतमुपविशन्नन्तर्गर्भमिव कृणुते करोति। तं तिस्रो रात्रीस्त्रिदिनपर्य्यन्तमुदरे बिभर्ति,

1. ऋ० १। ५१। ८॥ 2. तु० अथर्व १९। ६२। १॥ 3. यजुः ४०। ३॥
4. पूर्वत्र पृष्ठ २६६-२७३॥ 5. निर्धारणे षष्ठी,एतेषां मध्य इत्यर्थः। 6. अथर्व ११। ५। ३-५॥

अर्थात् सर्वां शिक्षां करोति, पठनस्य च रीतिमुपविशति। यदा विद्यायुक्तो विद्वान् जायते, तदा तं विद्यासु जातं प्रादुर्भूतं देवा विद्वांसो द्रष्टुमभिसंयन्ति प्रसन्नतया तस्य मान्यं कुर्वन्ति। अस्माकं मध्ये महाभाग्योदयेनेश्वरानुग्रहेण च सर्वमनुष्योपकारार्थं त्वं विद्वान् जात इति प्रशंसन्ति ॥१॥

(इयं समित्०) इयं पृथिवी द्यौः प्रकाशोऽन्तरिक्षं चानया समिधा स ब्रह्मचारी पृणाति, तत्रस्थान् सर्वान् प्राणिनो विद्यया होमेन च प्रसन्नान् करोति। (समिधा) अग्निहोत्रादिना, (मेखलया) ब्रह्मचर्य्यचिह्नधारणेन च (श्रमेण) परिश्रमेण (तपसा) धर्मानुष्ठानेनाध्यापनेनोपदेशेन च (लोकान्) सर्वान् प्राणिनः (पिपर्ति) पुष्टान् प्रसन्नान् करोति ॥२॥

(पूर्वो जातो ब्रह्म०) ब्रह्मणि वेदे चरितुं शीलं यस्य स ब्रह्मचारी (घर्मं वसानः) अत्यन्तं तपश्चरन्, ब्रह्मणोऽर्थाद्वेदं[1] परमेश्वरं च विदन्, पूर्वः सर्वेषामाश्रमाणामादिमः सर्वाश्रमभूषकः, (तपसा) धर्मानुष्ठानेन (उदतिष्ठत्) ऊर्ध्वं उत्कृष्टबोधे व्यवहारे च तिष्ठति। तस्मात् कारणात् (ब्रह्मज्येष्ठम्[2]) ब्रह्मैव परमेश्वरो विद्या वा ज्येष्ठा सर्वोत्कृष्टा यस्य तं ब्रह्मज्येष्ठम्[2]। (अमृतेन) परमेश्वरमोक्षबोधेन परमानन्देन साकं सह वर्त्तमानं (ब्राह्मणम्) ब्रह्मविदं (जातम्) प्रसिद्धं (देवाः) सर्वे विद्वांसः प्रशंसन्ति ॥३॥

भाषार्थ—अब आगे चार आश्रमों का वर्णन किया जाता है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ये चार आश्रम कहाते हैं। इनमें से पांच वा आठ वर्ष की उमर से अड़तालीस वर्ष पर्यन्त प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम का समय है। इसके विभाग पितृयज्ञ में कहेंगे[3]। वह सुशिक्षा और सत्यविद्यादि गुण ग्रहण करने के लिये होता है। दूसरा गृहाश्रम—जो कि उत्तम गुणों के प्रचार और श्रेष्ठ पदार्थों की उन्नति से सन्तानों की उत्पत्ति और उनको सुशिक्षित करने के लिये किया जाता है। तीसरा वानप्रस्थ—जिससे ब्रह्मविद्यादि साक्षात् साधन करने के लिये एकान्त में परमेश्वर का सेवन किया जाता है। चौथा संन्यास—जो कि परमेश्वर अर्थात् मोक्षसुख की प्राप्ति और सत्योपदेश से सब संसार के उपकार के अर्थ किया जाता है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पदार्थों की प्राप्ति के लिये इन चार आश्रमों का सेवन करना सब मनुष्यों को उचित है। इनमें से प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम जो कि सब आश्रमों का मूल है, उसके ठीक-ठीक सुधरने से सब आश्रम सुगम और बिगड़ने से नष्ट हो जाते हैं। इस आश्रम के विषय में वेदों के अनेक प्रमाण हैं। उनमें से कुछ यहां भी लिखते हैं—

(आचार्य्य उ०) अर्थात् जो गर्भ में बसके माता और पिता के सम्बन्ध से मनुष्य का जन्म होता है, वह प्रथम जन्म कहलाता है। और दूसरा यह है कि जिसमें आचार्य्य पिता और विद्या

---

१. अत्र वै०य० मुद्रितेषु 'ब्राह्मणोऽर्थाद्' इत्यपपाठः। अष्टमसंस्करणे 'ब्रह्मणोऽर्थाद्०' इत्येवं शुद्ध एव पाठ उपलभ्यते। मन्त्रेऽपि 'ब्रह्मणः' इत्येव पठ्यते।

२. मन्त्रपाठे स्वरानुसारं 'ब्रह्म ज्येष्ठं' इति द्वे पदे। अत्र पृष्ठ २६५, टि० ७ द्रष्टव्या।

३. अग्रिम प्रकरण में। २५ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचारी 'वसु' कहाता है, ४४ वर्ष पर्यन्त 'रुद्र' और ४८ वर्ष पर्यन्त 'आदित्य'।

माता होती है[1]। इस दूसरे जन्म के न होने से मनुष्य को मनुष्यपन प्राप्त नहीं होता[2]। इसलिये उसको प्राप्त होना मनुष्यों को अवश्य चाहिये। जब आठवें वर्ष पाठशाला में जाकर आचार्य्य अर्थात् विद्या पढ़ानेवाले के समीप रहते हैं, तभी से उनका नाम ब्रह्मचारी वा ब्रह्मचारिणी हो हो जाता है। क्योंकि वे ब्रह्म वेद और परमेश्वर के विचार में तत्पर होते हैं। उनको आचार्य तीन रात्रि पर्यन्त गर्भ में रखता है, अर्थात् ईश्वर की उपासना, धर्म, परस्पर विद्या के पढ़ने और विचारने की युक्ति आदि जो मुख्य-मुख्य बातें हैं, वे सब तीन दिन में उनको सिखाई जाती है।[3] जब वह विद्या में निपुण हो जाता है, तब देव विद्वान् लोग उसको देखने के लिये आते हैं, और प्रसन्नता से उसका सत्कार करते हैं। हमारे मध्य में महाभाग्य के उदय और ईश्वर के अनुग्रह से सब मनुष्यों के उपकार के लिये तुम विद्वान् हुए, इस प्रकार उसकी प्रशंसा करते हैं ॥१॥

(इयं समित्) फिर उस दिन होम करके उनको प्रतिज्ञा कराते हैं, कि जो ब्रह्मचारी पृथिवी सूर्य्य और अन्तरिक्ष इन तीनों प्रकार की विद्याओं को प्राप्त[4] और पूर्ण करने की इच्छा करता है, सो इन समिधाओं से पुरुषार्थ करके सब लोकों को धर्मानुष्ठान से पूर्ण आनन्दित कर देता है ॥२॥

(पूर्वो जातो ब्र०) जो ब्रह्मचारी पूर्व पढ़के ब्राह्मण होता है, वह धर्मानुष्ठान से अत्यन्त पुरुषार्थी होकर सब मनुष्यों का कल्याण करता है (ब्रह्मज्येष्ठं०[5]) फिर उस पूर्ण विद्वान् ब्राह्मण को, जो कि अमृत अर्थात् परमेश्वर की पूर्ण भक्ति और धर्मानुष्ठान से युक्त होता है, देखने के लिये सब विद्वान् आते हैं ॥३॥

ब्र॒ह्म॒चा॒र्ये॑ति स॒मिधा॒ समि॑द्धः॒ कार्ष्णं॒ वसा॑नो दीक्षि॒तो दी॒र्घश्म॑श्रुः ।
स स॒द्य ए॑ति॒ पूर्व॑स्मा॒दुत्त॑रं समु॒द्रं लो॒कान्त्सं॒गृभ्य॒ मुहु॑रा॒चरि॑क्रत् ॥ ४ ॥
ब्र॒ह्म॒चा॒री ज॒नय॒न् ब्रह्मा॒पो लो॒कं प्र॒जाप॑तिं परमे॒ष्ठिनं॑ वि॒राज॑म् ।
गर्भो॑ भू॒त्वामृत॑स्य॒ योना॒विन्द्रो॑ ह भू॒त्वासु॑रांस्ततर्ह ॥ ५ ॥

---

१. द्र०—मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने।········॥ तत्र यद् ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम्। तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते॥ मनु० २। १६९, १७०॥ स हि विद्यातस्तं जनयति, तच्छ्रेष्ठं जन्म। शरीरमेव मातापितरौ जनयतः। आप० धर्मसूत्र १। १। १५-१७॥

२. प्रथम जन्म से पशुत्वमात्र की प्राप्ति होती है। द्र०—विवाह प्रकरण का मन्त्र—'वि तिष्ठन्तां मातुरस्या उपस्थान्नानारूपाः पशवो जायमानाः। अथर्व १४। २। २५॥ द्वितीय जन्म मनस्यमान (=ज्ञानवान्) आचार्य से होने के कारण द्वितीय जन्म के अनन्तर ही मनुष्यत्व की प्राप्ति होती है। द्र०—मनुष्याः कस्मात्······ मनस्यमानेन सृष्टा वा (निरु० ३। ७)॥ मनुष्य का लक्षण 'ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाला' है (मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति। निरु० ३।७)। इस प्रकार के मनुष्यत्व की प्राप्ति विद्याध्ययन से ही होती है, उसके बिना वह पशु-समान होता है।

३. यहां से आगे का पाठ वै० य० मुद्रित संस्करणों में इस प्रकार है—'तीन दिन के उपरान्त उनको देखने के लिये अध्यापक अर्थात् विद्वान् लोग आते हैं'। यह संस्कृत पाठ से विपरीत है। ऊपर का पाठ हमने संस्कृत पाठ के अनुसार बनाया है। द्र०—संस्कारविधि वेदारम्भ प्रकरण (पृष्ठ १२९, रालाकट्र० सं० ३) में इस मन्त्र की व्याख्या।

४. वै०य०मु० में 'पालन' अपपाठ है।

५. द्र०—पूर्वत्र पृष्ठ २६५, टि० ७।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ ६ ॥
ब्रह्मचर्येण कन्या३ युवानं विन्दते पतिम् ।
अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीषति ॥ ७ ॥
ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत[1] ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्व१राभरत् ॥ ८ ॥

अथर्व० कां० ११ । अनु० ३ । [व० ५] । मं० ६,७,१७,१८,१९ ॥[2]

भाष्यम्—(ब्रह्मचार्येति०) स ब्रह्मचारी पूर्वोक्तया (समिधा) क्रियया (समिद्धः) प्रकाशितः, (कार्ष्णम्) मृगचर्मादिकं (वसानः) आच्छादयन्, (दीर्घश्मश्रुः) दीर्घकालपर्य्यन्तं केशश्मश्रूणि धारितानि येन स, (दीक्षितः) प्राप्तदीक्षः (एति) परमानन्दं प्राप्नोति । तथा (पूर्वस्मात्) ब्रह्मचर्यानुष्ठानभूतात् समुद्रात् (उत्तरम्) गृहाश्रमं समुद्रं (सद्य एति) शीघ्रं प्राप्नोति । एवं निवासयोग्यान् सर्वान् (लोकान् सं०) संगृह्य मुहुर्वारंवारं (आचरिक्रत्) धर्मोपदेशमेव करोति ॥४॥

(ब्रह्मचारी) स ब्रह्मचारी (ब्रह्म) वेदविद्यां पठन् (अपः) प्राणान्, (लोकम्) दर्शनं, (परमेष्ठिनम) प्रजापतिं (विराजम्) विविधप्रकाशकं परमेश्वरं (जनयन्) प्रकटयन् (अमृतस्य) मोक्षस्य (योनौ) विद्यायां (गर्भो भूत्वा) गर्भवन्नियमेन स्थित्वा यथावद् विद्यां गृहीत्वा, (इन्द्रो ह भूत्वा) सूर्य्यवत् प्रकाशकः सन् (असुरान्) दुष्टकर्मकारिणो मूर्खान् पाषण्डिनो[3] जनान् दैत्यरक्षःस्वभावान् (ततर्ह) तिरस्करोति, सर्वान्निवारयति । यथेन्द्रः सूर्य्योऽसुरान् मेघान् रात्रिं च निवारयति, तथैव ब्रह्मचारी सर्वशुभगुणप्रकाशकोऽशुभगुणनाशकश्च भवतीति ॥५॥

(ब्रह्मचर्य्येण०) तपसा ब्रह्मचर्येण कृतेन राजा राष्ट्रं विरक्षति, विशिष्टतया प्रजा रक्षितुं योग्यो भवति । आचार्य्योऽपि कृतेन ब्रह्मचर्येणैव विद्यां प्राप्य ब्रह्मचारिणमिच्छते स्वीकुर्यान्नान्यथेति । अत्र प्रमाणम्—'आचार्यः कस्मादाचारं ग्राहयत्याचिनोत्यर्थानाचिनोति बुद्धिमिति वा' ॥ निरु० अ० १ । खं० ४ ॥६॥

(ब्रह्मचर्य्येण०) एवमेव कृतेन ब्रह्मचर्य्येणैव कन्या युवतिः सती युवानं स्वसदृशं पतिं विन्दते, नान्यथा, न चातः पूर्वमसदृशं वा । अनड्वानित्युपलक्षणं वेगवतां पशूनाम् । ते पशवोऽश्वश्च घासं यथा, तथा कृतेन ब्रह्मचर्य्येण स्वविरोधिनः पशून् जिगीषन्ति युद्धेन जेतुमिच्छन्ति । अतो मनुष्यैरवश्यं ब्रह्मचर्यं कर्त्तव्यमित्यभिप्रायः ॥७॥

---

१. अथर्वसंहितायाम् 'मृत्युमपाघ्नत' पाठो वर्तते ।   २. अथर्व ११ । ५ । ६, ७, १७-१९॥

३. मूलपाठेऽत्र 'पाखण्डिनो' वर्तते । अयं च षकारस्य खकारोच्चारणनिमित्तो लिपिकरनिर्दिष्टोऽपपाठः ।

(ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवा०) देवा विद्वांसो ब्रह्मचर्य्येण वेदाध्ययनेन ब्रह्मविज्ञानेन तपसा धर्मानुष्ठानेन च मृत्युं जन्ममरणप्रभवदुःखमुपाघ्नत[1] नित्यं घ्नन्ति, नान्यथा। ब्रह्मचर्य्येण सुनियमेन, हेति किलार्थे, यथा इन्द्रः सूर्य्यो देवेभ्य इन्द्रियेभ्यः स्वः सुखं प्रकाशं चाभरद् धारयति,तथा विना ब्रह्मचर्य्येण कस्यापि नैव विद्यासुखं च यथावद् भवति। अतो ब्रह्मचर्य्यानुष्ठानपूर्वका एव गृहाश्रमादयस्त्रय आश्रमाः [2]सुखमेधन्ते। अन्यथा मूलाभावे कुतः शाखाः। किन्तु मूले दृढे शाखापुष्पफलच्छायादयः सिद्धा भवन्त्येवेति ॥८॥

भावार्थ—(ब्रह्मचार्येति०) जो ब्रह्मचारी होता है, वही ज्ञान से प्रकाशित तप और बड़े-बड़े केश-श्मश्रुओं से युक्त दीक्षा को प्राप्त होके विद्या को प्राप्त होता है। तथा जो कि शीघ्र ही विद्या को ग्रहण करके पूर्व समुद्र जो ब्रह्मचर्याश्रम का अनुष्ठान है, उसके पार उतरके उत्तर समुद्रस्वरूप गृहाश्रम को प्राप्त होता है। और अच्छी प्रकार विद्या-संग्रह करके विचारपूर्वक अपने उपदेश का सौभाग्य बढ़ाता है ॥ ४ ॥

(ब्रह्मचारी ज०) वह ब्रह्मचारी वेदविद्या को यथार्थ जानके, प्राणविद्या लोकविद्या तथा प्रजापति परमेश्वर, जो कि सबसे बड़ा और सबका प्रकाशक है, उसका जानना, इन विद्याओं में गर्भरूप और इन्द्र अर्थात् ऐश्वर्य्ययुक्त होके असुर अर्थात् मूर्खों की अविद्या का छेदन कर देता है ॥ ५ ॥

(ब्रह्मचर्य्येण त०) पूर्ण ब्रह्मचर्य्य से विद्या पढ़के और सत्यधर्म के अनुष्ठान से राजा राज्य करने को और आचार्य विद्या पढ़ाने को समर्थ होता है। आचार्य उसको कहते हैं कि जो असत्याचार को छुड़ाके सत्याचार का और अनर्थों को छुड़ाके अर्थों का ग्रहण कराके ज्ञान को बढ़ा देता है॥ ६॥

(ब्रह्मचर्य्येण क०) अर्थात् जब वह कन्या ब्रह्मचर्याश्रम से पूर्ण विद्या पढ़ चुके, तब अपनी युवावस्था में पूर्ण जवान पुरुष को अपना पति करे। इसी प्रकार पुरुष भी सुशील धर्मात्मा स्त्री के साथ प्रसन्नता से विवाह करके दोनों परस्पर सुख दुःख में सहायकारी हों। क्योंकि अनड्वान् अर्थात् पशु भी जो पूरी जवानी पर्यन्त ब्रह्मचर्य अर्थात् सुनियम में रक्खा जाय, तो अत्यन्त बलवान् होके निर्बल जीवों को जीत लेता है ॥ ७ ॥

(ब्रह्मचर्येण त०) ब्रह्मचर्य और धर्मानुष्ठान से ही विद्वान् लोग जन्म-मरण को जीतके मोक्ष-सुख को प्राप्त हो जाते हैं। जैसे इन्द्र अर्थात् सूर्य परमेश्वर के नियम में स्थित होके सब लोकों का प्रकाश करनेवाला हुआ है, वैसे ही मनुष्य का आत्मा ब्रह्मचर्य से प्रकाशित होके सबको प्रकाशित कर देता है। इससे ब्रह्मचर्याश्रम ही सब आश्रमों से उत्तम है ॥ [८ ॥]

—: इति ब्रह्मचर्य्याश्रमविषय संक्षेपतः :—

१. संहितायाम् 'अपाघ्नत' पाठः।

२. 'सुखम्' इति क्रियाविशेषणम्, धातोरकर्मकत्वात्।

अथ गृहाश्रमविषयः—

यद् ग्रामे यदरण्ये यत् सभायां यदिन्द्रिये ।
यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे स्वाहा ॥ ९ ॥
देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे ।
निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा ॥ १० ॥
गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि ।
ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ॥ ११ ॥
येषामध्येति प्रवसन् येषु सौमनसो बहुः ।
गृहानुप ह्वयामहे ते नो जानन्तु जानतः ॥ १२ ॥
उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः ।
अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः ।
क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपद्ये शिवꣳ शग्मꣳ शंयोः शंयोः ॥ १३ ॥

य० अ० ३ । मं० ४५,५०,४१-४३ ॥

भाष्यम्—एषामभिप्रायः—एतेषु गृहाश्रमविधानं क्रियत इति ।

(यद ग्रामे०) यद् ग्रामे गृहाश्रमे वसन्तो वयं पुण्यं विद्याप्रचारं सन्तानोत्पत्तिमत्युत्तमः सामाजिकनियमं सर्वोपकारकं, तथैवारण्ये वानप्रस्थाश्रमे ब्रह्मविचारं विद्याध्ययनं तपश्चरणं, सभासम्बन्धे यच्छ्रेष्ठं, इन्द्रिये मानसव्यवहारे च यदुत्तमं कर्म च कुर्मस्तत् सर्वमीश्वरमोक्षप्राप्त्यर्थमस्तु । यच्च भ्रमेणैनः पापं च कृतं, तत् सर्वमिदं पापमवयजामहे आश्रमानुष्ठानेन नाशयामः ॥९॥

(देहि मे०) परमेश्वर आज्ञापयति—हे जीव ! त्वमेवं वद—मे मह्यं देहि, मत्सुखार्थं विद्यां द्रव्यादिकं च त्वं देहि, अहमपि ते तुभ्यं ददामि । मे मह्यं मदर्थं त्वमुत्तमस्वभाववानसुदारतां सुशीलतां च धेहि धारय, ते तुभ्यं त्वदर्थमहमप्येवं च दधे । तथैव धर्मव्यवहारं क्रयदानादानाख्यं च हरासि प्रयच्छ, तथैवाहमपि ते तुभ्यं त्वदर्थं निहराणि नित्यं प्रयच्छानि ददानि । स्वाहेति सत्यभाषणं सत्यमानं सत्याचरणं सत्यवचनश्रवणं च सर्वे वयं मिलित्वा कुर्यामेति सत्येनैव सर्वं व्यवहारं कुर्युः ॥१०॥

(गृहा०) हे गृहाश्रममिच्छन्तो मनुष्याः ! स्वयंवरं विवाहं कृत्वा यूयं गृहाणि प्राप्नुत ! गृहाश्रमानुष्ठाने (मा बिभीत) भयं मा प्राप्नुत । तथा (मा वेपध्वम्) मा कम्पध्वम् । (ऊर्जं बिभ्रत एमसि) ऊर्जं बलं पराक्रमं च बिभ्रतः पदार्थानेमसि वयं प्राप्नुम इतीच्छत । (ऊर्जं बिभ्रद्वः) वो युष्माकं मध्येऽहमूर्जं बिभ्रत्[1] सन्, (सुमनाः) शुद्धमनाः, [2]सुमेधा उत्तमबुद्धियुक्तः (मनसा मोदमानः) प्राप्तानन्दः, (गृहानैमि) गृहाणि प्राप्नोमि ॥११॥

---

१. वै० य० मुद्रितेषु 'बिभ्रत्' इत्यपपाठः । २. वै० य० मुद्रितेषु 'सुमेधोत्तमबुद्धियुक्तः' इत्यपपाठः ।

(येषामध्येति प्र०) येषु गृहेषु प्रवसतो मनुष्यस्य (बहुः) अधिकः (सौमनसः) आनन्दो भवति, तत्र प्रवसन् येषां यान्[1] पदार्थान् सुखकारकान् स (अध्येति) स्मरति, (गृहानुपह्वयामहे) वयं गृहेषु विवाहादिषु सत्कारार्थं तान् गृहसम्बन्धिनः सखिबन्ध्वाचार्यादीन् निमन्त्रयामहे। (ते नः) विवाहनियमेषु कृतप्रतिज्ञान् अस्मान् (जानत.) प्रौढज्ञानान्, युवावस्थास्थान् स्वेच्छया कृतविवाहान्, ते (जानन्तु) अस्माकं साक्षिणः सन्त्विति ॥१२॥

(उपहूता इह०) हे परमेश्वर ! भवत्कृपया इहास्मिन् गृहाश्रमे गावः पशुपृथिवीन्द्रियविद्याप्रकाशाह्लादादय उपहूता अर्थात् सम्यक् प्राप्ता भवन्तु। तथा (अजावयः) उपहूता अस्मदनुकूला भवन्तु। (अथो अन्नस्य की०) अथो इति पूर्वोक्तपदार्थप्राप्त्यनन्तरं नोऽस्माकं गृहेष्वन्नस्य भोक्तव्यपदार्थसमूहस्य कीलालो विशेषेणोत्तमरस उपहूतः सम्यक् प्राप्तो भवतु। (क्षेमाय वः शान्त्यै०) वो युष्मान्, अत्र पुरुषव्यत्ययोऽस्ति,[2] तान् पूर्वोक्तान् प्रत्यक्षान् पदार्थान् क्षेमाय रक्षणाय शान्त्यै सुखाय प्रपद्ये प्राप्नोमि। तत्प्राप्त्या (शिवम्) निश्श्रेयसं कल्याणं पारमार्थिकं सुखं (शग्मम्) सांसारिकमाभ्युदयिकं सुखं च प्राप्नुयाम्। शंयोः शमिति निघण्टौ पदनामास्ति[3]। परोपकाराय गृहाश्रमे स्थित्वा पूर्वोक्तस्य द्विविधस्य सुखस्योन्नतिं कुर्म्मः ॥१३॥

भाषार्थ—(यद् ग्रामे०) गृहाश्रमी को उचित है [कि] जब वह पूर्ण विद्या को पढ़ चुके, तब अपने तुल्य स्त्री से स्वयंवर करे, और वे दोनों यथावत उन विवाह के नियमों में चलें, जो कि विवाह और नियोग के प्रकरणों में लिख आये हैं। परन्तु उनसे जो विशेष कहना है सो यहां लिखते हैं—गृहस्थ स्त्रीपुरुषों को धर्म उन्नति और ग्रामवासियों के हित के लिये जो-जो काम करना है, तथा (यदरण्ये) वनवासियों के साथ हित और (यत्सभायाम्) सभा के बीच में सत्य विचार और अपने सामर्थ्य से संसार को सुख देने के लिये (यदिन्द्रिये) जितेन्द्रियता से ज्ञान की वृद्धि करनी चाहिये, सो-सो सब काम अपने पूर्ण पुरुषार्थ के साथ यथावत् करें। और (यदेनश्चकृ०) पाप करने की बुद्धि को हम लोग मन वचन और कर्म से छोड़कर सर्वथा सबके हितकारी बनें ॥६॥

परमेश्वर उपदेश करता है कि (देहि मे०) जो सामाजिक नियमों की व्यवस्था के अनुसार ठीक-ठीक चलना है, यही गृहस्थ की परम उन्नति का कारण है। जो वस्तु किसी से लेवें अथवा देवें, सो भी सत्यव्यवहार के साथ करें। (नि मे धेहि, नि ते दधे) अर्थात् मैं तेरे साथ यह काम करूंगा, और तू मेरे साथ ऐसा करना, ऐसे व्यवहार को भी सत्यता से करना चाहिये। (निहारं

१. मन्त्रे 'येषाम्' इति कर्मणां शेषत्वविवक्षया 'अधीगर्थदयेषां कर्मणि' (२।४।५२) इति षष्ठी। व्याख्याने तु कर्मणां शेषत्वाविवक्षया द्वितीया द्रष्टव्या।

२. मन्त्रे 'युष्मान्' इत्यर्थकं 'वः' पदं प्रथमपुरुषविषयके 'तान्' पदस्य स्थाने प्रयुक्तम् इति भावः। अत एवाहानुपदम्—'तान् पूर्वोक्तान्' इति।

३. निघण्टौ (४।१) 'शंयोः' पदनामसु पठितम्। तच्च 'शंयुः सुखंयुः' इत्येवं यास्केन (नि० ४।२१) व्याख्यातम्। तेन शयुपदान्तर्गतमपि 'शम्' पदं सुखार्थस्यैव वाचकम्। द्विरावृत्त्या च द्विविधं सांसारिकं पारमार्थिकं च सुखं ब्रवीति इति ग्रन्थकारस्याशयः। द्रष्टव्या १० पृष्ठस्था टि० २।

व हरासि मे नि०) यह वस्तु मेरे लिये तू दे वा तेरे लिये मैं दूंगा, इसको भी यथावत् पूरा करें। अर्थात् किसी प्रकार का मिथ्या व्यवहार किसी से न करें। इस प्रकार गृहस्थ लोगों के सब व्यवहार सिद्ध होते हैं। क्योंकि जो गृहस्थ विचारपूर्वक सबके हितकारी काम करते हैं, उनकी सदा उन्नति होती है ॥१०॥

(गृहा मा बिभीत०) हे गृहाश्रम की इच्छा करनेवाले मनुष्य लोगो! तुम लोग स्वयंवर अर्थात् अपनी इच्छा के अनुकूल विवाह करके गृहाश्रम को प्राप्त हो, और उससे डरो व कंपो मत। किन्तु उससे बल पराक्रम करनेवाले पदार्थों को प्राप्त होने की इच्छा करो। तथा गृहाश्रमी पुरुषों से ऐसा कहो कि मैं परमात्मा की कृपा से आप लोगों के बीच पराक्रम, शुद्ध मन, उत्तम बुद्धि और आनन्द को प्राप्त होकर गृहाश्रम करूं ॥११॥

(येषामध्येति०) जिन घरों में बसते हुए मनुष्यों को अधिक आनन्द होता है, उनमें वे मनुष्य अपने सम्बन्धी मित्र बन्धु और आचार्य आदि का स्मरण करते हैं, और उन्हीं लोगों को विवाहादि शुभ कार्य्यों में सत्कार से बुलाकर उनसे यह इच्छा करते हैं कि ये सब हमको युवावस्था-युक्त और विवाहादि नियमों में भी ठीक-ठीक प्रतिज्ञा करनेवाले जानें, अर्थात् हमारे साक्षी हों ॥१२॥

(उपहू०) हे परमेश्वर! आपकी कृपा से हम लोगों को गृहाश्रम में पशु, पृथिवी, विद्या, प्रकाश, आनन्द, बकरी और भेड़ आदि पदार्थ अच्छी प्रकार से प्राप्त हों। तथा हमारे घरों में उत्तम रसयुक्त खाने-पीने के योग्य पदार्थ सदा बने रहें। 'वः' यह पद पुरुषव्यत्यय से सिद्ध होता है[1]। हम लोग उक्त पदार्थों को उनकी रक्षा और अपने सुख के लिये प्राप्त हों। फिर उस प्राप्ति से हमको परमार्थ और संसार का सुख मिले। 'शंयोः [शम्]' यह निघण्टु में प्रतिष्ठा अर्थात् सांसारिक सुख का नाम है ॥१३॥

—: इति गृहाश्रमविषयः संक्षेपतः :—

अथ वानप्रस्थविषयः संक्षेपतः—

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्य्याचार्य्य-कुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्य्यकुलेऽवसादयन् सर्वे एते पुण्यलोका भवन्ति।

छान्दो०प्र० प्र० २। खं० २३॥[2]

भाष्यम्— (त्रयो धर्म०) अत्र सर्वेष्वाश्रमेषु धर्मस्य स्कन्धा अवयवास्त्रयः सन्ति। अध्ययनं,

१. युष्मदर्थक 'वः' पद पुरुषव्यय से 'तान्' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, यह इस लेख का भाव है। इसीलिए अगले वाक्य में 'उक्त पदार्थों को' ऐसा निर्देश किया है।

२. छा० उ० २।२३।१॥

यज्ञः क्रियाकाण्डं, दानं च। तत्र प्रथमो[1] ब्रह्मचारी तपःसुशिक्षाधर्मानुष्ठानेनाचार्य्यकुले वसति। द्वितीयो गृहाश्रमी। तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमवसादयन् हृदये विचारयन्नेकान्तदेशं प्राप्य सत्यासत्ये निश्चिनुयात्,स वानप्रस्थाश्रमी। एते सर्वे ब्रह्मचर्य्यादयस्त्रय आश्रमा पुण्यलोकाः सुखनिवासाः सुखयुक्ता भवन्ति, पुण्यानुष्ठानादेषाश्रमसंज्ञा[2] जायते, नान्यथेति॥

भावार्थ—(त्रयो धर्म०) धर्म के तीन स्कन्ध हैं—एक विद्या का अध्ययन, दूसरा यज्ञ अर्थात् उत्तम क्रियाओं का करना,तीसरा दान अर्थात् विद्यादि उत्तम गुणों का देना। तथा प्रथम तप अर्थात् वेदोक्त धर्म के अनुष्ठानपूर्वक विद्या पढ़ाना, दूसरा आचार्यकुल में बसके विद्या पढ़ना, और तीसरा परमेश्वर का ठीक-ठीक विचार करके सब विद्याओं को जान लेना। इन बातों से सब प्रकार की उन्नति करना मनुष्यों का धर्म है॥

[—: इति वानप्रस्थविषयः संक्षेपतः :—]

[3][अथ संन्यासाश्रमविषयः संक्षेपतः—]

ब्रह्मचर्य्याश्रमेण गृहीतविद्यो धर्मेश्वरादि सम्यङ् निश्चित्य, गृहाश्रमेण तदनुष्ठानं तद्विज्ञानवृद्धिं च कृत्वा, ततो वनमेकान्तं गत्वा, सम्यक् सत्यासत्यवस्तुव्यवहारान् निश्चित्य, वानप्रस्थाश्रमं समाप्य सन्यासी भवेत्। अर्थात्—

'ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेद्'[4]—इत्येकः पक्षः।

'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद्वनाद्वा गृहाद्वा'[4]—अस्मिन् पक्षे वानप्रस्थाश्रममकृत्वा गृहाश्रमानन्तरं संन्यासं गृह्णीयादिति द्वितीयः पक्षः।

'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्'—सम्यग्ब्रह्मचर्य्याश्रमं कृत्वा गृहस्थवानप्रस्थाश्रमावकृत्वा संन्यासाश्रमं गृह्णीयादिति तृतीयः पक्षः।

सर्वत्रान्याश्रमविकल्प उक्तः, परन्तु ब्रह्मचर्याश्रमानुष्ठानं नित्यमेव कर्त्तव्यमित्यायाति। कुतः? ब्रह्मचर्य्याश्रमेण विनाऽन्याश्रमानुत्पत्तेः।

भावार्थ—तथा संन्यासाश्रम के तीन पक्ष हैं। उनमें एक यह है कि जो विषयभोग किया चाहे, वह ब्रह्मचर्य गृहस्थ और वानप्रस्थ इन आश्रमों को करके संन्यास ग्रहण करे। दूसरा—'यदहरेव प्र०'

१. वै० य० मुद्रितेषु 'प्रथमे' इत्यपपाठः। उत्तरवाक्ययोः 'द्वितीयतृतीय' शब्दयोः प्रथमान्तयोरेव श्रवणात्, प्रमाणभागेऽपि तथैव दर्शनाच्च। २. वै० य० मुद्रितेषु 'आश्रमसंख्या' इत्यपपाठः, आश्रमशब्दार्थपरत्वाद् वाक्यस्य। ३. मूलपाठे संन्यासाश्रमविषयोऽपि वानप्रस्थेन सहैव निर्दिष्टः। संन्यासस्य पृथगाश्रमत्वात् (वै० य० मुद्रितेऽष्टमसंस्करणे संन्यासविषयः पृथक्त्वेनोट्टङ्कितः।) अत एवास्माभिरिहेवं कोष्ठान्तर्गतं वाक्यं परिवृंहितम्। ४. एतद्विषयेऽस्मत्संशोधिते संस्कारविधिसंस्करणे (रालाकट्रसं० ३) १६७ तमे पृष्ठे प्रथमा, ३०५ तमे पृष्ठे च द्वितीया टिप्पण्यवलोकनीया।

जिस समय वैराग्य अर्थात् बुरे कामों से चित्त हटकर ठीक-ठीक सत्यमार्ग में निश्चित हो जाय, उस समय गृहाश्रम से भी संन्यास हो सकता है। और तीसरा—जो पूर्ण विद्वान् होकर सब प्राणियों का शीघ्र उपकार किया चाहे, तो ब्रह्मचर्याश्रम से ही संन्यास ग्रहण करले।

ब्रह्मस९्स्थोऽमृतत्वमेति॥ छान्दो० प्रपा० २। खं० २३॥[1]

तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति। ब्रह्मचर्य्येण तपसा श्रद्धया यज्ञेनानाशकेन चैतमेव विदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव प्रव्राजिनो लोकमीप्सन्तः प्रव्रजन्ति॥ एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे ब्राह्मणा अनूचाना विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोक इति। ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति। या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः॥
श० कां० १४। अ० ७। ब्रा० २॥[2]

भाष्यम्— (ब्रह्मसंस्थः) चतुर्थो ब्रह्मसंस्थः संन्यासी (अमृतत्वम्) (एति) प्राप्नोति॥

(तमेतं वेदा०) सर्वं आश्रमिणो विशेषतः संन्यासिनस्तमेतं[3] परमेश्वरं सर्वभूताधिपतिं वेदानुवचनेन तदध्ययनेन तच्छ्रवणेन तदुक्तानुष्ठानेन च वेत्तुम् इच्छन्ति। (ब्रह्मचर्येण०) ब्रह्मचर्येण, तपसा धर्मानुष्ठानेन, श्रद्धयाऽत्यन्तप्रेम्णा, यज्ञेन नाशरहितेन विज्ञानेन धर्मक्रियाकाण्डेन चैतं परमेश्वरं विदित्वैव मुनिर्भवति। प्रव्राजिनः संन्यासिन एतं[4] यथोक्तं लोकं द्रष्टव्यं परमेश्वरमेवेप्सन्तः प्रव्रजन्ति संन्यासाश्रमं गृह्णन्ति। (एतद् ब्रह्म०) य एतदिच्छन्तः सन्तः पूर्वे अत्युत्तमा ब्राह्मणा ब्रह्मविदोऽनूचाना निश्शङ्काः पूर्णज्ञानिनोऽन्येषां शङ्कानिवारका विद्वांसः प्रजां गृहाश्रमं न कामयन्ते नेच्छन्ति, (ते ह स्म०) हेति स्फुटे, स्मेति स्मये, ते प्रोत्फुल्लाः प्रकाशमाना वदन्ति—वयं प्रजया किं करिष्यामः? किमपि नेत्यर्थः। येषां नोऽस्माकमयमात्मा परमेश्वरः प्राप्यो लोको दर्शनीयश्चास्ति।

एवं ते (पुत्रैषणायाश्च) पुत्रोत्पादनेच्छायाः (वित्तैषणायाश्च) जडधनप्राप्त्यनुष्ठानेच्छायाः (लोकैषणायाश्च) लोके स्वस्य प्रतिष्ठास्तुतिनिन्देच्छायाश्च (व्युत्थाय) विरज्य (भिक्षाचर्य्यं च०) संन्यासाश्रमानुष्ठानं कुर्वन्ति। यस्य पुत्रैषणा पुत्रप्राप्त्येषणेच्छा भवति तस्यावश्यं वित्तैषणापि भवति, यस्य वित्तैषणा तस्य निश्चयेन लोकैषणा भवतीति विज्ञायते। तथा यस्यैका लोकैषणा भवति तस्योभे पूर्वे पुत्रैषणावित्तैषणे[5] भवतः। यस्य च परमेश्वरमोक्षप्राप्त्येषणेच्छास्ति, तस्यैतास्तिस्रो निवर्त्तन्ते। नैव ब्रह्मानन्दवित्तेन तुल्यं लोकवित्तं कदाचिद् भवितुमर्हति। यस्य परमेश्वरे प्रतिष्ठा-

१. छा० उ० २।२३।१॥ २. शत० १४।७।२।२५,२६॥
३. 'संन्यासिमतमेतं' इत्यपपाठो वै० य० मुद्रितेषु।
४. हस्तलेखे 'एतं' इत्येव शुद्धः पाठो दृश्यते। 'एनं' इति प्रथमसंस्करणेऽपपाठः।
५. 'पूर्वे पुत्रैषणालोकैषणे' इत्यपपाठो वै० य० मुद्रितेषु।

स्ति तस्यान्याः सर्वा प्रतिष्ठा नैव रुचिता भवन्ति । [यः] सर्वान् मनुष्याननुगृह्णन् सर्वदा सत्योपदेशेन सुखयति, तस्य केवलं परोपकारमात्रं सत्यप्रवर्त्तनं प्रयोजनं भवतीति ।।

भाषार्थ—(ब्रह्मसंस्थः०) अर्थात् संन्यासी लोग मोक्षमार्ग को प्राप्त होते हैं ।।

(तमेतं०) और वेद को पढ़के परमेश्वर को जानने की इच्छा करते हैं, तथा (ब्रह्मच०) जो सत्पुरुष ब्रह्मचर्य्य, धर्मानुष्ठान, श्रद्धा, यज्ञ और ज्ञान से परमेश्वर को जानके मुनि अर्थात् विचारशील होते हैं. वे ही ब्रह्मलोक अर्थात् संन्यासियों के प्राप्तिस्थान को प्राप्त होने के लिये संन्यास लेते हैं। जो उनमें उत्तम पूर्ण विद्वान् हैं, वे गृहाश्रम और वानप्रस्थ के विना ब्रह्मचर्य्य आश्रम से ही संन्यासी हो जाते हैं। और उनके उपदेश से जो पुत्र होते हैं, उन्हींको सबसे उत्तम मानकर 'पुत्रैषणा' अर्थात् सन्तानोत्पत्ति की इच्छा, 'वित्तैषणा' अर्थात् धन का लोभ, 'लोकैषणा' अर्थात् लोक में प्रतिष्ठा की इच्छा करना, इस तीन प्रकार की इच्छा को छोड़के भिक्षाचरण करते हैं। अर्थात् सर्वगुरु सबके अतिथि होके विचरते हुए संसार को अज्ञानरूपी अन्धकार से छुड़ाके सत्यविद्या के उपदेशरूप प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं ।।

'प्राजापत्यामिष्टिं निरूप्य तस्यां सर्ववेदसं हुत्वा ब्राह्मणः प्रव्रजेत्' इति शतपथे श्रुत्यक्षराणि[1] ।।

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान् ।
तं तं लोकं जयते[2] तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः ।।
मुण्डकोपनि० मुण्डके ३ । खं० १ । मं० १० ।।

भाष्यम्—(प्राजापत्या०) स च संन्यासी प्राजापत्यां परमेश्वरदेवताकामिष्टिं कृत्वा, हृदये सर्वमेतन्निश्चित्य तस्यां (सर्ववेदसं) शिखासूत्रादिकं हुत्वा, मुनिर्मननशीलः सन् प्रव्रजति संन्यासं गृह्णाति ।

परन्त्वयं पूर्णविद्यावतां रागद्वेषरहितानां सर्वमनुष्योपकारबुद्धीनां संन्यासग्रहणाधिकारो भवति, नाल्पविद्यानामिति । तेषां संन्यासिनां प्राणापानहोमो, दोषेभ्य इन्द्रियाणां मनसश्च सदा निवर्त्तनं, सत्यधर्मानुष्ठानं चैवाग्निहोत्रम् । किन्तु पूर्वेषां त्रयाणामेवाश्रमिणामनुष्ठातुं योग्यं यद् बाह्यक्रियामयमस्ति, संन्यासिनां तन्न । सत्योपदेश एव संन्यासिनां ब्रह्मयज्ञः, देवयज्ञो ब्रह्मोपासनम्, विज्ञानिनां प्रतिष्ठाकरणं पितृयज्ञो, ह्यज्ञेभ्यो ज्ञानदानं सर्वेषां भूतानामुपर्य्यनुग्रहोऽपीडनं च भूतयज्ञः, सर्वमनुष्योपकारार्थं भ्रमणमभिमानशून्यता सत्योपदेशकरणेन सर्वमनुष्याणां सत्कारानुष्ठानं चातिथियज्ञः । एवंलक्षणाः पञ्चमहायज्ञा विज्ञानधर्मानुष्ठानमया भवन्तीति विज्ञेयम् । परन्त्वेकस्या-

१. माध्यन्दिनकाण्वशतपथयोरयं पाठो नोपलभ्यते । पुरा शतपथस्य पञ्चदश प्रभेदाः शाखाभेदेन प्रवृत्ता आसन् । तेष्वन्यतमे कस्मिंश्चिच्छतपथ इयं श्रुतिः स्यात् । वात्स्यायनकृते 'समारोपणाद्' (४।१।६१) इति सूत्रस्य न्यायभाष्येऽपीयं श्रुतिः किञ्चित् पाठभेदेनोद्ध्रियते । अत्र ६ । ३८ मनुवचनमप्यनुसन्धेयम् ।

२. वै० य० मुद्रितेषु 'जायते' इत्यपपाठः ।

द्वितीयस्य सर्वशक्तिमदादिविशेषणयुक्तस्य परब्रह्मण उपासना सत्यधर्मानुष्ठानं च सर्वेषामाश्रमिणामेकमेव भवतीत्ययं विशेषः ॥

(विशुद्धस०) शुद्धान्तःकरणो मनुष्यः (यं यं लोकं मनसा०) ध्यानेन संविभाति इच्छति, (कामयते यांश्च कामान्) यांश्च मनोरथानिच्छति, (तं तं लोकं तांश्च कामान्)जयते[1] प्राप्नोति। तस्मात् कारणाद् (भूतिकामः) ऐश्वर्यकामो मनुष्यः (आत्मज्ञं०) आत्मानं परमेश्वरं जानाति [यस्] तं संन्यासिनमेव सर्वदार्चयेत् सत्कुर्यात्। तस्यैव सङ्गेन सत्कारेण च मनुष्याणां सुखप्रदा लोकाः कामाश्च सिद्धा भवन्तीति। तद्भिन्नान् मिथ्योपदेशकान् स्वार्थसाधनतत्परान् पाषण्डिनः[2] कोऽपि नैवार्चयेत्। कुतः? तेषां सत्कारस्य निष्फलत्वाद् दुःखफलत्वाच्चेति ॥

भाषार्थ—(प्राजापत्या०) अर्थात् इस इष्टि में शिखासूत्रादि का होम करके गृहस्थ आश्रम को छोड़के विरक्त होकर संन्यास ग्रहण करे ॥

(यं यं लोक०) वह शुद्ध मन से जिस-जिस लोक और कामना की इच्छा करता है, वे सब उसकी सिद्ध हो जाती हैं। इसलिये जिसको ऐश्वर्य की इच्छा हो, वह आत्मज्ञ अर्थात् ब्रह्मवेत्ता संन्यासी की सेवा करे ॥

ये चारों आश्रम वेदों और युक्तियों से सिद्ध हैं। क्योंकि सब मनुष्यों को अपनी आयु का प्रथम भाग विद्या पढ़ने में व्यतीत करना चाहिये, और पूर्ण विद्या को पढ़कर उससे संसार की उन्नति करने के लिये गृहाश्रम भी अवश्य करें। तथा विद्या और संसार के उपकार के लिये एकान्त में बैठकर जगत् का अधिष्ठाता जो ईश्वर है, उसका ज्ञान अच्छी प्रकार करें, और मनुष्यों को सब व्यवहारों का उपदेश करें। फिर उनके सब सन्देहों का छेदन और सत्य बातों के निश्चय कराने के लिये संन्यास आश्रम भी अवश्य ग्रहण करें। क्योंकि इसके विना संपूर्ण पक्षपात छूटना बहुत कठिन है।

[—: इति संन्यासाश्रमविषयः संक्षेपतः :—]

इति वर्णाश्रमविषयः संक्षेपतः

१. द्रष्टव्या पूर्वपृष्ठस्था द्वितीया टिप्पणी। २. एतद्विषये २७८ तमे पृष्ठे तृतीया टिप्पणी द्रष्टव्या।

अथ पञ्चमहायज्ञविषयः संक्षेपतः

ये पञ्चमहायज्ञा मनुष्यैर्नित्यं कर्त्तव्याः सन्ति, तेषां विधानं संक्षेपतोऽत्र लिखामः। तत्र ब्रह्मयज्ञस्यायं प्रकारः—साङ्गानां वेदादिशास्त्राणां सम्यगध्ययनमध्यापनं सन्ध्योपासनं च सर्वैः कर्त्तव्यम्। तत्राध्ययनाध्यापनक्रमो यादृशः पठनपाठनविषय उक्त[1] स्तादृशो ग्राह्यः। सन्ध्योपासनविधिश्च पञ्चमहायज्ञविधाने[2] यादृश उक्तस्तादृशः कर्तव्यः। तथा अग्निहोत्रविधिश्च यादृशस्तत्रोक्त[3] स्तादृश एव कर्त्तव्यः।

अत्र ब्रह्मयज्ञाग्निहोत्रप्रमाणं लिख्यते—

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन् हव्या जुहोतन॥ १॥

य० अ० ३। मं० १॥

अग्निं दूतं पुरो दधे हव्यवाहमुप ब्रुवे। देवाँ२ऽ आ सादयादिह॥ २॥

य० अ० २२। मं० १७॥

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य[4] दाता।
वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम॥ ३॥
प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य[4] दाता।
वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शताहिमा[5] ऋधेम॥ ४॥

अथर्व० कां० १९। अनु० ७। मं० ३,४॥[6]

---

१. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकानिर्माणकालात् (१९३३ वि०) पूर्वं ग्रन्थकृता १९३२ वैक्रमाब्दे सत्यार्थप्रकाशस्य प्रथमसंस्करणं प्रकाशितमभूत्, तस्य तृतीयसमुल्लासे यः पठनपाठनविधिस्तमभिलक्ष्यायं संकेतो ज्ञेयः।

२. अयमपि संकेतः १९३१ वैक्रमाब्दे प्रकाशिते 'सभाष्यसन्ध्योपासनादिपञ्चमहायज्ञविधिः' नाम्नि ग्रन्थे यः सन्ध्योपासनविधिर्लिखितस्तं प्रति वर्तते, न तु १९१४ वैक्रमाब्दे वाराणसीतः प्रकाशिते पञ्चमहायज्ञविधिनाम्नि ग्रन्थे विद्यमानं सन्ध्योपासनविधिं प्रति। यतः १९३४ वैक्रमाब्दे प्रकाशितः पञ्चमहायज्ञविधिग्रन्थस्त्वेतस्माद् ग्रन्थाद् औत्तरकालिकः। एतद्विषयेऽस्माभिः 'ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास' नाम्नि ग्रन्थे ५६तमे पृष्ठे विस्तरेण लिखितं तत् तत्रैव द्रष्टव्यम्।

३. अयमपि संकेतः १९३१ वैक्रमाब्दे प्रकाशिते पञ्चमहायज्ञविधिग्रन्थे प्रतिपादितदेवयज्ञविधानं प्रति वर्तते।

४ लेखकप्रमादात् 'सोमनस्य' इत्यपपाठो वै० य० मुद्रितेषूपलभ्यते। अपपाठत्वे चास्य अनुदात्तान्नकारात् परस्य 'स्य' शब्दस्य स्वरितत्वदर्शनात् स्पष्टमेव।

५. राथह्विटनीसंस्करणानुसारी पाठः, अन्यसंस्करणेषु 'शतंहिमा' इत्येवं पठ्यते, स स्वरदोषात् प्रमादजन्यः पाठः।

६. अथर्व० १९।५५।३,४॥

भाष्यम्—(समिधाग्निं०) हे मनुष्या ! वाय्वोषधिवृष्टिजलशुद्ध्या परोपकाराय (घृतैः घृतादिभिश्शोधितैर्द्रव्यैः समिधा चातिथिमग्निं यूयं बोधयत, नित्यं प्रदीपयत। (अस्मिन्) अग्नौ (हव्या) होतुमर्हाणि पुष्टिमधुरसुगन्धरोगनाशकरैर्गुणैर्युक्तानि सम्यक् शोधितानि द्रव्याणि (आ जुहोतन) आ समन्ताज्जुहुत। एवमग्निहोत्रं नित्यं (दुवस्यत) परिचरत। अनेन कर्मणा सर्वोपकारं कुरुत ॥ १ ॥

(अग्निं दूतं) अग्निहोत्रकर्त्तव्यमिच्छन्नहं वायौ मेघमण्डले च सूतद्रव्यस्य[1] प्रापणार्थमग्निं दूतं भृत्यवत् (पुरो दधे) सम्मुखतः स्थापये। कथम्भूतमग्निं ? (हव्यवाहम्) हव्यं द्रव्यं देशान्तरं वहति प्रापयतीति हव्यवाट् तं (उपब्रुवे) अन्यान् जिज्ञासून् प्रत्युपदिशामि (देवां २ ॥ ०) सोऽग्निरेतदग्निहोत्रकर्मणा देवान् दिव्यगुणान् वायुवृष्टिजलशुद्धिद्वारेहास्मिन् संसार आसादयाद् आसमन्तात् प्रापयति।

यद्वा—हे परमेश्वर ! (दूतम्) सर्वेभ्यः सत्योपदेशकं (अग्निम्) अग्निसंज्ञकं त्वां (पुरो दधे) इष्टत्वेनोपास्यं मन्ये। तथा (हव्यवाहम्) ग्रहीतुं योग्यं शुभगुणमयं विज्ञानं हव्यं तद् वहति प्रापयतीति तं त्वा (उपब्रुवे) उपदिशामि। स भवान् कृपया (इह) अस्मिन् संसारे (देवान्) दिव्यगुणान् (आसादयात्) आ समन्तात् प्रापयतु ॥ २ ॥

(नः) अस्माकमयं (अग्निः) भौतिकः परमेश्वरश्च (गृहपतिः०) गृहात्मपालकः प्रातःसायं[2] परिचरितः सूपासितश्च (सौमनसस्य[3] दाता) आरोग्यस्यानन्दस्य च दातास्ति। तथा (वसोर्व०) उत्तमोत्तमपदार्थस्य च दातास्ति। अत एव परमेश्वरः 'वसुदानः' इति नाम्नाऽऽख्यायते। हे परमेश्वरैवं भूतस्त्वमस्माकं राज्यादिव्यवहारे हृदये च (एधि) प्राप्तो भव। तथा भौतिकोऽप्यग्निरत्र ग्राह्यः। (वयं त्वे०) हे परमेश्वर ! एवं त्वा त्वामिन्धानाः प्रकाशमाना वयं (तन्वम्) शरीरं (पुषेम) पुष्टं कुर्याम। तथाग्निहोत्रादिकर्मणा भौतिकमग्निमिन्धानाः प्रदीपयितारः सन्तः सर्वे वयं पुष्यामः ॥ ३ ॥

(प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो०) अस्यार्थः पूर्ववद्विज्ञेयः। अत्र विशेषस्त्वयम्—एवमग्निहोत्रमीश्वरोपासनं च कुर्वन्तः सन्तः (शतहिमाः) शतं हिमा हेमन्तर्त्तवो गच्छन्ति येषु संवत्सरेषु ते शतहिमा यावत् स्युस्तावत् (ऋधेम) वर्धेमहि। एवं कृतेन कर्मणा नोऽस्माकं कदाचिद्धानिर्न भवेदितीच्छामः ॥ ४ ॥

अग्निहोत्रकरणार्थं ताम्रस्य मृत्तिकाया वैकां वेदिं सम्पाद्य, काष्ठस्य रजतसुवर्णयोर्वा चमसमाज्यस्थालीं च संगृह्य, तत्र वेद्यां पलाशाम्रादिसमिधः संस्थाप्याग्निं प्रज्वाल्य, तत्र पूर्वोक्तद्रव्यस्य[4] प्रातःसायङ्कालयोः प्रातरेव चोक्त[5]मन्त्रैर्नित्यं होमं कुर्यात्।

---

१. भौतिकद्रव्यस्येत्यभिप्रायः। यद्वाऽत्र 'हव्यद्रव्यस्य' इत्येवं पाठो द्रष्टव्यः।

२. उभयोर्मन्त्रयोः समानार्थकभागयोरेकीकृत्यायं निर्देशः। अत एवोत्तरमन्त्रव्याख्याने तत्र विशिष्टपाठस्यैव ग्रन्थकृता व्याख्यानं कृतम्।

३. द्र०—पृष्ठ २८३, टि० ४।   ४. द्र०—पूर्वत्र पृष्ठ ५६।

५. पूर्वनिर्दिष्टे १९३१ वैक्रमाब्दे प्रकाशिते पञ्चमहायज्ञविधाने देवयज्ञप्रकरणे ये मन्त्रा निर्दिष्टास्तान् प्रत्यगं संकेतो ज्ञेयः। अत एवेह 'उक्त' पदनिर्देशोऽवकल्पते। अस्मिन् ग्रन्थे त्वनुपदं वक्ष्यन्ते।

भाषार्थ—अब पञ्चमहायज्ञ अर्थात् जो कर्म मनुष्यों को नित्य करने चाहियें, उनका विधान संक्षेप से लिखते हैं। उनमें से प्रथम एक 'ब्रह्मयज्ञ' कहाता है, जिसमें अङ्गों के सहित वेदादिशास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना तथा सन्ध्योपासन अर्थात् प्रातःकाल और सायङ्काल में ईश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना सब मनुष्यों को करनी चाहिये। इनमें पठन-पाठन की व्यवस्था तो जैसी पठन-पाठन-विषय में विस्तारपूर्वक कह आये हैं[1] वहां देख लेना। तथा सन्ध्योपासन और अग्निहोत्र का विधान जैसा 'पञ्चमहायज्ञविधि[2]' पुस्तक में लिख चुके है, वैसा जान लेना।

अब आगे ब्रह्मयज्ञ और अग्निहोत्र का प्रमाण लिखते हैं—(समिधाग्नि०) हे मनुष्यो ! तुम लोग वायु औषधी और वर्षाजल की शुद्धि से सबके उपकार के अर्थ घृतादि शुद्ध वस्तुओं, और समिधा अर्थात् आम्र व ढाक आदि काष्ठों से अतिथिरूप अग्नि को नित्य प्रकाशमान करो। फिर उस अग्नि में होम करने के योग्य पुष्ट, मधुर, सुगन्धित अर्थात् दुग्ध, घृत, शर्करा, गुड़, केशर[3], कस्तूरी आदि और रोगनाशक जो सोमलता आदि सब प्रकार से शुद्ध द्रव्य हैं, उनका अच्छी प्रकार नित्य अग्निहोत्र करके सबका उपकार करो ॥१॥

(अग्नि दूतं०) अग्निहोत्र करनेवाला मनुष्य ऐसी इच्छा करे कि मैं प्राणियों के उपकार करनेवाले पदार्थों को पवन और मेघमण्डल में पहुंचाने के लिये अग्नि को सेवक की नाईं अपने सामने स्थापन करता हूं। क्योंकि वह अग्नि हव्य अर्थात् होम करने के योग्य वस्तुओं को अन्य देश में पहुंचानेवाला है इसी से उसका नाम 'हव्यवाट्' है। जो उस अग्निहोत्र को जा[न]ना चाहें, उनको मैं उपदेश करता हूं कि वह अग्नि उस अग्निहोत्र कर्म्म से पवन और वर्षाजल की शुद्धि से (इह) इस संसार में (देवां२॥०) श्रेष्ठ गुणों को पहुंचाता है।

दूसरा अर्थ[4]—हे सब प्राणियों को सत्य उपदेशकारक परमेश्वर ! जो कि आप अग्नि नाम से प्रसिद्ध हैं, मैं इच्छापूर्वक आपको उपासना करने के योग्य मानता हूं। ऐसी कृपा करो कि आपको जानने की इच्छा करनेवालों के लिये भी मैं आपका शुभगुणयुक्त विशेषज्ञानदायक उपदेश करूं। तथा आप भी कृपा करके इस संसार में श्रेष्ठ गुणों को पहुंचावें ॥२॥

---

१. यह संकेत वि० सं० १९३१ में प्रकाशित 'सत्यार्थप्रकाश' तृतीयसमुल्लास में निर्दिष्ट पठनपाठनविधि की ओर है।

२ यह संकेत भी वि० सं० १९३१ में प्रकाशित 'पञ्चमहायज्ञविधि' की ओर है। १९३४ में पुनः प्रकाशित संशोधित संस्करण भूमिका-लेखन के पश्चात् छपा है। द्र०—'ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास' पृष्ठ ५८।

३. प्रथम तथा अन्य कुछ संस्करणों में 'केशरि' अपपाठ है। उत्तर संस्करणों में पाठ शोधन कर देने पर भी वै० य० मुद्रित नवम संस्करण में पुनः 'केशरि' अपपाठ बनाकर 'केशर॥ सं०॥' ऐसी टिप्पणी दी है।

४. अग्निहोत्र प्रकरण में अध्यात्मपरक द्वितीय अर्थ लिखकर ग्रन्थकार ने यह दर्शाया है कि कर्मकाण्ड में याज्ञिक प्रक्रियानुसारी अर्थ का विषय होने पर भी कर्मकाण्ड के साथ अध्यात्मचिन्तन आवश्यक है। उसके विना शुष्क कर्मकाण्ड निष्प्रयोजन ही रहता है। कर्मकाण्ड और पदार्थज्ञानकाण्ड की समाप्ति भी अध्यात्मज्ञान में ही होती है। यही वेद का चरम लक्ष्य है, यह ग्रन्थकार ने बहुत स्थानों पर स्पष्ट किया है।

(सायंसायं०) प्रतिदिन प्रातःसायं[1] श्रेष्ठ उपासना को प्राप्त यह गृहपति अर्थात् घर और आत्मा का रक्षक भौतिक अग्नि और परमेश्वर, (सौमनसस्य दाता) आरोग्य आनन्द और वसु अर्थात् धन का देनेवाला है । इसीसे परमेश्वर (वसुदानः) अर्थात् धनदाता प्रसिद्ध है । हे परमेश्वर ! आप मेरे राज्य आदि व्यवहार और चित्त में सदा प्रकाशित रहो । यहां भौतिक अग्नि भी ग्रहण करने योग्य है । (वयं त्वे०) हे परमेश्वर ! जैसे पूर्वोक्त प्रकार से हम आपको मान करते हुए अपने शरीर से (पुषेम) पुष्ट होते हैं, वैसे ही भौतिक अग्नि को भी प्रज्वलित करते हुए पुष्ट हों ॥३॥

(प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो०) इस मन्त्र का अर्थ पूर्व मन्त्र के तुल्य जानो । परन्तु इसमें इतना विशेष भी है कि—अग्निहोत्र और ईश्वर की उपासना करते हुए हम लोग (शतहिमाः) सौ हेमन्त ऋतु व्यतीत हो जाने पर्य्यन्त, अर्थात् सौ वर्षों तक धनादि पदार्थों से (ऋधेम) वृद्धि को प्राप्त हों ॥४॥

अग्निहोत्र करने के लिये ताम्र वा मिट्टी की वेदी बनाके काष्ठ चांदी वा सोने का चमसा अर्थात् अग्नि में पदार्थ डालने का पात्र और आज्यस्थाली अर्थात् घृतादि पदार्थ रखने का पात्र लेके, उस वेदी में ढाक वा आम्र आदि वृक्षों की समिधा स्थापन करके, अग्नि को प्रज्वलित करके, पूर्वोक्त पदार्थों का प्रातःकाल और सायङ्काल अथवा प्रातःकाल ही नित्य होम करें ।

अथाग्निहोत्रे होमकरणमन्त्राः—

सूर्य्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्य्यः स्वाहा ॥ १ ॥

सूर्य्यो वर्च्चो ज्योतिर्वर्च्चः स्वाहा ॥ २ ॥

ज्योतिः सूर्य्यः सूर्य्यो ज्योतिः स्वाहा ॥ ३ ॥

सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या । जुषाणः सूर्य्यो वेतु स्वाहा ॥ ४ ॥[2]

इति प्रातःकालमन्त्राः ॥

अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥ १ ॥

अग्निर्वर्च्चो ज्योतिर्वर्च्चः स्वाहा ॥ २ ॥

अग्निर्ज्योतिरिति मन्त्रं मनसोच्चार्य्य तृतीयाहुतिर्देया ॥ ३ ॥

सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या । जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा ॥ ४ ॥[2]

इति सायङ्कालमन्त्राः ।

---

१. द्र०—संस्कृतपदार्थ । वै० य० मुद्रित में 'प्रातःकाल' अपपाठ है ।

२. यजुः ३।९,१० मन्त्रयोः यथाकालं विनियोगः ।

भाष्यम्—(सूर्य्यो०) यश्चराचरात्मा, ज्योतिषां प्रकाशकानां ज्योतिः प्रकाशकः, सूर्य्यः सर्वप्राणः परमेश्वरोऽस्ति, तस्मै स्वाहाऽर्थात् तदाज्ञापालनेन सर्वजगदुपकारायैकाहुतिं दद्मः ॥१॥

(सूर्य्यो व०)यो वर्च्चः सर्वविद्यां ज्योतिषां ज्ञानवतां जीवानां वर्च्चोऽन्तर्यामितया सत्योपदेष्टा सर्वात्मा सूर्य्यः परमेश्वरोऽस्ति, तस्मै० ॥२॥

(ज्योतिः सू०) यः स्वयम्प्रकाशः सर्वजगत्प्रकाशकः सूर्य्यो जगदीश्वरोऽस्ति, तस्मै० ॥३॥

(सजू०) यो देवेन द्योतकेन सवित्रा सूर्य्यलोकेन जीवेन च सह, तथा (इन्द्रवत्या) सूर्य्यप्रकाशवत्योषसाऽथवा जीववत्या मानसवृत्त्या (सजूः) सह वर्त्तमानः परमेश्वरोऽस्ति, सः (जुषाणः) सम्प्रीत्या वर्त्तमानः सन् (सूर्य्यः) सर्वात्मा कृपाकटाक्षेणास्मान् (वेतु) विद्याविसद्गुणेषु जातविज्ञानान् करोतु, तस्मै० ॥४॥

इमाश्चतस्र आहुतीः प्रातरग्निहोत्रे कुर्वन्ति।

अथ सायङ्कालाहुतयः— (अग्निर्ज्योतिः०) यो ज्ञानस्वरूपो ज्योतिषां ज्योतिरग्निः परमेश्वरोऽस्ति, तस्मै० ॥१॥

(अग्निर्वर्च्चो०) यः पूर्वोक्तोऽग्निः परमेश्वरोऽस्ति, तस्मै० ॥२॥

'अग्निर्ज्योतिर्' इत्यनेनैव तृतीयाहुतिर्देया। तदर्थश्च पूर्ववत् ॥४॥

(सजूर्दे०) यः पूर्वोक्तेन देवेन सवित्रा सह परमेश्वरः सजूरस्ति, यश्चेन्द्रवत्या वायुचन्द्रवत्या रात्र्या सह वर्त्तते सोऽग्निः (जुषाणः) सम्प्रीतोऽस्मान् (वेतु) नित्यानन्दमोक्षसुखाय स्वकृपया कामयतु, तस्मै जगदीश्वराय स्वाहेति पूर्ववत् ॥४॥

एताभिः [आहुतिभिः] सायङ्कालेऽग्निहोत्रिणो जुह्वति, एकस्मिन् काले सर्वाभिर्वा[1]।

भाषार्थ—(सूर्यो ज्यो०)जो चराचर का आत्मा, प्रकाशस्वरूप, और सूर्यादि प्रकाशक लोकों का भी प्रकाश करनेवाला है, उसकी प्रसन्नता के लिये हम लोग होम करते हैं ॥१॥

(सूर्यो वर्च्चो०) सूर्य जो परमेश्वर है, वह हम लोगों को सब विद्याओं का देनेवाला, और हमसे उनका प्रचार करानेवाला है, उसी के अनुग्रह से हम लोग अग्निहोत्र करते हैं ॥२॥

(ज्योतिः सू०) जो आप प्रकाशमान और जगत् का प्रकाश करनेवाला सूर्य अर्थात् संसार का ईश्वर है, उसकी प्रसन्नता के अर्थ हम लोग होम करते हैं ॥३॥

(सजूर्देवेन०) जो परमेश्वर सूर्यादि लोकों में व्याप्त, वायु और दिन के साथ संसार का परमहितकारक है, वह हम लोगों को विदित होकर हमारे किये हुए होम को ग्रहण करे ॥४॥

इन चार आहुतियों से प्रातःकाल अग्निहोत्री लोग होम करते हैं।

---

१. इतोऽग्रे वै० य० मुद्रितेषु सर्वसंस्करणेषु '(सर्वं वै) हे परमेश्वर !……' इत्यादिपाठ उपलभ्यते, स लेखकप्रमादाद् अस्थाने पतित इति कृत्वाऽस्माभिरयं पाठोऽग्रे 'सर्वं वै पूर्णं स्वाहा' मन्त्रप्रकरणे यथास्थानं नीतः। एवमेवेह 'तथैतरेय…… दर्शिताः' पाठोऽप्यस्थाने पठितोऽग्रे यथाप्रकरणं यथास्थानं प्रापितः।

अब सायङ्काल की आहुति के मन्त्र कहते हैं—(अग्निर्ज्यो०) अग्नि जो ज्योतिस्वरूप परमेश्वर है, उसकी आज्ञा से हम लोग परोपकार के लिये होम करते हैं। और उसका रचा हुआ यह भौतिक अग्नि इसलिये है कि वह उन द्रव्यों को परमाणुरूप करके वायु और वर्षाजल के साथ मिलाके शुद्ध करदे। जिससे सब संसार को सुख और आरोग्यता की वृद्धि हो ॥१॥

(अग्निर्वर्च्चो०) अग्नि परमेश्वर वर्च्च अर्थात् सब विद्याओं का देनेवाला, और भौतिक अग्नि आरोग्यता और बुद्धि का बढ़ानेवाला है। इसलिये हम लोग होम से परमेश्वर की प्रार्थना करते हैं। यह दूसरी आहुति है ॥[२॥]

तीसरी मौन होके प्रथम मन्त्र से करनी ॥[३॥]

और चौथी (सजूर्देवेन०) जो अग्नि परमेश्वर सूर्यादि लोकों में व्याप्त, वायु और रात्रि के साथ संसार का परमहितकारक है, वह हमको विदित होकर हमारे किये हुए होम का ग्रहण करे ॥[४॥]

अथोभयोः कालयोरग्निहोत्रे होमकरणार्थाः समानमन्त्राः—

ओम्भूरग्नये प्राणाय स्वाहा ॥१॥

ओम्भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा ॥२॥

ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा ॥३॥

ओम्भूर्भुवःस्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा ॥४॥

ओमापो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों स्वाहा ॥५॥

ओं सर्वं वै पूर्णं स्वाहा ॥६॥

इति सर्वे मन्त्रास्तैत्तिरीयोपनिषदाशयेनैकीकृताः[1]।

[2]**तथैतरेयब्राह्मणे पञ्चमपञ्जिकायामेकत्रिंशत्तमायां कण्डिकायां च सायंप्रातरग्निहोत्रमन्त्रा 'भूर्भुवःस्वरोम्' इत्यादयो दर्शिताः।**

भाष्यम्—एषु मन्त्रेषु भूरित्यादीनि सर्वाणीश्वरस्य नामान्येव वेद्यानि। एषामर्था गायत्र्यर्थे[3] द्रष्टव्याः।

१. द्र०—शिक्षावल्ली अनुवाक ५॥ २. अयं पाठो वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु सायंकालिक-मन्त्रव्याख्यानानन्तरं पठ्यते। तस्य तत्र प्रयोजनाभावादस्थाने पाठ इति कृत्वेह यथास्थानमानीतः।

३. अयं संकेतः १९३१ वैक्रमाब्दे धर्मार्दनगरात् प्रकाशिते सन्ध्यादिपञ्चमहायज्ञविधाननाम्नि पुस्तके व्याख्यातस्य गायत्रीमन्त्रस्यार्थं प्रति वर्तते। अस्मिन् भूमिकाग्रन्थे यत्रापि पञ्चमहायज्ञविधानस्य निर्देशो वर्तते स १९३१ वैक्रमाब्दे प्रकाशितं ग्रन्थं प्रत्येव वर्तते, न १९३४ वैक्रमाब्दे प्रकाशितं पञ्चमहायज्ञविधिग्रन्थं प्रतीत्युक्तं पुरस्तात् (पृष्ठ २८७)। १९३४ वैक्रमाब्दे प्रकाशितो ग्रन्थस्त्वेतत्प्रकरणलेखनानन्तरं प्राकाश्यं गत इति।

('सर्वं वै०) हे जगदीश्वर ! यदिदमस्माभिः परोपकारार्थं कर्म क्रियते, तद्भवत्कृपयाऽलं भवत्विति हेतोरेतत् कर्म तुभ्यं समर्प्यते ॥

अग्नये परमेश्वराय जलवायुशुद्धिकरणाय च होत्रं हवनं दानं यस्मिन् कर्मणि क्रियते तदग्निहोत्रम्, ईश्वराज्ञापालनार्थं वा[2] । सुगन्धि‡पुष्टि-मिष्ट-बुद्धिवृद्धि-शौर्य्य-धैर्य्य-बलरोगनाशकैर्गुणैर्युक्तानां द्रव्याणां होमकरणेन वायुवृष्टिजलयोः शुद्धया पृथिवीस्थपदार्थानां सर्वेषां शुद्धवायुजलयोगात् सर्वेषां जीवानां परमसुखं भवत्येव । अतस्तत्कर्मकर्तृणां जनानां तदुपकारेणात्यन्तसुखमीश्वरानुग्रहश्च भवत्येतदाद्यर्थमग्निहोत्रकरणम् ।

भाषार्थ—इन मन्त्रों में जो भूः इत्यादि नाम हैं, वे ईश्वर के ही जानो । गायत्री मन्त्र के अर्थ[3] में इनके अर्थ कर दिये हैं ।

इस प्रकार प्रातःकाल और सायङ्काल सन्ध्योपासन के पीछे उक्त मन्त्रों से होम करके अधिक होम करने की इच्छा हो, तो 'स्वाहा' शब्द अन्त में पढ़कर गायत्री मन्त्र से करे ।

जिस कर्म में अग्नि वा परमेश्वर के लिये, जल और पवन की शुद्धि वा ईश्वर की आज्ञापालन के अर्थ होत्र हवन अर्थात् दान करते हैं, उसे 'अग्निहोत्र' कहते हैं । जो-जो केशर[4], कस्तूरी आदि सुगन्धि, घृत दुग्ध आदि पुष्ट, गुड़ शर्करा आदि मिष्ट, बुद्धि बल तथा धैर्य्यवर्धक और [सोमवल्यादि] रोगनाशक पदार्थ हैं, उनका होम करने से पवन और वर्षाजल की शुद्धि से पृथिवी के सब पदार्थों की जो अत्यन्त उत्तमता होती है, उसी से सब जीवों को परम सुख होता है । इस कारण अग्निहोत्र करनेवाले मनुष्यों को उस उपकार से अत्यन्त सुख का लाभ होता है, और ईश्वर उन पर अनुग्रह करता है । ऐसे-ऐसे लाभों के अर्थ अग्निहोत्र का करना अवश्य उचित है ।

—: इत्यग्निहोत्रविधिः समाप्तः :—

अथ तृतीयः पितृयज्ञः—

तस्य द्वौ भेदौ स्तः—एकस्तर्पणाख्यो, द्वितीयः श्राद्धाख्यश्च । तत्र येन कर्मणा विदुषो देवान् ऋषीन् पितॄंश्च तर्पयन्ति सुखयन्ति तत् तर्पणम् । तथा यत्तेषां श्रद्धया सेवनं क्रियते तच्छ्राद्धं

१. अयं पाठोऽपि पूर्ववत् वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु सायंकालिकमन्त्रव्याख्यानन्तरम् अस्थाने उपलभ्यते । अस्माभिरयमत्र यथास्थानं प्रापितः । १९३४ वैक्रमाब्दे प्रकाशिते पञ्चमहायज्ञविधौ त्वयं पाठो यथाप्रकरणमेवोपलभ्यते ।

२. 'ईश्वराज्ञापालनार्थं वा' इत्ययं पाठः १९३१ वैक्रमाब्दे प्रकाशिते पञ्चमहायज्ञविधानेऽपि वर्तते, १९३४ वैक्रमाब्दे प्रकाशिते पञ्चमहायज्ञविधौ नोपलभ्यते ।

३. यह संकेत १९३१ वैक्रमाब्द में बम्बई से प्रकाशित 'सन्ध्यादिसभाष्यपञ्चमहायज्ञविधान' ग्रन्थस्थ गायत्री मन्त्र के अर्थ की ओर है । इस भूमिका ग्रन्थ में जहां-जहां भी 'पञ्चमहायज्ञविधान' का उल्लेख है, वह १९३१ वैक्रमाब्द में प्रकाशित ग्रन्थ की ओर है, यह हम पूर्व (पृष्ठ २८९) लिख चुके हैं, क्योंकि १९३४ में प्रकाशित पञ्चमहायज्ञविधि ग्रन्थ इस लेख (सं० १९३३) के पश्चात् छपा है ।

४. वै० य० मुद्रित कुछ संस्करणों में 'केशरि' अपपाठ है ।

वेदितव्यम् । तत्र विद्वत्सु विद्यमानेष्वेतत् कर्म संघटते, नैव मृतकेषु । कुतः, तेषां प्राप्त्यभावेन सेवनाशक्यत्वात् । तदर्थकृतकर्मणः[1] प्राप्त्यभाव इति व्यर्थतापत्तेश्च । तस्माद् विद्यमानाभिप्रायेणैतत् कर्मोपदिश्यते । सेव्यसेवकसन्निकर्षात् सर्वमेतत् कर्तुं शक्यत इति । तत्र सत्कर्त्तव्यास्त्रयः सन्ति—देवाः, ऋषयः, पितरश्च । तत्र देवेषु प्रमाणम्—

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः ।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा ॥ १ ॥ य० अ० १९ । मं० ३९ ॥

द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति । सत्यं चैवानृतं च सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्या इदमहमनृतात् सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति ॥ स वै सत्यमेव वदेत् । एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत् सत्यम् । तस्मात् ते यशो यशो ह भवति य एवं विद्वान् सत्यं वदति ॥[२॥]
श० कां० १ । अ० १ । ब्रा० १ ॥[2]

विद्वांसो हि देवाः ॥ [३॥] श० कां० ३ । अ० ७ । ब्रा० ६ ॥[3]

अथर्षिप्रमाणम्—

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः ।
तेन देवाऽअयजन्त साध्याऽऋषयश्च ये ॥ १ ॥ य० अ० ३१ । मं० ९ ॥

अथ यदेवानुब्रूवीत । तेनर्षिभ्य ऋणं जायते तद्ध्येभ्य एतत् करोत्यृषीणां निधिगोप इति ह्यनूचानमाहुः ॥ [२॥] श० कां० १ । अ० ७ । ब्रा० ५ ॥[4]

अथार्षेयं प्रवृणीते । ऋषिभ्यश्चैवैनमेतद्देवेभ्यश्च निवेदयत्ययं महावीर्य्यो यो यज्ञं प्रापदिति तस्मादार्षेयं प्रवृणीते ॥ [३॥] श० कां० १ । अ० ४ । ब्रा० ५ ॥[5]

भाष्यम्—(जातवेदः) हे परमेश्वर ! (मा) मां (पुनीहि) सर्वथा पवित्रं कुरु । भवन्निष्ठा भवदाज्ञापालिनो (देवजनाः) विद्वांसः श्रेष्ठा ज्ञानिनो विद्यादानेन (मा) मां (पुनन्तु) पवित्रं

१. तदर्थं कृतं तदर्थकृतम्, तदर्थकृतं च कर्म च तदर्थकृतकर्म, तस्य ।

२. शत० १।१।१।४,५॥ ३. शत० ३।७।३।१०॥ वै० य० मुद्रितेषु १-५ संस्करणेषु इह ब्राह्मणसंख्या ६ निर्दिश्यते । तथैव पञ्चमहायज्ञविधावपि दृश्यते, नासाध्वी । अत्र ३ संख्या साध्वी द्रष्टव्या । ६ संख्या तु प्रपाठकविभागानुरोधेन सम्भवति, परन्त्विह न प्रपाठकनिर्देशोऽपि त्वध्यायनिर्देशः क्रियते ।

४. शत० १।७।२।३॥ मूले ब्राह्मणस्य ५ संख्या तु प्रपाठकानुसारी द्रष्टव्या ।

५. शत० १।४।२।२।३॥ इह ब्राह्मणस्य ५ संख्याया निर्देशो न प्रपाठकानुसारी, न च अध्यायानुसारीत्युभयतो भ्रष्टो वर्तते ।

कुर्वन्तु । तथा (पुनन्तु मन०) भवद्दत्तविज्ञानेन भवद्विषयकध्यानेन वाऽस्माकं बुद्धयः पुनन्तु पवित्रा भवन्तु । तथा (पुनन्तु विश्वा भूतानि) विश्वानि सर्वाणि संसारस्थानि भूतानि पुनन्तु भवत्कृपया सुखानन्दयुक्तानि पवित्राणि भवन्तु ॥[१॥]

(द्वयं वा०) मनुष्याणां द्वाभ्यां लक्षणाभ्यां द्वे एव संज्ञे भवतः—देवो मनुष्यश्चेति । तत्र सत्यं चैवानृतं च कारणे स्तः । (सत्यमेव०) यत्सत्यवचनं सत्यमानं सत्यकर्म तदेव देवा आश्रयन्ति । तथैवानृतवचनमनृतमानममृतं कर्म चेति मनुष्याश्चेति । अत एव योऽनृतं त्यक्त्वा सत्यमुपैति, स देवः परिगण्यते । यश्च सत्यं त्यक्त्वाऽनृतमुपैति, स मनुष्यश्च । अतः सत्यमेव सर्वदा वदेन्मन्येत कुर्याच्च । यः सत्यव्रतो देवोऽस्ति, स एव यशस्विनां मध्ये यशस्वी भवति, तद्विपरीतो मनुष्यश्च ॥ [२॥]

[(विद्वां०)] तस्मादत्र विद्वांस एव देवाः सन्ति ॥[३॥]

(तं यज्ञम्०) इति सृष्टिविद्याविषये व्याख्यातः[1] ॥[१॥]

(अथ यदेवा०) अथेत्यनन्तरं सर्वविद्यां पठित्वा यदनुवचनमध्यापनं कर्मानुष्ठानमस्ति, तदृषिकृत्यं विज्ञायते । तेनाध्ययनाध्यापनकर्मणर्षयः सेवनीया जायन्ते । यत्[2] तेषां प्रियमाचरन्ति तदेतत्तेभ्यः सेवाकर्तृभ्य एव सुखकारी भवति । यः सर्वविद्याविद् भूत्वाऽध्यापयति तमेवानूचानमृषिमाहुः ॥[२॥]

(अथार्षेयं प्रवृ०) यो मनुष्यः पाठनं कर्म प्रवृणीते तदार्षेयं कर्म कथ्यते । य ऋषिभ्यो देवेभ्यो विद्यार्थिभ्यश्च प्रियं वस्तु निवेदयित्वा[3] नित्यं विद्यामधीते, स विद्वान् महावीर्यो भूत्वा यज्ञं विज्ञानाख्यं (प्रापत्) प्राप्नोति । तस्मादिदमार्षेयं कर्म सर्वैर्मनुष्यैः स्वीकार्य्यम् ॥[३॥]

भाषार्थ—अब तीसरा पितृयज्ञ कहते हैं । उसके दो भेद हैं—एक तर्पण और दूसरा श्राद्ध । उनमें से जिस कर्म करके विद्वान्रूप देव ऋषि और पितरों को सुखयुक्त करते हैं, सो 'तर्पण' कहाता है । तथा जो उन लोगों की श्रद्धापूर्वक सेवा करना है, उसी को 'श्राद्ध' जानना चाहिये । यह तर्पण आदि कर्म विद्यमान अर्थात् जीते हुए जो प्रत्यक्ष हैं, उन्हीं में घटता है, मरे हुओं में नहीं । क्योंकि मृतकों का प्रत्यक्ष होना असम्भव है, इसलिये उनकी सेवा नहीं हो सकती । तथा जो उनके लिये कोई पदार्थ दिया चाहे, वह भी उनको नहीं मिल सकता । इससे केवल विद्यमानों की ही श्रद्धापूर्वक सेवा करने का नाम 'तर्पण' और 'श्राद्ध' वेदों में कहा है । क्योंकि सेवा करने के योग्य और सेवा करनेवाले इन दोनों ही के प्रत्यक्ष होने से यह सब काम हो सकता है, दूसरे प्रकार से नहीं । सो तर्पण आदि कर्म से सत्कार करने के योग्य तीन हैं—देव, ऋषि और पितर । देवों में प्रमाण—

---

१. पूर्वत्र पृष्ठ १४३,१४४ ।
२. यदध्ययनाध्यापनाख्यं प्रियं कर्म य आचरन्तीत्यभिप्रायः ।
३. क्त्वापि च्छन्दसि (अष्टा० ७।१।३८) सूत्रे पुनः क्त्वाग्रहणात् योगविभागोऽत्र द्रष्टव्यः । तेन समासे ल्यब्भवति क्त्वा च इत्यर्थो ज्ञाप्यते ।

(पुनन्तु०) हे जातवेद परमेश्वर ! आप सब प्रकार से मुझे पवित्र कीजिये, और जो आपके उपासक आपकी आज्ञा पालते हैं, अथवा जो कि विद्वान् ज्ञानी पुरुष कहाते हैं वे मुझको विद्यादान से पवित्र करें। और आपके दिये विशेष ज्ञान वा आपके विषय के ध्यान से हमारी बुद्धियां पवित्र हों। तथा (पुनन्तु विश्वा भूतानि) सब संसारी जीव आपकी कृपा से पवित्र होकर आनन्द में रहें [॥१॥]

(द्वयं वा०) दो लक्षणों के पाये जाने से मनुष्यों की दो संज्ञा[यें] होती हैं, अर्थात् एक देव और दूसरी मनुष्य। उनमें भेद होने के सत्य और झूंठ दो कारण हैं। (सत्यमेव०) जो कोई सत्यभाषण सत्यस्वीकार और सत्यकर्म करते हैं वे देव, तथा जो झूंठ बोलते झूंठ मानते और झूंठ कर्म करते हैं, वे मनुष्य कहाते हैं। इसलिये झूंठ को छोड़कर सत्य को प्राप्त होना सबको उचित है। इस कारण से बुद्धिमान् लोग निरन्तर सत्य ही कहें मानें और करें। क्योंकि सत्यव्रत आचरण करनेवाले जो देव हैं, वे तो कीर्तिमानों में भी कीर्तिमान् होके सदा आनन्द में रहते हैं। परन्तु उनसे विपरीत चलनेवाले मनुष्य दुःख को प्राप्त होकर सब दिन पीड़ित ही रहते हैं ॥[२॥]

[(विद्वा०)] इससे सत्यधारी विद्वान् ही 'देव' कहाते हैं ॥[३॥]

[ऋषियों में प्रमाण—]

(त यज्ञं०) इस मन्त्र का व्याख्यान सृष्टिविद्याविषय में कर दिया है[१] ॥[१॥]

(अथ यदेवा०) जो सब विद्याओं को पढ़के औरों को पढ़ाना है, यह 'ऋषिकर्म' कहाता है। और उससे जितना कि मनुष्यों पर ऋषियों का ऋण हो, उस सबकी निवृत्ति उनकी सेवा करने से होती है। इससे जो नित्य विद्यादान ग्रहण और सेवाकर्म करना है, वही परस्पर आनन्दकारक है। और यही व्यवहार निधिगोप अर्थात् विद्याकोष का रक्षक है ॥[२॥]

(अथार्षेयं प्रवृ०) विद्या पढ़के सबों को पढ़ानेवाले ऋषियों और देवों की प्रिय पदार्थों से सेवा करनेवाला विद्वान् बहुपराक्रमयुक्त होकर विशेष ज्ञान को प्राप्त होता है। इससे आर्षेय अर्थात् ऋषिकर्म को सब मनुष्य स्वीकार करें ॥[३॥]

अत्र पितृषु प्रमाणम्—

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम् ।
स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन् ॥ १ ॥ य० अ० २ । मं० ३४ ॥

आ यन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः ।
अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥ २ ॥
य० अ० १९ । मं० ५८ ॥

१. पूर्वत्र पृष्ठ १४४ ।

भाष्यम्—(ऊर्जं वहन्ती०)—सर्वे मनुष्याः सर्वान् प्रत्येवं जानीयुश्चाज्ञापयेयुः[1]—(मे पितॄन्) मम पितृपितामहादीनाचार्यादींश्च सर्वे यूयं (तर्पयत) सेवया प्रसन्नान् कुरुतेति। तथा (स्वधा स्थ) सत्यविद्याभक्तिस्वपदार्थधारिणो भवत। केन-केन पदार्थेन ते सेवनीयास्तानाह—(ऊर्जं०) पराक्रमं प्रापिकाः सुगन्धिताः प्रिया हृद्या अपः, (अमृतम्) अमृतात्मकमनेकविधं रसम्, (घृतम्) आज्यम्, (पयः) दुग्धं, (कीलालम्) संस्कारैः सम्पादितमनेकविधमन्नम्, (परिस्रुतम्) माक्षिकं मधु कालपक्वं फलादिकं च निवेद्य पितॄन् प्रसन्नान् कुर्य्यात्[2] ॥१॥

ये (सोम्यासः) सोमगुणाः शान्ताः, सोमवल्ल्यादिरसनिष्पादने चतुराः, (अग्निष्वात्ताः) अग्निः परमेश्वरोऽभ्युदयाय सुष्ठुतयाऽऽत्तो गृहीतो यैस्तेऽग्निष्वात्ताः, तथा होमकरणार्थं शिल्पविद्यासिद्धये च भौतिकोऽग्निरात्तो गृहीतो यैस्ते (पितरः) विज्ञानवन्तः पालकाः सन्ति, (आयन्तु नः) ते अस्मत्समीपमागच्छन्तु, वयं च तत्सामीप्यं नित्यं गच्छेम। (पथिभिर्दे०) तान् विद्वन्मार्गैर्दृष्टपथमागतान् दृष्ट्वाऽभ्युत्थाय 'हे पितरो! भवन्त आयन्तु' इत्युक्त्वा प्रीत्याऽऽसनादिकं निवेद्य नित्यं सत्कुर्य्याम। (अस्मिन्०) हे पितरोऽस्मिन् सत्काररूपे यज्ञे (स्वधया) अमृतरूपया सेवया (मदन्तो०) हर्षन्तोऽस्मान् रक्षितारः सन्तः सत्यविद्यामधिब्रुवन्तूपदिशन्तु ॥२॥

भावार्थ—(ऊर्जं वह०)—पिता वा स्वामी अपने पुत्र पौत्र स्त्री और नौकरों को इस प्रकार आज्ञा देवें कि—(तर्पयत मे०) जो-जो हमारे मान्य पिता पितामहादि माता मातामहादि और आचार्य तथा इनसे भिन्न भी विद्वान् लोग, जो अवस्था या ज्ञान में बड़े और मान्य करने योग्य हैं, तुम लोग उनकी (ऊर्जं०) उत्तम-उत्तम जल, (अमृतम्) रोगनाश करनेवाले उत्तम अन्न, (परिस्रुतम्) सब प्रकार के उत्तम फलों के रस आदि पदार्थों से नित्य सेवा किया करो, कि जिससे वे प्रसन्न होके तुम लोगों को सदा विद्या देते रहें। क्योंकि ऐसा करने से तुम लोग भी सदा प्रसन्न रहोगे। (स्वधा स्थ०) और ऐसा विनय सदा रक्खो कि हे पूर्वोक्त पितर लोगो! आप हमारे अमृतरूप पदार्थों के भोगों से तृप्त हूजिये। और हम लोग जो-जो पदार्थ आप लोगों की इच्छा के अनुकूल निवेदन कर सकें, उन-उन की आज्ञा किया कीजिये। हम लोग मन वचन और कर्म से आपके सुख करने में स्थित हैं, आप किसी प्रकार का दुःख न पाइये। क्योंकि जैसे आप लोगों ने बाल्यावस्था और ब्रह्मचर्य्याश्रम में हम लोगों को सुख दिया है, वैसे ही हमको भी आप लोगों का प्रत्युपकार करना अवश्य चाहिये, कि जिससे हम लोगों को कृतघ्नता दोष न प्राप्त हो ॥१॥

(आयन्तु नः०)—'पितृ' शब्द से सबके रक्षक श्रेष्ठस्वभाववाले ज्ञानियों का ग्रहण होता है। क्योंकि जैसी रक्षा मनुष्यों की सुशिक्षा और विद्या से हो सकती है, वैसी किसी दूसरे प्रकार से नहीं।

१. वै० य० मुद्रितेष्वाद्येषु संस्करणेषु 'आज्ञपेयुः' पाठः, द० सं० च 'आज्ञापेयुः' पाठः। 'मारणतोषणनिशामनेषु ज्ञा' इति गणसूत्रात् (क्षीरत० १।५।४८) मारणादिभ्योऽन्यत्र मित्त्वाभावात् 'आज्ञापयेयुः' इति पदस्य साधुत्वं ज्ञेयम्। द्र०—पूर्वत्र पृष्ठ २५६, पं० १०—'अहमाज्ञापयामि'।

२. वै० य० मुद्रितेषु 'कुर्यात्' अपपाठो मुद्रणप्रमादजो वा लेखकप्रमादजो वा द्रष्टव्यः। पूर्वत्र 'तर्पयत, कुरुत' इति लोटो मध्यमबहुवचनश्रवणादिहापि विधिलिङो मध्यमबहुवचनमेव मूलपाठः स्यात्, पूर्वपठितस्य 'यूयं' पदस्य संबन्धाच्च। तस्यैव लेखकप्रमादात् 'कुर्य्यात्' इति प्रथमैकवचने परिणतिः संजाता। एकवचनं चात्रासाधु इति कृत्वा पञ्चमहायज्ञविधौ 'कुर्युः' इत्येवं बहुवचने पाठः परिष्कृतः।

इसलिये जो विद्वान् लोग मनुष्यों को ज्ञानचक्षु देकर उनके अविद्यारूपी अन्धकार के नाश करनेवाले हैं, उनको 'पितर' कहते हैं। उनके सत्कार के लिये मनुष्यमात्र को ईश्वर की यह आज्ञा है, कि वे उन आते हुए पितर लोगों को देखकर अभ्युत्थान अर्थात् उठके प्रीतिपूर्वक कहें कि—'आइये! बैठिये! कुछ जलपान कीजिये, और खाने-पीने को आज्ञा दीजिये। पश्चात् जो-जो बातें उपदेश करने के योग्य हैं, सो-सो प्रीतिपूर्वक समझाइये' कि जिससे हम लोग भी सत्यविद्यायुक्त होके सब मनुष्यों के पितर कहावें।

और सदा ऐसी प्रार्थना करें कि हे परमेश्वर! आपके अनुग्रह से (सोम्यासः) जो शान्तस्वभाव और सबको सुख देनेवाले विद्वान् लोग (अग्निष्वात्ताः) अग्नि नाम परमेश्वर और रूप गुणवाले भौतिक अग्नि को अलग-अलग करनेवाली विद्युत्‌रूप विद्या को यथावत् जाननेवाले हैं, वे इस विद्या और सेवायज्ञ में (स्वधया मदन्तः) अपनी शिक्षा विद्या के दान और प्रकाश से अत्यन्त हर्षित होके (अवन्त्वस्मान्) हमारी सदा रक्षा करें। तथा उन विद्यार्थियों और सेवकों के लिये भी ईश्वर की आज्ञा है कि जब-जब वे आवें, तब-तब उनको उत्थान नमस्कार और प्रियवचन आदि से सन्तुष्ट रक्खें। तथा फिर वे लोग भी अपने सत्यभाषण से, निर्वैरता और अनुग्रह आदि सद्गुणों से युक्त होकर अन्य मनुष्यों को उसी मार्ग में चलावें, और आप भी दृढ़ता के साथ उसी में चलें। ऐसे सब लोग छल और लोभादिरहित होकर परोपकार के अर्थ अपना सत्यव्यवहार रक्खें। (पथिभिर्देवयानैः) उक्त भेद से विद्वानों के दो मार्ग होते हैं—एक देवयान् और दूसरा पितृयान। अर्थात् जो विद्यामार्ग है वह देवयान, और जो कर्मोपासना मार्ग है वह पितृयान कहाता है। सब लोग इन दोनों प्रकार के पुरुषार्थ को सदा करते रहें ॥२॥

अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम्।

अमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषत ॥ ३ ॥

नमो वः पितरो रसाय नमो वः पितरः शोषाय नमो वः पितरो जीवाय नमो वः पितरः स्वधायै नमो वः पितरो घोराय नमो वः पितरो मन्यवे नमो वः पितरः पितरो नमो वो गृहान्नः पितरो दत्त सतो वः पितरो देष्मैतद्वः पितरो वासः ॥ ४ ॥

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषोऽसत् ॥ ५ ॥

य० अ० २। मं० ३१-३३ ॥

भाष्यम्—(अत्र पितरो०) हे पितरोऽत्रास्यां सभायां पाठशालायां वाऽस्मान् विद्याविज्ञानदानेनानन्दयुक्तान् कुरुत। (यथाभागम्) भजनीयं स्वं स्वं विद्यारूपं भागं (आवृषायध्वम्) विद्वद्वत् स्वीकृत्य (अमीमदन्त) अस्मिन् सत्योपदेशे विद्यादानकर्मणि हर्षेण सर्वोत्साहवन्तो भवत। (यथाभागमा०) तथा यथायोग्यं सत्कारं प्राप्य श्रेष्ठाचारेण प्रसन्नाः सन्तो विचरत ॥ ३ ॥

(नमो वः०) हे पितरः ! रसाय सोमलतादिरसविज्ञानानन्दग्रहणाय, (नमो वः पितरः०) शोषायाग्निवायुविद्याप्राप्तये, (नमो वः पितरो जी०) जीवनार्थं विद्याजीविकाप्राप्तये, (नमो वः पितरः स्व०) मोक्षविद्याप्राप्तये, (नमो वः०) आपत्कालनिवारणाय, (नमो वः) दुष्टानामुपरि क्रोधधारणाय क्रोधस्य निवारणाय च, (नमो वः पितरः०) सर्वविद्याप्राप्तये च युष्मभ्यं वारं वारं नमोऽस्तु। (गृहान्न०) हे पितरः ! गृहान् गृहसम्बन्धिव्यवहारबोधान् नोऽस्मभ्यं यूयं दत्त। (सतो वः०) हे पितरः ! येऽस्माकमधिकारे विद्यमानाः पदार्थाः सन्ति, तान् वयं वो युष्मभ्यं(देष्म)दद्मो, यतो वयं कदाचिद् भवद्भ्यो विद्यां प्राप्य क्षीणा न भवेम। (एतद्वः पितरः०) हे पितरोऽस्माभिर्यद्वासो वस्त्रादिकं वस्तु युष्मभ्यं दीयते, एतद् यूयं प्रीत्या गृह्णीत ॥ ४॥

(आधत्त पितरो०) हे पितरः ! यूयं मनुष्येषु विद्यागर्भमाधत्त धारयत। तथा विद्यादानार्थं (पुष्करस्रजम्) पुष्पमालाधारिणं[1] (कुमारम्) ब्रह्मचारिणं यूयं धारयत। (यथेह०) येन प्रकारेणेहास्मिन् संसारे विद्यासुशिक्षायुक्तः पुरुषोऽसत् स्यात्। येन च मनुष्येषूत्तमविद्योन्नतिर्भवेत्, तथैव प्रयतध्वम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अत्र पितरो मा०) हे पितर लोगो ! आप यहां हमारे स्थान में आनन्द कीजिये। (यथाभागमावृ०) अपनी इच्छा के अनुकूल भोजनवस्त्रादि भोग से आनन्दित हूजिये। (अमीमदन्त पितरः) आप यहां विद्या के प्रचार से सबको आनन्दयुक्त कीजिये। (यथाभागमा) हम लोगों से यथायोग्य सत्कार को प्राप्त होकर अपनी प्रसन्नता के प्रकाश से हमको भी आनन्दित कीजिये ॥३॥

(नमो वः०) हे पितर लोगो ! हम लोग आपको नमस्कार करते हैं, इसलिये कि आपके द्वारा हमको रस अर्थात् विद्यानन्द, ओषधि और जलविद्या का यथावत् ज्ञान हो। तथा (नमो वः०) शोष अर्थात् अग्नि और वायु की विद्या, कि जिससे ओषधि और जल सूख जाते हैं, उसके बोध होने के लिये भी हम आपको नमस्कार करते हैं। (नमो वः०) हे पितर लोगो! आपकी सत्यशिक्षा से हमलोग प्रमादरहित और जितेन्द्रिय होके पूर्ण उमर को भोगें। इसलिये हम आपको नमस्कार करते हैं। (नमो वः०) हे विद्वान् लोगो ! अमृतरूप मोक्षविद्या की प्राप्ति के लिये हम आपको नमस्कार करते हैं। (नमो०) हे पितरो ! घोर विपत् अर्थात् आपत्काल में निर्वाह करने की विद्याओं को जानने की इच्छा से दुःखों के पार उतरने के लिये हम लोग आपकी सेवा करते हैं। (नमो वः०) हे पितरो ! दुष्ट जीव और दुष्ट कर्मों पर नित्य अप्रीति करने की विद्या सीखने के लिये हम आपको नमस्कार करते हैं। (नमो वः०) हम आप लोगों को वारंवार नमस्कार इसलिये करते हैं कि गृहाश्रम आदि करने के लिये जो-जो विद्या अवश्य हैं, सो-सो सब आप लोग हमको देवें। (सतो वः०) हे पितर लोगो ! आप सब गुणों और सब संसारी सुखों के देनेवाले हैं। इसलिये हम लोग आपको उत्तम-उत्तम पदार्थ देते हैं, इनको आप प्रीति से लीजिये।

---

१. ब्रह्मचारिणां स्रग्धारणं प्रतिषिद्धं धर्मशास्त्रेषु। तेनात्र लुप्तोपमया पुष्पमालेव यज्ञोपवीतमभिप्रेतं स्यात्। धर्मशास्त्रानुसारं यज्ञोपवीतमपि दैवकर्मव्यतिरिक्ते काले स्रगिव कण्ठे धार्यते। यथा सम्प्रति सर्वकालं यज्ञोपवीतं धार्यते तस्य केवलं दैवकर्मण्येव विधानं दृश्यते, न सार्वकालिकम्। भाषापदार्थोऽत्र स्पष्टः।

तथा प्रतिष्ठा के लिये उत्तम-उत्तम वस्त्र भी देते हैं, इनको आप धारण कीजिये। और प्रसन्न होके सबके सुख के अर्थ संसार में सत्यविद्या का प्रचार कीजिये ॥४॥

(आधत्त पितरो०) हे विद्या के देनेवाले पितर लोगो! इस कुमार ब्रह्मचारी की गर्भ के समान रक्षा करके उत्तम विद्या दीजिये, कि जिससे वह विद्वान् होके (पुष्करस्र०) जैसे पुष्पों की माला धारण करके मनुष्य शोभा को प्राप्त होता है, वैसे ही यह भी विद्या पाकर सुन्दरतायुक्त होवे। (यथेह पुरुषोऽसत्) अर्थात् जिस प्रकार इस संसार में मनुष्यों की विद्यादि सद्गुणों से उत्तम कीर्ति और सब मनुष्यों को सुख प्राप्त हो सके, वैसा ही प्रयत्न सब आप लोग सदा कीजिये। यह ईश्वर की आज्ञा विद्वानों के प्रति है। इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि इसका पालन सदा करते रहें ॥५॥

ये स॒मा॒नाः सम॑नसो जी॒वा जी॒वेषु॒ माम॒काः।
तेषा॑ᳫ॑ श्रीर्मयि॑ कल्पताम॒स्मिँल्लो॒के श॒तᳫ॑ समाः ॥ ६ ॥ य० अ० १९। मं० ४६ ॥

उदी॑रता॒मव॑र॒ऽ उत्प॑रास॒ऽ उन्म॑ध्य॒माः पि॒तरः॑ सो॒म्यासः॑।
असुं॒ यऽ ई॒युर॑वृ॒काऽ ऋ॑त॒ज्ञास्ते नो॑ऽवन्तु पि॒तरो॒ हवे॑षु ॥ ७ ॥

अङ्गि॑रसो नः पि॒तरो॒ नव॑ग्वा॒ऽ अथ॑र्वाणो॒ भृग॑वः सो॒म्यासः॑।
तेषां॑ व॒यᳫ॑ सु॑म॒तौ य॒ज्ञिया॑ना॒मपि॑ भ॒द्रे सौ॑मन॒से स्या॑म ॥ ८ ॥
य० अ० १९। मं० ४९-५०॥

ये स॒मा॒नाः सम॑नसः पि॒तरो॑ यम॒राज्ये॑।
तेषां॑ लो॒कः स्व॒धा नमो॑ य॒ज्ञो दे॒वेषु॒ कल्पताम् ॥ ९ ॥ य० अ० १९। मं० ४५ ॥

भाष्यम्—(ये समानाः०)—ये (मामकाः) मदीया आचार्य्यादयः, (जीवाः) विद्यमानजीवनाः, (समनसः) धर्मेश्वरसर्वमनुष्यहितकरणैकनिष्ठाः, (समानाः) धर्मेश्वरसत्यविद्याविशुभगुणेषु समानत्वेन वर्त्तमानाः, (जीवेषु) उपदेश्येषु शिष्येषु सत्यविद्यादानाय छलादिदोषराहित्येन वर्त्तमाना विद्वांसः सन्ति, (तेषां०) विदुषां या श्रीः सत्यविद्यादिगुणाढ्या शोभास्ति, (अस्मिँल्लोके शतं०) सामयिकी लक्ष्मीः शतवर्षपर्य्यन्तं (कल्पताम्) स्थिरा भवतु। यतो वयं नित्यं सुखिनः स्याम ॥ ६ ॥

(उदीरतामवरे०) ये पितरोऽवकृष्टगुणाः, (उत्परासः) उत्कृष्टगुणाः, (उन्मध्यमाः) मध्यस्थगुणाः, (सोम्यासः) सोम्यगुणाः, (अवृकाः) अजातशत्रवः, (ऋतज्ञाः) ब्रह्मविदो वेदविदश्च, ते ज्ञानिनः पितरो (हवेषु) देयग्राह्यव्यवहारेषु विज्ञानदानेन (नोऽवन्तु) अस्मान् सदा रक्षन्तु। तथा (असुं य ईयुः) येऽसुं प्राणमीयुः प्राप्नुयुरर्थाद् द्वाभ्यां जन्मभ्यां विद्वांसो भूत्वा विद्यमान-

जीवनास्स्युस्त एव सर्वैः सेवनीयाः, नैव मृताश्चेति। कुतः, तेषां देशान्तरप्राप्त्या सन्निकर्षाभावात् [ते][1] सेवाग्रहणेऽसमर्थाः सेवितुमशक्याश्च ॥ ७ ॥

(अङ्गिरसो नः०) येऽङ्गेषु रसभूतस्य प्राणाख्यस्य परमेश्वरस्य ज्ञातारः, (नवग्वाः) सर्वासु विद्यासूत्तमकर्मसु च नवीना गतयो येषां ते, [2][अत्राह निरुक्तकारः—अङ्गिरसो नः पितरो नवगतयो नवनीतगतयो वा। (११।१९)।] (अथर्वाणः) अथर्ववेदविदो धनुर्वेदविदश्च, (भृगवः) परिपक्वज्ञानाः शुद्धाः, (सोम्यासः) शान्ताः सन्ति, (तेषां वयꣳ सुमतौ०) वयं तेषां यज्ञियानां[3] यज्ञादिसत्कर्मसु कुशलानाम्, अपीति निश्चयेन, सुमतौ विद्याविशुभगुणग्रहणे, (भद्रे) कल्याणकरे व्यवहारे, (सौमनसे) यत्र विद्यानन्दयुक्तं मनो भवति तस्मिन् (स्याम) अर्थाद् भवतां सकाशादुपदेशं गृहीत्वा धर्मार्थकाममोक्षप्राप्ता भवेम ॥ ८ ॥

(ये समानाः) (समनसः) अनयोरर्थ उक्तः[4]। ये (यमराज्ये) राजसभायां न्यायाधीशत्वेनाधिकृताः (पितरः) विद्वांसः सन्ति, (तेषां लोकः०) यो न्यायदर्शनं स्वधा अमृतात्मको लोको भवतीति, (यज्ञो०) यश्च प्रजापालनाख्यो राजधर्मव्यवहारो देवेषु विद्वत्सु प्रसिद्धोऽस्ति, सोऽस्माकं मध्ये (कल्पताम्) समर्थतां प्रसिद्धो भवतु। य एवं सत्यन्यायकारिणः सन्ति तेभ्यो (नमः) नमोऽस्तु। अर्थाद् ये सत्यन्यायाधीशास्ते सर्वदास्माकं मध्ये तिष्ठन्तु ॥ ९ ॥

भावार्थ—(ये समानाः०) जो आचार्य्य (जीवाः) जीते हुए (समनसः) धर्म ईश्वर और सर्वहित करने में उद्यत, (समानाः) सत्यविद्यादि शुभगुणों के प्रचार में ठीक-ठीक विचार, और (जीवेषु) उपदेश करने योग्य शिष्यों में सर्वविद्यादान के लिये छलकपटादिदोषरहित होकर प्रीति करनेवाले विद्वान् हैं, (तेषां०) उनकी जो श्री अर्थात् सत्यविद्यादिश्रेष्ठगुणयुक्त शोभा और राज्यलक्ष्मी है, सो मेरे लिये (अस्मिल्लोके शतं समाः) इस लोक में १०० सौ वर्ष पर्य्यन्त रहे। जिससे हम लोग नित्य सुखसंयुक्त होके पुरुषार्थ करते रहें ॥६॥

(उदीरताम०) जो विद्वान् लोग (अवरे) कनिष्ठ (उन्मध्यमाः) मध्यम और (उत्परासः) उत्तम, (पितरः सोम्यासः) चन्द्रमा के समान सब प्रजाओं को आनन्द करानेवाले, (असुं य ईयुः) प्राणविद्यानिधान, (अवृकाः) शत्रुरहित अर्थात् सब के प्रिय, पक्षपात छोड़के सत्यमार्ग में चलनेवाले, तथा (ऋतज्ञाः) जो कि ऋत अर्थात् ब्रह्म यथार्थ धर्म और सत्यविद्या के जाननेवाले हैं, (ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु) वे पितर लोग युद्धादि व्यवहारों में हमारे साथ होके अथवा उनकी विद्या देके हमारी रक्षा करें ॥७॥

---

१. अत्र वाक्यस्य सामञ्जस्याय 'ते' पदं प्रवर्धनीयम्। यद्वेह—सन्निकर्षाभावात् सेवाग्रहणेऽसामर्थ्यात् सेवितुमशक्यत्वाच्च' इत्येव पाठ ऊहनीयः।

२. इदं 'नवग्वाः' पदस्य व्याख्याने निरुक्तप्रमाणमिह लेखकप्रमादान्नष्टं स्यादिति प्रतीयते। यतो वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु अग्रिमस्य 'ये नः पूर्वे०' इति दशममन्त्रस्य भावार्थे प्रमाणमिदमुद्ध्रियते। वस्तुतः भावार्थेऽपि तदस्थाने पठितम्, तस्मिन् मन्त्रे 'नवग्वाः' पदस्यादर्शनात्। तस्मात् स पाठोऽस्यैव मन्त्रस्य भावार्थे पठनीयः। ३. वै० य० मुद्रितेष्वाद्येषु संस्करणेषु 'यज्ञानां' इत्यपपाठः।

४. पूर्वत्रास्मिन्नेव सन्दर्भे 'ये समानाः समनसः' इत्यस्मिन् सप्तममन्त्रव्याख्याने।

(अङ्गिरसो नः) जो ब्रह्माण्डभर के पृथिव्यादि सब अङ्गों की मर्मविद्या के जाननेवाले, (नवग्वाः) नवीन-नवीन विद्याओं के ग्रहण करने और करानेवाले, [1]इसमें निरुक्तकार का प्रमाण अ० ११ खं १९ निरुक्त में लिखा है—'**अङ्गिरसो नवगतयो**' इत्यादि वहां देख लेना, (अथर्वाणः) अथर्ववेद और धनुर्वेदविद्या में चतुर, तथा दुष्ट शत्रु और दोषों के निवारण करने में प्रवीण, (भृगवः) परिपक्वज्ञानी और तेजस्वी, (सोम्यासः) जो परमेश्वर की उपासना और अपनी विद्या के गुणों में शान्तिस्वरूप,[2] (तेषां वयꣳ सुमतौ०) तथा यज्ञ के जानने और करनेवाले पितर हैं, तथा जिस कल्याणकारक विद्या से उनको सुमति (भद्रे) कल्याण और (सौमनसे) मन की शुद्धि होती है, उनमें (अपि स्याम) हम लोग भी स्थिर हों, कि जिसके बोध से व्यवहार और परमार्थ के सुखों को प्राप्त होके सदा आनन्दित रहें ॥८॥

(ये समा०) जो पितर अर्थात् विद्वान् लोग (यमराज्ये) अर्थात् परमेश्वर के इस राज्य में सभासद् वा न्यायाधीश होके न्याय करनेवाले, और (समनसः पितरः) सब सृष्टि के हित करने में समानबुद्धि हैं, (तेषां लोकः स्वधा) जिनका लोक अर्थात् देश सत्यन्याय को प्राप्त होके सुखी रहना है, (नमः) उनको हम लोग नमस्कार करते हैं। क्योंकि वे पक्षपातरहित होके, सत्य व्यवस्था में चलके अपने दृष्टान्त से औरों को भी उसी मार्ग में चलानेवाले हैं। (यज्ञो देवेषु कल्पताम्) यह सत्यधर्मसम्बन्धी प्रजापालनरूप जो अश्वमेध यज्ञ है, सो परमात्मा की कृपा से विद्वानों के बीच में सत्य व्यवस्था की उन्नति के लिये सदा समर्थ अर्थात् प्रकाशमान बना रहे ॥९॥

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः।
तेभिर्यमः संꣳरराणो हवीꣳष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ १० ॥

बर्हिषदः पितरऽ ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्।
तऽ आ गतावसा शंतमेनाथा नः शं योररपो दधात ॥ ११ ॥

आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ२॥ऽ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः।
बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्तऽ इहागमिष्ठाः ॥ १२ ॥

य० अ० १९। मं० ५१,५५,५६ ॥

भाष्यम्—(ये सोम्यासः) सोमविद्यासम्पादिनः, (वसिष्ठाः) सर्वविद्याद्युत्तमगुणेष्वतिशयेन रममाणाः, (सोमपीथम्) सोमविद्यारक्षणं (अनूहिरे) पूर्वं सर्वा विद्याः पठित्वाऽध्याप्य तांस्ता अनुप्रापयन्ति, ते (नः पूर्वे पितरः) येऽस्माकं पूर्वे पितरः सन्ति, (तेभिः) तैः (उशद्भिः)

१. यहां से लेकर 'देख लेना' पर्यन्त पाठ वै० य० मुद्रित संस्करणों में अगले दशम मन्त्र के व्याख्यान के अन्त में मिलता है, यह यहां होना चाहिये। क्योंकि 'नवग्वाः' पद इस मन्त्र में पठित है, १०वें मन्त्र में यह पद नहीं है।

२. 'शान्तस्वरूप' पाठ युक्त प्रतीत होता है।

परमेश्वरं धर्मं च कामयमानैः पितृभिः सह समागमेनैव (सश्रराणः) सत्यविद्यायाः सम्यग्दानकर्त्ता (यमः) सत्यविद्याऽव्यवस्थापकः परमेश्वरो विदितो भवति। किं कुर्वन्? (हवींषि०) विज्ञानादीन्युशन् सर्वेभ्यो दातुं कामयन् सन्। अतः सर्वो जन एवमाचरन् सन् (प्रतिकाममत्तु) सर्वान् कामान् प्राप्नोतु॥ १०॥

(बर्हिषदः) ये बर्हिषि सर्वोत्तमे ब्रह्मणि विद्यायां च निषण्णास्ते (पितरः) विद्वांसः (अवसा शन्तमेन) अतिशयेन कल्याणरूपेण रक्षणेन सह वर्तमानाः (आगत) अस्माकं समीपमागच्छन्तु। आगतान् तान् प्रत्येवं वयं ब्रूमहे—हे विद्वांसः! यूयमागत्य (अर्वाक्) पश्चात् (इमा०) इमानि हव्यानि ग्राह्यदेयानि वस्तूनि (जुषध्वम्) सम्प्रीत्या सेवध्वम्। हे पितरः! वयं (ऊत्या) भवद्रक्षणेन (वः) युष्माकं सेवां (चकृम) नित्यं कुर्य्याम। (अथा नः श०) अथेति सेवाप्राप्तेरनन्तरं, यूयं नोऽस्माकम् शंयोर्विज्ञानरूपं सुखं दधात। किन्त्वविद्यारूपं पापं दूरीकृत्वा (अरपः) निष्पापतां दधात। येन वयमपि निष्पापा भवेमेति॥ ११॥

(आहं पितॄन् सुविदत्राँ०)—ये बर्हिषदः (स्वधया) अन्नेन (सुतस्य) सोमवल्ल्यादिभ्यो निष्पादितस्य रसस्य प्राशनं (भजन्ते) सेवन्ते, (पित्वः) तत्पानं कृत्वा (त इहाग०) अस्मिन्नस्मत्सन्निहितदेशे ते पितर आगच्छन्तु। [(पितॄन्)] य ईदृशाः पितरः सन्ति तान् [(सुविदत्रान्)] विद्याविशुभगुणानां दानकर्तॄनहं (आ अवित्सि) आ समन्ताद्वेद्मि। अत्र व्यत्ययेनात्मनेपदमिडभावश्च। तान् विदित्वा सङ्गत्य च (विष्णोः) सर्वत्रव्याप्कस्य परमेश्वरस्य (विक्रमणं च) विविधक्रमेण जगद्रचनं, तथा (नपातं च) न विद्यते पातो विनाशो यस्य तन्मोक्षाख्यं पदं च वेद्मि। यत्प्राप्य मुक्तानां सद्यः[1] पातो न विद्यते, तदेतच्च विदुषां सङ्गेनैव प्राप्तं भवति। तस्मात् सर्वैर्विदुषां समागमः सदा कर्त्तव्य इति॥ १२॥

भाषार्थ—(ये नः पूर्वे पितरः०) जो कि हमारे पूर्व पितर अर्थात् पिता पितामह और अध्यापक लोग शान्तात्मा, तथा (अनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः) जो सोमपान के करने-कराने और वसिष्ठ अर्थात् सब विद्या में रमण करनेवाले हैं, (तेभिर्यमः सश्र०) ऐसे महात्माओं के साथ समागम करके विद्या होने से यम अर्थात् न्यायकारी अन्तर्यामी परमेश्वर निस्सन्देह जाना जाता है। हविः=जो सत्यभक्ति आदि पदार्थों की [(उशन्)] कामना और (उशद्भिः प्रतिका०) सब कामों के बीच में सत्यसेवन करनेवाले, तथा जिनका आधारभूत परमेश्वर ही है, हे मनुष्य लोगो! ऐसे धर्मात्मा पुरुषों के सत्सङ्ग से तुम भी उसी परमात्मा के आनन्द से तृप्त हो[2]॥१०॥

(बर्हिषदः पि०) जो ब्रह्म और सत्यविद्या में स्थित पितर लोग हैं, वे हमारी रक्षा के लिये सदा तत्पर रहें। इस प्रकार से कि हम लोग तो उनकी सेवा करें, और वे लोग हमको प्रीतिपूर्वक

---

१. एतेनैतत् स्पष्टं भवति, यद् यत्र यत्र मुक्तेर्नित्यत्वमुक्तं तत्र सर्वत्र सद्यः पाताभाव एव तस्य तात्पर्यम्।

२. वै० य० मुद्रित में इसके आगे "इसमें निरुक्तकार का प्रमाण अ० ११। खं० १९ निरुक्त में लिखा है—'अङ्गिरसो नवगतयो' इत्यादि लिखा है, वहाँ देख लेना" पाठ है। यह पाठ 'अङ्गिरसो न पितरो नवग्वा' इस ८ संख्यावाले मन्त्र के साथ संबन्ध रखता है, क्योंकि दशम मन्त्र में 'अङ्गिरसः' पद नहीं है। अतः यहां अस्थान में होने से हमने इसे पूर्वत्र यथास्थान रख दिया है।

विद्यादिदान से प्रसन्न कर देवें। (त आगतावसा०) हे पितर लोगो! हम काङ्क्षा करते हैं कि जब-जब आप हमारे वा हम आपके पास आवें-जावें, तब-तब (इमा [वो] हव्या) हम लोग उत्तम-उत्तम पदार्थों से आप लोगों की सेवा करें। और आप लोग भी उनको प्रीतिपूर्वक ग्रहण करें। (अर्वा०) अर्थात् हम लोग तो अन्नादि पदार्थों से, और आप लोग (शंत०) हमारे कल्याणकारी गुणों के उपदेश से, (अथा न शंयो:) इसके पीछे हमारे कल्याण के विधान से (अरपः०) अर्थात् जिससे हम लोग पाप न करें, ऐसी बातों का धारण कराइये ॥११॥

(आहं पितॄन्०) मैं जानता हूं कि पितर लोग अपनी उत्तम विद्या और अपने उपदेश से सुख देनेवाले हैं। (नपातं च विक्रमणं च विष्णो:) जो मैं सबमें व्यापक परमेश्वर का विक्रमण, अर्थात् सृष्टि का रचन और नपात् अर्थात् उसके अविनाशी पद को भी (आ अवित्सि) ठीक-ठीक जानता हूं। (बर्हिषदो ये) यह ज्ञान मुझको उन्हीं पितर लोगों की कृपा से हुआ है, जिनको देवयान [तथा पितृयान] कहते हैं, और जिसकी प्राप्ति से जीव पुनर्दुःख में कभी नहीं गिरता, तथा जिसमें पूर्ण सुख प्राप्त होता है। उन दोनों मार्गों को भी मैं विद्वानों के ही संग से जानता हूं। (स्वध०) जो विद्वान् अपने अमृतरूप उपदेश से पुत्र की भावना के साथ विद्यादान करते हैं, तथा उसमें आप भी (पित्व:०) आनन्दित होकर संसार में सब सुखों के देनेवाले होते हैं, वे सर्वहितकारी पुरुष हमारे पास भी सदा आया करें, कि जिससे हम लोगों में नित्य ज्ञान की उन्नति हुआ करे ॥१२॥

उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु।
तऽ आ गमन्तु तऽ इह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥ १३ ॥
अग्निष्वात्ताः पितरऽ एह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः।
अत्ता हवीꣳषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिꣳ सर्ववीरं दधातन ॥ १४ ॥
येऽ अग्निष्वात्ता येऽ अनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते।
तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयाति ॥ १५ ॥

य० अ० १९। मं० ५७,५९,६० ॥

भाष्यम्—(सोम्यास:) ये प्रतिष्ठार्हाः पितरस्ते (बर्हिष्येषु) प्रकृष्टेषु (निधिषु) उत्तमवस्तुस्थापनार्हेषु (प्रियेषु) प्रीत्युत्पादकेषु आसनेषु (उपहूता:) निमन्त्रिताः सन्तः सीदन्तु, (आगमन्तु) सत्कारं प्राप्यास्मत्समीपं वारंवारमागच्छन्तु। (त इह) त इहागत्यास्मत्प्रश्नान् (श्रुवन्तु) शृण्वन्तु, श्रुत्वा तदुत्तराणि (अधिब्रुवन्तु) कथयन्तु। एवं विद्यादानेन व्यवहारोपदेशेन च (तेऽवन्त्वस्मान्) सदास्मान् रक्षन्तु ॥ १३ ॥

(अग्निष्वात्ता: पितर एह गच्छत) हे पूर्वोक्ता अग्निष्वात्ता: पितर:! अस्मत्सन्निधौ प्रीत्या आगच्छत। आगत्य (सुप्रणीतय:) शोभना प्रकृष्टा नीतिर्येषां त एवम्भूता भवन्तः पूज्याः सन्तः (सदःसदः सदत) प्रतिगृहं प्रतिसभां चोपदेशार्थं स्थितिं भ्रमणं च कुरुत। (अत्ता हवींषि०)

प्रयत्नयुक्तानि कर्माणि, वेदयोग्यान्युत्तमान्नानि वा यूयं स्वीकुरुत। (बर्हिष्यथा) अथेत्यनन्तरं, बर्हिषि सदसि गृहे वा स्थित्वा (रयिं सर्ववीरं०) सर्ववीरैर्युक्तं विद्याविधनं यूयं दधातन। यतोऽस्मासु बुद्धिशरीरबलयुक्ता वीराः भवेयुः सत्यविद्याकोशश्च ॥ १४ ॥

(ये अग्निष्वात्ताः) ये अग्निविद्यायुक्ताः, (अनग्निष्वात्ताः) ये वायुजलभूगर्भविविद्यानिष्ठाः (मध्ये दिवः) द्योतनात्मकस्य परमेश्वरस्य सद्विद्याप्रकाशकस्य च मध्ये (स्वधया) अन्नविद्यया शरीरबुद्धिबलधारणेन च (मादयन्ते) आनन्दिता भूत्वा अस्मान् सर्वान् जनान् आनन्दयन्ति, (तेभ्यः) तेभ्यो विद्वद्भ्यो वयं नित्यं सद्विद्यां तथा (असुनीतिमेतां) सत्यन्याययुक्तामेतां प्राणनीतिं च गृह्णीयाम। (यथावशम्) ते विद्वांसो वयं च विद्याविज्ञानप्राप्त्या [1]सर्वोपकारेषु नियमेषु परतन्त्राः प्रत्येकप्रियेषु च स्वतन्त्रा भवन्तु। यतः (स्वराट्) स्वयं राजते प्रकाशते स्वान् राजयति प्रकाशयति वा स स्वराट् परमेश्वरः, (तन्वं कल्पयाति) तनुं विद्वच्छरीरमस्मदर्थं कृपया कल्पयाति, कल्पयतु निष्पादयतु। यतोऽस्माकं मध्ये बहवो विद्वांसो भवेयुः ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(उपहूताः पितरः०) उन पितरों को हम लोग निमन्त्रण देते हैं कि वे हमारे समीप आके (बर्हिष्येषु०) उत्तम आसनों पर बैठकर, जो कि बहुमूल्य और देखने में प्रिय हों, हमको उपदेश करें। (त आगमन्तु) जब वे पितर आवें, तब सब लोग उनका इस प्रकार से सम्मान करें कि—आप आइये, उत्तम आसन पर बैठिये। (इह श्रुवन्तु) यहां हमारी विद्या की बातें और प्रश्न सुनिये। (अधिब्रुवन्तु०) इन प्रश्नों के उत्तर दीजिये, और मनुष्यों को ज्ञान देके उनकी रक्षा कीजिये ॥१३॥

(अग्निष्वात्ताः पितर एह०) हे अग्निविद्या के जाननेवाले पितर लोगो! आप उपदेशक होकर हमारे घरों में आकर उपदेश और निवास कीजिये। फिर वे पितर कैसे होने चाहियें कि—(सुप्रणीतयः) उत्तम-उत्तम गुणयुक्त होके (बर्हिषि०) सभा के बीच में सत्य-सत्य न्याय करनेहारे हों। तथा (हवीं०) वे ही दान और ग्रहण के योग्य विद्यादि गुणों का दान और ग्रहण करनेवाले हों। (रयिं सर्ववीरं दधातन) विद्यादि जो उत्तम धन है, कि जिससे वीरपुरुषयुक्त सेना की प्राप्ति होती है, उसके उपदेश से हम को पुष्ट करें। ऐसे ही उन विद्वानों के प्रति भी ईश्वर का यह उपदेश है कि वे लोग देश-देश और घर-घर में जाके सब मनुष्यों को सत्यविद्या का उपदेश करें ॥ १४ ॥

(ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ताः) जो पितर अग्निविद्या और सोमविद्या के जाननेवाले, तथा (मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते) जो कि दिव अर्थात् विज्ञानरूप प्रकाश के बीच में सुखभोग से आनन्दित रहते हैं, (तेभ्यः स्वराडसु०) उनके हितार्थ स्वराट्, जो स्वप्रकाशस्वरूप परमेश्वर है, वह असुनीति अर्थात् प्राणविद्या का प्रकाश कर देता है। इसलिये हम प्रार्थना करते हैं कि (यथा-

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'सर्वोपकारेषु नियमेषु स्वतन्त्राः, प्रत्येकप्रियेषु च परतन्त्रा भवन्तु' इत्यपपाठः। द्र०—आर्यसमाजस्य दशमो नियमः—'सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये, और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।'

वशं तत्त्वं कल्पयाति) हे परमेश्वर ! आप अपनी कृपा से उनके शरीर सदा सुखी तेजस्वी और रोगरहित रखिये, कि जिससे हमको उनके द्वारा ज्ञान प्राप्त होता रहे ॥१५॥

अ॒ग्नि॒ष्वा॒त्ता॒नृ॒तु॒मतो॑ हवामहे नाराश॒ꣳसे सो॑मपी॒थं यऽआ॒शुः ।
ते नो॒ विप्रा॑सः सु॒हवा॑ भवन्तु व॒यꣳ स्या॑म॒ पत॑यो र॒यी॒णाम् ॥ १६ ॥
ये चे॒ह पि॒तरो॒ ये च॒ नेह याँश्च॑ वि॒द्म याँ२॥ऽ उ॑ च॒ न प्र॑वि॒द्म ।
त्वं वे॑त्थ॒ यति॒ ते जा॑तवेदः स्व॒धाभि॑र्य॒ज्ञꣳ सु॒कृ॑तं जुषस्व ॥ १७ ॥
इ॒दं पि॒तृभ्यो॒ नमो॑ऽ अस्त्व॒द्य ये पूर्वा॑सो॒ यऽ उप॑रास॒ ई॒युः ।
ये पार्थि॑वे॒ रज॒स्या निष॑त्ता॒ ये वा॑ नू॒नꣳ सु॑वृ॒जना॑सु वि॒क्षु ॥ १८ ॥

य० अ० १६ । ६१,६७,६८ ॥

भाष्यम्—(अग्निष्वात्ता०) हे मनुष्याः ! यथा वयं, ऋतुविद्यावतोऽर्थाद् यथासमयमुद्योगकारिणोऽग्निष्वा[त्ताः] पितरः सन्ति तान् (हवामहे) आह्वयामहे, तथैव युष्माभिरपि तत्सेवनायाह्वानं नित्यं कार्य्यम् । (सोमपीथं य आशुः) ये सोमपानमश्नन्ति, ये च (नाराशꣳसे) नरैः प्रशस्येऽनुष्ठातव्ये कर्मणि कुशलाः सन्ति, (ते नो विप्रासः) ते विप्रा मेधाविनो नोऽस्मान्[1] (सुहवा०) सुष्ठुतया ग्रहीतारो भवन्तु । (सोमपीथं०) ये सोमविद्यादानग्रहणाभ्यां तृप्ताः, एषां संगेन (वयꣳ स्याम पतयो०) सत्यविद्याचक्रवर्तिराज्यश्रीणां पतयः पालकाः स्वामिनो भवेम ॥ १६ ॥

(ये चेह पितरो०) ये पितरो विद्वांस इहास्मत्सन्निधौ वर्तन्ते, ये चेहास्मत्समक्षे न सन्ति अर्थाद् देशान्तरे तिष्ठन्ति, (यांश्च विद्म) यान् वयं जानीमः, (याँ उ च न०) दूरदेशस्थितत्या यांश्च वयं न जानीमस्तान् सर्वान्, हे (जातवेदः) परमेश्वर ! (त्वं वेत्थ) त्वं यथावज्जानास्यतो भवान् तेषामस्माकं च सङ्गं निष्पादय[तु] । (स्वधा०) योऽस्माभिस्सुकृतः सम्यगनुष्ठितो यज्ञोऽस्ति, त्वं स्वधाभिरन्नाद्याभिः सामग्रीभिः सम्पादितं यज्ञं सदा जुषस्व सेवस्व । येनास्माकमभ्युदयनिःश्रेयसकरं क्रियाकाण्डं सम्यक् सिध्येत् । (यति ते) ये यावन्तः परोक्षा विद्यमाना विद्वांसः सन्ति, तानस्मान् प्रापय ॥ १७ ॥

(इदं पितृभ्यः०) ये पितरोऽद्येदानीमस्मत्समीपेऽध्ययनाध्यापने कर्मणि वर्त्तन्ते, (पूर्वासः०) पूर्वमधीत्य विद्वांसः सन्ति, (ये पार्थिवे रजसि) ये च पृथिवीसम्बन्धिभूगर्भविद्यायां (आनिषत्ताः) आ समन्तान्निषण्णाः सन्ति, (ये वा नूनꣳ सु०) ये च सुष्ठुबलयुक्तासु प्रजासभाध्यक्षाः सभासदो भूत्वा न्यायाधीशत्वादिकर्मणे[2]ऽधिकृताः सन्ति, ते चास्मान् (ईयुः) प्राप्नुयुः । इत्थंभूतेभ्यः पितृभ्योऽस्माकमिदं सततं (नमोऽस्तु) ॥ १८ ॥

---

१. शेषत्वविवक्षाभावे कर्मत्वम् ।
२. उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसीति नियमेन सम्प्रदानत्वविवक्षया चतुर्थी ।

भाषार्थ -- (अग्निष्वात्तानृतुमतो०) हे मनुष्य लोगो! जैसे हम लोग अग्निविद्या और समय-विद्या जाननेवाले पितरों को मान्य से बुलाते हैं, वैसे ही तुम लोग भी उनके पास जाते और उनको अपने पास सदा बुलाते रहो, जिससे तुम्हारी सब दिन विद्या बढ़ती रहे। (नाराशꣳसे सोमपीथं य आशुः) जो सोमलतादि ओषधियों के रसपान तथा रक्षा से मनुष्यों को श्रेष्ठ करनेवाले हैं, उनसे हम लोग सत्यशिक्षा लेके आनन्दित हों। (ते नो विप्राः सुहवा०) वे विद्वान् लोग हमको सत्यविद्या का ग्रहण प्रीतिपूर्वक सदा कराते रहें। (वयꣳ स्याम पतयो रयीणाम्) जिससे कि हम लोग सुविद्या से चक्रवर्ति राज्य की श्री आदि उत्तम पदार्थों को प्राप्त, तथा उनकी रक्षा और उन्नति करने में भी समर्थ हों ॥१६॥

(ये चेह पितरो०) हे जातवेद परमेश्वर! जो पितर लोग हमारे समीप और दूर देश में हैं, (याँश्च विद्म) जिनको समीप होने से हम लोग जानते, और (याँ२।। उ च न प्रविद्म) जिन को दूर होने के कारण नहीं भी जानते हैं, (यति ते) जो इस संसार के बीच में वर्तमान हैं, (त्वं वेत्थ०) उन सबको आप यथावत् जानते हैं। कृपा करके उनका और हमारा परस्पर सम्बन्ध सदा के लिये कीजिये। (स्वधाभिर्यज्ञꣳ सुकृतं०) और आप अपनी धारणादि शक्तियों से व्यवहार और परमार्थरूप श्रेष्ठ यज्ञों को प्रीतिपूर्वक सेवन कीजिये, कि जिससे हम लोगों को सब सुख प्राप्त होते रहें ॥१७॥

(इदं पितृभ्यो न०) हम लोग उन सब पितरों को नमस्कार करते हैं, ([ये] अद्य पूर्वासो य उ परास ईयुः) जो कि प्रथम आप विद्वान् होके हम लोगों को भी विद्या देते हैं, अथवा जो कि विरक्त और संन्यासी होके सर्वत्र विचरते हुए उपदेश करते हैं। तथा (ये पार्थिवे राजस्या निषत्ताः) जो कि पार्थिव अर्थात् भूगर्भविद्या और सूर्यादि लोकों के जाननेवाले हैं। तथा (ये वा नूनꣳ सु०) जो कि निश्चय करके प्रजाओं के हित में उद्यत और उत्तम सेनाओं के बीच में बड़े चतुर हैं, उन सभों को हम लोग नमस्कार करते हैं, इसलिये कि वे सब दिन हमारी उन्नति करते रहें ॥१८॥

उशन्तस्त्वा नि धीमह्युशन्तः समिधीमहि ।
उशन्नुशत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥ १९ ॥ य० अ० १९ । मं० ७० ॥

पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः [1]पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः । अक्षन् पितरोमीमदन्त पितरोतीतृपन्त पितरः पितरः शुन्धध्वम् ॥ २० ॥

पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः पवित्रेण शतायुषा । पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै ॥ २१ ॥ य० अ० १९ । मं० ३६,३७ ॥

१. प्रथमसंस्करणेऽस्थानानिर्देशेऽपि यथासंहितं साधुस्वरो निर्दिश्यते ।

भाष्यम्—(उशन्तस्त्वा निधीमहि) हे परमेश्वर ! वयं त्वां कामयमाना इष्टत्वेन हृदयाकाशे, न्यायाधीशत्वेन राष्ट्रे सदा स्थापयामः। (उशन्तः समिधिमहि) हे जगदीश्वर ! त्वां शृण्वन्तः श्रावयन्तः सम्यक् प्रकाशयेमहि। कस्मै प्रयोजनायेत्यत्राह—(हविषे अत्तवे) सद्विद्याग्रहणाय तेभ्यो धनाद्युत्तमपदार्थदातायानन्दभोगाय च। (उशन्नुशत आवह पितॄन्) सत्योपदेशविद्याकामयमानान् कामयमानस्संस्त्वमस्मान् आवहासमन्तात् प्रापय ॥ १९ ॥

(पितृभ्यः०) स्वां स्वकीयाममृताख्यां मोक्षविद्यां कर्त्तुं शीलं येषां, तेभ्यो वसुसंज्ञकेभ्यो विद्याप्रदातृभ्यो जनकेभ्यश्च (स्वधा०) अन्नाद्युत्तमवस्तु दद्यः। ये च चतुर्विंशतिवर्षपर्य्यन्तेन ब्रह्मचर्य्येण विद्यामधीत्याध्यापयन्ति ते [1]वसुसंज्ञकाः। (पितामहेभ्यः०) ये चतुश्चत्वारिंशद्वर्षपर्य्यन्तेन ब्रह्मचर्य्येण विद्यां पठित्वा पाठयन्ति ते पितामहाः, (प्रपितामहेभ्य०) येऽष्टाचत्वारिंशद्वर्षप्रमितेन ब्रह्मचर्येण विद्यापारावारं प्राप्याध्यापयन्ति त आदित्याख्या, अर्थात् सत्यविद्याद्योतकाः, (नमः) तेभ्योऽस्माकं सततं नमोऽस्तु। (अक्षन् पितरः०) हे पितरः ! भवन्तोऽक्षन्नश्चैव भोजनाच्छादनादिकं कुर्वीरन्। 'अमीमदन्त पितरः' इति पूर्वं व्याख्यातम्[2]। (अतीतृपन्त पितरः) हे पितरोऽस्मत्सेवयाऽऽनन्दिता भूत्वा तृप्ता भवत। (पितरः शुन्धध्वम्) हे पितरः ! यूयमुपदेशेनाविद्याविरोधविनाशादस्मान् शुन्धध्वं पवित्रान् कुरुत। [3]'अत्र पुरुषो वाव यज्ञः'[4] इत्याकारकेण छान्दोग्योपनिषत्प्रमाणेन विदुषां वसुरुद्रादित्यसंज्ञा वेदितव्याः ॥ २० ॥

(पुनन्तु मा पितरः) भो पितरः पितामहाः प्रपितामहाश्च ! भवन्तो मां मनःकर्मवचनद्वारा वारंवारं पुनन्तु, पवित्रव्यवहारकारिणं कुर्वन्तु। केन पुनन्त्वित्याह—(पवित्रेण) पवित्रकर्मानुष्ठानकरणोपदेशेन, (शतायुषा) शतवर्षपर्य्यन्तजीवननिमित्तेन ब्रह्मचर्य्येण मां पुनन्तु। अग्रे पुनन्त्विति क्रियात्रयं योजनीयम्। येनाहं (विश्वमायुर्व्यश्नवै) सम्पूर्णमायुः प्राप्नुयाम् ॥ २१ ॥

भावार्थ—(उशन्तस्त्वा निधीमहि) हे अग्ने परमेश्वर ! हम लोग आपकी प्राप्ति की कामना करके आपको अपने हृदय में निहित अर्थात् स्थापित, और (उशन्तः समिधीमहि) आप का ही सर्वत्र प्रकाश करते रहें। (उशन्नुशत आवह पितॄन्) हे भगवन् ! आप हमारे कल्याण के अर्थ पूर्वोक्त पितरों को नित्य प्राप्त कीजिये, कि (हविषे अत्तवे) हम लोग उनकी सेवा में विद्या लेने के लिए स्थिर रहें ॥ १९ ॥

(पितृभ्यः स्वधा०) जो चौबीस वर्ष ब्रह्मचर्य्याश्रम से विद्या पढ़के सबको पढ़ाते हैं, उन पितरों को हमारा नमस्कार है। (पितामहेभ्यः०) जो चवालीस वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्मचर्य्याश्रम से वेदादि विद्याओं को पढ़के सबके उपकारी और अमृतरूप ज्ञान के देनेवाले होते हैं, (प्रपिता-

१. द्रष्टव्यम्—वसून् वदन्ति तु पितॄन् रुद्रांश्चैव पितामहान्। प्रपितामहांस्तथादित्याञ्छ्रुतिरेषा सनातनी ॥ मनु० ३।२८४॥ २. पूर्वत्र 'अत्र पितरः' इति व्याख्याने, पृष्ठ २९८।

३. अयं पाठो वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु उत्तरमन्त्रव्याख्यानान्ते 'प्राप्नुयाम्' पदात् परमुपलभ्यते। तत्र वस्त्रादिपदानां संबन्धाभावादिह प्रकरणे यथास्थानमानीतः, भावार्थस्तु इहैवोपलभ्यते।

४. छा० उ० ३। १६ ॥

महेभ्यः०) जो अड़तालीस वर्ष पर्य्यन्त जितेन्द्रियता के साथ सम्पूर्ण विद्याओं को पढ़के हस्तक्रियाओं से भी सब विद्या के दृष्टान्त साक्षात् देखके दिखलाते, और जो सबके सुखी होने के लिये सदा प्रयत्न करते रहते हैं, उनका मान भी सब लोगों को करना उचित है।

पिताओं का नाम वसु है, क्योंकि वे सब विद्याओं में वास करने के लिये योग्य होते हैं। ऐसे ही पितामहों का नाम रुद्र है, क्योंकि वे वसुसंज्ञक पितरों से दूनी अथवा शतगुणी विद्या और बलवाले होते हैं। तथा प्रपितामहों का नाम आदित्य है, क्योंकि वे सब विद्याओं और सब गुणों में सूर्य्य के समान प्रकाशमान होके, सब विद्या और लोगों को, प्रकाशमान करते हैं। इन तीनों का नाम वसु रुद्र और आदित्य इसलिये है कि वे किसी प्रकार की दुष्टता मनुष्यों में रहने नहीं देते। इसमें **'पुरुषो वाव यज्ञः०'** यह छान्दोग्य उपनिषद् का प्रमाण लिख दिया है, सो देख लेना।

(अक्षन् पितरः) हे पितर लोगो! तुम विद्यारूप यज्ञ को फैलाके सुख भोगो। तथा (अमीमदन्त पितरः) हमारी सेवा से अत्यन्त प्रसन्न रहो। (अतीतृपन्त पितरः) हमारी सेवा से तृप्त होकर हमको भी आनन्दित और तृप्त करते रहो। तथा जिस पदार्थ को तुम चाहो, अथवा हम आपकी सेवा में भूलें, तो आप लोग हमको शिक्षा करो। (पितरः शुन्धध्वम्) हे पितर लोगो! आप हमको धर्मोपदेश और सत्य विद्याओं से शुद्ध करें कि जिससे हम लोग आपके साथ मिलके सनातन परमात्मा की भक्ति अपनी शुद्धि के अर्थ प्रेम [से] करें॥ २०॥

(पुनन्तु मा पितरः०) जो पितर लोग शान्तात्मा और दयालु हैं, वे मुझको विद्यादान से पवित्र करें। (पुनन्तु मा पितामहाः०) इसी प्रकार पितामह और प्रपितामह भी मुझको अपनी उत्तम विद्या पढ़ाके पवित्र करें। इसलिए कि उनकी शिक्षा को सुनके ब्रह्मचर्य्य धारण करने से सौ वर्ष पर्य्यन्त आनन्दयुक्त उमर होती रहे। इस मन्त्र में दो वार पाठ केवल आदर के लिये है॥ २१॥

इत्यादि अन्य मन्त्र भी इन्हीं विषयों के पुष्टिकारक हैं। उन सभी का अर्थ सर्वत्र इसी प्रकार से समझ लेना चाहिये। तथा जहां-कहीं अमावास्या में पितृयज्ञ करना लिखा है, वहां भी इसी अभिप्राय से है कि जो कदाचित् नित्य उनकी सेवा न बन सके, तो महीने-महीने अर्थात् अमावास्या में मासेष्टि होती है, उसमें उन लोगों को बुलाके अवश्य सत्कार करें।

—: इति पितृयज्ञः समाप्तः :—

अथ बलिवैश्वदेवविधिर्लिख्यते—

यदन्नं पक्वमक्षारलवणं[1] भवेत्तेनैव बलिवैश्वदेवकर्म कार्य्यम्—

---

१. क्षारलवणरहितमित्यर्थः। क्षारशब्देन 'हैडम्बिका राजमाषा माषा मुद्गा मसूरिका। लङ्कयाढक्याश्च निष्पावास्तिलाद्याः क्षारसंज्ञिताः।' (आश्व० गृह्य गार्ग्यनारायण टीका १।८।१०) इति वचनेन धान्यविशेषा गृह्यन्ते। अपरे पुनः सर्जिकादिक्षारान् क्षारशब्देन गृह्णन्ति। सर्जिकादीनां लवणान्तर्भावात् धान्यविशेषाणामेव क्षारशब्देन ग्रहणं न्याय्यम्।

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम् ।
आभ्यः कुर्याद् देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम् ॥१॥ मनुस्मृतौ अ० ३ । श्लोकः ८४ ॥

[भावार्थ—अब बलिवैश्वदेव की विधि लिखी जाती है । जो घर में पका हुआ क्षार[1] लवण से रहित अन्न है, उससे बलिवैश्वदेव कर्म करना चाहिये । जो कुछ पाकशाला में भोजनार्थ सिद्ध हो, उससे विधिपूर्वक नीचे लिखे मन्त्रों से देवताओं के लिए होम करना चाहिए ।]

अत्र बलिवैश्वदेवकर्मणि प्रमाणम्—

अहरहर्बलिमित्ते हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने ।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥ १ ॥
अथर्व० कां १९ । अनु० ७ । मं० ७ ॥[2]

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः ।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा[3] ॥२॥ य० अ० १९ । मं० ३९ ॥

भाष्यम्—(अग्ने) हे परमेश्वर ! (ते) तुभ्यं त्वदाज्ञापालनार्थं (इत्) एव (तिष्ठतेऽश्वाय घासम्) यथाऽश्वस्याग्रे पुष्कलः पदार्थः स्थाप्यते, (इव) तथैव (अहरहः) नित्यं प्रति (बलिं हरन्तः) भौतिकमग्निमतिथींश्च बलीन् प्रापयन्तः, (समिषा) सम्यगिष्यते या सा समिट् तया श्रद्धया, (रायस्पोषेण) चक्रवर्त्तिराज्यलक्ष्म्या (मदन्तः) हर्षन्तो वयं, (अग्ने) हे परमात्मन् ! (ते) तव (प्रतिवेशाः) प्रतिकूला भूत्वा सृष्टिस्थान् प्राणिनः (मा रिषाम) मा पीडयेम । किन्तु भवत्कृपया सर्वे जीवा अस्माकं मित्राणि सन्तु । सर्वेषां च वयं सखायः स्म इति ज्ञात्वा परस्परं नित्यमुपकारं कुर्याम ॥१॥

(पुनन्तु मा०) अस्य मन्त्रस्यार्थस्तर्पणविषय उक्तः[4] ॥[२॥]

भावार्थ—(अग्ने०) हे परमेश्वर ! जैसे खाने योग्य पुष्कल पदार्थ घोड़े के आगे रखते हैं, वैसे ही आपकी आज्ञापालन के लिये (अहरहः०) प्रतिदिन भौतिक अग्नि में होम करते, और अतिथियों को (बलिं०) अर्थात् भोजन देते हुए हम लोग अच्छी प्रकार वाञ्छित चक्रवर्त्ति राज्य की लक्ष्मी से आनन्द को प्राप्त होके (अग्ने) हे परमात्मन् ! (प्रतिवेशाः) आपकी आज्ञा से

---

१. क्षार शब्द से राजमाष माष (=उड़द) मूंग मसूर अरहर तिल आदि धान्यों का ग्रहण होता है ।

२ अथर्व १९।५५।७॥ द्रष्टव्य राथह्विटनी-संस्करणम् ।

३ वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु मन्त्रान्ते 'स्वाहा' पदमपि पठ्यते । सोऽत्र प्रमादपाठः स्वराभावात्,अनावश्यकत्वात् पूर्वत्र (पृष्ठ २६४) मन्त्रपाठेऽदर्शनात् । अत एव संक्षिप्य संगृहीते पञ्चमहायज्ञविधिप्रकरणेऽपि स्वाहा-पदस्यादर्शनाच्च ।

४ पूर्वत्र पृष्ठ २६४,२६५ ॥

उलटे होके आपके उत्पन्न किये हुए प्राणियों को (मा रिषाम) अन्याय से दुःख कभी न देवें। किन्तु आपकी कृपा से सब जीव हमारे मित्र, और हम सब जीवों के मित्र रहें। ऐसा जानकर परस्पर उपकार सदा करते रहें ॥ १ ॥

(पुनन्तु मा०) इस मन्त्र का अर्थ तर्पणविषय (पृष्ठ २९६) में कह दिया है ॥२॥

ओमग्नये	स्वाहा ॥ [१॥]	ओं सोमाय	स्वाहा ॥ [२॥]
ओमग्नीषोमाभ्यां	स्वाहा ॥ [३॥]	ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः	स्वाहा ॥ [४॥]
ओं धन्वन्तरये	स्वाहा ॥ [५॥]	ओं कुह्वै	स्वाहा ॥ [६॥]
ओमनुमत्यै	स्वाहा ॥ [७॥]	ओं प्रजापतये	स्वाहा ॥ [८॥]
ओं सह[1] द्यावापृथिवीभ्यां	स्वाहा ॥ [९॥]	ओं स्विष्टकृते[2]	स्वाहा ॥ [१०॥][3]

भाष्यम्—(ओम०) अग्न्यर्थ उक्तः[4]। (ओं सो०) सर्वानन्दप्रदो यः सर्वजगदुत्पादक ईश्वरः सोऽत्र ग्राह्यः। (ओमग्नी०) प्राणापानाभ्याम्, अनयोरर्थौ गायत्रीमन्त्रार्थ उक्तः[5]। (ओं वि०) विश्वे देवा विश्वप्रकाशका ईश्वरगुणाः सर्वे विद्वांसो वा। (ओं ध०) सर्वरोगनाशक ईश्वरोऽत्र गृह्यते। (ओं कु०) दर्शेष्टयर्थोऽयमारम्भः, अमावास्येष्टिप्रतिपादितायै चितिशक्तये वा। (ओम०) पौर्णमास्येष्टयर्थोऽयमारम्भः, विद्यापठनानन्तरं मतिर्मननं ज्ञानं यस्याश्चितिशक्तेः साऽनुमतिर्वा तस्यै। (ओं० प्र०) सर्वजगतः स्वामी रक्षक ईश्वरः। (ओं सह०) ईश्वरेण प्रकृष्टगुणैः सहोत्पादिताभ्यामग्निभूमिभ्यां सर्वोपकारा ग्राह्याः, एतदर्थोऽयमारम्भः। (ओं स्विष्ट०) यः सुष्ठु शोभनमिष्टं सुखं करोति स चेश्वरः ॥[१-१०॥]

एतैर्मन्त्रैर्होमं कृत्वाऽथ बलिप्रदानं कुर्यात्—

भाषार्थ—(ओम०) अग्नि शब्द का अर्थ पीछे कह आये हैं[6]। (ओं सो०) अर्थात् सब पदार्थों को उत्पन्न पुष्ट करने और सुख देनेवाला। (ओम०) जो सब प्राणियों के जीवन का

१. पञ्चमहायज्ञविधे संशोधिते संस्करणे (इत एवोद्धृते पाठे) 'सह' पदं दृश्यते। संस्कारविधेः द्वितीय-तृतीयचतुर्थसंस्करणेषु 'स्वाहा' पदं नोपलभ्यते। मनुस्मृतेः ३।८६ श्लोकानुसारं तद्व्याख्यानुसारं च 'सह' पदं तत्र मन्त्रावयवरूपेण नाश्रीयते।

२. यद्यपि मनुस्मृतौ (३।८६) केवलं 'स्विष्टकृत्' पदमेव श्रूयते, तथापि तस्याग्नेर्विशेषणरूपेण प्रसिद्धत्वात् विशेष्यपदमाक्षिप्य 'अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा' इत्येवं मन्त्रपाठेन भाव्यम्। मनुव्याख्याकाराणामप्ययमेवाभिप्रायः। ३. मनु० ३।८५,८६ श्लोकयोराधारेणोहिता इमे मन्त्राः ज्ञेयाः।

४. अत्र 'उक्तः' इत्येवंरूपो यः संकेतः स प्रायेण १९३१ वैक्रमाब्दे प्रकाशितं 'सन्ध्योपासनादिपञ्चयज्ञविधानं' लक्ष्यीकृत्य प्रयुक्तः। तदेव पञ्चयज्ञविधानं १९३४ वैक्रमाब्दे पुनः संस्कृत्य प्रकाशितमित्यतस्तत्राप्ययमर्थ उपलभ्यते। अतोऽत्रोभयोः संस्करणयोरिह पृष्ठसंख्यानिर्देशः करिष्यते। संपंमवि० (१९३१) पृष्ठ १३, पंमवि० (१९३४) पृष्ठ २८ (रा० ला० क० ट्र० सं० ६)। ५. संपंमवि० पृष्ठ १४; पंमवि० पृष्ठ २९ ॥

६. सन्ध्यादिपञ्चमहायज्ञविधान (सं० १९३१) पृष्ठ १३, पञ्चमहायज्ञविधि (सं० १९३४) पृष्ठ २८ (रा० ला० क०ट्र० सं० ६)।

हेतु प्राण तथा जो दु:खनाश का हेतु अपान। (ओं वि०) संसार के प्रकाश करनेवाले ईश्वर के अथवा विद्वान् लोग। (ओं ध०) जन्ममरणादि रोगों का नाश करनेवाला परमात्मा। (ओं कु अमावास्येष्टि का करना। (ओम०) पौर्णमासेष्टि वा सर्वशास्त्रप्रतिपादित परमेश्वर चितिशक्ति। (ओं प्र०) सब जगत् का स्वामी जगदीश्वर। (ओं स०) सत्यविद्या के प्रक के लिये पृथिवी का राज्य, और अग्नि तथा भूमि से अनेक उपकारों का ग्रहण। (ओं स्वि इष्ट सुख का करनेवाला परमेश्वर। इन दश मन्त्रों के अर्थों से ये १० प्रयोजन ज लेना ॥ [१-१०॥]

अब आगे बलिप्रदान[1] के मन्त्र लिखते हैं—

ओं सानुगायेन्द्राय नमः ॥ १ ॥ ओं सानुगाय यमाय नमः ॥ २
ओं सानुगाय वरुणाय नमः ॥ ३ ॥ ओं सानुगाय सोमाय नमः ॥ ४
ओं मरुद्भ्यो नमः ॥ ५ ॥ ओमद्भ्यो नमः ॥ ६
ओं वनस्पतिभ्यो नमः ॥ ७ ॥ ओं श्रियै नमः ॥ ८ ।
ओं भद्रकाल्यै नमः ॥ ९ ॥ ओं ब्रह्मपतये नमः ॥ १० ।
ओं वास्तुपतये नमः ॥ ११ ॥ ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः ॥ १२ ।
ओं दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः[2] ॥ १३ ॥ ओं नक्तंचारिभ्यो [भूतेभ्यो]नमः[2] ॥ १४ ।
ओं सर्वात्मभूतये नमः ॥ १५ ॥ ओं पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः ॥१६॥[3]

—: इति नित्यश्राद्धम् :—

भाष्यम्—(ओं सा०) 'णम प्रह्वत्वे शब्दे'[4] इत्यनेन सत्क्रियापुरस्सरविचारेण मनुष्याणां यथार्थं विज्ञानं भवतीति वेद्यम्। नित्यैर्गुणैः सह वर्त्तमानः परमैश्वर्यवानीश्वरोऽत्र गृह्यते॥ (ओं सानु०) पक्षपातरहितो न्यायकारित्वादिगुणयुक्तः परमात्माऽत्र वेद्यः॥ (ओं सा०) विद्याद्युत्तमगुणविशिष्टः सर्वोत्तमः परमेश्वरोऽत्र ग्रहीतव्यः॥ (ओं सानुगाय०) अस्यार्थ उक्तः[5]॥ (ओं म०) य ईश्वरा-

---

१. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'बलिदान' अपपाठ है। संस्कृत में 'बलिप्रदान' शुद्ध शब्द प्रयुक्त है।

२. मनुस्मृतेः ३।९० श्लोकानुसारं 'दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः' इत्यनेनाह्नि, 'नक्तंचारिभ्यो भूतेभ्यो नमः' इत्यनेन रात्रौ भागः प्रदेयः। द्र०—आश्व० गृ० १।२।८,९॥ इह भूमिकापाठे १४शे मन्त्रे 'भूतेभ्यो' इत्यंशस्त्रुटितो लेखकप्रमादन्मुद्रणप्रमादाद्वा। संस्कारविधौ (पृष्ठ २५९ रा० ला० क० ट्र० सं० ३), सत्यार्थ-प्रकाशे (समु० ४, पृष्ठ १४८, रा०ला०क०ट्र० सं०) च दृश्यते।

३. इमे मन्त्रा मनुस्मृते ३।८७-९१ श्लोकानामाधारेण ऊहिताः। संस्कारविधौ (पृष्ठ २५८,२५९), सत्यार्थप्रकाशे (समु० ४, पृष्ठ १४८ रा०ला०क०ट्र० सं०) चैभिर्मन्त्रैः पूर्वादिषु दिक्षु भागस्थापनमुक्तम्।

४. क्षीरतरङ्गिणी १।७०९॥

५. पूर्वत्र ३११ पृष्ठे सोमशब्दार्थः।

धारेण सकलं विश्वं धारयन्ति चेष्टयन्ति च ते मरुतः ।। (ओम०) अस्यार्थः 'शन्नो देवी'रित्यत्रोक्तः[1] । (ओं वन०) वनानां लोकानां पतय ईश्वरोत्पादिता[2] वायुमेघादयः पदार्था अत्र ग्राह्याः । यद्वोत्तमगुणयोगेनेश्वरेणोत्पादितेभ्यो महावृक्षेभ्यश्चोपकारग्रहणं सदा कार्यमिति बोध्यम् ।। (ओं श्रि०) श्रीयते सेव्यते सर्वैर्जनैस्सा श्रीरीश्वरः सर्वसुखशोभावत्त्वात् । यद्वेश्वरेणोत्पादिता विश्वशोभा च ।। (ओं भ०) या भद्रं कल्याणं सुखं कलयति सा भद्रकालीश्वरशक्तिः ।। (ओं ब्र०) ब्रह्मणः सर्वशास्त्रविद्यायुक्तस्य वेदस्य ब्रह्माण्डस्य वा पतिरीश्वरः ।। (ओं वास्तु०) वसन्ति सर्वाणि भूतानि यस्मिंस्तद्वास्त्वाकाशम्‡ तत्पतिरीश्वरः ।। (ओं वि०) अस्यार्थ उक्तः[3] ।। (ओं दिवा०), (ओं नक्तं०) ईश्वरकृपयैवं भवेन्नः दिवसे यानि भूतानि विचरन्ति रात्रौ च तानि विघ्नं मा कुर्वन्तु, तैः सहाविरोधोऽस्तु नः, एतदर्थोऽयमारम्भः ।। (ओं स०) सर्वेषां जीवात्मनां भूतिर्भवनं सत्तेश्वरोऽत्र ग्राह्यः ।। (ओं पि०) अस्यार्थ उक्तः पितृतर्पणे[4] । नम इत्यस्य निरभिमानद्योतनार्थः परस्योत्कृष्टतामान्य‡ज्ञापनार्थश्चारम्भः ।। [१-१६।।]

भाषार्थ—(ओं सानु०) सर्वैश्वर्य्ययुक्त परमेश्वर और उसके गुण। (ओं सा०) सत्यन्याय करनेवाला, और उसकी सृष्टि में सत्यन्याय के करनेवाले सभासद्। (ओं सा०) सबसे उत्तम परमात्मा, और उसके धार्मिक भक्तजन। (ओं सा०)पुण्यात्माओं को आनन्द करानेवाले परमात्मा, और वे लोग। (ओं मरुत्०) अर्थात् प्राण, जिनके रहने से जीवन और निकलने से मरण होता है, उनकी रक्षा करना। (ओमद्भ्यो०) इसका अर्थ **'शन्नो देवी'** इस मन्त्र में लिख दिया है[5]।

(ओं व०) ईश्वर के उत्पन्न किये हुए वायु और मेघ आदि सबके पालन के हेतु सब पदार्थ, तथा जिनसे अधिक वर्षा और जिनके फलों से जगत् का उपकार होता है, उनकी रक्षा करनी। (ओं श्रि०) जो सेवा करने के योग्य परमात्मा, और पुरुषार्थ से राजश्री की प्राप्ति करने में सदा उद्योग करना। (ओं भ०) जो कल्याण करनेवाली परमात्मा की शक्ति अर्थात् सामर्थ्य है, उसका सदा आश्रय करना। (ओं ब्र०) जो वेद के स्वामी ईश्वर की प्रार्थना विद्या के लिये करना। (ओं वा०) वास्तुपति अर्थात् जो गृहसम्बन्धी पदार्थों का पालन करनेवाला ईश्वर। (ओं ब्रह्म०) वेदशास्त्र का रक्षक जगदीश्वर। (ओं वि०) इसका अर्थ कह दिया है[6]।

(ओं दि०) जो दिन में और (ओं नक्त०) रात्रि में विचरनेवाले प्राणी हैं, उनसे उपकार लेना और उनको सुख देना।(सर्वात्म०)सबमें व्याप्त परमेश्वर की सत्ता को सदा ध्यान में रखना। (ओं पि०) माता पिता और आचार्य्य आदि को प्रथम भोजनादि से सेवा करके पश्चात् स्वयं भोजनादि करना। 'स्वाहा' शब्द का अर्थ पूर्व कर दिया है[7], और 'नमः' शब्द का अर्थ यह है कि—आप अभिमान रहित होना, औ[र] दूसरे का मान्य करना ।।[१-१६]।।

---

१. संपंमवि० पृष्ठ २, पंमवि० पृष्ठ ८ (रा०ला०क०ट्र० सं० ६)।　२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'ईश्वरो वायु०' इत्यपपाठः । हस्तलेखे 'ईश्वरोत्पादिता' इत्यस्य दर्शनात्, भाषार्थे चास्यानुवाददर्शनाच्च ।

३. पूर्वत्र पृष्ठ ३११ ।　४. पूर्वत्र पृष्ठ २९७ ।

५. सन्ध्यादिपञ्चमहायज्ञविधान पृष्ठ २, पञ्चमहायज्ञविधि पृष्ठ ८ (रा०ला०क०ट्र० सं० ६)।

६. पूर्वत्र पृष्ठ ३१२ ।　७. पूर्वत्र पृष्ठ १७४, १७५ ।

इसके पीछे ये छः भाग करना चाहिये—

शूनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम् ।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि[1] ।।

अनेन षड् भागान् भूमौ दद्यात्[2] । एवं सर्वप्राणिभ्यो भागान् विभज्य दत्त्वा च तेषां प्रसन्नतां सम्पादयेत् ।

भावार्थ—कुत्तों, कंगालों, कुष्ठी आदि रोगियों, काक आदि पक्षियों, और चींटी आदि कृमियों के लिये भी छः भाग अलग-अलग बांटके दे-देना, और उनकी प्रसन्नता करना । अर्थात् सब प्राणियों को मनुष्यों से सुख होना चाहिये ।

:— यह वेद और मनुस्मृति की रीति से बलिवैश्वदेव पूरा हुआ :—

अथ पञ्चमोऽतिथियज्ञः प्रोच्यते—

यत्रातिथीनां सेवनं यथावत् क्रियते, तत्र सर्वाणि सुखानि भवन्तीति । अथ के अतिथयः ? पूर्णविद्यावन्तः परोपकारिणो जितेन्द्रिया धार्मिकाः सत्यवादिनश्छलादिदोषरहिता नित्यभ्रमणकारिणो मनुष्यास्तान् अतिथय इति कथयन्ति । अत्रानेके प्रमाणभूता वैदिकमन्त्राः सन्ति, परन्त्वत्र संक्षेपतो द्वावेव लिखामः—

तद्यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ।। १ ।।
स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्य क्वाऽवात्सीर्व्रात्योदकं व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु व्रात्य यथा ते वशस्तथास्तु व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति ।। २ ।।

अथ० कां० १५ । अनु० २ । व० ११ । मं० १, २ ।।[3]

भाष्यम्—(तद्य०) यः पूर्वोक्तविशेषणयुक्तो विद्वान् (व्रात्यः०) महोत्तमगुणविशिष्टः सेवनीयोऽतिथिर्यस्य गमनागमनयोरनियता तिथिः, किंतु स्वेच्छयाकस्मादागच्छेद् गच्छेच्च ।। १।।

य यदा यदा गृहस्थानां गृहेषु प्राप्नुयात् (स्वयमेनम०) तदा गृहस्थोऽत्यन्तप्रेम्णोत्थाय नमस्कृत्य च तं महोत्तमासने निषादयेत् । ततो यथायोग्यं सेवां कृत्वा तदनन्तरं तं पृच्छेत्—(व्रात्य क्वावात्सीः) हे पुरुषोत्तम ! त्वं कुत्र निवासं कृतवान् ? (व्रात्योदकम्) हे अतिथे ! जलमेतद् गृहाण । (व्रात्य तर्पयन्तु) यथा भवन्तः स्वकीयसत्योपदेशेनास्मानस्माकं मित्रादींश्च तर्पयन्ति,

---

१. मनु ३।९२।। वैं० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'श्वपचां' इत्यपपाठः । सन्ध्यादिपञ्चमहायज्ञविधानादिषु सर्वग्रन्थेषु 'श्वपचां' इत्येव निरवद्यः पाठ उपलभ्यते ।

२. सत्यार्थप्रकाशानुसारमिह षड्भागस्थापनायेमे मनुस्मृत्याधारेणोहिता मन्त्रा विज्ञेयाः— **श्वभ्यो नमः, पतितेभ्यो नमः, श्वपचेभ्यो नमः,** पापरोगिभ्यो नमः, वायसेभ्यो नमः, **कृमिभ्यो नमः** । द्र०—स० प्र० समु० ४ पृष्ठ १४६ रालाकट्रस्ट०) ।

३. अथर्व १५ । ११ । १,२ ।।

तथाऽस्मदीया भवन्तं च [तर्पयन्तु।] (व्रात्य यथा०) हे विद्वन्! यथा भवतः प्रसन्नता स्यात्तथा वयं कुर्य्याम। यद्वस्तु भवत्प्रियमस्ति तस्याज्ञां कुरु। (व्रात्य यथा ते) हे अतिथे! भवान् यथेच्छति तथैव वयं तदनुकूलतया भवत्सेवाकरणे निश्चिनुयाम। (व्रात्य यथा ते) यथा भवदिच्छापूर्तिः स्यात्तथा सेवां वयं कुर्य्याम। यतो भवान् वयं च परस्परं सेवासत्सङ्गपूर्विकया विद्यावृद्ध्या सदा सुखे तिष्ठेम ॥[२॥]

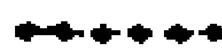
भाषार्थ—अब पांचवां 'अतिथियज्ञ' अर्थात् जिसमें अतिथियों की यथावत् सेवा करनी होती है, उसको लिखते हैं। जो मनुष्य पूर्ण विद्वान्, परोपकारी, जितेन्द्रिय, धर्मात्मा, सत्यवादी, छल-कपट-रहित, और नित्य भ्रमण करके विद्या धर्म का प्रचार और अविद्या अधर्म की निवृत्ति सदा करते रहते हैं, उनको 'अतिथि' कहते हैं। इसमें वेदमन्त्रों के अनेक प्रमाण हैं। परन्तु उनमें से दो मन्त्र यहां भी लिखते हैं—

(तद्यस्यैवं विद्वान्) जिसके घर में पूर्वोक्त विशेषणगुणयुक्त (व्रात्य०) उत्तमगुणसहित, सेवा करने के योग्य विद्वान् आवे, तो उसकी यथावत् सेवा करें। और 'अतिथि' वह कहाता है कि जिसके आने-जाने की कोई तिथि दिन निश्चित न हो ॥१॥

(स्वयमेनम०) गृहस्थ लोग ऐसे पुरुष को आते देखकर, बड़े प्रेम से उठके नमस्कार करके, उत्तम आसन पर बैठावें। पश्चात् पूछें कि आपको जल अथवा किसी अन्य वस्तु की इच्छा हो सो कहिये। और जब वे स्वस्थचित्त हो जावें, तब पूछें कि (व्रात्य क्वावात्सीः) हे व्रात्य! अर्थात् उत्तम पुरुष, आपने कल के दिन कहां वास किया था? (व्रात्योदकम्) हे अतिथे! यह जल लीजिये, और (व्रात्य तर्पयन्तु) हमको अपने सत्य उपदेश से तृप्त कीजिये। कि जिससे हमारे इष्ट-मित्र लोग सब प्रसन्न होके आपको भी सेवा से संतुष्ट रक्खें। (व्रात्य यथा०) हे विद्वन्! जिस प्रकार आपकी प्रसन्नता हो, हम लोग वैसा ही काम करें। तथा जो पदार्थ आपको प्रिय हो, उसकी आज्ञा कीजिये। और (व्रात्य यथा०) जैसे आपकी कामना पूर्ण हो, वैसी सेवा की जाय। कि जिससे आप और हम लोग परस्पर प्रीति और सत्सङ्गपूर्वक विद्यावृद्धि करके सदा आनन्द में रहें ॥२॥

[—ः इत्यतिथियज्ञः समाप्तः :—]

❀ इति संक्षेपतः पञ्चमहायज्ञविषयः ❀



अथ ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषयः

सृष्टिमारभ्याद्यपर्यन्तं येषां येषां स्वतःपरतःप्रमाणसिद्धानां ग्रन्थानां पक्षपातरहितैं रागद्वेषशून्यैः सत्यधर्मप्रियाचरणैः सर्वोपकारकैरार्यैर्विद्वद्भिर्यथाङ्गीकारः कृतस्तथाऽत्रोच्यते –

य ईश्वरोक्ता ग्रन्थास्ते स्वतःप्रमाणं कर्तुं योग्याः सन्ति, ये जीवोक्तास्ते परतःप्रमाणार्हाश्च[1]। ईश्वरोक्तत्वाच्चत्वारो वेदाः स्वतःप्रमाणम्। कुतः? तदुक्तौ भ्रमादिदोषाभावात्, तस्य सर्वज्ञत्वात्, सर्वविद्यावत्त्वात्, सर्वशक्तिमत्त्वाच्च। तत्र वेदेषु[2] वेदानामेव प्रामाण्यं स्वीकार्य्यं, सूर्यप्रदीपवत्। यथा सूर्य्यः प्रदीपश्च स्वप्रकाशेनैव प्रकाशितौ सन्तौ सर्वमूर्त्तद्रव्यप्रकाशकौ भवतः, तथैव वेदाः स्वप्रकाशेनैव प्रकाशिताः सन्तः सर्वानन्यविद्याग्रन्थान् प्रकाशयन्ति। ये ग्रन्था वेदविरोधिनो वर्त्तन्ते, नैव तेषां प्रामाण्यं स्वीकर्तुं योग्यमस्ति। वेदानां तु खलु अन्येभ्यो विरोधादप्यप्रामाण्यं न भवति, तेषां स्वतःप्रामाण्यात्, तद्भिन्नानां ग्रन्थानां वेदाधीनप्रामाण्याच्च।

ये स्वतःप्रमाणभूता मन्त्रभागसंहिताख्याश्चत्वारो वेदा उक्तास्तद्भिन्नास्तद्व्याख्यानभूता ब्राह्मणग्रन्था वेदानुकूलतया प्रमाणमर्हन्ति[3]। तथैवैकादशशतानि सप्तविंशतिश्च वेदशाखा वेदार्थ-

---

१. अयमभिप्रायो भगवता जैमिनिना मीमांसाशास्त्रस्य प्रथमाध्यायस्य प्रथमपादे वेदप्रामाण्याधिकरणे तृतीये पादे कल्पसूत्राद्यधिकरणे च विस्तरेण प्रतिपादितः।

२. वेदेषु वेदोक्तार्थेष्वित्यर्थः। वेदस्य कोऽर्थः प्रमाणमप्रमाणं वेति विचारे वेदप्रामाण्यादेव तत्प्रामाण्यं ज्ञेयम्, न त्वन्यग्रन्थप्रामाण्यात्तस्याप्रामाण्यमिति। यद्वा–वेदार्थेषु मन्त्रप्रोक्तानां वेदमन्त्राणां प्रामाण्यमेव प्रधानम्, ब्राह्मणादिप्रमाणं तु तदपेक्षया गौणमिति भावः।

३. अत्रेदं विचार्यते—यत् काश्चतस्रो मन्त्रसंहिताश्चैतादृश्यो याः शाखाप्रवक्तृनामभिर्न व्यवह्रियन्त इति? तथा सति कासां संहितानां स्वतःप्रामाण्यं स्वीक्रियते ग्रन्थकारेण, कासां च शाखात्वं मत्वा परतःप्रामाण्यमिति? अत्रोच्यते—ग्रन्थकृता याश्चतस्रः संहिता वेदत्वेनाभ्युपगतास्ता यद्यपि तत्तत्प्रवक्तृनामभिर्व्यवह्रियन्ते, यथा शाकलसंहिता, माध्यन्दिनसंहिता, कौथुमसंहिता, शौनकसंहिता चेति। तथापि तत्र द्वयोराद्ययोर्मूलत्वं प्रमाणैः सिद्धम्। भगवान् शाकल्यो न मन्त्रसंहितां प्रोक्तवानपि तु तत्पदपाठं कृतवानिति वैदिकवाङ्मयैतिह्ये स्पष्टम्। एवमेव माध्यन्दिनसंहितायाः 'एष वो ऽमी राजा' (९।४०; १०।१८) इत्येवमादयः सामान्यरूपाः पाठाः अन्यशाखासु 'एष वो भरता राजा' (तै० सं० १।८।१०।१२), एष वः कुरवो राजैष पञ्चाला राजा' (काण्व सं० ११।३।३), 'एष ते जनते राजा' (काठक सं० १५।७; मैत्रा० सं० २।६।९) इत्येवं विशिष्टरूपा उपलभ्यन्ते। अतो वैदिकेषु माध्यन्दिनसंहितैव 'सर्वसाधारणी' इति स्वीक्रियते। तदुक्तम्—'माध्यन्दिनी तु या शाखा सर्वसाधारणी तु सा' इति प्रतिज्ञापरिशिष्टभाष्ये १।३, होलीरभाष्ये चोद्धृतं वसिष्ठवचनम्। अपि च माध्यन्दिनसंहिताया दीर्घपाठे (वृद्धपाठे) यो बहुत्र प्रतीकनिर्देश उपलभ्यते, स एव माध्यन्दिनप्रवचनरूपः, तद्रहितो लघुपाठो मूलपाठ इति। एवमेवान्ययोर्द्वयोः संहितयोर्विषय ऊहनीयम्।

व्याख्याना अपि वेदानुकूलतयैव प्रमाणमर्हन्ति। एवमेव यानि शिक्षा कल्पोऽथ[1] व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति षडङ्गानि, तथायुर्वेदो वैद्यकशास्त्रम्, धनुर्वेदः शस्त्रास्त्रराजविद्या, गान्धर्ववेदो गानविद्या, अर्थवेदश्च शिल्पशास्त्रं, चत्वार उपवेदा अपि। तत्र चरकसुश्रुतनिघण्ट्वादय[2] आयुर्वेदे ग्राह्याः। धनुर्वेदस्य ग्रन्थाः प्रायेण लुप्ताः सन्ति। परन्तु तस्य सर्वविद्याक्रियावयवैः सिद्धत्वादिदानीमपि साधयितुमर्हाः सन्ति। अङ्गिरःप्रभृतिभिर्निर्मिता धनुर्वेदग्रन्था बहुत्र आसन्निति। गान्धर्ववेदश्च सामगानविद्यादिसिद्धः। अर्थवेदश्च विश्वकर्मत्वष्टृ[देवज्ञ[3]]मयकृतश्चतसृसंहिताख्यो ग्राह्यः।

भावार्थ—जो-जो ग्रन्थ सृष्टि की आदि से लेके आजतक पक्षपात और रागद्वेषरहित सत्यधर्मयुक्त सब लोगों के प्रिय प्राचीन विद्वान् आर्य्य लोगों ने 'स्वतःप्रमाण' अर्थात् अपने आप ही प्रमाण, 'परतःप्रमाण' अर्थात् वेद और प्रत्यक्षानुमानादि से प्रमाणभूत हैं, जिनको जिस प्रकार करके जैसा कुछ माना है, उनको आगे कहते हैं—

इस विषय में उन लोगों का सिद्धान्त यह है कि—ईश्वर की कही हुई जो चारों मन्त्रसंहिता हैं, वे ही स्वयंप्रमाण होने योग्य हैं, अन्य नहीं। परन्तु उनसे भिन्न भी जो-जो जीवों के रचे हुए ग्रन्थ हैं, वे भी वेदों के अनुकूल होने से परतःप्रमाण के योग्य होते हैं[4]। क्योंकि वेद ईश्वर के रचे हुए है, और ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वविद्यायुक्त तथा सर्वशक्तिवाला है। इस कारण से उसका कथन ही निर्भ्रम और प्रमाण के योग्य है। और जीवों के बनाए ग्रन्थ स्वतःप्रमाण के योग्य नहीं होते। क्योंकि जीव सर्वज्ञ सर्वविद्यायुक्त और सर्वशक्तिमान् नहीं होते। इसलिये उनका कहना स्वतः प्रमाण के योग्य नहीं हो सकता।

ऊपर के कथन से यह बात सिद्ध होती है कि—वेदविषय में जहां-कहीं प्रमाण की आवश्यकता हो, वहां सूर्य और दीपक के समान वेदों का ही प्रमाण लेना उचित है। अर्थात् जैसे सूर्य्य और दीपक अपने ही प्रकाश से प्रकाशमान होके सब क्रियावाले द्रव्यों को प्रकाशित कर देते हैं, वैसे ही

अपि च मूलवेदाः शाखाभ्यो भिन्ना आसन् इति तथ्यं तु सर्ववैदिकसम्मतम्। अत एव वेदमूलकत्वादेव तच्छाखानामपि प्रामाण्यं वैदिकैः स्मर्यते। तदुक्तं शतपथव्याख्यात्रा हरिस्वामिना—**'वेदस्यापौरुषेयत्वेन स्वतः-प्रामाण्ये सिद्धे तच्छाखानामपि तद्धेतुत्वात् प्रामाण्यम् इति बादरायणादिभिः प्रतिपादितम्,'** शत० भाष्य कां० १ हस्तलेख पृष्ठ २ (रा०ला०क० ट्रस्ट पुस्त०)। शतपथब्राह्मणे (१।४।१।३५)ऽपि वेदस्यापौरुषेयत्वं शाखापाठानां च पौरुषेयत्वं मुक्तकण्ठेनोक्तम्। विशेषस्त्वत्र आचार्यपादानां ब्रह्मदत्तजिज्ञासूनां यजुर्वेदभाष्यविवरणस्योपोद्घाते गोविन्दरामहासानन्दप्रकाशितस्य यजुर्वेदस्यास्मद्भूमिकायां च द्रष्टव्यः।

१. अत्र मध्ये पठितः 'अथ' शब्दः कस्यचित् श्लोकस्य नवाक्षरपादैकदेशत्वं सूचयति। तुलना कार्या—'हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते, श्लोकात्मिकायाः पाणिनीयशिक्षायाः (आर्चपाठ ४१)पाठेन सह।

२. निघण्टुर्धन्वन्तरिप्रोक्तो ग्राह्यः, भावार्थे तथैवोल्लेखदर्शनात्।

३. कोष्ठान्तर्गतं पदं वै० य० मुद्रितेषु (१-६ सं०)नोपलभ्यते। तथापि भाषापदार्थे दर्शनादिह आवश्यक; तद्विना चेहोक्ताश्चतसृसंहितागणनाऽपि नोपपद्यते।

४. वेदों का स्वतः प्रामाण्य और अन्य ग्रन्थों का वेदानुकूलतया प्रामाण्य भगवान् जैमिनि ने मीमांसा दर्शन अ० १ पाद १,३ के वेदप्रामाण्य और कल्पसूत्रप्रामाण्य अधिकरणों में विस्तार से दर्शाया है।

वेद भी अपने प्रकाश से प्रकाशित होके अन्य ग्रन्थों का भी प्रकाश करते हैं । इससे यह सिद्ध हुआ कि जो-जो ग्रन्थ वेदों से विरुद्ध हैं वे कभी प्रमाण वा स्वीकार करने के योग्य नहीं होते । और वेदों का अन्य ग्रन्थों के साथ विरोध भी हो, तब भी अप्रमाण के योग्य नहीं ठहर सकते । क्योंकि वे तो अपने ही प्रमाण से प्रमाणयुक्त हैं ।

इसी प्रकार ऐतरेय शतपथ ब्राह्मणादि ग्रन्थ, जो वेदों के अर्थ और इतिहासादि से युक्त बनाये गये हैं, वे भी परतःप्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल होने से ही प्रमाण और विरुद्ध होने से अप्रमाण हो सकते हैं । मन्त्रभाग की चार संहिता कि जिनका नाम वेद है, वे सब स्वतःप्रमाण कहे जाते हैं । और उनसे भिन्न [जो] ऐतरेय शतपथ आदि प्राचीन सत्यग्रन्थ हैं, वे परतःप्रमाण के योग्य हैं । तथा ग्यारहसौ सत्ताईस (११२७) चार वेदों की शाखा भी वेदों के व्याख्यान होने से परतः-प्रमाण [हैं] ।

तथा (आयुर्वेदः) अर्थात् जो वैद्यकशास्त्र चरक सुश्रुत और धन्वन्तरिकृत निघण्टु आदि, ये सब मिलकर ऋग्वेद का उपवेद कहाता है[1] । (धनुर्वेदः) अर्थात् जिसमें शस्त्र अस्त्रविद्या के विधान-युक्त अङ्गिरा आदि ऋषियों के बनाये ग्रन्थ, जो कि अङ्गिरा भरद्वाजादिकृत संहिता हैं, जिनसे राजविद्या सिद्ध होती है । परन्तु वे ग्रन्थ प्रायः लुप्त हो गये हैं, जो पुरुषार्थ से इसको सिद्ध किया चाहे, तो वेदादि विद्या-पुस्तकों से साक्षात् कर सकता है । (गान्धर्ववेदः) जो कि सामगान और नारदसंहिता आदि गानविद्या के ग्रन्थ हैं । (अर्थवेदः) अर्थात् शिल्पशास्त्र, जिसके प्रतिपादन में विश्वकर्मा, त्वष्टा, देवज्ञ और मयकृत संहिता रची गई हैं, ये चारों 'उपवेद' कहाते हैं ।

शिक्षा पाणिन्यादिमुनिकृता[2] । कल्पो मानवकल्पसूत्रादिः । व्याकरणमष्टाध्यायीमहाभाष्य-

१. ग्रन्थकारेण सर्वत्रायुर्वेद ऋग्वेदस्योपवेदत्वेन स्वीकृतः । तथा चैवोल्लेखश्चरणव्यूहादिषूपलभ्यते, परन्तु सुश्रुतकश्यपसंहितादिषु आयुर्वेदोऽथर्ववेदस्योपवेदत्वेन स्वीकृतः ।

२. आदिशब्देन आपिशलिशौनकगालवनारदादिप्रोक्ताः ऋषिप्रोक्ताः शिक्षाग्रन्थाः संग्राह्याः । इदमत्र विशेषतो विज्ञेयम्—ग्रन्थकृता यस्मिन् काले इयं पङ्क्तिर्लिखिताऽऽसीत् तावत्पर्यन्तं पाणिनीयशिक्षासूत्राणि नोपलब्धान्यासन् । अत एवैतदनन्तरं विरचितेऽष्टाध्यायीभाष्ये पाणिनीयत्वेन प्रसिद्धायाः श्लोकात्मिकायाः शिक्षाया एव प्रमाणान्युद्धृतानि (द्र०—अष्टा० भाष्य १।१।९) । वास्तविकी सूत्रात्मिका पाणिनीयशिक्षा तु ग्रन्थकृता १९३६तमे वैक्रमाब्दे उपलब्धा (द्र०—ऋ० द० के ग्रन्थों का इतिहास, वर्णोच्चारण-शिक्षा प्रकरण), तदानीमेव च भाषार्थसहितेयं प्राकाश्यं नीता । अपि च ग्रन्थकृता सूत्रात्मिकायाः पाणिनीयशिक्षाया यो हस्तलेख उपलब्ध आसीत्, सोऽपि त्रुटितोऽभूत् । अतोऽष्टमप्रकरणस्य प्रथमसूत्रस्याल्पीयांसं भागमतिरिच्य सर्वमपि प्रकरणं वर्णोच्चारणशिक्षायां नोपलभ्यते । अस्मिन् हस्तलेखे मध्येमध्येऽपि क्वचिद् ग्रन्थपात उपलभ्यते । अस्माभि-रन्यत्र अपरं कोशमुपलभ्य सम्प्रत्येव पूर्णः पाठो मुद्रितः (द्र०—शिक्षासूत्राणि नाम्ना संग्रहः) । यत्तु मनोमोहन-घोषेण स्वामिदयानन्दप्रकाशितः पाणिनीयशिक्षासूत्राणां ग्रन्थः संग्रहात्मकः स्वयंकल्पितः कूटग्रन्थो न वास्तविक इत्येवं स्वप्रकाशितपाणिनीयशिक्षोपोद्घाते बहुधा प्रलपितम्, तस्योत्तरमस्माभिः पटनानगरात् प्रकाश्यमानायाः साहित्यपत्रिकायाः सप्तमवर्षस्य चतुर्थाङ्के 'मूल पाणिनीय शिक्षा' इति नाम्ना विस्तरेण प्रदत्तम् । तस्यैव संक्षेपेण निर्देशः 'शिक्षासूत्राणि' नाम्नः संग्रहस्योपोद्घातेऽपि विहितः ।

धातुपाठोणादिगणप्रातिपदिकगणपाठाख्यम्'। निरुक्तं यास्कमुनिकृतं 'निघण्टुसहितं चतुर्थं वेदाङ्गं' मन्तव्यम्। छन्दः पिङ्गलाचार्य्यकृतसूत्रभाष्यम्[3]। ज्योतिषं वसिष्ठाद्यृष्युक्तं रेखाबीजगणितमयं चेति वेदानां षडङ्गानि सन्ति।

तथा षड् उपाङ्गानि—तत्राद्यं कर्मकाण्डविधायकं धर्मधर्मिव्याख्यामयं व्यासमुन्यादिकृत-भाष्यसहितं जैमिनिमुनिकृतसूत्रं पूर्वमीमांसाशास्त्राख्यं ग्राह्यम्। द्वितीयं विशेषतया धर्मधर्मिविधायकं [4]प्रशस्तपादकृतभाष्यसहितं कणादमुनिकृतं वैशेषिकशास्त्रम्। तृतीयं पदार्थविद्याविधायकं वात्स्या-यनभाष्यसहितं गोतममुनिकृतं न्यायशास्त्रम्। चतुर्थं यत्त्रिभिर्मीमांसावैशेषिकन्यायशास्त्रैः सर्व-पदार्थानां श्रवणमननेनानुमानिकज्ञानतया निश्चयो भवति, तेषां साक्षाज्ज्ञानसाधनमुपासनाविधायकं व्यासमुनिकृतभाष्यसहितं पतञ्जलिमुनिकृतं योगशास्त्रम्। तथा पञ्चमं तत्त्वपरिगणनविवेकार्थं भागुरिमुनिकृतभाष्यसहितं कपिलमुनिकृतं सांख्यशास्त्रम्। षष्ठं बौधायनवृत्त्यादिव्याख्यानसंहितं व्यासमुनिकृतं वेदान्तशास्त्रम्। तथैव ईशकेनकठप्रश्नमुण्डकमाण्डूक्यतैत्तिरीयैतरेयछान्दोग्यबृहदा-रण्यका दशोपनिषदश्चोपाङ्गानि[5] च ग्राह्याणि।

एवं चत्वारो वेदाः सशाखा व्याख्यानसहिताः, चत्वार उपवेदाः, षड् वेदाङ्गानि, षट् च वेदोपाङ्गानि मिलित्वा विंशतिः[6] भवन्ति। एतैरेव चतुर्दशविद्या[7] मनुष्यैर्ग्राह्या भवन्तीति वेद्यम्।

भाषार्थ—इसी प्रकार [पाणिन्यादि मुनिकृत शिक्षा।] मन्वादिकृत मानवकल्पसूत्रादि, आश्व-लायनादिकृत श्रौतसूत्रादि। पाणिनिमुनिकृत अष्टाध्यायी धातुपाठ गणपाठ उणादिपाठ[8] और

---

१. अत्र लिङ्गानुशासनस्याप्यन्तर्भावः कर्तव्यः।

२. निघण्टुरपि यास्कप्रोक्त एवेति ग्रन्थकारस्य मतम्। एतस्मिन् विषये पण्डितभगवद्दत्तकृतः 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास—वेदों के भाष्यकार' ग्रन्थो द्रष्टव्यः।

३. पिङ्गलाचार्यकृतानां छन्दःसूत्राणां स्वोपज्ञभाष्यस्यान्यत्रोल्लेखो नोपलभ्यते।

४. भाषार्थेऽस्य विवरणे 'प्रशस्तपादकृत' स्थाने 'गोतममुनिकृत' इति दृश्यते। स किं प्रमादपाठ उत प्रशस्तपादस्यैव गोतममुनिरपरं नामेत्यस्य बोधकमिति विचारार्हम्। यदि गोतममुनिरेव प्रशस्तपादाभिधेयः स्यात्तर्हि तस्य 'अक्षपाद' नामान्तरेण तुलना कर्तुं शक्यते।

५. अत्रोपनिषदामप्युपाङ्गेष्वन्तर्भाव उक्तः। तस्य कारणं वेदान्तसूत्रेषूपनिषद्वाक्यानां विचारः। अतएव ग्रन्थकृता कानपुरनगरे प्रकाशिते विज्ञापने (सं० १९२६) 'शारीरकसूत्राणि १६ तत्रोपनिषन्मन्त्राणां व्याख्यानमस्ति' इत्युक्तम्। द्र०—ऋ० द० पत्र और विज्ञापन पृष्ठ २, संस्करण २।

६. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'मिलित्वा षट् भवन्ति' इति पठ्यते। स प्रत्यक्षमपपाठः, पूर्वोक्तानां मेलनेन विंशति संख्योपपद्यते।

७. चतुर्दशविद्यानामुल्लेखो ग्रन्थकृता यजुर्वेदभाष्ये (६।१४) कानपुरीये विज्ञापने च कृतः। अन्यत्र चत्वारो वेदाः, षडङ्गानि, मीमांसा, न्यायविस्तरः, पुराणं धर्मशास्त्राणि च संकलय्य चतुर्दशविद्याः परिगण्यन्ते (द्र०—वायु पु० ६१।७८)। अस्वेव चतुर्दशविद्यासु चतुर्णामुपवेदानां परिगणनं कृत्वा अष्टादशविद्या उच्यन्ते। द्र०—वायु पु० ६१।७९॥

८. यहां पाणिनिमुनि प्रोक्त लिङ्गानुशासन का भी अन्तर्भाव करना चाहिये।

पतञ्जलिमुनिकृत महाभाष्य पर्यन्त व्याकरण। तथा यास्कमुनिकृत निरुक्त और निघण्टु[1]। वसिष्ठमुनि आदि कृत ज्योतिष सूर्य्यसिद्धान्त आदि। और (छन्दः) पिङ्गलाचार्यकृत सूत्रभाष्य [सहित] आदि, ये वेदों के छः अङ्ग भी परतःप्रमाण के योग्य हैं।

और ऐसे ही वेदों के छः उपाङ्ग, अर्थात् जिनका नाम षट्शास्त्र है। उनमें से एक—व्यासमुनि आदि कृत भाष्य सहित जैमिनिमुनिकृत पूर्व मीमांसा, जिसमें कर्मकाण्ड का विधान और धर्म धर्मी दो पदार्थों से सब पदार्थों की व्याख्या की है। दूसरा—वैशेषिक शास्त्र, जो कि कणादमुनिकृत सूत्र और गोतममुनिकृत[2] प्रशस्तपादभाष्यादिव्याख्यासहित। तीसरा—न्यायशास्त्र, जो कि गोतममुनिप्रणीत सूत्र और वात्स्यायनमुनिकृत भाष्यसहित। चौथा—योगशास्त्र, जो कि पतञ्जलिमुनिकृत सूत्र और व्यासमुनिकृत भाष्यसहित। पांचवां—सांख्यशास्त्र, जो कि कपिलमुनिकृत सूत्र और भागुरिमुनिकृत भाष्यसहित। और छठा—वेदान्तशास्त्र, जो कि ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक ये दश उपनिषद्[3], तथा व्यासमुनिकृत सूत्र जो कि बौधायनवृत्त्यादिव्याख्यासहित वेदान्तशास्त्र है, ये छः वेदों के 'उपाङ्ग' कहाते हैं।

इसका यह अभिप्राय है कि जो शाखा-शाखान्तर[4] व्याख्यासहित चार वेद, चार उपवेद, छः अङ्ग और [छः] उपाङ्ग हैं, ये सब मिलके [5]बीस होते हैं। इनसे ही चौदह विद्याएं सब मनुष्यों को ग्रहण करनी चाहियें।

१. वर्त्तमान निघण्टु ग्रन्थ यास्क-प्रोक्त है, ऐसा ग्रन्थकार ने स्वयं प्रकाशित निघण्टु की भूमिका में भी कहा है। अनेक लोग इस बात को नहीं मानते। इस विषय पर भी पं० भगवद्दत्तजी ने 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' ग्रन्थ के 'वेदों के भाष्यकार' संज्ञक भाग में विस्तार से लिखा है। पाठकों को वह प्रकरण अवश्य देखना चाहिए।

२. संस्कृत भाग में 'गोतम मुनि' पद का निर्देश नहीं है। प्रशस्तपाद का गोतम मुनि नामान्तर अन्यत्र हमारे देखने में नहीं आया। गोतममुनि के लोकविश्रुत 'अक्षपाद' के साथ 'प्रशस्तपाद' नाम की तुलना की जा सकती है।

३. यहां उपनिषदों की भी ६ वेदाङ्गों में गणना की है। इसका कारण यह हो सकता है कि वेदान्त दर्शन में उपनिषदों के वाक्यों पर ही विचार किया गया है।

४. वैदिक वाङ्मय में 'चरण' और 'शाखा' शब्दों का प्रयोग मिलता है। चरण वेद की प्रथम मुख्य शाखा है, उसी की विभिन्न शाखायें 'शाखा' नाम से कही जाती है। यथा यजुर्वेद की शुक्ल कृष्ण शाखाओं में वाजसनेय तैत्तिरीय शब्द, प्रधान-शाखा-निमित्तक 'चरण शब्द माने जाते हैं, और उनकी कण्वादि प्रोक्त १५ अथवा आपस्तम्ब आदि प्रोक्त शाखायें 'शाखायें' कहाती हैं। इन्हीं चरण और शाखा विभाग के लिए यहां क्रमशः 'शाखा और 'अवान्तर शाखा' शब्द का व्यवहार किया है। विष्णु पुराण ३।४।२५ में इन्हें 'प्रतिशाखा' और 'अनुशाखा' कहा है—'इत्येताः प्रतिशाखाभ्योऽप्यनुशाखा द्विजोत्तम।' श्रीधरस्वामी ने इसकी व्याख्या में लिखा है—'अनुशाखा अवान्तरशाखाः'।

५. यहां से आगे वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'चौदह विद्या के ग्रन्थ है' अपपाठ है। १४ विद्याओं का उल्लेख ऋषि दयानन्द ने—यजुर्वेदभाष्य ६।३४ तथा कानपुर के सं० १९२६ में प्रकाशित विज्ञापन में भी

एतासां[1] पठनाद् यथार्थं विदितत्वान्मानसबाह्यज्ञानक्रियाकाण्डसाक्षात्करणाच्च महाविद्वान् भवतीति निश्चेतव्यम्। एत ईश्वरोक्ता वेदास्तद्व्याख्यानमया ब्राह्मणादयो ग्रन्था आर्षा वेदानुकूलाः सत्यधर्मविद्यायुक्ता युक्तिप्रमाणसिद्धा एव माननीयाः सन्ति। नैवैतेभ्यो भिन्नाः पक्षपातक्षुद्रविचार-स्वल्पविद्याऽधर्माचरणप्रतिपादना अनाप्तोक्ता वेदार्थविरुद्धा युक्तिप्रमाणविरहा ग्रन्थाः केनापि कदाचिदङ्गीकार्य्या इति[2]।

ते च संक्षेपतः परिगण्यन्ते—रुद्रयामलादयस्तन्त्रग्रन्थाः। ब्रह्मवैवर्त्तादीनि पुराणानि[3]। प्रक्षिप्तश्लोकत्यागाया मनुस्मृतेर्व्यतिरिक्ताः स्मृतयः। सारस्वतचन्द्रिकाकौमुद्यादयो व्याकरणा-भासग्रन्थाः। मीमांसाशास्त्रादिविरुद्धनिर्णयसिन्ध्वादयो ग्रन्थाः। वैशेषिकन्यायशास्त्रविरुद्धास्तर्क-संग्रहमारभ्य जागदीश्यन्ता न्यायाभासग्रन्थाः। योगशास्त्रविरुद्धा हठप्रदीपिकादयो ग्रन्थाः। सांख्य-शास्त्रविरुद्धा सांख्यतत्त्वकौमुद्यादयः। वेदान्तशास्त्रविरुद्धा वेदान्तसारपञ्चदशीयोगवासिष्ठादयो ग्रन्थाः। ज्योतिषशास्त्रविरुद्धा मुहूर्त्तचिन्तामण्यादयो मुहूर्त्तजन्मपत्रफलादेशविधायका ग्रन्थाः।

तथैव श्रौतसूत्रविरुद्धास्त्रिकण्डिकास्नानसूत्रपरिशिष्टादयो ग्रन्थाः। मार्गशीर्षैकादशीकाशी-स्थलजलसेवनयात्राकरणदर्शननामस्मरणस्नानजडमूर्तिपूजाकरणमात्रेणैव मुक्तिभावनपापनिवारण-माहात्म्यविधायकाः सर्वे ग्रन्थाः। तथैव [4]पाषण्डिसम्प्रदायिनिर्मितानि सर्वाणि पुस्तकानि च, नास्तिकत्वविधायका ग्रन्थाश्चोपदेशाश्च। ते सर्वे वेदादिशास्त्रविरुद्धा युक्तिप्रमाणपरीक्षाहीनाः सन्त्यतः शिष्टैरग्राह्या भवन्ति।

भाषार्थ—इन ग्रन्थों का तो पूर्वोक्त प्रकार से स्वतः परतः प्रमाण करना सुनना और पढ़ना सबको उचित है, इनसे भिन्नों का नहीं। क्योंकि जितने ग्रन्थ पक्षपाती क्षुद्रबुद्धि कम विद्यावाले अधर्मात्मा असत्यवादियों के कहे वेदार्थ से विरुद्ध और युक्तिप्रमाणरहित हैं, उनको स्वीकार करना योग्य नहीं।

आगे उनमें से मुख्य-मुख्य मिथ्याग्रन्थों के नाम भी लिखते हैं—जैसे रुद्रयामल आदि तन्त्रग्रन्थ। ब्रह्मवैवर्त्त श्रीमद्भागवत आदि पुराण, सूर्य्यगाथा आदि उपपुराण। मनुस्मृति के प्रक्षिप्त श्लोक और उससे पृथक् सब स्मृतिग्रन्थ। व्याकरणविरुद्ध सारस्वतचन्द्रिका कौमुद्यादि ग्रन्थ। धर्मशास्त्रविरुद्ध निर्णयसिन्धु आदि। तथा वैशेषिक न्यायशास्त्रविरुद्ध तर्कसंग्रह मुक्तावल्यादि

किया है। पुराणों के अनुसार १४ विद्याओं में ४ वेद, ६ वेदाङ्ग, मीमांसा, न्याय, पुराण और धर्मशास्त्रों का अन्तर्भाव होता है। इन्हीं में चार उपवेदों की गणना करने पर १८ अष्टादश विद्यायें कही जाती हैं (द्र०—वायु पु० ६१।७८-७९)।

१ एतासामर्थात् चतुर्दशविद्यानां पठनात्।

२. आयुर्वेदीयचरकसंहितायाः विमानस्थाने (८।३) कीदृशा ग्रन्था अध्येतुमध्यापयितुं च योग्या अयोग्या वेत्यति विस्तरेण प्रतिपादितम्। तत् तत एव द्रष्टव्यम्।

३. वै० य० मुद्रितेष्वष्टसु संस्करणेषु अयमेव पाठ उपलभ्यते। नवमसंस्करणे संशोधकेन 'पुराणान्युप-पुराणानि च' इत्येवं पाठः परिष्कृतः। स किंमूल इति नोक्तमत्र कोठारीत्युपह्वयेन। पुराणानां निर्देशेनैवोप-पुराणानां संग्रहः स्वतःसिद्ध एव।

४. मूलपाठः 'पाखण्डि०'। स च लिपिकरस्य षकारस्य खकारोच्चारणदोषजः।

ग्रन्थ। 'हठ[प्र]दीपिका आदि ग्रन्थ, जो कि योगशास्त्र के विरुद्ध हैं। तथा सांख्यशास्त्रविरुद्ध सांख्यतत्त्वकौमुदी आदि ग्रन्थ। वेदान्तशास्त्रविरुद्ध वेदान्तसार पञ्चदशी योगवासिष्ठादि ग्रन्थ। ज्योतिषशास्त्र से विरुद्ध मुहूर्त्तचिन्तामण्यादि मुहूर्त्त जन्मपत्रफलादेशविधायक पुस्तक।

ऐसे ही श्रौतसूत्रादिविरुद्ध त्रिकण्डिकास्नानविधायकादि सूत्र। तथा मार्गशीर्ष एकादश्यादि व्रत, काश्यादि स्थल, पुष्कर गङ्गादि जल, यात्रा माहात्म्यविधायक पुस्तक, तथा दर्शन नामस्मरण जड़मूर्तिपूजा करने से मुक्तिविधायकग्रन्थ। इसी प्रकार पापनिवारणविधायक और ईश्वर के अवतार वा पुत्र अथवा दूतप्रतिपादक, वेदविरुद्ध शैव शाक्त गाणपत वैष्णवादि मत के ग्रन्थ, तथा नास्तिक मत के पुस्तक और उनके उपदेश। ये सब वेद युक्ति प्रमाण और परीक्षा से विरुद्ध ग्रन्थ हैं। इसलिए सब मनुष्यों को उक्त अशुद्ध ग्रन्थ त्याग कर देने योग्य हैं।

[2]प्र०—तेषु बह्वनृतभाषणेषु किंचित् सत्यमप्यग्राह्यं भवितुमर्हति विषयुक्तान्नवत्?

उ०—यथा परीक्षका विषयुक्तममृततुल्यमप्यन्नं परीक्ष्य त्यजन्ति,तद्वदप्रमाणा ग्रन्थास्त्याज्या एव। कुतः? तेषां प्रचारेण वेदानां सत्यार्थाप्रवृत्तेस्तदप्रवृत्त्या ह्यसत्यार्थान्धकारापत्तेरविद्यान्धकारतया यथार्थज्ञानानुत्पत्तेश्चेति।

[तन्त्र-ग्रन्थानां मिथ्यात्वम्]

अथ तन्त्रग्रन्थानां मिथ्यात्वं प्रदर्श्यते। तत्र पञ्चमकारसेवनेनैव मुक्तिर्भवति, नान्यथेति तेषां मतम्। यत्रेमे श्लोकाः सन्ति—

मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च।
एते पञ्च मकाराश्च मोक्षदा हि युगे-युगे ॥१॥[3]

पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत्पतति भूतले।
पुनरुत्थाय वै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥२॥[4]

---

१. संस्कृतभागे इत्थमेव पठ्यते।

२. यथात्र प्रश्नोत्तररूपेण मुद्रितः पाठ उपलभ्यते, न तस्यार्थः स्पष्टीभवति। वयं त्वनुमिनुमो यदत्र कश्चिद् ग्रन्थपातो लिपिकरप्रमादात् समजनि। अस्मन्मते त्वत्रैवं पाठेन भाव्यम्—

'प्र०—किमेष्वसद्ग्रन्थेषु यत् सत्यं तत्तु ग्राह्यं भवितुमर्हति? उ०—न। तेषु बह्वनृतभाषणेषु किंचित् सत्यमप्यग्राह्यं भवितुमर्हति, विषयुक्तान्नवत्। यथा परीक्षका……' इति।

अस्मिन् पाठे 'यथा परीक्षकाः……' इत्युत्तरभागो विषयुक्तान्नवत् इति दृष्टान्तस्यैव व्याख्यानरूपो ज्ञेयः। अस्माभिरूहितस्य पाठस्य भाषार्थेनापि पुष्टिर्भवति। सत्यार्थप्रकाशेऽपि ग्रन्थकृता एतादृशे प्रकरणे (पृष्ठ १०५, रलाकट्सं०) प्रश्नोत्तररूपेण यदुक्तं तदप्यत्र तुलनीयम्।

३. कालीतन्त्रादिषु। ४. कुलार्णव तन्त्र ७।१००, स्वामी वेदानन्द।

प्रवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णा द्विजातयः ।
निवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णाः पृथक् पृथक् ॥३॥[1]

मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत् सर्वयोनिषु ।
लिङ्गं योन्यां तु संस्थाप्य जपेन्मन्त्रमतन्द्रितः ॥४॥

मातरमपि न त्यजेत् ॥[५॥]

इत्याद्यनेकविधमल्पबुद्ध्यधर्मश्रेयस्कर्मानार्याभिहितं युक्तिप्रमाणरहितं वेदादिभ्योऽत्यन्त-विरुद्धमनार्षमश्लीलमुक्तं तच्छिष्टैर्न कदापि ग्राह्यमिति । मद्यादिसेवनेन बुद्ध्यादिभ्रंशान्मुक्तिस्तु न जायते, किन्तु नरकप्राप्तिरेव भवतीत्यन्यत् सुगमं प्रसिद्धं च[2] ।

भाषार्थ—कदाचित् इन ग्रन्थों के विषय में कोई ऐसा प्रश्न करे कि—इन असत्य ग्रन्थों में भी जो-जो सत्य बात हैं, उनका [तो] ग्रहण करना चाहिये ?

तो इसका उत्तर यह है कि—जैसे अमृत तुल्य अन्न में विष मिला हो, तो उसको छोड़ देते हैं, उसी प्रकार उनसे सत्यग्रहण की आशा करने से सत्यार्थप्रकाशक वेदादि ग्रन्थों का लोप हो जाता है । इसलिये इन सत्यग्रन्थों के प्रचार के अर्थ उन मिथ्या ग्रन्थों को छोड़ देना अवश्य चाहिये । क्यों कि विना सत्यविद्या के ज्ञान कहां ? विना ज्ञान के उन्नति कैसी ? और उन्नति के न होने से मनुष्य सदा दुःखसागर ही में डूबे रहते हैं ।

अब आगे उन पूर्वलिखित अप्रमाण ग्रन्थों के संक्षेप से पृथक्-पृथक् दोष भी दिखलाये जाते हैं । देखो, तन्त्रग्रन्थों में ऐसे श्लोक लिखे हुए हैं कि—

(मद्यं मांसं०) मद्य पीना, मांस मच्छी खाना, मुद्रा अर्थात् सब के साथ इकट्ठे बैठके रोटी बड़े आदि उड़ाना, कन्या बहिन माता और पुत्रवधू आदि के साथ भी मैथुन कर लेना । इन पांच मकारों के सेवन से सब की मुक्ति होती है ॥ १ ॥

(पीत्वा-पीत्वा०) किसी मकान के चार आलयों में मद्य के पात्र धरके, एक कोने से खड़े-खड़े मद्य पीने का आरम्भ करके दूसरे में जाना, दूसरे से पीते हुए तीसरे में, और तीसरे से चौथे में जाकर पीना । यहां तक कि जब पर्य्यन्त पीते-पीते बेहोश होकर लकड़ी के समान भूमि में न गिर पड़े, तब तक बराबर पीते ही चले जाना। इस प्रकार बारंबार पीके अनेक बार उठ-उठकर भूमि में गिर जाने से मनुष्य जन्ममरणादि दुःखों से छूटकर मुक्ति को प्राप्त हो जाता है ॥२॥

(प्रवृत्ते भैरवीचक्रे०) जब कभी वाममार्गी लोग रात्रि के समय किसी स्थान में इकट्ठे होते हैं, तब उनमें ब्राह्मण से लेके चाण्डाल पर्य्यन्त सब स्त्री-पुरुष आते हैं । फिर वे लोग एक

१. कुलार्णव तन्त्र ८।९६, स्वामी वेदानन्द ।

२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु इत उत्तरं मुद्रितः 'एवमेव ब्रह्मवैवर्त्तादिषु···' इत्यादिपाठः प्रकरणसंगत्या अस्माभिर्भाषार्थतोऽग्रे नीतः ।

स्त्री को नंगी करके वहां उसकी योनि की पूजा करते हैं। सो केवल इतना ही नहीं, किन्तु कभी-कभी पुरुष को भी नंगा करके स्त्री लोग भी उसके लिङ्ग की पूजा करती हैं। तदनन्तर मद्य के पात्र में से एक पात्र अर्थात् प्याला भरके, उस स्त्री और पुरुष दोनों को पिलाते हैं। फिर उसी पात्र से सब वाममार्गी लोग क्रम से मद्य पीते और अन्न मांसादिक खाते चले जाते हैं। यहां तक कि जबतक उन्मत्त न हो जायें, तबतक खाना-पीना बन्द नहीं करते हैं। फिर एक स्त्री के साथ एक पुरुष अथवा एक के साथ अनेक भी मैथुन कर लेते हैं। जब उस स्थान से बाहर निकलते हैं, तब कहते हैं कि अब हम लोग अलग-अलग वर्णवाले हो गये ॥३॥

(मातृयोनिं०) उनके किसी-किसी श्लोक में तो ऐसा लिखा है कि माता को छोड़के सब स्त्रियों से मैथुन कर लेवे, इसमें कुछ दोष नहीं। और (मातरमपि न त्यजेत्) किसी-किसी का यह भी मत है कि माता को भी न छोड़ना। तथा किसी में लिखा है कि योनि में लिङ्ग प्रवेश करके आलस्य छोड़कर मन्त्र को जपे, तो वह शीघ्र ही सिद्ध हो जाता है ॥ ४, [५] ॥

इत्यादि अनेक अनर्थरूप कथा तन्त्रग्रन्थों में लिखी हैं। वे सब वेदादिशास्त्र युक्तिप्रमाणों से विरुद्ध होने के कारण श्रेष्ठ पुरुषों के ग्रहण करने योग्य नहीं। क्योंकि मद्यादि सेवन से मुक्ति तो कभी नहीं हो सकती, परन्तु ज्ञान का नाश और दुःखरूप नरक की प्राप्ति दीर्घकाल तक होती है।

एवमेव ब्रह्मवैवर्त्तादिषु मिथ्यापुराणसंज्ञेषु[1], किं च नवीनेषु मिथ्याभूता बह्वयः कथा लिखितास्तासां स्थालीपुलाकन्यायेन स्वल्पाः प्रदर्श्यन्ते[2]। तत्रैवमेका कथा लिखिता—

[१—ब्रह्मणः स्वदुहित्रा सह मैथुनम्][3]

'प्रजापतिर्ब्रह्मा चतुर्मुखो देहधारी स्वां सरस्वतीं दुहितरं मैथुनाय जग्राहेति।' सा मिथ्यैवास्ति। कुतः? अस्याः कथाया अलंकाराभिप्रायत्वात्। तद्यथा—

प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायद् दिवमित्यन्य आहुरुषसमित्यन्ये। तामृश्यो भूत्वा रोहितं भूतामभ्यैत्, तस्य यद् रेतसः प्रथममुददीप्यत तदसावादित्योऽभवत् ॥१॥

ऐ० पं० ३। कण्डि० ३३, ३४ ॥

प्रजापतिर्वै सुपर्णो गरुत्मानेष सविता ॥२॥ शत० कां० १०। अ० २। ब्रा० २। कं० ४॥

तत्र पिता दुहितुर्गर्भं दधाति पर्जन्यः पृथिव्याः ॥३॥ निरु० अ० ४। खं० २१ ॥

---

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'मिथ्यापुराणसंज्ञासु' इत्यपपाठः, 'ब्रह्मवैवर्त्तादिषु' इत्यस्य विशेषणत्वात्।

२. अत्र प्रदर्शितासु कथासु काश्चन वेदभाष्यप्रचारार्थं प्रकाशिते विज्ञापनपत्रेऽपि प्रदर्शिताः। द्र० — 'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन', पृष्ठ ३३-३६, द्वि० सं०।

३. इयं कथा पूर्वोक्ते विज्ञापनपत्रेऽपि व्याख्याता। द्र०—पृष्ठ ३७।

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम् ।
उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ॥ १ ॥

ऋ० मं० १ । सू० १६४ । मं० ३३ ॥

शासद्वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गाद्विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन् ।
पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्त्सं शग्म्येन मनसा दधन्वे ॥ २ ॥

ऋ० मं० ३ । सू० ३१ । मं० १ ॥

भाष्यम्—सविता सूर्यः सूर्यलोकः प्रजापतिसंज्ञकोऽस्ति । तस्य दुहिता कन्यावद् द्यौरुषा चास्ति । यस्मात् उत्पद्यते तत्तस्यापत्यवत्, स तस्य पितृवदिति रूपकालङ्कारोक्तिः । स च तां रोहितां किञ्चिद्रक्तगुणप्राप्तां स्वां दुहितरं किरणैः व्यवच्छीघ्रमभ्यध्यायत् प्राप्नोति । एवं प्राप्तः प्रकाशाख्यमादित्यं पुत्रमजीजनद् उत्पादयति । अस्य पुत्रस्य मातृवदुषा पितृवत् सूर्यश्च । कुतः ? तस्यामुषसि दुहितरि किरणरूपेण वीर्येण सूर्याद् दिवसस्य पुत्रस्योत्पन्नत्वात् । यस्मिन् भूप्रदेशे प्रातः पञ्चघटिकायां रात्रौ स्थितायां किंचित् सूर्यप्रकाशेन रक्तता भवति, तस्योषा इति संज्ञा । तयोः पितादुहित्रोः समागमाद् उत्कटदीप्तिः प्रकाशाख्य आदित्यपुत्रो जातः । यथा मातापितृभ्यां सन्तानोत्पत्तिर्भवति, तथैवात्रापि बोध्यम् ।

एवमेव पर्जन्यपृथिव्योः पितादुहितृवत् [रूपकालंकारः] । कुतः ? पर्जन्याद्भ्यः पृथिव्या उत्पत्तेः । अतः पृथिवी तस्य दुहितृवदस्ति । स पर्जन्यो वृष्टिद्वारा तस्यां वीर्यवज्जलप्रक्षेपणेन गर्भं दधाति । तस्माद् गर्भादोषध्यादयोऽपत्यानि जायन्ते । अयमपि रूपकालङ्कारः ॥ [१–३॥]

अत्र वेदप्रमाणम्—

(द्यौर्मे पिता०) प्रकाशो मम पिता पालयितास्ति, (जनिता) सर्वव्यवहाराणामुत्पादकः, अत्र द्वयोः सम्बन्धत्वात् । तत्रेयं पृथिवी माता मानकर्त्री । द्वयोश्चम्वोः पर्जन्यपृथिव्योः सेनावदुत्तानयोरूर्ध्वं तानयोरुत्तानस्थितयोरलङ्कारः । अत्र पिता पर्जन्यो दुहितुः पृथिव्या गर्भं जलसमूहमाधात्, आ सामन्ताद धारयतीति रूपकालङ्कारो मन्तव्यः ॥१॥

(शासद्वह्निः०) अयमपि मन्त्रोऽस्यैवालङ्कारस्य विधायकोऽस्ति । वह्निशब्देन सूर्यो दुहिताऽस्य पूर्वोक्तैव । स पिता स्वस्या उषसो दुहितुः सेकं किरणाख्यवीर्यस्थापनेन गर्भाधानं कृत्वा दिवसपुत्रमजनयदिति ॥२॥

अस्यां परमोत्तमायां रूपकालङ्कारविधायिन्यां निरुक्तब्राह्मणेषु व्याख्यातायां कथायां सत्यामपि ब्रह्मवैवर्त्तादिषु भ्रान्त्या याः कथा अन्यथा निरूपितास्ता नैव कदाचित् केनापि सत्या मन्तव्या इति ।

भावार्थ—इसी प्रकार ब्रह्मवैवर्त्त और श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थ, जो कि व्यासजी के नाम से

संप्रदायी लोगों ने रच लिये हैं, उनका नाम पुराण कभी नहीं हो सकता, किन्तु उनको नवीन कहना उचित है। अब उनकी मिथ्यात्वपरीक्षा के लिये कुछ कथा[1] यहां भी लिखते हैं—

नवीन ग्रन्थकारों ने एक यह कथा भ्रान्ति से मिथ्या करके लिखी है, जो कि प्रथम रूपलङ्कार की थी— (प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरम०) अर्थात् यहां प्रजापति कहते हैं सूर्य्य को, जिसकी दो कन्या एक प्रकाश और दूसरी उषा। क्योंकि जो जिससे उत्पन्न होता है, वह उसका ही संतान कहाता है। इसलिये उषा, जो कि पांच[2] घड़ी रात्रि शेष रहने पर पूर्व दिशा में रक्तता दीख पड़ती है, वह सूर्य्य की किरण से उत्पन्न होने के कारण उसकी कन्या कहाती है। उन में से उषा के सम्मुख जो प्रथम सूर्य्य की किरण जाके पड़ती है, वही वीर्य्यस्थापन के समान है। उन दोनों के समागम से पुत्र अर्थात् दिवस उत्पन्न होता है ॥

'प्रजापति' और 'सविता' ये शतपथ में सूर्य्य के नाम हैं ॥

तथा निरुक्त में भी रूपकालंकार की कथा लिखी है कि—पिता के समान पर्जन्य अर्थात् जलरूप जो मेघ है, उसकी पृथिवीरूप दुहिता अर्थात् कन्या है। क्योंकि पृथिवी की उत्पत्ति जल से ही हुई है। जब वह उस कन्या में वृष्टि द्वारा जलरूप वीर्य को धारण करता है, तब उससे गर्भ रहकर ओषध्यादि अनेक पुत्र उत्पन्न होते हैं ॥ [१-३॥]

इस 'कथा' का मूल ऋग्वेद में इस प्रकार है कि—

(द्यौर्मे पिता०) द्यौ जो सूर्य्य का प्रकाश है, सो सब सुखों का हेतु होने से मेरे पिता के समान, और पृथिवी बड़ा स्थान और मान्य का हेतु होने से मेरी माता के तुल्य है। (उत्तान०) जैसे ऊपर नीचे वस्त्र की दो चांदनी तान देते हैं, अथवा आमने-सामने दो सेना होती हैं, इसी प्रकार सूर्य्य और पृथिवी, अर्थात् ऊपर की चांदनी के समान सूर्य्य और नीचे के बिछौने के समान पृथिवी है। तथा जैसे दो सेना आमने-सामने खड़ी हों, इसी प्रकार सब लोकों का परस्पर सम्बन्ध है। इसमें योनि अर्थात् गर्भस्थापन का स्थान पृथिवी, और गर्भस्थापन करनेवाला पति के समान मेघ है। वह अपने बिन्दुरूप वीर्य के स्थापन से उसको गर्भधारण कराने से ओषध्यादि अनेक संतान उत्पन्न करता है, कि जिससे सब जगत् का पालन होता है ॥१॥

(शासद्वह्नि०) सब का वहन अर्थात् प्राप्ति करानेवाले परमेश्वर ने मनुष्यों की ज्ञानवृद्धि के लिये रूपकालंकार कथाओं का उपदेश किया है। तथा वही (ऋतस्य०) जल का धारण करनेवाला (नप्त्यङ्गा०) जगत् में पुत्रपौत्रादि का पालन और उपदेश करता है। (पिता यत्र दुहितुः०) जिस सुखरूप व्यवहार में स्थित होके पिता दुहिता में वीर्य स्थापन करता है, जैसा कि पूर्व लिख आये हैं, उसी प्रकार यहां भी जान लेना। जिसने इस प्रकार के पदार्थ और उनके सम्बन्ध रचे हैं, उसको हम नमस्कार करते हैं। २॥

---

१. ग्रन्थकार ने इसी प्रकार की कुछ कथाओं का निर्देश अपने वेदभाष्य के प्रचार के लिए प्रकाशित विज्ञापनपत्र में भी किया है। द्र० —'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन', पृष्ठ ३३-३६ द्वि० सं०।

२. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'तीन चार घड़ी' अपपाठ है। संस्कृत में 'पांच घड़ी' का निर्देश है।

जो यह रूपकालंकार की कथा[1] अच्छी प्रकार वेद ब्राह्मण और निरुक्तादि सत्यग्रन्थों में प्रसिद्ध है, इसको ब्रह्मवैवर्त्त श्रीमद्भागवतादि मिथ्या ग्रन्थों में भ्रान्ति से बिगाड़ के लिख दिया है। तथा ऐसी-ऐसी अन्य कथा भी लिखी हैं। उन सबको विद्वान् लोग मन से त्यागके सत्यकथाओं को कभी न भूलें।

[२—इन्द्राहल्ययोः कथा[2]]

तथा च—'कश्चिद् देहधारीन्द्रो देवराज आसीत्। स गोतमस्त्रियां जारकर्म कृतवान्। तस्मै गोतमेन शापो दत्तस्त्वं सहस्रभगो भवेति। तस्यै अहल्यायै शापो दत्तस्त्वं पाषाणशिला भवेति। तस्या रामपादरजःस्पर्शेन शापस्य मोक्षणं जातमिति।'

तत्रेदृश्यो मिथ्यैव कथाः[3] सन्ति। कुतः? आसामप्यलङ्कारार्थत्वात्। तद्यथा—

इन्द्रागच्छेति। गौरावस्कन्दिन्नहल्यायै जारेति। तद्यान्येवास्य चरणानि तैरेवैनमेतत् प्रमुमोदयिषति ॥[१॥] शत० कां० ३। अ० ३। ब्रा० ४। कं० १८॥

रेतः सोमः ॥[२॥] श० कां ३। अ० ३। ब्रा० २। कं० १॥

रात्रिरादित्यस्यादित्योदयेऽन्तर्धीयते ॥[३॥] निरु० अ० १२। खं० ११॥

सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्व इत्यपि निगमो भवति। सोऽपि गौरुच्यते ॥ [४॥]
निरु० अ० २। खं० ६॥

जार आ भगम्[4] जार इव भगम्। आदित्योऽत्र जार उच्यते, रात्रेर्जरयिता ॥[५॥]
निरु० अ० ३। खं० १६॥

एष एवेन्द्रो य एष तपति ॥[६॥] श० कां० १। अ० ६। ब्रा० ४। कं० १८॥

---

१. यह कथा उक्त विज्ञापनपत्र में भी व्याख्यात है। द्र०—वही, पृष्ठ ३७।

२. इयं कथा पूर्वोक्ते विज्ञापनपत्रेऽपि निरूपिता। द्र०—पृष्ठ ३७, ३८। अस्मिन्नेव पत्रविज्ञापने ३५८ तमे पृष्ठे 'गोतम-अहल्याकथायाः' पृथक् पुस्तिकाया अप्युल्लेखो दृश्यते।

३. एकस्या अपि कथायाः पुराणोक्तं वैविध्यमाश्रित्य बहुवचनम्, अवान्तरकथाबहुत्वं वाऽऽश्रित्य बहुवचनम् ज्ञेयम्।

४. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'भगः' इत्यपपाठः। ऋग्वेदे (१०।११।६) निरुक्ते च द्वितीयान्तपाठ-दर्शनात्। पूर्वोक्ते विज्ञापनपत्रेऽपि 'जार आ भगम्' इति द्वितीयान्तपाठस्यैव निर्देशाच्च। यस्त्विह वै० य० मुद्रिते नवमसंस्करणे शोधयित्रा 'भगमिति निरुक्ते पाठ.। सं०' इत्येवं टिप्पणी प्रदत्ता, मूले च 'जार आ भगः [ऋ० १०।११।६]' इत्येवं ऋक्संख्या निर्दिष्टा, तेन भ्रान्तिर्जायते यन्निरुक्ते तु 'भगम्' इति पाठः, ऋग्वेदे तु 'भगः' इत्येवेति। यतो वेदेऽपि 'भगम्' इत्येव पाठः, तस्माद् भ्रान्तिजनकटिप्पणीनिर्देशोऽप्ययुक्तः।

भाष्यम्—इन्द्रः सूर्य्यो य एष तपति, भूमिस्थान् पदार्थांश्च प्रकाशयति । अस्येन्द्रेति[1] नाम परमैश्वर्य्यप्राप्तेर्हेतुत्वात् । स अहल्याया जारोऽस्ति । सा सोमस्य स्त्री तस्य गोतम इति नाम । गच्छतीति गौरतिशयेन गौरिति 'गोतम' श्चन्द्रः । तयोः स्त्रीपुरुषवत् सम्बन्धोऽस्ति । रात्रिरहल्या । कस्माद् ? अहर्दिनं लीयतेऽस्यां तस्माद्रात्रि'रहल्यो'च्यते । स चन्द्रमाः सर्वाणि भूतानि प्रमोदयति, स्वस्त्रियाऽहल्यया सुखयति ।

अत्र स सूर्य्य इन्द्रो रात्रेरहल्याया गोतमस्य चन्द्रस्य स्त्रिया जार उच्यते । कुतः ? अयं रात्रेर्जरयिता । 'जष् वयोहानौ'इति धात्वर्थोऽभिप्रेतोऽस्ति । रात्रेरायुषो विनाशक इन्द्रः सूर्य एवेति मन्तव्यम् ॥[१–६॥]

एवं सद्विद्योपदेशार्थालङ्कार[भूत]ायां भूषणरूपायां सच्छास्त्रेषु प्रणीतायां कथायां सत्यां या नवीनग्रन्थेषु पूर्वोक्ता मिथ्या कथा लिखितास्ति, सा केनचित् कदापि नैव मन्तव्या हि, एतादृश्यो-ऽन्याश्चापि ।

भावार्थ—अब जो दूसरी कथा इन्द्र और अहल्या की है,[2] कि जिसको मूढ़ लोगों ने अनेक प्रकार बिगाड़के लिखा है । सो उसको ऐसे मान रक्खा है कि—

'देवों का राजा इन्द्र देवलोक में देहधारी देव था । वह गोतम ऋषि की स्त्री अहल्या के साथ जारकर्म किया करता था । एक दिन जब उन दोनों को गोतम ने देख लिया, तब इस प्रकार शाप दिया कि—हे इन्द्र ! तू हजार भगवाला हो जा । तथा अहल्या को शाप दिया कि तू पाषाण-रूप हो जा । परन्तु जब उन्होंने गोतम से प्रार्थना की कि हमारे शाप का मोक्षण कैसे वा कब होगा, तब इन्द्र से तो कहा कि तुम्हारे हजार भग के स्थान में हजार नेत्र हो जायं, और अहल्या को वचन दिया कि जिस समय रामचन्द्र अवतार लेकर तेरे पर अपना चरण लगावेंगे, उस समय तू फिर अपने स्वरूप में आजावेगी ।'

इस प्रकार पुराणों में यह कथा बिगाड़कर लिखी है । सत्यग्रन्थों में ऐसा नहीं है । तद्यथा—

(इन्द्रागच्छेति०) अर्थात् उनमें इस रीति से है—सूर्य का नाम इन्द्र, रात्रि का अहल्या, तथा चन्द्रमा का गोतम है । यहां रात्रि और चन्द्रमा का स्त्री-पुरुष के समान रूपकालंकार है । चन्द्रमा अपनी स्त्री रात्रि से सब प्राणियों को आनन्द कराता है । और उस रात्रि का जार आदित्य है, अर्थात् जिसके उदय होने से रात्रि अन्तर्धान हो जाती है । और जार अर्थात् यह सूर्य ही रात्रि के वर्त्तमान रूप शृंगार को बिगाड़नेवाला है । इसलिये यह स्त्रीपुरुष का रूपकालंकार बांधा है, कि जैसे स्त्रीपुरुष मिलकर रहते हैं, वैसे ही चन्द्रमा और रात्रि भी साथ-साथ रहते हैं । चन्द्रमा का नाम 'गोतम' इसलिये है कि वह अत्यन्त वेग से चलता है । और रात्रि को 'अहल्या' इसलिये कहते है कि उसमें दिन लय हो जाता है । तथा सूर्य रात्रि को निवृत्त कर देता है, इसलिये वह उसका 'जार' कहाता है ।

---

१. 'इन्द्रेति' अविभक्त्यन्तनिर्देशः प्रातिपदिकनिर्देशार्थः ।

२. यह कथा भी पूर्वनिर्दिष्ट विज्ञापनपत्र (पृष्ठ ३७,३८) में व्याख्यात है । 'ऋ०द० के पत्र और विज्ञापन' पृष्ठ १५८ (द्वि० सं०) पर 'गोतम०' संकेत से 'गोतम अहल्या कथा' के पृथक् मुद्रण का भी संकेत मिलता है ।

इस उत्तम रूपकालंकारविद्या को अल्पबुद्धि पुरुषों ने बिगाड़के सब मनुष्यों में हानिकारक फल धर दिया है। इसलिये सब सज्जन लोग पुराणोक्त मिथ्या कथाओं को मूल से ही त्याग दें।

[३–इन्द्रवृत्रासुरकथा[1]]

'एवमेवेन्द्रः कश्चिद् देहधारी देवराज आसीत्। तस्य त्वष्टुरपत्येन वृत्रासुरेण सह युद्धमभूत्। वृत्रासुरेणेन्द्रो निगिलतोऽसो देवानां महद्भयमभूत्। ते विष्णुशरणं गताः, विष्णुरुपायं वर्णितवान्—मया प्रविष्टेन समुद्रफेनेनायं हतो भविष्यतीति।'

ईदृश्यः प्रमत्तगीतवत् प्रलपिताः कथाः पुराणाभासादिषु नवीनेषु ग्रन्थेषु मिथ्यैव सन्तीति भद्रैर्विद्वद्भिर्मन्तव्यम्। कुतः ? एतासामप्यलङ्कारवत्त्वात्। तद्यथा—

इन्द्र॑स्य॒ नु वी॒र्या॑णि॒ प्र वो॑चं॒ यानि॑ च॒कार॑ प्रथ॒मानि॑ व॒ज्री।
अह॒न्नहि॒मन्व॒पस्त॑तर्द॒ प्र व॒क्षणा॑ अभिन॒त् पर्व॑तानाम् ॥ १ ॥

अह॒न्नहि॒ं पर्व॑ते शिश्रिया॒णं त्वष्टा॑स्मै॒ वज्रं॑ स्व॒र्यं॑ ततक्ष।
वा॒श्राइ॑व धे॒नवः॒ स्यन्द॑माना॒ अञ्जः॑ समु॒द्रमव॑ जग्मु॒रापः॑ ॥ २ ॥

ऋ० मं० १। सू० ३२। मं० १,२॥

भाष्यम्—(इन्द्रस्य०) सूर्य्यस्य[2] परमेश्वरस्य वा तानि वीर्य्याणि पराक्रमानहं प्रवोचं कथयामि, यानि प्रथमानि पूर्वं, नु इति वितर्के, वज्री चकार। वज्री वज्रः प्रकाशः प्राणो वाऽस्यास्तीति। वीर्यं वै वज्रः॥ श० कां० ७। अ० ३॥[3] स अहिं मेघमहन् हतवान्, तं हत्वा पृथिव्यामनु पश्चादपस्ततर्द विस्तारितवान्। ताभिरद्भिः प्रवक्षणा नदीस्ततर्द जलप्रवाहेण हिंसितवान्, तटादीनां च भेदं कारितवानस्ति। कीदृश्यस्ता नद्यः ? पर्वतानां मेघानां सकाशादुत्पद्यमानाः, यज्जलमन्तरिक्षाद्धिंसित्वा निपात्यते तद् वृत्रस्य शरीरमेव विज्ञेयम्॥१॥

अग्रे मन्त्राणां संक्षेपतोऽर्थो वर्ण्यते—[(अह०)]—(त्वष्टा) सूर्य्यः (अहन्नहिं) तं मेघमहन् हतवान्। कथं हतवानित्यत्राह—(अस्मै) अहये वृत्रासुराय मेघाय (पर्वते शिश्रियाणम्) मेघे श्रितम् (स्वर्यम्) प्रकाशमयम् (वज्रम्) स्वकिरणजन्यं [वज्रं] विद्युत् प्रक्षिपति। येन[4] वृत्रासुरं

१. इयं कथा पूर्वोक्ते विज्ञापनपत्रेऽपि संक्षेपेण व्याख्याता। द्र०—पृष्ठ ३८,३९।

२. भगवत्पादैः सर्वत्र इन्द्रपदेन सूर्यस्य ग्रहणं क्रियते। निरुक्ते त्विन्द्रो मध्यमस्थाने भवा देवता स्वीक्रियते। वस्तुतो नैवात्र विरोधः शङ्कनीयः। यतो हि निरुक्तोक्ता इन्द्रदेवता सूर्यकिरणजन्या मध्यमस्थानीया विद्युद्रूपैव। तदुक्तं भगवता ग्रन्थकारेण—"यो वाय्विन्द्रौ सूर्यपवनावन्तरिक्षस्थानौ सूर्यश्च द्युस्थाने" (पृष्ठ ३२७, पं० १९) इति। अत्र प्रत्यक्षं सूर्योऽन्तरिक्षस्थानीयो द्युस्थानीयश्चोक्तः। तत्रान्तरिक्षस्थानीयः सूर्यः 'कार्ये कारणशब्दोपचारः' इति न्यायेन सूर्यरश्मिजन्या विद्युत् सूर्यशब्देनोक्ता। विद्युतः सूर्यजन्यत्वमिहैवोत्तरमन्त्रव्याख्याने—'(वज्रम्) स्वकिरणजन्यं विद्युत्' इत्यनेनोक्तम्। ३. शत० ७। ३। १। १९॥

४. 'तेन' इति युक्तः पाठः। तेन वज्रप्रक्षेपेणेत्यर्थः।

मेघं (ततक्ष) कणीकृत्य भूमौ पातयति। पुनर्भूमौ गतमपि जलं कणीकृत्याकाशं गमयति। ता आपः समुद्रं (अवजग्मुः) गच्छन्ति। कथम्भूता आपः? (अञ्जः) व्यक्ताः (स्यन्दमानाः) चलन्त्यः। का इव? (वाश्रा०) वत्समिच्छवो गाव इव। आप एव वृत्रासुरस्य शरीरम्। यदिदं वृत्रशरीराख्यजलस्य भूमौ निपातनं, तदिदं सूर्यस्य स्तोतुमर्हं कर्मास्ति ॥२॥

भाषार्थ—तीसरी इन्द्र और वृत्रासुर की कथा है[1]। इसको भी पुराणवालों ने ऐसा धरके लौटा है कि वह प्रमाण और युक्ति इन दोनों से विरुद्ध जा पड़ी है। देखो कि—

'त्वष्टा के पुत्र वृत्रासुर ने देवों के राजा इन्द्र को निगल लिया। तब सब देवता लोग बड़े भययुक्त होकर विष्णु के समीप में गये, और विष्णु ने उसके मारने का उपाय बतलाया कि मैं समुद्र के फेन में प्रविष्ट होऊंगा। तुम लोग उस फेन को उठाके वृत्रासुर के मारना, वह मर जायगा।'

यह पागलों की सी बनाई गई पुराणग्रन्थों की कथा सब मिथ्या है। श्रेष्ठ लोगों को उचित है कि इनको कभी न मानें। देखो, सत्यग्रन्थों में यह कथा इस प्रकार से लिखी है कि—

(इन्द्रस्य नु०) यहां सूर्य का इन्द्र नाम है। उसके किये हुए पराक्रमों को हम लोग कहते हैं, जो कि परमैश्वर्य होने का हेतु अर्थात् बड़ा तेजधारी है। वह अपनी किरणों से 'वृत्र' अर्थात् मेघ को मारता है। जब वह मरके पृथिवी में गिर पड़ता है, तब अपने जलरूप शरीर को सब पृथिवी में फैला देता है। फिर उससे अनेक बड़ी-बड़ी नदी परिपूर्ण होके समुद्र में जा मिलती हैं। कैसी वे नदी हैं कि 'पर्वत' अर्थात् मेघों से उत्पन्न होके जल ही बहने के लिये होती हैं। जिस समय इन्द्र मेघरूप वृत्रासुर को मारके आकाश से पृथिवी में गिरा देता है, तब वह पृथिवी में सो जाता है ॥ १ ॥

[(अह०)] फिर वही मेघ आकाश में से नीचे गिरके 'पर्वत' अर्थात् मेघमण्डल का पुनः आश्रय लेता है, जिसको सूर्य अपनी किरणों से फिर हनन करता है। जैसे कोई लकड़ी को छील-के सूक्ष्म कर देता है, वैसे ही वह मेघ को भी बिन्दु-बिन्दु करके पृथिवी में गिरा देता है। और उसके शरीररूप जल सिमट-सिमट कर नदियों के द्वारा समुद्र को ऐसे प्राप्त होते हैं, कि जैसे अपने बछड़ों को गाय दौड़के मिलती हैं ॥ २ ॥

अह॑न् वृ॒त्रं वृ॑त्र॒तरं॒ व्यं॑स॒मिन्द्रो॒ वज्रे॑ण मह॒ता व॒धेन॑ ।
स्कन्धां॑सीव॒ कुलि॑शेना॒ विवृ॑क्णाहिः॑ शयत उप॒पृक् पृ॑थि॒व्याः ॥ ३ ॥
अ॒पादह॒स्तो अ॑पृतन्य॒दिन्द्र॒ मास्य॒ वज्र॒मधि॒ सानौ॑ जघान ।
वृष्णो॒ वध्रिः॑ प्रति॒मानं॒ बुभू॑षन् पुरु॒त्रा वृ॒त्रो अ॑शय॒द्व्य॑स्तः ॥ ४ ॥
ऋ० मण्ड० १ । सू० ३२ । मं० [५,७] ॥[2]

१. पूर्वनिर्दिष्ट पत्रविज्ञापन के पृष्ठ ३८,३९ पर भी यह कथा संक्षेप से व्याख्यात है।
२. प्रथमसंस्करणे 'मं०' इति निर्दिश्य मन्त्रसंख्या न प्रदत्ता, यद्वा मुद्रणदोषान्नष्टा स्यात्।

[1]अहिरिति मेघनामसु पठितम् ।। निघण्टु अ० १ । खं० १० ।।

इन्द्रशत्रुरिन्द्रोऽस्य शमयिता वा शातयिता वा तस्मादिन्द्रशत्रुः । तत्को वृत्रो मेघ इति नैरुक्तास्त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः ।। वृत्रं जघ्निवानपववार तद् । वृत्रो वृणोतेर्वा, वर्त्ततेर्वा, वर्धतेर्वा । यदवृणोत्तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते । यदवर्त्तत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते । यदवर्धत तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते ।। निरु० अ० २ । खं० [१६], १७ ।।

भाष्यम्—(इन्द्रः) सूर्य्यः (वज्रेण) विद्युत्किरणाख्येन (महता व०) तीक्ष्णतरेण (वृत्रम्) मेघम् (वृत्रतरम्) अत्यन्तबलवन्तम् (व्यंसम्) छिन्नस्कन्धं छेदितघनजालं यथा स्यात् तथा (अहन्) हतवान् । स (अहिः) मेघः (कुलिशेन) वज्रेण (विवृक्णा०) छिन्नानि स्कन्धांसीव (पृथिव्या उपपृक्) यथा कस्यचिन्मनुष्यादेरसिना छिन्नं सवङ्गं पृथिव्यां पतति, तथैव स मेघोऽपि (अशयत) 'छन्दसि लुङ् लङ् लिटः'[2] इति सामान्यकाले लङ् ।।

[(अपाव०)] पृथिव्यां शयान इवेन्द्रेण सूर्य्येणापावहस्तो व्यस्तो भिन्नाङ्गकृतो वृत्रो मेघो भूमावशयत् शयनं करोतीति ।

निघण्टौ० अ० १ । खं० १०—वृत्र इति मेघस्य नाम । इन्द्रः शत्रुर्यस्य स इन्द्रशत्रुरिन्द्रोऽस्य निवारकः । त्वष्टा सूर्य्यस्तस्यापत्यमसुरो मेघः । कुतः ? सूर्य्यकिरणद्वारैव रसजलसमुदायभेदेन यत्कणीभूतं जलमुपरि गच्छति, तत्पुनर्मिलित्वा मेघरूपं भवति । तस्यैवासुर इति संज्ञात्वात् । पुनश्च तं सूर्य्यो हत्वा भूमौ निपातयति । स च भूमिं प्रविशति, नदीर्गच्छति, तद्द्वारा समुद्रमयनं कृत्वा तिष्ठति, पुनश्चोपरि गच्छति । तं वृत्रमिन्द्रः सूर्य्यो जघ्निवानपववार निवारितवान् ।

वृत्रार्थो वृणोतेः स्वीकरणीयः । मेघस्य यद् वृत्रत्वमावरकत्वं तद् वर्त्तमानत्वाद् वर्धमानत्वाच्च सिद्धमिति विज्ञेयम् ।।[३-४।।]

भाषार्थ—[(अह०)] जब सूर्य उस अत्यन्त गर्जित मेघ को छिन्न-भिन्न करके पृथिवी में ऐसे गिरा देता है कि जैसे कोई मनुष्य आदि के शरीर को काट-काट कर गिराता है । तब वह वृत्रासुर भी पृथिवी पर गिरा हुआ मृतक के समान शयन करनेवाला हो जाता है ।

'निघण्टु' में मेघ का नाम वृत्र है । 'इन्द्रशत्रु०'—वृत्र का शत्रु अर्थात् निवारक सूर्य है । सूर्य का नाम त्वष्टा है, उसका संतान मेघ है । क्योंकि सूर्य की किरणों के द्वारा जल कण-कण होकर ऊपर को जाकर वहां मिलके मेघरूप हो जाता है ।

तथा मेघ का वृत्र नाम इसलिये है कि वृत्रो वृणोतेः०—वह स्वीकार करने योग्य, और प्रकाश का आवरण करनेवाला है [।।३-४।।]

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु इतः पूर्वं 'भाष्यम्' इति पाठ उपलभ्यते । स इहास्थाने इति कृत्वा मन्त्रव्याख्यानात् पूर्वं यथास्थानं नीतः । २. अष्टा० ३ । ४ ।६ ।।

अति॑ष्ठन्तीनामनिवेश॒नानां॒ काष्ठा॑नां॒ मध्ये॒ निहि॑तं॒ शरी॑रम् ।

वृ॒त्रस्य॑ नि॒ण्यं वि च॑र॒न्त्यापो॑ दी॒र्घं तम॒ आश॑य॒दिन्द्र॑शत्रुः ॥ ५ ॥

नास्मै॑ वि॒द्युन्न त॑न्य॒तुः सि॑षेध॒ न यां मिह॒मकि॑रद्ध्रा॒दुनिं॑ च ।

इन्द्र॑श्च॒ यद्यु॑यु॒धाते॒ अहि॑श्चो॒ताप॒रीभ्यो॑ म॒घवा॒ वि जि॑ग्ये ॥ ६ ॥

ऋ० मं० १ । सू० ३२ । मं० १०, १३ ॥

इत्यादय एतद्विषया वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्ति ।

'वृत्रो ह वाऽ इद१ सर्वं वृत्वा शिश्ये । यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी, स यदिद१ सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद् वृत्रो नाम ॥ तमिन्द्रो जघान । स हतः पूतिः सर्वत एवाऽपोऽभिसुस्राव[2] । सर्वत इव ह्ययं१ समुद्रस्तस्मादु हैका आपो बीभत्साञ्चक्रिरे । ता उपर्युपर्यतिपुप्लुविरेऽत इमे दर्भास्ता हैता अनापूयिता आपोऽस्ति वाऽइतरासु स१सृष्टमिव, यदेना वृत्रः पूतिरभिप्रास्रवत्तदेवासामेताभ्यां पवित्राभ्यामपहन्त्यथ मेध्याभिरेवाद्भिः प्रोक्षति, तस्माद्वा एताभ्यामुत्पुनाति ॥ श० कां० १ । अ० १ । ब्रा० ३ । कण्डि० ४, ५ ॥

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः । अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थान इति ॥ निरु० अ० ७ । खं० ५ ॥

भाष्यम्—(अतिष्ठन्तीनाम्०) वृत्रस्य शरीरमापो दीर्घं तमश्चरन्ति । अतएवेन्द्रशत्रुर्वृत्रो मेघो भूमावशयत्, आ समन्ताच्छेते ।

(नास्मै विद्युत्०) वृत्रेण मायारूपप्रयुक्ता विद्युत् तन्यतुश्चास्मै सूर्यायेन्द्राय न सिषेध निषेद्धुं न शक्नोति । अहिर्मेघः, इन्द्रः सूर्यश्च द्वौ परस्परं युयुधाते । यदा वृत्रो वर्धते तदा सूर्यप्रकाशं निवारयति । यदा सूर्यस्य तापरूपसेना वर्धते, तदा वृत्रं मेघं निवारयति । परन्तु मघवा इन्द्रः सूर्यस्तं वृत्रं मेघं विजिग्ये जितवान् भवति । अन्ततोऽस्यैव विजयो भवति न मेघस्येति ।

'वृत्रो ह वा इति'०—स वृत्र इदं सर्वं विश्वं वृत्वाऽऽवृत्य शिश्ये शयनं करोति, तस्माद् वृत्रो नाम । तं वृत्रं मेघमिन्द्रः सूर्यो जघान हतवान् । स हतः सन् पृथिवीं प्राप्य सर्वतः काष्ठतृणादिभिः

१. वै०य० मुद्रितेषु संस्करणेषु इतः पूर्वं 'भाष्यम्' इति पाठ उपलभ्यते । सोऽस्थान इति कृत्वाऽस्माभिरग्रे मन्त्रव्याख्यानात् पूर्वं यथास्थानं स्थापितः ।

२. शतपथे तु 'एवापोऽभिप्रसुस्राव' इति पाठः । ग्रन्थकृतस्तु 'अभिसुस्राव' इत्येव पाठः, एतस्य व्याख्याने तथैव व्याख्यातत्वात् । यद्वाऽत्र व्याख्याने च 'प्र'पदं लेखकप्रमादान्नष्टं स्यात् । अग्रे ब्राह्मणपाठे 'पूतिरभिप्रास्रवत्' इत्यत्र प्रशब्दस्य दर्शनात् ।

संयुक्तः पूतिर्वा गन्धो भवति । पुराकाशस्थो भूत्वा सर्वतोऽपोऽभिसुस्राव, तासां वर्षणं करोति । अयं हतो वृत्रः समुद्रं प्राप्य तत्रापि भयङ्करो भवति । अत एव तत्रस्था आपो भयप्रदा भवन्ति । इत्थं पुनः पुनस्तास्ता नदीसमुद्रपृथिवीगता आपः सूर्य्यद्वारेणोपर्युपर्य्यन्तरिक्षं पुप्रुविरे गच्छन्ति, ततोऽभिवर्षन्ति च । ताभ्य एवेमे वर्षाद्यौषधिसमूहा जायन्ते ।

[1]यौ वाय्विन्द्रौ [2]सूर्य्यपवनावन्तरिक्षस्थानौ सूर्य्यश्च द्युस्थान अर्थात् प्रकाशस्थः ॥५-६॥

एवं सत्यशास्त्रेषु परमोत्तमायामलङ्कारयुक्तायां कथायां सत्यां ब्रह्मवैवर्तादिनवीनग्रन्थेषु पुराणाभासेष्वेता अन्यथा कथा उक्तास्ताः शिष्टैः कदाचिन्नैवाङ्गीकर्त्तव्या इति ।

भाषार्थ—(प्रतिष्ठन्तीनाम्०) वृत्र के इस जलरूप शरीर से बड़ी-बड़ी नदियां उत्पन्न होके अगाध समुद्र में जाकर मिलती हैं । और जितना जल तालाब वा कूप आदि में रह जाता है, वह मानो पृथिवी में शयन कर रहा है ॥

(नास्मै०) अर्थात् वह वृत्र अपने बिजली और गर्जनरूप भय से भी इन्द्र को कभी नहीं जीत सकता । इस प्रकार अलंकाररूप वर्णन से इन्द्र और वृत्र ये दोनों परस्पर युद्ध के समान [व्यवहार] करते हैं । अर्थात् जब मेघ बढ़ता है, तब तो वह सूर्य के प्रकाश को हटाता है, और जब सूर्य का ताप अर्थात् तेज बढ़ता है, तब वह वृत्र नाम मेघ को हटा देता है । परन्तु इस युद्ध के अन्त में इन्द्र नाम सूर्य ही का विजय होता है ॥

'**वृत्रो ह वा०**'—जब-जब मेघ वृद्धि को प्राप्त होकर पृथिवी और आकाश में विस्तृत होके फैलता है, तब-तब उसको सूर्य हनन करके पृथिवी में गिरा दिया करता है । पश्चात् वह अशुद्ध भूमि, सड़े हुए वनस्पति, काष्ठ, तृण तथा मलमूत्रादि युक्त होने से कहीं-कहीं दुर्गन्धरूप भी हो जाता है । फिर उसी मेघ का जल समुद्र में जाता है । तब समुद्र का जल देखने में भयंकर मालूम पड़ने लगता है । इसी प्रकार वारंवार मेघ वर्षता रहता है । 'उपर्युपर्य्यति०'—अर्थात् सब स्थानों से जल उड़-उड़ कर आकाश में[3] चढ़ता है । वहां इकट्ठा होकर फिर-फिर वर्षा किया करता है । उसी जल और पृथिवी के संयोग से ओषध्यादि अनेक पदार्थ उत्पन्न होते हैं । उसी मेघ को 'वृत्रासुर' के नाम से बोलते हैं ।

वायु और सूर्य्य का नाम 'इन्द्र' है । वायु अन्तरिक्ष में और सूर्य्य प्रकाशस्थान में स्थित हैं । इन्हीं वृत्रासुर और इन्द्र का आकाश में युद्ध हुआ करता है, कि जिसके अन्त में मेघ का पराजय और सूर्य का विजय निःसंदेह होता है ॥ ५-६ ॥

इस सत्यग्रन्थों की अलंकाररूप कथा को छोड़के छोकरों के समान अल्पबुद्धिवाले लोगों ने ब्रह्मवैवर्त्त और श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थों में मिथ्या कथा लिख रक्खी हैं, उनको श्रेष्ठ पुरुष कभी न मानें ।

---

१. पूर्वोद्धृतनिरुक्तस्य 'वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः' इति पाठस्य व्याख्यानमिदम् ।

२. सूर्यशब्देनात्र सूर्यरश्मिजन्या विद्युदुक्ता । सूर्यस्य द्युस्थानीयत्वस्यास्मिन्नेव वाक्ये उक्तत्वात् । विशेषोऽत्र ३२६ पृष्ठस्थायां २ टिप्पण्यां द्रष्टव्यः ।

३. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'बढ़ता' पाठ है ।

[४—देवासुरसंग्रामकथा]

एवमेव नवीनेषु ग्रन्थेषूक्ता अनेकविधा देवासुरसंग्रामकथा अन्यथैव सन्ति। ता अपि बुद्धिमद्भिर्मनुष्यैरितरैश्च नैव मन्तव्याः। कुतः? तासामप्यलङ्कारयोगात्। तद्यथा—

देवासुरा संयत्ता आसन् ॥१॥ श० कां० १३। अ० २। ब्रा० ४। कं० १॥

असुरानभिभवेम देवाः। असुरा असुरता स्थानेष्वस्ताः स्थानेभ्य इति वा, अपि वासुरिति प्राणनामास्तः शरीरे भवति तेन तद्वन्तः। सोर्देवानसृजत तत्सुराणां सुरत्वमसोरसुरानसृजत तदसुराणामसुरत्वमिति विज्ञायते॥ [२॥] निरु० अ० ३। खं० ८॥

देवानामसुरत्वमेकत्वं[1] प्रज्ञावत्त्वं वाऽनवत्त्वं वापि वासुरिति प्रज्ञानामास्यत्यनर्थानस्ताश्चास्यामर्था असुरत्वमादिलुप्तम्॥ [३॥] निरु० अ० १०। खं० ३४॥

सोऽर्चञ्छ्राम्यंश्चचार प्रजाकामः। स आत्मन्येव प्रजातिमधत्त। स आस्येनैव देवानसृजत। ते देवा दिवमभिपद्यासृज्यन्त, तद्देवानां देवत्वं यद्दिवमभिपद्यासृज्यन्त। तस्मै ससृजानाय दिवेवास, तदेव देवानां देवत्वं यदस्मै ससृजानाय दिवेवास। अथ योऽयमवाङ् प्राणस्तेनासुरानसृजत। त इमामेव पृथिवीमभिसंपद्यासृज्यन्त[2]। तस्मै ससृजानाय तम इवास॥ सोऽवेत्। पाप्मानं वा असृक्षि, यस्मै मे ससृजानाय तम इवाभूदिति। तांस्तत एव पाप्मनाविध्यत्, ते तत एव पराभवंस्तस्मादाहुर्नैतदस्ति[3] यद्दैवासुरम्। यदिदमन्वाख्याने त्वदुद्यत इतिहासे त्वत्, ततो ह्येव तान् प्रजापतिः पाप्मनाविध्यत्, ते तत एव पराभवन्निति॥ तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम्—'न त्वं युयुत्से कतमच्चनाहर्न तेऽमित्रो मघवन् कश्चनास्ति। मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं न नु पुरा युयुत्स' इति॥ स यदस्मै देवान्त्ससृजानाय दिवेवास तदहरकुरुताथ यदस्मा असुरान्त्ससृजानाय तम इवास ताँ रात्रिमकुरुत ते अहोरात्रे॥ स ऐक्षत प्रजापतिः॥ [४॥]

श० कां० ११। अ० १। ब्रा० ६। कं० ७-१२॥

देवाश्च वा असुराश्च। उभये प्राजापत्याः प्रजापतेः पितुर्दायमुपेयुः॥ [५॥]

श० कां० १। अ० ७। ब्रा० २। कं० २२॥

---

१. निरुक्ते ग्रन्थकृतोद्धृतः 'एकत्वं' पाठः क्वचिदुपलभ्यते, तथापि निरुक्तस्येह शुद्धः पाठः 'एकं' इत्येव [illegible]। २. शतपथे '०मभिपद्यासृज्यन्त' पाठ उपलभ्यते। पूर्ववाक्ये इहापि तथैव शुद्ध एव पाठ उपलभ्यते। सम्भाव्यते लिपिकरदोषान्मुद्रणदोषाद्वा पाठो भ्रष्ट इति।

३. वै० य० मुद्रिते शतपथे इह 'तस्मादाहुर्नैतदस्ति' इत्यपपाठः।

द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च । ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुराः ॥ यदेवेदमप्रतिरूपं वदति स एव स पाप्मा ॥ [६ ॥]

श० कां० १४ । अ० ४ । ब्रा० १ । कं० १, ३ ॥

ऊगिति देवा, मायेत्यसुराः ॥ [७॥] श० कां १० । अ० ५ । ब्रा० २ । कं० २० ॥

प्राणा देवाः ॥ [८ ॥] श० कां ६ । अ० ३ । ब्रा० १ । कं० १५ ॥

प्राणो वा असुस्तस्यैषा माया ॥[९॥] श० कां० ६ । अ० ६ । ब्रा० २ । कं० ६ ॥

भाष्यम्—(देवासुरा०) देवा असुराश्च संयत्ता सज्जा युद्धं कर्त्तुं तत्परा आसन् भवन्तीति शेषः । के ते देवासुरा इत्यत्रोच्यते—

विद्वाꣳसो हि देवाः ॥ श० कां० ३ । अ० ७ । ब्रा० ३ । कं० १० ॥

हीति निश्चयेन विद्वांसो देवास्तद्विपरीता अविद्वांसोऽसुराः । ये देवास्ते विद्यावत्त्वात् प्रकाशवन्तो भवन्ति । ये ह्यविद्वांसस्ते खल्वविद्यावत्त्वात् ज्ञानरहितान्धकारिणो भवन्ति । एषामुभयेषां परस्परं युद्धमिव वर्त्ततेऽयमेव दैवासुरसंग्रामः[1] ।

द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति । सत्यं चैवानृतं च । सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः । इदमहमनृतात् सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति ॥ स वै सत्यमेव वदेत् । एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम् । तस्मात्ते यशो यशो ह भवति य एवं विद्वान्त्सत्यं वदति ॥ मनो ह वै देवा मनुष्यस्य [जानन्ति] ॥ श० कां० १ । अ० १ । ब्रा० १ । कं० ४,५,७ ॥

ये सत्यवादिनः सत्यमानिनः सत्यकारिणश्च ते देवाः । ये चानृतवादिनोऽनृतकारिणोऽनृतमानिनश्च ते मनुष्या असुरा एव । तयोरपि परस्परं विरोधो युद्धमिव भवत्येव । मनुष्यस्य यन्मनस्तद्देवाः, प्राणा असुराः, एतयोरपि विरोधो भवति । मनसा विज्ञानबलेन प्राणानां निग्रहो भवति, प्राणबलेन मनसश्चेति युद्धमिव प्रवर्त्तते ॥ [१॥]

प्रकाशाख्यात् सोऽदेवान् मनःषष्ठानीन्द्रियाणीश्वरोऽसृजत, अतस्ते प्रकाशकारकाः । असोरन्धकाराख्यात् पृथिव्यादेरसुरान् पञ्चकर्मेन्द्रियाणि प्राणांश्चासृजत । एतयोरपि प्रकाशाप्रकाशसाधकतमत्वानुरोधेन संग्रामवदनयोर्वर्त्तमानमस्तीति विज्ञेयम् ॥ [२-३॥]

(सोऽर्चञ्छ्राम्यंश्चचार०) प्रजाकामः परमेश्वर आस्येनाग्निपरमाणुमयात् कारणात् सूर्यादीन् प्रकाशवतो लोकान् मुख्यगुणकर्मभ्यो यानसृजत, ते देवा द्योतमाना दिवं प्रकाशं परमेश्वरप्रेरितमभिपद्य, प्रकाशादिव्यवहारानसृज्यन्त । तदेव देवानां देवत्वं यतस्ते दिवि प्रकाशे रमन्ते ।

---

१. वै० य० मुद्रितेषु तृतीयसंस्करणं यावत् 'दैवासुरसंग्रामः' इत्येव पाठः (तुलना कार्या उत्तरत्रान्ते प्रयुक्तेन 'दैवासुरं युद्ध' पदेन) । देवाश्चासुराश्च योद्धारोऽस्य संग्रामस्येति दैवासुरः संग्रामः । ततः दैवासुरश्चासौ संग्रामश्चेति कर्मधारयसमासः । चतुर्थसंस्करणप्रभृति 'देवासुर-संग्रामः' पाठ उपलभ्यते । तत्र षष्ठीसमासो ज्ञेयः ।

अथेत्यनन्तरमर्वाचीनो योऽयं प्राणो वायुः पृथिव्यादिलोकश्चेश्वरेण सृष्टस्तेनैवासुरान् प्रकाशरहितानसृजत सृष्टवानस्ति । ते पृथिवीमभिपद्यौषध्यादीन् पदार्थानसृज्यन्त । ते सर्वे सकार्य्याः प्रकाशरहितास्तयोस्तमःप्रकाशवतोरन्योऽन्यं विरोधो युद्धमिव प्रवर्त्तते । तस्मादिदमपि दैवासुरं[1] युद्धमिति विज्ञेयम् । तथैव पुण्यात्मा मनुष्यो देवोऽस्ति, पापात्मा ह्यसुरश्च । एतयोरपि परस्परं विरुद्धस्वभावाद्युद्धमिव प्रतिदिनं भवति, तस्मादेषोऽपि "देवासुरसंग्रामो[2]ऽस्तीति विज्ञेयम् । एवमेव दिनं देवो रात्रिरसुरः । एतयोरपि परस्परं युद्धमिव प्रवर्त्तते ॥[४॥]

त इमे उभये पूर्वोक्ताः प्रजापतेः परमेश्वरस्य पुत्रा इव वर्त्तन्ते । अत एव ते परमेश्वरस्य पदार्थानुपेताः सन्ति । तेषां मध्येऽसुराः प्राणादयो ज्येष्ठाः सन्ति । वायोः पूर्वोत्पन्नत्वात् प्राणानां तन्मयत्वाच्च । तथैव जन्मतो मनुष्याः सर्वेऽविद्वांसो भवन्ति, पुनर्विद्वांसश्च । तथैव वायोः सकाशादग्नेरुत्पत्तिः प्रकृतेरिन्द्रियाणां[3] च, तस्मादसुरा ज्येष्ठा देवाश्च कनिष्ठाः । एकत्र देवाः सूर्य्यादयो ज्येष्ठाः पृथिव्यादयोऽसुराः कनिष्ठाश्च । त सर्वे प्रजापतेः सकाशादुत्पन्नत्वात् तस्यापत्यानीव सन्तीति विज्ञेयम् । एषामपि परस्परं युद्धमिव प्रवर्त्तत इति ज्ञातव्यम् ॥ [५-६॥]

ये प्राणपोषकाः स्वार्थसाधनतत्परा मायाविनः कपटिनो मनुष्यास्ते ह्यसुराः । ये च परोपकारकाः परदुःखभञ्जना निष्कपटिनो धार्मिका मनुष्यास्ते देवाश्च विज्ञेयाः । एतयोरपि परस्परं विरोधात् संग्राम इव भवति । इत्यादिप्रकारकं 'दैवासुरं युद्ध'[4] मिति बोध्यम् ॥ [७-९॥]

एवं परमोत्तमायां विद्याविज्ञापनार्थायां रूपकालङ्कारेणान्वितायां सत्यशास्त्रेषूक्तायां कथायां सत्यां ब्रह्मवैवर्तपुराणसंज्ञकेषु नवीनेषु तन्त्रादिषु ग्रन्थेषु च या मिथ्यैव कथा वर्णिताः सन्ति, विद्वद्भिर्नैवैताः[5]: कथा कदाचिदपि सत्या मन्तव्या इति ।

भाषार्थ—जो चौथी देवासुर संग्राम की कथा रूपकालंकार की है, इसको भी विना जानें प्रमादी लोगों ने बिगाड़ दिया है । जैसे—

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'देवासुर युद्धम्' अपपाठः । उत्तरत्रास्मिन्नेव पृष्ठे (पं० १५) 'दैवासुरं युद्धम्' इति साधुपाठ उपलभ्यते । २. देवासुराणां संग्रामः, षष्ठीसमासः ।

३. अत्र सांख्यमतानुसारं 'अहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं' (सांख्य १ । ६१) चोत्पद्यन्ते, पञ्चतन्मात्रेभ्यश्च पञ्च स्थूलभूतानि । एवं च कृत्वा असुराख्यानामिन्द्रियाणामग्नेः पूर्वोत्पन्नत्वात् ज्येष्ठत्वमुक्तम् । सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिरुच्यते । सा च प्रकृत्यात्मकैव । तत उत्पन्नौ महान् अहंकारश्च प्रकृतिविकृतिरूपौ । साम्यावस्थारूपायाः प्रकृतेरुत्पन्नत्वान्महतो विकृतित्वम्, अहंकारापेक्षया च प्रकृतित्वम् । एवमहंकारस्य महत उत्पन्नत्वात् विकृतित्वम्, तत उत्पन्नानां तन्मात्रेन्द्रियाणामपेक्षया प्रकृतित्वम् । एवं चात्र भगवता ग्रन्थकारेण प्रकृतिविकृत्युभयात्मकेऽहंकारे पक्षेषु पक्षैकदेशानिति नियमेन प्रकृतिशब्दस्य व्यवहारः कृतः । कर्मकाण्डेऽपि सर्वयज्ञानां दर्शपौर्णमासौ प्रकृतिशब्देन व्यवह्रियेते, तत्रैव कृत्स्नस्येतिकलापस्य साक्षाद् उक्तत्वात् । चातुर्मास्ये वैश्वदेवपर्वणि सामान्याङ्गानि 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' इति न्यायेन दर्शपौर्णमासाभ्यामतिदिश्यन्ते । अतो वैश्वदेवपर्व दर्शपौर्णमासयोर्विकृतिः । उत्तराणि च पर्वाणि वैश्वदेवपर्वणोऽङ्गानि गृह्णन्तीति कृत्वा वैश्वदेवपर्वणः प्रकृतित्वं विज्ञायते । एवं च कृत्वा वैश्वदेवपर्व प्रकृतिविकृत्युभयात्मकमिति याज्ञिकाः संगिरन्ते । एवमेव ज्योतिष्टोमादिष्वपि प्रकृतिविकृतिभावः स्वीक्रियते ।

४. द्र०—पृष्ठ ३३५ टि० १ । ५. 'नैव ताः' इति युक्ततरः पाठः, पूर्वत्र 'याः' पदश्रवणात् ।

'एक दैत्यों की सेना थी, जिनका शुक्राचार्य पुरोहित था, और वे दक्षिण देश में रहते थे। तथा दूसरी देवों की सेना थी, कि जिनका राजा इन्द्र, सेनापति अग्नि, और पुरोहित बृहस्पति था। उन देवों के विजय कराने के लिए आर्यावर्त्त के राजा भी जाया करते थे। असुर लोग तप करके ब्रह्मा विष्णु और महादेवादि से वर मांग लेते थे। और उनके मारने के लिये विष्णु अवतार धारण करके पृथिवी का भार उतारा करते थे।'

यह सब पुराणों की गप्पें व्यर्थ जानकर छोड़ देना। और सत्यग्रन्थों की कथा जो नीचे लिखते हैं, उनका ग्रहण करना सबको उचित है। तद्यथा—

(देवासुराः सं०) देव और असुर अपने-अपने बाने में सजकर सब दिन युद्ध किया करते हैं। तथा इन्द्र और वृत्रासुर की जो कथा ऊपर लिख आये, सो भी 'देवासुर-संग्राम' रूप जानो। क्योंकि सूर्य की किरण 'देव'संज्ञक, और मेघ के अवयव अर्थात् बादल 'असुर'संज्ञक हैं। उनका परस्पर युद्धवर्णन पूर्व कर दिया है।

निघण्टु आदि सत्यशास्त्रों में सूर्य देव, और मेघ असुर करके प्रसिद्ध है। इन सब वचनों का अभिप्राय यह है कि मनुष्य लोग देवासुर-संग्राम का स्वरूप यथावत् जान लेवें। जैसे—जो लोग विद्वान्, सत्यवादी, सत्यमानी और सत्यकर्म करनेवाले हैं वे तो 'देव', और जो अविद्वान्, झूठ बोलने, झूठ मानने और मिथ्याचार करनेवाले हैं, वे 'असुर' कहाते हैं। उनका परस्पर नित्य विरोध होना, यही उनके युद्ध के समान है। इसी प्रकार मनुष्य का मन और ज्ञानेन्द्रियां भी देव कहाते हैं। उनमें राजा मन और सेना इन्द्रिय हैं। तथा सब प्राणों का नाम असुर है। उनमें राजा प्राण और अपानादि सेना है। इनका भी परस्पर विरोधरूप युद्ध हुआ करता है। मन के विज्ञान बढ़ाने से प्राणों का जय, और प्राणों के बढ़ने से मन का विजय हो जाता है॥ [१॥]

(सोर्दे०) सु अर्थात् प्रकाश के परमाणुओं से मन और पांच ज्ञानेन्द्रियां, उनके परस्पर संयोग[1] तथा सूर्य आदि को ईश्वर रचता है। और (असो०) अन्धकाररूप परमाणुओं से पांच कर्मेन्द्रियां दश प्राण और पृथिवी आदि को रचता है, जो कि प्रकाशरहित होने से 'असुर' कहाते हैं। प्रकाश और अप्रकाश के विरुद्ध गुण होने से इनकी भी संग्राम संज्ञा मानी है॥ [२-३॥]

तथा पुण्यात्मा मनुष्य 'देव' और पापात्मा दुष्ट लोग 'असुर' कहाते हैं। उनका भी परस्पर विरोधरूप युद्ध नित्य होता रहता है। तथा दिन का नाम 'देव' और रात्रि का नाम 'असुर' है। इनका भी परस्पर विरोधरूप युद्ध हो रहा है।

तथा शुक्लपक्ष का नाम 'देव' और कृष्णपक्ष का नाम 'असुर' है। तथा उत्तरायण की 'देव' संज्ञा और दक्षिणायन की 'असुर' संज्ञा है। इन सभों का भी परस्पर विरोधरूप युद्ध हो रहा है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जहां-जहां ऐसे लक्षण घट सकें, वहां-वहां 'देवासुर-संग्राम' का रूपकालङ्कार जान लेना॥ [४॥]

---

१. यहां पाठ कुछ अस्पष्ट सा है।

ये सब देव और असुर प्राजापत्य अर्थात् ईश्वर के पुत्र के समान कहे जाते हैं। और संसार के सब पदार्थ इन्हीं के अधिकार में रहते हैं। इनमें से जो-जो असुर अर्थात् प्राण आदि हैं, वे ज्येष्ठ कहाते हैं। क्योंकि वे प्रथम उत्पन्न हुये हैं। तथा बाल्यावस्था में सब मनुष्य भी अविद्वान् होते होते हैं। तथा सूर्य्य ज्ञानेन्द्रिय और विद्वान् आदि पश्चात् प्रकाश होने से कनिष्ठ बोले जाते हैं॥ [५-६ ॥]

उनमें से जो-जो मनुष्य स्वार्थी और अपने प्राण को पुष्ट करनेवाले तथा कपट छल आदि दोषों से युक्त हैं, वे 'असुर'। और जो लोग परोपकारी परदुःखभञ्जन तथा धर्मात्मा हैं, वे 'देव' कहाते हैं॥ [७-९ ॥]

इस सत्यविद्या के प्रकाश करनेवाली कथा को प्रीतिपूर्वक ग्रहण करके सर्वत्र प्रचार करना और मिथ्या कथाओं का मन कर्म और वचन से त्याग कर देना सब को उचित है।

[५—कश्यपकथा]

एवमेव कश्यपगयादितीर्थकथा अपि ब्रह्मवैवर्त्तादिषु ग्रन्थेषु वेदादिसत्यशास्त्रेभ्यो विरुद्धा उक्ताः सन्ति। तद्यथा—

'मरीचिपुत्रः कश्यप ऋषिरासीत्, तस्मै त्रयोदशकन्या दक्षप्रजापतिना विवाहविधानेन दत्ताः। तत्सङ्गमे दितेर्दैत्याः, अदितेरादित्याः, दनोर्दानवाः, एवमेव कद्र्वाः सर्पाः, विनतायाः पक्षिणः, तथान्यासां सकाशाद्वानरर्क्षतृणवृक्षघासादय उत्पन्नाः।' इत्याद्या अन्धकारमय्यः प्रमाणयुक्तिविद्याविरुद्धा असम्भवग्रस्ताः कथा उक्तास्ता अपि मिथ्या एव सन्तीति विज्ञेयम्। तद्यथा—

स यत्कूर्मो नाम। प्रजापतिः प्रजा असृजत, यदसृजताकरोत् तद् यदकरोत् तस्मात् कूर्म्मः, कश्यपो वै कूर्म्मस्तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इति॥

श० कां० ७। अ० ५। ब्रा० १। कं० ५॥

भाष्यम्—(स यत्कूर्म्मः०) परमेश्वरेणेदं सकलं जगत् क्रियते, तस्मात् तस्य 'कूर्म्म' इति संज्ञा। 'कश्यपो वै कूर्म्म' इत्यनेन परमेश्वरस्यैव 'कश्यप' इति नामास्ति। तेनैवेमाः सर्वाः प्रजा उत्पादितास्तस्मात् सर्वा इमाः प्रजाः काश्यप्य इत्युच्यन्ते। 'कश्यपः कस्मात् पश्यको भवतीति'[1] निरुक्तया[2] पश्यतीति पश्यः, सर्वज्ञतया सकलं जगद् विजानाति स पश्यः, पश्य एव निर्भ्रमतयाऽतिसूक्ष्ममपि वस्तु यथार्थं जानात्येवातः पश्यक इति। आद्यन्ताक्षरविपर्ययाद् हिंसेः सिंहः, कृतेस्तर्कु रित्यादिवत्कश्यपः, इति 'हयवरट्'[3] इत्येतस्योपरि महाभाष्यप्रमाणेन एवं सिध्यति। अतः सुष्ठु विज्ञायते काश्यप्यः प्रजा इति।

---

१. द्र०—'कश्यपः पश्यको भवति यत्परिपश्यति सौक्ष्म्यात्'। तै० आ० १।८॥ २. अयमेव पाठो ग्रन्थकृता सत्यार्थप्रकाशे एकादशसमुल्लासेऽप्युद्धृतः। तत्र पाठान्ते 'निरु०' इति संकेतः क्रियते, स 'निरुक्ति' पदस्यैव ज्ञेयः। यतो हि निरुक्तं निरुक्ति निर्वचनं चेति पर्यायाः। ३. अष्टा० प्रत्याहारसूत्र ५।

भावार्थ—जो पांचवीं कश्यप और गया पुष्करतीर्थादि कथा लोगों ने बिगाड़के प्रसिद्ध की हैं। जैसे देखो कि—

'मरीचि के पुत्र एक कश्यप ऋषि हुए थे। उनको दक्ष प्रजापति ने विवाह-विधान से तेरह कन्या दीं, कि जिनसे सब संसार की उत्पत्ति हुई। अर्थात् दिति से दैत्य, अदिति से आदित्य, दनु से दानव, कद्रू से सर्प, और विनता से पक्षी, तथा औरों से वानर, ऋच्छ, घास आदि पदार्थ भी उत्पन्न हुए। इसी प्रकार चन्द्रमा को सत्ताईस कन्या दीं।' इत्यादि प्रमाण और युक्ति से विरुद्ध अनेक असम्भव कथा लिख रक्खी हैं। उनको मानना किसी मनुष्य को उचित नहीं। देखिये, ये ही कथा सत्यशास्त्रों में किस प्रकार की उत्तम लिखी हैं—

(स यत्कूर्मो०) प्रजा को उत्पन्न करने से 'कूर्म', तथा उसको अपने ज्ञान से देखने के कारण परमेश्वर को 'कश्यप' भी कहते हैं। 'कश्यप' यह शब्द 'पश्यक' इस शब्द के आद्यन्ताक्षरविपर्य्यय से बनता है।

इस प्रकार की उत्तम कथा को समझके उन मिथ्या कथाओं को सब लोग छोड़ देवें, कि जिससे सबका कल्याण हो। अब देखो गयादि तीर्थों की कथाओं को—

[६—गयादितीर्थकथा]

प्राणो वै बलं, तत्प्राणे प्रतिष्ठितं, तस्मादाहुर्बलꣳ सत्यादोजीयः। इत्येवम्वेषा गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठिता॥ सा हैषा गयांस्तत्रे। प्राणा वै गयास्तत्प्राणांस्तत्रे, तद्यद्गयांस्तत्रे तस्माद् गायत्रीनाम ॥ श० कां० १४। अ० ८। ब्रा० १५। कं० ६,७॥[1]

'गय इत्यपत्यनामसु पठितम्॥ निघं० अ० २। खं० २॥

तीर्थमेव प्रायणीयोऽतिरात्रस्तीर्थेन हि प्रस्नान्ति। तीर्थमेवोदयनीयोऽतिरात्रस्तीर्थेन ह्युत्स्नान्ति ॥ श० कां० १२। अ० २। ब्रा० १। कं० १,५॥

अहिꣳसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः ॥ इति छान्दोग्योपनिषदि[3]।

समानतीर्थे वासी ॥ इत्यष्टाध्याय्याम्, अ० ४। पा० ४। सू० १०७॥ सतीर्थ्यो ब्रह्मचारीत्युदाहरणम्।

---

१ वै० य० मुद्रितेषु १-५ संस्करणेषु ब्राह्मणसंख्या १ निर्दिश्यते, ६-८ पर्यन्तं ५ संख्या च। अत्र १५ संख्या युक्ता।

२. वै० य० मुद्रितेषु १-७ संस्करणेषु उद्धरणमिदं 'तीर्थमेव०' इत्युद्धरणात् परं पठ्यते, स चास्थाने पाठः। अष्टमनवमसंस्करणयोर्यथास्थानमत्रैव निवेश उपलभ्यते।

३. मूलपाठे 'छान्दोग्योपनि०' पाठः। छा० उ० ८।१५॥

त्रयः स्नातका भवन्ति । विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातकश्चेति । यो विद्यां समाप्य व्रतमसमाप्य समावर्त्तते [स विद्यास्नातकः । यो व्रतं समाप्य विद्यामसमाप्य समावर्तते] स व्रतस्नातकः ॥ इत्यादि पारस्करगृह्यसूत्रे[1] ।

नमस्तीर्थ्याय च ॥ ये तीर्थानि प्रचरन्ति सृकाहस्ता निषङ्गिणः ॥ इति [2]शुक्लयजुर्वेदसंहितायाम् अ० १६[3] ॥

भाष्यम्—एवमेव गयायां श्राद्धं कर्त्तव्यमित्यत्रोच्यते । तद्यथा—[(प्राणो०)] प्राण एव बलमिति विज्ञायते, बलमोजीयः । तत्रैव सत्यं प्राणेऽध्यात्मं प्रतिष्ठितम् । तत्र च परमेश्वरः प्रतिष्ठितस्तद्वाचकत्वात् । गायत्र्यपि ब्रह्मविद्यायामध्यात्मं प्रतिष्ठिता, तां गायत्रीं 'गयाम्'[4] आह । प्राणानां गयेति[5] संज्ञा, 'प्राणा वै गयाः' इत्युक्तत्वात् । तत्र गयायां श्राद्धं कर्त्तव्यम्, अर्थात् गयाख्येषु प्राणेषु श्रद्धया समाधिविधानेन परमेश्वरप्राप्तावत्यन्तश्रद्दधाना जीवा अनुतिष्ठेयुरित्येकं[6] गयाश्राद्धविधानम् । गयान् प्राणान् त्रायते सा 'गायत्री' इत्यभिधीयते ।

एवं गृहस्यापत्यस्य प्रजायाश्च गयेति नामास्ति[7] । अत्रापि सर्वैर्मनुष्यैः श्रद्धातव्यम् । गृहकृत्येषु श्रद्धावश्यं विधेया । मातुः पितुराचार्य्यस्यातिथेश्चान्येषां मान्यानां च श्रद्धया सेवाकरणं गयाश्राद्धमित्युच्यते । तथैव स्वस्यापत्येषु प्रजायां चोत्तमशिक्षाकरणं ह्युपकारे च श्रद्धावश्यं सर्वैः कार्य्येति । अत्र श्रद्धाकरणेन विद्याप्राप्त्या मोक्षाख्यं विष्णुपदं लभ्यत इति निश्चीयते ।

अत्रैव भ्रान्त्या विष्णुगयेति च पदद्वयोरर्थविज्ञानाभावान्मगधदेशैकदेशे पाषाणस्योपरि शिल्पिद्वारा मनुष्यपादचिह्नं कारयित्वा, तस्यैव कैश्चित् स्वार्थसाधनतत्परैरुदरम्भरैर्विष्णुपदमिति नाम रक्षितं, तस्य स्थलस्य गयेति च । तद् व्यर्थमेव । कुतः? विष्णुपदं मोक्षस्य नामास्ति, [गयपदं][8] प्राणगृहप्रजानां च । अतोऽत्रेयं तेषां भ्रान्तिजर्तितेति बोध्यम् । अत्र प्रमाणम्—

---

१. द्र०—पा०गृ० २।५।३२,३३,३४॥ अत्रोद्धरणे '०स्नातकश्चेति' पठ्यमानश्चकारो मूलग्रन्थे नोपलभ्यते । 'यो विद्यां' इत्यारभ्य 'व्रतस्नातकः' इत्यन्तः पाठोऽर्थतोऽनुवादरूपो द्रष्टव्यः । अत्रैव च [ ] कोष्ठे प्रवधितः पाठो लिपिकरदोषात् मुद्रणदोषाद्वा नष्टः प्रतीयते, वाक्यार्थस्यानुपपद्यमानत्वात् संस्कृतव्याख्याने दर्शनाच्च ।

२. द्रष्टव्यः पूर्वत्र पृष्ठ १७८, टि० १ ॥ ३. मन्त्र ४२, ६१ ॥

४. अत्र कश्चित् पाठभ्रंशः समजनीति प्रतीयते । नहि गयाया गायत्री नाम, अपि तु 'गयांस्तत्रे' इत्युक्तं शतपथोद्धरणे । तस्मादत्र 'सा गायत्री प्राणांस्तत्र इत्याह' पाठेन भाव्यम् ।

५. 'गयेति' अविभक्त्यन्तनिर्देशो द्रष्टव्यः । ६. अत्र 'इत्येवं' पाठो युक्तः स्यात् ।

७. 'गय.' गृहनामसु, निघण्टु ३ । ४; अपत्यनामसु, निघण्टु २।२॥

८. एतत्सन्दर्भारम्भे 'विष्णुगयेति च' वाक्ये द्वयोः पदयोरर्थविज्ञानाभाव उक्तः, तस्मादिहापि द्वयोः पदयोरर्थनिर्देश आवश्यकः । अपि च 'प्राणगृहप्रजा' इत्येतेऽर्था गयपदस्यैव न तु विष्णुपदस्य, पूर्वत्र प्राणादयोऽर्था गयपदस्यैव निर्दिष्टाः । तस्मादिह 'गयपदं' इत्यंशो लेखकप्रमादात् मुद्रणप्रमादाद्वा नष्ट इति ज्ञेयः ।

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । समूढमस्य पांसुरे स्वाहा ॥

यजु० अ० ५ । मं० १५ ॥

यदिदं किञ्च तद्विक्रमते विष्णुस्त्रिधा निधत्ते पदम् । त्रेधा भावाय, पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः । समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसीत्यौर्णवाभः । समूढमस्य पांसुरेप्यायनेऽन्तरिक्षे पदं न दृश्यतेऽपि वोपमार्थे स्यात् समूढमस्य पांसुल इव पदं न दृश्यत इति । पांसवः पादैः सूयन्त इति वा, पन्नाः शेरत इति वा, पंसनीया भवन्तीति वा ॥

निरु० अ० १२ । खं० १९ ॥

अस्यार्थं यथावदविदित्वा भ्रमेणेयं कथा प्रचारिता । तद्यथा—विष्णुर्व्यापकः परमेश्वरः सर्वजगत्कर्त्ता तस्य विष्णुरिति[1] नाम । अत्राह निरुक्तकारः—

पूषेत्यथ यद्विषितो भवति तद्विष्णुर्भवति । विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा । तस्यैषा भवति—इदं विष्णुरित्यृक् ॥ निरु० अ० १२ । खं० १७ ॥[2]

वेवेष्टि विशितः प्रविष्टोऽस्ति चराचरं जगत् व्यश्नुते व्याप्नोति वा, स विष्णुर्निराकारत्वात् सर्वगत ईश्वरोऽस्ति । एतदर्थवाचिकेयमृक्—

इदं सकलं जगत् त्रेधा त्रिप्रकारकं विचक्रमे विक्रान्तवान् । 'क्रमु पादविक्षेपे'[3] पादैः प्रकृतिपरमाण्वादिभिः स्वसामर्थ्यांशैर्जगदिदं पदं प्राप्तव्यं सर्वं वस्तुजातं त्रिषु स्थानेषु निधत्ते निदधे स्थापितवान् । अर्थात् यावद् गुरुत्वादियुक्तं प्रकाशरहितं तत्सर्वं जगत् पृथिव्याम् । यल्लघुत्वादियुक्तं वायुपरमाण्वादिकं तत्सर्वमन्तरिक्षे । यच्च प्रकाशमयं सूर्यज्ञानेन्द्रियजीवादिकं च तत्सर्वं दिवि द्योतनात्मके प्रकाशमयेऽग्नौ[4] वेति विज्ञेयम् । एवं त्रिविधं जगदीश्वरेण रचितम् । एषां मध्ये यत्समूढं मोहेन सह वर्तमानं ज्ञानवर्जितं जडं तत् पांसुरेऽन्तरिक्षे परमाणुमयं रचितवान् । सर्वे लोका अन्तरिक्षस्थाः सन्तीति बोध्यम् । तदिदमस्य परमेश्वरस्य धन्यवादार्हं स्तोतव्यं कर्मास्तीति बोध्यम् ।

अयमेवार्थः (यदिदं किञ्च०)—इत्यनेन यास्काचार्येण वर्णितः । यदिदं किञ्चिज्जगद् वर्त्तते, तत् सर्वं विष्णुर्व्यापक ईश्वरो विक्रमते रचितवान् । (त्रिधा निधत्ते पदं०) त्रेधा भावाय, त्रिप्रकारकस्य जगतो भवनाय, तदुक्तं पूर्वमेव । तस्मिन् विष्णुपदे मोक्षाख्ये समारोहणे समारोढुमर्हे गयशिरसीति प्राणानां प्रजानां च यदुत्तमाङ्गं प्रकृत्यात्मकं शिरो यथा भवति, तथैवेश्वरस्यापि सामर्थ्यं गयशिरः प्रजाप्राणयोरुपरिभागे वर्त्तते । यदीश्वरस्यानन्तं सामर्थ्यं वर्त्तते, तस्मिन् गयशिरसि

१. अत्र वै०य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'पूषेति' अपपाठः, तस्य प्रसङ्गाभावात्, अनुपदमुद्ध्रियमाणे निरुक्तवचने 'पूषा' पदस्य पूर्वान्वयीत्वात्, निरुक्तोद्धरणव्याख्याने भावार्थे च तथैव दर्शनाच्च । २. निरुक्तेऽयं पाठः १८ अष्टादशे खण्डे वर्तते । ३. क्षीरतरङ्गिणी १।३१६॥ ४. अग्निपदेनेह भौतिके जगति त्रिस्थानस्त्रिनामाऽग्निर्निर्दिश्यते, ज्ञानेन्द्रियजीवादिरूपेऽध्यात्मे अग्निपदेन जीवात्मा उच्यते ।

विष्णुपदे हीश्वरसामर्थ्ये [सर्वं जगद्] प्रस्तीति । कुतः ? व्याप्यस्य सर्वस्य जगतो व्यापके परमेश्वरे वर्त्तमानत्वात् । पांसुरे प्यायनेऽन्तरिक्षे पदं पदनीयं परमाण्वाख्यं यज्जगत् तच्चक्षुषा न दृश्यते । ये च पांसवः परमाणुसंघाताः पादैस्तद्द्रव्यांशैः सूयन्त उत्पद्यन्ते । अत एवमुत्पन्नाः सर्वे पदार्था वृध्या मूर्त्तेश्वरे शेरत इति विज्ञायते । इममर्थमविज्ञाय मिथ्याकथाव्यवहारः पण्डिताभासैः प्रचारित इति बोद्धव्यम् ॥

तथैव वेदाद्युक्तरीत्याऽऽर्यैश्चानुष्ठितानि तीर्थान्यन्यान्येव सन्ति । यानि सर्वदुःखेभ्यः पृथक् कृत्वा जीवेभ्यः सर्वसुखानि प्रापयन्ति, तानि 'तीर्थानि' मतानि । यानि च भ्रान्तै रचितपुस्तकेषु जलस्थलमयानि तीर्थसंज्ञान्युक्तानि, तानि वेदार्थाभिप्रेतानि नैव सन्तीति मन्तव्यम् । तद्यथा—

(तीर्थमेव प्राय०) तत् प्रायणीयं[1] यज्ञस्याङ्गमतिरात्राख्यं व्रतं समाप्य स्नानं क्रियते । तदेव तीर्थमिति वेद्यं, येन तीर्थेन मनुष्याः प्रस्नाय शुद्धा भवन्ति । तथैव यदुदयनीयाख्यं यज्ञसम्बन्धि-सर्वोपकारकं कर्म समाप्य स्नान्ति, तदेव दुःखसमुद्रात् तारकत्वात् तीर्थमिति मन्तव्यम् ॥

एवमेव (अहिंसन्०) मनुष्यः सर्वाणि भूतान्यहिंसन्, सर्वैर्भूतैर्वैरमकुर्वाणः सन् वर्त्तेत । परन्तु तीर्थेभ्यो वेदादिसत्यशास्त्रविहितेभ्योऽन्यत्राहिंसा धर्मो मन्तव्यः । तद्यथा—यत्र यत्रापराधिनामुपरि हिंसनं विहितं तत्तु कर्त्तव्यमेव । ये पाषण्डिनो[2] वेदसत्यधर्मानुष्ठानशत्रवश्चोरादयश्च ते तु यथापराधं हिंसनीया एव । अत्र वेदादिसत्यशास्त्राणां तीर्थसंज्ञास्ति । तेषामध्ययनाध्यापनेन तदुक्तधर्म्मकर्म्मविज्ञानानुष्ठानेन च दुःखसमुद्रात् तरन्त्येव । तेषु सम्यक् स्नात्वा मनुष्याः शुद्धा भवन्त्यतः ॥

तथैव (समानतीर्थे वासी) इत्यनेन समानो द्वयोर्विद्यार्थिनोरेक आचार्य्यः, समानमेकशास्त्राध्ययनं च । अत्राचार्य्यशास्त्रयोस्तीर्थसंज्ञास्ति । मातापित्रतिथीनां सम्यक् सेवनेन सुशिक्षया विद्याप्राप्त्या दुःखसमुद्रान्मनुष्यास्तरन्त्येवातस्तानि तीर्थानि दुःखात् तारकत्वादेव मन्तव्यानि । एतेष्वपि स्नात्वा मनुष्यैः शुद्धिः सम्पादनीयेति ॥

(त्रयः स्ना०) त्रय एव तीर्थेषु कृतस्नानाः शुद्धा भवन्ति । तद्यथा—यः सुनियमेन पूर्णां विद्यां पठति, स ब्रह्मचर्य्याश्रममसमाप्यापि विद्यातीर्थे स्नाति, स[3] शुद्धो भवति । यस्तु खलु द्वितीयः दशपूर्वावधि ब्रह्मचर्यं सुनियमाचरणेन समाप्य, विद्यामसमाप्य समावर्त्तते स व्रतस्नातको भवति । यश्च सुनियमेन ब्रह्मचर्य्याश्रमं समाप्य वेदशास्त्रादिविद्यां च समावर्तते, सो[4]ऽप्यस्मिन्नुत्तमतीर्थे सम्यक् स्नात्वा यथावच्छुद्धात्मा शुद्धान्तःकरणः सत्यधर्माचारी परमविद्वान् सर्वोपकारको भवतीति विज्ञातव्यम् ॥

(नमस्तीर्थ्याय च) तेषु प्राणवेदविज्ञानतीर्थेषु पूर्वोक्तेषु भवः सः तीर्थ्यः, तस्मै तीर्थ्याय परमेश्वराय नमोऽस्तु । ये विद्वांसस्तीर्थानि वेदाध्ययनसत्यभाषणादीनि पूर्वोक्तानि प्रचरन्ति

१. 'तत् प्रायणीयं यज्ञस्याङ्गम्' इत्यपपाठो वै०य०मुद्रितेषु संस्करणेषु । द्रष्टव्यमुत्तरवाक्ये 'यदुदयनीयाख्य यज्ञ०' इति पाठः । २. वै०य०मुद्रितेषु संस्करणेषु 'पाखण्डिनो' इत्यपपाठो लेखकस्य षकारस्य खकारोच्चारणनिमित्तः । ३. स विद्यास्नातक इत्यर्थः । ४. 'सोऽपि' पदेनेह विद्याव्रतस्नातकोऽभिप्रेतः ।

व्यवहरन्ति, ये च पूर्वोक्तब्रह्मचर्य्यसेविनो रुद्रा महाबलाः, (सृकाहस्ताः) विद्याविज्ञाने हस्तौ येषां[1] ते (निषङ्गिणः) निषङ्गः संशयच्छेदक उपदेशाख्यः खड्गो येषां ते सत्योपदेष्टारः। 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामीति[2]' ब्राह्मणवाक्यात्[3], उपनिषत्सु भवं प्रतिपाद्यं विज्ञापनीयं परमेश्वरमाहुः। अत एवोक्तस्तीर्थ्य इति। सर्वेषां तारकाणां तीर्थनामात्मकत्वात्, परमतीर्थाख्यो धर्मात्मनां स्वभक्तानां सद्यस्तारकत्वात् परमेश्वर एवास्ति। एतेनैतानि तीर्थानि व्याख्यातानि॥

प्रश्न—यैस्तरन्ति नरास्तानि जलस्थलादीनि तीर्थानि कुतो न भवन्ति?

अत्रोच्यते—नैव जलं स्थलं च तारकं कदाचिद् भवितुमर्हति, तत्र सामर्थ्याभावात् करणकारकव्युत्पत्त्यभावाच्च। जलस्थलादीनि नौकादिभिर्यानैः पद्भ्यां बाहुभ्यां च जनास्तरन्ति। तानि च कर्मकारकान्वितानि भवन्ति, करणकारकान्वितानि तु नौकादीनि। यदि पद्भ्यां गमनं बाहुबलं [च] न कुर्य्यान्न च नौकादिषु तिष्ठेत्, तर्ह्यवश्यं तत्र मनुष्यो मज्जेन्महद् दुःखं च प्राप्नुयात्। तस्माद् वेदानुयायिनामार्य्याणां मते काशीप्रयागपुष्करगङ्गायमुनादि[नगर]नदीनां सागराणां च नैव तीर्थसंज्ञा सिध्यति। किन्तु वेदविज्ञानरहितैरुदरम्भरैः सम्प्रदायस्थैर्जीविकाधीनैर्वेदमार्गविरोधिभिरल्पज्ञैर्जीविकार्थं स्वकीयरचितग्रन्थेषु तीर्थसंज्ञया प्रसिद्धीकृतानि सन्तीति।

ननु—'इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वती'ति[4] गङ्गादिनदीनां वेदेषु प्रतिपादनं कृतमस्ति, त्वया कथं न मन्यते?

अत्रोच्यते—मन्यते तु मया तासां नदीसंज्ञेति। ता गङ्गादयो नद्यः सन्ति। ताभ्यो यथायोग्यं जलशुद्ध्यादिगुणैर्यावानुपकारो भवति, तावत् तासां मान्यं करोमि, न च पापनाशकत्वं दुःखात् तारकत्वं च। कुतः? जलस्थलादीनां तत्सामर्थ्याभावात्। इदं सामर्थ्यं तु पूर्वोक्तेष्वेव तीर्थेषु गम्यते, नान्यत्रेति।

अन्यच्च, इडापिङ्गलासुषुम्णाकूर्मनाड्यादीनां गङ्गादिसंज्ञास्तीति[5]। तासां योगसमाधौ[6]

---

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'तेषां' ते इत्यपपाठः। २. बृह० उ० ३।६।२६॥

३. बृहदारण्याख्यमुपनिषच्छतपथब्राह्मणस्य चतुर्दशकाण्डे पठ्यते, इत्यतस्तस्या ब्राह्मणत्वम्। आरण्यकानि पृथग्रूपेण पठ्यमानान्यपि ब्राह्मणान्तर्गतान्येव। ४. ऋ० १०।७५।५॥

५. नदीसूक्ते पठितैर्गङ्गादिपदैरिडापिङ्गलादिनाडीनां ग्रहणं नोपपद्यत इति चेन्न। नहीह नदीपदं भूमिस्थजलधारावाचकमेव, एवमेव पठितानि गङ्गादीनि पदान्यपि न लोके प्रसिद्धानां गङ्गादिनदीनां ग्राहकाणि। कुत इति चेत्? वैदिकपदानां यौगिकत्वात्। अपि च, पदार्थनिश्चय उपक्रमोऽप्यन्यतमं साधनमिति मीमांसकाः संगिरन्ते (द्र०—मीमांसा ३।३।२)। तदनुसारमिहार्थनिश्चयाय सूक्तस्योपक्रमे (प्रथममन्त्रे) 'प्र सप्तसप्त त्रेधा हि चक्रमुः' इति पाठो महत्साहाय्यं विदधाति। एतेन विस्पष्टं ज्ञाप्यते यदस्मिन् सूक्ते यासां गङ्गादीनां नदीनां वर्णनं विद्यते न ता भूमिस्था जलधारा एव, अपि त्विमाः सूक्तोक्ता गङ्गाद्या नद्यो दिवि अन्तरिक्षे पृथिव्यां च त्रिष्वपि स्थानेषु वर्तन्त इति। ताश्च दिवि सप्तविधाः किरणाः, अन्तरिक्षे परिवहभेदेन वर्तमानाः सप्तविधा मेघाः, पृथिव्यां च सप्तविधजलवत्यो जलधारा गृह्यन्ते। एवमेव 'यद् ब्रह्माण्डे तत्पिण्डे' इति न्यायेन सप्तविधा एव गङ्गाद्या नद्योऽध्यात्मे=शरीरे सप्तविधनाडीरूपा गृह्यन्ते। अतएवेह ग्रन्थकारोऽध्यात्मपक्षमाश्रित्य गङ्गादिपदैरिडादीनां नाडीनां ग्रहणं करोति।

६. अत्र कश्चित् पाठभ्रंशोऽजनीति ज्ञायते। अस्मन्मते तु तासां मध्ये योगसमाधिना परमेश्वरस्य

परमेश्वरस्य ग्रहणात्। तस्य ध्यानं दुःखनाशकं मुक्तिप्रदं च भवत्येव। तासामिडादीनां धारणासिध्यर्थं चित्तस्य स्थिरीकरणार्थं स्वीकरणमस्तीति तत्र ग्रहणात्। एतन्मन्त्रप्रकरणे परमेश्वरस्यानुवर्त्तनात्[1]।

एवमेव—'सितासिते [सरिते] यत्र सङ्गथे तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति०'[2] एतेन परिशिष्टवचनेन केचिद् गङ्गायमुनयोर्ग्रहणं कुर्वन्ति। 'सङ्गथे' इति पदेन गङ्गायमुनयोः संयोगस्य प्रयागतीर्थमिति संज्ञां कुर्वन्ति। तत्र सङ्गच्छते—कुतः? नैव तत्राप्लुत्य स्नानं कृत्वा दिवं द्योतनात्मकं परमेश्वरं सूर्य्यलोकं वोत्पतन्ति गच्छन्ति, किन्तु पुनः स्वकीयं स्वकीयं गृहमागच्छन्त्यतः। अत्रापि[3] 'सित'शब्देनेडायाः, 'असित'शब्देन पिङ्गलायाश्च ग्रहणम्। यत्र तु खल्वेतयोर्नाड्योः सुषुम्णायां समागमो मेलनं भवति, तत्र कृतस्नानाः परमयोगिनो दिवं परमेश्वरं प्रकाशमयं मोक्षाख्यं सत्यविज्ञानं चोत्पतन्ति सम्यग्गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति। अतोऽनयोरेवात्र ग्रहणं, न च तयोः[4]। अत्र प्रमाणम्—सितमिति वर्णनाम[5], तत्प्रतिषेधोऽसितम्॥ निरु० अ० ९। खं० २६॥ सितं शुक्लवर्णमसितं तस्य निषेधः। तयोः प्रकाशान्धकारयोः सूर्य्यादिपृथिव्यादिपदार्थयोर्यत्रेश्वरसामर्थ्ये समागमोऽस्ति, तत्र कृतस्नानास्तद्विज्ञानवन्तो दिवं पूर्वोक्तं गच्छन्त्येव।

भावार्थ—छठी यह कथा है कि जो गया को तीर्थ बना रक्खा है। "लोगों ने मगध देश में एक स्थान है, वहां फल्गु नदी के तीर पाषाण पर मनुष्य के पग का चिह्न बनाके उसका 'विष्णुपद' नाम रख दिया है। और यह बात प्रसिद्ध कर दी है कि यहां श्राद्ध करने से पितरों की मुक्ति हो जाती है।" जो लोग आंख के अंधे गांठ के पूरे उनके जाल में जा फसते हैं, उनकी गयावाले उल्टे उस्तरे से खूब हजामत बनाते हैं। इत्यादि प्रमाद से उनके धन का नाश कराते हैं। वह परधनहरण पेटपालक ठगलीला केवल झूंठ की ही गठरी है। जैसा कि सत्यशास्त्रों में लिखी हुई आगे की कथा देखने से सबको प्रगट हो जावेगा—

(प्राणो वै बलं०) इन वचनों का अभिप्राय यह है कि अत्यन्त श्रद्धा से गया-संज्ञक प्राण

ग्रहणात्' इति पाठो युक्तो ज्ञेयः। भाषार्थोऽपीममेव पाठं संकेतयति।

१. अस्मात् सूक्तात् पूर्वसूक्तयोरिन्द्रस्य परमात्मनो वर्णनाद् अस्मिन् सूक्ते परमेश्वरस्यानुवृत्तिरुक्ता ग्रन्थकृता।

२. ग्रन्थकृताऽत्र 'उत्पतन्ति' पदादुत्तरत्र बिन्दुनिर्देशः कृतः, तेन मन्त्रपूर्तिरत्र कार्येति द्योत्यते। तथा चायमुत्तरार्धः—'ये वै तन्वं विसृजन्ति धीरास्ते जनासो अमृतत्वं भजन्ते' इति। मन्त्रोऽयमस्यैव सूक्तस्य परिशिष्टे पठ्यते। द्र०—परिशिष्ट २२ (सातवलेकरीयमूलसंस्करणम्)।

३. वैदिकपरिशिष्टरूपा मन्त्रा अपि प्रमाणभूता इत्ययमर्थो ग्रन्थकृताऽस्य परिशिष्टवचनस्य प्रमाणत्वेनोपन्यासात्, तस्य सार्थप्रदर्शनप्रयासाच्च ज्ञाप्यते। १९३१ वैक्रमाब्दे प्रकाशिते सन्ध्यादिपञ्चमहायज्ञविधानान्ते लक्ष्मीसूक्तस्य व्याख्यानादपि परिशिष्टमन्त्राणां प्रामाण्यं ज्ञाप्यते। परिशिष्टवचनानि परतः प्रामाण्यमर्हन्ति, न वेदवत् स्वतः प्रामाण्यम्। अत एवात्र पठितानि कतिपयानि परिशिष्टानि तदेकदेशा वा अप्रमाणार्हा अपि सन्ति।

४. न च तयो:—'लोकप्रसिद्धयोर्नद्योः' इति शेषः।

५. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'सितासितमिति' इत्येवमपपाठो दृश्यते, व्याख्याने 'सितमिति' पाठस्यैव व्याख्यानात्, निरुक्ते तथैवोपलम्भाच्च।

आदि में परमेश्वर की उपासना करने से जीव की मुक्ति हो जाती है। प्राण में बल और सत्य प्रतिष्ठित है। क्योंकि परमेश्वर प्राण का भी प्राण है। और उसका प्रतिपादन करनेवाला गायत्री मन्त्र है कि जिसको "गया' कहते हैं। किसलिये कि उनका अर्थ जानके श्रद्धासहित परमेश्वर की भक्ति करने से जीव सब दुःखों से छूटकर मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। तथा प्राण का भी नाम 'गया' है। उसको प्राणायाम की रीति से रोकके परमेश्वर को भक्ति के प्रताप से पितर अर्थात् ज्ञानी लोग सब दुःखों से रहित होकर मुक्त हो जाते हैं। क्योंकि परमेश्वर प्राणों की रक्षा करनेवाला है। इसलिये ईश्वर का नाम 'गायत्री' और 'गायत्री' का नाम "गया' है।

तथा निघण्टु में घर सन्तान और प्रजा इन तीनों का नाम भी 'गया' है। मनुष्यों को इनमें अत्यन्त श्रद्धा करनी चाहिये। इसी प्रकार माता-पिता आचार्य और अतिथि की सेवा तथा सबके उपकार और उन्नति के कामों की सिद्धि करने में जो अत्यन्त श्रद्धा करनी है, उसका नाम 'गयाश्राद्ध' है।

तथा अपने सन्तानों को सुशिक्षा से विद्या देना, और उनके पालन में अत्यन्त प्रीति करनी, इसका नाम भी 'गयाश्राद्ध' है।

तथा धर्म से प्रजा का पालन, सुख की उन्नति, विद्या का प्रचार, श्रेष्ठों की रक्षा, दुष्टों को दण्ड देना, और सत्य की उन्नति आदि धर्म के काम करना, ये सब मिलकर अथवा पृथक्-पृथक् भी 'गयाश्राद्ध' कहाते हैं।

इस अत्यन्त श्रेष्ठ कथा को छोड़के विद्याहीन पुरुषों ने जो मिथ्या कथा बना रक्खी है, उसको कभी न मानना।

और जो वहां पाषाण के ऊपर मनुष्य के पग का चिह्न बनाकर उसका नाम 'विष्णुपद' रक्खा है, सो सब मूल से ही मिथ्या है। क्योंकि व्यापक परमेश्वर, जो सब जगत् का करनेवाला है, उसी का नाम 'विष्णु' है।

देखो यहां निरुक्तकार ने कहा है कि—(पृषेत्यथ०)—'**विष्लृ**' धातु का अर्थ व्यापक होने, अर्थात् सब चराचर जगत् में प्रविष्ट रहना, वा जगत् को अपने में स्थापन करलेने का है। इसलिये निराकार ईश्वर का नाम 'विष्णु' है।

'**क्रमु पादविक्षेपे**' यह धातु दूसरी वस्तु को पगों से दबाना वा स्थापन करना, इस अर्थ को बतलाता है। इसका अभिप्राय यह है कि भगवान् अपने पाद अर्थात् प्रकृति परमाणु आदि सामर्थ्य के अंशों से सब जगत् को तीन स्थानों में स्थापन करके धारण कर रहा है। अर्थात् भारसहित और प्रकाशरहित जगत् को पृथिवी में, परमाणु [वायु] आदि सूक्ष्म द्रव्यों को अन्तरिक्ष में, तथा प्रकाशमान सूर्य और ज्ञानेन्द्रिय आदि को प्रकाश में। इस रीति से तीन प्रकार के जगत् को ईश्वर ने रचा है। फिर इन्हीं तीन भेदों में एक मूढ़ अर्थात् ज्ञानरहित जो जड़ जगत् है, वह अन्तरिक्ष अर्थात् पोल

१. यहां भी संस्कृतपाठ के समान कुछ पाठ भ्रष्ट हुआ है। द्र०— पृष्ठ ३४०, टि० ४।

के बीच में स्थित है। सो यह केवल परमेश्वर ही की महिमा है कि जिसने ऐसे-ऐसे अद्भुत रचके सबको धारण कर रक्खा है।

(यदिदं किंच०)—इस 'विष्णुपद' के विषय में यास्कमुनि ने भी इस प्रकार व्याख्या है कि यह सब जगत् सर्वव्यापक परमेश्वर ने बनाकर, त्रिधा=इसमें तीन प्रकार के दिखलाई है। जिसमें मोक्षपद को प्राप्त होते हैं, वह 'समारोहण' कहाता है। सो विष्णुपद अर्थात् प्राणों के परे है। उसको मनुष्य लोग प्राण में स्थिर होके, प्राण से प्रिय अन्तर्यामी को प्राप्त होते हैं, अन्य मार्ग से नहीं। क्योंकि प्राण का भी प्राण और जीवात्मा में व्य परमेश्वर है, उससे दूर जीव वा जीव से दूर वह कभी नहीं हो सकता। उसमें से सूक्ष्म जो का भाग है, सो आंख से दीखने योग्य नहीं हो सकता। किन्तु जब कोई पदार्थ परमाणुओं के से स्थूल हो जाता है, तभी वह नेत्रों से देखने में आता है। यह दोनों प्रकार का जगत् जिस में ठहर रहा है, और जो उसमें परिपूर्ण हो रहा है, ऐसे परमात्मा को 'विष्णुपद' कहते हैं।

इस सत्य अर्थ को न जानके अविद्वान् लोगों ने पाषाण पर जो मनुष्य के पग का चिह्न कर उसका नाम 'विष्णुपद' रख छोड़ा है, सो सब मिथ्या बातें हैं॥

तथा तीर्थ शब्द का अर्थ अन्यथा जानके अज्ञानियों ने जगत् के लूटने और अपने प्रयोजन सिद्धि के लिये मिथ्याचार कर रक्खा है। सो ठीक नहीं, क्योंकि जो-जो सत्य तीर्थ हैं, वे सब लिखे जाते हैं—

देखो 'तीर्थ' नाम उनका है कि जिनसे जीव दुःखरूप समुद्र को तरके सुख को प्राप्त अर्थात् जो-जो वेदादिशास्त्रप्रतिपादित तीर्थ हैं, तथा जिनका आर्यों ने अनुष्ठान किया है, जो जीवों को दुःखों से छुड़ाके उनके सुखों के साधन हैं, उनही को 'तीर्थ' कहते हैं।

वेदोक्त तीर्थ ये हैं—(तीर्थमेव प्राय०) अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्यन्त किसी यज्ञ समाप्ति करके जो स्नान किया जाता है, उसको 'तीर्थ' कहते हैं। क्योंकि उस कर्म से वायु वृष्टिजल की शुद्धिद्वारा सब मनुष्यों को सुख प्राप्त होता है। इस कारण उन कर्मों के करने मनुष्यों को भी सुख और शुद्धि प्राप्त होती है॥

तथा (अहिंसन्०) सब मनुष्यों को इस 'तीर्थ' का सेवन करना उचित है कि अपने मन से वैरभाव को छोड़के सबके सुख करने में प्रवृत्त होना, और किसी संसारी व्यवहार के व्य में दुःख न देना। परन्तु (अन्यत्र तीर्थेभ्यः) जो-जो व्यवहार वेदादिशास्त्रों में निषिद्ध माने उनके करने में दण्ड का होना अवश्य है। अर्थात् जो-जो मनुष्य अपराधी, पाखण्डी अर्थात् शास्त्रोक्त धर्मानुष्ठान के शत्रु, अपने सुख में प्रवृत्त, और परपीड़ा में प्रवर्तमान हैं, वे सदैव पाने के योग्य हैं। इससे वेदादि सत्य-शास्त्रों का नाम 'तीर्थ' है, कि जिनके पढ़ने-पढ़ाने और र कहे हुए मार्गों में चलने से मनुष्य लोग दुःखसागर को तरके सुखों को प्राप्त होते हैं॥

(समानतीर्थे०) इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि वेदादिशास्त्रों को पढ़नेवाला जो आचार्य है उसका, वेदादिशास्त्रों तथा माता-पिता और अतिथि का भी नाम 'तीर्थ' है। क्योंकि उनकी सेवा करने से जीवात्मा शुद्ध होकर दुःखों से पार हो जाता है। इससे इनका भी 'तीर्थ' नाम है

(अथ: स्नातका०) इन तीर्थों में स्नान करने के योग्य तीन पुरुष होते हैं। एक तो वह कि—जो उत्तम नियमों से वेद-विद्या को पढ़के, ब्रह्मचर्य को विना समाप्त करे भी विद्या का पढ़ना पूरा करके ज्ञानरूपी तीर्थ' में स्नान करके शुद्ध हो जाता है। दूसरा—जो कि पच्चीस, तीस, छत्तीस, चवालीस अथवा अड़तालीस वर्ष पर्य्यन्त नियम के साथ पूर्वोक्त ब्रह्मचर्य को समाप्त करके और विद्या को विना समाप्त किये भी विवाह करता है। वह व्रतस्नातक अर्थात् उस ब्रह्मचर्य 'तीर्थ' में स्नान करके शुद्ध हो जाता है। और तीसरा यह है कि—नियम से ब्रह्मचर्य्याश्रम तथा वेदादि-शास्त्रविद्या को समाप्त करके, समावर्त्तन अर्थात् उसी के फलरूपी उत्तम 'तीर्थ' में भले प्रकार स्नान करके यथायोग्य पवित्रदेह, शुद्ध अन्तःकरण, श्रेष्ठविद्या, बल और परोपकार को प्राप्त होता है॥

(नमस्तीर्थ्याय०) उक्त प्राण वेद विज्ञानादि तीर्थों में होनेवाला 'तीर्थ्य' कहाता है। उस तीर्थ्यरूप परमेश्वर को हमारा नमस्कार है। जो विद्वान् लोग वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सत्य-कथनरूप तीर्थों का प्रचार करते हैं, तथा जो चवालीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्याश्रम सेवन करते हैं, वे बड़े बलवाले होकर 'रुद्र' कहाते हैं। (सृकाहस्ता०) जिनके सृका अर्थात् विज्ञानरूप हस्त तथा निषङ्ग=संशय की काटनेवाली उपदेशरूप तलवार है, वे सत्य के उपदेशक भी 'रुद्र' कहाते हैं। तथा उपनिषदों से प्रतिपादन किया हुआ, उपदेश करने योग्य जो परमेश्वर है, उसको 'परमतीर्थ' कहते हैं। क्योंकि उसी की कृपा और प्राप्ति से जीव सब दुःखों से तर जाते हैं॥

प्रश्न – जिनसे मनुष्य लोग तर जाते हैं, अर्थात् जल और स्थान विशेष, वे क्या तीर्थ नहीं हो सकते ?

उत्तर - नहीं। क्योंकि उनमें तारने का सामर्थ्य ही नहीं [है]। और 'तीर्थ' शब्द करणकारक-युक्त लिया जाता है। जो जल वा स्थानविशेष अधिकरण वा कर्मकारक होते हैं, उनमें नाव आदि अथवा हाथ और पग से तरते हैं। इससे जल वा स्थल तारनेवाले कभी नहीं हो सकते। किसलिये कि जो जल में हाथ वा पग न चलावें, वा नौका आदि पर न बैठें, तो कभी नहीं तर सकते। इस युक्ति से भी काशी, प्रयाग, गङ्गा, यमुना, समुद्र आदि तीर्थ सिद्ध नहीं हो सकते। इस कारण से सत्यशास्त्रोक्त जो तीर्थ हैं, उन्हीं को मानना चाहिये, जल और स्थानविशेष को नहीं।

प्रश्न – (इमं मे गङ्गे०) यह मन्त्र गङ्गा आदि नदियों को तीर्थ विधान करनेवाला है। फिर इनको तीर्थ क्यों नहीं मानते ?

उत्तर – हम लोग उनको नदी मानते हैं। और उनके जल में जो-जो गुण हैं, उनको भी मानते हैं। परन्तु पाप छुड़ाना और दुःखों से तारना, यह उनका सामर्थ्य नहीं। किन्तु यह सामर्थ्य तो केवल पूर्वोक्त तीर्थों में ही है। तथा इस मन्त्र में 'गङ्गा' आदि नाम इडा, पिङ्गला, सुषुम्णा, कूर्म्म और जाठराग्नि की नाड़ियों के हैं। उनमें योगाभ्यास से परमेश्वर की उपासना करने से मनुष्य लोग सब दुःखों से तर जाते हैं। क्योंकि उपासना में नाड़ियों ही के द्वारा धारण करनी होती है। इस हेतु से इस मन्त्र में उनकी गणना की है। इसलिये उक्त नामों से नाड़ियों का ही ग्रहण करना योग्य है॥

(सितासिते०)—सित इडा और असित पिङ्गला, ये दोनों जहां सुषुम्णा में मिली हैं,' उसमें परमयोगी लोग योगाभ्यास से स्नान करके शुद्ध हो जाते हैं। फिर शुद्धरूप परमेश्वर को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं। इसमें निरुक्तकार का भी प्रमाण है कि—'सित और असित शब्द शुक्ल और कृष्ण अर्थ के वाची हैं।' इस अभिप्राय से विरुद्ध मिथ्या अर्थ करके लोगों ने नदी आदियों का तीर्थ नाम से ग्रहण कर लिया है।

[मूर्तिपूजानामस्मरणयोर्मिथ्यात्वम्]

तथैव यत्तन्त्रपुराणादिग्रन्थेषु मूर्तिपूजानामस्मरणादिविधानं कृतमस्ति, तदपि मिथ्यैवास्तीति वेद्यम्। कुत ? वेदादिषु सत्येषु ग्रन्थेषु तस्य विधानाभावात्। तत्र तु प्रत्युत निषेधो वरीवर्तते[2]। तद्यथा—

न तस्य॑ प्र॒ति॒मा॑ऽ अ॑स्ति॒ यस्य॒ नाम॑ म॒हद्यशः॑।
हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भऽ इत्ये॒ष मा मा॑ हिꣳसी॒दित्ये॒षा यस्मा॒न्न जा॒तऽ इत्ये॒षः ॥ १ ॥

यजु:० अ० ३२। मं० ३॥

भाष्यम्—(यस्य) पूर्णस्य पुरुषस्याजस्य निराकारस्य परमेश्वरस्य ([नाम] महद्यशः) यस्याज्ञापालनाख्यं महाकीर्तिकरं धर्म्यं सत्यभाषणादिकर्त्तुं महं कर्माचरणं नामस्मरणमस्ति, (हिरण्यगर्भः)[3] यो हिरण्यानां सूर्यादीनां तेजस्विनां गर्भ उत्पत्तिस्थानम्, [(मा मा०)] तस्य[4] सर्वैर्मनुष्यैर्मा मा हिꣳसीदित्येषा प्रार्थना कार्या। (यस्मान्न०) यो यतः कारणान्नैवैषः कस्यचित्सकाशात् कदाचिदुत्पन्नो, नैव कदाचिच्छरीरधारणं करोति। [(न तस्य०)] नैव तस्य प्रतिमाऽर्थात् प्रतिनिधिः, प्रतिकृतिः, प्रतिमानं, तोलनसाधनं, परिमाणं, मूर्त्यादिकल्पनं किञ्चिदप्यस्ति, परमेश्वरस्यानुपमेयत्वाद् अमूर्त्तत्वाद् अपरिमेयत्वान्निराकारत्वात् सर्वत्राभिव्याप्तत्वाच्च[5]॥ [१॥]

इत्यनेन प्रमाणेन मूर्तिपूजननिषेधः।

स प॑र्य्यगाच्छु॒क्रम॑का॒यम॑व्र॒णम॑स्ना॒विरꣳ शु॒द्धमपा॑पविद्धम्।
क॒विर्म॑नी॒षी प॑रि॒भूः स्व॑य॒म्भूर्या॑थातथ्य॒तोऽर्था॒न् व्यद॑धाच्छाश्व॒तीभ्यः॒ समा॑भ्यः ॥२॥

य० अ० ४०। मं० ८॥

१. वै० य० मुद्रित संस्करणों में भाषा-पाठ अन्यथा है। २. वै० य० मुद्रिते प्रथमसंस्करणे शताब्दी-संस्करणे षष्ठसप्तमाष्टमेषु चायं पाठ उपलभ्यते। द्वितीयादारभ्य पञ्चमसंस्करणपर्यन्तं नवमे च 'वरीवृत्यते' पाठो दृश्यते। उभावपि प्रमादपाठौ। 'वरीवर्तीति' शुद्धः पाठोऽत्र द्रष्टव्यः, यङ्लुकः शपो लुग्विधानात् परस्मैपद-नियमाच्च।

३. यजुर्वेदभाष्ये ग्रन्थकृता 'हिरण्यगर्भः' आदीनामितिपदेन निर्दिष्टानां पाठानां प्रतीकत्वं पक्षान्तर उक्तम्।

४. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'यस्य' प्रमादपाठः। ५. नात्र हेतुहेतुमतां यथासंख्यं निर्देशः। तेनात्रेत्थं सम्बन्धो ज्ञेयः—परमेश्वरस्यानुपमेयत्वात् प्रतिनिधिर्नास्ति, अमूर्तत्वात् प्रतिकृतिर्न, अपरिमेयत्वात् प्रतिमानं न, सर्वत्राभिव्याप्तत्वात् परिमाणं न, निराकारत्वात् मूर्त्यादिकल्पनं च नेति।

भाष्यम्—य: (कवि:) सर्वज्ञ:, (मनीषी) सर्वसाक्षी, (परिभू:) सर्वोपरि विराजमान:, (स्वयम्भू:) अनादिस्वरूप: परमेश्वर: (शाश्वतीभ्य:) नित्याभ्य: (समाभ्य:) प्रजाभ्यो वेदद्वाराऽन्तर्यामितया च (याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्) विहितवानस्ति, (स पर्यगात्) सर्वव्यापकोऽस्ति। यत् (शुक्रम्) वीर्यवत्तमम्, (अकायम्) मूर्तिजन्मधारणरहितम्, (अव्रणम्) छेदभेदरहितम्, (अस्नाविरम्) नाडीबन्धनादिविरहम्, (शुद्धम्) निर्दोषम्, (अपापविद्धम्) पापात् पृथग्भूतम्, यदीदृशलक्षणं ब्रह्म [तत्] सर्वैरुपासनीयमिति मन्यध्वम् ॥[२॥]

इत्यनेनापि शरीरजन्ममरणरहित ईश्वर: प्रतिपाद्यते। तस्मादयं नैव केनापि मूर्त्तिपूजने योजयितुं शक्य इति।

प्रश्न:—वेदेषु प्रतिमाशब्दोऽस्ति न वा ?

उत्तरम्—अस्ति।

प्रश्न:—पुन: किमर्थो निषेध: ?

उत्तरम्—नैव प्रतिमार्थेन मूर्त्तयो गृह्यन्ते। किं तर्हि ? परिमाणार्था गृह्यन्ते।

अत्र प्रमाणानि—

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे।

सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण संसृज ॥३॥ अथर्व कां० ३। व १०। मं० ३॥[1]

मुहूर्त्तानां प्रतिमा ता दश च सहस्राण्यष्टौ च शतानि भवन्त्येतावन्तो हि संवत्सरस्य मुहूर्त्ता: ॥[४॥] श० कां० १०। प्र० ३। ब्रा० २। कं २०॥[2]

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥[५॥]

सामवेदीय-तवलकारोपनिषदि, खंड १। मं० ४॥

इत्यादिमन्त्रपञ्चकं[3] मूर्त्यादिनिषेधकमिति बोध्यम्।

भाष्यम्—[(संवत्सर०)] विद्वांस: संवत्सरस्य यां प्रतिमां परिमाणमुपासते, वयमपि त्वां[4] तामेवोपास्महे। अर्थाद्या: संवत्सरस्य त्रीणि शतानि षष्टिश्च रात्रयो भवन्ति, यत एताभिरेव संवत्सर: परिमीयते, तस्मादेतासां 'प्रतिमा' संज्ञेति। [(सा न०)] यथा सेयं रात्रिर्नोऽस्माकं

१. अथर्व का० ३। सू० १०। मं० ३॥

२. शत० का० १०। अ० ४। ब्रा० ३। कं० २० इति शुद्धो निर्देशो ज्ञेय:।

३. अर्थाद् 'यद्वाचा' इत्यारभ्य 'यत्प्राणेन' इति पर्यन्तं मन्त्रपञ्चकम्।

४. 'त्वां' इत्यपपाठो वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु, मन्त्रे 'त्वा' पदस्य दर्शनात्।

रायस्पोषेण धनपुष्टिभ्यामायुष्मतीं प्रजां (संसृज) सम्यक् सृजेत्, तथैव सर्वैर्मनुष्यैरनुष्ठेयमिति ॥[३॥]

(मुहूर्ता०) तथा ये संवत्सरस्य दशसहस्राण्यष्टौ शतानि घटिकाद्वयात्मका मुहूर्ताः सन्ति, तेऽपि 'प्रतिमा' शब्दार्था विज्ञेयाः ॥[४॥]

(यद्वाचा०) यदसंस्कृतयाण्या अविषयं येन वाणी विदितास्ति, [(तदेव०)] तद् ब्रह्म हे मनुष्य ! त्वं विद्धि । यद् इदं प्रत्यक्षं जगदस्ति नैवैतद् ब्रह्मास्ति । किन्तु विद्वांसो यन्निराकारं सर्वव्यापकमजं सर्वनियन्तृ सच्चिदानन्दादिलक्षणं ब्रह्मोपासते, त्वयापि तदेवोपासनीयं, नेतरदिति ॥[५॥]

प्र०—किञ्च भोः ! मनुस्मृतौ—'प्रतिमानां च भेदकः'[१]; 'दैवतान्यभिगच्छेत्तु'[२]; 'देवताऽभ्यर्चनं चैव'[३]; 'देवतानां च कुत्सनम्'[४]; 'देवतायतनानि च'[५]; 'देवतानां छायोल्लङ्घननिषेधः'[६]; 'प्रदक्षिणानि कुर्वीत देवब्राह्मणसन्निधौ'[७]; 'देवतागारभेदकान्'[८] उक्तानामेतेषां वचनानां का गतिरिति ?

उ०—अत्र 'प्रतिमा'शब्देन रक्तिकामाषसेटकादीनि तोलनसाधनानि गृह्यन्ते । तद्यथा—'तुलामानं प्रतीमानं सर्वं च स्यात् सुलक्षितम्' ॥ मनु० अ० ८ । श्लोकः ४०३, इत्यनया मनूक्तरीत्यैव प्रतिमाप्रतीमानशब्दयोरेकार्थत्वात् तोलनसाधनानि गृह्यन्त इति बोध्यम् । अत एव प्रतिमानामधिकन्यूनकारिणं दण्डो देय इत्युक्तः । विद्वांसो देवास्ते यत्राधीयतेऽध्यापयन्ति निवसन्ति च तानि स्थानानि 'दैवतानि' इत्युच्यन्ते । देवा एव देवतास्तेषामिमानि स्थानानि 'दैवतानि देवतायतनानि च' सन्तीति बोध्यम् । विदुषामेवाभ्यर्चनं सत्करणं कर्त्तव्यमिति । नैवैतेषां केनचिदपि निन्दा छायोल्लङ्घनं स्थानविनाशश्च कर्त्तव्यः । किन्तु सर्वैरेतेषां सामीप्यगमनं, न्यायप्रापणं, दक्षिणपार्श्वे स्थापनं, स्वेषां वामपार्श्वे स्थितिश्च कार्य्येति ।

एवमेव यत्र यत्रान्यत्रापि प्रतिमादेवदेवतायतनादिशब्दाः सन्ति, तत्र तत्रैवमर्था विज्ञेयाः । ग्रन्थभूयस्त्वभिया नात्र ते लेखितुं शक्या इति । एतावतैव मूर्तिपूजनकण्ठीतिलकधारणादिनिषेधा बोध्याः ।

भाषार्थ—अब इसके आगे जो नवीन कल्पित तन्त्र और पुराण ग्रन्थ हैं, उनमें पत्थर आदि की मूर्तिपूजा, तथा नाना प्रकार के नामस्मरण, अर्थात् राम-राम, कृष्ण-कृष्ण, काष्ठादि माला, तिलक इत्यादि का विधान करके उनको अत्यन्त प्रीति के साथ जो मुक्ति पाने के साधन मान रक्खे हैं, ये सब बातें भी मिथ्या ही जानना चाहियें । क्योंकि वेदादि सत्य ग्रन्थों में इन बातों का कहीं चिह्न भी नहीं पाया जाता है, किन्तु उनका निषेध ही किया है । जैसे—

१. मनु० ३ । २८५ ॥ २. मनु० ४ । १५३ ॥ तत्र 'दैवान्य०' पाठः ।
३. मनु० २ । १७६ ॥ ४. मनु० ४ । १६३ ॥ ५. मनु० ८ । २४८ ॥
६. द्र०—मनु० ४ । १३० ॥ ७. द्र०—मनु० ४ । ३९ ॥ ८ मनु० ९ । २८० ॥

(न तस्य०)—'पूर्ण' जो किसी प्रकार से कम नहीं, 'अज' जो जन्म नहीं लेता, और 'निराकार' जिसकी किसी प्रकार की मूर्त्ति नहीं, इत्यादि लक्षणयुक्त जो परमेश्वर है, जिसकी आज्ञा का ठीक-ठीक पालन और उत्तम कीर्तियों के हेतु जो सत्यभाषणादि कर्म हैं, उनका करना ही जिसका 'नामस्मरण' कहाता है। (हिरण्यगर्भ०) जो परमेश्वर तेजवाले सूर्य्यादि लोकों की उत्पत्ति का कारण है, जिसकी प्रार्थना इस प्रकार करनी होती है कि—(मा मा हिꣳसी०) हे परमात्मन्! हम लोगों की सब प्रकार से रक्षा कीजिये। कोई कहे कि इस निराकार सर्वव्यापक परमेश्वर की उपासना क्यों करनी चाहिये? तो उत्तर यह है कि—(यस्मान्न०) अर्थात् जो परमेश्वर किसी माता-पिता के संयोग से कभी न उत्पन्न हुआ, न होता [है,] और न होगा, और न वह कभी शरीर धारण करके बालक जवान और वृद्ध होता है, (न तस्य०) उस परमेश्वर की 'प्रतिमा' अर्थात् नाप का साधन तथा प्रतिबिम्ब वा सदृश, अर्थात् जिसको तस्वीर कहते हैं, सो किसी प्रकार नहीं है। क्योंकि वह अमूर्त[1], अनन्त=सीमारहित, निराकार और सब में व्यापक है। इससे निराकार ही की उपासना सब मनुष्यों को करनी चाहिये॥ [१॥]

कदाचित् कोई शङ्का करे कि—शरीरधारी की उपासना करने में क्या दोष है? तो यह बात समझनी चाहिये कि—जो प्रथम जन्म लेकर शरीर धारण करेगा, और फिर वह वृद्ध होकर मर जायेगा, तब किसकी पूजा करोगे? इस प्रकार मूर्तिपूजन का निषेध वेद से सिद्ध हो गया।

तथा (स पर्य्यगाच्छु०)—जो परमेश्वर (कविः) सबका जाननेवाला, (मनीषी) सबके मन का साक्षी, (परिभूः) सबके ऊपर विराजमान, और (स्वयंभूः) अनादिस्वरूप है, [(याथात०)] जो अपनी अनादिस्वरूप प्रजा को अन्तर्यामिरूप से और वेद के द्वारा सब व्यवहारों का उपदेश किया करता है, (स पर्य्यगात्) सो सब में व्यापक, (शुक्रम्) अत्यन्त पराक्रमवाला, (अकायम्) सब प्रकार के शरीर से रहित, (अव्रणम्) कटना और सब रोगों से रहित, (अस्नाविरम्) नाड़ी आदि के बन्धन से पृथक्, (शुद्धम्) सब दोषों से अलग, और (अपापविद्धम्) सब पापों से न्यारा, इत्यादि लक्षणयुक्त परमात्मा है, वही सबको उपासना के योग्य है, ऐसा ही सबको मानना चाहिये॥ [२॥]

क्योंकि इस मन्त्र से भी शरीर धारण करके जन्म-मरण होना इत्यादि बातों का निषेध परमेश्वर [के] विषय में पाया ही गया। इससे इसकी पत्थर आदि की मूर्त्ति बनाके पूजना किसी प्रमाण वा युक्ति से सिद्ध नहीं हो सकता।

(संवत्सरस्य०) विद्वान् लोग संवत्सर को, जिस (प्रतिमां०) क्षण आदि काल के विभाग करनेवाली रात्रि की उपासना करते हैं, हम लोग भी उसी का सेवन करें। जो एक वर्ष की ३६० तीन सौ साठ रात्रि होती हैं, इतनी रात्रियों से संवत्सर का परिमाण किया है। इसलिये इन रात्रियों की भी 'प्रतिमा' संज्ञा है। (सा न आयु०) इन रात्रियों में परमात्मा की कृपा से हम लोग सत्कर्मों के अनुष्ठानपूर्वक सम्पूर्ण आयुयुक्त सन्तानों को उत्पन्न करें॥ [३॥]

इसी मन्त्र का भावार्थ कुछ शतपथ ब्राह्मण में भी है, कि—(मुहूर्त्ता०) एक संवत्सर के

१. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'मूर्तिरहित' पाठ है।

१०८०० मुहूर्त होते हैं। ये भी 'प्रतिमा' शब्द के अर्थ में समझने चाहियें। क्योंकि इनसे भी वर्ष का परिमाण होता है॥[४॥]

(यद्वाचा०) जो कि अविद्यायुक्त वाणी से प्रसिद्ध नहीं हो सकता, जो सब की वाणियों को जानता है, हे मनुष्यो! तुम लोग उसी को परमेश्वर जानो। और न कि मूर्त्तिमान् जगत् के पदार्थों को, जोकि उसके रचे हुए हैं। अर्थात् निराकार व्यापक सब पदार्थों का नियम करनेवाला और सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त ब्रह्म है, उसी की उपासना तुम लोग करो। यह उपनिषत्कार ऋषियों का मत है॥[५॥]

प्र०—क्योंजी! मनुस्मृति में जो 'प्रतिमानां' इत्यादि वचन हैं, उनसे तो यह बात मालूम होती है कि जो कोई प्रतिमा को तोड़े, उसको राजा दण्ड देवे। तथा देवताओं के पास जाना, उनकी पूजा करना, उनकी छाया का उल्लंघन नहीं करना, और उनकी परिक्रमा करना, इत्यादि प्रमाणों से भी मूर्त्तिपूजा बराबर सिद्ध होती है, फिर आप कैसे नहीं मानते हैं?

उ०—क्यों भ्रम में पड़े हुए हो, होश में आओ। और आंखे खोलकर देखो कि 'प्रतिमा' शब्द से जो तुम लोग पत्थर की मूर्त्ति लेते हो, सो यह केवल तुम्हारी अज्ञानता अर्थात् कम समझ है। क्योंकि मनुस्मृति में तो 'प्रतिमा' शब्द करके (तुलामान०) रत्ति, छटांक, पाउ, सेर और पसेरी आदि तोल के साधनों को ग्रहण किया है। क्योंकि 'तुलामान अर्थात् तराजू और प्रतिमान वा प्रतिमा अर्थात् बाट इनकी परीक्षा राजा लोग छठे-छठे मास अर्थात् छः-छः महीने में एक बार किया करें। कि जिससे उनमें कोई व्यवहारी किसी प्रकार की छल से घट-बढ़ न कर सकें। और कदाचित् खोट करे, तो उसको दण्ड देवें।'

फिर (दैवताभ्यर्चनं०) इत्यादि वचनों से यह बात समझ लेनी चाहिये कि शतपथ ब्राह्मण में विद्वान् मनुष्यों का नाम 'देव' कहा है, [देव ही देवता कहाते हैं।] जिन स्थानों में विद्वान् लोग पढ़ने-पढ़ाने और निवास करते हैं, उन स्थानों को 'देवतायतन' कहते हैं। वहां जाना, बैठना, और उन लोगों का सत्कार करना इत्यादि काम सबको अवश्य करने चाहियें। (देवतानां च कुत्सनम्) उन विद्वानों की निन्दा, उनका अपमान, और उनके स्थानों में किसी प्रकार का बिगाड़ व उपद्रव आदि दोष की बातें कभी न करना चाहिये। किन्तु (दैवतान्यभि०) सब मनुष्यों को उचित है कि उनके समीप जाकर अच्छी-अच्छी बातों को सीखा करें। (प्रदक्षिण०) उनको मान्य करना और दाहिनी दिशा में बैठाना। क्योंकि यह नियम उनकी प्रतिष्ठा के लिये बांधा गया है।

ऐसे अन्यत्र भी जहां-कहीं प्रतिमा और देवता अथवा उनके स्थानों का वर्णन हो, इसी प्रकार निश्चयता से वहां समझ लेना चाहिये। यहां सबका संग्रह इसलिये नहीं किया कि ग्रन्थ बहुत बढ़ जाता। ऐसे ही सत्यशास्त्रों से विरुद्ध कण्ठी और तिलकधारणादि मिथ्या कल्पित विषयों को भी समझकर मन कर्म और वचन से त्याग कर देना अवश्य उचित है।

[ग्रहपूजाया मिथ्यात्वम्]

एवमेव मूर्खा विग्रहपीडाशान्तये बालबुद्धिभिर् 'आ कृष्णेन रजसा०'[1] इत्यादिमन्त्रा गृह्यन्ते।

१. यजु० ३३।४३॥

अयमेषां भ्रम एवास्तीति। कुतस्तत्र तेषामर्थानामग्रहणात्। तद्यथा—तत्र 'आकृष्णेन रजसा०' इति मन्त्रस्यार्थ आकर्षणानुकर्षणप्रकरण उक्तः[1]। 'इमं देवा असपत्नम्०'[2] इत्यस्य राजधर्मविषये[3] चेति।

अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम्।
अपाᳬं रेताᳬंसि जिन्वति ॥ ३ ॥[4] य० अ० १५। मं० १२॥
उद् बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्त्ते सᳬंसृजेथामयं च।
अस्मिन्त्सधस्थेऽ अध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत॥ ४ ॥
य० अ० १५। मं० ५४॥

भाष्यम्—(अयमग्निः) परमेश्वरो भौतिको वा (दिवः) प्रकाशवल्लोकस्य (पृथिव्याः) प्रकाशरहितस्य च (पतिः) पालयितास्ति। (मूर्द्धा) सर्वोपरि विराजमानः, (ककुत्पतिः) तथा ककुभां दिशां च मध्ये व्यापकतया सर्वपदार्थानां पालयितास्ति। 'व्यत्ययो बहुलम्'[5] इति सूत्रेण भकारस्थाने तकारः। (अपाᳬं रेताᳬंसि) अयमेव जगदीश्वरो भौतिकश्चापां प्राणानां जलानां च रेतांसि वीर्य्याणि (जिन्वति) पुष्णाति। एवं चाग्निर्विद्युद्रूपेण सूर्य्यरूपेण च पूर्वोक्तस्य रक्षकः पुष्टिकर्त्ता चास्ति॥३॥

(उद्बुध्यस्वाग्ने) हे अग्ने परमेश्वर ! अस्माकं हृदये त्वमुद्बुध्यस्व प्रकाशितो भव। (प्रतिजागृहि) अविद्यान्धकारनिद्रातस्सर्वान् जीवान् पृथक्कृत्य विद्यार्कप्रकाशे जागृतान् कुरु। (त्वमिष्टापूर्त्ते०) हे भगवन् ! अयं जीवो मनुष्यदेहधारी धर्मार्थकाममोक्षसामग्र्याः पूर्तिं सृजेत् समुत्पादयेत्, त्वमस्येष्टं सुखं सृजेः। एवं परस्परं द्वयोः सहायपुरुषार्थाभ्यामिष्टापूर्त्ते संसृष्टे भवेताम्। (अस्मिन् सधस्थे) अस्मिन् लोके शरीरे च, (अध्युत्तरस्मिन्) परलोके द्वितीये जन्मनि च (विश्वे देवा यजमानश्च सीदत) सर्वे विद्वांसो यजमानो विद्वत्सेवाकर्त्ता च कृपया सदा सीदन्तु वर्त्तन्ताम्। यतोऽस्माकं मध्ये सदैव सर्वा विद्याः प्रकाशिता भवेयुरिति। 'व्यत्ययो बहुलम्'[7] इत्यनेन सूत्रेण पुरुषव्यत्ययः॥[४]

भाषार्थ—इसी प्रकार से अल्पबुद्धि मनुष्यों ने 'आकृष्णेन रजसा०' इत्यादि मन्त्रों का सूर्य्यादि-ग्रहपीड़ा की शान्ति के लिये ग्रहण किया है। सो उनको केवल भ्रममात्र हुआ है। मूल अर्थ से कुछ सम्बन्ध नहीं। क्योंकि उन मन्त्रों में ग्रहपीड़ा निवारण करना, यह अर्थ ही नहीं है।

१. पूर्वत्र पृष्ठ १६२, १६३॥ २. यजुः ९। ४०॥ ३. पूर्वत्र पृष्ठ २६२,२६३॥

४. यद्यप्यत्र १ एका संख्या, उत्तरमन्त्रान्ते च २ द्विसंख्या वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषूपलभ्यते, तथापि ते संख्ये प्रमादपाठे, उत्तरत्र भाष्ये भाषार्थे च सर्वत्र ३, ४ प्रभृतीनां संख्यानां दर्शनात्। अत्र प्रतीकनिर्देशेन निर्दिष्टौ पूर्वोक्तौ 'आकृष्णेन०; इमं देवा०' द्वौ मन्त्रौ परिगणय्य भाष्ये संख्यानिर्देशस्योपलम्भात्। यत्तु अष्टमनवम-संस्करणयोरिमे १, २ संख्ये दृष्ट्वोत्तरत्र भाष्ये भाषार्थे च सर्वत्र संख्यान्तरनिर्देशः कृतः, सोऽस्मन्मतेऽसाधुर्ज्ञेयः।

५. अष्टा० ३। १। ८५॥ ६. अग्निरिति शेषः। यथाक्रममत्र 'प्राणानां जलानां' पदाभ्यां सह सम्बन्धः। अर्थात् जगदीश्वरः प्राणानां भौतिकश्च जलानाम्। ७. अष्टा० ३। १। ८५॥

'आकृष्णेन०' इस मन्त्र का अर्थ आकर्षणानुकर्षण प्रकरण[1] तथा 'इमं देवा०' इसका अर्थ राजधर्मविषय[2] में लिख दिया है ॥१.२॥

(अग्निः) यह जो अग्निसंज्ञक परमेश्वर वा भौतिक है, वह (दिवः) प्रकाशवाले, और (पृथिव्याः)प्रकाशरहित लोकों का पालन करनेवाला, तथा (मूर्धा) सब पर विराजमान, और (ककुत्पतिः) दिशाओं के मध्य में अपनी व्यापकता से सब पदार्थों का राजा है। 'व्यत्ययो बहुलम्'[3] इस सूत्र से 'ककुभ्' शब्द के भकार को तकारादेश[4] हो गया है। (अपाᳬ रेताᳬसि जिन्वति) वही जगदीश्वर प्राण और जलों के वीर्य्यों को पुष्ट करता है। इस प्रकार भूताग्नि भी विद्युत् और सूर्यरूप से पूर्वोक्त पदार्थों का पालन और पुष्टि करनेवाला है ॥३॥

(उद्बुध्यस्वाग्ने) हे परमेश्वर ! हमारे हृदय में प्रकाशित हूजिये। (प्रति जागृहि) अविद्या की अन्धकाररूप निद्रा से हम सब जीवों को अलग करके विद्यारूप सूर्य के प्रकाश मे प्रकाशमान कीजिये। कि जिससे (त्वमिष्टापूर्त्ते) हे भगवन्! मनुष्यदेह धारण करनेवाला जो जीव है, जैसे वह धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सामग्री की पूर्ति कर सके, वैसे आप इष्ट सिद्ध कीजिये। (अस्मिन् सधस्थे) इस लोक और इस शरीर, तथा (अध्युत्तरस्मिन्) परलोक और दूसरे जन्म में (विश्वे देवा यजमानश्च सीदत) आपकी कृपा से सब विद्वान् और यजमान, अर्थात् विद्या के उपदेश के ग्रहण और सेवन करनेवाले मनुष्य लोग सुख से वर्त्तमान सदा बने रहें। कि जिससे हम लोग विद्या से युक्त होते रहें। 'व्यत्ययो बहुलम्'[5] इस सूत्र से 'संसृजेथाम्' 'सीदत' इन प्रयोगों में पुरुषव्यत्यय अर्थात् प्रथमपुरुष की जगह मध्यमपुरुष हुआ है ॥[४॥]

बृह॑स्पते॒ऽ अति॒ यद॒र्यो॒ऽ अर्हा॑द् द्यु॒मद् वि॒भाति॒ क्रतु॑मु॒ज्जने॑षु ।
यद् दी॒दय॒च्छव॑सऽऋतप्रजात॒ तद॒स्मासु॒ द्रवि॑णं धेहि चि॒त्रम् ॥ ५ ॥

य० अ० २६ । मं० ३ ॥

अन्ना॑त् परि॒स्रुतो॒ रसं॒ ब्रह्म॑णा॒ व्य॑पिब॒त्क्ष॒त्रम्पय॒ः सोमं॑ प्र॒जाप॑तिः ।
ऋ॒तेन॑ स॒त्यमि॑न्द्रि॒यं वि॒पान॑ᳬ शु॒क्रमन्ध॑स॒ऽ इन्द्र॑स्येन्द्रि॒यमि॒दं पयो॒ऽमृतं॒ मधु॑ ॥ ६ ॥

यजुः० अ० १९ । मं० ७५॥

भाष्यम्—(बृहस्पते) हे बृहतां देवानां पते पालक ! (ऋतप्रजात) वेदविद्याप्रतिपादित जगदीश्वर ! त्वं (जनेषु) यज्ञकारकेषु विद्वत्सु लोकलोकान्तरेषु वा, (क्रतुमत्) भूयांसः क्रतवो भवन्ति यस्मिंस्तत्, (द्युमत्) सत्यव्यवहारप्रकाशो विद्यते यस्मिंस्तत्, (दीदयच्छवसः) दानयोग्यं शवसो बलस्य प्रापकं, (यदर्यो अर्हात्) येन विद्याविधनेन युक्तः सन्, अर्यः स्वामी राजा वणिग्जनो वा, धार्मिकेषु जनेषु (विभाति) प्रकाशते, (चित्रम्) यद्धनमद्भुतं (तदस्मासु द्रविणं धेहि) तवस्मदधीनं द्रविणं धनं कृपया धेहीत्यनेन मन्त्रेणेश्वरः प्रार्थ्यते ॥५॥

१. पूर्वत्र पृष्ठ १६३,१६४॥ २. पूर्वत्र पृष्ठ २६४। ३. अष्टा० ३।१।८५॥
४. वै०य० मुद्रित संस्करणों में षष्ठसंस्करणपर्यन्त 'ककुभ् शब्द के वकार को भकारादेश' ऐसा विपरीत पाठ है। ५. अष्टा० ३।१।८५॥

(क्षत्रम्) यत्र यद्राजकर्म क्षत्रियो वा, (ब्रह्मणा) वेदविद्भिश्च सह (पयः) अमृतात्मकं, (सोमम्) सोमाद्योषधिसम्पादितं, (रसम्) बुद्ध्यानन्दशौर्य्यधैर्य्यबलपराक्रमादिसद्गुणप्रदं (व्यपिबत्) पानं करोति, तत्र स सभाध्यक्षो राजन्यः (ऋतेन) यथार्थवेदविज्ञानेन (सत्यम्) धर्मं राजव्यवहारं च, (इन्द्रियम्) शुद्धविद्यायुक्तं शान्तं मनः, (विपानम्) विविधराजधर्मरक्षणं, (शुक्रम्) आशुसुखकरं, (अन्धसः) शुद्धान्नस्येच्छाहेतुं, (पयः) सर्वपदार्थसारविज्ञानयुक्तं, (अमृतम्) मोक्षसाधकं, (मधु) मधुरं सत्यशीलस्वभावयुक्तं, (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य्ययुक्तस्य सर्वव्यापकान्तर्यामिन ईश्वरस्य कृपया (इन्द्रियम्) विज्ञानयुक्तं मनः प्राप्य (इदम्) सर्वं व्यावहारिकपारमार्थिकं सुखं प्राप्नोति। (प्रजापतिः) परमेश्वर एवमाज्ञापयति—यः क्षत्रियः प्रजापालनाधिकृतो भवेत्, स एवं प्रजापालनं कुर्यात्। (अन्नात् परिस्रुतः) स चामृतात्मको रसोऽन्नाद् भोज्यात् पदार्थात् परितः सर्वतः स्रुतश्च्युतो युक्तो वा कार्य्यः। यथा प्रजायामत्यन्तं सुखं सिध्येत्, तथैव क्षत्रियेण कर्त्तव्यम् ॥[६॥]

भावार्थ—(बृहस्पते) हे वेदविद्यारक्षक! (ऋतप्रजात) वेदविद्या से प्रसिद्ध जगदीश्वर! आप (तदस्मासु द्रविणं धेहि) जो सत्यविद्यारूप अनेक प्रकार का (चित्रम्) अद्भुत धन है, सो हमारे बीच में कृपा करके स्थापन कीजिये। कैसा वह धन है कि (जनेषु) विद्वानों और लोक-लोकान्तरों में (क्रतुमत्) जिससे बहुत से यज्ञ किये जायं, (द्युमत्) जिससे सत्य व्यवहार के प्रकाश का विधान हो, (शवसः) बल की रक्षा करनेवाला, और (दीदयत्) धर्म और सबके सुख का प्रकाश करनेवाला, तथा (यदर्य्यो०) जिससे धर्मयुक्त योग्य व्यवहार के द्वारा राजा और वैश्य प्राप्त होकर (विभाति) धर्मव्यवहार अथवा धार्मिक श्रेष्ठ पुरुषों में प्रकाशमान होता है। उस सम्पूर्ण विद्यायुक्त धन को हमारे बीच में निरन्तर धारण कीजिये। ऐसे इस मन्त्र से परमेश्वर की प्रार्थना की जाती है ॥५॥

(क्षत्रम्) जो राजकर्म अथवा क्षत्रिय है, वह सदा न्याय से (ब्रह्मणा) वेदवित् पुरुषों के साथ मिलकर ही राज्यपालन करे। इसी प्रकार (पयः) जो अमृतरूप, (सोमम्) सोमलता आदि ओषधियों का सार, तथा (रसम्) जो बुद्धि, आनन्द, शूरता, धीरज, बल और पराक्रम आदि उत्तमगुणों का बढ़ानेवाला है, उसको (व्यपिबत्) जो राजपुरुष अथवा प्रजास्थ लोग वैद्यकशास्त्र की रीति से पीते हैं, वे सभासद् और प्रजास्थ मनुष्य लोग (ऋतेन) वेदविद्या को यथावत् जानके, (सत्यम्) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष (इन्द्रियम्) शुद्धविद्यायुक्त शान्तस्वरूप मन, (विपानम्) यथावत् प्रजा का रक्षण, (शुक्रम्) शीघ्र सुख करनेहारा, (अन्धसः) शुद्ध अन्न की इच्छायुक्त, (पयः) सब पदार्थों का सार, विज्ञानसहित (अमृतम्) मोक्ष के ज्ञानादि साधन, (मधु) मधुरवाणी और शीलता आदि जो श्रेष्ठ गुण हैं, (इदम्) उन सबसे परिपूर्ण होकर (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य्ययुक्त व्यापक ईश्वर की कृपा से (इन्द्रियम्) विज्ञान को प्राप्त होते हैं। (प्रजापतिः) इसलिये परमेश्वर सब मनुष्यों और राजपुरुषों को आज्ञा देता है कि तुम लोग पूर्वोक्त व्यवहार और विज्ञानविद्या को प्राप्त होके, धर्म से प्रजा का पालन किया करो। (अन्नात् परिस्रुतः) उक्त अमृतस्वरूप रस को उत्तम भोजन के पदार्थों के साथ मिलाकर सेवन किया करो, कि जिससे प्रजा में पूर्ण सुख की सिद्धि हो ॥६॥

शन्नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ऽ आपो॑ भवन्तु पी॒तये॑। शंयोर॒भि स्र॑वन्तु नः ॥ ५ ॥[1]

य० अ० ३६ । मं० १२ ॥

कया॑ नश्चि॒त्रऽ आ भु॑वदू॒ती स॒दावृ॑धः॒ सखा॑। कया॒ शचि॑ष्ठया वृ॒ता ॥ ६ ॥[2]

य० अ० २७ । मं० ३९ ॥

के॒तुं कृ॒ण्वन्न॑के॒तवे॒ पेशो॑ मर्य्याऽ अपे॒शसे॑। समु॒षद्भि॑रजायथाः ॥ ७ ॥

य० अ० २९ । मं० ३७ ॥

भाष्यम्—'आप्लृ व्याप्तौ'[3] अस्माद् धातोरप्शब्दः सिध्यति, स नित्यस्त्रीलिङ्गो बहुवचनान्तश्च। 'दिवु क्रीडाद्यर्थः', (देवीः) देव्य आपः, सर्वप्रकाशकः सर्वानन्दप्रदः, सर्वव्यापक ईश्वरः (अभिष्टये[1]) इष्टानन्दप्राप्तये, (पीतये) पूर्णानन्दभोगेन तृप्तये, (नः) अस्मभ्यं, (शम्) कल्याणकारिका भवन्तु, स ईश्वरो नः कल्याणं भावयतु प्रयच्छतु। ता आपो देव्यः स एवेश्वरो नोऽस्माकमुपरि (शंयोः) सर्वतः सुखस्य वृष्टिं करोतु। अत्र प्रमाणम्—

यत्र॑ लो॒कांश्च॒ कोशां॒श्चापो॒ ब्रह्म॒ जना॑ वि॒दुः।

अस॑च्च॒ यत्र॒ सच्चा॒न्तः स्क॒म्भं तं ब्रू॑हि कत॒मः स्वि॑दे॒व सः ॥

अथर्व० कां० १० । अ० ४ । व० २२ । मं० १० ॥[4]

अनेन वेदमन्त्रप्रमाणेनाप्शब्देन परमात्मनो ग्रहणं क्रियते। तद्यथा—

(आपो ब्रह्म जना विदुः) विद्वांस आपो ब्रह्मणो नामास्तीति जानन्ति। (यत्र लोकांश्च कोशांश्च) यस्मिन् परमेश्वरे सर्वान् भूगोलान् निधींश्च, (असच्च यत्र सच्च) यस्मिन्नन्वानित्यं कार्यं जगदेतस्य [नित्यं] कारणं च स्थितं जानन्ति। (स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः) स जगद्धाता सर्वेषां पदार्थानां मध्ये कतमोऽस्ति,[5] विद्वंस्त्वं ब्रूहीति पृच्छ्यते। (अन्तः) स जगदीश्वरः सर्वेषां जीवादिपदार्थानामाभ्यन्तरेऽन्तर्य्यामिरूपेणावस्थितोऽस्तीति भवन्तो जानन्तु ॥ ५ ॥

(कया) उपासनारीत्या (शचिष्ठया[2]) अतिशयेन सत्कर्मानुष्ठानप्रकारया, (वृता) शुभगुणेषु वर्त्तमानया, (कया) सर्वोत्तमगुणालंकृतया सभया प्रकाशितः, (चित्रः) अद्भुतानन्तशक्तिमान्, (सदावृधः) सदानन्देन वर्धमान इन्द्रः परमेश्वरः, (नः) अस्माकं (सखा) मित्रः; (आ भुवत्) यथाभिमुखो भूत्वा (ऊती) स जगदीश्वरः कृपया सर्वदा सहायकरणेनास्माकं रक्षको भवेत्, तथैवास्माभिः स सत्यप्रेमभक्त्या सेवनीय इति ॥ ६ ॥

१. इह मन्त्रे वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु '०रभीष्टय०' इत्यपपाठः, वेदभाष्ये पदच्छेदे [illegible] शुद्धपाठस्योपलम्भात्। २. इह मन्त्रे वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'सचिष्ठया' इत्यपपाठो वेदभाष्ये शुद्धपाठस्योपलम्भात्। ३. क्षीरतरङ्गिणी ५ । १७ ॥ ४. द्रष्टव्या अस्यैव पृष्ठस्य प्रथमा टिप्पणी। ५. अथर्व १० । ७ । १० ॥ ६. द्र०—पृष्ठ १२, टि० ३॥ ७. द्र०—अस्यैव पृष्ठस्य द्वितीया टि०।

हे (मर्त्या) मनुष्याः ! (उषद्भिः) परमेश्वरं कामयमानैस्तदाज्ञायां वर्त्तमानैर्विद्वद्भिर्युष्माभिः सह समागमे कृते सत्येव (अकेतवे) अज्ञानविनाशाय (केतुम्) प्रज्ञानम्, (अपेशसे) दारिद्रय-विनाशाय (पेशः) चक्रवर्त्तिराज्यादिसुखसम्पादकं धनं च (कृण्वन्) कुर्वन् सन् जगदीश्वरः (अजायथाः) प्रसिद्धो भवतीति वेदितव्यम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(शन्नो देवी०) 'आप्लृ व्याप्तौ' इस धातु से 'अप्' शब्द सिद्ध होता है। सो वह शदा स्त्रीलिङ्ग और बहुवचनान्त है। तथा 'दिवु' धातु के क्रीड़ा आदि अर्थ हैं, उससे 'देवी' शब्द सिद्ध होता है। (देवीः) अर्थात् जो ईश्वर सबका प्रकाश और सबको आनन्द देनेवाला, (आपः) सर्वव्यापक है, (अभिष्टये) वह इष्ट आनन्द और (पीतये) पूर्णानन्द की प्राप्ति के लिये, (नः) हमको सुखी होने के लिये (शम्) कल्याणकारी (भवन्तु) हो। वही परमेश्वर (नः) हम पर (शंयोः) सुख की (अभिस्रवन्तु) वृष्टि करे।

इस मन्त्र में 'आपः' शब्द से परमात्मा के ग्रहण होने में प्रमाण यह है कि—(आपो ब्रह्म जना विदुः) अर्थात् विद्वान् लोग ऐसा जानते हैं कि 'आपः' परमात्मा का नाम है। (प्रश्न)—(यत्र लोकांश्च कोशांश्च) सुनो जी ! जिसमें पृथिव्यादि सब लोक सब पदार्थ स्थित, (असच्च यत्र सच्च) तथा जिससे अनित्य कार्य जगत् और [नित्य] सब वस्तुओं का कारण, ये सब स्थित हो रहे हैं, (स्कम्भं तं ब्रू हि कतमः स्विदेव सः) वह सब लोकों को धारण करनेवाला कौन पदार्थ है ? (उत्तर)—(अन्तः) जो सब पृथिवी आदि लोक और जीवों के बीच में अन्तर्यामिरूप से परिपूर्ण भर रहा है। ऐसा जानकर आप लोग उस परमेश्वर को अपने ही अन्तःकरण में खोजो ॥५॥

(कया) जो किस उपासनारीति (शचिष्ठया) और सत्यधर्म के आचरण से सभासद सहित (वृता) सत्यविद्यादि गुणों में प्रवर्तमान, (कया) सुखरूप वर्त्तिसहित सभा से प्रकाशित (चित्रः) अद्भुतस्वरूप, (सदावधः) आनन्दस्वरूप, और आनन्द बढ़ानेवाला परमेश्वर है, वह (नः) हमारे आत्माओं में (आभुवत्) प्रकाशित हो। (ऊती) तथा किस प्रकार वह जगदीश्वर हमारा सदा सहायक होकर कृपा से नित्य रक्षा करे ? कि (उषद्भिः समजायथाः) हे अग्ने जगदीश्वर ! आपकी आज्ञा में जो रमण करनेवाले हैं, उन्हीं पुरुषों से आप जाने जाते हैं। और उन्हीं धार्मिक पुरुषों के अन्तःकरण में आप अच्छे प्रकार प्रकाशित होते रहो ॥६॥

हे विज्ञानस्वरूप ! अज्ञान के दूर करनेहारे ब्रह्मन् ! आप (केतुं कृण्वन्) हम सब मनुष्यों के आत्माओं में ज्ञान का प्रकाश करते रहिये। तथा (अकेतवे) अज्ञान और (अपेशसे) दरिद्रता के दूर करने के अर्थ [(पेशः)] विज्ञान धन और चक्रवर्ति राज्य धर्मात्माओं को देते रहिये। कि जिससे (मर्याः) जो आपके उपासक लोग है, वे कभी दुःख को न प्राप्त हों ॥७॥

इति ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषयः

अथाधिकारानधिकारविषयः संक्षेपतः

वेदादिशास्त्रपठने सर्वेषामधिकारोऽस्त्याहोस्विन्नेति ?

सर्वेषामस्ति । वेदानामीश्वरोक्तत्वात् सर्वमनुष्योपकारार्थत्वात् सत्यविद्याप्रकाशकत्वाच्च । यद्धि खलु परमेश्वररचितं वस्त्वस्ति, तत्तत् सर्वं सर्वार्थमस्तीति विजानीमः । अत्र प्रमाणम्—

यथे॒मां वाचं॑ कल्या॒णीमा॒वदा॑नि॒ जने॑भ्यः । ब्र॒ह्म॒रा॒ज॒न्या᳖भ्या॑ᳬ शू॒द्राय॒ चार्या॑य च॒ स्वाय॒ चार॑णाय [च] । प्रि॒यो दे॒वानां॒ दक्षि॑णायै दा॒तुरि॒ह भू॑यासम॒यं मे॒ कामः॒ समृ॑ध्यता॒-मुप॑ मा॒दो न॑मतु ॥ १ ॥ य० अ० २६ । मं० २ ॥

भाष्यम्—अस्याभिप्रायः—परमेश्वरः सर्वमनुष्यैर्वेदाः पठनीयाः पाठ्या इत्याज्ञां ददाति । तद्यथा—(यथा) येन प्रकारेण (इमाम्) प्रत्यक्षभूतामृग्वेदादिवेदचतुष्टयीं (कल्याणीम्) कल्याणसाधिकां (वाचम्) वाणीं (जनेभ्यः) सर्वेभ्यो मनुष्येभ्योऽर्थात् सकलजीवोपकाराय (आवदानि) आसमन्ताद् उपदिशानि, तथैव सर्वैर्विद्वद्भिः सर्वमनुष्येभ्यो वेदचतुष्टयी वागुपदेष्टव्येति ।

अत्र कश्चिदेवं ब्रूयात्—जनेभ्यो द्विजेभ्य इत्यध्याहार्य्यं, वेदाध्ययनाध्यापने तेषामेवाधिकारत्वात् ।

नैव शक्यम्—उत्तरमन्त्रभागार्थविरोधात्[1] । तद्यथा कस्य कस्य वेदाध्ययनश्रवणेऽधिकारोऽस्तीत्याकांक्षायामिदमुच्यते—

(ब्रह्मराजन्याभ्याम्) ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां, (अर्य्याय) वैश्याय, (शूद्राय), (चारणाय) अतिशूद्रायान्त्यजाय, (स्वायः) स्वात्मीयाय पुत्राय भृत्याय च । सर्वैः सैषा वेदचतुष्टयी श्राव्येति ।[2] (प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह०) यथाहमीश्वरः पक्षपातं विहाय सर्वोपकारकरणेन सह वर्त्तमानः सन्, देवानां विदुषां प्रियः दातुर्दक्षिणायै सर्वस्वदानाय प्रियश्च भूयासं स्याम्, तथैव भवद्भिः सर्वैर्विद्वद्भिरपि सर्वोपकारं सर्वप्रियाचरणं मत्वा सर्वेभ्यो वेदवाणी श्राव्येति । यथायं (मे) मम कामः समृध्यते, तथैवैवं कुर्वतां भवताम् (अयं कामः समृध्यताम्) इयमिष्टसुखेच्छा समृध्यतां

१. मन्त्रस्योत्तरभागस्य विरोधादित्यर्थः । अत्रैवं विग्रहः कार्यः—मन्त्रस्य भागो मन्त्रभागः, उत्तरश्चासौ मन्त्रभागश्च उत्तरमन्त्रभागः, तस्यार्थः, तेन विरोधात् ।

२. अयं मन्त्रः सर्वेषां मनुष्याणां सामान्येन वेदाध्ययनेऽधिकारं द्योतयति इति ग्रन्थकारप्रतिपादितोऽभिप्रायोऽन्यैरपि विगतमत्सरैर्विद्वद्भिश्चाङ्गीकृतः । तथा चाह सत्यव्रतसामश्रमी ऐतरेयालोचने—'शूद्राय वेदाधिकारे वाक्यम् वेदवचनमपि प्रदर्शितं स्वामीदयानन्देन–यथेमां वाचं······इति' (पृष्ठ १७) । एवमन्येऽप्याहुः ।

सम्यग् वर्धताम् । यथादः सर्वमिष्टसुखं मामुपनमति (उप मादो नमतु) तथैव भवतोऽपि सर्वमिष्ट-सुखमुपनमतु सम्यक् प्राप्नोत्विति ।

मया युष्मभ्यमयमाशीर्वादो दीयत इति निश्चेतव्यम् । यथा मया वेदविद्या सर्वार्था प्रकाशिता, तथैव युष्माभिरपि सर्वार्थोपकर्त्तव्या । नात्र वैषम्यं किञ्चित् कर्त्तव्यमिति । कुतः ? यथा मम सर्वप्रियार्था पक्षपातरहिता च प्रवृत्तिरस्ति, तथैव युष्माभिराचरणे कृते मम प्रसन्नता भवति, नान्यथेति । अस्य मन्त्रस्यायमेवार्थोऽस्ति । कुतः ? 'बृहस्पते अति यदर्यः'[1] इत्युत्तरस्मिन् मन्त्रे हीश्वरार्थस्यैव प्रतिपादनात् ॥ १ ॥

भाषार्थ—प्र०—वेदादिशास्त्रों के पढ़ने-पढ़ाने, सुनने और सुनाने में सब मनुष्यों का अधिकार है वा नहीं ?

उत्तर—सब का है । क्योंकि जो ईश्वर की सृष्टि है,[2] उसमें किसी का अनधिकार नहीं हो सकता । देखिये कि जो-जो पदार्थ ईश्वर से प्रकाशित हुए हैं, सो-सो सबके उपकारार्थ हैं ।

प्रश्न—वेदों के पढ़ने का अधिकार केवल तीन वर्णों को ही है । क्योंकि शूद्रादि को वेदादि-शास्त्र पढ़ने का निषेध किया जाता है । और द्विजों के पढ़ाने में भी केवल ब्राह्मण ही का अधिकार है ।

उत्तर—यह बात सब मिथ्या है । इसका विवेक और उत्तर वर्णविभाग विषय में कह आये हैं । वहां यही निर्णय हुआ है कि मूर्ख का नाम शूद्र, अतिमूर्ख का नाम अतिशूद्र है । उनके पढ़ने-पढ़ाने का निषेध इसलिये किया है कि उनको विद्याग्रहण करने की बुद्धि नहीं होती है ।

प्रश्न—परन्तु क्या सब स्त्री-पुरुषों का वेदादिशास्त्र पढ़ने-सुनने का अधिकार है ?

उत्तर—सबको है । देखो, इसमें यजुर्वेद का यह प्रमाण लिखते हैं—

(यथेमां वाचं कल्याणीं०)—इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि वेदों के पढ़ने-पढ़ाने का सब मनुष्यों को अधिकार है, और विद्वानों को उनके पढ़ाने का । इसलिये ईश्वर आज्ञा देता है कि—हे मनुष्य लोगो ! जिस प्रकार मैं तुमको चारों वेदों का उपदेश करता हूं, उसी प्रकार से तुम भी उनको पढ़के सब मनुष्यों को पढ़ाया और सुनाया करो । क्योंकि यह चारों वेदरूप वाणी सब-की कल्याण करनेवाली है । तथा (आवदानि जनेभ्यः) जैसे सब मनुष्यों के लिये मैं वेदों का उपदेश करता हूं, वैसे ही सदा तुम भी किया करो ।

प्रश्न—'जनेभ्यः' इस पद से द्विजों ही का ग्रहण करना चाहिए । क्योंकि जहां-कहीं सूत्र और स्मृतियों में पढ़ने का अधिकार लिखा है, वहां केवल द्विजों ही का ग्रहण किया है ?

उत्तर—यह बात ठीक नहीं है । क्योंकि जो ईश्वर का अभिप्राय द्विजों ही के ग्रहण करने का होता, तो मनुष्यमात्र को उनके पढ़ने का अधिकार कभी न देता । जैसा कि इस मन्त्र [के उत्तरार्ध] में प्रत्यक्ष विधान है—

---

१. यजुः २६ । ३॥ द्रष्टव्या अस्य व्याख्या, पृष्ठ ३५४ । २. अर्थात् ईश्वर के रचे हुए पदार्थ ।

(ब्रह्मराजन्याभ्याँ शूद्राय चार्य्याय च स्वाय चारणाय) अर्थात् वेदाधिकार जैसा ब्राह्मण वर्ण के लिये है, वैसा ही क्षत्रिय, अर्य्य=वैश्य, शूद्र, पुत्र, भृत्य और अतिशूद्र के लिये भी बराबर है। क्योंकि वेद ईश्वर-प्रकाशित है। जो विद्या का पुस्तक होता है, वह सबका हितकारक [होता] है। और ईश्वररचित पदार्थों के दायभागी सब मनुष्य अवश्य होते हैं। इसलिये उसका जानना सब मनुष्यों को उचित है। क्योंकि वह माल सबके पिता का सब पुत्रों के लिये है, किसी वर्णविशेष के लिये नहीं। (प्रियो देवानाम्) जैसे मैं इस वेदरूप सत्यविद्या का उपदेश करके विद्वानों के आत्माओं में प्रिय हो रहा, तथा (दक्षिणायै दातुरिह भूयासम्) जैसे दानी वा शीलवान् पुरुष को प्रिय होता हूं, वैसे ही तुम लोग भी पक्षपातरहित होकर वेदविद्या को सुनाकर सबको प्रिय होवो। (अयं मे कामः समृध्यताम्) जैसे यह वेदों का प्रचाररूप मेरा काम संसार के बीच में यथावत् प्रचरित होता है, इसी प्रकार की इच्छा तुम लोग भी करो, कि जिससे उक्त विद्या आगे को भी सब मनुष्यों में प्रकाशित होती रहे। (उप मादो नमतु) जैसे मुझमें अनन्त विद्या से सब सुख हैं, वैसे जो कोई विद्या का ग्रहण और प्रचार करेगा, उसको भी मोक्ष तथा संसार का सुख प्राप्त होगा।

यही इस मन्त्र का अर्थ ठीक है। क्योंकि इससे अगले मन्त्र '**बृहस्पते अति यदर्य्यो०**'[1] में भी परमेश्वर ही का ग्रहण किया है। इससे सबके लिये वेदाधिकार है ॥१॥

वर्णाश्रमा अपि गुणकर्माचारतो हि भवन्ति। अत्राह मनुः—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद् वैश्यात् तथैव च ॥१॥ मनु० अ० १० । श्लो० ६५ ॥

भाष्यम्—शूद्रः[2] **पूर्णविद्यासुशीलतादिब्राह्मणगुणयुक्तश्चेद् ब्राह्मणतामेति, ब्राह्मणभावं प्राप्नोति। योऽस्ति ब्राह्मणस्याधिकारस्तं सर्वं प्राप्नोत्येव। एवमेव कुचर्य्याऽधर्माचरणनिर्बुद्धिमूर्खत्वपराधीनतापरसेवादिशूद्रगुणैर्युक्तो ब्राह्मण**[3]**श्चेत् स शूद्रतामेति शूद्राधिकारं प्राप्नोत्येव। एवमेव क्षत्रियाज्जातं क्षत्रियादुत्पन्नं वैश्यादुत्पन्नं प्रति च योजनीयम्। अर्थाद्यस्य वर्णस्य गुणैर्युक्तो यो वर्णः स तत्तदधिकारं प्राप्नोत्येव ॥ १ ॥**

एवमेवापस्तम्बसूत्रे[4]**ऽप्यस्ति—**

धर्मचर्य्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ १ ॥
अधर्मचर्य्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ २ ॥

प्रश्न २ । पटल ५ । खं० ११ । सू० १०,११ ॥

भाष्यम्—सत्यधर्माचरणेनैव शूद्रो वैश्यं क्षत्रियं ब्राह्मणं च वर्णमापद्यते, समन्तात् प्राप्नोति सर्वाधिकारमित्यर्थः। जातिपरिवृत्तावित्युक्ते जातेर्वर्णस्य परितः सर्वतो या वृत्तिराचरणं तत्सर्वं प्राप्नोतीति ॥१॥

---

१. यजुः २६ । ३ ॥
२. शूद्रकुलोत्पन्न इति भावः ।
३. ब्राह्मणकुलोत्पन्न इति भावः ।
४. 'धर्मसूत्रे' इत्यभिप्रायः ।

'एवमेवासत्यलक्षणेनाधर्माचरणेन पूर्वो वर्णो ब्राह्मणो जघन्यं स्वस्मादधः स्थितं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च वर्णमापद्यते, जातिपरिवृत्तौ चेति पूर्ववत्। अर्थात् धर्माचरणमेवोत्तमवर्णाधिकारे कारणमस्ति, एवमेवाधर्माचरणं कनिष्ठवर्णाधिकारप्राप्तेश्चेति ॥[२॥]

यत्र यत्र शूद्रो नाध्यापनीयो न श्रावणीयश्चेत्युक्तं तत्रायमभिप्रायः—शूद्रस्य प्रज्ञाविरहत्वाद् विद्यापठनधारणविचारासमर्थत्वात् तस्याध्यापनं श्रावणं व्यर्थमेवास्ति, निष्फलत्वाच्चेति[२]।

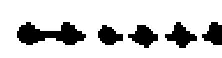
भाषार्थ—वर्णाश्रमव्यवस्था भी गुणकर्मों के आचारविभाग से होती है। इसमें 'मनुस्मृति' का भी प्रमाण है कि—(शूद्रो ब्राह्मणता०) शूद्र ब्राह्मण और ब्राह्मण शूद्र हो जाता है। अर्थात् गुणकर्मों के अनुकूल ब्राह्मण हो, तो ब्राह्मण रहता है। तथा जो ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र के गुणवाला हो, तो वह क्षत्रिय वैश्य और शूद्र हो जाता है। वैसे शूद्र भी मूर्ख हो तो वह शूद्र रहता, और जो उत्तम गुणयुक्त हो तो यथायोग्य ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य हो जाता है। वैसे ही क्षत्रिय और वैश्य के विषय में भी जान लेना।

जो शूद्र को वेदादि पढ़ने का अधिकार न होता, तो वह ब्राह्मण क्षत्रिय वा वैश्य के अधिकार को कैसे प्राप्त हो सकता? इससे यह निश्चित जाना जाता है कि पच्चीसवें वर्ष वर्णों का अधिकार ठीक-ठीक होता है। क्योंकि पच्चीस वर्ष तक बुद्धि बढ़ती है। इसलिये उसी समय गुणकर्मों की ठीक-ठीक परीक्षा करके वर्णाधिकार होना उचित है।

तथा 'आपस्तम्बसूत्र' में भी ऐसा लिखा है-(धर्मचर्यया०) अर्थात् धर्माचरण करने से नीचे के वर्ण पूर्व-पूर्व वर्ण के अधिकार को प्राप्त हो जाते हैं। सो केवल कहने ही मात्र को नहीं, किन्तु जिस-जिस वर्ण को जिन-जिन कर्मों का अधिकार है, उन्हीं के अनुसार (आपद्यते जातिपरिवृत्तौ) वे यथावत् प्राप्त होते हैं ॥१॥

(अधर्मचर्यया०) तथा अधर्माचरण करके पूर्व-पूर्व वर्ण नीचे-नीचे के वर्णों के अधिकारों को प्राप्त होते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि वेदों के पढ़ने-सुनने का अधिकार सब मनुष्यों को बराबर है ॥२॥

इति संक्षेपतोऽधिकारानधिकारविषयः



१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'एवमेव स लक्षणेना०' इत्यपपाठः, पदानामन्वयाभावात्।
२. प्रक्रमोऽयं चकारः, तस्यैवं योजना कार्या—'श्रावणं च व्यर्थमेवास्ति निष्फलत्वादिति'।

अथ पठनपाठनविषयः संक्षेपतः

तत्रादौ पठनस्यारम्भे शिक्षारीत्या[1] स्थानप्रयत्नस्वर[2]ज्ञानायाक्षरोच्चारणोपदेशः कर्त्तव्यः येन नैव स्वरवर्णोच्चारणज्ञानविरोधः स्यात् । तद्यथा—'प' इत्यस्योच्चारणमोष्ठौ मेलयित्वा कार्य्यम् । अस्यौष्ठौ स्थानं, स्पृष्टः प्रयत्न इति वेद्यम् । एवमेव सर्वत्र ।

अत्र महाभाष्यकारः पतञ्जलिमहामुनिराह—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।

स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥ १ ॥

महाभा० अ० १ । पा० १ । आ० १ ।

भाष्यम्—नैव स्थानप्रयत्नयोगेन विनोच्चारणे कृतेऽक्षराणां यथावत् प्रकाशः पदानां लालित्यं च भवति । यथा गानकर्त्ता षड्जादिस्वरालापनेऽन्यथोच्चारणं कुर्य्याच्चेत् स तस्यैवापराधो भवेत् तद्वद् वेदेष्वपि प्रयत्नेन सह स्वस्वस्थाने खलु स्वरवर्णोच्चारणं कर्त्तव्यम् । अन्यथा दुष्टः शब्दो दुःखदोऽनर्थकश्च भवति । यथावदुच्चारणमुल्लङ्घ्योच्चारिते शब्दे वक्तुरपराध एव विज्ञायते त्वं मिथ्याप्रयोगं कृतवानिति । नैव स मिथ्याप्रयुक्तः शब्दस्तमभिप्रेतमर्थमाह[3] । तद्यथा—

सकलम्-शकलम्, सकृत्-शकृदिति । सकलशब्दः सम्पूर्णार्थवाची, शकल इति खण्डवाची च । एवं सकृदित्येकवारार्थवाची, शकृदिति मलार्थवाची च । अत्र सकारोच्चारणे कर्त्तव्ये शकारोच्चारणं क्रियते चेद्, एवं शकारोच्चारणे कर्त्तव्ये सकारोच्चारणं च, तदा स शब्दः स्वविषयं नाभिधत्ते । स वाग्वज्रो भवति । यमर्थं मत्वोच्चारणं क्रियते, स शब्दस्तदभिप्रायनाशको भवति । तद्वक्तारं यजमानं तदधिष्ठातारं च हिनस्ति, तेनार्थेन हीनं करोति । यथेन्द्रशत्रुरयं शब्दः स्वरस्यापराधाद् विपरीतफलो जातः । तद्यथा—

इन्द्रः सूर्य्यलोकस्तस्य शत्रुरिव मेघः । अत्र इन्द्रशत्रुशब्दे तत्पुरुषसमासार्थमन्तोदात्ते कर्त्तव्ये आद्युदात्तकरणाद् बहुव्रीहिः समासः कृतो भवति । अस्मिन् विषये तुल्ययोगितालङ्कारेण मेघसूर्य्ययोर्वर्णनं कृतमिति, ततोऽर्थवैपरीत्यं जायते । उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषोऽन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः समासो भवति । तत्र यस्येच्छा सूर्य्यस्य[4] ग्रहणेऽस्ति, तेनेन्द्रशत्रुशब्दः तत्पुरुषसमासेना-

---

१. शिक्षा प्रथमं वेदाङ्गम्, तद्रीत्या । अस्यैव 'वर्णोच्चारणशिक्षा' इति स्पष्टं नामकरणम् ।

२. स्वर उदात्तादिरूपः ।

३. 'यदर्थमसावुच्चारितः' इति शेषः ।

४. अत्र 'सूर्यस्य ग्रहणे' 'यस्य च मेघस्य' अनयोः पाठयोः 'सूर्यस्य' 'मेघस्य' पदयोः परस्परं व्यत्यासो

न्तोदात्त' उच्चारणीयः । यस्य च मेघस्य[२], तेन बहुव्रीहिसमासमाश्रित्याद्युदात्तस्वरश्चेति नियमो-ऽस्ति । अत्रान्यथात्वे कृते मनुष्यस्य दोष एव गण्यते । अतः कारणात् स्वरोच्चारणं वर्णोच्चारणं च यथावदेव कर्त्तव्यमिति ॥ १ ॥

भाषार्थ पठनपाठन के आदि में लड़कों और लड़कियों को ऐसी शिक्षा करनी चाहिये कि वे स्थान प्रयत्न के योग से वर्णों का ऐसा उच्चारण कर सकें कि जिससे सबको प्रिय लगें। जैसे 'प' इसके उच्चारण में दो प्रकार का ज्ञान होना चाहिये—एक स्थान, और दूसरा प्रयत्न का। पकार का उच्चारण ओठों से होता है, परन्तु दो ओठों को ठीक-ठीक मिला ही के पकार बोला जाता है। इसका ओष्ठ स्थान और स्पृष्ट प्रयत्न है। और जो किसी अक्षर के स्थान में कोई स्वर वा व्यञ्जन मिला हो, तो उसको भी उसी-उसी स्थान मे प्रयत्न से उच्चारण करना उचित है। इसका सब विधान व्याकरण और शिक्षाग्रन्थ[३] में लिखा है।

फिर इस विषय में महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी कहा है कि—[(दुष्टः०)]। स्वर और वर्णों के उच्चारण में विपरीत होने से शब्द दुष्ट कहाता है। अर्थात् वह मूल अर्थ को नहीं जनाता। तथा (स वाग्वज्रो०) जैसे स्थान और प्रयत्न के योग के विना शब्द का उच्चारण प्रसन्नता करानेहारा नहीं होता, वैसे ही स्वर से विपरीत उच्चारण और गानविद्या भी सुन्दर नहीं होती। किन्तु गान का करनेवाला षड्जादि स्वरों के उच्चारण को उलटा कर देवे, तो वह अपराध उसी का समझा जाता है। इसी प्रकार वेदादिग्रन्थों में भी स्वर और वर्णों का उच्चारण यत्न से होना चाहिये। और जो उलटा उच्चारण किया जाता है, वह (दुष्टः शब्दः) दुःख देनेवाला और झूंठ[४] समझा जाता है। जिस शब्द का यथावत् उच्चारण न हो, किन्तु उससे विपरीत किया जाय, तो वह दोष बोलनेवाले का गिना जाता है। और विद्वान् लोग बोलनेवाले से कहते हैं कि—'तूने इस शब्द का शुद्ध उच्चारण नहीं किया। इससे यह तेरे अभिप्राय को यथार्थ नहीं कह सकता।'

जैसे '**सकल**' और '**शकल**' में देख लो। अर्थात् 'सकल' शब्द सम्पूर्ण का बोधक, और जो उसमें तालव्य का उच्चारण किया जाय, तो वही फिर 'खण्ड' का वाचक हो जाता है। ऐसे ही '**सकृत्**' और '**शकृत्**' में दन्त्य सकार के उच्चारण से 'एकवार[५] क्रिया' और उसी को तालव्य उच्चारण करने से 'विष्ठा' का बोध होता है[६]। इसलिये शब्दों का उच्चारण यथावत् करने से ही

लेखकप्रमादात् समजनि। नहि तत्पुरुषसमासे सूर्यप्राधान्यं संभवति, तस्योत्तरपदप्रधानत्वात्। बहुव्रीहौ न 'इन्द्रः=सूर्यः शत्रुः=शातयिता यस्य' इत्यर्थे यद्यपि बहुव्रीहेरन्यपदार्थप्रधानत्वाद् वृत्रस्य=मेघस्य प्राधान्यं प्रतीयते, तथापि इन्द्रः (=सूर्यः) तस्य शातयिता इत्यर्थस्य गम्यमानत्वात् शातयितृशात्यमानयोश्च शातयितु-रुत्कृष्टत्वात् सूर्यस्यैवोत्कृष्टत्वं द्योत्यते। यथामुद्रितपाठस्तु न कथमपि संबध्यते।

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'कर्मधारयसमासेन' इत्यपपाठः।

२. द्र०—पूर्वपृष्ठस्था टि० ४ ॥

३. अर्थात् वर्णोच्चारण की शिक्षा देनेवाला 'शिक्षा' नामक प्रथम वेदाङ्ग।

४. अर्थात् अपशब्द।

५. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'प्रथम' अपपाठ है।

६. यदपि बहु नाधीषे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम्। स्वजनः श्वजनो माभूत् सकलं शकलं सकृत् शकृत् ॥

ठीक-ठीक अर्थ का बोध होता है। क्योंकि विपरीत उच्चारण से वह वज्र के समान वक्ता अभिप्राय का नाश करनेवाला होता है। सो यह दोष बोलनेवाले का ही गिना जाता है।

जैसे—'इन्द्रशत्रुः' यहां इकार में उदात्तस्वर बोलने से बहुव्रीहि समास और अन्य पदार्थ व बोध होता है, तथा अन्तोदात्त बोलने से तत्पुरुष समास और उत्तरपदार्थ का बोध हो जाता है सूर्य्य का 'इन्द्र' और मेघ का 'वृत्रासुर' नाम है। इसके सम्बन्ध में वृत्रासुर अर्थात् मेघ का वर्ण 'तुल्ययोगितालङ्कार' से किया है। जो इन्द्र[1] अर्थात् सूर्य की उत्तमता[2] चाहे, वह समस्तपद के स्था में अन्तोदात्त उच्चारण करे। और जो मेघ की वृद्धि चाहे, वह आद्युदात्त उच्चारण करे। इसलि स्वर का उच्चारण भी यथावत् करना चाहिये ॥ [१ ॥]

तथा भाषणश्रवणासनगमनोत्थानभोजनाध्ययनविचारार्थयोजनादिनामपि शिक्षा कर्त्तव्यैव अर्थज्ञानेन सहैव पठने कृते परमोत्तमं फलं प्राप्नोति। परन्तु यो न पठति, तस्मात् स्वयं पाठमात्र कार्य्यप्युत्तमो भवति। यस्तु खलु शब्दार्थसम्बन्धविज्ञानपुरस्सरमधीते स उत्तमतरः[3]। यश्चै वेदान् पठित्वा विज्ञाय च शुभगुणकर्माचरणेन सर्वोपकारी भवति, स उत्तमतमः[3]। अत्र प्रमाणानि—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥ २ ॥

ऋ० मण्ड० १ । सू० १६४ । मं० ३९ ।

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् ।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥ ३ ॥

---

१. यहां भी संस्कृत के समान 'इन्द्र अर्थात् सूर्य की उत्तमता' और 'मेघ की वृद्धि' पाठ लेखकप्रमाद से परस्पर में विपरीत स्थान पर लिखे गए हैं। क्योंकि अन्तोदात्त स्वर तत्पुरुषसमास का होता है। तत्पुरुष-समास में उत्तरपद की प्रधानता होती है। अतः अन्तोदात्त उच्चारण करने पर वृत्र की वृद्धि जानी जाएगी। इसी प्रकार इन्द्रशत्रु पद आद्युदात्तस्वरवाला बहुव्रीहिसमास में पूर्वपदप्रकृतिस्वर से होता है। यद्यपि बहुव्रीहि में उत्तरपद का प्राधान्य होने से 'इन्द्र=सूर्य शत्रु=शातयिता है जिस वृत्र=मेघ का' यहां मेघार्थ की ही प्रधानता प्रतीत होती है, पुनरपि बहुव्रीहि के विग्रह से 'इन्द्र=सूर्य शत्रु=शातयिता=नाश करनेवाला' है, यह अर्थ जाना जाता है। इस अर्थ के द्वारा इन्द्र=सूर्य वृत्र का शत्रु=शातयिता नाशक और वृत्र=मेघ नष्ट होनेवाला है, यह स्पष्ट हो जाता है। नाशक और नष्ट होनेवाला, इन दोनों में नाशक ही श्रेष्ठ होता है। इसलिए बहुव्रीहि समास में अन्य पदार्थ के प्रधान होने से 'इन्द्र शत्रु है जिसका' उस मेघ की वृद्धि होने पर भी इन्द्र का नाशयितृ धर्म तो व्यक्त हो ही जाता है। अतः सूर्य की उत्तमता=श्रेष्ठता बहुव्रीहिसमास में ही सम्भव है।

२. 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' वाक्य में। वृद्धि=उत्तमता श्रेष्ठता।

३. उत्तमशब्दोऽव्युत्पन्नं प्रातिपदिकम्, तस्मादातिशायिकौ तरप्तमपौ प्रत्ययौ। उत्तमस्याव्युत्पन्नत्वं महाभाष्ये (४। १। ७८) स्वीकृतम्।

यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते ।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥४॥ निरु० अ० १ । खं० १८ ॥

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥ ५ ॥

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु ।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ॥ ६ ॥

ऋ० मण्ड० १० । सू० ७१ । मं० ४,५ ॥

भाष्यम्—अभिप्रायः—अत्रार्थज्ञानेन विनाऽध्ययनस्य निषेधः क्रियत इति ।

(ऋचो अक्षरे०) यस्मिन् विनाशरहिते परमोत्कृष्टे व्योमवद् व्यापके ब्रह्मणि चत्वारो वेदाः पर्य्यवसितार्थाः सन्ति । ऋग्ग्रुपलक्षणं चतुर्णां वेदानां ग्रहणार्थम् । तत् किं ब्रह्मेति[1] ? अत्राह—यस्मिन् विश्वेदेवाः=सर्वे विद्वांसो मनुष्या इन्द्रियाणि च, सूर्यादयश्च सर्वे लोका अधिनिषेदुर्यदाधारेण निषण्णाः स्थितास्तद् ब्रह्म विज्ञेयम् । (यस्तं न वेद०) यः खलु तं[2] न जानाति, सर्वोपकारकरणार्थायामीश्वराज्ञायां यथावन्न वर्त्तते, स पठितयाऽपि ऋचा वेदेन किं करिष्यति ? नैवायं कदाचिद् वेदार्थविज्ञानजातं किमपि फलं प्राप्नोतीत्यर्थः । (य इत्तद्विदुस्त इमे समासते) ये चैवं तद् ब्रह्म विदुस्त एव धर्मार्थकाममोक्षाख्यं फलं सम्यक् प्राप्नुवन्ति । तस्मात् सार्थकमेव वेदादीनामध्ययनं कर्त्तव्यम् ॥२॥

(स्थाणुरयं०) यः पुरुषो वेदमधीत्य पाठमात्रं पठित्वाऽर्थं न जानाति, तं विज्ञायाऽपि धर्मं नाचरति, स मनुष्यः स्थाणुः काष्ठस्तम्भवद् भवति अर्थाज्जडवत् विज्ञेयो भारवाहश्च । यथा कश्चिन्मनुष्यः पशुश्च भारमात्रं वहंस्तन्न भुङ्क्ते, किन्तु तेनोढं घृतमिष्टकस्तूरीकेशरादिकं कश्चिद भाग्यवानन्यो मनुष्यो भुङ्क्ते । योऽर्थविज्ञानशून्यमध्ययनं करोति स भारवाहवत् (किलाभूत्) भवतीति मन्तव्यम् । (योऽर्थज्ञ०) योऽर्थस्य ज्ञाता, वेदानां शब्दार्थसम्बन्धविद् भूत्वा धर्माचरणो भवति, स वेदार्थज्ञानेन (विधूतपाप्मा) पापरहितः सन् मरणात् प्रागेव सकलं सम्पूर्णं भद्रं भजनीयं सुखम् अश्नुते प्राप्नोति । पुनश्च शरीरं त्यक्त्वा नाकमेति सर्वदुःखरहितं मोक्षाख्यं ब्रह्मपदं प्राप्नोति । तस्माद् वेदानामर्थज्ञानधर्मानुष्ठानपूर्वकमेवाध्ययनं कर्त्तव्यम् ॥ ३ ॥

(यद् गृहीतमविज्ञातं) येन मनुष्येण यदर्थज्ञानशून्यं वेदाद्यध्ययनं[3] क्रियते, किं तु (निगदेनैव) पाठमात्रेणैव (शब्द्यते) कथ्यते, तत् (कर्हिचित्) कदाचिदपि (न ज्वलति) न प्रकाशते । कस्मिन् किमिव ? (अनग्नाविव शुष्कैधः) अविद्यमानाग्निके स्थले शुष्कं सम्प्राप्तं[4] प्रज्वलन-

१. 'किं तद् ब्रह्मेति' भावः । २. तमक्षरं ब्रह्मेत्यर्थः ।
३. अत्राद्यशब्देन वेदातिरिक्तानां ग्रन्थानां संग्रहो द्रष्टव्यः ।
४. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'सांप्रतं' इत्यपपाठो लेखकप्रमादजन्यः ।

मिन्धनमिव। यथाऽनग्नौ शुष्काणां काष्ठानां स्थापनेनापि दाहप्रकाशा न जायन्ते, तादृशमेव तदध्ययनमिति ॥४॥

(उत त्वः पश्यन्न ददर्श०) अपि खल्वेको वाचं शब्दं पश्यन्नर्थं न पश्यति। (उत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्) उ इति वितर्के, कश्चिन्मनुष्यो वाचं शब्दमुच्चारयन्नपि न शृणोति, तदर्थं न जानाति। यथा तेनोच्चारिता श्रुताऽपि वाक् अविदिता भवति, तथैवाऽर्थज्ञानविरहमध्ययनमिति मन्त्राऽर्द्धेनाविद्वल्लक्षणमुक्तम्। (उतो त्वस्मै) यो मनुष्योऽर्थज्ञानपूर्वकं वेदानामध्ययनं करोति, तस्मै (वाक्) विद्या (तन्वम्) शरीरं स्वस्वरूपं (विसस्रे) विविधतया प्रकाशयति। कस्मै का किं कुर्वतीव? (जायेव पत्य उशती सुवासाः) यथा शोभनानि वासांसि वस्त्राणि धारयन्ती पतिं कामयमाना स्त्री स्वस्वामिने स्वमात्मानं शरीरं प्रकाशयति, तथैवार्थज्ञानपूर्वकाध्ययनकर्त्रे मनुष्याय विद्या स्वमात्मानं स्वस्वरूपमीश्वरमारभ्य पृथिवीपर्य्यन्तानां पदार्थानां ज्ञानमयं प्रकाशयतीत्यर्थः ॥५॥

(सख्ये) यथा सर्वेषां प्राणिनां मित्रभावकर्मणि (उत त्वम्) अन्यमनूचानं पूर्णविद्यायुक्तं (स्थिरपीतम्) धर्मानुष्ठानेश्वरप्राप्तिरूपं मोक्षफलं पीतं प्राप्तं येन तं विद्वांसं परमसुखप्रदं मित्रम् (आहुः) वदन्ति, (नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु) ईदृशं विद्वांसं कस्मिंश्चिद् व्यवहारे केऽपि न हिंसन्ति, तस्य सर्वप्रियकारकत्वात्। तथैव नैव केचित् प्रश्नोत्तरादयो व्यवहारा वाजिनेषु विरुद्धवादिषु शत्रुभूतेष्वपि मनुष्येष्वेनमर्थविज्ञानसहितस्याध्येतारं मनुष्यं हिन्वन्ति। तस्य सत्यविद्यान्विततया कामदुहा वाचा सह वर्त्तमानत्वेन सत्यविद्याशुभलक्षणान्वितत्वात्। इत्यनेन मन्त्रपूर्वाऽर्धेन विद्वत्प्रशंसोच्यते। अथैतन्मन्त्रोत्तराऽर्द्धेनाविद्वल्लक्षणमाह—(अधेन्वा चरति) यतो यो ह्यविद्वान् (अपुष्पाम्) कर्मोपासनानुष्ठानाचारविद्यारहितां (अफलाम्) धर्मेश्वरविज्ञानाचारविरहां वाचं (शुश्रुवान्) श्रुतवान्, तयाऽर्थज्ञानसुशिक्षारहितया[1] भ्रमसहितया (मायया) कपटयुक्तया वाचाऽस्मिंल्लोके चरति, नैव स मनुष्यजन्मनि स्वार्थपरोपकाराख्यं च फलं किञ्चिदपि प्राप्नोति। तस्मादर्थज्ञानापूर्वकमेवाध्ययनमुत्तमं भवतीति ॥६॥

भावार्थ—ऐसे लड़कों और लड़कियों को बोलने-सुनने, चलने-बैठने-उठने, खाने-पीने, पढ़ने-विचारने तथा पदार्थों के जानने और जोड़ने आदि की शिक्षा भी करनी चाहिये। क्योंकि अर्थज्ञान के विना पढ़े कोई भी उत्तम फल को प्राप्त नहीं हो सकता। परन्तु कुछ भी नहीं पढ़नेवाले से तो पाठमात्र जाननेवाला ही श्रेष्ठ है। जो वेदों को अर्थसहित यथावत् पढ़के शुभ गुणों का ग्रहण और उत्तम कर्मों को करता है, वही सबसे उत्तम होता है।

इस विषय में वेदमन्त्रों के बहुत प्रमाण हैं। जैसे—(ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्०)। यहां इन मन्त्रों से अर्थज्ञान के विना पढ़ने का निषेध किया जाता है। प्र०—जिसका विनाश कभी नहीं होता, और जो सबसे श्रेष्ठ, आकाशवत् व्यापक, सबमें रहनेवाला परमेश्वर है, जिसमें चारों वेद पर्यवसित हैं, अर्थात् जो चारों वेदों द्वारा प्रतिपाद्य है[2], वह ब्रह्म क्या वस्तु है? उ०—(यस्मिन्

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'तयार्थशिक्षारहितया' अपपाठो लेखकप्रमादजन्यः। अस्माभिः स्वीकृतः पाठो हस्तलेखे दृश्यते।

२. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'जिसने अर्थसहित चारों वेद विद्यमान तथा जिसका उत्पन्न किया हुआ सब जगत् है' पाठ है। यह संस्कृत से विपरीत है।

देवा०) जिसमें सम्पूर्ण विद्वान् लोग, सब इन्द्रियां, सब मनुष्य और सब सूर्यादि लोक स्थित हैं, वह परमेश्वर कहाता है। जो मनुष्य वेदों को पढ़के ईश्वर को न जाने, तो क्या वेदार्थ जानने का फल उसको प्राप्त हो सकता है ? कभी नहीं। इसलिये जैसा वेदविषय में लिख आये हैं, वैसा व्यवहार करनेवाले मनुष्य अत्यन्त आनन्द को प्राप्त होते हैं। परन्तु जो कोई पाठमात्र ही पढ़ता है, वह उत्तम सुख को प्राप्त कभी नहीं हो सकता। इस कारण से जो कुछ पढ़ें, सो अर्थज्ञानपूर्वक ही पढ़ें ।। २ ।।

(स्थाणु०)जो मनुष्य वेदों को पढ़के उनके अर्थ को नहीं जानता, वह उनके सुख को न पाकर भार उठानेवाले पशु अथवा वृक्ष के समान है, जो कि अपने फल फूल डाली आदि को विना गुण-बोध के उठा रहे हैं। किन्तु जैसे उनके सुख को भोगनेवाला कोई दूसरा भाग्यवान् मनुष्य होता है, वैसे ही पाठ के पढ़नेवाले भी परिश्रमरूप भार को तो उठाते हैं, परन्तु उनके अर्थज्ञान से आनन्दस्वरूप फल को नहीं भोग सकते। (योऽर्थज्ञ:०) और जो अर्थ का जाननेवाला है, वह अधर्म से बचकर, धर्मात्मा होके, जन्ममरणरूप दुःख का त्याग करके, सम्पूर्ण सुख को प्राप्त होता है। क्योंकि जो ज्ञान से पवित्रात्मा होता है, वह (नाकमेति) सर्वदुःखरहित होके मोक्षसुख को प्राप्त होता है। इसी कारण वेदादिशास्त्रों को अर्थज्ञानसहित पढ़ना चाहिये ।।३।।

(यद् गृहीत०) जो मनुष्य केवल पाठमात्र ही पठन किया करता है, उसका वह पढ़ना अन्धकाररूप होता है। (अनग्नाविव शुष्कैधो०) जैसे अग्नि के विना सूखे ईंधन में दाह और प्रकाश नहीं होता, वैसे ही अर्थज्ञान के विना अध्ययन भी ज्ञानप्रकाशरहित रहता है। वह पढ़ना अविद्या-रूप अन्धकार का नाश कभी नहीं कर सकता ।।४।।

(उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत०) विद्वान् और अविद्वान् का यही लक्षण है कि जिस किसी को पढ़-सुनके भी शब्द अर्थ और सम्बन्ध का यथार्थ ज्ञान न हो, वह 'मूर्ख' अर्थात् अविद्वान् है। (उतो त्वस्मै०) और जो मनुष्य शब्द अर्थ सम्बन्ध तथा विद्या के प्रयोजन को यथावत् जान ले, वह पूर्ण 'विद्वान्' कहाता है। ऐसे ही श्रेष्ठ पुरुष को विद्या के स्वरूप के ज्ञान से परमानन्दरूप फल भी होता है। (जायेव पत्य उशती सुवासाः) अर्थात् जैसे पतिव्रता स्त्री अपने ही पति को अपना शरीर दिखलाती है, वैसे ही अर्थ जाननेवाले विद्वान् हो को विद्या भी अपने रूप का प्रकाश करती है ।।५।।

(उत त्वं सख्ये०) सब मनुष्यों को उचित है कि विद्वानों के साथ प्रीति करें। अर्थात् जैसे सम्पूर्ण मनुष्यों के [साथ] मैत्री करने योग्य मनुष्य को सब लोग सुख देते हैं, वैसे ही तू भी जो वेदादि विद्या और विज्ञानयुक्त पुरुष है, उसको अच्छी प्रकार सुख दे। कि जिससे तुझे विद्यारूप लाभ सदा होता रहे। 'विद्वान्' नाम उसका है जो कि अर्थसहित विद्या को पढ़के वैसा ही आचरण करे, कि जिससे धर्म अर्थ काम मोक्ष और परमेश्वर की प्राप्ति यथावत् हो सके। इसी को 'स्थिरपीत' कहते हैं। ऐसा जो विद्वान् है, वह संसार को सुख देनेवाला होता है। (नैनं हि०) उस को कोई भी मनुष्य दुःख नहीं दे सकता। क्योंकि जिसके हृदय में विद्यारूप सूर्य प्रकाशित हो रहा है, उसको दुःखरूप चोर दुःख कभी नहीं दे सकते। (अधेन्वा च०)और जो कोई अविद्यारूप अर्थात् अर्थ

और अभिप्रायरहित वाणी को सुनता और कहता है, उसको कभी कुछ भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता। किन्तु शोकरूप शत्रु उसको सब दिन दुःख ही देते रहते हैं। क्योंकि विद्याहीन होने से वह उन शत्रुओं को जीतने में समर्थ नहीं हो सकता। इसलिए अर्थज्ञानसहित ही पढ़ने से मनचाहा सुखलाभ होता है ॥ ६ ॥

मनुष्यैर्वेदार्थविज्ञानाय व्याकरणाष्टाध्यायीमहाभाष्याध्ययनम्, ततः [कल्प] निघण्टुनिरुक्तछन्दोज्योतिषां[1] वेदाङ्गानाम्, ततो मीमांसावैशेषिकन्याययोगसांख्यवेदान्तानां वेदोपाङ्गानां षण्णां शास्त्राणाम्, तत ऐतरेयशतपथसामगोपथब्राह्मणानामध्ययनं च कृत्वा वेदार्थपठनं कर्त्तव्यम्। यद्वा—एतत् सर्वमधीतवद्भिः कृतं वेदव्याख्यानं दृष्ट्वा च वेदार्थज्ञानं सर्वैः कर्त्तव्यमिति।

कुतः, 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्'[2] इति। यो मनुष्यो वेदार्थान्न वेत्ति, स नैव तं बृहन्तं परमेश्वरं धर्मं विद्यासमूहं वा वेत्तुमर्हति। कुतः, सर्वासां विद्यानां वेद एवाधिकरणमस्त्यतः। नहि तमविज्ञाय कस्यचित् सत्यविद्याप्राप्तिर्भवितुमर्हति। यद्यत् किञ्चिद् भूगोलमध्ये पुस्तकान्तरेषु हृदयान्तरेषु वा सत्यविद्याविज्ञानमभूत् भवति भविष्यति च, तत् सर्वं वेदादेव प्रसृतमिति विज्ञेयम्[3]। कुतः! यद्यद् यथार्थं विज्ञानं तत्तदीश्वरेण वेदेष्वधिकृतमस्ति। तद्द्वारैवाऽन्यत्र कुत्रचित् सत्यप्रकाशो भवितुं योग्यः। अतो वेदार्थविज्ञानाय सर्वैर्मनुष्यैः प्रयत्नोऽनुष्ठेय इति।

भाषार्थ—मनुष्य लोग वेदार्थ जानने के लिये अर्थयोजना-सहित व्याकरण अष्टाध्यायी धातुपाठ उणादिगण गणपाठ और महाभाष्य, शिक्षा,[4] कल्प, निघण्टु, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये छः वेदों के अङ्ग; मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त ये छः शास्त्र, जो वेदों के उपाङ्ग, अर्थात् जिनसे वेदार्थ ठीक-ठीक जाना जाता है। तथा ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ ये चार ब्राह्मण, इन सब ग्रन्थों को क्रम से पढ़के, अथवा जिन्होंने उन सम्पूर्ण ग्रन्थों को पढ़के जो सत्य-सत्य वेद-व्याख्यान किये हों, उनको देखके वेद का अर्थ यथावत् जान लेवें।

---

१. अत्र षट्स्वङ्गेषु शिक्षाया अध्ययनं पूर्वमुक्तम्। व्याकरणनिरुक्तछन्दोज्योतिषामध्ययनमिह प्रतिपादितम्। 'कल्प' शब्दो लिपिकरप्रमादान्नष्टः स्यात्, भाषार्थे कल्पाध्ययनमप्युक्तत्वात्। निघण्टुनिरुक्तशब्दाभ्यां निरुक्तनामाङ्गमुच्यते। निघण्टुर्नाम मूलग्रन्थः, निरुक्तं च तद्भाष्यम्। यथा व्याकरणप्रसङ्गेऽष्टाध्यायीमहाभाष्ययोर्व्याख्येयव्याख्यानग्रन्थयोः सह निर्देशस्तथैवेहापि ज्ञेयम्।

२. द्र०—शाट्यायनोप० ४, इतिहासोप० २०।

३. 'भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति'। मनु १२।९७॥

'यानीहागमशास्त्राणि याश्च काश्चित् प्रवृत्तयः।
तानि वेदं पुरस्कृत्य प्रवृत्तानि यथाक्रमम् ॥ महाभारत अनु० १२२। ४॥

'निसृतं सर्वशास्त्रं तु वेदशास्त्रात् सनातनात् ॥ याज्ञवल्क्य

४. यहां 'शिक्षा पद का निर्देश व्यर्थ है। शिक्षा के अध्ययन का विधान आरम्भ में कर दिया है। संस्कृत में भी शिक्षा पद नहीं है।

क्योंकि 'नावेदवित्०'[1] वेदों को नहीं जाननेवाला मनुष्य परमेश्वरादि सब पदार्थविद्याओं को अच्छी प्रकार से नहीं जान सकता। और जो-जो जहां-जहां भूगोल में वा पुस्तकों अथवा मन में सत्य ज्ञान प्रकाशित हुआ है और होगा, वह सब वेदों में से ही हुआ है[2]। क्योंकि जो-जो सत्य विज्ञान है, सो-सो ईश्वर ने वेदों में धर रक्खा है। इसी के द्वारा अन्य स्थानों में भी प्रकाश होता है। और विद्या के विना पुरुष अन्धे के समान होता है। इससे सम्पूर्ण विद्याओं के मूल वेदों को विना पढ़े किसी मनुष्य को यथावत् ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये सब मनुष्यों को वेदादिशास्त्र अर्थज्ञानसहित अवश्य पढ़ने चाहियें।

इति पठनपाठनविषयः संक्षेपतः



१. देखो पूर्व पृष्ठ ३६८ की टि० २। २. देखो पूर्व पृष्ठ ३६८ की टि० ३।

अथ सङ्क्षेपतो भाष्यकरणशङ्कासमाधानादिविषयः

प्रश्नः—किञ्च भो! नवीनं भाष्यं त्वया क्रियते, आहोस्वित् पूर्वाचार्यैः कृतमेव प्रकाश्यते ? यदि [1][नवीनं रच्यते, तर्हि तस्य स्वकल्पनाप्रसूतत्वात् न केनापि ग्राह्यं भवितुमर्हति । यदि] पूर्वैः कृतमेव प्रकाश्यते, तर्हि तत् पिष्टपेषणदोषेण दूषितत्वान्न केनापि ग्राह्यं भवतीति ?

उत्तरम्—पूर्वाचार्यैः कृतं प्रकाश्यते । तद्यथा—यानि पूर्वैर्देवैर्विद्वद्भिर्ब्रह्माणमारभ्य याज्ञवल्क्यवात्स्यायनजैमिन्यन्तैर्ऋषिभिश्चैतरेयशतपथादीनि भाष्याणि रचितान्यासन्, तथा यानि पाणिनिपतञ्जलियास्कादिमहर्षिभिश्च वेदव्याख्यानानि वेदाङ्गाख्यानि[2] कृतानि, एवमेव जैमिन्यादिभिर्वेदोपाङ्गाख्यानि षट् शास्त्राणि, एवमुपवेदाख्यानि, तथैव वेदशाखाख्यानि च रचितानि सन्ति । एतेषां संग्रहमात्रेणैव सत्योऽर्थः प्रकाश्यते । न चात्र किञ्चिदप्रमाणं नवीनं स्वेच्छया रच्यत इति ।

प्रश्न—किमनेन फलं भविष्यतीति ?

उत्तरम्—यानि [3]रावणोवटसायणमहीधरादिभिर्वेदार्थविरुद्धानि भाष्याणि कृतानि, यानि चैतदनुसारेणेङ्गलेण्डशारमण्यदेशोत्पन्नैर्यूरोपखण्डदेशनिवासिभिः स्वदेशभाषया स्वल्पानि व्याख्यानानि कृतानि, तथैवार्य्यावर्त्तदेशस्थैः कैश्चित्तदनुसारेण प्राकृतभाषया[4] व्याख्यानानि कृतानि वा क्रियन्ते च, तानि सर्वाण्यनर्थगर्भाणि सन्तीति सज्जनानां हृदयेषु यथावत् प्रकाशो भविष्यति, [5]टीकानामधिकदोषप्रसिद्ध्या त्यागश्च । परन्त्ववकाशाभावात् तेषां दोषाणामत्र स्थालीपुलाकन्यायवत् प्रकाशः क्रियते । तद्यथा—

[सायणभाष्य-दोष-निदर्शनम्]

यत् सायणाचार्येण वेदानां [6]परममर्थमविज्ञाय 'सर्वे वेदाः क्रियाकाण्डपराः सन्ति'[7]

---

१. कोष्ठान्तर्गतः पाठो लिपिकरप्रमादान्मुद्रणप्रमादाद्वा नष्टः । उभयत्र 'यदि' पदस्य प्रयोगाद् दृष्टिदोषरूपः प्रमादः सुकरः ।

२. वेदाङ्गानि न साक्षाद् वेदव्याख्यानानि, किन्तु यथा शरीराङ्गानि शरीरोपकारकाणि भवन्ति, तथैव वेदाङ्गान्यपि वेदोपकारकाणि वेदार्थज्ञाने साक्षात् साहाय्यभूतानि सन्ति । तस्मादिह व्याख्यानशब्दः लक्षणया व्याख्यानसाधने प्रवृत्तः । एवमुत्तरत्र उपाङ्गोपवेदादिग्रन्थानां विषयेऽपि द्रष्टव्यम् ।

३. रावणोऽयं न लङ्केशः, दाक्षिणात्योऽयं कश्चिद् विद्वान् । एतद्भाष्यविषये वैदिकवाङ्मयैतिह्यं (पं० भगवद्दत्तकृतं, भाग २) द्रष्टव्यम् ।

४. 'प्राकृतभाषया' पदेन 'सम्भवतः तस्मिन् काले प्रकाशमाणस्य वेदार्थयत्नाख्यग्रन्थस्य विषये संकेतः स्यात् । वेदार्थयत्ने ऋग्वेदस्य संस्कृताङ्गलभाषाभ्यां सह मराठीभाषायामपि व्याख्यानमभूत् । वेदार्थयत्नस्य प्रकाशनमपि ग्रन्थकारीयर्ग्यजुभाष्यमिव मङ्क्षु एवाजायत ।

५. महीधरादिविरचितानां टीकानामित्यर्थः ।

६. परममर्थम् अध्यात्ममित्यर्थः ।

७. प्रायेण सर्वेष्वपि वेदभाष्योपोद्घातेष्वयमर्थः सायणेनोक्तः ।

इत्युक्तम्'[1], तदन्यथास्ति। कुतः, तेषां सर्वविद्यान्वितत्वात्। तच्च पूर्वं संक्षेपतो लिखितमस्ति। एतावतैवास्य कथनं व्यर्थमस्तीत्यवगन्तव्यम्।

इन्द्रं मित्रं०[2] अस्य मन्त्रस्यार्थोऽप्यन्यथैव वर्णितः। तद्यथा—तेनात्रेन्द्रशब्दो विशेष्यतया गृहीतो मित्रादीनि च विशेषणतया। अत्र खलु विशेष्योऽग्निशब्द इन्द्रादीनां विशेषणानां सङ्गेऽन्वितो भूत्वा, पुनः स एव सद्वस्तुब्रह्मविशेषणं भवति। एवमेव विशेष्यं प्रति विशेषणं पुनः पुनरन्वितं भवतीति, न चैवं विशेषणम्। एवमेव यत्र शतं सहस्रं चैकस्य विशेष्यस्य विशेषणानि भवेयुः, तत्र विशेष्यस्य पुनः पुनरुच्चारणं भवति,[3] विशेषणस्यैकवारमेवेति। तथैवात्र मन्त्रे परमेश्वरेणाग्निशब्दो द्विरुच्चारितो विशेष्यविशेषणाऽभिप्रायत्वात्। इदं सायणाचार्य्येण नैव बुद्धमतस्तस्य भ्रान्तिरेव जातेति वेद्यम्। निरुक्तकारेणाप्यग्निशब्दो विशेष्यविशेषणत्वेनैव[4] वर्णितः। तद्यथा—'इममेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्तीन्द्रं मित्रं वरुणमित्यादि०॥' निरु० अ० ७। खं० १८॥ स चैकस्य सद्वस्तुनो ब्रह्मणो नामास्ति। तस्मादग्न्यादीनीश्वरस्य नामानि सन्तीति बोध्यम्।

तथा च—[5]'तस्मात् सर्वैरपि परमेश्वर एव हूयते, [6]'यथा राज्ञः पुरोहितः [7]तदभीष्टं सम्पादयति, [8]यद्वा यज्ञस्य सम्बन्धिनि पूर्वभागे आहवनीयरूपेणावस्थितम्' इत्युक्तम्।

इदमपि पूर्वापरविरुद्धमस्ति। तद्यथा—'सर्वैर्नामभिः परमेश्वर एव हूयते' चेत् पुनस्तेन होमसाधक आहवनीयरूपेणावस्थितो भौतिकोऽग्निः किमर्थो गृहीतः। तस्येदमपि वचनं भ्रममूलमेव।

कोऽपि ब्रूयात्—सायणाचार्य्येण[9] 'यद्यपीन्द्रादयस्तत्र तत्र हूयन्ते, तथापि परमेश्वरस्यैवेन्द्रादिरूपेणावस्थानादविरोधः' इत्युक्तत्वाददोष इति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—यदीन्द्रादिभिर्नामभिः परमेश्वर एवोच्यते, तर्हि परमेश्वरस्येन्द्रादिरूपावस्थितिरनुचिता। तद्यथा—'अज एकपात्'[10]; 'स पर्यगाच्छुक्रमकायम्'[11] इत्यादिमन्त्रार्थेन परमेश्वरस्य जन्मरूपवत्त्वशरीरधारणादिनिषेधात् तत्कथनमसदस्ति।

एवमेव सायणाचार्य्यकृतभाष्यदोषा बहवः सन्ति। अग्रे यत्र-यत्र यस्य यस्य मन्त्रस्य व्याख्यानं करिष्यामस्तत्र तत्र तद्भाष्यदोषान् प्रकाशयिष्याम इति।

---

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'क्रियाकाण्डतत्पराः' इत्यपपाठः। २. ऋ० १। १६४। ४६॥

३. विशेषणेन सह संयोगार्थमिति शेषः। ४. अस्यायं भावः—इन्द्रादीन्यपेक्ष्याग्निशब्दो विशेष्यत्वेन, सद्वस्तुनो ब्रह्मणोऽपेक्षया विशेषणत्वेन वर्णित इति।

५. इदं वाक्यं सायणीयऋग्वेदभाष्योपोद्घातारम्भे 'तद् यद् इदमाहुः' इति उपनिषदोद्धरणानन्तरं पठ्यते।

६. इदं वाक्यम् 'अग्निमीळे' (ऋ० १। १। १) मन्त्रव्याख्याने पठ्यते।

७. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'सदभीष्टं' इत्यपपाठः।

८. इदमपि वाक्यम् 'अग्निमीळे' मन्त्रव्याख्यान एव पठ्यते।

९. इदं वचनमृग्वेदस्य सायणभाष्योपोद्घातस्यादौ 'तस्माद्यज्ञात्' मन्त्रव्याख्याने पठितम्।

१०. ऋ० ७। ३५। १३॥ ११. यजुः ४०। ८॥

भाषार्थ—प्रश्न—क्योंजी ! जो तुम यह वेदों का भाष्य बनाते हो, सो पूर्व आचार्यों के भाष्य के समान बनाते हो, वा नवीन। जो पूर्वरचित भाष्यों के समान है, तब तो बनाना व्यर्थ है। क्योंकि वे तो पहिले से ही बने-बनाये हैं। और जो नया बनाते हो, तो उसको कोई भी न मानेगा। क्योंकि जो विना प्रमाण के केवल अपनी ही कल्पना से बनाना है, यह बात कब ठीक हो सकती है ?

उत्तर—यह भाष्य प्राचीन आचार्यों के भाष्यों के अनुकूल बनाया जाता है। परन्तु जो रावण[1], उवट, सायण और महीधर आदि ने भाष्य बनाये हैं, वे सब मूलमन्त्र और ऋषिकृत व्याख्यानों से विरुद्ध हैं। मैं वैसा भाष्य नहीं बनाता। क्योंकि उन्होंने वेदों की सत्यार्थता और अपूर्वता कुछ भी नहीं जानी। और जो यह मेरा भाष्य बनता है, सो तो वेद वेदाङ्ग ऐतरेय शतपथब्राह्मणादि ग्रन्थों के अनुसार होता है। क्योंकि जो-जो वेदों के सनातन व्याख्यान हैं, उनके प्रमाणों से युक्त बनाया जाता है, यही इस में अपूर्वता है। क्योंकि जो-जो [ग्रन्थ] प्रामाण्याप्रामाण्यविषय में वेदों से भिन्न शास्त्र गिनाये हैं, वे सब वेदों के ही व्याख्यान हैं। वैसे ही ग्यारहसौ सत्ताईस=११२७ वेदों की शाखा भी उनके व्याख्यान ही हैं। उन सब ग्रन्थों के प्रमाणयुक्त यह भाष्य बनाया जाता है।

और दूसरा इसके अपूर्व होने का कारण यह भी है कि इसमें कोई बात अप्रमाण वा अपनी [कल्पित] रीति से नहीं लिखी जाती। और जो-जो भाष्य उवट, सायण, महीधरादि ने बनाये हैं, वे सब मूलार्थ और सनातन वेदव्याख्यानों से विरुद्ध हैं। तथा जो-जो इन नवीन भाष्यों के अनुसार अंग्रेजी, जर्मनी, दक्षिणी[2] और बंगाली आदि भाषाओं में वेदव्याख्यान बने हैं, वे भी अशुद्ध हैं।

जैसे देखो—सायणाचार्य्य ने वेदों के [परम=] श्रेष्ठ अर्थ[3] को नहीं जानकर कहा है कि 'सब वेद क्रियाकाण्ड का ही प्रतिपादन करते हैं।'

यह उनकी बात मिथ्या है। इसके उत्तर में जैसा कुछ इसी भूमिका के पूर्व प्रकरणों में संक्षेप से लिख चुके हैं, सो देख लेना।

ऐसे ही सायणाचार्य्य ने (इन्द्रं मित्रं०) इस मन्त्र का अर्थ भी भ्रान्ति से बिगाड़ा है। क्योंकि उन ने इस मन्त्र में विशेष्य-विशेषण को अच्छी रीति से नहीं समझकर 'इन्द्र' शब्द को तो विशेष्य करके वर्णन किया, और मित्रादि शब्द उसके विशेषण ठहराये हैं। यह उनको बड़ा भ्रम हो गया। क्योंकि इस मन्त्र में 'अग्नि' शब्द विशेष्य और इन्द्रादि शब्द उसके ही विशेषण हैं। इसलिये विशेषणों [में एक] का विशेष्य के साथ अन्वय होकर पुनः दूसरे-दूसरे विशेषण के साथ

१. यह रावण लङ्काधिपति नहीं है, अपितु दाक्षिणात्य विद्वान् है। इसके विषय में विशेष जो जानना चाहें, वे श्री पं० भगवद्दत्तकृत 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' भाग २ में देखें।

२. ऋ० द० के काल में 'वेदार्थयत्न' के नाम से ऋग्वेद का भाष्य अङ्कशः छपता था। उसमें संस्कृत और अंग्रेजी भाषा के साथ मराठी भाषा में भी मन्त्र-व्याख्यान छपता था।

३. अर्थात् अध्यात्मपरक अर्थ।

विशेष्य का अन्वय कराना होता, और विशेषण का एक बार विशेष्य के साथ अन्वय होता है। इसी प्रकार जहां-जहां एक के सैकड़ों वा हजारों विशेषण होते हैं, वहां-वहां भी विशेष्य का सैकड़ों वा हजारों बार उच्चारण[1] होता है। वैसे ही इस मन्त्र में विशेष्य की इच्छा से ईश्वर ने अग्नि शब्द को दो बार उच्चारण किया, और अग्नि आदि ब्रह्म के नाम कहे हैं। यह बात सायणाचार्य्य ने नहीं जानी। इससे उनकी यह भ्रान्ति सिद्ध होती है। इसी प्रकार निरुक्तकार ने भी अग्नि शब्द को विशेष्य ही वर्णन किया है—(इममेवाग्निं०)। यहां अग्नि और इन्द्रादि नाम एक सद् वस्तु ब्रह्म ही के हैं। क्योंकि इन्द्रादि शब्द अग्नि के विशेषण और अग्नि आदि ब्रह्म के नाम हैं।

ऐसे सायणाचार्य्य ने और भी बहुत मन्त्रों की व्याख्याओं में शब्दों के अर्थ उलटे किये हैं। तथा उनने—'सब पुरुषों से परमेश्वर ही पुकारा जाता है,[2] जैसे राजा का पुरोहित राजा ही के हित का काम सिद्ध करता है। अथवा जो अग्नि यज्ञ के सम्बन्धी पूर्व[3] भाग में [आहवनीय के रूप में] हवन करने के लिये [स्थित] है,' ऐसा कहा है।[4]

यह सायणाचार्य्य का कथन अयोग्य और पूर्वापरविरोधी होकर आगे-पीछे के सम्बन्ध को तोड़ता है। क्योंकि जब सब नामों से परमेश्वर ही का ग्रहण करते हैं, तो फिर जिस [भौतिक] अग्नि में हवन करते हैं, उसको किस लिये ग्रहण किया है?

और कदाचित् कोई कहे कि सायणाचार्य्य ने [5]"यद्यपि इन्द्रादि देव ही वहां-वहां बुलाए जाते हैं, फिर भी परमेश्वर के ही इन्द्रादिरूप से उपस्थित होने से कुछ भी विरोध नहीं आ सकता।' [ऐसा कहा है, इसलिए कोई दोष नहीं है।]

इसका उत्तर यह है कि जब इन्द्रादि नामों से परमेश्वर ही का ग्रहण है, तो वह निराकार, सर्वशक्तिमान्, व्यापक और अखण्ड होने से जन्म लेकर भिन्न-भिन्न व्यक्तिवाला कभी नहीं हो सकता। क्योंकि वेदों में परमेश्वर का एक **अज** और **अकाय** अर्थात् शरीरसम्बन्धरहित आदि गुणों के साथ वर्णन किया है। इससे सायणाचार्य्य का कथन सत्य नहीं हो सकता। इसी प्रकार सायणाचार्य्य ने जिस-जिस मन्त्र का अन्यथा व्याख्यान किया है, सो सब क्रमपूर्वक आगे उन मन्त्रों के व्याख्यान में लिख दिया जायेगा।

---

१. विशेषण के साथ अन्वय-द्योतन के लिये।

२. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'सब मन्त्रों से परमेश्वर का ग्रहण कर रखा है' संस्कृतविरुद्ध अपपाठ है। यहां सायण के तीन वाक्य उद्धृत किए गए हैं। उनके पते संस्कृतभाग की टिप्पणी में दर्शा दिए हैं।

३. अर्थात् वेदि के पूर्व भाग में। वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'प्रथम' अपपाठ है।

४. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'है, उसी रूप से ईश्वर स्थित है' भावार्थ सायणाभिप्राय से विरुद्ध स्वकल्पित है।

५. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'जो सायणाचार्य ने वहां इन्द्रादि देवताओं का ही ग्रहण किया हो तो उससे कुछ भी' पाठ है, यह सायणीय भाष्य का विपरीत अनुवाद है।

[महीधरभाष्य-दोष-प्रदर्शनम्]

एवमेव महीधरेण महानर्थरूपं वेदार्थदूषकं वेददीपाख्यं [1]विवरणं कृतं तस्यापीह दोषा दिग्दर्शनवत् प्रदर्श्यन्ते—

भाषार्थ—इसी प्रकार महीधर ने भी यजुर्वेद पर मूल से अत्यन्त विरुद्ध व्याख्यान किया है। उसमें से सत्यासत्य की परीक्षा के लिये उसके कुछ दोष यहां भी दिखलाते हैं—

गणानां त्वा गणपतिꣳ हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिꣳ हवामहे निधीनां त्वा निधिपतिꣳ हवामहे वसो मम। आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम्॥ १॥

यजुः० अ० २३। मं० १९॥

भाष्यम्—अस्य मन्त्रस्य व्याख्याने [2]तेनोक्तम्—[3]"अस्मिन्मन्त्रे गणपतिशब्दादश्वो वाजी ग्रहीतव्य इति। तद्यथा महिषी यजमानस्य पत्नी यज्ञशालायां पश्यतां सर्वेषामृत्विजामश्वसमीपे शेते। शयाना सत्याह—हे अश्व! गर्भधं गर्भं दधाति गर्भधं गर्भधारकं रेतः, अहम् आ अजानि आकृष्य क्षिपामि। त्वं च गर्भधं रेतः आ अजासि आकृष्य क्षिपसि'॥[१॥]

भाषार्थ—(गणानां त्वा०) इस मन्त्र में महीधर[4] ने कहा है कि—गणपति शब्द से घोड़े का ग्रहण है। सो देखो महीधर का उल्टा अर्थ कि 'सब ऋत्विजों के सामने यजमान की स्त्री घोड़े के पास सोवे, और सोती हुई घोड़े से कहे कि—हे अश्व! जिससे गर्भ धारण होता है, ऐसा जो तेरा वीर्य्य है, उसको मैं खैंच के अपनी योनि में डालूं, तथा तू उस वीर्य्य को मुझमें स्थापन करनेवाला है॥[१॥]

अथ सत्योऽर्थः—गणानां त्वा गणपतिं हवामह इति ब्राह्मणस्पत्यं, ब्रह्म वै बृहस्पतिर्ब्रह्मणैवैनं तद्भिषज्यति, प्रथश्च यस्य सप्रथश्च नामेति। ऐत० पं० १। कं० २१॥

प्रजापतिर्वै जमदग्निः सोऽश्वमेधः॥ क्षत्रं वाश्वो विडितरे पशवः॥ क्षत्रस्यैतद्रूपं यद्धिरण्यम्॥ ज्योतिर्वै हिरण्यम्॥

श० कां० १३। अ० २। ब्रा० २। कं० १४, १५, १७, १६॥

न वै मनुष्यः स्वर्गं लोकमञ्जसा वेदाश्वो वै स्वर्गं लोकमञ्जसा वेद॥

श० कां १३। अ० २। ब्रा० ३। कं० १॥

---

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'विवर्ण' अपपाठः। महीधरस्यार्थविषयिकी विशिष्टा टिप्पणी प्रकरणान्ते द्रष्टव्या।

२. महीधरेणेति शेषः। ३. अस्मिन् प्रकरणे निर्दिष्टो महीधरस्यार्थस्तद्भाष्यस्य संक्षेपरूपो ज्ञेयः।

४. महीधर के अर्थों के सम्बन्ध में विशेष टिप्पणी प्रकरण के अन्त में देखें।

राष्ट्रमश्वमेधो ज्योतिरेव तद्राष्ट्रे दधाति ॥ क्षत्रायैव तद्विशं कृतानुकरामनुवर्त्मानं[1] करोति ॥ अथो क्षत्रं वा अश्वः क्षत्रस्यैतद्रूपं यद्धिरण्यं, क्षत्रमेव तत् क्षत्रेण समर्धयति ॥ विशमेव तद्विशा समर्धयति ॥

श० कां० १३। अ० २। ब्रा० २। कं० १६, १५, १७, १९ ॥

गणानां त्वा गणपतिᳬ हवामह इति। पत्न्यः परियन्त्यपह्नुवत एवास्मा एतदतोऽन्येवास्मै ह्नुवतेऽथो धुवत एवैनं त्रिः परियन्ति, त्रयो वा इमे लोका एभिरेवैनं लोकैर्धुवते, त्रिः पुनः परियन्ति षट् सम्पद्यन्ते, षड् वा ऋतव ऋतुभिरेवैनं धुवते ॥ अप वा एतेभ्यः प्राणाः क्रामन्ति, ये यज्ञे धुवनं तन्वते, नवकृत्वः परियन्ति, नव वै प्राणाः, प्राणानेवात्मन् दधते, नैभ्यः प्राणा अपक्रामन्त्याहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधमिति, प्रजा वै पशवो गर्भः प्रजामेव पशूनात्मन् धत्ते ॥ श० कां० १३। अ० २। ब्रा० ८। कं० ४,५॥

भाष्यम्—(गणानां त्वा०) वयं गणानां गणनीयानां पदार्थसमूहानां गणपतिं पालकं स्वामिनं (त्वा) त्वां परमेश्वरं (हवामहे) गृह्णीमः। तथैव सर्वेषां प्रियाणामिष्टमित्रादीनां मोक्षादीनां च प्रियपतिं त्वेति पूर्ववत्। एवमेव निधीनां विद्यारत्नादिकोशानां निधिपतिं त्वेति पूर्ववत्। वसत्यस्मिन् सर्वं जगद्वा यत्र वसति स वसुः परमेश्वरः, तत्सम्बुद्धौ हे वसो परमेश्वर! त्वम्[2] सर्वान् कार्य्यान् भूगोलान् स्वसामर्थ्ये गर्भवद्धातीति स गर्भधस्तं त्वामहं भवत्कृपया आजानि सर्वथा जानीयाम्। (आ त्वमजासि) हे भगवन्! त्वं तु आ समन्ताज्ज्ञातासि। पुनर्गर्भधमित्युक्त्या वयं प्रकृतिपरमाण्वादीनां गर्भधानामपि गर्भधं त्वां मन्यामहे। नैवातो भिन्नः कश्चिद् गर्भधारकोऽस्तीति।

एवमेवैतरेयशतपथब्राह्मणे[3] गणपतिशब्दार्थो वर्णितः—(ब्राह्मणस्पत्यं०) अस्मिन् मन्त्रे ब्रह्मणो वेदस्य पतेर्भावो वर्णितः। ब्रह्म वै बृहस्पतिरित्युक्तत्वात् तेन ब्रह्मोपदेशेनैवैनं जीवं यजमानं वा सत्योपदेष्टा विद्वान् भिषज्यति रोगरहितं करोति। आत्मनो भिषजं वैद्यमिच्छतीति। यस्य परमेश्वरस्य प्रथः सर्वत्र व्याप्तो विस्तृतः, सप्रथश्च—प्रकृत्याकाशादिना प्रथेन[4] स्वसामर्थ्येन वा सह वर्त्तते स सप्रथः, तदिदं नामद्वयं तस्यैवास्तीति।

---

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु '०मनुवर्त्तमानं' इत्यपपाठः। तथैवैतद्व्याख्यानेऽप्यपपाठः।

२. वै० य० मुद्रिते प्रथमसंस्करणे 'परमेश्वरपरत्वम्' इत्यपपाठः। स च द्वितीयसंस्करणे यथावत् शोधितः सन् आपञ्चमसंस्करणमुपलभ्यते। तदनु शताब्दीसंस्करणे शोधितं पाठमपसार्य्यापपाठः पुनः सन्निवेशितः। स चापपाठो नवमसंस्करणपर्यन्तमनुवर्तते।

३. ऐतरेयं च शतपथं चैतरेयशतपथम्, अध्ययनतोऽविप्रकृष्टाख्यानाम् (अष्टा० २। ४। ५) इति नियमेनैकवद्भावः। तत एतरेयशतपथं च तद् ब्राह्मणं चैतरेयशतपथब्राह्मणं, तस्मिन्। 'ऐतरेयशतपथब्राह्मणयो-' रिति सुगमः पाठो वात्र द्रष्टव्यः।

४. 'प्रथेन व्यापकेन प्रकृत्याकाशादिना स्वसामर्थ्येन वा सह वर्तते' इत्येवमभिप्रायो ज्ञेयः।

प्रजापतिः परमेश्वरो वै इति निश्चयेन 'जमदग्निसंज्ञो'ऽस्ति । अत्र प्रमाणम्—

जमदग्नयः प्रजमिताग्नयो वा, प्रज्वलिताग्नयो वा, तैरभिहुतो भवति ॥

निरु० अ० ७ । खं० २४ ॥

इमे सूर्य्यादयः प्रकाशकाः पदार्थास्तस्य सामर्थ्यादेव प्रज्वलिता भवन्ति । सूर्य्यादिभिः कार्य्यैस्तन्नियमैश्च कारणाख्य ईश्वरोऽभिहुतश्चाभिमुख्येन पूजितो भवतीति । यः स जमदग्निः परमेश्वरः (सोऽश्वमेधः) स एव परमेश्वरोऽश्वमेधाख्य इति प्रथमोऽर्थः ।

अथापरः—क्षत्रं वाऽश्वो विडितरे पशवः इत्यादि । यथाऽश्वस्यापेक्षयेतर इमेऽजादयः पशवो न्यूनबलवेगा भवन्ति, तथा राज्ञः सभासमीपे विट् प्रजा निर्बलैव भवति । तस्य राज्यस्य यद्धिरण्यं सुवर्णादिवस्तु ज्योतिः प्रकाशो वा न्यायकरणमेतत् स्वरूपं भवन्ति । यथा राजप्रजालङ्कारेण राजप्रजाधर्मो वर्णितः, तथैव जीवेश्वरयोः स्वस्वामिसम्बन्धो वर्ण्यते ।

नैव मनुष्यः केवलेन स्वसामर्थ्येन सरलतया[1] स्वर्गं परमेश्वराख्यं लोकं वेद, किन्त्वीश्वरानुग्रहेणैव जानाति । 'अश्वो यत ईश्वरो वा अश्वः' ॥ श० कां० १३ । अ० ३ । ब्रा० ३ । कं० ५ ॥ अश्नुते व्याप्नोति सर्वं जगत् सोऽश्व ईश्वर इत्युक्तत्वादीश्वरस्यैवात्राश्वसञ्ज्ञास्तीति ।

अन्यच्च (राष्ट्रं वा) राज्यमश्वमेधसंज्ञं भवति । तत्राष्ट्रे राज्यकर्मणि ज्योतिर्दधाति । तत्कर्मफलं क्षत्राय राजपुरुषाय भवति । तच्च स्वसुखायैव विशं प्रजां कृतानुकरां [2]स्ववर्त्तमानामनुकूलां करोति । अथो इत्यनन्तरं क्षत्रमेवाश्वमेधसञ्ज्ञकं भवति । तस्य यद्धिरण्यमेतदेव रूपं भवति । तेन हिरण्याद्यन्वितेन क्षत्रेण राज्यमेव सम्यग् वर्धते, न च प्रजा । सा तु स्वतन्त्रस्वभावान्वितया विशा समर्धयति । अतो यत्रैको राजा भवति, तत्र प्रजा पीडिता जायते । तस्मात् प्रजासत्तयैव राज्यप्रबन्धः कार्य्य इति ।

(गणानां०) स्त्रियोऽप्येनं राज्यपालनाय विद्यामयं सन्तानशिक्षाकरणाख्यं यज्ञं परितः सर्वतः प्राप्नुयुः । प्राप्ताः सत्योऽस्य सिद्धये यदपह्नवाख्यं कर्माचरन्ति, अतः कारणाद् एतद् एतासामन्ये विद्वांसो दूरीकुर्वन्ति । अथो इत्यनन्तरं य एनं विचालयन्ति, तानप्यन्ये च दूरीकुर्य्युः । एवमस्य त्रिवारं रक्षणं सर्वथा कुर्य्युः । एवं प्रतिदिनमेतस्य शिक्षया रक्षणेन चात्मशरीरबलानि सम्पादयेयुः । ये नराः पूर्वोक्तं गर्भधं परमेश्वरं जानन्ति, नैव तेभ्यः प्राणा बलपराक्रमादयोऽपक्रामन्ति । तस्मान् मनुष्यस्तं गर्भधं परमेश्वरमहमाजानि समन्ताज्जानीयामितीच्छेत् । (प्रजा वै पशवः०) ईश्वरसामर्थ्य[रूप]गर्भात् सर्वे पदार्था जाता इति योजनीयम् । यश्च पशूनां प्रजानां मध्ये विज्ञानवान् भवति, स इमां सर्वां प्रजामात्मनि अत्ति सर्वत्र व्याप्नोति, तस्मिन् जगदीश्वरे वर्तत इति, धारयति ॥[१॥]

इति संक्षेपतो गणानां त्वेति मन्त्रस्यार्थो वर्णितः । अस्मान्महीधरस्यार्थोऽत्यन्तविरुद्ध एवास्तीति मन्तव्यम् ।

१. अञ्जसा=सरलतया विशेषप्रयत्नाभावेनेत्यर्थः । 'सहजतया' इति हस्तलेखे पाठः ।

२. अत्र 'स्ववर्त्मानुकूलां' पाठः साधुः स्यात् ।

भावार्थ (गणानां त्वा०) ऐतरेय ब्राह्मण में गणपति शब्द की ऐसी व्याख्या की है कि यह मन्त्र ईश्वरार्थ का प्रतिपादन करता है। जैसे ब्रह्म का नाम बृहस्पति, ईश्वर तथा वेद का नाम भी ब्रह्म है। जैसे अच्छा वैद्य रोगी को औषध देके दुःखों से अलग कर देता है, वैसे ही परमेश्वर भी वेदोपदेश करके मनुष्य को विज्ञानरूप ओषधि देके अविद्यारूप दुःखों से छुड़ा देता है। जो कि—'प्रथ' अर्थात् विस्तृत सब में व्याप्त, और सप्रथ' अर्थात् आकाशादि विस्तृत पदार्थों के साथ भी व्यापक हो रहा है। इसी प्रकार से यह मन्त्र ईश्वर के नामों को यथावत् प्रतिपादन कर रहा है। ऐसे ही शतपथ ब्राह्मण में भी—राज्यपालन का नाम 'अश्वमेध', राजा का नाम 'अश्व', और प्रजा का नाम घोड़े से भिन्न 'पशु' रक्खा है। राज्य की शोभा धन है, और ज्योति का नाम 'हिरण्य' है।

तथा 'अश्व' नाम परमेश्वर का भी है। क्योंकि कोई मनुष्य स्वर्गलोक को अपने सहज[1] सामर्थ्य से नहीं जान सकता, किन्तु अश्व अर्थात् जो ईश्वर है, वही उनके लिये स्वर्गसुख को जनाता, और जो मनुष्य प्रेमी धर्मात्मा हैं, उनको सब स्वर्गसुख देता है।

तथा (राष्ट्रमश्वमेधः०) राज्य के प्रकाश का धारण करना सभा ही का काम, और उसी सभा का नाम राजा है। वही अपनी ओर से प्रजा पर कर लगाती है। क्योंकि राज ही से राज्य और प्रजा से ही प्रजा की वृद्धि होती है।

(गणानां त्वा०) जो परमात्मा गणनीय पदार्थों का पति अर्थात् पालन करनेहारा है, (त्वा) उसको (हवामहे) हम लोग पूज्यबुद्धि से ग्रहण करते हैं। (प्रियाणां०) जो कि हमारे इष्ट मित्र और मोक्षसुखादि का प्रियपति, तथा हम को आनन्द में रख कर सदा पालन करनेवाला है, उसी को हम लोग अपना उपास्यदेव जानके ग्रहण करते है। (निधीनां त्वा०) जो कि विद्या और सुखादि का निधि अर्थात् हमारे कोशों का पति है, उसी सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को हम अपना राजा और स्वामी मानते हैं। तथा जो कि व्यापक होके सब जगत् में, और सब जगत् उसमें बस रहा है, इस कारण से उस को 'वसु' कहते हैं। हे वसु परमेश्वर ! जो आप अपने सामर्थ्य से जगत् के अनादिकारण में गर्भ धारण करते है, अर्थात् सब मूर्त्तिमान् द्रव्यों को आप ही रचते हैं, इसी हेतु से आप का नाम 'गर्भध' है। (आहमजानि) मैं ऐसे गुणसहित आपको जानूं। (आ त्वा०) जैसे आप सब प्रकार से सब को जानते हैं, वैसे ही मुझको भी सब प्रकार से ज्ञानयुक्त कीजिये। (गर्भधं) दूसरी वेर 'गर्भधं' शब्द का पाठ इसलिये है कि जो-जो प्रकृति और परमाणु आदि कार्यद्रव्यों के गर्भरूप हैं, उनमें भी सब जगत् के गर्भरूप बीज को धारण करनेवाले ईश्वर से भिन्न दूसरा कार्य्य जगत् की उत्पत्ति स्थिति और लय करनेवाला कोई भी नहीं है॥

[2](गणानां त्वा०) स्त्रीलोग भी राज्यपालन के लिये विद्या की शिक्षा सन्तानों को करती रहें। जो इस यज्ञ को प्राप्त होके भी सन्तानोत्पत्ति आदि कर्म्म में मिथ्याचरण करती हैं, उनके इस कर्म को विद्वान् लोग प्रसन्न नहीं करते। और जो पुरुष सन्तानादि की शिक्षा में आलस्य करते

---

१. हस्तलेख में 'सहजता' पाठ है। २. यह व्याख्यांश वै० य० मुद्रित संस्करणों में '(गणानां त्वा०) जो परमात्मा' इत्यादि व्याख्यान से पूर्व छपा है, तथापि संस्कृतपाठानुसार यहां होना चाहिये।

हैं, अन्य लोग उनको बांधकर ताड़ना देते हैं। इस प्रकार तीन, छः वा नव वार इसकी रक्षा से आत्मा शरीर और बल को सिद्ध करें। जो मनुष्य परमेश्वर की उपासना करते हैं, उनके बलादि गुण कभी नष्ट नहीं होते। (आहमजानि०) प्रजा के कारण का नाम 'गर्भ' है उस के समतुल्य वह सभा और प्रजा के पशुओं को अपने आत्मा में धारण करे। अर्थात् जिस प्रकार अपना सुख चाहे, वैसे ही प्रजा और उसके पशुओं का भी सुख चाहे ॥ [१॥]

यही अर्थ ऐतरेय [और] शतपथ ब्राह्मण में कहा है। विचारना चाहिये कि इस सत्य अर्थ के गुप्त होने और मिथ्या नवीन अर्थों के प्रचार होने से मनुष्यों को भ्रान्त करके वेदों का कितना अपमान कराया है ? जैसे यह दोष खण्डित हुआ, वैसे इस भाष्य की प्रवृत्ति से इन सब मिथ्या दोषों की निवृत्ति हो जायगी।

ताऽ उभौ चतुरः पदः संप्रसारयाव स्वर्गे लोके प्रोर्णुवाथां वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधातु ॥ २ ॥ य० अ० २३। मं० २०॥

महीधरस्यार्थः—'**अश्वशिश्नमुपस्थे कुरुते वृषा वाजीति। महिषी स्वयमेवाश्वशिश्नमाकृष्य स्वयोनौ स्थापयति**' ॥[२॥]

भाषार्थ—महीधर का अर्थ—'यजमान की स्त्री घोड़े के लिङ्ग को पकड़ कर आप ही अपनी योनि में डाल देवे ॥ २ ॥

सत्योऽर्थः—ता उभौ चतुरः पदः सम्प्रसारयावेति मिथुनस्यावरुध्यै स्वर्गे लोके प्रोर्णुवाथामित्येष वै स्वर्गो लोको यत्र पशुꣳ संज्ञपयन्ति। तस्मादेवमाह वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधात्विति मिथुनस्यैवावरुध्यै ॥ श० कां० १३। अ० २। ब्रा० ८। कं० ५॥

भाष्यम्—आवां राजप्रजे, धर्मार्थकाममोक्षान् चतुरः पदानि सदैव मिलिते भूत्वा सम्यक् विस्तारयेवहि। कस्मै प्रयोजनायेत्यत्राह—स्वर्गे सुखविशेषे, लोके द्रष्टव्ये भोक्तव्ये, प्रियानन्दस्य स्थिरत्वाय। येन सर्वान् प्राणिनः सुखैराच्छादयेवहि। यस्मिन् राज्ये पशुं पशुस्वभावमन्यायेन परपदार्थानां द्रष्टारं जीवं विद्योपदेशदण्डदानेन सम्यगवबोधयन्ति, सैष एव सुखयुक्तो देशो हि स्वर्गो भवति। तस्मात् कारणादुभयस्य सुखायोभये[1] विद्यादिसद्गुणानामभिवर्षकं वाजिनं विज्ञानवन्तं जनं प्रति विद्याबले सततमेव [2]दधात्वित्याहायं मन्त्रः ॥[२॥]

भाषार्थ—(ता उभौ०) राजा और प्रजा हम दोनों मिलके धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि के प्रचार करने में प्रवृत्त रहें। किस प्रयोजन के लिये ? कि दोनों की अत्यन्त सुखरूप स्वर्गलोक में प्रिय आनन्द की स्थिति के लिये। जिससे हम दोनों परस्पर तथा सब

१. प्रथमाबहुवचनान्तम्। २. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'दधात्विति' अपपाठः, 'उभये' इत्यस्य बहुवचनान्तत्वात्। यद्वा—'दधात्विति' पाठे 'उभयः' प्रथमान्तः कल्पनीयः।

प्राणियों को सुख से परिपूर्ण कर देवें। जिस राज्य में मनुष्य लोग अच्छी प्रकार ईश्वर को जानते हैं, वही देश सुखयुक्त होता है। इससे राजा और प्रजा परस्पर सुख के लिये सद्गुणों के उपदेशक पुरुष की सदा सेवा करें, और विद्या तथा बल को सदा बढ़ावें। इस अर्थ का कहनेवाला 'ता उभौ०' यह मन्त्र है। इस अर्थ से महीधर का अर्थ अत्यन्त विरुद्ध है॥[२॥]

यकासकौ शकुन्तिकाहलगिति वञ्चति।
आहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारका॥[३॥] य० अ० २३। मं० २२॥

महीधरो वदति—'अध्वर्य्वादयः कुमारीपत्नीभिः सह सोपहासं संवदन्ते। अङ्गुल्या योनिं प्रदेशयन्नाह—स्त्रीणां शीघ्रगमने योनौ हलहलाशब्दो भवतीत्यर्थः। [(गभे)] भगे योनौ शकुनिसदृश्यां यदा पसो लिङ्गमाहन्ति आगच्छति, [पसः] पुंस्प्रजननस्य नाम, हन्तिर्गत्यर्थः। यदा भगे शिश्नमागच्छति, तदा (धारका) धरति लिङ्गमिति धारका योनिः (निगल्गलीति) नितरां गलति वीर्य्यं क्षरति, यद्वा शब्दानुकरणं गग्गलेति शब्दं करोति'॥[३॥]

यकोऽसकौ०॥[४॥] य० अ० २३। मं० २३॥

'कुमारी अध्वर्युं प्रत्याह। अङ्गुल्या लिङ्गं प्रदेशयन्त्याह—अग्रभागे सच्छिद्रं लिङ्गं तव मुखमिव भासते'॥[४॥]

भावार्थ—महीधर का अर्थ-'यज्ञशाला में अध्वर्यु आदि ऋत्विज् लोग कुमारी और स्त्रियों के साथ उपहासपूर्वक संवाद करते हैं। इस प्रकार से कि अंगुली से योनि को दिखलाके हंसते हैं। (आहलगिति०) जब स्त्रीलोग जल्दी-जल्दी चलती हैं, तब उनकी योनि में हलहला शब्द, और जब भग लिङ्ग का संयोग होता है, तब भी हलहला शब्द होता, और योनि और लिङ्ग से वीर्य्य झरता है।'॥[३॥]

(यकोऽसकौ०) 'कुमारी अध्वर्यु का उपहास करती है कि जो यह छिद्रसहित तेरे लिङ्ग का अग्रभाग है, सो तेरे मुख के समान दीख पड़ता है।

अथ सत्योऽर्थः—'यकासकौ शकुन्तिकेति। विड् वै शकुन्तिकाहलगिति वञ्चतीति। विशो वै राष्ट्राय वञ्चन्त्याहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारकेति। विड् वै गभो राष्ट्रं पसो, राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः'॥

श० कां० १३। अ० २। ब्रा० ९। कं० ६॥

भाष्यम्—(विड् वै०) यथा श्येनस्य समीपेऽल्पपक्षिणी निर्बला भवति, तथैव राज्ञः समीपे (विट्) प्रजा निर्बला भवति। (आहलगिति वञ्चतीति) राजानो विशः प्रजाः (वै) इति निश्चयेन राष्ट्राय राजसुखप्रयोजनाय सदैव वञ्चन्तीति। (आहन्ति०) विशो गभसंज्ञा भवति, पसाख्यं राष्ट्रं, राज्यं प्रजया स्पर्शनीयं भवति। यस्माद्राष्ट्रं तां प्रजां प्रविश्याहन्ति समन्ताद्धननं

पीडां करोति, यस्माद्राष्ट्री एको राजा मतश्चेत्तर्हि विशं प्रजां घातुको भवति, तस्मात् कारणादेको मनुष्यो राजा कदाचिन्नैव मन्तव्यः। किन्तु सभाध्यक्षः सभाधीनो यः सदाचारी शुभलक्षणान्वितो विद्वान् स प्रजाभी राजा मन्तव्यः। अस्मादपि सत्यादर्थान्महीधरस्यातीवदुष्टोऽर्थोऽस्तीति विचारणीयम् ॥[३-४॥]

भावार्थ—(यकासकौ०) प्रजा का नाम 'शकुन्तिका' है। कि जैसे बाज के सामने छोटी-छोटी चिड़ियाओं की दुर्दशा होती है, वैसे ही राजा के सामने प्रजा की। (आहलगिति०) जहां एक मनुष्य राजा होता है, वहां प्रजा ठगी जाती है। (आहन्ति गभे पसो०) तथा प्रजा का नाम 'गभ', और राज्य का नाम 'पस है। जहां एक मनुष्य राजा होता है, वहां वह अपने लोभ से प्रजा के पदार्थों की हानि ही करता चला जाता है। इसलिये राजा को प्रजा का घातुक अर्थात् हनन करनेवाला भी कहते हैं। इस कारण से एक को राजा कभी नहीं मानना चाहिये। किन्तु धार्मिक विद्वानों की सभा के आधीन ही राज्यप्रबन्ध होना चाहिये।

'यकासकौ०' इत्यादि मन्त्रों के शतपथप्रतिपादित अर्थों से महीधर आदि अल्पज्ञ लोगों के बनाये हुए अर्थों का अत्यन्त विरोध है॥ [३-४॥]

माता च ते पिता च तेऽग्रं वृक्षस्य रोहतः।

प्रतिलामीति ते पिता गभे मुष्टिमतꣳसयत् ॥[५॥] य० अ० २३। मं० २४॥

महीधरस्यार्थः—'ब्रह्मा महिषीमाह–महिषि हये हये महिषि! ते तव माता च पुनस्ते तव पिता यदा वृक्षस्य वृक्षजस्य काष्ठमयस्य मञ्चकस्याग्रमुपरिभागं रोहतः आरोहतः, तदा ते पिता गभे भगे मुष्टिं मुष्टितुल्यं लिङ्गमतंसयत् तंसयति प्रक्षिपति। एवं तवोत्पत्तिरित्यश्लीलम्। लिङ्गमुत्थानेनालङ्करोति, वा तव भोगेन स्निह्यामीति वदन्नेवं तवोत्पत्तिः'॥[५॥]

भावार्थ—महीधर का अर्थ—'अब ब्रह्मा हास करता हुआ यजमान की स्त्री से कहता है कि—जब तेरे माता और पिता पलंग के ऊपर चढ़के तेरे पिता ने मुष्टितुल्य लिङ्ग को तेरी माता के भग में डाल दिया, तब तेरी उत्पत्ति हुई। उसने ब्रह्मा से कहा कि तेरी भी उत्पत्ति ऐसे ही हुई है, इससे दोनों की उत्पत्ति तुल्य है'॥ [५॥]

अथ सत्योऽर्थः—'माता च ते पिता च त इति। इयं वै मातासौ पिताभ्यामेवैनं स्वर्गं लोकं गमयत्यग्रं वृक्षस्य रोहत इति। श्रीर्वै राष्ट्रस्याग्रꣳ श्रियमेवैनꣳ राष्ट्रस्याग्रं गमयति। प्रतिलामीति ते पिता गभे मुष्टिमतꣳसयदिति। विड् वै गभो राष्ट्रं मुष्टी, राष्ट्रमेवाविश्याहन्ति, तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः'॥ ५॥

श० कां० १३। प्र० २। ब्रा० ६। कं० ७॥

भाष्यम्—(माता च ते०)हे मनुष्य! इयं पृथिवी विद्या च ते तव मातृवदस्ति। ओषध्याद्य-

नेकपदार्थदानेन विज्ञानोत्पत्त्या च मान्यहेतुत्वात्। असौ द्यौः प्रकाशो विद्वानीश्वरश्च तव पितृवदस्ति। सर्वपुरुषार्थानुष्ठानस्य सर्वसुखप्रदानस्य च हेतुत्वेन पालकत्वात्। विद्वान् ताभ्यामेवैनं जीवं स्वर्गं सुखरूपं लोकं गमयति। (अग्रं वृक्षस्य०) या श्रीविद्याशुभगुणरत्नाविशोभान्विता च लक्ष्मीः, सा राष्ट्रस्याग्रमुत्तमाङ्गं भवति। सैवैनं जीवं श्रियं शोभां गमयति, यद् राष्ट्रस्याग्रमग्रं मुख्यं सुखं च। (प्रतिलामीति०) विट् प्रजा गभाख्याऽर्थादैश्वर्य्यप्रदा, (राष्ट्रं मुष्टी०) राजकर्म मुष्टिः, यथा मुष्टिना मनुष्यो धनं गृह्णाति, तथैवैको राजा चेत् तर्हि पक्षपातेन प्रजाभ्यः स्वसुखाय सर्वां श्रेष्ठां श्रियं हरत्येव। यस्माद् राष्ट्रं विशि प्रजायां प्रविश्य आहन्ति, तस्माद् राष्ट्री विशं घातुको भवति। अस्मादर्थान्महीधरस्यार्थोऽत्यन्तविरुद्धोऽस्ति, तस्मात् स नैव केनापि मन्तव्यः ॥५॥

भाषार्थ—सत्य अर्थ - (माता च ते०) सब प्राणियों की पृथिवी और विद्या माता के समान सब प्रकार के मान्य करानेवाली, और सूर्य्यलोक, विद्वान् तथा परमेश्वर पिता के समान हैं। क्योंकि सूर्यलोक पृथिवी के पदार्थों का प्रकाशक, और विज्ञानदानसे पण्डित, तथा परमात्मा सबका पालन करनेवाला है। इन्हीं दोनों कारणों से विद्वान लोग जीवों को नाना प्रकार का सुख प्राप्त करा देते हैं। (अग्रं वृक्षस्य०) श्री जो लक्ष्मी है, सो ही राज्य का अग्रभाग अर्थात् सिर के समान है। क्योंकि विद्या और धन ये दोनों मिलके ही जीव को शोभा और राज्य के सुख को प्राप्त कर देते हैं। (प्रतिलामीति०) फिर प्रजा का नाम 'गभ' अर्थात् ऐश्वर्य की देनेवाली, और राज्य का नाम 'मुष्टि' है। क्योंकि राजा अपनी प्रजा के पदार्थों को मुष्टि से ऐसे हर लेता है, कि जैसे कोई बल करके किसी दूसरे के पदार्थ को अपना बना लेवे। वैसे ही जहां अकेला मनुष्य राजा होता है, वहां वह पक्षपात से अपने सुख के लिये जो-जो प्रजा की श्रेष्ठ गुण देनेवाली लक्ष्मी [है, उस] को ले लेता है, अर्थात् वह राजा अपने राजकर्म में प्रवृत्त होके प्रजा को पीड़ा देनेवाला होता है। इसलिये एक को राजा कभी मानना न चाहिये। किन्तु सब लोगों को उचित है कि अध्यक्ष सहित सभा की आज्ञा ही में रहना चाहिये। इस अर्थ से भी महीधर का अर्थ अत्यन्त विरुद्ध है ॥ [५ ॥]

[1]ऊ॒र्ध्वामे॑नामुच्छ्रा॑पय गि॒रौ भा॒रꣳ हर॑न्निव ।
अथा॑स्यै॒ मध्य॑मेधताꣳ शी॒ते वाते॒ पुन॑न्निव ॥ ६ ॥ य० अ० २३। मं० २६ ॥

महीधरास्यार्थः—'यथा अस्यै अस्या वावातायाः मध्यमेधतां योनिप्रवेशो वृद्धिं यायात्, यथा योनिर्विशाला भवति, तथा मध्ये गृहीत्वोच्छ्रापयेत्यर्थः। दृष्टान्तान्तरमाह—यथा शीतले वायौ वाति पुनन् धान्यपवनं कुर्वाणः कृषीवलो धान्यपात्रं ऊर्ध्वं करोति तथेत्यर्थः' ॥[६॥]

यद॑स्या अꣳहु॒भेद्याः॑ कृ॒धु स्थू॒लमु॒पात॑सत् ।
मु॒ष्का॒विद॑स्या एजतो गोश॒फे श॑कु॒लावि॑व ॥[॥७] य० अ० २३। मं० २८ ॥

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'ऊर्ध्वमे०' इत्यपपाठः, यजुर्भाष्ये ग्रन्थकृता 'ऊर्ध्वामे०' पाठस्यैव स्वीकृतत्वात् ।

'यत् यदा अस्याः परिवृत्तायाः कृधु ह्रस्वं स्थूलं च शिश्नमुपातसत् उपगच्छत् योनिं प्रति गच्छेत्, तंस उपक्षये, तदा मुष्कौ वृषणौ इत एव अस्याः योनेरुपरि एजतः कम्पेते। लिङ्गस्य स्थूलत्वाद् योनेरल्पत्वाद् वृषणौ बहिस्तिष्ठत इत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तः—गोशफे जलपूर्णे गोखुरे शकुलौ मत्स्याविव, यथा उदकपूर्णे गोः पदे मत्स्यौ कम्पेते' ।।[७।।]

भावार्थ—महीधर का अर्थ—"पुरुष लोग स्त्री की योनि को दोनों हाथ से खेंचके बढ़ा लेवें। (यदस्या अंहु०) परिवृत्ता अर्थात् जिस स्त्री का वीर्य्य निकल जाता है, जब छोटा वा बड़ा लिङ्ग उसकी योनि में डाला जाता है, तब योनि के ऊपर दोनों अण्डकोश नाचा करते हैं, क्योंकि योनि छोटी और लिङ्ग बड़ा होता है। इसमें महीधर दृष्टान्त देता है कि—जैसे गाय के खुर के बने हुए गढ़े के जल में दो मच्छी नाचें, तथा जैसे खेती करने वाला मनुष्य अन्न और भुस अलग-अलग करने के लिये चलते वायु में एक पात्र में भरके ऊपर को उठाके कंपाया करता है, वैसे ही योनि के ऊपर अंडकोश नाचा करते हैं' ।। [६–७ ।।]

अथ सत्योऽर्थः—"ऊर्ध्वामेनामुच्छ्रापयेति। श्रीर्वै राष्ट्रमश्वमेधः श्रियमेवास्मै राष्ट्रमूर्ध्वमुच्छ्रयति ।। गिरौ भारꣳ हरन्निवेति। श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः, श्रियमेवास्मै राष्ट्रꣳ संनह्यत्यथो श्रियमेवास्मिन् राष्ट्रमधिनिदधाति। अथास्यै मध्यमेधतामिति। श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यꣳ श्रियमेव राष्ट्रं मध्यतोऽन्नाद्यं दधाति ।। शीते वाते पुनन्निवेति। क्षेमो वै राष्ट्रस्य शीतं क्षेममेवास्मै करोति' ।।[६-७।।] श० कां० १३। अ० २। ब्रा० ६। कं० २-५ ।।

भाष्यम्—(ऊर्ध्वमेना०) हे नर ! त्वं श्रीर्वै राष्ट्रमश्वमेधो यज्ञश्चास्मै राष्ट्राय श्रिय-मुच्छ्रापय, सेव्यामुत्कृष्टां कुरु। एवं सभया राज्यपालने कृते राष्ट्रं राज्यमूर्ध्वं सर्वोत्कृष्टगुण-मुच्छ्रयितुं शक्यम्। (गिरौ भारꣳ हर०) कस्मिन् किमिव, गिरि शिखरे प्राप्त्यर्थं भारवद्वस्तूपस्था-पयन्निव। कोऽस्ति राष्ट्रस्य भार इत्यत्राह—'श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः' इति। सभाव्यवस्थयास्मै राष्ट्राय श्रियं सन्नह्य सम्बध्य राष्ट्रमनुत्तमं[३] कुर्य्यात्। अथो इत्यनन्तरमेवं कुर्वन् जनोऽस्मिन् संसारे राष्ट्रं श्रीयुक्तमधिनिदधाति सर्वोपरि नित्यं धारयतीत्यर्थः। (अथास्यै०) किमस्य राष्ट्रस्य मध्यमित्याकाङ्क्षायामुच्यते—'श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यम्' तस्मादिमां पूर्वोक्तां श्रियमन्नाद्यं भोक्तव्यं वस्तु च राष्ट्रे राज्ये महतो राज्यस्याऽऽभ्यन्तरे दधाति, सुसभया सर्वां प्रजां सुभोगयुक्तां करोति। कस्मिन् किं कुर्वन्निव (शीते वाते पुनन्निवेति) राष्ट्रस्य क्षेमो रक्षणं शीतं भवत्यस्मै राष्ट्राय क्षेमं सुसभया रक्षणं कुर्य्यात्। अस्मादपि सत्यादर्थान्महीधरस्य व्याख्यानमत्यन्तं विरुद्ध-मस्तीति ।। [६-७ ।।]

भावार्थ—श्री नाम विद्या और धन का तथा राष्ट्रपालन का नाम 'अश्वमेध' है। ये ही श्री और राज्य की उन्नति कराते हैं। (गिरौ भारꣳ हरन्निव) राज्य का भार श्री है, क्योंकि इसीसे

१. भाषानुवाद टीका नहीं है। २. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'ऊर्ध्वमे'० इत्यपपाठः, ग्रन्थकर्तु-र्यजुर्भाष्ये 'ऊर्ध्वामे०' पाठस्यैव दर्शनात्। ३. नास्त्युत्तमं यस्मात्तद् अनुत्तमं श्रेष्ठतममित्यर्थः।

राज्य की वृद्धि होती है। इसलिये राज्य में विद्या और धन की अच्छी प्रकार वृद्धि होने के अर्थ उसका भार अर्थात् प्रबन्ध श्रेष्ठपुरुषों की सभा के ऊपर धरना चाहिए। क्योंकि (अथास्यै०) श्री राज्य का आधार, और वही राज्य में शोभा को धारण करके उत्तम पदार्थों को प्राप्त कर देती है। इस में दृष्टान्त यह है कि—(शीते वाते०) अर्थात् राज्य को रक्षा करने का नाम 'शीत' है, क्योंकि जब सभा से राज्य की रक्षा होती है, तभी उसकी उन्नति होती है।

प्र०—राज्य का भार कौन है? उ०—(श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः०) क्योंकि वही[1] श्री धन के भार से युक्त करके राज्य को उत्तमता को पहुंचाती है। (अथो०) इस के अनन्तर उक्त प्रकार से राज्य करते हुए पुरुष देश अथवा संसार में श्रीयुक्त राज्य के प्रबन्ध को सब में स्थापन कर देते हैं। (अथास्यै०) प्र०—उस राज्य का मध्य कौन है? उ०—प्रजा की ठीक-ठीक रक्षा, अर्थात् उसका नियमपूर्वक पालन करना, यही उसकी रक्षा में मध्यस्थ है। (गिरौ भारꣳ हरन्निव) जैसे कोई मनुष्य बोझ उठाके पर्वत पर ले जाता है, वैसे ही सभा भी राज्य को उत्तम सुख को प्राप्त कर देती है॥ [६-७ ॥]

यद्देवासो॑ ल॒लाम॑गुं॒ प्र विष्टी॒मिन॒माविषुः।
स॒क्थ्ना दे॑दिश्यते॒ नारी॑ स॒त्यस्या॑क्षि॒भुवो॒ यथा॥८॥ य० अ० २३। मं० २९॥

महीधरस्यार्थः—'(यत्) यदा (देवासः) देवाः दीव्यन्ति क्रीडन्ति देवाः होत्रादयः ऋत्विजो (ललामगुं) लिङ्गं (प्र आविशुः) योनौ प्रवेशयन्ति। ललामेति सुखनाम, ललामं[2] सुखं गच्छति प्राप्नोति ललामगुः शिश्नः, यद्वा ललामं[2] पुण्ड्रं गच्छति ललामगुः लिङ्गम्, योनिं प्रविशदुत्थितं पुण्ड्राकारं भवतीत्यर्थः। कीदृशं ललामगुं (विष्टीमिनं) शिश्नस्य योनिप्रवेशे क्लेदनं भवतीत्यर्थः। यदा देवाः शिश्नक्रीडिनो भवन्ति, ललामगुं योनौ प्रवेशयन्ति, तदा (नारी) (सक्थ्ना) ऊरुणा ऊरुभ्यां (देदिश्यते) निर्दिश्यते अत्यन्तं लक्ष्यते। भोगसमये सर्वस्य नार्यङ्गस्य नरेण व्याप्तत्वादूरुमात्रं लक्ष्यते। इयं नारीतीत्यर्थः' ॥[८॥]

भावार्थ—महीधर का अर्थ—[3]'(यद्देवासो०) जब तक यज्ञशाला में ऋत्विज लोग ऐसा हंसते और अंडकोश नाचा करते हैं, तब तक घोड़े का लिङ्ग महिषी की योनि में काम करता है, और उन ऋत्विजों के भी लिङ्ग स्त्रियों की योनि में प्रवेश करते हैं। और जब लिङ्ग खड़ा होता है, तब कमल के समान हो जाता है। जब स्त्री-पुरुष का समागम होता है, तब पुरुष ऊपर और स्त्री पुरुष के नीचे होने से थक जाती है'॥ [८ ॥]

अथ सत्योऽर्थः—(यद्देवासो०) यथा देवा विद्वांसः प्रत्यक्षोद्भूतस्य सत्यज्ञानस्य प्राप्तिकृत्येमं (विष्टीमिनम्) विविधतया आर्द्रीभावगुणवन्तं (ललामगुम्) सुखप्रापकं विद्यानन्दं (प्राविशुः)

१. अर्थात् राज्यव्यवस्था ही। २. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'ललाम' इत्यविभक्त्यन्तोऽपपाठः।
३. भाषानुवाद ठीक नहीं है।

प्रकृष्टतया समन्ताद् व्याप्नुवन्ति, तथैव तैस्तेन सह वर्त्तमानेयं प्रजा वेदिश्यते। यथा नारी वस्त्रैराच्छाद्यमनेन सवध्ना वर्त्तते, तथैव विद्वद्भिः सुखैरियं प्रजा सम्यगाच्छादनीयेति ॥[८॥]

भाषार्थ—जैसे विद्वान् लोक प्रत्यक्ष ज्ञान को प्राप्त होके जिस शुभगुणयुक्त सुखदायक विद्या के आनन्द में प्रवेश करते हैं, वैसे ही उसी आनन्द से प्रजा को भी युक्त करते हैं। विद्वान लोगों को चाहिये कि जैसे स्त्री अपने जंघा आदि अंगों को सदा वस्त्रों से ढाप रखती है, इसी प्रकार अपने सत्योपदेश विद्या धर्म और सुखों से प्रजा को सदा आच्छादित करें ॥[८॥]

यद्धरि॒णो यव॒मत्ति॒ न पु॒ष्टं प॒शु मन्य॑ते ।
शू॒द्रा यद॒र्य्य॑जारा॒ न पोषा॑य धनायति ॥[९॥] य० अ० २३। मं० ३० ॥
[१]यद्धरि॒णो यव॒मत्ति॒ न पु॒ष्टं ब॒हु मन्य॑ते ।
शू॒द्रो यद॒र्य्या॑यै जा॒रो न पोष॒मनु॑ मन्यते ॥[१०॥] य० अ० २३। मं० ३१ ॥

महीधरस्यार्थः—'क्षत्ता पालागलीमाह–शूद्रा शूद्रजातिः स्त्री, यदा अर्य्यजारा भवति, वैश्यो यदा शूद्रां गच्छति, तदा शूद्रः पोषाय न धनायते पुष्टिं न इच्छति, मद्भार्य्या वैश्येन भुक्ता सती पुष्टा जातेति न मन्यते, किन्तु व्यभिचारिणी जातेति दुःखितो भवतीत्यर्थः ॥

[२](यद्धरिणो०) पालागली क्षत्तारमाह—यत् यदा शूद्र अर्य्यायै अर्य्याया वैश्याया जारो भवति, तदा वैश्यः पोषं पुष्टिं नानुमन्यते, मम स्त्री पुष्टा जातेति नानुमन्यते, किन्तु शूद्रेण नीचेन भुक्तेति क्लिश्यतीत्यर्थः ॥९-१०॥

भाषार्थ—महीधर का अर्थ—'(यद्धरिणो०) क्षत्ता सेवकपुरुष शूद्रदासी से कहता है कि—जब शूद्र की स्त्री के साथ वैश्य व्यभिचार कर लेता है, तब वह इस बात को तो नहीं विचारता कि मेरी स्त्री वैश्य के साथ व्यभिचार कराने से पुष्ट हो गई। किन्तु वह इस बात को विचारके दुःख मानता है कि मेरी स्त्री व्यभिचारिणी हो गई ॥

[२](यद्धरिणो०) अब वह दासी क्षत्ता को उत्तर देती है कि—जब शूद्र वैश्य की स्त्री के साथ व्यभिचार कर लेता है, तब वैश्य भी इस बात का अनुमान नहीं करता कि मेरी स्त्री पुष्ट हो गई, किन्तु नीच ने समागम कर लिया, इस बात को विचारके कलेश मानता है' ॥ [९-१०॥]

अथ सत्योऽर्थः—'यद्धरिणो यवमत्तीति। विड् वै यवो राष्ट्रं॰ हरिणो विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति। न पुष्टं पशु मन्यत इति। तस्माद् राजा पशून्न पुष्यति। शूद्रा यदर्य्यजारा न पोषाय धनायतीति। तस्माद् वैशीपुत्रं नाभिषिञ्चति' ॥
शा० कां० १३। अ० २। ब्रा० ९। कं० ८ ॥

१. वै० य० मुद्रितेष्वयं मन्त्रो न पठ्यते, अर्थस्तस्य महीधरकृत उद्ध्रियते। तस्माल्लेखकप्रमादान्मुद्रणदोषाद्वा मन्त्रपाठोऽत्र नष्ट इति प्रतीयते।
२. एकत्रिंशत्तममन्त्रप्रतीकनिर्देशः।

भाष्यम्—[1](यद्धरिणो०) विट् प्रजेव यवोऽस्ति । राज्यसम्बन्ध्येको राजा हरिण इव उत्तमपदार्थहर्त्ता भवति । यथा मृगः क्षेत्रस्थं सस्यं भुक्त्वा प्रसन्नो भवति, तथैवैको राजापि नित्यं स्वकीयमेव सुखमिच्छति । अतः स राष्ट्राय स्वसुखप्रयोजनाय विशं प्रजामाद्यां भक्ष्यामिव करोति । यथा मांसाहारी पुष्टं पशुं दृष्ट्वा तन्मांसभक्षणेच्छां करोति, नैव स पुष्टं पशुं वर्धयितुं जीवितुं[2] वा मन्यते । तथैव स्वसुखसम्पादनाय प्रजायां कश्चिन्मत्तोऽधिको न भवेदितीच्छां सदैव रक्षति । तस्मादेको राजा प्रजां न पुष्यति नैव रक्षयितुं समर्थो भवतीति । यथा च यदा शूद्रा अर्य्यजारा भवति, तदा न स शूद्रः पोषाय धनायति, पुष्टो न भवति । तथैको राजापि प्रजां यदा न पुष्यति, तदा सा नैव पोषाय धनायति, पुष्टा न भवति । तस्मात् कारणाद् वैशीपुत्रं भीरु[3] शूद्रीपुत्रं मूर्खं च नाभिषिञ्चति, नैवैतं राज्याधिकारे स्थापयतीत्यर्थः । अस्माच्छतपथब्राह्मणोक्तादर्थान्महीधरकृतोऽर्थोऽतीवविरुद्धोऽस्ति ॥९-१०॥

भावार्थ—[4](यद्धरिणो०)यहां प्रजा का 'यव' और राजा का नाम 'हरिण' है । क्योंकि जैसे मृग पशु पराये खेत में जवों को खाकर आनन्दित होते हैं, वैसे ही स्वतन्त्र एक पुरुष राजा होने से प्रजा के उत्तम पदार्थों को ग्रहण कर लेता है । अथवा (न पुष्टं पशु मन्यत०) जैसे मांसाहारी मनुष्य पुष्ट पशु को मारके उसका मांस खा जाता है, वैसे ही एक मनुष्य राजा होके प्रजा का नाश करनेहारा होता है । क्योंकि वह सदा अपनी ही उन्नति चाहता रहता है । और शूद्र तथा वैश्य का अभिषेक करने से व्यभिचार और प्रजा का धनहरण अधिक होता है । इसलिये किसी एक मूर्ख वा लोभी को कभी सभाध्यक्षादि उत्तम अधिकार न देना चाहिये । इस सत्य अर्थ से महीधर उलटा ही चला है ॥[९-१०॥]

उत्सक्थ्याऽअव गुदं धेहि समञ्जिं चारया वृषन् ।
य स्त्रीणां जीवभोजनः ॥ [११ ॥] य० अ० २३ । मं० २१ ॥

महीधरस्यार्थः—'यजमानोऽश्वमभिमन्त्रयते । हे वृषन् ! सेक्तः अश्व ! उत् ऊर्ध्वे सक्थिनी ऊरू यस्यास्तस्या महिष्या गुदमव गुदोपरि रेतो धेहि वीर्य्यं धारय । कथम् ? तदाह अञ्जि लिङ्गं सञ्चारय योनौ प्रवेशय । योऽञ्जिः स्त्रीणां जीवभोजनः । यस्मिन् लिङ्गे योनौ प्रविष्टे स्त्रियो जीवन्ति भोगांश्च लभन्ते तं प्रवेशय' ॥[११॥]

भावार्थ—(उत्सक्थ्या०) इस मन्त्र पर महीधर ने टीका की है कि—'यजमान घोड़े से कहता है, हे वीर्य के सेचन करनेवाले अश्व ! तू मेरी स्त्री के जंघा ऊपर को करके उसकी गुदा के ऊपर वीर्य डाल दे, अर्थात् उसकी योनि में लिङ्ग चला दे । वह लिङ्ग किस प्रकार का है, कि

१. ग्रन्थकृतेह 'त्रिंशदेकत्रिंशन्मन्त्रयोः प्रायेण समानत्वादर्थोऽपीह सहैव निर्दिश्यते ।
२. 'जीवयितुं' युक्तः पाठो द्रष्टव्यः ।
३. अयं संकेत एकत्रिंशन्मन्त्रार्थविषयको वर्तते ।
४. तीसवें और इकतीसवें दोनों मन्त्रों के प्रायः समान होने से दोनों का इकट्ठा संक्षेप से अर्थ किया है ।

जिस समय योनि में जाता है, उस समय उसी लिङ्ग से स्त्रियों का जीवन होता है, और उसी से वे भोग को प्राप्त होती हैं। इससे तू उस लिङ्ग को मेरी स्त्री की योनि में डाल दे' [॥११॥]

अथ सत्योऽर्थः—(उत्सक्थ्या०) हे वृषन् सर्वकामानां वर्षयितः प्रापक ससभाध्यक्षविद्वान्! त्वमस्यां प्रजायामञ्जि ज्ञानसुखन्यायप्रकाशं संचारय सम्यक् प्रकाशय। (य स्त्रीणां जीवभोजनः) कामुकः सन् नाशमाचरति, तं त्वमवगुदमधःशिरसं कृत्वा ताडयित्वा कारागृहे[1] धेहि। यथा स्त्रीणां मध्ये या काचित् उत्सक्थी व्यभिचारिणी स्त्री भवति, तस्यै सम्यग्दण्डं ददाति, तथैव त्वं तं जीव-भोजनं परप्राणनाशकं दुष्टं वायुं दण्डेन समुच्चारय ॥[१२॥]

भावार्थ—(उत्सक्थ्या०) परमेश्वर कहता है कि हे कामना की वृष्टि करनेवाले और उसको प्राप्त करानेवाले सभाध्यक्षसहित विद्वान् लोगो! तुम सब एक सम्मति होकर इस प्रजा में ज्ञान को बढ़ाके न्यायपूर्वक सबको सुख दिया करो। तथा जो कोई दुष्ट (जीवभोजनः) स्त्रियों में व्यभिचार करनेवाला, चोरों में चोर, ठगों में ठग, डाकुओं में डाकू प्रसिद्ध, दूसरों को बुरे काम सिखानेवाला इत्यादि दोषयुक्त पुरुष तथा व्यभिचार आदि दोषयुक्त स्त्री को ऊपर पग और नीचे शिर करके उसको टांग देना, इत्यादि अत्यन्त दुर्दशा करके मार डालना चाहिये, क्योंकि इससे अत्यन्त सुख का लाभ प्रजा में होगा ॥[१२॥]

एतावतैव खण्डनेन महीधरकृतस्य 'वेददीपा'ख्यस्य खण्डनं[2] सर्वजनैर्बोद्धव्यमिति। यदा मन्त्रभाष्यं मया विधास्यते, तत्रास्य महीधरकृतस्य भाष्यस्यान्येऽपि दोषाः प्रकाशयिष्यन्ते। यदि ह्यार्य्यदेशनिवासिनां सायणमहीधरप्रभृतीनां व्याख्यास्वेतादृशी मिथ्या गतिरस्ति, तर्हि यूरोप-

१. वै० य० मुद्रितयोः प्रथमद्वितीयसंस्करणयोः 'कालाग्रहे' पाठः। अयं द्वितीयसंस्करणे संशोधनपत्रे 'कारागृहे' इत्येवं शोधितः। तदनुसारं च पञ्चमसंस्करणपर्यन्तं 'कारागृहे' शुद्धः पाठो मुद्रितः। शताब्दीसंस्करण-शोधकेन पण्डितविश्वनाथेन शुद्धं पाठमपि प्रथमसंस्करणवद् अशुद्धं पठित्वा 'कालाग्रहे' (कारागृहे?)' इत्येवं शुद्धः पाठः स्वसंशोधनरूपेणोपस्थापितः। तत आरभ्याद्य यावत् तथैव मुद्र्यते।

२. महीधरेणोक्तमन्त्राणां यादृशो भ्रष्टोऽर्थः स्वभाष्ये लिखितस्तथैव शतपथब्राह्मणेऽपि दृश्यते। यादृशश्च ग्रन्थकृता सत्योऽर्थः प्रदर्शितः सोऽपि तत्रोपलभ्यते। शतपथे उभयथा व्याख्याने महीधरव्याख्यानस्यैव दोषनिदर्शनं ग्रन्थकृता केन हेतुना कृतम् इत्युदेति शङ्का। तस्या इयं समाधिः—यादृशो महीधरेणार्थः कृतः स शतपथे 'एतेऽउक्त्वा यदभ्रिगोः परिशिष्टं भवति' (शत० १३।५।२) इत्युक्त्वा निर्दिश्यते। यादृशश्च ग्रन्थकृता साध्वर्थः प्रदर्शितः, स अस्मात् परिशिष्टात् पूर्वं यथाप्रकरणं यथास्थानं च व्याख्यातः। तदेवं शतपथ एवोभयथा व्याख्यानदर्शनात् 'अध्रिगोः परिशिष्टं भवति' इति परिशिष्टरूपेण निन्दितार्थस्योल्लेखात् प्रकरणान्तरव्यवधानाच्च ज्ञायते यदयमश्लीलार्थः शतपथ उत्तरकालं प्रक्षिप्तः। एतच्चास्य प्रकरणस्यादौ परिशिष्टशब्दनिर्देशात् पुनरुक्ति-दोषाच्च स्पष्टमेव। महीधरेण विद्यमानेऽपि शतपथे साध्वर्थे तमुपेक्ष्य परिशिष्टशब्देन निर्दिष्टे प्रक्षेपांशे लिखितोऽश्लीलोऽर्थ एव स्वभाष्ये निर्दिष्ट इति कृत्वा महीधरकृतार्थस्यैव ग्रन्थकृता समालोचना विहिता, न तु शतपथे परिशिष्टप्रकरणोक्तस्यार्थस्य। यतस्तस्य परिशिष्टशब्देन प्रक्षेपत्वं विस्पष्टमेवेति। एवमेव कात्यायनादि-श्रौतसूत्रनिर्दिष्टाश्लीलार्थपरस्य विनियोगस्यापि गतिर्ज्ञेया। ते ग्रन्थाः शतपथे प्रक्षेपानन्तरं वा रचिताः, तेष्वेव ग्रन्थेषु साध्वर्थपरं विनियोगं निष्काश्याश्लीलार्थपरो विनियोगो निवेशित इति न शक्यते वक्तुम्।

खण्डनिवासिनामेलदनुसारेण स्वदेशभाषायां [कृतानां] वेदार्थव्याख्यानानमनर्थगतेस्तु का कथा ? एवं जाते सति ह्येतदाश्रयेण देशभाषया यूरोपदेशभाषया कृतस्य व्याख्यानस्याशुद्धेस्तु खलु का गणनास्ति ? इति सज्जनैर्विचारणीयम् ।

नैवंतेषां व्याख्यानानामाश्रयं कर्तुमार्य्याणां लेशमात्रापि योग्यता दृश्यते । तदाश्रयेण वेदानां सत्यार्थस्य हानिरनर्थप्रकाशश्च । तस्मात् तद्व्याख्यानेषु सत्या बुद्धिः केनापि नैव कर्त्तव्या । किन्तु वेदाः सर्वविद्याभिः पूर्णा सन्ति, नैव किञ्चित् तेषु मिथ्यात्वमस्ति । तदेतच्च सर्वे मनुष्यास्तदा ज्ञास्यन्ति, यदा चतुर्णां वेदानां निर्मितं भाष्यं[1] यन्त्रितं च भूत्वा सर्वबुद्धिमतां ज्ञानगोचरं भविष्यति । एवं जाते खलु नैव परमेश्वरकृतया तुल्या द्वितीया विद्याऽस्तीति सर्वे विज्ञास्यन्तीति बोध्यम् ।

भाषार्थ—आगे कहां तक लिखें, इतने ही से सज्जन पुरुष अर्थ और अनर्थ[2] की परीक्षा कर लेवें । परन्तु मन्त्रभाष्य में महीधर आदि के और भी दोष प्रकाश किये जायंगे । और जब इन्हीं लोगों के व्याख्यान अशुद्ध हैं, तब यूरोपखण्डवासी लोगों ने जो उन्हींकी सहायता लेकर अपनी देशभाषा में वेदों के व्याख्यान किये हैं, उनके अनर्थ का तो क्या ही कहना है ? तथा जिन्होंने उन्हींके अनुसारी व्याख्यान किये हैं [उनकी अशुद्धि की गणना ही क्या है] । इन विरुद्ध व्याख्यानों से कुछ लाभ तो नहीं देख पड़ता, किन्तु वेदों के सत्य अर्थ की हानि प्रत्यक्ष ही होती है ।

परन्तु जिस समय चारों वेद का भाष्य बन कर और छपकर सब बुद्धिमानों के ज्ञान-गोचर होगा, तब सब किसी को उत्तम विद्या पुस्तक वेद का परमेश्वर-रचित होना भूगोलभर में विदित हो जावेगा । और यह भी प्रगट हो जावेगा कि ईश्वरकृत सत्य पुस्तक वेद ही है, वा कोई दूसरा भी हो सकता है । ऐसा निश्चय जान के सब मनुष्यों की वेदों में परमप्रीति होगी । इत्यादि अनेक उत्तम प्रयोजन इस वेदभाष्य के बनाने में जान लेना ।

इतिभाष्यकरणशङ्कासमाधानादिविषयः संक्षेपतः

१. ग्रन्थकृता वेदभाष्यनिर्मितेः प्राक् चत्वारोऽपि वेदा सम्यगालोड्य तद्भाष्यलेखनसाहाय्याय चतुर्णामपि वेदानां विषयानुक्रमो निर्धार्य ग्रन्थरूपेण संकलितः । स च अमुद्रित एव परोपकारिणीसभायाः कालगृहे कालं यापयान् गतवर्ष एव ततो मुक्तिं लब्ध्वा प्राकाश्यं प्राप्तः । अनेन चतुर्वेदविषयानुक्रमेण चतुर्णामपि वेदानां ग्रन्थकारेण विरचयिष्यमाणस्य भाष्यस्य स्वरूपं सम्यग् विज्ञातं भवति ।

२. महीधर ने जैसा अश्लील अर्थ किया है, वैसा शतपथ में भी मिलता है । फिर ग्रन्थकार ने महीधर के अर्थों का ही खण्डन क्यों किया ? शतपथ का निर्देश क्यों नहीं किया ? इसका उत्तर यह है कि—शतपथ में उक्त प्रकार का अश्लील अर्थ 'अधिगोः परिशिष्टं भवति' निर्देश करके लिखा है । 'परिशिष्ट' शब्द से स्पष्ट है कि यह अर्थ शतपथ में पीछे से घुसेड़ा गया है । इतना ही नहीं, इसका प्रक्षेपपना तो शतपथ में पूर्वत्र यथा-प्रकरण साधु अर्थों के विधान से भी स्पष्ट है । अन्यथा शतपथकार पूर्व उत्तम अर्थ का निर्देश ही न करते, और यही अश्लील अर्थ यथास्थान पूर्व ही रख देते । इससे स्पष्ट है कि महीधर ने परिशिष्ट शब्द और पुनरुक्ति दोष की ओर ध्यान न देकर साध्वर्थ की (जो उसी ग्रन्थ में निर्दिष्ट हैं) उपेक्षा करके अश्लीलार्थ ही स्वीकार किया है । इससे ग्रन्थकार ने महीधर आदि के अर्थों की ही आलोचना की है, शतपथ की नहीं । क्योंकि उसमें परिशिष्ट शब्द के प्रयोग से उनका प्रक्षेप्तत्व स्पष्ट है । कात्यायन आदि श्रौतसूत्रों में भी इन्हीं अश्लील अर्थों का ही संकेत मिलता है । उससे प्रतीत होता है कि उनकी रचना शतपथ में परिशिष्टांश के प्रक्षेप के पीछे हुई है अथवा उनमें शतपथोक्त साध्वर्थ द्योतक विनियोग को उत्तरकाल में निकालकर अश्लीलार्थपरक विनियोग डाला गया है ।

अथ प्रतिज्ञाविषयः संक्षेपतः

अत्र वेदभाष्ये कर्मकाण्डस्य वर्णनं शब्दार्थतः करिष्यते । परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्र यत्राऽग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत् कर्त्तव्यं तत्तदत्र विस्तरतो न वर्णयिष्यते । कुतः ? कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेयशतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात्[1] । पुनस्तत्कथनेनानृषिकृतग्रन्थवत् पुनरुक्तपिष्टपेषणदोषापत्तेश्चेति । तस्माद्युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो[2] मन्त्रार्थानुसृत[3]स्तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योऽस्ति ।

तथैवोपासनाकाण्डस्यापि प्रकरणशब्दानुसारतो हि प्रकाशः करिष्यते । कुतोऽस्यैकत्र विशेषस्तु पातञ्जलयोगशास्त्रादिभिर्विज्ञेयोऽस्तीत्यतः । एवमेव ज्ञानकाण्डस्यापि । कुतः ? अस्य विशेषस्तु सांख्यवेदान्तोपनिषदादिशास्त्रानुगतो द्रष्टव्यः । एवं [यत्र] काण्डत्रयेण[4] बोधान्निष्पन्नस्त्युपकारो गृह्यते, तच्च विज्ञानकाण्डम् । परन्त्वेतत्काण्डचतुष्टयस्य वेदानुसारेण विस्तरस्तद्व्याख्यानेषु ग्रन्थेष्वस्ति । स एव सम्यक् परीक्ष्याविरुद्धोऽर्थो ग्रहीतव्यः । कुतः ? मूलाभावे शाखादीनामप्रवृत्तेः ।

एवमेव व्याकरणादिभि[5]र्वेदाङ्गैर्वैदिकशब्दानामुदात्तादिस्वरविज्ञानं यथार्थं कर्त्तव्यमुच्चारणं

---

१. एतेन सन्दर्भेणैतत् स्पष्टं भवति यद् ग्रन्थकारो भगवान् दयानन्दः श्रौतगृह्यधर्मसूत्रेषु प्रतिपादितं कर्मकाण्डं यथावत् स्वीकरोति । गृह्यसूत्रोक्तकर्मकाण्डस्य प्रामाण्यं संस्कारविधिग्रन्थनिर्माणात् विस्पष्टमेवानुगतम् । श्रौतसूत्रोक्तकर्मकाण्डस्य प्रामाण्यमपि यत्रतत्र स्वग्रन्थेषु यज्ञादिनिरूपणे 'अग्निहोत्राद्यश्वमेधान्त'शब्दनिर्देशात् विज्ञापितं भवति । यतो हि 'अग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ता यज्ञाः' श्रौतसूत्रेष्वेव पठ्यन्ते । अपि च संस्कारविधौ श्रौतदर्शपौर्णमासेष्ट्योः प्रयोगार्हाणां पात्राणां निर्देशादपि तत्प्रामाण्यं स्वीक्रियते इति विज्ञापितं भवति ।

अस्मिन् वाक्ये 'यथार्थं विनियोजितत्वात्' पदाभ्यामपि श्रौतसूत्रस्थस्य कर्मकाण्डस्य याथार्थ्यं सूचितम् । इदं त्वत्रावधेयम्—इदं यथार्थवचनं सापेक्षमिह प्रयुक्तम् । तेन यद्यत् कर्म वेदाविरोधि तस्यैव याथार्थ्यमत्र ग्राह्यं, न वेदविरुद्धस्य । अयमेवार्थो 'वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतः' पदाभ्यामुत्तरं विस्पष्टीकृतः ।

२. वेदप्रमाणविपरीतो विनियोगः कर्मकाण्डं वा न प्रमाणम् । तदुक्तं भगवता जैमिनिना—'विरोधे त्वनपेक्षं स्यात्' (१ । ३ । ३) ।

३. मन्त्रार्थानुसृत एव विनियोगः प्रमाणम् इत्यर्थः 'यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाऽभिवदति' इति [गोपथ-] ब्राह्मणवचनेनाप्युच्यते । अयमेव चाभिप्रायः उक्तब्राह्मणवचनमुद्ध्रियमाणेन यास्केनाप्यनुमोद्यते (निरु० १।२५) । एतेन मन्त्रार्थाननुसृतो विनियोगोऽप्रमाणम् इति द्योतितं भवति । तेन नवग्रहपूजापूजासूक्तः 'शन्नोदेवी' इत्यादिमन्त्राणां विनियोगोऽप्रमाणम् ।

४. 'काण्डत्रयस्य' इति पाठः साधुः स्यात् ।

५. आदिशब्देनात्र शिक्षानिरुक्तनाम्नोर्वेदाङ्गयोर्ग्रहणं द्रष्टव्यम् । तेन शिक्षाव्याकरणनिरुक्तशास्त्रेषु

च। तत्र यथार्थमुक्तत्वादत्र न वर्ण्यते । एवं पिङ्गलसूत्रच्छन्दोग्रन्थे[१] यथालिखितं छन्दोलक्षणं विज्ञातव्यम् । 'स्वराः षड्जऋषभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाः ॥१॥ पिङ्गलशास्त्रे अ० ३। सू० ६४ ॥' इति पिङ्गलाचार्य्यकृतसूत्रानुसारेण प्रतिच्छन्दः स्वरा लेखिष्यन्ते[१]। कुतः? इदानीं यच्छन्दोऽन्वितो यो मन्त्रस्तस्य स्व स्वरेणैव वादित्रवादनपूर्वकगानव्यवहाराप्रसिद्धेः। एवमेव वेदानामुपवेदैरायुर्वेदादिभिर्वैद्यकविद्यादयो विशेषा विज्ञेयाः। तथैते सर्वे विशेषार्था अपि वेदमन्त्रार्थ-भाष्ये बहुधा प्रकाशयिष्यन्ते। एवं वेदार्थप्रकाशेन विज्ञानेन सयुक्तिवृद्धेन जातेनैव सर्वमनुष्याणां सकलसन्देहनिवृत्तिर्भविष्यति ।

अत्र वेदमन्त्राणां संस्कृतप्राकृतभाषाभ्यां[२] सप्रमाणः पदशोऽर्थो लेखिष्यते। यत्र यत्र व्याकरणादिप्रमाणावश्यकत्वमस्ति तत्तदपि तत्र तत्र लेखिष्यते। येनेदानीन्तनानां वेदार्थविरुद्धानां सनातनव्याख्यानग्रन्थप्रतिकूलानामनर्थकानां वेदव्याख्यानानां निवृत्त्या सर्वेषां मनुष्याणां वेदानां सत्यार्थदर्शनेन तेष्वत्यन्ता प्रीतिर्भविष्यतीति बोध्यम्। संहितामन्त्राणां यथाशास्त्रं यथाबुद्धि च सत्यार्थप्रकाशेन यत्सायणाचार्य्यादिभिः स्वेच्छानुचारतो लोकप्रवृत्त्यनुकूलतश्च लोके प्रतिष्ठार्थं भाष्यं लिखित्वा प्रसिद्धीकृतम्, अनेनात्रानर्थो महान् जातः। तद्द्वारा यूरोपखण्डवासिनामपि वेदेषु भ्रमो जात इति। यदास्मिन्नीश्वरानुग्रहेणर्षिमुनिमहर्षिमहामुनिभिरार्य्यैर्वेदार्थगर्भितेष्वैतरेय-

शब्दानामुदात्तादिस्वरविज्ञानम्, अर्थविज्ञानम्, शब्दोच्चारणविज्ञानं च यथार्थं विहितमस्ति। तस्मात्कारणादिह नोच्यन्ते तानि च तत एव ज्ञेयानि, इति भावः।

६. तत्तद्वेदसम्बद्धा अनेके छन्दोग्रन्थाः पार्थक्येनोपलभ्यन्ते। तद्यथा ऋग्वेदस्य कात्यायनीयसर्वानुक्रमणी, शौनकीया छन्दोनुक्रमणी च, यजुर्वेदस्य कात्यायननाम्ना प्रसिद्धीकृता सर्वानुक्रमणी, सामवेदस्य निदानसूत्रान्तर्गता छन्दोविचितिः, अथर्ववेदस्य च बृहत्सर्वानुक्रमणी प्रसिद्धा वर्तन्ते। सामवेदस्य नैगेयशाखाया अप्यनुक्रमणी ग्रन्थ उपलभ्यते। प्राचीना वेदभाष्यकारा ऋग्यजुषोः कात्यायनसर्वानुक्रमण्यनुसारमेव प्रायेण छन्दोनिर्देशं कुर्वन्ति। तत्परित्यज्य किमर्थं ग्रन्थकारः पिङ्गलछन्दोग्रन्थं प्राधान्येनोपससारेति जायते विचारणा। अत्रोच्यते— ऋग्वेदस्य सर्वानुक्रमण्याः परित्यागे द्वे कारणे। तत्र प्रथमं तस्यां यज्ञकर्मोपयोगिछन्दोनिर्देशात् अर्थज्ञाने तच्छन्दसामनुपयोगित्वात् (अयमर्थोऽस्माभिः स्वकीये 'वैदिकछन्दोमीमांसा' ग्रन्थस्याष्टादशाध्याये विस्तरेण निरूपितः, स तत एव द्रष्टव्यः)। शुक्लयजुषः सर्वानुक्रमण्याः कूटग्रन्थत्वाच्च (अस्या कूटग्रन्थत्वं वैदिकछन्दोमीमांसाग्रन्थस्य भूमिकायां, वेदसंज्ञामीमांसायां च सम्यगुपपादितम्) ग्रन्थकारेणानयोः सर्वानुक्रमण्योराश्रयो छन्दोनिर्देशे नैव कृतः। द्वितीयमिदं कारणं यद् वेदाङ्गत्वेन पिङ्गलछन्दोग्रन्थ एव सर्वैराश्रीयते, अतस्तस्याश्रयणमेवोचितम्। पिङ्गलसूत्रस्य च वेदाङ्गत्वं तस्य सर्ववेदसाधारणत्वान्मन्यते। तथा चोक्तं निदानसूत्रान्तर्गतछन्दोविचित्या व्याख्यात्रा षेत्ताशास्त्रिणा —

'याष्षट् पिङ्गलनागाद्यैः छन्दोविचितयः कृताः। तासां पिङ्गलनागीया सर्वसाधारणी भवेत् ॥' इति।

१. प्राचीनैराचार्यैः प्रतिमन्त्रमृषिदैवतछन्दांस्युक्तानि, षड्जादिस्वरनिर्देशो न केनापि भाष्यकारेण कृतः। तस्माद् अयं ग्रन्थकारस्य विशिष्टः प्रयत्नो द्रष्टव्यः।

२. भूमिकायां वेदभाष्ये च यः प्राकृतभाषायामर्थ उपलभ्यते स ग्रन्थकारेण स्वाश्रितैः पण्डितैर्निर्मापित इति तदीयपत्रव्यवहारेण विस्पष्टं ज्ञायते। ग्रन्थकृता तु संस्कृतभाग एव रचितः। तस्मात् स एव प्रमाणीभूतो न भाषार्थः। बहुत्र भाषार्थः संस्कृताद् भिद्यते, वैपरीत्यं च भजते।

ब्राह्मणादिप्रयुक्तप्रमाणान्विते मया कृते भाष्ये प्रसिद्धे जाते सति सर्वमनुष्याणां महान् सुखलाभो भविष्यतीति विज्ञायते।

अथात्र यस्य यस्य मन्त्रस्य पारमार्थिकव्यावहारिकयोर्द्वयोरर्थयोः श्लेषालङ्कारादिना सप्रमाणः सम्भवोऽस्ति, तस्य तस्य द्वौ द्वावर्थौ विधास्येते। परन्तु नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रार्थेऽत्यन्तं त्यागो भवति। **कुतः? निमित्तकारणस्येश्वरस्यास्मिन् कार्य्ये जगति सर्वाङ्गव्याप्तिमत्त्वात्, कार्य्यस्येश्वरेण सहान्वयाच्च। यत्र खलु व्यावहारिकोऽर्थो भवति, तत्रापीश्वररचनानुकूलतयैव सर्वेषां पृथिव्यादिद्रव्याणां सद्भावाच्च। एकमेव पारमार्थिकेऽर्थे कृते तस्मिन् कार्य्यार्थसम्बन्धात् सोऽप्यर्थ आगच्छतीति।**

भावार्थ—इस वेदभाष्य में शब्द और उनके अर्थद्वारा कर्मकाण्ड का वर्णन करेंगे। परन्तु[1] कर्मकाण्ड में लगाये हुए वेदमन्त्रों में से जहां-तहां जो-जो कर्म अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध के अन्तपर्यन्त करने चाहियें, उनका वर्णन यहां नहीं किया जायगा। क्योंकि उनके अनुष्ठान का यथार्थ विनियोग ऐतरेय शतपथादि ब्राह्मण, पूर्वमीमांसा, श्रौत और गृह्यसूत्रादिकों में कहा हुआ है[2]। उसी को फिर कहने से पिसे को पीसने के समतुल्य अल्पज्ञ पुरुषों के लेख के समान दोष इस भाष्य में भी आ जा सकता है। इसीलिये जो-जो कर्मकाण्ड वेदानुकूल युक्तिप्रमाणसिद्ध है, उसी को मानना योग्य है, अयुक्त को नहीं।

ऐसे ही उपासनाकाण्डविषयक मन्त्रों के विषय में भी पातञ्जल, सांख्य, वेदान्तशास्त्र और उपनिषदों की रीति से ईश्वर की उपासना जान लेना। परन्तु केवल मूलमन्त्रों ही के अर्थानुकूल का अनुष्ठान और प्रतिकूल का परित्याग करना चाहिये। क्योंकि जो-जो मन्त्रार्थ वेदोक्त हैं, सो सब स्वतःप्रमाणरूप और ईश्वर के कहे हुए हैं। और जो-जो वेदों से भिन्न हैं, वे केवल वेदार्थ के अनुकूल होने से ही प्रामाणिक हैं, ऐसे न हों तो नहीं।

ऐसे ही व्याकरणादिशास्त्रों के बोध से उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, एकश्रुति आदि स्वरों का ज्ञान और उच्चारण तथा पिङ्गल सूत्र से छन्दों और षड्जादि स्वरों का ज्ञान अवश्य करना चाहिए। जैसे 'अग्निमीळे०' यहां अकार के नीचे अनुदात्त का चिह्न, 'ग्नि' उदात्त है इसलिये उस पर चिह्न नहीं लगाया गया है। 'मी' के ऊपर स्वरित का चिह्न, है, 'ळे' में प्रचय अर्थात् एकश्रुति स्वर है, यह बात ध्यान में रखना। इसी प्रकार जो-जो व्याकरणादि के विषय लिखने के योग्य

१. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'परन्तु लोगों के कर्मकाण्ड में' पाठ है। इस पाठ से कर्मकाण्डविषयक श्रौतसूत्रादि आर्ष ग्रन्थों की हीनता द्योतित होती है। वस्तुतः ये ऋषियों के द्वारा रचित हैं, साधारण लोगों द्वारा रचे हुए नहीं हैं।

२. यद्यपि यहां श्रौतगृह्यसूत्रोक्त मन्त्र-विनियोग अथवा कर्मकाण्ड के लिये 'यथार्थ' शब्द का निर्देश किया है, परन्तु यह यथार्थता सापेक्ष है। इन ग्रन्थों का लेख जहां तक वेदानुकूल है, वहीं तक उनकी यथार्थता जाननी चाहिये। यह अभिप्राय ग्रन्थकार ने 'जो-जो कर्मकाण्ड वेदानुकूल' वाक्य में वेदानुकूल शब्द से स्वयं स्पष्ट कर दिया है। भगवान् जैमिनि ने भी **'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्'** (१।३।३) सूत्र द्वारा वेदविरुद्ध श्रौतगृह्याद्युक्त कर्म का अप्रामाण्य कहा है।

होंगे, वे सब संक्षेप में आगे लिखे जायंगे, क्योंकि मनुष्यों को उनके समझने में कठिनता होती है। इसलिये उनके साथ में अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों के भी विषय लिखे जायेंगे, कि जिनके सहाय से वेदों का अर्थ अच्छी प्रकार विदित हो सके।

इस भाष्य में पद-पद का अर्थ पृथक्-पृथक् क्रम से लिखा जायगा, कि जिससे नवीन टीकाकारों के लेख से जो वेदों में अनेक दोषों की कल्पना की गई हैं, उन सब की निवृत्ति होकर उनके सत्य अर्थों का प्रकाश हो जायगा। तथा जो सायण माधव[1] महीधर और अङ्गरेजो वा अन्य भाषा में उलथे वा भाष्य किये जाते वा किये गये हैं, तथा जो-जो देशान्तर-भाषाओं में टीका हैं, उन अनर्थ व्याख्यानों का निवारण होकर मनुष्यों को वेदों के सत्य अर्थों के देखने से अत्यन्त सुखलाभ पहुंचेगा। क्योंकि विना सत्यार्थप्रकाश के देखे मनुष्यों की भ्रमनिवृत्ति कभी नहीं हो सकती। जैसे [ग्रन्थ] प्रामाण्याप्रामाण्यविषय में सत्य और असत्य कथाओं के देखने से भ्रम की निवृत्ति हो सकती है, ऐसे ही यहां भी समझ लेना चाहिये। इत्यादि प्रयोजनों के लिये इस वेदभाष्य के बनाने का आरम्भ किया है।

[इस वेदभाष्य में जिस जिस-मन्त्र का **पारमार्थिक और व्यावहारिक दोनों अर्थों का श्लेषादि अलंकार द्वारा सप्रमाण सम्भव होगा, उस-उसके दो-दो अर्थ करेंगे**[2]। **परन्तु ईश्वर का एक भी मन्त्र के अर्थ में अत्यन्त त्याग नहीं होता**। किस कारण? निमित्त कारण ईश्वर के इस कार्य जगत् में सर्वत्र व्याप्त होने से और कार्य का ईश्वर के साथ सम्बन्ध होने से। जहां पर केवल व्यावहारिक अर्थ किया है, वहां भी ईश्वर की रचना के अनुकूल ही पृथिव्यादि द्रव्यों का सद्भाव होने से उसका निर्देश स्वतः प्राप्त हो जाता है। जैसे किसी कार्यद्रव्य की प्रशंसा से कारीगर की प्रशंसा स्वयं जानी जाती है। इसी प्रकार पारमार्थिक ईश्वरपरक अर्थ करने पर भी उसके साथ कार्यद्रव्य का कृतिरूप सम्बन्ध होने से वह अर्थ भी जाना जाता है।]

इति प्रतिज्ञाविषय संक्षेपतः

---

१. 'यहां सायण माधव' परस्पर सम्बद्धपद है। सायण माधव का अनुज है। सायण ने अनेक ग्रन्थ लिख कर अपने ज्येष्ठ भ्राता माधव के नाम से प्रसिद्ध किये हैं। वेदव्याख्याताओं में दो माधव नाम के अन्य आचार्य भी प्रसिद्ध हैं। एक सायण से प्राचीन सामवेद व्याख्याता माधव, दूसरा ऋग्वेद व्याख्याता वेङ्कट माधव।

२. ऋषि दयानन्द ने आरम्भ में प्रति मन्त्र दो-दो अर्थ किये थे। तदानुसार उन्होंने सं० १९३३ में ऋग्वेदभाष्य का एक नमूने का २४ पृष्ठों का अङ्क छपवाया था उसमें प्रथम सूक्त सम्पूर्ण और द्वितीय सूक्त के प्रथम मन्त्र के द्वितीय अर्थ (संस्कृत भाग) का कुछ भाग था। इसी प्रकार दो-दो अर्थोंवाला ऋग्भाष्य कुछ सूक्तों तक हस्तलिखित रूप में परोपकारिणी सभा के संग्रह में विद्यमान है। अभी गत वर्ष परोपकारिणी सभा ने नमूने के अङ्क का नया संस्करण छापा है उसमें सूक्त २,३ का वह अर्थ नहीं है जो सं० १९३३ के नमूने के अङ्क में दूसरे सूक्त के प्रथम मन्त्र का छपा था।

अथ प्रश्नोत्तरविषयः संक्षेपतः

प्रश्नः—अथ किमर्था वेदानां चत्वारो विभागाः सन्ति ?

उत्तरम् – भिन्नभिन्नविद्याज्ञापनाय ।

प्र०—कास्ताः ?

उ०—त्रिधा गानविद्या भवति, गानोच्चारणविद्याया द्रुतमध्यमविलम्बितभेदयुक्तत्वात् । यावता कालेन[1] द्रुतवृत्तावुच्चारणं क्रियते, ततो मध्यमायामुच्चारणे द्विगुणः, विलम्बितायामुच्चारणे त्रिगुणश्च कालो गच्छतीति । अत एवैकस्यापि मन्त्रस्य चतसृषु संहितासु पाठः कृतोऽस्ति । तद्यथा—"ऋग्भिस्स्तुवन्ति यजुर्भिर्यजन्ति सामभिर्गायन्ति[2] ।' ऋग्वेदे सर्वेषां पदार्थानां गुणप्रकाशः कृतोऽस्ति, तथा यजुर्वेदे विदितगुणानां पदार्थानां सकाशात् क्रिययाऽनेकविधोपकारग्रहणाय[3] विधानं कृतमस्ति, तथा सामवेदे ज्ञानक्रियाविद्ययोर्दीर्घविचारेण फलावधिपर्यन्तं विद्याविचारः । एवमथर्ववेदेऽपि त्रयाणां वेदानां मध्ये यो विद्याफलविचारो विहितोऽस्ति तस्य पूर्त्तिकरणेन रक्षणोन्नती विहिते स्तः । एतदाद्यर्थं वेदानां चत्वारो विभागाः सन्ति ।

(प्रश्नः) वेदानां चतुःसंहिताकरणे किं प्रयोजनमस्तीति ?

(उत्तरम्) यतो विद्याविधायकानां मन्त्राणां प्रकरणशः पूर्वापरसन्धानेन सुगमतया तत्रस्था विद्या विदिता भवेयुरेतदर्थं संहिताकरणम् ।

प्र०—वेदेष्वष्टकमण्डलाध्यायसूक्तषट्क[4]काण्डवर्गदशतित्रिकप्रपाठकानुवाकविधानं किमर्थं कृतमस्ति ।

---

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'ह्रस्वस्वरोच्चारणं क्रियते, ततो दीर्घोच्चारणे द्विगुणः, प्लुतोच्चारणे त्रिगुणः' इत्यपपाठो दृश्यते । कुत इति चेत् ? द्रुतमध्यमविलम्बितवृत्तीनामुच्चारणकाले वक्तव्ये ह्रस्वादीनामुच्चारणकालनिर्देशवचनस्याप्रासङ्गिकत्वात् । भाषापदार्थोऽप्यस्माभिः संशोधितं पाठं पोषयति । महाभाष्यकृत् त्वासां वृत्तीनां कालविभागमेवमन्वाचष्टे—'ये हि द्रुतायां वृत्तौ वर्णास्त्रिभागाधिकास्ते मध्यमायाम् । ये च मध्यमायां वर्णास्त्रिभागाधिकास्ते विलम्बितायाम् । महा० १ । १ । ६९ ॥ इमं ग्रन्थं कैयट एवं स्पष्टयति—द्रुतं श्लोकमृचं वोच्चारयति वक्तरि नाडिकाया यस्या नव पानीयपलानि स्रवन्ति, तस्या एव मध्यमायां वृत्तौ द्वादशपलानि स्रवन्ति । नवानां त्रिभागास्त्रीणि पलानि तदधिकानि नव द्वादश सम्पद्यन्ते । विलम्बितायां तु वृत्तौ षोडश पलानि स्रवन्ति इति ।

२. तुलनीयम्—निरुक्त १३ । ७ ॥

३. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'विद्योपकार०' इत्यपपाठः ।

४. 'षट्क'संज्ञो न वेदेषु कश्चिद् विभाग उपलभ्यते ।

उ०—अत्र ब्रूमः—अत्राष्टकादीनां विधानमेतदर्थमस्ति यथा सुगमतया पठनपाठनं,[1] मन्त्रपरिगणनं, प्रतिविद्यं विद्याप्रकरणबोधश्च भवेत्, एतदर्थमेतद्विधानं कृतमस्तीति।

प्र०—किमर्था ऋग्यजुःसामाथर्वाणः प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थसंख्यायाः क्रमेण परिगणिताः सन्ति ?

उ०—अत्रोच्यते—न यावद् गुणगुणिनोः साक्षाज्ज्ञानं भवति, नैव तावत्संस्कारः प्रीतिश्च। न चाभ्यां विना प्रवृत्तिर्भवति, तया विना[2] सुखभावश्चेति। एतद्विद्याविधायकत्वाद् ऋग्वेदः प्रथमं परिगणितुं योग्योऽस्ति। एवं च यथा पदार्थगुणज्ञानानन्तरं क्रिययोपकारेण सर्वजगद्धितसम्पादनं कार्यं भवति, यजुर्वेद एतद्विद्याप्रतिपादकत्वाद् द्वितीयः परिगणितोऽस्तीति बोध्यम्। तथा ज्ञानकर्मकाण्डयोरुपासनायाश्च कियत्युन्नतिर्भवितुमर्हति, किञ्चैतेषां फलं भवति, सामवेद एतद्विधायकत्वात् तृतीयो गण्यत इति। एवमेवाथर्ववेदस्त्रय्यन्तर्गतविद्यानां परिशेषरक्षणविधायकत्वाच्[3] चतुर्थः परिगण्यत इति।

अतो गुणज्ञानक्रियाविज्ञानोन्नतिशेषविद्यारक्षणानां पूर्वापरसहभावे संयुक्तत्वात् क्रमेणर्ग्यजुस्सामाथर्वाण इति चतस्रः संहिताः परिगणिताः संज्ञाश्च कृताः सन्ति। 'ऋच स्तुतौ,'[4] 'यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु'[5], 'साम सान्त्वने'[6], 'षो अन्तकर्मणि'[7], थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः॥ निरु० अ० ११। ख० १८॥ चर संशये'[8], अनेनाथर्वशब्दः संशयनिवारणार्थो गृह्यते। एवं धात्वर्थोक्तप्रमाणेभ्यः क्रमेण वेदाः परिगण्यन्ते चेति वेदितव्यम्।

भाषार्थ—प्र०—वेदों के चार विभाग क्यों किये हैं ?

उ०—भिन्न-भिन्न विद्या जनाने के लिये। अर्थात् जो तीन प्रकार की गानविद्या है, एक तो यह कि—उदात्त और षड्जादि स्वरों का उच्चारण ऐसी शीघ्रता से करना, जैसा कि ऋग्वेद के स्वरों का उच्चारण द्रुत अर्थात् शीघ्रवृत्ति में होता है। दूसरी—मध्यमवृत्ति, जैसे कि यजुर्वेद के स्वरों का उच्चारण ऋग्वेद के मन्त्रों से दूने काल में होता है। तीसरी—विलम्बितवृत्ति है, जिसमें प्रथमवृत्ति से तिगुना काल लगता है। जैसा कि सामवेद के स्वरों के उच्चारण वा गान में। फिर उन्हीं तीनों वृत्तियों के मिलाने से अथर्ववेद का भी उच्चारण होता है। परन्तु इसका द्रुतवृत्ति में उच्चारण अधिक होता है[9]। इसलिये वेदों के चार विभाग हुए हैं।

---

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'पठनपाठनमन्त्रपरिगणनं' इत्यपपाठः।

२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'सुखाभावश्चेति' अपपाठः।

३. अनेन प्रकारेण यत्र यत्र त्रयो वेदा उक्तास्तत्र तेषामेव पारिशेष्याद् अथर्ववेदस्य तेष्वेवान्तर्भावमाश्रित्य त्रित्वमुक्तमिति ज्ञेयम्।　४. क्षीरतरङ्गिणी ६। २३॥　५. क्षीरत० १। ७२६॥

६. द्र०—क्षीरत० १०। २६५॥ इह 'सान्तने' 'सान्त्वने' 'सान्त्वप्रयोगे' इति त्रिविधः पाठः।

७. क्षीरत० ४। ३७॥　८. क्षीरत० १०। १८३॥

९. साम्प्रतिक वैदिक द्रुतवृत्ति से अथर्ववेद को पढ़ते हैं। क्योंकि वर्त्तमान अथर्ववेदी मूलतः ऋग्वेदी थे। मराठा साम्राज्य के अभ्युदयकाल में पेशवाओं ने लुप्तप्राय अथर्ववेद के पठन-पाठन का पुनरुद्धार किया। जिन ऋग्वेदियों ने अथर्ववेद के पुनरुद्धार का बीड़ा उठाया, उन्हें पेशवा अधिकारियों ने ग्रामदानादि से सत्कृत

तथा कहीं-कहीं एक मन्त्र का चार वेदों में पाठ करने का यही प्रयोजन है कि वह पूर्वोक्त चारों प्रकार की गानविद्या में गाया जावे। तथा प्रकरण भेद से कुछ-कुछ अर्थभेद भी होता है इसलिये कितने ही मन्त्रों का पाठ चारों वेदों में किया जाता है।

ऐसे ही 'ऋग्भिस्तु०' ऋग्वेद में सब पदार्थों के गुणों का प्रकाश किया है जिससे। उनमें प्रीति बढ़कर उपकार लेने का ज्ञान प्राप्त हो सके। क्योंकि विना प्रत्यक्ष ज्ञान के संस्कार और प्रवृत्ति का आरम्भ नहीं हो सकता। और आरम्भ के विना यह मनुष्यजन्म व्यर्थ ही चला जाता है। इसलिये ऋग्वेद की गणना प्रथम ही की है।

तथा यजुर्वेद में क्रियाकाण्ड का विधान लिखा है, सो [उसमें] ज्ञान के पश्चात् ही कर्त्ता की प्रवृत्ति यथावत् हो सकती है। क्योंकि जैसा कि ऋग्वेद में गुणों का कथन किया है, वैसा ही यजुर्वेद में अनेक विद्याओं के ठीक-ठीक विचार करने से संसार में व्यवहारी पदार्थों से [अनेकविध] उपयोग सिद्ध करना होता है। जिनसे लोगों को नाना प्रकार का सुख मिले। क्योंकि जबतक कोई क्रिया विधिपूर्वक न की जाय, तबतक उसका अच्छी प्रकार भेद नहीं खुल सकता। इसलिये जैसा कुछ जानना वा कहना, वैसा ही करना भी चाहिये। तभी ज्ञान का फल और ज्ञानी की शोभा होती है।

तथा यह भी जानना अवश्य है कि जगत् का उपकार मुख्य करके दो ही प्रकार का होता है। एक—आत्मा और दूसरा शरीर का, अर्थात् विद्यादान से आत्मा, और श्रेष्ठ नियमों से उत्तम पदार्थों की प्राप्ति करके शरीर का उपकार होता है। इसलिये ईश्वर ने ऋग्वेदादि का उपदेश किया है कि जिन से मनुष्य लोग ज्ञान और क्रियाकाण्ड को पूर्ण रीति से जान लेवें। तथा सामवेद से ज्ञान और आनन्द की उन्नति, और अथर्ववेद से सर्व संशयों की निवृत्ति होती है। इसलिये इनके चार विभाग किये हैं।

प्र०—वेदों की चार संहिता करने का क्या प्रयोजन है?

उ०—विद्या के जनानेवाले मन्त्रों के प्रकरण से जो पूर्वापर का ज्ञान होना है, उससे वेदों में कही हुई सब विद्या सुगमता से जानली जाय, इत्यादि प्रयोजन [चार] संहिताओं के करने में हैं।

प्र०—अच्छा अब आप यह तो कहिये कि वेदों में जो अष्टक, अध्याय, मण्डल, सूक्त, षट्क[1], काण्ड, वर्ग, दशति, त्रिक और अनुवाक रक्खे हैं, ये किसलिये हैं?

उ०—इनका विधान इसलिये है कि जिससे पठन-पाठन[2] और मन्त्रों की गिनती विना कठिनता के जानली जाय। तथा सब विद्याओं के पृथक्-पृथक् प्रकरण निर्भ्रमता के साथ विदित होकर सब विद्याव्यवहारों में गुण और गुणी के ज्ञानद्वारा मनन और पूर्वापर स्मरण होने से

किया। सम्प्रति जो भी अथर्ववेदी उपलब्ध होते हैं, वे इसी परम्परा के हैं। अथर्व की अध्ययन-परम्परा लुप्त हो जाने से ही अथर्ववेद में पाठभेद वा पाठभ्रंश बहुधा उपलब्ध होते हैं।

१. वेदों में 'षट्क' नाम का कोई विभाग नहीं मिलता, अतः यह चिन्त्य है।

२. द्र०—पृष्ठ ३६३, टि० १।

अनुवृत्तिपूर्वक आकाङ्क्षा योग्यता आसत्ति और तात्पर्य सबको विदित हो सके। इत्यादि प्रयोजन के लिये अष्टकादि [विभाग] किये हैं।

'प्र०—प्रथम ऋग्, दूसरा यजुः, तीसरा साम, और चौथा अथर्ववेद, इस क्रम से चार वेद क्यों गिने हैं?

उ०—जब तक गुण और गुणी का ज्ञान मनुष्य को नहीं होता, तब पर्य्यन्त उनमें प्रीति से प्रवृत्ति नहीं हो सकती। और इसके विना शुद्ध क्रियादि के अभाव से मनुष्यों को सुख भी नहीं हो सकता था। इसलिये वेदों के चार विभाग किये हैं, कि जिससे प्रवृत्ति हो सके। क्योंकि जैसे इस गुणज्ञान विद्या को जनाने से पहिले ऋग्वेद की गणना योग्य है, वैसे ही पदार्थों के गुणज्ञान के अनन्तर क्रियारूप उपकार करके सब जगत् का अच्छी प्रकार से हित भी सिद्ध हो सके। इस विद्या के जनाने के लिये यजुर्वेद की गिनती दूसरी वार की है। ऐसे ही ज्ञान कर्म और उपासनाकाण्ड की वृद्धि वा फल कितना और कहां तक होना चाहिये, इसका विधान सामवेद में लिखा है, इसलिये उसको तीसरा गिना है। ऐसे ही तीन वेदों में जो-जो विद्या हैं, उन सब के शेष भाग की पूर्ति का विधान, सब विद्याओं की रक्षा, और सशय-निवृत्ति के लिये अथर्ववेद को चौथा गिना है।

सो गुणज्ञान, क्रियाविज्ञान, इनकी उन्नति, तथा रक्षा को पूर्वापर क्रम से जान लेना। अर्थात् ज्ञानकाण्ड के लिये ऋग्वेद, क्रियाकाण्ड के लिये यजुर्वेद, इनकी उन्नति के लिये सामवेद और शेष विद्याओं वा रक्षा के प्रकाश करने के लिये अथर्ववेद, [इन] की प्रथम, दूसरी, तीसरी और चौथी संख्या बांधी है। क्योंकि (ऋच स्तुतौ), (यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु), (षो अन्तकर्मणि) और (साम सान्त्वप्रयोगे), (थर्वतिश्चरतिकर्मा०) इन अर्थों के विद्यमान होने से चार वेदों अर्थात् ऋग्, यजुः, साम और अथर्व की ये चार संज्ञा रक्खी हैं। तथा अथर्ववेद का प्रकाश ईश्वर ने इसलिये किया है कि जिससे तीनों वेदों को अनेक विद्याओं के सब विघ्नों का निवारण और उनकी गणना अच्छी प्रकार से हो सके।

[ऋषि-देवता-छन्दः-स्वर-निर्देशप्रयोजनम्]

प्रश्नः—प्रत्येकमन्त्रस्योपरि ऋषिदेवताछन्दःस्वराः किमर्था लिख्यन्ते?

उत्तरम्—यतो वेदानामीश्वरोक्त्यनन्तरं येन येनर्षिणा यस्य यस्य मन्त्रस्यार्थो यथावद् विदितस्तस्मात् तस्य तस्योपरि तत्तदृषेर्नामोल्लेखनं कृतमस्ति। कुतः, यैरीश्वरध्यानानुग्रहाभ्यां महता प्रयत्नेन मन्त्रार्थस्य प्रकाशः कृतः[2], तत्कृतमहोपकारस्मरणार्थं तन्नामलेखनं प्रतिमन्त्रस्योपरि कर्त्तुं योग्यमस्त्यतः। अत्र प्रमाणम्—

---

१. यह प्रश्न और उत्तर वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'इसलिये इनके चार विभाग किये' (पृष्ठ ३६४ पं० २०) से आगे मिलता है, परन्तु संस्कृतपाठ के अनुसार इसे यहां होना चाहिये।

२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'प्रकाशितत्वात्' इत्यपपाठः। यतः 'यैः' पदेन सह 'प्रकाशितत्वात्' पदं न सम्बद्ध्यते।

'यो वाचं श्रुतवान् भवत्यफलामपुष्पामित्यफलाऽस्मा अपुष्पा वाग्भवतीति वा किञ्चित्पुष्पफलेति वा । अर्थं वाचः पुष्पफलमाह । याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा । साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुरुपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च । बिल्मं भिल्मं भासनमिति वैतावन्तः समानकर्माणो धातवो धातुर्दधातेरेतावन्त्यस्य सत्त्वस्य नामधेयान्येतावतामर्थानामिदमभिधानं नैघण्टुकमिदं देवतानाम प्राधान्येदमिति तद्यदन्यदैवते मन्त्रे निपतति नैघण्टुकं तत् ॥ निरु० अ० १ । खं० २० ॥

(यो वाचं०) यो मनुष्योऽर्थविज्ञानेन विना श्रवणाध्ययने करोति तदफलं भवति । (प्रश्नः) वाचो वाण्याः किं फलं भवतीति ? (उत्तरम्) अत्राह—विज्ञानं तथा तज्ज्ञानानुसारेण कर्मानुष्ठानम् । य एवं ज्ञात्वा कुर्वन्ति त ऋषयो भवन्ति । कीदृशास्ते ? साक्षात्कृतधर्माणः । ये सर्वा विद्या यथावद् विदितास्त ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतवेदेभ्यो मनुष्येभ्य उपदेशेन वेदमन्त्रान् सम्प्रादुः, मन्त्रार्थांश्च प्रकाशितवन्तः । कस्मै प्रयोजनाय ? उत्तरोत्तरं वेदार्थप्रचाराय । ये चावरेऽध्ययनायोपदेशाय च ग्लायन्ति तान् वेदार्थविज्ञपनायेमं नैघण्टुकं निरुक्ताख्यं ग्रन्थं त ऋषयः समाम्नासिषुः, सम्यगभ्यासं कारितवन्तः[1] । येन वेदं वेदाङ्गानि [च] यथार्थविज्ञानतया सर्वे मनुष्या जानीयुः । ये समानार्थाः समानकर्माणो धातवो भवन्ति तदर्थप्रकाशो यत्र क्रियते, अस्यार्थस्यैतावन्ति नामधेयानि, एतावतामर्थानामिदमभिधानार्थमेकं नाम, अर्थादेकस्यार्थस्यानेकानि नामान्यनेकेषामेकं नामेति तन्नैघण्टुकं व्याख्यानं विज्ञेयम् । यत्रार्थानां द्योत्यानां पदार्थानां प्राधान्येन

१. प्रायेण सर्वैरपि निरुक्तव्याख्यातृभिः 'समाम्नासिषुः' इत्यस्यार्थः 'रचितवन्तः' इत्येवं कृतः । अयमर्थो धात्वर्थाद् विपरीतः । 'म्ना अभ्यासे' इत्येव स्मर्यते वैयाकरणैः । न चान्यत्र क्वचिदपि समाङ्पूर्वस्य म्नाधातो रचनार्थे प्रयोग उपलभ्यते, तस्मात् 'रचितवन्तः' इत्यर्थोऽसाधुरेव । ग्रन्थकृता तु 'समाम्नासिषुः' इत्यस्यान्तर्णीतण्यर्थत्वमाश्रित्य धात्वर्थानुसारं 'सम्यगभ्यासं कारितवन्तः' इत्यर्थो निर्दिष्टः । स च धात्वर्थानुरोधात् समीचीनः (रचितवन्त इत्यर्थे यास्कानभिमतं वेदस्य पौरुषेयत्वमपि प्रसज्यते) । निरुक्तस्य 'निरुक्तश्लोकवार्तिकम्' नाम प्राचीनमेकं व्याख्यानं कतिपयवर्षेभ्यः प्रागुपलब्धम् (अस्य प्रतिलिपिरस्मत्सकाशे विद्यते, अचिरात् प्रकाशमेष्यति)। तस्मिन् निरुक्तस्यैतत् प्रकरणमित्थं व्याख्यायते—

असाक्षात्कृतधर्मभ्यस्ते परेभ्यो यथाविधि । उपदेशेन सम्प्रादुर्मन्त्रान् ब्राह्मणमेव च ॥
अपरे ये ततो न्यूना ग्लायन्नेते सकृच्छ्रुतो । सम्यगभ्यस्तवन्तस्तु वेदान् साङ्गान् यथाविधि ॥
प्रथमाः प्रतिभानेन द्वितीयास्तूपदेशतः । अभ्यासेन तृतीयास्तु वेदार्थान् प्रतिपेदिरे ॥
वेदमभ्यस्तवन्तस्ते वेदाङ्गान्यपि यत्नतः ॥

श्लोकवार्तिक अ० १, पाद ६, श्लोक १९०, १९१, १९५-१९७, २०४ ॥

यत्तु ग्रन्थकर्तुर्वेदभाष्ये 'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यः' (१।१।२) इति मन्त्रव्याख्यायाम् उक्तोद्धरणस्य व्याख्याने 'समाम्नासिषुः' पदस्य 'सम्यगभ्यासार्थं रचितवन्तः' इत्यर्थं उपलभ्यते, स मुद्रणपत्र (प्रूफ) संशोधकद्वारा परिवर्तितोऽपपाठः । हस्तलेखे तु भूमिकावत् शुद्ध एव पाठ उपलभ्यते ।

स्तुतिः क्रियते, तत्र सैवेयं मन्त्रमयी देवता विज्ञेया। यच्च मन्त्राद् भिन्नार्थस्यैव सङ्केतः प्रकाश्यते, तदपि नैघण्टुकं व्याख्यानमिति ॥

अतो नैव कश्चिन्मनुष्यो मन्त्रनिर्मातेति विज्ञेयम्। एवं येन येनर्षिणा यस्य यस्य मन्त्रस्यार्थः प्रकाशितोऽस्ति, तस्य तस्य ऋषेरेकैकमन्त्रस्य सम्बन्धे नामोल्लेखः कृतोऽस्ति। तथा यस्य यस्य मन्त्रस्य यो योऽर्थोऽस्ति, स सोऽर्थस्तस्य तस्य देवताशब्देनाभिप्रायार्थविज्ञापनार्थं प्रकाश्यते। एतदर्थं देवताशब्दलेखनं कृतम्। एवं च यस्य यस्य मन्त्रस्य गायत्र्यादिच्छन्दोऽस्ति, तत्तद्विज्ञानार्थं छन्दोलेखनम्। तथा यस्य यस्य मन्त्रस्य येन येन स्वरेण वादित्रवादनपूर्वकं गानं कर्त्तुं योग्यमस्ति, तत्तदर्थं षड्जादिस्वरोल्लेखनं कृतमस्तीति सर्वमेतद्विज्ञेयम्।

भाषार्थ— प्र०—प्रति मन्त्र के साथ ऋषि, देवता, छन्द और स्वर किसलिये लिखते हैं?

उ०—ईश्वर जिस समय आदिसृष्टि[1] में वेदों का प्रकाश कर चुका, तभी से प्राचीन ऋषि लोग वेदमन्त्रों के अर्थों का विचार करने लगे। फिर उनमें से जिस-जिस मन्त्र का अर्थ जिस-जिस ऋषि ने प्रकाशित किया, उस-उस का नाम उसी मन्त्र के साथ स्मरण के लिये लिखा गया है। इसी कारण से उनका ऋषि नाम भी हुआ है। और जो उन्होंने ईश्वर के ध्यान और अनुग्रह से बड़े बड़े प्रयत्न के साथ वेदमन्त्रों के अर्थों को यथावत् जानकर सब मनुष्यों के लिये पूर्ण उपकार किया है, इसलिये विद्वान् लोग वेदमन्त्रों के साथ उनका स्मरण रखते हैं।

इस विषय में अर्थसहित प्रमाण लिखते हैं—

(यो वाचं०) जो मनुष्य अर्थ को समझे विना अध्ययन वा श्रवण करते हैं, उनका सब परिश्रम निष्फल होता है। प्र०—वाणी का फल क्या है? उ०—अर्थ को ठीक-ठीक जानके उसी के अनुसार व्यवहारों में प्रवृत्त होना, वाणी का फल है। और जो लोग इस नियम पर चलते हैं, वे साक्षात् धर्मात्मा अर्थात् 'ऋषि' कहलाते हैं। इसलिये जिन्होंने सब विद्याओं को यथावत् जाना था, वे ही ऋषि हुए थे। उन्होंने अपने उपदेश से अवर अर्थात् अल्पबुद्धि मनुष्यों को वेदमन्त्रों के अर्थों का प्रकाश कर दिया है। प्र०—किस प्रयोजन के लिये? उ०—वेदप्रचार की परम्परा स्थिर रहने के लिये। तथा जो लोग वेदशास्त्रादि पढ़ने को कम समर्थ हैं, वे जिससे सुगमता से वेदार्थ जान लेवें, इसलिये [उन्होंने] निघण्टु और निरुक्त आदि [2]ग्रन्थों का अच्छे प्रकार अभ्यास कराया कि जिससे सब मनुष्य वेद और वेदाङ्गों को ज्ञानपूर्वक पढ़कर उनके सत्य अर्थों का प्रकाश करें। 'निघण्टु' उसको कहते हैं कि जिसमें तुल्य अर्थ और तुल्य कर्मवाले धातुओं की व्याख्या, एक पदार्थ के अनेक नाम तथा अनेक अर्थों का एक नाम से प्रकाश, और मन्त्रों से भिन्न अर्थों का संकेत है। और 'निरुक्त' उसका नाम है कि जिसमें वेदमन्त्रों की व्याख्या है॥

और जिन-जिन मन्त्रों में जिन-जिन पदार्थों की प्रधानता से स्तुति की है, उनके मन्त्रमय देवता जानने चाहियें। अर्थात् जिस-जिस मन्त्र का जो-जो अर्थ होता है, वही उसका देवता

१. द्रष्टव्यं पूर्वत्र (पृष्ठ २४, टि० १)।

२. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'ग्रन्थ भी बना दिये जिनके सहाय से' अपपाठ है। क्योंकि यह संस्कृत-पाठ से विपरीत है। विशेष विचार संस्कृत टिप्पणी (पृष्ठ ३६६ टि० १) में किया है।

कहाता है। सो यह इसलिये है कि जिससे मन्त्रों को देखके उनके अभिप्रायार्थ का यथार्थ ज्ञान हो जाय। इत्यादि प्रयोजन के लिये देवता शब्द मन्त्र के साथ में लिखा जाता है।

ऐसे ही जिस-जिस मन्त्र का जो-जो छन्द है, सो भी उसके साथ इसलिये लिख दिया गया है कि उनसे मनुष्यों को छन्दों का ज्ञान भी यथावत् होता रहे। तथा कौन-कौनसा छन्द किस-किस स्वर में गाना चाहिये, इस बात को जनाने के लिये उनके साथ में षड्जादि स्वर लिखे जाते हैं। जैसे गायत्री छन्दवाले मन्त्रों को षड्ज स्वर में गाना चाहिये। ऐसे ही और-और भी बता दिये हैं कि जिससे मनुष्य लोग गान-विद्या में भी प्रवीण हों। इसीलिये वेद में प्रत्येक मन्त्रों के साथ उनके षड्ज आदि स्वर लिखे जाते हैं।

[अग्निवाय्विन्द्रादीनां क्रमेण वर्णनप्रयोजनम्]

प्र०—वेदेष्वग्निवाय्विन्द्राश्विसरस्वत्यादिशब्दानां क्रमेण पाठः किमर्थः कृतोऽस्ति ?

उ०—पूर्वापरविद्याविज्ञापनार्थम्, विद्यासङ्ग्यनुषङ्गिप्रतिविद्यानुषङ्गिबोधार्थं चेति। तद्यथा—

अग्निशब्देनेश्वरभौतिकार्थयोर्ग्रहणं भवति। यथाऽनेनेश्वरस्य ज्ञानव्यापकत्वादयो गुणा विज्ञातव्या भवन्ति, यथेश्वररचितस्य भौतिकस्याग्नेः शिल्पविद्याया मुख्यहेतुत्वात् प्रथमं[1] गृह्यते, तथेश्वरस्य सर्वाधारकत्वानन्तबलवत्त्वादिगुणा वायुशब्देन प्रकाश्यन्ते। यथा शिल्पविद्यायां भौतिकाग्नेः सहायकारित्वान्मूर्त्तद्रव्याधारकत्वात् तदनुषङ्गित्वाच्च भौतिकस्य वायोर्ग्रहणं कृतमस्ति, तथैव वाय्वादीनामाधारकत्वादीश्वरस्यापीति। यथेश्वरस्येन्द्रशब्देन परमैश्वर्य्यवत्त्वादिगुणा विदिता भवन्ति, तथा भौतिकेन [2]वायुनाप्युत्तमैश्वर्य्यप्राप्तिर्मनुष्यैः क्रियते। एतदर्थमिन्द्रशब्दस्य ग्रहणं कृतमस्ति। अश्विशब्देन शिल्पविद्यायां यानचालनादिविद्याव्यवहारे जलाग्निपृथिवीप्रकाशादयो हेतवः प्रतिहेतवश्च सन्ति। एतदर्थमग्निवायुग्रहणानन्तरमश्विशब्दप्रयोगो वेदेषु कृतोऽस्ति। एवं च सरस्वतीशब्देनेश्वरस्यानन्तविद्यावत्त्वशब्दार्थसम्बन्धरूपवेदोपदेष्टृत्वादिगुणा वेदेषु प्रकाशिता भवन्ति वाग्व्यवहाराश्च। इत्यादिप्रयोजनायाग्निवाय्विन्द्राश्विसरस्वत्यादिशब्दानां ग्रहणं [क्रमेण] कृतमस्ति। एवमेव सर्वत्रैव वैदिकशब्दार्थव्यवहारज्ञानं सर्वैर्मनुष्यैर्बोध्यमस्तीति विज्ञाप्यते।

भाषार्थ—प्र०—वेदों में क्रमवार[3] अग्नि वायु इन्द्र सरस्वती आदि शब्दों का प्रयोग किसलिये किया है ?

---

१. अग्निशब्दः पूर्ववाक्यात् संबध्यते।

२. इन्द्रशब्देनेह वायुर्गृहीतः। तत् कथमिति चेत् ? नैरुक्तपक्षे अन्तरिक्षदेवताया विकल्प उच्यते—'वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थानः' (निरु० ७। ५)। देवताविकल्पे च ये नैरुक्ता वायुदेवतामामनन्ति ते इन्द्रादिपदान् वाय्वर्थत्वेन व्याचक्षते। इन्द्रदेवतां स्वीकुर्वाणाः वाय्वादिपदान् इन्द्रपरत्वेन व्याचक्षते। तथा ह्याह निरुक्तसमुच्चयकारो वररुचिः 'इन्द्रं क्रतुम्'''। नैरुक्तपक्षेऽपि इन्द्र दानादिगुण! इन्द्रो मध्यस्थानो वायुरुच्यते' पृष्ठ (८४ अस्मत्संस्क० २)। अनयैव प्रक्रियया ग्रन्थकारेणापीहेन्द्रशब्देन वायुर्गृहीतः।

३. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'अनेक वार' संस्कृतपाठ और प्रकृत सन्दर्भ के विपरीत पाठ है।

उ०—पूर्वापर विद्याओं के जनाने के लिये। अर्थात् जिस जिस विद्या में जो-जो मुख्य और गौण हेतु हैं, उनके प्रकाश के लिये ईश्वर ने अग्नि आदि शब्दों का प्रयोग पूर्वापर सम्बन्ध से किया है। क्योंकि अग्नि शब्द से ईश्वर और भौतिक आदि कितने ही अर्थों का ग्रहण होता है। इस प्रयोजन से कि उसका अनन्त ज्ञान, अर्थात् उसकी व्यापकता आदि गुणों का बोध मनुष्यों को यथावत् हो सके। फिर इसी अग्नि शब्द से पृथिव्यादि भूतों के बीच में जो प्रत्यक्ष अग्नि तत्त्व है, वह शिल्पविद्या का मुख्य हेतु होने के कारण उसका ग्रहण प्रथम ही किया है।

तथा ईश्वर के सब को धारण करने और उसके अनन्त बल आदि गुणों का प्रकाश जनाने के लिये वायु शब्द का ग्रहण किया गया है। तथा शिल्पविद्या में अग्नि का सहायकारी और मूर्त्त द्रव्य का धारण करनेवाला मुख्य वायु ही है। इसलिये प्रथम सूक्त में अग्नि का और दूसरे में वायु का ग्रहण किया है। तथा ईश्वर के अनन्त गुण विदित होने और भौतिक वायु से योगाभ्यास करके विज्ञान तथा शिल्पविद्या से उत्तम ऐश्वर्य की प्राप्ति करने के लिये इन्द्र शब्द का ग्रहण तीसरे स्थान में किया है। क्योंकि अग्नि और वायु की विद्या से मनुष्यों को अद्भुत-अद्भुत कला-कौशलादि बनाने की युक्ति ठीक-ठीक जान पड़ती है।

तथा अश्विशब्द का ग्रहण तीसरे सूक्त और चौथे स्थान में इसलिये किया है कि उससे ईश्वर की अनन्त क्रियाशक्ति विदित हो। क्योंकि शिल्पविद्या में विमान आदि यान चलाने के लिये जल अग्नि पृथिवी और प्रकाश आदि पदार्थ ही मुख्य होते हैं। अर्थात् जितने कलायन्त्र विमान नौका और रथ आदि यान होते हैं, वे सब पूर्वोक्त प्रकार से पृथिव्यादि पदार्थों से ही बनते हैं। इसलिये अश्वि शब्द का पाठ तीसरे सूक्त और चौथे स्थान में किया है। तथा सरस्वती नाम परमेश्वर की अनन्त वाणी का है, कि जिससे उसकी अनन्त विद्या जानी जाती है। तथा जिस करके उसने सब मनुष्यों के हित के लिये अपनी अनन्तविद्यायुक्त वेदों का उपदेश भी किया है, इसलिये तीसरे सूक्त और पांचवें स्थान में सरस्वती शब्द का पाठ वेदों में किया है। इसी प्रकार सर्वत्र जान लेना।

[अग्निवाय्वादिपदैरीश्वरभौतिकार्थयोर्ग्रहणम्]

प्र०—वेदानामारम्भेऽग्निवाय्वादिशब्दप्रयोगैः प्रसिद्धिर्जायते, [यद्] वेदेषु भौतिकपदार्थानामेव तत्तच्छब्दैर्ग्रहणं भवति। यत आरम्भे खल्वीश्वरशब्दप्रयोगो नैव कृतोऽस्ति ?

उ०—'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्' इति **महाभाष्यकारेण पतञ्जलिमहामुनिना 'लण्'[1] इति 'सूत्रव्याख्यानोक्तन्यायेन सर्वसन्देहनिवृत्तिर्भवतीति। कुतः, वेदवेदाङ्गोपाङ्गब्राह्मणग्रन्थेष्वग्निशब्देनेश्वरभौतिकार्थयोर्व्याख्यानस्य विद्यमानत्वात्। तथेश्वरशब्दप्रयोगेणापि व्याख्यानेन विना सर्वथा सन्देहनिवृत्तिर्न भवति। ईश्वरशब्देन परमात्मा गृह्यते, तथा**

१. अष्टा० प्रत्याहार सूत्र ६॥

२. अत्र 'सूत्रव्याख्यान उक्तम्। एतेन न्यायेन' इति पाठोऽत्र साधु स्यात्।

सामर्थ्यवतो 'राज्ञः [2]कस्यचिन्मनुष्यस्यापीश्वर इति नामास्ति। तयोर्मध्यात् कस्य ग्रहणं कर्त्तव्यमिति शङ्कायां व्याख्यानत एव सन्देहनिवृत्तिर्भवत्यत्रेश्वरनाम्ना परमात्मनो ग्रहणमत्र राजादिमनुष्यस्येति। एवमत्राप्यग्निनाम्नोभयार्थग्रहणे नैव कश्चिद्दोषो भवतीति। अन्यथा कोटिशः श्लोकैस्सहस्रं ग्रन्थैरपि विद्यालेखपूर्त्तिरत्यन्तासम्भवास्ति। अतः कारणादग्न्यादिशब्दैर्व्यावहारिकपारमार्थिकयोर्विद्ययोर्ग्रहणं स्वल्पाक्षरैः स्वल्पग्रन्थैश्च भवतीति मत्वेश्वरेणाग्न्यादिशब्दप्रयोगाः कृताः। यतोऽल्पकालेन पठनपाठनव्यवहारेणाल्पपरिश्रमेणैव मनुष्याणां सर्वा विद्या विदिता भवेयुरिति।

परमकारुणिकः परमेश्वरः सुगमशब्दैस्सर्वविद्योद्देशानुपदिष्टवानिति विज्ञेयम्। तथा च येऽन्यादयः शब्दार्थाः संसारे प्रसिद्धाः सन्त्येतैः सर्वैरीश्वरप्रकाशः क्रियते। कुतः? ईश्वरोऽस्तीति सर्वे दृष्टान्ता ज्ञापयन्तीति बोध्यम्।

एवं चतुर्वेदस्थविद्यानां मध्यात् काश्चिद्विद्या अत्र भूमिकायां संक्षेपतो लिखिताः। इतोऽग्रे-मन्त्रभाष्यं विधास्यते। तत्र यस्मिन् मन्त्रे या या विद्योपदिष्टाऽस्ति, सा सा तस्य मन्त्रस्य व्याख्यानावसरे यथावत् प्रकाशयिष्यते[3]।

भाषार्थ—प्र०—वेद के आरम्भ में अग्नि वायु आदि शब्दों के प्रयोग से यह सिद्ध होता है कि जगत् में जिन पदार्थों का नाम अग्नि आदि प्रसिद्ध है, उन्हीं का ग्रहण करना चाहिये। और इसीलिये लोगों ने उन शब्दों से संसार के अग्नि आदि पदार्थों को मान भी लिया है। नहीं तो उचित था कि जो-जो शब्द जहां-जहां होना चाहिये था, वहां-वहां उसी का ग्रहण करते, कि जिससे कभी किसी को भ्रम न होता। अथवा आरम्भ में उन शब्दों की जगह ईश्वर परमेश्वरादि शब्दों ही का ग्रहण करना था।

उ०—यूं तो ऐसा करने से भी भ्रम हो सकता है, परन्तु जब व्याख्यानों के द्वारा मन्त्रों के पद-पद का अर्थ खोल दिया गया है, तब उनके देखने से सन्देह आप से आप ही निवृत्त हो जाते हैं। क्योंकि शिक्षा आदि अङ्ग वेदमन्त्रों के पद-पद का अर्थ ऐसी रीति से खोलते हैं कि जिससे वैदिक शब्दार्थों में किसी प्रकार का सन्देह शेष नहीं रह सकता। और जो कदाचित् ईश्वर शब्द का प्रयोग करते तो भी विना व्याख्यान के सन्देह की निवृत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि ईश्वर नाम उत्तम सामर्थ्यवाले राजादि मनुष्यों का भी हो सकता है, और किसी किसी[4] की ईश्वर संज्ञा ही होती है। तथा जो सब ठिकाने एकार्थवाची शब्दों का ही प्रयोग करते तो, भी अनेक कोटि श्लोक

१. तथा च व्यवह्रियते—'नैवेश्वर आज्ञापयति नापि धर्मशास्त्रकाराः पठन्ति—गर्गाः शतं दण्डयन्तामिति'। महाभाष्य १।१।१॥ २. व्यक्तिविशेषस्यापीत्यर्थः।

३. ग्रन्थकृता स्वजीवनावधौ यजुर्वेदस्य सम्पूर्णस्य ऋग्वेदस्य सप्तममण्डलस्य एकषष्टितमस्य सूक्तस्य द्वितीयमन्त्रपर्यन्तं भाष्यं विरचितम्। तेनावशिष्टऽस्यर्ग्वेदस्य सामाथर्वयोश्च कस्मिन् मन्त्रे सूक्ते वा का विद्योपदिष्टेति विज्ञानार्थं ग्रन्थकारकृतश्चतुर्वेदविषयानुक्रमो द्रष्टव्यः। ग्रन्थोऽयं सम्प्रति मुद्रित उपलभ्यते।

४. अर्थात् 'व्यक्ति विशेष की'।

और हजारह ग्रन्थ वेदों के बन जाने का सम्भव था। परन्तु विद्या का पारावार फिर भी नहीं आता, और न उनको मनुष्य लोग कभी पढ़-पढ़ा सकते। इस प्रयोजन अर्थात् सुगमता के लिये ईश्वर ने अग्न्यादि शब्दों का प्रयोग करके व्यवहार और परमार्थ इन दोनों बातें सिद्ध करनेवाली विद्याओं का प्रकाश किया है, कि जिस से मनुष्य लोग थोड़े ही काल में मूल विद्याओं को जान लें।

इसी मुख्य हेतु से सब के सुखार्थ परमकरुणामय परमेश्वर ने अग्न्यादि सुगम शब्दों के द्वारा वेदों का उपदेश किया है। इसलिये अग्न्यादि शब्दों के अर्थ जो संसार में प्रसिद्ध हैं, उनसे भी ईश्वर का ग्रहण होता है। क्योंकि ये सब दृष्टान्त परमेश्वर ही के जानने और जनाने के लिये हैं।

इस प्रकार चारों वेदों में जो-जो विद्या हैं, उन में से कोई-कोई विद्या तो इस वेदभाष्य की भूमिका में संक्षेप से लिख दी है। शेष सब इस के आगे जब मन्त्रभाष्य में जिस-जिस मन्त्र में जिस-जिस विद्या का उपदेश है, सो-सो उसी-उसी मन्त्र के व्याख्यान में यथावत् प्रकाशित कर देंगे[1]।

इति प्रश्नोत्तरविषयः संक्षेपतः



१. ऋग्वेद के अवशिष्ट भाग एवं साम और अथर्ववेद में कहां-क्या उपदिष्ट है, इसके परिज्ञान के लिये ग्रन्थकारकृत चतुर्वेद-विषयसूची देखनी चाहिए। यह अब छप गई है।

अथ वैदिकप्रयोगविषयः संक्षेपतः

अथ निरुक्तकारः संक्षेपतो वैदिकशब्दानां विशेषनियमानाह—

तास्त्रिविधा ऋचः परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च । तत्र परोक्षकृताः सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य ।। अथ प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगास्त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना । अथापि प्रत्यक्षकृताः स्तोतारो भवन्ति, परोक्षकृतानि स्तोतव्यानि । अथाध्यात्मिक्य उत्तमपुरुषयोगा अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना ।।

निरु० अ० ७ । खं० १, २ ।।

अयं नियमः वेदेषु सर्वत्र सङ्गच्छते । तद्यथा—सर्वे मन्त्रास्त्रिविधानामर्थानां वाचका भवन्ति । केचित् परोक्षाणां, केचित् प्रत्यक्षाणां, केचिदध्यात्मं[1] वक्तुमर्हाः । तत्राद्येषु प्रथमपुरुषस्य प्रयोगा भवन्ति, अपरेषु मध्यमस्य, तृतीयेषूत्तमपुरुषस्य च । तत्र मध्यमपुरुषप्रयोगार्थौ द्वौ भेदौ स्तः । यत्रार्थाः प्रत्यक्षाः सन्ति, तत्र मध्यमपुरुषयोगा भवन्ति । यत्र च स्तोतव्या अर्थाः परोक्षाः स्तोतारश्च खलु प्रत्यक्षास्तत्रापि मध्यमपुरुषप्रयोगो भवतीति ।

अस्यायमभिप्रायः—व्याकरणरीत्या प्रथममध्यमोत्तमपुरुषाः क्रमेण भवन्ति । तत्र जडपदार्थेषु प्रथमपुरुष एव, चेतनेषु मध्यमोत्तमौ च । अयं लौकिकवैदिकशब्दयोः सार्वत्रिको नियमः । परन्तु वैदिकव्यवहारे जडेऽपि प्रत्यक्षे मध्यमपुरुषप्रयोगाः सन्ति । तत्रेदं बोध्यम्—जडानां पदार्थानामुपकारार्थं प्रत्यक्षकरणमात्रमेव [तस्य] प्रयोजनमिति[2] ।

इमं नियममबुद्ध्वा वेदभाष्यकारैः सायणाचार्य्यादिभिस्तदनुसारतया स्वदेशभाषयाऽनुवादकारकैर्यूरोपाख्यदेशनिवास्यादिभिर्मनुष्यैर्वेदेषु जडपदार्थानां पूजास्तीति वेदार्थोऽन्यथैव वर्णितः ।

भाषार्थ—अब इसके आगे वेदस्थ प्रयोगों के विशेष नियम संक्षेप से कहते हैं—जो-जो नियम निरुक्तकारादि ने कहे हैं, वे बराबर वेदों के सब प्रयोगों में लगते हैं—(तास्त्रिविधा ऋचः०) वेदों के सब मन्त्र तीन प्रकार के अर्थों को कहते हैं । कोई परोक्ष अर्थात् अदृश्य अर्थों को, कोई प्रत्यक्ष अर्थात् दृश्य अर्थों को, और कोई अध्यात्म[1] अर्थात् ज्ञानगोचर आत्मा और परमात्मा को ।

---

१. निरुक्त के इस प्रकरण में उक्त 'आध्यात्मिकी' ऋचाओं का अभिप्राय 'अहम्' तथा उत्तम पुरुष से युक्त ऋचाओं तक ही सीमित है । वेदार्थविषयक 'आध्यात्मिक' का इसके साथ सम्बन्ध नहीं है । अधियज्ञ आधिदैविक आध्यात्मिक अर्थ तो अन्य ऋचाओं का भी हो सकता है ।

२. महाभाष्यकारेण 'अचेतनेषु चेतनवद् उपचारः' इत्युक्तम् (१।१।७) । तदनुसारमपि जडपदार्थेषु सम्बोधनविभक्तिर्मध्यमपुरुषप्रयोगो गौण इत्युक्तं भवति ।

उसमें परोक्ष अर्थ के कहनेवाले मन्त्रों में प्रथम पुरुष, अर्थात् अपने और दूसरे के कहनेवाले जो ['सः'] अर्थात् 'सो' और 'वह' आदि शब्द हैं, तथा उनकी क्रियाओं के अस्ति, भवति, करोति, पचति इत्यादि प्रयोग हैं। एवं प्रत्यक्ष अर्थ के कहनेवालों में मध्यमपुरुष, ['त्वम्'] अर्थात् 'तू' 'तुम' आदि शब्द, और उनकी क्रिया के असि, भवसि, करोषि, पचसीत्यादि प्रयोग हैं। तथा अध्यात्म अर्थ के कहनेवाले मन्त्रों में उत्तमपुरुष ['अहम्'] अर्थात् 'मैं' 'हम' आदि शब्द, और उनकी अस्मि, भवामि, करोमि, पचामि इत्यादि क्रिया आती हैं। तथा जहां स्तुति करने के योग्य परोक्ष और स्तुति करनेवाले प्रत्यक्ष हों, वहां भी मध्यमपुरुष का प्रयोग होता है।

यहां यह अभिप्राय समझना चाहिये कि—व्याकरण की रीति से प्रथम, मध्यम और उत्तम अपनी-अपनी जगह होते हैं। अर्थात् जड़ पदार्थों में प्रथम [ही], चेतन में मध्यम वा उत्तम [ही] होते हैं। सो यह तो लोक और वेद के शब्दों में साधारण नियम है। परन्तु वेद के प्रयोगों में इतनी विशेषता होती है कि जड़ पदार्थ भी प्रत्यक्ष हों, तो वहां निरुक्तकार के उक्त नियम से मध्यम पुरुष का प्रयोग होता है। और इससे यह भी जानना अवश्य है कि ईश्वर ने संसारी जड़ पदार्थों को प्रत्यक्ष कराके केवल उनसे अनेक उपकार लेना जनाया है[1], दूसरा प्रयोजन[2] नहीं है।

परन्तु इस नियम को नहीं जानकर सायणाचार्य आदि वेदों के भाष्यकारों, तथा उन्हीं के बनाये हुए भाष्यों के अवलम्ब से यूरोपदेशवासी विद्वानों ने भी जो वेदों के अर्थों को अन्यथा कर दिया है, सो यह उनकी भूल है। और इसी से वे ऐसा लिखते हैं कि वेदों में जड़ पदार्थों की पूजा पाई जाती है, जिसका कि कहीं चिह्न भी नहीं है।

इति वैदिकप्रयोगविषयः संक्षेपतः



---

१. लोक में मूर्ख से लेकर विद्वान् तक सभी जड़ पदार्थों के विषय में चेतनवत् व्यवहार करते हैं। तादृश व्यवहार करते हुए वे उन पदार्थों को चेतन नहीं मानते। कवि लोग भी जड़ पदार्थों का ठीक उसी प्रकार निर्देश करते हैं, जैसे किसी चेतन का निर्देश किया जा रहा हो। यदि साम्प्रतिक व्यवहार में जड़ों का चेतनवत् व्यवहार करने पर यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसा व्यवहार करनेवाला इन्हें चेतन ही मानता है। तो मन्त्रों में यदि जड़ पदार्थों का चेतनवत् व्यवहार मिलता है, तो उससे पाश्चात्यों की यह कल्पना करना कैसे युक्त हो सकती है कि—प्राचीन ऋषि इन्हें चेतन मानकर पूजते थे। महाभाष्यकार ने स्पष्ट कहा है—'लोक व्यवहार में अचेतन का भी चेतनवत् प्रयोग होता है। जैसे—'किनारा गिरना चाहता है' (महा० ३।१।७) यही अभिप्राय वेद में भी जानना चाहिये।

२. अर्थात् प्रार्थना उपासना प्रयोजन नहीं है।

अथ संक्षेपतः स्वरव्यवस्थाविषयः

अथ वेदार्थोपयोगितया[1] संक्षेपतः स्वराणां व्यवस्था लिख्यते। ते स्वरा द्विविधाः—उदात्त-षड्जादिभेदात् सप्त सप्तैव सन्ति। तत्रोदात्तादीनां लक्षणानि व्याकरणमहाभाष्यकारपतञ्जलि-प्रदर्शितानि लिख्यन्ते—

स्वयं राजन्त इति स्वराः[2]।

आयामो दारुण्यमणुता खस्येत्युच्चैःकराणि शब्दस्य। आयामो गात्राणां निग्रहः, दारुण्यं स्वरस्य दारुणता रूक्षता, अणुता खस्य[3], कण्ठस्य संवृतता, उच्चैःकराणि शब्दस्य। अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य। अन्ववसर्गो गात्राणां शिथिलता, मार्दवं स्वरस्य मृदुता स्निग्धता, उरुता खस्य महत्ता कण्ठस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य[4]।

त्रैस्वर्येणाधीमहे त्रिप्रकारैरज्भिरधीमहे। कैश्चिदुदात्तगुणैः, कैश्चिदनुदात्तगुणैः, कैश्चिदुभयगुणैः। तद्यथा—शुक्लगुणः शुक्लः, कृष्णगुणः कृष्णः, य इदानीमुभयगुणः स तृतीयामाख्यां लभते—कल्माष इति वा, सारङ्ग इति वा। एवमिहापि उदात्त उदात्तगुणः, अनुदात्तोऽनुदात्तगुणः, य इदानीमुभयगुणः स तृतीयामाख्यां लभते स्वरित इति[5]।

त एते तन्त्रे तरनिर्देशे सप्त स्वरा भवन्ति। उदात्तः, उदात्ततरः, अनुदात्तः, अनुदात्ततरः, स्वरितः, स्वरिते यः उदात्तः सोऽन्येन विशिष्टः, एकश्रुतिः सप्तमः[6]।

---

१. उदात्तादयः स्वरा वेदार्थे कथमुपयोगिनो जायन्ते, तेषां परित्यागे च कथं वेदार्थो दूषितो भवतीति विषयेऽस्माभिः स्वविरचिते वैदिकस्वरमीमांसाग्रन्थे 'वेदार्थ में स्वर की विशेष सहायता और उसकी उपेक्षा के दुष्परिणाम' नाम्नि अध्याये विस्तरेण प्रतिपादितम्। वस्तुतोऽस्माकं वैदिकस्वरमीमांसाग्रन्थो अस्यैव वाक्यस्य व्याख्यारूपो विद्यते।

२. महाभाष्य १।२।२९॥

३. वै० य० मुद्रिते संस्करणे 'कण्ठस्य' इत्यपपाठः, अत्र व्याख्येयपदयोर्निर्देशात्। अनुदात्तलक्षण-व्याख्यानेऽपि 'उरुता खस्य' इत्येव निर्दिश्यते।

४. महाभाष्य १।२।२९-३०॥

५. महाभाष्य १।२।३१॥

६. महाभाष्य १।२।३३॥

अ० १ । पा० २ । उच्चैरुदात्त[1] इत्याद्युपरि ॥

तथा षड्जादयः सप्त—'[स्वराः] षड्जऋषभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाः ॥' पिङ्गलसूत्रे अ० ३ । सू० ६४ ॥

एषां लक्षणव्यवस्था गान्धर्ववेद-प्रसिद्धा ग्राह्या । अत्र तु ग्रन्थभूयस्त्वभिया लेखितुमशक्या ।

भाषार्थ—अब वेदार्थ के उपयोगहेतु से कुछ स्वरों की व्यवस्था कहते है—जो कि उदात्त और षड्ज आदि भेद से चौदह १४ प्रकार के हैं, अर्थात् सात उदात्तादि और सात षड्जादि । उनमें से उदात्तादिकों के लक्षण, जो कि महाभाष्यकार पतञ्जलि महामुनिजी ने दिखलाये हैं, उनको कहते हैं—

(स्वयं राजन्त०) आप ही अर्थात् जो कि विना सहाय दूसरे के प्रकाशमान हैं, वे 'स्वर' कहाते हैं ।

(आयामः) अङ्गों को रोकना, (दारुण्यम्) वाणी को रूखा करना, अर्थात् ऊंचे 'स्वर' से बोलना, और (अणुता) कण्ठ को भी रोक देना, ये सब यत्न शब्द के उदात्त विधान करनेवाले होते हैं, अर्थात् उदात्त स्वर इन्हीं नियमों के अनुकूल बोला जाता है । तथा (अन्वव०) गात्रों का ढीलापन, (मार्दवम्) स्वर की कोमलता, (उरुता) कण्ठ को फैला देना, ये सब यत्न शब्द के अनुदात्त करनेवाले हैं ।

(त्रैस्वर्य्येणा०) हम सब लोग तीन प्रकार के स्वरों से बोलते हैं । अर्थात् कहीं उदात्त, कहीं अनुदात्त और कहीं उदात्तानुदात्त, अर्थात् स्वरित गुणवाले स्वरों से यथायोग्य नियमानुसार अक्षरों का उच्चारण करते हैं । जैसे श्वेत और काला रङ्ग अलग-अलग हैं, परन्तु इन दोनों को मिलाकर जो रङ्ग उत्पन्न हो, उसका नाम तीसरा होता है, अर्थात् खाखी वा आसमानी । इसी प्रकार यहां भी उदात्त और अनुदात्त गुण अलग-अलग हैं, परन्तु इन दोनों के मिलाने से जो उत्पन्न हो, उसको 'स्वरित' कहते हैं ।

विशेष अर्थ के दिखलानेवाले 'तरप्' प्रत्यय के संयोग से वे उदात्त आदि सात स्वर होते हैं । अर्थात् उदात्त, उदात्ततर, अनुदात्त, अनुदात्ततर, स्वरित, स्वरितोदात्त और एकश्रुति ।

उक्त रीति से इन सातों स्वरों को ठीक-ठीक समझ लेना चाहिये ।

अब षड्जादि स्वरों को लिखते हैं, जो कि गानविद्या के भेद हैं—(स्वराः षड्जऋषभ०) अर्थात् षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद । इनके लक्षण व्यवस्था-सहित, जो कि गान्धर्ववेद अर्थात् गानविद्या के ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं, उनको देख लेना चाहिये । यहां ग्रन्थ बढ़ जाने के कारण नहीं लिखते ।

इति स्वरव्यवस्थाविषयः संक्षेपतः

---

१. महा० १ । २ । २९ ॥ २ आदिशब्देनोत्तरसूत्राणि निर्दिश्यन्ते । उपर्युक्ताः पाठा यस्मिन् यस्मिन् सूत्रभाष्ये वर्तन्ते, तेषां निर्देशोऽस्माभिर्यथोद्धरणं कृतः ।

अथ व्याकरणनियमविषयः

अथात्र चतुर्षु वेदेषु व्याकरणस्य ये सामान्यतो नियमाः सन्ति, त इदानीं प्रदर्श्यन्ते। तद्यथा—

वृद्धिरादैच् ॥ १ ॥ अ०।१।१।१॥

'उभयसंज्ञान्यपि छन्दांसि दृश्यन्ते। तद्यथा—स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन, पदत्वात् कुत्वं भत्वाज्जश्त्वं न भवति' इति भाष्यवचनम्।

अनेनैकस्मिन् शब्दे भपदसंज्ञाकार्य्यद्वयं वेदेष्वेव भवति, नान्यत्र ॥१॥

स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ ॥ २ ॥ अ० १।१।५५॥

प्रातिपदिकनिर्देशाश्चार्थतन्त्रा भवन्ति, न काञ्चित् प्राधान्येन विभक्तिमाश्रयन्ति यां यां विभक्तिमाश्रयितुं बुद्धिरुपजायते सा सा आश्रयितव्या' इति भाष्यम्।

अनेनार्थप्राधान्यं भवति, न विभक्तेरिति बोध्यम्[1] ॥ २ ॥

---

१. विभक्तिरित्युपलक्षणं वचनस्य लिङ्गस्य च। तथा चोच्यते वैयाकरणैः—सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम्। यदि सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रं, तत्र किमु वेदे न? अर्थात् सूत्रेष्विव मन्त्रेष्वपि लिङ्गवचनमतन्त्रमप्रधानमिति मन्तव्यम्। तत्र वचनातन्त्रत्वे प्रमाणान्तरमप्युच्यते—

(क) 'त्रीन् वा' इति कातीयश्रौतसूत्रं (२।३।३१) व्याचक्षाणः कर्क आह—'तत्र (त्रीन् पक्षे) मन्त्रो न स्यात् द्विवचनान्तत्वात् ('पवित्रे स्थः इति मन्त्रः), पवित्रद्वयपक्षे च कृतार्थत्वात्। स्याद्वाऽर्थानभिधानसामर्थ्यात्, प्रातिपदिकार्थस्य विद्यमानत्वात्। द्विवचनस्यासमवायान्नेति चेत्? मा भूत् समवायः। गुणो हि संख्या, प्रातिपदिकार्थः प्रधानभूतः न च गुणानभिधाने न प्राधान्यमभिधास्यतीति शक्यत उत्स्रष्टुम्। तस्मात् त्रित्वपक्षेऽपि मन्त्रः प्रवर्तत एव।'

(ख) अग्निषोमीयः प्रकृतावेकः पशुः। तत्र प्रकृतौ क्वचित् 'अदितिः पाशं प्रमुमोक्तु' इति मन्त्रः पठ्यते, क्वचिच्च बहुपाशाभिधायी 'अदितिः पाशान् प्रमुमोक्तु' इति। तत्र प्रकृतौ पठितस्य बहुपाशाभिधायिनो मन्त्रस्य कथं निर्वाह इति विचारणायां जैमिनिराचार्यः सिद्धान्तयति—'विप्रतिपत्तौ विकल्पः स्यात् समत्वात्, गुणे त्वन्याय्यकल्पनैकदेशत्वात्' (६।३।१५) इति। व्याचष्टे च शबरस्वामी—'पाशप्रातिपदिकार्थस्य प्रकृतौ विद्यमानत्वादुत्कर्षो न न्याय्यः। ······बहूनप्यसौ पाशान् वदन् बहुत्वाधिष्ठानं द्रव्यं (पाशं) प्रकाशयत्येव। ······तत्प्रातिपदिकेन करिष्यते। गुणे त्वन्याय्यकल्पना स्याद् इति, न प्रधाने। गुणश्च विभक्त्यर्थः।

न वेति विभाषा ॥ ३ ॥ अ० १ । १ । ४४ ॥

'अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः' इति भाष्यसूत्रम्[1]। लौकिकवैदिकेषु शब्देषु सार्वत्रिकः समानोऽयं नियमः ॥ [३ ॥]

अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् ॥ ४ ॥ अ० १ । २ । ४५ ॥

'बहवो हि शब्दा एकार्था भवन्ति। तद्यथा—इन्द्रः, शक्रः, पुरुहूतः, पुरन्दरः; कन्दुः, कोष्ठः, कुसूल इति। एकश्च शब्दो बह्वर्थः। तद्यथा—अक्षाः, पादाः, माषाः'। सार्वत्रिकोऽयमपि नियमः। यथाग्न्यादयः शब्दा वेदेषु बह्वर्थवाचकास्त इव[2] बहव एकार्थाश्च ॥[४॥]

ते प्राग्धातोः ॥ ५ ॥ अ० १ । ४ । ८० ॥

'छन्दसि परव्यवहितवचनं च'। अनेन वार्त्तिकेन गत्युपसर्गसंज्ञकाः शब्दाः क्रियायाः परे पूर्वे दूरे व्यवहिताश्च भवन्ति। यथा आयातमुपनिष्कृतम्,[3] उप प्रयोभिरागतम्[4] ॥[५ ॥]

भावार्थ—अब चारों वेद में व्याकरण के जो-जो सामान्य नियम हैं, उनको यहां लिखते हैं—

(उभ०)वेदों में एक शब्द के बीच में 'भ' तथा 'पद' ये दोनों संज्ञा होती हैं। जैसे 'ऋक्वता' इस शब्द में पद संज्ञा के होने के चकार के स्थान में ककार हुआ, और भ संज्ञा के होने से ककार के स्थान में गकार नहीं हुआ ॥[१॥]

(प्रातिपदिक०) वेदादिशास्त्रों में जो-जो शब्द पढ़े जाते हैं, उन सबके बीच में यह नियम है कि जिस विभक्ति के साथ वे शब्द पढ़े हों, उसी विभक्ति से अर्थ कर लेना, यह बात नहीं है। किन्तु जिस विभक्ति से शास्त्रमूल युक्ति और प्रमाण के अनुकूल अर्थ बनता हो, उस विभक्ति का आश्रय करके अर्थ करना चाहिये[5] ॥[२॥]

प्रधानं प्रातिपदिकार्थः। प्रातिपदिकार्थविशेषो विभक्त्याऽभिधीयते। ……तस्माद् यत्र प्रातिपदिकार्थस्तत्र विभक्त्यर्थो भविष्यति। एवं लिङ्गस्याप्यतन्त्रत्वं द्रष्टव्यम्।

१. वृत्तिसूत्रशब्देन पाणिनीयसूत्राणि लक्ष्यन्ते, एवं भाष्यसूत्रशब्देन वार्तिकानि। एतस्मिन् विषयेऽस्माभिः स्वीये 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' ग्रन्थे विस्तरेण लिखितं, तत्तत्रैव द्रष्टव्यम्। (भाग १ पृष्ठ २९२-२९४ सं० ३)।

२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'त एव' इत्यपपाठः। नह्यग्न्यादय एवैकार्थवाचकाः। यथा भाष्ये एकार्था बह्वर्थाश्च शब्दाः पार्थक्येन निर्दिशिताः, तथाऽत्रापि शब्दभेदेनैव एकार्थता बह्वर्थता वा ज्ञेया। तेनात्र 'त इव' पाठः साधुः। अस्यायमभिप्रायः—यथाग्न्यादयो बह्वर्थवाचकास्त इव वेदे बहवः शब्दा एकार्थाश्च ज्ञेया इति।

३. ऋ० १ । २ । ६ ॥ ४. ऋ० १ । २ । ४ ॥

५. यहां इतना और भी जानना चाहिये कि लिङ्ग और वचन का अन्यथा निर्देश होने पर भी शास्त्रमूल युक्ति और प्रमाणसिद्ध अर्थ करना चाहिये। व्याकरणशास्त्र में तो बहुधा कहा जाता है कि सूत्रों में लिङ्ग और वचन अप्रधान हैं, अर्थात् प्रातिपदिकार्थ ही प्रधान होता है। वेद में वचन की अप्रधानता को दर्शानेवाले दो प्रमाण संस्कृत टिप्पणी में लिखे हैं।

क्योंकि—(अर्थग०) वेदादिशास्त्रों में शब्दों के प्रयोग इसलिये होते हैं कि उनके अर्थों को ठीक-ठीक जानके उनसे लाभ उठावें। जब उनसे भी अनर्थ प्रसिद्ध हो, तो वे शास्त्र किसलिये माने जावें ? इसलिये यह नियम लोकवेद में सर्वत्र घटता है॥[३॥]

(बहवो हि०) तीसरा नियम यह है कि वेद तथा लोक में बहुत शब्द एक अर्थ के वाची होते, और एक शब्द भी बहुत अर्थों का वाची होता है। जैसे अग्नि, वायु, इन्द्र आदि बहुत शब्द एक परमेश्वर अर्थ के वाची, और इसी प्रकार वे ही शब्द संसारी पदार्थों के नाम होने से अनेकार्थ हैं। अर्थात् इसी प्रकार के एक-एक शब्द कई-कई अर्थों के वाची हैं। [इसी प्रकार अनेक शब्द वेद में एक अर्थ के भी वाचक हैं] ॥[४॥]

(छन्दसि०) व्याकरण में जो-जो गति और उपसर्गसंज्ञक शब्द हैं, वे वेद में क्रिया के आगे पीछे दूर अर्थात् व्यवधान में भी होते हैं। जैसे 'उप प्रयोभिरागतम्', यहां 'आगतम्' क्रिया के साथ 'उप' लगता, तथा 'आयातमुप०' यहां 'उप' 'आयातम्' क्रिया के पूर्व लगता है, इत्यादि। इसमें विशेष यह है कि लोक में पूर्वोक्त शब्द क्रिया के पूर्व ही सर्वत्र लगाये जाते हैं॥[५॥]

चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि॥ ६॥ अ० २।३।६२॥

'षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या। या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वो जायते तिस्रो रात्रीरिति[1]। तस्या इति प्राप्ते।'

एवमन्यत्रापि। अनेन चतुर्थ्यर्थे षष्ठी, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी द्वे एव भवतः। महाभाष्यकारेण छन्दोवन्मत्वा ब्राह्मणानामुदाहरणानि प्रयुक्तानि। अन्यथा ब्राह्मणग्रन्थस्य प्रकृतत्वाच्छन्दो-ग्रहणमनर्थकं स्यात्॥ [६॥]

बहुलं छन्दसि॥ ७॥ अ० २।४।३९॥

अनेन अद्धातोः स्थाने घस्लृ आदेशो बहुलं भवति। घस्तान्नूनम्[2], सग्धिश्च मे[3], आत्तामद्य मध्यतो मेद उद्भृतम्[2], इत्याद्युदाहरणं ज्ञेयम्॥ [७॥]

बहुलं छन्दसि॥ ८॥ अ० २।४।७३॥

वेदविषये शपो बहुलं लुग्भवति। वृत्रं हनति[4], अहिः शयते। अन्येभ्यश्च भवति—त्राध्वं नो देवाः[5]। [महाभाष्यकारस्य नियमेन शपो लुकि श्यनादीनामपि लुग् भवति। यतः शपः स्थाने श्यनादय आदेशा विधीयन्ते[6]। शप् सामान्यत्वात् सर्वेभ्यो धातुभ्यो भवति। तस्य शपो लुकि

१. द्र०—तै० सं० २।५।१॥ महाभाष्योद्धरणे 'जायते' पदमानुषङ्गिकं भाष्यकारेण वाक्यपूर्त्यर्थं सम्बद्धम्। संहितायां तु 'या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वस्तिस्रो रात्रीः' इत्येव पाठः।

२. यजुः २१।४३॥

३. यजुः १८।९॥

४. ऋ० ८।८९।३॥

५. ऋ० २।२९।६॥

६. द्र०—महा० ३।१।६७॥ 'एवं तर्हि शबादेशा श्यनादयः करिष्यन्ते।'

श्यनादयो न प्राप्नुवन्ति स्थानिनोऽभावात् । एवमेव श्लुविषयेऽपि ज्ञेयम् ॥८॥]'

बहुलं छन्दसि ॥ ९ ॥ अ० २ । ४ । ७६ ॥

वेदेषु शपः स्थाने श्लुर्बहुलं भवति । दाति प्रियाणि[2], धाति प्रियाणि । अन्येभ्यश्च भवति—पूर्णां विवष्टि[3]; जनिमा विवक्ति, इत्यादीन्युदाहरणाणि सन्तीति बोध्यम् ॥[९॥]

भाषार्थ—(या खर्वेण०) इत्यादि पाठ से यही प्रयोजन है कि वेदों में षष्ठी विभक्ति के स्थान में चतुर्थी हो जाती है, लौकिक ग्रन्थों में नहीं। इसमें ब्राह्मणों के उदाहरण इसलिये दिये हैं कि महाभाष्यकार ने ब्राह्मणों को वेदों के तुल्य मानके, अर्थात् वेद में[4] जो व्याकरण के कार्य होते हैं वे ब्राह्मणों में भी हो जाते हैं। और जो ऐसा न मानें, तो 'द्वितीया ब्राह्मणे' इस सूत्र में से ब्राह्मण शब्द की अनुवृत्ति हो जाती, फिर 'चतुर्थ्यर्थे०' इस सूत्र में 'छन्दः' शब्द का ग्रहण व्यर्थ हो जाय ॥[६॥]

(बहुलं०) इस सूत्र से 'अद्' धातु के स्थान में 'घस्लृ' आदेश बहुल अर्थात् बहुधा होता है ॥ [७ ॥]

(बहुलं०) वेदों में 'शप्' प्रत्यय का लुक् बहुल करके होता है, और कहीं नहीं भी होता। जैसे 'वृत्रं हनति' यहाँ 'शप्' का लुक् प्राप्त था, सो भी न हुआ, तथा 'त्राध्वं०' यहां त्रैङ् धातु से प्राप्त नहीं था, परन्तु हो गया। महाभाष्यकार के नियम से शप् के लुक् करने में श्यनादि का लुक् होता है, क्योंकि शप् के स्थान में श्यनादि का आदेश किया जाता है। शप् सामान्य होने से सब धातुओं से होता है, जब शप् का लुक् हो गया तो श्यनादि प्राप्त ही नहीं होते। ऐसे ही श्लु के विषय में भी समझ लेना ॥ [८ ॥]

(बहुलं०) वेदों में शप् प्रत्यय के स्थान में श्लु आदेश बहुल करके होता है, अर्थात् उक्त से भी नहीं होता और अनुक्त से भी हो जाता है। जैसे 'दाति०' यहां शप् के स्थान में श्लु प्राप्त था परन्तु न हुआ, और 'विवष्टि' यहां प्राप्त नहीं [था,] फिर [भी] हो गया ॥[९ ॥]

सिब्बहुलं लेटि ॥ १० ॥ अ० ३ । १ । ३४ ॥

'सिब्बहुलं छन्दसि णिद्वक्तव्यः । सविता धर्मं साविषत्, प्रण आयूंषि तारिषत्[5] ।' अयं लेटि विशिष्टो नियमः ॥[१०॥]

छन्दसि शायजपि ॥ ११ ॥ अ० ३ । १ । ८४ ॥

---

१. पाठोऽयमत्र नोपलभ्यते । परन्त्वस्य भावार्थस्य विद्यमानत्वात् पाठोऽयं कथंचिन्नष्टः स्यात् । इममेव च नियममाश्रित्य ग्रन्थकारो वेदभाष्येऽनेनैव सूत्रेण श्यनादीनां लुकम्, अभावं वा वक्ष्यति ।

२. ऋ० ४ । ८ । ३ ॥ ३. ऋ० ७ । १६ । ११ ॥

४. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'इनमें' अपपाठ है । ५. ऋ० १ । २५ । १८ ॥

शायच्छन्दसि सर्वत्रेति वक्तव्यम् । क्व सर्वत्र ? हौ चाहौ च । किं प्रयोजनम् ? मही अस्कभायत्, यो अस्कभायत्, उद्ग्रभायत्, उन्मथायतेत्येवमर्थम् । अयं लोटि मध्यमपुरुषस्यैकवचने परस्मैपदे विशिष्टो नियमः ॥[११॥]

व्यत्ययो बहुलम् ॥ १२ ॥ अ० ३ । १ । ८५ ॥

सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च ।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन ॥

व्यत्ययो भवति स्यादीनामिति । अनेन विकरणव्यत्ययः ।

(१) सुपां व्यत्ययः, (२) तिङां व्यत्ययः, (३) वर्णव्यत्ययः, (४) लिङ्गव्यत्ययः, (५) पुरुषव्यत्ययः, (६) कालव्यत्ययः, (७) आत्मनेपदव्यत्ययः, (८) परस्मैपदव्यत्ययः, (९) स्वरव्यत्ययः, (१०) कर्तृव्यत्ययः, (११) [1]यङ्व्यत्ययश्च ।

एषां क्रमेणोदाहरणानि—(१) युक्ता मातासीद्धुरि दक्षिणायाः[2], दक्षिणायामिति प्राप्ते । (२) चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति[3], तक्षन्तीति प्राप्ते । (३) त्रिष्टुभौजः शुभितमुग्रवीरम्, शुधितमिति प्राप्ते । (४) मधोस्तृप्ता इवासते, मधुन इति प्राप्ते । (५) अधा स वीरैर्दशभिर्वियूयाः[4], वियूयादिति प्राप्ते । (६) श्वोऽग्नीनाधास्यमानेन, श्वः सोमेन यक्ष्यमाणेन, आधाता यष्टेति प्राप्ते । (७) ब्रह्मचारिणमिच्छते[5], इच्छतीति प्राप्ते । (८) प्रतीपमन्य ऊर्मिर्युध्यति, युध्यत इति [प्राप्ते] । आधाता यष्टेति लुट्प्रथमपुरुषस्यैकवचने प्रयोगौ[तयोः स्थाने आधास्यमानेन यक्ष्यमाणेन भवतः ।]. 'व्यत्ययो भवति स्यादीनाम्' इत्यस्योदाहरणं, तासि प्राप्ते स्यो विहितः ॥१२॥

बहुलं छन्दसि ॥ १३ ॥ अ० ३ । २ । ८८ ॥

अनेन क्विप्प्रत्ययो वेदेषु बहुलं विधीयते । मातृहा, मातृघातः इत्यादीनि ॥[१३॥]

छन्दसि लिट् ॥ १४ ॥ अ० ३ । २ । १०५ ॥

वेदेषु सामान्यभूते लिड् विधीयते । अहं द्यावापृथिवी आततान ॥[१४।]

लिटः कानज्वा ॥ १५ ॥ अ० ३ । २ । १०६ ॥

---

१. यङ् इति प्रत्याहारः, तेन 'सार्वधातुके यक्' (३।१।६७) इत्यस्य यकारमारभ्य 'लिङ्याशिष्यङ्' (३।१।८६) इति अङो ङकारपर्यन्तं विहिता सर्वे विकरणा गृह्यन्ते । २. ऋ० १ । १६४ । ९ ॥ ३. ऋ० १ । १६२ । ६ ॥ ४. ऋ० ७ । १०४ । १५ ॥ ५. अथर्व ११ । ५ । १७ ॥

वेदविषये लिटः स्थाने कानजादेशो वा भवति। अग्निं चिक्यानः[1], अहं सूर्य्यमुभयतो ददर्श। प्रकृतेऽपि लिटि पुनर्ग्रहणात् परोक्षार्थस्यापि ग्रहणं भवति ॥[१५।]

क्वसुश्च ॥ १६ ॥ अ० ३।२।१०७॥

वेदे लिटः स्थाने क्वसुरादेशो वा भवति। पपिवान्, जग्मिवान्। न च भवति—अहं सूर्य्य-मुभयतो ददर्श ॥[१६॥]

क्याच्छन्दसि ॥ १७ ॥ अ० ३।२।१७०॥

क्यप्रत्ययान्ताद् धातोश्छन्दसि विषये तच्छीलादिषु कर्त्तृषु उकारप्रत्ययो भवति। मित्रयुः, संस्वेदयुः, सुम्नयुः। 'निरनुबन्धकग्रहणे सानुबन्धकस्यापि ग्रहणं भवति'[2] इत्यनया परिभाषया क्यच्क्यङ्क्यषां सामान्येन ग्रहणं भवति ॥[१७॥]

भाषार्थ—(सिब्बहुलं०) लेट् लकार में जो सिप् प्रत्यय होता है, वह वेदों में बहुल करके णित्संज्ञक होता है, कि जिससे वृद्धि आदि कार्य हो सकें। जैसे—'साविषत्' यहां सिप् को णित् मानके वृद्धि हुई है। यह लेट् में वेद-विषयक विशेष नियम है ॥[१०॥]

(शायच्छन्दसि०) वेद में 'हि' प्रत्यय के परे [रहने पर] 'श्ना' प्रत्यय के स्थान में जो 'शायच्' आदेश विधान किया है, वह 'हि' से अन्यत्र भी होता है ॥[११॥]

(व्यत्ययो०) वेदों में जो व्यत्यय अर्थात् विपरीतभाव बहुधा होता है, वह भाष्यकार पतञ्जलिजी ने नव प्रकार से माना है। वे सुप् आदि ये हैं—सुप्; तिङ्; वर्ण; लिङ्ग—पुंलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग; पुरुष—प्रथम, मध्यम और उत्तम; काल—भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान; [पद—] आत्मनेपद और परस्मैपद; वर्ण—वेदों में अचों के स्थान में हल् और हलों के स्थान [में] अच् के आदेश हो जाते हैं; स्वर—उदात्तादि का व्यत्यय; कर्त्ता का व्यत्यय; और [3]यङ् का व्यत्यय होते हैं। इन सबके उदाहरण संस्कृत में लिखे हैं, वहां देख लेना ॥[१२॥]

(बहुलम्०) इससे क्विप् प्रत्यय वेदों में बहुल करके होता है ॥[१३॥]

(छन्दसि०) इस सूत्र से लिट् लकार वेदों में सामान्य भूतकाल में भी होता है ॥[१४॥]

(लिटः का०) इस सूत्र से वेदों में लिट् लकार के स्थान में कानच् आदेश विकल्प करके होता है। इसके 'आततान' इत्यादि उदाहरण बनते हैं। 'छन्दसि०' इस सूत्र में से लिट् की अनुवृत्ति हो जाती, फिर लिट्ग्रहण इसलिये है कि 'परोक्षे लिट्' [(अष्टा० ३।२।११५)] इस लिट् के स्थान में भी कानच् आदेश हो जावे ॥[१५॥]

---

१. तै० सं० ५।२।३।६॥ २ परिभाषावृत्ति सीरदेव ५३।

३. यङ् यह प्रत्याहार ग्रहण है। इससे 'सार्वधातुके यक्' (३।१।६७) के यकार से 'लिङ्याशिष्यङ्' (३।१।८६) के अङ् के ङकारपर्यन्त सभी विकरणों का ग्रहण होता है।

(क्वसुश्च०) इस सूत्र से वेदों में लिट् के स्थान में क्वसु आदेश हो जाता है ॥[१६॥]

(क्या०) इस सूत्र से वेदों में क्यप्रत्ययान्त धातु से 'उ' प्रत्यय हो जाता है ॥[१७॥]

कृत्यल्युटो बहुलम् ॥ १८ ॥ अ० ३ । ३ । ११३ ॥

कृल्ल्युट इति वक्तव्यम्, कृतो बहुलमिति वा पादहारकाद्यर्थम् । पादाभ्यां ह्रियते पादहारकः ।

अनेन धातोर्विहिताः कृतसंज्ञकाः प्रत्ययाः कारकमात्रे वेदादिषु द्रष्टव्याः । अयं लौकिकवैदिकशब्दानां सार्वत्रिको नियमोऽस्तीति बोध्यम् ॥[१८॥]

छन्दसि गत्यर्थेभ्यः ॥ १९ ॥ अ० ३ । ३ । १२९ ॥

ईषदादिषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषूपपदेषु सत्सु गत्यर्थेभ्यो धातुभ्यश्छन्दसि विषये युच् प्रत्ययो भवति । उ०—सूपसदनोऽग्निः ॥ [१९ ॥]

अन्येभ्योऽपि दृश्यते ॥ २० ॥ अ० ३ । ३ । १३० ॥

अन्येभ्यश्च धातुभ्यो युच् प्रत्ययो दृश्यते । उ०—सुदोहनामकृणोद् ब्रह्मणे गाम् ॥[२०॥]

छन्दसि लुङ्लङ्लिटः ॥ २१ ॥ अ० ३ । ४ । ६ ॥

वेदविषये धातुसम्बन्धे सर्वेषु कालेषु लुङ् लङ्लिटः प्रत्यया विकल्पेन भवन्ति । उ०—लुङ्—अहं तेभ्योऽकरं नमः[1] । लङ्—अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः[2] । लिट्—अद्या[3] ममार[4] ॥ [२१ ॥]

लिङर्थे लेट् ॥ २२ ॥ अ० ३ । ४ । ७ ॥

यत्र विध्यादिषु हेतुहेतुमतोः शक्तीच्छार्थेषूर्ध्वमौहूर्तिकेष्वर्थेषु लिङ् विधीयते, तत्र वेदेष्वेव लेट् लकारो वा भवति । उ०—जीवाति शरदः शतम्[5] इत्यादीनि ॥[२२ ॥]

उपसंवादाशङ्कयोश्च ॥ २३ ॥ अ० ३ । ४ । ८ ॥

उपसंवादे आशङ्कायां च गम्यमानायां वेदेषु लेट् प्रत्ययो भवति । उ०—उपसंवादे—अहमेव पशूनामीशै । आशङ्कायाम्—नेज्जिह्मायन्तो नरकं पताम[6] ॥ मिथ्याचरणेन नरकपात आशङ्क्यते ॥ [२३ ॥]

लेटोऽडाटौ ॥ २४ ॥ अ० ३ । ४ । ९४ ॥

---

१. यजुः १६ । ८ ॥ २. द्र०—आश्व० श्रौ० ३ । ६ । १६ ॥
३. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'अद्य' इत्यपपाठः । ४. ऋ० १० । ५५ । ५ ॥
५. ऋ० १० । ८५ । ३९ ॥ ६. ऋ० खिल १० । १०६ । १ ॥

लेटः पर्यायेण अट् आट् आगमौ भवतः ॥ [२४ ॥]

आत ऐ ॥ २५ ॥ अ० ३ । ४ । ९५ ॥

छन्दस्यनेनात्मनेपदे विहितस्य लेडादेशस्य द्विवचनस्थस्याकारस्य स्थाने ऐकारादेशो भवति। उ०— मन्त्रयैते; मन्त्रयैथे ॥ [२५ ॥]

वैतोऽन्यत्र ॥ २६ ॥ अ० ३ । ४ । ९६ ॥

'आत ऐ' इत्येतस्य विषयं वर्जयित्वा लेट एकारस्य स्थाने ऐकारादेशो वा भवति। उ०— अहमेव पशूनामीशै, ईशे वा ॥ [२६ ॥]

इतश्च लोपः परस्मैपदेषु ॥ २७ ॥ अ० ३ । ४ । ९७ ॥

लेटः स्थान आदिष्टस्य तिबादिस्थस्य परस्मैपदविषयस्येकारस्य विकल्पेन लोपो भवति। उ०—तरति, तराति, तरत्, तरात्; तरिषति, तरिषाति, तरिषत्, तरिषात्; तारिषति, तारिषाति, तारिषत्, तारिषात्; तरसि, तरासि, तरः, तराः; तरिषसि, तरिषासि, तरिषः, तरिषाः; तारिषसि, तारिषासि, तारिषः, तारिषाः; [तरमि,][1] तरामि, [तरम्,] तराम्; [तरिषमि,] तरिषामि, [तरिषम्,] तरिषाम्; [तारिषमि,] तारिषामि, [तारिषम्,] तारिषाम्। एवमेव सर्वेषां धातूनां प्रयोगेषु लेड्विषये बोध्यम् ॥ [२७ ॥]

स उत्तमस्य ॥ २८ ॥ अ० ३ । ४ । ९८ ॥

लेट उत्तमपुरुषस्य सकारस्य लोपो वा भवति। [[2]करवव, करववः,] करवाव, करवावः; [करवम, करवमः], करवाम, करवामः ॥ २८ ॥

भाषार्थ—[(कृत्यल्युटो०) इस पर वार्त्तिककार ने कहा है कि 'कृल्ल्युटो बहुलम्' अथवा कृतो बहुलम्' ऐसा कहना चाहिए। जिससे पादाभ्यां ह्रियते पादहारकः आदि में 'ण्वुल्' आदि प्रत्यय कर्म आदि में भी हो जायें। इस वचन से धातु से विहित कृत् प्रत्यय कारकमात्र में वेद आदि में होते हैं। यह लौकिक वैदिक शब्दों का सार्वत्रिक नियम है, ऐसा जानना चाहिये ॥१८॥]

(छन्दसि०) इस सूत्र से ईषत्, दुर्, सु ये पूर्वपद लगे हों, तो गत्यर्थक धातुओं से वेदों में युच् प्रत्यय होता है ॥[१९॥]

(अन्येभ्यो०) और धातुओं से भी वेदों में युच् प्रत्यय देखने में आता है। जैसे—'सुदोहनाम्' यहां सुपूर्वक 'दुह' धातु से युच् प्रत्यय हुआ है ॥[२०॥]

(छन्दसि०) जो तीन लकार लोक में भिन्न-भिन्न कालों में होते हैं, वे वेदों में लुङ्, लङ् और लिट् लकार ये सब कालों में विकल्प करके होते हैं ॥[२१॥]

---

१. उत्तमपुरुषस्य अडागमे 'अतो दीर्घो यञि' (७।३।१०१) इति दीर्घत्वं न प्रवर्तते। यञादित्वस्याभावात्। ततः 'अतो गुणे' (६ । १ । ९४) इति पररूपे दीर्घाभावो वेद्यः। २. पूर्ववदडागमे दीर्घाभावः।

(लिङर्थे०) अब लेट् लकार के विषय में जो सामान्य सूत्र हैं, उनको यहां लिखते हैं। यह लेट् लकार वेदों में ही होता है। सो वह लिङ् लकार के जितने अर्थ हैं उनमें, तथा उपसंवाद और आशङ्का इन अर्थों में लेट् लकार होता है ॥[२२-२३॥]

(लेटो०) लेट् को क्रम से अट् और आट् आगम होते हैं, अर्थात् जहां अट् होता है, वहां आट् नहीं होता। जहां आट् होता है, वहां अट् नहीं होता ॥[२४॥]

(आत ऐ) लेट् लकार में प्रथम और मध्यम पुरुष के 'आताम्' के आकार को ऐकार आदेश हो जाता है। जैसे—'मन्त्रयैते' यहां आ के स्थान में ऐ हो गया है ॥[२५॥]

(वैतोऽन्यत्र) यहां लेट् लकार के स्थान में जो एकार होता है, उसके स्थान में [विकल्प से] ऐकार आदेश हो जाता है ॥[२६॥]

(इतश्च०) यहां लेट् के तिप्, सिप् और मिप् के इकार का लोप विकल्प से हो जाता है ॥[२७॥]

(स उत्त०) इस सूत्र से लेट् लकार के उत्तम पुरुष के वस् मस् के सकार का विकल्प करके लोप हो जाता है ॥[२८॥]

यह लेट् का विषय थोड़ासा लिखा, आगे किसी को सब जानना हो, तो वह अष्टाध्यायी पढ़के जान सकता है, अन्यथा नहीं।

तुमर्थे सेसेनसेऽसेन्क्सेकसेनध्यैअध्यैन्कध्यैकध्यैन्शध्यैशध्यैन्तवैतवेङ्तवेनः ॥ २९ ॥
अ० ३ । ४ । ९ ॥

धातुमात्रात् तुमुन्प्रत्ययस्यार्थे से, सेन्, असे, असेन्, क्से, कसेन्, अध्यै, अध्यैन्, कध्यै, कध्यैन्, शध्यै, शध्यैन्, तवै, तवेङ्, तवेन् इत्येते पञ्चदश प्रत्यया वेदेष्वेव भवन्ति।

'कृन्मेजन्तः'[1] इति सर्वेषामव्ययत्वम्। सर्वेषु नकारोऽनुबन्धः स्वरार्थः, ककारो गुणवृद्धिनिषेधार्थः, ङकारोऽपि, शकारः शिदर्थः। से—वक्षे रायः। सेन्—तावामेषे रथानाम्[2]। असे असेन्—क्रत्वे दक्षाय जीवसे[3]। क्से कसेन्—[प्रेषे,][4] श्रियसे[5]। अध्यै अध्यैन्—कर्मण्युपाचरध्यै। कध्यै—इन्द्राग्नी आहुवध्यै[6]। कध्यैन्—श्रियध्यै। शध्यै शध्यैन्—पिबध्यै[7], सह मादयध्यै[8], अत्र शित्वात् पिबादेशः। तवै—सोममिन्द्राय पातवै। तवेङ्—दशमे मासि सूतवे[9]। तवेन्—स्वर्देवेषु गन्तवे[10] ॥२९॥

शकि णमुल्कमुलौ ॥ ३० ॥ अ० ३ । ४ । १२ ॥

---

१. अष्टा० १ । १ । ३८ ॥ २. ऋ० १ । ६६ । ३ ॥ ३. अथर्व ६ । १९ । २ ॥
४. यजुः ५ । ७ ॥ ५. ऋ० ५ । ५९ । ३ ॥ ६. यजुः ३ । १३ ॥
७. ऋ० ७ । ९२ । २ ॥ ८. यजुः १ । १३ ॥ ९. ऋ० १० । १८४ । ३ ॥
१०. यजुः १५ । ५५ ॥

शक्नोतौ धातावुपपदे धातुमात्रात् तुमर्थे वेदेषु णमुल्कमुलौ प्रत्ययौ भवतः। णकारो वृद्ध्यर्थः, ककारो गुणवृद्धिप्रतिषेधार्थः, लकारः स्वरार्थः। अग्निं वै देवा विभाजं नाशक्नुवन्, विभक्तुमित्यर्थः ॥[३०॥]

ईश्वरे तोसुन्कसुनौ ॥ ३१ ॥ अ० ३। ४। १३ ॥

ईश्वरशब्द उपपदे वेदे तुमर्थे वर्त्तमानाद्धातोस्तोसुन्कसुनौ प्रत्ययौ भवतः। [तोसुन्—] ईश्वरोऽभिचरितोः; कसुन्—ईश्वरो विलिखः ॥[३१॥]

कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः ॥ ३२ ॥ अ० ३। ४। १४ ॥

कृत्यानां मुख्यतया भावकर्मणी द्वावर्थौ[1] स्तोऽर्हादयश्च[2]। तत्र वेदविषये तवै, केन्, केन्य, त्वन् इत्येते प्रत्यया भवन्ति। तवै—परिधातवै; केन्—नावगाहे; केन्य—दिदृक्षेण्यः[3] शुश्रूषेण्यः; त्वन्—कर्त्वं हविः[4] ॥[३२॥]

भाषार्थ—(तुमर्थे०) इस सूत्र से वेदों में 'से' इत्यादि १५ पन्द्रह प्रत्यय सब धातुओं से हो जाते हैं ॥ [२९ ॥]

(शकि०) शक धातु का प्रयोग उपपद हो, तो धातुमात्र से 'णमुल्' 'कमुल्' ये दोनों प्रत्यय वेदों में हो जाते हैं। इस के होने से 'विभाजम्' इत्यादि उदाहरण सिद्ध होते हैं ॥ [३० ॥]

(ईश्वरे०) वेदों में ईश्वर शब्दपूर्वक धातु से 'तोसुन्' 'कसुन्' ये प्रत्यय होते हैं ॥ [३१॥]

(कृत्यार्थे०) इस सूत्र से वेदों में भावकर्मवाचक 'तवै' 'केन्' 'केन्य' 'त्वन्' ये प्रत्यय होते हैं। इससे 'परिधातवै' इत्यादि उदाहरण सिद्ध होते हैं ॥ [३२ ॥]

नित्यं संज्ञाछन्दसोः ॥ ३३ ॥ अ० ४। १। २९ ॥

अन्नन्ताद् बहुव्रीहेरुपधालोपिनः प्रातिपदिकात् संज्ञायां विषये छन्दसि च नित्यं स्त्रियां ङीप्प्रत्ययो भवति। गौः पञ्चदाम्नी; एकदाम्नी ॥[३३॥]

नित्यं छन्दसि ॥ ३४ ॥ अ० ४। १। ४६ ॥

बह्वादिभ्यो वेदेषु स्त्रियां ङीष् प्रत्ययो भवति। बह्वीषु हित्वा प्रपिबन् ॥[३४॥]

भवे छन्दसि ॥ ३५ ॥ अ० ४। ४। ११० ॥

सप्तमीसमर्थात् प्रातिपदिकाद् भव इत्येतस्मिन्नर्थे छन्दसि विषये यत् प्रत्ययो भवति। अयमणादीनां घादीनां चापवादः। सति दर्शने तेऽपि भवन्ति। मेघ्याय च विद्युत्याय च नमः[5] ॥ [३५ ॥]

१. द्र०—अष्टा० ३। ४। ७० ॥

२. अर्हार्थः, द्र०—३। ३। १६९ ॥ आदि शब्देन प्रैषादयः, द्र०—३। ३। १६३ ॥

३. तै० ब्रा० २। ७। ६। ४ ॥

४. अथर्व० १। ४। ३ ॥

५. यजु. १६। ३८ ॥

इतः सूत्रादारभ्य यानि प्रकृतिप्रत्ययार्थविशेषविधायकानि पादपर्य्यन्तानि वेदविषयकाणि सूत्राणि सन्ति, तान्यत्र न लिख्यन्ते। कुतस्तेषामुदाहरणानि यत्र यत्र मन्त्रेष्वागमिष्यन्ति, तत्र तत्र तानि लेखिष्यामः।

बहुलं छन्दसि॥ ३६॥ अ० ५।२।१२२॥

वेदेषु समर्थानां प्रथमात् प्रातिपदिकमात्राद् भूमादिष्वर्थेषु[1] विनिः प्रत्ययो बहुलं विधीयते। तद्यथा—भूमादयः[2]—

[3]तदस्याऽस्त्यस्मिन्निति मतुप्॥ ३७॥ अ० ५।२।९४॥

भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने।
सम्बन्धे[4]ऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः॥

अस्य[5] सूत्रस्योपरि महाभाष्यवचनादेतेषु सप्तस्वर्थेषु प्रत्यया वेदे लोके चैते मतुबादयो भवन्तीति बोध्यम्।

(बहुलं०[6]) अस्मिन् सूत्रे प्रकृतिप्रत्ययरूपविशेषविधायकानि बहूनि वार्त्तिकानि सन्ति, तानि तत्तद्विषयेषु प्रकाशयिष्यामः॥ [३६-३७॥]

अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि॥ ३८॥ अ० ५।४।१०३॥

'अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि [टच् प्रत्ययो] वेति वक्तव्यम्'। ब्रह्मसामं, ब्रह्मसाम; देवच्छन्दसं, देवच्छन्दः॥ [३८॥]

सन्यङोः॥ ३९॥ अ० ६।१।९॥

[7]'बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति। तद्यथा—'वपिः' प्रकिरणे दृष्टश्छेदने चापि वर्त्तते—केशान् वपति। 'ईडिः' स्तुतिचोदनायाच्ञासु दृष्टः, ईरणे चापि वर्त्तते—अग्निर्वा इतो वृष्टिमीट्टे मरुतोऽमुतश्च्यावयन्ति। 'करोतिः' अयमभूतप्रादुर्भावे दृष्टः, निर्मलीकरणे चापि वर्त्तते—पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु, उन्मृदानेति गम्यते। निक्षेपणेऽपि वर्त्तते—कटे कुरु, घटे कुरु, अश्मानमितः कुरु, स्थापयेति गम्यते।'

एतन्महाभाष्यवचनेनैतद्विज्ञातव्यम्—धातुपाठे येऽर्था निर्दिष्टास्तेभ्योऽन्येऽपि बहवोऽर्था भवन्ति। अर्थानामुपलक्षणमात्रस्य दर्शितत्वात्॥ [३९॥]

१. मत्वर्थ इति वक्तव्ये भूमादिग्रहणं मतुप्प्रत्ययो येषु भूमादिष्वर्थेषु भवति तान् द्योतयितुम्।

२. भूमाद्यर्थनिदर्शनार्थमुत्तरसूत्रमुपस्थापितम्, यत्र भूमादयोऽर्था भाष्यकारेणोच्यन्ते।

३. द्र०—एतत्पृष्ठस्था टि० १।

४. महाभाष्ये 'संसर्गे' पाठः।

५. 'तदस्यास्त्यस्मिन्नि०' (५।२।९४) सूत्रस्येति भावः।

६. ५।२।१२२॥

७. अस्मिन्नुद्ध्रियमाणे महाभाष्यपाठे क्वचित्क्वचिद् भेदो दृश्यते। यत्र तु लेखकप्रमादजन्याऽशुद्धिरासीत् यथा प्रकरणे, निर्मूलीकरणे इति, तत्र पाठः शोधितः।

शेश्छन्दसि बहुलम् ॥ ४० ॥ अ० ६ । १ । ७० ॥

वेदेषु नपुंसके वर्त्तमानस्य शेर्लोपो बहुलं भवति । यथा—विश्वानि भुवनानीति प्राप्ते विश्वा भुवनानीति भवति ॥[४०॥]

बहुलं छन्दसि ॥ ४१ ॥ अ० ६ । १ । ३४ ॥

अस्मिन् सूत्रे वेदेषु एषां धातूनामप्राप्तमपि सम्प्रसारणं बहुलं विधीयते। यथा—हूमहे इत्यादिषु ॥[४१॥]

इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च ॥ ४२ ॥ अ० ६ । १ । १२७ ॥

'ईषा अक्षादिषु च छन्दसि प्रकृतिभावमात्रं द्रष्टव्यम् ।' ईषा अक्षा, इामरे, इत्याद्य-प्राप्तः[1] प्रकृतिभावो विहितः ॥[४२॥]

देवताद्वन्द्वे च ॥ ४३ ॥ अ० ६ । ३ । २६ ॥

देवतयोर्द्वन्द्वसमासे पूर्वपदस्य आनङ् इत्यादेशो विधीयते । ङित्त्वादन्त्यस्य स्थाने भवति । उ०—सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्[2]; इन्द्राबृहस्पती, इत्यादीनि ।

अस्य सूत्रस्योपरि द्वे वार्त्तिके स्तः । तद्यथा—

'देवताद्वन्द्वे उभयत्र वायोः प्रतिषेधः ॥' अग्निवायू:, वाय्वग्नी ।

'ब्रह्मप्रजापत्यादीनां च ॥' ब्रह्मप्रजापती; शिववैश्रवणौ; स्कन्दविशाखौ ।

सूत्रेण विहित आनङादेशो वार्त्तिकद्वयेन प्रतिषिध्यते । सार्वत्रिको नियमः ॥[४३॥]

बहुलं छन्दसि ॥ ४४ ॥ अ० ७ । १ । ८ ॥

अनेनात्मनेपदसंज्ञस्य झकारप्रत्ययस्य रुडागमो विधीयते । उ०—देवा अदुह्र ॥[४४॥]

बहुलं छन्दसि ॥ ४५ ॥ अ० ७ । १ । १० ॥

अनेन वेदेषु भिसः स्थाने ऐस् बहुलं विधीयते । यथा—देवेभिर्मानुषे जने[3] ॥[४५॥]

सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः ॥ ४६ ॥ अ० ७ । १ । ३९ ॥

'सुपां च सुपो भवन्तीति वक्तव्यम् ।' 'तिङां च तिङो भवन्तीति वक्तव्यम् ।' 'इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम् ।' इया—दार्विया परिज्मन् । डियाच्—सुमित्रिया न आप०[4],

१. अत्र सूत्रेण (६ । १ । १२७) ह्रस्वप्रकृतिभावौ विकल्पेन प्राप्तौ । तत्र प्रकृतिभाव एव स्यादित्यर्थं वार्त्तिकम् । तेन पक्षे ह्रस्वप्राप्त्या प्रकृतिभावो न प्राप्नोति, तत्रानेन प्रकृतिभावो विधीयते इति 'अप्राप्तः प्रकृतिभावो विधीयते' इत्यस्य तात्पर्यम् ।

२. ऋ० १० । १९० । ३ ॥

३. ऋ० ६ । १६ । १ ॥

४. एतद्विषये पूर्वत्र पृष्ठ २३७, टि० १ द्रष्टव्या ।

सुक्षेत्रिया, सुगात्रिया[1]। ईकार—दृति न शुष्कं सरसी शयानम्[2]। 'आङयाजयारां चोपसंख्यानम्'। आङ्—प्रबाहवा। अयाच्—स्वप्नया वाव सेचनम्। अयार्—स नः सिन्धुमिव नावया।

सुप्, लुक्, पूर्वसवर्ण, आत्, शे, या, डा, ड्या, याच्, आल्, इया, डियाच्, ई, आङ्, अयाच्, अयार्, वैदिकेषु शब्देषु ह्येव सुपां स्थाने सुबाद्ययारन्ता षोडशादेशा विधीयन्ते। तिङां च तिङिति पृथङ् नियमः। सुप्—ऋजवः सन्तु पन्थाः, पन्थान इति प्राप्ते। लुक्—परमे व्योमन्[3], व्योम्नीति प्राप्ते। पूर्वसवर्ण—धीती मती, धीत्या मत्या इति प्राप्ते। आत्—उभा यन्तारा, उभौ यन्तारौ इति प्राप्ते। शे—न युष्मे वाजबन्धवः[4], यूयमिति प्राप्ते। या—उरुया, उरुणा इति प्राप्ते। डा—नाभा पृथिव्याः[5], नाभौ इति प्राप्ते। ड्या—अनुष्ट्या, अनुष्टुभा इति प्राप्ते। याच्—साधुया, साधु इति प्राप्ते। आल्—वसन्ता यजेत, वसन्ते इति प्राप्ते॥[४६॥]

आज्जसेरसुक्॥ ४७॥ अ० ७। १। ५०॥

अनेन प्रथमाया बहुवचने जसः पूर्वम्[6] असुक् इत्ययमागमो विहितः। उ०—विश्वेदेवास आगतः[7], विश्वेदेवा इति प्राप्ते। एवं देव्यासः। तथैवान्यान्यपि ज्ञातव्यानि॥[४७॥]

भाषार्थ—(नित्यं संज्ञा०) इस सूत्र से वेदों में अन्नन्त प्रातिपदिक से ङीप् प्रत्यय होता है॥ [३३॥]

(नित्यं) इस सूत्र से बह्वादि प्रातिपदिकों से वेदों में ङीप् प्रत्यय नित्य होता है॥[३४॥]

(भवे०) इस सूत्र से भव अर्थ में प्रातिपदिकमात्र से वेदों में यत् प्रत्यय होता है॥[३५॥]

इस सूत्र से आगे पादपर्य्यन्त सब सूत्र वेदों ही में लगते हैं, सो यहां इसलिये नहीं लिखे कि वे एक-एक बात के विशेष हैं। सो जिस-जिस मन्त्र में [उन के] विषय आवेंगे, वहां-वहां लिखे जायंगे।

(बहुलं०) इस सूत्र से प्रातिपदिकमात्र से विन् प्रत्यय वेदों में मतुप के अर्थ में बहुल करके होता है। इस सूत्र के ऊपर वैदिक शब्दों के लिये वार्त्तिक बहुत हैं, परन्तु विशेष हैं, इसलिये नहीं लिखे॥ [३६-३७॥]

(अनसन्ता०) इस सूत्र से वेदों में [अनन्त और असन्त से] समासान्त टच् प्रत्यय विकल्प करके होता है॥ [३८॥]

(बह्वर्था अपि०) महाभाष्यकार के इस वचन से यह बात समझनी चाहिये कि धातुपाठ में धातुओं के जितने अर्थ लिखे हैं, उनसे अधिक और भी बहुत अर्थ होते हैं। जैसे ईड धातु का

१. 'सुगातुया' इति शुद्धः पाठो द्रष्टव्यः। २. ऋ० ७। १०३। २॥
३. ऋ० १। १६४। ३९॥ ४. ऋ० ८। ६८। १९॥
५. यजुः ११। ७६॥ ६. कित्त्वादिति शेषः। ७. ऋ० १। ३। ७॥

स्तुति करना तो धातुपाठ में अर्थ पढ़ा है, और चोदना आदि भी समझे जाते हैं। इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिये ॥ [३९ ॥]

(शेश्छ०) इससे प्रथमा विभक्ति जो जस् [और शस्] के स्थान में नपुंसकलिङ्ग में 'शि' आदेश होता है, इसका लोप वेदों में बहुल से हो जाता है ॥[४०॥]

(बहुलं०) इससे धातुओं को अप्राप्त संप्रसारण होता है ॥ [४१ ॥]

(ईषा०)इस नियम से अप्राप्त भी प्रकृतिभाव वेदों में होता है ॥ [४२ ॥]

(देवताद्व०) इस सूत्र से दो देवताओं के द्वन्द्व समास में पूर्वपद को दीर्घ हो जाता है। जैसे—'सूर्य्याचन्द्रमसौ०' यहां सूर्या शब्द दीर्घ हो गया है। और इस सूत्र से जिस कार्य्य का विधान है, उसका प्रतिषेध महाभाष्यकार दो वार्त्तिकों से विशेष शब्दों में दिखाते हैं। जैसे—'इन्द्रवायू' यहां इन्द्र शब्द को दीर्घ नहीं हुआ। यह नियम लोक और वेद में सर्वत्र घटता है ॥ [४३ ॥]

(बहुलं०) इस सूत्र से प्रथम पुरुष के बहुवचन आत्मनेपद में 'झ' प्रत्यय को 'रुट्' का आगम होता है ॥ [४४ ॥]

(बहुलं०) इससे भिस् के स्थान में 'ऐस्भाव' बहुल करके होता है ॥[४५॥]

(सुपां सु०) इससे सब विभक्तियों के सब वचनों के स्थान में 'सुप्' आदि १६ आदेश होते हैं ॥ [४६॥]

(आज्जसे०) इस सूत्र से वेदों में प्रथमा विभक्ति का बहुवचन जो जस् है, उसको असुक् का आगम होता है। जैसे—'दैव्याः' ऐसा होना चाहिये, वहां 'दैव्यासः' ऐसा हो जाता है। इत्यादि जान लेना चाहिये ॥ [४७ ॥]

बहुलं छन्दसि ॥ ४८ ॥ अ० ७ । ३ । ९७ ॥

वेदेषु यत्र क्वचिदीडागमो दृश्यते तत्रानेनैव भवतीति वेद्यम् ॥[४८॥]

बहुलं छन्दसि ॥ ४९ ॥ अ० ७ । ४ । ७८ ॥

अनेनाभ्यासस्य [भृञीवीनाम्] इत् इत्ययमादेशः श्लौ वेदेषु बहुलं विधीयते ॥[४९॥]

छन्दसीरः ॥ ५० ॥ अ० ८ । २ । १५ ॥

अनेन मतुपो मकारस्याप्राप्तं वत्वं विधीयते । उ०—रेवान् इत्यादि ॥[५०॥]

कृपो रो लः ॥ ५१ ॥ अ० ८ । २ । १८ ॥

'संज्ञाछन्दसोर्वा कपिलकादीनामिति वक्तव्यम् ।' कपिलका; कपिरका[1], इत्यादीनि॥[५१॥]

---

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'कपरिका' इति लेखकप्रमादजोऽपपाठः ।

धि च ॥ ५२ ॥ अ० ८ । २ । २५ ॥

घसिभसोर्न सिध्येत्तु तस्मात् सिज्ग्रहणं न तत् ।

छान्दसो वर्णलोपो वा यथेष्कर्त्तारमध्वरे ॥

उ०—[इष्कर्त्तारमध्वरस्य,] निष्कर्तारमध्वरस्येति प्राप्ते । अनेन वेदेषु वर्णलोपो विकल्प्यते । अप्राप्तविभाषेयम् ॥[५२॥]

दादेर्धातोर्घः ॥ ५३ ॥ अ० ८ । २ । ३२ ॥

'हृग्रहोर्भश्छन्दसि हस्य भत्वं वक्तव्यम् ।' उ०–गर्दभेन संभरति; मरुवस्य गृभ्णाति ॥[५३॥]

मतुवसो रुः सम्बुद्धौ छन्दसि ॥ ५४ ॥ अ० ८ । ३ । १ ॥

वेदविषये मत्वन्तस्य वस्वन्तस्य च सम्बुद्धौ गम्यमानायां रुर्भवति । गोमः; हरिवः; मीढ्वः ॥[५४॥]

वा शरि ॥ ५५ ॥ अ० ८ । ३ । ३६ ॥

वा शर्प्रकरणे खर्परे लोपो वक्तव्यः । वृक्षा स्थातारः, वृक्षाः स्थातारः । अनेन वायव स्थ[1] इत्यादीनि वेदेष्वपि दृश्यन्ते । अतः सामान्येनायं सार्वत्रिको नियमः ॥[५५॥]

भाषार्थ—(बहुलं०) इस सूत्र से वेदों में ईट् का आगम होता है ॥ [४८ ॥]

(बहुलं०) इस सूत्र से वेदों में धातु के अभ्यास को इकारादेश हो जाता है ॥ [४९ ॥]

(छन्दसीरः) इससे वेदों में मतुप् प्रत्यय के मकार को वकारादेश हो जाता है ॥ [५०॥]

(संज्ञा०) इससे वेदों में रेफ का लकार विकल्प करके होता है ॥ [५१ ॥]

(घसि०) इससे वेदों में किसी-किसी अक्षर का कहीं-कहीं लोप हो जाता है ॥[५२॥]

(हृग्रहो०) इससे वेदों में हृ और ग्रह धातु के हकार को भकार हो जाता है ॥[५३॥]

(मतु०) इससे वेदों में मतुप् और वसु के नकार को रु होता है ॥ [५४ ॥]

[(वा शरि) खर् परे हैं जिससे ऐसे शर् परे रहने पर विसर्जनीय का विकल्प से लोप होता है ॥ ५५ ॥]

उणादयो बहुलम् ॥ ५६ ॥ अ० ३ । ३ । १ ॥

बहुलवचनं किमर्थम् ? 'बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः'—तन्वीभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयो दृश्यन्ते, न सर्वाभ्यो दृश्यन्ते । 'प्रायसमुच्चयनादपि तेषाम्'—प्रायेण खल्वपि

१. यजुः १ । १ ॥

ते समुच्चिताः, न सर्वे समुच्चिताः । 'कार्य्यसशेषविधेश्च तदुक्तम्'—कार्य्याणि खल्वपि सशेषाणि कृतानि, न सर्वाणि लक्षणेन परिसमाप्तानि । किं पुनः कारणं तन्वीभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयो दृश्यन्ते, न सर्वाभ्यः । किञ्च कारणं प्रायेण समुच्चिता, न सर्वे समुच्चिताः ? किञ्च कारणं कार्य्याणि सशेषाणि कृतानि, न पुनः सर्वाणि लक्षणेन परिसमाप्तानि ? 'नैगमरूढिभवं हि सुसाधु'—नैगमाश्च रूढिशब्दाश्चौणादिकाः सुसाधवः' कथं स्युः ?

'नाम च धातुजमाह निरुक्ते'—नाम खल्वपि धातुजमाहुर्नैरुक्ताः । 'व्याकरणे शकटस्य च तोकम्'—वैयाकरणानां च शाकटायन आह धातुजं नामेति । अथ यस्य विशेषपदार्थो न समुत्थितः, कथं तत्र भवितव्यम् ? 'यन्न विशेषपदार्थसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम्'—प्रकृतिं दृष्ट्वा प्रत्यय ऊहितव्यः, प्रत्ययं दृष्ट्वा प्रकृतिरूहितव्या ।

संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे ।

कार्य्याद् विद्यादनुबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु ॥

(बाहुलकं०) उणादिपाठे अल्पाभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयः प्रत्यया विहितास्तत्र बहुलवचनादविहिताभ्योऽपि भवन्ति । एवं प्रत्यया अपि न सर्व एकीकृताः, किन्तु प्रायेण सूक्ष्मतया प्रत्ययविधानं कृतम् । तत्रापि बहुलवचनादेवाविहिता अपि प्रत्यया भवन्ति । यथा फिडफिड्डौ भवतः[२] । तथा सूत्रेविहितानि कार्य्याणि न भवन्त्यविहितानि च भवन्ति । यथा दण्ड इत्यत्र डप्रत्ययस्य डकारस्य इत्संज्ञा न भवति । एतदपि बाहुलकादेव ।

(किं पुनः०) अनेनैतच्छङ्क्यते उणादौ यावत्यः प्रकृतयो यावन्तः प्रत्यया यावन्ति च सूत्रैः[३] कार्य्याणि विहितानि तावन्त्येव कथं न स्युः ? अत्रोच्यते—

(नैगमः०) नैगमा वैदिकाः शब्दा रूढयो लौकिकाश्च सुष्ठु साधवो यथा स्युः । एवं कृतेन विना नैव ते सुष्ठु सेत्स्यन्ति । (नाम०) संज्ञाशब्दान् निरुक्तकारा धातुजानाहुः, (व्याकरणे०) शकटस्य तोकमपत्यं शाकटायनः, तोकमित्यस्यापत्यनामसु[४] पठितत्वात् ।

---

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'रूढिशब्दाश्चावैदिकास्ते सुष्ठु साधवः' इति पाठः ।

२. फिडफिड्डावविहितावप्यौणादिकौ प्रत्ययौ । तदुक्तं महाभाष्यकृता—'फिडफिड्डावौणादिकौ प्रत्ययौ' इति ऋलृक् सूत्रभाष्ये ।

३. अयं प्रथमसंस्करणे शुद्धः पाठः । द्वितीयादारभ्य 'सूत्रे' इत्यपपाठो मुद्र्यते ।

४. निघं० २ । २ ॥

(यन्न०) यद् विशेषात् पदार्थाश्च सम्यगुत्थितमर्थात् प्रकृतिप्रत्ययविधानेन न व्युत्पन्नं, प्रकृतिं दृष्ट्वा प्रत्यय ऊह्यः, प्रत्ययं च दृष्ट्वा प्रकृतिः। एतदूहनं क्व कथं च कर्तव्यमित्यत्राह-संज्ञाशब्देषु धातुरूपाणि पूर्वमूह्यानि परे च प्रत्ययाः। (कार्य्याद्वि०) कार्य्यमाश्रित्य धातुप्रत्ययानुबन्धान् जानीयात्, एतत् सर्वं कार्य्यमुणादिषु बोध्यम् ॥५६॥

भावार्थ—(उणादयो०) इस सूत्र के ऊपर महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि उणादिपाठ व्यवस्था बांधते हैं कि—(बाहुलकं०) उणादिपाठ में थोड़े से धातुओं से प्रत्ययविधान किया है, बहुल के होने से वे प्रत्यय अन्य धातुओं से भी होते हैं। इसी प्रकार प्रत्यय भी उस ग्रन्थ में थो से नमूने के लिये पढ़े हैं, इनसे अन्य भी नवीन प्रत्यय शब्दों में देखकर समझ लेना चाहिये। 'ऋफिड:' इस शब्द में ऋ धातु से फिड प्रत्यय समझा जाता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जान चाहिये। तथा जितने शब्द उणादिगण से सिद्ध होते [हैं,] उनमें जितने कार्य्य सूत्रों करके हो चाहियें वे सब नहीं होते हैं, सो भी बहुल ही का प्रताप है।

(कि पुनः०) इसमें जो कोई ऐसी शंका करे कि उणादिपाठ में जितने धातुओं जितने प्रत्यय विधान किये, और जितने कार्य्य शब्दों की सिद्धि में सूत्रों से हो सकते हैं, उन अधिक क्यों होते हैं? तो इसका उत्तर यह है कि (नैगम०) वेदों मे जितने शब्द हैं, तथ संसार में असंख्य संज्ञाशब्द हैं, ये सब अच्छी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकते, इसलिये पूर्वोक्त प्रकार के कार्य्य बहुलवचन से उणादि में होते हैं। जिसके होने से अनेक प्रकार के हजारह सिद्ध होते हैं।

(नाम०) अब इस विषय में निरुक्तकारों का ऐसा मत है कि संज्ञाशब्द जितने हैं, वे धातु और प्रत्ययों से बराबर सिद्ध होने चाहियें। तथा वैयाकरण जितने ऋषि हैं, उनमें शाकटायन ऋषि का मत निरुक्तकारों के समान है। और इनसे भिन्न ऋषियों का मत यह है संज्ञाशब्द जितने हैं, वे रूढि हैं।

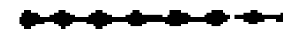
अब इस बात का विचार करते हैं कि जिन शब्दों में धातु प्रत्यय मालूम कुछ भी नही होता, वहां क्या करना चाहिये? उन शब्दों में इस प्रकार विचार करना चाहिये कि व्याकरण-शास्त्र में जितने धातु और प्रत्यय हैं, इनमें से जो धातु मालूम पड़ जाय, तो नवीन प्रत्यय की कल्पना कर लेनी, और जो प्रत्यय जाना जाय तो नवीन धातु की कल्पना कर लेनी। इस प्रकार उन शब्दों का अर्थ विचार लेना चाहिये। और दूसरी कल्पना यह भी है कि उन शब्दों में जिस अनुबन्ध का कार्य्य दीखे, वैसा ही धातु वा प्रत्यय अनुबन्ध के सहित कल्पना करनी। जैसे कोई आद्युदात्त शब्द हो, उसमें 'ञ्' अथवा 'न्' अनुबन्ध के सहित प्रत्यय समझना। यह कल्पना सर्वत्र नहीं करने लगना, किन्तु जो संज्ञाशब्द लोक [में और जो वैदिक] वेद में प्रसिद्ध हों, उनके अर्थ जानने के लिए शब्द के आदि के अक्षरों में 'धातु की और अन्त में प्रत्यय'[1] की कल्पना करनी चाहिये।

---

१. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'धात्वर्थ की और अन्त में प्रत्ययार्थ की' अपपाठ है।

यह सब ऋषियों का प्रबन्ध इसलिये है कि शब्दसागर अथाह है, इसकी थाह व्याकरण से नहीं मिल सकती। जो कहें कि ऐसा व्याकरण क्यों नहीं बनाया कि जिससे शब्दसागर के पार पहुंच जाते, तो यह समझना कि कितने ही पोथा बनाते और जन्म-जन्मान्तरों भर पढ़ते, तो भी पार होना दुर्लभ हो जाता[1]। इसलिये यह सब पूर्वोक्त प्रबन्ध ऋषियों ने किया है, जिससे शब्दों की व्यवस्था मालूम हो जाय ॥[५६॥]

इति व्याकरणनियमविषयः



१. द्र०—बृहस्पतिश्च प्रवक्ता इन्द्रश्चाध्येता, दिव्यं वर्षसहस्रं चाध्ययनकालः, न चान्तं जगाम। किं पुनरद्यत्वे यः सर्वथा चिरं जीवति, वर्षशतं जीवति। महाभाष्य अ० १। पाद १। आ० १॥

अथालंकारविषयः संक्षेपतः

अथालङ्कारभेदाः संक्षेपतो लिख्यन्ते । तत्र तावदुपमालङ्कारो व्याख्यायते—पूर्णोपमा चतुर्भिरुपमेयोपमानवाचकसाधरणधर्मैर्भवति । अस्योदाहरणम्—स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव[1] ॥ १ ॥

उक्तानामेकैकशोऽनुपादानेऽष्टधा लुप्तोपमा—तत्र—वाचकलुप्तोदाहरणम्—भीम इव बली भीमबली ॥[१॥] धर्मलुप्तोदाहरणम्—कमलनेत्रः ॥ २ ॥ धर्मवाचकलुप्तोदाहरणम्—व्याघ्र इव पुरुषः पुरुषव्याघ्रः ॥ ३ ॥ वाचकोपमेयलुप्तोदाहरणम्—विद्यया पण्डितायन्ते ॥ ४ ॥ उपमान-लुप्ता ॥ ५ ॥ वाचकोपमानलुप्ता ॥ ६ ॥ धर्मोपमानलुप्ता ॥ ७ ॥ धर्मोपमानवाचकलुप्ता ॥ ८ ॥ आसामुदाहरणम्—काकतालीयो गुरुशिष्यसमागमः । एवमष्टविधा ॥ १ ॥

अतोऽग्रे रूपकालङ्कारः । स चोपमानस्याभेदताद्रूप्याभ्याम् अधिकन्यूनोभयगुणैरुपमेयस्य प्रकाशनं रूपकालङ्कारः । स च षड्धा—

तत्र अधिकाभेदरूपकोदाहरणम्—अयं हि सविता साक्षाद् येन ध्वान्तं विनाश्यते । पूर्णविद्य इति शेषः ॥ १ ॥

न्यूनाभेदरूपकोदाहरणम्—अयं पतञ्जलिः साक्षाद्भाष्यस्य कृतिना विना ॥ २ ॥

अनुभयाभेदरूपकोदाहरणम्—ईशः प्रजामवत्यद्य स्वीकृत्य समनीतिताम् ॥ ३ ॥

अधिकताद्रूप्यरूपकोदाहरणम्—विद्यानन्दे हि सम्प्राप्ते राज्यानन्देन किं तदा ॥ ४ ॥

न्यूनताद्रूप्यरूपकोदाहरणम्—साध्वीयं सुखदा नीतिरसूर्य्यप्रभवा मता ॥ ५ ॥

अनुभयाताद्रूप्यरूपकोदाहरणम्—अयं घनावृतात् सूर्य्याद् विद्यासूर्य्यो विभज्यते ॥ ६ ॥

अनेकार्थशब्दविन्यासः श्लेषः । स च त्रिविधः—प्रकृतानेकविषयः, अप्रकृतानेकविषयः, प्रकृताप्रकृतानेकविषयश्च । तत्र—

प्रकृतविषयस्योदाहरणम्—यथा नवकम्बलोऽयं मनुष्यः । यत्र नव कम्बला यस्य, नवो नूतनो वा कम्बलो यस्येति द्वावर्थौ भवतः । यथा च, श्वेतो धावति, अलंबुसानां यातेति[2] । तथैव अग्निमीळे[3] इत्यादि ।

---

१. ऋ० १ । १ । ९ ॥ २. द्र०—महाभाष्यस्य प्रथमाह्निकस्यान्ते ।

३. ऋ० १ । १ । १ ॥ अत्र अग्निशब्दः श्लेषेण प्रकृतं भौतिकमीश्वरं च द्वावर्थौ ब्रवीतीति भावः ।

अप्रकृतविषयस्योदाहरणम्—हरिणा त्वद्बलं तुल्यं कृतिना हितशक्तिना।

अथ प्रकृताप्रकृतविषयोदाहरणम्—उच्चरम्भूरियानाढ्यः शुशुभे वाहिनीपतिः।

एवंविधा अन्येऽपि बहवोऽलङ्काराः सन्ति। ते सर्वे नात्र लिख्यन्ते। यत्र यत्र त आगमिष्यन्ति तत्र तत्र व्याख्यायिष्यन्ते।

भाषार्थ—अब कुछ अलङ्कारों का विषय संक्षेप से लिखते हैं। उनमें से पहिले 'उपमालङ्कार' के ८ आठ भेद हैं—वाचकलुप्ता १, धर्मलुप्ता २, धर्मवाचकलुप्ता ३, वाचकोपमेयलुप्ता ४, उपमानलुप्ता ५, वाचकोपमानलुप्ता ६, धर्मोपमानलुप्ता ७, और धर्मोपमानवाचकलुप्ता ८। इन आठों से पूर्णोपमालङ्कार पृथक् है, जिसमें ये सब बने रहते हैं। उसका लक्षण यह है कि वह चार पदार्थों से बनता है—एक तो उपमान, दूसरा उपमेय, तीसरा उपमावाचक और चौथा साधारणधर्म। इनमें से 'उपमान' उसको कहते हैं कि जिस पदार्थ की उपमा दी जाती है। 'उपमेय' वह कहाता है कि जिसको उपमान के तुल्य वर्णन करते हैं। 'उपमावाचक' उसको कहते हैं कि जो तुल्य, समान, सदृश, इव, वत् इत्यादि शब्दों के बीच में आने से किसी दूसरे पदार्थ के समान बोध करावे। 'साधारणधर्म' वह होता है कि जो धर्म उपमान और उपमेय इन दोनों में बराबर वर्त्तमान रहता है। इन चारों के वर्त्तमान होने से पूर्णोपमा। और इनमें से एक-एक के लोप हो जाने से पूर्वोक्त आठ भेद हो जाते हैं। पूर्णोपमा का उदाहरण यह है कि—'स नः पितेव०'। जैसे पिता अपने पुत्र की सब प्रकार से रक्षा करता है, वैसे ही परमेश्वर भी सबका पिता अर्थात् पालन करनेवाला है।

इसके आगे दूसरे 'रूपकालङ्कार' के छः भेद हैं—अधिकाभेदरूपक १, न्यूनाभेदरूपक २, अनुभयाभेदरूपक ३, अधिकताद्रूप्यरूपक ४, न्यूनताद्रूप्यरूपक ५, और अनुभयताद्रूप्यरूपक ६। इसका लक्षण यह है कि उपमेय को उपमान बना देना, और उसमें भेद नहीं रखना। जैसे—'यह मनुष्य साक्षात् सूर्य्य है, क्योंकि अपने विद्यारूप प्रकाश से अविद्यारूप अन्धकार का नाश नित्य करता है' इत्यादि।

तीसरा 'श्लेषालङ्कार' कहाता है। उसके तीन भेद हैं—१ प्रकृत, २ अप्रकृत, और ३ प्रकृताप्रकृतविषयक। जिसका लक्षण यह है कि किसी एक वाक्य वा शब्द से अनेक अर्थ निकलें, वह 'श्लेष' कहाता है। जैसे 'नवकम्बल' इस शब्द से दो अर्थ निकलते हैं। एक नव हैं कम्बल जिसके, दूसरा नवीन है कम्बल जिसका।

इसी प्रकार वेदों में अग्नि आदि शब्दों के कई-कई अर्थ होते हैं, सो श्लेषालङ्कार का ही विषय है। इस प्रकार के और भी बहुत अलंकार हैं। सो जहां-जहां वेदभाष्य में आवेंगे, वहां-वहां लिखे जायेंगे।

अदि॑ति॒र्द्यौरदि॑तिर॒न्तरि॑क्ष॒मदि॑तिर्मा॒ता स पि॒ता स पु॒त्रः।
विश्वे॑ दे॒वा अदि॑तिः॒ पञ्च॒ जना॒ अदि॑तिर्जा॒तमदि॑ति॒र्जनि॑त्वम् ॥ १ ॥

ऋ० मं० १। सू० ८९। मं० १०॥

भाष्यम्—अस्मिन् मन्त्रे अदितिशब्दार्था द्यौरित्यादयः सन्ति । तेऽपि वेदभाष्येऽदितिशब्देन ग्राहिष्यन्ते । नैवास्य मन्त्रस्य लेखनं सर्वत्र भविष्यतीति मत्वाऽत्र लिखितम् ।

भाषार्थ—(अदिति०) इस मन्त्र में अदिति शब्द के बहुत अर्थ, और [भी] बहुतेरे अर्थ इस शब्द के हैं। परन्तु इस मन्त्र में जितने हैं, वे सब वेदभाष्य में अवश्य लिये जायेंगे। इस मन्त्र को वारम्वार न लिखेंगे, किन्तु वे सब अर्थ तो लिख दिये जायेंगे। वे अर्थ ये हैं—द्यौः, अन्तरिक्ष, माता, पिता, पुत्र, विश्वदेव, पञ्चजन, जात और जनित्व ।

॥ इत्यलङ्कारभेदविषयः संक्षेपतः ॥



अथ ग्रन्थसंकेतविषयः

अथ वेदभाष्ये ये सङ्केताः करिष्यन्ते, त इदानीं प्रदर्श्यन्ते। ऋग्वेदादीनां वेदचतुष्टयानां, षट्शास्त्राणां, षडङ्गानां, चतुर्णां ब्राह्मणानां, तैत्तिरीयारण्यकस्य च यत्र यत्र प्रमाणानि लिखिष्यन्ते, तत्र तत्रैते सङ्केता विज्ञेयाः—ऋग्वेदस्य ऋ०, मण्डलस्य प्रथमाङ्को, द्वितीयः सूक्तस्य, तृतीयो मन्त्रस्य विज्ञेयः। तद्यथा—'ऋ० १ । १ । १ ॥'

यजुर्वेदस्य य०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयो मन्त्रस्य। तद्यथा—'य० १ । १ ॥'

सामवेदस्य साम०, पूर्वार्चिकस्य पू०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयो दशतेस्तृतीयो मन्त्रस्य। तद्यथा—'साम० पू० १ । १ । १ ॥' पूर्वार्चिकस्यायं नियमः। उत्तरार्चिकस्य खलु—साम० उ०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयो मन्त्रस्य।

अत्रायं विशेषोऽस्ति—उत्तरार्चिके दशतयो न सन्ति, परन्त्वर्द्धप्रपाठके मन्त्रसंख्या[1] पूर्णा भवति। तेन प्रथमः पूर्वार्द्धप्रपाठको, द्वितीय उत्तरार्द्धप्रपाठकश्चेत्ययमपि सङ्केत उत्तरार्चिके ज्ञेयः। तद्यथा—'साम० उ० १ । पू० १ ॥ साम० उ० १ । उ० १ ॥' अत्र द्वौ सङ्केतौ भविष्यतः। उकारेणोत्तरार्चिकं ज्ञेयं, प्रथमाङ्केन प्रथमः प्रपाठकः, पू० इत्यनेन पूर्वार्द्धः प्रथमः प्रपाठकः, द्वितीयाङ्केन मन्त्रसंख्या ज्ञेया। पुनर्द्वितीये सङ्केते द्वितीयोकारेण[2] उत्तरार्द्धः, प्रथमः प्रपाठकः, द्वितीयाङ्केन तदेव।

अथर्ववेदे अथर्व०, प्रथमाङ्कः काण्डस्य, द्वितीयो वर्गस्य[3], तृतीयो मन्त्रस्य। तद्यथा—'अथर्व १ । १ । १ ॥'

भाषार्थ—अब वेदभाष्य में चारों वेद के जहां-जहां प्रमाण लिखे जावेंगे, उनके संकेत दिखलाते हैं। देखो ऋग्वेद का जहां-जहां प्रमाण लिखेंगे, वहां [-वहां] ऋग्वेद का ऋ० और मण्डल १, सूक्त १, मन्त्र १। इनका पहिला दूसरा तीसरा क्रम से संकेत जानना चाहिये। जैसे—'ऋ० १।१।१॥' इसी प्रकार यजुर्वेद का य०, पहिला अङ्क अध्याय का, दूसरा मन्त्र का जान लेना। जैसे—'य० १ । १ ॥' सामवेद का नियम यह है कि साम०, पूर्वार्चिक का पू०, पहिला प्रपाठक का, दूसरा दशति का, और तीसरा मन्त्र का जानना चाहिये। जैसे—'साम० पू० १ । १ । १ ॥' यह नियम पूर्वार्चिक में है। उत्तरार्चिक में प्रपाठकों के भी पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध होते हैं। अर्द्ध प्रपाठक पर्य्यन्त मन्त्रसंख्या चलती है। इसलिये प्रपाठक के अङ्क के आगे पू० वा उ० धरा जायगा। उस

---

१. त्रिकरूपेति शेषः। २. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'द्वितीय उकारेण' इत्यपपाठः।

३. वर्गशब्देनेह सूक्तं निर्दिष्टम्।

पू० से पूर्वार्द्ध प्रपाठक, और उ० से उत्तरार्द्ध प्रपाठक जान लेना होगा। इस प्रकार उत्तरार्चिक में दो संकेत होंगे। 'साम० उ० १। पू० १॥; साम० उ० १। उ० १॥' इसी प्रकार अथर्ववेद में अथर्व०, पहिला अङ्क काण्ड का, दूसरा वर्ग का, तीसरा मन्त्र का जान लेना। जैसे—'अथर्व० १। १। १॥'

एवं ब्राह्मणस्याद्यस्यैतरेयस्य ऐ०, प्रथमांकः पञ्चिकायाः, द्वितीयः कण्डिकायाः। तद्यथा–'ऐ० १। १॥'

शतपथब्राह्मणे श०, प्रथमाङ्कः काण्डस्य, द्वितीयः प्रपाठकस्य[1], तृतीयो ब्राह्मणस्य, चतुर्थः कण्डिकायाः। तद्यथा—'श० १। १। १। १॥'

एवमेव सामब्राह्मणानि बहूनि सन्ति। तेषां मध्याद् यस्य यस्य प्रमाणमत्र लेखिष्यते, तस्य तस्य सङ्केतस्तत्रैव करिष्यते। तेष्वेवैकं छान्दोग्याख्यं, तस्य छां०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयः खण्डस्य, तृतीयो मन्त्रस्य। तद्यथा–'छां० १। १। १॥'

एवं गोपथब्राह्मणस्य गो०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयो ब्राह्मणस्य[2]। यथा–'गो० १।१॥'

एवं षट्शास्त्रेषु प्रथमं मीमांसाशास्त्रम्। तस्य मी०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयः पादस्य, तृतीयः सूत्रस्य। तद्यथा– मी० १। १। १॥'

द्वितीयं वैशेषिकशास्त्रम्। तस्य वै०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीय आह्निकस्य, तृतीयः सूत्रस्य। तद्यथा–'वै० १। १। १॥'

तृतीयं न्यायशास्त्रम्। तस्य न्या०, अन्यद्वैशेषिकवत्।

चतुर्थं योगशास्त्रम। तस्य यो०, प्रथमाङ्कः पादस्य, द्वितीयः सूत्रस्य–'यो० १। १॥'

पञ्चमं सांख्यशास्त्रम्। तस्य सां०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयः सूत्रस्य–'सां० १। १॥'

षष्ठं वेदान्तशास्त्रम् उत्तरमीमांसाख्यम्। तस्य वे०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयः पादस्य, तृतीयः सूत्रस्य–'वे० १। १। १॥'

तथाङ्गेषु प्रथमं व्याकरणम्, तत्राष्टाध्यायी। तस्या अ०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयः पादस्य, तृतीयः सूत्रस्य। तद्यथा–'अ० १। १। १॥' एतेनैव कृतेन सूत्रसङ्केतेन व्याकरणमहाभाष्यस्य सङ्केतो विज्ञेयः। यस्य सूत्रस्योपरि तद्भाष्यमस्ति तद्व्याख्यानं लिखित्वा तत्सूत्रसङ्केतो धरिष्यते।

तथा निघण्टुनिरुक्तयोः प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयः खण्डस्य। 'निघण्टौ–१। १॥' 'निरुक्ते–१। १॥' खण्डाध्यायौ द्वयोः समानौ।

तथा तैत्तिरीयारण्यके तै०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयोऽनुवाकस्य–'तै० १। १॥'

इत्थं सर्वेषां प्रमाणानां तेषु तेषु ग्रन्थेषु दर्शनार्थं सङ्केताः कृताः। तेन येषां मनुष्याणां द्रष्टुमिच्छा

१. अत्र भूमिकायां प्रायेणाध्यायब्राह्मणयोर्निर्देश उपलभ्यते, क्वचिदेव प्रपाठकब्राह्मणयोः।

२. गोपथब्राह्मणे पूर्वोत्तरौ द्वौ भागौ स्तः, तदर्थं पू० उ० संकेताभ्यामपि भवितव्यम्।

भवेदेतैरङ्कैस्तेषु ग्रन्थेषु लिखितसंकेतेन द्रष्टव्यम् । यत्रोक्तेभ्यो ग्रन्थेभ्यो भिन्नानां ग्रन्थानां प्रमाणं लेखिष्यते, तत्रैकवारं समग्रं दर्शयित्वा पुनरेवमेव संकेतेन लेखिष्यत इति ज्ञातव्यम् ।

भाषार्थ—इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रथम ऐतरेय ब्राह्मण का ऐ०, पहिला अङ्क पञ्चिका का, दूसरा कण्डिका का—'ऐ० १ । १ ।।' शतपथ ब्राह्मण का श०, पहिला अङ्क काण्ड का, दूसरा प्रपाठक का, तीसरा ब्राह्मण का, चौथा कण्डिका का—'श० १ । १ । १ । १ ।।' सामब्राह्मण बहुत हैं, उनमें से जिस-जिस का प्रमाण जहां-जहां लिखेंगे, उस-उस का ठिकाना वहां धर देंगे । जैसे एक छान्दोग्य कहाता है । उसका छां०, पहिला अङ्क प्रपाठक का, दूसरा खण्ड का, तीसरा मन्त्र का । जैसे—'छां १ । १ । १ ।।' चौथा गोपथ ब्राह्मण कहाता है । उसका गो०, पहिला अङ्क प्रपाठक का, दूसरा ब्राह्मण का । जैसे—'गो० १ । १ ।।' इस प्रकार का संकेत चारों ब्राह्मण में जानना होगा ।

ऐसे ही छः शास्त्रों में प्रथम मीमांसा शास्त्र । उसका मी०, अध्याय पाद और सूत्र के तीन अङ्क क्रम से जानो—'मी० १ । १ । १ ।।' दूसरा वैशेषिक का वै०, पहिला अङ्क अध्याय का, दूसरा आह्निक का, तीसरा सूक्त का । जैसे—'वै० १ । १ । १ ।।' तीसरे न्यायशास्त्र का न्या० और तीन अङ्क वैशेषिक के समान जानो । चौथे योगशास्त्र का यो०, प्रथम अङ्क पाद का, दूसरा सूत्र का—'यो० १ । १ ।।' पांचवें सांख्यशास्त्र का सां०, अध्याय और सूत्र के दो अङ्क क्रम से जानो । जैसे—'सां० १ । १ ।।' छठे वेदान्त का वे०, अध्याय पाद और सूत्र के तीन अङ्क क्रम से—'वे० १ । १ । १ ।।'

तथा अङ्गों में अष्टाध्यायी व्याकरण का अ०, अध्याय पाद सूत्र के तीन अङ्क क्रम से जानो । जैसे—'अ० १ । १ । १ ।।' इसी प्रकार जिस सूत्र के ऊपर महाभाष्य हुआ करेगा, उस सूत्र का पता लिखके महाभाष्य का वचन लिखा करेंगे । उसी से उसका पता जान लेना चाहिये । तथा निघण्टु और निरुक्त में दो-दो अङ्क अध्याय और खण्ड के लिखेंगे । ये संकेत इसलिये लिखे हैं कि वारंवार पूरा नाम न लिखना पड़े, थोड़े से ही काम चल जाय । जिस-किसी को देखना पड़े, वह उन ग्रन्थों में देख ले । और जिन ग्रन्थों के संकेत यहां नहीं लिखे, उनके प्रमाणों का जहां-कहीं काम पड़ेगा, तो लिख दिया जायगा । परन्तु इन सब ग्रन्थों के संकेतों यो याद रखना सबको योग्य है कि जिससे देखने में परिश्रम न पड़े ।

वेदार्थाभिप्रकाशप्रणयसुगमिका कामदा मान्यहेतुः,
संक्षेपाद् भूमिकेयं विमलविधिनिधिः सत्यशास्त्रार्थयुक्ता ।
सम्पूर्णाकार्य्यथेदं भवति सुरुचि यन्मन्त्रभाष्यं मयातः,
पश्चादीशानभक्त्या सुमतिसहितया तन्यते सुप्रमाणम् ॥ १ ॥
मन्त्रार्थभूमिका ह्यत्र मन्त्रस्तस्य पदानि च ।
पदार्थान्वयभावार्थाः क्रमाद् बोध्या विचक्षणैः ॥ २ ॥

भावार्थ—यह भूमिका जो वेदों के प्रयोजन अर्थात् वेद किसलिये और किसने बनाये, उनमें क्या-क्या विषय हैं, इत्यादि बातों की अच्छी प्रकार प्राप्ति करानेवाली है। इसको जो लोग ठीक-ठीक परिश्रम से पढ़ेंगे और विचारेंगे, उनका व्यवहार और परमार्थ का प्रकाश, संसार में मान्य और कामनासिद्धि अवश्य होगी। इस प्रकार जो निर्मल विषयों के विधान का कोश अर्थात् खजाना और सत्यशास्त्रों के प्रमाणों से युक्त जो भूमिका है, इसको मैंने संक्षेप से पूर्ण किया। अब इसके आगे जो उत्तम बुद्धि देनेवाली परमात्मा की भक्ति, उसमें अपनी बुद्धि को दृढ़ करके प्रीति के बढ़ानेवाले मन्त्रभाष्य का प्रमाणपूर्वक विस्तार करता हूं॥ १॥

इस मन्त्रभाष्य में इस प्रकार का क्रम रहेगा कि प्रथम तो मन्त्र में परमेश्वर ने जिस बात का प्रकाश किया है, फिर मूल मन्त्र, उसका पदच्छेद, क्रम से प्रमाण सहित मन्त्र के पदों का अर्थ, अन्वय अर्थात् पदों की सम्बन्धपूर्वक योजना, और छठा भावार्थ अर्थात् मन्त्र का जो मुख्य प्रयोजन है। इस क्रम से मन्त्रभाष्य बनाया जाता है॥ २॥

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्नऽ आ सुव॥

य० ३०। ३॥

इति श्रीमत्परिव्राजकाचार्येण श्रीयुतदयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचिता संस्कृतभाषार्य्यभाषाभ्यां सुभूषिता सुप्रमाणयुक्तर्ग्वेदादिचतुर्वेदभाष्यभूमिका समाप्तिमगमत्॥



अथर्ग्वेदभाष्यारम्भः

विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑ सुव । यद्भ॒द्रं तन्न॒ आ सु॑व ॥ ऋ० ५ । ८२ । ५ ॥

विद्यानन्दं समवति चतुर्वेदसंस्तावना या,
संपूर्येशं निगमनिलयं संप्रणम्याथ कुर्वे ।
वेदत्र्यङ्के विधुयुतसरे मार्गशुक्लेऽङ्गभौमे,[1]
ऋग्वेदस्याखिलगुणगुणिज्ञानदातुर्हि भाष्यम् ॥ १ ॥

ऋग्भिः स्तुवन्ति[2] इत्युक्तत्वाद्विद्वांस उक्तपूर्वं वेदार्थज्ञानसाहित्यपठनपुरःसरमृग्वेदमधीत्य तत्रस्थैर्मन्त्रैरीश्वरमारभ्य भूमिपर्यन्तानां पदार्थानां गुणान् यथावद्विदित्वैतैः[3] कार्य्येषूपकृतये मतिं जनयन्ति । ऋचन्ति स्तुवन्ति पदार्थानां गुणकर्मस्वभावान् अनया सा ऋक्, ऋक् चासौ वेदश्चर्ग्वेदः ।

एतस्मिन् अग्निमीडे[4] इत्यारभ्य यथा वः सुसहासति[5] पर्य्यन्तेऽष्टावष्टकाः सन्ति । तत्रैकैकस्मिन्नष्टावष्टावध्यायाः सन्ति । तेषामेकैकस्य प्रत्यध्यायं वर्गाः संख्यायन्ते—

प्रथमाष्टके		द्वितीयाष्टके		तृतीयाष्टके		चतुर्थाष्टके		पञ्चमाष्टके		षष्ठाष्टके		सप्तमाष्टके		अष्टमाष्टके	
अ०	व०	अ०	व०	अ०	व०	अ०	व०	अ०	व०	अ०	व०	अ०	व०	अ०	व०
१	३७	१	२६	१	३४	१	३३	१	२७	१	४०	१	४१	१	३०
२	३८	२	२७	२	२६	२	२८	२	३०	२	४०	२	३३	२	२४
३	३५	३	२६	३	३१	३	३१	३	३०	३	४९	३	२६	३	२८
४	२९	४	२९	४	२५	४	३६	४	३०	४	५४	४	२८	४	३१
५	३१	५	२९	५	२६	५	३०	५	२७	५	३८	५	३३	५	२७
३	३२	६	३२	६	३०	६	२५	६	२५	६	३८	६	२८	६	२७
७	३७	७	३५	७	२७	७	३५	७	३३	७	३९	७	३०	७	३०
८	२६	८	२७	८	२६	८	३२	८	३६	८	३३	८	२९	८	४९
इ	२६५	यं	२२१	सं	२२५	ख्या	२५०	प्रत्य	२३८	ष्टकं	३३१	वेदि	२४८	तव्या	२४६

सर्वेष्वष्टकेषु सर्वे वर्गाः संयुक्ताः २०२४ चतुर्विंशत्यधिके द्वे सहस्रे सन्ति ।

---

१. अर्थात् १९३४ वैक्रमाब्दस्य मार्गशीर्षमासस्य शुक्लपक्षस्य षष्ठ्यां तिथौ मङ्गलवासरेऽस्य ऋग्वेद-भाष्यस्यारम्भः कृतः । २ तुलना कार्या—ऋग्भिः शंसन्ति । निरु० १३ । ७ ॥ काठक ब्राह्मण ४० । ७ ॥ ग्रन्थकृता स्वर्वेदभाष्यभूमिकायामस्य सकलः पाठ एवं प्रदर्शितः—'ऋग्भिः स्तुवन्ति यजुर्भिर्यजन्ति सामभिर्गायन्ति' इति (द्र०—पूर्वत्र पृष्ठ ३९२) । 'अथर्वभिर्जपन्ति' इत्यपि क्वचिदधिकः पठ्यते ।

३. एतैः–गुणैरित्यर्थः । पूर्वमुद्रितेषु 'एते' अपपाठोऽन्वयाभावात् ।

४. ऋ० १ । १ । १ ॥ ५. ऋ० १० । १९१ । ४ ॥

तथास्मिन्नृग्वेदे दश मण्डलानि सन्ति । तत्र प्रथमे मण्डले चतुर्विंशतिरनुवाका एकनवति शतं सूक्तानि । तत्रैकैकस्मिन् सूक्ते मन्त्राश्च संख्यायन्ते—

सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०
१	९	२५	२१	४९	४	७३	१०	९७	८	१२१	१५	१४५	५	१६९	८
२	९	२६	१०	५०	१३	७४	९	९८	३	१२२	१५	१४६	५	१७०	५
३	१२	२७	१३	५१	१५	७५	५	९९	१	१२३	१३	१४७	५	१७१	६
४	१०	२८	९	५२	१५	७६	५	१००	१९	१२४	१३	१४८	५	१७२	३
५	१०	२९	७	५३	११	७७	५	१०१	११	१२५	७	१४९	५	१७३	१३
६	१०	३०	२२	५४	११	७८	५	१०२	११	१२६	७	१५०	३	१७४	१०
७	१०	३१	१८	५५	८	७९	१२	१०३	८	१२७	११	१५१	९	१७५	६
८	१०	३२	१५	५६	६	८०	१६	१०४	९	१२८	८	१५२	७	१७६	६
९	१०	३३	१५	५७	६	८१	९	१०५	१९	१२९	११	१५३	४	१७७	५
१०	१२	३४	१२	५८	९	८२	६	१०६	७	१३०	१०	१५४	६	१७८	५
११	८	३५	११	५९	७	८३	६	१०७	३	१३१	७	१५५	६	१७९	६
१२	१२	३६	२०	६०	५	८४	२०	१०८	१३	१३२	६	१५६	५	१८०	१०
१३	१२	३७	१५	६१	१६	८५	१२	१०९	८	१३३	७	१५७	६	१८१	९
१४	१२	३८	१५	६२	१३	८६	१०	११०	९	१३४	६	१५८	६	१८२	८
१५	१२	३९	१०	६३	९	८७	६	१११	५	१३५	९	१५९	५	१८३	६
१६	९	४०	८	६४	१५	८८	६	११२	२५	१३६	७	१६०	५	१८४	६
१७	९	४१	९	६५	५	८९	१०	११३	२०	१३७	३	१६१	१४	१८५	११
१८	९	४२	१०	६६	५	९०	९	११४	११	१३८	४	१६२	२२	१८६	११
१९	९	४३	९	६७	५	९१	२३	११५	६	१३९	११	१६३	१३	१८७	११
२०	८	४४	१४	६८	५	९२	१८	११६	२५	१४०	१३	१६४	५२	१८८	११
२१	६	४५	१०	६९	५	९३	१२	११७	२५	१४१	१३	१६५	१५	१८९	८
२२	२१	४६	१५	७०	६	९४	१६	११८	११	१४२	१३	१६६	१५	१९०	८
२३	२४	४७	१०	७१	१०	९५	११	११९	१०	१४३	८	१६७	११	१९१	१६
२४	१५	४८	१६	७२	१०	९६	९	१२०	१२	१४४	७	१६८	१०	—	—

अस्मिन्मण्डले सर्वे मन्त्रा मिलित्वा १९७६ षट्सप्तत्यधिकान्येकोनविंशतिः शतानि सन्तीति वेद्यम् ।

अथ द्वितीयमण्डले चत्वारोऽनुवाकास्त्रयश्चत्वारिंशत् सूक्तानि सन्ति। तत्र प्रतिसूक्तमियं मन्त्रसंख्या ज्ञातव्या—

सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०
१	१६	७	६	१३	१३	१९	९	२५	५	३१	७	३७	६	४३	३
२	१३	८	६	१४	१२	२०	९	२६	४	३२	८	३८	११	—	—
३	११	९	६	१५	१०	२१	६	२७	१७	३३	१५	३९	८		
४	९	१०	६	१६	९	२२	४	२८	११	३४	१५	४०	६		
५	८	११	२१	१७	९	२३	१९	२९	७	३५	१५	४१	२१		
६	८	१२	१५	१८	९	२४	१६	३०	११	३६	६	४२	३		

अस्मिन् मण्डले सर्वे मन्त्रा मिलित्वा ४२९ एकोनत्रिंशदधिकानि चत्वारिशतानि सन्ति।

अथ तृतीयमण्डले पञ्चानुवाका द्विषष्टिश्च सूक्तानि सन्ति। तत्र प्रतिसूक्तमियं मन्त्रसंख्या वेद्या—

सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०
१	२३	९	९	१७	५	२५	५	३३	१३	४१	९	४९	५	५७	६
२	१५	१०	९	१८	५	२६	९	३४	११	४२	९	५०	५	५८	९
३	११	११	९	१९	५	२७	१५	३५	११	४३	८	५१	१२	५९	९
४	११	१२	९	२०	५	२८	६	३६	११	४४	५	५२	८	६०	७
५	११	१३	७	२१	५	२९	१६	३७	११	४५	५	५३	२४	६१	७
६	११	१४	७	२२	५	३०	२२	३८	१०	४६	५	५४	२२	६२	१८
७	११	१५	७	२३	५	३१	२२	३९	९	४७	५	५५	२२	—	—
८	११	१६	६	२४	५	३२	१७	४०	९	४८	५	५६	८		

अस्मिन् मण्डले सर्वे मन्त्रा मिलित्वा ६१७ सप्तदशोत्तरषट्शतानि सन्ति।

अथ चतुर्थमण्डले पञ्चानुवाका अष्टपञ्चाशच्च सूक्तानि सन्ति। तत्र प्रतिसूक्तमियं मन्त्रसंख्या वेद्या—

सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०
१	२०	९	८	१७	२१	२५	८	३३	११	४१	११	४९	६	५७	८
२	२०	१०	८	१८	१३	२६	७	३४	११	४२	१०	५०	११	५८	११
३	१६	११	६	१९	११	२७	५	३५	९	४३	७	५१	११	—	—
४	१५	१२	६	२०	११	२८	५	३६	९	४४	७	५२	७		
५	१५	१३	५	२१	११	२९	५	३७	८	४५	७	५३	७		
६	११	१४	५	२२	११	३०	२४	३८	१०	४६	७	५४	६		
७	११	१५	१०	२३	११	३१	१५	३९	६	४७	४	५५	१०		
८	८	१६	२१	२४	११	३२	२४	४०	५	४८	५	५६	७		

अस्मिन् मण्डले सर्वे मन्त्रा मिलित्वा ५८९ एकोननवति पञ्चशतानि सन्ति।

अथ पञ्चमे मण्डले षडनुवाकाः, सप्ताशीतिः सूक्तानि च सन्ति। तत्र प्रतिसूक्तमियं मन्त्रसंख्यास्तीति वेद्यम्—

सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०
१	१२	१२	६	२३	४	३४	९	४५	११	५६	९	६७	५	७८	९
२	१२	१३	६	२४	४	३५	८	४६	८	५७	८	६८	५	७९	१०
३	१२	१४	६	२५	९	३६	६	४७	७	५८	८	६९	४	८०	६
४	११	१५	५	२६	९	३७	५	४८	५	५९	८	७०	४	८१	५
५	११	१६	५	२७	६	३८	५	४९	५	६०	८	७१	३	८२	९
६	१०	१७	५	२८	६	३९	५	५०	५	६१	१९	७२	३	८३	१०
७	१०	१८	५	२९	१५	४०	९	५१	१५	६२	९	७३	१०	८४	३
८	७	१९	५	३०	१५	४१	२०	५२	१७	६३	७	७४	१०	८५	८
९	७	२०	४	३१	१३	४२	१८	५३	१६	६४	७	७५	९	८६	६
१०	७	२१	४	३२	१२	४३	१७	५४	१५	६५	६	७६	५	८७	९
११	६	२२	४	३३	१०	४४	१५	५५	१०	६६	६	७७	५	—	—

अस्मिन् मण्डले सर्वे मन्त्रा मिलित्वा ७२७ सप्तविंशति सप्तशतानि सन्ति।

अथ षष्ठे मण्डले षडनुवाकाः, पञ्चसप्ततिश्च सूक्तानि सन्ति। तत्र प्रतिसूक्तमियं मन्त्रसंख्या बोध्या—

सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०
१	१३	११	६	२१	१२	३१	५	४१	५	५१	१६	६१	१४	७१	६
२	११	१२	६	२२	११	३२	५	४२	४	५२	१७	६२	११	७२	५
३	८	१३	६	२३	१०	३३	५	४३	४	५३	१०	६३	११	७३	३
४	८	१४	६	२४	१०	३४	५	४४	२४	५४	१०	६४	६	७४	४
५	७	१५	१९	२५	९	३५	५	४५	३३	५५	६	६५	६	७५	१९
६	७	१६	४८	२६	८	३६	५	४६	१४	५६	६	६६	११	—	—
७	७	१७	१५	२७	८	३७	५	४७	३१	५७	६	६७	११		
८	७	१८	१५	२८	८	३८	५	४८	२२	५८	४	६८	११		
९	७	१९	१३	२९	६	३९	५	४९	१५	५९	१०	६९	८		
१०	७	२०	१३	३०	५	४०	५	५०	१५	६०	१५	७०	६		

अस्मिन् मण्डले सर्वे मन्त्रा मिलित्वा ७६५ पञ्चषष्टि सप्तशतानि सन्ति।



अथ सप्तमे मण्डले षडनुवाकाः, चतुःशतं च सूक्तानि सन्ति। तत्र प्रतिसूक्तमियं मन्त्रसंख्यास्तीति वेदितव्यम्—

सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०
१	२५	१४	३	२७	५	४०	७	५३	३	६६	१९	७९	५	९२	५
२	११	१५	१५	२८	५	४१	७	५४	३	६७	१०	८०	३	९३	८
३	१०	१६	१२	२९	५	४२	६	५५	८	६८	९	८१	६	९४	१२
४	१०	१७	७	३०	५	४३	५	५६	२५	६९	८	८२	१०	९५	६
५	९	१८	२५	३१	१२	४४	५	५७	७	७०	७	८३	१०	९६	६
६	७	१९	११	३२	२७	४५	४	५८	६	७१	६	८४	५	९७	१०
७	७	२०	१०	३३	१४	४६	४	५९	१२	७२	५	८५	५	९८	७
८	७	२१	१०	३४	२५	४७	४	६०	१२	७३	५	८६	८	९९	७
९	६	२२	९	३५	१५	४८	४	६१	७	७४	६	८७	७	१००	७
१०	५	२३	६	३६	९	४९	४	६२	६	७५	८	८८	७	१०१	६
११	५	२४	६	३७	८	५०	४	६३	६	७६	७	८९	५	१०२	३
१२	३	२५	६	३८	८	५१	३	६४	५	७७	६	९०	७	१०३	१०
१३	३	२६	५	३९	७	५२	३	६५	५	७८	५	९१	७	१०४	२५

अस्मिन् मण्डले सर्वे मन्त्रा मिलित्वा ८४१ एकचत्वारिंशदष्टौ शतानि सन्ति।

अथाष्टमे मण्डले दशानुवाकाः, त्रिशतं च सूक्तानि सन्ति। तत्र प्रतिसूक्तमियं मन्त्रसंख्या ज्ञेया—

सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०
१	३४	१४	१५	२७	२२	४०	१२	५३	८	६६	१५	७९	९	९२	३३
२	४२	१५	१३	२८	५	४१	१०	५४	८	६७	२१	८०	१०	९३	३४
३	२४	१६	१२	२९	१०	४२	६	५५	५	६८	१९	८१	९	९४	१२
४	२१	१७	१५	३०	४	४३	३३	५६	५	६९	१८	८२	९	९५	९
५	३९	१८	२२	३१	१८	४४	३०	५७	४	७०	१५	८३	९	९६	२१
६	४८	१९	३७	३२	३०	४५	४२	५८	३	७१	१५	८४	९	९७	१५
७	३६	२०	२६[1]	३३	१९	४६	३३	५९	७	७२	१८	८५	९	९८	१२
८	२३	२१	१८	३४	१८	४७	१८	६०	२०	७३	१८	८६	५	९९	८
९	२१	२२	१८	३५	२४	४८	१५	६१	१८	७४	१५	८७	६	१००	१२
१०	६	२३	३०	३६	७	४९	१०	६२	१२	७५	१६	८८	६	१०१	१६
११	१०	२४	३०	३७	७	५०	१०	६३	१२	७६	१२	८९	७	१०२	२२
१२	३३	२५	२४	३८	१०	५१	१०	६४	१२	७७	११	९०	६	१०३	१४
१३	३३	२६	२५	३९	१०	५२	१०	६५	१२	७८	१०	९१	७	—	—

अस्मिन् मण्डले सर्वे मन्त्रा मिलित्वा १७२६[1] षड्विंशति सप्तदशतानि सन्ति।

१. ऋग्वेदे विंशतितमे सूक्ते षड्विंशत्येव मन्त्राः सन्ति। तदनुसारमस्मिन् मण्डले १७१६ षोडशोत्तरसप्तदशशतसंख्याका मन्त्रा ज्ञेया। उपरितनाऽशुद्धि लिपिकरदोषजा, तदनुपायैवं सकलमन्त्रसंख्याप्यशुद्धा अजायत।

अथ नवमे मण्डले सप्तानुवाकाश्चतुर्दशोत्तरं शतं च सूक्तानि सन्ति। तत्र प्रतिसूक्तमियं मन्त्रसंख्या वेद्या—

सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०
१	१०	१५	८	२९	६	४३	६	५७	४	७१	९	८५	१२	९९	८
२	१०	१६	८	३०	६	४४	६	५८	४	७२	९	८६	४८	१००	९
३	१०	१७	८	३१	६	४५	६	५९	४	७३	९	८७	९	१०१	१६
४	१०	१८	७	३२	६	४६	६	६०	४	७४	९	८८	८	१०२	८
५	११	१९	७	३३	६	४७	५	६१	३०	७५	५	८९	७	१०३	६
६	९	२०	७	३४	६	४८	५	६२	३०	७६	५	९०	६	१०४	६
७	९	२१	७	३५	६	४९	५	६३	३०	७७	५	९१	६	१०५	६
८	९	२२	७	३६	६	५०	५	६४	३०	७८	५	९२	६	१०६	१४
९	९	२३	७	३७	६	५१	५	६५	३०	७९	५	९३	५	१०७	२६
१०	९	२४	७	३८	६	५२	५	६६	३०	८०	५	९४	५	१०८	१६
११	९	२५	६	३९	६	५३	४	६७	३२	८१	५	९५	५	१०९	२२
१२	९	२६	६	४०	६	५४	४	६८	१०	८२	५	९६	२४	११०	१२
१३	९	२७	६	४१	६	५५	४	६९	१०	८३	५	९७	५८	१११	३
१४	८	२८	६	४२	६	५६	४	७०	१०	८४	५	९८	१२	११२	४
														११३	११
														११४	४

अस्मिन् मण्डले सर्वे मन्त्रा मिलित्वा १०९७[1] सप्तनवत्येकसहस्रं सन्ति।

---

१. अत्र प्रतिसूक्तमन्त्रसंख्यायोगः ११०८ अष्टाधिकैकादशशतमितो ज्ञेयः। अत्र योगकरणावसरे कस्यचित् सूक्तस्य एकादशसंख्या प्रमादान्न संख्याता।

अथ दशमे मण्डले द्वादशानुवाका एकनवतिशतं च सूक्तानि सन्ति। तत्र प्रतिसूक्तमियं मन्त्रसंख्या ज्ञेया—

सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०	सू०	मं०
१	७	२५	११	४९	११	७३	११	९७	२३	१२१	१०	१४५	६	१६९	४
२	७	२६	९	५०	७	७४	६	९८	१२	१२२	८	१४६	६	१७०	४
३	७	२७	२४	५१	९	७५	९	९९	१२	१२३	८	१४७	५	१७१	४
४	७	२८	१२	५२	६	७६	८	१००	१२	१२४	९	१४८	५	१७२	४
५	७	२९	८	५३	११	७७	८	१०१	१२	१२५	८	१४९	५	१७३	६
६	७	३०	१५	५४	६	७८	८	१०२	१२	१२६	८	१५०	५	१७४	५
७	७	३१	११	५५	८	७९	७	१०३	१३	१२७	८	१५१	५	१७५	४
८	९	३२	९	५६	७	८०	७	१०४	११	१२८	९	१५२	५	१७६	४
९	९	३३	९	५७	६	८१	७	१०५	११	१२९	७	१५३	५	१७७	३
१०	१४	३४	१४	५८	१२	८२	७	१०६	११	१३०	७	१५४	५	१७८	३
११	९	३५	१४	५९	१०	८३	७	१०७	११	१३१	७	१५५	५	१७९	३
१२	९	३६	१४	६०	१२	८४	७	१०८	११	१३२	७	१५६	५	१८०	३
१३	५	३७	१२	६१	२७	८५	४७	१०९	७	१३३	७	१५७	५	१८१	३
१४	१६	३८	५	६२	११	८६	२३	११०	११	१३४	७	१५८	५	१८२	३
१५	१४	३९	१४	६३	१७	८७	२५	१११	१०	१३५	७	१५९	६	१८३	३
१६	१४	४०	१४	६४	१७	८८	१९	११२	१०	१३६	७	१६०	५	१८४	३
१७	१४	४१	३	६५	१५	८९	१८	११३	१०	१३७	७	१६१	५	१८५	३
१८	१४	४२	११	६६	१५	९०	१६	११४	१०	१३८	६	१६२	६	१८६	३
१९	८	४३	११	६७	१२	९१	१५	११५	९	१३९	६	१६३	६	१८७	५
२०	१०	४४	११	६८	१२	९२	१५	११६	९	१४०	६	१६४	५	१८८	३
२१	८	४५	१२	६९	१२	९३	१५	११७	९	१४१	६	१६५	५	१८९	३
२२	१५	४६	१०	७०	११	९४	१४	११८	९	१४२	८	१६६	५	१९०	५
२३	७	४७	८	७१	११	९५	१८	११९	१३	१४३	६	१६७	४	१९१	४
२४	६	४८	११	७२	९	९६	१३	१२०	९	१४४	६	१६८	४	—	—

अस्मिन् मण्डले सर्वे मन्त्रा मिलित्वा १७५४ चतुःपञ्चाशत् सप्तदशशतानि सन्ति।

अस्य ऋग्वेदस्य दशसु मण्डलेषु ८५ पञ्चाशीतिरनुवाकाः, १०२८ अष्टाविंशतिसहस्र[1] सूक्तानि, १०५८९[2] दशसहस्राणि पञ्चशतानि एकोननवतिश्च मन्त्राः सन्तीति वेद्यम्। स एतैः पूर्वोक्ताष्टकाध्यायवर्गमण्डलानुवाकसूक्तमन्त्रैर्भूषितोऽयमृग्वेदोऽस्तीति वेदितव्यम्॥

१. वै० य० मुद्रितेषु १-२-३ संस्करणेषु '१०१८ अष्टादशसहस्रं सूक्तानि' अपपाठ उपलभ्यते। अयं शुद्धः पाठश्चतुर्थसंस्करणे विहितः। भाषायां त्वारम्भादेव साध्वी संख्योपलभ्यते।

२. अत्र भाष्ये यथा प्रतिमण्डलमुद्रिताः संख्या उपलभ्यन्ते, तासां योगः १९७६ + ४२९ + ६१७ + ५८९ + ७२७ + ७६५ + ८४१ + १७२६ + १०९७ + १७५४ = १०५२१ संख्या सम्पद्यते। सर्वासां संख्यानां १०५२१ योगस्यास्पष्टाङ्केषु लेखने सति २ अङ्कस्य ८ अङ्कप्रतीतिः, १ अङ्कस्य च ९ अङ्कप्रतीतिश्च सुकरा सम्पद्यते। अतोऽत्र १०५२१ अङ्कानामेव पाठभ्रान्त्या १०५८९ संख्या समपद्यत। सैव चाक्षरेष्वप्युपन्यस्ता। अष्टमनवम-

भाषार्थ—आगे मैं सब प्रकार से विद्या के आनन्द को देनेवाली चारों वेद की भूमिका को समाप्त, और जगदीश्वर को अच्छी प्रकार प्रणाम करके संवत् १९३४ मार्ग० शुक्ल ६ भौमवार के दिन सम्पूर्ण ज्ञान के देनेवाले ऋग्वेद के भाष्य का आरम्भ करता हूं ॥१॥

(**ऋग्भिः०**)—इस ऋग्वेद से सब पदार्थों की स्तुति होती है, अर्थात् ईश्वर ने जिसमें सब पदार्थों के गुणों का प्रकाश किया है। इसलिये विद्वान् लोगों को चाहिये कि ऋग्वेद को प्रथम पढ़के उन मन्त्रों से ईश्वर से लेके पृथिवी-पर्य्यन्त सब पदार्थों को यथावत् जानके संसार में उपकार के लिये प्रयत्न करें। 'ऋग्वेद' शब्द का अर्थ यह है कि जिससे सब पदार्थों के गुणों और स्वभावों का वर्णन किया जाय वह 'ऋक्'। और 'वेद' अर्थात् जो यह सत्य ज्ञान का हेतु है। इन दो शब्दों से 'ऋग्वेद' शब्द बनता है।

'**अग्निमीळे**'[1] यहां से लेके '**यथा वः सुसहासति**'[2] इस अन्त के मन्त्र-पर्यन्त ऋग्वेद में आठ अष्टक, और एक-एक अष्टक में आठ-आठ अध्याय हैं। सब अध्याय मिलके चौंसठ होते हैं। एक-एक अध्याय की वर्गसंख्या कोष्ठों में पूर्व लिख दी है। और आठों अष्टक के सब वर्ग २०२४ दो हजार चौबीस होते हैं।

तथा इसमें दश मण्डल हैं। एक-एक मण्डल में जितने-जितने सूक्त और मन्त्र हैं, सो ऊपर कोष्ठों में लिख दिये हैं। **प्रथम मण्डल** में २४ चौबीस अनुवाक, और १९१ एकसौ इक्यानवे सूक्त, तथा १९७६ एक हजार नौ सौ छहत्तर मन्त्र। **दूसरे** में ४ चार अनुवाक, ४३ तितालीस सूक्त, और ४२९ चारसौ उन्तीस मन्त्र। **तीसरे** में ५ पांच अनुवाक, ६२ बासठ सूक्त, और ६१७ छःसौ सत्रह मन्त्र। **चौथे** में ५ पांच अनुवाक, ५८ अट्ठावन सूक्त, ५८९ पांचसौ नवासी मन्त्र। **पांचमे** में ६ छः अनुवाक, ८७ सत्तासी सूक्त, ७२७ सात सौ सत्ताईस मन्त्र। **छठे** में ६ छः अनुवाक, ७५ पचहत्तर सूक्त, ७६५ सातसौ पैंसठ मन्त्र। **सातमे** में ६ छः अनुवाक, १०४ एकसौ चार सूक्त, ८४१ आठसौ इकतालीस मन्त्र। **आठमे** में १० दश अनुवाक, १०३ एकसौ तीन सूक्त, और १७२६ एक हजार सातसौ छब्बीस[3] मन्त्र। **नवमे** में ७ सात अनुवाक, ११४ एकसौ चौदह सूक्त, और १०९७ एक हजार सत्तानवे मन्त्र[4]। और **दशम** मण्डल में १२ बारह अनुवाक, १९१ एकसौ इक्कानवे सूक्त, और १७५४ एक हजार सातसौ चौअन मन्त्र हैं।

मण्डलयोर्यथा संख्याशोधनं प्रदर्शितं, तदनुसारमत्र १०५२२ शुद्धा मन्त्रसंख्या ज्ञेया।

ऋग्वेदे कति ऋचः सन्तीत्यत्र विदुषां प्रायेण वैमत्यं वर्तते। ऋग्गणनायां कः कुत्र भ्रान्त इत्यस्य सप्रमाणं विस्तृता मीमांसाऽस्माभिः 'ऋग्वेदस्य ऋक्संख्यामीमांसा' नाम्नि निबन्धे विहिता। अयं निबन्धोऽस्यैव भागस्यान्ते परिशिष्टे मुद्र्यते। तत्र ऋग्गणनाप्रकारभेदेन यो गणनाभेद उपपद्यते, सोऽपि विस्तरेण निरूपितः।

१. ऋ० १।१।१॥ २ ऋ० १०।१९१।४॥

३. इस मण्डल की सूक्तस्थ मन्त्रसंख्या-निदर्शक कोष्ठक में २०वें सूक्त में ३६ मन्त्र लिखे हैं, जब कि वेद में २६ मन्त्र हैं। अतः इस मण्डल की शुद्ध मन्त्रसंख्या १७१६ एक हजार सातसौ सोलह जाननी चाहिये।

४. इस मण्डल की प्रतिसूक्त लिखी संख्या का योग ११०८ एक हजार एकसौ आठ होता है। प्रतीत होता है कि योग करते समय किसी सूक्त की ११ मन्त्रसंख्या दृष्टिदोष से छूट गई।

तथा दशों मण्डलों में ८५ पचासी अनुवाक, १०२८ एक हजार अट्ठाईस सूक्त, और १०५८९ दश हजार पांचसौ नवासी[1] मन्त्र हैं। [2]सब सज्जनों को उचित है, इस बात को ध्यान में करल, कि जिससे किसी प्रकार की गड़बड़ न हो।

---

१. प्रतिमण्डल लिखी हुई मन्त्रसंख्या का योग १९७६+४२९+६१७+५८९+७२७+७६५+८४१+१७२६+१०९७+१७५४=१०५२१ होता है। यदि अष्टम और नवम मण्डल की मन्त्रसंख्या में दर्शाई हुई पूर्वोक्त अशुद्धियां ठीक कर ली जायें, तो सर्वयोग १०५२२ होगा। ऋग्वेद में १४० नैमित्तिक द्विपदायें हैं। यहां उनमें से प्रथम मण्डल सूक्त ६५-७० तक की ६० नैमित्तिक द्विपदायें चतुष्पदा बनाकर ३० गिनी गई हैं, शेष ८० द्विपदायें द्विपदारूप में ही गिनी हैं (इस प्रकार की असङ्गत गिनती का कारण मैक्समूलर का भ्रष्ट ऋक्संस्करण है)। अतः यदि प्रथम मण्डलस्थ नैमित्तिक द्विपदायें भी द्विपदारूप से गिनी जावें, तो समस्त मन्त्रसंख्या १०५५२ होगी।

यहां जो १०५८९ सर्वयोग लिखा है, वह लेखक-प्रमादजन्य प्रतीत होता है। क्योंकि सम्पूर्ण योग की अस्पष्ट अङ्कों में लिखी हुई १०५२१ संख्या के २ को ८ और १ को ९ पढ़ना साधारण बात है। अतः बहुत सम्भव है १०५२१ को ही प्रतिलिपि करनेवाले लेखक ने १०५८९ पढ़ लिया हो। और उसीके आधार पर अक्षरों में भी वही संख्या लिख दी गई हो। हमने 'ऋग्वेद की ऋक्संख्या' नामक निबन्ध में इस विषय को अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है। यह निबन्ध इस भाग के अन्त में परिशिष्ट में छप रहा है। पाठक विशेष वहां देखें।

२. यह वाक्य संस्कृत-भाष्य में नहीं है, केवल भाषार्थ में उपलब्ध होता है।

अस्य वेद-भाष्यस्य अपूर्वत्वे चत्वारो हेतवः

इदं वेदभाष्यमपूर्वं भवति । कुतः ?

(१) महाविदुषामार्य्याणां पूर्वजानां यथावद् वेदार्थविदामाप्तानामात्मकामानां धर्मात्मनां सर्वलोकोपकारबुद्धीनां श्रोत्रियाणां ब्रह्मनिष्ठानां परमयोगिनां ब्रह्मादि-व्यासपर्यन्तानां मुन्यृषीणामेषां कृतीनां सनातनानां वेदाङ्गानाम्, ऐतरेयशतपथसाम-गोपथब्राह्मणपूर्वमीमांसादिशास्त्रोपवेदोपनिषच्छाखान्तरमूलवेदादिसत्यशास्त्राणां वचन-प्रमाणसंग्रहलेखयोजनेन प्रत्यक्षादिप्रमाणयुक्त्या च सहैव रच्यते ह्यतः ।

(२) वेदानां यः सत्यार्थः सोऽनेन भाष्येण सर्वेषां सज्जनानां मनुष्याणामात्मसु सम्यक् प्रकाशीभविष्यति । पुनरनर्थव्याख्यानानि यानि वेदनामुपरि वर्तन्ते तन्नि-वृत्तिरनेन च तत्प्रयुक्तभ्रमजालोऽपि लयं गमिष्यत्यवश्यमतश्च ।

(३) ततोऽसत्यव्यवहारत्यागात् सत्याचारग्रहणप्रवृत्तिभ्यां मनुष्याणां महान् सुखलाभो निश्चितो भविष्यति, वेदेश्वरयोः सत्यसाम्राज्यप्रकाशश्चातः ।

(४) सत्यधर्मार्थकाममोक्षाणां यथावत् सिद्धेश्चेत्यादयोऽस्य भाष्यस्यापूर्वत्वे हेतवो विज्ञेयाः ।

एतदर्थं सत्यविद्याप्रियैर्विद्वद्भिः सत्यार्थजिज्ञासुभिर्मनुष्योपकारसत्यविद्योन्नति-चिकीर्षुभी राजादिनृवर्य्यैरस्मिन् महति सर्वोपकारके कार्ये मासिक-पुस्तक-ग्रहणेन अन्यप्रकारेण च सर्वैर्यथाशक्त्या सहायः कार्य इति विज्ञाप्यते ।‡

स्वामी दयानन्द सरस्वती

‡ भाष्यकर्त्रा स्वभाष्यस्य वैशिष्ट्य-निदर्शनाय १९३३ वैक्रमाब्दे प्रकाशिते विज्ञापनेऽयमंशो वर्तते । द्र०—ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ ३४, द्वितीय संस्करण ।

ओ३म्

अथ ऋग्वेद-भाष्यम्

अथ प्रथमं मण्डलम्

अथादिमस्य नवर्चस्य सूक्तस्य मधुच्छन्दा ऋषिः। अग्निर्देवता। गायत्री[1] छन्दः।
षड्जः स्वरः॥

तत्राद्ये मन्त्रेऽग्निशब्देनेश्वरेणात्मभौतिकावर्थावुपदिश्येते—

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥ १॥

अग्निम्। ईळे। पुरःऽहितम्। यज्ञस्य। देवम्। ऋत्विजम्॥ होतारम्। रत्नऽधातमम्॥ १॥

पदार्थः—**(अग्निम्) परमेश्वरं भौतिकं वा।** इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गुरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ ऋ० १। १६४। ४६। अनेनैकस्य सतः परब्रह्मण इन्द्रादीनि बहुधा नामानि सन्तीति वेदितव्यम्। तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥ य० ३१। १। **यत्सच्चिदानन्दादिलक्षणं ब्रह्म तदेवाग्न्यादिनामवाच्यमिति बोध्यम्।** ब्रह्म ह्यग्निः। श० १। ४। २। ११॥[2] आत्मा वा अग्निः। श० ७। २। ३। २॥[3] **अत्राग्निर्ब्रह्मात्मनोर्वाचकोऽस्ति।** अयं वा अग्निः प्रजाश्च प्रजापतिश्च। श० ९।१।२।४२॥[4] **अत्र प्रजाशब्देन भौतिकः प्रजापतिशब्देनेश्वरश्चाग्निर्ग्राह्यः।** अग्निर्वै देवानां व्रतपतिः। एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम्। श० १। १। १। २, ५॥[4] **सत्याचारनियमपालनं व्रतं तत्पतिरीश्वरः।** त्रिभिः पवित्रैरपुपोद्ध्यर्कं हृदा मतिं ज्योतिरनु प्रजानन्। वर्षिष्ठं रत्नमकृत स्वधाभिरादिद् द्यावापृथिवी पर्यपश्यत्॥ ऋ० ३। २६। ८॥ **अत्राग्निशब्दस्यानुवृत्तेः प्रजानन्निति ज्ञानवत्त्वात् पर्यपश्यदिति सर्वज्ञत्वादीश्वरो ग्राह्यः।**

---

१. ग्रन्थकृता स्वभाष्ये छन्दोनिर्देशे प्रायेणावान्तरछन्दांसि निदर्शितानि। अतस्तच्छैलीमनुरुध्य यत्र सामान्येन छन्दोनिर्देश उपलभ्यते, तत्रावान्तरछन्दसां निर्देशः करिष्यते। इह प्रतिमन्त्रमक्षरगणनयाऽवान्तरविभागानुसारम्—१,३,४,५,७ गायत्री; २ पिपीलिकामध्या निचृद् गायत्री; ६ निचृद् गायत्री; ८ यवमध्या विराड् गायत्री; ९ विराड् गायत्री। २. प्रपाठकानुसारी निर्देशः, अध्यायानुसारं तु १।५।१।११ संख्या ज्ञेया।

३. प्रपाठकानुसारी निर्देशः। अध्यायानुसारं तु ७।३।१।२ संख्या ज्ञेया। वै० य० मुद्रितेषु काण्डसंख्या १ निर्दिश्यते, साऽशुद्धा ज्ञेया। ४. उभयथा निर्देशोऽपीयमेव संख्या ज्ञेया।

यास्कमुनिरत्रोभयार्थकरणायाग्निशब्दपुरःसरमेतन्मन्त्रमेवं व्याचष्टे—अग्निः कस्माद् 'अग्रणीर्भवत्यग्रं यज्ञेषु प्रणीयतेऽङ्गं नयति सन्नममानोऽक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविर्न क्नोपयति न स्नेहयति त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिरितादक्ताद्दग्धाद्वा नीतात्स खल्वेतेरकारमादत्ते गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा नीःपरस्तस्यैषा भवतीति—अग्निमीळे० अग्निं याचामीळिरध्येषणाकर्मा पूजाकर्मा वा। देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा, यो देवः सा देवता। होतारं ह्वातारं जुहोतेर्होतेत्यौर्णवाभो रत्नधातमं रमणीयानां धनानां दातृतमम्। निरु० ७। १४-१५॥

अग्रणीः सर्वोत्तमः सर्वेषु यज्ञेषु पूर्वमीश्वरस्यैव[1] प्रतिपादनात्तस्यात्र ग्रहणम्। वाधाविति विशेषणाद्भौतिकस्यापि च।

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि। रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्॥ १॥ एतमेके वदन्त्यग्निं[3] मनुमन्ये प्रजापतिम्। इन्द्रमेकेऽपरे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥ २॥ मनु० अ० १२। श्लोक १२२,१२३॥ अत्राप्यग्न्यादीनि **परमेश्वरस्य नामानि सन्तीति। ईळे अग्निं** विपश्चितं गिरा यज्ञस्य साधनम्। श्रुष्टीवानं धितावानम्॥ ऋ० ३। २७। २॥ विपश्चितमीळे **इति विशेषणादग्निशब्देनात्रेश्वरो गृह्यते, अनन्तविद्यावत्त्वाच्चेतनस्वरूपत्वाच्च।**

अथ केवलं भौतिकार्थग्रहणाय प्रमाणानि—यदश्वं तं पुरस्तादुदश्रयंस्तस्याभयेऽनाष्ट्रे निवातेऽग्निरजायत, तस्माद्यत्राग्निं मन्थिष्यन्त्स्यात्तदश्वमानेतवै ब्रूयात्। स पूर्वेणोपतिष्ठते वज्रमेवैतदुच्छ्रयन्ति तस्याभयेऽनाष्ट्रे निवातेऽग्निर्जायते। श० २। १। ४। १६॥[4] **वृषो अग्निः। अश्वो ह** वा एष भूत्वा **देवेभ्यो** यज्ञं वहति। श० १।३।३।२९-३०॥[5] अग्निर्वा अश्वः। शत० ३।६।२।५॥[6] [[7]आशुगमनहेतुत्वादश्वोऽग्निर्विज्ञेयः। अयमेवाग्निर्वज्रः सर्वपदार्थोच्छेदकत्वाच्चाश्ववद्विमानादियानानां शीघ्रं गमयितेति विज्ञायते।] **वृषवद्यानानां वोढृत्वाद् वृषोऽग्निः। तथाऽयमग्निराशुगमयितृत्वेनाश्वो भूत्वा कलायन्त्रैः प्रेरितः सन् देवेभ्यो विद्वद्भ्यः शिल्पविद्याविद्भ्यो मनुष्येभ्यो विमानादियानसाधनसंगतं यानं वहति प्रापयतीति।** तूर्णिर्हव्यवाडिति। श० १।३।४।१२॥[8] **अयमग्निर्हव्यानां यानानां प्रापकत्वेन शीघ्रतया गमकत्वाद्धव्यवाट् तूर्णिश्चेति।** अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य। श० १। ४। ३। ११॥[9] **इत्याद्यनेकप्रमाणैरश्वनाम्ना भौतिकोऽग्निर्वात्र गृह्यते, आशुगमनहेतुत्वादश्वोऽग्निर्विज्ञेयः।** वृषो अग्निः समिध्यतेऽश्वो न देववाहनः। तं हविष्मन्त ईळते॥ ऋ० ३।२७।१४॥

---

१. तथा च ऋङ्मन्त्रः—'अग्निं देवासो अग्रियम्'। ऋ० ६। १६। ४८॥

२. शङ्कराचार्योऽपि अग्रणीनिर्वचनेन परमात्मैव संकेत्यत इति मनुते। तथा ह्याह—'अग्निशब्दोऽप्यग्रणीत्वादियोगाश्रयेण परमात्मविषय एव भविष्यति'। वेदान्तभाष्य १।२।२८॥

३. 'सत्यार्थप्रकाश' आदि में 'एतमग्निं वदन्त्येके' पाठ मिलता है। द्र०—स०प्र०, पृष्ठ १४, टि० २ (रा०ला०क०ट्र०सं०)।

४. उभयथा समानो निर्देशः। ५. अध्यायानुसारी १।४।१।२९, ३० निर्देशः।

६. क ख कोशयोरुपलभ्यते। प्रमादात् नष्टं स्यात्।

७. प्रथमप्रमाणस्यायमर्थो वेदभाष्यस्य निदर्शनाङ्काद् उद्धृतः। भाषार्थोऽस्योपलभ्यते।

८. अध्यायानुसारी १।४।२।१२ निर्देशः। ९. अध्यायानुसारी १।५।२।११ निर्देशः।

यदा शिल्पिभिरयमग्निर्यन्त्रकलाभिर्यानेषु प्रदीप्यते, तदा देववाहनो देवान् यानस्थान् विदुषः शीघ्रं देशान्तरेऽश्व इव वृष इव च प्रापयति। तं हविष्मन्तो मनुष्या वेगादिगुणवन्तमश्वमग्निमीडते कार्य्यार्थमधीच्छन्तीति वेद्यम्।

(ईळे) स्तुवे याचे अधीच्छामि प्रेरयामि वा (पुरोहितम्) पुरस्तात् सर्वं जगद्दधाति छेदनधारणाकर्षणादिगुणांश्चापि तम्। पुरोहितः पुर एनं दधति होत्राय वृतः कृपायमाणोऽन्वध्यायत्। निरु० २। १२। (यज्ञस्य) इज्यतेऽसौ यज्ञस्तस्य महिम्नः कर्मणो विदुषां सत्कारस्य संगतस्य सत्संगत्योत्पन्नस्य विद्याविदानस्य शिल्पक्रियोत्पाद्यस्य वा। यज्ञः कस्मात् प्रख्यातं यजति कर्मेति नैरुक्ता, याच्ञो भवतीति वा यजुरुन्नो भवतीति वा बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवो यजूंष्येनं नयन्तीति वा। निरु० ३। १९। (देवम्) दातारं हर्षकरं विजेतारं द्योतकं वा (ऋत्विजम्) य ऋतौ ऋतौ प्रत्युत्पत्तिकालं संसारं संगतं यजति करोति, तथा च शिल्पसाधनानि संगमयति सर्वेषु ऋतुषु यजनीयस्तम्। ऋत्विग्दधृग्०। अ० ३। २। ५९ अनेन कर्त्तरि निपातनम्, तथा कृतो बहुलम्[1] इति कर्मणि वा। (होतारम्) दातारमादातारं वा (रत्नधातमम्) रमणीयानि पृथिव्यादीनि सुवर्णादीनि च रत्नानि दधाति धापयतीति रत्नधा, अतिशयेन रत्नधा इति रत्नधातमस्तम्॥१॥

अन्वयः—अहं यज्ञस्य पुरोहितमृत्विजं होतारं रत्नधातमं देवमग्निमीळे॥१॥

अत्र श्लेषालङ्कारेणोभयार्थग्रहणमस्तीति बोध्यम्।

भावार्थः—इतोऽग्रे यत्र यत्र मन्त्रभूमिकायामुपदिश्यत इति क्रियापदं प्रयुज्यतेऽस्य सर्वत्र कर्त्तेश्वर एव बोध्यः। कुतः, वेदानां तेनैवोक्तत्वात्। पितृवत्कृपायमाण ईश्वर सर्वविद्याप्राप्तये सर्वजनहितार्थं वेदोपदेशं चकार। यथा पिताऽध्यापको वा स्वपुत्रं शिष्यं च प्रति त्वमेवं वदैवं कुरु सत्यं वद पितरमाचार्य्यं च सेवस्वानृतं मा कुर्वित्युपदिशति, तथैवात्र बोध्यम्[2]। वेदश्च सर्वजीवकल्याणार्थमाविर्भूतः। वेदोपदेशस्य परोपकारार्थत्वात्। [3]एवमर्थोऽत्रोत्तमपुरुषप्रयोगः।

अत्राग्निशब्देन परमार्थव्यवहारविद्यासिद्धये परमेश्वरभौतिकौ द्वावर्थौ गृह्येते[4]। पुरा आर्य्यैर्याऽश्वविद्यानाम्ना शीघ्रगमनहेतुः शिल्पविद्या संपादितेति श्रूयते, साग्निविद्यैवासीत्। परमेश्वरस्य स्वयंप्रकाशत्वसर्वप्रकाशकत्वाभ्यामनन्तज्ञानवत्त्वात् भौतिकस्य रूपदाहप्रकाशवेगछेदनादिगुणवत्त्वाच्छिल्पविद्यायां मुख्यहेतुत्वाच्च [अग्निशब्दस्य] प्रथमं ग्रहणं[5] कृतमस्तीति वेदितव्यम्॥१॥

---

१. अ० ३। ३। ११३॥

२. अर्थात् परमेश्वर उपदिशति यद्—हे जीव त्वं 'अग्निमीळे' इत्येवं प्रार्थयस्व।

३. अयं पाठो वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'आविर्भूतः' इत्यस्मादनन्तरमस्थाने पठ्यते, भावार्थे तु योग्ये स्थाने व्याख्यायते।

४. श्लेषालङ्कारेणेति शेषः। अत्र भूमिकाया निर्देशोऽपि (पूर्व पृष्ठ ३६०) द्रष्टव्यः।

५. ऋग्वेदभाष्यस्य निदर्शनरूपो योऽङ्को ग्रन्थकृता प्रकाशितस्तत्रैवं लेख उपलभ्यते—'व्यवहारविद्यायाम'-ग्नेर्मुख्यकारणत्वात् प्रथमं ग्रहणं कृतम्। ततः तदनुषङ्गित्वाद् वायोर्द्वितीयसूक्ते ग्रहणं च। वायुरेवाग्नेर्वर्धकोऽस्ति, इत्यतोऽग्निविद्या प्रथमे द्वितीये च वर्गे उक्ता, तस्या अपि वायुः कारणम्। द्र०—ऋग्वेदभाष्यभूमिकापरिशिष्टे, पृष्ठ १९। अत्र भूमिकायां (पृष्ठ ३९८) निर्दिष्टं प्रश्नोत्तरमप्यनुसंधेयम्।

यहां प्रथम मन्त्र में अग्नि शब्द करके ईश्वर ने अपना और भौतिक अर्थ का उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—'हम लोग (यज्ञस्य) विद्वानों के सत्कार संगम महिमा और कर्म के (होतारम्) देने तथा ग्रहण करनेवाले, (पुरोहितम्) उत्पत्ति के समय से पहिले परमाणु आदि सृष्टि के [मूल कारण को] धारण करने, और (ऋत्विजम्) वारवार उत्पत्ति के समय में स्थूल सृष्टि के रचनेवाले, तथा ऋतु-ऋतु में उपासना करने योग्य, और (रत्नधातमम्) निश्चय करके मनोहर पृथिवी वा सुवर्ण आदि रत्नों के धारण करने, वा (देवम्) देने तथा सब पदार्थों के प्रकाश करनेवाले परमेश्वर की (ईळे) स्तुति करते हैं।

तथा उपकार के लिये 'हम लोग (यज्ञस्य) विद्यादि दान और शिल्पक्रियाओं से उत्पन्न करने योग्य पदार्थों के (होतारम्) देनेहारे, तथा (पुरोहितम्) उन पदार्थों के उत्पन्न करने के समय से पूर्व भी छेदन धारण और आकर्षण आदि गुणों के धारण करनेवाले, (ऋत्विजम्) शिल्पविद्या साधनों के हेतु, (रत्नधातमम) अच्छे-अच्छे सुवर्ण आदि रत्नों के धारण कराने, तथा (देवम्) युद्धादिकों में कलायुक्त शस्त्रों से विजय करानेहारे भौतिक अग्नि की (ईळे) वारंवार इच्छा करते हैं [अथवा यान आदि में प्रेरित करते हैं]।

यहां अग्नि शब्द के दो अर्थ करने में प्रमाण[2] ये हैं कि—(इन्द्रं मित्रं०) इस ऋग्वेद के मन्त्र से यह जाना जाता है कि एक सद् ब्रह्म के इन्द्र आदि अनेक नाम हैं। तथा (तदेवाग्नि०) इस यजुर्वेद के मन्त्र से भी अग्नि आदि नामों करके सच्चिदानन्दादि लक्षणवाले ब्रह्म को जानना चाहिये। (ब्रह्म ह्य०) इत्यादि शतपथ ब्राह्मण के प्रमाणों से 'अग्नि' शब्द ब्रह्म और आत्मा इन दो अर्थों का वाची है। (अयं वा०) इस प्रमाण में 'अग्नि' शब्द से प्रजा शब्द करके भौतिक और प्रजापति शब्द से ईश्वर का ग्रहण होता है (अग्निः) इस प्रमाण से सत्याचरण के नियमों का जो यथावत् पालन करना है, सो ही 'व्रत' कहाता है, और इस व्रत का पति परमेश्वर है। (त्रिभिः पवित्रैः०) इस ऋग्वेद के [मन्त्र में अग्नि की अनुवृत्ति है, इस] प्रमाण से ज्ञानवाले[3] तथा सर्वज्ञ [3]प्रकाश करने-वाले विशेषण से 'अग्नि' शब्द करके ईश्वर का ग्रहण होता है।

निरुक्तकार यास्कमुनिजी ने भी ईश्वर और भौतिक पक्षों को अग्नि शब्द की भिन्न-भिन्न व्याख्या करके सिद्ध किया है। सो संस्कृत में यथावत् देख लेना चाहिये। परन्तु सुगमता के लिये कुछ सक्षेप से यहां भी कहते हैं—यास्कमुनिजी ने स्थौलाष्ठीवि ऋषि के मत से अग्नि शब्द का **अग्रणी**=सबसे उत्तम अर्थ किया है। अर्थात् जिसका सब यज्ञों में पहिले प्रतिपादन होता है, वह

१. संस्कृत अन्वय में 'ईळे' क्रियानुसार 'अहम्'=का प्रयोग है। मन्त्रों में लिङ्ग विभक्ति और वचन अतन्त्र=अप्रधान होते हैं (द्र०—पूर्व पृष्ठ ४०६ टि० १)। अतः बहुवचन में भी अर्थ युक्त है। अथवा 'मैं' के अर्थ में ही यहां 'हम' का प्रयोग जानना चाहिये।

२. आगे भावार्थ में जितने प्रमाणों का संकेत किया है, उनका पूरा पाठ और पते संस्कृत भाग में देखें।

३. मन्त्र में पठित 'प्रजानन्' पद से 'ज्ञानवत्व' और 'पर्यपश्यत्' क्रिया से 'सर्वप्रकाशकत्व' एवं 'सर्वज्ञत्व' की प्रतीति होती है।

सबसे उत्तम [ईश्वर] ही है। इस कारण अग्नि शब्द से ईश्वर[1] तथा ['दग्धात्' से] दाहगुणवाला भौतिक अग्नि इन दो ही अर्थों का ग्रहण होता है।

(प्रशासितारं०; एतमे०) मनुजी के इन दो श्लोकों में भी परमेश्वर के अग्नि आदि नाम प्रसिद्ध हैं। (ईळे०) इस ऋग्वेद के प्रमाण [में 'विपश्चित्' विशेषण] से भी उस अनन्त विद्या-वाले और चेतनस्वरूप आदि गुणों से युक्त परमेश्वर का ग्रहण होता है।

अब भौतिक अर्थ के ग्रहण करने में प्रमाण दिखलाते हैं—(यदश्वं०) इत्यादि शतपथ ब्राह्मण के प्रमाणों से अग्नि शब्द करके भौतिक अग्नि का ग्रहण होता है। यह अग्नि बैल के समान सब [यानों को] देशदेशान्तरों में पहुंचानेवाला होने के कारण 'वृष' और [शीघ्रगामी होने से] 'अश्व' भी कहाता है। क्योंकि वह कलायन्त्रों के द्वारा प्रेरित होकर देवों=शिल्पविद्या के जाननेवाले विद्वान् लोगों के विमान आदि यानों को वेग से दूर-दूर देशों में पहुंचाता है। (तूर्णि०) इस प्रमाण से भी भौतिक अग्नि का ग्रहण है। क्योंकि वह उक्त [विमानादि यानों को] शीघ्रता से [पहुंचानेवाला होने से] 'हव्यवाट्' और 'तूर्णि' भी कहाता है। (अग्निर्वै यो०) [अग्नि ही यज्ञ की योनि है]। इत्यादिक और भी अनेक प्रमाणों से [शीघ्रगमन का हेतु होने से] अश्व नाम करके भौतिक अग्नि का ग्रहण किया गया है। (वृषो०) जबकि इस भौतिक अग्नि को शिल्प-विद्यावाले विद्वान् लोग यन्त्रकलाओं से सवारियों में प्रदीप्त करके युक्त करते हैं, तब (देव-वाहनः) उन सवारियों में बैठे हुए विद्वान् लोगों को देशान्तर में बैलों वा घोड़ों के समान शीघ्र पहुंचानेवाला होता है।[3] उस वेगादि गुणवाले अश्वरूप अग्नि के गुणों को (हविष्मन्तः) हवि युक्त मनुष्य कार्य सिद्ध के लिये (ईळते) खोजते हैं। इस प्रमाण से भी भौतिक अग्नि का ग्रहण है ॥१॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार से दो अर्थों का ग्रहण होता है।

भावार्थभाषा—[यहां से आगे जहां-जहां मन्त्र की भूमिका में **'उपदेश किया है'** ऐसा लिखेंगे, वहां सर्वत्र उस क्रिया का कर्त्ता परमेश्वर को ही समझना चाहिये। क्योंकि वेद का उपदेश ईश्वर ने ही किया है।] पिता के समान कृपाकारक परमेश्वर सब जीवों के हित और सब विद्याओं की प्राप्ति के लिये कल्प-कल्प की आदि में वेद को उपदेश करता है। जैसे पिता वा अध्यापक अपने शिष्य वा पुत्र को शिक्षा करता है कि—'तू ऐसा कर, वा ऐसा वचन कह, सत्य वचन बोल'। इत्यादि शिक्षा को सुनकर बालक वा शिष्य भी कहता है कि—'सत्य बोलूंगा, पिता और आचार्य की सेवा करूंगा, झूठ न कहूंगा'। इस प्रकार जैसे परस्पर शिक्षक लोग शिष्य वा लड़कों को उपदेश करते हैं, वैसे ही 'अग्निमीळे०' इत्यादि वेदमन्त्रों में भी जानना चाहिये। क्योंकि ईश्वर ने वेद

---

१. शंकराचार्य ने भी निरुक्तकार के 'अग्रणी' निर्वचन को परमात्मपरक स्वीकार किया है। प्रमाण पृष्ठ ४४२, टि० २ में देखें।

२. भावार्थ में जहां संस्कृतभाग का अनुवाद छूट गया था, वहां हमने उसे [ ] कोष्ठक में बढ़ाया है। और जहां भावार्थ अस्पष्ट अथवा कुछ विकृत था, उसमें अति स्वल्प परिवर्तन करके स्पष्ट तथा संस्कृत के अनुकूल यथासम्भव बनाने का प्रयत्न किया है।

३. वै० यं० मुद्रित संस्करणों में इसके आगे 'हे मनुष्यो! तुम लोग (हविष्मन्तः)' अपपाठ है।

सब जीवों के उत्तम सुख के लिये प्रकट किया है। इसी वेद के उपदेश का परोपकार फल होने से 'अग्निमीळे०' इस मन्त्र में 'ईडे' यह उत्तम पुरुष का प्रयोग भी है।

(अग्निमीळे०) [इस मन्त्र में] परमार्थ और व्यवहारविद्या की सिद्धि के लिये 'अग्नि' शब्द करके परमेश्वर और भौतिक ये दोनों अर्थ लिये जाते हैं। जो पहिले समय में आर्य लोगों ने अश्वविद्या के नाम से शीघ्र गमन का हेतु शिल्पविद्या आविष्कृत की थी, वह अग्निविद्या की ही उन्नति थी। [परमेश्वर के] आप ही आप प्रकाशमान, सब का प्रकाश और अनन्त ज्ञानवान् होने से, तथा भौतिक अग्नि के रूप दाह प्रकाश वेग छेदन आदि गुण और शिल्पविद्या के मुख्य साधक होने से अग्नि शब्द को प्रथम ग्रहण किया है [ऐसा समझना चाहिये] ॥१॥

सोऽग्निः कैः स्तोतव्योऽन्वेष्टव्यगुणो[1] वा[2]ऽस्तीत्युपदिश्यते—

अ॒ग्निः पूर्वे॑भि॒र्ऋषि॑भि॒रीड्यो॒ नूत॑नैरु॒त । स दे॒वाँ एह व॑क्षति ॥ २ ॥

अ॒ग्निः । पूर्वे॑भिः । ऋषि॑ऽभिः । ईड्यः॑ । नूत॑नैः । उ॒त ॥ सः । दे॒वान् । आ । इ॒ह । व॒क्ष॒ति॒ ॥२॥

पदार्थः—(अग्निः) परमेश्वरो भौतिको वा (पूर्वेभिः) अधीतविद्यैर्वर्त्तमानैः प्राक्तनैर्वा विद्वद्भिः (ऋषिभिः) मन्त्रार्थद्रष्टृभिरध्यापकैस्तर्कैः कारणस्थैः प्राणैर्वा। [3]ऋषिप्रशंसा चैवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति। निरु० ७। ३। **इयमेव ऋषीणां प्रशंसा यतस्त एवमुच्चावचैर्महदल्पाभिप्रायैर्मन्त्रार्थैर्विदितैः प्रशंसनीया भवन्ति। तेषामृषीणां मन्त्रेषु दृष्टयोऽर्थाद्यत्यन्तपुरुषार्थेन मन्त्रार्थानां यथावद्दर्शनानि ज्ञानानि भवन्ति, तस्मात्ते पूज्याः सत्कर्त्तव्या आसन्निति।** साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्त्संप्रादुरुपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च, बिल्मं भिल्मं भासनमिति वा। निरु० १। १०। **कीदृशा ऋषयो भवन्तीत्यत्राह—यतः साक्षात्कृतधर्माणो धार्मिका आप्ता यैः सर्वा विद्या यथावद्विदिता, येऽवरेभ्यो ह्यसाक्षात्कृतवेदेभ्यो मनुष्येभ्य उपदेशेन वेदमन्त्रान्**

---

१. अस्यायं भावः—अन्वेष्टव्यानि गुणान्यस्याग्नेः सोऽन्वेष्टव्यगुणोऽस्ति। अस्मिन् पाठे 'कैः' पदं न संबद्ध्यते। तस्य 'स्तोतव्यः' इत्यनेनैव सम्बन्धो ज्ञेयः। भावार्थेऽप्ययमभिप्राय एवमनूद्यते—'......तैः स योगाभ्यासेनेश्वरो भौतिकश्चाग्निर्वन्द्योऽप्यन्वेष्टव्यगुणश्चास्ति'। यथा तु भावार्थस्तथा पुरा संस्कृतपाठे 'स्तोतव्योऽन्वेष्टव्यो वा' इत्येव पाठ आसीदिति संकेत्यते।

२. वै० य० मुद्रितयोः प्रथमद्वितीयसंस्करणयोः 'वा' पदं नास्ति। परन्त्वयमावश्यकः।

३. निरुक्ते 'ऋषिप्रशंसा च' इत्येव पाठः। ग्रन्थकारस्य संग्रहे निरुक्तस्यैको हस्तलेख आसीत्। (द्र०—परोपकारिणीसभा वर्ष ८-९-१० का सम्मिलित कार्यविवरण)। तत्र लेखकप्रमादादत्र पाठभ्रंशः सम्भाव्यते। अत्रैव निरुक्तपाठस्य व्याख्यानादेतत् स्पष्टं यत् ग्रन्थकार ''ऋषिप्रशंसा च' पाठं मन्यमान एव निरुक्तवचनमुदाजहार। १९३४ वैक्रमाब्दे ऋग्वेदभाष्यस्य यो निदर्शनाङ्कः प्रकाशितस्तत्रायं पाठो नोद्ध्रियते।

मन्त्रार्थांश्च संप्रादुः प्रकाशितवन्तस्तस्मात्ते ऋषयो जाताः । तैः कस्मै प्रयोजनाय मन्त्राध्यापनं तदर्थप्रकाशश्च कृत इत्यत्रोच्यते—उत्तरोत्तरं वेदार्थप्रचाराय । येऽवरेऽल्पबुद्धयो मनुष्या अध्ययनायो-पदेशाय च ग्लायन्ते तान्[1] वेदार्थविज्ञानायेमं नैघण्टुकं निरुक्ताख्यं च ग्रन्थं समाम्नासिषुः सम्य-गभ्यासं[2] कारितवन्तः । येन सर्वे मनुष्या वेदं वेदाङ्गानि च यथार्थतया विजानीयुरेवं कृपालव ऋषयो गण्यन्त इति । पुरस्तान्मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति । तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम् । निरु० १३ । १२ । **अत्र तर्क एव ऋषिरुक्तः ।** अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः । न्याय० १ । १ । ४० । **या तत्त्वज्ञानार्थोहा सैव तर्कशब्देन गृह्यते ।** प्राणा ऋषयः । श० ७ । २ । १ । ५ । **अत्रर्षिशब्देन प्राणा गृह्यन्ते । (ईड्यः) नित्यं स्तोतव्योऽन्वेष्टव्यश्च (नूतनैः) वेदार्थाऽध्येतभिर्ब्रह्मचारिभि-स्तर्कैः कार्य्यस्थैर्विद्यमानैः प्राणैर्वा (उत) अप्येव (सः) पूर्वोक्तः (देवान्) दिव्यानीन्द्रियाणि विद्यादिदिव्यगुणान् दिव्यान् ऋतून् दिव्यान् भोगान् वा ।** ऋतवो वै देवाः । श० ७।२।२।२६। **अनेन [3]देवशब्देन दिव्यगुणविशिष्टा ऋतवो गृह्यन्ते । (आ) समन्तात् (इह) अस्मिन् वर्त्तमाने संसारे जन्मनि वा (वक्षति) वहतु प्रापयतु ।**

यास्कमुनिरिमं **मन्त्रमेवं समाचष्टे**—अग्निर्यः पूर्वैर्ऋषिभिरीडितव्यो वन्दितव्योऽस्माभिश्च नवतरैः स देवानिहावहत्विति, स न मन्येतायमेवाग्निरित्यप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते । निरु० ७ । १६ ॥ २ ॥

अन्वयः—योऽयमग्निः पूर्वेभिरुत नूतनैर्ऋषिभिरीड्योऽस्ति, स एह देवान् वक्षति **समन्तात् प्रापयतु** ॥ २ ॥

ऋषि शब्द विचार:

भावार्थः—ये सर्वा विद्याः पठित्वा सत्योपदेशेन सर्वोपकारका अध्यापका वर्त्तन्ते पूर्वं-भूताश्च ते पूर्व इति शब्देन, ये चाध्येतारो विद्याग्रहणायाभ्यासं कुर्वन्ति ते नूतनैरिति पदेन गृह्यन्ते ।

१. ककोशे भूमिकायां (पृष्ठ ३९६, पं० १३) 'तान्' इत्येव शुद्धः पाठ उपलभ्यते । 'तेषां' पाठे 'कृते' इति पदमूहनीयम् ।

२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'सम्यगभ्यासार्थं रचितवन्तः' पाठो दृश्यते । स च ऋग्वेदभाष्यभूमिकोक्त-व्याख्यानेन विरुद्ध एव । ऋग्वेदभाष्यस्य कहस्तलेखे (पाण्डुलिप्यामपि भूमिकावत् 'सम्यगभ्यासं कारितवन्तः' इत्येव पाठो दृश्यते । अयमेव चार्थो 'म्ना अभ्यासे' धातोर्मूलार्थेन संवदते । 'निरुक्तश्लोकवार्तिक'नाम्नि निरुक्त-व्याख्यानेऽप्यस्यार्थः 'सम्यगभ्यस्तवन्तस्ते' इत्येवं व्याख्यायते । अस्य सन्दर्भस्य सकलः पाठोऽस्माभिः पूर्वत्र भूमि-कायां (पृष्ठ ३९६, टि० १) निर्दिष्टस्तत एव च द्रष्टव्यः । उभयत्र केवलमन्तर्णीतण्यर्थमात्रभेदो दृश्यते, न तु मूलभूतार्थे ।

३. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'अनेनतु शब्देन दिव्यगुणविशिष्टा भोगा गृह्यन्ते' इत्यपपाठ उपलभ्यते । यतो हि मन्त्रे श्रूयमाणस्य 'देवान्' पदस्य व्याख्याने 'ऋतवो वै देवाः' प्रमाणमुद्ध्रियते । तेन विस्पष्टमेवैतद् यद् देवपदस्यार्थ ऋतुरत्र ग्राह्य इति । खगकोशयोः 'ऋतवो वै देवाः' इति प्रमाणं पूर्वनिर्दिष्टात् 'प्राणा ऋषयः' इत्यस्मादनन्तरं पठित्वा 'अत्र देवर्षिशब्दाभ्यां प्राणा ऋतवश्च गृह्यन्ते' इत्येवं पाठ आसीत् । स च मुद्रणकाले संशोधकेन यथास्थानं प्रमाणनिर्देशे क्रियमाणे प्रमादादन्यथा कृत इति स्पष्टम् ।

ये मन्त्रार्थान् विदितवन्तो धर्मविद्ययोः प्रचारस्यैवानुष्ठातारः सत्योपदेशेन सर्वाननुग्रहीतारो निश्छलाः पुरुषार्थिनो मोक्षधर्मसिद्धयर्थमीश्वरस्यैवोपासकाः कामार्थसिद्धयर्थं भौतिकाग्नेर्गुणज्ञानेन कार्य्यसिद्धिं संपादयन्तो मनुष्यास्ते ऋषिशब्देन गृह्यन्ते । पूर्वेषां नूतनानां च ये युक्तिप्रमाणसिद्धास्तत्त्वज्ञानार्थास्तर्काः, ये च जगत्कारणस्थाः कार्य्यजगत्स्थाश्च प्राणाः सन्ति, तैः सह योगाभ्यासेनेश्वरो भौतिकश्चाग्निर्वन्द्योऽध्यन्वेष्टव्यगुणश्चास्ति । सर्वज्ञेनेश्वरेण स्वकीयज्ञानान्मनुष्यज्ञानापेक्षयाऽतीतान् वर्त्तमानांश्चर्षीन् विदित्वाऽस्मिन्मन्त्र उपदिष्टे सति नैव कश्चिद्दोषो भवितुमर्हति, वेदस्य सर्वज्ञवाक्यत्वात् । सोऽयमेवमुपासितो व्यवहारकार्य्येषु[1] संयोजितः सन् सर्वोत्तमान् गुणान् भोगांश्च प्रापयति । अत्र प्राचीनापेक्षया नवीनत्वं नवीनापेक्षया प्राचीनत्वं च विज्ञायत[2] इति । अयमेवार्थो निरुक्तकारेणोक्तः ।

यस्तु खलु प्राकृतजनैः पाककरणादिषु प्रसिद्धः प्रयोज्यते, सोऽस्मिन्मन्त्रे नैव ग्राह्यः । किन्तु सर्वप्रकाशकः परमेश्वरः सर्वविद्याहेतुर्विद्युदाख्योऽर्थश्चाऽग्निशब्देनात्रोच्यत इति ।

एतन्मन्त्रार्थः सायणाचार्य्यादिभिरन्यथोक्तः । तद्यथा—'पुरातनैर्भृग्वङ्गिरःप्रभृतिभिर्नूतनैरुतेदानीन्तनैरस्माभिरपि स्तुत्यः । 'देवान् हविर्भुज आवक्षति'[3] इति, अन्यथैवं व्याख्यानमस्ति । तद्वद्यूरोपखण्डस्थैरत्रस्थैश्च कृतमिङ्गलण्डभाषायां वेदार्थयत्नादिषु[4] च व्याख्यानमप्यसमञ्जसम् । कुतः, ईश्वरोक्तस्यानादिभूतस्य वेदस्येदृशं व्याख्यानं क्षुद्राशयं निरुक्तशतपथादिग्रन्थविरुद्धं चास्त्यत इति ॥ २ ॥

उक्त अग्नि किनसे स्तुति करने वा खोजने योग्य[5] है, इसका उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—[6]यह जो (अग्निः) परमेश्वर (पूर्वेभिः) वर्त्तमान वा पहिले समय के विद्वान् (उत) और (नूतनैः) वेदार्थ के पढ़नेवाले नवीन ब्रह्मचारी, (ऋषिभिः) मन्त्रों के अर्थों को देखनेवालों, उन लोगों के तर्कों, और कारणों [तथा कार्यों] में रहनेवाले प्राणों से (ईड्यः) स्तुति करने योग्य है, और यह भौतिक अग्नि नित्य खोजने योग्य है, (सः) यह

१. 'सोऽयमग्निरीश्वर उपासितः सन् सर्वोत्तमान् गुणान् प्रापयति, अग्निर्भौतिकश्च व्यवहारकार्येषु संयोजितः सन् सर्वोत्तमान् भोगान् प्रापयति' इत्येवं यथायथं सम्बन्धो ज्ञेयः ।

२. अर्थात् प्राचीनत्वं नवीनत्वं च सापेक्षं भवति । ३. सायणभाष्यस्याऽयं संक्षेपो ज्ञेयः ।

४. 'वेदार्थयत्न' नाम्ना मराठी-अंग्रेजी भाषासमन्वितमृग्भाष्यं ग्रन्थकारस्य जीवनकाल एव प्रकाशितमभूत् । अस्य प्रकाशनं क्रमशोऽङ्केष्वजायत । ग्रन्थकारस्य संग्रहेऽस्य ५६ अङ्का आसन्निति परोपकारीसभाया कार्यविवरणतो (वर्ष ८-६-१०) ज्ञायते ।

५. संस्कृतपाठानुसार 'उक्त अग्नि किनसे स्तुति करने योग्य, वा खोजने योग्य गुणोंवाला है, इसका उपदेश अगले मन्त्र में किया है ? इस प्रकार जानना चाहिये ।

६. वै० य० मुद्रित भावार्थ में मन्त्रपद और उनका अर्थ संस्कृतान्वय के अनुसार नहीं था, तथा प्रमाण भाग भी मन्त्रार्थ के मध्य में ही दिया हुआ था । उसे हमने यथास्थान बना दिया है, और प्रथम मन्त्र के भावार्थ के समान प्रमाणभाग का भावार्थ मन्त्रार्थ के अन्त में दे दिया है ।

परमेश्वर (इह) इस संसार वा इस जन्म में (देवान्) अच्छी-अच्छी इन्द्रियों, विद्या आदि गुण, और भौतिक अग्नि अच्छे-अच्छे भोगने योग्य पदार्थों को (आवक्षति) प्राप्त करता है।

प्राचीन और नवीन ऋषियों में प्रमाण ये हैं कि—(ऋषिप्रशंसा०) वे ऋषि लोग गूढ़ और अल्प अभिप्राययुक्त मन्त्रों के अर्थों को यथावत् जानने से प्रशंसा के योग्य होते हैं। और उन्हीं ऋषियों की मंत्रों में दृष्टि अर्थात् उनके अर्थों के विचार में [अत्यन्त] पुरुषार्थ से यथार्थ ज्ञान और विज्ञान की प्रवृत्ति होती है, इसी से वे सत्कार करने योग्य भी हैं। तथा (साक्षात्कृत०) जो धर्म और अधर्म की ठीक-ठीक परीक्षा करनेवाले धर्मात्मा और यथार्थवक्ता थे, तथा जिन्होंने सब विद्या यथावत् जान ली थी, वे ही ऋषि हुए। और जिन्होंने मन्त्रों के अर्थ ठीक-ठीक नहीं जाने थे, और नहीं जान सकते थे, उन लोगों को [ऋषि लोग] अपने उपदेश द्वारा वेदमन्त्रों का अर्थसहित ज्ञान कराते हुए चले आये। इस प्रयोजन के लिये कि जिससे उत्तरोत्तर अर्थात् पीढ़ी दर पीढ़ी आगे को भी वेदार्थ का प्रचार उन्नति के साथ बना रहे। तथा जिससे कोई मनुष्य अपने और उक्त ऋषियों के लिखे हुए व्याख्यान सुनने के लिये अपने निर्बुद्धिपन से ग्लानि को प्राप्त हो, तो उनके सहाय के लिये उनको सुगमता से वेदार्थ का ज्ञान कराने के लिये उन ऋषियों ने निघण्टु और निरुक्त आदि ग्रन्थों का अच्छी प्रकार अभ्यास कराया। जिससे कि सब मनुष्यों को वेद और वेदाङ्गों का यथार्थ बोध हो जावे। (पुरस्तान्मनुष्या०) इस प्रमाण से ऋषि शब्द का अर्थ 'तर्क' ही सिद्ध होता है। (अविज्ञात०) यह न्यायशास्त्र में गोतम मुनिजी ने तर्क का लक्षण कहा है, इससे यही सिद्ध होता है कि जो सिद्धान्त के जानने के लिये विचार किया जाता है, उसी का नाम 'तर्क' है। (प्राणा०) इन शतपथ के प्रमाणों से ऋषि शब्द करके प्राण और देव शब्द करके ऋतुओं का ग्रहण होता है।

(अग्निः पूर्वे०) इस मन्त्र का अर्थ निरुक्तकार ने जैसा कुछ किया है, सो मन्त्र के [संस्कृत] भाष्य में लिख दिया है।

भावार्थ—जो मनुष्य सब विद्याओं को पढ़के औरों को पढ़ाते हैं, तथा अपने उपदेश से सब का उपकार करनेवाले [अध्यापक] हैं वा हुए हैं वे **पूर्व** शब्द से, और जो कि अब पढ़नेवाले विद्या ग्रहण के लिये अभ्यास करते हैं, वे नूतन शब्द से ग्रहण किये जाते हैं। क्योंकि जो मन्त्रों के अर्थों को जाने हुए, धर्म और विद्या के प्रचार [का अनुष्ठान करनेवाले], अपने सत्य उपदेश से सब पर कृपा करनेवाले, निष्कपट पुरुषार्थी, [मोक्ष और] धर्म की सिद्धि के लिये ईश्वर की उपासना करनेवाले, और [अर्थ तथा] काम की सिद्धि के लिये भौतिक अग्नि के गुणों को जानकर अपने कामों को सिद्ध करनेवाले होते हैं, वे सब पूर्ण विद्वान् शुभगुण सहित होने से 'ऋषि' कहाते हैं। तथा प्राचीन और नवीन विद्वानों के तत्त्व जानने के लिये युक्ति प्रमाणों से सिद्ध तर्क, और [जगत् के] कारण वा कार्य्य जगत् में रहनेवाले जो प्राण हैं, [वे भी ऋषि शब्द से गृहीत होते हैं]। इन सबसे ईश्वर स्तुति करने योग्य, और भौतिक अग्नि अपने-अपने गुणों के साथ खोज करने योग्य है। और जो सर्वज्ञ परमेश्वर ने [मनुष्य-ज्ञान की अपेक्षा से] पूर्व और वर्तमान अर्थात् त्रिकालस्थ ऋषियों को अपने सर्वज्ञपन से जानके इस मन्त्र में परमार्थ और व्यवहार ये दो विद्या दिखलाई हैं, इससे इसमें भूत वा भविष्य काल की बातों के कहने में कोई भी दोष नहीं आ सकता।

क्योंकि वेद सर्वज्ञ परमेश्वर का वचन है। वह परमेश्वर [उपासना किया हुआ] उत्तम गुणों को, तथा भौतिक अग्नि व्यवहार-कार्यों में संयुक्त किया हुआ उत्तम-उत्तम भोग के पदार्थों का देनेवाला होता है। पुराने की अपेक्षा एक पदार्थ से दूसरा नवीन, और नवीन की अपेक्षा पहिला पुराना होता है। देखो यही अर्थ इस मन्त्र का निरुक्तकार ने भी किया है।

जो प्राकृत जन अर्थात् अज्ञानी लोगों ने, पाक बनाने आदि कार्य्यों में [प्रयुक्त होनेवाला] प्रसिद्ध भौतिक अग्नि लिया है, वह इस मन्त्र में नहीं लेना। किन्तु सब का प्रकाश करनेहारा परमेश्वर, और सब विद्याओं का हेतु, जिसका नाम विद्युत् है, वही भौतिक अग्नि यहां अग्नि शब्द से कहा गया है।

(अग्निः पूर्वे०) इस मन्त्र का अर्थ नवीन भाष्यकारों ने कुछ का कुछ ही कर दिया है। जैसे 'सायणाचार्य' ने लिखा है कि—'(पुरातनैः०) प्राचीन भृगु अङ्गिरा आदियों, और नवीन अर्थात् हम लोगों को अग्नि की स्तुति करना उचित है। वह देवों को हवि अर्थात् होम में चढ़े हुए पदार्थ उनके खाने के लिये पहुंचाता है।' ऐसा ही व्याख्यान यूरोपखण्डवासी और आर्यावर्त के नवीन लोगों ने अंग्रेज़ी भाषा में किया है, तथा कल्पित ग्रन्थों में अब भी होता है। सो यह बड़े आश्चर्य की बात है। जो ईश्वर के प्रकाशित अनादि वेद का ऐसा व्याख्यान, जिसका क्षुद्र आशय और निरुक्त शतपथ आदि सत्य ग्रन्थों से विरुद्ध होवे, वह सत्य कैसे हो सकता है? ॥२॥



तेनोपासितेनोपकृतेन च किं किं प्राप्तं भवतीत्युपदिश्यते—

अ॒ग्निना॑ र॒यिम॑श्नव॒त् पोष॑मे॒व दि॒वेदि॑वे । य॒शसं॑ वी॒रव॑त्तमम् ॥ ३ ॥

अ॒ग्निना॑ । र॒यिम् । अ॒श्न॒व॒त् । पोष॑म् । ए॒व । दि॒वेऽदि॑वे ॥ य॒शस॑म् । वी॒रव॑त्ऽतमम् ॥ ३ ॥

पदार्थः—(अग्निना) परमेश्वरेण संसेवितेन, भौतिकेन संयोजितेन वा (रयिम्) विद्यासुवर्णाद्युत्तमधनम्। रयिरिति धननामसु पठितम्। निघं० २।१०। **(अश्नवत्) प्राप्नोति। लेट्-प्रयोगः, व्यत्ययेन परस्मैपदम्। (पोषम्) आत्मशरीरयोः पुष्टया सुखप्रदम् (एव) निश्चयार्थे (दिवेदिवे) प्रतिदिनम्**[1]। दिवेदिवे इत्यहर्नामसु पठितम्। निघं० १।९। **(यशसम्) सर्वोत्तम-कीर्त्तिवर्धकम्। (वीरवत्तमम्) वीरा विद्वांसः शूराश्च विद्यन्ते यस्मिन् तदतिशयितं वीरवत्तमम्॥ ३॥**

अन्वयः—मनुष्यः अग्निनैव दिवेदिवे पोषं यशसं वीरवत्तमम् रयिमश्नवत् **प्राप्नोति ॥३॥**

अत्र श्लेषालङ्कारेणोभयार्थस्य ग्रहणम्।

भावार्थः—ईश्वराज्ञायां वर्त्तमानेन शिल्पविद्यादिकार्य्यसिद्धयर्थमग्निं साधितवता **मनुष्येणाक्षयं धनं प्राप्यते। येन नित्यं कीर्त्तिवृद्धिर्वीरपुरुषाश्च भवन्ति,** [2][**तद् धनं सर्वैरवश्यं प्राप्तव्यम्**] ॥ ३ ॥

१. वीप्सार्थे द्विर्वचनम् (द्र०—अष्टा० ८।१।४)। २. यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् पूर्वत्र 'येन' पदश्रवणात् कोष्ठान्तर्गतः पाठ आवश्यकः। अस्य भाषार्थोऽप्युपलभ्यते।

अब परमेश्वर की उपासना और भौतिक अग्नि के उपकार से क्या क्या फल प्राप्त होता है, सो अगले मन्त्र से उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा– मनुष्य अच्छी प्रकार (अग्निना) ईश्वर की उपासना और भौतिक अग्नि को कलाओं में संयुक्त करने से (एव) ही (दिवेदिवे) प्रतिदिन (पोषम्) आत्मा और शरीर की पुष्टि करनेवाला, (यशसम्) जो उत्तम कीर्ति का बढ़ानेवाला, और (वीरवत्तमम्) जिसको अच्छे-अच्छे विद्वान् वा शूरवीर लोग चाहा करते हैं, उस (रयिम्) विद्या और सुवर्णादि उत्तम धन को सुगमता से (अश्नवत्) प्राप्त होता है ।।३।।

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार से दो अर्थों का ग्रहण है।

भावार्थ– ईश्वर की आज्ञा में रहने तथा शिल्पविद्यासम्बन्धी कार्य्यों की सिद्धि के लिये भौतिक अग्नि को सिद्ध करनेवाले मनुष्यों को अक्षय अर्थात् जिसका कभी नाश नहीं होता, ऐसा धन प्राप्त होता है। तथा मनुष्य लोग जिस धन से [नित्य] कीर्ति की वृद्धि और जिस धन को पाके वीर पुरुषों से युक्त होकर नाना सुखों से युक्त होते हैं, सबको उचित है कि उस धन को अवश्य प्राप्त करें ।।३।।



उक्तावर्थौ कीदृशौ स्त इत्युपदिश्यते—

अग्ने॒ यं य॒ज्ञम॑ध्व॒रं वि॒श्वतः॑ परि॒भूरसि॑ । स इद्दे॒वेषु॑ गच्छति ॥ ४ ॥

अग्ने॑ । यम् । य॒ज्ञम् । अ॒ध्व॒रम् । वि॒श्वतः॑ । प॒रि॒ऽभूः । असि॑ ॥ सः । इत् । दे॒वेषु॑ । ग॒च्छ॒ति॒ ॥ ४ ॥

पदार्थः—(अग्ने) परमेश्वर ! भौतिको[1] वा (यम्) (यज्ञम्) प्रथममन्त्रोक्तम् (अध्वरम्) हिंसाधर्मादिदोषरहितम्। ध्वरतिर्हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः[2]। निरु० १।८। (विश्वतः) सर्वतः सर्वेषां जलपृथिवीमयानां पदार्थानां विविधाश्रयात्। षष्ठ्या व्याश्रये। अ० ५।४।४८ इत्यनेन तसिः प्रत्ययः (परिभूः) यः परितः सर्वतः पदार्थेषु भवति। परीति सर्वतोभावं प्राह। निरु० १।३। (असि) अस्ति वा (सः) यज्ञः (इत्) एव (देवेषु) विद्वत्सु दिव्येषु पदार्थेषु वा (गच्छति) प्राप्नोति ।।४।।

अन्वयः—हे अग्ने त्वं यमध्वरं यज्ञं विश्वतः परिभूरभि[3]व्याप्य पालकोऽसि, तथाऽयमग्निरपि संपादयितास्ति, स इद्देवेषु गच्छति ।। ४ ।।

अत्र श्लेषालङ्कारः।

भावार्थः—यतोऽयं व्यापकः परमेश्वरः स्वसत्तया पूर्वोक्तं यज्ञं सर्वतः सततं रक्षति, अत एव स यज्ञो दिव्यगुणप्राप्तिहेतुर्भवति। एवमेव परमेश्वरेण यतो[4] दिव्यगुणसहितोऽग्नी रचितोऽस्ति

१. यत्र यत्र मन्त्रे संबोधनं श्रूयते तत्र तत्र भौतिकार्थे विभक्तिव्यत्ययो द्रष्टव्यः। एवमेव मध्यमपुरुषस्य स्थाने प्रथमपुरुषोऽपि ज्ञेयः। एतस्मिन् विषये 'परन्तु वैदिकव्यवहारे जडेऽपि' इत्यारभ्य 'वेदार्थोऽप्यर्थैव वर्णितः' इत्यन्तो भूमिकायां निर्दिष्टः (पूर्वत्र पृष्ठ ४०२ पं० १४-१८) पाठोऽनुसन्धेयः।

२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'तत्प्रतिषेधो निपातः' इत्यपपाठः।

३. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'परिभूरसि व्याप्य' इत्यपपाठः।

४. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'यो' अपपाठः, उत्तरत्र 'तस्मात्' पदश्रवणात्।

तस्मादेवायं दिव्यशिल्पविद्यासंपादकोऽस्ति। यो धार्मिक उद्योगी विद्वान् मनुष्योऽस्ति, स एवैतान् गुणान् प्राप्तुमर्हति॥ ४॥

उक्त भौतिक अग्नि और परमेश्वर किस प्रकार के हैं, यह भेद अगले मन्त्र में जनाया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (अग्ने) परमेश्वर! आप (यम्) जिस (अध्वरम्) हिंसा आदि दोषरहित (यज्ञम्) विद्या आदि पदार्थों के दानरूप यज्ञ को (विश्वतः) सर्वत्र व्याप्त होकर (परिभूः) सब प्रकार से पालन करनेवाले (असि) हैं, (स इत्) वही यज्ञ (देवेषु) विद्वानों के बीच में (गच्छति) फैलके जगत् को सुख प्राप्त करता है।

तथा जो यह (अग्ने) भौतिक अग्नि (यम्) जिस (अध्वरम्) विनाश आदि दोषों से रहित (यज्ञम्) शिल्पविद्यामय यज्ञ को (विश्वतः) जल पृथिव्यादि पदार्थों के आश्रय से (परिभूः) सब प्रकार के पदार्थों में व्याप्त होकर सिद्ध करनेवाला है, (स इत्) वही यज्ञ (देवेषु) अच्छे-अच्छे पदार्थों में (गच्छति) प्राप्त होकर सब को लाभकारी होता है॥ ४॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है।

भावार्थ—जिस कारण व्यापक परमेश्वर अपनी सत्ता से पूर्वोक्त यज्ञ की निरन्तर रक्षा करता है, इसी से वह अच्छे-अच्छे गुणों के देने का हेतु होता है। इसी प्रकार [जिस कारण] ईश्वर ने दिव्यगुण युक्त अग्नि रचा है, इसी कारण वह उत्तम शिल्पविद्या का उत्पन्न करनेवाला है। उन गुणों को केवल धार्मिक उद्योगी और विद्वान् मनुष्य ही प्राप्त होने के योग्य होता है॥ ४॥



पुनस्तौ कीदृशौ स्त इत्युपदिश्यते—

अ॒ग्निर्होता॑ क॒विक्र॑तुः स॒त्यश्चि॒त्रश्र॑वस्तमः। दे॒वो दे॒वेभि॒रा ग॑मत्॥ ५॥ १॥

अ॒ग्निः। होता॑। क॒विऽक्र॑तुः। स॒त्यः। चि॒त्रश्र॑वःऽतमः॥ दे॒वः। दे॒वेभिः॑। आ। ग॒म॒त्॥ ५॥

पदार्थः—(**अग्निः**) **परमेश्वरो भौतिको वा** (**होता**) **दाता ग्रहीता द्योतको वा** (**कविक्रतुः**) **कविः सर्वज्ञः क्रान्तदर्शनो वा। करोति [कारयति][1] यो येन वा स क्रतुः, कविश्चासौ क्रतुश्च सः।** कविः क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा। निरु० १२। १३। **यः सर्वविद्यायुक्तं वेदशास्त्रं कवते उपदिशति स कविरीश्वरः। क्रान्तं दर्शनं यस्मात् स सर्वज्ञो भौतिको वा क्रान्तदर्शनः।** कृञः कतुः। उ० १। ७६ **अनेन कृञो हेतुकर्त्तरि कर्तरि [करणे] वा कतुः प्रत्ययः।** (सत्यः) सन्तीति सन्तः, **सद्भ्यो हितः तत्र साधुर्वा।** सत्यं कस्मात् सत्सु तायते सत्प्रभवं भवतीति वा। निरु० ३। १३। (**चित्रश्रवस्तमः**) **चित्रमद्भुतं श्रवः श्रवणं यस्य, सोऽतिशयितः** (**देवः**) **स्वप्रकाशः प्रकाशकरो वा** (**देवेभिः**) **विद्वद्भिर्दिव्यगुणैः सह वा** (**आ**) **समन्तात्** (**गमत्**) **गच्छतु प्राप्तो भवति वा। लुङ्प्रयोगोऽडभावश्च॥५॥**

१. वै० य० मुद्रितेषु सस्करणेषु नास्ति। उत्तरत्र 'कृञो हेतुकर्तरि कर्तरि वा कतुः प्रत्ययः' पाठदर्शनाद् आवश्यकः।

अन्वयः—यः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः कविक्रतुः होता देवोऽग्निः **परमेश्वरो भौतिकश्चास्ति, स** देवेभिः **सहागमत् ॥५॥**

अत्र श्लेषालङ्कारः ।

भावार्थः– अग्निशब्देन परमेश्वरस्य सर्वाधारसर्वज्ञसर्वरचकविनाशरहितानन्तशक्तिमत्त्वादिगुणैः सर्वप्रकाशकत्वात्, तथा भौतिकस्याकर्षणगुणादिभिर्मूर्त्तद्रव्याधारकत्वाच्च ग्रहणमस्तीति । [1][**स च विद्वद्भिः समागमे कृते सृष्टिपदार्थगुणविचारेण च विदितो भूत्वा** [2]**अनन्तसुखदाता सम्यक् शिल्पविद्याप्रापकश्च** [3]**भवतीति सर्वैर्मनुष्यैर्विज्ञातव्यम्**[4] ।]

सायणाचार्य्येण गमदिति लोडन्तं व्याख्यातम्, तदेतदस्य भ्रान्तिमूलमेव । कुतः ? गमदित्यत्र 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः'[5] **इति सामान्यकालविधायकस्य सूत्रस्य विद्यमानत्वात् ॥५॥**

॥ इति प्रथमो वर्गः समाप्तः ॥

फिर परमेश्वर और भौतिक अग्नि किस प्रकार के हैं, सो अगले मन्त्र में उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—[6]जो (सत्यः) अविनाशी, (चित्रश्रवस्तमः) जिसका अति आश्चर्यरूपी श्रवण है, (कविक्रतुः) जो सर्वज्ञ, सब विद्यायुक्त वेद का उपदेश करने (होता) सब शुभ गुणों और चक्रवर्ती राज्यादि का देनेवाला, तथा (देवः) आप से आप प्रकाशमान (अग्निः) परमेश्वर है, (सः) वह (देवेभिः)विद्वानों के साथ समागम करने से (आ गमत्) अच्छी प्रकार प्राप्त होता है ॥

तथा जो (सत्यः) श्रेष्ठ विद्वानों के लिये हितकारी, (चित्रश्रवस्तमः) जिसको अद्भुत् अर्थात् अति आश्चर्यरूप सुनते हैं, (कविक्रतुः) जो सब पृथिव्यादि पदार्थों के साथ व्यापक और उनको दिखानेवाला, (होता) शिल्पविद्या का मुख्य हेतु, (देवः) सबका प्रकाशक भौतिक अग्नि है, (सः) वह (देवेभिः) दिव्यगुणों के साथ (आ गमत्) प्राप्त होता है ॥

[7]**कविक्रतु में प्रमाण**—निरुक्तकार ने 'कवि' का अर्थ क्रान्तदर्शन वा उपदेश करनेवाला किया है । जो सब विद्यायुक्त वेद का उपदेश करता है । तथा क्रान्तदर्शन=सर्वज्ञ होने से ईश्वर

१. अयं कोष्ठान्तर्गतः पाठः खहस्तलेखे विद्यते । भाषार्थोऽस्य मुद्रित उपलभ्यते ।

२. 'अनन्तसुखदाता' खहस्तलेखे नास्ति । परमेश्वरपक्षेऽयं पाठ आवश्यकः । भाषापदार्थे त्विह वर्तते ।

३. 'भवति' इति खहस्तलेखे नास्ति ।

४. खहस्तलेखे 'जिज्ञासितव्यः' पाठो वर्तते । इह भाषार्थे 'जानना चाहिए' इति वर्तते ।

५. अष्टा० ३।४।६ ॥

६. वै० य० मुद्रित संस्करणों में जो भाषार्थ छपा है, वह पुराने अन्वय के अनुसार है । इस कारण हमने वर्तमान संस्कृत-अन्वयानुसारी भाषार्थ दिया है । वै० य० मुद्रित प्रथम भाषार्थ में प्रमाणभाग का भी भाषार्थ छपा है, उसे हमने प्रथम मन्त्र के समान पृथक् कर दिया है । ख हस्तलेख में पृथक् निर्देश है ।

७. यह वै०य० मुद्रित संस्कृत तथा भाषार्थ से बोधित अर्थ हमने स्वशब्दों में दिया है ।

का नाम 'कवि' है। तथा भौतिक अग्नि भी स्थूल सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान करानेवाला होने से कवि कहाता है ॥ ५ ॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है।

भावार्थ—सब का आधार, सर्वज्ञ, सबका रचनेवाला, विनाशरहित, अनन्त शक्तिमान्, और सब का प्रकाशक आदि गुण हेतुओं के पाये जाने से अग्नि शब्द करके परमेश्वर, और आकर्षणादि गुणों से मूर्तिमान् पदार्थों का धारण करनेहारादि गुणों के होने से भौतिक अग्नि का भी ग्रहण होता है। सिवाय इसके मनुष्यों को यह भी जानना उचित है कि विद्वानों के समागम और संसारी पदार्थों को उनके गुणसहित विचारने से परम दयालु परमेश्वर अनन्त सुखदाता और भौतिक अग्नि शिल्पविद्या का सिद्ध करनेवाला होता है।

सायणाचार्य्य ने **'गमत्'** इस प्रयोग को लोट् लकार का माना है। सो यह उनका व्याख्यान अशुद्ध है। क्योंकि इस प्रयोग में **(छन्दसि लुङ्०**[1]) यह सामान्यकाल बतानेवाला सूत्र वर्तमान है ॥५॥

॥ यह पहला वर्ग समाप्त हुआ ॥



अथैकः परमार्थ उपदिश्यते—

यदुङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः ॥ ६ ॥

यत्। अङ्ग। दाशुषे। त्वम्। अग्ने। भद्रम्। करिष्यसि ॥ तव। इत्। तत्। सत्यम्। अङ्गिरः ॥६॥

पदार्थः—**(यत्) यस्मात् (अङ्ग) सर्वमित्र! (दाशुसे) सर्वस्वं दत्तवते (त्वम्) मङ्गलमयः (अग्ने) परमेश्वर! (भद्रम्) कल्याणं सर्वैः शिष्टैर्विद्वद्भिः सेवनीयम्।** भद्रं भगेन व्याख्यातं भजनीयं भूतानामभिद्रवणीयं भवद्रमयतीति वा भाजनवद्वा। निरु० ४। १०। (करिष्यसि) **करोषि। अत्र वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्तीति**[2] **लडर्थे लृट्।** (तव) (इत्) एव (तत्) **तस्मात् (सत्यम्) सत्सु पदार्थेषु सुखस्य विस्तारकं सत्प्रभवं सद्भिर्गुणैरुत्पन्नम् (अङ्गिरः)** पृथिव्यादीनां **ब्रह्माण्डस्याङ्गानां प्राणरूपेण शरीरावयवानां चान्तर्य्यामिरूपेण रसरूपोऽङ्गिरास्तत्संबुद्धौ।** प्राणो वाऽङ्गिराः। श० ६। ३। ७। ३॥[3] देहेऽङ्गारेष्वङ्गिरा अङ्गारा अङ्कना अञ्चनाः। निरु० ३। १७ **अत्राप्युत्तमानामङ्गानां मध्येऽन्तर्यामी प्राणाख्योऽर्थो गृह्यते ॥ ६ ॥**

अन्वयः—हे अङ्गिरोऽङ्गाग्ने त्वं [यत्] **यस्मात्** दाशुसे भद्रं करिष्यसि **करोषि**, [तत्] **तस्मात्** तवेत् **तवैवेदं** सत्यं **व्रतमस्ति** ॥ ६ ॥

भावार्थः—यो न्यायकारी सर्वस्य दयालुः सुहृत्सन् कल्याणकर्त्ता सर्वस्य सुखमिच्छुः परमेश्वरोऽस्ति, तस्योपासनेन जीव ऐहिकपारमार्थिकं सुखं प्राप्नोति, नेतरस्य। कुतः? परमेश्वरस्यैवैतच्छीलवत्त्वेन समर्थत्वात्। योऽभिव्याप्याङ्गान्यङ्गीव सर्वं विश्वं धारयति, येनैवेदं जगद्रक्षितं यथावदवस्थापितं च सोऽङ्गिरा भवतीति।

---

१. अष्टा० ३।४।६ ॥ २. महाभाष्य १।४।४।६ ॥ ३. अध्यायानुसारं ६।५।२।३ निर्देशो ज्ञेयः।

अत्राङ्गिरःशब्दार्थो विलसनाख्येन भ्रान्त्यान्यथैव व्याख्यात इति बोध्यम् ॥ ६ ॥

अब अग्नि शब्द से ईश्वर का उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (अङ्गिरः) ब्रह्माण्ड के अङ्ग पृथ्वी आदि पदार्थों को प्राणरूप, और शरीर के अङ्गों को अन्तर्यामीरूप से रसरूप होकर रक्षा करनेवाले ! हे (अङ्ग) सब के मित्र (अग्ने) परमेश्वर ! [(त्वम्)] आप (यत्) जिस हेतु से (दाशुषे) निर्लोभता से उत्तम-उत्तम पदार्थों के दान करनेवाले मनुष्य के लिये (भद्रम्) कल्याण, जो कि शिष्ट विद्वानों के योग्य है, उसको (करिष्यसि) करते हैं, [तत्] सो वह (तवेत्) आपही का (सत्यम्) सत्यव्रत=शील है।

[([1]प्राणो वा०) इससे अङ्गिरा शब्द से प्राणरूप ईश्वर लिया जाता है। (देहेऽङ्गारे०) इससे अङ्गिरा शब्द से उत्तम अङ्गों के मध्य अन्तर्यामी रूप से वर्तमान ईश्वर अर्थ ग्रहण किया जाता है] ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो [2]न्यायकारी दयालु सब का मित्र होकर कल्याण और सब के सुख की इच्छा करनेवाला परमेश्वर है, उसी की उपासना करके जीव इस लोक और मोक्ष के सुख को प्राप्त होता है, दूसरे की नहीं। क्योंकि इस प्रकार सुख देने का स्वभाव और सामर्थ्य केवल परमेश्वर का है। जैसे शरीरधारी अपने शरीर को धारण करता है, वैसे ही परमेश्वर [व्याप्त होकर] सब संसार को धारण करता है। और इसी से इस संसार की यथावत् रक्षा और स्थिति होती है, [इसी कारण वह 'अङ्गिरा' कहाता है।]

[यहां 'विलसन' ने 'अङ्गिरा' शब्द का अर्थ भ्रान्ति से अशुद्ध लिखा है, यह जानना चाहिये] ॥६॥



तद् ब्रह्म कथमुपास्य[3] प्राप्तव्यमित्युपदिश्यते—

उप॑ त्वाग्ने दि॒वेदि॑वे॒ दोषा॑वस्तर्धि॒या व॒यम् । नमो॒ भर॑न्त॒ एम॑सि ॥ ७ ॥

उप॑ । त्वा॒ । अ॒ग्ने॒ । दि॒वेऽदि॑वे । दोषा॑ऽवस्तः । धि॒या । व॒यम् ॥ नमः॑ । भर॑न्तः । आ । इ॒म॒सि॒ ॥७॥

पदार्थः—(उप) सामीप्ये (त्वा) त्वाम् (अग्ने) सर्वोपास्येश्वर ! (दिवेदिवे) विज्ञानस्य प्रकाशाय प्रकाशाय (दोषावस्तः) अहर्निशम्[4] । दोषेति रात्रिनामसु पठितम्। निघं १।७। **रात्रेः प्रसंगाद्वस्त इति दिननामात्र ग्राह्यम्। (धिया) प्रज्ञया कर्मणा वा (वयम्) उपासकाः (नमः) नम्रीभावे (भरन्तः) धारयन्तः (आ) समन्तात् (इमसि) प्राप्नुमः ॥ ७ ॥**

१. वै० य० मुद्रित में इस प्रमाण भाग का कुछ अंश पदार्थ के अन्तर्गत ही छपा है। स्वहस्तलेख में संक्षिप्त भाव पृथक् मिलता है। हमने पूर्ववत् यहां भी दोनों प्रमाणों का अभिप्राय पृथक् छापा है।

२. वै० य० मुद्रित भावार्थ संक्षिप्त तथा अधूरा है।

३. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'उपास्यं' अपपाठः।

४. 'दोषावस्तः' इत्यत्राद्युदात्तत्वदर्शनादामन्त्रितस्वरो ज्ञेयः। यथाऽस्य पदपाठस्तथाप्यस्यामन्त्रितत्वं प्रतिभाति। उपलब्धेषु ऋग्भाष्येषु केवलं स्कन्दस्वामिभाष्य एवामन्त्रितत्वेन व्याख्यायते। सायणो द्वन्द्वे 'कार्त-

अन्वयः—हे अग्ने वयं धिया दिवेदिवे दोषावस्तस्त्वा त्वां भरन्तो नमस्कुर्वन्तश्चोपेमसि प्राप्नुमः ॥७॥

भावार्थः—हे सर्वद्रष्टः सर्वव्यापिन्नुपासनार्ह ! वयं सर्वकर्मानुष्ठानेषु प्रतिक्षणं त्वां यतो नैव विस्मरामः, तस्मादस्माकमधर्ममनुष्ठातुमिच्छा कदाचिन्नैव भवति। कुतः ? सर्वज्ञः सर्वसाक्षी भवान् सर्वाण्यस्मत्कार्य्याणि सर्वथा पश्यतीति ज्ञानात् ॥ ७ ॥

उक्त परमेश्वर कैसे उपासना करके प्राप्त होने के योग्य है, इसका विधान अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (अग्ने) सब के उपासना करने योग्य परमेश्वर ! (वयम्) हम लोग (धिया) अपनी बुद्धि और कर्मों से (दिवेदिवे) अनेक प्रकार के विज्ञान होने के लिये, (दोषावस्तः) रात्रि दिन में निरन्तर (त्वा) आपकी (भरन्तः) उपासना को धारण और नमस्कार आदि करते हुए (उपेमसि) आपके शरण को प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—हे सब को देखने और सब में व्याप्त होनेवाले उपासना के योग्य परमेश्वर ! हम लोग सब कामों के करने में [जिससे] एक क्षण भी आपको नहीं भूलते, इसी से हम लोगों को अधर्म करने की कभी इच्छा भी नहीं होती। क्योंकि जो सर्वज्ञ सब का साक्षी परमेश्वर है, वह हमारे सब कामों को देखता है, इस निश्चय से ॥ ७ ॥



पुनः स कीदृशोऽस्तीत्युपदिश्यते—

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम् । वर्धमानं स्वे दमे ॥ ८ ॥

राजन्तम् । अध्वराणाम् । गोपाम् । ऋतस्य । दीदिविम् ॥ वर्धमानम् । स्वे । दमे ॥ ८ ॥

पदार्थः—(**राजन्तम्**) **प्रकाशमानम्** (**अध्वराणाम्**) **पूर्वोक्तानां यज्ञानां धार्मिकाणां**

कौजपादयश्च' (अ० ६।२।३७) इत्यनेनाद्युदात्तत्वमाह। क्लिष्टकल्पनया स्वरे सिद्धेऽपि द्वन्द्वेऽवग्रहप्रतिषेधात्, अत्र च पदपाठेऽवग्रहदर्शनात् पदपाठविरोधः स्पष्ट एव। पदपाठानुग्रहः सर्वथा कार्य इति नैव वैदिकानां राद्धान्तः। अत एवाह यास्कः—'वा इति च य इति च चकार शाकल्य उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यदसुसमाप्तश्चैवार्थः' (निरु० ६।२८)। अन्यत्रापि यास्कः पदपाठमुपेक्षते। यथा 'अरुणोमासकृत्' (ऋ० १।१०५।१८) मन्त्रव्याख्याने 'मासकृत्' इतिशाकलपदपाठमुपेक्ष्य 'मासानामर्धमासानां च कर्त्ता' (निरु० ५।२१) व्याख्यन् 'मासकृत्' इत्येकं पदं स्वीचकार। महाभाष्यकारः पतञ्जलिरप्याह—'न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्' (महा० ३।१।१०९; ६।१।२०१; ८।२।१६)।

भगवद्दयानन्दपादास्तु एतन्मन्त्रव्याख्यानेऽन्यभाष्यकारवत् 'दोषावस्तः' पदं व्याचख्युः। परन्तु यजुर्भाष्ये (३।२२) अस्यैव मन्त्रस्य व्याख्याने 'दोषां रात्रिं वस्ते स्वतेजसाऽऽच्छाद्य निवारयति सोऽग्निः' इत्येवं व्याचख्युः। तस्मादाचार्यपादा उभयथाप्यस्य व्याख्यानं स्वीकुर्वन्तीति स्पष्टम्। यजुर्भाष्ये यथा व्याख्यानं तथा सतीश्वरपक्षे सम्बोधनस्वरोऽवग्रहश्चाञ्जसा सिद्ध्यतः।

मनुष्याणां वा (गोपाम्) गोपायति[1] रक्षति तम् । (ऋतस्य) सत्यस्य सर्वविद्यायुक्तस्य वेदचतुष्टयस्य सनातनस्य जगत्कारणस्य वा । ऋतमिति सत्यनामसु पठितम् । निघं० ३ । १० । ऋत इति पदनामसु च । निघं० ५ । ४ । (दीदिविम्) सर्वप्रकाशकम् । दिवो द्वे दीर्घश्चाभ्यासस्य । उ० ४ । ५५ अनेन क्विन्प्रत्ययः । (वर्धमानम्) ह्रासरहितम् (स्वे) स्वकीये (दमे) दाम्यन्त्युपशाम्यन्ति दुःखानि यस्मिंस्तस्मिन् परमानन्दे पदे । दमुधातोः हलश्च । अ० ३।३।१२१ अनेनाधिकरणे 'घञ्' प्रत्ययः ॥ ८ ॥

अन्वयः—वयं स्वे दमे वर्धमानं राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविं परमेश्वरं नित्यमुपैमसि[2] ॥ ८ ॥

भावार्थः—परमात्मा स्वस्य सत्तायामानन्दे च क्षयाज्ञानरहितोऽन्तर्यामिरूपेण सर्वान् जीवान् सत्यमुपदिशन्नाप्तान् संसारं च रक्षन् सदैव वर्तते । एतस्योपासका वयमप्यानन्दिता वृद्धियुक्ता विज्ञानवन्तो भूत्वाऽभ्युदयनिःश्रेयसं प्राप्ताः सदैव वर्त्तामिह इति ॥ ८ ॥

फिर भी वह परमेश्वर किस प्रकार का है, सो अगले मन्त्र में उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हम लोग[3] (स्वे) अपने (दमे) उस परम आनन्द पद में कि जिसमें बड़े-बड़े दुःखों से छूट कर मोक्षसुख को प्राप्त हुए पुरुष रमण करते हैं, (वर्धमानम्) सबसे बड़े (राजन्तम्) प्रकाशस्वरूप (अध्वराणाम्) पूर्वोक्त यज्ञादि अच्छे-अच्छे कर्म और धार्मिक[4] मनुष्यों के (गोपाम्) रक्षक (ऋतस्य) सत्यविद्यायुक्त चारों वेदों और कार्य जगत् के अनादि कारण के (दीदिविम्) प्रकाश करनेवाले परमेश्वर को उपासना योग से प्राप्त होते हैं ॥८॥

भावार्थ—[5]विनाश और अज्ञान आदि दोष रहित परमात्मा अपने अन्तर्यामिरूप से सब जीवों को सत्य का उपदेश तथा श्रेष्ठ विद्वानों और सब जगत् की रक्षा करता हुआ अपनी सत्ता और परम आनन्द में प्रवृत्त हो रहा है । उस परमेश्वर के उपासक हम भी आनन्दित बुद्धियुक्त विज्ञानवान् होकर विज्ञान में विहार करते हुए परम आनन्दरूप विशेष फलों को प्राप्त होते हैं ॥८॥



१. क. ख ग. संज्ञकेषु त्रिष्वपि हस्तलेखेषु यथामुद्रित एव पाठ उपलभ्यते । वै० य० मुद्रितेषु सस्करणेषु 'गाः पृथिव्यादीन् पाति रक्षति तम्' इति पाठः । अस्मिन् पाठे गोपापदस्य 'अध्वराणाम्' पदेनान्वयो नोपपद्यते । यजुर्भाष्ये (३।२३) एतन्मन्त्रव्याख्याने कखहस्तलेखयोः '(गोपाम्) रक्षकम्' इत्येव पाठ आसीत्, तत्रापि 'इन्द्रियपश्वादीनां' पदं गहस्तलेखे प्रवर्धितः ।

२. 'उपैमसि' पदं पूर्वस्मान्मन्त्रादनुवर्तते । यजुर्भाष्ये (३।२३) तु 'नमः, भरन्तः, धिया, उप, आ, इमसि' पदानामनुवृत्तिः प्रदर्शिता ।

३. 'हम लोग' ये पद अन्त में थे, संस्कृत-अन्वयानुसार यहां लाये ।

४. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'मनुष्य तथा (गोपाम्) पृथिव्यादिकों की रक्षा (ऋतस्य)' पाठ है । वह भी ग. हस्तलेख में परिवर्धित है । विशेष संस्कृत-टिप्पणी में देखें ।

५. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'जैसे विनाश·········वैसे ही परमेश्वर के' पाठ में जैसे, वैसे' पद संस्कृत के अनुसार नहीं हैं, और अनावश्यक भी हैं ।

स कान् क इव रक्षतीत्युपदिश्यते—

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव । सचस्वा नः स्वस्तये ॥ ९ ॥

सः । नः । पिताऽइव । सूनवे । अग्ने । सुऽउपायनः । भव ॥ सचस्व । नः । स्वस्तये ॥ ९ ॥

पदार्थः—(सः) जगदीश्वरः (नः) अस्मभ्यम् (पितेव) जनकवत् (सूनवे) स्वसन्तानाय (अग्ने) ज्ञानस्वरूप ! (सूपायनः) सुष्ठु उपगतमयनं ज्ञानं सुखसाधनं पदार्थप्रापणं यस्मात्सः । (भव सचस्व) समवेतान् कुरु । अन्येषामपि दृश्यते । अ० ६ । ३ । १३७ इति दीर्घः । (नः) अस्मान् (स्वस्तये) सुखाय कल्याणाय च ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे अग्ने ! स त्वं सूनवे पितेव नोऽस्मभ्यं सूपायनो भव । एव नोऽस्मान् स्वस्तये सचस्व ॥ ६ ॥

अत्रोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—सर्वैरेवं प्रयत्नः कर्त्तव्य ईश्वरः प्रार्थनीयश्च—हे भगवन् ! भवानस्मान् रक्षयित्वा शुभेषु गुणकर्मसु सदैव नियोजयतु । यथा पिता स्वसन्तानान् सम्यक् पालयित्वा सुशिक्ष्य शुभगुणकर्म्मयुक्तान् श्रेष्ठकर्मकर्तॄंश्च संपादयति, तथैव भवानपि स्वकृपयाऽस्मान्निष्पादयत्विति ॥ ६ ॥

प्रथमसूक्ते पञ्चभिर्मन्त्रैः श्लेषालङ्कारेण व्यवहारपरमार्थविद्याद्वयसाधनं प्रकाशितम् । एवं चतुर्भिर्मन्त्रैरीश्वरस्योपासना स्वभावश्च [वर्णितोऽ]स्तीति ।

इदं सूक्तं सायणाचार्य्यादिभिर्यूरोपाख्यदेशनिवासिभिश्चान्यथैव व्याख्यातम् ॥

इति प्रथमं सूक्तं समाप्तं वर्गश्च द्वितीयः ॥

वह परमेश्वर किसके समान किनकी रक्षा करता है, सो अगले मन्त्र में उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! (सः) उक्त गुणयुक्त आप, (पितेव) जैसे पिता (सूनवे) अपने पुत्र के लिये उत्तम ज्ञान का देनेवाला होता है, वैसे ही (नः) हम लोगों के लिये (सूपायनः) शोभन ज्ञान, जो कि सब सुखों का साधक, और उत्तम-उत्तम पदार्थों का प्राप्त करनेवाला है, उसके देनेवाले [(भव) हूजिये । तथा] (नः) हम लोगों को (स्वस्तये) सब सुख के लिये (सचस्व) संयुक्त कीजिये ॥ ६ ॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है।

भावार्थ—सब मनुष्यों को उत्तम प्रयत्न और ईश्वर की प्रार्थना इस प्रकार से करनी चाहिये कि—हे भगवन् ! [आप हमारी रक्षा करके हमें शुभगुण और कर्मों में सदा लगावें । तथा] जैसे पिता अपने पुत्रों का अच्छी प्रकार पालन करके और उत्तम उत्तम शिक्षा देकर उनको शुभ गुण[युक्त] और श्रेष्ठ कर्म करने योग्य बना देता है, वैसे ही आप हम लोगों को शुभ गुण और शुभ कर्मों में युक्त सदैव कीजिये ॥ ६ ॥

इस प्रथम सूक्त में पहले पांच मन्त्रों करके **श्लेषालङ्कार** से व्यवहार और परमार्थ की विद्याओं का प्रकाश किया, और चार मन्त्रों से ईश्वर की उपासना और [उसके] स्वभाव का वर्णन किया है।

सायणाचार्य्य आदि और यूरोपदेशवासी डाक्टर **विलसन** आदि ने इस सूक्तभर की व्याख्या उलटी की है। सो मेरे इस भाष्य और उनकी व्याख्या को मिलाकर देखने से सबको विदित हो जायेगा ।।

यह पहला सूक्त और दूसरा वर्ग समाप्त हुआ ।।



अथ नवर्चस्य द्वितीयसूक्तस्य मधुच्छन्दा ऋषिः। १-३ वायुः; ४-६ इन्द्रवायू; ७-९ मित्रावरुणौ च देवताः। १, २ पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री; ३-५, ७-९ गायत्री; ६ निचृद्गायत्री च छन्दः। षड्जः स्वरः ।।

तत्र येन सर्वे पदार्थाः शोभिताः कृताः[1] सन्ति, सोऽर्थ उपदिश्यते—

वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः। तेषां पाहि श्रुधी हवम् ।। १ ।।

वायो इति। आ। याहि। दर्शत। इमे। सोमाः। अरम्ऽकृताः ।। तेषाम्। पाहि। श्रुधि। हवम् ।।१।।

पदार्थः—(वायो) अनन्तबल सर्वप्राणान्तर्यामिन्नीश्वर ! तथा सर्वमूर्त्तद्रव्याधारो जीवनहेतुर्भौतिको वा। प्र वावृजे सुप्रया बर्हिरेषामा विश्पतीव बीरिट इयाते। विशामक्तोरुषसः पूर्वहूतौ वायुः पूषा स्वस्तये नियुत्वान् ।। य० ३३। ४४। **अस्योपरि निरुक्तव्याख्यानरीत्येश्वरभौतिकौ पुष्टिकर्त्तारौ नियन्तारौ द्वावर्थौ वायुशब्देन गृह्येते।**

तथा[2] अथातो मध्यस्थाना देवताः, तासां वायुः प्रथमागामी भवति। वायुर्वातेर्वेत्तेर्वा[3] स्याद् गतिकर्मण एतेरिति स्थौलाष्ठीविरनर्थको वकारस्तस्यैषा भवति—वायवा याहि०। वायवायाहि दर्शनीयेमे सोमा अरंकृता अलंकृतास्तेषां पिब शृणु नो ह्वानमिति। निरु० १०। १-२ ।।

---

१. क. कोशे विद्यते, भाषार्थोऽप्युपलभ्यते।

२. वै०य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'तद्यथा' पदमुपलभ्यते। तच्चात्र न समवैति। क. ख. कोशयोर्नास्ति।

३. निरुक्तपाठे 'वेतेर्वा' पाठः। भाष्यकार उत्तरत्र 'वेत्तेर्वा' पाठमेव व्याख्यायति। तस्मात् 'वेत्तेर्वा' इत्येव भाष्यकार-सम्मतः पाठोऽनुमीयते। 'वेत्तेः' पाठे 'गतिकर्मणः' इत्यस्य 'गतेस्त्रयोऽर्थाः—ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति' वृद्धव्यवहारानुसारमत्र ज्ञानात्यर्थो द्रष्टव्यः। 'वेतेर्वा' इति पाठेऽपि गतेर्ज्ञानार्थत्वे न किञ्चिद् दुष्यति। तथा सति व्याख्याने यत्र यत्र 'वेत्ति' पदं श्रूयते तत्र तत्र 'वेति' इत्येवं शोधनीयः। अत्र ग्रन्थकृत उणादिवृत्तेः 'वाति गच्छति जानाति वेति वायुः पवनः परमेश्वरो वा' (१। १) पाठोऽप्यनुसन्धेयः।

अन्तरिक्षमध्ये ये पदार्थाः सन्ति तेषां मध्ये वायुः प्रथमागाम्यस्ति। वाति सोऽयं वायुः सर्वगत्वादीश्वरो गतिमत्त्वाद् भौतिकोऽपि गृह्यते। वेत्ति सर्वं जगत्स वायुः परमेश्वरोऽस्ति, तस्य सर्वज्ञत्वात्। मनुष्यो येन वायुना तन्नियमेन प्राणायामेन वा परमेश्वरं शिल्पविद्यामयं यज्ञं वा वेत्ति जानातीत्यर्थेन भौतिको वायुर्गृह्यते। एवमेवैति प्राप्नोति चराचरं जगदित्यर्थेन परमेश्वरस्यैव ग्रहणम्। तथा एति प्राप्नोति सर्वेषां लोकानां परिधीनित्यनेनार्थेन[1] भौतिकस्यापि। कुतः? अन्तर्यामिरूपेणेश्वरस्य मध्यस्थत्वात्प्राणवायुरूपेण भौतिकस्यापि। मध्यस्थत्वादेतद् द्वयार्थस्य वाचिका वायवायाहीत्यृक् प्रवृत्तास्तीति विज्ञेयम्।

वायुः सोमस्य रक्षिता वायुमस्य रक्षितारमाह साहचर्य्याद् रसहरणाद्वा०। निरु० ११। ५॥ **वायुः सोमस्य सुतस्योत्पन्नस्यास्य जगतो रक्षकत्वादीश्वरोऽत्र गृह्यते। कस्मात् सर्वेण जगता सह साहचर्य्येण व्याप्तत्वात्। सोमस्य[2] सोमवल्ल्यादेरोषधिगणस्य रसहरणात् तथा समुद्रादेर्जल-ग्रहणाच्च भौतिको वायुरप्यत्र गृह्यते।**

वायुर्वा अग्निः सुषमिद्वायुर्हि स्वयमात्मानं समिन्धे स्वयमिदं सर्वं यदिदं किंच वायुमेव तदन्तरिक्षलोक आयातयति वायुर्वै प्रणीर्यज्ञानाम्॥ वायुर्वै तूर्णिर्हव्यवाड् वायुर्हीदं सर्वं सद्यस्तरति यदिदं किंच वायुर्देवेभ्यो हव्यं वहति। ऐ० २। ३४॥

वायुर्भौतिकोऽग्निदीपनस्य सुषमिदिति ग्राह्यः। वायुसंज्ञोऽहमीश्वरः स्वयमात्मानं यदिदं किंचिज्जगद् वर्त्तते तदिदं सर्वं स्वयं समिन्धे प्रकाशयामि। तथा स एवान्तरिक्षलोके भौतिकमिमं वायुमायातयति विस्तारयति स एव वायुर्भौतिको वा यज्ञानां प्रापकोऽस्तीत्यत्र वायुशब्देनेश्वरश्च। तथा वायुर्वै तूर्णिरित्यादिना भौतिको गृह्यत इति।

(आयाहि) आगच्छ आगच्छति वा। अत्र पक्षे [3]पुरुषव्यत्ययः। (दर्शत) ज्ञानदृष्ट्या द्रष्टुं योग्य! योग्यो वा। (इमे) प्रत्यक्षाः (सोमाः) सूयन्त उत्पद्यन्ते ये ते पदार्थाः (अरंकृताः) अलंकृता भूषिताः। संज्ञाछन्दसोर्वा कपिलकादीनामिति वक्तव्यम्। अ० ८। २। १८ **इति लत्व-विकल्पः। (तेषाम्) तान् पदार्थान्।** षष्ठी शेषे। अ० २। ३। ५० **इति शेषत्वविवक्षायां षष्ठी। (पाहि) [रक्ष][4] रक्षयति वा। (श्रुधि) [शृणुहि][4] श्रावयति वा। अत्र** बहुलं छन्दसि [अ० २। ४। ७३] **इति शपो लुकि] विकरणाभावः[5]।** श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि। ६।४।१०२ **अनेन हेर्धिः। [([6]हवम्) स्तुतिं शब्दव्यवहारं वा]॥१॥**

---

१. ग. कोशे पाठो दृश्यते। २. क. कोशे पदं विद्यते। उत्तरत्र लिपिकरप्रमादान्नष्टम्।

३. 'पुरुष' शब्दः ख. ग. कोशयोर्विद्यते। मुद्रणे प्रमादान्नष्टं स्यात्।

४. ईश्वरपक्षेऽर्थस्य स्पष्टतायै 'याहि' पदार्थवद् एतस्य पाठ आवश्यकः।

५ तदुक्तं ग्रन्थकृता स्वीयेऽष्टाध्यायीभाष्ये—'शबादेशाः श्यन्नादयः करिष्यन्ते (महाभाष्य ३।१।६७) इति वचनाच्छपो लुकि तत्स्थानभाविनामादेशानामप्यभावः। तेन श्यन्नादीनामपि लुक्युदाहरणानि सिद्ध्यन्ति'। २।४।७३॥ अत्र ४०८ पृष्ठे भूमिकायां 'बहुलं छन्दसि' २।४।७३ सूत्रव्याख्यानमपि द्रष्टव्यम्।

६ वै० य० मुद्रितयोः १,२ संस्करणयोः '(हवं)' पदं नास्ति। तच्च तृतीये संस्करणे पूरितम्। वस्तुतोऽत्र लेखकप्रमादान्मुद्रणप्रमादाद्वा मन्त्रपदं तद्व्याख्यानं च नष्टम्।

अन्वयः—हे दर्शत वायो **जगदीश्वर** ! त्वमायाहि । **येन** त्वयेमे सोमा अरंकृता **अलंकृताः सन्ति** । तेषां **तान् पदार्थान्** पाहि, **अस्माकं** हवं श्रुधि ॥

योऽयं दर्शत **द्रष्टुं योग्यो** वायो [1]**वायुः**, **येनेमे** सोमा अरंकृता **अलंकृताः सन्ति**, **स** तेषां **तान् सर्वानिमान् पदार्थान्** पाहि **पाति**, श्रुधि हवं **स एव सर्वं शब्दव्यवहारं श्रावयति** । आयाहि **सर्वान् पदार्थान् स्वगत्या प्राप्नोति** ॥ १ ॥

अत्र श्लेषालङ्कारेणेश्वरभौतिकावर्थौ गृह्येते ।

भावार्थः—**ब्रह्मणा स्वसामर्थ्येन सर्वे पदार्थाः सृष्ट्वा नित्यं भूष्यन्ते, तथा तदुत्पादितेन वायुना च । नैव तद्धारणेन विना कस्यापि रक्षणं संभवति । प्रेम्णा जीवेन प्रयुक्तां स्तुतिं वाणीं चेश्वरः सर्वगतः प्रतिक्षणं शृणोति । तथा जीवो वायुनिमित्तेनैव शब्दानामुच्चारणं श्रवणं च कर्त्तुं शक्नोतीति** ॥ १ ॥

अब द्वितीय सूक्त का प्रारम्भ है । उसके प्रथम मन्त्र में उन पदार्थों का वर्णन किया है कि जिन्होंने सब पदार्थ शोभित कर रक्खे हैं—

पदार्थान्वयभाषा हे (दर्शत) ज्ञान से देखने योग्य (वायो) अनन्त बलयुक्त सब के प्राणरूप अन्तर्यामी परमेश्वर ! आप हमारे हृदय में (आयाहि) प्रकाशित हूजिये । कैसे आप हैं कि जिन्होंने (इमे) इन प्रत्यक्ष (सोमाः) संसारी पदार्थों को (अरंकृताः) अलंकृत अर्थात् सुशोभित कर रक्खा है । आप ही (तेषाम्) उन पदार्थों की (पाहि) रक्षा कीजिये, और हमारी (हवम्) स्तुति को (श्रुधि) सुनिये ॥

तथा (दर्शत) स्पर्शादि गुणों से जानने योग्य, (वायो) सब मूर्तिमान् पदार्थों का आधार, और प्राणियों के जीवन का हेतु भौतिक वायु (आयाहि) सब को प्राप्त होता है । फिर जिस भौतिक वायु ने (इमे) प्रत्यक्ष (सोमाः) संसार के पदार्थों को (अरंकृताः) शोभायमान किया है, वही (तेषाम्) उन पदार्थों की (पाहि) रक्षा का हेतु है । और जिससे सब प्राणी लोग (हवम्) कहने और सुनने रूप व्यवहार को (श्रुधि) कहते सुनते हैं ॥

आगे ईश्वर और भौतिक वायु के पक्ष में प्रमाण दिखलाते हैं – (प्रवावृजे०) इस प्रमाण में वायु शब्द से परमेश्वर और भौतिक वायु पुष्टिकारी और जीवों को यथायोग्य नियमों में चलानेवाले गुणों से ग्रहण किये गये हैं । (अथातो०) जो-जो पदार्थ अन्तरिक्ष में हैं, उनमें प्रथमागामी वायु अर्थात् उन पदार्थों में रमण करनेवाला कहाता है । [2][सब को प्राप्त होने से परमेश्वर और गमनशील होने से भौतिक वायु का ग्रहण होता है ।] तथा सब जगत् को जानने से वायु शब्द करके परमेश्वर का ग्रहण होता है । तथा मनुष्य लोग वायु से प्राणाणाम करके और उनके गुणों के ज्ञान द्वारा परमेश्वर और शिल्पविद्यामय यज्ञ को जान सकता है । इस अर्थ से

१. 'वायो वायुः' पाठः वै०य० मुद्रितेषु सस्करणेषु 'स एव' इत्यस्मादुपरिष्टाद् दृश्यते । संस्कृतान्वयानुसारं भाषार्थानुसारं चात्र पाठो युक्तः ।

२. यहां भाषा संस्कृत से कुछ भिन्न है ।

वायु शब्द करके ईश्वर और भौतिक का ग्रहण होता है। इसी प्रकार जो चराचर जगत् में व्याप्त हो रहा है, इस अर्थ से वायु शब्द करके परमेश्वर का, तथा जो सब लोकों को परिधिरूप से घेर रहा है, इस अर्थ से भौतिक का ग्रहण होता है। क्योंकि परमेश्वर अन्तर्यामिरूप और भौतिक प्राणरूप से संसार में रहनेवाले हैं। इन्हीं दो अर्थों की कहनेवाली वेद की (वायवा याहि०) यह ऋचा जाननी चाहिये।

इसी प्रकार से इस ऋचा का (वायवा याहि दर्शनीये०) इत्यादि व्याख्यान निरुक्तकार ने भी किया है, सो संस्कृत में देख लेना। वहां भी वायु शब्द से परमेश्वर और भौतिक इन दोनों का ग्रहण है। तथा (वायुः सोमस्य०) वायु अर्थात् परमेश्वर उत्पन्न हुए जगत् की रक्षा करनेवाला, और उसमें व्याप्त होकर उसके अंश-अंश के साथ भर रहा है। इस अर्थ से ईश्वर का। तथा सोमवल्ली आदि ओषधियों के रस हरने, और समुद्रादिकों के जल को ग्रहण करने से भौतिक वायु का ग्रहण जानना चाहिये। (वायुर्वा अ०) इत्यादि वाक्यों में वायु को अग्नि के अर्थ में भी लिया है। परमेश्वर का उपदेश है कि मैं वायुरूप होकर इस जगत् को आप ही प्रकाश करता हूं। तथा मैं ही अन्तरिक्ष लोक में भौतिक वायु को अग्नि के तुल्य परिपूर्ण और यज्ञादिकों को वायुमण्डल में पहुंचानेवाला हूं॥ १॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार [से वायु शब्द से परमेश्वर और भौतिक वायु का ग्रहण होता] है।

भावार्थ[1]—जैसे परमेश्वर के सामर्थ्य से रचे हुए पदार्थ नित्य ही सुशोभित होते हैं, वैसे ही जो ईश्वर का रचा हुआ भौतिक वायु है। उसकी धारणा से भी सब पदार्थों की रक्षा और शोभा। तथा जैसे जीव की प्रेमभक्ति से की हुई स्तुति का सर्वगत ईश्वर प्रतिक्षण सुनता है, वैसे ही भौतिक वायु के निमित्त से भी जीव शब्दों में उच्चारण और श्रवण करने को समथ होता है॥ १॥



कथममेतौ स्तोतव्यावित्युपदिश्यते—

वाय॑ उ॒क्थेभि॑र्जरन्ते॒ त्वामच्छा॑ जरि॒तार॑ः। सु॒तसो॑मा अह॒र्विद॑ः॥ २॥

वायो॒ इति॑। उ॒क्थेभि॑ः। ज॒र॒न्ते॒। त्वाम्। अच्छ॑। ज॒रि॒तार॑ः॥ सु॒तऽसो॑माः। अ॒ह॒ःऽविद॑ः॥ २॥

पदार्थः—(वायो) अनन्तबलेश्वर! **(उक्थेभिः) स्तोत्रैः। अत्र** बहुलं छन्दसि [अ० ७।१।१०] **इति भिसः स्थान ऐस्भावः।** (जरन्ते) स्तुवन्ति। जरा स्तुतिर्जरतेः स्तुतिकर्मणः। निरु० १०।८। **जरत** इत्यर्चतिकर्मा। निघं० ३। १४। **(त्वाम्) भवन्तम् (अच्छ) साक्षात्।** निपातस्य च। अ० ६। ३। १३५ इति दीर्घः। (जरितारः) **स्तोतारोऽर्चकाश्च (सुतसोमाः) सुता उत्पादिताः सोमा ओषध्यादिरसा विद्यार्थं यैस्ते (अहर्विदः) य अहर्विज्ञानप्रकाशं विन्दन्ति प्राप्नुवन्ति ते।**

भौतिकवायुग्रहणे खल्वयं विशेषः—**(वायो) गमनशीलो विमानादिशिल्पविद्यानिमित्तः पवनः।** (जरितारः) **स्तोतारोऽर्थाद् वायुगुणस्तावका भवन्ति। यतस्तद्विद्या प्रकाशितगुणफला सती सर्वोपकाराय स्यात्॥ २॥**

---

१. यहां भाषा संस्कृत से कुछ भिन्न है।

अन्वयः—हे वायो ! अर्हविदः सुतसोमा जरितारो विद्वांस उक्थेभिस्त्वामच्छा जरन्ते ॥२॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ।

भावार्थः—अनेन मन्त्रेण वेदादिस्थैः स्तुतिसाधनैः स्तोत्रैः परमार्थव्यवहारविद्यासिद्धये वायुशब्देन परमेश्वरभौतिकयोर्गुणप्रकाशेनोभे विद्ये साक्षात् कर्त्तव्ये इति ।

अत्रोभयार्थग्रहणे [1]प्रथममन्त्रोक्तानि प्रमाणानि ग्राह्याणि ॥ २ ॥

उक्त परमेश्वर और भौतिक वायु किस प्रकार स्तुति करने योग्य हैं, सो अगले मन्त्र में उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (वायो) अनन्त बलवान् ईश्वर ! जो जो (अर्हविदः) विज्ञानरूप प्रकाश को प्राप्त होने (सुतसोमाः) ओषधि आदि पदार्थों के रस को उत्पन्न करने (जरितारः) स्तुति और सत्कार के करनेवाले विद्वान् लोग हैं, वे (उक्थेभिः) वेदोक्त स्तोत्रों से (त्वाम्) आपको (अच्छ) साक्षात् करने के लिये (जरन्ते) स्तुति करते हैं ॥

[भौतिक पक्ष में यह विशेष है—(वायो) गमनशील विमानादि शिल्पविद्या का निमित्त वायु=पवन । (जरितारः) स्तोता अर्थात् वायु के गुणों के प्रकाश करनेवाले होते हैं । जिससे इस वायुविद्या के गुण और फल प्रकाशित होकर सब के उपकार के लिये होवें ॥ २ ॥]

यहां श्लेषालङ्कार है ।

भावार्थ—इस मन्त्र से [तथा] जो वेदादि शास्त्रों में कहे हुए स्तुतियों के निमित्त स्तोत्र हैं, उनसे व्यवहार और परमार्थ विद्या की सिद्धि के लिये [वायु शब्द से] परमेश्वर और भौतिक वायु के गुणों का प्रकाश किया गया है । [इससे दोनों विद्याओं का साक्षात्कार करना चाहिये ।]

इस मन्त्र में वायु शब्द से परमेश्वर और भौतिक वायु के ग्रहण करने के लिये पहिले[2] मन्त्र में कहे हुए प्रमाण ग्रहण करने चाहियें ॥ २ ॥



अथ तेषामुक्थानां श्रवणोच्चारणनिमित्तमुपदिश्यते—

वायो तव॑ प्रपृ॒ञ्च॒ती धेना॑ जिगाति दा॒शुषे॑ । उ॒रू॒ची सोम॑पीतये ॥ ३ ॥

वायो इति॑ । तव॑ । प्र॒ऽपृ॒ञ्च॒ती । धेना॑ । जि॒गा॒ति॒ । दा॒शुषे॑ ॥ उ॒रू॒ची । सोम॑ऽपीतये ॥ ३ ॥

पदार्थः—(वायो) वेदवाणीप्रकाशकेश्वर ! (तव) जगदीश्वरस्य (प्रपृञ्चती) प्रकृष्टा चासौ पृञ्चती चार्थसंबन्धेन सकलविद्यासंपर्ककारयित्री (धेना) वेदचतुष्टयी वाक् । धेनेति वाङ्नामसु पठितम् । निघं० १ । ११ । **(जिगाति) प्राप्नोति** । जिगातीति गतिकर्मसु पठितम् । निघं० २ । १४ । **तस्मात् प्राप्त्यर्थो[3] गृह्यते । (दाशुषे) निष्कपटेन विद्यां दात्रे पुरुषार्थिने मनुष्याय**

१. द्वितीयसूक्तस्य प्रथममन्त्र इत्यर्थः । २. अर्थात् द्वितीय सूक्त के पहले मन्त्र में ।

३. गतेस्त्रयोऽर्थाः—ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेत्युक्तं प्राक् ।

(उरूची) बह्वीनां पदार्थविद्यानां ज्ञापिका[1] । उर्विति बहुनामसु पठितम् । निघं० ३ । १ । **(सोमपीतये) सूयन्ते ये पदार्थास्तेषां पीतिः पानं यस्य, तस्मै विदुषे मनुष्याय । अत्र** सह सुपा [अ० २ । १ । ४] **इति**[2] **समासः ।**

भौतिकपक्षे त्वयं **विशेषः—(वायो) पवनस्य योगेनैव (तव) अस्य (प्रपृञ्चती) शब्दोच्चारणसाधिका (धेना) वाणी (दाशुषे) शब्दोच्चारणकर्त्रे (उरूची) बह्वर्थज्ञापिका । अन्यत् पूर्ववत् ।। ३ ।।**

अन्वयः—हे वायो **परमेश्वर** ! **भवत्कृपया** या तव प्रपृञ्चत्युरूची धेना **सा** सोमपीतये दाशुषे विदुषे जिगाति ।।

तथा तवास्य वायो **प्राणस्य** प्रपृञ्चत्युरूची धेना सोमपीतये दाशुषे **जीवाय** जिगाति ।। ३ ।।

अत्रापि श्लेषालङ्कारः ।

भावार्थः—द्वितीयमन्त्रे यया वेदवाण्या परमेश्वरभौतिकयोर्गुणाः प्रकाशितास्तस्याः फलप्राप्ती[3] **अस्मिन् मन्त्रे प्रकाशिते स्तः । अर्थात् प्रथमार्थे वेदविद्या द्वितीये वक्तॄणां जीवानां वाङ्-निमित्तं च प्रकाश्यत इति ।। ३ ।।**

पूर्वोक्त स्तोत्रों का जो श्रवण और उच्चारण का निमित्त है, उसका प्रकाश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे(वायो)वेदविद्या के प्रकाश करनेवाले परमेश्वर! (तव) आपकी [कृपा से जो] (प्रपृञ्चती) सब विद्याओं के संबन्ध से विज्ञान का प्रकाश कराने, और (उरूची) अनेक विद्याओं के प्रयोजनों को प्राप्त करानेहारी (धेना) चार वेदों की वाणी है, सो (सोमपीतये) उत्पन्न किये जाने योग्य संसारी पदार्थों के निरन्तर विचार करने, तथा (दाशुषे) निष्कपट से प्रीति के साथ विद्या देनेवाले पुरुषार्थी विद्वान् को (जिगाति) प्राप्त होती है ।।

दूसरा अर्थ— (वायो तव) इस भौतिक वायु के योग से जो (प्रपृञ्चती) शब्दोच्चारण श्रवण कराने और (उरूची) अनेक पदार्थों की जनानेवाली (धेना) वाणी है, सो (सोमपीतये) [उत्पन्न किये जाने योग्य] संसारी पदार्थों के पान अर्थात् निरन्तर विचार करनेवाले (दाशुषे) शब्दोच्चारण-श्रवण करनेवाले पुरुषार्थी विद्वान् को (जिगाति) प्राप्त होती है ।। ३ ।।

यहां भी श्लेषालङ्कार है ।

१. अञ्चतेर्गत्यर्थत्वादिह प्राप्तिरूपोऽर्थो गृह्यते ।

२. यस्य समासस्य लक्षणं न दृश्यते तस्यानेन समासो भवति । तदुक्तं भाष्यकारेण—'सुपा सह सुप् समस्यते । अधिकारश्च लक्षणं च । यस्य सामान्यलक्षणं नास्ति, इदं तस्य लक्षणं भविष्यति' । २ । १ । ४ ।।

३. फलं प्राप्तिश्च । अत्र 'लघ्वक्षरं पूर्वं निपतति' इति वार्तिकेन (२।२।३४) फलस्य पूर्वनिपातः । यद्वा 'नाडीमुष्टयोश्च' (अ० ३।२।३०) इत्यत्र मुष्टेः परनिपातेन घ्यन्तस्य पूर्वनिपातस्यानित्यत्वज्ञापनात् न प्राप्तिशब्दस्य पूर्वनिपातः ।

भावार्थ—दूसरे मन्त्र में जिस वेदवाणी से परमेश्वर और भौतिक वायु के गुण प्रकाश किये हैं, उसका फल और प्राप्ति इस मन्त्र में प्रकाशित की है। अर्थात् प्रथम अर्थ से वेदविद्या और दूसरे से जीवों की वाणी के निमित्त [का] प्रकाश किया है ॥ ३ ॥



अथोक्थप्रकाशितपदार्थानां वृद्धिरक्षणनिमित्तमुपदिश्यते—

इन्द्र॑वायू इ॒मे सु॒ता उप॒ प्रयो॑भि॒राग॑तम् । इन्द॑वो वामु॒शन्ति॒ हि ॥ ४ ॥

इन्द्र॑वायू॒ इति॑ । इ॒मे । सु॒ताः । उप॑ । प्रयः॑ऽभिः । आ । ग॒त॒म् ॥ इन्द॑वः । वा॒म् । उ॒शन्ति॑ । हि ॥४॥

पदार्थः—(**इन्द्रवायू**) **इमौ प्रत्यक्षौ सूर्य्यपवनौ।** इन्द्रे॑ण रोच॒ना दि॒वो दृ॒ळ्हानि॑ दृंहि॒तानि॑ च । स्थि॒राणि॒ न प॑रा॒णुदे॑ ॥ ऋ० ८ । १४ । ९ । **यथेन्द्रेण सूर्य्यलोकेन प्रकाशमानाः किरणा धृताः, एवं च स्वाकर्षणशक्त्या पृथिव्यादीनि भूतानि दृढानि पुष्टानि स्थिराणि कृत्वा दृंहितानि धारितानि सन्ति (न पराणुदे) अतो नैव स्वस्वकक्षां विहायेतस्ततो भ्रमणाय समर्थानि भवन्ति।**

'इ॒मे चि॑दिन्द्र॒ रोद॑सी अपा॒रे यत्सं॑गृ॒भ्णा म॑घवन् का॒शिरित्ते॑' । इमे चिदिन्द्र रोदसी रोधसी द्यावापृथिव्यौ विरोधनाद् रोधः [कूलं निरुणद्धि स्रोतः] कूलं रुजतेर्विपरीताल्लोष्ठो विपर्य्ययेणापारे दूरपारे यत्संगृभ्णासि मघवन् काशिस्ते महान् । 'अ॒हु॒स्तमि॑न्द्र॒ सं पि॑ण॒क्कुणा॑रुम्' । अहस्तमिन्द्र कृत्वा संपिण्ढि परिक्वणनं मेघम् । निरु० ६ । १ ॥

यतोऽयं सूर्य्यलोको भूमिप्रकाशौ धारितवानस्ति, अत एव पृथिव्यादीनां निरोधं कुर्वन् पृथिव्याः[1] मेघस्य च कूलं स्रोतश्चाकर्षणेन निरुणद्धि। यथा बाहुवेगेनाकाशे प्रतिक्षिप्तो लोष्ठो मृत्तिकाखण्डः पुनःविपर्य्ययेण[2] आकर्षणाद् भूमिमेवागच्छति, एवं दूरे स्थितानपि पृथिव्यादिलोकान् सूर्य्य एव धारयति। सोऽयं सूर्य्यस्य महानाकर्षः प्रकाशश्चास्ति। तथा वृष्टिनिमित्तोऽप्ययमेवास्ति। इन्द्रो वै त्वष्टा । ऐ० ब्रा० ६ । १० । **सूर्य्यो भूम्यादिस्थस्य रसस्य मेघस्य च छेत्तास्ति। एतानि [भौतिकेन्द्रविषयाणि प्रमाणानि।] भौतिकवायुविषयाणि** 'वायवा याहि०'[3] **इति मन्त्रप्रोक्तानि प्रमाणान्यत्रापि ग्राह्याणि।**

(**इमे**) **प्रत्यक्षभूताः** (**सुताः**) **पदार्थाः** (**उप**) **समीपम्** (**प्रयोभिः**) **तृप्तिकरैरन्नादिभिः पदार्थैः सह।** प्रीञ् तर्पणे कान्तौ **चेत्यस्मादौणादिकोऽसुन्प्रत्ययः।** (**आगतम्**) **आगच्छतः। लोट्-मध्यमद्विवचनम्।** बहुलं छन्दसि (अ० २ । ४ । ७३) **इति शपो लुक्।** अनुदात्तोपदेश० (अ० ६ । ४ । ३७) **इत्यनुनासिकलोपः।** (**इन्दवः**) **जलानि क्रियामया यज्ञाः प्राप्तव्या भोगाश्च।** इन्दुरित्युदकनामसु पठितम् । निघं १ । १२ । यज्ञनामसु । निघं ३ । १७ । पदनामसु च । ५ । ४ । (**वाम्**) **तौ** (**उशन्ति**) **प्रकाशन्ते** (**हि**) **यतः ॥ ४ ॥**

---

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'पृथिव्यां' अपपाठोऽनन्वयात् । भाषार्थो 'पृथिव्याः' पदस्यैव दृश्यते ।

२. निरुक्तस्य संहितापाठे 'विपर्ययेण' 'अविपर्ययेण' इत्युभयथाऽपि छेदः सम्भवति । एतद ग्रन्थकृता 'विपर्ययेण' छेद आश्रितः । निरुक्तव्याख्यातारस्तु 'अविपर्ययेण' इत्येवं छिदन्ति ।

३. ऋ० १।२।१ ॥ द्र०—पृष्ठ ४५९, ४६० ।

अन्वयः—इमे सुता इन्दवो हि **यतो** वां **तौ सहचारिणा**विन्द्रवायू **प्रकाशन्ते**, **तौ** पागच्छतस्ततः प्रयोभिरन्नादिभिः पदार्थैः सह सर्वे प्राणिनः सुखान्युशन्ति **कामयन्ते**[1] ।।४।।

भावार्थः—अस्मिन् मन्त्रे प्राप्यप्रापकपदार्थानां प्रकाशः कृत इति ।। ४।।

अब जो स्तोत्रों से प्रकाशित पदार्थ हैं, उनकी वृद्धि और रक्षा के निमित्त का अग में उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—[2] (इमे) ये प्रत्यक्ष (सुताः) उत्पन्न हुए पदार्थ (इन्दवः) जो जल, यज्ञ और प्राप्त होने योग्य भोग पदार्थ हैं, वे (हि) जिस कारण [(वाम्) उन दोनों (इन्द्र सूर्य और पवन को (उशन्ति) प्रकाशित करते हैं, [और वे सूर्य तथा पवन (उपागतम्) प्राप्त होते हैं,] इसी कारण (प्रयोभिः) [तृप्ति करानेवाले] अन्नादि पदार्थों के साथ सुख की कामना करते हैं ।।

यहां इन्द्र शब्द के भौतिक अर्थ के लिये ऋग्वेद के मन्त्र का प्रमाण दिखलाते हैं— सूर्यलोक ने अपनी प्रकाशमान किरणों, तथा अपने आकर्षण अर्थात् पदार्थ खेंचने के सा पृथिवी आदि लोकों को स्थिर करके धारण किया है। इससे वे 'न पराणुदे' अपने-अपने चक्र अर्थात् घूमने के मार्ग को छोड़कर इधर-उधर हटके नहीं जा सकते हैं। (इमें चिदि [जिस कारण] सूर्य लोक [ने] भूमि आदि लोकों तथा प्रकाश को धारण किया है, कारण] वह पृथिवी आदि को अपनी खेंचने की शक्ति से पृथिवी के किनारे और मेघ के स्रोत को रोक रहा है। जैसे आकाश में [हाथ के वेग से] फेंका हुआ मिट्टी का ढेला की आकर्षणशक्ति से पृथिवी पर ही लौटकर आ पड़ता है, इसी प्रकार दूर ठहरे हुए भी आदि लोकों को सूर्य ने ही आकर्षण शक्ति से खेंचके धारण कर रखा है। यही सूर्य का बड़ा आकर्षण और प्रकाश वर्षा का निमित्त भी है। (इन्द्रः०[5]) सूर्य भूमि आदि लोकों में रस और मेघ का भेदन करनेवाला है। भौतिक वायु के विषय में (वायवा याहि०[6]) की व्याख्या में जो प्रमाण कहे हैं, वे यहां भी जानने चाहियें ।। ४ ।।

भावार्थ—इस मन्त्र में परमेश्वर ने प्राप्त होने योग्य और प्राप्त करानेवाले इन दो **का प्रकाश किया है** ।।४।।



१. अत्रान्वय इत्थं ज्ञेयः—**हि** यत **इमे सुता इन्दवः** प्रकाशन्ते, **वां** तौ च सहचारिणौ **इन्द्रवायू** उपागच्छतः। ततः **प्रयोभिरन्नादिपदार्थैः** सह सर्वे प्राणिनः सुखान्यु**शन्ति** कामयन्ते ।

२. पूर्व-मुद्रित भाषापदार्थ बहुत दूषित था। मन्त्रगत कई पद छूट गये थे, और कुछ भाग पुनरुक्त प्रमाणों का भावार्थ भी मध्य में था। हमने अल्प परिवर्तन द्वारा संस्कृत अन्वय के अनुसार भाषा-पदा दिया है। फिर भी संस्कृत अन्वय के अस्पष्ट होने से भावार्थ भी अस्पष्ट है।

३. ऋ० ८।१४।९ ।।
४. ऋ० ३।३०।५ ।। तथा निरुक्त ६।१ ।।
५. ऐ० ब्रा० ६।१० ।।
६. ऋ० १।२।१ ।। द्र०—पृष्ठ ४६१, ४६२ ।

[1]एतन्मन्त्रोक्तौ सूर्य्यपवनावीश्वरेण धारितावेतत्कर्मनिमित्ते भवत इत्युपदिश्यते—

वायविन्द्रश्च चेतथः सुतानां वाजिनीवसू। तावा यातमुप द्रवत् ॥ ५ ॥

वायो इति। इन्द्रः। च। चेतथः। सुतानाम्। वाजिनीवसू इति वाजिनीऽवसू ॥ तौ। आ। यातम्। उप। द्रवत् ॥ ५ ॥

पदार्थः—(वायो) हे[2] ज्ञानस्वरूपेश्वर! (इन्द्रः) पूर्वोक्तः (च) अनुक्तसमुच्चयार्थे, तेन वायुश्च (चेतथः) चेतयतः प्रकाशयित्वा धारयित्वा च संज्ञापयतः[3]। अत्र व्यत्ययो[4]ऽन्तर्गतो ण्यर्थश्च। (सुतानाम्) त्वयोत्पादितान् पदार्थान्। अत्र शेषे षष्ठी। (वाजिनीवसू) उषोवत् प्रकाशवेगयोर्वसतः। वाजिनीत्युषसो नामसु पठितम्। निघं १। ८। (तौ) इन्द्रवायू (आयातम्) आगच्छतः। अत्रापि व्यत्ययः[4]। (उप) सामीप्ये (द्रवत्) शीघ्रम्। द्रवदिति क्षिप्रनामसु पठितम्। निघं० २। १५ ॥ ५ ॥

अन्वयः—हे वायो ईश्वर! यतो भवद्रचितौ वाजिनीवसू [इन्द्रश्] च पूर्वोक्तो वायू सुतानां सुतान् भवदुत्पादितान् पदार्थान् चेतथः संज्ञापयतस्ततस् [तौ] तान् पदार्थान् द्रवच्छीघ्रमुपायातमुपागच्छतः ॥ ५ ॥

भावार्थः—यदि परमेश्वर एतौ न रचयेर्त्तर्हि कथमिमौ स्वकार्य्यकरणे समर्थौ भवत इति ॥ ५ ॥

इति तृतीयो वर्गः ॥

अब पूर्वोक्त सूर्य्य और पवन जो कि ईश्वर ने धारण किये हुए हैं, वे इस धारण और आकर्षण कर्म के निमित्त होते हैं, इस विषय का अगले मन्त्र में उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (वायो) ज्ञानस्वरूप ईश्वर! आपके रचे हुए (वाजिनीवसू) उषा काल के तुल्य प्रकाश [और वेग से युक्त] (इन्द्रः) पूर्वोक्त सूर्य्यलोक (च) और वायु (सुतानाम्) आपके उत्पन्न किये हुए पदार्थों का (चेतथः) धारण और प्रकाश करके उनको जीवों के दृष्टिगोचर कराते हैं, इसी कारण [(तौ)] वे दोनों उन पदार्थों को (द्रवत्) शीघ्रता से (उपायातम्) प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—[5]यदि परमेश्वर इन सूर्य्यलोक और वायु को न बनावे, तो ये दोनों अपने कार्य को करने में कैसे समर्थ होवें ॥ ५ ॥

यह तीसरा वर्ग समाप्त हुआ ॥



१. अत्रैतच्छब्देन पूर्वो मन्त्रः प्रतिनिर्दिश्यते। २. 'हे' क. ख. ग. कोशेषूपलभ्यते।

३. अत्र दर्शनार्थे ज्ञपिर्ण्यन्तः। 'मारणतोषणनिशामनेषु ज्ञा' (धातु० १।५५१) इति वचनान्न मित्संज्ञकः।

४. 'पुरुषव्यत्ययः' इति भावः।

५. यह भावार्थ हमने संस्कृत-भावार्थ के अनुसार दिया है। वै०य०मुद्रित संस्करणों में 'इस मन्त्र में परमेश्वर

अथ तयोर्बहिरन्तःकार्य्यमुपदिश्यते—

वायुविन्द्रश्च सुन्वत आ यातमुप निष्कृतम् । मक्ष्वि१त्था धिया नरा ॥ ६ ॥

वायो इति । इन्द्रः । च । सुन्वतः । आ । यातम् । उप । निःऽकृतम् ॥ मक्षु । इत्था । धिया । नरा ॥६॥

पदार्थः—(वायो) हे[1] **सर्वान्तर्यामिन्नीश्वर ! (इन्द्रश्च) अन्तरिक्षस्थः सूर्य्यप्रकाशो वायुश्च**[2] । इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा । अ० ५।२।९३ **इति सूत्राशयादिन्द्रशब्देन जीवस्यापि ग्रहणम्** । प्राणो वै वायुः । श० ८ । १ । ७ । २ । **अत्र वायुशब्देन प्राणस्य ग्रहणम् । (सुन्वतः) अभिनिष्पादयतः (आ) समन्तात् (यातम्) प्राप्नुतः । अत्र व्यत्ययः । (उप) समीप्यम्**[3] **(निष्कृतम्) कर्मणां** सिद्धिः[4] **फलं च (मक्षु) त्वरितगत्या** । मक्ष्विति क्षिप्रनामसु पठितम् । निघं २ । १५ । **(इत्था) धारणपालनवृद्धिक्षयहेतुना** । था हेतौ च च्छन्दसि । अ० ५ । ३ । २६ **इति थाप्रत्ययः** । (धिया) **धारणावत्या बुद्धया कर्मणा वा** । धीरिति प्रज्ञानामसु पठितम् । निघं० ३ । ९ ॥ कर्मनामसु च । निघं० २ । १ । **(नरा)** [5]**नयनकर्त्तारौ** । सुपां सुलुग्० [अ० ७ । १ । ३९] **इत्याकारादेशः** ॥६॥

अन्वयः—हे वायो ! नरा **नराविन्द्रश्चेन्द्रवायू** मक्ष्वित्था **यथा** सुन्वतस्तथा **तौ** धिया निष्कृतमुपायातमुपायतः ॥ ६ ॥

[6]**[अत्र श्लेषालङ्कारः ।]**

भावार्थः—यथाऽत्र ब्रह्माण्डस्थाविन्द्रवायू सर्वप्रकाशकपोषकौ स्तः, एवं शरीरे जीवप्राणावपि । परन्तु सर्वत्रेश्वराधारापेक्षाऽस्तीति ॥६॥

पूर्वोक्त इन्द्र और वायु के शरीर के भीतर और बाहरले कार्य्यों का अगले मन्त्र में उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—[7]हे (वायो) सबके अन्तर्यामी ईश्वर ! आपके धारण किये हुए (नरा)

की सत्ता के अवलम्ब से उक्त इन्द्र और वायु अपने-अपने कार्य करने में समर्थ होते हैं, यह वर्णन किया है ।' इस प्रकार छपा है । यह भावार्थ क. कोश में पठित संस्कृत-भावार्थानुसारी है । क. कोश का संस्कृत-भावार्थ इस प्रकार है—'अत्र मन्त्रे परमेश्वरस्यैव सत्तामाश्रित्यैतौ स्वकार्यकरणे समर्थौ स्त इति ।'

१. 'हे' पदं क. ख. ग. कोशेषूपलभ्यते ।

२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'वायुर्वा' इत्यपपाठः । मन्त्रे समुच्चयार्थकस्य चकारस्य पाठात् ।

३. 'सामीप्ये' इति साधुतरं स्यात् ।

४. 'सिद्धिः' पदं क. ख. ग. कोशेषूलभ्यते ।

५. भौतिकपक्षे 'सर्वजगत्पदार्थानाम्' इति शेषः, शरीरपक्षे 'सर्वधातुरसानाम्' इति शेषः । द्रष्टव्यो भाषा-पदार्थः । ख. कोशे तु 'सर्वजगत्पदार्थानां नयनकर्त्तारौ' इति पदार्थ एव पठ्यते ।

६. मन्त्रस्थयोरिन्द्रवायुशब्दयोर्द्विविधार्थनिर्देशादावश्यकः पाठः ।

७. वै० य० मुद्रित संस्करणों में दोनों अर्थ संक्षिप्त तथा अधूरे छपे हैं । हमने उन्हें पृथक् पृथक् पूर्ण करके छापा है ।

संसार के सब पदार्थों को प्राप्त करानेवाले (इन्द्रः) अन्तरिक्ष में स्थित सूर्य का प्रकाश (च) और पवन (मक्षु) शीघ्र गमन से (इत्था) धारण पालन वृद्धि और क्षय के हेतु से जैसे सोम आदि सब ओषधियों के रस को (सुन्वतः) उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार वे दोनों (धिया) अपने-अपने कर्मों से (निष्कृतम्) अपने-अपने कार्यों की सिद्धि को (उपायातम्) प्राप्त होते है [। इति प्रथमः] ।।

हे (वायो) सबके अन्तर्यामी ईश्वर ! जैसे (नरा) शरीरों को गतिशील रखनेवाले (इन्द्रः) जीव (च) और प्राणवायु उस शरीर में (मक्षु) शीघ्र गति से (इत्था) धारण पालन वृद्धि और क्षय के हेतु सब धातुओं के रसों को (सुन्वतः) उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार वे (धिया) धारण करनेवाली बुद्धि और कार्यों से (निष्कृतम्) कर्मों की सिद्धि और फलों को (उपायाताम्) प्राप्त होते हैं [। इति द्वितीयः] ।।

(इन्द्रिय०[1]) इस व्याकरण के सूत्र करके इन्द्र शब्द से जीव का, और (प्राणो०) इस प्रमाण से वायु शब्द करके प्राण का भी ग्रहण होता है ।।६।।

[2]इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ।

भावार्थ—[जैसे] ब्रह्माण्डस्थ सूर्य और वायु सब संसारी पदार्थों के प्रकाशक और पुष्ट करनेवाले हैं, [वैसे ही] जीव और प्राण [भी] शरीर के अङ्गों के [प्रकाशक और पोषक है ।] परन्तु ईश्वर के आधार की अपेक्षा सब स्थान में रहती है ।।६।।



पुनरेतौ नामान्तरेणोपदिश्येते—

मि॒त्रं हु॑वे पू॒तद॑क्षं॒ वरु॑णं च रि॒शाद॑सम् । धियं॑ घृ॒ताचीं॒ साध॑न्ता ।। ७ ।।

मि॒त्रम् । हु॒वे॒ । पू॒तऽद॑क्षम् । वरु॑णम् । च॒ । रि॒शाद॑सम् ।। धिय॑म् । घृ॒ताची॑म् । साध॑न्ता ।। ७ ।।

पदार्थः—(मित्रम्) सर्वव्यवहारसुखहेतुं ब्रह्माण्डस्थं सूर्य्यं, शरीरस्थं प्राणं वा । मित्र इति पदनामसु पठितम् । निघं० ५ । ४ । **अतः प्राप्त्यर्थः**[3] । मि॒त्रो जना॑न् यातयति ब्रुवा॒णो मि॒त्रो दा॑धार पृथि॒वीमु॒त द्याम् । मि॒त्रः कृ॒ष्टीरनि॑मिषा॒भि च॑ष्टे मि॒त्राय॑ ह॒व्यं घृ॒तव॑ज्जुहोत ।। ऋ० ३ । ५९ । १ **अत्र मित्रशब्देन सूर्य्यस्य ग्रहणम् ।** प्राणो वै मित्रोऽपानो वरुणः । श० ८ । २ । ५ । ६ **अत्र मित्र-वरुणशब्दाभ्यां प्राणापानयोर्ग्रहणम् । (हुवे) तन्निमित्तं बाह्याभ्यन्तरपदार्थविद्यामादद्याम् ।** बहुलं छन्दसि [अ० २ । ४ । ७३] **इति विकरणाभावो**[4] **व्यत्ययेनात्मनेपदं लिङर्थे लट् च । (पूतदक्षम्) पूतं पवित्रं दक्षं बलं यस्मिन् तम् ।** दक्ष इति बलनामसु पठितम् । निघं० २ । ९ ।

१. अष्टा० ५।२।९३ ।।

२. मन्त्रगत 'इन्द्र वायु' शब्दों के दो प्रकार के अर्थ का निर्देश होने से यह पाठ आवश्यक है ।

३. पदेर्गत्यर्थत्वादिह प्राप्तिरूपोऽर्थो गृह्यते ।

४. अभावशब्देन शपो लुगिहाभिप्रेतः ।

(वरुणम्) 'बहिःस्थं प्राणं शरीरस्थमपानं वा। (च) (रिशादसम्[2]) रिशा रोगाः [श]त्रवो[3] हिंसिता भवन्ति[4] येन तम्। (धियम्) कर्म धारणावतीं बुद्धिं [5]च। धीरिति पठितम्। [निघं० २।१], प्रज्ञानामसु च [निघं० ३।९]। (घृताचीम्) घृतं प्रापयतीति तां क्रियाम्। घृतमित्युदकनामसु पठितम्। निघं० १।१२। (साधन्ता) साधयन्तौ। अत्र सुपां सुलुग्० [अ० ७।१।३९] इत्याकारादेशः॥ ७॥

अन्वयः—अहं शिल्पविद्यां चिकीर्षुर्मनुष्यो यौ घृताचीं धियं [साधन्ता] साधन्तौ पूतदक्षं मित्रं रिशादसं वरुणं च हुवे॥ ७॥

अत्र [6]श्लेषालङ्कारः।

भावार्थः—यथा सूर्य्यवायुनिमित्तेन समुद्रादिभ्यो जलमुपरि गत्वा तद्वृष्टया सर्वस्य रक्षणे भवतः, एवं प्राणापानाभ्यां च शरीरस्य। अतः सर्वैर्मनुष्यैराभ्यां निमित्तीकृताभ्यां विद्यासिद्धेः सर्वोपकारः सदा निष्पादनीय इति॥ ७॥

ईश्वर पूर्वोक्त सूर्य्य और वायु को दूसरे नाम से अगले मन्त्र में स्पष्ट करता है—

पदार्थान्वयभाषा—मैं शिल्पविद्या का चाहने [वाला मनुष्य, जो (घृताचीम्) करानेवाली (धियम्) क्रिया वा बुद्धि को (साधन्ता) सिद्ध करनेवाले हैं, उन] (पूतदक्षम्) बलवाले [(मित्रम्) सब व्यवहारसंबन्धी सुखों के देनेवाले, ब्रह्माण्ड में रहनेवाले सूर्य शरीर में रहनेवाले प्राण (च)] तथा (रिशादसम्) रोग और शत्रुओं के नाश (वरुणम्) शरीर के बाहर [ब्रह्माण्ड में] रहनेवाले प्राण (=वायु) और भीतर रहनेवाले रूप वायु को (हुवे) प्राप्त होऊं। अर्थात् सूर्य और वायु तथा प्राण और अपान जिस बाह्य आभ्यन्तर पदार्थों की विद्या के निमित्त हैं, उसको ग्रहण करूं॥

(मित्रो०) इस ऋग्वेद के प्रमाण से मित्र शब्द करके सूर्य का, और (प्राणो वै० प्रमाण से मित्र शब्द से प्राण, तथा वरुण शब्द से अपान का ग्रहण होता है॥ ७॥

---

१. अयमर्थो ब्रह्माण्डपक्षे ज्ञेयः, ब्रह्माण्डस्थो वायुरित्यभिप्रायः, शरीरपक्षे मित्रपदस्यार्थे श प्राणम्' इति पूर्वमुक्तम्।

२. अत्र केचन 'अद' धातोरुत्तरपदं मन्यन्ते (यथात्र ग्रन्थकारो निर्दिशति), अपरे 'दसु' धातोः। धातुपक्षे धातूनामनेकार्थत्वाद् हिंसार्थोऽपि द्रष्टव्यः। 'दसु'पक्षे 'अन्येषामपि दृश्यते' (अ० ६।३।१३६ सूत्रेण पूर्वपदस्य दीर्घत्वं ज्ञेयम्। पदकारास्तूभयथाऽप्युत्तरपदस्योपपन्नत्वात् सांशयिकत्वान्नावगृह्णन्ति।

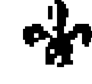
३. पदमिदं ग. कोश उपलभ्यते। ग. कोशे प्रतिलिपिकर्त्रा परित्यक्तः। अत एव ग.कोशे नोपलभ्यते। ४. पदमिदं क. ख. ग. कोशेषूपलभ्यते।

५. 'च। धी····· प्रज्ञानामसु च' इत्ययं पाठः ख. ग. कोशयोर्वर्तते। मुद्रणे प्रमादान्नष्टः।

६. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'लुप्तोपमालङ्कारः' इति पठ्यते। स चापपाठः, मित्रवरुणश द्विधार्थस्य निर्दिष्टत्वादत्र श्लेषालंकारेणैव भाव्यम्। क. ख. ग. कोशेषु अलंकारनिर्देशो नोपलभ्यते।

इस मन्त्र में 'श्लेषालङ्कार है।

भावार्थ—जैसे सूर्य्य और वायु के निमित्त से समुद्र आदि जलस्थलों से जल आकाश में उड़कर वर्षा होने से सब की वृद्धि और रक्षा होती है, वैसे ही प्राण और अपान आदि ही से शरीर की रक्षा और वृद्धि होती है। इसलिये मनुष्यों को [सूर्य और वायु, तथा] प्राण अपान आदि के निमित्त से व्यवहार-विद्या की सिद्धि करके सब के साथ [सदा] उपकार करना उचित है॥ ७॥



केनैतावेतत्कर्म कर्त्तुं समर्थौ भवत इत्युपदिश्यते—

ऋतेन॑ मि॒त्राव॑रुणावृतावृधावृतस्पृशा। क्रतुं॑ बृ॒हन्त॑माशाथे॥ ८॥

ऋ॒तेन॑। मि॒त्राव॒रुणौ। ऋ॒त॒ऽवृ॒धौ᳡²। ऋ॒त॒स्पृ॒शा॒॥ क्रतु॑म्। बृ॒हन्त॑म्। आ॒शा॒थे॒ इति॑॥ ८॥

पदार्थः—(**ऋतेन**) **सत्यस्वरूपेण ब्रह्मणा**। ऋतमिति सत्यनामसु पठितम्। निघं० ३। १० **अनेनेश्वरस्य ग्रहणम्**। ऋतमित्युदकनामसु च। निघं० १। १२। (**मित्रावरुणौ**) **पूर्वोक्तौ**। देवताद्वन्द्वे च। अ० ६। ३। २५ **अनेनानङादेशः**। (**ऋतावृधौ**) **ऋतं ब्रह्म तेन वर्धयितारौ ज्ञापकौ**

१. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'लुप्तोपमालंकार' छपा है। भाष्य में मित्र-वरुण शब्दों का दो प्रकार का अर्थ दर्शाया है। उपमार्थ पदार्थ तथा अन्वय में नहीं है। अतः दो अर्थों का निर्देश होने से श्लेषालङ्कार का ही निर्देश युक्त है।

२. **विशेष-स्वर विचारः**— अस्मिन् मन्त्रे द्वितीयपादादेर् '**ऋतावृधौ**' पदस्य कथं निघातत्वमितिचिन्तायां शौनकस्तु पादादौ प्रयुज्यमानानां निघातपदानां यत् परिगणनं (ऋक्प्राति० १७।२१-३६) कृतवान्, तेन **ज्ञायते** यदत्र स **अपवादो** (अष्टा० ८।१।१८) इत्यस्य स्वरनियमस्य व्यत्यासं मनुते। सायणो भट्टोजिनागेशप्रभृतयो वैयाकरणास्तु '**ऋतावृधौ** इत्यस्य निघातसिद्ध्यर्थं 'मित्रावरुणौ ऋतावृधौ' इत्यनयोः पराङ्गवद्भावम् अर्थात् 'ऋतास्पृशौ' इत्यस्यामन्त्रितपदस्याङ्गत्वं ब्रुवते। तेन 'ऋतेन' पदात् पराणामामन्त्रितपदानां **निघातत्वं** स्वीकुर्वते (शब्दकौस्तुभ-प्रदीपोद्योत अ० २।१।४)। नागेशस्त्वत्र पराङ्गवद्भावमापाद्याप्यपरितुष्यन् छान्दसत्वात् निघातसिद्धिमप्याह। वयं त्वस्यान्यथासिद्धिं मन्महे। तथाहि—स्वरशास्त्रे निघात**विधायकौ** द्वौ नियमौ स्तः। एकोऽपादादित्वलक्षणः, अपरः समानवाक्यत्वलक्षणः। तत्र प्रथमनियमापेक्षया **समानवाक्यत्व**लक्षणो बलीयान् भवति। तेनैकस्मिन् पादे यत्रापादित्वलक्षणनियमेन निघातत्वम्, समानवाक्यत्वलक्षणेन वाक्यादित्वात् निघाताभावश्च प्राप्नुतः, तत्र समानवाक्यलक्षणेन वाक्यादित्वान्निघाताभाव एव **भवति**। यथा—**इन्द्र स्वाहा ररिमा ते मदाय** (ऋ० ३।३५।१) इत्यत्रैकस्मिन् पादे 'ररिमा' पदं '**स्वाहा**' पदात् परमिति कृत्वानुदात्तः स्यात्, वाक्यादित्वाच्चोदात्तो भवति। एवं विप्रतिपत्तौ वेदे सर्वत्र **समानवाक्यलक्षणः** स्वरः प्रवर्तते। अस्मिन् मन्त्रे 'ऋतेन मित्रावरुणावृतावृधावृतस्पृशा' इत्यत्र पादद्वयस्वीकारेऽप्येकवाक्यत्वात् अपादादिलक्षणं स्वरं बाधित्वा समानवाक्यलक्षणस्वरस्य प्रवर्तनात् निघातत्वमेव भवति।

यद्वा—'ऋतावृधौ' इत्यस्य पादादित्वमेव नास्ति। कथमिति चेत्? छन्दसां लक्षणेषु छन्दोविचितिकाराणां बहुधा विप्रतिपत्तिर्दृश्यते। तत्र नैकेन केनच्छिन्दोलक्षणेन स्वरशास्त्रविशेषः शक्य उन्नाययितुम्।

जलाकर्षणवृष्टिनिमित्ते वा। अत्रान्येषामपि दृश्यते [अ० ६। ३। १३६] इति दीर्घः। स्पृशा) ऋतस्य ब्रह्मणो वेदस्य स्पर्शयितारौ प्रापकौ जलस्य च। (क्रतुम्) सर्वं सगतं संसार यज्ञम् (बृहन्तम्) महान्तम् (आशाथे) व्याप्नुतः। छन्दसि लुङ्लङ्लिटः। अ० ३। ४। ६ वर्त्तमाने लिट्। वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति [महा० १। ४। ९] इति नुडभावः॥ ८॥

अन्वयः—ऋतेनोत्पादितावृतावृधावृतस्पृशा मित्रावरुणौ बृहन्तं क्रतुमाशाथे॥ ८॥

भावार्थः—ब्रह्मसहचर्य्ययैतौ ब्रह्मज्ञाननिमित्ते जलवृष्टिहेतू भूत्वा सर्वमग्न्याविमूक्त जगद्व्याप्य वृद्धिक्षयकर्त्तारौ व्यवहारविद्यासाधकौ च भवत इति॥ ८॥

किस हेतु से ये दोनों कर्म करने में समर्थ होते हैं, यह विद्या अगले मन्त्र में कही है—

पदार्थान्वयभाषा—(ऋतेन) सत्यस्वरूप ब्रह्म के नियम में बन्धे हुए, (ऋतावृधौ) ब्रह्म बढ़ाने, जल के खींचने और वर्षानेवाले (ऋतस्पृशा) ब्रह्म की प्राप्ति कराने में निमित्त तथा समय पर जलवृष्टि के करनेवाले, (मित्रावरुणौ) पूर्वोक्त मित्र और वरुण (बृहन्तम्) अनेक के (क्रतुम्) जगत्रूप यज्ञ को (आशाथे) व्याप्त होते हैं॥ ८॥

यतः पादव्यवस्थाया अर्थाधीनत्वात्। तदुक्तं जैमिनिना—'यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था सा ऋक्' (मी० २।१।३ अतएव 'त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः। देवेभिर्मानुषे जने॥' (ऋ० १।१६।१; सा०पू०प्र०१, अर्धप्र० द० १, मं० १) इत्यस्मिन् मन्त्रे शौनककात्यायनौ 'त्वमग्ने यज्ञानाम् इत्येवं प्रथमं पादमास्थायास्य मन्त्र वर्धमानागायत्री छन्द इत्यूचतुः। निदानसूत्रकारः पतञ्जलिस्तु 'त्वमग्ने होता विश्वेषाम्' इत्येवं प्रथमं पादमाश्रि पिपीलिकामध्यां गायत्रीं मनुते (द्र०—अस्मदीया वैदिकछन्दोमीमांसा, पृष्ठ ७२)। एवं यत्रार्थस्य पा समाप्तिर्भवति तावतामक्षराणामेव पादत्वमाश्रीयते। अत एव निदानसूत्रकारो विभिन्नछन्दसां या प्रायि अक्षरसंख्या तस्या अपकर्षं विकर्षं च प्रतिजानीते (द्र०—निदानसूत्र, पृष्ठ १, २)। तदनुसारं पिङ्गलेन १२+ अक्षराया द्विपाद्गायत्र्या यल्लक्षणमुक्तम्, तत्र निदानसूत्रकारमतानुसारं द्वादशाक्षरपादस्य षोडशाक्षरपर्यं अष्टादशाक्षरपर्यन्ते वा विकर्षेऽस्मिन् मन्त्रे पूर्वभागे षोडशाक्षर एक एव प्रथमः पादोऽष्टाक्षरश्च द्वितीयः पा मभ्युपगमे। सत्येवमेकपादे पराङ्गवद्भावरूपक्लिष्टकल्पनया विनाऽपीष्टस्वरसिद्धिरञ्जसा सम्पद्यते।

न च प्रतिपादमवान्तरार्थवृत्तिमाश्रित्य 'ऋतावृधौ' इत्यस्य पादादित्वं शक्यते वक्तुम्। 'मित्रावरु ऋतावृधौ ऋतस्पृशा' इत्येतेषु प्रथमं पदं विशेष्यभूतम् अपरे च द्वे विशेषणरूपे। न च विशेष्यविशेषणयो परस्परं सम्बद्धयोः 'ऋतेन मित्रावरुणौ' इत्यत्र शक्यते पादान्तत्वं वक्तुम्।

एभिर्हेतुभिरत्र विनाऽपि पराङ्गवद्भावं पूर्वामन्त्रितस्याविद्यमानवत्त्वेऽपि 'ऋतेन' पदात् परत्वमाश्रित्य 'ऋतावृधौ' इत्यस्यानुदात्तत्वं सिद्ध्यति। यथा 'इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति' (ऋ० १०। ७५। ५) इत्य गङ्गे पदस्याविद्यमानत्वेऽपि 'मे' पदात् परत्वमाश्रित्य 'यमुने सरस्वति' पदयोर्निघातत्वं भवति। एवं च पादादेः 'शुतुद्रि' पदस्याप्यस्तु निघातत्वमिति माशङ्कि। यतो ह्यत्र 'इमं मे स्तोमं सचत' इत्यर्थेन प्रत्येक पार्थक्येनान्वयात्। तेन 'गङ्गे यमुने सरस्वति' इत्येतेषां पूर्वपादपठितानां पदानामन्वयाय द्वितीये पादे पठि 'स्तोमं सचत' पदे अपकर्ष्येते। प्रतिपदमन्वये 'सचत' इति बहुवचनं कथमिति न शङ्कनीयम्, वचनव्यत्ययेनैक वचनस्यार्थस्य ग्रहीतुं शक्यत्वात्। यद्वा यावन्त्यामन्त्रितपदानि तावन्ति 'सच' इत्येकवचनक्रिया द्रष्टव्या तेषां च सरूपाणां 'सच' पदानामेकशेषनिर्देशे बहुवचनस्य सिद्धत्वात्। द्वितीयपादादेः 'शुतुद्रि' पदस्यार्थं पूर्वे 'इमं मे' पदयोरनुषङ्गात् 'हे शुतुद्रि मे इमं स्तोमं सच' इत्येवं वाक्यार्थस्योपपत्तिसम्भवात्।

भावार्थ—परमेश्वर के आश्रय से उक्त मित्र और वरुण ब्रह्मज्ञान के बढ़ानेवाले, जल वर्षानेवाले, सब मूर्त्तिमान् वा अमूर्त्तिमान् जगत् को व्याप्त होकर उसकी वृद्धि विनाश और व्यवहारविद्या की सिद्धि करने में हेतु होते हैं ॥ ८ ॥



इमावस्माकं किं किं धारयत इत्युपदिश्यते—

कवी नौ मित्रावरुणा तुविजाता उरुक्षया । दक्षं दधाते अपसम् ॥ ९ ॥

कवी इति॑ । नः॒ । मि॒त्रावरु॑णा । तु॒वि॒ऽजा॒तौ । उ॒रु॒ऽक्षया॑ ॥ दक्ष॑म् । द॒धा॒ते॒ इति॑ । अ॒पस॑म् ॥ ९ ॥

पदार्थः—(कवी) क्रान्तदर्शनौ सर्वव्यवहारदर्शनहेतू । कविः क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा । निघं० १२ । १३ एतन्निरुक्ताभिप्रायेण कविशब्देन सुखसाधकौ मित्रावरुणौ गृह्येते । (नः) अस्माकम् (मित्रावरुणौ) पूर्वोक्तौ (तुविजातौ) बहुभ्यः[1] कारणेभ्य उत्पन्नौ बहुषु वा प्रसिद्धौ । तुवीति बहुनामसु पठितम् । निघं० ३ । १ । (उरुक्षया) बहुषु जगत्पदार्थेषु क्षयो निवासो ययोस्तौ । अत्र सुपां सुलुग्० [अ० ७ । १ । ३९] इत्याकारः । उर्विति बहुनामसु पठितम् । निघं० ३ । १ । 'क्षि[2] निवासगत्योः' अस्य धातोरधिकरणार्थः क्षयशब्दः । (दक्षम्) बलम् (दधाते) धरतः (अपसम्) कर्म । अप इति कर्मनामसु पठितम् । निघं० २ । १ । व्यत्ययो बहुलम् [अ० ३ । १ । ८५] इति लिङ्गव्यत्ययः । इदमपि सायणाचार्य्येण न बुद्धम्[3] ॥ ९ ॥

अन्वयः—इमौ तुविजातावुरुक्षयोरु[क्षयौ] कवी मित्रावरुणा मित्रावरुणौ नोऽस्माकं दक्षमपसं च दधाते धरतः ॥ ९ ॥

भावार्थः—ब्रह्माण्डस्थाभ्यां बलकर्मनिमित्ताभ्यामेताभ्यां[मित्रावरुणाभ्यां] सर्वेषां पदार्थानां सर्वचेष्टाविद्ययोः पुष्टिधारणे भवत इति ॥ ९ ॥

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'बहुभ्यः कारणेभ्यो बहुषु वोत्पन्नौ प्रसिद्धौ' इत्यक्रमोऽनन्वितः पाठो दृश्यते । यथा त्वस्माभिः पाठक्रमो व्यधायि तादृश एव सम्बन्ध भाषार्थेऽप्युपलभ्यते ।

२. 'क्षी' इति वै० य० मुद्रितेषु सर्वेषु संस्करणेष्वपपाठः, तादृशधातोरभावात् ।

३. अस्य वाक्यस्याभिप्रायो न ज्ञायते । यथा त्वत्र वाक्यं पठ्यते, तथा सायणेन 'अपसम्' रूपकल्पनाय काचिदन्यथा कल्पना कृतेऽस्ति विज्ञायते । सायणभाष्ये न 'अपसम' रूपकल्पनार्थं काचिदशास्त्रीया कल्पना दृश्यते । तत्र तु 'आपेरसुन्प्रत्यये नित्लक्षणाद्युदात्तत्वे प्राप्ते प्रत्ययस्वरकल्पना दृश्यते ।

अत्रेदमपि विचारार्हम् । कर्मनामसु (निघं० २।१) 'अपः' पदमाद्युदात्तं पठ्यते । वेदे 'अपस्' शब्दे उभयथा स्वरो दृश्यते, आद्युदात्तोऽन्तोदात्तश्च । भाष्यकारा उभयविधस्यापि स्वरस्य 'कर्म' इत्येवार्थं कुर्वते । स्वरभेदादर्थभेदेन भाव्यमिति स्वरज्ञानां राद्धान्तः । तथा सति अन्तोदात्तस्य 'अपस्' शब्दस्य कोऽर्थ इति जायते शङ्का । यद्वा—यथा 'कर्तृ' शब्दे स्वरभेदवेकार्थत्वेऽप्यवान्तरार्थभेदः प्रतिज्ञायते वैयाकरणैः । यथा—'कर्त्ता' =क्रियाया कारकः, कर्त्ता=साधुकारकः, क्रियाशीलः, क्रियाधर्मवान् (अ०३।२।१३४,१३५) । एवमिहापि उभयोः कर्मनामत्वेऽपि आद्युदात्तस्य 'अपस्'शब्दस्य धात्वर्थप्रधानो व्यापनशीलं कर्मार्थः, अन्तोदात्तस्य च सामान्यं कर्मार्थ इत्येवं सूक्ष्मोऽर्थभेदः कल्पनीयः ।

आदिमसूक्तोक्तेन शिल्पविद्याविमुख्यनिमित्तेनाग्निनार्थेन सहचरितानां वाय्विन्द्रमित्रवरुणानां द्वितीयसूक्तोक्तानामर्थानां संगतिरस्तीति बोध्यम् ।

इदमपि सूक्तं सायणाचार्य्यादिभिर्यूरोपाख्यदेशनिवासिभिर्विलासनाख्यादिभिश्चान्यथैव व्याख्यातमिति बोध्यम् ॥

इति द्वितीयं सूक्तं वर्गश्च चतुर्थः समाप्तः ॥

वे हम लोगों के कौन-कौन पदार्थों के धारण करनेवाले हैं, इस बात का प्रकाश अगले मन्त्र में किया है—

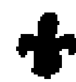
पदार्थान्वयभाषा—[ये दोनों] (तुविजातौ) बहुत कारणों से उत्पन्न और बहुतों में प्रसिद्ध (उरुक्षया) संसार के बहुत से पदार्थों में रहनेवाले, (कवी) दर्शनादि व्यवहार के हेतु (मित्रावरुणा) पूर्वोक्त मित्र और वरुण (नः) हमारे (दक्षम्) बल तथा [(अपसम्)] सुख वा दुःखयुक्त कर्मों को (दधाते) धारण करते हैं ॥९॥

भावार्थ—जो ब्रह्माण्ड में रहनेवाले, बल और कर्म के निमित्त, पूर्वोक्त मित्र और वरुण हैं, उनसे क्रिया और विद्याओं की पुष्टि तथा धारणा होती है ॥ ९ ॥

जो प्रथम सूक्त में कहा हुआ, शिल्पविद्या आदि का मुख्य निमित्त अग्नि है, उसके सहायकारी वायु इन्द्र मित्र और वरुण के प्रतिपादन करने से प्रथम सूक्तार्थ के साथ इस दूसरे सूक्तार्थ की सङ्गति समझ लेनी ।

इस सूक्त का अर्थ **सायणाचार्य्य** आदि और **विलसन** आदि यूरोपदेशवासी लोगों ने अन्यथा कथन किया है ॥

यह दूसरा सूक्त और चौथा वर्ग समाप्त हुआ ॥



अथास्य द्वादशर्चस्य तृतीयसूक्तस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । १–३ अश्विनौ; ४–६ इन्द्रः; ७–९ विश्वेदेवाः; १०–१२ सरस्वती [च] देवताः । १, ३, ५–१०, १२ गायत्री; २ निचृद्गायत्री; ४, ११ पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री च छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

तत्रादावश्विनावुपदिश्येते—

अश्वि॑ना॒ यज्व॑रीरिषो॒ द्रव॑त्पाणी॒ शुभ॑स्पती । पुरु॑भुजा चन॒स्यत॑म् ॥ १ ॥

अश्वि॑ना । यज्व॑रीः । इषः॑ । द्रव॑त्पाणी॒ इति॒ द्रव॑त्ऽपाणी । शुभः॑ । प॒ती॒ इति॑ ॥ पुरु॑ऽभुजा । च॒न॒स्यत॑म् ॥ १॥

पदार्थः—(**अश्विना**) जलाग्नी । **अत्र** सुपाम्० [अ० ७ । १ । ३९] **इत्याकारादेशः** । या सुरथा रथीतमोभा देवा दिविस्पृशा । अश्विना ता हवामहे ॥ १ ॥ नहि वामस्ति दूरके यत्रा रथेन गच्छथः ।

['अश्विना सोमिनो गृहम्]॥ २ ॥ ऋ० १ । २२ । २, ४ ॥ वयं यौ सुरथौ शोभना रथाः सिद्ध्यन्ति याभ्यां तौ, रथीतमा भूयांसो रथा विद्यन्ते ययोस्तौ रथिनौ[2] अतिशयेन रथिनौ[3] रथितमौ[3], देवौ शिल्पविद्यायां दिव्यगुणप्रकाशकौ, दिविस्पृशा विमानादियानैः सूर्य्यप्रकाशयुक्तेऽन्तरिक्षे मनुष्यादीन् स्पर्शयन्तौ, उभा उभौ, ता तौ, हवामहे गृह्णीमः ॥ १ ॥ यत्र मनुष्या वां तयोरश्विनोः साधयित्वा[4] चलितयोः सम्बन्धयुक्तेन [रथेन] हि यतो गच्छन्ति, तत्र [5]सोमिनः सोमविद्या-सम्पादिनो गृहं विद्याधिकरणं दूरं नैव भवतीति यावत् ॥ २ ॥

अथातो द्युस्थाना देवतास्तासामश्विनौ प्रथमागामिनौ भवतोऽश्विनौ यद्व्यश्नुवाते सर्वं रसेनान्यो ज्योतिषाऽन्योऽश्वैरश्विनावित्यौर्णवाभः । तत्कावश्विनौ द्यावापृथिव्यावित्येकेऽहोरात्रा-वित्येके सूर्याचन्द्रमसावित्येके, [6]तयोः काल ऊर्ध्वमर्धरात्रात् प्रकाशीभावस्यानुविष्टम्भमनुतमो भागो हि मध्यमो ज्योतिर्भाग आदित्यः । निरु० १२ । १ ॥

तथाऽश्विनौ चापि भर्त्तारौ जर्भरी भर्त्तारावित्यर्थस्तुर्फरीतू हन्तारौ । निरु० १३ । ५ ॥

(अथातो०) अत्र द्युस्थानोक्तत्वात् प्रकाशस्थाः प्रकाशयुक्ताः सूर्य्याग्निविद्युदादयो गृह्यन्ते । तत्र यावश्विनौ द्वौ द्वौ संप्रयुज्येते यौ च सर्वेषां पदार्थानां मध्ये गमनशीलौ भवतः । तयोर्मध्याद-स्मिन्मन्त्रेऽश्विशब्देनाग्निजले गृह्येते । कुतः ? यद्यस्माज्जलमश्वैः स्वकीयवेगादिगुणैः रसेन सर्वं जगद्व्यश्नुते व्याप्तवदस्ति । तथाऽन्योऽग्निः स्वकीयैः प्रकाशवेगादिभिरश्वैः सर्वं जगद्व्यश्नुते, तस्मादग्निजलयोरश्विसंज्ञा जायते । तथैव स्वकीयस्वकीयगुणैर्द्यावापृथिव्यादीनां द्वन्द्वानामप्यश्वि-संज्ञा भवतीति विज्ञेयम् । शिल्पविद्याव्यवहारे यानादिषु युक्त्या योजितौ [जर्भरी] सर्वकलायन्त्र-यानधारकौ भवतः,[7] [तुर्फरीतू] यन्त्रकलाभिस्ताडितौ चेत्तवाहननेन गमयितारौ च, [8]तुर्फरीशब्देन यानेषु शीघ्रं वेगादिगुणप्रापयितारौ भवतः ॥

अश्विनाविति पदनामसु पठितम् । निघं ५ । ६ अनेनापि गमनप्राप्तिनिमित्ते अश्विनौ गृह्येते ।

(यज्वरीः) शिल्पविद्यासम्पादनहेतून् (इषः) विद्यासिद्धये या इष्यन्ते ताः क्रियाः (द्रवत्-

१. अस्य भागस्यार्थदर्शनादावश्यकः पाठः । २. वै०य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'रथी' इत्यपपाठः ।

३. 'रथीतमः' वै० य० मुद्रितेऽपपाठः । मन्त्रे तु 'अन्येषामपि दृश्यते' (अ० ६।३।१३६) इत्यनेन दीर्घः ।

४. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु साधयित्वो इत्यपपाठः । 'साधितयोः' इति क. ख. ग. पाठः । अत्र 'साधितयोरग्निजलयोः' इत्येवं पाठः साधुः स्यात् ।

५. 'सोमिनः सोमविद्यासम्पादिनः' इति क. ख. ग. कोशेषु वर्तमानोऽपि पाठो मुद्रणप्रमादान्नष्टः ।

६. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'तयोः……भागो' इति पाठोऽस्थाने मुद्रित उपलभ्यते । अस्माभि-र्निरुक्तपाठानुसारं यथास्थानं स्थापितः ।

७. पदमिदं क. ख. कोशयोर्वर्तमानमपि लिपिकरप्रमादाद् ग. कोशे नोपलभ्यते ।

८. अत्र 'फर्फरी शब्देन' इति पाठो युक्तः । तथा च निरुक्तम्—'फर्फरी क्षिप्रहन्तारौ' (१३।५) । हन्तिरत्र गत्यर्थत्वात् प्रापकार्थः ।

पाणी) द्रवच्छीघ्रवेगनिमित्ते पाणी पदार्थविद्याव्यवहारौ ययोस्तौ (शुभस्पती)[1] शुभस्य शिल्पकार्य्यप्रकाशस्य पालकौ। 'शुभ शुंभ दीप्तौ' एतस्य रूपमिदम्। (पुरुभुजा) पुरूणि बहूनि भुञ्जि भोक्तव्यानि वस्तूनि प्राप्यन्ते[2] याभ्यां तौ। पुर्विति बहुनामसु पठितम्। निघं० ३। १। भुगिति क्विप्प्रत्ययान्तः प्रयोगः। सम्पदादिभ्यः क्विप्। रोगाख्यायां०। अ० ३। ३। १०८ इत्यस्य व्याख्याने [वार्तिकम्]। (चनस्यतम्) अन्नवदेतौ सेव्येताम्। चायतेरन्ने ह्रस्वश्च। उ० ४। २०० अनेनासुन्प्रत्ययान्ताच्चनस्शब्दात् क्यच्प्रत्ययान्तस्य[3] नामधातोर्लोटि मध्यमस्य द्विवचनेऽयं प्रयोगः ॥ १ ॥

अन्वयः—हे विद्वांसो युष्माभिर्द्रवत्पाणी शुभस्पती [पुरुभुजा] पुरुभुजाव[श्विना]श्विनौ यज्वरीरिषश्च चनस्यतम्[4] ॥१॥

---

१ पदपाठानुसारं 'शुभः, पती' इति द्वे पदे। तत्र 'शुभः' इति शुभधातोः क्विबन्तस्य षष्ठ्येकवचनम्। यथा वाचस्पतिः=वाचः, पतिः। न चात्र तथा सति 'वाचः' इव 'सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः' (अ० ६।१।१६८) इति नियमेन विभक्तेरुदात्तत्वं शङ्क्यम्, 'पती' इत्यस्यामन्त्रितत्वात्, 'सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे' अ० २।१।२) इत्यनेन 'शुभः' पराङ्गवद्भावे षाष्ठिकामन्त्रितस्वरेण (अ० ६।१।१९८) तस्याद्युदात्तत्वात्। न चात्र 'द्रवत्पाणी' पदात् परत्वाद् आष्टमिकामन्त्रितस्वरेण (अ० ८।१।१९) तस्य निघातत्वं शङ्कनीयम्, पूर्वस्यामन्त्रितस्याविद्यमानवत्त्वात् (अ० ८।१।७२)। न च 'नामन्त्रिते समानाधिकरणे' (अ० ८।१।७३) नियमेन पूर्वस्यामन्त्रितस्याविद्यमानवद्भावस्य प्रतिषेधः शङ्कनीयः। महाभाष्यकारोक्तयोगविभागेनास्य सूत्रस्य 'सामान्यवचनम्' पदस्यानुवृत्त्या अन्वयात्। तेन सामान्यवचनरूपस्यैव पूर्वामन्त्रितस्याविद्यमानवद्भावः प्रतिषिध्यते। इह तु 'द्रवत्पाणी, शुभस्पती' उभे अपि विशेषणे, 'अश्विना' इति च विशेष्यम्। तेनात्र 'द्रवत्पाणी' पूर्वमामन्त्रितं विशेषवचनमेव।

इह ग्रन्थकारेण 'शुभ शुम्भ दीप्तौ' एतस्य रूपमिदम्' इत्येवोच्यते, न कश्चित् प्रत्ययः प्रतिनिर्दिश्यते। तेन ग्रन्थकारस्य 'शुभस्य शिल्पकार्यप्रकाशकस्य पालकौ' इतिवचनमुक्तदिशा द्विपदत्वेऽप्युपपद्यते। द्वयोः पदयोः सहनिर्देशो व्याख्यानस्य सौकर्यार्थः कृत इति ज्ञेयम्। यद्येकपदत्व एव ग्रन्थकारस्य तात्पर्यमित्याग्रहश्चेत् तथाऽप्यत्र न दोषः। एकपदत्वे यथा 'बृहस्पति'शब्दे 'बृहस्' इति 'कसुन्' प्रत्ययान्तं पूर्वपदं (द्र०—अस्मदीया वैदिकस्वरमीमांसा, पृष्ठ १०५-१०६, द्वि० सं०) तथैवात्र 'शुभस्' कसुनन्तम्, नित्त्वाच्चाद्युदात्तत्वम्। ततः षष्ठीसमासे 'समासस्य' (अ० ६।१।२१७) इत्यन्तोदात्तत्वे प्राप्ते 'पत्यावैश्वर्ये' (अ० ६।२।१८) इत्यनेन पूर्वपदप्रकृतिस्वरे स एव स्वरः। आमन्त्रितत्वे यथा निघाताभावः स पूर्वमुक्त एव। एतद् भाष्यकृता स्वीये यजुर्वेदभाष्ये १०।३३ मन्त्रस्य व्याख्याने 'शुभस्पती' इत्यत्र पदद्वयमेव व्याख्यातम्, तदप्यत्रालोचनीयम्।

एकपदत्वे पदपाठविरोधश्चेत्, तन्न, पदकारकृतो विच्छेद एव प्रामाणिक इति न वैदिकानां राद्धान्तः। स्वरादिदोषाभावेऽन्यथा पदविच्छेदोऽपि प्रमाणम् (द्र०—'दोषावस्तः' पदटिप्पण्या अन्तिमो भाग., पृष्ठ ४५६)। स्वरादिदोषे सति पदकारविच्छेदोऽप्यप्रामाणिक इत्यपि यास्कप्रमाणेन पूर्वमुक्तम् (पृष्ठ ४५६)। माध्वमतानुयायिनस्त्वेकपदत्वेनैव व्याचक्षते। तेऽत्र अकारान्तात् शुभशब्दात् पारस्करप्रभृतित्वात् सुट् मन्यते (द्र०—माध्वभाष्यस्य जयतीर्थकृता टीका)।

२. पदमिदं ख. ग. कोशयोरुपलभ्यते, मुद्रणे प्रमादान्नष्टम्।

३. वै० य० मुद्रिते 'क्यच्प्रत्ययान्तौ' इत्यपपाठः, अनन्वितत्वात्।

४. ख. कोशे इतोऽग्रे 'अन्नवदेतौ सेव्येताम्' इति पाठ उपलभ्यते। पदार्थेऽस्य पदस्येत्थमेव व्याख्यानं

भावार्थः—अत्रेश्वरः शिल्पविद्यासाधनमुपदिशति। यतो मनुष्याः कलायन्त्ररचनेन विमानादियानानि सम्यक् साधयित्वा जगति स्वोपकारपरोपकारनिष्पादनेन सर्वाणि सुखानि प्राप्नुयुः ॥१॥

अब तृतीय सूक्त का प्रारम्भ करते हैं। इसके आदि के मन्त्र में अग्नि और जल [को] अश्वि नाम से लिया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे विद्या के चाहनेवाले मनुष्यो ! तुम लोग (द्रवत्पाणी) शीघ्र वेग के निमित्त, पदार्थविद्या और व्यवहार-सिद्धि के करने में उत्तम हेतु, (शुभस्पती) शुभ शिल्पकार्य-प्रकाश के पालक, और (पुरुभुजा) अनेक खाने-पीने के पदार्थों को देने में उत्तम हेतु (अश्विना) अर्थात् जल और अग्नि, तथा (यज्वरीः) शिल्पविद्या का सम्पादन करानेवाली (इषः) विद्या की सिद्धि के लिये इष्ट कारीगरी की क्रियाओं को (चनस्यतम्) अन्न के समान अति प्रीति से सेवन किया करो ॥

अब 'अश्विनौ' शब्द के विषय में निरुक्त आदि के प्रमाण दिखलाते हैं—[(या सुरथा०)] हम लोग अच्छी-अच्छी सवारियों को सिद्ध करने के लिये (अश्विना) पूर्वोक्त जल और अग्नि को, कि [(रथीतमा)] जिनके गुणों से अनेक सवारियों को सिद्धि होती है, तथा (देवा) जो कि शिल्पविद्या में अच्छे-अच्छे गुणों के प्रकाशक, और [(दिविस्पृशा)] सूर्य के प्रकाश से [युक्त] अन्तरिक्ष में विमान आदि सवारियों से मनुष्यों को पहुंचानेवाले होते हैं, (ता उभा) उन दोनों को शिल्पविद्या की सिद्धि के लिये [(हवामहे)] ग्रहण करते हैं ॥

[(न हि वामस्ति०)] मनुष्य लोग जहां-जहां [उन] साधे हुए अग्नि और जल के सम्बन्ध [से] युक्त रथों से जाते हैं, वहां-वहां सोमविद्यावाले विद्वानों का विद्याधिकरण [=विद्यालय दूर नहीं होता, अर्थात्] निकट ही है ॥

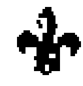
(अथा०) इस निरुक्त [के वचन] में जो कि द्युस्थान शब्द है, उससे प्रकाश में रहनेवाले और प्रकाश से युक्त सूर्य अग्नि विद्युत् आदि पदार्थ ग्रहण किये जाते हैं। उन पदार्थों में दो-दो के योग को 'अश्वी' कहते हैं, वे सब पदार्थों में प्राप्त होनेवाले हैं। उनमें से यहां अश्वी शब्द करके अग्नि और जल का ग्रहण करना ठीक है। क्योंकि जल अपने वेगादि गुण और रस से, तथा अग्नि अपने प्रकाश और वेगादि अश्वों [=गुणों] से सब जगत् को व्याप्त होता है। इसी से अग्नि और जल का 'अश्वी' नाम है। इसी प्रकार अपने-अपने गुणों से पृथिवी आदि भी दो-दो पदार्थ मिलकर 'अश्वी' कहाते हैं ॥

[(तथाऽश्विनौ०)] जबकि पूर्वोक्त अश्वी धारण और हनन करने [=गति देने] के के लिये शिल्पविद्या के व्यवहारों, अर्थात् कारीगरियों के निमित्त विमान आदि सवारियों में जोड़े जाते हैं, तब [(जर्भरी)] सब कलाओं के साथ उन सवारियों के धारण करनेवाले, तथा जब उक्त [अश्वी] कलाओं से [(तुर्फरीतू)] ताड़ित अर्थात् चलाए जाते हैं, तब अपने चलने से उन सवारियों को चलानेवाले होते हैं। उन अश्वियों को 'फर्फरी' भी कहते हैं, क्योंकि 'फर्फरी' शब्द के

दृश्यते। तेनास्यार्थस्य गतार्थत्वात् ग. कोशे पृथक् कृतः स्यादिति सम्भाव्यते।

अर्थ से वे सवारियों में वेगादि गुणों के देनेवाले समझे जाते हैं। [1]इस प्रकार वे अश्वी कलाघरों में संयुक्त किये हुए जल से परिपूर्ण देखने योग्य [जो] महासागर हैं, उनमें अच्छी प्रकार जाने-आने वाली नौका अर्थात् जहाज आदि सवारियों में जो मनुष्य स्थित होते हैं, उनके जाने-आने के लिये होते हैं॥ १॥

भावार्थ—इस मन्त्र में ईश्वर ने शिल्पविद्या के साधन का उपदेश किया है। जिससे मनुष्य लोग कलायुक्त सवारियों को बनाकर संसार में अपने तथा अन्य लोगों के उपकार से सब सुख पावें॥ १॥



पुनस्तौ कीदृशावित्युपदिश्यते—

अश्विना पुरुदंससा नरा शवीरया धिया। धिष्ण्या वनतं गिरः॥ २॥

अश्विना। पुरुऽदंससा। नरा। शवीरया। धिया॥ धिष्ण्या। वनतम्। गिरः॥ २॥

पदार्थः—(अश्विना) अग्निजले (पुरुदंससा) पुरूणि बहूनि दंसांसि शिल्पविद्यार्थानि कर्माणि सिध्यन्ति[2] याभ्यां तौ। दंस इति कर्मनामसु पठितम्। निघं० २। १। (नरा) शिल्पविद्याफलप्रापकौ (धिष्ण्या) यौ यानेषु वेगादीनां तीव्रतासंपादिनौ[3] (शवीरया) वेगवत्या। शव गतावित्यस्माद्धातोरीरन्प्रत्यये[4] टापि च शवीरेति सिद्धम्। (धिया) क्रियया प्रज्ञया वा। धीरिति कर्मप्रज्ञयोर्नामसु 'वायविन्द्रश्च०'[5] इत्यत्रोक्तम्। (वनतम्) यौ सम्यग्वाणीसेविनौ स्तः। अत्र व्यत्ययः। (गिरः) वाचः॥ २॥

अन्वयः—हे मनुष्या यूयं यौ [पुरुदंससा] पुरुदंससौ [नरा] नरौ धिष्ण्या [धिष्ण्यावश्विना]-श्विनौ शवीरया धिया गिरो वनतं वाणीसेविनौ स्तः, तौ बुद्ध्या[6] सेवयत॥ २॥

भावार्थः—अत्राप्यग्निजलयोर्गुणानां प्रत्यक्षकरणाय मध्यमपुरुषप्रयोगत्वात् सर्वैः शिल्पभिस्तौ तीव्रवेगवत्या मेधया पुरुषार्थेन च शिल्पविद्यासिद्धये सम्यक् सेवनीयौ स्तः। ये शिल्पविद्यासिद्धिं चिकीर्षन्ति, तैस्तद्विद्याहस्तक्रियाभ्यां सम्यक् प्रसिद्धीकृत्योक्ताभ्यामश्विभ्यामुपयोगः कर्त्तव्य इति।

---

१. यहां से आगे की पंक्तियां ख. कोशस्थ संस्कृतपाठ—'एवं यन्त्रेषु योजितौ उदन्ये जलपूर्णे उदधौ रमणसाधने समुद्रकुशले नौयानस्थितानां मनुष्याणां गमनागमनायोत्तमहेतू भवतः' के अनुसार हैं। संस्कृतपाठ में से ये पंक्तियां तथा निरुक्तपाठ की कुछ पंक्तियां सम्भवतः ग. कोश में हटादीं। अतः यहां ये पंक्तियां नहीं होनी चाहियें। २. पदमिदं क. ख. कोशयोरुपलभ्यते, ग. कोशे लिपिकर-प्रमादान्नष्टम्।

३. पदमिदं क. ख. ग. कोशेषूपलभ्यते, मुद्रणे प्रमादान्नष्टम्।

४. 'कॄशॄपॄकटि०' (उ० ४। ३१) इत्यादिना विहित 'ईरन्' प्रत्ययो बाहुलकात् शवतेरपि द्रष्टव्यः।

५. ऋ० १। २। ६ भाष्ये। ६. पदमिदं ख. कोशे दृश्यते। ग. कोशे लिपिकर-प्रमादान्नष्टम्।

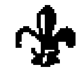
सायणाचार्यादिभिर्मध्यमपुरुषस्य निरुक्तोक्तं विशिष्टनियमाभिप्रायम्[1] अविदित्वाऽस्य मन्त्रस्यार्थोऽन्यथा वर्णितः। तथैव यूरोपवासिभिर्विलासनाख्यादिभिश्चेति ॥ २ ॥

फिर वे अश्वी किस प्रकार के हैं, सो उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा हे मनुष्यो ! तुम लोग (पुरुदंससा) जिनसे शिल्पविद्या के लिये अनेक कर्म सिद्ध होते हैं, (नरा) उस विद्या के फल को देनेवाले, और (धिष्ण्या) जो कि सवारियों में वेगादिकों की तीव्रता के उत्पन्न करनेवाले [(अश्विना)] अग्नि और जल हैं, वे (शवीरया) वेग देनेवाली (धिया) क्रिया से कारीगरी में युक्त करने योग्य (गिरः) शिल्पविद्यागुणों की बतानेवाली वाणियों को (वनतम्) [अच्छी प्रकार] सेवन करनेवाले हैं, इसलिये इनसे [बुद्धिपूर्वक] अच्छी प्रकार उपकार लेते रहो ॥ २ ॥

भावार्थ—यहां भी अग्नि और जल के गुणों को प्रत्यक्ष दिखाने के लिये मध्यम पुरुष का प्रयोग है। इससे सब कारीगरों को चाहिये कि तीव्र वेग देनेवाली बुद्धि और अपने पुरुषार्थ से शिल्पविद्या की सिद्धि के लिये उक्त अश्वियों [=अग्नि जलों] की अच्छी प्रकार से योजना करें। जो शिल्पविद्या को सिद्ध करने की इच्छा करते हैं, उन पुरुषों को चाहिये कि विद्या और हस्तक्रिया से उक्त अश्वियों को प्रसिद्ध करके उनसे उपयोग लेवें।

सायणाचार्य आदि तथा **विलसन** आदि साहबों ने मध्यम पुरुष के विषय में निरुक्तकार के कहे हुए[2] विशेष अभिप्राय को न जानकर इस मन्त्र के अर्थ का वर्णन अन्यथा किया है ॥ २ ॥



पुनस्तावश्विनौ कीदृशावित्युपदिश्यते—

दस्रा युवाकवः सुता नासत्या वृक्तबर्हिषः। आ यातं रुद्रवर्त्तनी ॥ ३ ॥

दस्रा। युवाकवः। सुताः। नासत्या। वृक्तऽबर्हिषः ॥ आ। यातम्। रुद्रवर्त्तनी इति रुद्रऽवर्त्तनी ॥३॥

पदार्थः—(**दस्रा**) दुःखानामुपक्षयकर्त्तारौ। दसु उपक्षये इत्यस्मादौणादिको रक् प्रत्ययः[3]। (**युवाकवः**) सम्पादितमिश्रितामिश्रितक्रियाः। यु मिश्रणे अमिश्रणे चेत्यस्माद् धातोरौणादिकः आकुक्प्रत्ययः[4]। (**सुताः**) अभिमुख्यतया पदार्थविद्यासारनिष्पादिनः। अत्र बाहुलकात् कर्त्तृकारक औणादिकः क्तप्रत्ययः[5]। (**नासत्या**) न विद्यतेऽसत्यं कर्म गुणो वा ययोस्तौ। नभ्राण्नपान्नवेदा०। अ० ६। ३। ७४। नासत्यौ चाश्विनौ सत्यावेव नासत्यावित्यौर्णवाभः, सत्यस्य प्रणेतारावित्या-

१. द्र०—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पूर्वत्र पृष्ठ ४०२।

२. द्र०—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पूर्वत्र पृष्ठ ४०३।

३. उणादि २। १३॥

४. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'आकुः' अपपाठः, गुणवारणाय कित्त्वस्यावश्यकत्वात्। फिङफिङ्घादि-प्रत्ययवत् (द्र०—महाभाष्य 'ऋलृक्' सूत्र) अनुक्तोऽपि बहुलवचनाद् विज्ञेयः।

५. 'अञ्जिघृसिभ्यः क्तः' (उ० ३। ८९) इत्यादिना विहितः क्तो बहुलवचनात् सुनोतेरपि भवति।

ग्रायणः। निरु० ६। १३। (वृक्तबर्हिषः) शिल्पफलनिष्पादिन ऋत्विजः। वृक्तबर्हिष इति ऋत्विङ्नामसु पठितम्। निघं० ३। १८। (आ) समन्तात् (यातम्) गच्छतो गमयतः। अत्र [1]पुरुष-व्यत्ययः, अन्तर्गतो ण्यर्थश्च। (रुद्रवर्त्तनी) रुद्रस्य प्राणस्य वर्त्तनिर्मार्गो ययोस्तौ॥ ३॥

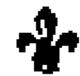
अन्वयः—हे सुता युवाकवो वृक्तबर्हिषो विद्वांसः! शिल्पविद्याविदो भवन्तो यौ रुद्रवर्त्तनी [दस्रा] दस्रौ [नासत्या] नासत्यौ पूर्वोक्तावश्विनावायातं समन्ताद् यानानि गमयतः, तौ यदा यूयं साधयिष्यथ तदोत्तमानि सुखानि प्राप्स्यथ॥ ३॥

भावार्थः—परमेश्वरो मनुष्यानुपदिशति—युष्माभिः सर्वसुखशिल्पविद्यासिद्धये[2] दुःख-विनाशाय च शिल्पविद्यायामग्निजलयोर्यथावदुपयोगः कर्त्तव्य इति॥ ३॥

फिर भी वे अश्वी किस प्रकार के हैं, सो अगले मन्त्र में उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (सुताः) पदार्थविद्या के सार को सिद्ध करके प्रकट करने, (युवाकवः) एक दूसरी से मिली वा पृथक् क्रियाओं को सिद्ध करने, [तथा] (वृक्तबर्हिषः) शिल्पविद्या के फल को सिद्ध करनेवाले विद्वान् लोगो! [आप] (रुद्रवर्त्तनी) जिनका प्राणमार्ग है, वे (दस्रा) दुःखों के नाश करनेवाले, (नासत्या) जिनमें एक भी गुण [वा कर्म] मिथ्या नहीं है, ऐसे जो अश्वी [=अग्नि जल] (आयातम्) सब ओर यानों को ले जाते हैं, उन पूर्वोक्त अश्वियों को जब विद्या से [सिद्ध कर लोगे अर्थात्] उपकार में ले आओगे, उस समय तुम उत्तम सुखों को प्राप्त होवोगे॥ ३॥

भावार्थ—परमेश्वर मनुष्यों को उपदेश करता है कि हे मनुष्य लोगो! तुमको सब सुखों की सिद्धि के लिये, तथा दुःखों के विनाश के लिये शिल्पविद्या में अग्नि और जल का यथावत् उपयोग करना चाहिये॥३॥



[3]इदानीमेतद्विद्योपयोगिनाविन्द्रशब्देनेश्वरसूर्य्यावुपदिश्येते—

इन्द्रा याहि चित्रभानो सुता इमे त्वायवः। अण्वीभिस्तना पूतासः॥ ४॥

इन्द्र। आ। याहि। चित्रभानो इति चित्रऽभानो। सुताः। इमे। त्वाऽयवः॥ अण्वीभिः। तना। पूतासः॥ ४॥

पदार्थः—(इन्द्र) परमेश्वर! सूर्य्यो वा। अत्राह यास्काचार्य्यः—इन्द्र इरां दृणातीति वेरां ददातीति वेरां दधातीति वेरां दारयत इति वेरां धारयत इति वेन्दवे द्रवतीति वेन्दौ रमत इति वेन्धे भूतानीति वा। तद्यदेनं प्राणैः समैन्धंस्तदिन्द्रस्येन्द्रत्वमिति विज्ञायते। इदं करणादित्याग्रायण

१. अयं पाठो ग. कोशे वर्तते।

२. अयं पाठः क. ख. ग. सर्वकोशेषूपलभ्यते। मुद्रणे कथं भ्रष्ट इति न ज्ञायते। वै०य०मुद्रितेषु संस्करणेषु 'सर्वसुखशिल्पविद्यासिद्ध्या दुःखविनाशायाग्निजलयो०' इत्येवं भ्रष्टः पाठो दृश्यते।

३. अत्र 'एतद्विद्योपयोगिनौ' पदं व्यर्थमिव प्रतीयते। क. ग. कोशयोर्नोपलभ्यते। भावार्थेऽप्यस्य न दृश्यते। तस्मादिह 'इदानीमिन्द्रशब्देनेश्वरसूर्यावुपदिश्येते' इत्येव पाठेन भाव्यम्।

इदं दर्शनादित्यौपमन्यव इन्दतेर्वैश्वर्यकर्मण [1]इन्श्छत्रूणां दारयिता वा द्रावयिता वाऽऽदारयिता च यज्वनाम् । निरु० १० । ८ । इन्द्राय साम गायत[2] नेन्द्रादृते पवते धाम [3]किञ्चनेन्द्रस्य नु वीर्य्याणि [4]प्रवोचमिन्द्रे कामा अयंसत[5] । निरु० ७ । २ ॥

इराशब्देनान्नं पृथिव्यादिकमुच्यते, तद्दारणात् तद्दानात् तद्धारणात् । चन्द्रलोकस्य प्रकाशाय द्रवणात् तत्र रमणादित्यर्थेनेन्द्रशब्दात् सूर्य्यलोको गृह्यते । तथा सर्वेषां भूतानां प्रकाशनात् प्राणैर्जीवस्योपकरणादस्य सर्वस्य जगत उत्पादनाद् दर्शनहेतोश्च सर्वैश्वर्य्ययोगाद् दुष्टानां शत्रूणां विनाशकाद् दूरे गमकत्वाद् यज्वानां रक्षकत्वाच्चेत्यर्थादिन्द्रशब्देनेश्वरस्य ग्रहणम् । एवं परमेश्वराद्विना किञ्चिदपि वस्तु न पवते, तथा सूर्य्याकर्षणेन विना कश्चिदपि लोको [नियतकक्षायां] नैव चलति तिष्ठति वा ।

प्र तुविद्युम्नस्य स्थविरस्य घृष्वेर्दिवो ररप्शे महिमा पृथिव्याः । नास्य शत्रुर्न प्रतिमानमस्ति न प्रतिष्ठिः पुरुमायस्य सह्योः ॥ ऋ० ६ । १८ । १२ ॥ यस्यायं महाप्रकाशस्य वृद्धस्य सर्वपदार्थानां जगदुत्पत्तौ संघर्षकर्त्तुः सहनशीलस्य बहुपदार्थनिर्मातुरिन्द्रस्य परमैश्वर्य्यवतः परमेश्वरस्य सूर्य्यलोकस्य सृष्टेर्मध्ये महिमा प्रकाशते तस्यास्य न कश्चिच्छत्रुः, न किञ्चित्परिमाणसाधनमर्थादुपमानं, नैकत्राधिकरणं चास्ति, इत्यनेनोभानार्थौ गृह्येते ।

(आयाहि) समन्तात् प्राप्तो भव, भवति वा (चित्रभानो) चित्रा आश्चर्यभूता भानवो दीप्तयो यस्य सः (सुताः) उत्पन्ना मूर्त्तिमन्तः पदार्थाः (इमे) विद्यमानाः (त्वायवः) त्वां तं चोपेताः । छन्दसीणः । उ० १ । २ इत्यौणादिके उण्प्रत्यय कृते आयुरिति सिध्यति । त्वदित्यत्र छान्दसो वर्णलोपो वा [महाभाष्य ८ । २ । २५] इत्यनेन तकारलोपः । (अण्वीभिः) कारणैः, प्रकाशावयवैः किरणैरङ्गुलिभिर्वा । वोतो गुणवचनात् । अ० ४ । १ । ४४ अनेन ङीषि प्राप्ते व्यत्ययेन ङीन् । । (तना) विस्तृतधनप्रदाः । तनेति धननामसु पठितम् । निघं० २ । १० । अत्र सुपां सुलुग्०[अ० ७ । १ । ३९] इत्यनेनाकारादेशः । (पूतासः) शुद्धाः शोधिताश्च ॥४॥

अन्वयः—हे चित्रभानो इन्द्र परमेश्वर ! त्वमस्मानायाहि कृपया प्राप्नुहि । येन भवता इमे अण्वीभिस्तना पुष्कलद्रव्यदाः पूतासस्त्वायवः सुता उत्पादिताः पदार्थाः वर्त्तन्ते, तैर्गृहीतोपकारानस्मान् सम्पादय ॥

तथा योऽयं [चित्रभानो चित्रभानुरिन्द्र] इन्द्रः स्वगुणैः सर्वान् पदार्थानायाहि प्राप्नोति तेनेमे अण्वीभिः [6]किरणावयवैस्तना विस्तृतप्राप्तिहेतवस्त्वायवस्तन्निमित्तप्राप्तायुषः पूतासः सुताः संसारस्थाः पदार्थाः प्रयाशयुक्ताः क्रियन्ते तैरिति पूर्ववत् ॥ ४ ॥

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारेणेश्वरस्य सूर्य्यस्य वा यानि कर्माणि प्रकाश्यन्ते, तानि परमार्थव्यवहारसिद्धये मनुष्यैः समुपयोक्तव्यानि सन्तीति ॥ ४ ॥

---

१. रायसम्पादिते निरुक्तेऽयमेव पाठः । अत्र 'इन्दञ्छत्रूणां' इति शुद्धः पाठः ।
२. ऋ० ८ । ९८ । १ ॥ ३. ऋ० ९ । ६९ । ६ ॥
४. ऋ० १ । ३२ । १ ॥ ५. अनुपलब्धमूलम् ।
६. अयं ग. कोशस्थः शुद्धः पाठः । वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'किरणकारणावयवैः०' इत्यपपाठः ।

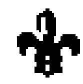
परमेश्वर ने अगले मन्त्र में इन्द्र शब्द से अपना और सूर्य्य का उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (चित्रभानो) आश्चर्यरूप प्रकाशयुक्त (इन्द्र) परमेश्वर! आप हमको कृपा करके [(आ याहि)] प्राप्त हूजिये। कैसे आप हैं कि जिन्होंने [(इमे) ये] (अण्वीभिः) कारण से (तना) सब संसार में विस्तृत [पुष्कल धन देनेवाले,] (पूतासः) पवित्र, और (त्वायवः) आपके उत्पन्न किये हुए व्यवहारों से युक्त, (सुताः) उत्पन्न हुए मूर्तिमान पदार्थ उत्पन्न किये हैं, [उनसे] हमें उपकार लेने में समर्थ करो, इससे हम लोग आप ही के शरणागत हैं ॥

दूसरा अर्थ—जो [यह (चित्रभानो) आश्चर्यरूप दीप्तिवाला (इन्द्र)] सूर्य्य अपने गुणों से सब पदार्थों को [(आयाहि)] प्राप्त होता है, वह (अण्वीभिः) अपनी किरणों से (तना) संसार में विस्तृत धन देनेवाले, (त्वायवः) उसके निमित्त से जीनेवाले (पूतासः) पवित्र (सुताः) संसार के पदार्थों को प्रकाशयुक्त करता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—यहां श्लेषालङ्कार से परमेश्वर और सूर्य्य के जो-जो गुण और कर्म प्रकाशित किये गये हैं, इनसे परमार्थ और व्यवहार की सिद्धि के लिये अच्छी प्रकार उपयोग लेना सब मनुष्यों को योग्य है ॥ ४ ॥

[**टिप्पणी**—यहां से आगे संस्कृत में दिये गये प्रमाणों का भाषार्थ नहीं किया गया है। सम्पा०]



अथेन्द्रशब्देनेश्वर उपदिश्यते—

इन्द्रा याहि धियेषितो विप्रजूतः सुतावतः । उप ब्रह्माणि वाघतः ॥ ५ ॥

इन्द्र । आ । याहि । धिया । इषितः । विप्रऽजूतः । सुतऽवतः ॥ उप । ब्रह्माणि । वाघतः ॥ ५ ॥

पदार्थः—(इन्द्र) परमेश्वर ! (आ याहि) प्राप्तो भव (धिया) प्रकृष्टज्ञानयुक्तया बुद्धयोत्तमकर्मणा वा (इषितः) प्रापयितव्यः (विप्रजूतः) विप्रैर्मेधाविभिर्विद्वद्भिर्ज्ञातः। विप्र इति मेधाविनामसु पठितम्। निघं० ३। १५। '[जू इति सौत्रो धातुर्गत्यर्थः'[1]।] (सुतावतः) प्राप्तपदार्थविद्यान् (उप) सामीप्ये (ब्रह्माणि) विज्ञातवेदार्थान् ब्राह्मणान्। ब्रह्म वै ब्राह्मणः। श० १३। १। ५। ३। (वाघतः) यज्ञविद्यानुष्ठानेन सुखसम्पादिन ऋत्विजः। वाघत इति ऋत्विङ्नामसु पठितम्। निघं० ३। १८ ॥ ५ ॥

अन्वयः—हे इन्द्र ! धियेषितः विप्रजूतस्त्वं सुतावतो ब्रह्माणि वाघतो विदुष उपायाहि ॥५॥

भावार्थः—मनुष्यैर्मूलकारणस्येश्वरस्य संस्कृतया बुद्धया विज्ञानतः साक्षात्प्राप्तिः कार्य्या। नैवं विनाऽयं केनचिन्मनुष्येण प्राप्तुं शक्य इति ॥ ५ ॥

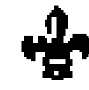
१. क. कोशे 'जू इति सौत्रः' इत्युपलभ्यते।

२. 'जुचङ्क्रम्य' (अ० ३। २। १५०) इत्यादिसूत्रे पठितः। गत्यर्थत्वात् प्राप्त्यर्थकः।

ईश्वर ने अगले मन्त्र में अपना प्रकाश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (इन्द्र) परमेश्वर! (धिया) निरन्तर ज्ञानयुक्त बुद्धि वा उत्तम कर्म में (इषितः) प्राप्त होने, और (विप्रजूतः) बुद्धिमान् विद्वान् लोगों के जानने योग्य आप (सुतावतः) पदार्थविद्या के जाननेवाले (ब्रह्माणि) ब्राह्मण अर्थात् जिन्होंने वेदों का अर्थ [जाना है], तथा (वाघतः) जो यज्ञविद्या के अनुष्ठान से सुख करनेवाले विद्वान् हैं, उन्हें कृपा से (उपायाहि) प्राप्त हूजिये ॥५॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को उचित है कि जो सब कार्य्य जगत् की उत्पत्ति करने में आदि कारण परमेश्वर है, उसको शुद्ध बुद्धि विज्ञान से साक्षात् करना चाहिये। [क्योंकि इसके विना वह किसी को प्राप्त नहीं हो सकता ॥ ५ ॥



अथेन्द्रशब्देन वायुरुपदिश्यते—

इन्द्रा याहि तूतुजान उप ब्रह्माणि हरिवः । सुते दधिष्व नश्चनः ॥ ६ ॥

इन्द्र । आ । याहि । तूतुजानः । उप । ब्रह्माणि । हरिऽवः ॥ सुते । दधिष्व । नः । चनः ॥ ६ ॥

पदार्थः—(इन्द्र) अयं वायुः। विश्वेभिः सोम्यं मध्वग्न इन्द्रेण वायुना। ऋ० १ । १४ । १० अनेन प्रमाणेनेन्द्रशब्देन वायुर्गृह्यते। (आ) समन्तात् (याहि) याति समन्तात् प्रापयति (तूतुजानः) त्वरमाणः। तूतुजान इति क्षिप्रनामसु पठितम्। निघं० २ । १५ । (उप) सामीप्यम्[1] (ब्रह्माणि) वेदस्थानि स्तोत्राणि (हरिवः) वेगाद्यश्ववान्। हरयो हरणनिमित्ताः प्रशस्ताः वेगा[2] विद्यन्ते यस्य सः। अत्र प्रशंसायां 'मतुप्'। मतुवसो रुः सम्बुद्धौ छन्दसि [अ० ८ । ३ । १] इत्यनेन रुत्वे विसर्जनीयः[3]। छन्दसीरः [अ० ८ । २ । १५] इत्यनेन वत्वम्। हरी इन्द्रस्य। निघं० १ । १५ । (सुते)[4] आभिमुख्यतयोत्पन्ने वाग्व्यवहारे[5] (दधिष्व) दधते (नः) अस्मभ्यमस्माकं वा (चनः) अन्नभोजनादिव्यवहारम् ॥ ६ ॥

अन्वयः—यो हरिवो वेगवान् तूतुजान इन्द्र वायुः सुते ब्रह्माण्युपायाहि[6] समन्तात् प्राप्नोति, स एव नः[7] चनो दधिष्व दधते ॥ ६ ॥

१. 'सामीप्ये' इति साधु स्यात्।

२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'किरणा' इत्यपपाठः। अथस्य वायुपरत्वादत्र 'वेगा' इत्येव साधुपाठः।

३. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'रुत्वविसर्जनीयौ' इत्यपपाठः। सूत्रमिदं केवलं रुत्वं विदधाति, रुत्वे सति विसर्जनीयो भवति।

४. पदमिदं क. ख. कोशयोवर्तते, तदनु नष्टम्।

५. वै० य० मुद्रितेषु १, २, ३ संस्करणेषु 'आभिमुख्यतयोत्पन्नौ वाग्व्यवहारौ' इत्यपपाठः। क. ख. कोशयोः चतुर्थे च संस्करणे शुद्ध एव पाठ उपलभ्यते।

६. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'ब्रह्माण्यायाहि' इत्येव पाठः।

७. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु पदमिदं न दृश्यते। चतुर्थसंस्करणे परिवर्धितं कोष्ठके। क. कोशे तूपलभ्यते।

भावार्थः—मनुष्यैरयं वायुः=शरीरस्थः प्राणः सर्वचेष्टानिमित्तोऽन्नपानादानपाचनविसर्जन-धातुविभागाभिसरणहेतुर्भूत्वा पुष्टिवृद्धिक्षयकरोऽस्तीति बोध्यम् ॥ ६ ॥

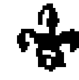
इति पञ्चमो वर्गः ॥

ईश्वर ने अगले मन्त्र में भौतिक वायु का उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—जो (हरिवः) वेगादिगुणयुक्त (तूतुजानः) शीघ्र चलनेवाला (इन्द्र) भौतिक वायु है, वह (सुते) प्रत्यक्ष उत्पन्न वाणी के व्यवहार में[1] हमारे लिये (ब्रह्माणि) वेद के स्तोत्रों को (उपयाहि) अच्छी प्रकार प्राप्त करता है। तथा वह (नः) हम लोगों के (चनः) अन्नादि व्यवहार को (दधिष्व) धारण करता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो शरीरस्थ प्राण है, वह सब क्रिया का निमित्त होकर खाना पीना ग्रहण करना पकाना और त्यागना आदि क्रियाओं से कर्म का कराने, तथा शरीर में रुधिर आदि धातुओं के विभागों को जगह-जगह में पहुंचानेवाला है। क्योंकि वही शरीर आदि की पुष्टि और नाश का हेतु है [ऐसा मनुष्यों को जानना चाहिये] ॥६॥

यह पांचवा वर्ग समाप्त हुआ ॥



अथेश्वरः प्राणिनां मध्ये ये विद्वांसः सन्ति, तेषां कर्त्तव्यलक्षणे उपदिशति—

ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वे देवास आ गत । दाश्वांसो दाशुषः सुतम् ॥ ७ ॥

ओमासः । चर्षणिऽधृतः । विश्वे । देवासः । आ । गत ॥ दाश्वांसः । दाशुषः । सुतम् ॥ ७ ॥

पदार्थः—(**ओमासः**) रक्षका ज्ञानिनो विद्याकामा उपदेशप्रीतयो विज्ञानतृप्तयो यथा-तथ्यावगमाः शुभगुणप्रवेशाः सर्वविद्याश्राविणः परमेश्वरप्राप्तौ व्यवहारे च पुरुषार्थिनः शुभ-विद्यागुणयाचिनः क्रियावन्तः सर्वोपकारमिच्छुका विज्ञाने प्रशस्ता आप्ताः सर्वशुभलिङ्गिनो दुष्टगुणहिंसकाः शुभगुणदातारः सौभाग्यवन्तो ज्ञानवृद्धाः। अव रक्षणगतिकान्तिप्रीतितृप्त्यवगम-प्रवेशश्रवणस्वाम्यर्थयाचनक्रियेच्छादीप्त्यवाप्त्यालिङ्गनहिंसादानभागवृद्धिषु । अविसिविसिशुषिभ्यः कित् [उ० १ । १४४] इत्यनेनौणादिकेन सूत्रेणावधातोः 'ओम'[2] शब्दः सिध्यति। ओमास इति पदनामसु पठितम् । निघं० ४ । ३ । (**चर्षणीधृतः**) सत्योपदेशेन मनुष्येभ्यः सुखस्य धर्तारः।

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु' (नः) हमारे लिये' पाठो दृश्यते, स चानावश्यकः, उत्तरत्र दर्शनात् । क. ख. कोशयोरपि न दृश्यते ।

२. वै० य० मुद्रितयोः १-२ संस्करणयोः शुद्धपाठ उपलभ्यते । तृतीयसंस्करणे प्रमादात् मकारान्तः 'ओम्' मुद्रितः । चतुर्थे संस्करणे उत्तराक्षरसंयोगात् मकारोऽनुस्वारतां नीत्वा पाठो भ्रष्टतरतां नीतः । यद्यपि 'ओम' शब्दे 'मन्' प्रत्ययः 'कित्' वर्तते, तथापि 'ज्वरत्वर' (अ० ६ । ४ । २०) इत्यनेनोठि कृते बाहुलकादत्र गुणो भवति ।

चर्षणय इति मनुष्यनामसु पठितम्। निघं० २। ३। (विश्वेदेवासः) देवा दीव्यन्ति **विश्वे सर्वे च ते देवा विद्वांसश्च ते**[1]। 'आज्जसेरसुक्। अ० ७। १। ५० [इत्यसुगागमः]। विश्वेदेवा इति पदनामसु पठितम्। निघं० ५। ६। (**आ गत**) **समन्तात् गमयत। इत्यत्र गमधातोर्ज्ञानार्थः**[3] **प्रयोगः**। (**दाश्वांसः**) **सर्वस्याभयदातारः**। दाश्वान् साह्वान् मीढ्वांश्च। अ० ६। १। १२ **अनेनायं दानार्थाद्दाशेः क्वसुप्रत्ययान्तो निपातितः। (दाशुषः) दातुः (सुतम्) यत् सोमादिकं ग्रहीतुं विज्ञानं प्रकाशयितुं चाभीष्टं वस्तु ॥**

निरुक्तकार एनं मन्त्रमेवं समाचष्टे—अवितारो वाऽवनीया वा, मनुष्यधृतः सर्वे च देवा इहागच्छत, दत्तवन्तो दत्तवतः सुतमिति। तदेतदेकमेव वैश्वदेवं गायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते। यत्तु किञ्चिद्बहुदैवतं तद्वैश्वदेवानां स्थाने युज्यते, यदेव विश्वलिङ्गमिति शाकपूणिरनत्यन्तगतस्त्वेष उद्देशो भवति, बभ्रुरेक इति दश द्विपदा अलिङ्गा भूतांशः काश्यप आश्विनमेकलिङ्गमभितष्टीयं सूक्तमेकलिङ्गम्। निरु० १२। ४०। **अत्र रक्षाकर्त्तारः सर्वे रक्षणीयाश्च सर्वे विद्वांसः सन्ति, ते च सर्वेभ्यो विद्याविज्ञानं दत्तवन्तो भवन्त्विति ॥ ७ ॥**

अन्वयः– हे ओमासश्चर्षणीधृतो दाश्वांसो विश्वे देवासः **सर्वे विद्वांसो** दाशुषः सुतमागत **समन्तादागच्छत ॥ ७ ॥**

भावार्थः—ईश्वरो विदुषः प्रत्याज्ञां ददाति—यूयमेकत्र विद्यालये चेतस्ततो वा भ्रमणं कुर्वन्तः सन्तोऽज्ञानिनो जनान् विदुषः सम्पादयत। यतः सर्वे मनुष्या विद्याधर्मसुशिक्षासत्क्रियावन्तो भूत्वा सदैव सुखिनः स्युरिति ॥ ७ ॥

ईश्वर ने अगले मन्त्र में प्राणियों में जो विद्वान् होते हैं, उनके[4] लक्षण और कर्तव्यों का प्रकाश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (ओमासः) अपने गुणों से संसार के जीवों की रक्षा करने ज्ञान से

---

१. मन्त्रे पदपाठे च 'विश्वे देवाः' स्वरानुरोधाद् द्वे पदे स्तः। भाष्यकृता त्वत्र समानाधिकरणसमासः प्रदर्शितः। अयं मन्त्रो भाष्यकृता यजुर्वेदभाष्ये (६। ३३)ऽपि व्याख्यातः। तत्र यथास्थितं द्वे पदे एव निर्दिष्टे। अतस्त्वयं व्याख्यानं यदि शब्दार्थपरमेवाश्रीयते, तर्हि कथंचित् समाधातुं शक्यते।

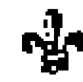
२. सूत्रमेतत् क. कोशे पठ्यते।

३. क. कोशेऽत्र '(आ गत) आसमन्ताज्ज्ञापयत। आगत इत्यत्र गमिर्ज्ञानार्थो गृह्यते' इत्येवं पाठ आसीत्। अस्मिन् पाठे गमेर्ज्ञानार्थत्वं वक्तुमुचितम्। 'ज्ञापयत' इत्यस्य स्थाने 'गमयत' इत्येवं पाठः परिवर्तितस्तदा 'इत्यत्र गमधातोर्ज्ञानार्थः प्रयोगः' इति लेखो न युज्यते। यद्युच्येत 'गमयत' इत्यस्य 'ज्ञापयत' इत्येवार्थो गृह्यताम्। तदपि न संगच्छते, अन्वये ज्ञानार्थस्यानन्वयात्। तस्मादत्र संशोधनकाले स्खलननिमित्त एवायं पाठोऽवशिष्टः स्यात्। ग्रन्थकर्त्तुर्वेदभाष्ये एतादृशाः स्खलननिमित्ता बहवोऽपपाठा दृश्यन्ते। तत्र प्रधानं कारणं कार्यबाहुल्यं लिपिकरपण्डितानां च प्रमाद इति शक्यतेऽनुमातुम्।

४. वै०य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'मन्त्र में विद्वानों के लक्षण और आचरणों का' इत्येवमपपाठ उपलभ्यते। यथा त्वस्माभिः पाठो धृतस्तथा क. कोशे समुपलभ्यते। केवलं 'कर्तव्यों का' इत्यस्य स्थाने 'उनको क्या-क्या करना चाहिये इसका' पाठो वर्तते।

परिपूर्ण, विद्या और उपदेश में प्रीति रखने, विज्ञान से तृप्त, यथार्थ निश्चययुक्त, शुभगुणों को देने, और सब विद्याओं का सुनाने, परमेश्वर के जानने के लिये [तथा व्यवहार में] पुरुषार्थी, श्रेष्ठ विद्या के गुणों को चाहने, दुष्ट गुणों के नाश करने, [शुभ गुणों के देनेवाले, और सौभाग्य-युक्त,] अत्यन्त ज्ञानवान्, (चर्षणीधृतः) सत्य उपदेश से मनुष्यों के सुख के धारण करने और कराने, (दाश्वांसः) अपने शुभ गुणों से सबको निर्भय करनेहारे (विश्वे देवासः) सब विद्वान् लोगो ! आप (दाशुषः) दान करनेवालों के (सुतम्) सोम आदि पदार्थ, विज्ञान का प्रकाश, और [इष्ट वस्तु को] (आ गत) सब प्रकार प्राप्त होवो ॥ ७ ॥

भावार्थ—ईश्वर विद्वानों को आज्ञा देता है कि—'तुम लोग एक जगह पाठशाला में अथवा इधर-उधर देशदेशान्तरों में भ्रमते हुए अज्ञानी पुरुषों को विद्यारूपी ज्ञान देके विद्वान् किया करो, कि जिससे सब मनुष्य लोग विद्या धर्म और श्रेष्ठ शिक्षायुक्त होके अच्छे-अच्छे कर्मों से युक्त होकर सदा सुखी रहें ॥ ७ ॥



पुनस्तानेवोपदिशति—

विश्वे॑ दे॒वासो॑ अ॒प्तुरः॑ सु॒तमाग॑न्त॒ तूर्ण॑यः । उ॒स्रा इ॑व॒ स्वस॑राणि ॥ ८ ॥

विश्वे॑ । दे॒वासः॑ । अ॒प्ऽतुरः॑ । सु॒तम् । आ । ग॒न्त॒ । तूर्ण॑यः ॥ उ॒स्राःऽइ॑व । स्वस॑राणि ॥ ८ ॥

पदार्थः—(विश्वे) समस्ताः (देवासः) विद्यावन्तः (अप्तुरः) मनुष्याणामपः प्राणान् तुतुरति विद्याविबलानि प्राप्नुवन्ति प्रापयन्ति च ते । अयं शीघ्रार्थस्य तुरेः क्विबन्तः प्रयोगः । (सुतम्) अन्तःकरणाभिगतं विज्ञानं कर्तुम् (आगन्त) आगच्छत । अयं गमेर्लोटो मध्यमबहुवचने प्रयोगः । बहुलं छन्दसि । अ० २ । ४ । ७३ इत्यनेन शपो लुकि कृते तप्तनप्तनथनाश्च । अ० ७ । १ । ४५ इति तबादेशे पित्वादनुनासिकलोपाभावः । (तूर्णयः) सर्वत्र विद्यां प्रकाशयितुं त्वरमाणाः । ञित्वरा सम्भ्रमे इत्यस्मात् वहिश्रिश्रुयुद्रुग्लाहात्वरिभ्यो नित् । उ० ४ । ५३ अत्र नेरनुवर्तनात्तूर्णिरिति सिद्धम्[1] । (उस्रा इव) सूर्यकिरणा इव । उस्रा इति रश्मिनामसु पठितम् । निघं० १ । ५ । (स्वसराणि) अहानि । स्वसराणीत्यहर्नामसु पठितम् । निघं० १ । ६ ॥ ८ ॥

अन्वयः—हे अप्तुरस्तूर्णयो विश्वे देवासः यूयं स्वसराणि प्रकाशयितुं उस्राः [इव] किरणा इव सुतं कर्मोपासनाज्ञानरूपं व्यवहारं प्रकाशयितुमागन्त नित्यमागच्छत समन्तात् प्राप्नुत ॥ ८ ॥

अत्रोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—ईश्वरेणैतन्मन्त्रेणेयमाज्ञा दत्ता—हे सर्वे विद्वांसो नैव युष्माभिः कदाचिदपि विद्याविशुभगुणप्रकाशकरणे विलम्बालस्ये कर्त्तव्ये । यथा दिवसे सर्वे मूर्तिमन्तः पदार्थाः प्रकाशिता भवन्ति, तथैव युष्माभिरपि सर्वे विद्याविषयाः सदैव प्रकाशिताः कार्य्या इति ॥ ८ ॥

---

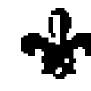
१. अत्र क. कोशपाठः—अत्र नेरित्यनुवर्तनात् त्रिस्वरा सम्भ्रमे इति त्वरेः निः प्रत्ययः । ज्वरत्वरस्रिव्यविमवामुपधायाश्च' अष्टा० ६ । पा० [४] । सू० [२०] इत्यूठ् ।

ईश्वर ने फिर भी उन्हीं विद्वानों का प्रकाश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (अप्तुरः) मनुष्यों को प्राण और विद्या आदि का बल देने, और (तूर्णयः) सर्वत्र विद्या आदि के प्रकाश करने में शीघ्रता करनेवाले (विश्वे देवासः) सब विद्वान् लोगो! (स्वसराणि) दिनों को प्रकाश करने के लिये (उस्रा इव) जैसे सूर्य्य की किरण आती जाती हैं, वैसे ही तुम भी मनुष्यों के समीप (सुतम्) कर्म उपासना और ज्ञान का प्रकाश करने के लिये (आगन्त) नित्य आया जाया करो ॥ ८ ॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है।

भावार्थ—ईश्वर ने [इस मन्त्र में] यह आज्ञा दी है—"हे विद्वानो! आप लोगों को कभी भी विद्या आदि शुभ गुणों के प्रकाश करने में थोड़ा भी विलम्ब वा आलस्य करना योग्य नहीं है। जैसे दिन की निकासी में सूर्य्य सब मूर्तिमान् पदार्थ प्रकाशित होते हैं, वैसे ही विद्वान् लोगों को भी विद्या के विषयों का प्रकाश सदा करना चाहिये ॥ ८ ॥



एते कीदृशस्वभावा भूत्वा किं सेवेरन्नित्युपदिश्यते—

विश्वे॑ दे॒वासो॑ अ॒स्रिध॒ एहि॑मायासो अ॒द्रुहः॑। मेधं॑ जुषन्त॒ वह्न॑यः ॥ ९ ॥

विश्वे॑। दे॒वासः॑। अ॒स्रिधः॑। एहि॑ऽमायासः। अ॒द्रुहः॑ ॥ मेध॑म्। जु॒ष॒न्त॒। वह्न॑यः ॥ ९ ॥

पदार्थः—(विश्वे) समस्ताः (देवासः) वेदपारगाः (अस्रिधः) अक्षयविज्ञानवन्तः। क्षयार्थस्य नञ्पूर्वकस्य स्रिधेः क्विबन्तस्य रूपम्। (एहिमायासः) आसमन्ताच्चेष्टायां प्रज्ञा येषां ते। चेष्टार्थस्याङ्पूर्वस्य ईहधातोः सर्वधातुभ्य इन्। उ० ४। ११९ इतीन्प्रत्ययान्तं रूपम्। मायेति प्रज्ञानामसु पठितम्। निघं० ३। ९। (अद्रुहः) द्रोहरहिताः। (मेधम्) ज्ञानक्रियामयं शुद्धं यज्ञं सर्वैर्विद्वद्भिः शुभैर्गुणैः कर्मभिर्वा सह सङ्गतम्। मेध इति यज्ञनामसु पठितम्। निघं० ३। १७। (जुषन्त) [2]संप्रीत्या सेवध्वम्। (वह्नयः) सुखस्य वोढारः। अयं वहेर्निप्रत्ययान्तः प्रयोगः[3]। वह्नयो वोढारः। निरु० ८। ३ ॥ ९ ॥

अन्वयः—हे एहिमायासोऽस्रिधोऽद्रुहो वह्नयो विश्वे देवासो भवन्तो मेधं[4] ज्ञानक्रियाभ्यां [5]सेवनीयम् यज्ञं जुषन्त [6]संप्रीत्या सेवध्वम् ॥ ९ ॥

१. वै० य० मुद्रित संस्करणों में भाषा-भावार्थ क. कोशस्थ भूतपूर्व संस्कृत-पाठानुसार है। हमने अल्प सा परिवर्तन करके वर्तमान संस्कृत-भावार्थ के अनुकूल बना दिया है।

२. 'सं' पदं क. ख कोशयोरुपलभ्यते।

३. 'वहिश्रिश्रुयुद्रु०' (उ० ४। ५१) इत्यादिना निप्रत्ययः, नित्त्वादाद्युदात्तः।

४. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'मेधं' पदं 'ज्ञानक्रियाभ्यां' पदात् परं दृश्यते, पदार्थानुसारं प्राङ् निर्दिष्टम्।

५. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'सेवनीयं' इत्यपपाठः।

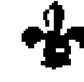
६. एते पदे भाष्यकृता स्वहस्तेन ख. कोशे परिवर्धिते। जुषध्वमित्यस्य पदार्थेन गतत्वादन्वये नास्ति विशेषावश्यकता।

भावार्थः—ईश्वर आज्ञापयति—भो विद्वांसः ! [भवन्तो] परक्षयद्रोहरहिता विशालविद्यया क्रियावन्तो भूत्वा सर्वेभ्यो मनुष्येभ्यो विद्यासुखयोः सदा दातारो भवन्त्विति ॥ ६ ॥

विद्वान् लोग कैसे स्वभाववाले होकर कैसे कर्मों को सेवें, इस विषय को ईश्वर ने अगले मन्त्र में दिखाया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (एहिमायासः) क्रिया में बुद्धि रखनेवाले (अस्रिधः) [अक्षय=] दृढ़ ज्ञान से परिपूर्ण, (अद्रुहः) द्रोहरहित, (वह्नयः) संसार को सुख पहुंचानेवाले (विश्वे) सब (देवासः) विद्वान् लोगो ! तुम (मेधम्) ज्ञान और क्रिया से सिद्ध करने योग्य यज्ञ को [(जुषन्त)] प्रीतिपूर्वक यथावत् सेवन किया करो ॥ ६ ॥

भावार्थ—ईश्वर आज्ञा देता है कि—हे विद्वान् लोगो ! तुम दूसरे के विनाश और द्रोह से रहित तथा अच्छी विद्या से क्रियावाले होकर सब मनुष्यों को सदा विद्या और सुख देते रहो ॥६॥



तैः कीदृशी वाक् प्राप्तुमेष्टव्येत्युपदिश्यते—

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती । यज्ञं वष्टु धियावसुः ॥ १० ॥

पावका । नः । सरस्वती । वाजेभिः । वाजिनीऽवती ॥ यज्ञम् । वष्टु । धियाऽवसुः ॥ १० ॥

पदार्थः—(पावका) पावं पवित्रकारकं व्यवहारं कायवति शब्दयति या सा । 'पूञ् पवने' इत्यस्माद्भावार्थे घञ्[1] । तस्मिन् सति 'कै शब्दे' इत्यस्मात् आतोऽनुपसर्गे कः । अ० ३ । २ । ३ इति कप्रत्ययः[2] । उपपदमतिङ् । अ० २ । २ । १९ इति समासः[3] । (नः) अस्माकम् (सरस्वती) सरसः प्रशंसिता ज्ञानादयो गुणा विद्यन्ते यस्यां सा सर्वविद्याप्रापिका वाक् । सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८९ अनेन गत्यर्थात् सृधातोरसुन्प्रत्ययः । सरन्ति प्राप्नुवन्ति सर्वा विद्या येन तत्सरः । अस्मात् प्रशंसायां 'मतुप्' । सरस्वतीति वाङ्नामसु पठितम् । निघं० १ । ११ । (वाजेभिः) सर्वविद्याप्राप्तिनिमित्तैरन्नादिभिः सह । वाज इत्यन्ननामसु पठितम् । निघं० २ । ७ । (वाजिनीवती) सर्वविद्यासिद्धक्रियायुक्ता । वाजिन इति पदनामसु पठितम् । निघं० ५ । ६ अनेन [4]वाजिनः क्रियाप्राप्तिहेतवो व्यवहारास्तद्वती । वाजिनीति गमनार्था प्राप्त्यर्था च क्रिया गृह्यते । (यज्ञम्)

---

१. 'ऋदोरप्' (अ० ३ । ३ । ५७) इत्यप्प्राप्ते छान्दसत्वादत्र 'घञ्' द्रष्टव्यः ।

२. 'इति क प्रत्ययः' अयं पाठः क. कोश उपलभ्यते, आवश्यकश्च ।

३. पदकारा इमं पदं ण्वुच्प्रत्ययान्तं मत्वा नावगृह्णन्ति । यथात्वत्र व्याख्यानं तथावग्रहेण भाव्यम् । तथापि द्विधा निर्वचनसम्भवे 'संदेहान्नावग्रहः' इति नियमेन समासपक्षेऽप्यवग्रहो न भवति । स्वरस्तु 'थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्' (६ । २ । १४४) इत्युत्तरपदान्तोदात्तः । अपरपक्षे पुनाते ण्वुंच् उपसंख्येयः, ण्वुलि वा उञ्छादित्वादन्तोदात्तत्वं ज्ञेयम् ।

४. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'वाजिनः……तद्वती' इत्येतावानंशः 'सर्वविद्यासिद्धक्रियायुक्ता' इत्यस्मात् परमस्थाने पठ्यते । वाजिनः……'तद्वती'=क्रिया प्राप्तिवती=वाजिनी, ततो मतुप् स्त्रियां ङीप् ।

शिल्पविद्यामहिमानं कर्म च । यज्ञो वै महिमा । श० ६ । २ । ३ । १८ ।[1] यज्ञो वै कर्म । श० १ । १ । २ । १ । (वष्टु) कामसिद्धिप्रकाशिका भवतु । (धियावसुः) शुद्धकर्मणा सह वासप्रापिका । तत्पुरुषे कृति बहुलम् । अ० ६ । ३ । १४ अनेन तृतीयातत्पुरुषे विभक्त्यलुक्[2] । सायणाचार्य्यस्तु बहुव्रीहिसमासमङ्गीकृत्य छान्दसोऽलुगिति प्रतिज्ञातवान् । अत एवैतद् भ्रान्त्या व्याख्यातवान्[3] ॥

इमामृचं निरुक्तकार एवं समाचष्टे—पावका नः सरस्वत्यन्नैरन्नवती यज्ञं वष्टु धियावसुः कर्मवसुः । निरु० ११ । २६ । अत्रान्नवतीति विशेषः ॥ १० ॥

अन्वयः—या वाजेभिर्वाजिनीवती धियावसुः पावका सरस्वती वागस्ति, सा[नो]ऽस्माकं [4]यज्ञं शिल्पविद्यामहिमानं कर्म च वष्टु तत्प्रकाशयित्री भवतु ॥ १० ॥

भावार्थः—ईश्वरोऽभिवदति—सर्वैर्मनुष्यैः सत्याभ्यां विद्याभाषणाभ्यां युक्ता क्रियाकुशला सर्वोपकारिणी स्वकीया वाणी सदैव सम्भावनीयेति ॥ १० ॥

विद्वानों को किस प्रकार की वाणी की इच्छा करनी चाहिये, इस विषय को अगले मन्त्र में ईश्वर ने कहा है—

पदार्थान्वयभाषा—जो (वाजेभिः) सब विद्या की प्राप्ति के निमित्त अन्न आदि पदार्थ हैं, उनके साथ जो (वाजिनीवती) विद्या से सिद्ध की हुई क्रियाओं से युक्त, (धियावसुः) शुद्ध कर्म के साथ वास देने, और (पावका) पवित्र करनेवाले व्यवहारों को चितानेवाली, (सरस्वती) जिसमें प्रशंसा योग्य ज्ञान आदि गुण हों, ऐसी उत्तम सब विद्याओं की देनेवाली वाणी है, वह हम लोगों के (यज्ञम्) शिल्पविद्या के महिमा और कर्मरूप यज्ञ को (वष्टु) प्रकाश करनेवाली हो ॥१०॥

१. अध्यायानुसारं श० ६ । ३ । १ । १८ ॥

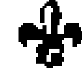
२. अस्य मन्त्रस्य माध्वभाष्यस्य भाष्यव्याख्याता जयतीर्थ आह—'तेन सहार्थे तृतीयायाः समासोऽलुक् च ।

३. अस्यायमभिप्रायः—यद्यप्यस्मिन् सूत्रे सप्तम्या अधिकारस्तथापि सा नास्मिन् सूत्रे सम्बध्यते । तथा चोक्तम्—'मण्डूकप्लुतयोऽधिकाराः । यथा मण्डूका उत्प्लुत्योत्प्लुत्य गच्छन्ति तद्वदधिकाराः ।.......अथवै-तज्ज्ञापयत्यनुवर्तन्ते च नाम विधयो न चानुवर्तनादेव भवन्ति । किं तर्हि ? यत्नाद् भवन्ति(महा० ५ । २ । ४)'। एवं च सति सप्तम्या अधिकारेऽपि अत्र सम्बन्धाभावः । एवं च कृत्वा सर्वस्यालुक्प्रकरणस्योत्सर्गसूत्रमिदम् । अत एव महाभाष्यकृता 'बन्धे च विभाषा' (अ० ६ । ३ । १३) इत्यत्र 'सर्वत्रैवोत्तरपदाधिकारे तत्पुरुषे कृति बहुलमिति प्राप्ते' इत्युक्तम । 'तत्पुरुषे कृति' (६ । ३ । १४) इत्यस्य भाष्येऽप्युक्तम्—'अथ किमर्थं लुगलुगनुक्रमणं क्रियते, न तत्पुरुषे कृति बहुलमित्येव सिद्धम् ?...... उदाहरणभूयस्त्वात् । ते वै विधयः सुपरिगृहीता भवन्ति येषां लक्षणं प्रपञ्चश्च ।'

इदं भाष्यवचनमाश्रित्यैव भगवता ग्रन्थकारेण सूत्रमिदमुपन्यस्तम् । सप्तम्या अनुवृत्तिमाश्रित्य सायणेन यच्छान्दसमलुगुक्तं तन्महाभाष्यविरोधात् प्रत्याख्यातम् । स्वरस्तु तृतीयासमासेऽपि 'तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमान०' (६ । २ । २) इत्यादिना सिद्ध एव ।

४. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'यज्ञं' पदं 'कर्म च' इत्यस्मात् परमस्थाने पठ्यते ।

भावार्थ—सब मनुष्यों को चाहिये कि वे ईश्वर की प्रार्थना और अपने पुरुषार्थ से सत्य विद्या और सत्यवचनयुक्त कामों में कुशल, और सब के उपकार करनेवाली वाणी को प्राप्त रहें, यह ईश्वर का उपदेश है ॥१०॥



पुनः सा कीदृशीत्युपदिश्यते—

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती ॥ ११ ॥

चोदयित्री। सूनृतानाम्। चेतन्ती। सुऽमतीनाम् ॥ यज्ञम्। दधे। सरस्वती ॥ ११ ॥

पदार्थः—(**चोदयित्री**) शुभगुणग्रहणप्रेरिका (सूनृतानाम्) सुतरामूनयत्यनृतं यत्कर्म तत् सून् तदृतं यथार्थं सत्यं येषां ते सूनृतास्तेषाम्। अत्र 'ऊन परिहाणे' अस्मात् क्विप् च [अ० ३।२।७६] इति 'क्विप्'। (चेतन्ती) संपादयन्ती सती (सुमतीनाम्) शोभना मतिर्बुद्धिर्येषां ते सुमतयस्तेषां विदुषाम् (यज्ञम्) पूर्वोक्तम्। (दधे) दधाति। छन्दसि लुङ्लङ्लिटः। अ० ३।४।६ अनेन वर्त्तमाने लिट्। [1](सरस्वती) वाणी ॥ ११ ॥

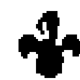
अन्वयः—या सूनृतानां सुमतीनां विदुषां चेतन्ती चोदयित्री सरस्वत्यस्ति, **सैव वेदविद्या-संस्कृता वाक्** यज्ञं दधे दधाति ॥ ११ ॥

भावार्थः—या किलाप्तानां सत्यलक्षणा पूर्णविद्यायुक्ता छलादिदोषरहिता यथार्थवाणी वर्त्तते, सा मनुष्याणां सत्यज्ञानाय भवितुमर्हति नेतरेषामिति ॥ ११ ॥

ईश्वर ने [फिर] वह वाणी किस प्रकार की है, इस बात का उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—जो (सुनृतानाम्) मिथ्या वचन के नाश करने, सत्यवचन और सत्य कर्म को सदा सेवन करने, (सुमतीनाम्) अत्यन्त उत्तम बुद्धि और विद्यावाले विद्वानों की (चेतन्ती) समझने तथा (चोदयित्री) शुभ गुणों के ग्रहण [की प्रेरणा] करनेहारी (सरस्वती) वाणी है, वही वेदविद्या से संस्कृत की हुई वाणी [(यज्ञम्)] यज्ञ आदि कर्म [को (दधे)] धारण करने-वाली होती है ॥११॥

भावार्थ—जो आप्त अर्थात् पूर्णविद्यायुक्त, और छल आदि दोषरहित विद्वान् मनुष्यों की सत्य उपदेश करनेवाली यथार्थ वाणी है, वही सब मनुष्यों के सत्य ज्ञान होने के लिये योग्य होती है, अविद्वानों का नहीं ॥ ११ ॥



पुनः सा कीदृशीत्युपदिश्यते—

महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना। धियो विश्वा वि राजति ॥ १२ ॥

१. इदं मन्त्रपदमेतस्य व्याख्यानं च क. कोशे समुपलभ्यते। लिपिकरप्रमादात् ख. कोशे नष्टम्।

मुहः । अर्णः । सरस्वती । प्र । चेतयति । केतुना ॥ धियः । विश्वाः । वि । राजति ॥ १२ ॥

पदार्थः—(महः) महत् । अत्र सर्वधातुभ्योऽसुन् [उ० ४ । १८९] इत्यसुन् प्रत्ययः । (अर्णः) जलार्णवमिव शब्दसमुद्रम् । उदके नुट् च । उ० ४ । १९७ अनेन सूत्रेणार्तेरसुन् प्रत्ययः । अर्ण इत्युदकनामसु पठितम् । निघं० १ । १२ । (सरस्वती) वाणी (प्र) प्रकृष्टार्थे (चेतयति) सम्यङ् ज्ञापयति (केतुना) शोभनकर्मणा[1] प्रज्ञया वा । केतुरिति प्रज्ञानामसु पठितम् । निघं० ३ । ९ । (धियः) मनुष्याणां धारणावतीर्बुद्धीः (विश्वाः) सर्वाः (वि) विशेषार्थे (राजति) प्रकाशयति । अत्रान्तर्भावितो ण्यर्थः ॥

निरुक्तकार एनं मन्त्रमेवं समाचष्टे—महदर्णः सरस्वती प्रचेतयति प्रज्ञापयति, केतुना कर्मणा प्रज्ञया वेमानि च सर्वाणि प्रज्ञानान्यभिविराजति, वागर्थेषु विधीयते तस्मान्माध्यमिकां वाचं मन्यन्ते, वाग्व्याख्याता । निरु० ११ । २७ ॥ १२ ॥

अन्वयः—या सरस्वती केतुना [महो] महदर्णः खलु जलार्णवमिव शब्दसमुद्रं [प्रचेतयति] प्रकृष्टतया सम्यग् ज्ञापयति, सा मनुष्याणां[2] विश्वा धियो विराजति विविधतयोत्तमा बुद्धीः प्रकाशयति ॥ १२ ॥

अत्र वाचकोपमेयलुप्तोपमालङ्कारः[3] ।

भावार्थः—यथा वायुना चालितः सूर्य्येण प्रकाशितो जलरत्नोर्मिसहितो महान् समुद्रोऽनेकव्यवहाररत्नप्रदो वर्त्तते, तथैवास्याकाशस्थस्य वेदस्थस्य च महतः शब्दसमुद्रस्य प्रकाशहेतुर्वेदवाणी विदुषामुपदेशश्चेतरेषां मनुष्याणां यथार्थतया मेधाविज्ञानप्रदो भवतीति ॥ १२ ॥

सूक्तद्वयसंबन्धिनोऽर्थस्योपदेशानन्तरमनेन तृतीयसूक्तेन क्रियाहेतुविषयस्याश्विशब्दस्यार्थमुक्त्वा तत्सिद्धिकर्तॄणां विदुषां स्वरूपलक्षणमुक्त्वा विद्वद्भवनहेतुना सरस्वतीशब्देन सर्वविद्याप्राप्तिनिमित्तार्था वाक् प्रकाशितेति वेदितव्यम् । द्वितीयसूक्तोक्तानां वाय्विन्द्रादीनामर्थानां संबन्धे तृतीयसूक्तप्रतिपादितानामश्विविद्वत्सरस्वत्यर्थानामन्वयाद् द्वितीयसूक्तोक्तार्थेन सहास्य तृतीयसूक्तोक्तार्थस्य सङ्गतिरस्तीति बोध्यम् ।

अस्य सूक्तस्यार्थः सायणाचार्य्यादिभिरन्यथैव वर्णितः । तत्र प्रथमं तस्यायं भ्रमः—'द्विविधा हि सरस्वती विग्रहवद्देवता नदीरूपा च । तत्र पूर्वाभ्यामृग्भ्यां विग्रहवती प्रतिपादिता । अनया तु नदीरूपा प्रतिपाद्यते ।' इत्यनेन कपोलकल्पनयाऽयमर्थो लिखित इति बोध्यम् । एवमेव व्यर्था

१. निघण्टावपठितमपि 'केतुः' कर्म नाम । तथा चाह निरुक्तकारः—'केतुना कर्मणा' (११ । २७) इति । अत एव नामानुक्रमणीकारो माधवभट्टोऽपि—'कूटः सुकृत्या करणं केतुर्वयोद्यतं शची' इति कर्मनामसु पठितवान् । द्र०—वेङ्कटमाधवीयर्ग्वेदानुक्रमण्याः परिशिष्टे, पृष्ठ १४४, पं० ५६ । अत्र 'केतुः' स्थाने 'केरुः' अपपाठः ।

२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'प्राणिनां' पाठः । क. ख. ग. कोशेषु 'मनुष्याणां' इत्येव साधुतरः पाठः । 'प्राणिनां' पाठेऽपि सामर्थ्याद् मनुष्या एव ग्राह्या भवन्ति, न प्राणिमात्रम् ।

३. क. ख. ग. कोशेष्वत्र 'वाचकोपमेयोपमानलुप्तालंकारः' इति पाठः ।

कल्पना'ऽध्यापकविलासनाख्यादीनामप्यस्ति। ये विद्यामप्राप्य व्याख्यातारो भवन्ति, तेषामन्धवत् प्रवृत्तिर्भवतीत्यत्र किमाश्चर्यम्॥

इति प्रथमोऽनुवाकस्तृतीयं सूक्तं षष्ठश्च वर्गः समाप्तः॥

ईश्वर ने फिर भी वह वाणी कैसी है, इस बात का प्रकाश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—जो (सरस्वती) वाणी (केतुना) शुभ कर्म अथवा श्रेष्ठ बुद्धि से (महः) अगाध (अर्णः) [जल के समुद्र के समान] शब्दरूपी समुद्र को (प्रचेतयति) [अच्छे प्रकार] जनानेवाली है, वही मनुष्यों की (विश्वाः) सब [(धियः)] बुद्धियों को [(विराजति)] विशेष करके प्रकाश करती है। १२॥

इस मन्त्र में वाचकोपमेयलुप्तोपमालंकार दिखलाया है।

भावार्थ—जैसे वायु से चालित और सूर्य से प्रकाशित, जल रत्न और तरंगों से युक्त महान् समुद्र बहुत उत्तम व्यवहार और रत्नादि की प्राप्ति करानेवाला होता है, वैसे ही जो आकाश और वेद के शब्दरूपी महासागर को प्रकाशित करनेवाली वेदवाणी और विद्वानों का उपदेश है, वही साधारण मनुष्यों की यथार्थ रूप से बुद्धि और ज्ञान का बढ़ानेवाला होता है॥ १२॥

दो सूक्तों की विद्या का प्रकाश करके इस तृतीय सूक्त से क्रियाओं का हेतु अश्विशब्द का अर्थ, और उसके सिद्ध करनेवाले विद्वानों का [स्वरूप और] लक्षण कहकर विद्वान् होने का हेतु, सरस्वती शब्द से सब विद्याप्राप्ति के निमित्त वाणी का प्रकाश किया है, ऐसा जानना चाहिये। [दूसरे सूक्त में कहे गये वायु, इन्द्र आदि के अर्थों के सम्बन्ध में तृतीयसूक्त प्रतिपादित अश्वि, विद्वान् और सरस्वती आदि के अर्थों का अन्वय होने के कारण] दूसरे सूक्त के अर्थ के साथ तीसरे सूक्त के अर्थ की संगति समझनी चाहिये॥

इस सूक्त का अर्थ **सायणाचार्य** आदि नवीन पण्डितों ने अशुद्ध वर्णन किया है। इनके व्याख्यानों में पहिले सायणाचार्य का भ्रम दिखलाते हैं। उन्होंने सरस्वती के दो अर्थ माने हैं। एक अर्थ से देहवाली देवतारूप और दूसरे से नदीरूपी सरस्वती मानी है। तथा उनने यह भी कहा है कि—'इस सूक्त में पहिले दो मन्त्रों से शरीरवाली देवतारूप सरस्वती का प्रतिपादन किया है, और अब इस मन्त्र से नदीरूप सरस्वती का वर्णन करते हैं'। यह अर्थ उन्होंने अपनी कपोल-कल्पना से विपरीत लिखा है। इसी प्रकार अध्यापक **विलसन** आदि की भी व्यर्थ कल्पना जाननी चाहिये। क्योंकि जो मनुष्य विद्या के विना किसी ग्रन्थ की व्याख्या करने को प्रवृत्त होते हैं, उनकी प्रवृत्ति अन्धों के समान होती है॥

[यह] प्रथम अनुवाक, तीसरा सूक्त और छठा वर्ग समाप्त हुआ॥



१. 'ऽध्यापकविलसनाख्यस्य वेदार्थयत्नकर्तुश्चास्ति' इति क. कोशे पाठः।

अथास्य दशर्चस्य चतुर्थसूक्तस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । इन्द्रो देवता । १, २, ४-६ गायत्री; ३ विराड्गायत्री; १० निचृद्गायत्री च छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

तत्र[1] प्रथममन्त्रेणोक्तविद्याप्रपूर्त्यर्थमिवमुपदिश्यते—

सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे । जुहूमसि द्यविद्यवि ॥ १ ॥

सुरूपऽकृत्नुम् । ऊतये । सुदुघाम्ऽइव । गोऽदुहे ॥ जुहूमसि । द्यविऽद्यवि ॥ १ ॥

पदार्थः—(सुरूपकृत्नुम्) य इन्द्रः सूर्य्यः सर्वान् पदार्थान् स्वप्रकाशेन स्वरूपान् करोतीति तम् । कृहनिभ्यां क्त्नुः । उ० ३ । ३० अनेन क्त्नुप्रत्ययः, उपपदसमासः । इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्याः[2], नेन्द्रादृते पवते धाम किञ्चन[3] । निरु० ७ । २ ।[4] अहमिन्द्रः परमेश्वरः सूर्य्यं पृथिवीं च ईशे रचितवानस्मीति तेनोपदिश्यते । तस्मादिन्द्राद्विना किञ्चिदपि धाम न पवते न पवित्रं भवति । (ऊतये) विद्याप्राप्तये । अवधातोः प्रयोगः, ऊतियूति० । अ० ३ । ३ । ९७ अस्मिन् सूत्रे निपातितः । (सुदुघामिव) यथा कश्चिन्मनुष्यो बहुदुग्धदात्र्या गोः पयो दुग्ध्वा स्वाभीष्टं प्रपूरयति तथा । दुहः कप् घश्च । अ० ३ । २ । ७० इतिसुपूर्वाद् दुहधातोः कप्प्रत्ययो घादेशश्च । (गोदुहे) गोर्दोग्ध्रे दुग्धादिकमिच्छवे मनुष्याय । सत्सूद्विष० । अ० ३ । २ । ६१ इति सूत्रेण क्विप्प्रत्ययः । (जुहूमसि) स्तुमः । बहुलं छन्दसि । अ० २ । ४ । ७६ अनेन शपः स्थाने श्लुः । अभ्यस्तस्य च । अ० ६ । १ । ३३ अनेन संप्रसारणम् । सम्प्रसारणाच्च । अ० ६ । १ । १०४ अनेन पूर्वरूपम् । हलः । अ० ६ । ४ । २ इति दीर्घः । इदन्तो मसिः । अ० ७ । १ । ४६ अनेन मसेरिकारागमः । (द्यविद्यवि) दिने दिने । नित्यवीप्सयोः । अ० ८ । १ । ४ अनेन द्वित्वम् । द्यविद्यवीत्यहर्नामसु पठितम् । निघं० १ । ९ ॥१॥

अन्वयः—गोदुहे दुग्धादिकमिच्छवे मनुष्याय [सुदुघामिव] दोहनसुलभां गामिव वयं द्यविद्यवि प्रतिदिनं सविधानां स्वेषामूतये विद्याप्राप्तये सुरूपकृत्नुमिन्द्रं परमेश्वरं जुहूमसि स्तुमः ॥ १ ॥

अत्रोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—यथा मनुष्या गोर्दुग्धं प्राप्य स्वप्रयोजनानि साधयन्ति, तथैव धार्मिका विद्वांसः परमेश्वरोपासनया श्रेष्ठविद्यादिगुणान् प्राप्य स्वकार्य्याणि प्रपूरयन्तीति ॥ १ ॥

अब चौथे सूक्त का आरम्भ करते हैं। ईश्वर ने इस सूक्त के पहिले मन्त्र में उक्त विद्याओं के परिपूर्ण करनेवाले साधन का प्रकाश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—जैसे [(गोदुहे)] दूध [आदि] की इच्छा करनेवाला मनुष्य [(सुदुघामिव)]

---

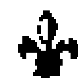
१. इतः पूर्वं क. कोशे 'इदानीं सूक्तत्रयेणोक्तविद्या-प्रतिपादनानन्तरं तत्सम्बन्धी तत्सहायकारी चेन्द्र-शब्दार्थोऽनेन सूक्तेनोच्यते' इत्यधिकः पाठः । २. ऋ० १०।८९।१० ॥

३. ऋ० ९।६०।६ ॥ ४. अङ्कमात्रनिर्देशान्निरुक्तस्योल्लेखोऽनावश्यकः ।

दूध दोहने के लिये सुलभ दुहानेवाली गौओं को दोहके अपनी कामनाओं को पूर्ण कर लेता है, वैसे हम लोग (द्यविद्यवि) सब दिन अपने निकटस्थित मनुष्यों को (ऊतये) विद्या की प्राप्ति के लिये (सुरूपकृत्नुम्) [इन्द्र=] परमेश्वर, जो कि अपने प्रकाश से सब पदार्थों को उत्तम रूपयुक्त करनेवाला है, उसकी (जुहूमसि) स्तुति करते हैं ॥ १ ॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है।

भावार्थ—जैसे मनुष्य गाय के दूध को प्राप्त होके अपने प्रयोजन को सिद्ध करते हैं, वैसे ही विद्वान् धार्मिक पुरुष भी परमेश्वर की उपासना से श्रेष्ठ विद्या आदि गुणों को प्राप्त होकर अपने-अपने कार्य्यों को पूर्ण करते हैं ॥ १ ॥



अथेन्द्रशब्देन[1] सूर्य्य उपदिश्यते—

उप॑ नः॒ सव॒नाग॑हि॒ सोम॑स्य सोमपाः पिब । गो॒दा इद्रे॒वतो॒ मदः॑ ॥ २ ॥

उप॑ । नः॒ । सव॑ना । आ । ग॒हि॒ । सोम॑स्य । सो॒म॒ऽपाः॒ । पि॒ब॒ ॥ गो॒ऽदाः । इत् । रे॒वतः॑ । मदः॑ ॥२॥

पदार्थः—(उप) सामीप्ये (नः) अस्माकम् (सवना) ऐश्वर्य्ययुक्तानि वस्तूनि प्रकाशयितुम् । सु प्रसवैश्वर्य्ययोः इत्यस्माद्धातो र्ल्युट् [च] । अ० ३ । ३ । ११५ [इति ल्युट्] प्रत्ययः[2] । शेश्छन्दसि बहुलम् [अ० ६ । १ । ६८] इति शेर्लुक् । (आगहि) आगच्छति । बहुलं छन्दसि । अ० २ । ४ । ७३ अनेन[3] शपो लुकि सति वाच्छन्दसि [अ० ३ । ४ । ८८] इति हेरपित्वाद्, अनुदात्तोपदेश० । अ० ६ । ४ । ३७ इत्यनुनासिकलोपः, लडर्थे लोट् च । (सोमस्य) उत्पन्नस्य कार्य्यभूतस्य जगतो मध्ये (सोमपाः) सर्वपदार्थरक्षकः सन् (पिब) पिबति । अत्र व्यत्ययः[4], लडर्थे लोट् च । (गोदाः) चक्षुरिन्द्रियव्यवहारप्रदः । क्विप् च [अ० ३ । २ । ७६] इति क्विप् प्रत्ययः । गौरिति पदनामसु पठितम् । निघं ५ । ५ । जीवो येन रूपं जानाति तस्माच्चक्षुर्गौः । (इत्) एव (रेवतः) पदार्थप्राप्तिमतो जीवस्य । छन्दसीरः [अ० ८ । २ । १५] इति वत्वम् । (मदः) हर्षकरः ॥ २ ॥

अन्वयः—यतोऽयं सोमपा गोदा इन्द्रः सूर्य्यः सोमस्य जगतो मध्ये स्वकिरणैः सवना सवनानि प्रकाशयितुमुपागहि उपागच्छति, तस्माद् [इत्] एव नोऽस्माकं रेवतः पुरुषार्थिनो जीवस्य च मदो[5] हर्षकरो भवति ॥ २ ॥

भावार्थः—[यथा] सूर्य्यस्य प्रकाशे सर्वे जीवाः स्वस्य स्वस्य कर्मानुष्ठानाय विशेषतः प्रवर्त्तन्ते, नैवं रात्रौ कश्चित्सुखतः कार्य्याणि कर्तुं शक्नोतीति ॥ २ ॥

---

१. मन्त्रे साक्षादपठितोऽपि सूक्तस्यैन्द्रत्वादिह निविष्टः ।

२. 'प्रत्ययः' पदं वै०य० मुद्रितेषु संस्करणेषु सूत्रसंख्यातः पूर्वं पठ्यते ।

३. अयं पाठः क. कोश उपलभ्यते ।

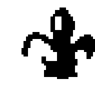
४. पुरुषस्येति शेषः ।

५. क कोशे पदमिदमुपलभ्यते ।

अगले मन्त्र में ईश्वर ने इन्द्र[1] शब्द से सूर्य के गुणों का वर्णन किया है—

पदार्थान्वयभाषा—[जिस लिये यह] (सोमपाः) सब पदार्थों का रक्षक, और (गोदाः) नेत्र के व्यवहार को देनेवाला सूर्य्य अपने प्रकाश से (सोमस्य) उत्पन्न हुए कार्य्यरूप जगत् में (सवना) ऐश्वर्य्ययुक्त पदार्थों के प्रकाश करने को अपनी किरणों द्वारा ([उप] आगहि) समीप आता है, इसी से [(इत्) ही] यह (नः) हम लोगों तथा (रेवतः) पुरुषार्थ से अच्छे-अच्छे पदार्थों को प्राप्त होनेवाले पुरुषों को (मदः) आनन्द बढ़ानेवाला होता है ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार सब जीव सूर्य्य के प्रकाश में अपने-अपने कर्म करने को [विशेष रूप से] प्रवृत्त होते हैं, उस प्रकार [कोई] रात्रि में सुख से [कार्य] नहीं कर सकता ॥ २ ॥



येनायं सूर्य्यो रचितस्तं कथं जानीमेत्युपदिश्यते—

अथा ते अन्तमानां विद्याम सुमतीनाम् । मा नो अति ख्य आगहि ॥ ३ ॥

अथ । ते । अन्तमानाम् । विद्याम । सुऽमतीनाम् ॥ मा । नः । अति । ख्यः । आ । गहि ॥ ३ ॥

पदार्थः—(अथ) अनन्तरार्थे। निपातस्य च [अ० ६ । ३ । १३५] इति दीर्घः । (ते) तव (अन्तमानाम्) अन्तः सामीप्यमेषामस्ति तेऽन्तिकाः,[2] अतिशयेनान्तिका अन्तमास्तत्समागमेन । अत्रान्तिकशब्दात्तमपि कृते पृषोदरादित्वात्[3] तिकलोपः । अन्तमानामित्यन्तिकनामसु पठितम् । निघं० २ । १६ । (विद्याम) जानीयाम (सुमतीनाम्) वेदाविशास्त्रे परोपकारे धर्माचरणे च श्रेष्ठा [4]मतिर्येषां मनुष्याणाम् तेषाम्[5] । (मा) निषेधार्थे (नः) अस्मान् (अतिख्यः) उपदेशोल्लङ्घनं मा कुर्याः (आगहि) आगच्छ ॥ ३ ॥

अन्वयः—हे परमैश्वर्य्यवन्निन्द्र परमेश्वर ! वयं ते तवान्तमानामर्थात्त्वां ज्ञात्वा त्वन्निकटे त्वदाज्ञायां च स्थितानां सुमतीनामाप्तानां विदुषां समागमेन त्वां [विद्याम] विजानीयाम। त्वन्नोऽस्माना[गह्या]गच्छास्मदात्मनि प्रकाशितो भव। अथान्तर्यामितया स्थितः सन् सत्यमुपदेशं मातिख्यः कदाचिदस्योल्लङ्घनं मा कुर्य्याः ॥ ३ ॥

---

१. मन्त्र में साक्षात् इन्द्र का पाठ न होने पर भी सूक्त का इन्द्र देवता होने से यहां इन्द्र का निर्देश किया है।

२. अत इनिठनौ (अ० ५।२।११५) इति ठन्, ठस्येकः (अ० ७।३।५०) इतीकादेशः ।

३. पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् (अ० ६।३।१०८) इत्यनेनेत्यभिप्रायः। तमे तादेश्च (महा० ६।४।१४९) इति वार्तिकं त्वस्यैव प्रपञ्चः ।

४. मतिः, मनीषा, जूतिः, स्मृतिः, संकल्पः, क्रतुः, असुः, कामः, वश इति सर्वाण्येतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति । ऐ० आर० २।६।१ ॥

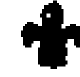
५. पदमिदं क. कोशे दृश्यते । इतोऽग्रे वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'मतय इति मनुष्यनामसु पठितम् । निघं० २।३' इत्युपलभ्यते। तस्यात्रासंबद्धत्वात् मनुष्यनामसु 'मतयः' पदस्यापठितत्वात् क. ख. कोशयोरनुपलम्भाच्चास्माभिः पृथक् कृतः ।

भावार्थः—यदा मनुष्या धार्मिकाणां विद्वत्तमानां सकाशाच्छिक्षाविद्ये प्राप्नुवन्ति, तदा[1] पृथिवीमारभ्य परमेश्वरपर्य्यन्तान् पदार्थान् विदित्वा सुखिनो भूत्वा पुनस्ते नैव कदाचिदन्तर्यामी-श्वरोपदेशं विहायेतस्ततो भ्रमन्तीति ॥ ३ ॥

जिसने सूर्य्य को बनाया है, उस परमेश्वर को जानने का उपाय अगले मन्त्र में जनाया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे परम ऐश्वर्ययुक्त परमेश्वर ! (ते) आपके (अन्तमानाम्) निकट अर्थात् आपको जानकर आपके समीप तथा आपकी आज्ञा में रहनेवाले विद्वान् लोग, (सुमतीनाम्) जिन्होंकी वेदादिशास्त्र और परोपकाररूपी धर्म करने में श्रेष्ठ बुद्धि हो रही है उनके समागम मे हम लोग आपको (विद्याम) जान सकते हैं। और आप (नः) हमको (आगहि) प्राप्त अर्थात् हमारे आत्माओं में प्रकाशित हूजिये। और (अथ) इसके अनन्तर कृपा करके अन्तर्यामिरूप से हमारे आत्माओं में स्थित हुए सत्य उपदेश को (मातिख्यः) मत रोकिये, किन्तु उसकी प्रेरणा सदा किया कीजिये ॥३॥

भावार्थ—जब मनुष्य लोग इन धार्मिक श्रेष्ठ विद्वानों के समागम से शिक्षा और विद्या को प्राप्त होते हैं, तभी पृथिवी से लेकर परमेश्वरपर्य्यन्त पदार्थों के ज्ञान द्वारा नाना प्रकार से सुखी होके फिर वे अन्तर्यामी ईश्वर के उपदेश को छोड़कर कभी इधर-उधर नहीं भ्रमते ॥ ३ ॥



तत्समीपे स्थित्वा मनुष्येण किं कर्त्तव्यम्, ते च तान् प्रति किं कुर्य्युरित्युपदिश्यते—

परेहि विग्रमस्तृतमिन्द्रं पृच्छा विपश्चितम् । यस्ते सखिभ्य आ वरम् ॥ ४ ॥

परा । इहि । विग्रम् । अस्तृतम् । इन्द्रम् । पृच्छ । विपःऽचितम् ॥ यः । ते । सखिऽभ्यः । आ । वरम् । ४ ॥

पदार्थः—(परा) पृथक् (इहि) भव (विग्रम्) मेधाविनम्। वेर्ग्रो वक्तव्यः [महा० ५।४।११९ वा०] इति वे परस्या नासिकायाः[2] स्थाने 'ग्रः' समासान्तादेशः। उपसर्गाच्च। अ० ५।४।११९ इति सूत्रस्योपरि वार्तिकम्। विग्र इति मेधाविनामसु पठितम्। निघं० ३।१५। (अस्तृतम्) अहिंसकम् (इन्द्रम्) विद्यया परमैश्वर्य्ययुक्तं मनुष्यम् (पृच्छ) संदेहान् पृष्ट्वोत्तराणि गृहाण। द्व्यचोऽतस्तिङः। अ० ६।३।१३४ इति दीर्घः। (विपश्चितम्) विद्वांसं, य आप्तः सन्नुपदिशति। विपश्चिदिति मेधाविनामसु पठितम्। निघं० ३।१५। पुनरुक्तत्वाऽऽप्तत्वादिगुणवत्त्वं गृह्यते। [(यः)][3] (ते) तुभ्यम् (सखिभ्यः) मित्रस्वभावेभ्यः (आ) समन्तात् (वरम्) परमोत्तमं विज्ञानधनम् ॥ ४ ॥

---

१. इतोऽग्रे वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'नैव' पदं पठ्यते। तच्चास्थान इति कृत्वाऽग्रे यथास्थानं नीतः। ह० कोशे तु यथास्थानमेव पठ्यते।

२. वै० य० मुद्रिते चतुर्थसंस्करणे 'परस्यादेनासिकायाः' इत्यपपाठः। पूर्वसंस्करणेषु शुद्धः पाठ उपलभ्यते। ३. लिपिकरमुद्रणदोषाभ्यां नोपलभ्यते।

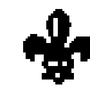
अन्वयः—हे विद्यां चिकीर्षो मनुष्य ! यो विद्वान् तुभ्यं [ते तव] सखिभ्यो मित्रशीलेभ्यश्च आ समन्ताद् वरं विज्ञानं ददाति, तं विग्रमस्तृतमिन्द्रं विपश्चितमुपगम्य सन्देहान् पृच्छ । यथार्थतया तदुपदिष्टान्युत्तराणि गृहीत्वाऽन्येभ्यस्त्वमपि वद । यो ह्यविद्वान् ईर्ष्यकः कपटी स्वार्थी मनुष्योऽस्ति, तस्मात् सर्वदा परेहि ॥ ४ ॥

भावार्थः—सर्वेषां मनुष्याणामियं योग्यतास्ति—पूर्वं परोपकारिणं पण्डितं ब्रह्मनिष्ठं श्रोत्रियं पुरुषं विज्ञाय तेनैव सह प्रश्नोत्तरविधानेन सर्वाः शङ्का निवारणीयाः । किन्तु ये विद्याहीनाः सन्ति, नैव केनापि तत्सङ्गकथनोत्तरविश्वासः कर्तव्य इति ॥ ४ ॥

मनुष्य लोग विद्वानों के समीप जाकर क्या करें, और वे इनके साथ कैसे वर्तें, इस विषय का उपदेश ईश्वर ने अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे विद्या की अपेक्षा करनेवाले मनुष्य ! [(यः)] जो विद्वान् तुझ और (ते) तेरे (सखिभ्यः) मित्रों के लिये (आवरम्) श्रेष्ठ विज्ञान को देता हो, उस (विग्रम्) श्रेष्ठ बुद्धिमान्, (अस्तृतम्) हिंसा आदि अधर्मरहित, (इन्द्रम्) विद्या [से] परमैश्वर्ययुक्त, (विपश्चितम्) यथार्थ सत्य कहनेवाले मनुष्य के समीप जाकर, उस विद्वान् से अपने सन्देह (पृच्छ) पूछ, और फिर उनके कहे यथार्थ उत्तरों को ग्रहण करके औरों के लिये तू भी उपदेश कर । परन्तु जो मनुष्य अविद्वान् अर्थात् मूर्ख. ईर्ष्या करने वा कपट और स्वार्थ में संयुक्त हो, उससे तू (परेहि) सदा दूर रह ॥ ४ ॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को यही योग्य है कि प्रथम सत्य का उपदेश करनेहारे, वेद पढ़े हुए, और परमेश्वर की उपासना करनेवाले विद्वानों को प्राप्त होकर अच्छी प्रकार उनके साथ प्रश्नोत्तर की रीति से अपनी सब शङ्का निवृत्त करें । किन्तु विद्याहीन मूर्ख मनुष्य का सङ्ग, वा उनके दिये हुए उत्तरों में विश्वास कभी न करें ॥ ४ ॥



पुनः स एवार्थ उपदिश्यते —

उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत । दधाना इन्द्र इद्दुवः ॥ ५ ॥

उत । ब्रुवन्तु । नः । निदः । निः । अन्यतः । चित् । आरत ॥ दधानाः । इन्द्रे । इत् । दुवः ॥५॥

पदार्थः – (उत) अप्येव (ब्रुवन्तु) सर्वा विद्या उपदिशन्तु (नः) अस्मभ्यम् (निदः) निन्दितारः । 'णिदि कुत्सायाम्' अस्मात् क्विप्, छान्दसो वर्णलोपो वा [महा० ८ । २ । २५] इति नलोपः । (निः) नितराम् (अन्यतः) देशात् (चित्) अन्ये (आरत) गच्छन्तु । व्यवहिताश्च [अ० १ । ४ । ८१] इत्युपसर्गव्यवधानम्[1] । अत्र व्यत्ययः । (दधानाः) धारयितारः (इन्द्रे) परमैश्वर्ययुक्ते परमेश्वरे (इत्) इतः । इयते प्राप्यते सोऽयमिद् देशः । अत्र कर्मणि क्विप् । ततः सुपां सुलुक्० [अ० ७ । १ । ३९] इति ङसेर्लुक् । (दुवः) परिचर्यायाम् ॥ ५ ॥

१. पूर्वपठितो 'निर्' उपसर्गः' क्रिययेह व्यवहित इति भावः ।

अन्वयः—य इन्द्रे परमेश्वरे दुवः परिचर्यां दधानाः सर्वासु विद्यासु धर्मे पुरुषार्थे च वर्त्तमानाः सन्ति, त उतैव नोऽस्मभ्यं सर्वा विद्या ब्रुवन्तूपविशन्तु। ये चिदन्ये नास्तिका निदो निन्दितारोऽविद्वांसो धूर्ताः सन्ति, ते सर्वे [इद्] इतो देशादस्मन्निवासान्निरारत दूरे गच्छन्तु, उतान्यतो देशादपि निःसरन्तु। अर्थादधार्मिकाः पुरुषाः क्वापि मा तिष्ठेयुरिति॥ ५॥

भावार्थः—सर्वैर्मनुष्यैराप्तविद्वत्सङ्गेन मूर्खसङ्गत्यागेनेत्थं पुरुषार्थः कर्त्तव्यो, यतः सर्वत्र विद्यावृद्धिरविद्याहानिश्च, मान्यानां सत्कारो दुष्टानां ताडनं चेश्वरोपासना पापिनां निवृत्तिर्धार्मिकाणां वृद्धिश्च नित्यं भवेदिति[1]॥ ५॥

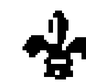
इति सप्तमो वर्गः समाप्तः॥

ईश्वर ने फिर भी इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—जो कि [(इन्द्रे)] परमेश्वर की (दुवः) सेवा को [(दधानाः)] धारण किये हुए, सब विद्या धर्म और पुरुषार्थ में वर्त्तमान हैं, वे (उत) ही (नः) हम लोगों के लिये सब विद्याओं का [(ब्रुवन्तु)] उपदेश करें। (चित्) और जो कि नास्तिक (निदः) निन्दक वा धूर्त मनुष्य हैं, वे सब [(इत्)] हम लोगों के निवासस्थान से (निरारत) दूर चले जावें। किन्तु निश्चय करके [(अन्यतः)] और देशों से भी दूर हो जायं, अर्थात् अधर्मी पुरुष किसी देश में न रहें॥५॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को उचित है कि आप्त धार्मिक विद्वानों का सङ्ग कर, और मूर्खों के सङ्ग को सर्वथा छोड़के, ऐसा पुरुषार्थ करना चाहिये कि जिससे सर्वत्र विद्या की वृद्धि, अविद्या की हानि, मानने योग्य श्रेष्ठपुरुषों का सत्कार, दुष्टों को दण्ड, ईश्वर की उपासना आदि शुभ कर्मों की वृद्धि और अशुभ कर्मों का विनाश नित्य होता रहे॥ ५॥

यह सातवां वर्ग समाप्त हुआ॥



मनुष्यैः कीदृशं शीलं धार्य्यमित्युपदिश्यते—

उत नः सुभगाँ अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः। स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि॥ ६॥

उत। नः। सुऽभगान्। अरिः। वोचेयुः। दस्म। कृष्टयः॥ स्याम। इत्। इन्द्रस्य। शर्मणि॥६॥

पदार्थः—(उत) अपि (नः) अस्मान् (सुभगान्) शोभनो भगो विद्यैश्वर्य्ययोगो येषां, तान्। भग इति धननामसु पठितम्। निघं० २। १०। (अरिः) शत्रुः (वोचेयुः) सम्प्रीत्या सर्वा विद्याः सर्वान् प्रत्युपदिश्यासुः। वचेराशिषि लिङि प्रथमस्य बहुवचने लिङ्याशिष्यङ्। अ० ३। १। ८६ अनेन विकरणस्थान्यङ् प्रत्ययः। वच उम्। अ० ७। ४। २० अनेनोमागमः।

१. एतन्मन्त्रस्य पाश्चात्यैर्विविधैः पण्डितैर्येऽर्था निर्दिष्टास्तदर्थम् 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-परिशिष्ट' नाम्नि संग्रहे २३-२४ पृष्ठे द्रष्टव्ये। तथा 'ऋ० द० स० के पत्र और विज्ञापन' नाम्नि संग्रहेऽपि-५७-५८ पृष्ठे (सं० २) अवलोकनीये।

(दस्म) दुष्टस्वभावोपक्षेतः ! 'दसु उपक्षये' इत्यस्मात् इषियुधीन्धिदसि०। उ० १। १४४ अनेन मक् प्रत्ययः। (कृष्टयः) मनुष्याः। कृष्टय इति मनुष्यनामसु पठितम्। निघं० २। ३। (स्याम) भवेम (इत्) एव (इन्द्रस्य) परमेश्वरस्य (शर्मणि) नित्यसुखे। शर्मेति [1]सुखनामसु पठितम्। निघं० ३। ६॥ ६॥

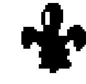
अन्वयः—हे दस्म [2]दुष्टस्वभावोपक्षेतर्जगदीश्वर ! वयं तवेन्द्रस्य शर्म्मणि खल्वाज्ञापालना-ख्यव्यवहारे [इदेव] नित्यं प्रवृत्ताः स्याम। इमे कृष्टयः सर्वे मनुष्याः सर्वान् प्रति सर्वा विद्या वोचेयुरुपदिश्यासुः, यतः सत्योपदेशप्राप्तान्नोस्मानरिरुत शत्रुरपि सुभगान् जानीयाद् वदेच्च॥६॥

भावार्थः—यदा सर्वे मनुष्या विरोधं विहाय सर्वोपकारकरणे प्रयतन्ते, तदा शत्रवोऽप्य-विरोधिनो भवन्ति। यतः[3] सर्वान् मनुष्यानीश्वरानुग्रहनित्यानन्दौ प्राप्नुतः[4]॥ ६॥

अब मनुष्यों को कैसा स्वभाव धारण करना चाहिये, इस विषय का उपदेश ईश्वर ने अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (दस्म) दुष्ट स्वभाव को नष्ट करनेवाले परमेश्वर ! हम लोग (इन्द्रस्य) आपके दिये हुए (शर्मणि) नित्य सुख वा आज्ञा पालने में [(इत्) ही नित्य] प्रवृत्त [(स्याम)] हों। और ये (कृष्टयः) सब मनुष्य लोग प्रीति के साथ सब मनुष्यों के लिये सब विद्याओं को (वोचेयुः) उपदेश करें। जिससे सत्य के उपदेश को प्राप्त हुए (नः) हम लोगों को (अरिः, उत) शत्रु भी (सुभगान्) श्रेष्ठ विद्या ऐश्वर्ययुक्त जाने वा कहे॥ ६॥

भावार्थ—जब सब मनुष्य विरोध को छोड़कर सबके उपकार करने में प्रयत्न करते हैं, तब शत्रु भी मित्र हो जाते हैं। जिससे सब मनुष्यों को ईश्वर की कृपा वा निरन्तर उत्तम आनन्द प्राप्त होते हैं॥ ६॥



किमर्थः स इन्द्रः प्रार्थनीय इत्युपदिश्यते—

एमाशुमाशवे भर यज्ञश्रियं नृमादनम्। पतयन्मन्दयत्सखम्॥ ७॥

आ। ईम्। आशुम्। आशवे। भर। यज्ञऽश्रियम्। नृऽमादनम्॥ पतयत्। मन्दयत्ऽसखम्॥७॥

पदार्थः—(आ) अभितः (ईम्) जलं पृथिवीं च। ईमिति जलनामसु पठितम्। निघं० १। १२। पदनामसु च। निघं० ४। २। (आशुम्) वेगादिगुणवन्तमग्निवाय्वादिपदार्थसमूहम्।

१. वै०य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'पदनामसु पठितम्। निघं० ५।५।' इत्यपपाठः। प्रकृतेऽनन्वयात् पदनामसु ५। ५ चापाठात्।

२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'हे दस्मोपक्षयरहितर्जगदीश्वर' (सं० १-२); 'रहित जगदीश्वर' (सं० ३-४) पाठ उपलभ्यते। अयं पदार्थविरोधात् अर्थस्यानन्वयाच्चापपाठः।

३. अत्र 'ततः' इति समीचीनः पाठः स्यात्।

४. द्रष्टव्याऽत्र पूर्वमन्त्रस्या टिप्पणी (पृष्ठ ४६८ टि० १)।

[1]आशुरित्यश्वनामसु पठितम् । निघं० १ । १४ । कृवापा० । उ० १ । १ अनेनाशूङ्धातोरुण् प्रत्ययः । (आशवे) यानेषु सर्वानन्दस्य वेगादिगुणानां च व्याप्तये (भर) सम्यग्धारय प्रदेहि (यज्ञश्रियम्) चक्रवर्त्तिराज्यादेर्महिम्नः श्रीर्लक्ष्मीः शोभा । राष्ट्रं वा अश्वमेधः । श० १३ । १ । ६ । ३[2] अनेन यज्ञशब्दाद्राष्ट्रं गृह्यते । यज्ञो वै महिमा । श० ६ । २ । ३ । १८ ।[3] (नृमादनम्) माद्यन्ते हर्षन्तेऽनेन तन्मादनं नृणां मादनं नृमादनम् (पतयत्) यत्पतिं करोतीति पतित्वसंपादकं तत् । तत् करोति तदाचष्टे [महा० ३ । १ । २६ वा०] इति पतिशब्दाण्णिच् । (मन्दयत्सखम्) मन्दयन्तो विद्याज्ञापकाः सखायो यस्मिंस्तत् ॥ ७ ॥

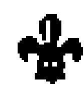
अन्वयः—हे इन्द्र परमेश्वर ! [4]त्वं स्वकृपयाऽस्मदर्थमाशव आशुं यज्ञश्रियम् [ईं] नृमादनं पतयत्स्वामित्वसम्पादकं मन्दयत्सखं विज्ञानादिधनम् [आ] भर देहि ॥ ७ ॥

भावार्थः—ईश्वरः पुरुषार्थिनो मनुष्यस्योपरि कृपां दधाति नालसस्य । कुतः, यावन्मनुष्यः स्वयं पूर्णं पुरुषार्थं न करोति, नैव तावदीश्वरकृपाप्राप्तान् पदार्थान् रक्षितुमपि समर्थो भवति । अतो मनुष्यैः पुरुषार्थवद्भिर्भूत्वेश्वरकृपेष्टव्येति ॥ ७ ॥

[वह इन्द्र=] परमेश्वर प्रार्थना करने योग्य क्यों है, यह विषय अगले मन्त्र में प्रकाशित किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे इन्द्र परमेश्वर ! आप अपनी कृपा करके हम लोगों के अर्थ (आशवे) यानों में सब सुख वा वेगादि गुणों की शीघ्र व्याप्ति के लिये, (आशुम्) वेग आदि गुणवाले अग्नि वायु आदि पदार्थ, (यज्ञश्रियम्) चक्रवर्त्ति राज्य के महिमा की शोभा, (ईम्) जल और पृथिवी आदि, (नृमादनम्) जो कि मनुष्यों को अत्यन्त आनन्द देनेवाले, तथा (पतयत्) स्वामिपन को करनेवाला, वा (मन्दयत्सखम्) जिसमें आनन्द को प्राप्त होने वा विद्या के जाननेवाले मित्र हों, ऐसे विज्ञान आदि धन को हमारे लिये ([आ] भर) धारण कीजिये ॥७॥

भावार्थ—ईश्वर पुरुषार्थी मनुष्य पर कृपा करता है, आलस करनेवाले पर नहीं । क्योंकि जब तक मनुष्य ठीक-ठीक पुरुषार्थ नहीं करता, तब तक ईश्वर की कृपा और अपने किये हुए कर्मों से प्राप्त हुए पदार्थों की रक्षा भी करने में समर्थ कभी नहीं हो सकता । इसलिये मनुष्यों को पुरुषार्थी होकर ही ईश्वर की कृपा के भागी होना चाहिये ॥ ७ ॥



पुनश्च कथंभूत इन्द्र इत्युपदिश्यते—

अस्य पीत्वा शतक्रतो घनो वृत्राणामभवः । प्रावो वाजेषु वाजिनम् ॥ ८ ॥

अस्य । पीत्वा । शतक्रतो इति शतऽक्रतो । घनः । वृत्राणाम् । अभवः ॥ प्र । आवः । वाजेषु । वाजिनम् ॥ ८ ॥

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु १-२; 'अश्वित्यश्व०' इति, सं० ३-४ 'आश्वित्यश्व०' पाठः । तत्र प्रथमः प्रत्यक्षमपपाठः, द्वितीयश्च निघण्टौ 'आशुः' इति सविसर्जनीयपाठात् ।

२. अध्यायप्रपाठकक्रमयोः समानो निर्देशः । ३. अध्यायानुसारं ६।३।१।१८ ॥

४ वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'तव कृपया' पाठः ।

पदार्थः - (अस्य) समक्षासमक्षस्य[1] सर्वस्य जगतो जलरसस्य वा (पीत्वा) पानं कृत्वा (शतक्रतो) शतान्यसंख्याताः क्रतवः कर्माणि यस्य शूरवीरस्य[2] सूर्य्यलोकस्य वा सः। शतमिति बहुनामसु पठितम्। निघं० ३।१। क्रतुरिति कर्मनामसु पठितम्। निघं० २।१। (घनः) दृढः काठिन्येन मूर्त्ति प्रापितो वा। मूर्त्तौ घनः। अ० ३।३।७७ अनेनायं निपातितः। (वृत्राणाम्) वृत्रवत् सुखावरकाणां शत्रूणां मेघानां वा। वृत्र इति मेघनामसु पठितम्। निघं० १।१०। (अभवः) भूयाः, भवति वा। अत्र पक्षे व्यत्ययः, लिङ्लटोरर्थे लङ् च। (प्रावः) रक्ष, रक्षति वा, अत्रापि पूर्ववत्। (वाजेषु) युद्धेषु। वाज इति संग्रामनामसु पठितम्। निघं० २।१७। (वाजिनम्) धार्मिकं शूरवीरं मनुष्यं प्राप्तिनिमित्तं सूर्य्यलोकं वा। वाजिन इति पदनामसु पठितम्। निघं० ५।६ अनेन युद्धेषु प्राप्तवेगहर्षाः शूराः सूर्य्यलोका वा गृह्यन्ते ॥ ८ ॥

अन्वयः—[3]हे शतक्रतो पुरुषव्याघ्र ! यथा घनो मूर्तिमानयं सूर्य्यलोकोऽस्य जलस्य रसं पीत्वा वृत्राणां मेघावयवानां हननं कृत्वा सर्वानोषध्यादीन् पदार्थान् प्रावो रक्षति, यथा च स्वप्रकाशेन सर्वान् प्रकाशते, तथैव [घनः] त्वमपि [वृत्राणां] सर्वेषां रोगाणां दुष्टानां शत्रूणां च [पीत्वा] निवारको भूत्वाऽस्य रक्षकोऽभवो भूयाः। एवं वाजेषु दुष्टैः सह युद्धेषु प्रवर्त्तमानं धार्मिकं वाजिनं शूरं प्रावः प्रकृष्टतया सदैव रक्षको भव ॥ ८ ॥

अत्र लुप्तोपमालङ्कारः[4]।

भावार्थः—[5]यथा यो मनुष्यो दुष्टैः सह धर्मेण युध्यति तस्यैव विजयो भवति नेतरस्य, तथा परमेश्वरोऽपि धार्मिकाणां युद्धकर्तॄणां मनुष्याणामेव सहायकारी भवति, नेतरेषाम् ॥ ८ ॥

फिर भी परमेश्वर ने [इन्द्र=शूर और][6] सूर्य्यलोक के स्वभाव का प्रकाश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा [7]हे (शतक्रतो) असंख्यात कर्मों के करनेवाले शूरवीर पुरुषोत्तम !

---

१. प्रत्यक्षाप्रत्यक्षस्येत्यर्थः।   २. शूरवीरपक्षे सम्बुद्धौ, सूर्यपक्षे च प्रथमाविभक्तावर्थो ज्ञेयः। क. कोशे तु 'तत्संबुद्धौ, सूर्यलोको वा' पाठो दृश्यते।

३. अत्र पदार्थे 'शतक्रतो' पदं श्लेषवृत्त्या शूरवीरपरं सूर्यलोकपरं च व्याख्यातम्। तमनुरुध्यैव च क्रियापदानामप्यर्थे पुरुषभेदः प्रदर्शितः। इहान्वये उभयोरप्यर्थयोर्विचित्रं सांकर्यमुपलभ्यते, यथा-तथा पदयोश्च प्रयोगो दृश्यते। अनेन सांकर्येण नार्थद्वैविध्यं स्पष्टमवबुध्यते। पदार्थानुसारमन्वयद्वैविध्यमेवं द्रष्टव्यम्—

(क) हे शतक्रतो पुरुषव्याघ्र ! त्वं घनः कठिनो दृढः भूत्वाऽस्य जगतो वृत्राणां सुखावरकान् शत्रून् पीत्वा हननं कृत्वा सर्वप्राणिनां दुःखनिवारकोऽभवो भूयाः। वाजेषु युद्धेषु प्रवर्त्तमानं वाजिनं धार्मिकं शूरं प्रावो रक्ष ॥

(ख) अयं शतक्रतो सूर्यलोकः घनः कठिनः तीव्रः सन अस्य जगतो रसं जलं पीत्वा वृत्राणां मेघानां हननं कृत्वा निवारकोऽभवो भवति। वाजेषु मेघोदनरूपेषु युद्धेषु वाजिनं बलवन्तं किरणसमूहं प्रावः स्वशक्त्या रक्षति समर्थयति ॥

४. यथा त्वत्र पदार्थस्तथाऽत्र श्लेषालङ्कार इत्युचितः प्रतिभाति। संस्कृतपदार्थे परिवर्तनेऽत्रापि परिवर्तनमावश्यकम्।

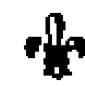
५. अयं भावार्थः क.कोशस्थस्येश्वरपरस्य पदार्थानुसारी वर्तते। ६. पदार्थेऽर्थद्वयकरणादिहावश्यकः पाठः।

७. यह भाषा-पदार्थ वर्तमान संस्कृत-अन्वय के अनुसार है। संस्कृत पदार्थ में शूरवीर तथा सूर्यलोक

जैसे यह (घनः) मूर्तिमान् सूर्य्यलोक (अस्य) जल के रस को (पीत्वा) पीकर (वृत्राणाम्) मेघ के अवयवों का भेदन करके अर्थात् बरसाके सब ओषधी आदि पदार्थों की (प्रावः) रक्षा करता है, और जैसे अपने प्रकाश से सबको प्रकाशित करता है, वैसे ही तुम भी [(वृत्राणाम्)] सब रोग और धर्म के विरोधी दुष्ट शत्रुओं के [(पीत्वा)]नाश करनेहारे होकर [(अस्य)]इस जगत् के रक्षा करनेवाले (अभवः) होवो। इसी प्रकार जो दुष्टों के साथ (वाजेषु) युद्ध में प्रवर्त्तमान (वाजिनम्) धार्मिक और शूरवीर पुरुष है, उसकी सदा [(प्रावः)] अच्छे प्रकार रक्षा करते रहो ॥ ८ ॥

इस मन्त्र में लुप्तोपमालङ्कार'[1] है।

भावार्थ—'[2]जैसे जो मनुष्य दुष्टों के साथ धर्मपूर्वक युद्ध करता है, उसी का ही विजय होता है और का नहीं। तथा परमेश्वर भी धर्मपूर्वक युद्ध करनेवाले मनुष्यों का ही सहाय करनेवाला होता है, औरों का नहीं ॥ ८ ॥



पुनरिन्द्रशब्देनेश्वर उपदिश्यते—

तं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयामः शतक्रतो। धनानामिन्द्र सातये ॥ ९ ॥

तम्। त्वा। वाजेषु। वाजिनम्। वाजयामः। शतक्रतो इति शतऽक्रतो ॥ धनानाम्। इन्द्र। सातये ॥ ९ ॥

पदार्थः—(तम्) इन्द्रं परमेश्वरम् (त्वा) त्वाम् (वाजेषु) युद्धेषु (वाजिनम्) विजयप्रापकम्। वाजिन इति पदनामसु [निघं० ५।६] पठितत्वात् प्राप्त्यर्थोऽत्र गृह्यते। (वाजयामः) विज्ञापयामः। 'वज गतौ' इत्यन्तर्गतण्यर्थेन ज्ञापनार्थोऽत्र गृह्यते। (शतक्रतो) शतेष्वसंख्यातेषु वस्तुषु क्रतुः प्रज्ञा यस्य तत्सम्बुद्धौ। क्रतुरिति प्रज्ञानामसु पठितम्। निघं० ३। ९। (धनानाम्) पूर्णविद्याराज्यासिसाध्यपदार्थानाम् (इन्द्र) परमैश्वर्य्यवन्! (सातये) सुखार्थं सम्यक्सेवनाय ॥ ९ ॥

अन्वयः—हे शतक्रतो इन्द्र जगदीश्वर! वयं धनानां सातये वाजेषु वाजिनं तं पूर्वोक्तमिन्द्रं परमेश्वरं त्वा[त्वा]मेव सर्वान् मनुष्यान् प्रति वाजयामो विज्ञापयामः ॥ ९ ॥

परक दो अर्थों का निर्देश होने से संस्कृत-अन्वय और भाषा-पदार्थ भी दो पृथक्-पृथक् होने चाहियें। परन्तु यहां संस्कृत अन्वय और भावार्थ में दोनों का संमिश्रण कर दिया गया है।

१. संस्कृत-पदार्थ में दो प्रकार का अर्थ निर्दिष्ट होने से यहां 'श्लेषालंकार' होना चाहिये। 'लुप्तोपमालंकार' क. कोषस्थ भूतपूर्व ईश्वरपरक पदार्थ के अनुसार लिखा गया है। पदार्थ में शोधन कर देने पर यहां भी शोधन करना उचित था, जो प्रतीत होता है, रह गया। वै० य० मुद्रित संस्करणों में कुछ पाठ आगे पीछे करके वर्तमान संस्कृत-अन्वयानुसारी बनाया है।

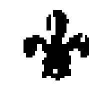
२. यह भावार्थ भी क.कोषस्थ भूतपूर्व संस्कृत-पदार्थ के अनुसार है। यहां भी उचित संशोधन करना रह गया।

भावार्थः—यो दुष्टान् युद्धेन निर्बलान् कृत्वा जितेन्द्रियो विद्वान् भूत्वा जगदीश्वराज्ञां पालयति, स एव मनुष्यो धनानि विजयं च प्राप्नोतीति ॥ ९ ॥

फिर इन्द्र शब्द से अगले मन्त्र में ईश्वर का प्रकाश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (शतक्रतो) असंख्यात वस्तुओं में विज्ञान रखनेवाले (इन्द्र) परम ऐश्वर्य्यवान् जगदीश्वर ! हम लोग (धनानाम्) पूर्ण विद्या और राज्य को सिद्ध करनेवाले पदार्थों को (सातये) सुखभोग वा अच्छे प्रकार सेवन करने के लिये (वाजेषु) युद्धादि व्यवहारों में (वाजिनम्) विजय [प्राप्त] करानेवाले, (तम्) उक्त गुणयुक्त (त्वा) आपको ही (वाजयामः) नित्य प्रति जानने और जनाने का प्रयत्न करते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य दुष्टों को युद्ध से निर्बल करके जितेन्द्रिय वा विद्वान् होकर जगदीश्वर की आज्ञा का पालन करता है, वही उत्तम धन वा युद्ध में विजय को [प्राप्त करता] अर्थात् सब शत्रुओं को जीतनेवाला होता है ॥ ९ ॥



पुनः स कीदृशः किमर्थं स्तोतव्य इत्युपदिश्यते—

यो रायो३वनिर्महान्त्सुपारः सुन्वतः सखा । तस्मा इन्द्राय गायत ॥ १० ॥

यः । रायः । अवनिः । महान् । सुऽपारः । सुन्वतः । सखा ॥ तस्मै । इन्द्राय । गायत ॥ १० ॥

पदार्थः—(यः) परमेश्वरः करुणामयः (रायः) विद्यासुवर्णादिधनस्य । राय इति धननामसु पठितम् । निघं० २ । १० । (अवनिः) रक्षकः प्रापको दाता (महान्) सर्वेभ्यो महत्तमः (सुपारः) सर्वकामानां सुष्ठु पूर्त्तिकरः (सुन्वतः) अधिगतसोमविद्यस्य धार्मिकस्य[1] मनुष्यस्य (सखा) सौहार्द्देन सुखप्रदः (तस्मै) तमीश्वरम् (इन्द्राय) परमैश्वर्यवन्तम् । अत्रोभयत्र सुपां सुलुग्० [अ० ७ । १ । ३९] इति द्वितीयैकवचनस्थाने चतुर्थ्येकवचनम् (गायत) नित्यमर्चत । गायतीत्यर्चतिकर्मसु पठितम् । निघं० ३ । १४ ॥ १० ॥

अन्वयः—हे विद्वांसो मनुष्या ! यो महान् सुपारः सुन्वतः सखा रायोऽवनिः करुणामयोऽस्ति, यूयं तस्मै तमिन्द्रायेन्द्रं परमेश्वरमेव गायत नित्यमर्चत ॥ १० ॥

भावार्थः—नैव केनापि केवलं परमेश्वरस्य स्तुतिमात्रकरणेन सन्तोष्टव्यं, किन्तु तदाज्ञायां वर्त्तमानेन स नः सर्वत्र पश्यतीत्यधर्मान्निवर्त्तमानेन तत्सहायेच्छुना मनुष्येण सर्वदोद्योगे प्रवर्त्तितव्यम् ॥ १० ॥

एतस्य विद्यया परमेश्वरज्ञानात्मशरीरारोग्यदृढत्वप्राप्त्या सदैव दुष्टानां विजयेन पुरुषार्थेन च चक्रवर्त्तिराज्यं धार्मिकैः प्राप्तव्यमिति संक्षेपतोऽस्य चतुर्थसूक्तोक्तार्थस्य तृतीयसूक्तोक्तार्थेन सह सङ्गतिरस्तीति बोध्यम् ॥

---

१. क॰ कोशेऽयं पाठ उपलभ्यते । केवलम् 'अभि' इत्यस्य 'अधि' शोधनमस्माभिर्विहितम् ।

अस्यापि सूक्तस्यार्य्यावर्त्तनिवासिभिः सायणाचार्य्यादिभिर्यूरोपाख्यदेशनिवासिभिरध्यापकविलासनाख्यादिभिरन्यथैव व्याख्या कृतेति वेदितव्यम् ॥

इति चतुर्थं सूक्तमष्टमश्च वर्गः समाप्तः ॥

फिर भी वह परमेश्वर कैसा है, और क्यों स्तुति करने योग्य है, इस विषय का प्रकाश अगले मन्त्र में किया है—

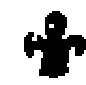
पदार्थान्वयभाषा—हे विद्वान् मनुष्यो ! [(यः)] जो [(महान्)] बड़ों से बड़ा, (सुपारः) अच्छी प्रकार सब कामनाओं की परिपूर्णता करनेहारा, (सुन्वत.) प्राप्त हुए सोमविद्यावाले धर्मात्मा पुरुष को (सखा) मित्रता से सुख देने, तथा (रायः) विद्या सुवर्ण आदि धन का (अवनिः) रक्षक, और इस संसार में उक्त पदार्थों को जीवों को पहुंचाने और उनका देनेवाला करुणामय है, (तस्मै) उस [(इन्द्राय) परमैश्वर्यवान्] परमेश्वर की तुम लोग (गायत) नित्य पूजा किया करो ॥ १० ॥

भावार्थ—किसी मनुष्य को केवल परमेश्वर की स्तुतिमात्र ही करने से सन्तोष न करना चाहिये। किन्तु उसकी आज्ञा में रहकर और ऐसा समझकर कि परमेश्वर मुझको सर्वत्र देखता है, इसलिये अधर्म से निवृत्त होकर और परमेश्वर के सहाय की इच्छा करके मनुष्य को सदा उद्योग ही में वर्त्तमान रहना चाहिये ॥ १० ॥

इस सूक्त की कही हुई विद्या से धर्मात्मा पुरुषों को परमेश्वर का ज्ञान सिद्ध करना, तथा आत्मा और शरीर के स्थिर भाव आरोग्य की प्राप्ति, तथा दुष्टों के विजय और पुरुषार्थ से चक्रवर्ति राज्य को प्राप्त होना, इत्यादि अर्थ की तृतीय सूक्त में कहे अर्थ के साथ सङ्गति समझनी चाहिये ॥

आर्यावर्त्तवासी सायणाचार्य्य आदि विद्वान्, तथा यूरोपखण्डवासी अध्यापक विलसन आदि साहबों ने इस सूक्त की भी व्याख्या ऐसी विरुद्ध की है कि यहां उसका लिखना व्यर्थ है ॥

यह चौथा सूक्त और आठवां वर्ग समाप्त हुआ ॥



अथ दशर्चस्यास्य पञ्चमसूक्तस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । इन्द्रो देवता । १ विराड्गायत्री; २ आर्च्युष्णिक्; ३ पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री; ४, १० गायत्री; ५–७, ९ निचृद्गायत्री; ८ पादनिचृत्गायत्री च छन्दः । १, ३–१० षड्जः; २ ऋषभः स्वरः ॥

अथेन्द्रशब्देनेश्वरभौतिकावर्थावुपदिश्यते—

आ त्वेता नि षीदतेन्द्रमभि प्र गायत । सखायः स्तोमवाहसः ॥ १ ॥

आ । तु । आ । इत । नि । सीदत । इन्द्रम् । अभि । प्र । गायत ॥ सखायः । स्तोमऽवाहसः ॥ १ ॥

पदार्थः—(आ) समन्तात् (तु) पुनरर्थे (आ) अभ्यर्थे (इत) प्राप्नुत । द्व्यचोऽतस्तिङः [अ० ६ । ३ । १३४] इति दीर्घः । (निषीदत) शिल्पविद्यायां नितरां तिष्ठत (इन्द्रम्) परमेश्वरं विद्युदादियुक्तं वायुं वा । इन्द्र इति पदनामसु पठितम् । निघं० ५ । ४ । विद्याजीवनप्रापकत्वाद् इन्द्रशब्देनात्र परमात्मा वायुश्च गृह्यते । विश्वेभिः सोम्यं मध्वग्न इन्द्रेण वायुना । ऋ० १ । १४ । १० । इन्द्रेण वायुनेति [सामानाधिकरण्याद्] वायोरिन्द्रसंज्ञा । (अभिप्रगायत) आभिमुख्येन प्रकृष्टतया विद्यासिध्यर्थं तद्गुणानुपदिशत शृणुत च (सखायः) परस्परं सुहृदो भूत्वा[1] (स्तोमवाहसः) स्तोमः स्तुतिसमूहो वाहः[2] प्राप्तव्यः प्रापयितव्यो येषां ते ।। १ ।।

अन्वयः—हे स्तोमवाहसः सखायो विद्वांसः ! सर्वे यूयं मिलित्वा परस्परं प्रीत्या मोक्षशिल्पविद्यासम्पादनोद्योग आनिषीदत । तदर्थमिन्द्रं परमेश्वरं वायुं चाभिप्रगायत । एवं [तु] पुनः सर्वाणि सुखान्येत ।। १ ।।

भावार्थः—यावन्मनुष्या हठच्छलाभिमानं त्यक्त्वा सम्प्रीत्या परस्परोपकाराय मित्रवत्र प्रयतन्ते, तावन्नैवंतेषां कदाचिद्विद्यासुखोन्नतिर्भवतीति ।। १ ।।

पांचवें सूक्त के प्रथम मन्त्र में इन्द्र शब्द से परमेश्वर और स्पर्शगुणवाले वायु का प्रकाश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (स्तोमवाहसः) प्रशंसनीय गुणयुक्त वा प्रशंसा कराने, और (सखायः) सबसे मित्रभाव में वर्त्तनेवाले विद्वान् लोगो ! तुम सब लोग मिलके परस्पर प्रीति के साथ मुक्ति और शिल्पविद्या को सिद्ध करने में (आनिषीदत) स्थित होवो । और उसकी निरन्तर अच्छी प्रकार से यत्नपूर्वक साधना करने के लिये (इन्द्रम्) परमेश्वर वा बिजली से युक्त हुए वायु और उसके गुणों का (अभिप्रगायत) उपदेश करो और सुनो, कि जिससे वह अच्छी रीति से सिद्ध की हुई विद्या सब को प्रकट हो जावे । (तु) और उसी से तुम सब लोग सब सुखों को (एत) प्राप्त होओ ।।

[3]इन्द्र का पदनाम[4] में पाठ है । अतः विद्या और प्राणियों के जीवन का हेतु होने से इन्द्र शब्द से परमेश्वर और स्पर्श गुणवाले वायु का ग्रहण होता है । (इन्द्रेण वायुना०[5]) ऋग्वेद के इस प्रमाण से वायु का इन्द्र नाम जानना चाहिये ।। १ ।।

---

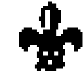
१. पदार्थे 'भूत्वा' पदमनावश्यकम् । अन्वयेऽपि नान्वेति ।

२. वहिहाधाञ्भ्यश्छन्दसि (उ० ४।२२१) इत्यनेनासुन्, णिदनुवृत्त्या (सू० २१८) उपधावृद्धिः, ततो बहुव्रीहिः, पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च । सायणस्तूपपदसमासं मत्वोत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते 'गतिकारकयोः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च' (उ० ४।२२७) सूत्रे पूर्वपदप्रकृतिस्वरमाह । यत्तु ग्रन्थकार(द० स०)कृतायामुणादिवृत्तौ 'वक्षाः हासाः धासाः' इत्युदाहरणान्युक्तानि तदुज्ज्वल-दत्तीयोणादिवृत्त्यनुसारं ज्ञेयानि । विशेषस्त्वत्र यजुर्वेदभाष्यस्य १३।१८ विवरणे द्रष्टव्यः ।

३. वै०य० मुद्रित संस्करणों में यह भावार्थ अधूरा और पदार्थ के मध्य पड़ा हुआ है । हमने पाठ की पूर्ति करके पदार्थ के अनन्तर रखा है ।

४. निघं० ५।४ ।।   ५. ऋ० १।१४।१० ।।

भावार्थ—जब तक मनुष्य हठ छल और अभिमान को छोड़कर सत्य प्रीति के साथ परस्पर मित्रता करके परोपकार करने के लिये तन मन और धन से यत्न नहीं करते, तबतक उनके सुखों और विद्या आदि उत्तम गुणों की उन्नति कभी नहीं हो सकती ॥ १ ॥



पुनस्तावेवोपदिश्येते—

पुरूतमं पुरूणामीशानं वार्याणाम् । इन्द्रं सोमे सचा सुते ॥ २ ॥

पुरुऽतमम् । पुरूणाम् । ईशानम् । वार्याणाम् ॥ इन्द्रम् । सोमे । सचा । सुते ॥ २ ॥

पदार्थः—(**पुरूतमम्**) पुरून् बहून् दुष्टस्वभावान् जीवान् पापकर्मफलदानेन तमयति ग्लापयति तं परमेश्वरं, तत्फलभोगहेतुं वायुं वा । पुरुरिति बहुनामसु पठितम् । निघं० ३ । १ । अत्र अन्येषामपि दृश्यते [अ० ६ । १ । १३६] इति दीर्घः । (**पुरूणाम्**) बहूनामाकाशादि-पृथिव्यन्तानां पदार्थानाम् (**ईशानम्**) रचने समर्थं परमेश्वरं, तन्मध्यस्थविद्यासाधकं वायुं वा (**वार्याणाम्**) वराणां वरणीयानामत्यन्तोत्तमानां मध्ये स्वीकर्तुमर्हम् । वार्यं वृणोतेरथापि वरतमं तद्वार्यं वृणीमहे वरिष्ठं गोपयत्ययं तद्वार्यं वृणीमहे वर्षिष्ठं गोपायितव्यम् । निरु० ५ । १ । (**इन्द्रम्**) सकलैश्वर्य्यप्रदं परमेश्वरम्, आत्मनः सर्वभोगहेतुं वायुं वा (**सोमे**) सोतव्ये सर्वस्मिन् पदार्थे, विमानादियाने वा । (**सचा**) ये समवेताः पदार्थाः सन्ति । सचा इति पदनामसु पठितम् । निघं० ४ । २ । (**सुते**) उत्पन्नेऽभिषवविद्ययाऽभिप्राप्ते ॥ २ ॥

अन्वयः—हे 'सखायो विद्वांसो वार्याणां [२]पुरूतमं पुरूणामीशानमिन्द्रमभिप्रगायत' । ये [तु'] सुते सोमे सचा सन्ति तान् सर्वोपकाराय यथायोग्यमभिप्रगायत ॥ २ ॥

अत्र श्लेषालङ्कारः । पूर्वस्मान्मन्त्रात् 'सखायः', 'तु', 'अभिप्रगायत' इति [३]पदत्रयमनु-वर्त्तनीयम् ।

भावार्थः—ईश्वरस्य यथायोग्यव्यवस्थया जीवेभ्यस्तत्तत्कर्मफलदातृत्वात् भौतिकस्य वायोः कर्मफलहेतुत्वेन सकलचेष्टाविद्यासाधकत्वादस्मादुभयार्थस्य ग्रहणम् ॥ २ ॥

फिर भी अगले मन्त्र में उन्हीं दोनों के गुणों का प्रकाश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—(सखायः[४]) हे मित्र विद्वान् लोगो ! (वार्याणाम्) अत्यन्त उत्तम [पदार्थों में स्वीकार करने योग्य] (पुरूतमम्) बहुत दुष्ट स्वभाववाले जीवों को [कर्मफल देकर] ग्लानि प्राप्त करानेवाले (पुरूणाम्) आकाश से लेकर पृथिवीपर्यन्त असंख्यात पदार्थों को

१. पदानीमानि पूर्वमन्त्रादनुवर्तन्ते ।

२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'पुरूतममीशानं पुरूणामिन्द्र०' इति पूर्वापरपाठः । स चानन्वित इव ।

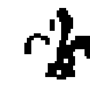
३. 'अभि प्र गायत' इत्येतानि त्रीण्येकीकृत्य पदत्रयमुक्तम् ।

४. यह पद पूर्वमन्त्र से ग्रहण किया है ।

(ईशानम्) रचने में समर्थ, और (इन्द्रम्) श्रेष्ठ जीवों को सब ऐश्वर्य के देनेवाले परमेश्वर के, तथा[1] (वार्याणाम्) अत्यन्त उत्तम (पुरूतमम्) दुष्ट जीवों के कर्मों के भोग में निमित्त, और (पुरूणाम्) आकाश से लेके पृथिवीपर्यन्त बहुत से पदार्थों की विद्याओं के [(ईशानम्)] साधक (इन्द्रम्) जीवमात्र को सुख देनेवाले पदार्थों के हेतु भौतिक वायु के, गुणों को (अभिप्रगायत[2]) अच्छी प्रकार उपदेश करो। और (तु[2]) जो कि (सुते) उत्पन्न हुए पदार्थों में व्याप्त, वा रस खींचने की क्रिया से प्राप्त, (सोमे) उस विद्या से प्राप्त होने योग्य [सब पदार्थों वा विमानादि यानों में] (सचा) समवेत पदार्थ हैं, उनको उक्त विद्याओं से सब के उपकार के लिये यथायोग्य युक्त करो॥ २॥

इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। पीछे के मन्त्र से इस मन्त्र में 'सखाय:' 'तु' 'अभिप्रगायत' इन तीन शब्दों को अर्थ के लिये लेना चाहिये।

भावार्थ--इस मन्त्र में यथायोग्य व्यवस्था करके जीवों को उनके किये हुए कर्मों का फल देने से ईश्वर तथा इन कर्मों के फलभोग कराने के हेतु वा सब क्रियाओं के साधक होने से भौतिक अर्थात् संसारी वायु का ग्रहण किया है॥ २॥



तावस्मदर्थं किं कुरुत इत्युपदिश्यते—

स घा नो योग आ भुवत् स राये स पुरंन्ध्याम्। गमद् वाजेभिरा स नः॥३॥

सः। घ। नः। योगे। आ। भुवत्। सः। राये। सः। पुरम्ऽध्याम्॥ गमत्। वाजेभिः। आ। सः। नः॥ ३॥

पदार्थः—(सः) इन्द्र ईश्वरो वायुर्वा (घ) एवार्थे निपातः। ऋचि तुनुघ०। अ० ६। ३। १३२ अनेन दीर्घादेशः। (नः) अस्माकम् (योगे) सर्वसुखसाधनप्राप्तिसाधके (आ भुवत्) समन्ताद् भूयात्। भूधातोराशिषि लिङि प्रथमैकवचने लिङ्याशिष्यङ्। अ० ३। १। ८६ इत्यङि सति, किदाशिषि [अ० ३। ४। १०४] इत्यागमानित्यत्वे[3] प्रयोगः। (सः) उक्तोऽर्थः। (राये) परमोत्तमधनलाभाय। राय इति धननामसु पठितम्। निघं० २। १०। (सः) पूर्वोक्तोऽर्थः। (पुरन्ध्याम्) बहुशास्त्रविद्यायुक्तायां बुद्धयाम्। पुरन्धिरिति पदनामसु पठितम्। निघं० ४। ३। (गमत्) आज्ञाप्यात् गमयति वा। अत्र पक्षे वर्त्तमानेऽर्थे लिङर्थे च लुङ्। बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि। अ० ६। ४। ७५ इत्यडभावः। (वाजेभिः) उत्तमैरन्नैर्विमानादियानैः सह वा। बहुलं छन्दसि। अ० ७। १। १० अनेनैसादेशाभावः। (आ) सर्वतः (सः) अतीतार्थे[4] (नः) अस्मान्॥ ३॥

---

१. यहां से आगे श्लेषालंकार द्वारा भौतिक अर्थ दर्शाने के लिए 'वार्याणाम्, पुरूतमम्, पुरूणाम्, ईशानम्, इन्द्रम्' इन पदों का पुनः निर्देश किया है। २. ये पद पूर्वमन्त्र से ग्रहण किये हैं।

३. यासुडागमाभाव इत्यर्थः। ४. पूर्वोक्तार्थ इत्यर्थः।

अन्वयः—स ह्येवेन्द्रः परमेश्वरो वायुश्च नोऽस्माकं योगे सहायकारी व्यवहारविद्योपयोगाय आभुवत् समन्ताद् भूयाद् भवति वा। तथा स [घ] एव राये स पुरन्ध्यां च प्रकाशको भूयाद्भवति वा। एवं स एव वाजेभिः सह नोऽस्मानागमदाज्ञाप्यात् समन्तात् गमयति वा ॥ ३ ॥

अत्र श्लेषालङ्कारः।

भावार्थः—ईश्वरः पुरुषार्थिनो मनुष्यस्य सहायकारी भवति नेतरस्य। तथा वायुरपि पुरुषार्थेनैव कार्य्यसिद्ध्युपयोगी भवति। नैव कस्यचिद्विना पुरुषार्थेन धनवृद्धिलाभो भवति। नैवैताभ्यां विना कदाचिदुत्तमं सुखं च भवति। इत्यतः सर्वैर्मनुष्यैरुद्योगिभिराशीर्मद्भि[1]र्भवितव्यम् ॥ ३ ॥

वे दोनों (=इन्द्र और वायु) तुम हम और सब प्राणिलोगों के लिये क्या करते हैं, सो अगले मन्त्र में प्रकाश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—(सः) [वही] पूर्वोक्त इन्द्र परमेश्वर और स्पर्शवान् वायु (नः) हम लोगों के (योगे) सब सुखों के सिद्ध करानेवाले, वा पदार्थों को प्राप्त करानेवाले योग तथा [व्यवहार विद्या में उपयोग के लिये] (सः) वे [(घ)] ही (राये) [परम] उत्तम धन के लाभ के लिये, और (सः) वे [ही] (पुरन्ध्याम्) अनेक शास्त्रों की विद्याओं से युक्त बुद्धि में (आ भुवत्) प्रकाशित हो [या होता है]। इसी प्रकार (सः) वे [ही] (वाजेभिः) उत्तम अन्न अथवा विमान आदि सवारियों के सह वर्त्तमान (नः) हम लोगों को (आगमत्) उत्तम सुख होने का ज्ञान देवे। तथा यह वायु भी इस विद्या की सिद्धि में हेतु होता है ॥ ३ ॥

इस [मन्त्र] में भी श्लेषालङ्कार है।

भावार्थ—ईश्वर पुरुषार्थी मनुष्य का सहायकारी होता है, आलसी का नहीं। तथा स्पर्शवान् वायु भी पुरुषार्थ ही से कार्य्यसिद्धि का निमित्त होता है। क्योंकि किसी प्राणी को पुरुषार्थ के विना धन वा बुद्धि का, और इनके विना उत्तम सुख का लाभ कभी नहीं हो सकता। इसलिये सब मनुष्यों को उद्योगी अर्थात् पुरुषार्थी आशावाले[2] अवश्य होना चाहिये ॥३॥

❧

पुनरीश्वरसूर्यौ [3]गातव्यावित्युपदिश्यते—

यस्य॑ सं॒स्थे न वृ॒ण्वते॒ हरी॑ स॒मत्सु॒ शत्र॑वः। तस्मा॒ इन्द्रा॑य गायत ॥ ४ ॥

---

१. 'आशीर्मद्भि॰' इति युक्तः पाठः स्यात्। ग्रन्थकृता १।२३ भावार्थे 'आशीश्च वदति' इत्येवं दीर्घकारान्त 'आशी' शब्दः प्रयुक्तः। स च शुद्ध एव (द्र०—अमरटीका भानुजिकृता ३।३।२२८॥ 'आशीष्' शब्दं दीर्घकारवान् प्रयोगो नास्माभिरुपलब्धः। 'आशीर्मद्भिः' क.ग.कोशयोर्नास्ति ॥ वै० य० मुद्रित संस्करणों में भाषा में 'आशावाले' पाठ मिलता है। तदनुसार 'आशावद्भिः' अधिक युक्त प्रतीत होता है।

२. संस्कृत-पाठानुसार 'आशीवाले' होना चाहिये। परन्तु हमें संस्कृतपाठ में 'आशीर्मद्भिः' अशुद्ध पाठ पर सन्देह है। यदि यहां संस्कृत-पाठ 'आशावद्भिः' होता, तो वाक्य अधिक संगत हो जाता।

३. गातव्यौ=गुणस्तवनश्रवणाभ्यां विज्ञातव्यौ इत्यर्थः।

यस्यं । सम्ऽस्थे । न । वृण्वते । हरी इति । समत्ऽसु । शत्रंवः ॥ तस्मै । इन्द्राय । गायत ॥ ४ ॥

पदार्थः—(यस्य) परमेश्वरस्य सूर्य्यलोकस्य वा (संस्थे) सम्यक् तिष्ठन्ति यस्मिंस्तस्मिन् जगति । घञर्थे कविधानं० । अ० ३ । ३ । ५८ इति वार्तिकेनाधिकरणे कः प्रत्ययः । (न) निषेधार्थे (वृण्वते) संभजन्ते (हरी) हरणशीलौ बलपराक्रमौ प्रकाशाकर्षणाख्यौ च । हरी इन्द्रस्येत्यादिष्टोपयोजननामसु पठितम् । निघं० १ । १५ । (समत्सु) युद्धेषु । समत्स्विति संग्रामनामसु पठितम् । निघं० २ । १७ । (शत्रवः) अमित्राः (तस्मै) एतद्गुणविशिष्टम्[1] (इन्द्राय) परमेश्वरं सूर्य्यं वा । अत्रोभयत्रापि सुपां सु० [अ० ७ । १ । ३९] अनेनामः स्थाने ङे । (गायत) गुणस्तवनश्रवणाभ्यां विजानीत ॥ ४ ॥

अन्वयः—हे मनुष्या ! यूयं यस्य हरी संस्थे वर्त्तेते, यस्य सहायेन शत्रवः समत्सु न वृण्वते सम्यग् बलं न सेवन्ते, तस्मा इन्द्राय तमिन्द्रं नित्यं गायत[2] ॥ ४ ॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ।

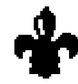
भावार्थः—न यावन्मनुष्या परमेश्वरेष्टा बलवन्तश्च भवन्ति, नैव तावद् दुष्टानां शत्रूणां नैर्बल्यङ्कर्तुं शक्तिर्जायत इति[3] ॥ ४ ॥

[*]ईश्वर और सूर्यलोक गुणों के स्तवन और श्रवण से जानने योग्य हैं, यह इस मन्त्र से प्रकाश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे मनुष्यो ! तुम लोग (यस्य) जिस परमेश्वर वा सूर्य्य के (हरी) पदार्थों को प्राप्त करानेवाले बल और पराक्रम, तथा प्रकाश और आकर्षण (संस्थे) इस संसार में वर्त्तमान हैं, जिनके सहाय से (समत्सु) युद्धों में (शत्रवः) वैरी लोग[4] (न वृण्वते) अच्छी प्रकार बल नहीं कह सकते, (तस्मै) उस (इन्द्राय) परमेश्वर वा सूर्य्यलोक को [(गायत)] उनके गुणों की प्रशंसा कर और सुनके यथावत् जानलो ॥ ४ ॥

इस [मन्त्र] में श्लेषालङ्कार है ।

भावार्थ—जबतक मनुष्य लोग परमेश्वर को अपने इष्ट देव समझनेवाले, और बलवान् अर्थात् पुरुषार्थी नहीं होते, तबतक उनको दुष्ट शत्रुओं की निर्बलता करने को सामर्थ्य भी नहीं होता[6] ॥ ४ ॥



---

१. अत्र 'तस्मै' इत्यस्य 'तम्' पदार्थो द्रष्टव्यः । एतद् गुणविशिष्टम्=पूर्वोक्तगुणविशिष्टम् इत्यर्थः ।

२. अयमन्वय ईश्वरसूर्ययोरुभयोः समानः । ३. भावार्थ ईश्वर पर एव ।

४. पदार्थ में 'गायत' का अर्थ 'गुणस्तवनश्रवणाभ्यां विजानीत' किया है । इसी कारण हमने वै० य० मुद्रित संस्करणों में मुद्रित पाठ को शोधकर संस्कृतानुसारी बनाया है ।

५. सूर्यपरक अर्थ में शत्रु का वृत्र=मेघ अर्थ जानना चाहिये ।

६. यह भावार्थ ईश्वरपरक है ।

जगत्स्थाः पदार्थाः किमर्थाः कीदृशाः केन पवित्रीकृताश्च सन्तीत्युपदिश्यते—

सुतपाव्ने सुता इमे शुचयो यन्ति वीतये । सोमासो दध्याशिरः ॥ ५ ॥

सुतऽपाव्ने । सुताः । इमे । शुचयः । यन्ति । वीतये ॥ सोमासः । दधिऽआशिरः ॥ ५ ॥

पदार्थः—(सुतपाव्ने) सुतानामाभिमुख्येनोत्पादितानां पदार्थानां पाता रक्षको[1] जीवस्तस्मै[2] । अत्र आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च [अ० ३ । २ । ७४] इति वनिप्प्रत्ययः । (सुताः) उत्पादिताः (इमे) सर्वे (शुचयः) पवित्राः (यन्ति) यान्ति प्राप्नुवन्ति (वीतये) ज्ञानाय भोगाय वा । वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु [धातु० २ । ४१] अस्मात् मन्त्रे वृषेषपचमनविदभूवीरा उदात्तः [अ० ३ । ३ । ९६] अनेन क्तिन्प्रत्यय उदात्तत्वं च । (सोमासः) अभिसूयन्त उत्पद्यन्त उत्तमा व्यवहारा येषु ते । सोम इति पदनामसु पठितम् । निघं० ५ । ५ । (दध्याशिरः) दधति पुष्णन्तीति दधयः, ते समन्ताद्[आ]शीर्यन्ते येषु ते[3] । दधातेः प्रयोगः । आदृगम० । अ०३।२।१७१ अनेन किन् प्रत्ययः । शॄ हिंसार्थः, [अस्मादाङ्पूर्वात्] क्विप् ॥ ५ ॥

अन्वयः—इन्द्रेण परमेश्वरेण [4]वायुसूर्य्याभ्यां वा यतः सुतपाव्ने वीतय इमे दध्याशिरः शुचयः सोमासः सर्वे पदार्थाः [सुता] उत्पादिताः पवित्रीकृताः सन्ति, तस्मादेतान् सर्वे जीवा यन्ति प्राप्नुवन्ति ॥ ५ ॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ।

भावार्थः—ईश्वरेण सर्वेषां जीवानामुपरि कृपां कृत्वा कर्मानुसारेण फलदानाय सर्वं कार्य्यं जगद् रच्यते पवित्रीयते च, एवं पवित्रकारकौ सूर्य्यपवनौ च । तेन हेतुना सर्वे जडाः पदार्था जीवाश्च पवित्राः सन्ति । परन्तु ये मनुष्याः पवित्रगुणकर्मग्रहणे पुरुषार्थिनो भूत्वैतेभ्यो यथावदुपयोगं गृह्णन्ति[5] ग्राहयन्ति [च], त एव पवित्रा भूत्वा सुखिनो भवन्ति ॥ ५ ॥

इति नवमो वर्गः ॥

ये संसारी पदार्थ किसलिये उत्पन्न किये गये हैं और कैसे हैं, ये किससे पवित्र किये जाते हैं, इस विषय का प्रकाश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—परमेश्वर ने, वा वायु और सूर्य से जिस कारण (सुतपाव्ने) अपने

१. अर्थनिर्देशोऽयं, न षष्ठीसमासस्य विग्रहेण निर्देशः । विग्रहस्तु 'सुतान् पाति' इत्येव द्रष्टव्यः । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः (अ० ६।२।१३९) । षष्ठीसमासे तु समासान्तोदात्तत्वे स्वरो न सिद्ध्यति ।

२. षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ।

३. अत्रापि विग्रहः—'दधय आशिरो येषु ते' इत्येवं द्रष्टव्यः । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् (अ० ६।२।१) ।

४. अत्रेन्द्रपदेनाधिदैविकार्थे वायुः सूर्यो वैकतमो ग्रहीतव्यः । तेन 'इन्द्रेण परमेश्वरेण वायुना सूर्येण वा' इत्येवं पार्थक्येन योजना कर्तव्या, न समुच्चयेन ।

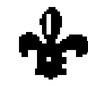
५. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'गृहीत्वा' पाठो दृश्यते । भावार्थे 'लेते तथा' पदनिर्देशाद् वाक्यार्थस्य स्फुटतायै च 'गृह्णन्ति' साधुतरः पाठः ।

उत्पन्न किये हुए पदार्थों की रक्षा करनेवाले जीव के (वीतये) ज्ञान वा भोग के लिये [(इमे) ये] (दध्याशिरः) जो धारण [पोषण] करनेवाले और नाशवान् हैं, तथा जो (शुचयः) पवित्र, (सोमासः) जिनसे अच्छे व्यवहार होते हैं, वे सब पदार्थ उत्पादन करके पवित्र किये हैं, इसी से सब प्राणी लोग इनको, [(यन्ति)] प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ।

भावार्थ—ईश्वर ने सब जीवों पर कृपा करके उनके कर्मों के अनुसार यथायोग्य फल देने के लिये सब कार्य्यरूप जगत् को रचा और पवित्र किया है । तथा पवित्र करनेवाले सूर्य्य और पवन को रचा है, उसी हेतु से सब जड़ पदार्थ वा जीव पवित्र होते हैं । परन्तु जो मनुष्य पवित्र गुणकर्मों के ग्रहण में पुरुषार्थी होकर संसारी पदार्थों से यथावत् उपयोग लेते तथा सब जीवों को उनका उपयोग कराते हैं, वे ही मनुष्य पवित्र होकर सुखी होते हैं ॥ ५ ॥

यह नवां वर्ग समाप्त हुआ ॥



किं कृत्वा जीवः पूर्वोक्तोपयोगग्रहणे समर्थो भवतीत्युपदिश्यते—

त्वं सुतस्य पीतये सद्यो वृद्धो अजायथाः । इन्द्र ज्यैष्ठ्याय सुक्रतो ॥ ६ ॥

त्वम् । सुतस्य॑ । पीतये॑ । सद्यः । वृद्धः । अजायथाः ॥ इन्द्र॑ । ज्यैष्ठ्याय । सुक्रतो इति॑ सुऽक्रतो ॥ ६ ॥

पदार्थः—(त्वम्) जीवः (सुतस्य) 'उत्पन्नस्यास्य जगत्पदार्थसमूहस्य सकाशाद् रसस्य[1] (पीतये) पानाय ग्रहणाय वा (सद्यः) शीघ्रम् (वृद्धः) ज्ञानादिशुभगुणग्रहणेन[2] सर्वोपकारकरणे च श्रेष्ठः (अजायथाः) प्रादुर्भूतो भव (इन्द्र) विद्याविपरमैश्वर्य्ययुक्त विद्वन् ! इन्द्र इति पदनामसु पठितम् । निघं० ५ । ४ अनेन गन्ता प्रापको विद्वान् जीवो गृह्यते (ज्यैष्ठ्याय) अत्युत्तमकर्मणामनुष्ठानाय (सुक्रतो) श्रेष्ठकर्मबुद्धियुक्त मनुष्य ! ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे इन्द्र सुक्रतो विद्वन् मनुष्य ! त्वं सद्यः सुतस्य पीतये ज्यैष्ठ्याय वृद्ध अजायथाः ॥ ६ ॥

भावार्थः—जीवायेश्वर[3] उपदिशति—हे मनुष्य ! यावत्त्वं न विद्यावृद्धो भूत्वा सम्यक् पुरुषार्थं परोपकारं च करोषि, नैव तावन्मनुष्यभावं सर्वोत्तमसुखं च प्राप्स्यसि । तस्मात्त्वं धार्मिको भूत्वा पुरुषार्थी भव ॥ ६ ॥

ईश्वर ने, जीव जिस करके पूर्वोक्त उपयोग के ग्रहण करने को समर्थ होते हैं, इस विषय को अगले मन्त्र में कहा है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (इन्द्र) विद्यादिपरमैश्वर्य्य युक्त (सुक्रतो) श्रेष्ठ कर्म करने और

---

१. 'उत्पन्नस्य' इत्यस्य सम्बन्धः 'सकाशाद् उत्पन्नस्य रसस्य' इत्येवं ज्ञेयः ।

२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'ज्ञानादिसर्वगुणग्रहणेन' इति पाठः ।

३. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'ईश्वरोपदिशति' इत्यपपाठः ।

उत्तम बुद्धिवाले विद्वान् मनुष्य ! (त्वम्) तू (सद्यः) शीघ्र (सुतस्य) संसारी पदार्थों से [उत्पन्न] रस के (पीतये) पान वा ग्रहण, और (ज्यैष्ठ्याय) अत्युत्तम कर्मों के अनुष्ठान करने के लिये (वृद्धः) विद्या आदि शुभ गुणों के ग्रहण और सब के उपकार करने में श्रेष्ठ (अजायथाः) हो ॥ ६ ॥

भावार्थ—ईश्वर जीव के लिये उपदेश करता है कि—'हे मनुष्य ! तू जबतक विद्या में वृद्ध होकर अच्छी प्रकार [पुरुषार्थ और] परोपकार न करेगा, तबतक तुझको मनुष्यपन और सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति कभी न होगी। इससे तू [धार्मिक होकर] पुरुषार्थ करनेवाला सदा हो ॥ ६ ॥



क एवमनुष्ठात्रे जीवायाशीर्ददातीत्युपदिश्यते—

आ त्वा॑ विशन्त्वा॒शवः॒ सोमा॑स इन्द्र गिर्वणः । शं ते॑ सन्तु॒ प्रचे॑तसे ॥ ७ ॥

आ । त्वा॒ । वि॒श॒न्तु॒ । आ॒शवः॑ । सोमा॑सः । इ॒न्द्र॒ । गि॒र्व॒णः॒ ॥ शम् । ते॒ । स॒न्तु॒ । प्रऽचे॑तसे ॥ ७ ॥

पदार्थः—(आ) समन्तात् **(त्वा)** त्वां जीवम् **(विशन्तु)** आविष्टा भवन्तु **(आशवः)** वेगादिगुणसहिताः सर्वक्रियाव्याप्ताः (**सोमासः**) सर्वे पदार्थाः (**इन्द्र**) जीव विद्वन् ! (**गिर्वणः**) गीर्भिर्वन्यते सम्भज्यते [यः] स गिर्वणास्तत्संबुद्धौ। गिर्वणा देवो भवति गीर्भिरेनं वनयन्ति। निरु० ६। १४। देवशब्देनात्र प्रशस्तैर्गुणैः स्तोतुमर्हो विद्वान् गृह्यते। गिर्वणस इति पदनामसु पठितम्। निघं० ४। ३। **(शम्)** सुखम्। शमिति सुखनामसु पठितम्। निघं० ३। ६। **(ते)** तुभ्यम् **(सन्तु)** **(प्रचेतसे)** प्रकृष्टं चेतो विज्ञानं यस्य तस्मै ॥ ७ ॥

अन्वयः—हे धार्मिक गिर्वण इन्द्र विद्वन् ! मनुष्य आशवः सोमासस्त्वा त्वामाविशन्तु। एवंभूताय प्रचेतसे ते तुभ्यं मदनुग्रहेणैते शं सन्तु सुखकारका भवन्तु ॥ ७ ॥

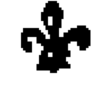
भावार्थः—ईश्वर ईदृशाय जीवायाशीर्वादं[1] ददाति—यदा यो विद्वान् परोपकारी भूत्वा मनुष्यो नित्यमुद्योगं करोति, तदैव सर्वेभ्यः पदार्थेभ्य उपकारं संगृह्य सर्वान् प्राणिनः सुखयति। स सर्वं सुखं प्राप्नोति, नेतर इति ॥ ७ ॥

उक्त काम के आचरण करनेवाले जीव को आशीर्वाद कौन देता है, इस बात का प्रकाश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे धार्मिक (गिर्वणः) प्रशंसा के योग्य कर्म करनेवाले (इन्द्र) विद्वान् मनुष्य ! (आशवः) वेगादि गुण सहित सब क्रियाओं से व्याप्त (सोमासः) सब पदार्थ (त्वा) तुझको (आविशन्तु) प्राप्त हों। तथा इन पदार्थों को प्राप्त हुए (प्रचेतसे) शुद्ध ज्ञानवाले (ते) तेरे लिये ये सब पदार्थ मेरे अनुग्रह से (शम्) सुख करनेवाले (सन्तु) हों ॥ ७ ॥

१. द्र०—पृष्ठ ५०८, टि० १।

भावार्थ—ईश्वर ऐसे मनुष्यों को आशीर्वाद देता है कि जो मनुष्य विद्वान् परोपकारी होकर, अच्छी प्रकार नित्य उद्योग करके, इन सब पदार्थों से उपकार ग्रहण करके सब प्राणियों को सुखयुक्त करता है, वही सदा सुख को प्राप्त होता है, अन्य कोई नहीं ॥ ७ ॥



एतदर्थमिन्द्रशब्दार्थ उपदिश्यते—

त्वां स्तोमा॑ अवीवृधन् त्वामु॒क्था श॑तक्रतो । त्वां व॑र्धन्तु नो॒ गिर॑: ॥ ८ ॥

त्वाम् । स्तोमा॑: । अ॒वी॒वृ॒ध॒न् । त्वाम् । उ॒क्था । श॒त॒क्र॒तो॒ इति॑ शतऽक्रतो ॥ त्वाम् । व॒र्ध॒न्तु॒ । न॒: । गिर॑: ॥ ८ ॥

पदार्थः—(त्वाम्) इन्द्रं परमेश्वरं (स्तोमाः) वेदस्तुतिसमूहाः (अवीवृधन्) वर्धयन्ति । अत्र लडर्थे लुङ् । (त्वाम्) स्तोतव्यम् (उक्था) परिभाषितुमर्हाणि वेदस्थानि सर्वाणि स्तोत्राणि । पातॄतुदिवचि० । उ० २ । ७ अनेन वचधातोस्थक्प्रत्ययस्तेनोक्थस्य सिद्धिः । शेश्छन्दसि बहुलम् (अ० ६ । १ । ६८) इति शेर्लुक् । (शतक्रतो) उक्तोऽस्यार्थः[१] (त्वाम्) सर्वज्येष्ठम् (वर्धन्तु) वर्धयन्तु । अन्तर्गतो ण्यर्थः (नः) अस्माकम् (गिरः) विद्यासत्यभाषणादियुक्ता वाण्यः । गीरिति वाङ्नामसु पठितम् । निघं० १ । ११ ॥ ८ ॥

अन्वयः—हे शतक्रतो बहुकर्मवन् बहुप्रज्ञेश्वर ! यथा स्तोमास्त्वामवीवृधन् अत्यन्तं वर्धयन्ति, [२]यथा च त्वमुक्था[उक्था]नि स्तुतिसाधकानि वर्धितानि कृतवान्, तथैव नो गिरस्त्वां वर्धन्तु सर्वथा प्रकाशयन्तु ॥ ८ ॥

अत्र लुप्तोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—[३]यथा ये विश्वस्मिन् पृथिवीसूर्य्यादयः सृष्टाः पदार्थाः सन्ति, ते सर्वे सर्वकर्त्तारं परमेश्वरं ज्ञापयित्वा तमेव[४] प्रकाशयन्ति, [५]तथैतानुपकारानीश्वरगुणांश्च सम्यग् विदित्वा विद्वांसोऽपीदृश एव कर्मणि प्रवर्त्तेरन्निति ॥ ८ ॥

ईश्वर ने उक्त अर्थ के प्रकाश के लिये इन्द्र शब्द के अर्थ का अगले मन्त्र में प्रकाश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (शतक्रतो) असंख्यात कर्मों के करने और अनन्त विज्ञान के जाननेवाले परमेश्वर ! जैसे (स्तोमाः) वेद के स्तोत्र, तथा (उक्था) प्रशंसनीय स्तोत्र

१. ऋग्भाष्य १।४।८, ६ ॥

२. अत्र 'यथा च···कृतवान्' पाठोऽसम्बद्ध इव प्रतिभाति । यथा पदार्थस्तथा स्वत्र—'यथा च त्वामुक्थानि स्तुतिसाधनानि वर्धयन्ति' इत्येवं पाठेन भाव्यम् । यथामुद्रिते पाठे मन्त्रस्थं त्वां पदमपि व्यर्थं भवति । ३. क. ग. कोशयोः 'यथा' नास्ति ।

४. ग. कोशे 'तमेव धन्यवादैः प्रकाशयन्ति' इति पाठः । सः च मुद्रणेऽनादृतः स्यात्' अनावश्यकत्वात् ।

५. क. ग. कोशयोः 'तथा' नास्ति ।

अथ तयोर्बहिरन्तःकार्य्यमुपदिश्यते—

वायविन्द्रश्च सुन्वत आ यातमुप निष्कृतम् । मक्ष्वि१त्था धिया नरा ॥ ६ ॥

वायो इति । इन्द्रः । च । सुन्वतः । आ । यातम् । उप । निःऽकृतम् ॥ मक्षु । इत्था । धिया । नरा ॥६॥

पदार्थः—(**वायो**) हे[1] **सर्वान्तर्यामिन्नीश्वर** ! (**इन्द्रश्च**) **अन्तरिक्षस्थः सूर्य्यप्रकाशो वायुश्च**[2] । इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा । अ० ५।२।९३ **इति सूत्राशयादिन्द्रशब्देन जीवस्यापि ग्रहणम्** । प्राणो वै वायुः । श० ८ । १ । ७ । २ । **अत्र वायुशब्देन प्राणस्य ग्रहणम्** । (**सुन्वतः**) **अभिनिष्पादयतः** (**आ**) **समन्तात्** (**यातम्**) **प्राप्नुतः** । **अत्र व्यत्ययः** । (**उप**) **समीप्यम्**[3] (**निष्कृतम्**) **कर्मणां सिद्धिः**[4] **फलं च** (**मक्षु**) **त्वरितगत्या** । मक्ष्विति क्षिप्रनामसु पठितम् । निघं २ । १५ । (**इत्था**) **धारणपालनवृद्धिक्षयहेतुना** । था हेतौ च च्छन्दसि । अ० ५ । ३ । २६ **इति थाप्रत्ययः** । (**धिया**) **धारणावत्या बुद्ध्या कर्मणा वा** । धीरिति प्रज्ञानामसु पठितम् । निघं० ३ । ९ ॥ कर्मनामसु च । निघं० २ । १ । (**नरा**) [5]**नयनकर्त्तारौ** । सुपां सुलुग्० [अ० ७ । १ । ३९] **इत्याकारादेशः** ॥६॥

अन्वयः—**हे** वायो ! नरा **नराविन्द्रश्चेन्द्रवायू** मक्ष्वित्था **यथा** सुन्वतस्तथा तौ धिया निष्कृतमुपायातमुपायतः ॥ ६ ॥

[6][**अत्र श्लेषालङ्कारः** ।]

भावार्थः—यथाऽत्र ब्रह्माण्डस्थाविन्द्रवायू सर्वप्रकाशकपोषकौ स्तः, एवं शरीरे जीवप्राणावपि । परन्तु सर्वत्रेश्वराधारापेक्षाऽस्तीति ॥६॥

पूर्वोक्त इन्द्र और वायु के शरीर के भीतर और बाहरले कार्य्यों का अगले मन्त्र में उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—[7]हे (वायो) सबके अन्तर्यामी ईश्वर ! आपके धारण किये हुए (नरा)

की सत्ता के अवलम्ब से उक्त इन्द्र और वायु अपने-अपने कार्य करने में समर्थ होते हैं, यह वर्णन किया है ।' इस प्रकार छपा है । यह भावार्थ क. कोश में पठित संस्कृत-भावार्थानुसारी है । क. कोश का संस्कृत-भावार्थ इस प्रकार है—'अत्र मन्त्रे परमेश्वरस्यैव सत्तामाश्रित्यैतौ स्वकार्यकरणे समर्थौ स्त इति ।'

१. 'हे' पदं क. ख. ग. कोशेषूपलभ्यते ।

२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'वायुर्वा' इत्यपपाठः । मन्त्रे समुच्चयार्थकस्य चकारस्य पाठात् ।

३. 'सामीप्ये' इति साधुतरं स्यात् ।

४. 'सिद्धिः' पदं क. ख. ग. कोशेषूलभ्यते ।

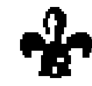
५. भौतिकपक्षे 'सर्वजगत्पदार्थानाम्' इति शेषः, शरीरपक्षे 'सर्वधातुरसानाम्' इति शेषः । द्रष्टव्यो भाषा-पदार्थः । ख. कोशे तु 'सर्वजगत्पदार्थानां नयनकर्त्तारौ' इति पदार्थ एव पठ्यते ।

६. मन्त्रस्थयोरिन्द्रवायुशब्दयोर्द्विविधार्थनिर्देशादावश्यकः पाठः ।

७. वै० य० मुद्रित संस्करणों में दोनों अर्थ संक्षिप्त तथा अधूरे छपे हैं । हमने उन्हें पृथक् पृथक् पूर्ण करके छापा है ।

असंख्यात सुख देनेवाले (वाजम्) पदार्थों के विज्ञान को सम्यक् सेवन करावे, कि जिससे हम लोग उत्तम-उत्तम सुखों को प्राप्त हों ।। ९ ।।

भावार्थ—जिसकी सत्ता से संसार के पदार्थ बलवान् होकर अपने-अपने व्यवहारों में वर्त्तमान हैं, उन सब बल आदि गुणों से उपकार लेकर विश्व के नाना प्रकार के सुख भोगने के लिये हम लोग पूर्ण पुरुषार्थ करें। तथा ईश्वर इस व्यवहार में हमारा सहाय करे। इसलिये हम लोग ऐसी प्रार्थना करते हैं ।। ९ ।।



कस्य रक्षणेन पुरुषार्थः सिद्धो भवतीत्युपदिश्यते—

मा नो मर्ता अभि द्रुहन् तनूनामिन्द्र गिर्वणः । ईशानो यवया वधम् ।। १० ।।

मा । नः । मर्ताः । अभि । द्रुहन् । तनूनाम् । इन्द्र । गिर्वणः ।। ईशानः । यवय । वधम् ।। १० ।।

पदार्थः—(मा) निषेधार्थे (नः) **अस्माकमस्मान् वा** (मर्त्ताः) **मरणधर्माणो मनुष्याः**। मर्ता इति मनुष्यनामसु पठितम्। निघं० २।३। (**अभिद्रुहन्**) **अभिद्रुह्यन्त्वभिजिघांसन्तु**। **अत्र व्यत्ययेन शो लोडर्थे लुङ् च**। (तनूनाम्) शरीराणां, **विस्तृतानां पदार्थानां वा (इन्द्र) सर्वरक्षकेश्वर** ! (गिर्वणः) **वेदशिक्षाभ्यां संस्कृताभिर्गीर्भिर्वन्यते सम्यक् सेव्यते यस्तत्संबुद्धौ** (**ईशानः**) **योऽसावीष्टे** ([1]**यवय**) **मिश्रय**। प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च [अ० ३।१।२६ वा०] **इति यवशब्दाद्धात्वर्थे णिच्**। अन्येषामपि दृश्यते। अ० ६।३।१३६ **इति दीर्घः**। (**वधम्**) **हननम्** ।। १० ।।

अन्वयः—हे गिर्वणः **सर्वशक्तिमन्निन्द्र परमेश्वर** ! ईशानस्त्वं **नोऽस्माकं** तनूनां वधं मा यवय। **इमे** मर्त्ताः **सर्वे प्राणिनोऽस्मान्** मा[2] अभिद्रुहन् **मा जिघांसन्तु** ।। १० ।।

भावार्थः—**नैव कोऽपि** मनुष्योऽन्यायेन **कंचिदपि प्राणिनं हिंसितुमिच्छेत्, किंतु सर्वैः सह मित्रतामाचरेत्। यथेश्वरः कञ्चिदपि नाभिद्रुह्यति, तथैव सर्वैर्मनुष्यैरनुष्ठातव्यमिति** ।। १० ।।

अनेन पञ्चमेन सूक्तेन मनुष्यैः कथं पुरुषार्थः कर्त्तव्यः सर्वोपकारश्चेति [उक्तम्, तस्य] चतुर्थेन सूक्तेन सह सङ्गतिरस्तीति विज्ञेयम् ।।

इदमपि सूक्तं सायणाचार्य्यादिभिर्विलसनाख्यादिभिश्चान्यथार्थं **वर्णितम्** ।।

इति पञ्चमं सूक्तं दशमश्च वर्गः समाप्तः ।।

किसकी रक्षा से पुरुषार्थ सिद्ध होता है, इस विषय का प्रकाश ईश्वर ने अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (गिर्वणः) वेद वा उत्तम-उत्तम शिक्षाओं से शुद्ध की हुई वाणियों

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'यवया' इत्यपपाठः, अन्वये शुद्ध एव पाठो दृश्यते ।

२. पदमिदं पूर्वपठितमेवानुषज्यतेऽत्र ।

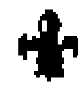
करके सेवा करने योग्य सर्वशक्तिमान् (इन्द्र) सबके रक्षक (ईशानः) परमेश्वर! आप (नः) हमारे (तनूनाम्) शरीरों वा [अन्य पदार्थों] का (वधम्) नाश (मा) कभी मत (यवय) कीजिये। तथा आपके उपदेश उपदेश से ये (मर्त्ताः) सब मनुष्य लोग भी (नः) हमसे (1माभिद्रुहन्) वैर कभी न करें॥ १०॥

भावार्थ—कोई मनुष्य अन्याय से किसी प्राणी को मारने की इच्छा न करे, किन्तु परस्पर सब [सबके साथ] मित्रभाव से वर्त्तें। क्योंकि जैसे परमेश्वर विना अपराध से किसी का तिरस्कार नहीं करता, वैसे ही सब मनुष्यों को भी करना चाहिये॥ १०॥

इस पञ्चम सूक्त में मनुष्यों को किस प्रकार पुरुषार्थ और सबका उपकार करना चाहिये, इस विषय के कहने से चौथे सूक्त के अर्थ के साथ इसकी सङ्गति जाननी चाहिये॥

इस सूक्त का भी अर्थ **सायणाचार्य्य** आदि और **डाक्टर विलसन** आदि साहबों ने उलटा किया है॥

यह पांचवां सूक्त और दशवां वर्ग समाप्त हुआ॥



अथ दशर्च्चस्य षष्ठस्य सूक्तस्य मधुच्छन्दा ऋषिः। १-३ इन्द्रः; ४, ६, ८, ९ मरुतः; ५, ७ मरुत इन्द्रश्च, १० इन्द्रश्च देवता:। १, ३, ५-७, ९, १० गायत्री; २ विराड्गायत्री ४, ८ निचृद्गायत्री च छन्दः। षड्जः स्वरः॥

2तत्रोक्तविद्यार्थं केऽर्था उपयोक्तव्या इत्युपदिश्यते—

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः। रोचन्ते रोचना दिवि॥ १॥

युञ्जन्ति। ब्रध्नम्। अरुषम्। चरन्तम्। परि। तस्थुषः॥ रोचन्ते। रोचना। दिवि॥ १॥

पदार्थः—**(युञ्जन्ति) योजयन्ति (ब्रध्नम्) महान्तं परमेश्वरम्। शिल्पविद्यासिद्धय आदित्यमग्निं प्राणं वा।** ब्रध्न इति महन्नामसु पठितम्। निघं० ३। ३।3 **(अरुषम्) सर्वेषु मर्मसु सीदन्तमहिंसकं परमेश्वरं प्राणवायुं, तथा बाह्ये देशे रूपप्रकाशकं रक्तगुणविशिष्टमादित्यं वा।** अरुषमिति रूपनामसु पठितम्। निघं० ३। ७। **(चरन्तम्) सर्वं जगज्जानन्तं, सर्वत्र व्याप्नुवन्तम् (परि) सर्वतः (तस्थुषः)** तिष्ठन्तीति तान् सर्वान् स्थावरान् पदार्थान् **मनुष्यान्**

१. 'मा' पद मन्त्र में एक बार पढ़ा है, उसी का दुबारा संयोग किया है।

२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु (सं० १-३) 'तन्त्रो०' इत्यपपाठः। चतुर्थसंस्करणे 'मन्त्रो०' इति भ्रष्टतरं शोधनं विहितम्।

३. इतोऽग्रे वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'अश्वनामसु च। निघं० १।१४।' इत्येतावान् अधिकः पाठ उपलभ्यते। स प्रकृते संबंधाभावाद् भाषार्थे च अश्वपरस्यार्थस्य प्रत्याख्यानाद् अस्माभिर्निराकृतः।

वा[1] । तस्थुष इति मनुष्यनामसु पठितम् । निघं० २।३। (**रोचन्ते**) **प्रकाशन्ते रुचिहेतवश्च भवन्ति** (रोचनाः) **प्रकाशिताः प्रकाशकाश्च** (**दिवि**) **द्योतनात्मके ब्रह्मणि सूर्य्यादिप्रकाशे वा ।।**

अयं मन्त्रः शतपथेऽप्येवं व्याख्यातः—युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तमिति । असौ वा आदित्यो ब्रध्नोऽरुषोऽमुमेवाऽस्मा आदित्यं युनक्ति स्वर्गस्य लोकस्य समष्टयै । श० १३।१।१५।१ ।। १ ।।

अन्वयः—**ये मनुष्या अरुषं ब्रध्नं** परितस्थुषश्चरन्तं **परमात्मानं स्वात्मनि बाह्यदेशे सूर्य्यं वायुं वा युञ्जन्ति, ते** रोचनाः सन्तो दिवि **प्रकाशे** रोचन्ते **प्रकाशन्ते**[2] ।। १ ।।

[**अत्र श्लेषालंकारः** ।][3]

भावार्थः—**ईश्वर उपदिशति—ये खलु विद्यासंपादने उद्युक्ता भवन्ति तानेव सर्वाणि सुखानि प्राप्नुवन्ति । तस्माद् विद्वांसः पृथिव्यादिपदार्थेभ्य उपयोगं संगृह्योपग्राह्य च सर्वान् प्राणिनः सुखयेयुरिति ।।**

यूरोपदेशवासिना भट्टमोक्षमूलराख्येनास्य मन्त्रस्यार्थो रथेऽश्वस्य योजनरूपो गृहीतः, सोऽन्यथास्तीति भूमिकायां[4] **लिखितम् ।। १ ।।**

छठे सूक्त के प्रथम मन्त्र में यथायोग्य कार्य्यों में किस प्रकार से किन-किन पदार्थों को संयुक्त करना चाहिये, इस विषय का उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—[5]जो मनुष्य (अरुषम्) अङ्ग-अङ्ग में व्याप्त होनेवाले, हिंसारहित (ब्रध्नम्) महान् परमेश्वर, जो (परितस्थुषः) सब मनुष्य वा स्थावर जंगम पदार्थ अर्थात् चराचर जगत् को (चरन्तम्) जानता वा सब में व्याप्त हो रहा है, उसको उपासना योगद्वारा अपनी आत्मा में (युञ्जन्ति) प्राप्त होते हैं, वे (रोचनाः) ज्ञान से प्रकाशमान होके (दिवि) प्रकाशरूप परमेश्वर में (रोचन्ते) आनन्द से प्रकाशित होते हैं । [इत्येकः] ।।

जो मनुष्य (अरुषम्) रूप का प्रकाश करने, तथा अग्निरूप होने से लालगुणयुक्त (ब्रध्नम्) महान् सूर्य और अग्नि, जो (परितस्थुषः) चराचर जगत् में (चरन्तम्) सर्वत्र गमन करनेवाला है, उसको शिल्पविद्या में (युञ्जति) सब प्रकार से युक्त करते हैं, वे (रोचनाः) तेजस्वी होके

१. क. ग.कोशयोः 'वा' पदं नास्ति । तथा पदेनास्यार्थस्य संग्रहादनावश्यकः ।

२. अन्वयोऽयमध्यात्माधिदैवोभयार्थपरः तद्वैव निर्दिष्टः । भूमिकायाम (पृष्ठ १८९-१९०) अपि त्रिविधोऽर्थो निर्दिष्टः ।

३. अन्वयस्य त्रिविधार्थनिर्देशादत्र श्लेषालङ्कारस्य निर्देश आवश्यकः ।

४. अत्र भूमिकास्थः पूर्वत्र १९० तमे निर्दिष्टः 'परमेश्वरान्महान्' इत्यारभ्य 'प्रमाणार्हं नास्तीति' इत्यन्तः पाठोऽनुसन्धेयः । अयमेवाभिप्रायो ग्रन्थकृता स्वीये सत्यार्थप्रकाशस्यैकादशसमुल्लासस्यारम्भे (पृष्ठ ४१२, रा.ला.क.ट्र.सं.)ऽपि प्रकाशितः ।

५. यहां वै० य० मुद्रित संस्करणों में भावार्थ में कई अर्थों का मिला-जुला निर्देश है । हमने सभी अर्थों का सरलता के लिये पृथक् पृथक् निर्देश कर दिया है ।

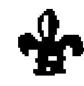
(दिवि) सूर्यादि के गुणों के प्रकाश में (रोचन्ते) नित्य उत्तम-उत्तम आनन्द से प्रकाशित होते हैं। [इति द्वितीयः] ॥

जो मनुष्य (अरुषम्) अङ्ग-अङ्ग में व्याप्त होनेवाले, हिंसन स्वभाव से रहित अर्थात् शरीरावयवों को बढ़ानेवाले (ब्रध्नम्) महान् प्राण वायु को, (परितस्थुषः) सम्पूर्ण शरीर में (चरन्तम्) जो गति करनेवाला है उसको, प्राणायाम की रीति से (युञ्जन्ति) युक्त (=वश में) करते हैं, वे (रोचनाः) ज्ञान से प्रकाशमान होके (दिवि) प्रकाशरूप परमात्मा वा आत्मा में (रोचन्ते) आनन्द से प्रकाशित होते हैं [इति तृतीयः] ॥

[इस मन्त्र में श्लेषालंकार है।][1]

भावार्थ—ईश्वर उपदेश करता है—जो लोग विद्यासंपादन में निरन्तर उद्योग करनेवाले होते हैं, उन्हींको सब सुख प्राप्त होते हैं। इसलिये विद्वानों को उचित है कि पृथिवी आदि पदार्थों से उपयोग लेकर और उपयोग कराकर सब प्राणियों को सुख पहुंचावें ॥

जो यूरोपदेशवासी मोक्षमूलर साहब आदि ने इस मन्त्र का अर्थ घोड़े को रथ में जोड़ने का किया है, सो ठीक नहीं। इसका खण्डन भूमिका[2] में लिख दिया है, वहां देख लेना चाहिये ॥१॥



उक्तार्थस्य कीदृशौ गुणौ क्व योक्तव्यावित्युपदिश्यते—

युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे। शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥ २ ॥

युञ्जन्ति। अस्य। काम्या। हरी इति। विऽपक्षसा। रथे॥ शोणा। धृष्णू इति। नृऽवाहसा ॥२॥

---

१. संस्कृतभाष्य तथा अजमेर-मुद्रित भाषार्थ में कोष्ठान्तर्गत पाठ नहीं है। परन्तु मन्त्र के दो आध्यात्मिक तथा एक आधिदैविक=तीन प्रकार के अर्थ दर्शाये गये हैं। ये तीन प्रकार के अर्थ विना श्लेषालंकार के उपपन्न नहीं होते, अतः यह पाठ आवश्यक है।

२. द्र०—भूमिका पूर्व पृष्ठ १६१ 'इन तीनों अर्थों में' से लेकर 'कपोल कल्पना की है' यहां तक का पाठ। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार जानें—

"यद्यपि यास्क के निघण्टु में 'ब्रध्न' और 'अरुष' ये दोनों नाम 'घोड़े' के भी पढ़े गये हैं, परन्तु इस अर्थ का प्रकृत मन्त्रार्थ में कोई भी उपयोग नहीं है। क्योंकि शतपथादि अनेक ग्रन्थों के व्याख्यान से, और मूल अर्थ से इसका विरोध है। एक शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं, परन्तु उसका यह अभिप्राय नहीं कि सभी एक ही स्थान पर उपयुक्त हों। इसलिये भट्ट मोक्षमूलर साहिब ने इस मन्त्र के अंग्रेजी भाष्य में 'घोड़े' का जो अर्थ किया है, वह ठीक नहीं है। सायणाचार्य ने इस मन्त्र की व्याख्या में आदित्य का ग्रहण किया है, अतः एक अंश में उसकी व्याख्या ठीक है। परन्तु न जाने भट्ट मोक्षमूलर ने अपना अर्थ कहां से लिया है? उसकी केवल कल्पनामात्र है, अतः अप्रामाणिक है।"

इस मन्त्र के सम्बन्ध में यही बात ऋषि दयानन्द ने 'सत्यार्थप्रकाश' (पृष्ठ ४१२, रालाकट् सं०) में लिखी है—"मोक्षमूलर साहब ने······युञ्जति······इस मन्त्र का अर्थ घोड़ा किया है, इससे तो जो सायणाचार्य्य ने सूर्य अर्थ किया है, सो अच्छा है"।

पदार्थः—(युञ्जन्ति) युञ्जन्तु । अत्र लोडर्थे लट् । (अस्य) सूर्य्यस्याग्नेः (काम्या) कामयितव्यौ । अत्र सर्वत्र सुपां सुलुग्० (अ० ७ । १ । ३९) इत्याकारादेशः । (हरी) हरणशीलावाकर्षणवेगगुणौ । पूर्वपक्षापरपक्षौ वा इन्द्रस्य हरी, ताभ्यामिदꣳ सर्वं हरतीति । षड्विंश ब्रा० प्रपा० १ । खण्ड: १ । (विपक्षसा) विविधानि यन्त्रकलाजलचक्रभ्रमणयुक्तानि पक्षांसि पार्श्वे स्थितानि ययोस्तौ (रथे) रमणसाधने भूजलाकाशगमनार्थे याने । यज्ञसंयोगाद्राजा स्तुतिं लभेत, राजसंयोगाद्युद्धोपकरणानि । तेषां रथः प्रथमागामी भवति । रथो रंहतेर्गतिकर्मणः स्थिरतेर्वा स्याद्विपरीतस्य, रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा, रपतेर्वा रसतेर्वा । निरु० ९ । ११ । रथ इति पदनामसु पठितम् । निघं० ५ । ३ । आभ्यां प्रमाणाभ्यां रथशब्देन विशिष्टानि यानानि गृह्यन्ते । (शोणा) वर्णप्रकाशकौ गमनहेतू च (धृष्णू) दृढौ (नृवाहसा) सम्यग्योजितौ [यौ] नॄन् वहतस्तौ ॥ २ ॥

अन्वयः—हे विद्वांसोऽस्य [काम्या] काम्यौ [शोणा] शोणौ धृष्णू [विपक्षसा] विपक्षसौ [नृवाहसा] नृवाहसौ हरी रथे युञ्जन्ति युञ्जन्तु ॥ २ ॥

भावार्थः—ईश्वर उपदिशति—न यावन्मनुष्या भूजलाग्न्यादिपदार्थानां गुणज्ञानोपकारग्रहणाभ्यां भूजलाकाशगमनाय यानानि संपादयन्ति, नैव तावत्तेषां दृढे राज्यश्रियौ सुसुखे भवतः ॥ २ ॥

शारमण्यदेशनिवासिना [मोक्षमूलरेणा]ऽस्य मन्त्रस्य विपरीतं व्याख्यानं कृतमस्ति । तद्यथा—'अस्येति सर्वनाम्नो निर्देशात् स्पष्टं गम्यत इन्द्रस्य ग्रहणम् । कुतः, रक्तगुणविशिष्टावश्वावस्यैव संबन्धिनौ भवतोऽतः । नात्र खलु सूर्य्योषसोर्ग्रहणम् । कुतः, प्रथममन्त्र एकस्याश्वस्याभिधानात्'[1] इति ।

मोक्षमूलरकृतोऽर्थः सम्यङ् नास्तीति । कुतः, अस्येति पदेन भौतिकपदार्थयोः सूर्य्याग्न्योर्ग्रहणं, न कस्यचिद्देहधारिणः । हरी इति सूर्य्यस्य धारणाकर्षणगुणयोर्ग्रहणम्, शोणेति पदेनाग्ने रक्तज्वालागुणयोर्ग्रहणम्[2] । पूर्वमन्त्रे ब्रध्नाभिधान[3] एकवचनं जात्यभिप्रायेण चास्त्यतः । इदं शब्दप्रयोगः खलु प्रत्यक्षार्थवाचित्वात् संनिहितार्थस्य सूर्य्यादेरेव[4] ग्रहणाच्च तत्कल्पितोऽर्थोऽन्यथैवास्तीति ॥ २ ॥

उक्त सूर्य और अग्नि आदि के कैसे गुण हैं, और वे कहां-कहां उपयुक्त करने योग्य हैं, सो अगले मन्त्र में उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे विद्वान् लोगो ! (अस्य) सूर्य और अग्नि के (काम्या) सब के इच्छा करने योग्य, (शोणा) अपने-अपने वर्ण के प्रकाश करनेहारे वा गमन के हेतु, (धृष्णू) दृढ़,

१. नैवममूलरेण पूर्वमन्त्रे ब्रध्न पदस्याश्वार्थं गृहीत्वेदमुक्तम् । मन्त्रे ब्रध्नमेकवचनान्तं श्रूयते ।

२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'ग्रहणार्हेण' इत्यपपाठः ।

३. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'ऽश्वाभिधानमित्यपपाठः । पूर्वमन्त्रे ब्रध्नं श्रूयते नाश्वः । न च भाष्यकारेण ब्रध्नस्य तत्राश्वरूपोऽर्थो गृह्यते ।

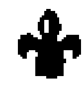
४. ब्रध्नपदाभिधेयस्येत्यर्थः ।

(विपक्षसा) विविध कला और जल के घूमनेवाले चक्र=पांखरूप यन्त्रों से युक्त, अच्छी प्रकार सवारियों में जुड़े हुए, (नृवाहसा) मनुष्यादिकों को देशदेशान्तर में पहुंचानेवाले (हरी) आकर्षण और वेग, तथा शुक्लपक्ष और कृष्णपक्षरूप दो घोड़े जिनसे सब का हरण किया जाता है, इत्यादि श्रेष्ठ गुणों को पृथिवी जल और आकाश में जाने-आने के लिये अपने-अपने [(रथे)] रथों में (युञ्जन्ति) जोड़ें ॥

भावार्थ—ईश्वर उपदेश करता है कि—मनुष्य लोग जब तक भू जल आदि पदार्थों के गुण-ज्ञान और उनके उपकार-[ग्रहण से] भू जल और आकाश में जाने-आने के लिये अच्छी सवारियों को नहीं बनाते, तब तक उनको दृढ़ राज्य और धन आदि उत्तम सुख नहीं मिल सकते ॥

जरमन देश के रहनेवाले **मोक्षमूलर** साहब ने इस मन्त्र का विपरीत व्याख्यान किया है। सो यह है कि—'(अस्य) सर्वनामवाची इस शब्द के निर्देश से स्पष्ट मालूम होता है कि इस मन्त्र में इन्द्र देवता का ग्रहण है। क्योंकि लाल रंग के घोड़े इन्द्र ही के हैं। और यहां सूर्य्य तथा उषा का ग्रहण नहीं। क्योंकि प्रथम मन्त्र में एक घोड़े[1] का ही ग्रहण किया है।'

यह उनका अर्थ ठीक नहीं। क्योंकि 'अस्य' इस पद से भौतिक जो सूर्य्य और अग्नि हैं, इन्हीं दोनों का ग्रहण है, किसी देहधारी का नहीं। 'हरी' इस पद से सूर्य्य के धारण और आकर्षण गुणों का ग्रहण, तथा 'शोणा' इस शब्द से अग्नि की लाल लपटों का ग्रहण होता है। और पूर्व मन्त्र में एक 'ब्रध्न'[2] का ग्रहण जाति के अभिप्राय से अर्थात् एकवचन से ब्रध्न[2] जाति का ग्रहण होता है। और 'अस्य' यह शब्द प्रत्यक्ष अर्थ का वाची होने से [पूर्वमन्त्र में ब्रध्न पद से कहे गये] सूर्य्यादि प्रत्यक्ष पदार्थों का ग्राहक होता है, इत्यादि हेतुओं से मोक्षमूलर साहब का अर्थ सच्चा नहीं ॥ २ ॥



येनेमे पदार्था उत्पादिताः स कीदृश इत्युपदिश्यते—

के॒तुं कृ॒ण्वन्न॑के॒तवे॒ पेशो॑ मर्या अपे॒शसे॑। समु॒षद्भि॑रजायथाः ॥३॥

के॒तुम्। कृ॒ण्वन्। अ॒के॒तवे॑। पेशः॑। म॒र्याः॒। अ॒पे॒शसे॑॥ सम्। उ॒षत्ऽभिः॑। अ॒जा॒य॒थाः॒ ॥३॥

पदार्थः—(**केतुम्**) प्रज्ञानम्। केतुरिति प्रज्ञानामसु पठितम्। निघं० ३। ९। (**कृण्वन्**) **कुर्वन् सन्। 'इदं कृवि हिंसाकरणयोश्च इत्यस्य रूपम्। (अकेतवे) अज्ञानान्धकारविनाशाय'[3] (पेशः)**

---

१. मोक्षमूलर ने एकवचनान्त 'ब्रध्न' का अर्थ अश्व किया है। इस दृष्टि से यहां एक 'अश्व' का निर्देश है।

२. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'अश्व' छपा है, वह अशुद्ध है। क्योंकि ऋ० द० ने पूर्व मन्त्र में अश्व अर्थ का खण्डन किया है।

३. इदमभिप्रायनिदर्शनमात्रम्, नार्थनिदर्शनपरम्। अर्थस्त्वस्य—'अविद्यमानप्रज्ञाय जनाय' इत्येवं ज्ञेयः। द्र०—ग्रन्थकारीये यजुर्वेदभाष्ये २९।३७ मन्त्रव्याख्याने।

हिरण्यादिधनं श्रेष्ठं रूपं वा। पेश इति हिरण्यनामसु पठितम्। निघं० १। २। रूपनामसु च। निघं० ३। ७। (**मर्य्याः**) **मरणधर्मशीला मनुष्याः, तत्संबोधने।** मर्य्या इति मनुष्यनामसु पठितम्। निघं० २। ३। (**अपेशसे**) **निर्धनतादारिद्र्यादिदोषविनाशाय**[1] (**सम्**) **सम्यगर्थे** (**उषद्भिः**) **ईश्वरादिपदार्थविद्याः कामयमानैर्विद्वद्भिः सह समागमं कृत्वा**[2] (**अजायथाः**) **एतद्विद्या-प्राप्त्या प्रकटो भव**[3]। **अत्र लोडर्थे लङ्** ॥ ३ ॥

अन्वयः—हे मर्य्याः! **यो जगदीश्वरोऽ**केतवे केतुमपेशसे पेशः कृण्वन् **सन् वर्त्तते, तं सर्वा विद्याश्च समुषद्भिः सह समागमं कृत्वा यूयं यथावद्विजानीत। तथा हे जिज्ञासो मनुष्य! त्वमपि तत्समागमेनाऽजायथा एतद्विद्याप्राप्त्या प्रसिद्धो भव**[3] ॥ ३ ॥

भावार्थः—मनुष्यै रात्रेश्चतुर्थे प्रहर आलस्यं त्यक्त्वोत्थायाज्ञानदारिद्र्यविनाशाय नित्यं प्रयत्नवद्भिर्भूत्वा[4] **परमेश्वरस्य ज्ञानं पदार्थेभ्य उपकारग्रहणं च कार्य्यमिति**[5] ॥ ३ ॥

'**यद्यपि** मर्य्या **इति विशेषतयाऽत्र कस्यापि नाम न दृश्यते, तदप्यत्रेन्द्रस्यैव ग्रहणमस्तीति निश्चीयते। हे इन्द्र! त्वं प्रकाशं जनयसि, यत्र पूर्वं प्रकाशो नाभूत्।' इति मोक्षमूलरकृतोऽर्थो-ऽसङ्गतोऽस्ति। कुतः? मर्य्या इति मनुष्यनामसु पठितत्वात्** (निघं० २। ३)। '**अजायथा इति लोडर्थे लङ् विधानेन मनुष्यकर्तृकत्वेन पुरुषव्यत्ययेन प्रथमार्थे मध्यमविधानादिति** ॥ ३ ॥

जिसने संसार के सब पदार्थ उत्पन्न किये हैं, वह कैसा है, यह बात अगले मन्त्र में प्रकाशित की है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (मर्य्याः) मनुष्य लोगो! जो परमात्मा (अकेतवे) अज्ञानरूपी

---

१. इदमप्यभिप्रायप्रदर्शनपरमेव। पदार्थस्त्वस्य—'अविद्यमानं पेशः सुवर्णं रूपो वा यस्य तस्मै। अत्राऽपि यजुर्भाष्यं (२९।३७) द्रष्टव्यम्।

२. 'सह समागमं कृत्वा' इत्यध्याहृतानि पदानि। वस्तुतस्त्वेतानि नात्रावश्यकानि, अन्वय एवैषामुप-योगस्थानम्। तत्र च पठ्यन्त एव।

३. अस्य मन्त्रस्य व्याख्यानान्ते मोक्षमूलरीयार्थप्रत्याख्याने 'पुरुषव्यत्ययेन प्रथमार्थे मध्यमविधानात्' इत्युक्तम्। अस्यैव सूक्तस्य षष्ठमन्त्रपदार्थे '(अविन्दः) लभते, पूर्ववदत्र पुरुषव्यत्ययः' इतिवचनाच्च प्रतीयते यदत्र प्रथमं 'प्रकटो भवति' इति पाठ आसीत्। स च शोधनावसरे परिमृज्य 'प्रकटो भव' इत्येवं रूपेण परिणीतः। पूर्वनिर्दिष्टयोर्द्वयोरपि स्थानयोः पाठशोधनं नाभूत्, इति कृत्वा विरोध इहापतति। अस्मन्मते तु पूर्वसङ्केतितावुत्तरत्राऽपि निष्प्रयोजनौ। 'पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति' इति तु नात्र शक्यं वक्तुम्। एकस्य प्रथमपुरुषरूपस्यार्थस्य भूतपूर्वत्वात्, विद्यमानार्थस्य च सशोधन विहितत्वात्। पक्षान्तराश्रयणं तु तत्रैव भवति, यत्रोभौ पक्षौ समानबलौ भवतः।

४. वै० य० मुद्रिते 'प्रयत्नवन्तो भूत्वा' इत्यपपाठः। क. कोशे तु 'प्रयत्नो विधेयः' पाठ उपलभ्यते।

५. अत्रेदं मनुवचनमनुसन्धेयम्—

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्। कायक्लेशांश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च ॥४।९२॥

६. अस्मन्मते 'अजायथा इति ··विधानादिति' पंक्तिरत्र निष्प्रयोजना। सत्यां चास्यां पदार्थान्वयास्यां विरोधोऽप्यापतति। विशेषस्त्वास्मिन्नेव पृष्ठे यतीयटिप्पण्यां द्रष्टव्यः।

अन्धकार के विनाश के लिये (केतुम्) उत्तम ज्ञान, और (अपेशसे) निर्धनता दारिद्रय तथा कुरूपता के विनाश के लिये (पेशः) सुवर्ण आदि धन और श्रेष्ठ रूप को (कृण्वन्) उत्पन्न करता है, उसको तथा सब विद्याओं को (समुषद्भिः) जो ईश्वर की आज्ञा के अनुकूल वर्त्तनेवाले हैं, उनसे मिलकर जानो। तथा हे जानने की इच्छा करनेवाले मनुष्य! तू भी उस परमेश्वर के समागम से (अजायथाः) इस विद्या को यथावत् प्राप्त हो ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को प्रति रात्रि के चौथे प्रहर में आलस्य छोड़कर फुरती से उठकर अज्ञान और दरिद्रता के विनाश के लिये प्रयत्नवाले होकर, तथा परमेश्वर के ज्ञान और संसारी पदार्थों से उपकार लेने के लिये उत्तम उपाय सदा करना चाहिये ॥ ३ ॥

'यद्यपि मर्य्याः इस पद से किसी का नाम नहीं मालूम होता, तो भी यह निश्चय करके जाना जाता है कि इस मन्त्र में 'इन्द्र' का ही ग्रहण है कि—हे इन्द्र! तू वहां प्रकाश करनेवाला है, कि जहां पहिले प्रकाश नहीं था।' यह मोक्षमूलरजी का अर्थ असङ्गत है। क्योंकि 'मर्य्याः' यह शब्द मनुष्य के नामों में निघण्टु में पढ़ा है। तथा 'अजायथाः' यह प्रयोग पुरुषव्यत्यय से प्रथम पुरुष[1] के स्थान में मध्यम पुरुष का प्रयोग किया है ॥ ३ ॥



अथ मरुतां कर्मोपदिश्यते—

आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे । दधाना नाम यज्ञियम् ॥ ४ ॥

आत् । अह । स्वधाम् । अनु । पुनः । गर्भऽत्वम् । आऽईरिरे ॥ दधानाः । नाम । यज्ञियम् ॥४॥

पदार्थः—(**आत्**) आनन्तर्य्यार्थे (**अह**) विनिग्रहार्थे । अह इति विनिग्रहार्थीयः । निघं० १।५। (**स्वधाम्**) उदकम् । स्वधेत्युदकनामसु पठितम् । निघं० १।१२। (**अनु**) वीप्सायाम् (**पुनः**) पश्चात् (**गर्भत्वम्**) गर्भस्याधिकरणा वाक् तस्या भावस्तत् (**एरिरे**) समन्तात् प्राप्नुवन्तः । 'ईर गतौ कम्पने च' इत्यस्यामन्त्रे[2] इति प्रतिषेधादामोऽभावे प्रयोगः ।

१. यह पाठ संस्कृत-पदार्थ अन्वय तथा भावार्थ से विरुद्ध है। क्योंकि वहां 'अजायथाः' का मध्यम पुरुष में ही अर्थ दर्शाया है। प्रतीत होता है पहले संस्कृत पदार्थ में 'अजायथाः' का अर्थ 'प्रकटो भवति'= 'प्रकट होता है' ऐसा किया होगा। उसी के अनुसार यह पङ्क्ति तथा अगले पांचवें मन्त्र के पदार्थ में '(अविन्दः) लभते। पूर्ववदत्र पुरुषव्यत्ययः' लिखा है। उससे भी विदित होता है कि यहां 'अजायथाः' का अर्थ पहले 'प्रकटो भवति' किया गया था। यहां संशोधन-काल में पाठ बदल दिया, परन्तु प्रकृतपंक्ति और पांचवें मन्त्र की पंक्ति पूर्वपाठानुसार बनी रह गई। अतः यह पंक्ति यहां युक्त प्रतीत नहीं होती। विशेष संस्कृत टिप्पणी में लिख दिया है। द्र०—पृ० ५२१, टि० ३, ६।

२. 'कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि' (अ० ३।१।३५) सूत्रे इति शेषः। 'सुपश्चपश्यताहै पूजायाम्' (अ० ८।१।३९) इति निघाताभावे इरचः चित्त्वादन्तोदात्तत्वे 'उदात्तगतिमता च तिङा' (अ० २।२।१८ वा०) इत्यनेन आङा सह समासे 'तिङि चोदात्तवति' (अ० ८।१।७१) इत्यनेन गतिरनुदात्तः।

(दधानाः) सर्वधारकाः (नाम) उदकम् । नामेत्युदकनामसु पठितम् । निघं० १ । १२ । (यज्ञियम्) यज्ञकर्मार्हतीति यज्ञियो देशस्तम् । तत्कर्मार्हतीत्युपसंख्यानम् । अ० ५ । १ । ७२ इति वार्तिकेन घः प्रत्ययः ।। ४ ।।

अन्वयः—यथा मरुतो यज्ञियं नाम दधानाः सन्तो यदा स्वधामन्वप्सु पुनर्गर्भत्वमेरिरे, तथा आत् अनन्तरं वृष्टिं कृत्वा पुनर्जलानामहेति विनिग्रहं कुर्वन्ति ।। ४ ।।

भावार्थः—यज्जलं सूर्याग्निभ्यां लघुत्वं प्राप्य कणीभूतं जायते, तद्धारणं घनाकारं [च] कृत्वा मरुत एव वर्षयन्ति, तेन सर्वपालनं सुखं च जायते ।।

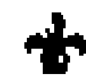
'तदनन्तरं मरुतः स्वस्वभावानुकूल्येन बालकाकृतयो जाताः । यैः स्वकीयं शुद्धं नाम रक्षितम् ।' इति मोक्षमूलरोक्तिः 'प्रणाय्यास्ति[1] । कस्मात् ? न[2] खल्वत्र बालकाकृतिशुद्धनामरक्षणयोरविद्यमानत्वेनेन्द्रसंज्ञिकानाम् मरुतां सकाशादन्यार्थस्य ग्रहणं संभवत्यतः ।। ४ ।।

अगले मन्त्र में वायु के कर्मों का उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—जैसे ही वायु (यज्ञियम्) यज्ञकर्म के योग्य देश और (नाम) जल को (दधानाः) सर्वतः धारण किये हुए [जब] (स्वधामनु) जलों में (पुनः) फिर-फिर (गर्भत्वम्) उनके समूहरूपी गर्भ को (एरिरे) सब प्रकार से प्राप्त होते हैं, तैसे ही (आत्) उसके उपरान्त वर्षा करके वार-वार जलों को [(अह) आकाश में] चढ़ाते और वर्षाते हैं ।।४।।

भावार्थ—जो जल सूर्य्य वा अग्नि के संयोग से छोटा-छोटा हो जाता है, उसको धारण कर और मेघ के आकार का बनाके वायु ही उसे फिर-फिर वर्षाता है । उसी से सब का पालन और सब को सुख होता है ।।

'इसके पीछे वायु अपने स्वभाव के अनुकूल बालक के स्वरूप में बन गये, और अपना नाम पवित्र रख लिया ।' देखिये मोक्षमूलर साहब का किया अर्थ मन्त्रार्थ से विरुद्ध है । क्योंकि इस मन्त्र में बालक बनना और अपना पवित्र नाम रखना, यह बात ही नहीं है । यहां इन्द्र नामवाले वायु का ही ग्रहण है, अन्य किसी का नहीं ।। ४ ।।



तैः सह सूर्य्यः किं करोतीत्युपदिश्यते—

वीळु चिदारुजत्नुभिर्गुहा चिदिन्द्र वह्निभिः । अविन्द उस्रिया अनु ।। ५ ।।

वीळु । चित् । आरुजत्नुऽभिः । गुहा । चित् । इन्द्र । वह्निऽभिः ।। अविन्दः । उस्रियाः । अनु ।।५।।

पदार्थः—(वीळु) दृढं बलम् । वीळु इति पदनामसु पठितम् । निघं० २ । ९ । (चित्) उपमार्थे । [चिदित्युपमार्थे ।]निरु० १ । ४ । (आरुजत्नुभिः) समन्ताद् भञ्जद्भिः । आङ्पूर्वाद् रुजो

---

१. असम्मतेत्यर्थः । द्र०—'प्रणाय्योऽसम्मतौ' (अ० ३।१।१२८) ।

२. अस्य 'न' पदस्य वाक्यान्ते वर्तमानया 'सम्भवति' क्रियया सह सम्बन्धः ।

भञ्जे इत्यस्माद्धातोरौणादिकः [1]क्तनुच् प्रत्ययः । (गुहा) गुहायामन्तरिक्षे । सुपां सुलुग्० [अ० ७ । १ । ३९] इति ङेर्लुक् । गुहा गूहतेः । निरु० १३ । ८ । (चित्) एवार्थे ।[2] (इन्द्र[3]) सूर्य्यः (वह्निभिः) वोढृभिर्मरुद्भिः सह । वहिश्रि[4]० । उ० ४ । ५१ इति वहेरौणादिको निः प्रत्ययः । (अविन्दः) लभते । [5]पूर्ववद् अत्र पुरुषव्यत्ययः, लडर्थे लङ्[6] च । (उस्रियाः) किरणाः । [7]अत्र इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम् (अ० ७।१।३९ वा०) इत्यनेन शसः स्थाने डियाजादेशः । उस्रेति रश्मिनामसु पठितम् । निघं० १ । ५ । (अनु) पश्चादर्थे ॥ ५ ॥

अन्वयः—चिद् यथा मनुष्याः स्वसमीपस्थान् पदार्थानुपर्य्यधश्च नयन्ति, तथा [चित्] एव [इन्द्र] इन्द्रोऽयं सूर्य्यो वीळु बलेनोस्रियाः क्षेपयित्वा पदार्थान् [अविन्दो] विन्दते । अनु पश्चात्ताम् भित्वाऽऽरुजत्नुभिर्वह्निभिर्मरुद्भिः सह [8]तमेतत्पदार्थसमूहं [गुहा] गुहायामन्तरिक्षे स्थापयति ॥ ५ ॥

अत्रोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—यथा बलवन्तो मरुतो दृढेन स्ववेगेन दृढानपि वृक्षादीन् भञ्जन्ति, तथा सूर्य्यस्तान्[9] अहर्निशं किरणैश्छिनत्ति, मरुतश्च तानुपर्य्यधो नयन्ति, एवमेवेश्वरनियमेन सर्वे पदार्था उत्पत्ति-विनाशावपि प्राप्नुवन्ति ॥

'हे इन्द्र ! त्वया तीक्ष्णगतिभिर्वायुभिः सह गूढस्थानस्था गावः प्राप्ता' इति मोक्षमूलर-

---

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'क्तनुः' इत्यपपाठः, प्रयोगासिद्धेः । बाहुलकादत्रौणादिकः 'क्तनुच्' प्रत्यय ऊहनीयः । चित्वादन्तोदात्तः ।

२. इतोऽग्रे वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'चिदिति पूजायाम् । निरु० १ । ४ ।' इत्यसम्बद्धः पाठ उपलभ्यते । इह भाष्यकारेण एवार्थो निर्दिष्टः ।

३. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु '(इन्द्रः)' सविसर्गोऽपपाठः ।

४. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'वहिश्रु' इत्यपपाठः ।

५. अत्र 'पूर्ववद्' इत्यसम्बद्धं पदम्, पूर्वत्र (मंत्र ४) पुरुषव्यत्ययस्यानुक्तत्वात् (द्र०—५२१ पृष्ठस्था टि ३) । न चातिदूरस्थस्यातिदेशः सम्भवति बुद्धौ व्यवधानात् ।

६. वै०य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'लोट् च' इत्यपपाठः, 'अविन्दः' लङो रूपत्वात् ।

७. यथाऽत्र निर्देशस्तथा भाष्यकार 'उस्रा' शब्दाद् 'डियाच्' आदेशं विधाय 'उस्रियाः' पदस्य साधुत्वं प्रतिपादयतीति प्रतीयते । 'डियाच्' आदेशे 'उस्रिया' इति तु सिध्यति, परन्त्वत्र 'उस्रियाः' इस सविसर्जनीयः पाठो वर्तते (एतादृश एवापलक्षणनिर्देशो भूमिकायाम् २३६ पृष्ठेऽप्युपलभ्यते, ४१७ पृष्ठे च पं० २३, डियाजादेशोद्धरणेऽपि दृश्यते) । वस्तुतस्त्वत्र 'उस्रा' शब्दात् स्वार्थे घच् प्रत्यय उपसंख्येयः (द्र०—भूमिका पृष्ठ २३६, टि० १) । यद्वा—'वस' धातोरौणादिको 'रियक्' प्रत्ययः कल्पनीयः । कित्वात् संप्रसारणम, बाहुलकादेव षत्वाभावश्च ।

८. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'त्वामेतत्' इत्यपपाठः ।

९. तान् संसारस्थान् पदार्थानित्यर्थः ।

व्याख्याऽसङ्गतास्ति। कुतः? उस्रेति रश्मिनामसु। निघण्टौ (१।५) पठितत्वेनात्रैतस्यार्थस्यैव[1] योग्यत्वात्। गुहेत्यनेन सर्वावरकत्वादन्तरिक्षस्यैव ग्रहणार्हत्वादिति ॥ ५ ॥

इत्येकादशो वर्गः समाप्तः ॥

उन पवनों के साथ सूर्य्य क्या करता है, सो अगले मन्त्र में उपदेश किया है—

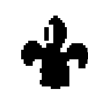
पदार्थान्वयभाषा—(चित्) जैसे मनुष्य लोग अपने पास के पदार्थों को उठाते [और] धरते हैं, वैसे (चित्) ही [(इन्द्र)] सूर्य्य भी (वीळु) दृढ़ बल से (उस्रियाः) अपनी किरणों करके संसारी पदार्थों को (अविन्दः) प्राप्त होता है। (अनु) उसके अनन्तर सूर्य्य उन को छेदन करके (आरुजत्नुभिः) भङ्ग करने, और (वह्निभिः) आकाश आदि देशों में पहुंचाने-वाले [(मरुद्भिः)] पवन के साथ ऊपर नीचे करता हुआ इस पदार्थसमूह को (गुहा) अन्तरिक्ष अर्थात् पोल में सदा रखता है ॥ ५ ।

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है।

भावार्थ—जैसे बलवान् पवन अपने [दृढ़] वेग से भारी-भारी दृढ़ वृक्षों को [भी] तोड़-फोड़ डालते, और उनको ऊपर-नीचे गिराते रहते हैं, वैसे ही सूर्य्य भी अपनी किरणों से उनका छेदन करता रहता है, और मरुत् उनको ऊपर-नीचे पहुंचाते हैं। इसी प्रकार ईश्वर के नियम से सब पदार्थ उत्पत्ति और विनाश को भी प्राप्त होते रहते हैं ॥

'हे इन्द्र ! तू शीघ्र चलनेवाले वायु के साथ अप्राप्त स्थान में रहनेवाली गौओं को प्राप्त हुआ।' यह भी **मोक्षमूलर** साहब की व्याख्या असङ्गत है। क्योंकि 'उस्रा' यह शब्द निघण्टु [१ । ५] में रश्मिनाम में पढ़ा है। इससे सूर्य की किरणों का ही ग्रहण होना योग्य है। तथा 'गुहा' इस शब्द से सबको ढांपनेवाला होने से अन्तरिक्ष का ग्रहण है ॥ ५ ॥

[यह ग्यारहवां वर्ग समाप्त हुआ ॥



पुनस्ते कीदृशा भवन्तीत्युपदिश्यते—

देवयन्तो यथा मतिमच्छा विदद्वसुं गिरः । महामनूषत श्रुतम् ॥ ६ ॥

देवऽयन्तः । यथा । मतिम् । अच्छ । विदत्ऽवसुम् । गिरः ॥ महाम् । अनूषत । श्रुतम् ॥ ६ ॥

पदार्थः—(देवयन्तः)[2] प्रकाशयन्त[3] आत्मनो[4] देवमिच्छन्तो[5] मनुष्याः (यथा) येन

१. इतोऽग्रे वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'अर्थस्य' इत्यधिकः पाठः। पुनरुक्तत्वादनावश्यकः।

२. 'देवयन्तः' इति 'पदं द्विधा सिध्यति। दिवु धातोर्ण्यन्ताच्छतरि; देवशब्दात् 'सुप आत्मनः क्यच्' (अ० ३।१।८) इति क्यचि शतरि च। तत्र क्यचि 'नच्छन्दस्यपुत्रस्य' (अ० ७।४।३५) इत्यनेन ईत्वदीर्घत्वयोः प्रतिषेधो भवति। स्वरस्तूभयथाऽपि समानः। ३. अयं प्रथमप्रक्रियायामर्थः।

४. यद्यपि व्याकरणशास्त्ररीत्या अयं पाठो युक्तस्तथाऽप्यर्थदृष्ट्या 'आत्मानं' पाठो युक्तः स्यात्। तथा सति क्यच् छान्दसो द्रष्टव्यः। ५. अयं द्वितीयप्रक्रियायामर्थः। रूपसिद्धिस्तु पूर्वमुक्ता।

प्रकारेण (मतिम्) बुद्धिम् (अच्छ) उत्तमरीत्या। निपातस्य च [अ० ६।३।१३५] इति दीर्घः। (विदद्वसुम्) विदद्भिः सुखज्ञापकैर्वसुभिर्युक्ताम् (गिरः) गृणन्ति ये ते गिरो विद्वांसः (महाम्) महतीम् (अनूषत) प्रशस्तां कुर्वन्ति। णू स्तवन इत्यस्य लुङ्प्रयोगः। 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः'[1] इति गुणाभावः, लडर्थे लुङ् च। (श्रुतम्) सर्वशास्त्रश्रवणकथनम् ।। ६ ।।

अन्वयः—यथा देवयन्तो गिरो विद्वांसो मनुष्या विदद्वसुं महां महतीं मतिं बुद्धिं श्रुतं वेदशास्त्रार्थयुक्तं श्रवणं कथनं चा[च्छा]नूषत प्रशस्तं[2] कुर्वन्ति, तथैव मरुतः स्ववेगादिगुणयुक्ताः सन्तो वाक्श्रोत्रचेष्टा महच्छिल्पकार्य्यं च प्रशस्तं साधयन्ति ।। ६ ।।

अत्रोपमालङ्कारः।

भावार्थः—मनुष्यैर्मरुतां सकाशाल्लोकोपकारार्थं विद्यावृद्ध्यर्थं च सदा प्रयत्नः कार्यः। येन सर्वे व्यवहाराः सिद्धेयुरिति ।। ६ ।।

'धर्मात्मभिर्गायनैर्मरुद्भिरिन्द्राय जयजयेति गिरः श्राविताः' इति मोक्षमूलरोक्तिरन्यथाऽस्ति। कुतः ? 'देवयन्तः' इत्यात्मनो[3] देवं विद्वांसमिच्छन्त इत्यर्थान्मनुष्याणामेव ग्रहणम् ।। ६ ।।

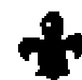
फिर वे पवन कैसे हैं, सो अगले मन्त्र में प्रकाश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—(यथा) जैसे (देवयन्तः)[4] प्रकाश करनेवाले, या अपने को देव बनाने की इच्छावाले (गिरः) विद्वान् मनुष्य (विदद्वसुम्) सुखकारक पदार्थविद्या से युक्त (महाम्) अत्यन्त बड़ी (मतिम्) बुद्धि, (श्रुतम्) सब शास्त्रों के श्रवण और कथन को (अच्छ) अच्छी प्रकार (अनूषत) उत्तम बनाते हैं, वैसे ही [5]मरुत् भी अपने वेगादि गुणों से युक्त होकर वाणी, श्रोत्र, चेष्टा और महान् शिल्प-कार्य को अच्छे प्रकार सिद्ध करते हैं ।। ६ ।।

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है।

भावार्थ—मनुष्यों को वायु के उत्तम गुणों का ज्ञान, [तथा उससे] सबका उपकार और विद्या की वृद्धि के लिये प्रयत्न सदा करना चाहिये। जिससे सब व्यवहार सिद्ध हों ।।

'गान करनेवाले धर्मात्मा जो मरुत् हैं, उन्होंने इन्द्र को ऐसी वाणी सुनाई कि तू जीत जीत।' यह भी मोक्षमूलर का अर्थ अच्छा नहीं। क्योंकि 'देवयन्तः' इस शब्द का अर्थ यह है कि—'अपने आपको देव बनाने की इच्छावाले'। इस अर्थ से मनुष्यों का ही ग्रहण होता है ।। ६ ।।



१. सीरदेवीयपरिभाषावृत्ति, सं० ७१।
२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'प्रशस्ते' अपपाठः। द्रष्टव्योऽत्र पदार्थः।
३. अत्र ५२५ पृष्ठस्था टि० ४ द्रष्टव्या।
४. इस पद का भाषार्थ वै० य० मुद्रित संस्करणों में संस्कृत पाठ से विपरीत था।
५. यहां से आगे का पाठ वै० य० मुद्रित सस्करणों में संस्कृत के अनुरूप नहीं था।

केन सहैते कार्य्यसाधका भवन्तीत्युपदिश्यते —

इन्द्रे॑ण॒ सं हि दृक्ष॑से संजग्मा॒नो अबि॑भ्युषा । म॒न्दू स॑मा॒नव॑र्चसा ॥ ७ ॥

इन्द्रे॑ण । सम् । हि । दृक्ष॑से । स॒म्ऽज॒ग्मा॒नः । अबि॑भ्युषा ॥ म॒न्दू इति॑ । स॒मा॒नऽव॑र्चसा ॥ ७ ॥

पदार्थः—(इन्द्रेण) परमेश्वरेण सूर्य्येण सह वा (सम्) सम्यक् (हि) निश्चये (दृक्षसे) दृश्यते । अत्र लडर्थे लेट्मध्यमैकवचनप्रयोगः । 'अनित्यमागमशासनम्'[1] इति वचनप्रामाण्यात् सृजिदृशोः० [अ० ६ । १ । ५८] इत्यम् न भवति । (सञ्जग्मानः) सम्यक् सङ्गतः (अबिभ्युषा) भयनिवारणहेतुना किरणसमूहेन वायुगणेन सह वा (मन्दू) आनन्दितावानन्दकारकौ । मन्दू इति पदनामसु पठितम् । निघं० ४ । १ । (समानवर्चसा) समानं तुल्यं वर्चो दीप्तिर्ययोस्तौ ॥

यास्काचार्येणायं मन्त्र एवं व्याख्यातः—इन्द्रेण सं हि दृश्यसे सञ्जग्मानो अबिभ्युषा[2] [···] गणेन मन्दू मदिष्णू युवां स्थोऽपि वा मन्दुना तेनेति स्यात् समानवर्चसेत्येतेन व्याख्यातम् । निरु० ४ । १२ ॥ ७ ॥

अन्वयः—अयं वायुरबिभ्युषेन्द्रणैव सञ्जग्मानः सन् तथा वायुना सह सूर्य्यश्च सङ्गत्य संदृक्षसे दृश्यते दृष्टिपथमागच्छति, हि यतस्तौ [समानवर्चसा] समानवर्चसौ वर्त्तेते, तस्मात् सर्वेषां [जीवानां] मन्दू भवतः ॥ ७ ॥

भावार्थः—ईश्वरेणाभिव्याप्य स्वसत्तया सूर्य्यवाय्वादयः सर्वे पदार्था उत्पाद्य धारिता वर्त्तन्ते । एतेषां मध्ये खलु सूर्यवाय्वोर्धारणाकर्षणप्रकाशयोगेन सह वर्त्तमानाः सर्वे पदार्थाः शोभन्ते । मनुष्यैरेते विद्योपकारं ग्रहीतुं योजनीयाः ॥

'इदं महदाश्चर्यं यद् बहुवचनस्यैकवचने[3] प्रयोगः कृतोस्तीति । यच्च निरुक्तकारेण द्विवचनस्य स्थान एकवचनप्रयोगः[4] कृतोऽस्त्यतोऽसङ्गतोऽस्ति ।' इति च मोक्षमूलरकल्पना सम्यङ् न वर्त्तते । कुतः ? व्यत्ययो बहुलम्[5]; सुप्तिङुपग्रह०[6] इति वचनव्यत्ययविधायकस्य शास्त्रस्य विद्यमानत्वात् । तथा निरुक्तकारस्य व्याख्यानं समञ्जसमस्ति । कुतः ? 'मन्दू' इत्यत्र सुपां सुलु०[7] इति पूर्वसवर्णादेशविधायकस्य शास्त्रस्य विद्यमानत्वात् ॥ ७ ॥

---

१. सीरदेवीय परिभाषावृत्ति, सं० ९८ ।

२. अत्र पाठभेदो दृश्यते । निरुक्तपाठस्त्वेवमस्ति—'इन्द्रेण हि संदृश्यसे संगच्छमानोऽबिभ्युषा गणेन ···।

३. मरुतां बहुत्वेऽपि 'दृक्षसे' इत्येकवचने प्रयोग इति भावः ।

४. 'मन्दू' इति द्विवचनस्य यास्केन अपि वा मन्दुना' इति पक्षान्तरे तृतीयैकवचनान्तेनार्थः प्रदर्शितः ।

५. अ० ३ । १ । ८५ ॥

६. सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च ।
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि सिध्यति बाहुलकेन ॥ महा० ३।१।८५ ॥

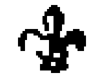
७. सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्याजालः । अ० ७ । १ । ३९ ॥

उक्त पदार्थ किसके सहाय से कार्य्य के सिद्ध करनेवाले होते हैं, सो अगले मन्त्र में प्रकाश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—यह वायु (अविभ्युषा) भय दूर करनेवाली (इन्द्रेण) परमेश्वर की सत्ता, तथा [सूर्य की किरणों के] साथ (संजग्मानः) अच्छे प्रकार प्राप्त हुआ (संदृक्षसे) अच्छी प्रकार दृष्टि में आता है। (हि) जिस कारण ये दोनों (समानवर्चसा) पदार्थों में समान बलवाले हैं, इसी से वे सब जीवों को (मन्दू) आनन्द के देनेवाले होते हैं ।। ७ ।।

भावार्थ—परमेश्वर ने अपनी व्याप्ति और सत्ता से सूर्य और वायु आदि समस्त पदार्थ उत्पन्न करके धारण किये हैं। इन सब पदार्थों में सूर्य और वायु के धारण, आकर्षण और प्रकाश के योग से सब पदार्थ सुशोभित होते हैं। मनुष्यों को चाहिये कि उन्हें पदार्थविद्या से उपकार लेने के लिये युक्त करें ॥

'यह बड़ा आश्चर्य है कि [वेद में] बहुवचन के स्थान में एकवचन का प्रयोग किया गया[1], तथा निरुक्तकार ने द्विवचन के स्थान में एकवचन का प्रयोग माना है[2], सो असंगत है' । यह भी **मोक्षमूलर** साहब की कल्पना ठीक नहीं। क्योंकि (व्यत्ययो ब०[3]) (सुप्तिङुपग्रह०[4]) व्याकरण के इस प्रमाण से वचनव्यत्यय होता है। तथा निरुक्तकार का व्याख्यान सत्य है। क्योंकि (सुपां सु०[5]) इस सूत्र से 'मन्दू' इस शब्द में तृतीया के एकवचन को पूर्वसवर्ण उकारादेश होकर उसे दीर्घ एकादेश हो गया है ।। ७ ।।



कथं पूर्वोक्तो नित्यवर्त्तमानो व्यवहारोऽस्तीत्युपदिश्यते—

अनवद्यैरभिद्युभिर्मखः सहस्वदर्चति । गणैरिन्द्रस्य काम्यैः ।। ८ ।।

अनवद्यैः । अभिद्युऽभिः । मखः । सहस्वत् । अर्चति ॥ गणैः । इन्द्रस्य । काम्यैः ॥ ८ ॥

पदार्थः—(**अनवद्यैः**) निर्दोषैः (**अभिद्युभिः**) **अभितः प्रकाशमानैः** (**मखः**) पालन-**शिल्पाख्यो यज्ञः**। मख इति यज्ञनामसु पठितम्। निघं० ३। १७। (**सहस्वत्**) **सहोऽति-शयितं सहनं विद्यते यस्मिन् तद् 'यथा स्यात्तथा। अत्रातिशये[7] मतुप्**। (**अर्चति**) **सर्वान्**

१. अर्थात् यहां मरुतों का प्रकरण है। अतः उनके बहुत होने से मन्त्र में बहुवचन का प्रयोग होना चाहिये। किन्तु मन्त्र में 'संदृक्षसे' एकवचनान्त प्रयोग है, यह मोक्षमूलर का भाव है।

२. यास्क ने निरुक्त ४।१२ में इस मन्त्र का अर्थ करते हुए 'मन्दू' का अर्थ 'मन्दुना' तृतीया के एकवचन में किया है। मोक्षमूलर 'मन्दू' को प्रथमा का द्विवचन मानता है।

३. व्यत्ययो बहुलम्। अ० ३।१।८५ ।। ४. पूरा पाठ गत पृष्ठ पर संस्कृत की टिप्पणी ५ में देखें।

५. पूरा पाठ गत पृष्ठ टि० ७ में देखें।

६. अत्र 'यथा स्यात्तथा' पाठोऽनावश्यकः। अन्वये त्वावश्यकः।

७. तदुक्तम्—'भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने।
संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः' ।। महा० ५।२।९४ ।।

पदार्थान् सत्करोति (गणैः) किरणसमूहैर्मरुद्भिर्वा (इन्द्रस्य) सूर्य्यस्य (काम्यैः) कामयितव्यैरुत्तमैः सह मिलित्वा ॥ ८ ॥

अन्वयः—अयं मख इन्द्रस्यानवद्यैरभिद्युभिः काम्यैर्गणैः सह सर्वान् पदार्थान् सहस्वद् [यथा स्यात् तथैव] अर्चति ॥ ८ ॥

भावार्थः—अयं सुखरक्षणप्रदो यज्ञः शुद्धानां [हव्यानां] द्रव्याणामग्नौ कृतेन होमेन संपादितो हि वायुकिरणशोधनद्वारा रोगविनाशनात् सर्वान् प्राणिनः सुखयित्वा बलवतः करोति ॥ ८ ॥

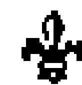
अत्र मोक्षमूलरेण मखशब्देन यज्ञकर्त्ता गृहीतस्तदन्यथास्ति। कुतः ? मखशब्देन यज्ञस्याभिधानत्वेन कमनीयैर्वायुगुणैः सूर्यकिरणसहितैः सह हुतद्रव्यवहनेन वायुवृष्टिजलशुद्धिद्वारेष्टसुखसम्पादनेन सर्वेषां प्राणिनां सत्कारहेतुत्वात्। यच्चोक्तं—मखशब्देन देवानां शत्रुर्गृह्यते तदप्यन्यथास्ति। कुतः ? तत्र मखशब्दस्योपमावाचकत्वात्[1] ॥ ८ ॥

पूर्वोक्त नित्य वर्तमान व्यवहार किस प्रकार से है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—जो यह (मखः) पालन और शिल्परूप यज्ञ है, वह (इन्द्रस्य) सूर्य्य की (अनवद्यैः) निर्दोष (अभिद्युभिः) सब ओर से प्रकाशमान, और (काम्यैः) प्राप्ति की इच्छा करने योग्य (गणैः) किरणों वा पवनों के साथ मिलकर सब पदार्थों को (सहस्वत्) जैसे दृढ़ होते हैं, वैसे ही (अर्चति) श्रेष्ठ गुणयुक्त करनेवाला होता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो [यह सुख देने और रक्षा करनेवाला] शुद्ध अत्युत्तम होम के योग्य पदार्थों के अग्नि में किये हुए होम से सिद्ध किया हुआ यज्ञ है, वह वायु और सूर्य्य की किरणों की शुद्धि के द्वारा रोगनाश करने के हेतु से सब जीवों को सुख देकर बलवान् करता है ॥

'यहां मखशब्द से यज्ञ करनेवाले का ग्रहण है, तथा देवों के शत्रु का भी ग्रहण है।' यह भी **मोक्षमूलर** साहब का कहना ठीक नहीं; क्योंकि जो 'मख' शब्द यज्ञ का वाची है, वह सूर्य्य की किरणों के सहित अच्छे-अच्छे वायु के गणों से हवन किये हुए पदार्थों को सर्वत्र पहुंचाता है। तथा वायु और वृष्टिजल की शुद्धि का हेतु होने से सब प्राणियों को सुख देनेवाला होता है। और मख शब्द के उपमावाचक[2] होने से देवों के शत्रु का भी ग्रहण नहीं [हो सकता] ॥ ८ ॥



अथ मरुतां गमनशीलत्वमुपदिश्यते—

अतः॑ परिज्म॒न्ना ग॑हि दि॒वो वा॑ रोच॒नादधि॑। सम॑स्मिन्नृञ्जते॒ गिरः॑ ॥ ९ ॥

अतः॑। प॒रि॒ऽज्म॒न्। आ। ग॒हि॒। दि॒वः। वा॒। रो॒च॒नात्। अधि॑॥ सम्। अ॒स्मि॒न्। ऋ॒ञ्ज॒ते॒। गिरः॑ ॥ ९ ॥

१. अत्र कदाचित् 'मखशब्दस्य यज्ञवाचकत्वात्' पाठो युक्तः स्यात्।
२. यहां 'मख शब्द के यज्ञवाचक होने से' पाठ युक्त प्रतीत होता है।

पदार्थः—(अतः) अस्मात् स्थानात् (परिज्मन्) परितः सर्वतो गच्छन्, उपर्य्यधः सर्वान् पदार्थानितस्ततः क्षेप्ता । अयमजधातोः प्रयोगः । श्वनुक्षन्०[1] । उ० १ । १५९ इति कनिन्प्रत्ययान्तो मुडागमेनाकारलोपेन च निपातितः । (आगहि) [2]गमयत्यागमयति वा । अत्र लडर्थे लोट्, पुरुषव्यत्ययेन गमेर्मध्यमपुरुषस्यैकवचने बहुलं छन्दसि [अ० २ । ४ । ७३] इति शपो लुक्, हेर्ङित्त्वाद् [3]अनुनासिकलोपश्च । (दिवः) प्रकाशात् (वा) पक्षान्तरे (रोचनात्) सूर्य्यप्रकाशाद् रुचिकरान्मेघमण्डलाद्वा (अधि) उपरि[4] (सम्) सम्यक् (अस्मिन्) बहिरन्तःस्थे मरुद्गणे (ऋञ्जते) प्रसाध्नुवन्ति । ऋञ्जतिः प्रसाधनकर्मा । निरु० ६ । २१ । (गिरः) वाचः ॥ ९ ॥

अन्वयः—यत्र गिरः समृञ्जते सोऽयं [परिज्मन्] परिज्मा वायुरतः पृथिवीस्थानाज्जलकणानध्यागह्युपरि गमयति । स पुनर्दिवो रोचनात् सूर्य्यप्रकाशान्मेघमण्डलाद्वा जलादिपदार्थाना-गह्यागमयति । अस्मिन् सर्वे पदार्थाः स्थितिं लभन्ते ॥ ९ ॥

भावार्थः—अयं बलवान् वायुर्गमनागमनशीलत्वात् सर्वपदार्थगमनागमनधारणशब्दोच्चारण-श्रवणानां हेतुरस्तीति ॥ ९ ॥

सायणाचार्य्येण परिज्मन्शब्दमुणादिप्रसिद्धमविदित्वा मनिन्प्रत्ययान्तो व्याख्यातो[5]ऽयमस्य भ्रमोऽस्तीति बोध्यम् ।

'हे इतस्ततो भ्रमणशील मनुष्याकृतिवद् देहधारिन्निन्द्र ! त्वं सन्मुखात् पार्श्वतो वा परिष्टाद्वास्मत्समीपमागच्छ, इयं सर्वेषां गायनानामिच्छास्ति' इति मोक्षमूलरव्याख्या विपरीतास्ति । कुतः ? अस्मिन्मरुद्गण इन्द्रस्य सर्वा गिर ऋञ्जते इत्यनेन शब्दोच्चारणव्यवहारप्रसाधकत्वेनात्र प्राणवायोरेव[6] ग्रहणात् ॥ ९ ॥

अगले मन्त्र में पवन के गमनस्वभावत्व का प्रकाश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—जिस वायु में [(गिरः)] वाणी का सब व्यवहार [(समृञ्जते)] सिद्ध होता है, वह (परिज्मन्) सर्वत्र गमन करता हुआ, सब पदार्थों को तले ऊपर पहुंचानेवाला पवन (अतः) इस पृथिवी-स्थान से जलकणों का ग्रहण करके (अध्यागहि) ऊपर पहुंचाता, और

१. भाष्यकारेण स्वीयोणादिकोशे 'परिज्वन्' पदं निपात्यते । अनेकासूणादिवृत्तिषु 'परिज्मन्' इत्यपि पठ्यते । २. 'गमयति' इत्ययं आकार पदपूरणो ज्ञेयः । अन्वये एकत्र गमयत्यर्थो गृहीतः, अपरत्र आगमयत्यर्थः । ३. 'अनुदात्तोपदेशवनति०' (अ० ६।४।३७) इत्यादिनेति शेषः । ४. वै. य मु 'उपरितः' पाठः ।

५. अपरा भ्रान्तिरपि सायणाचार्यस्यैतत्पदव्याख्याने द्रष्टव्या । स हि १।२०।३ मन्त्रव्याख्याने 'श्वन्नुक्षन्' सूत्रमद्धरन्नपि 'मन्प्रत्यये' निपातनमाह । अस्मिन् सूत्रे पूर्वस्मात् 'कनिन् युवृषि०' (उ० १।५६) सूत्रात् कनिन् प्रत्यय एवानुवर्तते न मन् (उ० १।१४०), मका (उ० १।१४५) कनिना च व्यवधानात् । अपि चात्र कथं चित् मनोऽनुवृत्तिः स्वीक्रियेत तर्ह्येतत् (=श्वन्नुक्षन्०) सूत्रस्थानामन्येषां शब्दानामन्वाख्यानं नोपपद्येत । तस्मात् ऋ० १ । २० । ३ मन्त्रव्याख्याने मन्प्रत्ययान्तनिपातनमपि भ्रान्तिमूलकमेव ।

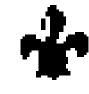
६. अत्र गिरः पदस्य प्राणिवागूरूपार्थं गृहीत्वेदं लिखितम् । पदार्थान्वययोस्तु शब्दमात्रार्थो गृहीतः ।

फिर (दिवः) सूर्य्य के प्रकाश से (वा) अथवा (रोचनात्) जोकि रुचि को बढ़ानेवाला मेघमण्डल है, उससे जल को गिराता हुआ पृथिवीतल पर पहुंचाता है। (अस्मिन्) इसी बाहिर और भीतर रहनेवाले पवन में सब पदार्थ स्थिति को प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ - यह बलवान् वायु अपने गमन आगमन गुण से सब पदार्थों के गमन आगमन धारण तथा शब्दों के उच्चारण और श्रवण का हेतु है ॥ ६ ॥

इस मन्त्र में **सायणाचार्य्य** ने जो उणादिगण (१ । १५६) में सिद्ध 'परिज्मन्' शब्द था उसे छोड़कर मनिन्प्रत्ययान्त कल्पना किया है, सो केवल उनकी भूल है।[1]

'हे इधर-उधर विचरनेवाले मनुष्यदेहधारी इन्द्र! तू आगे पीछे और ऊपर से हमारे समीप आ, यह सब गानेवालों की इच्छा है।' यह भी उन [**मोक्षमूलर साहब**] का अर्थ अत्यन्त विपरीत है, क्योंकि इस वायुसमूह में मनुष्यों की वाणीरूप शब्दों के उच्चारणव्यवहार के प्रसिद्ध होने से [यहां] प्राणरूप वायु का ग्रहण है॥ ६ ॥



इदानीं सूर्य्यकर्मोपदिश्यते—

इतो वा सातिमीमहे दिवो वा पार्थिवादधि । इन्द्रं महो वा रजसः ॥ १० ॥

इतः । वा । सातिम् । ईमहे । दिवः । वा । पार्थिवात् । अधि ॥ इन्द्रम् । महः । वा । रजसः ॥१०॥

पदार्थः—(**इतः**) **अस्मात्** (**वा**) **चार्थे** (**सातिम्**) संविभागं **कुर्वन्तम्**। **अत्र** ऊतियूतिजूतिसातिहेतिo । अ० ३ । ३ । ९७ **अनेनायं शब्दो निपातितः** । (**ईमहे**) **विजानीमः**। **अत्र** ईङ् **गतौ**, बहुलं छन्दसि [अ० २ । ४ । ७३] **इति शपो लुकि श्यनभावः**[2]। (**दिवः**) **प्रत्यक्षाग्नेः प्रकाशात्** (**वा**) **पक्षान्तरे, लोकलोकान्तरेभ्योऽपि** (**पार्थिवात्**) **पृथिवीसंयोगात्** । सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ । अ० ५ । १ । ४० **इति सूत्रेण**[3] **पृथिवीशब्दादञ् प्रत्ययः** । (**अधि**) **अधिकार्थे** (**इन्द्रम्**) **सूर्य्यम्** (**महः**) **महान्तम् अतिविस्तीर्णम्** (**वा**) पक्षान्तरे (**रजसः**) **पृथिव्यादिलोकेभ्यः**। लोका रजांस्युच्यन्ते । निरु० ४ । १९ ॥ १० ॥

अन्वयः—**वयमितः** पार्थिवाद्वा दिवो वा सातिं **कुर्वन्तं** रजसोऽधि [महो] **महान्तं** वेन्द्रमीमहे **विजानीमः** ॥ १० ॥

भावार्थः—सूर्य्यकिरणाः पृथिवीस्थान् जलादिपदार्थान् छित्त्वा लघून् संपादयन्ति । अतस्ते वायुना सहोपरि गच्छन्ति । किन्तु स[4] **सूर्य्यलोकः सर्वेभ्यो लोकेभ्यो महत्तमोऽस्तीति ॥ १० ॥**

---

१. सायणाचार्य ने ऋ० १।२०।३ के भाष्य में एक और भूल की है। द्र० पृ० ५३० टि० ५ ।

२. अत्र षष्ठीसमासः—'श्यनोऽभावः' इति भावः । अत्र भूमिकायां (पृष्ठ ४०८) सूत्रस्यास्य व्याख्यानं द्रष्टव्यम् ।

३. तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ (अ० ५ । १ । ३७) इत्यतः संयोगोत्पातयोरनुवृत्ताविह संयोगेऽर्थे प्रत्ययः ।

४. अत्र 'सः' पदस्य श्रवणाद् यत्तदोर्नित्यसम्बन्धाद् 'यस्य सूर्यस्य किरणाः··· सहोपरि गच्छन्ति स सूर्यलोकः' इत्येवं पाठः साधीयान् स्यात् ।

'वयमाकाशात् पृथिव्या उपरि वा महदाकाशात् सहायार्थमिन्द्रं प्रार्थयामहे' इति मोक्षमूलर-व्याख्याऽशुद्धास्ति । कुतः ? अत्र परिमाणे सर्वेभ्यो महत्तमस्य सूर्य्यलोकस्यैवाभिधान इन्द्रमीमहे' विजानीम इत्युक्तप्रामाण्यात् ॥ १० ॥

इन्द्रमरुद्भ्यो यथा पुरुषार्थसिद्धिः कार्य्या, ते जगति कथं वर्त्तन्ते, कथं च तैरुपकारसिद्धि-र्भवेदिति पञ्चमसूक्तेन सह षष्ठस्य सङ्गतिरस्तीति बोध्यम् ॥

अस्यापि सूक्तस्य मन्त्रार्थाः सायणाचार्य्यादिभिर्यूरोपाख्यदेशनिवासिभिर्विलसनाख्य-मोक्षमूलरादिभिश्चान्यथैव वर्णिता इति वेदितव्यम् ॥

इति षष्ठं सूक्तं द्वादशश्च वर्गः समाप्तः ॥

अगले मन्त्र में सूर्य्य के कर्म का उपदेश किया है —

पदार्थान्वयभाषा— हम लोग (इतः) इस (पार्थिवात्) पृथिवी के संयोग (वा) और (दिवः) इस अग्नि के प्रकाश (वा) लोकलोकान्तरों अर्थात् चन्द्र और नक्षत्रादि लोकों से भी (सातिम्) अच्छी प्रकार पदार्थों के विभाग [को] करते हुए (वा) अथवा (रजसः) पृथिवी आदि लोकों से [(अधि) अधिक] विस्तारयुक्त (इन्द्रम्) सूर्य्य को (ईमहे) जानते हैं ॥ १० ॥

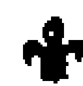
भावार्थ—सूर्य्य की किरण पृथिवी में स्थित हुए जलादि पदार्थों को भिन्न-भिन्न करके बहुत छोटे-छोटे कर देती है, इसी से वे पदार्थ पवन के साथ ऊपर को चढ़ जाते हैं, किन्तु वह सूर्य्य सब लोकों से बड़ा है ॥ १० ॥

'हम लोग आकाश पृथिवी तथा बड़े आकाश से सहाय के लिये इन्द्र की प्रार्थना करते हैं' यह भी डाक्टर मोक्षमूलर साहब की व्याख्या अशुद्ध है, क्योंकि सूर्य्यलोक सब से बड़ा है, और उसका आना-जाना अपने स्थान को छोड़के नहीं होता, ऐसा हम लोग जानते हैं ॥ १० ॥

सूर्य्य और पवन से जैसे पुरुषार्थ की सिद्धि करनी चाहिये, तथा वे लोक जगत् में किस प्रकार से वर्त्तते रहते हैं और कैसे उनसे उपकार की सिद्धि होती है, इन प्रयोजनों से पांचवें सूक्त के अर्थ के साथ इस छठे सूक्तार्थ की सङ्गति जाननी चाहिये ।

और सायणाचार्य्य आदि तथा यूरोपदेशवासी अङ्गरेज विलसन आदि लोगों ने भी इस सूक्त के मन्त्रों के अर्थ अशुद्ध वर्णन किये हैं ।

यह छठा सूक्त और बारहवां वर्ग समाप्त हुआ ॥



अथ दशर्चस्य सप्तमस्य सूक्तस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । इन्द्रो देवता । १, ३ ५–७ गायत्री; २, ४ निचृद्गायत्री; ८, १० पिपीलकामध्यानिचृद्गायत्री; ९ पादनिचृद्गायत्री च छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'सूर्यलोकस्यैवभिधानेनेन्द्रमीमहे' इत्ययुक्तः पाठः ।

अथेन्द्रशब्देनार्थत्रयम्[1] उपदिश्यते—

इन्द्र॒मिद्गा॒थिनो॑ बृ॒हदिन्द्र॑म॒र्केभि॑र॒र्किणः॑। इन्द्रं॒ वाणी॑रनूषत ॥ १ ॥

इन्द्र॑म्। इत्। गा॒थिनः॑। बृ॒हत्। इन्द्र॑म्। अ॒र्केभिः॑। अ॒र्किणः॑॥ इन्द्र॑म्। वाणीः॑। अ॒नू॒ष॒त॒ ॥ १ ॥

पदार्थः—(इन्द्रम्) परमेश्वरम् (इत्) एव (गाथिनः) गानकर्त्तारः (बृहत्) महान्तम्। अत्र सुपां सुलुग्० [अ० ७। १। ३९] इत्यमो लुक्। (इन्द्रम्) सूर्य्यम् (अर्कभिः) अर्चनसाधकैः सत्यभाषणादिभिः शिल्पविद्यासाधकैः कर्मभिर्मन्त्रैश्च। अर्क इति पदनामसु पठितम्। निघं० ४। २, अनेन प्राप्तिसाधनानि गृह्यन्ते। अर्को मन्त्रो भवति यदनेनार्चन्ति। निरु० ५। ४। अत्र बहुलं छन्दसि [अ० ७। १। १०] इति भिस ऐसादेशाभावः। (अर्किणः) विद्वांसः (इन्द्रम्) महाबलवन्तं वायुम् (वाणीः) वेदचतुष्टयीः (अनूषत) स्तुवन्तु। अत्र लोडर्थे लुङ्। 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः'[2] इति गुणादेशाभावः ॥ १ ॥

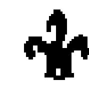
अन्वयः—ये गाथिनोऽर्किणो विद्वांसस्ते अर्कभिर्बृहत् महान्तमिन्द्रं परमेश्वरमिन्द्रं सूर्य्यमिन्द्रं वायुं वाणीश्च इद् एवानूषत यथावत् स्तुवन्तु ॥ १ ॥

भावार्थः—ईश्वर उपदिशति—मनुष्यैर्वेदमन्त्राणां विचारेणेश्वरसूर्य्यवाय्वादिपदार्थगुणान् सम्यग्विदित्वा सर्वसुखाय प्रयत्नत उपकारो नित्यं ग्राह्य इति ॥ १ ॥

अब सातवें सूक्त का आरम्भ है। इसमें प्रथम मन्त्र करके इन्द्र शब्द से तीन अर्थों का प्रकाश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—जो (गाथिनः) गान करनेवाले और (अर्किणः) विचारशील विद्वान् हैं, वे (अर्कभिः) सत्कार करने के पदार्थ सत्यभाषण शिल्पविद्या के सिद्ध करनेवाले कर्म और मन्त्र=विचार से (बृहत्) सबसे बड़े (इन्द्रम्) परमेश्वर (इन्द्रम्) सूर्य्य और (इन्द्रम्) महाबलवान् वायु और (वाणीः) चारों वेदों की वाणियों को (अनूषत) यथावत् स्तुति करें ॥१॥

भावार्थ—ईश्वर उपदेश करता है कि मनुष्यों के वेदमन्त्रों के विचार से परमेश्वर सूर्य्य और वायु आदि पदार्थों के गुणों को अच्छी प्रकार जानकर सब के सुख के लिये उनसे प्रयत्न के साथ उपकार लेना चाहिये ॥ १ ॥



[3]उक्तेषु त्रिषु प्रथमतो वायुसूर्य्यावुपदिश्येते—

इन्द्र॒ इद्धर्योः॒ सचा॒ सम्मि॑श्ल॒ आ व॑चो॒युजा॑। इन्द्रो॑ व॒ज्री हि॑र॒ण्ययः॑ ॥ २ ॥

इन्द्रः॑। इत्। हर्योः॑। सचा॑। संऽमि॑श्लः। आ। व॒चः॒ऽयुजा॑॥ इन्द्रः॑। व॒ज्री। हि॒र॒ण्ययः॑ ॥ २ ॥

---

१. अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते (निरु०१०।४२) इति वचनात् पुनरुक्तिदोषपरिहाराय चाऽत्र त्रयाणामिन्द्रपदानां त्रिविधोऽर्थः प्रदर्शितः। २. सीरदेवीय परिभाषावृत्ति मं० ७१।

३. प्रथममन्त्रोक्तेषु त्रिष्वर्थेषु द्वयमित्याशयः।

पदार्थः—(**इन्द्रः**) वायुः (**इत्**) एव (**हर्य्योः**) हरणाहरणगुणयोः (**सचा**) समवेतयोः (**संमिश्लः**) पदार्थेषु सम्यक् मिश्रो मिलितः सन्। संज्ञाछन्दसोर्वा कपिलकादीनामिति वक्तव्यम्। अ० ८।२।१८ अनेन [वार्तिकेन] रेफस्य लत्वादेशः। (**आ**) समन्तात् (**वचोयुजा**) वाणीर्योजयतोः[1]। अत्र सुपां सुलुग्० [अ० ७।१।३९] इति षष्ठीद्विवचनस्याकारादेशः। (**इन्द्रः**) सूर्य्यः (**वज्री**) वज्रः संवत्सरस्तापो वाऽस्यास्तीति सः। संवत्सरो हि वज्रः। श० ३।३।५।१५।[2] (**हिरण्ययः**) ज्योतिर्मयः। ऋत्व्यवास्त्व्य०। अ० ६।४।१७५ अनेन हिरण्यमयशब्दस्य[3] मलोपो निपात्यते। ज्योतिर्हि हिरण्यम्। श० ४।३।१।२१[4]॥ २॥

अन्वयः—यथाऽयं संमिश्ल इन्द्रो वायुः सचा सचयोर्वचोयुजा वचांसि 'योजयतोर्हर्य्योः[5] गमनागमनानि[6] [आ] युनक्ति, तथा इत् एव वज्री हिरण्यय इन्द्रः सूर्य्यलोकश्च॥ २॥

अत्र लुप्तोपमालङ्कारः।

भावार्थः—यथा वायुयोगेनैव वचनश्रवणव्यवहारसर्वपदार्थगमनागमनधारणस्पर्शाः सम्भवन्ति तथैव सूर्य्ययोगेन पदार्थप्रकाशनछेदने च[7]॥

'संमिश्लः' इत्यत्र सायणाचार्य्येण 'लत्वं छान्दसम्' इति वार्तिकमविदित्वा[8] व्याख्यातम्, तदशुद्धम्॥ २॥

पूर्व मन्त्र में इन्द्रशब्द से कहे हुए तीन अर्थों में से वायु और सूर्य्य का प्रकाश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—जिस प्रकार यह (संमिश्लः) पदार्थों के साथ मिलकर (इन्द्रः)

---

१. 'योजयतोः' युजेर्ण्यन्तात् शतृप्रत्ययान्तस्य षष्ठी द्विवचने रूपम्। अर्थप्रदर्शनपरोऽयं निर्देशः। णिजप्यत्र स्वार्थे द्रष्टव्यः। अन्यथा योजयतेः क्विपि णिलोपेऽपि प्रत्ययलक्षणेन गुणे 'युक्' इति न सिध्येत। विग्रहस्तु 'वचांसि यौ युङ्क्तस्तौ वचोयुजौ, तयोः। ओस आकारादेशे वचोयुजा। वै० य० मुद्रिते 'योजयितोः' इत्यपपाठः। २. अध्यायानुसारं श० ३।४।४।१५॥

३. हिरण्यशब्दात् प्राचुर्ये (अ० ५।४।२१)ऽर्थे उत्पन्नस्य मयटो मकारलोप इति भावः। मकार-लोपे शिष्टस्य प्रत्ययस्याजादित्वाद् भसंज्ञायां हिरण्यस्यान्त्यस्याकारस्य लोपे रूपं सिध्यति।

४. अध्यायानुसारं श० ४।३।४।२१॥

५. वै०य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'हूर्योर्या' इति पाठः। वाक्यादौ 'अयं' पदस्य निर्देशाद् 'यः' पदमत्र व्यर्थमनन्वितं च।

६. हरणाहरणयोरत्र गमनागमनशब्दाभ्यां निर्देशः। अस्यायं भावः—सर्वपदार्थेभ्यो योऽयं शब्द-उत्पद्यते तं वायुरेव ततो वीचितरङ्गन्यायेन हृत्वा श्रोतुः कर्णगह्वरं प्रापयति।

७. 'संभवतः' इत्यनुषङ्गो ज्ञेयः।

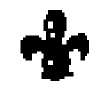
८. प्रत्यक्षे पूर्वनिर्दिष्टे वार्तिके विद्यमाने तदननुलिख्य 'लत्वं छान्दसम्' इति लेखनं वार्तिकस्यानु-स्मरणमूलकमज्ञानमत्राभिप्रेतम्। संयोगविभागाभ्यां वायौ वीचय उत्पद्यन्ते। ताश्चोत्तरोत्तरमन्या अन्या वीची-

ऐश्वर्य का हेतु स्पर्शगुणवाला वायु, अपने हरण और प्रापण[1] (सचा) सब में मिलनेवाले और (वचोयुजा) वाणी के व्यवहार को वर्त्तानेवाले (हर्य्योः) गुणों को (आ) युक्त करता है, वैसे [(इत्)] ही (वज्री) संवत्सर वा तापवाला (हिरण्ययः) प्रकाशस्वरूप (इन्द्रः) सूर्य्य भी अपने हरण और आहरण गुणों को सब पदार्थों में युक्त करता है ॥ २ ॥

इस मन्त्र में लुप्तोमालङ्कार है।

भावार्थ—जैसे वायु के योग से वचन श्रवण आदि व्यवहार तथा सब पदार्थों के गमन आगमन धारण और स्पर्श होते हैं, वैसे ही सूर्य्य के योग से पदार्थों के प्रकाश और छेदन भी होते हैं ॥ २ ॥

'संमिश्लः' इस शब्द में सायणाचार्य्य ने 'लकार का होना छान्दस' माना है, सो उनकी भूल है, क्योंकि **'संज्ञाछन्द०'**[2] इस वार्त्तिक से लकारादेश सिद्ध ही है ॥ २ ॥



अथ केन किमर्थः सूर्य्यलोको रचित इत्युपदिश्यते—

इन्द्रो॑ दी॒र्घाय॒ चक्ष॑स॒ आ सूर्यं॑ रोहयद् दि॒वि । वि गोभि॒रद्रि॒मैरयत् ॥ ३ ॥

इन्द्रः॑ । दी॒र्घाय॑ । चक्ष॑से । आ । सूर्य्य॑म् । रो॒ह॒य॒त् । दि॒वि ॥ वि । गोभिः॑ । अद्रि॑म् । ऐ॒र॒य॒त् ॥३॥

पदार्थः—(**इन्द्रः**) सर्वजगत्स्रष्टेश्वरः (**दीर्घाय**) महते निरन्तराय[3] (**चक्षसे**) दर्शनाय (**आ**) क्रियार्थे (**सूर्य्यम्**) प्रत्यक्षं सूर्य्यलोकम् (**रोहयत्**) उपरि स्थापितवान् (**दिवि**) प्रकाशनिमित्ते[4] (**वि**) विविधार्थे (**गोभिः**) रश्मिभिः । गाव इति रश्मिनामसु पठितम् । निघं० १ । ५ । (**अद्रिम्**)[5]

उत्पादयन्ति । यथा ह्रदे प्रक्षिप्ताल्लोष्ठात् प्रथमोत्पन्ना वीचिरन्यामुत्पादयति साप्यन्याम्, इत्येवं क्रमेण वीचयो ह्रदतटं प्राप्नुवन्ति ।

१. इसका भाव यह है कि किसी भी पदार्थ से जो शब्द उत्पन्न होता है, उसको वायु ही वहां से हरण करके श्रोता के कान तक पहुंचाता है। बिना वायु के यह कार्य सम्भव नहीं होता।

२. महा० ८ । २ । १८ ॥ ३. दीर्घायार्थान्निरन्तराय ।

४. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'प्रकाशनिमित्ते' अपपाठः । 'दिवि' इत्यत्र निमित्तार्थे सप्तमी । 'निमित्तात् कर्मसंयोगे सप्तमी वक्तव्या ।' अ० २।३।३६ वा० । यथा 'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम्' इति । चर्मनिमित्तं द्वीपिनं दन्तनिमित्तं च हस्तिनं हन्तीत्यर्थः । एवं मन्त्रेऽपि 'दिवि सूर्यम् आरोहयत्' प्रकाशनिमित्तं सूर्यं [लोकानां मध्ये] स्थापितवान् इत्यर्थः ।

५. यद्यत्र प्रकृतौ विकृतिशब्दो (यथा—सुवर्णं धारयति=सुवर्णविकारं कुण्डलादिकं धारयति) विज्ञायेत, तर्हि 'अद्रि' शब्दस्यार्थो जलं ग्रहीतुं शक्यते । तथा सत्यस्य मन्त्रस्यार्थः स्पष्टतरो जायते । सूर्य एव स्वकिरणैर्जलमुपरि नयति, वर्षाकाले च पुनः पातयति । तथा च मन्त्रवर्णः—'कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति । त आववृत्रन् सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥' ऋ० १।१६४।४७ ॥ अयमेवार्थो निरुक्तकृता व्याख्यातः—ते (हरणा आदित्यरश्मयः) यदामुतोऽर्वाञ्चः पर्यावर्तन्ते सहस्थानाद्-उदकस्यादित्याद् अथ घृतेनोदकेन पृथिवी व्युद्यते । निरुक्त ७ । २४ ॥

मेघम् । अद्रिरिति मेघनामसु पठितम् । निघं० १ । १० । (ऐरयत्) [1]व्यैरयत् वीरयत्यूर्ध्वमधो गमयति । अत्र लडर्थे [2]लङ् ॥ ३ ॥

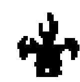
अन्वयः—इन्द्रः सृष्टिकर्त्ता जगदीश्वरो दीर्घाय चक्षसे यं सूर्य्यलोकं दिव्यारोहयत्, सोऽयं गोभिरद्रिं [व्यैरयत्] वीरयति ॥ ३ ॥

भावार्थः—सृष्टिमिच्छतेश्वरेण सर्वेषां लोकानां मध्ये दर्शनधारणाकर्षणप्रकाशप्रयोजनाय प्रकाशरूपः सूर्य्यलोकः स्थापितः । एवमेवायं प्रतिब्रह्माण्डं नियमो वेदितव्यः । स प्रतिक्षणं जलमूर्ध्वमाकृष्य वायुद्वारोपरि स्थापयित्वा पुनः पुनरधः प्रापयति, इदमेव वृष्टेर्निमित्तमिति ॥३॥

इसके अनन्तर किसने किसलिये सूर्य्यलोक बनाया है, सो अगले मन्त्र में प्रकाश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—जो (इन्द्रः) सब संसार का बनानेवाला परमेश्वर है, उसने (दीर्घाय) निरन्तर अच्छो प्रकार (चक्षसे) दर्शन के लिये (दिवि) सब पदार्थों के प्रकाश होने के निमित्त लोकों के बीच में जिस (सूर्य्यम्) प्रसिद्ध सूर्यलोक को आरोहयत् स्थापित किया है, वह अपनी (गोभिः) किरणों के द्वारा (अद्रिम्) मेघ को वर्षा होने के लिये (व्यैरयत्) अनेक प्रकार से से ऊपर नीचे करता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—रचने की इच्छा करनेवाले ईश्वर ने सब लोकों [के मध्य] में दर्शन धारण आकर्षण [प्रकाश] आदि प्रयोजनों के लिये प्रकाशरूप सूर्यलोक को स्थापित किया है, इसी प्रकार यह हर एक ब्रह्माण्ड का नियम है। वह क्षण-क्षण में जल को ऊपर खींच करके पवन के द्वारा ऊपर स्थापन करके वार-वार संसार में वर्षाता है, इसी से यह वर्षा का कारण है ॥३॥



इन्द्रशब्देन व्यावहारिकमर्थमुक्त्वाऽथेश्वरार्थमुपदिश्यते—

इन्द्र वाजेषु नोऽव सहस्रप्रधनेषु च । उग्र उग्राभिरूतिभिः ॥ ४ ॥

इन्द्र । वाजेषु । नः । अव । सहस्रऽप्रधनेषु । च ॥ उग्रः । उग्राभिः । ऊतिऽभिः ॥ ४ ॥

पदार्थः—(इन्द्र) परमैश्वर्य्यप्रदेश्वर ! (वाजेषु) संग्रामेषु । वाज इति संग्रामनामसु पठितम् । निघं० २ । १७ । (नः) अस्मान् (अव) रक्ष (सहस्रप्रधनेषु) सहस्राण्यसंख्यातानि प्रकृष्टानि धनानि प्राप्नुवन्ति येषु तेषु चक्रवर्तिराज्यसाधकेषु महायुद्धेषु । सहस्रमिति बहुनामसु पठितम् । निघं० ३ । १ । (च) आवृत्त्यर्थे (उग्रः) सर्वोत्कृष्टः । ऋज्रेन्द्राग्र० । उ० २ । २९ निपातनम् । (उग्राभिः) अत्यन्तोत्कृष्टाभिः (ऊतिभिः) रक्षाप्राप्तिविज्ञानसुखप्रवेशनैः ॥ ४ ॥

1. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'वीरयत्' इत्यपपाठः । 'व्यैरयत्' इत्यत्र मन्त्रपठितं 'वि' पदं सयोज्य पदं निदर्शितम् । 2. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'लुङ्' इत्यपपाठः, लुङि 'ऐरयत्' प्रयोगस्यासंभवात् ।

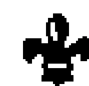
अन्वयः—हे [इन्द्र] जगदीश्वर! उग्रो भवान् [सन्] सहस्रप्रधनेषु वाजेषूग्राभिरूतिभिर्नो [ऽव] रक्ष, सततं विजयं च प्रापय ॥ ४ ॥

भावार्थः—परमेश्वरो धार्मिकेषु योद्धृषु कृपां धत्ते, नेतरेषु। ये मनुष्या जितेन्द्रिया विद्वांसः पक्षपातरहिताः शरीरात्मबलोत्कृष्टा अनलसाः सन्तो धर्मेण महायुद्धानि विजित्य राज्यं नित्यं रक्षन्ति, त एव महाभाग्यशालिनो भूत्वा सुखिनो भवन्ति ॥ ४ ॥

इन्द्र शब्द से व्यवहार [सम्बन्धी अर्थ] को दिखलाकर, अब प्रार्थनारूप से अगले मन्त्र में परमेश्वरार्थ का प्रकाश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (इन्द्र) परमैश्वर्य्य देनेवाले जगदीश्वर! आप (उग्रः) सब प्रकार से अनन्त पराक्रमवान् होने से (सहस्रप्रधनेषु) असंख्यात धन को देनेवाले चक्रवर्त्ति राज्य को सिद्ध करानेवाले (वाजेषु) महायुद्धों में (उग्राभिः) अत्यन्त सुख देनेवाली (ऊतिभिः) उत्तम-उत्तम पदार्थों की प्राप्ति, तथा पदार्थों के विज्ञान और आनन्द में प्रवेश कराने [वाली नीतियों] से [(नः)] हम लोगों की (अव) रक्षा कीजिये, [(च) और सतत विजय को प्राप्त कराइये] ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर का यह स्वभाव है कि युद्ध करनेवाले धर्मात्मा पुरुषों पर अपनी कृपा करता है, और अधर्मात्माओं पर नहीं। इसी से जो मनुष्य जितेन्द्रिय विद्वान् पक्षपात को छोड़नेवाले शरीर और आत्मा के बल से अत्यन्त पुरुषार्थी, तथा आलस्य को छोड़े हुए, धर्म से बड़े-बड़े युद्धों को जीतके प्रजा का निरन्तर पालन करते हैं, वे ही महाभाग्य को प्राप्त होके सुखी रहते हैं ॥ ४ ॥



पुनरीश्वरसूर्यवायुगुणा[1] उपदिश्यन्ते—

इन्द्रं॑ व॒यं म॑हाध॒न इन्द्र॒मर्भे॑ हवामहे। युजं॑ वृ॒त्रेषु॑ व॒ज्रिण॑म् ॥ ५ ॥

इन्द्र॑म्। व॒यम्। म॒हा॒ऽध॒ने। इन्द्र॑म्। अर्भे॑। ह॒वा॒म॒हे॒॥ यु॒ज॑म्। वृ॒त्रेषु॑। व॒ज्रिण॑म् ॥ ५ ॥

पदार्थः—(इन्द्रम्) सर्वज्ञं सर्वशक्तिमन्तमीश्वरम् (वयम्) मनुष्याः (महाधने) महान्ति धनानि यस्मात्तस्मिन् संग्रामे। महाधन इति संग्रामनामसु पठितम्। निघं० २। १७। (इन्द्रम्) सूर्य्यं वायुं वा (अर्भे) स्वल्पे युद्धे (हवामहे) आह्वयामहे स्पर्धामहे वा। ह्वेञ्धातोरिदं लेटो रूपम्। बहुलं छन्दसि। अ० ६। १। ३४ अनेन सम्प्रसारणम्। (युजम्) युनक्तीति युक्, तम् (वृत्रेषु) मेघावयवेषु[2]। वृत्र इति मेघनामसु पठितम्। निघं० १। १०। (वज्रिणम्) किरणवन्तं जलवन्तं वा। वज्रो वै भ्रान्तः। श० ८। २। ४। १०[3]। अनेन प्रकाशरूपाः किरणा गृह्यन्ते। वज्रो वा आपः। श० ७। ४। २। ४१[4] ॥ ५ ॥

---

१. द्वितीयचरणे पठितेनेन्द्रशब्देन वायुसूर्यौ गृह्येते। अतोऽत्र सामान्येन त्रयाणां निर्देशः कृतः।

२. लौकिके युद्धे वृत्रशब्देन शत्रवो ग्राह्याः। ३. अध्यायानुसारं श० ८। ४। १। १० ॥

४. अध्यायानुसारं श० ७। ५। २। ४१ ॥

अन्वयः—वयं महाधने इन्द्रं परमेश्वरं हवामहे, अर्भेऽल्पे चाप्येवं वज्रिणं वृत्रेषु युजमिन्द्रं सूर्य्यं वायुं च हवामहे स्पर्धामहे ॥ ५ ॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ।[1]

भावार्थः—यत्र महदल्पं वा युद्धं प्रवर्त्तते, तत्र तत्र सर्वतः स्थितं परमेश्वरं रक्षकं मत्वा दुष्टैः सह धर्मेणोत्साहेन च युद्ध आचरिते सति मनुष्याणां ध्रुवो विजयो जायते। तथा [2]सूर्य्यवायुनिमित्तेनापि खल्वेतत्सिद्धिर्जायते । यथेश्वरेणैताभ्यां[3] निमित्तीकृताभ्यां वृष्टिद्वारा संसारस्य महत्सुखं साध्यते, एवं मनुष्यैरेतन्निमित्तैरेव कार्य्यसिद्धिः सम्पादनीयेति ॥ ५ ॥

इति त्रयोदशो वर्गः ॥

फिर भी उक्त (=ईश्वर) अर्थ और सूर्य्य तथा वायु के गुणों का प्रकाश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—[(वयम्)] हम लोग (महाधने) बड़े-बड़े भारी संग्रामों में (इन्द्रम्) परमेश्वर का (हवामहे) आह्वान अर्थात् स्मरण करते रहते हैं, और (अर्भे) छोटे-छोटे संग्रामों में भी इसी प्रकार [परमेश्वर का स्मरण करते हैं।] और (वज्रिणम्) किरणवाले वा जलवाले वायु का, जो कि (वृत्रेषु) मेघ के अङ्गों में (युजम्) युक्त होनेवाले (इन्द्रम्) सूर्य वा वायु की स्पर्धा करते हैं, अर्थात् इनके प्रकाश और सब में गमनागमनादि गुणों के समान विद्या न्याय प्रकाश और दूतों के द्वारा सब राज्य का वर्त्तमान विदित करना आदि गुणों का धारण सब दिन करते रहें ॥ ५ ॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है।

भावार्थ—जो बड़े-बड़े भारी, और छोटे-छोटे संग्रामों में ईश्वर को सर्वव्यापक, और रक्षा करनेवाला, मानके धर्म और उत्साह के साथ युद्ध करें, तो मनुष्यों का अचल विजय होता है।

१. भाष्यकृता प्रथमस्येन्द्रशब्दस्य परमेश्वरार्थ उक्तः, अपरस्य च वायुसूर्यौ। तथा सति द्वितीये इन्द्रशब्द एव श्लेषालंकारो विज्ञायते। परन्त्वेवं कृते मन्त्रस्यैको भागोऽध्यात्मपरोऽपरोऽधिदैवतपरो व्याख्यातो भवति। वयं तु सर्वस्य मन्त्रस्याध्यात्मपरत्वेऽधिदैवतपरत्वे च भाष्यकृतस्तात्पर्यमित्येकदेशव्याख्यानादनुमिमीमहे। तथा सति सम्पूर्णस्यान्वयस्य द्वैविध्यमेवं द्रष्टव्यम्—

अध्यात्मम्—वयं महाधने संग्रामे इन्द्रं परमेश्वरं हवामहेऽर्भेऽल्पे च। तथा वज्रिणं सर्वजगतः शासनकर्त्तारम् (वज्रो वै शासः। शत० ३।८।१।५॥ शासः=शासनं, तदस्यास्ति) इन्द्रं परमशक्तिमन्तं वृत्रेषु शत्रुषु युजं योक्तारं (=अभियोक्तारं) हवामहे शत्रूणां क्षयार्थं प्रार्थयामहे ।

अधिदैवतम्—वयं महाधने संग्रामे इन्द्रं बलवन्तं सूर्यं वायुं वा हवामहे स्पर्धामहेऽर्भेऽल्पे च, अर्थाद् यथा वायुसूर्यौ महत्यल्पे च वर्षकर्मणि स्पर्धेते, तथैव वयं संग्रामजयार्थं स्पर्धामहे। तथा वज्रिणमिन्द्रं प्रकाशयुक्तं सूर्यं गतिमन्तं वायुं च वृत्रेषु मेघावयवेषु युजं युक्तं हवामहे स्पर्धामहे। अर्थात् यथा वायुसूर्यौ मेघान् विच्छिद्य भूमौ पातयतः, तथा वयमपि शत्रूणामङ्गानि निकृत्य भूमौ पातयामः॥

२. सूर्यस्याभ्यर्हितत्वमाश्रित्यात्र पूर्वनिपातो ज्ञेयः। वाक्यस्य त्वयं भावः—सूर्यवाय्वोर्गुणान् विज्ञाय सद्गुणैरस्त्राणि निर्माय्यापि युद्धे जयस्य सिद्धिर्भवति।

३. वै० य० मुद्रितयोः प्रथमद्वितीयसंस्करणयोः 'यथेश्वरोऽप्येताभ्यां' इत्यपपाठः।

तथा [सूर्य और वायु के निमित्त[1] से भी इसकी (=विजय की) सिद्धि होती है]। जैसे ईश्वर भी सूर्य्य और पवन के निमित्त से वर्षा आदि के द्वारा संसार का अत्यन्त सुख सिद्ध किया करता है, वैसे मनुष्य लोगों को भी पदार्थों को निमित्त करके कार्य्यसिद्धि करनी चाहिये ॥ ५ ॥

यह तेरहवां वर्ग समाप्त हुआ ॥



मनुष्यैः सः ईश्वरः किमर्थः प्रार्थनीयः, सूर्य्यश्च किंनिमित्त इत्युपदिश्यते—

स नो वृषन्नमुं चरुं सत्रादावन्नपावृधि । अस्मभ्यमप्रतिष्कुतः ॥ ६ ॥

सः । नः । वृषन् । अमुम् । चरुम् । सत्राऽदावन् । अप । वृधि ॥ अस्मभ्यम् । अप्रतिऽस्कुतः ॥ ६ ॥

पदार्थः—(सः) **ईश्वरः सूर्य्यो वा** (नः) **अस्माकम्** (वृषन्) **वर्षति सुखानि तत्संबुद्धौ, वर्षयति जलं वा स वा**। कनिन्युवृषि०। उ० १। १५६ **अनेन 'वृष' धातोः कनिन्प्रत्ययः।** (अमुम्) **मोक्षद्वारमागाम्यानन्दं चान्तरिक्षस्थम्** (चरुम्) **ज्ञानलाभं मेघं वा**। चरुरिति मेघनामसु पठितम्। निघं० १। १०। (सत्रादावन्) [सत्रा=] **सत्यं ददासीति तत्संबुद्धौ,** [2]**सत्रं वृष्टयाख्यं यज्ञं समन्ताद् ददातीति स वा**। सत्रेति सत्यनामसु पठितम्। निघं० ३। १०। **अत्र [दा धातोः]** आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च। अ० ३। २। ७४ **अनेन वनिप् प्रत्ययः।** (**अप**) **निवारणे**। निपातस्य च। अ० ६। ३। १३५ **इति दीर्घः।** (वृधि) [3]**उद्घाटय, उद्घाटयति वा। 'वृञ्' धातोः प्रयोगः।** बहुलं छन्दसि। अ० २। ४। ७३ **अनेन श्नोर्लुक्**[4]। श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि। अ० ६। ४। १०२ **अनेन हेर्धिः।** (**अस्मभ्यम्**) **त्वदाज्ञायां पुरुषार्थे च वर्त्तमानेभ्यः** (अप्रतिष्कुतः) **असञ्चलितोऽविस्मृतो वा**। यास्काचार्य्योऽस्यार्थमेवमाह—अप्रतिष्कुतो[5]ऽप्रतिष्कृतोऽप्रतिस्खलितो वेति। निरु० [६। १६][6] ॥

अन्वयः—**हे** वृषन् सत्रादावन् **परमेश्वर**! स त्वमस्मभ्यमप्रतिष्कुतः सन्नोऽस्माकममुं चरुं **मोक्षद्वारमपावृधि उद्घाटय, इत्याद्यः** ॥

तथा भवद्रचितोऽयं [सत्रादावन्] **सत्रादाता** [वृषन्] **वृषाऽप्रतिष्कुतः सूर्य्यो**[नो]**ऽस्मभ्यममुं चरुं मेघम्** [अपावृधि] **अपावृणोत्युद्घाटयति, इत्यपरः** ॥ ६ ॥

---

१. अर्थात् सूर्य और वायु के गुणों को जानकर और तन्निमित्तक अस्त्रों को बनाकर।

२. सत्रशब्दो यज्ञविशेषे प्रसिद्धो वैदिकेषु। अस्मिन्नर्थे 'अन्येषामपि दृश्यते' (अ० ६।३।१३६) इत्यनेन दीर्घत्वं द्रष्टव्यम्।

३. अपोपसर्गसहितस्यायमर्थो निर्दिष्टः।

४. शपो लुकि यः श्नोरभावः प्राप्तः स एवात्र निमित्तिनि निमित्तोपचारेणोक्तः। द्र०—पूर्वत्र पृष्ठ ४०८, अ० २। ४। ७३ सूत्रव्याख्यानम्।

५. वै० य० मुद्रितेषु १, २, ३ संस्करणेषु 'ऽप्रतिष्कुतः' इत्यपपाठः। चतुर्थसंस्करणे 'कु' स्थाने 'कृ' यथावत् संशोधने विहितेऽपि 'अप्रतिष्कुतो अप्रतिष्कृतो०' इत्येव सन्धिविषयकाऽपराशुद्धिः कृता।

६. वै० य० मुद्रितयोः १, २ संस्करणयोर्नास्ति।

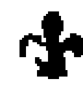
भावार्थः—यो मनुष्यो दृढतया सत्यं विद्यां [1]चेश्वराज्ञामुपतिष्ठति, तस्यात्मन्यन्तर्यामीश्वरोऽविद्यान्धकारं नाशयति । यतो नैव स पुरुषार्थाद्धर्माच्च कदाचिद्विचलति ॥६॥

मनुष्यों को परमेश्वर की प्रार्थना किस प्रयोजन के लिये करनी चाहिये, वा सूर्य्य किसका निमित्त है, इस विषय को अगले मन्त्र में कहा है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (वृषन्) सुखों के वर्षाने और (सत्रादावन्) सत्यज्ञान के देनेवाले परमेश्वर ! (सः) आप (अस्मभ्यम्) हम लोग, जो कि आपकी आज्ञा वा अपने पुरुषार्थ में वर्तमान हैं, उनके लिये (अप्रतिष्कुतः) निश्चय करनेहारे होकर (नः) हमारे (अमुम्) उस आनन्द करानेहारे (चरुम्) ज्ञानरूपी मोक्ष द्वार को (अपावृधि) खोल दीजिये [इत्येकः] ॥

हे परमेश्वर ! यह आपका बनाया हुआ (वृषन्) जल को वर्षाने, और (सत्रादावन्) वृष्टिरूप यज्ञ को सब ओर देनेवाला (अप्रतिष्कुतः) अपनी कक्षा ही में स्थिर रहता हुआ सूर्य (अस्मभ्यम्) हम लोगों के लिये (अमुम्) आकाश में रहनेवाले इस [(चरुम्[2])] मेघ को (अपावृधि) [खोल देता है, अर्थात् जल के रूप में] भूमि में गिरा देता है [इति द्वितीयः] ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपनी दृढ़ता से सत्य विद्या और ईश्वर की आज्ञा का अनुष्ठान=पालन करता है, अन्तर्यामी परमेश्वर उसके आत्मा में से अविद्यारूपी अन्धकार का नाश कर देता है, जिससे वह पुरुष धर्म और पुरुषार्थ को कभी नहीं छोड़ता ॥ ६ ॥



[3]इन्द्रशब्देनेश्वर उपदिश्यते—

तुञ्जेतुञ्जे य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः । न विन्धे अस्य सुष्टुतिम् ॥ ७ ॥

तुञ्जेऽतुञ्जे । ये । उत्ऽतरे । स्तोमाः । इन्द्रस्य । वज्रिणः ॥ न । विन्धे । अस्य । सुऽस्तुतिम् ॥७॥

पदार्थः—(तुञ्जेतुञ्जे) दातव्ये दातव्ये (ये) (उत्तरे) सिद्धान्तसिद्धाः (स्तोमाः) स्तुतिसमूहाः (इन्द्रस्य) सर्वदुःखविनाशकस्य (वज्रिणः) वज्रोऽनन्तं प्रशस्तं वीर्य्यमस्यास्तीति तस्य । अत्र भूमार्थे प्रशंसार्थे[4] च मतुप् । वीर्य्यं वै वज्रः । श० ७ । ४ । २ । २४ ।[5] (**नः**) **निषेधार्थे**

---

१. चकारस्य संबन्धः 'विद्यामीश्वराज्ञां चोपतिष्ठति' इत्येवं प्रकारेण द्रष्टव्यः ।

२. वै० य० मुद्रित संस्करण ४ में परिवर्धित ।　　३. वै० य० मुद्रिते 'पुनरिन्द्रशब्देन' इत्यपपाठः । यतः क. ग. हस्तलेखयोर्मन्त्रभूमिकायां पदार्थे च सूर्यव्याख्यानपराणि पदानि पूर्वमन्त्रव्याख्याने नासन् । अतोऽत्र 'पुनः' पदं युक्तमासीत् । मुद्रणकाले तेषां परिवर्धनादत्र 'पुनः' पदमकिञ्चित्करं संजातम् ।

४. द्र०—भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने । संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥ महा० ५ । २ । ९४ ॥　　५. अध्यायानुसारं श० ७ । ५ । २ । २४ ॥

(विन्धे) विन्दामि । अत्र वर्णव्यत्ययेन वकारस्य धकारः । (अस्य) परमेश्वरस्य [1](सुष्टुतिम्) शोभनां स्तुतिम् ॥

यास्कमुनिरिमं मन्त्रमेवं व्याख्यातवान्—तुञ्जस्तुञ्जतेर्दानकर्मणः । दाने दाने य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणो नास्य तैर्विन्दामि समाप्ति स्तुतेः । निरु० ६ । १८ ॥ ७ ॥

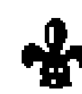
अन्वयः—[2]नाहं ये तुञ्जेतुञ्जे उत्तरे स्तोमाः सन्ति, तैर् [अस्य] वज्रिण इन्द्रस्य परमेश्वरस्य सुष्टुतिं विन्धे विन्दामि ॥ ७ ॥

भावार्थः—ईश्वरेणास्मिन् जगति जीवानां सुखार्थंतेषु पदार्थेषु स्वशक्तेर्यावन्तो दृष्टान्ता यादृशं रचनं यादृशा गुणा उपकारार्थं रक्षिता वर्त्तन्ते, तावतः सम्पूर्णान् वेत्तुं[3] नाहं समर्थोऽस्मि । नैव कश्चिज्जीवीश्वरगुणानां समाप्तिं वेत्तुमर्हति । कुतः ? तस्यैतेषामनन्तत्वात् । परन्तु मनुष्यैरेतेभ्यः पदार्थेभ्यो यावानुपकारो ग्रहीतुं शक्योऽस्ति, तावान् प्रयत्नेन ग्राह्य इति ॥ ७ ॥

[4]अगले मन्त्र में इन्द्र शब्द से परमेश्वर का प्रकाश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—(ये) जो (तुञ्जेतुञ्जे) पदार्थ-पदार्थ के देने में (उत्तरे) सिद्धान्त-रूप से निश्चित (स्तोमाः) स्तुतियों के समूह हैं, उनसे (वज्रिणः) अनन्त पराक्रमवान्, (इन्द्रस्य) सब दुःखों के विनाश करनेहारे (अस्य) [इस] परमेश्वर की (सुष्टुतिम्) शोभायमान स्तुति का पार मैं जीव ([5]न) नहीं (विन्धे) पा सकता हूं ॥ ७ ॥

भावार्थ—ईश्वर ने इस संसार में प्राणियों के सुख के लिये इन पदार्थों में अपनी शक्ति से जितने दृष्टान्त, वा उनमें जिस प्रकार की रचना, और उनके अलग-अलग गुण उनसे उपकार लेने के लिए रक्खे हैं, उन सब के जानने को मैं अल्पबुद्धि पुरुष होने से समर्थ कभी नहीं हो सकता, और न कोई मनुष्य ईश्वर के गुणों की समाप्ति जानने को समर्थ है । क्योंकि जगदीश्वर अनन्त गुण और अनन्त सामर्थ्यवाला है । परन्तु मनुष्य इन पदार्थों से जितना उपकार लेने को समर्थ हों, उतना सब प्रकार से ले लेना चाहिये ॥ ७ ॥



---

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु '(सुष्टुतिम्)' पदमस्थाने पठ्यते ।

२. 'न' पदस्य सम्बन्धोऽन्ते क्रियया सह ज्ञेयः ।

३. यद्यपि 'विद ज्ञाने' धातुरुदात्तः पठ्यते, तेनात्रेटा भाव्यम्, तथापि शिष्टप्रयोगेष्वस्यानिट्त्वमपि दृश्यते । तथाहि—वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम (गीता ११।३८), यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य (सुभाषितम्) इति । तथा चाहुर्वैयाकरणाः—अनित्यमागमशास्त्रम् (सीरदेव परि० १०१) आगमशास्त्रमनित्यम् (परिभाषेन्दुशेखर ९४) इति वा । भाष्यकर्त्रा स्वामिदयानन्देन बहुत्र विदधातोरनिटो-रूपाणि प्रयुज्यन्ते । ४. वै० य० मुद्रित में 'फिर भी' अपपाठ है । द्र०—पृ० ५४०, टि० ३ ।

५. संस्कृत अन्वय में 'नाहं' पद प्रारम्भ में पढ़े हैं, फिर भी भाषा के अनुरोध से यहाँ युक्त हैं । वै० य० मुद्रित संस्करण १, २, ३ में '(न) नहीं मैं' पद भाषार्थ में भी प्रारम्भ में हैं । सं० ४ में यथा-स्थान छापे गये ।

ईश्वरो मनुष्यान् कथं प्राप्नो['ति सूर्यश्च किं करो]तीत्युपदिश्यते—

वृषा यूथेव वंसगः कृष्टीरियर्त्योजसा । ईशानो अप्रतिष्कुतः ॥ ८ ॥

वृषा । यूथाऽइव । वंसगः । कृष्टीः । इयर्ति । ओजसा ॥ ईशानः । अप्रतिऽस्कुतः ॥ ८ ॥

पदार्थः—(वृषा) शुभगुणवर्षणकर्त्ता[2] (यूथेव) गोसमूहान् वृषभ इव । तिथपृष्ठ० । ७० १ । १२ । [इत्यत्र यूथपदं निपातितम्] (वंसगः) वंसं धर्मसेविनं संविभक्तपदार्थान् [वा] गच्छतीति । (कृष्टीः) मनुष्यानाकर्षणाविव्यवहारान् वा (इयर्ति) प्राप्नोति (ओजसा) [स्वसामर्थ्येन] बलेन (ईशानः) ऐश्वर्यवान् ऐश्वर्यहेतुः सृष्टेः कर्त्ता, प्रकाशको वा (अप्रतिष्कुतः) सत्यभावनिश्चयाभ्यां याचितोऽनुग्रहीता स्वकक्षां विहायेतस्ततो ह्यचलितो वा ॥ ८ ॥

अन्वयः—वंसगो वृषा [ओजसा यूथेव] यूथानीवाप्रतिष्कुत ईशानो [वंसगो] वृषेश्वरः सूर्य्यश्चौजसा बलेन कृष्टीर्धर्मात्मनो मनुष्यान् आकर्षणाविव्यवहारान् वेयर्त्ति प्राप्नोति ॥ ८ ॥

अत्र [3]श्लेषोपमालङ्कारौ ।

भावार्थः—मनुष्या एवेश्वरं प्राप्तुं समर्थास्तेषां ज्ञानोन्नतिकरणस्वभाववत्त्वात् । धर्मात्मनो मनुष्यानेव प्राप्तुमीश्वरस्य स्वभाववत्त्वाद् यथैत एतं प्राप्नुवन्ति तथेश्वरेण नियोजितत्वादयं सूर्य्योऽपि स्वसंनिहितान् लोकानाकर्षितु[4] समर्थोऽस्तीति ॥ ८ ॥

परमेश्वर मनुष्यों को कैसे प्राप्त होता है, [और सूर्य क्या करता है,] सो अर्थ अगले मन्त्र में प्रकाशित किया है—

पदार्थान्वयभाषा—[5](इव) जैसे (वंसगः) यथायोग्य गायों का विभागपूर्वक सेवन करनेहारा, (वृषा) वीर्यसिंचन करनेहारा सांड (ओजसा) अपने बल से (यूथा) गाय के समूहों को प्राप्त होता है, वैसे ही (अप्रतिष्कुतः) सत्य स्वभाव और निश्चय से याचना किया हुआ (ईशानः) ऐश्वर्यवान्, जगत् का रचनेवाला ([6]वंसगः) धर्म का सेवन करनेवालों को

१. प्रथमं भाष्यकृतायं मन्त्र ईश्वरपर एव व्याख्यात आसीत् । पश्चात् श्लेषालंकारेण सूर्यपरोऽपि व्याख्यातः । अतोऽत्रास्माभिः कोष्ठान्तर्गतः पाठो वर्धितः ।

२. शुभगुणानां वर्षकः, वृष्टेश्च कर्त्ता इत्युभावर्थावित्र ज्ञेयौ ।

३. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'श्लेषालङ्कारः' इत्येवमपपाठः, मन्त्रे साक्षादुपमार्थकस्येवपदस्य प्रयोगात् । भाषायां तु सम्यक् पाठ उपलभ्यते ।

४. कृषधातोरनुदात्तत्वादिण्न प्राप्नोति, तथापि पतधातोः सनि इटो विकल्पनात् (अ० ७।२।४६ वा०) 'यस्य विभाषा' (अ० ७।२।१५) इति नियमान्निष्ठायां नित्येडभावे प्राप्ते पाणिनिः 'द्वितीया श्रितातीतपतित०' (अ० २।१।२४) सूत्रे पतितशब्दं प्रयुङ्क्ते, तेनेडभावविधायकानां नियमानामनित्यत्वं द्योत्यते । अत्र अष्टा० ७।२।१५, १६ सूत्रयोः काशिकावृत्तिरनुसंधेया ।

५. वै० य० मुद्रित संस्करणों में भाषा-पदार्थ दोनों प्रकार के अर्थों का मिला हुआ अधूरा छपा है । हमने ग्रन्थकार की शैली के अनुसार दोनों अर्थों को पृथक्-पृथक् दर्शा दिया है ।

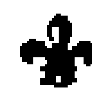
६. उपमा को स्पष्ट करने के लिये मन्त्रगत कुछ शब्द दुबारा पढ़ दिये हैं ।

प्राप्त होनेवाला (वृषा) शुभ गुणों की वर्षा करनेवाला ईश्वर (ओजसा) स्वसामर्थ्य से (कृष्टीः) मनुष्यों को (इयर्ति) प्राप्त होता है, इत्येकः ॥

तथा (इव) जैसे (वंसगः) यथायोग्य गायों का विभाग पूर्वक सेवन करनेहारा (वृषा) वीर्यसिंचन करनेहारा सांड (ओजसा) अपने बल से (यूथा) गायों के समूहों को प्राप्त होता है, वैसे ही (अप्रतिष्कुतः) स्वयं अनुगृहीत स्वकक्षा को छोड़कर चलायमान न होनेवाला (ईशानः) ऐश्वर्य के हेतु सृष्टि का प्रकाशक (वंसगः) अलग-अलग हुए सभी पदार्थों को स्वकिरणों से प्राप्त होनेवाला (वृषा) वर्षा करनेवाला (ओजसा) अपने बल से (कृष्टीः) आकर्षण आदि व्यवहारों को (इयर्ति) प्राप्त होता है, इति द्वितीयः ॥ ८ ॥

इस मन्त्र में उपमा और श्लेषालङ्कार है ।

भावार्थ—मनुष्य ही परमेश्वर को प्राप्त हो सकते हैं, क्योंकि वे ज्ञान की वृद्धि करने के स्वभाववाले होते हैं। और धर्मात्मा ज्ञानवाले मनुष्यों को [ही] प्राप्त होने का परमेश्वर का स्वभाव है। तथा जो ईश्वर ने रचकर [स्व]कक्षा में स्थापन किया हुआ सूर्य है, वह [भी] अपने सामने अर्थात् समीप के लोकों को [[1]लोहे को चुम्बक पत्थर के समान] खींचने को समर्थ होता है ॥ ८ ॥



ईश्वर एव सर्वथा सहायकार्य्यस्तीत्युपदिश्यते—

य एकश्चर्षणीनां वसूनामिरज्यति । इन्द्रः पञ्च क्षितीनाम् ॥ ९ ॥

यः । एकः । चर्षणीनाम् । वसूनाम् । इरज्यति ॥ इन्द्रः । पञ्च । क्षितीनाम् ॥ ९ ॥

पदार्थः—(यः) परमेश्वरः (एकः) **अद्वितीयः (चर्षणीनाम्)** मनुष्याणाम् । चर्षणय इति मनुष्यनामसु पठितम् । निघं० २ । ३ । (**वसूनाम्**) **अग्न्याद्यष्टानां वासहेतूनां लोकानाम्** (**इरज्यति**) **ऐश्वर्य्यं दातुं सेवितुं च योग्योऽस्ति** । इरज्यतीत्यैश्वर्य्यकर्मसु पठितम् । निघं० २ । २१ । परिचरणकर्मसु च । निघं० ३ । ५ । (**इन्द्रः**) **दुष्टानां शत्रूणां विनाशकः (पञ्च) निकृष्टमध्यमोत्तमोत्तमतरोत्तमतमानां पञ्चविधानाम्** (**क्षितीनाम्**) **पृथिवीलोकानां मध्ये** । क्षितिरिति पृथिवीनामसु पठितम् । निघं० १ । १ ॥ ९ ॥

अन्वयः—य इन्द्रश्चर्षणीनां वसूनां [पञ्च] **पञ्चानां** क्षितीनामिरज्यति स एकोऽस्ति ॥९॥

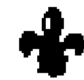
भावार्थः—**यः सर्वाधिष्ठाता सर्वान्तर्यामी व्यापकः सर्वैश्वर्यप्रदोऽद्वितीयोऽसहायो जगदीश्वरः सर्वजगतो रचको धारक आकर्षणकर्त्ताऽस्ति, स एव सर्वैर्मनुष्यैरिष्टत्वेन सेवनीयोऽस्ति । यः कश्चित्तं विहायान्यमीश्वरभावेनेष्टं मन्यते, स भाग्यहीनः सदा दुःखमेव प्राप्नोति ॥ ९ ॥**

१. कोष्ठान्तर्गत पाठ वै० य० मुद्रित संस्करणों में है, परन्तु संस्कृत-भाग में नहीं है ।

सब प्रकार से सब का सहायकारी परमेश्वर ही है, इस विषय को अगले मन्त्र में प्रकाश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—(यः) जो (इन्द्रः) दुष्ट शत्रुओं का विनाश करनेवाला परमेश्वर (चर्षणीनाम्) मनुष्य [तथा] (वसूनाम्) अग्नि आदि आठ निवास के स्थान, और (पञ्च) जो नीच मध्यम उत्तम उत्तमत्तर और उत्तमतम गुणवाले पांच प्रकार के (क्षितीनाम्) पृथिवी लोक हैं, उन्होंके बीच (इरज्यति) ऐश्वर्य के देने और सब के सेवा करने योग्य वह (एकः) अद्वितीय [और सब का सहाय करनेवाला] है ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो सब का स्वामी अन्तर्यामी व्यापक और सब ऐश्वर्य का देनेवाला, जिससे भिन्न कोई दूसरा ईश्वर और जिसको किसी दूसरे की सहाय की आवश्यकता नहीं है, [ऐसा सब जगत् की रचना धारण और आकर्षण (=नियम में चलाना) करनेवाला जगदीश्वर है,] वही सब मनुष्यों को इष्ट बुद्धि से सेवा करने योग्य है। जो मनुष्य उस परमेश्वर को छोड़कर दूसरों को इष्ट देव मानता है, वह भाग्यहीन बड़े-बड़े घोर दुःखों को सदा प्राप्त होता है ॥ ६ ॥



अयमेव सर्वोपरि वर्त्तत इत्युपदिश्यते—

इन्द्रं॑ वो वि॒श्वत॒स्परि॒ हवा॑महे॒ जने॑भ्यः । अ॒स्माक॑मस्तु॒ केव॑लः ॥ १० ॥

इन्द्र॑म् । व॒: । वि॒श्वत॑: । परि॑ । हवा॑महे । जने॑भ्यः ॥ अ॒स्माक॑म् । अ॒स्तु॒ । केव॑लः ॥ १० ॥

पदार्थः—(**इन्द्रम्**) पृथिव्यां राज्यप्रदम् (**वः**) युष्माकम् (**विश्वतः**) सर्वेभ्यः (**परि**) **सर्वतोभावे।** परीति सर्वतोभावं प्राह। निरु० १। ३। (**हवामहे**) **स्तुवीमः** (**जनेभ्यः**) **प्रादुर्भूतेभ्यः** (**अस्माकम्**) मनुष्याणाम् (**अस्तु**) भवतु (**केवलः**) **एकश्चेतनमात्रस्वरूप एवेष्टदेवः** ॥ १० ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! य वयं विश्वतो जनेभ्यः सर्वगुणैरुत्कृष्टमिन्द्रं परमेश्वरं परिहवामहे, स एव वो युष्माकमस्माकं च केवलः पूज्य इष्टोऽस्तु[1] ॥ १० ॥

भावार्थः—ईश्वरोऽस्मिन् मन्त्रे सर्वजनहितायोपदिशति—हे मनुष्या ! युष्माभिर्नैव कदाचिन्मां विहायान्य उपास्यदेवो मन्तव्यः। कुतः ? नैव मत्तोऽन्यः कश्चिदीश्वरो वर्त्तते। एवं सति यः कश्चिदीश्वरत्वेऽनेकत्वमाश्रयति स मूढ एव मन्तव्य इति ॥ १० ॥

अत्र सप्तमे सूक्ते येनेश्वरेण रचयित्वाऽन्तरिक्षे कार्य्योपकरणार्थौ वायुसूर्य्यौ स्थापितौ स एवैकः सर्वशक्तिमान् सर्वदोषरहितः सर्वमनुष्यपूज्योऽस्तीति व्याख्यातमित्येतत्सूक्तार्थेन सहास्य षष्ठसूक्तार्थस्य सङ्गतिरिति बोध्यम्।

इदमपि सूक्तं सायणाचार्य्यादिभिर्यूरोपाख्यदेशनिवासिभिश्चासदर्थं व्याख्यातमिति सर्वैर्मन्तव्यम् ॥ १० ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकस्सप्तमं सूक्तं वर्गश्च चतुर्दशः समाप्तः ॥

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'इष्टोऽस्ति' इत्यपपाठः।

उक्त परमेश्वर ही सर्वोपरि विराजमान है, इस विषय का प्रकाश अगले मन्त्र में किया है—

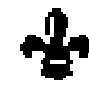
पदार्थान्वयभाषा—[हे मनुष्य लोगो !]हम लोग (विश्वतः) सब पदार्थों वा(जनेभ्यः)सब प्राणियों से (परि) उत्तम-उत्तम गुणों करके श्रेष्ठतर (इन्द्रम्) पृथिवी में राज्य देनेवाले जिस परमेश्वर का (हवामहे)वार-वार अपने हृदय में स्मरण करते हैं, वही परमेश्वर (वः) तुम्हारे और [(अस्माकम्)] हमारे पूजा करने योग्य इष्टदेव (केवलः) चेतनमात्र स्वरूप एक ही होवे ॥१०॥

भावार्थ—ईश्वर इस मन्त्र में सब मनुष्यों के हित के लिये उपदेश करता है—हे मनुष्यो ! तुमको अत्यन्त उचित है कि मुझे छोड़कर उपासना करने योग्य किसी दूसरे देव को कभी मत मानो। क्योंकि एक मुझको छोड़कर कोई दूसरा ईश्वर नहीं है। जब वेद में ऐसा उपदेश है, तो जो मनुष्य अनेक ईश्वर वा उसके अवतार मानता है, वह सबसे बड़ा मूढ़ है ॥ १० ॥

इस सप्तम सूक्त में जिस ईश्वर ने अपनी रचना से कार्य और उपकार के लिये अन्तरिक्ष में सूर्य्य और वायु स्थापन किये हैं, वही एक सर्वशक्तिमान् सर्वदोषरहित और सब मनुष्यों का पूज्य है। इस व्याख्यान से इस सप्तम सूक्त के अर्थ के साथ छठे सूक्त के अर्थ की सङ्गति जाननी चाहिये ॥

इस सूक्त के मन्त्रों के अर्थ **सायणाचार्य्य** आदि आर्य्यावर्त्तवासियों और **विलसन** आदि अंगरेज़ लोगों ने भी उलटे किये हैं ॥ १० ॥

यह दूसरा अनुवाक, सातवां सूक्त, और चौदहवां वर्ग समाप्त हुआ ॥



अथास्य दशर्चस्याष्टमसूक्तस्य मधुच्छन्दा ऋषिः। इन्द्रो देवता। १, ५, ८ निचृद्गायत्री; २ विराड्गायत्री[1]; ३, ४, ६, ७, ९ गायत्री; १० वर्धमाना गायत्री च छन्दः। षड्जः स्वरः ॥

तत्र कीदृशं धनमीश्वराऽनुग्रहेण स्वपुरुषार्थेन च प्रापणीयमित्युपदिश्यते—

एन्द्र॑ सान॒सिं र॒यिं स॒जित्वा॑नं सदा॒सह॑म्। वर्षि॑ष्ठमू॒तये॑ भर ॥ १ ॥

आ। इ॒न्द्र॒। सा॒न॒सिम्। र॒यिम्। स॒ऽजित्वा॑नम्। स॒दा॒ऽसह॑म् ॥ वर्षि॑ष्ठम्। ऊ॒तये॑। भ॒र ॥ १ ॥

पदार्थः—(आ) समन्तात् (इन्द्र) परमधनप्रदेश्वर ! (सानसिम्) संभजनीयम्। सानसिवर्णसि०। उ० ४। १०७ अनेनायं 'सन' धातोरसिप्रत्ययान्तो निपातितः। (रयिम्) धनम् (सजित्वानम्) समानानां शत्रूणां विजयकारकम्। अत्र अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते। अ० ३। २। ७५ अनेन 'जि' धातोः क्वनिप्प्रत्ययः। (सदासहम्) सर्वदा दुष्टानां शत्रूणां हानिकारकं दुःखानां च सहनहेतुम् (वर्षिष्ठम्) अतिशयेन वृद्धं वृद्धिकारकम्। अत्र वृद्धशब्दादिष्ठन् वर्षिरादेशश्च[2]। (ऊतये) रक्षणाद्याय पुष्टये (भर) धारय ॥ १ ॥

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'प्रतिष्ठागायत्री' इत्यपपाठो द्वाविंशत्यक्षरत्वात्।

२. 'प्रियस्थिरस्फिरोरुबहुलगुरुवृद्ध०' (अ० ६। ४। १५७) इत्यादिना वर्षिरादेशः।

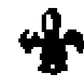
अन्वयः—हे इन्द्र ! कृपयाऽस्माकमूतये[1] वर्षिष्ठं सानसिं सदासहं सजित्वानं रयिमाभर ॥१॥

भावार्थः—मनुष्यैः सर्वशक्तिमन्तमन्तर्यामिनमीश्वरमाश्रित्य परमपुरुषार्थेन च सर्वोपकारकाय चक्रवर्त्तिराज्यानन्दकारकं विद्याबलं सर्वोत्कृष्टं सुवर्णसेनादिकं बलं च सर्वथा संपादनीयम् । यतः स्वस्य सर्वेषां च सुखं स्यादिति ॥ १ ॥

अब अष्टमसूक्त के प्रथम मन्त्र में यह उपदेश है कि ईश्वर के अनुग्रह और अपने पुरुषार्थ से कैसा धन प्राप्त करना चाहिये—

पदार्थान्वयभाषा—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! आप कृपा करके हमारी (ऊतये) रक्षा पुष्टि और सब सुखों की प्राप्ति के लिये, (वर्षिष्ठम्) जो अच्छी प्रकार वृद्धि करनेवाला, (सानसिम्) निरन्तर सेवने के योग्य, (सदासहम्) दुष्ट शत्रुओं की हानि वा दुःखों के सहने के मुख्य हेतु, और (सजित्वानम्) तुल्य शत्रुओं का जितानेवाला (रयिम्) धन है, उसको (आभर) अच्छी प्रकार दीजिये ॥ १ ॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को सर्वशक्तिमान् अन्तर्यामी ईश्वर का आश्रय लेकर अपने पूर्ण पुरुषार्थ के साथ [सब के उपकार के लिये] चक्रवर्त्ति राज्य के आनन्द को बढ़ानेवाली विद्या [और बल, सर्वोत्कृष्ट] सुवर्ण आदि धन, और सेना आदि बल सब प्रकार से रखना चाहिये । जिससे अपने आपको और सब प्राणियों को सुख हो ॥ १ ॥



कीदृशेन धनेन [परमं सुखं भवति,] इत्युपदिश्यते—

नि येन॑ मुष्टिह॒त्यया॒ नि वृ॒त्रा रु॒णधा॑महै । त्वोता॑सो॒ न्यर्व॑ता ॥ २ ॥

नि । येन॑ । मु॒ष्टि॒ऽह॒त्यया॑ । नि । वृ॒त्रा । रु॒णधा॑महै ॥ त्वाऽऊ॑तासः । नि । अर्व॑ता ॥ २ ॥

पदार्थः—(नि) नितरां क्रियायोगे (येन) पूर्वोक्तेन धनेन (मुष्टिहत्यया) हननं हत्या मुष्टिभिर्हत्या[2] मुष्टिहत्या तया (नि) निश्चयार्थे (वृत्रा) मेघवत् सुखावरकान् शत्रून् । अत्र सुपां सुलुग्० [अ० ७ । १ । ३९] इति शसः स्थाने आजादेशः । (रुणधामहै[3]) निरुन्ध्याम

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'कृपयाऽस्मदूतये' इत्यपपाठः । नह्यध्याहृतेन मन्त्रपदस्य समास उचितः ।

२. अर्थनिदर्शनपरमिदं वाक्यम् । विग्रहस्तु मुष्टिभिर्हननं मुष्टिहत्या इत्येव । यत्त्वत्र सायणेन 'कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरे प्राप्ते परादिश्छन्दसि बहुलम् (अ० ६।२।१९९) इति बहुलग्रहणेन त्रिचक्रादीनां छन्दस्यन्तोदात्तत्वम्' इत्युक्तं, तच्चिन्त्यम् । हनस्त च (अ० ३।१।१०८) सूत्रभाष्य एव 'हनश्चित् स्त्रियां छन्दसि' इति प्रत्याख्यपठितेन वार्तिकेन चित्स्वरस्य विधानात् ।

३. अस्योदात्तत्वसिद्धये सायणेन 'चादिलोपे विभाषा' (अ० ८ । १ । ६३) सूत्रमुपन्यस्य द्वितीयतिङ्विभक्तिसमर्थनाय यत् किञ्चित् प्रलपितं, तत्सर्वं चिन्त्यमेव । यतो ह्यत्र प्रत्यक्षं 'येन' पदं श्रूयते, तद्योगे च 'यद्वृत्तान्नित्यम्' (अ० ८।१।६६) इत्यनेन निघातप्रतिषेधः स्पष्ट एव । यद्युच्येत पञ्चमीनिर्देशाद् अव्यवहितस्य निघाताभावेन भाव्यम्, तदपि न । छन्दसि व्यवहितेऽपि निघाताभाव इष्यते (द्र०—काशिका ८।१।६६)।

(त्वोतासः[1]) त्वया जगदीश्वरेण रक्षिताः सन्तः (नि) निश्चयार्थे (अर्वता) अश्वादिभिः सेनाङ्गैः। अर्वेत्यश्वनामसु पठितम्। निघं० १। १४॥ २॥

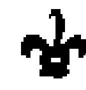
अन्वयः—हे जगदीश्वर! त्वं त्वोतासस्त्वया रक्षिता सन्तो वयं येन धनेन मुष्टिहत्यया [न्य]र्वता निवृत्रा निश्चितान् शत्रून् निरुणधामहै, तेषां सर्वदा निरोधं करवामहै, तदस्मभ्यं देहि॥ २॥

भावार्थः—ईश्वरेष्टैर्मनुष्यैः शरीरात्मबलैः सर्वसामर्थ्येन श्रेष्ठानां पालनं दुष्टानां निग्रहः सर्वदा कार्य्यः। यतो मुष्टिप्रहारमसहमानाः शत्रवो विलीयेरन्॥ २॥

कैसे धन से परम सुख होता है, सो अगले मन्त्र में प्रकाश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे जगदीश्वर! [आप] (त्वोतासः) आपके सकाश से रक्षा को प्राप्त हुए हम लोग (येन) जिस पूर्वोक्त धन से (मुष्टिहत्यया) बाहुयुद्ध और (न्यर्वता) निश्चित अश्व आदि सेना की सामग्री से (निवृत्रा) निश्चित शत्रुओं को (निरुणधामहै) रोकें, अर्थात् उनको निर्बल कर सकें, ऐसे उत्तम धन का दान हम लोगों के लिये कृपा से दीजिये॥ २॥

भावार्थ—ईश्वर के सेवक मनुष्यों को उचित है कि अपने शरीर और आत्मा के बल को बहुत बढ़ावें। जिससे श्रेष्ठों का पालन और दुष्टों का अपमान सदा होता रहे। और जिससे शत्रुजन उनके मुष्टिप्रहार को न सह सकें, इधर-उधर छिपते-भागते फिरें॥ २॥



मनुष्या किं धृत्वा शत्रून् जयन्तीत्युपदिश्यते—

इन्द्र त्वोतास आ वयं वज्रं घना ददीमहि। जयेम सं युधि स्पृधः॥ ३॥

इन्द्र। त्वाऽऊतासः। आ। वयम्। वज्रम्। घना। ददीमहि॥ जयेम। सम्। युधि। स्पृधः॥३॥

पदार्थः—(इन्द्रः) अनन्तबलेश्वर! (त्वोतासः) त्वया बलं प्रापिताः (आ) क्रियार्थे (वयम्) बलवन्तो धार्मिकाः शूराः (वज्रम्) शत्रूणां बलच्छेदकमाग्नेयादिशस्त्रास्त्रसमूहम् (घना) शतघ्नीभुशुण्ड्यसिचापबाणादीनि दृढानि युद्धसाधनानि। शेषश्छन्दसि बहुलम् [अ० ६। १। ६८] इति [शेर्]लुक्। (ददीमहि) गृह्णीमः। अत्र लडर्थे लिङ्। (जयेम) (सम्) क्रियार्थे[2] (युधि) संग्रामे (स्पृधः) स्पर्धमानान् शत्रून्। 'स्पर्ध सङ्घर्षे' इत्यस्य क्विबन्तस्य रूपम्। बहुलं छन्दसि। अ० ६। १। ३३ अनेन[3] संप्रसारणमल्लोपश्च॥ ३॥

१. प्रत्ययोत्तरपदयोश्च (अ० ७।२।९८) इत्यादिना मपर्यन्तस्य त्वादेशे दकारलोपश्छान्दसो वर्णलोपो वा (द्र०—८। २। २५ भा०) इत्यनेन विज्ञेयः। पदकारस्तु 'त्वा' आदेशं मनुते—'त्वाऽउतासः' इत्येवमवग्रहनिर्देशाज्ज्ञायते।

२. 'जयेम' क्रियाया योऽर्थस्तस्मिन्नेव। यद्वाऽत्र 'क्रियायोगे' पाठो द्रष्टव्यः।

३. यद्यप्यत्र वृत्तिकाराः पूर्वसूत्राद् 'ह्वः' पदमनुवर्तयन्ति, तथापि बहुलग्रहणादन्यतोऽपि संप्रसारणं

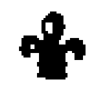
अन्वयः—हे इन्द्र ! त्वोतासो वयं स्वविजयार्थं वज्रं घना आददीमहि। यतो वयं युधि स्पृधो [सं][1] जयेम ॥ ३ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्धर्मेश्वरावाश्रित्य शरीरपुष्टिं विद्यात्मबलं पूर्णां युद्धसामग्रीं परस्परमविरोधमुत्साहमित्यादिसद्गुणान् गृहीत्वा सदैव दुष्टानां शत्रूणां पराजयकरणेन सुखयितव्यम् ॥ ३ ॥

मनुष्य किसको धारण करने से शत्रुओं को जीत सकते हैं, सो अगले मन्त्र में प्रकाश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (इन्द्र) अनन्तबलवान् ईश्वर ! (त्वोतासः) आपके सकाश से रक्षा आदि और बल को प्राप्त हुए (वयम्) हम लोग [बलवान्] धार्मिक और शूरवीर होकर अपने विजय के लिये (वज्रम्) शत्रुओं के बल को नाश करने का हेतु आग्नेयास्त्रादि अस्त्र, और (घना) सुदृढ़ श्रेष्ठ शस्त्रों के समूह, जिनको कि भाषा में तोप बन्दूक तलवार और धनुष् बाण आदि कहते हैं, जो युद्ध की सिद्धि में हेतु हैं, उनको (आददीमहि) ग्रहण करते हैं। जिससे हम लोग आपके बल का आश्रय और सेना की पूर्ण सामग्री करके (युधि) संग्राम में (स्पृधः) ईर्ष्या करनेवाले शत्रुओं को ([सं] जयेम) [अच्छे प्रकार] जीतें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि धर्म और ईश्वर के आश्रय से शरीर की पुष्टि, और विद्या करके आत्मा का बल, तथा युद्ध की पूर्ण सामग्री, परस्पर अविरोध और उत्साह आदि श्रेष्ठ गुणों को ग्रहण करके दुष्ट शत्रुओं के पराजय करने से अपने, और सब प्राणियों के लिये सुख सदा बढ़ाते रहें ॥ ३ ॥



कस्य कस्य सहायेनैतत् सिध्यतीत्युपदिश्यते—

वयं शूरेभिरस्तृभिरिन्द्र त्वया युजा वयम्। सासह्याम पृतन्यतः ॥ ४ ॥

वयम्। शूरेभिः। अस्तृऽभिः। इन्द्र। त्वया। युजा। वयम् ॥ सासह्याम। पृतन्यतः ॥ ४ ॥

पदार्थः—(वयम्) सभाध्यक्षाः सेनापतिवराः (शूरेभिः) सर्वोत्कृष्टशूरवीरैः। अत्र बहुलं छन्दसि [अ० ७। १। १०] इति भिस ऐसादेशो न। (अस्तृभिः) सर्वशस्त्रास्त्रप्रक्षेपणवद्भिः सह (इन्द्र) युद्धोत्साहप्रदेश्वर ! (त्वया) अन्तर्यामिणेष्टेन (युजा) कृपया धार्मिकेषु स्वसामर्थ्यसंयोजकेन (वयम्) योद्धारः (सासह्याम) पुनः पुनः सहेमहि। अत्र व्यत्ययेन परस्मैपदं लिङर्थे लोट् च। (पृतन्यतः) आत्मनः पृतनामिच्छतः शत्रून् ससेनान्। पृतनाशब्दात् क्यच्। कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः। अ० ७। ४। ३९ अनेन ऋचि ऋग्वेद एवाकारलोपः ॥ ४ ॥

भवतीत्याश्रित्य ग्रन्थकृता सूत्रमिदमुपन्यस्तम्। अकारलोपश्चात्र छान्दस एव। यद्वा—'अपस्पृधेथामानृचु०' (अ० ६।१।३५) सूत्रे अपस्पृधेथामित्यस्य निदर्शनार्थत्वमाश्रयणीयम्।

1. वै० य० मुद्रिते चतुर्थसंस्करणे परिवर्धितः।

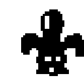
अन्वयः—हे इन्द्र ! युजा त्वया [युक्ता] वयमस्तृभिः शूरेभिर्योवृधभिः सह पृतन्यतः शत्रून् सासह्यामैवंप्रकारेण [वयं] चक्रवर्तिराजानो भूत्वा नित्यं प्रजाः पालयेम ॥ ४ ॥

भावार्थः—शौर्य्यं द्विविधं पुष्टिजन्यं शरीरस्थं विद्याधर्मजन्यमात्मस्थं च, एताभ्यां सह वर्त्तमानैर्मनुष्यैः परमेश्वरस्य सृष्टिरचनाक्रमान् ज्ञात्वा न्यायधैर्य्यसौजन्योद्योगादीन् सद्गुणान् समाश्रित्य सभाप्रबन्धेन राज्यपालनं दुष्टशत्रुनिरोधश्च सदा कर्त्तव्य इति ॥ ४ ॥

किस-किस के सहाय से उक्त सुख सिद्ध होता है, सो अगले मन्त्र में प्रकाश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (इन्द्र) युद्ध में उत्साह देनेवाले परमेश्वर ! अपनी (युजा) कृपा से धर्मयुक्त व्यवहारों में अपने सामर्थ्य का योग करानेवाले (त्वया) आपको अन्तर्यामी इष्टदेव मानकर (वयम्) युद्ध के करनेवाले हम लोग (अस्तृभिः) सब अस्त्र-शस्त्र चलाने में चतुर, (शूरेभिः) उत्तमों में उत्तम (=सर्वोत्तम) शूरवीरों के साथ होकर (पृतन्यन्तः) सेना आदि बल से युक्त होकर लड़नेवाले शत्रुओं को (सासह्याम) वार-वार सहें, अर्थात् उनको निर्बल करें। इस प्रकार शत्रुओं को जीतकर न्याय के साथ चक्रवर्ती राज्य का पालन करें ॥ ४ ॥

भावार्थ—शूरता दो प्रकार की होती है—एक तो शरीर की पुष्टि, और दूसरी विद्या तथा धर्म से संयुक्त आत्मा की पुष्टि। इन दोनों से परमेश्वर की रचना के क्रमों को जानकर न्याय, धीरज[1], उत्तम स्वभाव, और उद्योग आदि से उत्तम-उत्तम गुणों से युक्त होकर सभाप्रबन्ध के साथ राज्य का पालन और दुष्ट शत्रुओं का निरोध अर्थात् उनको सदा निर्बल करना चाहिये ॥४॥



पुनः स कीदृशोऽस्तीत्युपदिश्यते—

महाँ इन्द्रः परश्च नु महित्वमस्तु वज्रिणे । द्यौर्न प्रथिना शवः ॥ ५ ॥

महान् । इन्द्रः । परः । च । नु । महिऽत्वम् । अस्तु । वज्रिणे ॥ द्यौः । न । प्रथिना । शवः ॥ ५ ॥

पदार्थः—(महान्) सर्वथाऽनन्तगुणस्वभावसामर्थ्येन युक्तः (इन्द्रः) सर्वजगद्राजः (परः) अत्यन्तोत्कृष्टः (च) पुनरर्थे (नु) हेत्वपदेशे। निरु० १। ४। (महित्वम्) मह्यते पूज्यते सर्वैर्जनैरिति महिः, तस्य भावः। अत्रौणादिकः सर्वधातुभ्य इन् [उ० ४। ११८] इतीन् प्रत्ययः। (अस्तु) भवतु (वज्रिणे) वज्रो न्यायाख्यो दण्डोऽस्यास्तीति तस्मै। वज्रं वै दण्डः। श० ३। १। ५। ३२।[2] (द्यौः) विशालः सूर्य्यप्रकाशः (न) उपमार्थे। [3]उपरिष्टादुपाचारस्तस्य येनोपमिमीते। निरु० १। ४। यत्र कारकात् पूर्वं नकारस्य प्रयोगस्तत्र प्रतिषेधार्थीयः, यत्र च परस्तत्रोपमार्थीयः।

१. वै० य० मुद्रित १-३ संस्करणों में 'धीरजमन' अपपाठ।

२. अध्यायानुसारं शत० ३।२।१।३२ ॥

३. वै० य० मुद्रितेषु १-३ संस्करणेषु 'उपमृज्याद्०' इत्यपपाठः।

(प्रथिना) पृथोर्भावस्तेन। पृथुशब्दादिमनिच्[1]। छान्दसो वर्णलोपो वा [महा० ८।२।२५] इति मकारलोपः[2]। (शवः) बलम्। शव इति बलनामसु पठितम्। निघं० २। ६॥ ५॥

अन्वयः—यो मूर्त्तिमतः संसारस्य [3]द्यौः सूर्य्यः प्रथिना न सुविस्तृतेन स्वप्रकाशेनेव महान् पर इन्द्रः परमेश्वरोऽस्ति, तस्मै वज्रिणे इन्द्रायेश्वराय न्वस्मत्कृतस्य विजयस्य महित्वं शवश्चास्तु॥ ५॥

अत्रोपमालङ्कारोऽस्ति।

भावार्थः—धार्मिकैर्युद्धशीलैः शूरैर्योद्धृभिर्मनुष्यैः स्वनिष्पादितस्य दुष्टशत्रुविजयस्य धन्यवादा अनन्तशक्तिमते जगदीश्वरायैव वेद्याः। यतो मनुष्याणां निरभिमानतया राज्योन्नतिः सदैव वर्धेतेति॥ ५॥

इति पञ्चदशो वर्गः समाप्तः॥

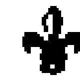
उक्त कार्य्य [में] सहाय करनेहारा जगदीश्वर किस प्रकार का है, सो अगले मन्त्र में प्रकाश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—मूर्त्तिमान् संसार को प्रकाशयुक्त करने के लिये (द्यौः न) जैसे सूर्य्य-प्रकाश (प्रथिना) विस्तार से प्राप्त होता है, वैसे ही जो (महान्) सब प्रकार से अनन्तगुण अत्युत्तम स्वभाव, अतुल सामर्थ्ययुक्त, और (परः) अत्यन्त श्रेष्ठ (इन्द्रः) सब जगत् का स्वामी परमेश्वर है, उस (वज्रिणे) न्याय की रीति से दण्ड देनेवाले परमेश्वर [के लिये] (नु) जो कि अपने सहायरूपी हेतु से हमको विजय देता है, उसी की यह (महित्वम्) महिमा (च) तथा [(शवः)] बल [(अस्तु)] हो॥ ५॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है।

भावार्थ—धार्मिक युद्ध करनेवाले मनुष्यों को उचित है कि—जो शूरवीर, युद्ध में अति धीर मनुष्यों के साथ होकर दुष्ट शत्रुओं पर अपना विजय हुआ है, उसका धन्यवाद अनन्त शक्तिमान् जगदीश्वर को देना चाहिये, कि जिससे निरभिमान होकर मनुष्यों को राज्य की सदैव बढ़ती होती रहै॥ ५॥

यह पन्द्रहवां वर्ग समाप्त हुआ॥



१. पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा (अ० ५।१।१२१) इत्यनेनेमनिच्, र ऋतो हलादेर्लघोः (अ० ६।४।१६१) इति ऋकारस्य रेफादेशः।

२. 'प्रथिमन् आ' इत्यवस्थायाम् 'अल्लोपोऽनः' (अ० ६।४।१३४) इत्यकारलोपः, मकारलोपश्छान्दसः।

३. अत्रान्वये न पदमस्थाने पठ्यते। पदार्थानुसारं 'द्यौः' पदात् परत्वमाश्रित्य तस्योपमार्थीयत्वमुक्तम्। अतोऽत्रान्वयेनेत्थं भाव्यम्—'द्यौर्न सूर्य इव प्रथिना सुविस्तृतेन प्रकाशेन महान्···'। भाषा पदार्थोऽप्यत्रैवानुकूलः।

मनुष्यैः कीदृशैर्भूत्वा[1] युद्धं कर्त्तव्यमित्युपदिश्यते—

समोहे वा य आशंत नरंस्तोकस्य सनिंतौ । विप्रांसो वा धियायवंः ॥ ६ ॥

सम्ऽओहे । वा । ये । आशंत । नरंः । तोकस्यं । सनिंतौ ॥ विप्रांसः । वा । धियाऽयवंः ॥ ६ ॥

पदार्थः—(समोहे) संग्रामे । समोहे इति संग्रामनामसु पठितम् । निघं० २ । १७ । (वा) पक्षान्तरे (ये) [2]योद्धारः (आशत) युद्धम् व्याप्तवन्तो भवेयुः । 'अशूङ् व्याप्तौ' इत्यस्माल्लिङर्थे लुङ्प्रयोगः । वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति [महा० १ । ४ । ६] इति क्लेरभावः । (नरः) मनुष्याः (तोकस्य) सन्तानस्य (सनितौ) भोगसंविभागलाभे । तितुत्र० । अ० ७ । २ । ६ [इत्यत्र] [3]अग्रहादीनामिति वक्तव्यमिति वार्त्तिकेनेडागमः । (विप्रासः) मेधाविनः । विप्र इति मेधाविनामसु पठितम् । निघं० ३ । १५ । आज्जसेरसुक् । अ० ७ । १ । ५० अनेन जसोऽसुगागमः । (वा) व्यवहारान्तरे (धियायवः) ये [आत्मनो] धियं विज्ञानमिच्छन्ति[4] [ते], धीयते धार्य्यते श्रुतमनया सा धिया, तामात्मन इच्छन्ति ते, 'धि धारणे' इत्यस्य कप्रत्ययान्तः प्रयोगः[5] ॥ ६ ॥

अन्वयः—ये विप्रासो नरस्ते समोहे शत्रूनाशत, वा ये धियायवस्ते तोकस्य सनितावाशत ॥ ६ ॥

भावार्थः—[6]इन्द्र ईश्वरः सर्वान् मनुष्यानाज्ञापयति—संसारेऽस्मिन् मनुष्यैः कार्य्यद्वयं कर्त्तव्यम् । ये विद्वांसस्तैर्विद्याशरीरबले संपाद्यैताभ्यां शत्रूणां बलान्यभिव्याप्य सदैव तिरस्कर्त्तव्यानि । मनुष्यैर्यदा यदा शत्रुभिः सह युयुत्सा भवेत्, तदा तदा सावधानतया शत्रूणां बलान्न्यूनान्न्यूनं द्विगुणं स्वबलं संपाद्यैव तेषां कृतेन पराजयेन प्रजाः सततं रक्षणीयाः । ये च विद्यावानं चिकीर्षवस्ते कन्यानां पुत्राणां च विद्याशिक्षाकरणे प्रयतेरन् । यतः शत्रूणां पराभवेन [अज्ञाननाशेन च][7] सुराज्यविद्यावृद्धी सदैव भवेताम् ॥ ६ ॥

मनुष्यों को कैसे होकर युद्ध करना चाहिये, यह विषय अगले मन्त्र में प्रकाश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—[(ये)] जो (विप्रासः) अत्यन्त बुद्धिमान् (नरः) मनुष्य हैं, वे (समोहे) संग्राम में शत्रुओं को जीतने के लिये (आशत) तत्पर हों । (वा) अथवा (धियायवः) जो कि [अपना] विज्ञान देने की इच्छा करनेवाले हैं, वे (तोकस्य) सन्तानों

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'मनुष्यैः कीदृशा भूत्वा' इत्यपपाठः ।

२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु '(ये) योद्धारो युद्धम् (आशत) व्याप्तवन्तो भवेयुः' इति पाठः । अत्र 'युद्धम्' पदमस्थाने पठ्यते ।

३. वै० य० मुद्रितयोः ३, ४ संस्करणयोः 'आग्रहादीनाम्' इत्यपपाठः ।

४. वै०य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'इच्छन्तः' इत्यपपाठः । अग्रे यथावत् पठ्यते ।

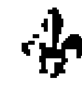
५. सुप आत्मनः क्यच् (अ० ३।१।८) इति क्यच्, तदन्तात् क्याच्छन्दसि (अ० ३।२।१७०) इत्युः प्रत्ययः ।

६. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'इन्द्रेश्वरः' इत्यपपाठः ।

७. उत्तरत्र विद्यावृद्धे निर्देशात् प्रतीयते लिपिकरप्रमादान्मुद्रणप्रमादाद्वाऽयं पाठोऽत्र नष्टः ।

के (सनितौ) [भोगों के संविभाग तथा लाभ के लिये] विद्या की शिक्षा में (आशत) उद्योग करते रहें ॥ ६ ॥

भावार्थ—ईश्वर सब मनुष्यों को आज्ञा देता है—कि इस संसार में मनुष्यों को दो प्रकार का काम करना चाहिये। इनमें से जो विद्वान् हैं, वे अपने शरीर और सेना का बल बढ़ावें। और दूसरे उत्तमविद्या की वृद्धि करके शत्रुओं के बल का सदैव तिरस्कार करते रहें। मनुष्यों को जब-जब शत्रुओं के साथ युद्ध करने की इच्छा हो, तब-तब सावधान होके प्रथम शत्रुओं की सेना आदि पदार्थों से कम से कम अपना दोगुना बल करके उनके पराजय से प्रजा की रक्षा करनी चाहिये। तथा जो विद्याओं के पढ़ाने की इच्छा करनेवाले हैं, वे शिक्षा देने योग्य पुत्र वा कन्याओं को यथायोग्य विद्वान् करने में अच्छे प्रकार यत्न करें। जिससे शत्रुओं के पराजय और अज्ञान के विनाश से चक्रवर्ति राज्य और विद्या की वृद्धि सदैव होवें ॥ ६ ॥



अथेन्द्रशब्देन सूर्य्यलोकगुणा उपदिश्यन्ते—

यः कुक्षिः सोमपातमः समुद्रइव पिन्वते । उर्वीरापो न काकुदः ॥ ७ ॥

यः । कुक्षिः । सोमऽपातमः । समुद्रःऽइव । पिन्वते ॥ उर्वीः । आपः । न । काकुदः ॥ ७ ॥

पदार्थः—(यः) सूर्य्यलोकः (कुक्षिः) कुष्णाति निष्कर्षति सर्वपदार्थेभ्यो रसं यः। अत्र प्लुषिकुषिशुषिभ्यः क्सिः। उ० ३। १५५ अनेन 'कुष' धातोः क्सिः प्रत्ययः। (सोमपातमः) यः सोमान् पदार्थान् किरणैः पाति, सोऽतिशयितः (समुद्रइव) समुद्रवन्त्यापो यस्मिंस्तद्वत् (पिन्वते) सिञ्चति सेवते वा (उर्वीः) बह्वीः पृथिवीः। उर्वीति पृथिवीनामसु पठितम्। निघं० १। १। (आपः) जलानि, वाऽऽप्नुवन्ति शब्दोच्चारणादिव्यवहारान् याभिस्ता आपः प्राणाः[1]। आप इत्युदकनामसु पठितम्। निघं० १। १२। आप इति पदनामसु पठितम्। निघं० ५। ३ आभ्यां प्रमाणाभ्यामप्शब्देनात्रोदकानि सर्वचेष्टाप्राप्तिनिमित्तत्वात् प्राणाश्च गृह्यन्ते। (न) उपमार्थे (काकुदः) वाचः शब्दसमूहः। काकुदिति वाङ्नामसु पठितम्। निघं० १। ११॥ ७ ॥

अन्वयः—यः कुक्षिः सोमपातमः सूर्य्यलोकः समुद्र इव जलानीवापः काकुदो न प्राणा वायवो वाचः शब्दसमूहमिवोर्वीः पृथिवीः पिन्वते ॥ ७ ॥

अत्रोपमालङ्कारौ स्तः।

भावार्थः—**इन्द्रेणेश्वरेण यथा जलस्थितिवृष्टिहेतुः समुद्रो वाग्व्यवहारहेतुः प्राणश्च रचित-स्तथैव पृथिव्याः प्रकाशाकर्षणादे रसविभागस्य च हेतुः सूर्य्यलोको निर्मितः। एताभ्यां सर्व-प्राणिनामनेके व्यवहाराः सिध्यन्तीति ॥ ७ ॥**

---

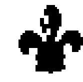
१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'प्राणः' इत्यपपाठः।

अगले मन्त्र में इन्द्र शब्द से सूर्य्यलोक के गुणों का व्याख्यान किया है—

पदार्थान्वयभाषा—[(यः)] जो सूर्य्य लोक (कुक्षिः) सब पदार्थों से रस को खींचनेवाला, तथा (सोमपातमः) सोम अर्थात् संसार के पदार्थों का रक्षक है, वह (समुद्र इव) जैसे समुद्र को जल, तथा (आपो न काकुदः) शब्दों के उच्चारण आदि व्यवहारों के करानेवाले प्राण [जैसे] वाणी को सेवन करते हैं, वैसे (उर्वीः) सब पृथिवी को [(पिन्वते)] सेचन वा सेवन करता है ॥ ७ ॥

इस मन्त्र में दो उपमालङ्कार हैं।

भावार्थ—ईश्वर ने जैसे जल की स्थिति और वृष्टि का हेतु समुद्र, तथा वाणी के व्यवहार का हेतु प्राण बनाया है, वैसे ही सूर्य्यलोक वर्षा होने, पृथिवी के आकर्षण-प्रकाश आदि, और रस-विभाग करने का हेतु बनाया है। इन से सब प्राणियों के अनेक व्यवहार सिद्ध होते हैं ॥ ७ ॥



पुनस्तन्निमित्तकार्य्यमुपदिश्यते—

ए॒वा ह्य॑स्य सू॒नृता॑ वि॒र॒प्शी गोम॑ती म॒ही। प॒क्वा शाखा॒ न दा॒शुषे॑ ॥ ८ ॥

ए॒व। हि। अ॒स्य॒। सू॒नृता॑। वि॒ऽर॒प्शी। गोऽम॑ती। म॒ही ॥ प॒क्वा। शाखा॑। न। दा॒शुषे॑ ॥ ८ ॥

पदार्थः—(एव) **अवधारणार्थे** (हि) हीत्यनेककर्मा। निरु० १। ५। (**अस्य**) **परमेश्वरस्य सूर्य्यलोकस्य वा प्रकाशनात्** (**सूनृता**)[1] **प्रियसत्यप्रकाशिका वाक्, अन्नादिपदार्थवती वा।** सूनृतेत्यन्ननामसु पठितम्। निघं० २। ७। [2]**सुष्ठु ऋतं=यथार्थं ज्ञानं यस्यां सा, अन्नवती**[3] **वा।** (**विरप्शी**) **महाविद्यायुक्ता।** विरप्शी इति महन्नामसु पठितम्। निघं० ३। ३। (**गोमती**) **गावो भूयांसः स्तोतारो विद्यन्ते यस्यां सा।** गौरिति स्तोतृनामसु पठितम्। निघं० ३। १६। (**मही**) **सर्वपूज्या वाङ्मयी वेदचतुष्टयी, पृथिवी वा।** महीति वाङ्नामसु पठितम्। निघं० १।११; पृथिवीनामसु च। निघं० १। १। (**पक्वा**) **पक्वफलयुक्ता** (**शाखा**) **वृक्षावयवः**[4]। शाखाः खशयाः शक्नोतेर्वा। निरु० १। ४। (**न**) **इव** (**दाशुषे**) **अध्ययनार्थं तद्राज्यप्राप्त्यर्थं च ध्यानं ददते मनुष्याय** ॥ ८ ॥

१. सुतरामूनयत्यप्रियमिति सूनृ प्रियमुच्यते। द्र०—पूर्वत्र ऋ० १।३।११ सूनृतावतीपदस्यार्थः। सूनृ = प्रियम् ऋतं यस्यां सा सूनृता=प्रियत्वगुणोपेता सत्या वाक्। तदुक्तम्—सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्। मनु० ४।१३८ ॥

२. अयमन्यो विग्रहः—'सु सुष्ठु ऋतं यथार्थज्ञानमस्यां सा'। अस्मिन् विग्रहे पृषोदरादित्वात् सुपदस्य दीर्घत्वं नुडागमश्च। द्र०—उत्तरत्र ऋ० १।३०।५ मन्त्रे सूनृतापदव्याख्यानम्।

३. अन्नवतीत्यर्थे सूनृताऽन्नं विद्यते यस्यां सा, अत्र मतुपो लोपो द्रष्टव्यः। अथवा 'अथापि ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति' (निरु० २।५) इति वचनात् तद्धिताभावेऽपि तद्धितार्थो व्याख्येयः।

४. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'वृक्षावयवाः' इत्यपपाठः, शाखापदस्यैकवचनान्तत्वात्।

अन्वयः—[1]पक्वा शाखा न इवास्य हि गोमती सूनृता विरप्शी मही दाशुषे [एव] सुखं पिन्वते ॥ ८ ॥

अत्रोपमाश्लेषालङ्कारौ[2]।

भावार्थः—यथा विविधपुष्पफलवन्त[3] आम्रपनसादयो वृक्षा विविधफलप्रदाः सन्ति, तथैवेश्वरेण प्रकाशिता विविधविद्यानन्दप्रदा वेदाः, अनेकसुखभोगप्रदाः पृथिव्यादयश्च प्रसिद्धीकृताः सन्ति। एतेषां प्रकाशो राज्यं च विद्वद्भिरेव कर्त्तुं शक्यते ॥ ८ ॥

[4]फिर इन्द्र (=परमेश्वर वा सूर्य) निमित्तक कार्य्य का प्रकाश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—(पक्वा शाखा न) जैसे आम और कटहर आदि वृक्ष, पकी डाली और फलयुक्त होने से प्राणियों को सुख देनेहारे होते हैं, वैसे (अस्य हि) इस परमेश्वर की ही (गोमती) जिसको बहुत से विद्वान् सेवन करनेवाले हैं, जो (सूनृता) प्रिय और सत्यवचन प्रकाश करनेवाली, (विरप्शी) महाविद्यायुक्त, और (मही) सब को सत्कार करने योग्य चारों वेद की वाणी है, सो (दाशुषे) पढ़ने में मन लगानेवालों को [(एव) ही] सब विद्याओं का प्रकाश करनेवाली है ॥

तथा [(पक्वा शाखा न) जैसे आम आदि वृक्षों की पके फलों से युक्त शाखायें प्राणियों को सुख देनेवाली होती है, वैसे] (अस्य हि) इस सूर्य्यलोक की (गोमती) उत्तम मनुष्यों के सेवन करने योग्य, (सूनृता) अन्नादि पदार्थों का प्रकाश करनेवाली, (विरप्शी) बड़ी से बड़ी दीप्ति, और (मही) बड़े-बड़े गुणयुक्त पृथिवी है, वह (दाशुषे) राज्य की प्राप्ति के लिये राज्यकर्मों में चित्त देनेवालों को [(एव) ही] सुख देनेवाली होती है ॥ ८ ॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार और श्लेषालङ्कार है[5]।

भावार्थ—जैसे विविध प्रकार से फलफूलों से युक्त आम और कटहर आदि वृक्ष नाना प्रकार के फलों के देनेवाले होके सुख देनेहारे होते हैं, वैसे ही ईश्वर से प्रकाश की हुई, बहुत प्रकार की विद्याओं तथा आनन्द को देनेहारी वेदवाणी, तथा सब मनुष्यों को अनेक प्रकार

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'हि' पक्वा शाखा न' इत्येवं पठ्यते। अत्र 'हि' पदमस्थाने पठितम्। द्र०—भाषा-पदार्थः।

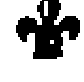
२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'उपमालङ्कारः' इत्येव निर्दिश्यते। मन्त्र-पदार्थे 'अस्य सूनृता गोमती दाशुषे' पदानां द्विविधार्थनिर्देशाद् अत्र श्लेषालङ्कारोऽपि द्रष्टव्यः। अत एव भाषायां मन्त्रो द्विधा व्याख्यायते

३. वै० य० मुद्रितयोः १-२ संस्करणयोः 'विविधपुष्पफलवाना आम्रपनसादयो' इत्यपपाठः। तृतीये संस्करणे पाठः शोधितः।

४. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'उक्त अर्थों के निमित्त और कार्य' अपपाठ है।

५. वै० य० मुद्रित संस्करणों में उपमालङ्कार का ही निर्देश है। परन्तु संस्कृत-पदार्थ तथा भाषा-पदार्थ में दो किस्म का अर्थ होने से यहां 'श्लेषालङ्कार' भी जानना चाहिये।

के सुख और भोगों के देनेहारे पृथिव्यादि रचे हैं। जो विद्वान् लोग हैं, वे ही वेदों का प्रकाश और पृथिवी में राज्य करने को समर्थ होते हैं॥ ८॥



य एवं कुर्वन्ति, तेषां किं भवतीत्युपदिश्यते—

एवा हि ते विभूतय ऊतय इन्द्र मावते। सद्यश्चित् सन्ति दाशुषे॥ ९॥

एव। हि। ते। विऽभूतयः। ऊतयः। इन्द्र। माऽवते॥ सद्यः। चित्। सन्ति। दाशुषे॥ ९॥

पदार्थः—(एव) निश्चयार्थे (हि) हेत्वर्थे (ते) तव (विभूतयः) विविधा भूतय ऐश्वर्य्याणि यासु ताः (ऊतयः) रक्षाविज्ञानसुखप्राप्त्यादयः (इन्द्र) सर्वतो रक्षयितरीश्वर! (मावते) मत्सदृशाय। वतुप्प्रकरणे युष्मदस्मद्भ्यां छन्दसि सादृश्य उपसंख्यानम्। अ० ५।२।३९ [वा०] अनेनास्मच्छब्दात् सादृश्यार्थे वतुप्। आ सर्वनाम्नः। अ० ६। ३। ९१ इत्याकारादेशश्च। (सद्यः) शीघ्रमेव। सद्यः परुत्परार्य्यैषमः। अ० ५। ३। २२। समाने अहनि इति सद्यः, इति भाष्यवचनात् समाने अहन्येतस्मिन्नर्थे सद्य इति शब्दो निपातितः। (चित्) पूजार्थे। चिदिति पूजायाम्। निरु० १। ४। (सन्ति) भवन्तु [वा]। अत्र लोडर्थे लट् वा[१]। (दाशुषे) सर्वोपकारधर्मं आत्मानं दत्तवते॥ ९॥

अन्वयः—हे इन्द्र जगदीश्वर! भवत्कृपया यथा ते तव विभूतय ऊतयो मह्यं प्राप्ता सन्ति भवन्ति, तथैवैता मावते दाशुषे चिदेव हि सद्यः प्राप्नुवन्तु[२]॥ ९॥

अत्र लुप्तोपमालङ्कारः।

भावार्थः—ईश्वरस्याज्ञास्ति[३]—ये जनाः पुरुषार्थिनो भूत्वा धार्मिकाः परोपकारिणो भवन्ति, त एव पूर्णमैश्वर्य्यरक्षणं कृत्वा सर्वत्र सत्कृता जायन्ते॥ ९॥

जो मनुष्य ऐसा करते हैं, उनको क्या सिद्ध होता है, सो अगले मन्त्र में प्रकाश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (इन्द्र) जगदीश्वर! आपकी कृपा से जैसे (ते) आपके जो-जो (विभूतयः) उत्तम ऐश्वर्य, और (ऊतयः) रक्षा विज्ञान आदि गुण मुझको (सन्ति) प्राप्त हैं, वैसे [ही वे] (मावते) मेरे तुल्य (दाशुषे चित्) सब प्रकार के उपकार और धर्म में मन को देनेवाले पुरुष को (सद्य एव) शीघ्र ही प्राप्त हों॥ ९॥

इस मन्त्र में लुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थ—ईश्वर की आज्ञा का प्रकाश इस रीति से किया है कि[४]—जो मनुष्य पुरुषार्थी

१. अन्वये 'सद्यः प्राप्ता भवन्तु=प्राप्नुवन्तु' इत्यत्रानुषङ्गाय लोडर्थोऽपि स्वीकृतः।

२. अत्र 'सन्तु' पदार्थविषयका प्रथमा टिप्पणी द्रष्टव्या।

३. अत्र 'ईश्वरस्योपदेशोऽस्ति' इति पाठः साधुतरः स्यात्।

४. यहां 'ईश्वर का उपदेश है कि' पाठ अच्छा प्रतीत होता है।

होके सब का उपकार करनेवाले और धार्मिक होते हैं, वे ही पूर्ण ऐश्वर्य और[1] ईश्वर की यथायोग्य रक्षा आदि को प्राप्त होके सर्वत्र सत्कृत होते हैं ॥ ९ ॥



इयं सर्वा प्रशंसा कस्यास्तीत्युपदिश्यते—

एवा ह्यस्य काम्या स्तोम उक्थं च शंस्या । इन्द्राय सोमपीतये ॥ १० ॥

एव । हि । अस्य । काम्या । स्तोमः । उक्थम् । च । शंस्या ॥ इन्द्राय । सोमऽपीतये ॥ १० ॥

पदार्थः—(एव) अवधारणार्थे (हि) हेत्वपदेशे (अस्य) वेदचतुष्टयस्य (काम्या) कमनीये । अत्र सुपां सुलुग्०[अ० ७ । १ । ३९]इति [2]द्विवचनस्याकारादेशः । (स्तोमः) सामगानविशेषः स्तुतिसमूहः (उक्थम्) उच्यन्त ईश्वरगुणा येन [3]तदृक्समूहम्[4] (च) समुच्चयार्थे। अनेन यजुरथर्वणोर्ग्रहणम् । (शंस्या) प्रशंसनीये कर्मणी । अत्रापि सुपां सुलुग्० [अ० ७।१।३९] इत्याकारादेशः । (इन्द्राय) परमैश्वर्य्यवते परमात्मने (सोमपीतये) सोमानां सर्वेषां पदार्थानां पीतिः पानं यस्य तस्मै । सह सुपा । अ० २ । १ । ४ इति सामान्यतः [5]समासः ॥ १० ॥

अन्वयः—ये अस्य वेदचतुष्टयस्य [काम्या] काम्ये [शंस्या] शंस्ये स्तोम उक्थं च स्तः, ते सोमपीतये इन्द्राय [एव] हि भजतः ॥ १० ॥

भावार्थः—यथास्मिन् जगति केनचिन्निर्मितान् पदार्थान् दृष्ट्वा तद्रचयितुः प्रशंसा भवति, तथैव सर्वैः प्रत्यक्षाप्रत्यक्षैर्जगत्स्थैः सूर्य्यादिभिरुत्तमैः पदार्थैस्तद्रचनया च वेदेष्वीश्वरस्यैव धन्यवादाः सन्ति । नैतस्य समाधिका वा कस्यचित् स्तुतिर्भवितुमर्हतीति ॥ १० ॥

एवं य ईश्वरस्योपासकाः क्रियावन्तस्तदाश्रिता विद्ययात्मसुखं क्रियया च शरीरसुखं [6]प्राप्य ते-

१. 'ऐश्वर्यरक्षणं कृत्वा' के भाषा में दो भाव व्यक्त किये हैं । एक—ऐश्वर्य की रक्षा करके, दूसरा—ईश्वर से की गई (=ईश्वरस्येदमैश्वर्यम्, ऐश्वर्यं च तद्रक्षणं च) रक्षा ।

२. 'स्तोम उक्थं च' इत्यनयोर्द्वित्वमाश्रित्येदं व्याख्यानम् । प्रतिपदमन्वये तु एकवचनस्याकारादेशो ज्ञेयः ।

३. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'तादृक्समूहम्' इत्यपपाठः । अस्मिन् पाठे कस्य समूह इत्यर्थो न ज्ञायते । पूर्वत्र साम्न उत्तरत्र च यजुरथर्वणोर्निर्देशादत्र 'तदृक्समूहम्' इत्येव युक्तः पाठः ।

४. यद्यपि 'समूह' शब्दः प्रायेण पुल्लिगः प्रयुज्यते, तथापि 'लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य' (१ । १ । ३) इतिभाष्यवचनानुसारं नपुंसकलिङ्गोऽपि साधुः । तथा च महाभाष्ये 'सम्बन्धमनुवर्तिष्यते' (१।१।३) इत्यत्र पुंल्लिङ्गो नपुंसके; 'कोऽसावनुमानः' (१।३।१) इत्यत्र नपुंसकलिङ्गः पुंल्लिङ्गे प्रयुज्यते ।

५. अत्र विग्रहो बहुव्रीहेर्निदिश्यते—सोमानां पीतिर्यस्य । तच्चेन्द्रस्य विशेषणम् । स्वरोऽप्यत्र बहुव्रीहेरेवोपलभ्यते । तथा सति 'सह सुपा' इत्यनेनात्र कथं समास इति न ज्ञायते ? प्रतीयते भाष्यकृता प्रथमं सोमपीतये पदमन्यथा व्याख्यातं स्यात्, तस्मिंश्च व्याख्याने ग्रन्यसमासलक्षणभावे 'सह सुपा' इत्यनेन समासो निर्दिष्टः स्यात् । उत्तरकाले पदार्थव्याख्यानं परिवर्तितं, समासविधायकं सूत्रं नापमृष्टम्, अर्थात् पूर्ववद् स्थितम् । वर्तमानार्थे नास्योपयोगः । ६. व० य० मुद्रितयोः १-२ संस्करणयोः 'प्राप्यतेऽस्यैव' इत्येवमपपाठः । अत्रत्यस्य 'ते' पदस्य सम्बन्धः पूर्वत्र 'तदाश्रितास्ते विद्ययात्मसुखं' इत्येवं द्रष्टव्यः ।

सदा प्रशंसां कुर्य्युरित्यस्याष्टमस्य सूक्तोक्तार्थस्य सप्तमसूक्तोक्तार्थेन सह सङ्गतिरस्तीति ज्ञेयम् ॥

अस्यापि सूक्तस्य मन्त्रार्थाः सायणाचार्य्यादिभिर्यूरोपाख्यदेशस्थैर्विलासनाख्यादिभिश्चाऽन्यथावद्वर्णिता इति वेदितव्यम् ॥ १० ॥

इत्यष्टमं सूक्तं षोडशश्च वर्गः समाप्तः ॥

उक्त सब प्रशंसा किसकी है, सो अगले मन्त्र में प्रकाश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—[1]जो (अस्य) इन चार वेदों के (काम्या) अत्यन्त मनोहर (शंस्या) प्रशंसा करने योग्य गुण कर्म, वा (स्तोमः) सामगान तथा (उक्थम्) जिससे परमेश्वर के गुणों का कीर्तन किया जाता है वह ऋक्समूह, (च) और यजुर्वेद तथा अथर्ववेद के जो मन्त्र हैं वे (सोमपीतये) अपनी व्याप्ति से सब पदार्थों के अंश-अंश का पान करनेवाले (इन्द्राय) परमेश्वर की (एव हि) हीं स्तुति करते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ—जैसे इस संसार में अच्छे-अच्छे पदार्थों की रचना-विशेष देखकर उसके रचनेवाले की प्रशंसा होती है, वैसे ही संसार के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष अत्युत्तम सूर्यादि पदार्थों तथा उनकी विशेष रचना से वेदों में[2] ईश्वर ही को धन्यवाद दिये जाते हैं। इस कारण से परमेश्वर की स्तुति के समान वा उससे अधिक किसी की स्तुति नहीं हो सकती ॥ १० ॥

इस प्रकार जो मनुष्य ईश्वर की उपासना और वेदोक्त कर्मों के करनेवाले हैं, वे ईश्वर के आश्रित होके वेदविद्या से आत्मा के सुख, और उत्तम क्रियाओं से शरीर के सुख को प्राप्त कर सदा परमेश्वर ही की प्रशंसा करते रहें। इस अभिप्राय से इस आठवें सूक्त के अर्थ की उक्त सातवें सूक्त के अर्थ के साथ सङ्गति जाननी चाहिये ॥

इस सूक्त के मन्त्रों के भी अर्थ **सायणाचार्य्य** आदि, और यूरोपदेशवासी अध्यापक **विलसन** आदि अङ्गरेज लोगों ने उलटे वर्णन किये हैं ॥ १० ॥

यह आठवां सूक्त और सोलहवां वर्ग समाप्त हुआ ॥



अथ नवमस्य दशर्चस्य सूक्तस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । इन्द्रो देवता ।
१, ३, ७, १० निचृद्गायत्री; २, ४, ८, ९ गायत्री;
५, ६ पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री च छन्दः ।
षड्जः स्वरः ॥

---

१. वै० य० मुद्रित संस्करणों में भाषा-पदार्थ सम्भवतः पुराने संस्कृत-पदार्थ और अन्वय का है। संस्कृत-पदार्थ में पीछे से परिवर्तन हुआ है। इसका संकेत पूर्व पृष्ठ ५५६ टि० ५ में किया है। संस्कृत-पदार्थ और अन्वय के बदल जाने से हमने भाषापदार्थ को वर्तमान संस्कृत-पदार्थ वा अन्वयानुसारी बनाया है।

२. इसका भाव यह है कि—वेदों में प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष सूर्य्यादि पदार्थों का, और उनकी रचना का जो वर्णन किया है, उसके द्वारा रचयिता ईश्वर की ही प्रशंसा की गई है।

तत्रेन्द्रशब्देनोभावर्थावुपदिश्येते—

इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः । महाँ अभिष्टिरोजसा ॥ १ ॥

इन्द्र । आ । इहि । मत्सि । अन्धसः । विश्वेभिः । सोमपर्वऽभिः ॥ महान् । अभिष्टिः । ओजसा ॥ १ ॥

पदार्थः—(**इन्द्र**) सर्वव्यापकेश्वर ! सूर्य्यलोको वा (**आ**) क्रियार्थे (**इहि**) प्राप्नुहि प्रापयति वा । अत्र [पक्षे] पुरुषव्यत्ययः लडर्थे लोट् च । (**मत्सि**) हर्षयितासि भवति वा । अत्र बहुलं छन्दसि [अ० २ । ४ । ७३] इति श्यनो लुक्[1], पक्षे पुरुषव्यत्ययश्च । (**अन्धसः**) अन्नानि पृथिव्यादीनि । अन्ध इत्यन्ननामसु पठितम् । निघं० २ । ७ । (**विश्वेभिः**) सर्वैः । अत्र बहुलं छन्दसि [अ० ७ । १ । १०] इति भिस ऐसादेशाभावः । (**सोमपर्वभिः**) सोमानां पदार्थानां पर्वाण्यवयवास्तैः सह[2] (**महान्**) सर्वोत्कृष्ट ईश्वरः सूर्य्यलोको वा परिमाणेन महत्तमः (**अभिष्टिः**) अभितः सर्वतो ज्ञाता ज्ञापयिता मूर्त्तद्रव्यप्रकाशको वा । अत्राभिपूर्वाद् 'इष गतौ' इत्यस्माद्धातोर्मन्त्रे वृषेष० । अ० ३ । ३ । ९६ अनेन क्तिन् । एमन्नादिषु छन्दसि पररूपं वक्तव्यम् । एङि पररूपम् [अ० ६ । १ । ९१] इत्यस्योपरिस्थवार्त्तिकेनाभेरिकारस्य [इष्टेरिकारस्य च स्थाने] पररूपेणेदं सिध्यति । (**ओजसा**) बलेन । ओज इति बलनामसु पठितम् । निघं० २ । ९ ॥ १ ॥

अन्वयः—[3]यथाऽयमिन्द्र सूर्य्यलोक ओजसा महानभिष्टिर्विश्वेभिः सोमपर्वभिः सहान्धसोऽन्नानां पृथिव्यादीनां प्रकाशेनेहि [प्रापयति] मत्सि हर्षहेतुर्भवति, [3]तथैव हे इन्द्र ! त्वं महानभिष्टिर्विश्वेभिः सोमपर्वभिः सह वर्त्तमानः सन् [4]ओजसोऽन्धस एहि प्रापयसि मत्सि हर्षयितासि ॥१॥

अत्र श्लेषलुप्तोपमालङ्कारौ[5] ।

भावार्थः—यथेश्वरोऽस्मिन् जगति प्रतिपरमाण्वभिव्याप्य सततं सर्वान् लोकान् नियतान्

---

१. स्थानिनः शपो लुक आदेशेऽत्रोपचारो द्रष्टव्यः । तेन शपो लुकि श्यनोऽभाव इति भावः । अग्रेऽपि सर्वत्रेत्थमेव ज्ञेयम् ।

२. सहार्थे तृतीया । यथा 'वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेष.' (अ० १ । २ । ६५) इत्यत्र ।

३. अत्रान्वये यथा तथा प्रयोगेऽपि नात्रोपमालंकारः, अपितु सूर्यपर ईश्वरपरश्च द्वौ स्वतन्त्रार्थौ । लुप्तोपमायां कैश्चिदेव पदैः सोऽर्थो द्योत्यते । इह तु मन्त्रार्थभूमिकायां द्वयोरर्थयोः निर्देशात्, पदार्थे च कांश्चिदेव पदान् परित्यज्य सर्वेषामर्थद्वयस्य निर्देशाच्च भाष्यकृतः श्लेषालङ्कार एव तात्पर्यम् । न तु लुप्तोपमायामपीति स्पष्टम् । इदमत्र सम्भाव्यते—पूर्वं भाष्यकृता लुप्तोपमालंकारेणायं मन्त्रो व्याख्यातः स्यात्, तदनु श्लेषालंकारेण द्वौ स्वतन्त्रावर्थौ निर्दिष्टौ स्याताम्, अन्वयेऽत्र यथावत् शोधनं न संजातं स्यात् । अपि च यथाऽन्वयस्तथा सूर्य उपमारूपेण ईश्वरश्चोपमेयरूपेण निर्दिश्येते । भावार्थे तु विपर्ययेण निर्देशः क्रियते । वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु भाषापदार्थेऽन्यथान्वयदर्शनमप्युक्तसंभावनायां हेतुः सम्भवति । लुप्तोपमायामुभयत्रैकरूप्येण भाव्यम् । एवमेवालंकारनिर्देशेऽपि द्वयोरलङ्कारयोर्गतिश्चिन्तनीया ।

४. अत्रत्यमोजसापदं प्रथमान्वय इव द्वितीयान्वयेऽपि 'हे इन्द्र त्वं' इत्यस्मात् परमुचितम् ।

५. अत्रान्वयस्य टिप्पणी ३ द्रष्टव्या ।

रक्षति, तथा सूर्य्योऽपि सर्वेभ्यो लोकेभ्यो महत्त्वादभिमुखस्थान्[1] पदार्थानाकृष्य प्रकाश्य व्यवस्थापयति ॥ १ ॥

अब नवम सूक्त के आरम्भ के मन्त्र में इन्द्र शब्द से परमेश्वर और सूर्य्य का प्रकाश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—[2]जिस प्रकार से यह (इन्द्र) सूर्य्यलोक (ओजसा) बल से (महान्) पृथिवी आदि से बहुत बड़ा, और (अभिष्टिः) मूर्तद्रव्यों का प्रकाशक (विश्वेभिः) सब (सोमपर्वभिः) पदार्थों के अवयवों के साथ (अन्धसः) पृथिवी और अन्नादि पदार्थों को प्रकाश से (एहि) व्याप्त होता, और प्राणियों को (मत्सि) आनन्द देता है, वैसे ही हे (इन्द्र) सर्वव्यापक ईश्वर ! (महान्) सबसे उत्तम, (अभिष्टिः) सर्वज्ञ, और सब ज्ञान के देनेवाले आप (विश्वेभिः सोमपर्वभिः) सब पदार्थों के अंशों के साथ वर्त्तमान होकर (ओजसा) [सर्वशक्तिमत्त्वादि] बल से (अन्धसः) भूमि आदि तथा अन्नादि उत्तम पदार्थों को (एहि) प्राप्त कराते हो, और (मत्सि) सुख देते हो ॥ १ ॥

इस मन्त्र में श्लेष और लुप्तोपमालङ्कार हैं ।

भावार्थ—जैसे ईश्वर इस संसार के परमाणु-परमाणु में व्याप्त होकर सब की रक्षा निरन्तर करता है, वैसे ही सूर्य्य भी सब लोकों से बड़ा होने से अपने सम्मुख हुए पदार्थों को आकर्षण वा प्रकाश करके अच्छे प्रकार व्यवस्थित करता है ॥ १ ॥



अथ शिल्पविद्यानुषङ्गिणौ अग्निजले उपदिश्येते—

एमेनं सृजता सुते मन्दिमिन्द्राय मन्दिने । चक्रिं विश्वानि चक्रये ॥ २ ॥

आ । ईम् । एनम् । सृजत । सुते । मन्दिम् । इन्द्राय । मन्दिने ॥ चक्रिम् । विश्वानि । चक्रये ॥२॥

पदार्थः—(**आ**) क्रियार्थे (**ईम्**) **जलमग्निं वा** । ईमित्युदकनामसु पठितम् । निघं० १ । १२; ईर्मिति पदनामसु च । निघं० ४ । २ । **अनेन शिल्पविद्यासाधकतमावेतौ गृह्येते** । **(एनम्) [पूर्वोक्तम्] अर्थद्वयम् (सृजत) विविधतया प्रकाशयत संपादयत वा (सुते) उत्पन्नेऽस्मिन् पदार्थसमूहे जगति (मन्दिम्) मन्दन्ति हर्षन्त्यस्मिँस्तम् (इन्द्राय) ऐश्वर्य्यमिच्छवे जीवाय (मन्दिने) मन्दितुं मन्दयितुं [वा] शीलवते (चक्रिम्) शिल्पविद्याक्रियासाधनेषु यानानां शीघ्र-**

---

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'अभिमुख्यस्थान्' इत्यपपाठः ।

२. वै० य० मुद्रित संस्करणों में भाषार्थ में मन्त्रपद और उनके अर्थ आगे-पीछे छपे हैं । हमने उन्हें वर्तमान संस्कृत-अन्वय के अनुसार यथास्थान रख दिया है । और स्वल्प-सा पाठ शोधा है । **विशेष**—संस्कृत-पदार्थ के अनुसार यहां सूर्यपरक और ईश्वरपरक दो स्वतन्त्र अर्थ जानने चाहियें ।

चालनस्वभावम् (**विश्वानि**) **सर्वाणि वस्तूनि निष्पादयितुम्**[1] ।(**चक्रये**) **पुरुषार्थकरणशीलाय** ॥ २ ॥

अन्वयः—हे विद्वांसः सुत उत्पन्नेऽस्मिन् पदार्थसमूहे जगति विश्वानि कार्य्याणि कर्त्तुं मन्दिन इन्द्राय **जीवाय** मन्दिं चक्रये चक्रि[मेनमी]मासृजत ॥ २ ॥

भावार्थः—विद्वद्भिरस्मिन् जगति पृथिवीमारभ्येश्वरपर्य्यन्तानां पदार्थानां विज्ञानप्रचारेण[2] **सर्वान् मनुष्यान् विद्यया क्रियावतः संपाद्य सर्वाणि सुखानि सदा संपादनीयानि** ॥ २ ॥

शिल्पविद्या के उत्तम साधन जल और अग्नि का वर्णन अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे विद्वानो ! (सुते) उत्पन्न हुए पदार्थ-समूहरूपी संसार में (विश्वानि) सब वस्तुओं को बनाने, वा सब कार्यों के करने के लिये (मन्दिने) हर्षित करने या कराने के स्वभाववाले, तथा (इन्द्राय) परमैश्वर्य की इच्छा करनेवाले जीव के लिये (मन्दिम्) आनन्द बढ़ानेवाले, और (चक्रये) पुरुषार्थ करने के स्वभाववाले के लिये (चक्रिम्) शिल्पविद्या से सिद्ध किये हुए साधनों में यानों को शीघ्र चलाने के स्वभाववाले (एनम्) इन (ईम्) जल और अग्नि को (आसृजत) अत्यन्त प्रकाशित करो ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वानों को इस संसार में पृथिवी से लेके ईश्वरपर्यन्त पदार्थों के विशेष ज्ञान के प्रचार से, वा उत्तम शिल्पविद्या से सब मनुष्यों को उत्तम-उत्तम क्रिया सिखाकर सब सुखों का प्रकाश करना चाहिये ॥ २ ॥



[3]अथेन्द्रशब्देनेश्वर उपदिश्यते—

मत्स्वा सुशिप्र मन्दिभिः स्तोमेभिर्विश्वचर्षणे । सचैषु सवनेष्वा ॥ ३ ॥

मत्स्व । सुऽशिप्र । मन्दिऽभिः । स्तोमेभिः । विश्वऽचर्षणे । सचा । एषु । सवनेषु । आ ॥ ३ ॥

पदार्थः—(**मत्स्व**) **अस्माभिः स्तुतः सन् सदा हर्षय** । द्व्यचोऽतस्तिङः [अ० ६ । ३ । १३४] **इति दीर्घः** । बहुलं छन्दसि [अ० २ । ४ । ७३] **इति श्यनो लुक्**[4] **च** । (**सुशिप्र**) **शोभनं शिप्रं ज्ञानं प्रापणं वा यस्य तत्संबुद्धौ** (**मन्दिभिः**) **तज्ज्ञापकैर्हर्षकरैश्च गुणैः** (**स्तोमेभिः**) **वेदस्थैः स्तुतियुक्तैस्त्वद्गुणप्रकाशकैः स्तोत्रैः** । बहुलं छन्दसि [अ० ७ । १ । १०] **इति भिस ऐस् न** । (**विश्वचर्षणे**) **विश्वस्य सर्वस्य जगतश्चर्षणिर्द्रष्टा तत्संबुद्धौ** । विश्वचर्षणिरिति

१. पदार्थ-सगतयेऽध्याहृतमिदं पदम् ।

२. 'पदार्थानां विज्ञानस्य प्रचारेण' इत्येवं वाक्ये विज्ञानपदस्य सापेक्षत्वादसमर्थत्वम् । तथापि 'यथा देवदत्तस्य गुरोः कुलम्' इत्यत्र 'देवदत्तस्य गुरुकुलम्' इत्येव समासो भवति, तथैवात्रापि ज्ञेयम् । अत एवोक्तं महाभाष्यकृता—'भवति वै प्रधानस्य सापेक्षस्यापि समासः, यथा देवदत्तस्य गुरुकुलम्' । अ० २।१।१ ॥

३. अस्मिन् मन्त्रे साक्षादिन्द्रपदस्यापाठेऽपि सूक्तस्यैन्द्रत्वादिह 'इन्द्रपदेन' इत्युक्तम् ।

४. द्र०—पूर्वत्र पृष्ठ ५५८, टि० १ ।

पश्यतिकर्मसु[1] पठितम् । निघं० ३ । ११ । (सचा) सचन्ति ये ते [2]सचास्तान् सचानस्मान् विदुषः । अत्र शसः स्थाने सुपां सुलुग्० [अ० ७ । १ । ३९] इत्याकारादेशः । सचेति पदनामसु पठितम् । निघं० ४ । २ अनेन ज्ञानप्राप्त्यर्थो गृह्यते । (एषु) प्रत्यक्षेषु (सवनेषु) ऐश्वर्य्येषु । 'षु प्रसवैश्वर्य्ययोः' इत्यस्य रूपम् । (आ) समन्तात् ।। ३ ।।

अन्वयः—हे विश्वचर्षणे सुशिप्रेन्द्र भगवन् ! त्वं मन्दिभिः स्तोमेभिः स्तुतः सन्नेषु सवनेषु [सचा] सचानस्मानामत्स्व समन्ताद्धर्षय ।। ३ ।।

भावार्थः—येन विश्वप्रकाशकः सूर्य्य उत्पादितस्तत्स्तुतौ ये मनुष्याः कृतनिष्ठाः [सन्ति, ते] धार्मिकाः पुरुषार्थिनो भूत्वा सर्वथा सर्वद्रष्टारं परमेश्वरं ज्ञात्वा सर्वैश्वर्य्यस्योत्पादने तद्रक्षणे च समवेता भूत्वा सुखकारिणो भवन्तीति ।। ३ ।।

अगले मन्त्र में इन्द्रशब्द से परमेश्वर का प्रकाश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (विश्वचर्षणे) सब संसार के देखने, तथा (सुशिप्र) श्रेष्ठज्ञानयुक्त परमेश्वर ! आप (मन्दिभिः) जो विज्ञान वा आनन्द के करने वा करानेवाले (स्तोमेभिः) वेदोक्त स्तुतिरूप गुणप्रकाश करनेहारे स्तोत्र हैं, उनसे स्तुति को प्राप्त होकर (एषु) इन प्रत्यक्ष (सवनेषु) ऐश्वर्य्य देनेवाले पदार्थों में (सचा) युक्त हम लोगों को करके (आ मत्स्व) अच्छे प्रकार आनन्दित कीजिये ।। ३ ।।

भावार्थ—जिसने संसार के प्रकाश करनेवाले सूर्य्य को उत्पन्न किया है, उसकी स्तुति करने में जो श्रेष्ठ पुरुष एकाग्रचित्त हैं, अथवा सब को देखनेवाले परमेश्वर को जानकर सब प्रकार से धार्मिक और पुरुषार्थी होकर सब ऐश्वर्य्य को उत्पन्न और उसकी रक्षा करने में मिलकर रहते हैं, वे ही सब सुखों को प्राप्त होने के योग्य, वा औरों को भी उत्तम-उत्तम सुखों के देनेवाले हो सकते हैं ।। ३ ।।



पुनस्सोऽर्थ उपदिश्यते—

असृग्रमिन्द्र ते गिरः प्रति त्वामुदहासत । अजोषा वृषभं पतिम् ।। ४ ।।

असृग्रम् । इन्द्र । ते । गिरः । प्रति । त्वाम् । उत् । अहासत ॥ अजोषाः । वृषभम् । पतिम् ॥ ४ ॥

पदार्थः—(असृग्रम्) सृजामि विविधतया वर्णयामि । बहुलं छन्दसि । अ० ७ । १ । ८

---

१. पश्यतिकर्मसु कानिचिन्नामान्यपि पठ्यन्ते । तैरेष भ्रमो न विधेयो यन्निघण्टुकारो नामाख्यातयोर्भेदमपि न जानाति स्म । यद्यस्य प्रवक्ता नामाख्यातयोरपि विमूढो भवेत्, तर्हि को नाम सचेता ग्रन्थमिममाद्रियेत । अतोऽत्राख्यातपदेष्वपि नाम्नां निर्देशो येन धातुना चर्षणिप्रभृतयः पदानि संस्क्रियन्ते, स धातुः पश्यतिकर्मेति भावो निघण्टुकारस्य ज्ञेयः ।

२. यद्यपि बहुत्र 'सचा' पदमव्ययरूपेणोपलभ्यते, तथापीह भाष्यकृता नामरूपेण व्याख्यातः । अस्य पचाद्यजन्तस्यान्तोदात्तत्वे प्राप्ते वृषादीनामाकृतिगणत्वात् (अ० ६।१।१९७) आद्युदात्तत्वं द्रष्टव्यम् ।

अनेन 'सृज' धातोरुडागमः। वर्णव्यत्ययेन जकारस्थाने गकारः, लडर्थे लङ् च। (इन्द्र) स्तोतव्य ! (ते) तव (गिरः) वेदवाण्यः (प्रति) इन्द्रियागोचरेऽर्थे। प्रतीत्येतस्य[1] प्रातिल प्राह। निरु० १।३। (त्वाम्) वेदवक्तारं परमेश्वरं (उदहासत) उत्कृष्टतया ज्ञापयन्ति। ओहाङ् गतौ इत्यस्माल्लडर्थे लुङ्। (अजोषाः) जुषसे। अत्र छन्दस्युभयथा [अ० ३।४।११ इत्यार्धधातुकसंज्ञाश्रयाल्लघूपधगुणः। छान्दसो वर्णलोपो वा [महा० ८।२।२५] इति थास कारस्य लोपेनेदं सिध्यति। (वृषभम्) सर्वाभीष्टवर्षकम् (पतिम्) पालकम्॥ ४॥

अन्वयः—हे इन्द्र परमेश्वर ! यास्ते तव गिरो [ता] वृषभं पतिं त्वामुदहासत। जोषाः सर्वा विद्या[3] जुषसे, ताभिरहमपि प्रतीत्थंभूतं वृषभं पतिं त्वामसृग्रं सृजामि॥ ४॥

भावार्थः—येनेश्वरेण स्वप्रकाशितेन वेदेन यादृशानि स्वस्वभावगुणकर्माणि प्रकाशिता तान्यस्माभिस्तथैव वेद्यानि सन्ति। कुतः ? ईश्वरस्यानन्तसत्यस्वभावगुणकर्मवत्वाद् अल्पज्ञैरस्मा जीवैः स्वसामर्थ्येन तानि ज्ञातुमशक्यत्वात्। यथा स्वयं स्वस्वभावगुणकर्माणि जानाति, ऽन्यैर्यथावज्ज्ञातुमशक्यानि भवन्ति। अतः सर्वैर्विद्वद्भिर्वेदवाण्यैवेश्वरादयः पदार्थाः संप्री पुरुषार्थेन च वेदितव्याः सन्ति, तेभ्य उपकारग्रहणं चेति[4]। स एवेश्वर इष्टः पालकश्च मन्त इति॥ ४॥

फिर भी अगले मन्त्र में ईश्वर का प्रकाश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! जो (ते) आपकी (गिरः) वेदवाणियां वे (वृषभम्) सब से उत्तम, सब की इच्छा पूर्ण करनेवाले, (पतिम्) सब के पालन करनेह (त्वाम्) वेदों के वक्ता आपको (उदहासत) उत्तमता के साथ जनाती हैं, और जिनका (अजोषाः) सेवन करते हो, उन्हींसे मैं भी (प्रति) उक्त गुणयुक्त आपको (असृग्रम् अनेक प्रकार से वर्णन करता हूं॥ ४॥

भावार्थ—जिस ईश्वर ने [स्वयं] प्रकाश किये हुए वेदों से जैसे अपने स्वभाव और कर्म प्रकट किये हैं, वे वैसे ही सब लोगों को जानने योग्य हैं। क्योंकि ईश्वर के सत्य स्वभ के साथ अनन्त गुण और कर्म हैं, उनको हम अल्पज्ञ लोग अपने सामर्थ्य से जानने को समर्थ न हो सकते। तथा जैसे हम लोग अपने-अपने स्वभाव गुण और कर्मों को जानते हैं, वैसे औरों उनका यथावत् जानना कठिन होता है। इसी प्रकार सब विद्वान् मनुष्यों को वेदवाणी के वि ईश्वर आदि पदार्थों को यथावत् जानना कठिन है। इसलिये प्रयत्न से वेदों को जानके

---

१. प्रतिराभिमुख्यस्यार्थस्य प्रातिलोम्यं विपरीतभावं द्योतयतीति भावः। अभिमुखं वस्तु प्रत्यक्षमिन्द्रि गोचरं भवति, तद्विपरीतमप्रत्यक्षमनिन्द्रियगोचरम्। अतोऽत्र 'इन्द्रियागोचरार्थे' इत्येवं निर्देशो भाष्यव व्यधायि। अन्वये तु प्रतीत्थंभावे प्रयुक्तः प्रतिभाति।

२. 'याः सर्वा विद्यास्त्वं जुषसे' इत्येवमत्र सम्बन्धो ज्ञेयः।

३. अत्र 'सर्वा गिरः' अथवा 'सर्वा वेदवाण्यः' पाठो युक्तः प्रतिभाति।

४. कार्यमिति शेषः।

द्वारा सब पदार्थों से उपकार लेना, तथा उसी ईश्वर को अपना इष्टदेव और पालन करनेहारा मानना चाहिये ।। ४ ।।



तस्योपासनेन किं लभ्यत, इत्युपदिश्यते—

सं चो॑दय चि॒त्रम॒र्वाग्राध॑ इन्द्र॒ वरे॑ण्यम् । अस॒दित्ते॑ वि॒भु प्र॒भु ।। ५ ।।

सम् । चो॒द॒य॒ । चि॒त्रम् । अ॒र्वाक् । राधः॑ । इ॒न्द्र॒ । वरे॑ण्यम् ॥ अस॑त् । इत् । ते॒ । वि॒ऽभु । प्र॒ऽभु ।।५।।

पदार्थः—(**सम्**) सम्यगर्थे । समित्येकीभावं प्राह । निरु० १ । ३ । (**चोदय**) प्रेरय प्रापय (**चित्रम्**) चक्रवर्त्तिराज्यश्रिया विद्यामणिसुवर्णहस्त्यश्वादियोगेनाद्भुतम् (**अर्वाक्**) प्राप्त्यनन्तरमाभिमुख्येनानन्दकारकम् (**राधः**) राध्नुवन्ति सुखानि येन तद्धनम् । राध इति धननामसु पठितम् । निघं० २ । १० । (**इन्द्र**) दयामयसर्वसुखसाधनप्रदेश्वर ! (**वरेण्यम्**) [1]वर्त्तुमर्हमतिश्रेष्ठम् । वृञ एण्यः । उ० ३ । ६६ अनेन 'वृञ् वरणे' इत्यस्माद् [2]एण्यप्रत्ययः । (**असत्**) भवेत् । अस धातोर्लेट्प्रयोगः । (**इत्**) एव (**ते**) तव (**विभु**) बहुसुखव्यापकम् (**प्रभु**) उत्तमप्रभावकारकम् ।। ५ ।।

अन्वयः—हे इन्द्र ! ते तव सृष्टौ यद्यद्वरेण्यं विभु प्रभु चित्रं राधोऽसत्, तत्त[दि]त् कृपयाऽर्वागस्मदाभिख्याय संचोदय ।। ५ ।।

भावार्थः—मनुष्यैरीश्वरानुग्रहेण स्वपुरुषार्थेन च सर्वस्यात्मशरीरसुखाय विद्यैश्वर्य्ययोः प्राप्तिरक्षणोन्नतिसन्मार्गदानानि सदैव संसेव्यानि । यतो दारिद्र्यालस्यप्रभवदुःखाभावेन दिव्या भोगाः सततं वर्धेरन्निति ।। ५ ।।

इति सप्तदशो वर्गः समाप्तः ।।

ईश्वर की उपासना से क्या लाभ होता है, सो अगले मन्त्र में प्रकाश किया है—

पदार्थान्वयभाषा–हे (इन्द्र) करुणामय, सब सुखों के [साधनों के] देनेवाले परमेश्वर ! (ते) आपकी सृष्टि में जो-जो (वरेण्यम्) अति श्रेष्ठ, (विभु) बहुत सुखों से पूर्ण, (प्रभु) उत्तम-उत्तम प्रभावों का हेतु, (चित्रम्) जिससे श्रेष्ठ विद्या चक्रवर्ति राज्य से सिद्ध होनेवाले मणि सुवर्ण और हाथी आदि अच्छे-अच्छे अद्भुत पदार्थ होते हैं, ऐसा (राधः) धन (असत्) हो, सा-सो [(इत्) ही] कृपा करके [(अर्वाक्)] हमारी ओर (संचोदयः) प्रेरित कीजिये, अथवा हमें प्राप्त कराइये ।। ५ ।।

१. ग्रन्थकृता सत्यार्थप्रकाशे (पृष्ठ ५६, पं० २३, रा०ला०क०ट्र० संस्करणे); पञ्चमहायज्ञविधौ; यजुर्वेदभाष्ये (२२ । ६; ३० । २) च गायत्रीमन्त्रव्याख्याने 'वर्तुम्' इत्येवमनिड्रूपं निर्दिश्यते । 'वृञ् वरणे' धातुस्तु सेट्त्वेन वैयाकरणैः स्वीक्रियते । ग्रन्थकृताऽपि वेदभाष्ये बहुत्र 'वरितुं वरीतुम्' इत्येवं सेड्रूपाण्यपि प्रदर्श्यन्ते । सत्येवं 'वर्तुम्' इत्यत्र 'अनित्यमागमशासनम्' (सीरदेवीय परिभाषावृत्ति सं० ६८) इत्यनया परिभाषया इटोऽभावः समाधेयः । परिभाषा चेयं ग्रन्थकृताऽपि पूर्वत्र (ऋ० १ । ६ । ७) भाष्य उद्धृता ।

२. एण्य-प्रत्यये वृषादीनां च (अष्टा० ६ । १ । १०३) इत्यनेन वृषादेराकृतिगणत्वादाद्युदात्तत्वं द्रष्टव्यम् । कासुचिदुणादिवृत्तिषु एण्यन्-प्रत्ययः पठ्यते । तथा सति नित्त्वादेवाद्युदात्तत्वं सिद्धम् ।

भावार्थ—मनुष्यों को ईश्वर के अनुग्रह और अपने पुरुषार्थ से सब के आत्मा और शरीर के सुख के लिये विद्या और ऐश्वर्य्य की प्राप्ति, वा उनकी रक्षा और उन्नति, तथा सत्यमार्ग वा उत्तम दानादि धर्म अच्छी प्रकार से सदैव सेवन करना चाहिये। जिससे दारिद्र्य और आलस्य से उत्पन्न होनेवाले दुःखों का नाश होकर अच्छे-अच्छे भोग करने योग्य पदार्थों की वृद्धि होती रहे ॥ ५ ॥

यह सत्रहवां वर्ग समाप्त हुआ ॥



कथंभूतानस्मान्कुर्वित्युपदिश्यते—

अस्मान्त्सु तत्र चोदयेन्द्र राये रभस्वतः । तुविद्युम्न यशस्वतः ॥ ६ ॥

अस्मान् । सु । तत्र । चोदय । इन्द्र । राये । रभस्वतः ॥ तुविऽद्युम्न । यशस्वतः ॥ ६ ॥

पदार्थः—(अस्मान्) विदुषो धार्मिकान् मनुष्यान् (सु) शोभनार्थे क्रियायोगे च (तत्र) पूर्वोक्ते पुरुषार्थे (चोदय) प्रेरय (इन्द्र) अन्तर्यामिन्नीश्वर ! (राये) धनाय (रभस्वतः) कार्य्यारम्भं कुर्वत आलस्यरहितान् पुरुषार्थिनः (तुविद्युम्न) बहुविधं द्युम्नं विद्याद्यनन्तं धनं यस्य तत्संबुद्धौ । द्युम्नमिति धननामसु पठितम् । निघं० २ । १० । तुवीति बहुनामसु च । निघं० ३ । १ । (यशस्वतः) यशो विद्याधर्मसर्वोपकाराख्यं प्रशंसितं[1] विद्यते येषां तान् । अत्र प्रशंसार्थे मतुप् ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे तुविद्युम्नेन्द्र परात्मँस्त्वं रभस्वतो यशस्वतोऽस्मान् तत्र पुरुषार्थे राये उत्कृष्टधनप्राप्त्यर्थं सुचोदय ॥ ६ ॥

भावार्थः—अस्यां सृष्टौ परमेश्वराज्ञायां च वर्तमानैः पुरुषार्थिभिर्यशस्विभिः सर्वैर्मनुष्यैर्विद्याराज्यश्रीप्राप्त्यर्थं सदैव प्रयत्नः कर्त्तव्यः । नैतादृशैर्विनैताः श्रियो लब्धुं शक्याः । कुतः ? ईश्वरेण पुरुषार्थिभ्य एव सर्वसुखप्राप्तेर्निर्मितत्वात् ॥ ६ ॥

अन्तर्यामी ईश्वर हम लोगों को कैसे-कैसे कामों में प्रेरणा करे, इस विषय का अगले मन्त्र में प्रकाश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (तुविद्युम्न) अनन्त विद्यादिधनयुक्त, (इन्द्र) अन्तर्यामी ईश्वर! (रभस्वतः) आलस्य को छोड़के कार्य्यों के आरम्भ करनेवाले, (यशस्वतः) विद्या धर्म और सर्वोपकार रूप प्रशंसित कीर्तिवाले (अस्मान्) हम लोगों को (तत्र) पूर्वोक्त श्रेष्ठ पुरुषार्थ में (राये) उत्तम-उत्तम धन की प्राप्ति के लिये (सुचोदय) अच्छी प्रकार प्रेरित कीजिये ॥ ६॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को उचित है कि इस सृष्टि में परमेश्वर की आज्ञा के अनुकूल वर्तमान, पुरुषार्थी और यशस्वी होकर विद्या तथा राज्यलक्ष्मी की प्राप्ति के लिये सदैव उपाय

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'यशोविद्याधर्मसर्वोपकाराख्या प्रशंसा' इत्यसम्बद्धः पाठ उपलभ्यते ।

करें। उक्त गुणवाले पुरुषों से भिन्न अन्य आलसियों से यह श्री (=ऐश्वर्य) प्राप्त नहीं की जा सकती। क्योंकि ईश्वर ने पुरुषार्थी सज्जनों ही के लिये सब सुख रचे हैं ॥ ६ ॥



पुनः कीदृशं तद्धनमित्युपदिश्यते—

सं गोम॑दिन्द्र॒ वाज॑वद॒स्मे पृ॒थु श्रवो॑ बृ॒हत् । वि॒श्वायु॑र्धेह्यक्षि॑तम् ॥ ७ ॥

सम् । गोऽम॑त् । इ॒न्द्र॒ । वाज॑ऽवत् । अ॒स्मे इति॑ । पृ॒थु । श्रवः॑ । बृ॒हत् ॥ वि॒श्वऽआ॑युः । धे॒हि॒ । अक्षि॑तम् ॥ ७ ॥

पदार्थः-(सम्) **सम्यगर्थे क्रियायोगे।** समित्येकीभावं प्राह। निरु० १।३। (**गोमत्**) **गौः प्रशस्ता वाक्, गावः स्तोतारश्च विद्यन्ते यस्मिंस्तत्। अत्र प्रशंसार्थे मतुप्।** (**इन्द्र**) **अनन्तविद्येश्वर!** (वाजवत्) **वाजो बहुविधं भोक्तव्यमन्नमस्त्यस्मिन् तत्।** वाजइत्यन्ननामसु पठितम्। निघं० २।७। **अत्र भूम्न्यर्थे मतुप्।** (**अस्मे**) **अस्मभ्यम्। अत्र** सुपां सुलुग्० [अ० ७।१।३९] इति शे आदेशः। (पृथु) **नानाविद्यासु विस्तीर्णम्।** (श्रवः) [1]**शृण्वन्त्यनेका विद्याः सुवर्णादि च धनं यस्मिंस्तत्।** श्रव इति धननामसु पठितम्। निघं० २।१०। (**बृहत्**) **अनेकैः शुभगुणैर्भोगैश्च महत्** (**विश्वायुः**) **विश्वं शतवार्षिकमधिकं वा आयुर्यस्मात् तत्** (**धेहि**) **संयोजय** (अक्षितम्) **यन्न कदाचित् क्षीयते सदैव वर्धमानं तत् ॥ ७ ॥**

अन्वयः—हे इन्द्र जगदीश्वर! त्वमस्मे अस्मभ्यं गोमद् वाजवत् पृथु बृहद् विश्वायुरक्षितं श्रवः संधेहि ॥ ७ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्ब्रह्मचर्येण विषयलोलुपतात्यागेन भोजनाच्छादनादिसुनियमैश्च विद्याचक्रवर्त्तिश्रीयोगेन समग्रस्यायुषो भोगार्थं संधेयम्। यत ऐहिकं पारमार्थिकं च दृढं विशालं सुखं सदैव वर्धेत। न ह्येतत् केवलमीश्वरस्य प्रार्थनयैव भवितुमर्हति, किंतु विविधपुरुषार्थापेक्षं वर्त्तत एतत् ॥ ७ ॥

फिर उक्त धन कैसा है, इस विषय का प्रकाश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (इन्द्र) अनन्तविद्यायुक्त, सबको धारण करनेहारे ईश्वर! आप (अस्मे) हमारे लिये (गोमत्) जो धन श्रेष्ठ वाणी और अच्छे-अच्छे उत्तम पुरुषों को प्राप्त करानेवाला, (वाजवत्) नाना प्रकार के अन्नादि पदार्थों को प्राप्त करानेवाला, (पृथु) [नाना विद्याओं में] विस्तृत, (बृहत्) अनेक शुभ गुणों [और भोगों] से बढ़ा हुआ, (विश्वायुः) पूर्ण सौ वर्ष वा अधिक आयु का निमित्त, (अक्षितम्) प्रतिदिन बढ़नेवाला [अक्षय] (श्रवः) जिसमें अनेक प्रकार की विद्या वा सुवर्ण आदि धन सुनने में आता है, उस धन को (संधेहि) अच्छे प्रकार दीजिये ॥७॥

---

१. व्युत्पत्तिस्तु 'शृण्वन्त्यस्मिन्, तच्छ्रवः' इत्येव। पूर्वव्युत्पत्तौ 'यस्मिन्' इति विषयसप्तमी। स च विषयो विद्या धनं च। अत एवैते पदे भाष्यकृताऽत्र निर्दिष्टे। यद्वा—'श्रूयते यत्तच्छ्रवः' तच्च विद्या धनं वा।

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि ब्रह्मचर्य्य का धारण, विषयों की लम्पटता का त्याग, भोजन आदि व्यवहारों के श्रेष्ठ नियमों से विद्या और चक्रवर्त्ति राज्य की लक्ष्मी को सिद्ध करके, संपूर्ण आयु भोगने के लिये पूर्वोक्त धन के जोड़ने की इच्छा अपने पुरुषार्थ द्वारा करें, कि जिससे इस संसार का वा परमार्थ का दृढ़ और विशाल अर्थात् अति श्रेष्ठ सुख सदैव बना रहे। परन्तु यह उक्त सुख केवल ईश्वर की प्रार्थना से ही नहीं मिल सकता, किन्तु उसको प्राप्ति के लिये पूर्ण पुरुषार्थ भी करना अवश्य उचित है ॥ ७ ॥



पुनः कीदृशं तदित्युपदिश्यते—

अ॒स्मे धे॑हि॒ श्रवो॑ बृ॒हद् द्यु॒म्नं स॑हस्र॒सात॑मम्। इन्द्र॒ ता र॒थिनी॒रिषः॑ ॥ ८ ॥

अ॒स्मे इति॑। धे॒हि॒। श्रवः॑। बृ॒हत्। द्यु॒म्नम्। स॒ह॒स्र॒ऽसात॑मम् ॥ इन्द्र॑। ताः। र॒थिनीः॑। इषः॑ ॥८॥

पदार्थः—(**अस्मे**) **अस्मभ्यम्। अत्र** सुपां सुलुग्० [अ० ७। १। ३९] **इति शे आदेशः। (धेहि) प्रयच्छ (श्रवः) पूर्वोक्तम् (बृहत्) उपबृंहितम् (द्युम्नम्) प्रकाशमयं ज्ञानम् (सहस्रसातमम्) सहस्रमसंख्यातं सुखं सनुते ददाति येन तदतिशयितम्।** जनसनखनक्रमगमो विट्। अ० ३। २। ६७ **अनेन सहस्रोपपदात् सनोतेर्विट्।** विड्वनोरनुनासिकस्यात्। अ० ६। ४। ४१ **अनेन नकारस्याकारादेशः, ततस्तमप्। (इन्द्र) महाबलयुक्तेश्वर! (ताः) पूर्वोक्ताः (रथिनीः) बहवो रमणसाधका रथा विद्यन्ते यासु ताः। अत्र भूम्न्यर्थ इनिः,** [स्त्रियां ऋन्नेभ्यो ङीप्। अ० ४। १। ५ **इति ङीप्।**] सुपां सुलुग्० [अ० ७। १। ३९] **इति पूर्वसवर्णादेशश्च। (इषः) इष्यन्ते यास्ताः सेनाः। अत्र** कृतो बहुलम् [अ० ३। ३। ११३ वा०] **इति वार्तिकेन कर्मणि क्विप् ॥ ८ ॥**

अन्वयः—**हे** इन्द्र! त्वमस्मे सहस्रसातमम् बृहद् द्युम्नं श्रवः [ताः] रथिनीरिषश्च धेहि ॥८॥

भावार्थः—**हे जगदीश्वर! भवत्कृपयात्यन्तपुरुषार्थेन च येन धनेन बहुसुखसाधिकाः पृतनाः प्राप्यन्ते, तदस्मासु नित्यं स्थापय ॥ ८ ॥**

फिर पूर्वोक्त धन कैसा होना चाहिये, इस विषय का प्रकाश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (इन्द्र) अत्यन्त बलयुक्त ईश्वर! आप (अस्मे) हमारे लिये (सहस्रसातमम्) असंख्यात सुखों का मूल, (बृहत्) नित्य वृद्धि को प्राप्त होने योग्य (द्युम्नम्) प्रकाशमय ज्ञान, तथा (श्रवः) पूर्वोक्त धन, और [(ताः) पूर्वोक्त] (रथिनीरिषः) अनेक रथ आदि साधनसहित [चाहने योग्य] सेनाओं को (धेहि) अच्छे प्रकार दीजिये ॥ ८ ॥

भावार्थ—हे जगदीश्वर! आपकी कृपा और अत्यन्त पुरुषार्थ के साथ जिस धन करके बहुत से सुखों को सिद्ध करनेवाली [उत्तम] सेना प्राप्त होती है, उसको हम लोगों में नित्य स्थापन कीजिये, [अर्थात् हमारी सर्व-साधन-सम्पन्न उत्तम सेना होवे] ॥ ८ ॥



अथायमिन्द्रः कीदृश इत्युपदिश्यते—

वसोरिन्द्रं वसुपतिं गीर्भिर्गृणन्त ऋग्मियम् । होम गन्तारमूतये ॥ ९ ॥

वसोः । इन्द्रम् । वसुऽपतिम् । गीःऽभिः । गृणन्तः । ऋग्मियम् ॥ होम । गन्तारम् । ऊतये ॥ ९ ॥

पदार्थः—(वसोः) सुखवासहेतोर्विद्यादिधनस्य (इन्द्रम्) धारकम् (वसुपतिम्) वसूनामग्निपृथिव्यादीनां पतिं पालकं स्वामिनम् । कतमे वसव इति ? अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसवः, एतेषु हीदꣳ सर्वं वसु हितमेते हीदꣳ सर्वं वासयन्ते, तद्यदिदꣳ सर्वं वासयन्ते तस्माद्वसव इति । श० १४ । ५ । ७ । ४ ।[1] **(गीर्भिः) वेदविद्यया संस्कृताभिर्वाग्भिः** । गीरिति वाङ्नामसु पठितम् । निघं० १ । ११ । **(गृणन्तः) स्तुवन्तः । (ऋग्मियम्) ऋचां वेदमन्त्राणां निर्मातारम् । ऋगुपपदात्** माङ् माने **धातोः**[2] **क्विप् ।** [3]**अमीयङादेशश्चेति । (होम)** आह्वयामः । **ह्वेञ् इत्यस्माल्लँडुत्तमबहुवचने** बहुलं छन्दसि [अ० २ । ४ । ७३] **इति शपो लुक् ।** छन्दस्युभयथा [अ० ३ । ४ । ११७] **इत्युभयसंज्ञात्वे गुणसंप्रसारणे भवतः** । छान्दसो वर्णलोपो वा [महा० ८ । २ । २५] **इति सकारलोपश्च । (गन्तारम्) ज्ञातारं सर्वत्र** व्याप्त्या **प्रापकम् (ऊतये) रक्षणाय स्वामित्वप्राप्तये क्रियोपयोगाय वा** ॥ ६ ॥

अन्वयः—गीर्भिर्गृणन्तो **वयं** वसुपतिमृग्मियं गन्तारमिन्द्रं वसोरूतये होम ॥ ६ ॥

भावार्थः—सर्वैर्मनुष्यैः सर्वजगत्स्वामिनो वेदप्रकाशकस्य सर्वत्र व्यापकस्येन्द्रस्य परमेश्वरस्यैवेश्वरत्वेन स्तुतिः कार्य्या । तथेश्वरस्य न्यायकरणत्वादिगुणानां स्पर्धा, पुरुषार्थेन सर्वथोत्कृष्टान् विद्याराज्यश्रियादिपदार्थान् प्राप्य रक्षोन्नती च सदैव कार्य्ये इति ॥ ६ ॥

फिर यह इन्द्र कैसा है, सो अगले मन्त्र में प्रकाश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—(गीर्भिः) वेदविद्या से सुसंस्कृत वाणियों से (गृणन्तः) स्तुति करते हुए हम लोग (वसुपतिम्) अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्यलोक, द्यौ अर्थात् प्रकाशमान लोक, चन्द्रलोक और नक्षत्र अर्थात् जितने तारे दीखते हैं, इन सब का नाम वसु है, क्योंकि ये ही निवास के स्थान हैं इनके पति स्वामी और रक्षक, (ऋग्मियम्) वेदमन्त्रों के प्रकाश करनेहारे, (गन्तारम्) सब के अन्तर्यामी, अर्थात् अपनी व्याप्ति से सब जगत् प्राप्त होनेवाले, तथा

---

१. अध्यायानुसारं शत० १४ । ६ । ९ । ४ ॥

२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'मीञ् धातोः' इत्यपपाठः । नहि मीञ् हिंसायामित्यस्य 'निर्मातारम्' अर्थः सम्भवति । भाष्यकृता उत्तरत्र (ऋ० १ । ६२ । १) भाष्ये 'ऋग्मियाय'पदव्याख्याने 'ऋग्भिर्यो मीयते स्तूयते तस्मै । अत्र ऋगुपपदान्मा धातोः ······' इति वक्ष्यते । तथाऽत्रापि ज्ञेयम् । मा धातोः क्विपि 'घुमास्था०' (अ० ६ । ४ । ६६) ईति ईकारादेशः । यजुर्भाष्ये (३४ । १६) मिनोतेरपि व्युत्पाद्यते ।

३. अमि 'तन्वादीनां छन्दसि बहुलम्' (अ० ६ । ४ । ७७ वा०) इति वार्त्तिकेन इयङादेश इति भावः । 'क्विबन्तो धातुत्वं न जहाति' इति नियमे 'अचिश्नुधातु०' (अ० ६ । ४ । ७७) इत्यादिना इयङ् द्रष्टव्यः ।

(इन्द्रम्) सब के धारण करनेवाले परमेश्वर को (वसोः) संसार में सुख के साथ वास का हेतु जो विद्या आदि धन है, उसकी (ऊतये) प्राप्ति और रक्षा के लिये (होम) करते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को सब जगत् के स्वामी, वेद के प्रकाशक, सर्वत्र व्यापव परमेश्वर ही की ईश्वर रूप से स्तुति करनी चाहिये । और ईश्वर के न्याय आदि गुणों की तथा पुरुषार्थ के साथ सब प्रकार से अति श्रेष्ठ विद्या राज्यलक्ष्मी आदि पदार्थों को प्राप्त उनकी उन्नति सदा करनी चाहिये ॥ ६ ॥



पुनः कस्मै प्रयोजनायेत्युपदिश्यते—

सुतेसुते न्योकसे बृहद् बृहत एदरिः । इन्द्राय शूषमर्चति ॥ १० ॥

सुतेऽसुते । निऽओकसे । बृहत् । बृहते । आ । इत् । अरिः ॥ इन्द्राय । शूषम् । अर्चति ॥ १० ॥

पदार्थः—(सुतेसुते) उत्पन्न उत्पन्ने (न्योकसे) निश्चितानि ओकांसि स्थानानि येन ओक इति निवासनामोच्यते । निरु० ३ । ३ । (बृहत्) सर्वथा वृद्धम् (बृहते) सर्वोत्कृष्टगु व्यापकाय (आ) समन्तात् (इत्) अपि (अरिः) ऋच्छति गृह्णात्यन्यायेन सुखानि च अच इः [उ० ४ । १३६] इत्यनेन ऋधातोरौणादिक इः प्रत्ययः । (इन्द्राय) परमेश्वराय बलं सुखं च । शूषमिति बलनामसु पठितम् । निघं० २ । ६ । सुखनामसु च । निघं० ३ (अर्चति) समर्पयति ॥ १० ॥

अन्वयः—योऽरिरिदपि मनुष्यः सुतेसुते बृहते न्योकस इन्द्राय स्वकीयं बृहत् शूषम समर्प्पयति, [स] भाग्यशाली भवति ॥ १० ॥

भावार्थः—यदा[1] इमं प्रतिवस्तुव्यापकं मङ्गलमयमनुपमं परमेश्वरं प्रति कश्चित् चिच्छत्रुरपि मनुष्यः स्वाभिमानं त्यक्त्वा नम्रो भवति, तर्हि ये तदाज्ञाख्यं धर्मं तदुपासनानु चारन्ति, ते[3] महागुणैर्महान्तो भूत्वा सर्वैः पूज्या नम्राः कथं न भवेयुः ? य ईश्वरोपासका धा पुरुषार्थिनः सर्वोपकारका विद्वांसो मनुष्या भवन्ति, त एव विद्यासुखं चक्रवर्त्तिराज्यानन्दं वन्ति, नातो विपरीता इति ॥ १० ॥

अत्रेन्द्रशब्दार्थवर्णनेनोत्कृष्टधनादिप्राप्त्यर्थमीश्वरप्रार्थनापुरुषार्थकरणाज्ञाप्रतिपादनं चा एतस्य नवमसूक्तार्थस्याष्टमसूक्तार्थेन सह संगतिरस्तीति बोध्यम् ॥

इदमपि सूक्तं सायणाचार्य्यादिभिरार्य्यावर्त्तवासिभिर्यूरोपवासिभिरध्यापकविलसनाख्य **भिश्च मिथ्यैव व्याख्यातम् ॥**

इति नवमं सूक्तमष्टादशश्च वर्गः समाप्तः ॥

---

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'यदिमं' अपपाठः । भाषार्थे 'जब' इति प्रत्यक्षं पठ्यते ।

२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'धर्मं तदुपासनानुष्ठं' इत्यपपाठः ।

३. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'त एव' पाठः । अत्र 'एव' पदमनर्थकम् ।

किस प्रयोजन के लिये परमेश्वर की प्रार्थना करनी चाहिये, सो अगले मन्त्र में प्रकाश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—जो (अरिः) अन्याय से सुखों को ग्रहण करनेवाला मनुष्य (इत्) भी (सुतेसुते) उत्पन्न हुए सब पदार्थों में (बृहते) संपूर्ण श्रेष्ठ गुणों से महान्, सब में व्यापक, (न्योकसे) निश्चित किये हैं निवासस्थान जिसने, उस (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये, अपने (बृहत्) सब प्रकार से बढ़े हुए (शूषम्) बल और सुख को (आ) अच्छी प्रकार (अर्चति) समर्पण करता है, वह भाग्यशाली होता है ॥ १० ॥

भावार्थ—जब सब में व्यापक, मंगलमय, उपमारहित परमेश्वर के प्रति कोई किसी का शत्रु मनुष्य भी अपना अभिमान छोड़ नम्र होता है, तब जो ईश्वर की आज्ञारूपी धर्म और उसकी उपासना का अनुष्ठान करते हैं, वे बड़े-बड़े गुणों से महात्मा होकर सब से सत्कार किये जाने के योग्य और नम्र क्यों न हों ? जो ईश्वर की उपासना करनेवाले, धार्मिक पुरुषार्थी, और सब का उपकार करनेवाले विद्वान् मनुष्य हैं, वे ही विद्या और चक्रवर्त्ती राज्य के आनन्द को प्राप्त होते हैं। जो कि उनसे विपरीत हैं, वे उस आनन्द को कभी नहीं प्राप्त हो सकते ॥ १० ॥

इस सूक्त में इन्द्र शब्द के अर्थ के वर्णन, उत्तम-उत्तम धन आदि की प्राप्ति के अर्थ ईश्वर की प्रार्थना, और पुरुषार्थ करने की आज्ञा के प्रतिपादन करने से इस नवमे सूक्त के अर्थ की संगति आठवें सूक्त के अर्थ के साथ मिलती है, ऐसा समझना चाहिये ॥

इस सूक्त का भी अर्थ **सायणाचार्य्य** आदि आर्य्यावर्त्तवासियों, तथा **विलसन** आदि अंगरेज् लोगों ने सर्वथा मूल[1] से विरुद्ध वर्णन किया है ॥ १० ॥

यह नवमा सूक्त और अठारहवां वर्ग पूरा हुआ ॥



अथ द्वादशर्चस्य दशमस्य सूक्तस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । इन्द्रो देवता ।
१–३, ५[2] विराडनुष्टुप्; ६, ७, ६–१२ अनुष्टुप्;
८ निचृदनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ।
४ भुरिगुष्णिक् छन्दः । ऋषभः स्वरः[3] ॥

१. अर्थात् मन्त्रार्थ से ।

२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु विराडनुष्टुप्सु '६' संख्यापि निर्दिश्यते । षष्ठमन्त्रे एकत्रिंशदक्षरत्वात् तस्या निर्देशोऽस्माभिरनुष्टुप्छन्दसि कृतः ।

३. यथाऽत्र पाठस्तथैव वै० य० मुद्रितयोः १-२ संस्करणयोः पठ्यते । तृतीयसंस्करणे तु 'विराडनुष्टुप्; ४ भुरिगुष्णिक्; ७, ६–१२ अनुष्टुप्, ८ निचृदनुष्टुप् छन्दः । १–३, ५–१२ गान्धारः, ४ ऋषभः स्वरः ।' इत्येवं परिवर्त्तितः । चतुर्थसंस्करणेऽपि तृतीयवदेव पाठः ।

तत्र के कथं तमिन्द्रं पूजयन्तीत्युपदिश्यते—

गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः ।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे ॥ १ ॥

गायन्ति । त्वा । गायत्रिणः । अर्चन्ति । अर्कम् । अर्किणः ॥ ब्रह्माणः । त्वा । शतक्रतो इति शतऽक्रतो । उत् । वंशम्ऽइव । येमिरे ॥ १ ॥

पदार्थः—(**गायन्ति**) सामवेदादिगानेन प्रशंसन्ति (त्वा) त्वां गेयं जगदीश्वरमिन्द्रम् (**गायत्रिणः**) गायत्राणि[1] प्रशस्तानि छन्दांस्यधीतानि विद्यन्ते येषां ते धार्मिका ईश्वरोपासकाः । अत्र प्रशंसायामिनिः[2] । (**अर्चन्ति**) नित्यं पूजयन्ति (**अर्कम्**) अर्च्यते पूज्यते सर्वैर्जनैर्यस्तम् (**अर्किणः**) अर्का मन्त्रा ज्ञानसाधना येषां ते (**ब्रह्माणः**) वेदान् विदित्वा क्रियावन्तः (**त्वा**) जगत्स्रष्टारम् (**शतक्रतो**) शतं बहूनि कर्माणि प्रज्ञानानि वा यस्य, तत्संबुद्धौ (**उत्**) उत्कृष्टार्थे । उदित्येतयोः प्रातिलोम्यं प्राह । निरु० १ । ३ । (**वंशमिव**) यथोत्कृष्टैर्गुणैः शिक्षणैश्च स्वकीयं वंशमुद्यमवन्तं कुर्वन्ति तथा (**येमिरे**) उद्युञ्जन्ति ॥

निरुक्तकार **इमं मन्त्रमेवं व्याख्यातवान्**—गायन्ति त्वा गायत्रिणः प्रार्चन्ति तेऽर्कमर्किणो ब्राह्मणास्त्वा शतक्रत उद्येमिरे वंशमिव । निरु० ५।५ ॥ **अन्यच्च**—अर्को देवो भवति यदेनमर्चन्त्यर्को मन्त्रो भवति यदनेनार्चन्त्यर्कमन्नं भवत्यर्चति भूतान्यर्को वृक्षो भवति संवृतः[3] कटुकिम्ना । निरु० ५ । ४ ॥ १ ॥

अन्वयः—हे शतक्रतो ! ब्रह्माणः स्वकीयं वंशमुद्येमिरे इव[4] गायत्रिणस् [त्वा] त्वां गायन्ति, अर्किणोऽर्कं [त्वा] त्वामर्चन्ति ॥ १ ॥

अत्रोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—[5]**सर्वैर्मनुष्यैः परमेश्वरस्यैव पूजा कार्य्या, अर्थात् तदाज्ञायां सदा वर्त्तितव्यम् ।**

---

१. 'छन्दसः प्रत्ययविधाने स्वार्थ उपसंख्यानम्' (अ० ४ । २ । ५५ वा०) अनेन गायत्री शब्दात् स्वार्थेऽण् । गायत्र्येव गायत्रम् । अस्योपलक्षणार्थत्वात् सर्वाणि छन्दांस्यत्राभिप्रेतानि ।

२. अत इनिठनौ (अ० ५ । २ । ११५) इत्यनेनेनिः ।

३. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'सवृतः' इत्यपपाठः ।

४. 'इव' पदस्य विषये मतद्वैध वर्तते । पदकाराः प्रातिशाख्यकारा वार्तिककारश्च इवेन पूर्वपदस्य समासभावं ब्रुवते । पाणिनिरन्ये च केचन वैयाकरणा समासं नेच्छन्ति । समासाभावे स्वरः सामान्यरूपेण यथावत् सिद्धयते—चादयोऽनुदात्ताः [फिट्सूत्रम्], इत्यनेनेवानुदात्तः । समासे तु समासविधानेन सह पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वमपि विधातव्यम् (द्र०—महा० २ । २ । १८—'इवेन सह समासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च') । अयं भाष्यकारः समासाभावपक्षमाश्रित्य इवपदमन्वये यथास्थानं निवेशयति ।

५. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु इतः पूर्वं 'यथा' इति पदं पठ्यते । तच्चास्थान इति कृत्वाऽग्रे यथास्थानं नीतम् ।

यथा [पुरुषार्थिभिः] वेदविद्यामध्यधीत्य सम्यग्विदित्वोपदेशेनोत्कृष्टैर्गुणैः सह मनुष्यवंश उद्यमवान् क्रियते, तथैव स्वैरपि भवितव्यम्। नेदं फलं परमेश्वरं विहायान्यपूजकः प्राप्तुमर्हति। कुतः? ईश्वरस्याज्ञाभावेन तत्सदृशस्यान्यवस्तुनो[1] ह्यविद्यमानत्वात्, तस्मात्तस्यैव गानमर्चनं च कर्त्तव्यमिति॥ १॥

अब दशम सूक्त का आरम्भ किया जाता है। इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में इस बात का प्रकाश किया है कि कौन-कौन पुरुष किस-किस प्रकार से इन्द्रसंज्ञक परमेश्वर का पूजन करते हैं—

पदार्थान्वयभाषा—हे (शतक्रतो) असंख्यात कर्म और उत्तम ज्ञानयुक्त परमेश्वर! [(इव)][2] जैसे (ब्रह्माणः) वेदों को पढ़कर उत्तम-उत्तम क्रिया करनेवाले मनुष्य श्रेष्ठ उपदेश गुण और अच्छी-अच्छी शिक्षाओं से (वंशम्) अपने वंश को (उद्येमिरे) प्रशस्त गुणयुक्त करके उद्यमवान् करते है, वैसे ही जो (गायत्रिणः) प्रशस्त=उत्तम अध्ययन किये हुये, सभी छन्दों के जाननेवाले धार्मिक और ईश्वर की उपासना करनेवाले पुरुष हैं, वे (त्वा) आपकी (गायन्ति) सामवेदादि के गानों से प्रशंसा करते हैं। तथा (अर्किणः) अर्क अर्थात् जो कि वेद के मन्त्र पढ़न के नित्य अभ्यासी हैं, वे (अर्कम्) सब मनुष्यों से पूजने योग्य (त्वा) आपका (अर्चन्ति) नित्य पूजन करते हैं॥ १॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है।

भावार्थ—सब मनुष्यों को परमेश्वर ही की पूजा करनी चाहिये, अर्थात् उसकी आज्ञा में सदा वर्तमान रहना चाहिये। जैसे पुरुषार्थी वेदविद्या को पढ़कर अच्छे-अच्छे गुणों के साथ अपने और अन्यों के वंश को भी पुरुषार्थी करते हैं, वैसे ही अपने आपको भी होना चाहिये। जो परमेश्वर

---

१. अत्र 'विभाषागुणेऽस्त्रियाम्' (अ० २।३।२५) नियमेन हेतौ विहितायास्तृतीयायाः पञ्चम्याश्च सहैव प्रयोगः कृतः। ग्रन्थकारस्येदं शीलं यद् विकल्परूपेण विहितयोर्विभक्त्योरेकस्मिन्नेव वाक्ये प्रयोगं करोति। महाभाष्यकारस्त्वाह—एकस्या आकृतेश्चरितः प्रयोगो द्वितीयस्यास्तृतीयस्याश्च न भवति। तद्यथा गोषु स्वामी अश्वेषु चेति। न भवति गोषु चाश्वानां च स्वामीति। (३।१।४०)। भाष्यकारेण स्वामिशब्दयोगे विहितयोः षष्ठीसप्तम्योः (अ०२।३।३९) सह प्रयोगः प्रतिषिद्धः। अनेनैव न्यायेनान्यविभक्त्योरपि सह प्रयोगो (यथा स्वामिदयानन्देन कृतः) न भवितुमर्हति। तथापि प्राचीने वैदिकवाङ्मये विकल्पेन विहितयोर्विभक्त्योरेकस्मिन्नेव वाक्ये सह प्रयोगो बहुधोपलभ्यते। तद्यथा—'अनस एव यजूंषि सन्ति न कौष्ठस्य न कुम्भ्यै' (श० १।१।२।७); 'धेन्वै वा एतद् रेतो यदाज्यम् अनुडुहस्तण्डुलाः' (तै० सं० २।२।९); 'इदमहममुं भ्रातृव्यमाभ्यो दिग्भ्योऽस्यै दिवोऽस्मादन्तरिक्षात्……' (तै० सं० १।६।६)। न केवलं स्वतन्त्रपदयोरेव विविभक्त्योः प्रयोगोऽपि तु विशेष्यविशेषणयोरपि विविभक्त्योः प्रयोग उपलभ्यते। तद्यथा—'अथ यदनडुह्यै वहलाया ऐन्द्र दधि भवति' (श० ५।२।४।१३)। इत्थमेव पूर्वनिर्दिष्टे तैत्तिरीयोद्धरणे 'अस्यै दिवो…' इत्यत्रापि द्रष्टव्यः। एतेन महाभाष्यकारोक्तो नियमो नैकान्तिकोऽपितु प्रायिक इति ज्ञेयम्। महाभाष्यकारोऽपि बहुत्र वैदिकान् प्रयोगान् प्रयोगविषये प्रमाणत्वेन निर्दिशति। यथा—विरूपाणामप्येकेनानेकस्याभिधानं भवति। तद्यथा—द्यावा ह क्षामा (ऋ० १०।१२।१); द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते (ऋ० २।१२।२) इति' (महा० १।२।६४)।

२. संस्कृत अन्वय में आगे रखा गया 'इव' पद भाषार्थानुसार यहां रखा है।

के सिवाय दूसरे का पूजन करनेवाला पुरुष है, वह कभी उस उत्तम फल को प्राप्त होने योग्य नहीं हो सकता। क्योंकि न तो ईश्वर की ऐसी आज्ञा ही है, और न ईश्वर के समान कोई दूसरा पदार्थ है कि जिसका उसके स्थान में पूजन किया जावे। इससे सब मनुष्यों को उचित है कि परमेश्वर ही का गान और पूजन करें ॥ १ ॥



पुनः स कथं वेदितव्य इत्युपदिश्यते—

यत् सानोः सानुमारुहद् भूर्यस्पष्ट कर्त्वम् ।
तदिन्द्रो अर्थं चेतति यूथेन वृष्णिरेजति ॥ २ ॥

यत्। सानोः। सानुम्। आ। अरुहत्। भूरि। अस्पष्ट। कर्त्वम् ॥ तत्। इन्द्रः। अर्थम्। चेतति। यूथेन। वृष्णिः। एजति ॥ २ ॥

पदार्थः—(यत्) यस्मात् (सानोः) पर्वतस्य शिखरात्, संविभागात्, कर्मणः सिद्धेर्वा। दृसनिजनि०। उ० १। ३ अनेन सनेर्ञुण् प्रत्ययः। षोऽन्तकर्मणि' इत्यस्माद् बाहुलकान्नुः[1]। (सानुम्) यथोक्तं त्रिविधमर्थम्[2] (आ) धात्वर्थे (अरुहत्) रोहति। अत्र लडर्थे लङ्। विकरणव्यत्ययेन शपः स्थाने शः[3]। (भूरि) बहु। भूरीति बहुनामसु पठितम्। निघं ३। १। अदिसदिभू०[4]। उ० ४। ६५ अनेन भूधातोः क्रिन्[5] प्रत्ययः। (अस्पष्ट) स्पशते। अत्र लडर्थे लङ्, बहुलं छन्दसि [अ० २। ४। ७३] इति शपो लुक्। (कर्त्वम्) कर्त्तुं योग्यं कार्य्यम्। अत्र करोतेस्त्वन् प्रत्ययः। (तत्) तस्मात् (इन्द्रः) सर्वज्ञ ईश्वरः (अर्थम्) अर्त्तुं ज्ञातुं प्राप्तुं [योग्यं] गुणं द्रव्यं वा। उषिकुषिगार्त्तिभ्यस्थन्[6]। उ० २। ४ अनेनार्त्तेस्थन्[6] प्रत्ययः। (चेतति) संज्ञापयति प्रकाशयति वा। अत्रान्तर्गतो ण्यर्थः। (यूथेन) सुखप्रापकपदार्थसमूहेन, अथवा वायुगणेन सह। तिथपृष्ठगूथयूथप्रोथाः। उ० २। १२ अनेन यूथशब्दो निपातितः। (वृष्णिः) वर्षति सुखानि वर्षयति वा। सृवृषिभ्यां कित्। उ० ४। ४९ अनेन वृषधातोर्निः प्रत्ययः, स च कित्। (एजति) कम्पते ॥ २ ॥

अन्वयः—[इव[7] यथा] यूथेन वायुगणेन सह वृष्णिः सूर्य्यकिरणसमूहः [यत्] सानोः सानु

१. अजिवृरीभ्यो निच्च (उ० ३।३८) इत्यनेन। नित्त्वादाद्युदात्तत्वम्।

२. 'सानोः' पदव्याख्यान उक्तम् इतिभावः।

३. कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि (अ० ३।१।५९) इत्यङ् विकरण इति सुकरः पन्थाः। सायणस्तु 'शपि संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः (सीरदेवीय परि० ७१) इति लघूपधगुणो न' इत्याह। सोऽपि विलष्टः पन्था।

४. ग्रन्थकृता स्वीयोणादिवृत्तौ 'अदिशदिभू' इत्येवं पाठान्तरेण व्याख्यातः।

५. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'क्तिन्' इत्यपपाठः।

६. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु '०गार्तिभ्यः स्थन्' इति, 'अर्तेः स्थन्' इति चापपाठौ।

७. 'इव' पदं पूर्वस्मान्मन्त्रादनुवर्तते इत्यग्रे वक्ष्यति भाष्यकारः। तस्मादत्रेमे पदे परिवर्धिते उपमालंकारद्योतनाय, तथाऽग्रे 'तथैव' पदमपि। भाषायामत्र 'जैसे' 'वैसे' पदे यथास्थानं पठ्येते।

भूर्यारुहद् [रोहति अस्पष्ट] स्पशते एजति चलति चालयति वा। [तथैव] यो मनुष्यो यत्सानोः सानुं कर्मणः [कर्त्वं] कर्मत्वं भूर्यारुहत्, अस्पष्टैजति, तस्मै इन्द्रः परमात्मा तत् तस्मात् सानोः सानुमर्थं भूरि चेतति ज्ञापयति ॥ २ ॥

इवशब्दानुवृत्त्याऽत्राप्युपमालङ्कारः।

भावार्थः—यथा सूर्यः सम्मुखस्थान् [पदार्थान्] वायुना सह पुनः पुनः क्रमेणात्यन्तमाक्रम्याकृष्य[1] प्रकाश्य [पृथिव्यादिलोकान्] भ्रामयति, तथैव यो मनुष्यो विद्यया कर्त्तव्यानि बहूनि कर्माणि निरन्तरं संपादयितुं प्रवर्त्तते, स एव साधनसमूहेन सर्वाणि कार्य्याणि साधितुं शक्नोति। अस्यामीश्वरसृष्टावेवंभूतो मनुष्यः सुखानि प्राप्नोति। ईश्वरोऽपि तमेवानुगृह्णाति, [2]नेतरमलसम् ॥ २ ॥

फिर ईश्वर को कैसे जानें, सो अगले मन्त्र में प्रकाश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—[3][(इव)] जैसे (यूथेन) वायुगण अथवा सुख के साधन हेतु पदार्थों क साथ (वृष्णिः) [सुखों की] वर्षा करनेवाला सूर्य्य, अपने किरण-समूह से [(यत्) जिस कारण] (सानोः) पर्वत के एक शिखर से (सानुम्) दूसरे शिखर को (भूरि) बहुधा (आरुहत्) प्राप्त होता (अस्पष्ट) स्पर्श करता, तथा (एजति) क्रम से अपनी कक्षा में घूमता और [अन्यों को] घुमाता है, वैसे ही जो मनुष्य क्रम से एक कर्म को सिद्ध करके दूसरे (कर्त्वम्) कर्म को (भूरि)[4] बहुधा (आरुहत्) आरम्भ करता हैं, (अस्पष्ट)[5] स्पर्श करता है, तथा (एजति) प्राप्त होता है, उस पुरुष के लिये (इन्द्रः) सर्वज्ञ ईश्वर उन कर्मों के करने को (सानोः) अनुक्रम से प्रयोजन के विभाग के साथ [(अर्थम्) प्राप्त करने योग्य गुण वा द्रव्य का] (भूरि) अच्छी प्रकार (चेतति) प्रकाश करता है ॥ २ ॥

इस मन्त्र में भी 'इव' शब्द की अनुवृत्ति से उपमालङ्कार समझना चाहिये।

भावार्थ—जैसे सूर्य्य अपने सम्मुख के पदार्थों को वायु के साथ वारंवार क्रम से अच्छी प्रकार आक्रमण आकर्षण और प्रकाश करके सब पृथिव्यादि लोकों को घुमाता है, वैसे ही जो मनुष्य विद्या से करने योग्य अनेक कर्मों को सिद्ध करने के लिये प्रवृत्त होता है, वही अनेक साधनों से सब कार्य्यों के सिद्ध करने को समर्थ हो सकता है। तथा ईश्वर की [इस] सृष्टि में अनेक सुखों को प्राप्त होता है, और उसी मनुष्य को ईश्वर भी अपनी कृपादृष्टि से देखता है, आलसी को नहीं ॥ २ ॥



१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'आकर्ष्य' इत्यपपाठः।

२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु पाठोऽयं नोपलभ्यते, क. ख. हस्तलेखयोर्वर्तते, भाषार्थेऽप्युपलभ्यते।

३. अनुवर्तमानं पदम्।

४. यहां 'भूरि' आदि कुछ पद उपमेयार्थ की स्पष्टता के लिये पुनः पढ़े गये हैं।

५. स्पर्श करने का तात्पर्य कर्म को करना है।

अथेन्द्रशब्देनेश्वरसूर्य्यावुपदिश्येते—

युक्ष्वा हि केशिना हरी वृषणा कक्ष्यप्रा ।
अथा न इन्द्र सोमपा गिरामुपश्रुतिं चर ॥ ३ ॥

युक्ष्व । हि । केशिना । हरी इति । वृषणा । कक्ष्यऽप्रा ॥ अथ । नः । इन्द्र । सोमऽपाः । गिराम् । उपऽश्रुतिम् । चर ॥ ३ ॥

पदार्थः—(युक्ष्व) युङ्क्ष्व योजय [योजयति वा][1] । छान्दसो वर्णलोपो वा [महा० ८ । २ । २५] इति नलोपः, द्व्यचोऽतस्तिङः [अ० ६ । ३ । १३४] इति दीर्घश्च । (हि) हेत्वपदेशे (केशिना) प्रकाशयुक्ते आकर्षणबले । अत्र सर्वत्र सुपां सुलुग्० [अ० ७ । १ । ३९] इति द्विवचनस्याकारादेशः । (हरी) व्याप्तिहरणशीलावश्वौ (वृषणा) वृष्टिहेतू (कक्ष्यप्रा) कक्षासु भवाः कक्ष्याः सर्वपदार्थावयवास्तान्[2] प्रातः प्रपूरयतस्तौ (अथ) आनन्तर्ये । अत्र निपातस्य च [अ० ६ । ३ । १३५] इति दीर्घः । (नः) अस्मानस्माकं वा (इन्द्र) [3]सर्वत्र सर्वतो [वा] व्यापिन्नीश्वर ! प्रकाशमानः सूर्य्यलोको वा (सोमपाः) सोमानुत्तमान् पदार्थान् पाति रक्षति तत्संबुद्धौ, पदार्थानां रक्षणहेतुः सूर्य्यो वा (गिराम्) प्रवर्त्तमानानां वाचाम् (उपश्रुतिम्) उपयुक्तां श्रुतिं श्रवणम् (चर) प्राप्नुहि प्राप्नोति वा ॥ ३ ॥

अन्वयः—[4]हे सोमपा इन्द्र ! यथा भवद्रचितस्य सूर्य्यलोकस्य [केशिना] केशिनौ वृषणा कक्ष्यप्रा हरी अश्वौ युङ्क्तः, तथैव त्वं नोऽस्मान् सर्वविद्याप्रकाशाय [युक्ष्व] युङ्क्ष्व । अथ हि नो गिरामुपश्रुतिं चर ॥ ३ ॥

---

१. सूर्यपरेऽर्थे 'योजयति वा' इत्यप्यावश्यकः पाठः, यथा चर-पद-व्याख्याने 'प्राप्नुहि प्राप्नोति वा' पाठः ।

२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'सर्वपदार्थावयवास्ताम्' इत्यपपाठः ।

३. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'सर्वश्रोतोव्यापिन्नीश्वर' इत्यपपाठः । 'सर्वत्र' इत्यस्येश्वरपक्षे, 'सर्वतः' इत्यस्य च सूर्यपक्षे सम्बन्धः ।

४. पदार्थे द्वित्राणि पदानि परित्यज्य सर्वाणि श्लेषेण ईश्वरपराणि सूर्यपराणि च व्याख्यायन्ते । तेनात्र श्लेषालङ्कारेण द्विविधोऽर्थोऽभिप्रेत इति व्यक्तं प्रतीयते । अन्वये यथा-तथा-पदयोः प्रयोगात् लुपोपमायाः साक्षात् निर्देशाच्च लुप्तोपमापि भाष्यकारस्याभिमतेति ज्ञायते । अन्वये द्वयोरेवार्धजरतीयन्यायेन समावेश उपलभ्यते । लुप्तोपमायाः परित्यागे श्लेषालंकारेण द्विविधोऽर्थ इत्थं नेतुं शक्यते—

अध्यात्मम्—हे सोमपा उत्तमोत्तमपदार्थानां पातः, इन्द्र सर्वत्रव्यापिन्नीश्वर ! त्वं स्वनिर्मिते ब्रह्माण्डे हि यस्मात् कारणात् केशिना प्रकाशकौ सूर्यचन्द्रौ वृषणा वृष्टिहेतू कक्ष्यप्रा सर्वपदार्थावयवान् स्वप्रकाशेन पूरकौ हरी हरणाहरणशीलौ योजितवान् असि, तस्मात्त्वं नोऽस्मान् सर्वविद्याप्रकाशाय युक्ष्व युङ्क्ष्व । अथ अनन्तरं नो गिरामुपश्रुतिं सामीप्यतः चर प्राप्नुहि ॥

अधिदैवम्—सोमपा उत्पन्नानां पदार्थानां रक्षकः इन्द्र प्रकाशमानः सूर्यलोकः केशिना प्रकाशाकर्षणबलेन युक्तः वृषणा वृष्टिहेतुः कक्ष्यप्रा स्वस्वकक्षायां भ्रमणकर्तॄणां ग्रहादीनां प्रकाशादिना पूरको हरी हरणाहरणशीलः हि यस्मात् कारणाद् वर्तते, तस्मादेव स नोऽस्मान् सर्वपदार्थप्रज्ञापकेन प्रकाशेन युक्ष्व योजयति । अथ च नो गिरां स्तुतीनाम् उपश्रुतिमुपयुक्तं श्रवणं प्राप्नोति, अर्थात् अस्माकमुपयुक्तस्तुतेर्गुणवर्णनस्य भागी भवति ॥

अत्र लुप्तोपमालङ्कारः[1] ।

भावार्थः—सर्वैर्मनुष्यैः सर्वविद्यापठनानन्तरं क्रियाकौशले प्रवर्त्तितव्यम् । यथास्मिन् जगति सूर्य्यस्य विशालः प्रकाशो वर्त्तते, तथैवेश्वरगुणानां विद्यायाश्च प्रकाशः सर्वत्रोपयोजनीयः ॥ ३ ॥

अगले मन्त्र में इन्द्र शब्द से ईश्वर और सूर्य्यलोक का प्रकाश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—[2]हे (सोमपाः) उत्तम पदार्थों के रक्षक, (इन्द्र) सब में व्याप्त होनेवाले ईश्वर! जैसे आपका रचा हुआ सूर्य्यलोक, अपने (केशिना) प्रकाशयुक्त बल और आकर्षण अर्थात् पदार्थों के खींचने का सामर्थ्य, (वृषणा) वर्षा के हेतु, और (कक्ष्यप्रा) अपनी-अपनी कक्षाओं में उत्पन्न हुए पदार्थों को पूरण करनेवाले, तथा (हरी) हरण और व्याप्ति स्वभाववाले गुणों को अपने-अपने कार्यों में जोड़ता है, वैसे ही आप (नः) हम लोगों को भी सब विद्या के प्रकाश के लिये उन विद्याओं में (युक्ष्व) युक्त कीजिये । (अथ) इसके अनन्तर आपकी स्तुति में प्रवृत्त जो हमारी (गिराम्) वाणी हैं, उनका (उपश्रुतिम्) श्रवण (चर) स्वीकार वा प्राप्त कीजिये ॥ ३ ॥

इस मन्त्र में [3]लुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थ—सब मनुष्यों को सब विद्या पढ़ने के पीछे उत्तम क्रियाओं की कुशलता में प्रवृत्त होना चाहिये । जैसे सूर्य्य का उत्तम प्रकाश संसार में वर्तमान है, वैसे ही ईश्वर के गुण और विद्या के प्रकाश का सब में उपयोग करना चाहिये ॥ ३ ॥



मनुष्यैः परमेश्वरात् किं किं याचनीयमित्युपदिश्यते—

एहि स्तोमाँ अभि स्वराभि गृणीह्या रुव ।
ब्रह्म च नो वसो सचेन्द्र यज्ञं च वर्धय ॥ ४ ॥

आ । इहि । स्तोमान् । अभि । स्वर । अभि । गृणीहि । आ । रुव ॥ ब्रह्म । च । नः । वसो इति । सचा । इन्द्र । यज्ञम् । च । वर्धय ॥ ४ ॥

पदार्थः—(आ इहि) आगच्छ (स्तोमान्) स्तुतिसमूहान् (अभि) धात्वर्थे (स्वर) जानीहि प्राप्नुहि । स्वरतीति गतिकर्मसु पठितम् । निघं० २ । १४ । **(अभि) आभिमुख्ये ।** अभीत्याभिमुख्यं प्राह । निरु० १ । ३ । **(गृणीहि) उपदिश (आ) समन्तात् (रुव) शब्दविद्यां प्रकाशय (ब्रह्म) वेदविद्याम् (च) समुच्चये (नः) अस्मान् अस्माकं वा (वसो)**

---

१. अत्र विषये पूर्वपृष्ठस्था टिप्पणी ४ द्रष्टव्या ।

२. यह भाषा-पदार्थ संस्कृत-पदार्थ में श्लेष से द्विधा व्याख्यात अर्थ और लुप्तोपमालकार का सयुक्त रूप है । ईश्वर और सूर्यपरक दोनों स्वतन्त्र अर्थों का संस्कृत टिप्पणी में निर्देश कर दिया है ।

३. संस्कृत-पदार्थ के अनुसार यहां श्लेषालंकार भी है ।

वसन्ति सर्वाणि भूतानि यस्मिन् वा वसति सर्वेषु भूतेषु यः, तत्संबुद्धौ (सचा) ज्ञानेन सत्कर्मसु समवायेन वा (इन्द्र) स्तोतुमर्ह वातः (यज्ञम्) क्रियाकौशलम् (च) पुनरर्थे (वर्धय) उत्कृष्टं संपादय ।। ४ ।।

अन्वयः—हे इन्द्र जगदीश्वर ! यथा कश्चित् सर्वविद्याऽभिज्ञो विद्वान् स्तोमानभिस्वरति यथावद्विज्ञानं गृणात्याप्नोति, तथैव नोऽस्मानेहि । हे वसो कृपयैवमेत्य नोऽस्माकं स्तोमान् वेदस्तुति-समूहार्थान् सचाभिस्वर, ब्रह्म वेदार्थान् [च] अभिगृणीहि, यज्ञं च वर्धय ।। ४ ।।

अत्र लुप्तोपमालङ्कारः ।

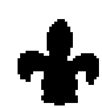
भावार्थः—ये सत्येन वेदविद्यायोगेन परमेश्वरं स्तुवन्ति प्रार्थयन्त्युपासते, तेभ्य ईश्वरो-ऽन्तर्यामितया मन्त्राणामर्थान् यथावत् प्रकाशयित्वा सततं सुखं प्रकाशयति । अतो नैव तेषु कदाचिद्विद्यापुरुषार्थौ ह्रसतः ।। ४ ।।

मनुष्यों को परमेश्वर से क्या-क्या मांगना चाहिये, सो अगले मन्त्र में प्रकाश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (इन्द्र) स्तुति करने के योग्य परमेश्वर ! जैसे कोई सब विद्याओं से परिपूर्ण विद्वान् आपकी स्तुतियों के अर्थों को यथावत् स्वीकार करता-कराता वा गाता है, वैसे ही (नः) हम लोगों को [(एहि)] प्राप्त हूजिये । तथा हे (वसो) सब प्राणियों को वसाने वा उनमें वसनेवाले ! कृपा से इस प्रकार प्राप्त होके हम लोगों के (स्तोमान्) वेद-स्तुतियों के [समूह के] अर्थों को (सचा) विज्ञान और उत्तम कर्मों से संयुक्त करके (अभिस्वर) अच्छी प्रकार उपदेश कीजिये । (ब्रह्म च) और वेदार्थ को (अभिगृणीहि) प्रकाशित कीजिये । और (यज्ञं च) हमारे लिये शिल्पविद्यारूप क्रियाओं को (वर्धय) नित्य बढ़ाइये ।। ४ ।।

इस मन्त्र में लुप्तोमालङ्कार है ।

भावार्थ—जो पुरुष सत्य वेदविद्या के संयोग से परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना करते हैं, उनके हृदय में ईश्वर अन्तर्यामी रूप से वेदमन्त्रों के अर्थों को यथावत् प्रकाश करके निरन्तर उनके लिये सुख का प्रकाश करता है । इससे उन पुरुषों में विद्या और पुरुषार्थ कभी नष्ट नहीं होते ।। ४ ।।



पुनः स कीदृशोऽस्तीत्युपदिश्यते—

उक्थमिन्द्राय शंस्यं वर्धनं पुरुनिष्षिधे ।
शक्रो यथा सुतेषु णो रारणत् सख्येषु च ।। ५ ।।

उक्थम् । इन्द्राय । शंस्यम् । वर्धनम् । पुरुनिःऽसिधे ।। शक्रः । यथा । सुतेषु । नः । रारणत्[1] । सख्येषु । च ।। ५ ।।

१. पदपाठ-विषये पदार्थे 'रारणत्' पदस्य टिप्पणी द्रष्टव्या ।

पदार्थः—(उक्थं) वक्तुं योग्यं स्तोत्रम्। अत्र पातॄतुदि०। उ० २। ७ अनेन 'वच' तोः थक्[1] प्रत्ययः। (इन्द्राय) सर्वमित्रायैश्वर्यमिच्छुकाय जीवाय (शंस्यम्) शंसितुं यम् (वर्धनम्) विद्यादिगुणानां वर्धकम् (पुरुनिष्षिधे) पुरूणि बहूनि शास्त्राणि मङ्गलानि नितरां सेधतीति तस्मै (शक्रः) समर्थः शक्तिमान् (यथा) येन प्रकारेण (सुतेषु) त्पादितेषु स्वकीयसंतानेषु (नः) अस्माकम् ([2]रारणत्) अतिशयेनोपदिशति। यङ्-न्तस्य 'रण' धातोर्लेट्प्रयोगः[3]। (सख्येषु) सखीनां कर्मसु भावेषु, पुत्रस्त्रीभृत्यवर्गादिषु वा च) समुच्चयार्थे ॥ ५ ॥

अन्वयः—यथा कश्चिन्मनुष्यः सुतेषु सख्येषु चोपकारी वर्त्तते, तथैव शक्रः सर्वशक्तिमान् गदीश्वरः [नोऽस्माकमुपरि] कृपायमाणः सन् पुरुनिष्षिध इन्द्राय जीवाय वर्धनं शंस्यमुक्थं च रारणत् यथावदुपदिशति ॥ ५ ॥

अत्रोपमालङ्कारः।

भावार्थः—अस्मिन् जगति या या शोभा प्रशंसा ये च धन्यवादास्ते सर्वे परमेश्वरमेव रकाशयन्ते। कुतः? यत्र यत्र निर्मितेषु पदार्थेषु प्रशंसिता रचना गुणाश्च भवन्ति, ते ते निर्मातारं शंसन्ति। तथैवेश्वरस्यानन्ता प्रशंसा प्रार्थना च पदार्थप्राप्तये क्रियते। परन्तु यद्यदीश्वरात् ार्थ्यते, तत्तदत्यन्तस्वपुरुषार्थेनैव प्राप्तुमर्हति ॥ ५ ॥

फिर ईश्वर किस प्रकार का है, इस विषय का प्रकाश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—(यथा) जैसे कोई मनुष्य अपने (सुतेषु) सन्तानों [च] और (सख्येषु) मित्रों के [उपकार] करने को प्रवृत्त होता है, वैसे ही (शक्रः) सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर [(नः)] हमारे ऊपर कृपा करता हुआ (पुरुनिष्षिधे) पुष्कल शास्त्रों को पढ़ने-पढ़ाने और धर्मयुक्त कामों में विचरने-वाले, (इन्द्राय) सब के मित्र और ऐश्वर्य की इच्छा करनेवाले धार्मिक जीव के लिये, (वर्धनम्)

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'स्थक्' इत्यपपाठः।

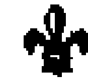
२. पदकारास्तु 'ररणत्' इत्येवं पठन्ति। तेषामयमभिप्रायः—अत्र छान्दसत्वात् 'नुगतोऽनुनासिकान्तस्य' (अ० ७।४।८५) इति नुगभावे यथाप्राप्तं 'दीर्घोऽकितः' (अ० ७।४।८३) इति दीर्घत्वमपि न भवति, नुक्प्राप्त्या तस्यावकाशस्यापहृतत्वात्। तदभावेऽत्र ममहानः=मामहानः इतिवत् 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (अ० ६।१।७) इत्यनेनाभ्यासस्य छान्दसं दीर्घत्वम्। पदकाले च छान्दसं दीर्घत्वं यत्र पदकारा मन्यन्ते तं ह्रसयित्वा निदर्शयन्ति। व्याख्याकाराश्च 'रारणत्' इत्येव पदच्छेदं मन्यन्ते। तेषां मते छान्दसत्वान्नुगभावे प्राकृतमेव दीर्घत्वं भवति, 'अकितः' इत्यस्य पर्युदासत्वात्।

३. यङ्लुगन्ताद् 'रारण्' धातोर्लेटि तिपि रूपम्। 'चर्करीतं च' (धातुपाठ २।७३) इत्यदादिगणस्थ-सूत्रेणादादित्वे शपो लुकि प्राप्ते छान्दसत्वात् तदभावः। 'लेटोऽडाटौ' (अ० ३।४।९४) इति सूत्रेणाडागमः। 'रारण्' इत्यस्य यङ्लुगन्तत्वाद् धातुसंज्ञा। 'धातोः' (अ० ६।१।१५६) इत्यनेनान्तोदात्तत्वम्। 'अभ्यस्तानामादिः' (६।१।१८३) इति तु न प्रवर्तते शपा व्यवधानात्। शप्तिपोः पित्वादनुदात्तत्वे धातुस्वरेण द्वितीयोदात्तः। 'यावद्यथाभ्याम्' (अ० ८।१।३६) इत्यनेन यथायोगे निघातत्वं न प्रवर्तते।

विद्या आदि गुणों के बढ़ानेवाले (शंस्यम्) प्रशंसा (च) और (उक्थम्) उपदेश करने योग्य वेदोक्त स्तोत्रों के अर्थों का (रारणत्) अच्छी प्रकार उपदेश करता है ॥ ५ ॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है।

भावार्थ—इस संसार में जो-जो शोभायुक्त रचना प्रशंसा और धन्यवाद हैं, वे सब परमेश्वर ही की अनन्त शक्ति का प्रकाश करते हैं। क्योंकि जैसे सिद्ध किये हुए पदार्थों में प्रशंसायुक्त रचना के अनेक गुण उन पदार्थों के रचनेवाले की ही प्रशंसा के हेतु [होते] हैं, वैसे ही परमेश्वर की अनन्त प्रशंसा वा प्रार्थना पदार्थों की प्राप्ति के लिये की जाती है। इस कारण जो-जो पदार्थ हम ईश्वर से प्रार्थना के साथ चाहते है, सो-सो हमारे अत्यन्त पुरुषार्थ के द्वारा ही प्राप्त होने योग्य हैं, केवल प्रार्थनामात्र से नहीं ॥ ५ ॥



पुनः स कथं प्रार्थनीय इत्युपदिश्यते—

तमित् सखित्व ईमहे तं राये तं सुवीर्ये।
स शक्र उत नः शकदिन्द्रो वसु दयमानः ॥ ६ ॥

तम्। इत्। सखिऽत्वे। ईमहे। तम्। राये। तम्। सुऽवीर्ये॥ सः। शक्रः। उत। नः। शकत्। इन्द्रः। वसु। दयमानः ॥ ६ ॥

पदार्थः—(तम्) परमेश्वरम् (इत्) एव (सखित्वे) सखीनां सुखायानुकूलं वर्त्तमानानां कर्मणां भावस्तस्मिन् (ईमहे) याचामहे। ईमह इति याच्ञाकर्मसु पठितम्। निघं० ३। १९। (तम्) परमैश्वर्य्यवन्तम् (राये) विद्यासुवर्णादिधनाय (तम्) अनन्तबलपराक्रमवन्तम् (सुवीर्ये) शोभनैर्गुणैर्युक्तं वीर्यं पराक्रमो यस्मिंस्तस्मिन् (सः) पूर्वोक्तः (शक्रः) दातुं समर्थः (उत) अपि (नः) अस्मभ्यम् (शकत्) शक्नोति। अत्र लडर्थे लुङडभावश्च। (इन्द्रः) दुःखानां विदारयिता (वसु) सुखेषु वसन्ति येन तद्धनं, विद्याऽऽरोग्यादि सुवर्णादि वा। वस्विति धननामसु पठितम्। निघं० २। १०। (दयमानः) [1]दातुं विद्यादिगुणान् प्रकाशितुं, सततं रक्षितुं, दुःखानि दोषान् शत्रूंश्च सर्वथा विनाशितुं, धार्मिकान् स्वभक्तानादातुं समर्थः। दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु इत्यस्य रूपम् ॥ ६ ॥

अन्वयः—यो नो दयमानः शक्रः इन्द्रः परमात्मा[स्ति, स] वसु दातुं [शकत्] शक्नोति। तमिदेव वयं सखित्वे तं राये [उत] तं सुवीर्ये ईमहे ॥ ६ ॥

भावार्थः—सर्वैर्मनुष्यैः सर्वशुभगुणप्राप्तये परमेश्वरो याचनीयो नेतरः। कुतः? तस्याद्वितीयस्य सर्वमित्रस्य परमैश्वर्य्यवतोऽनन्तशक्तिमत एवैतद्दातुं सामर्थ्यवत्त्वात् ॥ ६ ॥

इत्येकोनविंशो वर्गः समाप्तः ॥

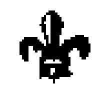
1. 'दय' धातो र्येऽर्थास्ते क्रमशोऽत्र विविच्यन्ते।

किस-किस पदार्थ की प्राप्ति के लिये ईश्वर की प्रार्थना करनी चाहिये, सो अगले मन्त्र में श किया है—

पदार्थान्वयभाषा—जो (नः) हमारे लिये (दयमानः) सुखपूर्वक रमण करने योग्य विद्या रोग्य और सुवर्णादि धन का देनेवाला, विद्यादि गुणों का प्रकाशक, निरन्तर रक्षक, दुःख वा शत्रुओं के विनाश, और अपने धार्मिक सज्जन भक्तों के ग्रहण करनेवाला, (शक्रः) न्न सामर्थ्ययुक्त, (इन्द्रः) दुःखों का विनाश करनेवाला जगदीश्वर है, [(सः)] वही (वसु) द्या और चक्रवर्ती राज्यादि परम धन देने को (शकत्) समर्थ है। (तमित्) उसी को हम लोग ादि शास्त्र, सब विद्वान्, प्रत्यक्षादि प्रमाण और अपने भी निश्चय से (सखित्वे) मित्रों के ायानुकूल कर्मों के निमित्त, (तम्) उसी को (राये) पूर्वोक्त विद्यादि धन के अर्थ, (उत) और तम्) उसी को (सुवीर्य्ये) श्रेष्ठ गुणों से युक्त उत्तम पराक्रम की प्राप्ति के लिये (ईमहे) चते हैं [अर्थात् उसी की प्रार्थना करते हैं]॥ ६॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को उचित है कि सब सुख और शुभ गुणों की प्राप्ति के लिये रमेश्वर ही की प्रार्थना करें, [और की नहीं।] क्योंकि वह अद्वितीय सर्वमित्र परमैश्वर्यवाला नन्त शक्तिमान् ही उक्त पदार्थों के देने में सामर्थ्यवाला है॥ ६॥

यह उन्नीसवां वर्ग समाप्त हुआ॥



अथेन्द्रशब्देनेश्वरसूर्य्यलोकावुपदिश्येते—

सुऽविवृतं सुनिरजमिन्द्र त्वादातमिद्यशः।
गवामप व्रजं वृधि कृणुष्व राधो अद्रिवः॥ ७॥

सुऽविवृतम्। सुनिःऽअजम्। इन्द्र। त्वाऽदातम्। इत्। यशः॥ गवाम्। अप। व्रजम्। वृधि। कृणुष्व। राधः। अद्रिऽवः॥ ७॥

पदार्थः—(सुविवृतम्) सुष्ठु विकाशितम् (सुनिरजम्) सुखेन नितरां क्षेप्तुं योग्यम् (इन्द्र) महायशः, सर्वविभागकारकेश्वर! सर्वविभक्तरूपदर्शकः सूर्य्यलोको वा (त्वादातम्) त्वया शोधितं, तेन सूर्य्येण वा (इत्) एव (यशः) परमकीर्त्तिसाधकं, जलं वा। यश इत्युदकनामसु पठितम्। निघं० १।१२। (गवाम्) स्वस्वविषयप्रकाशकानां मन-आदीन्द्रियाणां किरणानां पशूनां वा। गौरिति पदनामसु पठितम्। निघं० ४। १। इतीन्द्रियाणां पशूनां च ग्रहणम्। गाव इति रश्मिनामसु पठितम्। निघं० १। ५। (अप) धात्वर्थे। (व्रजम्) समूहं ज्ञानं वा (वृधि) वृणु वृणोति वा। अत्र पक्षान्तरे सूर्य्यस्य प्रत्यक्षत्वात् प्रथमार्थे मध्यमः। श्रुशृणुपॄकृवृभ्यश्छन्दसि। अ० ६। ४। १०२ अनेन हेर्धिः। (कृणुष्व) कुरु करोति वा[1]। अत्र [पक्षे] लडर्थे लोड्

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'करोति कुर्याद्वा' इत्यपपाठः। पक्षे लडर्थे लोटो विधानात्, अन्वये च 'कुरु' पदस्य निर्देशात्।

व्यत्ययेनात्मनेपदं च। (राधः) राध्नुवन्ति सुखानि येन तद्विद्यासुवर्णादिधनम्। राध इति धननामसु पठितम्। निघं० २।१०। (अद्रिवः) अद्रिर्मेघः प्रशंसा धनं भूयान् वा विद्यते यस्मिन्, तत्संबुद्धावीश्वर ! मेघवान् सूर्य्यो वा। अद्रिरिति मेघनामसु पठितम्। निघं० १।१०। अत्र भूम्न्यर्थे मतुप्॥ ७॥

अन्वयः—यथाऽयमद्रिवो मेघवान् [इन्द्र] सूर्य्यलोकः [इदेव] सुनिरजं त्वादातं तेन शोधितं यशो जलं सुविवृतं सुष्ठु विकाशितं राधो धनं च कृणुष्व करोति, स एव[1] गवां किरणानां व्रजं समूहं चापवृध्युद्घाटयति, तथैव हे[2] अद्रिव इन्द्र जगदीश्वर ! त्वं सुविवृतं सुनिरजं त्वादातं यशो राधो धनं च कृणुष्व कृपया कुरु। तथा हे अद्रिवो मेघादिरचकत्वात् प्रशंसनीय ! त्वं गवां व्रजमपवृधि ज्ञानद्वारमुद्घाटय॥ ७॥

अत्र [3][श्लेष] लुप्तोपमालङ्कारौ।

भावार्थः—हे परमेश्वर ! यथा भवता सूर्य्यादिजगदुत्पाद्य स्वकीर्त्तिः सर्वप्राणिभ्यः सुखं च प्रसिद्धी कृतं, तथैव भवत्कृपया वयमपि मन-आदीनीन्द्रियाणि शुद्धानि विद्याधर्मप्रकाशयुक्तानि सुखेन संसाध्य स्वकीर्त्तिं विद्याधनं चक्रवर्त्तिराज्यं च सततं प्रकाश्य सर्वान् मनुष्यान् सुखिनः कीर्त्तिमतश्च कारयेमेति॥ ७॥

अगले मन्त्र में इन्द्र शब्द से ईश्वर और सूर्यलोक का प्रकाश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—जैसे यह (अद्रिवः) मेघयुक्त (इन्द्र) सूर्यलोक [(इत्) ही] (सुनिरजम्) सुख से प्राप्त होने योग्य, (त्वादातम्) उसी से शुद्ध किये (यशः) जल को, और (सुविवृतम्) अच्छे प्रकार विस्तार को प्राप्त, (राधः) धन को प्रकाशित (कृणुष्व) करता है, [और वही] (गवाम्) किरणों के (व्रजम्) समूह को संसार में प्रकाश होने के लिये (अपवृधि) फैलाता है, वैसे ही हे (अद्रिवः[4]) प्रशंसा करने योग्य (इन्द्र) महायशस्वी, सब पदार्थों के यथायोग्य बांटनेवाले परमेश्वर ! आप (सुविवृतम्) देश-देशान्तर में प्रसिद्ध, और (सुनिरजम्) सुख से किये जानेवाले व्यवहारों में यथायोग्य प्रतीत होने के योग्य, (त्वादातम्) आपके ज्ञान से शुद्ध किये हुए (यशः) कीर्ति को बढ़ानेवाले, (राधः) जिससे कि अनेक

१. 'स एव' पदे ग. कोशे उपलभ्येते।

२. श्लेषालंकारेणेश्वरपरार्थद्योतनाय मन्त्रपदानां पुनः पाठः। ग.कोशे तु द्वावन्वयौ पार्थक्येन (=लुप्तोपमया विना) पौर्वापर्यव्यत्यासेन पठितौ। तथाहि—

'हे अद्रिव इन्द्र जगदीश्वर ! त्वं·········ज्ञानद्वारमुद्घाटय। इत्येकः॥'

'तथाऽयमद्रिवो मेघवान्[इन्द्र]सूर्यलोकः······चापवृध्युद्घाटयति। इति द्वितीयः॥'

एवमन्वयपार्थक्ये लुप्तोपमालङ्कारो नान्वेति। सम्भाव्यतेऽयमलङ्कारः पश्चात् प्रवर्धितः स्यात्, तदनुरोधेन च यथामुद्रितमन्वयो विहितः स्यात्। ग.कोशस्थे भाषार्थे 'लुप्तोपमालंकारस्य निर्देशो नास्ति। तेनाप्युक्तसंभवना दृढ़ीभवति।

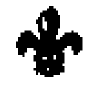
३. अयं कोष्ठान्तर्गतः पाठो वै० य० मुद्रिते चतुर्थसंस्करणे परिवर्धितः। भाषार्थे सर्वसंस्करणेषूपलभ्यते।

४. मन्त्र के इन पदों का पुनः निर्देश श्लेष और लुप्तोपमालङ्कार को स्पष्ट करने के लिए किया है।

सुख सिद्ध हों ऐसे अत्युत्तम विद्या सुवर्णादि धन को हमारे लिये (कृणुष्व) कृपा कर प्राप्त कराइये। तथा हे मेघादि की रचना से प्रशंसनीय! आप (गवाम्) अपने-अपने विषयों को प्राप्त होनेवाली मन आदि इन्द्रियों के ज्ञान, और उत्तम-उत्तम सुख देनेवाले पशुओं के (व्रजम्) समूह को (अपवृधि) प्राप्त कराके उनके ज्ञान और सुख के दरवाजे को खोल दीजिये ॥ ७ ॥

इस मन्त्र में श्लेष और लुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थ—हे परमेश्वर! जैसे आपने सूर्य्यादि जगत् को उत्पन्न करके अपना यश, और सब प्राणियों के लिये सब सुख प्रसिद्ध किया है, वैसे ही आपकी कृपा से हम लोग भी अपने मन आदि इन्द्रियों को शुद्धि के साथ विद्या और धर्म के प्रकाश से युक्त सुखपूर्वक सिद्ध करके अपनी कीर्ति विद्या धन और चक्रवर्ति राज्य का प्रकाश करके सब मनुष्यों को निरन्तर आनन्दित और कीर्तिमान् करें ॥ ७ ॥



पुनरीश्वर उपदिश्यते—

नहि त्वा रोदसी उभे ऋघायमाणमिन्वतः ।
जेषः स्वर्वतीरपः सं गा अस्मभ्यं धूनुहि ॥ ८ ॥

नहि। त्वा। रोदसी इति। उभे इति। ऋघायमाणम्। इन्वतः ॥ जेषः। स्वःऽवतीः। अपः। सम्। गाः। अस्मभ्यम्। धूनुहि ॥ ८ ॥

पदार्थः—(नहि) निषेधार्थे (त्वा) सर्वत्र व्याप्तिमन्तं जगदीश्वरम् (रोदसी) द्यावापृथिव्यौ। रोदसी इति द्यावापृथिव्योर्नामसु पठितम्। निघं० ३।३०। (उभे) द्वे (ऋघायमाणम्[1]) परिचरितुमर्हम्। ऋध्यते[2] पूज्यते इति ऋघः। बाहुलकात् कः,[3] तत आचारे क्यङ्। ऋध्नोतीति[4] परिचरणकर्मसु पठितम्। निघं० ३।५। (इन्वतः) व्याप्नुतः। इन्वतीति व्याप्तिकर्मसु पठितम्। निघं० २।१८। (जेषः) विजयं प्राप्नोषि। 'जि जिये' इत्यस्माल्लेटि

१. 'ऋघाय' धातोर्निष्पन्ना बहवो शब्दा ऋग्वेदे श्रूयन्ते। तेषां व्याख्याने व्याख्यातारो विप्रवदन्ते। अयं भाष्यकारोऽपि तानि पदानि बहुधा निर्वक्ति। तद्यथाप्रकरणं तत्र तत्र द्रष्टव्यम्।

२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'ऋध्यते' इत्यपपाठः। 'ऋघायमाणः' (ऋ० १।१७६।१) पदव्याख्याने स्पष्टमाह ग्रन्थकृत्—'अत्र ऋधु धातोः कः प्रत्ययो वर्णव्यत्ययेन घः। तत 'उपमानादाचारे' क्यङ्, इत्युक्तम्। अत्र 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' (अ० ३।१।११) इत्यनेन उपमानवाचिनः प्रातिपदिकात् आचारे क्यङ् द्रष्टव्यः।

३. अत्र 'कृतो बहुलम्' (अ० ३।३।११३) इत्येन वार्तिकेन कः प्रत्ययो द्रष्टव्यः। शिष्टं पूर्वटिप्पण्यां यथा ग्रन्थकर्तुः (ऋ० १।१७६।१) व्याख्यानमुद्धृतं तथा द्रष्टव्यम्।

४. वै० य० मुद्रितेषु १-३ संस्करणेषु 'ऋध्नोतीति' अपपाठः। निघण्टौ (२।१८) ऋध्नोतेर्निर्देशात्।

मध्यमैकवचने प्रयोगः। (**स्ववंतीः**) **स्वः सुखं विद्यते यासु ताः** (**अपः**) **कर्माणि कर्त्तुम्। अप** इति कर्मनामसु पठितम्। निघं० २। १। (**सम्**) **सम्यगर्थे क्रियायोगे** (**गाः**) **इन्द्रियाणि** (**अस्मभ्यम्**) (**धूनुहि**) **प्रेरय॥ ८॥**

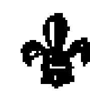
अन्वयः—हे परमेश्वर! इमे उभे रोदसी यमृघायमाणं [त्वा] त्वां नहीन्वतः, स त्वमस्मभ्यं स्ववंतीरपो जेषो गाश्च संधूनहि॥ ८॥

भावार्थः—यदा कश्चित् पृच्छेदीश्वरः कियानस्तीति, तत्रैवमुत्तरम्—येन सर्वमाकाशादिकं व्याप्तं, नैव तमनन्तं कश्चिदप्यर्थो व्याप्तुमर्हति। अतोऽयमेव सर्वैर्मनुष्यैः सेवनीयः, उत्तमानि कर्माणि कर्त्तुं वस्तूनि च प्राप्तुं प्रार्थनीयः। यस्य गुणाः कर्माणि चेयत्तारहितानि सन्ति, तस्यान्तं ग्रहीतुं कः समर्थो भवेत्?॥ ८॥

फिर अगले मन्त्र में ईश्वर का प्रकाश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे परमेश्वर! ये (उभे) दोनों (रोदसी) सूर्य्य और पृथिवी जिस (ऋघायमाणम्) पूजा करने योग्य [(त्वा)] आपको (नहि) नहीं (इन्वतः) व्याप्त हो सकते हैं, सो आप [(अस्मभ्यम्)] हम लोगों के लिये (स्ववंतीः) जिनसे हमको अत्यन्त सुख मिले ऐसे (अपः) कर्मों को (जेषः) विजयपूर्वक प्राप्त करने के लिये, हमारे (गाः) इन्द्रियों को (संधूनुहि) अच्छी प्रकार पूर्वोक्त कार्य्यों में संयुक्त कीजिये॥ ८॥

भावार्थ—जब कोई पूछे कि ईश्वर कितना बड़ा है, तो उत्तर यह है कि—जिसको सब आकाश आदि बड़े-बड़े पदार्थ भी घेर में नहीं ला सकते, क्योंकि वह अनन्त है। इससे सब मनुष्यों को उचित है कि उसी परमात्मा का सेवन, उत्तम-उत्तम कर्म करने, और श्रेष्ठ पदार्थों की प्राप्ति के लिये उसी की प्रार्थना करते रहें। जिसके गुण और कर्मों की गणना कोई नहीं कर सकता, तो कोई उसके अन्त पाने को समर्थ कैसे हो सकता है?॥ ८॥



पुनः स एवोपदिश्यते—

आश्रुत्कर्ण श्रुधी हवं नू चिद् दधिष्व मे गिरः।
इन्द्र स्तोममिमं मम कृष्वा युजश्चिदन्तरम्॥ ९॥

आश्रुत्ऽकर्ण। श्रुधि। हवम्। नु। चित्। दधिष्व। मे। गिरः॥ इन्द्र। स्तोमम्। इमम्। मम। कृष्व। युजः। चित्। अन्तरम्॥ ९॥

पदार्थः—(**आश्रुत्कर्ण**) [समन्तात्] **श्रुतौ विज्ञानमयौ श्रवणहेतू कर्णौ यस्य, तत्संबुद्धौ। अत्र** संपदादित्वात्[1] **करणे क्विप्।** (**श्रुधि**) **शृणु। अत्र** बहुलं छन्दसि [अ० २। ४। ७३]

१. 'सम्पादिभ्यः क्विप्' (अ० ३। ३। ९४ वा०) इति वार्त्तिकेन।

इति श्नोर्लुक्[1]। श्रुशृणुपृकृवृभ्य० [अ० ६। ४। १०२] इति हेर्धिरादेशः। (हवम्) [2]आदातव्यं सत्यं वचनम्। (नु) क्षिप्रार्थे। नु इति क्षिप्रनामसु पठितम्। निघं० २। १५। ऋचि तुनुघ० [अ० ६। ३। १३२] इति दीर्घः। (चित्) पूजार्थे। चिदिदं श्रूयादिति पूजायाम्। निरु० १।४। (दधिष्व) धारय। 'दध धारणे' इत्यस्माल्लोट्, छन्दस्युभयथा [अ० ३। ४। ११७] इत्यार्द्धधातुकाश्रयेणेडागमः[3]। (मे) मम स्तोतुः (गिरः) वाणीः (इन्द्र) सर्वान्तर्यामिन् सर्वतः श्रोतः ! (स्तोमम्) स्तूयते येनासौ स्तोमः, तं स्तुतिसमूहं (इमम्) प्रत्यक्षम् (मम) स्तोतुः (कृष्व) कुरु। 'कृञ्' इत्यस्माल्लोटि विकरणाभावः[4]। (युजः) यो युनक्ति स युक् सखा, तस्य सख्युः। 'युजिर् योगे' इत्यस्माद् ऋत्विग्दधृग्० [अ० ३। २। ५९] इति क्विन्। (चित्) इव। चिदित्युपमार्थे। निरु० १। ४। (अन्तरम्) अन्तःशोधनमाभ्यन्तरं वा ॥ ९ ॥

अन्वयः—हे आश्रुत्कर्ण इन्द्र जगदीश्वर ! चिद् यथा प्रियः सखा युजः प्रियस्य सख्युर्गिरः प्रेम्णा शृणोति, तथैव त्वं नु मे गिरो हवं [चित्]श्रुधि। ममेमं स्तोममन्तरं दधिष्व, युजो मामन्तःकरणं शुद्धं कृष्व कुरु ॥ ९ ॥

अत्रोपमालङ्कारः।

भावार्थः—मनुष्यैरीश्वरस्य सर्वज्ञत्वेन जीवेन प्रयुक्तस्य वाग्व्यवहारस्य यथावत् श्रोतृत्वेन सर्वाधारत्वेनान्तर्यामितया जीवान्तःकरणयोर्यथावच्छोधकत्वेन सर्वस्य [5]मित्रत्वाच्चायमेवैकः सर्वैव ज्ञातव्यः प्रार्थनीयश्चेति ॥ ९ ॥

फिर उसी परमेश्वर का निरूपण अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—(आश्रुत्कर्ण) हे निरन्तर श्रवणशक्तिरूप कर्णवाले (इन्द्र) सर्वान्तर्यामी परमेश्वर ! (चित्) जैसे प्रीति बढ़ानेवाला मित्र, अपने (युजः) सत्यविद्या और उत्तम-उत्तम गुणों में युक्त होनेवाले मित्र की (गिरः) वाणियों को प्रीति के साथ सुनता है, वैसे ही आप (नु) शीघ्र ही (मे) मेरी (गिरः) स्तुति, तथा (हवम्) ग्रहण करने योग्य सब वचनों को [(चित्) आदरपूर्वक] (श्रुधि) सुनिये। तथा (मम) मेरी (स्तोमम्) स्तुतियों के समूह को (अन्तरम्) अपने ज्ञान के बीच (दधिष्व) धारण करके, पूर्वोक्त कामों में उक्त प्रकार से युक्त हुए हम लोगों के [अन्तःकरण अर्थात्] भीतर की शुद्धि को (कृष्व) कीजिये ॥९॥

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है।

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि जो सर्वज्ञ जीवों के किये हुए वाणी के व्यवहारों का

---

१. शपो लुकि तदादेशस्य श्नोरभाव इत्यर्थः।

२. 'हु दानादनयोः, आदाने चेत्येके' इत्यस्माद् 'ऋदोरप्' (अ० ३। ३। ५७) इत्यप्। 'ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च' इत्यस्मादित्येके। तथा सति 'बहुलं छन्दसि' (अ० ६।१।३४) इत्यनेन सम्प्रसारणे पूर्ववद् अप् प्रत्ययो द्रष्टव्यः। ३. शपोऽभावश्चेति शेषः।

४. शपो लुकि (अ० २। ४। ७३) तदादेशस्य 'उ' विकरणस्याप्यभाव इतिभावः।

५. समानवाक्ये विविभक्तिप्रयोगविषये पूर्वत्र ५७१ तमे पृष्ठे १ टिप्पणी द्रष्टव्या।

यथावत् श्रवण करनेहारा सर्वाधार अन्तर्यामी, जीव और अन्तःकरण का यथावत् शुद्धिहेतु, तथा सबका मित्र ईश्वर है, वही एक जानने वा प्रार्थना करने योग्य है ॥ ६ ॥



मनुष्याः पुनस्तं कथंभूतं जानीयुरित्युपदिश्यते—

विद्मा हि त्वा वृषन्तमं वाजेषु हवनश्रुतम् ।
वृषन्तमस्य हूमह ऊतिं सहस्रसातमाम् ॥ १० ॥

विद्म । हि । त्वा । वृषन्ऽतमम् । वाजेषु । हवनऽश्रुतम् ॥ वृषन्ऽतमस्य । हूमहे । ऊतिम् । सहस्रऽसातमाम् ॥ १० ॥

पदार्थः—(विद्म) विजानीमः । द्व्यचोऽतस्तिङः [अ० ६।३।१३४] इति दीर्घः । (हि) एवार्थे (त्वा) त्वाम् (वृषन्तमम्) सर्वानभीष्टान् कामान् वर्षतीति वृषा, सोऽतिशयितस्तम् । कनिन् युवृषि० । उ० १ । १५६ अनेन 'वृष' धातोः कनिन् प्रत्ययः । अयस्मयादीनि छन्दसि । अ० १ । ४ । २० इत्यनेन भसंज्ञया नलोपाभावः[1] । उभयसंज्ञान्यपि छन्दांसि दृश्यन्ते [महा० अ० १ । ४ । २०] इति पदसंज्ञाश्रयणाट्टिलोपाभावः । (वाजेषु) संग्रामेषु । वाजे इति संग्रामनामसु पठितम् । निघं० २ । १७ । (हवनश्रुतम्) हवनमाह्वानं शृणोतीति तम् (वृषन्तमस्य) अतिशयेनोत्तमानां कामानामभिवर्षयितुस्तव (हूमहे) स्पर्धयामहे । अत्र 'ह्वेञ्' इत्यस्माल्लटि बहुलं छन्दसि [अ० २ । ४ । ७३] इति शपो लुक् । बहुलं छन्दसि । अ० ६ । १ [३३] इति संप्रसारणम्, संप्रसारणाच्च [अ० ६ । १ । १०४] इति पूर्वरूपं च । हलः । अ० ६ । ४ । २ इति दीर्घत्वम् । (ऊतिम्) रक्षां प्राप्तिमवगमं च (सहस्रसातमाम्) सहस्राणि बहूनि धनानि सुखानि वा सनोति यया साऽतिशयिता ताम् । अत्र सहस्रोपपदात् 'षणु दाने' इत्यस्माद्धातोः

१. 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (अ० ८ । २ । ७) इत्यनेन पदाश्रयो यो नकारस्य लोपः प्राप्नोति, स भसंज्ञाविधानान्न भवतीति भावः । भसंज्ञायां सत्याम् 'अल्लोपोऽनः' (अ० ६ । ४ । १४४) इत्यनेन योऽनोऽकारस्य लोपः प्राप्नोति, स पदसंज्ञाश्रयेण वार्यते । यथा 'ऋक्वता गणेन' (ऋ० ४ । ५० । ५) 'ऋच् वत् टा' इत्यत्र पदत्वात् कुत्वं भवति, भत्वाज्जश्त्वं न भवति (द्र०—महा० १ । ४ । २०), तथैवात्र संज्ञाद्वयनिमित्तं कार्यं द्रष्टव्यम् । सत्यप्येवं 'नाद् घस्य' (अ० ८ । २ । १७) इत्यनेन नुडागमस्य प्राप्तिः, साऽपि भसंज्ञाश्रयणाद् वारणीया । इदं चात्रावधेयम्—भपदसंज्ञयोरुभयोरिहाश्रयणं यथाश्रुतपदपाठानुरोधेन । महाभाष्यकारस्तु नकारलोपे नुटि च कृते योऽवग्रहे भेदो जायते, तदर्थं 'न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्' इत्युक्त्वा 'वृषऽन्तमम्' इत्येवमवग्रहं स्वीचकार । यद्वा—भाष्यकारीयं वचनं 'व्याकरणान्तरलक्षणैरन्यथा पदविभागेऽवग्रहनिर्देशोऽपि न दोषावहः' इत्यस्य ज्ञापनार्थं व्याख्येयम् । अन्यथा 'ऊदनोर्देशे' (अ० ६ । ३ । ९७) इत्यनेन 'अनु अप' इत्यत्र 'उदादेशेनापि रूपं सिध्यति । तेन पाणिनेरूदादेशविधानमपि 'अनुऽऊप' इत्येवमवग्रहसामञ्जस्यायेति महाभाष्यकार इहावोचत् । लुप्तशाखापपाठं कंचिदाश्रित्योक्तं स्यात् पतञ्जलिनेत्यनुमीयते, यतो ह्युपलब्धानां शाखानां पदपाठे नायमवगृह्यते ।

तनसन० [अ० ३ । २ । ६७] इत्यनेन विट्। विड्वनोरनुनासिकस्यात् [अ० ६ । ४ । ४१] ति नकारस्याकारादेशः । कृतो बहुलम् [अ० ३।३।११३ वा०] इति करणे च ॥ १० ॥

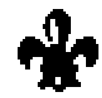
अन्वयः—हे इन्द्र ! वयं वाजेषु हवनश्रुतं वृषन्तमं[त्वा]त्वां विद्म । हि यतो वृषन्तमस्य तव सहस्रसातमामूतिं हूमहे ॥ १० ॥

भावार्थः—मनुष्याः सर्वकामसिद्धिप्रदं शत्रूणां युद्धेषु विजयहेतुं परमेश्वरमेव जानीयुः । येनास्मिन् जगति सर्वप्राणिसुखायासंख्याताः पदार्था उत्पाद्य रक्ष्यन्ते, तं तदाज्ञां चाश्रित्य सर्वथा प्रयत्नेन स्वस्य सर्वेषां च सुखं संसाध्यम् ॥ १० ॥

फिर मनुष्य लोग परमेश्वर को कैसा जानें, इस विषय का प्रकाश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे परमेश्वर ! हम लोग (वाजेषु) संग्रामों में (हवनश्रुतम्) प्रार्थना को सुननेवाले, और (वृषन्तमम्) सब अभीष्ट कामों को अच्छी प्रकार देने और जाननेवाले (त्वा) आपको (विद्म) जानते हैं। (हि) जिस कारण हम लोग (वृषन्तमस्य) अतिशय करके श्रेष्ठ कामों को मेघ के समान वर्षानेवाले आपकी (सहस्रसातमाम्) अच्छी प्रकार अनेक धनों वा सुखों की देनेवाली, जो (ऊतिम्) रक्षा प्राप्ति और विज्ञान हैं, उनको (हूमहे) अधिक से अधिक मानते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य सब कर्मों की सिद्धि देनेवाले, और युद्ध में शत्रुओं पर विजय के हेतु परमेश्वर को ही जानें, जिसने इस संसार में सब प्राणियों के सुख के लिये असंख्यात पदार्थ उत्पन्न वा रक्षित किये हैं। तथा उस परमेश्वर वा उसकी आज्ञा का आश्रय करके सर्वथा प्रयत्न के साथ अपना वा सब मनुष्यों का सब प्रकार से सुख सिद्ध करना चाहिये ॥ १० ॥



पुनः स कीदृशः, किं करोतीत्युपदिश्यते—

आ तू न॑ इन्द्र कौशिक मन्दसा॒नः सु॒तं पि॑ब ।
नव्य॒मायुः॒ प्र सू ति॑र कृ॒धी स॑हस्र॒सामृषि॑म् ॥ ११ ॥

आ । तु । नः॒ । इ॒न्द्र॒ । कौ॒शि॒क॒ । म॒न्द॒सा॒नः । सु॒तम् । पि॒ब॒ ॥ नव्य॑म् । आयुः॑ । प्र । सु । ति॒र॒ । कृ॒धि । स॒ह॒स्र॒ऽसाम् । ऋषि॑म् ॥ ११ ॥

पदार्थः—(आ) समन्तात् (तु) पुनरर्थे । अत्र ऋचि तुनुघमक्षु० [अ० ६ । ३ । १३२] इति दीर्घः । (नः) अस्माकम् (इन्द्र) सर्वानन्दस्वरूपेश्वर ! (कौशिक) सर्वासां विद्यानामुपदेशे प्रकाशे च भवः तत्संबुद्धौ, अर्थानां साधूपदेष्टर्वा । कोशतेः शब्दकर्मणः क्रंशतेर्वा स्यात् प्रकाशयतिकर्मणः, साधु विक्रोशयिताऽर्थानामिति वा[1] । निरु० २ । २५ अनेन कौशिकशब्द उक्तार्थो गृह्यते ।

१. वै० यं० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'इतोऽग्रे 'नद्यः प्रत्युचुः' इत्यधिकः पाठः, स च नेह सम्बध्यते ।

(मन्दसानः) स्तुतः सर्वस्य ज्ञाता सन् । ऋञ्जिवृधिमन्दि० । उ० २ । ८७ अनेन मन्देरसानच् प्रत्ययः । (सुतम्) प्रयत्नेनोत्पादितं प्रियशब्दं स्तवनं वा (पिब) श्रवणशक्त्या गृहाण (नव्यम्) नवीनम् । नवसूरमर्तयविष्ठेभ्यो यत् । अ० ५ । ४ । ३६ अनेन वार्त्तिकेन नवशब्दात् स्वार्थे यत् । नव्यमिति नवनामसु पठितम् । निघं० ३ । २८ । (आयुः) जीवनम् (प्र) प्रकृष्टार्थे क्रियायोगे (सु) शोभार्थे क्रियायोगे । अत्र निपातस्य च [अ० ६ । ३ । १३५] इति दीर्घः । (तिर) सन्तारय । तरतेर्विकरणव्यत्ययेन शः । ऋत इद्धातोः [अ० ७ । १ । १००] इतीकारः । (कृधि) कुरु । अत्र श्रुशृणुपॄकृवृभ्यश्छन्दसि [अ० ६ ४।१०२] इति हेर्धिः[1] विकरणाभावः । (सहस्रसाम्) सहस्रं बह्वीर्विद्याः सनोति तम् (ऋषिम्) वेदमन्त्रार्थद्रष्टारं, जितेन्द्रियतया शुभगुणानां सदैवोपदेष्टारं, सकलविद्याप्रत्यक्षकारिणम् ॥ ११ ॥

अन्वयः—हे कौशिकेन्द्रेश्वर ! मन्दसानः संस्त्वं नः सुतमापिब, तु पुनः कृपया नो नव्यमायुः [2]प्रसुतिर । तथा नोऽस्माकं मध्ये सहस्रसामृषिं कृधि सम्पादय ॥ ११ ॥

भावार्थः—ये मनुष्याः प्रेम्णा विद्योपदेष्टारं जीवेभ्यः सत्यविद्याप्रकाशकं सर्वज्ञं शुद्धमीश्वरं स्तुत्वा [3]आश्रयन्ति, ते सुखपूर्णं विद्यायुक्तमायुः प्राप्यर्षयो भूत्वा पुनः सर्वान् विद्यायुक्तान् मनुष्यान् विदुषः प्रीत्या सम्पादयन्ति ॥ ११ ॥

फिर वह परमेश्वर कैसा है, और मनुष्यों के लिये क्या करता है, इस विषय को अगले मन्त्र में प्रकाश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (कौशिक) सब विद्याओं के उपदेशक और उनके अर्थों के निरन्तर प्रकाश करनेवाले (इन्द्र) सर्वानन्दस्वरूप परमेश्वर ! आप (मन्दसानः) उत्तम-उत्तम स्तुतियों को प्राप्त हुए, और सब को यथायोग्य जानते हुए (नः) हम लोगों के (सुतम्) यत्न से उत्पन्न किये हुए[4] प्रिय शब्दों से की हुई स्तुतियों को (आ) अच्छी प्रकार (पिब) ग्रहण करिये[5] । (तु) और कृपा करके हमारे लिये (नव्यम्) नवीन (आयुः) निरन्तर जीवन को ([2]प्रसुतिर) दीजिये । तथा हम लोगों में (सहस्रसाम्) अनेक विद्याओं के प्रकट करनेवाले (ऋषिम्) [वेद मन्त्रों के अर्थों के द्रष्टा, जितेन्द्रिय होकर सब शुभ गुणों के उपदेष्टा, और सम्पूर्ण विद्याओं के प्रत्यक्षकर्त्ता] पुरुष को (कृधि) उत्पन्न कीजिये ॥ ११ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य प्रेम से विद्या का उपदेश करनेवाले, जीवों के लिये सब विद्याओं के प्रकाशक, सर्वज्ञ शुद्ध परमेश्वर का स्तुति के साथ आश्रय करते हैं, वे सुखपूर्ण और

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'हेर्धिविकरणभावः' इत्यपपाठः । उक्तसूत्रेण 'कृ'धातोः परस्य हेर्धिभावविधानं तदैव संभवति, यदा विकरणाभावः स्यात् । अत एवेहानेन सूत्रेण विकरणाभावोऽप्युक्तः । यद्वा— अ० २।४।७३ सूत्रेण शपो लुकि 'उ' विकरणस्याभावो बोध्यः ।

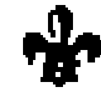
२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'प्रसूतिर' इत्यपपाठः । नहि छान्दसं दीर्घत्वमन्वये निदर्श्यते ।

३. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'श्रावयन्ति' इत्यसम्बद्धोऽपपाठः । भावार्थे 'आश्रय करते हैं' इत्येव पठ्यते ।

४. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'सोमादि रस वा' ऐसा अप्राकरणिक अधिक निर्देश किया है ।

५. वै० य० मुद्रित संस्करणों में '(पिब) पान कराइये' पाठ संस्कृत-पदार्थ के विपरीत है ।

द्यायुक्त आयु को प्राप्त करके, ऋषि-भाव को प्राप्त होकर सब विद्या चाहनेवाले मनुष्यों को के साथ उत्तम-उत्तम विद्या से विद्वान् करते हैं ॥ ११ ॥



इमाः सर्वाः स्तुतय ईश्वरमेव स्तुवन्तीत्युपदिश्यते—

परि त्वा गिर्वणो गिर इमा भवन्तु विश्वतः ।

वृद्धायुमनु वृद्धयो जुष्टा भवन्तु जुष्टयः ॥ १२ ॥

परि । त्वा । गिर्वणः । गिरः । इमाः । भवन्तु । विश्वतः ॥ वृद्धऽआयुम् । अनु । वृद्धयः । जुष्टाः । भवन्तु । जुष्टयः ॥ १२ ॥

पदार्थः—(परि) परितः । परीति सर्वतोभावं प्राह । निरु० १ । ३ । (त्वा) त्वां वेस्तुतिभाजनमिन्द्रमीश्वरम् (गिर्वणः) गीर्भिर्वेदानां विदुषां च वाणीभिर्वन्यते संसेव्यते तत्सम्बुद्धौ (गिरः) स्तुतयः (इमाः) 'वेदस्थाः प्रत्यक्षा विद्वत्प्रयुक्ताः (भवन्तु) विश्वतः) विश्वस्य मध्ये (वृद्धायुम्) आत्मनो वृद्धमिच्छतीति[२] तम् (अनु) क्रियार्थे वृद्धयः) वर्ध्यन्ते यास्ताः (जुष्टाः) याः प्रीणन्ति सेवन्ते ताः (भवन्तु) (जुष्टयः) व्यन्ते यास्ताः ॥ १२ ॥

अन्वयः—हे गिर्वण इन्द्र ! विश्वतो या इमा गिरः सन्ति, ताः परि सर्वतस् [त्वा] त्वां वन्तु । तथा चेमा वृद्धयो जुष्टयो जुष्टा वृद्धायुं त्वामनुभवन्तु ॥ १२ ॥

भावार्थः—हे भगवन् ! या योत्कृष्टा प्रशंसा सा सा तवैवास्ति । या या सुखानन्दवृद्धिश्च सा त्वामेव संसेवते । [अतो] य एवमीश्वरस्य गुणान् तत्सृष्टिगुणांश्चानुभवन्ति, त एव सत्रा विद्यावृद्धा भूत्वा विश्वस्मिन् पूज्या जायन्ते ॥ १२ ॥

अत्र सायणाचार्य्येण 'परिभवन्तु सर्वतः प्राप्नुवन्तु' इत्यशुद्धमुक्तम् । कुतः ? 'परौ भुवोऽवज्ञाने' [अ० ३ । ३ । ५५] इति परिपूर्वकस्य 'भू' धातोस्तिरस्कारार्थे निपातितत्वात्[३] ॥

---

१. भाषा पदार्थानुसारं त्वत्र 'वेदस्थाः प्रत्यक्षाः, विद्वत्प्रयुक्ताश्च' इत्येवमत्रार्थो ज्ञेयः ।

२. पदकारास्तु वृद्ध आयुर्यस्येति बहुव्रीहिसमासमाश्रित्यावगृह्णन्ति । आयुरुकारान्तः 'छन्दसीणः' (उ० । २) इत्युण्प्रत्ययान्तः । क्यजन्तेऽपि 'क्याच्छन्दसि' (अ० ३ । २ । १७०) इत्यादिना उप्रत्यये रूपं ध्यति, तथापि स्वरश्छान्दसः कल्पनीयो भवति । सूक्तार्थसंगतौ 'दीर्घायुषो भूत्वा' इत्यनेन बहुव्रीह्यर्थोऽपि व्यक्तताऽस्य प्रदर्शितः ।

३. यद्यपि वैयाकरणनिकाये निपातितनिपातनशब्दौ विशिष्टेऽर्थे प्रयुज्येते, तथाऽप्यत्रायं निपातितशब्दः योगमात्रेऽर्थे प्रयुक्तः । अर्थात् तिरस्कारेऽर्थे प्रयुक्तत्वात् । वस्तुतस्तु परिपूर्वाद् भवतेरवज्ञानेऽर्थे विभाषा ञविधान एवास्य सूत्रस्य तात्पर्यम् । तेन 'अवज्ञान इति किम् ? सर्वतो भवनं परिभवः' इति प्रत्युदाहरणं मिच्छते । इदमप्यत्रावधेयम्—ग्रन्थकारेण मन्त्रार्थव्याख्याने 'परिभवन्तु' इत्यस्य 'सर्वतो भवन्तु' इत्येवार्थो

इदं सूक्तमार्य्यावर्त्तनिवासिभिः सायणाचार्य्यादिभिस्तथा यूरोपाख्यदेशनिवासिभिर्विलसनाख्यादिभिश्चान्यथैव व्याख्यातम् ।

अत्र ये क्रमेण विद्यादिशुभगुणान् गृहीत्वेश्वरं च प्रार्थयित्वा सम्यक् पुरुषार्थमाश्रित्य धन्यवादैः परमेश्वरं प्रशंसन्ति, त एवाविद्यादिदुष्टगुणान्निवार्य्य शत्रून् विजित्य दीर्घायुषो विद्वांसो भूत्वा सर्वेभ्यः सुखसम्पादनेन सदानन्दयन्त इत्यस्य दशमस्य सूक्तार्थस्य नवमसूक्तार्थेन सह सङ्गतिरस्तीति बोध्यम् ।। १२ ।।

इति दशमं सूक्तं विंशो वर्गश्च समाप्तः ।।

उक्त सब स्तुति ईश्वर ही के गुणों का कीर्त्तन करती हैं, इस विषय का प्रकाश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (गिर्वणः) वेदों तथा विद्वानों की वाणियों से स्तुति को प्राप्त होने योग्य परमेश्वर ! (विश्वतः) इस संसार में जो (इमाः) वेदोक्त वा विद्वान् पुरुषों की कही हुई प्रत्यक्ष (गिरः) स्तुतियां हैं, वे (परि)सब प्रकार से सब की स्तुतियों से सेवन करने योग्य जो आप है, उनको (भवन्तु) प्रकाश करनेहारी हों। और इसी प्रकार (वृद्धयः) वृद्धि को प्राप्त होने योग्य, (जुष्टाः) प्रीति की देनेवाली स्तुतियां, (जुष्टयः) जिनका सेवन किया जाता है, वे (वृद्धायुम्) जो कि निरन्तर सब कार्य्यों में अपनी उन्नति को आप ही बढ़ानेवाले उन आप का (अनुभवन्तु) अनुभव करें ।। १२ ।।

भावार्थ—हे भगवन् परमेश्वर ! जो-जो अत्युत्तम प्रशंसा है, सो-सो आपकी ही है। तथा जो-जो सुख और आनन्द की वृद्धि होती है, सो-सो आप ही को सेवन करके विशेष वृद्धि को प्राप्त होती है। इस कारण जो मनुष्य ईश्वर तथा सृष्टि के गुणों का अनुभव करते हैं, वे ही प्रसन्न, और विद्या को वृद्धि को प्राप्त होकर संसार में पूज्य होते हैं ।। १२ ।।

इस मन्त्र में **सायणाचार्य्य** ने 'परिभवन्तु' इस पद का अर्थ यह किया है कि—'सब जगह से प्राप्त हों'। यह व्याकरण आदि शास्त्रों से अशुद्ध है। क्योंकि **'परौ भुवोऽवज्ञाने'** [अ० ३।३।५५] व्याकरण के इस सूत्र से परिपूर्वक 'भू' धातु का अर्थ तिरस्कार अर्थात् अपमान करना होता है।[1] आर्य्यावर्त्तवासी **सायणाचार्य्य** आदि तथा यूरोपखण्ड देशवासी [**विलसन** आदि] साहबों ने इस दशवें सूक्त के अर्थ का अनर्थ किया है ।।

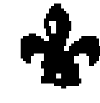
जो लोग क्रम से विद्या आदि शुभ गुणों को ग्रहण और ईश्वर की प्रार्थना करके अपने उत्तम पुरुषार्थ का आश्रय लेकर परमेश्वर की प्रशंसा और धन्यवाद करते हैं, वे ही अविद्या आदि दुष्ट गुणों की निवृत्ति से शत्रुओं को जीतकर, तथा अधिक अवस्थावाले और विद्वान् होकर सब

निर्दिष्टः। तेन प्रतीयते 'सायणाचार्येण······निपातितत्वात्' इत्ययं पाठः कुलेखकैरस्थाने परिवर्धितः। अथवा भूतपूर्वार्थेन सम्बद्धः पाठोऽर्थपरिवर्तने नापमृष्टः स्यात् ।

१. यह लेख अप्रासङ्गिक सा है। यहां यह कैसे उपलब्ध होता है, इस विषय में संस्कृत-टिप्पणी में विचार किया है।

नुष्यों को सुख उत्पन्न करके सदा आनन्द में रहते हैं। इस अर्थ से इस दशम सूक्त की सङ्गति नम सूक्त के साथ जाननी चाहिये ॥ १२ ॥

यह दशम सूक्त और बीसवां वर्ग पूरा हुआ ॥



अथास्याष्टार्चस्यैकादशसूक्तस्य जेता माधुच्छन्दस ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप् छन्दः[1] । गान्धारः स्वरः ॥

अथेन्द्रशब्देनेश्वरविजेतारावुपदिश्येते—

इन्द्रं॒ विश्वा॑ अवीवृधन्त्समु॒द्रव्य॑चसं॒ गिरः॑ ।
र॒थीत॑मं र॒थीनां॒ वाजा॑नां॒ सत्प॑तिं॒ पति॑म् ॥ १ ॥

इन्द्र॑म् । विश्वाः॑ । अ॒वी॒वृ॒ध॒न् । स॒मु॒द्रऽव्य॑चसम् । गिरः॑ ॥ र॒थिऽत॑मम् । र॒थीना॑म् । वाजा॑नाम् । सत्ऽ॑ पतिम् । पति॑म् ॥ १ ॥

पदार्थः—(इन्द्रम्) विजयप्रदमीश्वरम्, शत्रूणां विजेतारं शूरं वा (विश्वाः) सर्वाः (अवीवृधन्) अत्यन्तं वर्धयन्तु । अत्र लोडर्थे लुङ् । (समुद्रव्यचसम्) समुद्रेऽन्तरिक्षे व्यचा व्याप्तिर्यस्य तं सर्वव्यापिनमीश्वरम्, समुद्रे नौकादिविजयगुणसाधनव्यापिनं शूरवीरं वा (गिरः) स्तुतयः (रथीतमम्) बहवो रथा रमणाधिकरणाः पृथिवीसूर्य्यादयो लोका विद्यन्ते यस्मिन् स रथीश्वरः सोऽतिशयितस्तम्[2], रथाः प्रशस्ता रमणविजयहेतवो विमानादयो विद्यन्ते यस्य सोऽतिशयितः शूरस्तम् । रथिन ईद् वक्तव्यः । अ० ८ । २ । १७ इति वार्त्तिकेन [3]ईकारादेशः ।

१. सामान्येनेति शेषः । अवान्तरभेदास्त्वित्थं ज्ञेयाः—१,३,८ निचृदनुष्टुप्; ४, ६ अनुष्टुप्; ७ विराडनुष्टुप् । ५ पादचतुष्टयेनानुष्टुप, अक्षरसंख्यया तु भुरिगुष्णिक् । उष्णिक्पक्षे ऋषभः स्वरः ॥

इदमत्रावधेयम्—प्रक्रियाभेदेन छन्दोविज्ञाने छन्दोभेदः संजायत इति वैदिकानां राद्धान्तः । यथा—(१) विद्वांसो विदुरः (ऋ० १ । १२० । २) षट्कपादैरुष्णिक्, अक्षरगणनया च भुरिग्गायत्री इत्युच्यते । द्र०—कात्यायनीया सर्वानुक्रमणी, तट्टीका (पृष्ठ ६१, ६२); ऋक्प्रातिशाख्यं (अ० १६ । २०) च । (२) नदं व ओदतीनाम् (ऋ० ८ । ६९ । २), मंसीमहि त्वा (ऋ० १० । २६ । ४) ऋचोर्विषये शौनक आह—पादैरनुष्टुभौ विद्याद् अक्षरैरुष्णिहाविमे (ऋक्प्राति० १६।३२) इति । छन्दोनिर्देशे कैः कैः कारणैश्छन्दोभेद उपपद्यते इत्यस्मिन् विषयेऽस्माभिः स्वीयवैदिकछन्दोमीमांसायाः सप्तदशेऽध्याये विस्तरेण वर्णितम् ।

२. नह्येकस्मिन्नीश्वरेऽतिशायिकस्तमप् सम्भवति । तेनाऽत्र स्वार्थे तमब्द्रष्टव्यः । यद्वा—यः स्वगुणैः सर्वान् अतिशेते स इत्यर्थो ग्राह्यः ।

३. पदकारास्तु 'रथिऽतमम्' इत्येवमवग्रहं प्रदर्शयन्तो मत्वर्थीयेनिप्रत्ययान्तस्य रथिनश्छान्दसं दीर्घत्वं मन्यते । अतएव पदपाठे तस्य ह्रस्वत्वं प्रदर्शयन्ति । यथा तु 'रथिन ईद् वक्तव्यः' (अ० ८ । २ । १७) इति वार्त्तिकं तथा 'रथीऽतमम्' इत्येवमवग्रहेण भवितव्यम् । विशेषस्त्वत्र (ऋ० १ । १० । १०) मन्त्रे 'वृषन्तमम्' पदस्य टिप्पण्यां (पृष्ठ ५८४, टि० १) द्रष्टव्यः ।

(रथीनाम्) नित्ययुक्ता रथा[1] विद्यन्ते येषां योद्धॄणां तेषाम् । अन्येषामपि दृश्यते । अ० ६ । ३ । १३६ अनेन दीर्घः[2] । (वाजानाम्) व्रजन्ति प्राप्नुवन्ति जयपराजयौ येषु युद्धेषु तेषाम् । (सत्पतिम्) यः सतां नाशरहितानां प्रकृत्यादिकारणद्रव्याणां पतिः स्वामी तमीश्वरम्, यः सतां सद्व्यवहाराणां सत्पुरुषाणां वा पतिः पालकस्तं न्यायाधीशं राजानम् (पतिम्) यः पाति रक्षति चराचरं जगत् तमीश्वरम्, यः पाति रक्षति सज्जनांस्तम् ॥ १ ॥

अन्वयः—अस्माकमिमा विश्वा गिरो यं समुद्रव्यचसं रथीनां रथीतमं वाजानां सत्पतिं पतिमिन्द्रं **परमात्मानं वीरपुरुषं वाऽवीवृधन्**[3] **नित्यं वर्द्धयन्ति, तं सर्वे मनुष्या वर्द्धयन्तु ॥ १ ॥**

अत्र श्लेषालङ्कारः ।

भावार्थः—सर्वा वेदवाण्यः परमैश्वर्यवन्तं सर्वगतं सर्वत्र रममाणं सत्यस्वभावं धार्मिकाणां विजयप्रदं परमेश्वरं प्रकाशयन्ति । धर्मेण बलेन दुष्टमनुष्याणां विजेतारं धार्मिकाणां पालकं वा इतीश्वरो वेदवचसा सर्वान् विज्ञापयति ॥ १ ॥

अब ग्यारहवें सूक्त का आरम्भ किया जाता है । तथा पहले मन्त्र में इन्द्र शब्द से ईश्वर वा विजय करनेवाले पुरुष का उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—[4] हमारी ये (विश्वाः) सब (गिरः) स्तुतियां, जो (समुद्रव्यचसम्) आकाश में अपनी व्यापकता से परिपूर्ण, (रथीनाम्) रमण के साधन वालों में (रथीतमम्) अत्यन्त रमण के साधन पृथिवी सूर्यादि लोक जिसके हैं, (वाजानाम्) विकाररूप को प्राप्त लोक-लोकान्तरों तथा (सत्पतिम्) विनाशरहित प्रकृति आदि द्रव्यों का पालन करनेवाला, (पतिम्) चराचर जगत् का स्वामी, (इन्द्रम्) विजय का देनेवाला परमेश्वर है, उसके गुणानुवादों को (अवीवृधन्) नित्य बढ़ाती रहें । इत्येकः ॥

हमारी ये (विश्वाः) सब(गिरः)स्तुतियां, (समुद्रव्यचसम्) जिस नौका आदि पूर्ण सामग्री से शत्रुओं को जीतनेवाले, (रथीनाम्) बड़े-बड़े युद्धों में विजय प्राप्त करनेवालों में (रथीतमम्) जिसके युद्ध के साधन बड़े-बड़े रथ विमानादि हैं, (वाजानाम्) अच्छी प्रकार जिनमें जय और पराजय को प्राप्त होते हैं उन युद्धों में (सत्पतिम्) सत्पुरुषों की रक्षा करनेहारे, (पतिम्) प्रजा

१. ईश्वरार्थे रथाः पृथिवीसूर्यादयो लोका ज्ञेयाः, आदरार्थे च बहुवचनम् ।

२. सायणोऽपीत्थमेवाह । वस्तुतस्तु 'छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ' (अ० ५ । २ । १०९) वार्तिकेन मत्वर्थे 'ई' प्रत्ययोऽत्र द्रष्टव्यः । ईप्रत्यये च रथीतमे 'रथिन ईद् वक्तव्यः' (अ० ८ । २ । १७) इत्यस्याप्यावश्यकता न भवति । पदकारास्तु 'रथीनाम्' इत्यत्र ह्रस्वाभावमप्रदर्शयन्त ईप्रत्ययमेवानुमन्यन्त इति प्रतीयते । तथा सति 'रथिन्तमम्' इत्यत्र कस्माद्ध्रस्वयन्ति इति न ज्ञायते ।

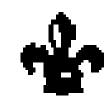
३. पदार्थे 'वर्धयन्तु' इत्येवं व्याख्यातः । तथा सत्यत्र 'अवीवृधन्' पदमन्वयान्ते 'वर्धयन्तु' पदात् पूर्वं पठनीयम् । यद्वा—पदार्थे लडर्थोऽप्युपसंख्येयः ।

४. वै० य० मुद्रित संस्करणों में भाषा-पदार्थ भी दोनों अर्थों का इकट्ठा मिलता है । हम सुगमता के लिये दोनों अर्थों का भाषा-पदार्थ पृथक्-पृथक् छाप रहे हैं ।

स्वामी, वा सज्जनों की रक्षा करनेवाले, और (इन्द्रम्) शत्रुओं को जीतनेवाले धर्मात्मा मनुष्य । (अवीवृधन्) गुणानुवादों से नित्य बढ़ाती है, उस [धर्मात्मा विजयी पुरुष] को सब मनुष्य ढ़ावें । इति द्वितीयः ॥१॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ।

भावार्थ—सब वेदवाणी परमैश्वर्य्ययुक्त, सब में रहने, सब जगह रमण करने, सत्य भाव, तथा धर्मात्मा सज्जनों को विजय देनेवाले परमेश्वर, और धर्म वा बल से दुष्ट मनुष्यों को तने, तथा धर्मात्मा या सज्जन पुरुषों की रक्षा करनेवाले मनुष्य का प्रकाश करती हैं । इस प्रकार रमेश्वर वेदवाणी से सब मनुष्यों को आज्ञा देता है ॥ १ ॥



पुनस्तावेवोपदिश्येते—

सख्ये त इन्द्र वाजिनो मा भेम शवसस्पते ।
त्वामभि प्र णोनुमो जेतारमपराजितम् ॥ २ ॥

सख्ये । ते । इन्द्र । वाजिनः । मा । भेम । शवसः । पते ॥ त्वाम् । अभि । प्र । नोनुमः । जेतारम् । अपराऽजितम् ॥२॥

पदार्थः—(सख्ये) मित्रभावे कृते (ते) तवेश्वरस्य न्यायशीलस्य सभाध्यक्षस्य वा इन्द्र) सर्वस्वामिन्नीश्वर ! सभाध्यक्ष राजन् ! वा (वाजिनः) वाजः परमोत्कृष्टविद्यालाभ्यामात्मनो देहस्य प्रशस्तो बलसमूहो येषामस्ति ते (मा) निषेधार्थे, क्रियायोगे (भेम) अभीयाम भयं करवाम । अत्र लोडर्थे लुङ् । बहुलं छन्दसीति[1] च्लेर्लुक् । छन्दस्युभयथा [अ० ३ । । ११७] इति लुङः[2] आर्धधातुकसंज्ञामाश्रित्य मसो ङित्त्वाभावाद् गुणश्च । (शवसः) अनन्तलस्य, प्रमितबलस्य वा । शव इति बलनामसु पठितम् । निघं० २ । ९ । (पते) सर्वस्वामिन्नीश्वर! सभाध्यक्ष राजन् वा! (त्वाम्) जगदीश्वरं, सभाध्यक्षं वा (अभि) आभिमुख्यार्थे प्र) प्रकृष्टार्थे (नोनुमः) अतिशयेन स्तुमः । अयं 'णु स्तुतौ' इत्यस्य युङ्लुकि प्रयोगः । उपसर्गादमासेऽपि णोपदेशस्य । अ० ८ । ४ । १४ इति णकारदेशश्च । (जेतारम्) शत्रून् जापयति[3] जयति तम् (अपराजितम्) यो न केनापि पराजेतुं शक्यते तम् ॥ २ ॥

अन्वयः—हे शवसस्पते जगदीश्वर ! सेनाध्यक्ष वा ! अभिजेतारमपराजितं त्वां वाजिनो

१. नायं सूत्रस्य कस्यचिन्निर्देशः, अपि तु छान्दसकार्यस्य बाहुलकत्वबोधको निर्देशः । अस्यायं भावः—मन्त्रे घसह्वरणश०' (अ० २ । ४ । ८०) सूत्रे येभ्यो धातुभ्यश्च्लेर्लुगुक्तस्ततोऽन्येभ्योऽपि छन्दसि सर्वकार्याणां बाहुलविधानाज्ज्ञेयः । २. लुङादेशानां तिबादीनामिति भावः ।

३. जापयतीत्यनेनेश्वरपक्षे अन्तर्णीतण्यर्थाज्जयतेस्तृन् इत्यभिप्रायो ज्ञाप्यते । जापयतेस्तु तृनि जेतृशब्दो नोपपद्यते ।

विजानन्तो वयं प्रणोनुमः पुनःपुनर्नमस्कुर्मः। ¹तथा हे इन्द्र ! ते तव सख्ये कृते शत्रुभ्यः कदाचिन्मा भेम भयं मा करवाम ॥ २ ॥

अत्र श्लेषालङ्कारः।

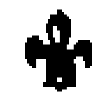
भावार्थः—ये मनुष्या परमेश्वरे तदाज्ञाचरणे[न], तथा शूरादिमनुष्येषु नित्यं मित्रतामाचरन्ति, ते बलवन्तो भूत्वा नैव शत्रुभ्यो भयपराभवौ प्राप्नुवन्तीति ॥ २ ॥

फिर भी अगले मन्त्र में इन्हीं दोनों का प्रकाश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—²हे (शवसः) अनन्त बल वा [उत्कृष्ट] सेनाबल के (पते) पालन करनेहारे ईश्वर, वा सभाध्यक्ष ! (अभिजेतारम्) प्रत्यक्ष शत्रुओं को जिताने वा जीतनेवाले, (अपराजितम्) जिसका पराजय कोई भी न कर सके, उस (त्वा) आपको (वाजिनः) उत्तम विद्या और बल से अपने शरीर के उत्तम बलवाले हम लोग (प्रणोनुमः) अच्छी प्रकार आपकी वार-वार स्तुति करते हैं। जिससे हे (इन्द्र) सब प्रजा वा सेना के स्वामी ! (ते) आप जगदीश्वर वा सभाध्यक्ष के साथ (सख्ये) हम लोग मित्रभाव करके शत्रुओं या दुष्टों से कभी (मा भेम) भय न करें ॥ २ ॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है।

भावार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा के पालने, वा अपने धर्मानुष्ठान से परमात्मा तथा शूरवीर आदि मनुष्यों में मित्रभाव अर्थात् प्रीति रखते हैं, वे बलवाले होकर किसी शत्रु से पराजय वा भय को प्राप्त कभी नहीं होते ॥ २ ॥



पुनस्तावेवोपदिश्येते—

पूर्वीरिन्द्रस्य रातयो न वि दस्यन्त्यूतयः।
यदी वाजस्य गोमतः स्तोतृभ्यो मंहते मघम् ॥ ३ ॥

पूर्वीः। इन्द्रस्य। रातयः। न। वि। दस्यन्ति। ऊतयः॥ यदि। वाजस्य। गोऽमतः। स्तोतृऽभ्यः। मंहते। मघम्॥ ३॥

पदार्थः—(पूर्वीः) पूर्व्यः सनातन्यः। सुपां सुलुग्० [अ० ७।१।३९] इति पूर्वसवर्णादेशः। (इन्द्रस्य) परमेश्वरस्य सभासेनाध्यक्षस्य वा (रातयः) दानानि (न) निषेधार्थे (वि) क्रियायोगे (दस्यन्ति) उपक्षयन्ति (ऊतयः) रक्षणानि (यदि)³ आकाङ्क्षार्थे (वाजस्य) वर्जन्ति

१. अत्र 'यतः' इति पाठो युक्तः। भाषायामपि तथैव निर्देशः।

२. यहां भी दोनों पक्षों का अर्थ साथ-साथ ही किया है। तथापि अर्थ के स्पष्ट होने से पूर्ववत् अलग-अलग निर्देश नहीं किया है।

३. संहितायां 'निपातस्य च' (अ० ६। ३। १३५) इति दीर्घत्वम्।

वन्ति सुखानि यस्मिन् व्यवहारे तस्य (गोमतः) प्रशस्ता पृथिवी गावः पशवो वागादीनीन्द्रि-च विद्यन्ते यस्मिन् तस्य (स्तोतृभ्यः) स्तुवन्ति जगदीश्वरं सृष्टिगुणांश्च ये तेभ्यो मकेभ्यो विद्वद्भ्यः (मंहते) ददाति। मंहत इति दानकर्मसु पठितम्। निघं० ३।२०। घम्) प्रकृष्टं विद्यासुवर्णादिधनम्॥ ३॥

अन्वयः—यदीन्द्रः स्तोतृभ्यो वाजस्य गोमतो मघं मंहते, तर्ह्यस्य [इन्द्रस्य] एताः [पूर्वीः] र्वी रातय ऊतयो न विदस्यन्ति नैवोपक्षयन्ति॥ ३॥

अत्रापि श्लेषालङ्कारः।

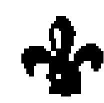
भावार्थः—यथेश्वरस्य जगति दानरक्षणानि नित्यानि न्याययुक्तानि कर्माणि सन्ति, तथैव ष्यैरपि प्रजायां विद्याऽभयदानानि नित्यं कार्य्याणि। यदीश्वरो न स्यात् तर्हीदं जगत् कथ-पद्येत? यदीश्वरः सर्वमुत्पाद्य न दद्यात् तर्हि मनुष्याः कथं जीवेयुः? तस्मात् सकलकार्य्योत्पादकः र्वसुखदातेश्वरोऽस्ति, नेतर इति मन्तव्यम्॥ ३॥

फिर भी अगले मन्त्र में इन्हीं दोनों का उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—(यदि) यदि परमेश्वर वा सभा और सेना का स्वामी (स्तोतृभ्यः) गदीश्वर वा सृष्टि के गुणों की स्तुति करनेवाले धर्मात्मा विद्वान् मनुष्यों के लिये (वाजस्य) सब ख प्राप्त करानेवाले व्यवहार, तथा (गोमतः) जिसमें उत्तम पृथिवी, गौ आदि पशु, और वाणी दि इन्द्रियां वर्त्तमान हैं, उसके सम्बन्धी (मघम्) विद्या और सुवर्णादि धन को (मंहते) ता है, तो इस (इन्द्रस्य) परमेश्वर तथा सभा वा सेना के स्वामी की (पूर्व्यः) सनातन प्राचीन रातयः) दानशक्ति तथा (ऊतयः) रक्षा कभी (न) नहीं (विन्दस्यन्ति) नाश को प्राप्त होतीं, न्तु नित्यप्रति वृद्धि ही को प्राप्त होती रहती हैं॥ ३॥

इस मन्त्र में भी श्लेषालङ्कार है।

जैसे ईश्वर के इस संसार में दान और रक्षा नित्य न्याययुक्त कर्म हैं, वैसे ही अन्य नुष्यों को भी प्रजा के बीच में विद्या और निर्भयता का निरन्तर विस्तार करना चाहिये। जो श्वर न होता, तो यह जगत् कैसे उत्पन्न होता? तथा जो ईश्वर सब पदार्थों को उत्पन्न रके सब मनुष्यों के लिये न देता, तो मनुष्यलोग कैसे जी सकते? इससे सब कार्य्यों का उत्पन्न करने और सब सुखों का देनेवाला ईश्वर ही है, अन्य कोई नहीं। यह बात सबको माननी चाहिये॥ ३॥



पुनरिन्द्रशब्देन सूर्य्यसेनापतिगुणा उपदिश्यन्ते—

पुराम्भिन्दुर्युवा कविरमितौजा अजायत।
इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्ता वज्री पुरुष्टुतः॥ ४॥

पुराम् । भिन्दुः । युवा । कविः । अमितऽओजाः । अजायत ॥ इन्द्रः । विश्वस्य । कर्मणः । धर्ता । वज्री । पुरुऽस्तुतः ॥ ४ ॥

पदार्थः—(पुराम्) संघातानां शत्रुनगराणां द्रव्याणां वा (भिन्दुः) भेदकः (युवा) मिश्रणामिश्रणकर्त्ता (कविः) न्यायविद्याया दर्शनविषयस्य वा क्रमकः[1] (अमितौजाः) अमितं प्रमाणरहितं बलमुदकं[2] वा यस्य यस्माद् वा सः (अजायत) उत्पन्नोऽस्ति (इन्द्रः) विद्वान् सूर्य्यो वा (विश्वस्य) सर्वस्य जगतः (कर्मणः) चेष्टितस्य (धर्त्ता) पराक्रमेणाकर्षणेन वा धारकः (वज्री) वज्राः प्राप्तिच्छेदनहेतवो बहवः शस्त्रसमूहाः किरणा वा विद्यन्ते यस्य सः । अत्र भूम्न्यर्थे इनिः । (पुरुष्टुतः) बहुभिर्विद्वद्भिर्गुणैर्वा स्तोतुमर्हः ॥ ४ ॥

अन्वयः—अयममितौजा वज्री पुरां भिन्दुर्युवा कविः पुरुष्टुत इन्द्रः सेनापतिः सूर्य्यलोको वा विश्वस्य कर्मणो धर्त्ताऽजायतोत्पन्नोऽस्ति ॥ ४ ॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ।

भावार्थः—यथेश्वरेण सृष्ट्वा धारितोऽयं सूर्य्यलोकः स्वकीयैर्वज्रभूतैश्छेदकैः किरणैः सर्वेषां मूर्त्तद्रव्याणां भेत्ता बहुगुणहेतुराकर्षणेन पृथिव्यादिलोकस्य धाताऽस्ति, तथैव [3]सेनापतिः स्वबलेन शत्रुबलं छित्त्वा सामदानादिभिर्दुष्टान् मनुष्यान् भित्त्वाऽनेकशुभगुणाकर्षको भूत्वा भूमौ स्वराज्यपालनं सततं [3]कुर्यादिति वेद्यम् ॥ ४ ॥

फिर अगले मन्त्र में इन्द्र शब्द से सूर्य्य और सेनापति के गुणों का उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—जो यह (अमितौजाः) अनन्त बल वा जलवाला (वज्री) जिसके पदार्थों की प्राप्ति और छेदन करनेवाले शस्त्रसमूह वा किरण हैं, और जो (पुराम्) मिले हुए शत्रुओं के नगरों वा पदार्थों का (भिन्दुः) अपने प्रताप वा ताप से नाश वा अलग-अलग करनेवाला, (युवा) अपने गुणों से पदार्थों का मेल करने वा करानेवाला, तथा (कविः) न्यायविद्या वा दृश्य पदार्थों का अपनी किरणों से प्रकाश करनेवाला, (पुरुष्टुतः) बहुत से विद्वानों वा गुणों से स्तुति करने योग्य (इन्द्रः) सेनापति और सूर्य्यलोक (विश्वस्य) सब जगत् के (कर्मणः) कार्य्यों को (धर्त्ता) अपने बल और आकर्षण गुण से धारण करनेवाला (अजायत) उत्पन्न होता और हुआ है, वह सदा जगत् के व्यवहारों की सिद्धि का हेतु है ॥ ४ ॥

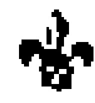
इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ।

भावार्थ—जैसे ईश्वर का रचा और धारण किया हुआ यह सूर्य्यलोक अपनी [भेदन करनेवाली] वज्ररूपी किरणों से सब मूर्तिमान् पदार्थों को अलग-अलग करने तथा बहुत से गुणों का हेतु, और अपने आकर्षणरूप गुण से पृथिवी आदि लोकों का धारण करनेवाला है, वैसे ही सेनापति को उचित है कि [अपने बल से] शत्रुओं का छेदन करके साम दान[4] दण्ड और भेद से दुष्टों को

१. क्रमकः=प्रापक इत्यर्थः । २. ओज इति बलनामसु पठितम् (निघं० २।९), उदकनामसु च (निघं० १।१२) इति । ३ वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु सेनापतिना······ कार्यं०' इति पाठः ।

४. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'दाम' पाठ है । संस्कृत में शुद्ध 'दान' शब्द का निर्देश है । हिन्दी में

भिन्न करके बहुत उत्तम गुणों को ग्रहण करता हुआ भूमि में अपने राज्य का सदा पालन ४ ॥



पुनरिन्द्रशब्देन सूर्यस्य[1] गुणा उपदिश्यन्ते—

त्वं वलस्य गोमतोऽपावरद्रिवो बिलम् ।
त्वां देवा अबिभ्युषस्तुज्यमानास आविषुः ॥ ५ ॥

त्वम् । वलस्य । गोऽमतः । अप । अवः । अद्रिऽवः । बिलम् ॥ त्वाम् । देवाः । अबिभ्युषः । तुज्यमानासः । आविषुः ॥ ५ ॥

पदार्थः—(त्वम्) अयम् (वलस्य)[2] मेघस्य । वल इति मेघनामसु पठितम् । निघं० १० । (गोमतः) गावः सम्बद्धा रश्मयो विद्यन्ते यस्य तस्य । अत्र सम्बन्धे मतुप् । (अप) योगे (अवः[3]) [4]दूरीकरोत्युद्घाटयति । अत्र पुरुषव्यत्ययः, लडर्थे लङ् । बहुलं छन्दसि०

के साहचर्य से 'दान' शब्द 'दाम' रूप में बदल गया है । सत्यार्थप्रकाश में इन चार उपायों की व्याख्या प्रकार की है—

'विजय करनेवाले सभापति के राज्य में जो परिपन्थी अर्थात् डाकू लुटेरे हों, उनको (साम) मिला (दाम) कुछ देकर, (भेद) फोड़-तोड़ करके वश में करे । जो इनसे वश में न हों तो अति कठिन दण्ड में करे ।' स० प्र० समु० ६, पृष्ठ २२२ (रा. ला. क. ट्र. संस्क.) । 'संस्कृतवाक्यप्रबोध' के प्रथम पृ० ११ पर 'दाम' का अर्थ 'कुछ देना' छपा है । परन्तु इसकी अगली आवृत्तियों में से किन्हीं में '(दाम) दण्ड' और किन्हीं में '(दाम) दमन' पाठ मिलते हैं, वे सब अशुद्ध हैं ।

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'पुनरपि तस्य गुणा०' इति पाठः । स चायुक्तः । पूर्वमन्त्रस्य मन्त्रकायां पाण्डुलिप्यां 'पुनरिन्द्रशब्देन सूर्यगुणा उच्यन्ते' इत्युक्त्या सूर्यपर एव मन्त्रो व्याख्यात आसीत् । रोधेनैव चात्र 'पुनरपि च तस्य गुणा०' इति पाठ युक्त आसीत्, परन्तु पश्चात् पूर्वमन्त्रस्य भूमिकायां सारं मन्त्रव्याख्याने च 'सूर्यसेनापत्योर्गुणवर्णनात्' इह 'अपि तस्य' इति पदयोः समन्वयो न जायते । अत भिरुत्तरमन्त्रभूमिकापाठमनुसृत्येह पाठः शोधितः ।

२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु मन्त्रे पदपाठे भाष्ये च सर्वत्र 'बलस्य' इत्येवमोष्ठ्यबकारवान पाठो सोऽपपाठः । ओष्ठ्यबकारवान् बलशब्दः सर्वत्रैवाद्युदात्तो भवति, अन्तस्थवकारवांस्त्वन्तोदात्तः । क्व ओष्ठ्यो वकारः क्व चान्तस्थो वकार इत्यस्य निदर्शनाय अथर्ववेदीयं 'दन्त्योष्ठ्यविधि' नामकं परिशिष्टं व्यम् । यद्यपि तस्याथर्वणा एव सम्बन्धस्तथापि तत्रोक्ता नियमाः सर्वत्र पाठनिश्चय उपयोगिनः सन्ति ।

३. यथा पदार्थस्तथा भौवादिकस्यावतेरिदं रूपमिति ग्रन्थकृतोऽभिप्रेत इति प्रतीयते । अत एव स ोऽभावाय प्रयतमानो दृश्यते । तथा सति 'बहुलं छन्दसि' (अ० २।४।७३) इत्यतः शपो लुगपि वक्तव्यः । तु अन्वये 'बिलमपावोऽपावृणोति' निर्देशः तथा वृणोते रूपमिति विज्ञायते । तथा सति अडाटयोरभावाय त्नो न कर्तव्यो भवति । 'मन्त्रे घसह्वरणश०' (अ० २ । ४ । ७६) इत्यनेन च्लेर्लोपोऽपि संपद्यते', परन्तु र्थे लुङ्' वक्तव्यः । उभयथा निर्देशाद् भाष्यकार उभौ पक्षौ मन्यते, इत्येवं विरोधपरिहारोऽपनेतव्यः ।

४. अवतिपक्षे धातूनामनेकार्थत्वाद् मन्त्रपठिताऽपोपसर्गसंबन्धाच्चायमर्थो निर्दिष्ट इति ज्ञेयम् ।

[अ० ६ । ४ । ७५] इत्याडभावश्च। (अद्रिवः) बहवोऽद्रयो मेघा विद्यन्ते यस्मिन् सः। अत्र भूम्न्यर्थे मतुप्। छन्दसीरः [अ० ८ । २ । १५] इति मतुपो मकारस्य वत्वम्। मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि। अ० ८ । ३ । १ इति नकारस्थाने रुरादेशश्च। अद्रिरिति मेघनामसु पठितम्। निघं० १ । १० । (बिलम्) जलसमूहम्। बिलं भरं भवति बिभर्त्तेः। निरु० २ । १७ । (त्वाम्) तमिमम् (देवाः) दिव्यगुणाः पृथिव्यादयः (अबिभ्युषः) बिभेति यस्मात् स [1]बिभीवान्, न बिभीवान् अबिभीवान्, तस्य (तुज्यमानासः) कम्पमानाः स्वां स्वां वसतिमाददानाः (आविषुः) अभितः स्वस्वकक्षां व्याप्नुवन्ति। अत्र लडर्थे लुङ्। अयं व्याप्त्यर्थस्याऽवधातोः प्रयोगः ॥ ५ ॥

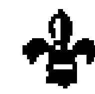
अन्वयः—योऽद्रिवो मेघवानिन्द्रः सूर्य्यलोको गोमतोऽबिभ्युषो वलस्य मेघस्य बिलमपावोऽपवृणोति, त्वां तमिमं तुज्यमानासो देवा दिव्यगुणा भ्रमन्तः पृथिव्यादयो लोका आविषुर्व्याप्नुवन्ति ॥ ५ ॥

भावार्थः—यथा सूर्य्यः स्वकिरणैर्घनाकारं मेघं छित्वा भूमौ निपातयति, यस्य किरणेषु मेघस्तिष्ठति, यस्याभित आकर्षणेन पृथिव्यादयो लोकाः स्वस्वकक्षायां सुनियमेन भ्रमन्ति, ततोऽयनर्त्वहोरात्रादयो जायन्ते, [2]तथैव सेनापतिना भवितव्यमिति ॥ ५ ॥

फिर भी अगले मन्त्र में इन्द्र शब्द से सूर्य्य के गुणों का उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—(अद्रिवः) जिसमें अनेक मेघ विद्यमान हैं, ऐसा जो सूर्य्यलोक है, वह (गोमतः) जिसमें अपने किरण विद्यमान हैं, उस (अबिभ्युषः) भयरहित (वलस्य) मेघ के (बिलम्) जलसमूह को (अपावः) अलग-अलग कर देता है। (त्वाम्) उस इस सूर्य्य को (तुज्यमानासः) अपनी-अपनी कक्षाओं में भ्रमण करते हुए (देवाः) पृथिवी आदि लोक (आविषुः) विशेष करके प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य्यलोक अपनी किरणों से मेघ के घने-घने बद्दलों को छिन्न-भिन्न करके भूमि पर गिराता हुआ जल की वर्षा करता है, क्योंकि यह मेघ उसकी किरणों में ही स्थिर रहता है, तथा इसके चारों ओर आकर्षण अर्थात् खींचने के गुण से पृथिवी आदि लोक अपनी-अपनी कक्षा में सुनियम से घूमते हैं, इसी से समय के विभाग जो उत्तरायण, दक्षिणायन तथा ऋतु, मास, पक्ष, दिन, घड़ी, पल आदि उत्पन्न होते हैं, वैसे ही गुणवाला सेनापति को होना उचित है ॥ ५ ॥



अथेन्द्रशब्देन शूरवीरगुणा उपदिश्यन्ते—

तवाहं शूर रातिभिः प्रत्यायं सिन्धुमावदन् ।
उपातिष्ठन्त गिर्वणो विदुष्टे तस्य कारवः ॥ ६ ॥

१. वै० य० मुद्रितेषु १ - २ - ३ संस्करणेषु 'बिभीवान् न' इत्येते विद्यमाने अपि पदे चतुर्थसंस्करणे प्रमादान्नष्टे ।

२. अन्वयः पदार्थोऽन्वयश्च सूर्यपर एव, तथापि पूर्वमन्त्रे सूर्यसेनापतिपरयोरर्थनिर्देशाद् मन्त्र इहापि ग्रन्थकृता 'यथा' पदं 'तथैव सेनापतिना भवितव्यम्' च पाठो वर्धितः ।

तव । अहम् । शूर । रातिऽभिः । प्रति । आयम् । सिन्धुम् । आऽवदन् ॥ उप । अतिष्ठन्त । गिर्वणः । । ते । तस्य । कारवः ॥ ६ ॥

पदार्थः—(तव) बलपराक्रमयुक्तस्य (अहम्) सर्वो जनः (शूर) धार्मिक दुष्टनिवारक विद्या-पराक्रमवन् सभाध्यक्ष ! (रातिभिः) अभयादिदानैः (प्रति) प्रतीतार्थे क्रियायोगे (आयम्) नुयाम् । अत्र लिङर्थे लङ् । (सिन्धुम्) स्यन्दते प्रस्रवति सुखानि, समुद्र इव गम्भीरस्तम् आवदन्) समन्तात् ब्रुवन् सन् (उप) सामीप्यार्थे (अतिष्ठन्त) स्थिरा भवेयुः । अत्र लिङर्थे (गिर्वणः) गीर्भिर्वन्यते[1] सेव्यते जनैस्तत्सम्बुद्धौ (विदुः) जानन्ति (ते) तव । 'अत्र हेतायां युष्मत्ततक्षुःष्वन्तःपादम् [अ० ८ । ३ । १०३] इति मूर्धन्यः[2] । (तस्य) राज्यस्य द्धस्य शिल्पस्य वा (कारवः) ये कार्य्याणि कुर्वन्ति ते ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे शूर ! [3]तव रातिभिस्त्वां सिन्धुमिवावदन् सन्नहं प्रत्यायम् । हे गिर्वणस्तव स्य च ये कारवस्त्वां शूरं विदुरुपातिष्ठन्त, ते सदा सुखिनो भवन्ति ॥ ६ ॥

अत्र लुप्तोपमालङ्कारः[4] ।

भावार्थः—ईश्वरः सर्वानाज्ञापयति—मनुष्यैर्धार्मिकस्य शूरस्य प्रशंसितस्य सभाध्यक्षस्य सेनाध्यक्षस्य मनुष्यस्याभयदानेन समुद्रस्य जन्तव इवाश्रयेण राज्यकार्य्याणि सम्यग् विदित्वा साधनीयानि, दुःखनिवारणेन सुखाय परस्परमुपस्थितिश्च कार्य्येति ॥ ६ ॥

अब अगले मन्त्र में इन्द्र शब्द से शूरवीर के गुणों का उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (शूर) धार्मिक, घोर युद्ध से दुष्टों की निवृत्ति करने, तथा विद्या ल पराक्रमवाले वीर पुरुष ! (तव) आपके [(रातिभिः)] निर्भयता आदि दानों से मैं आपको (सिन्धुम्) समुद्र के समान गम्भीर वा सुख देनेवाला (आवदन्) निरन्तर कहता हुआ (प्रत्यायम्) प्रतीति करके प्राप्त होऊं । तथा हे (गिर्वणः) मनुष्यों की स्तुतियों से सेवन करने करने योग्य ! जो आपके (तस्य) युद्ध राज्य वा शिल्पविद्या के सहायक (कारवः) कारीगर आपको शूरवीर (विदुः) जानते, तथा (उपातिष्ठन्त) आपके समीपस्थ होकर उत्तम काम करते हैं, [(ते)] वे सब दिन सुखी रहते हैं ॥ ६ ॥

इस मन्त्र में लुप्तोपमालङ्कार है ।

भावार्थ—ईश्वर सब मनुष्यों को आज्ञा देता है कि—मनुष्यों को धार्मिक प्रशंसनीय सभाध्यक्ष वा सेनापति मनुष्य के अभयदान से निर्भयता को प्राप्त होकर जैसे [समुद्र के जीव] समुद्र का

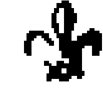
---

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'वन्द्यते' इत्यपपाठः ।

२. ख.कोशस्य प्रान्ते 'युष्मत्ततक्षुःष्वन्तःपादम्' इति सूत्रं निर्दिश्यते । तदनुरोधेनायमावश्यकः पाठोऽत्र पूरितः । ३. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'ये तव' इत्येवं पठ्यते । अत्र 'ये' पदस्यास्थाने पाठात् भावार्थेऽनिर्देशाद् अस्माभिस्तत्र यथास्थाने पठितम् ।

४. ख.कोशे वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु भावार्थे चायमेव शुद्धः पाठ उपलभ्यते । वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'लुप्तोपमालङ्कारौ स्तः' इत्यपपाठः ।

आश्रय लेते हैं, वैसे ही उक्त पुरुष के आश्रय से राज्य के कामों को अच्छी प्रकार जानकर उनको सिद्ध करना चाहिये। तथा दुःखों के निवारण से सब सुखों के लिये परस्पर विचार भी करना चाहिये ॥ ६ ॥



पुनस्तद्गुणा उपदिश्यन्ते—

मायाभिरिन्द्र मायिनं त्वं शुष्णमवातिरः ।
विदुष्टे तस्य मेधिरास्तेषां श्रवांस्युत्तिर ॥ ७ ॥

मायाभिः । इन्द्र । मायिनम् । त्वम् । शुष्णम् । अव । अतिरः ॥ विदुः । ते । तस्य । मेधिराः । तेषाम् । श्रवांसि । उत् । तिर ॥ ७ ॥

पदार्थः—(मायाभिः) प्रज्ञाविशेषव्यवहारैः। मायेति प्रज्ञानामसु पठितम्। निघं० ३ । ९ । (इन्द्र) परमैश्वर्यप्रापक शत्रुनिवारक सभासेनयोः परमाध्यक्ष ! (मायिनम्) माया निन्दिता प्रज्ञा[1] विद्यते यस्य तम्। अत्र निन्दार्थे इनिः। (त्वम्) प्रज्ञासेनाशरीरबलयुक्तः (शुष्णम्) शोषयति धार्मिकान् जनान् तं दुष्टस्वभावं प्राणिनम्। अत्र 'शुष शोषणे' इत्यस्मात् तृषिशुषि०। उ० ३ । १२ अनेन नः प्रत्ययः। (अव) विनिग्रहार्थे। अवेति विनिग्रहार्थीयः। निरु० १ । ३ । (अतिरः) शत्रुबलं प्लावयति। अत्र लडर्थे 'लङ्[2], विकरणव्यत्ययेन शपः स्थाने शश्च। (विदुः) जानन्ति (ते) तव (तस्य) राज्यादिव्यवहारस्य मध्ये (मेधिराः) ये मेधास्ते शास्त्राणि[3]जानन्ति दुष्टान् हिंसन्ति ते। अत्र 'मिधृ मेधृ मेधाहिंसनयोः' इत्यस्माद् बाहुलकादौणादिक [4]इरन् प्रत्ययः। (तेषाम्) धार्मिकाणां प्राणिनाम् (श्रवांसि) अन्नादीनि वस्तूनि। श्रव इत्यन्ननामसु पठितम्। निघं० २ । ७ । श्रव इत्यन्ननाम श्रूयत इति सतः। निरु० १० । ३ अनेन [5]विद्यमानानामन्नादिपदार्थानां ग्रहणम्। (उत्) उत्कृष्टार्थे (तिर) विस्तारय ॥ ७ ॥

अन्वयः—हे इन्द्र शूरवीर ! त्वं मायाभिः शुष्णं मायिनं शत्रुमवातिरः, तस्य हनने ये मेधिरा [विदु]स्ते तव सङ्गमेन सुखिनो भूत्वा श्रवांसि प्राप्नुवन्तु। त्वं तेषां सहायेनारीणां बलान्युत्तिरोत्कृष्टतया निवारय ॥ ७ ॥

भावार्थः—ईश्वर आज्ञापयति—मेधाविभिर्मनुष्यैः सामदानदण्डभेदयुक्तया दुष्टशत्रून्निवार्य्य विद्याचक्रवर्त्तिराज्यस्य विस्तारः सम्भावनीयः। यथाऽस्मिन् जगति कपटिनो मनुष्या न वर्द्धेरंस्तथा नित्यं प्रयत्नः कार्य्य इति ॥ ७ ॥

---

१. 'माया प्रज्ञा निन्दिता विद्यते यस्य' इत्येवं सम्बन्धो ज्ञेयः।

२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'लुङ्' इत्यपपाठः। व्यत्ययेन शपः स्थाने शस्य निर्देशात् 'लङ्' पाठेनात्र भवितव्यम्। ३. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'ज्ञात्वा' इत्यपपाठः।

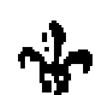
४. साक्षादनुपविष्टोऽपि 'इरन्' प्रत्यय उपसंख्येय इति भावः।

५. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'विद्यमानादीनाम०' इत्यपपाठः।

फिर भी अगले मन्त्र में [1]शूरवीर के गुणों का उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे परमैश्वर्य्य को प्राप्त कराने तथा शत्रुओं की निवृत्ति करानेवाले सेनापति वीर मनुष्य ! (त्वम्) तू उत्तम बुद्धि सेना तथा शरीर के बल से युक्त होके (मायाभिः) विशेष द्ध के व्यवहारों से (शुष्णम्) जो धर्मात्मा सज्जनों का चित्त व्याकुल करनेवाला तथा (मायिनम्) द्धि दुःख देनेवाला सब का शत्रु मनुष्य है, उसका (अवातिर) पराजय किया कर। (तस्य) के मारने में (मेधिराः) जो शास्त्रों को जानने तथा दुष्टों को मारने में अति प्रवीण मनुष्य वे (ते) तेरे सङ्ग से सुखी होकर [(श्रवांसि)] अन्नादि पदार्थों को प्राप्त हों। तू (तेषाम्) धर्मात्मा पुरुषों के सहाय से शत्रुओं के बलों को (उत्तिर) अच्छी प्रकार निवारण कर ॥७॥

भावार्थ—ईश्वर आज्ञा देता है कि—बुद्धिमान् मनुष्यों को साम, दान, दण्ड और भेद की केत से दुष्ट और शत्रुजनों की निवृत्ति करके विद्या और चक्रवर्त्ति राज्य की यथावत् उन्नति रनी चाहिये। तथा जैसे इस संसार में कपटी, छली और दुष्ट पुरुष वृद्धि को प्राप्त न हों, वैसा गाय निरन्तर करना चाहिये ॥ ७ ॥



अथेश्वरगुणा उपदिश्यन्ते—

इन्द्रमीशा॑न॒मोज॑सा॒भि स्तोमा॑ अनूषत ।
स॒हस्रं॒ यस्य॑ रा॒तय॑ उ॒त वा॒ सन्ति॒ भूय॑सीः ॥ ८ ॥

इन्द्र॑म् । ईशा॑नम् । ओज॑सा । अ॒भि । स्तोमाः॑ । अ॒नू॒ष॒त॒ ॥ स॒हस्र॑म् । यस्य॑ । रा॒तयः॑ । उ॒त । वा॒ । न्ति । भूय॑सीः ॥ ८ ॥

पदार्थः—(इन्द्रम्) सकलैश्वर्य्ययुक्तं (ईशानम्) ईष्टे कारणात् सकलस्य जगतस्तम् ओजसा) अनन्तबलेन। ओज इति बलनामसु पठितम्। निघं० २। ९। (अभि) सर्वतोभावे। भीत्याभिमुख्यं प्राह। निरु० १। ३। (स्तोमाः) स्तुवन्ति यैस्ते स्तुतिसमूहाः (अनूषत[2]) तुवन्ति। अत्र लडर्थे लुङ्। (सहस्रम्) असंख्याताः (यस्य) जगदीश्वरस्य (रातयः) दानानि (उत) वितर्के (वा) पक्षान्तरे (सन्ति) भवन्ति (भूयसीः) अधिकाः। अत्र वा छन्दसि [अ० । १। १०६] इति जसः पूर्वसवर्णत्वम् ॥ ८ ॥

अन्वयः—यस्य सर्वे स्तोमाः स्तुतयः सहस्रमुत वा भूयसीरधिका रातयश्च सन्ति, ता मोजसा सह वर्त्तमानमीशानमिन्द्रं जगदीश्वरमभ्यनूषत सर्वतः स्तुवन्ति, स एव सर्वैर्मनुष्यैः स्तोतव्यः ॥ ८ ॥

---

१. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'सूर्य के' अपपाठ है। प्रकरण तथा भाष्य शूरवीरपरक है।

२. 'णू स्तवने' तौदादिकः। छान्दसत्वाद्विकरणव्यत्ययेनात्मनेपदं च। कुटादित्वात् 'गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्' (अ० १। २। १) इति सिचो ङित्वाद् गुणाभावः। सायणस्तु 'णु स्तुतौ' इत्यादादिकत्वाद् रूपसिद्धिमत्राह। तस्य कुटादित्वाभावेऽपि यद् 'कुटादित्वात्सिचो ङित्वाद् गुणाभावः' इति लिखितवान्, स तस्य प्रमादो ज्ञेयः।

भावार्थः—येन दयालुनेश्वरेण प्राणिनां सुखायानेके पदार्था जगति स्वौजसोत्पाद्य दत्ता, यस्य ब्रह्मणः सर्व इमे धन्यवादा भवन्ति, तस्यैवाश्रयो मनुष्यैर्ग्राह्य इति ॥ ८ ॥

अत्रैकादशसूक्ते हीन्द्रशब्देनेश्वरस्य स्तुतिर्निर्भयसम्पादनं सूर्य्यलोककृत्यं शूरवीरगुणवर्णनं दुष्टशत्रुनिवारणं प्रजारक्षणमीश्वरस्यानन्तसामर्थ्याज्जगदुत्पादनादिविधानमुक्तमतोऽस्य दशमसूक्तार्थेन सह सङ्गतिरस्तीति बोध्यम् ॥

इदमपि सूक्तं सायणाचार्य्यादिभिर्यूरोपदेशनिवासिभिर्विलसनाख्यादिभिश्चान्यथैव व्याख्यातम् ॥ ८ ॥

इति प्रथममण्डले तृतीयोऽनुवाक एकादशसूक्तमेकविंशो वर्गश्च समाप्तः ॥

अगले मन्त्र में ईश्वर के गुणों का उपदेश किया है—

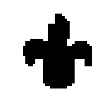
पदार्थान्वयभाषा—(यस्य) जिस जगदीश्वर के ये सब (स्तोमाः) स्तुतियों के समूह, और (सहस्रम्) हजारों (उत वा) अथवा (भूयसीः) अधिक (रातयः) दान (सन्ति) हैं, वे सब जिस (ओजसा) अनन्त बल के साथ वर्त्तमान, (ईशानम्) कारण से सब जगत् को रचनेवाले, तथा (इन्द्रम्) सकल ऐश्वर्य्ययुक्त जगदीश्वर के (अभ्यनूषत) सब प्रकार से गुणकीर्त्तन करते हैं, उसी की सब मनुष्यों को स्तुति करनी चाहिये ॥ ८ ॥

भावार्थ—जिस दयालु ईश्वर ने प्राणियों के सुख के लिये जगत् में अनेक उत्तम-उत्तम पदार्थ अपने पराक्रम से उत्पन्न करके जीवों को दिये हैं, जिस ब्रह्म के स्तुतिविधायक सब धन्यवाद होते हैं, सब मनुष्यों को उसी का आश्रय लेना चाहिये ॥ ८ ॥

इस सूक्त में 'इन्द्र' शब्द से ईश्वर की स्तुति, निर्भयता-सम्पादन, सूर्य्यलोक के कार्य्य, शूरवीर के गुणों का वर्णन, दुष्ट शत्रुओं का निवारण, प्रजा की रक्षा तथा ईश्वर के अनन्त सामर्थ्य से कारण करके जगत् की उत्पत्ति आदि के विधान से इस ग्यारहवें सूक्त की सङ्गति दशवें सूक्त के अर्थ के साथ जाननी चाहिये ॥

यह भी सूक्त सायणाचार्य्य आदि आर्य्यावर्त्तवासी तथा यूरोपदेशवासी विलसन साहब आदि ने विपरीत अर्थ के साथ वर्णन किया है ॥ ८ ॥

यह प्रथम मण्डल में तीसरा अनुवाक, ग्यारहवां सूक्त और इक्कीसवां वर्ग समाप्त हुआ ॥



अथ द्वादशर्चस्य द्वादशसूक्तस्य काण्वो मेधातिथिर्ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री[1] छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

तत्रादौ भौतिकगुणा उपदिश्यन्ते—

अ॒ग्निं दू॒तं वृ॑णीमहे॒ होता॑रं वि॒श्ववे॑दसम् । अ॒स्य य॒ज्ञस्य॑ सु॒क्रतु॑म् ॥ १ ॥

१. सामान्येनैव छन्दः । विशेषेण तु—१, २, ७-९, ११, १२ गायत्री; ३, ५ निचृद्गायत्री; ४, १० पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री; ६ विराड्गायत्री ।

अग्निम् । दूतम् । वृणीमहे । होतारम् । विश्वऽवेदसम् ॥ अस्य । यज्ञस्य । सुऽक्रतुम् ॥ १ ॥

पदार्थः—(अग्निम्) सर्वपदार्थच्छेदकम् (दूतम्) यो दावयति देशान्तरं पदार्थान् यत्युपतापयति वा तम् । अत्र [1]'दुतनिभ्यां दीर्घश्च । उ० ३ । ९० इति क्तः प्रत्ययो दीर्घश्च । वृणीमहे) स्वीकुर्महे (होतारम्) यानेषु वेगादिगुणदातारम् (विश्ववेदसम्) शिल्पिनो वानि सर्वाणि शिल्पादिसाधनानि विन्दन्ति यस्मात् तम् (अस्य) प्रत्यक्षेण साध्यस्य यज्ञस्य) शिल्पविद्यामयस्य (सुक्रतुम्) सुष्ठु शोभनाः क्रतवः प्रज्ञाः क्रिया वा भवन्ति मात्तम् ॥ १ ॥

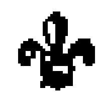
अन्वयः—वयं क्रियाचिकीर्षवो मनुष्या अस्य यज्ञस्य सुक्रतुं विश्ववेदसम् होतारं दूतमग्निं णीमहे ॥ १ ॥

भावार्थः—ईश्वर आज्ञापयति—मनुष्यैरयं प्रत्यक्षाप्रत्यक्षेण प्रसिद्धाप्रसिद्धगुणद्रव्याणामु-र्यधो गमकत्वेन दूतस्वभावः शिल्पविद्यासम्भावितकलायन्त्राणां प्रेरणहेतुर्यानेषु वेगादिक्रिया-मित्तमग्निः सम्यग् विद्यया सर्वोपकाराय संग्राह्यो, यतः सर्वाण्युत्तमानि सुखानि संभवे-रिति ॥ १ ॥

अब बारहवें सूक्त के प्रथम मन्त्र में भौतिक अग्नि के गुणों का उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—क्रिया करने की इच्छावाले हम मनुष्यलोग (अस्य) प्रत्यक्ष सिद्ध रने योग्य (यज्ञस्य) शिल्पविद्यारूप यज्ञ के (सुक्रतुम्) जिससे उत्तम-उत्तम प्रज्ञा वा क्रिया सिद्ध ोती हैं, तथा (विश्ववेदसम्) जिससे कारीगरों को सब शिल्प आदि साधनों का लाभ होता है, होतारम्) यानों में वेग आदि गुणों को देने, तथा (दूतम्) पदार्थों को एक देश से दूसरे देश को ाप्त कराने, (अग्निम्) सब पदार्थों को अपने तेज से छिन्न-भिन्न करनेवाले भौतिक अग्नि को (वृणीमहे) स्वीकार करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—ईश्वर सब मनुष्यों को आज्ञा देता है कि यह प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष से विद्वानों ने जिसके गुण प्रसिद्ध किये हैं, तथा पदार्थों को ऊपर-नीचे पहुंचाने से दूत स्वभाववाला, तथा शिल्पविद्या से जो कलायन्त्र बनाते हैं उनके चलाने में हेतु, और विमान आदि यानों में वेग आदि क्रियाओं का देनेवाला भौतिक अग्नि अच्छी प्रकार विद्या से सब सज्जनों के उपकार के लिये निरन्तर ग्रहण करना चाहिये, जिससे सब उत्तम-उत्तम सुख हों ॥ १ ॥



अथ [ईश्वरविद्युद्रूपो] द्विविधोऽग्निरुपदिश्यते—

अग्निमग्निं हवीमभिः सदा हवन्त विश्पतिम् । हव्यवाहं पुरुप्रियम् ॥ २ ॥

१. अत्र 'दु गतौ' (भौवादिकः) 'टु दु उपतापे' (सौवादिकः) आभ्यां शुद्धाभ्यामन्तर्णीतण्यर्थाभ्यां वा क्तप्रत्ययो द्रष्टव्यः । यद्वा—धातोर्ग्रहणे ण्यधिकस्यापि ग्रहणं भवति' इति परिभाषया ण्यन्ताभ्यां प्रत्यये कृते 'बहुलमन्यत्रापि संज्ञाछन्दसोः' इत्यौणादिकसूत्रेण (वै० य० मुद्रित उणादिकोशे प्रमादात् सूत्रं न मुद्रितं, व्याख्यानं २ । २२ सूत्रव्याख्यान एव दृश्यते) णेर्लुग् द्रष्टव्यः ।

अ॒ग्निम॑ग्निं॒ । हवी॑मऽभिः । सदा॑ । ह॒व॒न्त॒ । वि॒श्पति॑म् ॥ ह॒व्य॒वाह॑म् । पु॒रु॒ऽप्रि॒यम् ॥ २ ॥

पदार्थः—(अग्निम्) [1]परमेश्वरम् (अग्निम्) विद्युद्रूपम् (हवीमभिः) ग्रहीतुं योग्यैरुपासनादिभिः शिल्पसाधनैर्वा । 'हु दानादनयोः' इत्यस्मात् अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । अ० ३ । २ । ७५ । इति मनिन्, बहुलं छन्दसि [अ० ७ । ३ । ९७] इतीडागमश्च[2] । (सदा) सर्वस्मिन् काले (हवन्त)[3] गृह्णीत (विश्पतिम्) विशः प्रजास्तासां स्वामिनं पालनहेतुं वा (हव्यवाहम्) होतुं दातुमत्तुमादातुं च योग्यानि [वहति][4] ददाति वा यानादीनि वस्तूनीतस्ततो वहति प्रापयति तम् (पुरुप्रियम्) बहूनां विदुषां प्रीतिजनको वा पुरूणि बहूनि प्रियाणि सुखानि भवन्ति यस्मात्तम् ॥ २ ॥

अन्वयः—यथा वयं हवीमभिः पुरुप्रियं विश्पतिं हव्यवाहमग्निमग्निं वृणीमहे, तथैवैतं यूयमपि सदा हवन्त गृह्णीत ॥ २ ॥

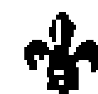
अत्र लुप्तोपमालङ्कारः । पूर्वस्मान्मन्त्राद् 'वृणीमहे' इति पदमनुवर्त्तते ।

भावार्थः—ईश्वरः सर्वान् प्रत्युपदिशति—हे मनुष्याः! युष्माभिर्विद्युदाख्यस्य प्रसिद्धस्याग्नेश्च सकाशात् कलाकौशलादिसिद्धिं कृत्वाऽभीष्टानि सुखानि सदैव भोक्तव्यानि भोजयितव्यानि चेति ॥ २ ॥

अब अगले मन्त्र में [ईश्वर और विद्युत् रूप] दो प्रकार के अग्नि का उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—जैसे हम लोग (हवीमभिः) ग्रहण करने योग्य उपासनादिकों वा शिल्पविद्या के साधनों से (पुरुप्रियम्) विद्वानों के प्रीतिजनक वा बहुत सुखों के देनेवाले, (विश्पतिम्) प्रजाओं के[स्वामी वा] पालन के हेतु, और (हव्यवाहम्) देने लेने योग्य पदार्थों को देने, वा इधर-उधर पहुंचानेवाले (अग्निम्) परमेश्वर और [(अग्निम्)] बिजुली को (वृणीमहे) स्वीकार करते हैं, वैसे ही तुम लोग भी [सदा] सदा (हवन्त) उसका ग्रहण करो ॥ २ ॥

इस मन्त्र में लुप्तोपमालङ्कार है। और पिछले मन्त्र से 'वृणीमहे' इस पद की अनुवृत्ति आती है।

भावार्थ—ईश्वर सब मनुष्यों के लिये उपदेश करता है कि—हे मनुष्यो ! तुम लोगों को विद्युत् अर्थात् बिजुली रूप तथा प्रत्यक्ष भौतिक अग्नि से कला कौशल आदि सिद्ध करके इष्ट सुख सदैव भोगने और भुगवाने चाहियें ॥ २ ॥ 

१. अत्र यद् वक्तव्यं तन्मन्त्रभूमिकायामुक्तम् । तदनुसारमत्र पाठस्त्वं सुधियो विभावयन्तु ।

२. अत्र 'हुभृधृसृस्तृसृभ्य ईमनिन्' इति दशपाद्युणादिसूत्रेण (६ । ७६) विहित 'ईमनिन्' बाहुलकाज्जुहोतेरपि द्रष्टव्यः । सायणस्तु भरीमभिः (ऋ० १।२२।१३) पदस्य व्याख्याने 'हुभृधृ०' इत्येवं सूत्रमुदधृतवान् । अस्मिन् पाठे साक्षात् 'ईमनिन्' विहितो भवति ।

३. जुहोतेर्व्यत्ययेनात्मनेपदम् । 'बहुलं छन्दसि' (अ० २।४।७३) इति शपः श्लुर्न, (द्रष्टव्यम्—इदमेवऋग्भाष्यम् १।२३।३) छान्दसत्वाट्टेरेत्वाभावः, मध्यमस्य स्थाने प्रथमश्च ।

४. वहतिरत्र दानार्थे, अपरस्मिन्नर्थे प्रापणार्थे द्रष्टव्यः ।

अथेश्वरभौतिकावुपदिश्येते—

अग्ने॑ दे॒वाँ इ॒हाव॑ह जज्ञा॒नो वृ॒क्तब॑र्हिषे । असि॒ होता॑ न॒ ईड्यः॑ ॥ ३ ॥

अग्ने॑ । दे॒वान् । इ॒ह । आ । व॒ह॒ । ज॒ज्ञा॒नः । वृ॒क्तऽब॑र्हिषे ॥ असि॑ । होता॑ । नः॒ । ईड्यः॑ ॥ ३ ॥

पदार्थः—(अग्ने) स्तोतुमर्हेश्वर ! भौतिकोऽग्निर्वा (देवान्) दिव्यगुणसहितान् पदार्थान् (इह) अस्मिन् स्थाने (आ) अभितः (वह) वहति वा (जज्ञानः) प्रादुर्भावयिता (वृक्तबर्हिषे) वृक्तं त्यक्तं हविर्बर्हिष्यन्तरिक्षे येन, तस्मा ऋत्विजे। वृक्तबर्हिष इति ऋत्विङ्नामसु पठितम् । निघं० ३ । १८ । (असि) भवति (होता) हुतस्य पदार्थस्य दाता [ऽऽदाता वा] (नः) अस्मभ्यमस्माकम् वा (ईड्यः) अध्येष्टव्यः ॥ ३ ॥

अन्वयः हे अग्ने वन्दनीयेश्वर ! त्वमिह जज्ञानो होतेड्योसि, नोऽस्मभ्यं वृक्तबर्हिषे च देवानावह समन्तात् प्रापय, इत्येकः ॥

अयं होता जज्ञानोऽ[ऽग्ने]ग्निर्वृक्तबर्हिषे नोऽस्मभ्यं च [इह]देवानावह समन्तात् प्रापयति । नोऽस्माकं स ईड्यो[ऽसि] भवति, [इति द्वितीयः] ॥ ३ ॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ।

भावार्थः—मनुष्यैर्यस्मिन् प्रादुर्भूतेऽग्नौ सुगन्ध्यादिगुणयुक्तानां द्रव्याणां होमः क्रियते, स द्रव्यसहित आकाशे वायुं मेघमण्डलं च [1]शोधयित्वाऽस्मिन् संसारे दिव्यानि सुखानि जनयति । तस्मादयमस्माभिर्नित्यमन्वेष्टव्यगुणोऽस्तीतीश्वराज्ञा मन्तव्या ॥ ३ ॥

अगले मन्त्र में अग्नि शब्द से ईश्वर और भौतिक अग्नि के गुणों का उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (अग्ने) स्तुति करने योग्य जगदीश्वर ! जो आप (इह) इस स्थान में (जज्ञानः) प्रगट करानें, वा (होता) हवन किये हुए पदार्थों को देनेवाले, तथा (ईड्यः) खोज करने योग्य (असि) हैं, सो आप (नः) हम लोगों और (वृक्तबर्हिषे) अन्तरिक्ष में होम के पदार्थों को प्राप्त करानेवाले विद्वान् के लिये (देवान्) दिव्यगुणयुक्त पदार्थों को (आवह) अच्छे प्रकार प्राप्त कीजिये ॥१॥

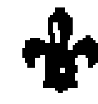
यह (होता) हवन किये हुए पदार्थों का ग्रहण करने, तथा (जज्ञानः) उनकी उत्पत्ति करानेवाला (अग्ने) भौतिक अग्नि, (वृक्तबर्हिषे) जिसके द्वारा होम करने योग्य पदार्थ अन्तरिक्ष में पहुंचाये जाते हैं उस ऋत्विज् के, [और (नः) हमारे] लिये (इह) इस स्थान में (देवान्) दिव्यगुणयुक्त पदार्थों को (आवह) सब प्रकार से प्राप्त कराता है। इस कारण हम लोगों को वह (ईड्यः) खोज करने योग्य (असि) होता है ॥ ३ ॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है।

भावार्थ—मनुष्य लोग जिस प्रत्यक्ष अग्नि में सुगन्धि आदि गुणयुक्त पदार्थों का होम किया

१. वै०य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'शुद्धं हास्मिन्' इत्यपपाठः । ख. कोशे 'शोधयित्वाऽस्मिन्' इत्येवं पठ्यते ।

करते हैं, जो उन पदार्थों के साथ अन्तरिक्ष में ठहरनेवाले वायु और मेघ के जल को शुद्ध करके इस संसार में दिव्य सुख उत्पन्न करता है, इस कारण हम लोगों को इस अग्नि के गुणों का खोज करना चाहिये। यह ईश्वर की आज्ञा सब को अवश्य माननी योग्य है॥ ३॥



अथाग्निगुणा उपदिश्यन्ते—

ताँ उ॒श॒तो वि बो॑धय॒ यद॑ग्ने॒ यासि॑ दू॒त्य॑म्। दे॒वैरा स॑त्सि ब॒र्हिषि॑॥ ४॥

तान्। उ॒श॒तः। वि। बो॒ध॒य॒। यत्। अ॒ग्ने॒। यासि॑। दू॒त्य॑म्॥ दे॒वैः। आ। स॒त्सि॒। ब॒र्हिषि॑॥ ४॥

पदार्थः—(तान्) दिव्यान् गुणान् (उशतः) कामितान्। अ०। कृतो बहुलम् [अ० ३। ३। ११३ वा०] इति कर्मणि लटः स्थाने शतृप्रत्ययः (वि) विविधार्थे। व्यपेत्येतस्य प्रातिलोम्यं प्राह। निरु० १। ३। (बोधय) बोधयति। अत्र [पुरुष]व्यत्ययः। यत् यस्मात् (अग्ने) अग्निः (यासि) याति। अत्र पुरुषव्यत्ययः। (दूत्यम्) दूतस्य कर्म। दूतस्य भागकर्मणी। अ० ४। ४। १२१ अनेन दूतशब्दात् यत्प्रत्ययः। (देवैः) दिव्यैः पदार्थैः सह (आ) समन्तात् (सत्सि) दोषान् हिनस्ति। अयं 'विशरणार्थषद्लृधातोः' 'शब्लुकि[1] प्रयोगः, पुरुषव्यत्ययश्च। (बर्हिषि) अन्तरिक्षे॥ ४॥

अन्वयः—यो[ऽग्ने]ऽग्निर्यद् यस्माद् बर्हिषि देवैः सह दूत्यमायासि समन्तायाति, तानुशतो विबोधय विबोधयति, तेषां दोषान् सत्सि हन्ति, तस्मादेतैरयं विद्यासिद्धये सर्वथा सर्वथा परीक्ष्य संप्रयोजनीयोऽस्ति॥ ४॥

भावार्थः—जगदीश्वर आज्ञापयति—अयमग्निर्युष्माकं दूतोऽस्ति। कुतः? हुतान् दिव्यान् परमाणुरूपान् पदार्थानन्तरिक्षे गमयतीत्यतः, उत्तमानां भोगानां प्रापकत्वात्। तस्मात् सर्वैर्मनुष्यैः प्रसिद्धाः प्रसिद्धस्याग्नेर्गुणाः कार्य्यार्थं नित्यं प्रकाशनीया इति॥ ४॥

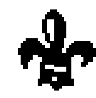
अगले मन्त्र में भौतिक अग्नि के गुणों का उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—यह (अग्ने) अग्नि (यत्) जिस कारण (बर्हिषि) अन्तरिक्ष में (देवैः) दिव्य पदार्थों के संयोग से (दूत्यम्) दूत के कर्म को (आयासि) सब प्रकार से प्राप्त होता है, (तान्) उन [(उशतः) इष्ट] दिव्य गुणों को (विबोधय) विदित करानेवाला होता है, और उन पदार्थों के दोषों का (सत्सि) विनाश करता है। इससे सब मनुष्यों को विद्या की सिद्धि के लिये इस अग्नि की सदा ठीक-ठीक परीक्षा करके प्रयोग करना चाहिये॥ ४॥

भावार्थ—परमेश्वर आज्ञा देता है कि—हे मनुष्यो! यह अग्नि तुम्हारा दूत है। क्योंकि हवन किये हुए परमाणुरूप पदार्थों को अन्तरिक्ष में पहुंचाता, और उत्तम-उत्तम भोगों की प्राप्ति

१. ख. कोशे 'शब्लुकि' इत्युपलभ्यते। प्रमादान्नष्टमुत्तरत्र।

हेतु है। इससे सब मनुष्यों को अग्नि के जो प्रसिद्ध गुण हैं, उनको संसार में अपने कार्यों सिद्धि के लिये अवश्य प्रकाशित करना चाहिये ॥ ४ ॥



पुनः स किं करोतीत्युपदिश्यते—

घृताहवन दीदिवः प्रति ष्म रिषतो दह। अग्ने त्वं रक्षस्विनः ॥ ५ ॥

घृतऽआहवन। दीदिऽवः। प्रति। स्म। रिषतः। दह॥ अग्ने। त्वम्। रक्षस्विनः ॥ ५ ॥

पदार्थः—(घृताहवन) घृतमाज्यादिकं जलं वासमन्ताज्जुह्वति यस्मिन् सः (दीदिवः) दीव्यति शुभैर्गुणैर्द्रव्याणि प्रकाशयति सः। अयं 'दिवु' धातोः क्वसुप्रत्ययान्तः प्रयोगः। (प्रति) वीप्सार्थे (स्म) प्रकारार्थे (रिषतः) हिंसाहेतुदोषान् (दह) दहति। अत्र व्यत्ययः। (अग्ने) अग्निर्भौतिकः (त्वम्) स (रक्षस्विनः) रक्षांसि दुष्टस्वभावा निन्दिता मनुष्या विद्यन्ते येषु संघातेषु तान् ॥ ५ ॥

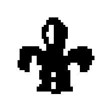
अन्वयः—[घृताहवन] घृताहवनो [दीदिवः] दीदिवानग्ने योऽग्नी रक्षस्विनो रिषतो दोषान् शत्रूंश्च प्रति [दह] पुनः पुनर्दहति स्म, सोऽस्माभिः स्वकार्य्येषु नित्यं संप्रयोज्योऽस्ति ॥ ५ ॥

भावार्थः—एवं सुगन्ध्यादिगुणयुक्तेन द्रव्येण संयुक्तोऽयमग्निः सर्वान् दुर्गन्धादिदोषान् निवार्य्य सर्वेभ्यः सुखकारी भवतीतीश्वर आह ॥ ५ ॥

फिर उक्त अग्नि क्या करता है, सो अगले मन्त्र में प्रकाशित किया है—

पदार्थ—(घृताहवन) जिसमें घी तथा जल क्रिया सिद्ध होने के लिये छोड़ा जाता है, और जो अपने (दीदिवः) शुभ गुणों से पदार्थों को प्रकाश करनेवाला है, ऐसा जो (अग्ने) अग्नि (रक्षस्विनः) जिन समूहों मे राक्षस अर्थात् दुष्ट स्वभाववाले और निन्दा के भरे हुए मनुष्य विद्यमान हैं उनका, तथा जो कि (रिषतः) हिंसा के हेतु दोष और शत्रु हैं उनका, (प्रति दह स्म) अनेक प्रकार से विनाश करता है, हम लोगों को चाहिये कि उस अग्नि को अपने कार्य्यों में नित्य संप्रयुक्त करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो अग्नि इस प्रकार सुगन्ध्यादि गुणवाले पदार्थों से संयुक्त होकर, सब दुर्गन्ध आदि दोषों को निवारण करके सब के लिये सुखदायक होता है, वह अच्छे प्रकार काम में लाना चाहिये। ईश्वर का यह वचन सब मनुष्यों को मानना उचित है ॥ ५ ॥



स कथं प्रदीप्तो भवति कीदृशश्चेत्युपदिश्यते—

अग्निनाग्निः समिध्यते कविर्गृहपतिर्युवा। हव्यवाड् जुह्वास्यः ॥ ६ ॥

अग्निना। अग्निः। सम्। इध्यते। कविः। गृहऽपतिः। युवा॥ हव्यऽवाट्। जुह्वऽआस्यः ॥ ६ ॥

पदार्थः—(अग्निना) व्यापकेन विद्युदाख्येन (अग्निः) प्रसिद्धो रूपवान् वहनशीलः पृथिवीस्थः सूर्य्यलोकस्थश्च (सम्) [1]सम्यगर्थे (इध्यते) प्रदीप्यते (कविः) क्रान्तदर्शनः (गृहपतिः) गृहस्य स्थानस्य तत्स्थस्य वा पतिः पालनहेतुः (युवा) यौति मिश्रयति पदार्थैः सह पदार्थान् वियोजयति वा (हव्यवाट्) यो [हव्यं] हुतं द्रव्यं देशान्तरं वहति प्रापयति सः (जुह्वास्यः) जुहोत्यस्यां सा जुहूर्ज्वाला साऽस्यं मुखं यस्य सः ॥ ६ ॥

अन्वयः—मनुष्यैर्यो जुह्वास्यो युवा हव्यवाट् कविर्गृहपतिरग्निरग्निना समिध्यते, स कार्य्यसिद्धये सदा संप्रयोज्यः ॥ ६ ॥

भावार्थः—योऽयं सर्वपदार्थमिश्रो विद्युदाख्योऽग्निरस्ति, तेनैव प्रसिद्धौ सूर्य्याग्नी प्रकाश्येते, पुनरदृष्टौ सन्तौ तद्रूपावेव भवतः । मनुष्यैर्यद्यनयोर्गुणविद्याः सम्यग्गृहीत्वोपकारः क्रियेत, तर्ह्यनेके व्यवहाराः सिद्ध्येयुः, तैरसंख्यातानन्दप्राप्तिः सर्वेभ्यो नित्यं भवतीत्याह जगदीश्वरः ॥६॥

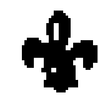
इति द्वाविंशो वर्गः समाप्तः ॥

यह अग्नि कैसे प्रकाशित होता है, और किस प्रकार का है, सो अगले मन्त्र में उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—मनुष्यों को उचित है कि (जुह्वास्यः) जिसका मुख ज्वाला है, और जो (युवा) पदार्थों के साथ पदार्थों को मिलाने और उनको पृथक्-पृथक् करनेवाला, (हव्यवाट्) होम किये हुए पदार्थों को देशान्तरों में पहुंचानेवाला, और (कविः) क्रान्तदर्शन अर्थात् जिसमें स्थिरता के साथ दृष्टि नहीं पड़ती, तथा जो (गृहपतिः) स्थान तथा उनमें रहनेवालों का पालन करनेवाला यह (अग्निः) प्रत्यक्ष रूपवान्, पदार्थों को जलाने, पृथिवी और सूर्य्यलोक में ठहरनेवाला अग्नि (अग्निना) बिजुली से (समिध्यते) अच्छी प्रकार प्रकाशित होता है, वह बहुत कामों को सिद्ध करने के लिये सदा प्रयुक्त करना चाहिये ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो यह सब पदार्थों में मिला हुआ विद्युद्रूप अग्नि कहाता है, उसी से प्रत्यक्षयह सूर्य्यलोक और भौतिक अग्नि प्रकाशित होते हैं। और फिर जिसमें छिपे हुए विद्युद्रूप होके रहते हैं। जो इन दोनों के गुण और विद्या को ग्रहण करके मनुष्य लोग उपकार लेवें, तो उनसे अनेक व्यवहार सिद्ध होकर उनको अत्यन्त आनन्द की प्राप्ति होती है, यह जगदीश्वर का वचन है ॥६॥

यह बाईसवां वर्ग समाप्त हुआ ॥



अथाग्निशब्देनेश्वरभौतिकार्थावुपदिश्येते—

कविमग्निमुपस्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे । देवममीवचातनम् ॥ ७ ॥

कविम् । अग्निम् । उप॑ । स्तुहि । सत्यऽधर्माणम् । अध्वरे ॥ देवम् । अमीवऽचातनम् ॥ ७ ॥

पदार्थः—(कविम्) सर्वेषां बुद्धीनां सर्वज्ञतया क्रमितारमीश्वरं, सर्वेषां दृश्यानां

---

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'सम्यगर्थम्' अपपाठः ।

येतारं भौतिकं वा (अग्निम्) ज्ञातारं, दाहकं वा (उप) सामीप्येऽर्थे (स्तुहि) प्रकाशय त्यधर्माणम्) सत्या नाशरहिता धर्मा यस्य तम् (अध्वरे) उपासनीये कर्त्तव्ये वा यज्ञे वम्) सुखदातारम् (अमीवचातनम्) अमीवानज्ञानादीन् ज्वरादींश्च रोगान् चातयति स्ति तम् ।। ७ ।।

अन्वयः—हे मनुष्य ! त्वमध्वरे सत्यधर्माणममीवचातनं कविं देवमग्निं परमेश्वरं भौतिकं स्तुहि ।। ७ ।।

अत्र श्लेषालङ्कारः ।

भावार्थः—मनुष्यैः सत्यविद्यया धर्मप्राप्तये सत्यशिल्पविद्यासिद्धये चाग्निरीश्वरो भौतिको तत्तद्गुणैः प्रकाशयितव्यः । यतः प्राणिनां रोगनिवारणेन सुखान्युपगतानि स्युः ।। ७ ।।

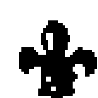
अगले मन्त्र में अग्नि शब्द से ईश्वर और भौतिक अग्नि का उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे मनुष्य ! तू (अध्वरे) उपासना करने योग्य व्यवहार में (सत्य-र्माणम्) जिसके धर्म नित्य और सनातन हैं, जो (अमीवचातनम्) अज्ञान आदि दोषों का करने, तथा (कविम्) सब की बुद्धियों को अपने सर्वज्ञपन से प्राप्त होनेवाला, (देवम्) सुखों का देनेवाला (अग्निम्) सर्वज्ञ ईश्वर है, उसको (उपस्तुहि) मनुष्यों के समीप शित कर ।। १ ।।

हे मनुष्य ! तू (अध्वरे) करने योग्य यज्ञ में (सत्यधर्माणम्) जो कि अविनाशी गुणवाला (अमीवचातनम्) ज्वरादि रोगों का विनाश करने, तथा (कविम्) सब स्थूल पदार्थों को खानेवाला, और (देवम्) सब सुखों का दाता (अग्निम्) भौतिक अग्नि है, उसको (उपस्तुहि) के समीप सदा प्रकाशित कर ।। २ ।। ७ ।।

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है।

भावार्थ—मनुष्यों को सत्यविद्या से धर्म की प्राप्ति करने, तथा सत्य शिल्पविद्या की सिद्धि लिये ईश्वर और भौतिक अग्नि का उन-उनके गुणों द्वारा प्रकाश करना चाहिये । जिससे णियों को रोग आदि के विनाशपूर्वक सब सुखों की प्राप्ति यथावत् हो ।। ७ ।।



पुनस्तावेवोपदिश्येते—

यस्त्वाम॑ग्ने ह॒विष्प॑तिर्दू॒तं दे॑व स॒पर्य॑ति । तस्य॑ स्म प्रावि॒ता भ॑व ।। ८ ।।

यः । त्वाम् । अ॒ग्ने॒ । ह॒विःऽप॑तिः । दू॒तम् । दे॒व॒ । स॒पर्य॑ति ।। तस्य॑ । स्म॒ । प्र॒ऽअ॒वि॒ता । भ॒व॒ ।।८।।

पदार्थः—(यः) मनुष्यः (त्वाम्) तं वा (अग्ने) विज्ञानस्वरूप ! अग्निं वा । अत्र सर्वत्र 'अर्थाद्विभक्तेर्विपरिणामः'[1] इति परिभाषया साधुत्वं विज्ञेयम् । (हविष्पतिः) हविषां दातुं ग्रहीतुं

१. द्र०—अर्थाद् विभक्तिविपरिणामो भविष्यति' (महा० १ । ३ । ९) । अयमेवार्थः परिभाषा-व्याख्यातृभिर्बहुभिः स्वल्पशब्दभेदेन परिभाषारूपेण संगृहीतः ।

योग्यानां द्रव्याणां गुणानां वा पतिः पालकः कर्मानुष्ठाता (दूतम्) वयति प्रापयति सुखज्ञाने 'यः, तम् (देव) सर्वप्रकाशकेश्वर ! प्रकाशवाहयुक्तमग्निं वा (सपर्य्यति) सेवते । सपर्य्यतीति परिचरणकर्मसु पठितम् । निघं० ३ । ५ । (तस्य) सेवकस्य (स्म) स्पष्टार्थे (प्राविता) प्रकृष्टतया ज्ञाता सुखप्रापको वा (भव) भवति वा ॥ ८ ॥

अन्वयः—हे देवाग्ने ! यो हविष्पतिर्मनुष्यो दूतं त्वां सपर्य्यति, तस्य त्वं प्राविता भव स्म, इत्येकोऽन्वयः ॥

यो हविष्पतिर्मनुष्यस्त्वां तं [देव] देवं दूतम[ग्नेऽ]ग्निं सपर्य्यति, तस्यायं प्राविता [भव] भवति स्म, [इति द्वितीयः] ॥ ८ ॥

अत्र श्लेषालङ्कारः । दूतशब्देन ज्ञानप्रापकत्वमीश्वरे, देशान्तरे द्रव्ययानप्रापणं च भौतिके मत्वाऽस्य प्रयोगः कृतोऽस्ति ।

भावार्थः—ये मनुष्या आस्तिका भूत्वा हृदये सर्वसाक्षिणं परमेश्वरं ध्यायन्ति, त एवेश्वरेण रक्षिताः पापानि त्यक्त्वा धर्मात्मानः सन्तः सुखं प्राप्नुवन्ति । ये युक्त्या यानयन्त्रादिष्वग्निं प्रयुञ्जते, तेऽपि युद्धादिषु कार्य्येषु रक्षिता रक्षकाश्च भवन्तीति ॥ ८ ॥

फिर भी अगले मन्त्र में ईश्वर और भौतिक अग्नि का उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (देव) सबके प्रकाश करनेवाले (अग्ने) विज्ञानस्वरूप जगदीश्वर ! [(यः)] जो (हविष्पतिः) देने लेने योग्य वस्तुओं वा गुणों का पालन करनेवाला मनुष्य (दूतम्) ज्ञान देनेवाले आपका (सपर्य्यति) सेवन करता है, (तस्य) उस सेवक मनुष्य के आप (प्राविता) अच्छी प्रकार जाननेवाले (भव) हों ॥ १ ॥

(यः) जो (हविष्पतिः) देने लेने योग्य पदार्थों की रक्षा करनेवाला मनुष्य [(त्वाम्)] उस (देव) प्रकाश और दाहगुणवाले, [(दूतम्) पदार्थों को जहां-तहां पहुंचाकर सुख देनेवाले] (अग्ने) भौतिक अग्नि का (सपर्य्यति) सेवन करता है, (तस्य) उस मनुष्य को वह अग्नि (प्राविता) नाना प्रकार के सुखों का देनेवाला (भव) होता है ॥ २ ॥ ८ ॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है । दूत शब्द का अर्थ दो पक्ष में समझना चाहिये, अर्थात् सब मनुष्यों में ज्ञान का पहुंचानेवाला ईश्वर पक्ष में, तथा एक देश से दूसरे देश मे पदार्थों का पहुंचानेवाला भौतिक पक्ष में ग्रहण किया है ।

भावार्थ—जो आस्तिक अर्थात् परमेश्वर में विश्वास रखनेवाले मनुष्य अपने हृदय में सर्वसाक्षी [परमेश्वर] का ध्यान करते हैं, वे ही पुरुष ईश्वर से रक्षा को प्राप्त होकर पापों से बचकर धर्मात्मा हुए अत्यन्त सुख को प्राप्त होते हैं । तथा जो युक्ति से विमान आदि रथों में भौतिक अग्नि को संयुक्त करते हैं, वे भी युद्धादिकों में रक्षा को प्राप्त होकर औरों की रक्षा करनेवाले होते हैं ॥ ८ ॥

---

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'येन तम्' इत्यनन्वितः पाठः । द्र०—पूर्वत्र ऋ० १ । १२ । १ व्याख्यानं तट्टिप्पणी च (पृष्ठ ६०१) ।

पुनस्तावेवोपदिश्येते—

योऽ अग्निं देववीतये हविष्माँ आविवासति । तस्मै पावक मृळय ॥ ९ ॥

यः । अग्निम् । देवऽवीतये । हविष्मान् । आऽविवासति ॥ तस्मै । पावक । मृळय ॥ ९ ॥

पदार्थः—(यः) मनुष्यः (अग्निम्) सर्वसुखप्रापकमीश्वरं सुखहेतुं भौतिकं वा (देववीतये) देवानां दिव्यानां गुणानां भोगानां च वीतिर्व्याप्तिस्तस्यै (हविष्मान्) हवींष्युत्तमानि द्रव्याणि कर्माणि वा विद्यन्ते यस्य सः । अत्र प्रशंसार्थे मतुप् । (आविवासति) समन्तात् सेवते । विवासतीति परिचरणकर्मसु पठितम् । निघं० ३ । ५ । (तस्मै) सेवकम् । अत्र कर्मणि चतुर्थी । (पावक) पुनाति पवित्रतां करोति तत्संबुद्धावीश्वर ! पवित्रताहेतुरग्निर्वा (मृडय) सुखय सुखयति वा ॥ ९ ॥

अन्वयः—हे पावक ! यो हविष्मान् मनुष्यो देववीतये त्वामग्निमाविवासति, तस्मै त्वं मृडय, इत्येकः ॥

यो हविष्मान् मनुष्यो देववीतय इममग्निमाविवासति, तस्मा अयं [पावक] पावकोऽग्निः [मृडय] मृडयति, इति द्वितीयः ॥ ९ ॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ।

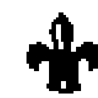
भावार्थः—ये मनुष्याः सत्येन भावेन कर्मणा विज्ञानेन च परमेश्वरं सेवन्ते, ते दिव्यगणान् पवित्राणि कर्माणि कृत्वा सुखानि च प्राप्नुवन्ति । येनायं[1] दिव्यगुणप्रकाशकोऽग्नी रचितस्तस्मान् मनुष्यैर्दिव्या उपकारा ग्राह्या इतीश्वरोपदेशः ॥ ९ ॥

फिर भी उक्त दोनों पदार्थों ही का प्रकाश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (पावक) पवित्र करनेवाले ईश्वर ! (यः) जो (हविष्मान्) उत्तम-उत्तम पदार्थों वा कर्मों का करनेवाला मनुष्य (देववीतये) उत्तम-उत्तम गुणों और भोगों की परिपूर्णता के लिये (अग्निम्) सब सुखों को देनेवाले आपको (आविवासति) अच्छी प्रकार सेवन करता है (तस्मै) उस सेवन करनेवाले मनुष्य को आप (मृडय) सब प्रकार सुखी कीजिये । इत्येकः ॥

(यः) जो (हविष्मान्) उत्तम पदार्थवाला मनुष्य (देववीतये) उत्तम भोगों की प्राप्ति के लिये (अग्निम्) सुख के हेतु भौतिक अग्नि का (आविवासति) अच्छी प्रकार सेवन करता है, (तस्मै) उसको यह (पावक) पवित्र करनेवाला अग्नि (मृडय) सुखयुक्त करता है । इति द्वितीयः ॥ ९ ॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ।

भावार्थ—जो मनुष्य अपने सत्यभाव कर्म और विज्ञान से परमेश्वर का सेवन करते हैं, वे दिव्य गुणों और पवित्र कर्मों द्वारा उत्तम-उत्तम सुखों को प्राप्त होते हैं । तथा जिससे यह दिव्य गुणों का प्रकाश करनेवाला अग्नि रचा है, उस अग्नि से मनुष्यों को उत्तम-उत्तम उपकार लेने चाहियें । इस प्रकार ईश्वर का उपदेश है ॥ ९ ॥ 

१. 'यतोऽयं' शुद्धः पाठः स्यात् ।

पुनरेतावुपदिश्येते—

स नः पावक दीदिवोऽग्ने देवाँ इहावह । उप यज्ञं हविश्च नः ॥ १० ॥

सः । नः । पावक । दीदिऽवः । अग्ने । देवान् । इह । आ । वह ॥ उप । यज्ञम् । हविः । च । नः ॥ १० ॥

पदार्थः—(सः) जगदीश्वरो भौतिको वा (नः) अस्मभ्यम् (पावक) पवित्रकर्त्तः ! शुद्धिहेतुर्वा (दीदिवः) स्वसामर्थ्येन देदीप्यमान ! दीप्तिमान् वा (अग्ने) सर्वप्रापक ! प्राप्तिहेतुर्वा (देवान्) विदुषो दिव्यगुणान् वा (इह) अस्मिन् संसारेऽस्मत्संनिधौ (आ) समन्तात् (वह) प्रापय, प्रापयति वा । अत्र पक्षे [पुरुष]व्यत्ययः । (उप) सामीप्ये (यज्ञम्) पूर्वोक्तं त्रिविधम् (हविः) दातुमादातुमर्हम् (च) समुच्चये (नः) अस्माकम् ॥ १० ॥

अन्वयः—हे दीदिवः पावकाग्ने ! स त्वं [नोऽ]स्मभ्यमिह देवानावह, नोऽस्माकं यज्ञं हविश्चोपावह, इत्येकः ॥

यो [दीदिवः] दीदिवान् [पावक] पावकोऽ[ग्नेऽ]ग्निः सम्यक् प्रयुक्तः सन्नोऽस्मभ्यमिह देवाना[वहा]वहति, स नोऽस्माकं यज्ञं हविश्च प्राप्य सुखान्यु[पा उ]पावहति, इति द्वितीयः ॥१०॥

अतोऽग्रे (१) प्रथमाङ्केनाद्यान्वयार्थो (२) द्वितीयेन द्वितीयार्थश्च सर्वत्र वेद्यः ॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ।

भावार्थः—यस्य प्राणिनः कस्यचित्पदार्थस्य प्राप्तीच्छा जायते, तत्सिद्धये परमेश्वरः प्रार्थ्यते पुरुषार्थश्च क्रियते । यादृशा अस्मिन् वेदे जगदीश्वरस्य गुणस्वभावा अन्येषां च प्रतिपादिता दृश्यन्ते, मनुष्यैस्तदनुकूलकर्मानुष्ठानेनाग्न्यादिपदार्थगुणान् विदित्वाऽनेकविधा व्यवहारसिद्धिः कार्य्येति ॥१०॥

फिर भी अगले मन्त्र में इन्हीं दोनों का उपदेश किया है—

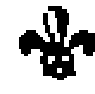
पदार्थान्वयभाषा—हे (दीदिवः) अपने सामर्थ्य से प्रकाशवान्, (पावक) पवित्र करने तथा (अग्ने) सब पदार्थों को प्राप्त करानेवाले (सः) जगदीश्वर ! आप (नः) हम लोगों के सुख के लिये (इह) इस संसार में (देवान्) विद्वानों को (आवह) प्राप्त कराइये । तथा (नः) हमारे (यज्ञम्) पूर्वोक्त तीन प्रकार के यज्ञ, और (हविः) देने लेने योग्य पदार्थों को (उप) हमारे समीप प्राप्त कराइये ॥ १ ॥

जो (दीदिवः) प्रकाशमान तथा (पावक) शुद्धि का हेतु (अग्ने) भौतिक अग्नि अच्छी प्रकार कलायन्त्रों में युक्त किया हुआ (नः) हम लोगों के सुख के लिये (इह) हमारे समीप (देवान्) दिव्य गुणों को (आवह) प्राप्त कराता है, [(सः)] वह (नः) हमारे तीन प्रकार के पूर्वोक्त (यज्ञम्) यज्ञों को, तथा (हविः) उक्त पदार्थों को प्राप्त होकर सुखों को (उप) हमारे समीप प्राप्त कराता रहता है ॥ २ ॥ १० ॥

इसके आगे सर्वत्र एक (१) अङ्क से पहले अन्वय का अर्थ, और दूसरे (२) अङ्क से
रे अन्वय का अर्थ जानना।

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है।

भावार्थ—जिस प्राणी को किसी पदार्थ की [प्राप्ति की] इच्छा उत्पन्न हो, वह अपनी
मसिद्धि के लिये परमेश्वर की प्रार्थना और पुरुषार्थ करे। इस वेद में जगदीश्वर तथा अन्य
दार्थों के जैसे गुण स्वभाव बताये हैं, मनुष्यों को उनके अनुकूल कर्म के अनुष्ठान से अग्नि आदि
दार्थों के गुणों को जान करके अनेक प्रकार की व्यवहार-सिद्धि करनी चाहिये॥ १०॥



पुनरेतावुपदिश्येते—

स नः स्तवान आ भर गायत्रेण नवीयसा। रयिं वीरवतीमिषम्॥ ११॥

सः। नः। स्तवानः। आ। भर। गायत्रेण। नवीयसा॥ रयिम्। वीरऽवतीम्। इषम्॥ ११॥

पदार्थः—(सः) पूर्वोक्तः (नः) अस्मभ्यम् (स्तवान) स्तूयमानः गृहीतगुणो वा। अत्र सम्यानच् स्तुवः। उ० २। ८९ इति बाहुलकात् समुपपदाभावेऽपि कर्मण्यौणादिक आनच् प्रत्ययः[1]। अत्र सायणाचार्य्येण लटः स्थाने [कर्तरि] शानचमाश्रित्य [कर्मणि] स्तूयमानमिति व्याख्यानं कृतमत इदमशुद्धम्[2]। (आ) समन्तात् (भर) धारय धारयति वा (गायत्रेण) गायत्री छन्दः आदिर्यस्य प्रगाथस्य[3] तेन। सोऽस्यादिरिति च्छन्दसः प्रगाथेषु। अ० ४। २। ५४ इति गायत्री-

१. आनचि चित्त्वादन्तोदात्तत्वे प्राप्ते 'वृषादीनां च' (अ० ६। १। १९७) इति वृषादेराकृतिगणत्वादाद्युदात्तत्वम्। ऋ० १। ३१। ८ मन्त्रव्याख्याने सायणोऽप्यानचमुक्त्वा वृषादिरवादन्तोदात्तत्वमाह।

२. सायणाचार्य इह 'स्तवानः' पदस्याद्युदात्तत्वसिद्धये विविधां कल्पनां कृतवान्। तथाहि—'ष्टुञ् स्तुतौ ······स्वरितञितः इत्यात्मनेपदम्, लटः शानच्, कर्तरि शप्, बहुलं छन्दसि इति लुगभावः, गुणावादेशौ, आने मुक् इति मुक् न भवति, अनित्यमागमशासनम्······अदुपदेशात् शपः परत्वात् लसार्वधातुकानुदात्तत्वं, धातुस्वर एव शिष्यते' इति। अस्मिन् व्याख्याने कर्त्तरि कारके स्वरितञितः इत्यादिनाऽऽत्मनेपदमुक्त्वा कर्तरि शपं च विधाय 'स्तूयमानम्' इति कर्मणि पदार्थप्रदर्शनं घोटकारूढस्य घोटकविस्मृतिरूपं मुख्यं दूषणम्। इदमेव च एतद्ग्रन्थकारेणेह प्रदर्शितम्। अपरो दोषः—स्ववचनविरोधरूपः—ऋ० १। ३१। ८ मन्त्रव्याख्याने सायणाचार्यः 'सम्यानच् स्तुवः' इत्युणादिसूत्रेणानचं विहितवान्। अर्थस्तत्रापि 'स्तूयमानः' इत्येव निर्दिशितवान्। तृतीयो दोषः—'स्तुवान'शब्द आद्युदात्तोऽन्तोदात्तश्चोभयथा वेदे प्रयुज्यते। सायणाचार्येण स्वरभेदेऽपि सर्वत्र समान एव 'स्तूयमान'रूपोऽर्थो निर्दिष्टः। स्वरभेदेऽर्थभेदेन भाव्यमिति स्वरज्ञानां वैदिकानां राद्धान्तः।

३. प्रगाथशब्दः छन्दःशास्त्रेषु विशिष्टछन्दःसमूहानां वाचकः। गायत्रसंज्ञकस्य प्रगाथस्य द्वौ भेदौ स्तः। एको—यत्र बृहती छन्दस्का द्वितीया ऋग्भवति। अयं गायत्रबार्हतप्रगाथ उच्यते (द्र०—ऋक्प्राति० १८। ५)। द्वितीयो—यत्र द्वितीया ऋक् ककुप्छन्दस्का भवति। अयं गायत्रकाकुभप्रगाथ उच्यते (द्र०—ऋक्प्राति० १८। ६)। एतद्भाष्यकृता 'गायत्र'शब्दो नेह छन्दःशास्त्रविहित-प्रगाथसंज्ञाविशेषरूपेण प्रयुक्तः,

शब्दावण्। (नवीयसा) अतिशयितेन नवीनेन[1] मन्त्रपाठगानयुक्तेन स्तवनेन (रयिम्) विद्या-चक्रवर्त्तिराज्यजन्यं धनम् (वीरवतीम्) प्रशस्ता वीरा विद्यन्ते यस्यां ताम्। अत्र प्रशंसायां मतुप्। (इषम्) इष्यते या सत्क्रिया ताम्। अत्र कृतो बहुलम् [अ० ३। ३। ११३ वा०] इति कर्मणि क्विप्॥ ११॥

अन्वयः—हे भगवन्! स त्वं नवीयसा गायत्रेण स्तवानः सन् नो रयिं वीरवतीमिषं चाभर, इत्येकः॥

स भौतिकोऽग्निर्नवीयसा गायत्रेणास्माभिः स्तवानो गृहीतगुणो [नोऽस्मभ्यं] रयिं वीरवती-मिषं चा [भर] भरति, इति द्वितीयः॥ ११॥

अत्र श्लेषालङ्कारः।

भावार्थः—पूर्वस्मान्मन्त्राच्चकारोऽनुकृष्यते। तथा प्रतिजनं नवीनं नवीनं वेदाध्ययनं तज्जन्योच्चारणक्रिया च प्रवर्त्तते, तस्मान्नवीयसेत्युक्तम्।

यैर्धर्मात्मभिर्मनुष्यैर्यथावच्छब्दार्थसम्बन्धपुरःसरेण वेदस्याध्ययनेन तदुक्तकर्मणा च प्रीतः संपादितो जगदीश्वरः, [स तेभ्य] उत्तमानि विद्याविधनानि शूरत्वादिगुणान् सतीमिच्छां च ददाति[2]। [3]एतद्युक्तमनुष्या अग्न्यादिभ्यः सर्वपदार्थेभ्यो नानाविधा क्रियाः संसेव्य बहूनि सुखानि प्रकाशयन्ति॥ ११॥

फिर भी अगले मन्त्र में उन्हीं दोनों का उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे भगवन् (सः) जगदीश्वर! आप (नवीयसा) अच्छी प्रकार मन्त्रों के नवीन[4] गानयुक्त पाठ तथा (गायत्रेण) गायत्री छन्द [आदि में है जिनके, ऐसे छन्द] वाले प्रगाथों (=मन्त्रसमूहों) से (स्तवानः) स्तुति को प्राप्त हुए (नः) हमारे लिये (रयिम्) विद्या और चक्रवर्ति राज्य से उत्पन्न होनेवाले धन, (च) तथा (वीरवतीम्) जिसमें अच्छे-अच्छे वीर तथा विद्वान् हों, उस (इषम्) सज्जनों के इच्छा करने योग्य उत्तम क्रिया को (आभर) अच्छी प्रकार धारण कीजिये॥ १॥

(सः) उक्त भौतिक अग्नि (नवीयसा) अच्छी प्रकार मन्त्रों के नवीन-नवीन गानयुक्त पाठ और स्तुति तथा (गायत्रेण) गायत्री छन्द [आदि में है जिनके, ऐसे छन्द] वाले प्रगाथों (=मन्त्रसमूहों) से (स्तवानः) गुणों के साथ ग्रहण किया हुआ [(नः) हमारे लिये] (रयिम्)

अपितु गायत्रीछन्दस्का ऋग् यस्य मन्त्रसमूहस्यादौ प्रयुज्यते स सामान्येनेह गृह्यत इति तदभिप्रायो द्रष्टव्यः। छन्दोविचितिकाराणां प्रगाथानां विस्तरोऽस्मदीयायां 'वैदिकछन्दोमीमांसायां' प्रगाथनाम्नि द्वादशाध्याये द्रष्टव्यः।

१. अस्याभिप्रायो भाष्यकृता भावार्थे विशदीकृतः, स तत एव द्रष्टव्यः।

२. इच्छया स ददातिरत्र पूरणार्थको द्रष्टव्यः—सतीं शुद्धामिच्छां पूरयतीति भावः।

३. इदं वाक्यं ख.कोशे उपलभ्यते। ग.कोशप्रतिलिपिकर्त्रा त्यक्तम्, अत एव मुद्रिते नोपलभ्यते। भावार्थस्त्वस्य दृश्यते।

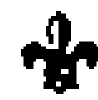
४. इसका भाव भावार्थ में स्पष्ट किया है।

प्रकार का धन (च)[1] और (वीरवतीम्) उत्तम वीरों से युक्त (इषम्) उक्त गुणवाली क्रिया को (आभर) अच्छी प्रकार धारण कराता है ।।२।। ११ ।।

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है। पिछले मन्त्र से 'चकार' की अनुवृत्ति है।

भावार्थ—हरएक मनुष्य के प्रति वेद का नवीन-नवीन अध्ययन, तथा वेद की नवीन-नवीन रणक्रिया होती है, इस कारण 'नवीयसा' इस पद का ग्रहण किया है।

जिन धर्मात्मा मनुष्यों ने यथावत् शब्दार्थपूर्वक वेद के पढ़ने और वेदोक्त कर्मों के अनुष्ठान गदीश्वर को प्रसन्न किया है, उन मनुष्यों को वह उत्तम-उत्तम विद्या आदि धन, शूरता आदि तथा श्रेष्ठ कामना को देता है[2]। जो वेद के पढ़ने और परमेश्वर के सेवन से युक्त मनुष्य [अग्न्यादि पदार्थों से नाना प्रकार की क्रियाओं को सिद्ध करके] अनेक सुखों का प्रकाश हैं ।। ११ ।।



पुनरेतद्गुणा[3] उपदिश्यन्ते—

अग्ने शुक्रेण शोचिषा विश्वाभिर्देवहूतिभिः । इमं स्तोमं जुषस्व नः ।। १२ ।।

अग्ने । शुक्रेण । शोचिषा । विश्वाभिः । देवहूतिऽभिः ।। इमम् । स्तोमम् । जुषस्व । नः ।। १२ ।।

पदार्थः—(अग्ने) प्रकाशमयेश्वर ! भौतिको वा (शुक्रेण) अनन्तवीर्य्येण सह, भास्वरेण (शोचिषा) शुद्धिकारकेण प्रकाशेन (विश्वाभिः) सर्वाभिः (देवहूतिभिः) विदुषां वेदानां[4] वाग्भिराह्वानान्याहूतयस्ताभिः (इमम्) प्रत्यक्षम् (स्तोमम्) स्तुतिसमूहं, प्रशंसनीयकलाकौशलं (जुषस्व) प्रीत्या सेवस्व, जुषते वा (नः) अस्माकम् ।। १२ ।।

अन्वयः—हे अग्ने जगदीश्वर ! त्वं कृपया शुक्रेण शोचिषा विश्वाभिर्देवहूतिभिर्न इमं मं जुषस्व, इत्याद्यः ।।

अयम[ग्नेऽ]ग्निर्विश्वाभिर्देवहूतिभिः सम्यक् साधितः सन् शुक्रेण शोचिषा न इमं स्तोमं षस्व] जुषते, इति द्वितीयः ।। १२ ।।

अत्र श्लेषालङ्कारः ।

भावार्थः—विद्यानां विद्वानां प्रकाशकत्वाद् देवशब्देन वेदा गृह्यन्ते। यदा मनुष्यैः सत्य-वेन वेदवाण्या जगदीश्वरः स्तूयते, तदाऽयं प्रीतः संस्तान् विद्यादानेन प्रीणयति। अयं भौतिको-नरपि विद्यया कलाकौशलेन संप्रयोजित इन्धनादिस्थः सन् सर्वं क्रियाकाण्डं सेवते ।। १२ ।।

---

१. 'च' पद पूर्वमन्त्र से अनुवर्तमान है। २. इच्छा अर्थ में देता है, अर्थात् पूर्ण करता है।

३. एतद्गुणाः=पूर्वोक्तयोरीश्वरभौतिकयोरग्न्योः ।

४. देव शब्दस्य वेदरूपार्थनिर्देशाय भावार्थो द्रष्टव्यः ।

अस्य द्वादशसूक्तार्थस्याग्न्यर्थ[1]योजनेनैकादशसूक्तार्थेन सह सङ्गतिरस्तीति बोध्यम् ।

इदमपि सूक्तं सायणाचार्य्यादिभिर्यूरोपवासिभिर्विलासनादिभिश्चान्यथैव व्याख्यातम् ॥१२॥

इत्याद्ये मण्डले द्वादशं सूक्तं त्रयोविंशो वर्गश्च समाप्तः ॥

फिर भी अगले मन्त्र में उन्हीं दोनों के गुणों[2] का उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (अग्ने) प्रकाशमय ईश्वर ! आप कृपा करके (शुक्रेण) अनन्त-वीर्य के साथ (शोचिषा) शुद्धि करनेवाले प्रकाश, तथा (विश्वाभिः) सब (देवहूतिभिः) विद्वानों और वेदों[3] की वाणियों से सब प्राणियों के लिये (नः) हमारे (इमम्) इस प्रत्यक्ष (स्तोमम्) स्तुतिसमूह को (जुषस्व) प्रीति के साथ सेवन कीजिये ॥ १ ॥

यह (अग्ने) भौतिक अग्नि (विश्वाभिः) सब (देवहूतिभिः) विद्वान् तथा वेदों की वाणियों से अच्छी प्रकार सिद्ध किया हुआ (शुक्रेण) अपनी कान्ति वा (शोचिषा) पवित्र करनेवाले प्रकाश से (नः) हमारे (इमम्) इस (स्तोमम्) प्रशंसा करने योग्य कला की कुशलता को (जुषस्व) सेवन करता है ॥ २ ॥ १२ ॥

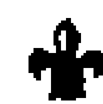
इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है।

भावार्थ—दिव्य विद्याओं के प्रकाशक होने से देव शब्द से वेदों का ग्रहण किया है। जब मनुष्य लोग सत्य प्रेम के साथ वेदवाणी से जगदीश्वर की स्तुति करते हैं, तब वह परमेश्वर उन मनुष्यों को विद्यादान से प्रसन्न करता है। यह भौतिक अग्नि भी विद्या से कलाकुशलता में युक्त किया हुआ इन्धन आदि पदार्थों में ठहर कर सब क्रियाकाण्ड का सेवन करता है ॥ १२ ॥

इस बारहवें सूक्त के अर्थ की अग्नि शब्द के अर्थ के योग से ग्यारहवें सूक्त के अर्थ से सङ्गति जाननी चाहिये ॥

यह भी सूक्त **सायणाचार्य्य** आदि आर्य्यावर्त्तवासी, तथा यूरोपवासी **विलसन** आदि ने विपरीतता से वर्णन किया है ॥ १२ ॥

यह बारहवां सूक्त, और तेईसवां वर्ग समाप्त हुआ ॥



अथास्य द्वादशर्चस्य त्रयोदशसूक्तस्य मेधातिथिः काण्व ऋषिः । १ इध्मः[4] समिद्धोऽग्निः; २ तनूनपात्; ३ नराशंसः; ४ इडः; ५ बर्हिः; ६ देवीर्द्वारः; ७ उषासानक्ता;

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु '०योजनैकादश०' इत्यपपाठः ।

२. वै० य० मुद्रित संस्करण १, २ में 'उन्हीं देवों का' पाठ छपा है। संस्करण ३, ४ में 'इन्हीं के गुणों का'। ३. देव शब्द के 'वेद' अर्थ के लिये भावार्थ देखें।

४. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु देवतानिर्देशेन सह मन्त्रसंख्या न निर्दिश्यते । सा चास्माभिरिह प्रवर्धिता ।

दैव्यौ होतारौ प्रचेतसौ; ९ सरस्वतीडाभारत्यस्तिस्रो देव्यः; १० त्वष्टा; ११ वनस्पतिः; १२ स्वाहाकृतयश्च द्वादश[1] देवताः । गायत्री[2] छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

तत्र तावत् परमेश्वरभौतिकाग्न्योर्गुणा उपदिश्यन्ते—

सुसमिद्धो न आ वह देवाँ अग्ने हविष्मते । होतः पावक यक्षि च ॥ १ ॥

सुऽसमिद्धः । नः । आ । वह । देवान् । अग्ने । हविष्मते ॥ होतरिति । पावक । यक्षि । च ॥ १ ॥

पदार्थः—(सुसमिद्धः) सम्यक् प्रदीपितः (नः) अस्मभ्यम् (आ) समन्तात् (वह) प्रापयसि, वहति प्रापयति वा । अत्र पक्षान्तरे पुरुषव्यत्ययः । (देवान्) दिव्यपदार्थान् विश्वेश्वर ! भौतिको वा (हविष्मते) बहूनि हवींषि विद्यन्ते यस्य तस्मै विदुषे । अत्र मतुप् । (होतः) दातः ! आदाता वा (पावक) पवित्रकारक ! पवित्रताहेतुर्वा यजामि । अत्राडभावो लुङ् आत्मनेपद उत्तमपुरुषस्यैकवचने प्रयोगो लडर्थे लुङ् च[3] । समुच्चये ॥ १ ॥

अन्वयः—हे होतः पावकाग्ने विश्वेश्वर ! यतः सुसमिद्धस्त्वं कृपया नोऽस्मभ्यं हविष्मते च नावह वहसि प्रापयसि, अतोऽहं भवन्तं नित्यं यक्षि यजामि, इत्येकः ॥

यतोऽयं [पावक] पावको [होतो] होता सुसमिद्धोऽ[ग्नेऽ]ग्निर्नोऽस्मभ्यं हविष्मते च ना[वहा]वहति समन्तात् प्रापयति, तस्मादेतमहं नित्यं यक्षि यजामि सङ्गतं करोमि, द्वितीयः ॥ १ ॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ।

भावार्थः—[4]यो मनुष्यो बहुविधां सामग्रीं संगृह्य यानादीनां वोढारमग्निं प्रयुङ्क्ते, तस्मै स विधसुखसम्पादनहेतुर्भवतीति ॥ १ ॥

---

१. यथाक्रममिति शेषः । इमां द्वादश देवता याज्ञिकपक्षानुरोधेन पूर्वाचार्यैरुक्ताः । एतासाम् 'आप्रियः' नामधेयम् । यास्क आप्रीणामिध्मादिदेवतानां व्याख्यानं नैरुक्तयाज्ञिकोभयविधमतसंग्रहेण कृतवान् । नतानां मते इमा आप्रियो देवता अग्निरेव इत्यपि तद्व्याख्यानेन विस्पष्टम् (द्र०—निरुक्त ८ । ४–२१) । भाष्यकारस्तु द्वादशदेवतानां क्वचित् समासेन क्वचित् भिन्नार्थेन च व्याख्यानं कृतवान् ।

२. सामान्येन । विशेषेण तु १, ६, १० गायत्री; ७, ८, ११, १२ पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री; निचृद्गायत्री ।

३. अस्मिन् व्याख्याने इट उदात्तत्वे प्राप्ते छान्दसत्वादाद्युदात्तत्वं द्रष्टव्यम् । सायणस्तु लोटि सिपि ख्यानं कृतवान् । तथाऽञ्जसा स्वरे सिद्धेऽपि छान्दसकार्यसंख्या तु समानैव ।

४. अयं भावार्थो भौतिकार्थपरः । एतेन प्रतीयते पूर्वं भाष्यकृता भौतिकाग्निपर एव मन्त्रो व्याख्यात सीत् । तदुत्तरमीश्वरपरमप्यस्य व्याख्यानं कृतवान् ।

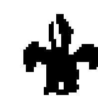
अब तेरहवें सूक्त के अर्थ का आरम्भ करते हैं। इसके प्रथम मन्त्र में परमेश्वर और भौतिक अग्नि के गुणों का उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (होतः) पदार्थों को देने और (पावक) शुद्ध करनेवाले (अग्ने) विश्व के ईश्वर ! जिस हेतु से (सुसमिद्धः) अच्छी प्रकार प्रकाशवान् आप कृपा करके (नः) हमारे (च) तथा (हविष्मते) जिसके बहुत हवि अर्थात् पदार्थ विद्यमान हैं उस विद्वान् के लिये (देवान्) दिव्य पदार्थों को (आवह) अच्छी प्रकार प्राप्त कराते हैं, इससे मैं आपका निरन्तर (यक्षि) सत्कार करता हूं ॥ १ ॥

जिससे यह (पावक) पवित्रता का हेतु, (होतः) पदार्थों का ग्रहण करने, तथा (सुसमिद्धः) अच्छी प्रकार प्रकाशवाला (अग्ने) भौतिक अग्नि (नः) हमारे (च) तथा (हविष्मते) उक्त पदार्थवाले विद्वान् के लिये (देवान्) दिव्य पदार्थों को (आवह) अच्छी प्रकार प्राप्त कराता है, इससे मैं उक्त अग्नि को कार्य्यसिद्धि के लिये नित्य (यक्षि) यानादि में युक्त करता हूं ॥ २ ॥ १ ॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है।

भावार्थ—जो[1] मनुष्य बहुत प्रकार की सामग्री को ग्रहण करके विमान आदि यानों में सब पदार्थों के प्राप्त करानेवाले अग्नि की अच्छी प्रकार योजना करता है, उस मनुष्य के लिये वह अग्नि नाना प्रकार के सुखों की सिद्धि करनेवाला होता है ॥ १ ॥



पुनः शरीरादिसंरक्षकाग्नेर्गुणा उपदिश्यन्ते—

मधुमन्तं तनूनपाद् यज्ञं देवेषु नः कवे । अद्या कृणुहि वीतये ॥ २ ॥

मधुऽमन्तम् । तनूऽनपात् । यज्ञम् । देवेषु । नः । कवे ॥ अद्य । कृणुहि । वीतये ॥ २ ॥

पदार्थः—(मधुमन्तम्) मधवः प्रशस्ता रसा विद्यन्ते यस्य, तम् (तनूनपात्) तनूनां शरीरौषध्यादीनामूनानि न्यूनान्युपाङ्गानि पाति रक्षति सः[2] । इमं शब्दं यास्कमुनिरेवं समाचष्टे— तनूनपादाज्यं भवति[3] । नपादित्यनन्तरायाः प्रजाया नामधेयं निर्णततमा भवति । गौरत्र तनूरुच्यते तता अस्यां भोगाः, तस्याः पयो जायते, पयस आज्यं जायते । अग्निरिति शाकपूणिः, आपोऽत्र तन्व उच्यन्ते तता अन्तरिक्षे, ताभ्य ओषधिवनस्पतयो जायन्ते, ओषधिवनस्पतिभ्य एष जायते।

---

१. यह भावार्थ भौतिकाग्निपरक है।

२. भाष्यकृत् तनूनपात् पदं त्रिभिरवयवैर्व्याचष्टे—तनूनामूनम् तनूनम्; तं पाति रक्षतीति तनूनपात्। अस्मिन् विग्रहे नुगागमश्छन्दसो द्रष्टव्यः। भाष्यकारोऽयं विविधेषु स्थानेषु विविधरूपेणास्य निर्वचनं दर्शयति। तत् तत्रस्थानं द्रष्टव्यम्।

३. इदं कात्थक्यमतम्। क्वचित् 'तनूनपादाज्यमिति कात्थक्यः' इत्यपि पाठः।

उ० ८। ५। (यज्ञम्) यजनीयम् (देवेषु) विद्वत्सु, दिव्येषु पदार्थेषु वा (नः) अस्माकम् कवे) कविः क्रान्तदर्शनः (अद्य) अस्मिन् दिने। अद्य[1] निपातस्य च। अ० ६। ३। १३५ सूत्रेण दीर्घः। (कृणुहि) करोति। अत्र [पुरुष]व्यत्ययः। कृवि हिंसाकरणयोश्चेत्यस्माल्लडर्थे ट्। उतश्च प्रत्ययाच्छन्दो वा वचनम्। अ० ६। ४। १०६ इति वार्त्तिकेन हेर्लुगभावः। प्राप्तये ॥ २ ॥

अन्वयः—यस्तनूनपात्[कवे] कविरग्निर् [अस्ति, स] देवेषु सुखस्य वीतयेऽद्य नो मधुमन्तं कृणुहि कृणोति ॥ २ ॥

भावार्थः—यदाऽग्नौ हविर्हूयते, तदैवायं वाय्वादीन् शुद्धान् कृत्वा शरीरौषध्यादीन् रयित्वाऽनेकविधान् रसान् जनयति। तैः शुद्धैर्भुक्तैश्च प्राणिनां विद्याज्ञानबलवृद्धिरपि जायत ते ॥ २ ॥

फिर भी अगले मन्त्र में शरीर आदि की रक्षा करनेवाले भौतिक अग्नि के गुण वर्णन ये हैं—

पदार्थान्वयभाषा—जो (तनूनपात्) शरीर तथा ओषधि आदि पदार्थों के न्यून अंशों की ता करने, और (कवे) सब पदार्थों का दिखानेवाला अग्नि है, वह (देवेषु) विद्वानों वा व्य पदार्थों में (वीतये) सुख प्राप्त होने के लिये (अद्य) आज (नः) हमारे (मधुमन्तम्) तम-उत्तम रसयुक्त (यज्ञम्) यज्ञ को (कृणुहि) सिद्ध करता है ॥ २ ॥

भावार्थ—जब अग्नि में सुगन्धि आदि पदार्थों का हवन होता है, तभी वह यज्ञ वायु आदि दार्थों को शुद्ध, तथा शरीर और ओषधि आदि पदार्थों की रक्षा करके अनेक प्रकार के रसों को पन्न करता है। उन शुद्ध पदार्थों के भोग से प्राणियों के विद्या ज्ञान और बल की वृद्धि भी ती है ॥ २ ॥



नरैः प्रशंसनीयस्य भौतिकाग्नेर्गुणा उपदिश्यन्ते—

न॒रा॒शंस॑मि॒ह प्रि॒यम॒स्मिन् य॒ज्ञ उप॑ ह्वये। मधु॑जिह्वं ह॒विष्कृत॑म् ॥ ३ ॥

न॒रा॒शंस॑म्। इ॒ह। प्रि॒यम्। अ॒स्मिन्। य॒ज्ञे। उप॑। ह्व॒ये॒ ॥ मधु॑ऽजिह्वम्। ह॒विः॒ऽकृत॑म् ॥ ३ ॥

पदार्थः—(नराशंसम्) नरैरभितः शस्यते प्रशस्यते तं सुखसमूहकारकम्। नराशंसो यज्ञ कात्थक्यः, नरा अस्मिन्नासीनाः शंसन्ति। अग्निरिति[2] शाकपूणिः, नरैः प्रशस्यो भवति।

१. 'अद्य' शब्दं चादिगणे वर्धमानः स्वगणरत्नमहोदधौ पठति (द्र०—ग०र०म० पृष्ठ १४ पं० १०, ग्रवा संस्करण)। सायणाचार्यस्तु प्रकृतमन्त्रे निपाताभावमुररीकृत्य 'अन्येषामपि दृश्यते' (अ० ६।३।१३६) त्यनेन दीर्घत्वमाह। उत्तरत्र ऋ० १। ३४। १ मन्त्रव्याख्याने 'निपातस्य चेति संहितायां दीर्घः' इत्याह। स्य स्ववचोविरोधादेकतरं व्याख्यानं चिन्त्यम्।

२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'अग्निमिति' अपपाठः।

निरु० ८ । ६ । (इह) अस्मद्भोगविषये संसारे (प्रियम्) प्रीणाति सर्वान् प्राणिनस्तम् (अस्मिन्) प्रत्यक्षे (यज्ञे) यष्टव्ये (उप) उपगतभोगद्योतने (ह्वये) उपतापये (मधुजिह्वम्) मधुरगुणसंपादिका जिह्वा ज्वाला यस्य तम् । जिह्वा जोहुवा । निरु० ५ । २६ । काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा । स्फुलिङ्गिनी विश्वरूपी[1] च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥ इति मुण्डकोपनि० मुण्डक १ । खं० २ । मं० ४ । (हविष्कृतम्) हविर्भिः क्रियते तम् । अत्र वर्त्तमानकाले कर्मण्यौणादिकः क्तः [2]प्रत्ययः ॥ ३ ॥

अन्वयः—अहमस्मिन् यज्ञे इह संसारे च हविष्कृतं मधुजिह्वं प्रियं नराशंसमग्निमुपह्वय उपगम्योपतापये ॥ ३ ॥

भावार्थः—योऽयं भौतिकोऽग्निरस्मिन् जगति [होमनिमित्तं][3] युक्त्या सेवितः प्राणिनां प्रियकारी भवति, यस्याऽग्नेः सप्त जिह्वाः सन्ति । काली—शुक्लादिवर्णप्रकाशिका[4], कराली—दुःसहा, मनोजवा—मनोवद्वेगवती, सुलोहिता—शोभनो लोहितो रक्तो वर्णो यस्याः सा, सुधूम्रवर्णा—शोभनो धूम्रो वर्णो यस्याः सा, स्फुलिङ्गिनी—बहवः स्फुलिङ्गाः कणा विद्यन्ते यस्यां सा । अत्र भूम्न्यर्थ इनिः । विश्वरूपी—विश्वं सर्वं रूपं यस्याः सा, इति सप्तविधा । पुनः सा किंभूता—देवी—देदीप्यमाना, लेलायमाना—लेलायति सर्वत्र प्रकाशयति या सा । अत्र 'लेला दीप्तौ' इत्यस्मात् [5]कण्ड्वादित्वाद्यक्, व्यत्ययेनात्मनेपदं च । सा जिह्वाऽर्थाज्जोहुवा पुनः पुनः सर्वान् पदार्थान् जुहोत्यादत्तेऽसाविति ॥ ३ ॥

अब अगले मन्त्र में मनुष्यों के प्रशंसा करने योग्य भौतिक अग्नि के गुणों का उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—मैं (अस्मिन्) इस (यज्ञे) अनुष्ठान करने योग्य यज्ञ तथा (इह) संसार में (हविष्कृतम्) जो कि होम करने योग्य पदार्थों से प्रदीप्त किया जाता है, और (मधुजिह्वम्) जिसकी [मधुर गुणवाली] काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिङ्गिनी और विश्वरूपी ये अति प्रकाशमान चपल ज्वालारूपी जीभें हैं, जो (प्रियम्) सब जीवों को प्रीति देनेवाला, और (नराशंसम्) जिसकी मनुष्य [बहुविध] प्रशंसा करते हैं, उस [सुखसमूह] के प्रकाश करनेवाले अग्नि को (उपह्वये) समीप प्रज्वलित करता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो भौतिक अग्नि इस संसार में होम के निमित्त युक्ति से ग्रहण किया हुआ प्राणियों की प्रसन्नता करानेवाला है, जिस अग्नि को सात जीभें हैं, अर्थात् काली—जोकि सुपेद आदि रङ्ग का प्रकाश करनेवाली, कराली—सहने में कठिन, मनोजवा—मन के समान वेगवाली, सुलोहिता—जिसका उत्तम रक्तवर्ण है, सुधूम्रवर्णा—जिसका सुन्दर धुएं का सा वर्ण है,

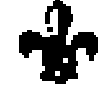
१. सम्प्रति 'विश्वरुची' इति प्रायेण पाठ उपलभ्यते ।

२. अञ्जिघृसिभ्यः क्तः (उ० ३ । ८९) इत्यनेन विहितो बाहुलकात् कर्मणोऽपि भवति ।

३. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु प्रमादान्नष्टम्, भाषायां दृश्यते ।

४. 'सुधूम्रवर्णा' इत्यनेन कृष्णवर्णस्योक्तत्वात् पुनरुक्तदोषपरिहाराय 'कल संख्याने' इति धात्वर्थमाश्रित्योक्तम्—शुक्लादिवर्णप्रकाशिकेत्युक्तम् । ५. कण्ड्वादिभ्यो यक् (अ० ३ । १ । २७) ।

स्फुलिङ्गिनी—जिसमें बहुत से चिनगे उठते हैं, तथा विश्वरूपी—जिसका सब रूप हैं। ये देवी अर्थात् अतिशय करके प्रकाशमान, और लेलायमाना—सब का प्रकाश करनेवाली सात प्रकार की जिह्वा हैं, अर्थात् सब पदार्थों को ग्रहण करनेवाली होती हैं। इस उक्त सात प्रकार की अग्नि की जीभों से सब पदार्थों में उपकार लेना चाहिये ॥ ३ ॥



स एवमुपकृतः किंहेतुको भवतीत्युपदिश्यते—

अग्ने॑ सु॒खत॑मे॒ रथे॑ दे॒वाँ ई॑ळि॒त आ व॑ह । असि॒ होता॒ मनु॑र्हितः ॥ ४ ॥

अग्ने॑ । सु॒खऽत॑मे । रथे॑ । दे॒वान् । ई॒ळि॒तः । आ । व॒ह ॥ असि॑ । होता॑ । [1]मनुः॑ऽहितः ॥ ४ ॥

पदार्थः—(अग्ने) भौतिकोऽयमग्निः (सुखतमे) अतिशयितानि सुखानि यस्मिन् (रथे) गमनहेतौ रमणसाधने विमानादौ (देवान्) विदुषो भोगान् वा (ईडितः) मनुष्यैरध्येषितोऽधिष्ठितः (आ) समन्तात् (वह) वहति प्रापयति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (असि) अस्ति (होता) सुखदाता [2](मनुर्हितः) विद्वद्भिः क्रियासिद्ध्यर्थं यो मन्यते, [स] हितः धृतः सन् हितकारी ॥ ४ ॥

अन्वयः—मनुष्यैर्यो [ऽग्ने]ऽग्नि[3] र्होतेडितोऽ[स्य]स्ति, स सुखतमे रथे [मनुर्]हितः[विद्वद्भिर्मननीयः] स्थापितः सन् देवानावह समन्ताद्वहति देशान्तरं प्रापयति ॥ ४ ॥

---

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'मनुः । हितः ।' इत्येवमपपाठः । उत्तरत्र (ऋ० १ । १४ । ११; १ । १०६ । ५; ६ । १६ । ६) सर्वत्र वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु पदमिदं यथावत् साधुरूपमुपलभ्यते । तस्मादत्रापि तथैवैकपद्यं युक्तम् ।

२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु '(मनुः) विद्वद्भिः क्रियासिद्ध्यर्थं यो मन्यते (हितः) धृतः सन् हितकारी' इत्येवं पाठ उपलभ्यते । अयं लिपिकरादिप्रमादैरपपाठत्वं गत इति प्रतीयते । उत्तरत्र (ऋ० १ । १४ । ११; १ । १०६ । ५; ६ । १६ । ६) सर्वत्रैकपद्यमाश्रित्य भाष्यकृतो व्याख्यानस्योपलम्भात् । वेदार्थकोषसम्पादकेन पण्डितचमूपतिना स्वीये कोषे (भाग २, पृष्ठ ३२७) अस्य शोधनमित्थं निर्दर्शितम्—'मनुः विद्वद्भिः क्रियासिद्ध्यर्थं यो मन्यते, हितः धृतः स हितकारी' इति ।

अत्र सायणाचार्यो । 'मनुर्हितः' इत्यस्य स्वरमित्थं प्रदर्शयति—'मनुना हित इति तृतीयासमासे तृतीयायाः स्थाने सुपां सुलुक्० (अ० ७ । १ । ३९) इत्यादिना स्वादेशः, तस्य रुत्वम्, लुगभावश्छान्दसः । तृतीया कर्मणि (अ० ६ । २ । ४८) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च ।' एवं वचनं स्ववचोविरोधात् अनावश्यकछान्दसकार्याश्रयणगौरवाच्च चिन्त्यम् । सायणः स्वयमनुपदमेव वक्ष्यति—'मनुषा हितो मनुर्हितः......तृतीया कर्मणि (अ० ६ । २ । ४८) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् (ऋग्भाष्य १ । १४ ११) । उसिप्रत्ययान्ते षकारान्ते 'मनुष्'शब्दे स्वीकृते सति न किञ्चिदवकल्पनीयं कल्पनीयं भवति । प्रयोगसिद्धिरञ्जसा सम्पद्यते । प्रकृतभाष्ये स्वरश्छान्दसः कल्पनीयः ।

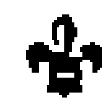
३. वै० य० मुद्रिते चतुर्थ संस्करणे भाषार्थमनुसृत्यैतोऽग्रे कोष्ठके '[मनु]' इत्येवं पाठः परिवर्धितः ।

भावार्थः—मनुष्यैर्बहुकलासमन्वितो भूजलान्तरिक्षगमनहेतुरग्निर्जलादिना सह संप्रयोजितस्त्रीविधे रथे हितकारी सुखतमो भूत्वा बहुकार्य्यसिद्धिप्रापको भवतीति बोध्यम् ।। ४ ।।

उक्त अग्नि इस प्रकार उपकार में लिया हुआ किसका हेतु होता है, सो उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—[मनुष्यों से] जो (अग्ने) भौतिक अग्नि[1] (होता) सब सुखों का देनेवाला, और (ईडितः) [2]मनुष्यों से कलायन्त्रों में प्रेरित वा नियन्त्रित (असि) है, वह (सुखतमे) अत्यन्त सुख देने, तथा (रथे) गमन और विहार करानेवाले विमान आदि सवारियों में (मनुर्हितः) [विद्वानों से ज्ञानपूर्वक] स्थापित किया हुआ (देवान्) [विद्वानों वा] दिव्य भोगों को (आवह) अच्छे प्रकार देशान्तर में प्राप्त कराता है ।। ४ ।।

भावार्थ—मनुष्यों के द्वारा बहुत कलाओं से संयुक्त, पृथिवी जल और अन्तरिक्ष में गमन का हेतु अग्नि, जल आदि पदार्थों से संयुक्त [किया हुआ] तीन प्रकार के रथों में कल्याणकारक तथा अत्यन्त सुख देनेवाला होकर बहुत उत्तम कार्य्यों की सिद्धि को प्राप्त करानेवाला होता है ।।४।।



पुनः स एवं संप्रयुक्तः किं करोतीत्युपदिश्यते—

स्तृणीत बर्हिरानुषग् घृतपृष्ठं मनीषिणः । यत्रामृतस्य चक्षणम् ।।५।।

स्तृणीत । बर्हिः । आनुषक् । घृतऽपृष्ठम् । मनीषिणः ।। यत्र । अमृतस्य । चक्षणम् ॥ ५ ॥

पदार्थः—(स्तृणीत) आच्छादयत (बर्हिः) अन्तरिक्षम् (आनुषक्) अभितो यदनुषक्तं तत् (घृतपृष्ठम्) घृतमुदकं पृष्ठे यस्मिँस्तत् (मनीषिणः) मेधाविनो विद्वांसः । मनीषीति मेधाविनामसु पठितम् । निघं० ३ । १५ । (यत्र) यस्मिन्नन्तरिक्षे (अमृतस्य) उदकसमूहस्य । अमृतमित्युदकनामसु पठितम् । निघं० १ । १२ । (चक्षणम्) दर्शनम् । 'चक्षिङ् दर्शने' इत्यस्माल्ल्युटि प्रत्यये परे असनयोश्च । अ० २ । ४ । ५४ इति वार्त्तिकेन ख्याञादेशाभावः ।। ५ ।।

अन्वयः—हे मनीषिणः ! यत्रामृतस्य चक्षणं वर्त्तते, तदानुषग्घृतपृष्ठं बर्हिः स्तृणीताच्छादयत ।। ५ ।।

भावार्थः—विद्वद्भिरग्नौ यद् घृतादिकं प्रक्षिप्यते, तदन्तरिक्षानुगतं भूत्वा तत्रस्थस्य जलसमूहस्य शोधकं जायते । तच्च सुगन्ध्यादिगुणैः सर्वान् पदार्थानाच्छाद्य सर्वान् प्राणिनः सुखयुक्तान् सद्यः संपादयतीति ।। ५ ।।

---

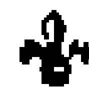
१. वै० य० मुद्रित संस्करणों में इसके आगे 'मनुर्हितः' पद के एकदेश का व्याख्यान '(मनुः) विद्वान् लोग जिसे मानते हैं तथा' मिलता है । यह पाठ अयुक्त है । विशेष विचार संस्कृत टिप्पणी में दर्शाया है ।

२. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'मनुष्यों को स्तुति करने योग्य' पाठ संस्कृतपदार्थ तथा भाष्यकार के सिद्धान्त से विपरीत है ।

फिर वह भौतिक अग्नि उक्त प्रकार से क्रिया में प्रयुक्त किया हुआ क्या करता है, सो अगले मन्त्र में उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (मनीषिणः) बुद्धिमान् विद्वानो ! (यत्र) जिस अन्तरिक्ष में (अमृतस्य) जलसमूह का (चक्षणम्) दर्शन होता है, उस (आनुषक्) चारों ओर से घिरे, और (घृतपृष्ठम्) जल से भरे हुए (बर्हिः) अन्तरिक्ष को (स्तृणीत) होम के धूम से आच्छादन करो, उसी अन्तरिक्ष में अन्य भी बहुत पदार्थ जल आदि को जानो ॥ ५ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग अग्नि में जो घृत आदि पदार्थ छोड़ते हैं, वे अन्तरिक्ष को प्राप्त होकर वहां के ठहरे हुए जल को शुद्ध करते हैं। और वह शुद्ध हुआ जल सुगन्धि आदि गुणों से सब पदार्थों को आच्छादन करके सब प्राणियों को सुखयुक्त करता है ॥ ५ ॥



अथ[1] [गृहं] यज्ञशाला यानानि चानेकद्वाराणि रचनीयानीत्युपदिश्यते—

वि श्रयन्तामृताधृधो द्वारो देवीरसश्चतः । अद्या नूनं च यष्टवे ॥ ६ ॥

वि । श्रयन्ताम् । ऋतऽवृधः । द्वारः । देवीः । असश्चतः ॥ अद्य । नूनम् । च । यष्टवे ॥ ६ ॥

पदार्थः—(वि) विविधार्थे (श्रयन्ताम्) सेवन्ताम् (ऋतावृधः) या ऋतं सत्यं सुखं जलं वा वर्धयन्ति ताः । अत्र अन्येषामपि० । [अ० ६ । ३ । १३६] इति दीर्घः । (द्वारः) द्वाराणि (देवीः) द्योतमानाः । अत्र वा छन्दसि [अ० ६ । १ । १०२] इति जसः पूर्वसवर्णत्वम् । (असश्चतः) विभागं प्राप्ताः । अत्र सस्ज गतौ इत्यस्य व्यत्ययेन जकारस्य चकारः । (अद्य) अस्मिन्नहनि । अत्र निपातस्य च [अ० ६ । ३ । १३५] इति दीर्घः । (नूनम्) निश्चये (च) समुच्चये (यष्टवे) यष्टुम् । अत्र 'यज'धातोस्तवेन् प्रत्ययः ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे मनीषिणः ! अद्य [च सर्वदा] यष्टवे गृहादेरसश्चत ऋतावृधो देवीर्द्वारो नूनं विश्रयन्ताम् ॥ ६ ॥

भावार्थः—मनुष्यैरनेकद्वाराणि गृहयज्ञशालायानानि रचयित्वा तत्र स्थितिं हवनं गमनागमने च कर्त्तव्ये ॥ ६ ॥

[इति] चतुर्विंशो वर्गः समाप्तः ॥

अब अगले मन्त्र में घर यज्ञशाला और विमान आदि रथ अनेक द्वारों के सहित बनाने चाहियें, इस विषय का उपदेश किया है—

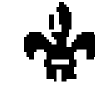
पदार्थान्वयभाषा—हे बुद्धिमान् विद्वानो ! (अद्य) आज [(च) और सब कालों में] (यष्टवे) यज्ञ करने के लिये घर आदि के (असश्चतः) अलग-अलग, (ऋतावृधः)

१. वै० य० मुद्रिते चतुर्थसंस्करणेऽत्र कोष्ठके '[गृह]' इत्यविभक्त्यन्तः पाठः परिवर्धितः ।

सत्य सुख और जल की वृद्धि करनेवाले, तथा (देवीः) प्रकाशित (द्वारः) दरवाजों का (नूनम्) निश्चय से (विश्रयन्ताम्) सेवन करो, अर्थात् अच्छी रचना से उनको बनाओ ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को अनेक प्रकार के द्वारों वाले घर, यज्ञशाला और विमान आदि यानों को बनाकर उनमें स्थिति, होम और देशान्तर में जाना आना करना चाहिये ॥ ६ ॥

यह चौबीसवां वर्ग समाप्त हुआ ॥



तत्रैतेनाहोरात्रे[1] सुखं भवतीत्युपदिश्यते—

नक्तोषसा सुपेशसाऽस्मिन् यज्ञ उप ह्वये । इदं नो बर्हिरासदे ॥ ७ ॥

नक्तोषसा । सुऽपेशसा । अस्मिन् । यज्ञे । उप । ह्वये ॥ इदम् । नः । बर्हिः । आऽसदे ॥ ७ ॥

पदार्थः—(नक्तोषसा) नक्तं चोषाश्चाहश्च रात्रिश्च ते । अत्र सुपां सुलुग्० [अ० ७ । १ । ३९] **इति ओकारस्थाने आकारादेशः** । नक्तमिति रात्रिनामसु पठितम् । निघं० १ । ७ । उषासानक्तोषाश्च नक्ता च, उषा व्याख्याता, नक्तेति रात्रिनामानक्ति भूतान्यवश्यायेनापि वा नक्ता व्यक्तवर्णा । निरु० ८।१०। (सुपेशसा) **शोभनं सुखदं पेशो रूपं ययोस्ते । अत्र पूर्ववदाकारादेशः ।** पेश इति रूपनामसु पठितम् । निघं० ३ । ७ । (अस्मिन्) **प्रत्यक्षे गृहे (यज्ञे) सङ्गते कर्त्तव्ये (उप) सामीप्ये (ह्वये) स्पर्द्धे (इदम्) प्रत्यक्षम् (नः) अस्माकम् (बर्हिः)** निवासप्रापकं **स्थानम्** । बर्हिरिति पदनामसु पठितम् । निघं० ५ । २ । **अतः प्राप्त्यर्थो गृह्यते । (आसदे) समन्तात्सीदन्ति प्राप्नुवन्ति सुखानि यस्यां साऽऽसत्तस्यै** ॥ ७ ॥

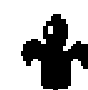
अन्वयः—**अहमस्मिन् गृहे** यज्ञे [सुपेशसा] **सुपेशसौ** [नक्तोषासा] **नक्तोषसावुपह्वय उपस्पर्द्धे । यतो** नोऽस्माकमिदं बर्हिरासदे **भवेत्** ॥ ७ ॥

भावार्थः—मनुष्यैरत्र विद्ययोपकृतेऽहोरात्रे[2] सर्वप्राणिनां सुखहेतू भवत इति बोध्यम् ॥७॥

उक्त कर्म से दिनरात सुख होता है, सो अगले मन्त्र में प्रकाशित है—

पदार्थान्वयभाषा—मैं (अस्मिन्) इस घर, तथा (यज्ञे) सङ्गत करने योग्य कर्मों में (सुपेशसा) अच्छे सुखद रूपवाले (नक्तोषसा) रात्रिदिन को (उपह्वये) उपकार में लाता हूं । जिस कारण (नः) हमारा (बर्हिः) निवासस्थान (आसदे) सुख की प्राप्ति के लिये हो ॥७॥

भावार्थ—मनुष्यों को [जानना] उचित है कि इस संसार में विद्या से सदैव उपकार लिये हुए, रात्रि और दिन सब प्राणियों के सुख के हेतु होते हैं ॥ ७ ॥



---

१. एतद्विषयेऽस्यैव मन्त्रस्य भावार्थे टिप्पणी द्रष्टव्या ।

२. पाणिनिना 'हेमन्तशिशिरावहोरात्रे च च्छन्दसि' (अ० २ । ४ । २८) इत्यनेन छन्दसि नपुंसकत्वं, 'रात्राह्नाहाः पुंसि' (अ० २ । ४ । २९) इत्यनेन च लोके पुंस्त्वमुक्तम् । तथापि क्वचिच्छान्दसा अपि भाषायां प्रयुज्यन्ते, इत्युत्सर्गेण लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य इति महाभाष्यकारनिर्दिष्टेन पथा नपुंसकप्रयोगो ज्ञेयः ।

तत्र शोधकौ प्रसिद्धाप्रसिद्धावग्नी उपदिश्येते—

ता सुजिह्वा उप ह्वये होतारा दैव्या कवी । यज्ञं नो यक्षतामिमम् ॥८॥

ता । सुऽजिह्वौ । उप । ह्वये । होतारा । दैव्या । कवी इति ॥ यज्ञम् । नः । यक्षताम् । इमम् ॥८॥

पदार्थः—(ता) तौ । अत्र सर्वत्र द्वितीयाया द्विवचनस्य स्थाने सुपां सुलुग्० [अ० ७ । ३९] इत्याच् आदेशः । (सुजिह्वौ) शोभनाः पूर्वोक्ताः सप्त जिह्वा ययोस्तौ (उप) सामीपगमनार्थे (ह्वये) स्पर्द्धे (होतारा) आदातारौ (दैव्या) दिव्येषु पदार्थेषु भवौ । देवाद्यञञौ । ४ । १ । ८५ इति वार्त्तिकेन प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु यञ् प्रत्ययः । (कवी) क्रान्तदर्शनौ (यज्ञम) हवनशिल्पविद्यामयम् (नः) अस्माकम् (यक्षताम्) यजतः संगमयतः । अत्र सिब्बहुलं लेटि [अ० ३ । १ । ३४] इति बहुलग्रहणाल्लोटि प्रथमपुरुषस्य द्विवचने शपः पूर्वं सिप् । (इमम्) प्रत्यक्षम् ॥ ८ ॥

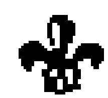
अन्वयः—अहं क्रियाकाण्डाऽनुष्ठातास्मिन् गृहे यौ नोऽस्माकमिमं यज्ञं यक्षतां संगमयतः, तौ [सुजिह्वा] सुजिह्वौ [होतारा] होतारौ कवी दैव्यावुपह्वये सामीप्ये स्पर्द्धे ॥ ८ ॥

भावार्थः—यथैका विद्युद्वेगाद्यनेकदिव्यगुणयुक्ताऽस्त्येवं प्रसिद्धोऽग्निरपि वर्त्तते । एतौ सकलपदार्थदर्शनहेतू अग्नी सम्यङ् नियुक्तौ शिल्पाद्यनेककार्य्यसिद्धिहेतू भवतः, तस्मादेताभ्यां मनुष्यैः सर्वोपकारा ग्राह्या इति ॥ ८ ॥

अब अगले मन्त्र में उन अग्नियों का उपदेश किया है कि जो शुद्ध करनेवाले विद्युद्रूप से प्रसिद्ध और प्रत्यक्ष स्थूलरूप से प्रसिद्ध हैं—

पदार्थान्वयभाषा—मैं क्रियाकाण्ड का अनुष्ठान करनेवाला इस घर में जो (नः) हमारे (इमम्) प्रत्यक्ष (यज्ञम्) हवन वा शिल्पविद्यामय यज्ञ को (यक्षताम्) प्राप्त करते हैं, [(ता)] उन (सुजिह्वौ) सुन्दर पूर्वोक्त सात जीभवाले, (होतारा) पदार्थों का ग्रहण करने, (कवी) सब दर्शन देने, और (दैव्या) दिव्य पदार्थों में रहनेवाले प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध अग्नियों को (उपह्वये) समीप से उपकार में लाता हूं ॥ ८ ॥

भावार्थ—जैसे एक बिजुली वेग आदि अनेक दिव्य गुणवाला अग्नि है, इसी प्रकार प्रसिद्ध अग्नि भी है । ये दोनों सकल पदार्थों के देखने में [हेतुरूप अग्नियां] अच्छे प्रकार क्रियाओं में नियुक्त की हुई शिल्प आदि अनेक कार्य्यों की सिद्धि में हेतु होती हैं । इसलिये इन से मनुष्यों को सब उपकार लेने चाहियें ॥ ८ ॥



तत्र त्रिधा क्रिया प्रयोज्येत्युपदिश्यते—

इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः । बर्हिः [1]सीदन्त्वस्रिधः ॥९॥

इळा । सरस्वती । मही । तिस्रः । देवीः । मयःऽभुवः ॥ बर्हिः । सीदन्तु । अस्रिधः ॥ ९ ॥

१. वै० य० मुद्रितेषु सर्वसंस्करणेषु 'सीदन्तु अस्रिधः' इत्यपपाठ दृश्यते ।

पदार्थः—(इडा) ईड्यते स्तूयतेऽनया सा वाणी। इडेति वाङ्नामसु पठितम्। निघ० १।११। अत्र 'ईड' धातोः कर्मणि बाहुलकादौणादिकोऽन्[1] प्रत्ययो ह्रस्वत्वं च। वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति [महा० १।४।६] इति गुणादेशाभावश्च[2]। अत्र सायणाचार्य्येण टाप चैव हलन्तानामित्यशास्त्रीयवचनस्वीकारादशुद्धमेवोक्तम्[3]। (सरस्वती) सरो बहुविधं विज्ञानं विद्यते यस्याः सा। अत्र भूम्न्यर्थे मतुप् (मही) महती पूज्या नीतिर्भूमिर्वा (तिस्रः) त्रिप्रकारकाः (देवीः) देदीप्यमाना दिव्यगुणहेतवः। अत्र वा छन्दसि [अ० ६।१।१०२] इति जसः पूर्वसवर्णत्वम्। (मयोभुवः) या मयः सुखं भावयन्ति ताः। मय इति सुखनामसु पठितम्। निघं० ३।६। (बर्हिः) [4]प्रति गृहादिकम्। बर्हिरिति पदनामसु पठितम्। निघं० ५।२। तस्मादत्र ज्ञानार्थो गृह्यते। (सीदन्तु) सादयन्तु। अत्रान्तर्गतो ण्यर्थः। (अस्रिधः) अहिंसनीयः ॥९॥

अन्वयः—हे विद्वांसः! भवन्त इडा सरस्वती मह्यस्रिधो मयोभुवस्तिस्रो देवीर्बर्हिः प्रतिगृहादिकं सीदन्तु सादयन्तु ॥ ९ ॥

भावार्थः—मनुष्यैरिडापठनपाठनप्रेरिका सरस्वती ज्ञानप्रकाशिकोपदेशाख्या मही सर्वथा पूज्या कुतर्केण ह्यखण्डनीया सर्वसुखा [वाणीर्] नीतिश्चेति त्रिविधा सदा स्वीकार्य्या। यतः खल्वविद्यानाशो विद्याप्रकाशश्च भवेत् ॥ ९ ॥

वहां तीन प्रकार की क्रिया का प्रयोग करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे विद्वानो! तुम लोग एक (इडा) जिससे स्तुति की जाती है, दूसरी (सरस्वती) जिसमें अनेक प्रकार का विज्ञान है, और तीसरी (मही) बड़ी पूजनीय नीति है, जो (अस्रिधः) हिंसारहित और (मयोभुवः) सुखों का सम्पादन करानेवाली (तिस्रः) तीन प्रकार की (देवीः) प्रकाशवान्, तथा दिव्य गुणों को सिद्ध कराने में हेतुरूप वाणी [और नीति] है, उसको (बर्हिः) घर-घर के प्रति (सीदन्तु) यथावत् प्रकाशित करो ॥९॥

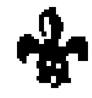
१. निलशेरन लो लोपश्च (उ० ५।३३) इत्यनेन विहितोऽन्प्रत्ययः।

२. इह ह्रस्वत्वविधानसामर्थ्यादेव गुणो न भविष्यति, किं गुणाभावविधानेन, इति चेन्न, 'यस्य विधेर्निमित्तं नासौ विधानसामर्थ्याद् बाध्यते' (द्र०—व्याडिपरिभाषासूचन सं० ४९) इति नियमेन न ह्रस्वादेशेन गुणः शक्यते बाधितुम्। यतो हि ईडो ह्रस्वादेशे कृतएव लघूपधगुणः प्राप्नोति, नाकृते। अतो उभे अपि कार्ये वक्तव्ये एव।

३. पाणिनीयसम्प्रदाये हलन्तात् स्त्रियां टापोऽनुपलत्वादशुद्धत्वमुक्तम्। भागुर्यादीनां प्राचीनानां मते हलन्तादाप् स्त्रियां विहित आसीत, न टाप। तथा च तेषां वचनम्—'आपं चैव हलन्तानाम्'।४।१।१ महाभाष्यात् प्रतीयते यत्केचन आचार्या उष्णिहा देवविशा इत्यादिषु हलन्तेभ्य टापमिच्छन्ति स्म। अपरे पुनस्तेषां पुंसि अकारान्तरूपं निष्पाद्य ततष्टाप् विदधति स्म।

४. 'प्रति विज्ञानम्' इति भूतपूर्वः पाठः। अनेनैव च भूतपूर्वपाठेन संबद्धोत्तरा पङ्क्तिः—'बर्हिरिति··· गृह्यते'। 'विज्ञान'स्थाने 'गृहादिकं' परिवर्तने कृते उत्तरा 'बर्हिरिति ···· गृह्यते' पङ्क्तिरसम्बन्धा बभूव। अत इयं भूतपूर्वपाठसंबद्धेति कृत्वा निष्काशनार्हा समजायत।

भावार्थ—मनुष्यों को 'इडा' जो कि पठन-पाठन की प्रेरणा देनेहारी, 'सरस्वती' जो उपदेश-ान का प्रकाश करने, और 'मही' जो सब प्रकार से प्रशंसा करने योग्य, और कुतर्क इन करने के अयोग्य, तथा सब सुख से युक्त तीनों प्रकार की वाणी और नीति सदैव स्वीकार चाहिये । जिससे निश्चलता से अविद्या का नाश [और विद्या का प्रकाश होवे] ॥ ९ ॥



पुनस्तत्र किं किं कार्य्यमित्युपदिश्यते—

इह त्वष्टारमग्रियं विश्वरूपमुप ह्वये । अस्माकमस्तु केवलः ॥ १० ॥

इह । त्वष्टारम् । अग्रियम् । विश्वऽरूपम् । उप । ह्वये ॥ अस्माकम् । अस्तु । केवलः ॥ १० ॥

पदार्थः—(इह) अस्यां शिल्पविद्यायामस्मिन् गृहे[1] वा (त्वष्टारम्) दुःखानां छेदकं सर्व-र्थानां विभाजितारं वा (अग्रियम्) सर्वेषां वस्तूनां साधनानां वा अग्रे भवम् । घच्छौ च । ४ । ४ । ११७ इति सूत्रेण भावार्थे घः प्रत्ययः । (विश्वरूपम्) विश्वस्य रूपं यस्मिन् ात्मनि वा विश्वः सर्वो रूपगुणो यस्य तम् (उप) सामीप्ये (ह्वये) स्पर्द्धे (अस्माकम्) सकानां हवनशिल्पविद्यासाधकानां वा (अस्तु) भवतु भवति [वा] । अत्र पक्षे व्यत्ययः । (केवलः) एवेष्टोऽसाधारणसाधनो वा ॥ १० ॥

अन्वयः—अहं यं विश्वरूपमग्रियं त्वष्टारमग्निं परमात्मानमिहोपह्वये सम्यक् स्पर्द्धे, स ऽस्माकं केवल इष्टोऽस्तु, इत्येकः ॥

अहं यं विश्वरूपमग्रियं त्वष्टारं भौतिकमग्निमिहोपह्वये, सोऽस्माकं केवलोऽसाधारण-ानोऽस्तु भवति, इति द्वितीयः ॥ १० ॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ।

भावार्थः—मनुष्यैरनन्तानन्दप्रद ईश्वर एवोपास्योऽस्ति । तथाऽयमग्निः सर्वपदार्थच्छेदको गुणः सर्वद्रव्यप्रकाशकोऽनुत्तमः शिल्पविद्याया अद्वितीयसाधनोऽस्माकं यथावदुपयोक्तव्योऽस्तीति ाव्यम् ॥ १० ॥

फिर यहां क्या-क्या करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—मैं जिस (विश्वरूपम्) सर्वव्यापक, (अग्रियम्) सब वस्तुओं के पूर्व विद्यमान, तथा (त्वष्टारम्) सब दुःखों के नाश करनेवाले परमात्मा को (इह) इस में (उपह्वये) अच्छी प्रकार आह्वान करता हूं, वही (अस्माकम्) उपासना करनेवाले लोगों का (केवलः) एक ही इष्ट और स्तुति करने योग्य (अस्तु) हो ॥१॥

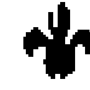
मैं जिस (विश्वरूपम्) सब रूप गुणवाले, (अग्रियम्) सब साधनों में उत्तम, तथा त्वष्टारम्) सब पदार्थों को अपने तेज से अलग-अलग करनेवाले भौतिक अग्नि को (इह)

१. हृदय-मन्दिरे इति भावः । २. अर्थात् हृदय-मन्दिर में ।

इस शिल्पविद्या में (उपह्वये) युक्त करता हूं, वह (अस्माकम्) हवन तथा शिल्पविद्या के सिद्ध करनेवाले हम लोगों का (केवलः) अत्युत्तम साधन (अस्तु) होता है ॥ २ ॥ १० ॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ।

भावार्थ—मनुष्यों को अनन्त सुख देनेवाले ईश्वर ही की उपासना करनी चाहिये । तथा जो यह भौतिक अग्नि सब पदार्थों का छेदन करने, सब रूप गुण और पदार्थों का प्रकाश करने, तथा सबसे उत्तम, और हम लोगों की शिल्पविद्या का अद्वितीय साधन है, उसका उपयोग शिल्पविद्या में यथावत् करना चाहिये ॥ १० ॥



सोऽग्निः केन प्रदीप्तः सन्नेतत्कार्य्यं साधयतीत्युपदिश्यते—

अव॑ सृजा वनस्पते॒ देव॑ दे॒वेभ्यो॑ ह॒विः । प्र दा॒तुर॑स्तु॒ चेत॑नम् ॥ ११ ॥

अव॑ । सृ॒ज॒ । व॒न॒स्प॒ते॒ । देव॑ । दे॒वेभ्यः॑ । ह॒विः ॥ प्र । दा॒तुः । अ॒स्तु॒ । चेत॑नम् ॥ ११ ॥

पदार्थः—(अव) विनिग्रहार्थीयः (सृजः) सृजति । अत्र व्यत्ययः । द्व्यचोऽतस्तिङः [अ० ६ । ३ । १३५] इति दीर्घः । (वनस्पते) यो वनानां वृक्षौषध्यादिसमूहानामधिकवृष्टिहेतुत्वेन पालयितास्ति[१] सोऽपुष्पः[२] फलवान् । अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः । मनु: अ० १ । श्लो० ४७ । (देव) देवः फलादीनां दाता (देवेभ्यः) दिव्यगुणेभ्यः (हविः) हवनीयम् (प्र) प्रकृष्टार्थे (दातुः) शोधयितुः । 'दैप् शोधने' इत्यस्य रूपम् । (अस्तु) भवति । अत्र लडर्थे लोट् । (चेतनम्) चेतयति येन तत् ॥ ११ ॥

अन्वयः—अयं [देव] देवो [वनस्पते] वनस्पतिर्देवेभ्यस्तद्धविरव[सृजाव]सृजति, यत्प्रदातुः सर्वपदार्थशोधयितुर्विदुषश्चेतनमस्तु भवति ॥ ११ ॥

भावार्थः—मनुष्यैः पृथिवीजलमयाः सर्वे पदार्था युक्त्या [क्रियासु] संप्रयोजिता अग्नेः प्रदीपका भूत्वा रोगाणां विनिग्रहेण बुद्धिबलप्रदत्वाद् विज्ञानवृद्धिहेतवो भूत्वा दिव्यगुणान् प्रकाशयन्तीति ॥ ११ ॥

वह अग्नि किससे प्रज्वलित हुआ इन कार्य्यों को सिद्ध करता है, इसका उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

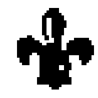
पदार्थान्वयभाषा—यह (देव) फल आदि पदार्थों को देनेवाला,(वनस्पतिः) वनों=वृक्ष

१. वनशब्दो वृक्षादिसमूहे प्रसिद्धः, निघण्टौ (१ । १२) वनं उदकनामस्वपि पठ्यते । अकारान्तवनशब्दसमानार्थकः 'वनस्' सान्तोऽपि शब्दः । तेन वनानां वृक्षसमूहानाम् उदकानां च पतिः पालयिता इति समासेनार्थः । वनस्पत्यादिभ्यो भूमिगर्भस्थस्य जलस्य रक्षणं भवति, वृष्टेराधिक्यमपि । एवमुभयथा जलानां रक्षकत्वाद् वनस्पतिरुच्यते ।

२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'अपुष्पफलवान्' इत्यपपाठः ।

यादि समूहों को अधिक वृष्टि के द्वारा पालन करनेवाला [पुष्परहित फलवान् वृक्ष] भ्यः) दिव्यगुणों के लिये (हविः) हवन करने योग्य पदार्थों को (अवसृज) उत्पन्न है। वह (प्रदातुः) सब पदार्थों की शुद्धि चाहनेवाले विद्वान् जन के (चेतनम्) विज्ञान त्पन्न करानेवाला (अस्तु) होता है ॥ ११ ॥

भावार्थ—मनुष्यों से पृथिवीमय तथा जलमय सब पदार्थ युक्ति से क्रियाओं में युक्त किए ग्नि के प्रदीप्त करनेहारे होकर रोगों की निर्मूलता से बुद्धि और बल को देने के कारण के बढ़ाने के हेतु होकर दिव्यगुणों का प्रकाश करते हैं ॥ ११ ॥



एतं क्रियाकाण्डं मनुष्याः कथं कुर्य्युरित्युपदिश्यते—

स्वाहा॑ य॒ज्ञं कृ॑णोत॒नेन्द्रा॑य॒ यज्व॑नो गृ॒हे। तत्र॑ दे॒वाँ उप॑ ह्वये ॥ १२ ॥

स्वाहा॑। य॒ज्ञम्। कृ॒णो॒त॒न॒। इन्द्रा॑य। यज्व॑नः। गृ॒हे ॥ तत्र॑। दे॒वान्। उप॑। ह्व॒ये॒ ॥ १२ ॥

पदार्थः—(स्वाहा) या सत्क्रियासमूहास्ति तया (यज्ञम्) त्रिविधम् (कृणोतन) । अत्र तकारस्थाने तनबादेशः[1]। (इन्द्राय) परमैश्वर्य्यकरणाय (यज्वनः) यज्ञाऽनुष्ठातुः। सुयजोर्ङ्वनिप्। अ० ३। २। १०३ अनेन 'यज'धातोर्ङ्वनिप् प्रत्ययः। (गृहे) निवासस्थाने ालायां कलाकौशलसिद्धविमानादियानसमूहे वा (तत्र) तेषु कर्मसु (देवान्) परमविदुषः निकटार्थे (ह्वये) आह्वये ॥ १२ ॥

अन्वयः—हे शिल्पकारिणः ऋत्विजः! यथा यूयं यत्र यज्वनो गृह इन्द्राय देवानाहूय स्वाहा कृणोतन, तथा तत्राऽहं तानुपह्वये ॥ १२ ॥

अत्र लुप्तोपमालङ्कारः।

भावार्थः—मनुष्या विद्याक्रियावन्तो भूत्वा सम्यग्विचारेण क्रियासमूहजन्यं कर्मकाण्डं नित्यं [2]कुर्वन्तस्तत्र च विदुषामाह्वानं कृत्वा स्वयं वा तत्समीपं गत्वा तद्विद्याक्रियाकौशले वन्तु। नैव कदाचिद् युष्माभिरालस्येनैते उपेक्षणीये, इति परमेश्वर उपदिशति ॥१२॥

अस्य त्रयोदशसूक्तार्थस्याग्न्यादिदिव्यपदार्थोपकारग्रहणार्थस्योक्तरीत्या द्वादशसूक्तार्थेन सह तिरस्तीति बोध्यम् ॥१२॥

इदमपि सूक्तं सायणाचार्य्यादिभिर्यूरोपदेशवासिभिर्विलसनादिभिश्चान्यथैव व्याख्यातम् ॥

इति त्रयोदशं सूक्तं पञ्चविंशो वर्गश्च समाप्तः ॥

---

१. द्र०—म० ७। १। ४५ ॥

२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'कुर्वन् तत्र' इत्यपपाठः।

इस क्रियाकाण्ड को मनुष्यलोग किस प्रकार से करें, सो उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे शिल्पविद्या से सिद्ध यज्ञ के करने और करानेवाले विद्वानो! जैसे तुम लोग जहां (यज्वनः) यज्ञकर्त्ता के (गृहे) घर यज्ञशाला तथा कलाकुशलता से सिद्ध किये हुए विमान आदि यानों में (इन्द्राय) परमैश्वर्य्य की प्राप्ति के लिये (देवान्) परम विद्वानों को बुलाके (स्वाहा) उत्तम क्रियासमूह के साथ (यज्ञम्) जिस तीनों प्रकार के यज्ञ को (कृणोतन) सिद्ध करनेवाले हो, वैसे [(तत्र)] वहां मैं उन उक्त चतुर श्रेष्ठ विद्वानों को (उपह्वये) प्रार्थना के साथ बुलाता रहूं ।। १२ ।।

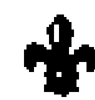
[इस मन्त्र में लुप्तोपमालङ्कार है ।]

भावार्थ—मनुष्य लोग विद्या तथा क्रियावान् होकर यथायोग्य विचार से बने हुए स्थानों में उत्तम विचार से क्रियासमूह से सिद्ध होनेवाले कर्मकाण्ड को नित्य करते हुए वहां विद्वानों को बुलाकर, वा आपही उनके समीप जाकर, उनकी विद्या और क्रिया की चतुराई को ग्रहण करें । हे सज्जन लोगो ! तुमको विद्या और क्रिया की कुशलता आलस्य से कभी नहीं छोड़नी चाहिये । क्योंकि ऐसी ही ईश्वर की आज्ञा सब मनुष्यों के लिये है ।। १२ ।।

इस तेरहवें सूक्त के अर्थ की अग्नि आदि दिव्य पदार्थों के उपकार लेने के विधान से बारहवें सूक्त के अभिप्राय के साथ संगति जाननी चाहिये ।।

यह भी सूक्त **सायणाचार्य्य** आदि तथा यूरोपदेशवासी **विलसन** आदि साहबों ने विपरीत ही वर्णन किया है ।।१२।।

यह तेरहवां सूक्त और पच्चीसवां वर्ग पूरा हुआ ।।



अथास्य द्वादशर्चस्य चतुर्दशसूक्तस्य [1]काण्वो मेधातिथिर्ऋषिः ।
विश्वेदेवा देवताः । गायत्री[2] छन्दः । षड्जः स्वरः ।।

तत्रादितो बहुभिः पदार्थैः सह [3]संयोगिनावीश्वरभौतिकावग्नी उपदिश्येते—

ऐभि॑रग्ने दु॒वो गिरो॒ विश्वे॑भिः॒ सोम॑पीतये । दे॒वेभि॑र्याहि॒ यक्षि॑ च ।। १ ।।

आ । ए॒भिः॑ । अ॒ग्ने॒ । दुवः॑ । गिरः॑ । विश्वे॑भिः । सोम॑ऽपीतये ।। दे॒वेभिः॑ । या॒हि॒ । यक्षि॑ । च॒ ।।१।।

---

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'कण्वो' इत्यपपाठः ।

२. सामान्येनेति शेषः । विशेषेण तु—१–६, ९ गायत्री; ७, ८ पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री; १०, ११ विराड्गायत्री; १२ निचृद्गायत्री ।

३. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'संयोगीश्वरभौतिकावग्नी' इति पाठः ।

पदार्थः—(आ) समन्तात् (एभिः) प्रत्यक्षैः। अत्र 'इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ २।४।३२ अनेन अशादेशः। (अग्ने) सर्वत्र व्याप्तेश्वर! भौतिको वा। अत्रान्त्यपक्षे त्र व्यत्ययः। (दुवः) परिचर्य्याम् (गिरः) वेदवाणीः (विश्वेभिः) सर्वैः। अत्र बहुलं दसि [अ० ७।१।१०] इति भिस ऐस् [न] भवति। (सोमपीतये) सोमानां सुखकारकाणां तेः पानं यस्माद् यज्ञात्, तस्मै। अत्र सह सुपा [अ० २।१।४] इति समासः। (देवेभिः) येर्गुणैः पदार्थैविद्वद्भिर्वा सह (याहि) प्राप्तो भव भवति वा (यक्षि) यजामि संगमयामि वा। लडर्थे लुङडभावश्च। (च) पूर्वार्थाकर्षणे॥ १॥

अन्वयः—हे अग्ने जगदीश्वर! त्वमेभिर्विश्वेभिर्देवेभिः सह सोमपीतये दुवो गिरो वाणीर्[आ]याहि प्राप्तो भव। [2]ईश्वरस्य दुवः परिचर्यां गिरो वेदवाणीश्चाहं यक्षि संगमयामि, थमः॥

[योऽ]यम[ग्नेऽ]ग्निरेभिर्विश्वेभिर्देवेभिः सह समागमेन सोमपीतये[दुवः परिचर्यां गिरः णीश्चायाहि प्रापयति, तम]हं यक्षि यजामि[3], इति द्वितीयः॥ १॥

अत्र श्लेषालङ्कारः।

भावार्थः—मनुष्याणां या या व्यावहारिकपारमार्थिकसुखेच्छा भवेत्, [तदर्थं] यैर्वायुजल- थिवीमयादिभिर्यन्त्रयानैः सहाग्निं संगतं कृत्वा क्रियाः क्रियन्ते, ईश्वरस्याज्ञासेवनं वेदानामध्ययना- ापने तदुक्तानुष्ठानं च त एवाभित आनन्दं प्राप्नुवन्ति॥ १॥

अब चौदहवें सूक्त का आरम्भ है। उसके पहिले मन्त्र में बहुत पदार्थों के साथ संयोग रनेवाले ईश्वर और भौतिक अग्नि का उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (अग्ने) सर्वव्यापक जगदीश्वर! आप (एभिः) इन (विश्वेभिः) सब देवेभिः) दिव्यगुणों और विद्वानों के साथ (सोमपीतये) सुख करनेवाले पदार्थों के पीने के लये (दुवः) सत्कारादि व्यवहार, तथा (गिरः) वेदवाणियों को (आयाहि) प्राप्त हूजिये। [4]ईश्वर की परिचर्या=सत्कारादि व्यवहार और वेदवाणियों को (यक्षि) संगत करता हूं, अर्थात् पने मन और कर्मों में अच्छी प्रकार सदैव यथाशक्ति धारण करता हूं॥१॥

जो यह (अग्ने) भौतिक अग्नि (एभिः) इन (विश्वेभिः) सब (देवेभिः) दिव्य- और पदार्थों के साथ (सोमपीतये) जिससे सुखकारक पदार्थों का पीना हो, उस यज्ञ के लिये

---

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'एमन्नादिषु छन्दसि पररूपं वक्तव्यम्। अ० ६।१।९४। अनेन ररूपम्' इति मुद्र्यते। अयमपपाठः। नह्यत्र क्वचित् पररूपकार्यं विद्यते। अपि च १, २, ३ संस्करणेषु तिकस्थानसंकेतः अ० ६।३।१४ उपलभ्यते, स तु सर्वथा चिन्त्यः। एतेनाप्यस्य पाठभ्रंश प्रमाणीक्रियते।

२. 'ईश्वरस्य……संगमयामि' एतावान् पाठो वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु द्वितीयान्वये दृश्यते। तत्र तिकार्थेऽस्य पाठस्यासम्बन्धादिह नाठोऽयमानीतः।

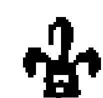
३. अत्र पूर्वा टिप्पणी २ द्रष्टव्या।

४. यह प्रथम अन्वय की भाषा द्वितीय भावार्थ के अन्त में वै० य० मुद्रित संस्करणों में मिलती है।

(दुवः) सत्कारादि व्यवहार तथा (गिरः) वेदवाणियों को (आयाहि) प्राप्त कराता है, उसको मैं इन सब विद्वानों के साथ उक्त सोम के पीने के लिये (यक्षि) स्वीकार करता हूं[1] ॥ २ ॥ १ ॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ।

भावार्थ—जिन मनुष्यों को व्यवहार और परमार्थ के सुख की इच्छा हो, वे यदि वायु जल और पृथिवीमयादि यन्त्र तथा विमान आदि रथों के साथ अग्नि को संगत करके उत्तम क्रियाओं को सिद्ध करते, और ईश्वर की आज्ञा का सेवन, वेदों का पढ़ना-पढ़ाना और वेदोक्त कर्मों का अनुष्ठान करते रहते हैं, तो सब प्रकार से आनन्द भोगते हैं ॥ १ ॥



अथाग्निशब्देनोभावर्थावुपदिश्येते—

आ त्वा कण्वा अहूषत गृणन्ति विप्र ते धियः । देवेभिरग्न आ गहि ॥२॥

आ । त्वा । कण्वाः । अहूषत । गृणन्ति । विप्र । ते । धियः ॥ देवेभिः । अग्ने । आ । गहि ॥२॥

पदार्थः—(आ) आभिमुख्ये (त्वा) त्वां जगदीश्वरं, तं भौतिकं वा (कण्वाः) मेधाविनो विद्वांसः । कण्व इति मेधाविनामसु पठितम् । निघं० ३ । १५ । (अहूषत) आह्वयन्ति, शिल्पार्थं स्पर्धयन्ति वा । अत्र लडर्थे लुङ्, बहुलं छन्दसि [अ० ६ । १ । ३४] इति संप्रसारणं च । (गृणन्ति) अर्चन्ति शब्दयन्ति वा । गृणातीत्यर्चतिकर्मसु पठितम् । निघं० ३ । १४ । गॄ शब्दे इति पक्षे[2] शब्दार्थः । (विप्र) विविधज्ञानेन पदार्थान् प्राति पूरयति स विद्वान्, तत्संबुद्धौ (ते) तव तस्य वा [3][(धियः) प्रज्ञाः (देवेभिः) दिव्यगुणैर्भोगैर्विद्वद्भिश्च सह] (अग्ने) विज्ञानस्वरूप ! प्राप्तिहेतुर्भौतिकोऽग्निर्वा (आ) क्रियायोगे (गहि) प्राप्नुहि, प्रापयति वा । अत्र पक्षे व्यत्ययः । बहुलं छन्दसि [अ० २ । ४ । ७३] इति शपो लुक् । वा छन्दसि । अ० ३ । ४ । ८८ इति हेरपित्त्वात्, अनुदात्तोपदेश० । ६ । ४ । ३७ अनेनानुनासिकलोपश्च ॥ २ ॥

अन्वयः—हे अग्ने ईश्वर ! यथा कण्वा मेधाविनस्त्वा त्वां गृणन्त्याहूषताह्वयन्ति, तथैव वयमपि गृणीम आह्वयामः । हे विप्र मेधाविन् ! तथा [च] ते तव धियो यं गृणन्त्याह्वयन्ति, तथा सर्वे वयं मिलित्वा तमेव नित्यमुपास्महे । हे मङ्गलमय परमात्मंस्त्वं कृपया देवेभिः सहागहि समन्तात् प्राप्तो भव, इत्येकः ॥

हे विप्र विद्वन् ! यथा कण्वा अन्ये विद्वांसस् [त्वा तम्]ग्निं गृणन्त्याहूषताह्वयन्ति, तथैव त्वमपि गृणीह्याह्वय । यथा देवेभिः सहाग्न आगह्ययं भौतिकोऽग्निः समन्ताद्विदितगुणो भूत्वा

१. वै० य० मुद्रित संस्करणों में यहां से आगे प्रथम मन्त्रार्थ के उत्तरार्ध की शेष पङ्क्ति छपी हुई मिलती है ।

२. धातुस्तूभयत्र समान एव, निघण्ट्वनुसारं गृणातेरर्चत्यर्थः, धातुपाठानुसारं शब्दार्थः इत्येव भेदः ।

३. अयं कोष्ठान्तर्गतः पाठो वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु प्रमादान्नष्टम् । भाषापदार्थे तूपलभ्यते ।

यगुणसुखप्रापको भवति, यमग्निं ते तव धियो बुद्धयो गृणन्ति स्पर्धन्ते, [तथा] तेन त्वं बहूनि र्य्याणि साधय, इति द्वितीयः ॥ २ ॥

अत्र श्लेषालङ्कारः ।

भावार्थः—मनुष्यैरस्यां सृष्टावीश्वररचितान् पदार्थान् दृष्ट्वेदं वाच्यमिमे सर्वे धन्यवादाः तयश्चेश्वरायैव संगच्छन्त इति ॥ २ ॥

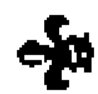
अब अगले मन्त्र में अग्नि शब्द से दो अर्थों का उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (अग्ने) जगदीश्वर ! जैसे (कण्वाः) मेधावी विद्वान् लोग (त्वा) पका (गृणन्ति) पूजन करते, तथा (आहूपत) प्रार्थना करते हैं, वैसे ही हम लोग भी आपका नन और प्रार्थना करें। हे (विप्र) मेधाविन् विद्वन् ! और जैसे (ते) तेरी (धियः) बुद्धि जिस वर के (गृणन्ति) गुणों का कथन और प्रार्थना करती हैं, वैसे हम सब लोग परस्पर मिलकर त्य उसी की उपासना करते रहें। हे मङ्गलमय परमात्मन् ! आप कृपा करके (देवेभिः) उत्तम गों के प्रकाश और भोगों के देने के लिये हम लोगों को (आगहि) अच्छी प्रकार प्राप्त जये ॥ १ ॥

हे (विप्र) मेधावी विद्वान् मनुष्य ! जैसे (कण्वाः) अन्य विद्वान् लोग (त्वा) उस ग्नि के (गृणन्ति) गुणों का प्रकाश और (आहूपत) शिल्पविद्या के लिये उसे युक्त करते हैं, वैसे म भी करो। और जैसे (देवेभिः) दिव्य गुणों के साथ (अग्ने) यह अग्नि (आगहि) अच्छी प्रकार दित गुणोंवाला होकर दिव्य गुणों और सुखों को प्राप्त कराता है, तथा जिस अग्नि के (ते) री (धियः) बुद्धि गुणों का कथन तथा स्पर्धा करती हैं, वैसे उससे तुम बहुत से कार्य्यों को द्ध करो ॥ २ ॥ २ ॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है।

भावार्थ—मनुष्यों को इस संसार में ईश्वर के रचे हुए पदार्थों को देखकर यह कहना हिये कि ये सब धन्यवाद और स्तुति ईश्वर ही में घटती हैं ॥ २ ॥



अथ विश्वेषां देवानां मध्यात् कांश्चिदुपदिशति—

इन्द्र॒वा॒यू बृह॒स्पतिं॑ मि॒त्राग्निं पू॒षणं॒ भग॑म् । आ॒दि॒त्यान् मारु॑तं ग॒णम् ॥३॥

इ॒न्द्र॒वा॒यू इति॑ । बृह॒स्पति॑म् । मि॒त्रा । अ॒ग्निम् । पू॒षण॑म् । भग॑म् ॥ आ॒दि॒त्यान् । मारु॑तम् । ग॒णम् ॥३॥

पदार्थः—(इन्द्रवायू) इन्द्रश्च वायुश्च तौ विद्युत्पवनौ (बृहस्पतिम्) बृहतां पालनहेतुं र्य्यप्रकाशम् । तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च । अ० ६ । १ । १५७ अनेन र्तिकेन बृहस्पतिः सिद्धः । पातेर्डतिः । उ० ४ । ५७ अनेन पतिशब्दश्च (मित्रा) मित्रं प्राणम् । प्रत्र सुपां सुलुग्० [अ० ७।१।३९] इत्यमः स्थान आकारादेशः । (अग्निम्) भौतिकम् (पूषणम्)

[1]ओषध्यादिसमूहपुष्टिप्रापकं चन्द्रलोकम्। पूषेति पदनामसु पठितम्। निघं० ५। ६ अनेन पुष्टिप्राप्त्यर्थश्चन्द्रो गृह्यते। (भगम्) भजते सुखानि येन तच्च चक्रवर्तिराज्यधनम्। भग इति धननामसु पठितम्। निघं० २।१० । अत्र 'भज'धातोः पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण। अ० ३। ३। ११८ अनेन घः प्रत्ययः[2]। भगो भजतेः। निरु० १। ७। (आदित्यान्) द्वादशमासान् (मारुतम्) मरुतामिमम्[3] (गणम्) वायुसमूहम् ॥ ३ ॥

अन्वयः—हे कण्वा भवन्तः[4] क्रियानन्दसिद्धय इन्द्रवायू बृहस्पतिं [मित्रं] मित्रमग्निं पूषणं भगमादित्यान्मारुतं गणमहूषत स्पर्धध्वं गृणीत ॥ ३ ॥

अत्र पूर्वस्मान्मन्त्रात् 'कण्वा अहूषत गृणन्ति' इति पदत्रयमनुवर्तते।

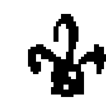
भावार्थः—ये मनुष्या एतानिन्द्रादिपदार्थानीश्वररचितान् विदितगुणान् कृत्वा क्रियासु संप्रयोजयन्ति[5], ते सुखिनो भूत्वा सर्वान् प्राणिनो मृडयन्ति ॥ ३ ॥

अब अगले मन्त्र में विश्वदेवों में से कोई एक देवों का उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (कण्वाः[6]) बुद्धिमान् विद्वान् लोगो ! आप क्रिया तथा आनन्द की सिद्धि के लिये (इन्द्रवायू) बिजुली और पवन, (बृहस्पतिम्) बड़े से बड़े पदार्थों के पालनहेतु सूर्य के प्रकाश, (मित्रा) प्राण, (अग्निम्) प्रसिद्ध अग्नि, (पूषणम्) ओषधियों के समूह की पुष्टि करनेवाले चन्द्रलोक, (भगम्) सुखों के प्राप्त करानेवाले चक्रवर्ति राज्य आदि धन, (आदित्यान्) बारहों महीने, और (मारुतम्) पवनों के (गणम्) समूह को (अहूषत[6]) ग्रहण तथा (गृणन्ति[6]) अच्छी प्रकार जानके संयुक्त करो ॥ ३ ॥

इस मन्त्र में पूर्व मन्त्र से 'कण्वाः'; 'अहूषत' और 'गृणन्ति' इन तीन पदों की अनुवृत्ति आती है।

भावार्थ—जो मनुष्य ईश्वर के रचे हुए उक्त इन्द्र आदि पदार्थों, और उनके गुणों को जानकर क्रियाओं में संयुक्त करते हैं, वे आप सुखी होकर सब प्राणियों को सुखयुक्त सदैव करते हैं ॥३॥



---

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'पुष्टयोषध्यादिसमूहप्रापकम्' इत्यपपाठः।

२. केचन वैयाकरणाः 'खनो घ च' (अ० ३। ३। १२५) इति सूत्रे चिकारग्रहणसामर्थ्यात् 'खलः, भगः' पदं च साधयन्ति।

३. अत्र सायणः 'मारुतं मरुतां विकारः, अनुदात्तादेश्च (अ० ६। १। १३८) इत्यञ्, ञित्त्वादाद्युदात्तत्वम्' इति व्याख्यातवान्, तच्चिन्त्यम्। 'मारुतं गणम्' इति मन्त्रे श्रवणात् मारुतस्य वाच्यो गणः। न च गणो विकारो भवति। तस्मादत्र 'अनुदात्तादेरञ्' (अ० ४। २। ४३) इत्यनेन समूहेऽञ् प्रत्ययो द्रष्टव्यः।

४. अत्र यूयमित्यपेक्षते।

५. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'संप्रयुञ्जन्ते' अपपाठः।

६. इस पद की अनुवृत्ति पूर्व मन्त्र से आती है।

एवं संप्रयोजिता एते किंहेतुका भवन्तीत्युपदिश्यते—

प्र वो भ्रियन्त इन्दवो मत्सरा मादयिष्णवः । द्रप्सा मध्वश्चमूषदः ॥४॥

प्र । वः । भ्रियन्ते । इन्दवः । मत्सराः । मादयिष्णवः ॥ द्रप्साः । मध्वः । चमूऽसदः ॥४॥

पदार्थः—(प्र) प्रकृष्टार्थे (वः) युष्मभ्यम् (भ्रियन्ते) ध्रियन्ते (इन्दवः) रसवन्तः माद्योषधिगणाः (मत्सराः) माद्यन्ति हर्षन्ति यैस्ते । अत्र कृधूमदिभ्यः कित् । उ० ३ । ७३ नेन मदेः सरन्[1] प्रत्ययः । (मादयिष्णवः) हर्षनिमित्ताः । अत्र णेश्छन्दसि । अ० ३ । २ । १३७ नेन ण्यन्तान्मदेरिष्णुच् प्रत्ययः । (द्रप्साः) दृप्यन्ति संहृष्यन्ते बलानि सैन्यानि वा यैस्ते । अ दृप हर्षणमोहनयोः इत्यस्माद् बाहुलकात् करणकारक औणादिकः सः[2] प्रत्ययः । (मध्वः) धुरगुणवन्तः (चमूषदः) [3]यैश्चमूषु सेनासु सीदन्ति ते । अत्र कृतो बहुलम् [अ० ३ । ३ । १३ वा०] इति वार्त्तिकमाश्रित्य सत्सूद्विष० । अ० ३ । २ । ६१ अनेन करणे क्विप् । कृषिचमि- नि० । उ० १ । ८१ अनेन चमूशब्दश्च सिद्धः । चमन्त्यदन्ति विनाशयन्ति शत्रुबलानि याभिस्ता- वस्वः ॥ ४ ॥

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यथा मया वो युष्मभ्यं पूर्वमन्त्रोक्तैरिन्द्रादिभिरेव मध्वो मत्सरा ादयिष्णवो द्रप्साश्चमूषद इन्दवः प्रभ्रियन्ते प्रकृष्टतया ध्रियन्ते, तथा युष्माभिरपि [4]मदर्थमेते म्यग्धार्याः ॥ ४ ॥

भावार्थः—ईश्वरोऽभिवदति—मया धारितैर्मन्त्रचितैः पूर्वमन्त्रप्रतिपादितैर्विद्युदादिभिर्ये सर्वे ावार्थाः पोष्यन्ते, ये तेभ्यो वैद्यकशिल्पशास्त्ररीत्या प्रकृष्टरसोत्पादनेन शिल्पकार्यसिद्ध्योत्तम- नासंपादनाद्[5] रोगनाशविजयप्राप्तिं[6] कुर्वन्ति, ते[7] विविधम् आनन्दं भुञ्जते इति ॥ ४ ॥

---

१. अत्र पूर्वसूत्रात् (उ० ३ । ७२) चितोऽनुवृत्त्याऽन्तोदात्तत्वम् ।

२. वृतृवदिहनि० (उ० ३ । ६२) इत्यादिना विहितः सः दृपेरपि भवति । 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्य- तरस्याम्' (अ० ६ । १ । ५९) इत्यनेन रमागमः ।

३. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'ये चमूषु' इत्यपपाठः, अनुपदं करणे क्विपो विधानात् ।

४. 'हे मनुष्याः !' इति ईश्वरवचनम् (द्र०—भावार्थः) । तथा सति 'मदर्थम्' इत्यस्य अभिप्रायो ईश्वरार्थमिति निष्पद्यते, तच्चायुक्तम् । अतः ईश्वरवचने 'मदर्थम्' नान्वेति, अन्यवचने तु समन्वेति ।

५. विविभक्ति-विषये पूर्वमुक्तम् (पृष्ठ ५७१ टि० १) ।

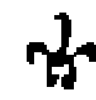
६. रोगनाशश्च विजयप्राप्तिश्चेति समाहारे नपुंसकत्वात् 'रोगनाशविजयप्राप्ति' इत्येवं पाठेन भाव्यम्, इतरेतरयोगे च 'रोगनाशविजयप्राप्ती' इत्यनेन । यद्वा—लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्येति वैयाकरण- राद्धान्तात् समाहारे नपुंसकत्वाभावो द्रष्टव्यः । तथा च पाणिनीयं सूत्रम्—'ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः' (अ० १।२।२७) इति समाहारेऽपि पुंस्त्वं श्रूयते ।

७. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'तेविविध आनन्दं भुञ्जते' इत्यसम्बद्धः पाठः ।

उक्त पदार्थ इस प्रकार संप्रयुक्त किये हुए किस-किस कार्य को सिद्ध करते हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे मनुष्यो ! जैसे मैंने (वः) तुम लोगों के लिये, जो पूर्व मन्त्र में इन्द्र आदि पदार्थ कहे गये हैं, उन्हीं से (मध्वः) मधुर गुणवाले, (मत्सराः) जिनसे उत्तम आनन्द को प्राप्त होते हैं, (मादयिष्णवः) आनन्द के निमित्त, (द्रप्साः) जिनसे बल अर्थात् सेना के लोग अच्छी प्रकार आनन्द को प्राप्त होते हैं, और (चमूषदः) जिनसे विजय शत्रुओं की सेनाओं में स्थिर होते हैं, उन (इन्दवः) रसवाले सोम आदि ओषधियों के समूहों को ([प्र] भ्रियन्त) अच्छी प्रकार धारण कर रक्खा है, वैसे तुम लोग भी मेरे लिये उन पदार्थों को धारण करो ॥ ४ ॥

भावार्थ—ईश्वर सब मनुष्यों के प्रति कहता है कि— पूर्व मन्त्र में प्रकाशित किये, मेरे द्वारा रचे और धारण किये गये बिजुली आदि पदार्थों से जो सब पदार्थ संप्रयुक्त किये हैं, जो मनुष्य इनसे वैद्यक वा शिल्पशास्त्रों की रीति से उत्तम रस के उत्पादन और भिन्न कार्यों की सिद्धि के साथ उत्तम सेना के संपादन होने से रोगों का नाश तथा विजय को प्राप्त करते हैं, वे लोग नाना प्रकार के सुख को भोगते हैं ॥ ४ ॥



अथाग्निशब्देनेश्वर उपदिश्यते—

ईळते त्वामवस्यवः कण्वासो वृक्तबर्हिषः । हविष्मन्तो अरंकृतः ॥५॥

ईळते । त्वाम् । अवस्यवः । कण्वासः । वृक्तऽबर्हिषः ॥ हविष्मन्तः । अरम्ऽकृतः ॥५॥

पदार्थः—(ईळते) स्तुवन्ति (त्वाम्) सर्वस्य जगत उत्पादकं धारकं जगदीश्वरम् (अवस्यवः) आत्मनोऽवो रक्षणादिकमिच्छन्तस्तच्छीलाः[१] । अत्र 'अव' धातोः सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८९ इति भावेऽसुन्, ततः सुप आत्मनः क्यच् इति क्यच्, ततः क्याच्छन्दसि । अ० ३ । २ । १७० अनेन ताच्छील्य उः प्रत्ययः (कण्वासः) मेधाविनो विद्वांसः (वृक्तबर्हिषः) ऋत्विजः (हविष्मन्तः) हवींषि दातुमादातुमर्हाणि योग्यान्यतिशयितानि वस्तूनि विद्यन्ते येषान्ते । अत्रातिशायने मतुप् । (अरंकृतः) सर्वान् पदार्थानलं कर्त्तुं शीलं येषां ते । अत्र अन्येभ्योऽपि दृश्यते । अ० ३ । २ । १७८ अनेन ताच्छील्येऽर्थे क्विप् ॥ ५ ॥

अन्वयः—हे जगदीश्वर ! [२]वयं हविष्मन्तोऽरंकृतोऽवस्यवः कण्वासो वृक्तबर्हिषो विद्वांसो यं त्वामीळते, तमीडीमहि ॥ ५ ॥

भावार्थः—हे सर्वसृष्ट्युत्पादक ! यतो भवता सर्वप्राणिसुखार्थं सर्वे पदार्था रचयित्वा धारितास्तस्मात्त्वामेव स्तुवन्तः सर्वस्य रक्षणमिच्छन्तः शिक्षाविद्याभ्यां सर्वान् मनुष्यान् भूषयन्तो वयं नित्यं प्रयतामह इति ॥ ५ ॥

---

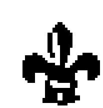
१. 'आ क्वेस्तच्छील०' (अ० ३।२।१३४) इत्यत्राभिविधावाङः समाश्रयात् (द्र०—काशिका ३।२।१३४) क्विप् पर्यन्ताः प्रत्ययास्ताच्छील्ये भवन्ति ।

२. पदमिदम् 'ईडीमहि' पदेन संबध्यते ।

अब अगले मन्त्र में अग्निशब्द से ईश्वर का उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे जगदीश्वर ! (हविष्मन्तः) जिनके देने-लेने और भोजन करने य उत्तम पदार्थ विद्यमान हैं, (अरंकृतः) जो सब पदार्थों को सुशोभित करनेवाले हैं, ावस्यव:) जिनका अपनी रक्षा चाहने का स्वभाव है, वे (कण्वासः) बुद्धिमान् और (वृक्तबर्हिषः) ाकाल यज्ञ करनेवाले विद्वान् ऋत्विक् लोग जिस (त्वाम्) सब जगत् के उत्पन्न करनेवाले पकी (ईळते) स्तुति करते हैं, उसी आपकी हम लोग स्तुति करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—हे सब सृष्टि के उत्पन्न करनेवाले परमेश्वर ! जिससे आपने सब प्राणियों के सुख लिये सब पदार्थों को रचकर धारण किया है, इससे हम लोग आपही की स्तुति, सब की रक्षा की च्छा, शिक्षा और विद्या से सब मनुष्यों को भूषित करते हुए उत्तम क्रियाओं के लिये निरन्तर च्छी प्रकार यत्न करते हैं ॥ ५ ॥



ईश्वररचिता विद्युदादयः कीदृग्गुणाः सन्तीत्युपदिश्यते—

घृतपृष्ठा मनोयुजो ये त्वा वहन्ति वह्नयः । आ देवान्त्सोमपीतये ॥६॥

घृतऽपृष्ठाः । मनःऽयुजः । ये । त्वा । वहन्ति । वह्नयः ॥ आ । देवान् । सोमऽपीतये ॥६॥

पदार्थः—(घृतपृष्ठाः) घृतमुदकं पृष्ठ आधारे येषां ते (मनोयुजः) मनसा विज्ञानेन ज्यन्ते ते । अत्र सत्सूद्विष० । अ० ३ । २ । ६१ अनेन कृतो बहुलम् [अ० ३ । ३ । ११३ वा०] कर्मणि क्विप् । (ये) विद्युदादयस्तृतीयमन्त्रोक्ताः[1] (त्वा) तमलं[2]कर्त्तुं योग्यं यज्ञम् वहन्ति) प्रापयन्ति । अत्रान्तर्गतो ण्यर्थः । (वह्नयः) वहन्ति प्रापयन्ति वार्त्ताः पदार्थान् नानि च यैस्ते । अत्र वहिश्रिश्रुयु० । उ० ४ । ५१ । अनेन करणे निः प्रत्ययः[3] । (आ) मन्तात् क्रियायोगे (देवान्) दिव्यगुणान् भोगान् ऋतून् वा । ऋतवो वै देवाः । श० ७ । २ । । २६[4] (सोमपीतये) सोमानां पदार्थानां पीतिः पानं यस्मिंस्तस्मै यज्ञाय ॥६॥

अन्वयः—हे विद्वांसो य इमे युक्त्या संप्रयोजिता घृतपृष्ठा मनोयुजो वह्नयो विद्युदादयः मपीतये त्वा तमेतं यज्ञं देवांश्चावहन्ति, ते सर्वैर्मनुष्यैर्यथावद्[5] विदित्वा कार्य्यसिद्धये सम्प्रयोज्याः ॥ ६ ॥

भावार्थः—ये स्तनयित्न्वादयस्त एव जलमुपरि गमयन्त्यागमयन्ति वा ताराख्येन यन्त्रेण

१. एतत्सूक्तस्येति शेषः । वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'चतुर्थमन्त्रोक्ताः' इत्यपपाठः ।

२. अयमभिप्रायः पूर्वमन्त्रपठितम् 'अरङ्कृतः' पदं मनसि निधायोक्तः ।

३. अत्रैव सूत्रे 'नित्' पाठान्नित्वे आद्युदात्तत्वम् ।

४. अध्यायानुसारम्—श० ७।२।४।२६ ॥

५. वै० य० मुद्रितेषु १-२-३ संस्करणेषु 'यथा तद्विदित्वा' इत्यपपाठः ।

संचालिता विद्युन्मनोवेगवद्वार्त्तां देशान्तरं प्रापयति¹। एव सर्वेषां पदार्थानां गुणानां च प्राप[काः]
एत एव सन्तीतीश्वराज्ञापनम् ॥ ६ ॥

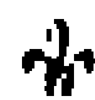
इति षड्विंशो वर्गः समाप्तः ॥

ईश्वर के रचे हुए बिजुली आदि पदार्थ कैसे गुणवाले हैं, सो अगले मन्त्र में उप[देश] किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे विद्वानो ! [(ये)] जो युक्ति से संप्रयुक्त किये हुए, (घृतपृष्ठाः) जिनके पृष्ठ अर्थात् आधार में जल है, तथा (मनोयुजः) जो उत्तम ज्ञान से रथों में युक्त कि[ये] जाते हैं, ऐसे (वह्नयः) जो वार्त्ता पदार्थ वा यानों को दूर देश में पहुँचानेवाले विद्युत् अग्नि आ[दि] पदार्थ (सोमपीतये) जिसमें सोम आदि पदार्थों का पीना होता है उस यज्ञ के लिये (त्वा) [उस] भूषित करने योग्य यज्ञ को, और (देवान्) दिव्यगुण दिव्यभोग और व्यवहार आदि ऋतुओं (आवहन्ति) अच्छी प्रकार प्राप्त कराते हैं, उनको सब मनुष्यों को यथार्थ जानके कार्यों [में] सिद्ध करने के लिये ठीक-ठीक प्रयुक्त करना चाहिये ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो मेघ आदि पदार्थ हैं, वे ही जल को ऊपर-नीचे अर्थात् अन्तरिक्ष को पहुंचा और वहां से वर्षाते हैं। और तारयन्त्र से चलाई हुई बिजुली मन के वेग के समान वार्त्ता को एक देश से दूसरे देश में प्राप्त कराती है²। इस प्रकार सब पदार्थों और गुणों को प्रा[प्त] करानेवाले ये ही पदार्थ हैं, ऐसी ईश्वर की आज्ञा है ॥ ६ ॥

यह छब्बीसवां वर्ग समाप्त हुआ ॥



अथाग्निशब्देनेश्वरभौतिकावुपदिश्येते—

तान् यजत्राँ ऋतावृधोऽग्ने पत्नीवतस्कृधि । मध्वः सुजिह्व पायय ॥७॥

तान्। यजत्रान्। ऋतऽवृधः। अग्ने। पत्नीऽवतः। कृधि॥ मध्वः। सुऽजिह्व। पायय ॥७॥

पदार्थः—(तान्) विद्युदादीन् (यजत्रान्) यष्टुं संगमयितुमर्हान्। अत्र अमिनक्षियजिवधि०। उ० ३। १०५ अनेन यजधातोरत्रन् प्रत्ययः। (ऋतावृधः) ऋतमुदकं सत्यं यज्ञं वर्धयन्ति तान्। अत्र अन्येषामपि दृश्यते [अ० ६। ३। १३६] इति दीर्घः। (अग्ने) जगदीश्वर भौतिको वा (पत्नीवतः) प्रशस्ताः पत्न्यो विद्यन्ते येषां तानस्मान्। अत्र प्रशंसार्थे मतुप्। (कृधि) करोषि करोति वा। अत्र लडर्थे लोट्, पक्षे व्यत्ययः, विकरणाभावः,³ श्रुशृणुपृकृ०। अ० ६। ४

१. पूर्वत्र भूमिकायां २३४ तमे पृष्ठे 'तारविद्यामूलं संक्षेपतः' इति भाष्यकारीयो लेखः, अस्यैव तृतीया टिप्पणी द्रष्टव्या।

२. इस विषय में पूर्व पृष्ठ २३४-२३६ पर निर्दिष्ट 'तारविद्यामूल' विषय, तथा पृष्ठ २३५ पर छपी टि० २ देखनी चाहिये। ३. द्र०—पूर्वत्र पृष्ठ ५८६, टि० १।

अनेन हेत्वर्थादेशश्च। (मध्वः) उत्पन्नस्य मधुरादिगुणयुक्तस्य पदार्थसमूहस्य रसभोगम् (सुजिह्व) सुष्ठु जोहूयन्ते धार्य्यन्ते यया जिह्वया शक्त्या तत्सहित ! सुष्ठु हूयन्ते जिह्वायां वालायां यस्य सोऽग्निः। (पायय) पाययति वा। [1]अत्र पक्षे लडर्थे लोट् [पुरुष व्यत्ययश्च]॥७॥

अन्वयः—हे अग्ने ! त्वं तान् यजत्रानृतावृधो देवान् करोषि, तैर्नः पत्नीवतः कृधि। हे जिह्व ! मध्वो रसभोगं कृपया पायय, इत्येकः॥

अयम [ग्नेऽ]ग्निः [सुजिह्व] सुजिह्वस्तानृतावृधो यजत्रान् देवान् [कृधि] करोति, स सम्यक् प्रयुक्तः सन्नस्मान् पत्नीवतः सुगृहस्थान् करोति, मध्वो रसं [पायय] पाययते तत्पाने हेतुरस्ति, इति द्वितीयः॥ ७॥

अत्र श्लेषालङ्कारः।

भावार्थः—मनुष्यैरीश्वराराधनेन सम्यगग्निप्रयोगेण च रससारादीन् रचयित्वोपकृत्य गृहाश्रमे सर्वाणि कार्य्याणि निर्वर्त्तयितव्यानीति॥ ७॥

अब अगले मन्त्र में अग्नि शब्द से ईश्वर और भौतिक अग्नि का उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (अग्ने) जगदीश्वर ! आप (तान्) जिन विद्युत् आदि दिव्य, (यजत्रान्) कला आदि पदार्थों में संयुक्त करने योग्य, तथा (ऋतावृधः) सत्यता और यज्ञादि उत्तम कर्मों की वृद्धि करनेवाले पदार्थों को रचते हैं, उन से हम लोगों को (पत्नीवतः) उत्तम प्रशंसायुक्त स्त्रीवाले अर्थात् गृहस्थ (कृधि) बनाइये। और हे (सुजिह्व) श्रेष्ठता से पदार्थों को धारण करने की शक्तिवाले ईश्वर ! आप (मध्वः) मधुरादि गुणयुक्त पदार्थों के रसभोग को कृपा करके (पायय) पिलाइये॥ १॥

यह (अग्ने) भौतिक अग्नि, (सुजिह्व) जिसकी लपट में अच्छे प्रकार होम करते हैं, वह (तान्) विद्युत् आदि पदार्थों, (ऋतावृधः) जो जल की वृद्धि करानेवाले, (यजत्रान्) कलाओं में संयुक्त करने योग्य हैं, उनको उत्तम (कृधि) बनाता है। वह अच्छे प्रकार कला-यंत्रों में संयुक्त किया हुआ हम लोगों को (पत्नीवतः) श्रेष्ठ (=सुखी) गृहस्थ (कृधि) करता है, तथा (मध्वः) मीठे-मीठे पदार्थों के रस को (पायय) पिलाने का हेतु होता है॥ २॥ ७॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है।

भावार्थ—मनुष्यों को अच्छे प्रकार ईश्वर के आराधन, और अग्नि के सम्यक् प्रयोग से रस सारादि को रचकर तथा उपकार में लाकर गृहस्थ आश्रम में सब कार्यों को सिद्ध करना चाहिये॥ ७॥



पुनस्ते कीदृशाः सन्तीत्युपदिश्यते—

ये यजत्रा य ईड्यास्ते ते पिबन्तु जिह्वया। मधोरग्ने वषट्कृति॥८॥

१. अयं पाठो वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु नास्ति, ख.कोशे तूपलभ्यते।

ये । यजत्राः । ये । ईड्याः । ते । ते । पिबन्तु । जिह्वया ॥ मधोः । अग्ने । वषट्ऽकृति ॥८॥

पदार्थः—(ये) विद्युदादयः (यजत्राः) सङ्गमयितुं योग्याः । [1]पूर्ववदस्य सिद्धिः ।[(ये)···] (ईड्याः) अध्येषितुं योग्याः (ते) पूर्वोक्ता जगदीश्वरेणोत्पादिताः (ते) वर्त्तमानाः (पिबन्तु) पिबन्ति । अत्र लडर्थे लोट् । (जिह्वया) ज्वालाशक्त्या (मधोः) मधुरगुणांशान् (अग्ने) अग्नौ । अत्र व्यत्ययः । (वषट्कृति) वषट् करोति येन यज्ञेन तस्मिन् । अत्र कृतो बहुलम् [अ० ३ । ३ । ११३ वा०] इति वार्त्तिकमाश्रित्य करणे क्विप् ॥ ८ ॥

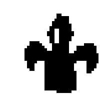
अन्वयः—ये मनुष्या यजत्रास्ते तथा य ईड्यास्ते जिह्वयाऽग्नेऽग्नौ वषट्कृति मधोर्मधुरगुणांशान् पिबन्तु यथावत् पिबन्ति ॥ ८ ॥

भावार्थः—मनुष्यैरस्मिन् जगति सर्वेषु पदार्थेषु द्विविधं कर्म योजनीयमेकं गुणज्ञानं, द्वितीयं तेभ्यः कार्य्यसिद्धिकरणम् । ये विद्युदादयः सर्वेभ्यो मूर्त्तद्रव्येभ्यो रसं संगृह्य पुनर्विमुञ्चन्ति, तेषां शुद्ध्यर्थं सुगन्ध्यादिपदार्थानां [2][अग्नौ] प्रक्षेपणं नित्यं कार्यम्, [3]यतस्ते सुखसाधिनो भवेयुः ॥ ८ ॥

फिर उक्त पदार्थ किस प्रकार के हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—(ये) जो मनुष्य विद्युत् आदि पदार्थों को (यजत्राः) कलाग्नियों में संयुक्त करने योग्य हैं (ते) वे, तथा (ये) जो गुणवाले (ईड्याः) सब प्रकार से खोजने योग्य हैं (ते) वे, (जिह्वया) ज्वालारूपी शक्ति से (वषट्कृति) यज्ञ से विशेष कर्म जिसमें किये जाते हैं उस (अग्ने) अग्नि में (मधोः) मधुरगुणों के अंशों को (पिबन्तु) पीते हैं अर्थात् यथावत् प्राप्त करते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को इस जगत् में सब पदार्थों में दो प्रकार के कर्मों को युक्त करना चाहिये, अर्थात् एक तो उनके गुणों का जानना, दूसरा उनसे कार्य की सिद्धि करना । जो विद्युत् आदि पदार्थ सब मूर्तिमान् पदार्थों से रस को ग्रहण करके फिर छोड़ देते हैं, उनकी शुद्धि के लिये सुगन्धि आदि पदार्थों का अग्नि में होम निरन्तर करना चाहिये, जिससे वे सब प्राणियों को सुख सिद्ध करनेवाले हों ॥ ८ ॥



कीदृशा मनुष्यास्तद्गुणान् ग्रहीतुं योग्या भवन्तीत्युपदिश्यते—

आकीं सूर्य्यस्य रोचनाद् विश्वान् देवाँ उषर्बुधः । विप्रो होतेह वक्षति ॥९॥

आकीम् । सूर्य्यस्य । रोचनात् । विश्वान् । देवान् । उषःऽबुधः ॥ विप्रः । होता । इह । वक्षति ॥९॥

पदार्थः—(आकीम्) समन्तात् (सूर्य्यस्य) चराचरस्यात्मनः परमेश्वरस्य, सूर्यलोकस्य वा

१. पूर्वत्र पृष्ठ ६३६, मन्त्र ७ । २. वै० य० मुद्रिते चतुर्थसंस्करणे परित्यक्तः ।
३. वै० य० मुद्रिते चतुर्थसंस्करणे 'यस्ते' इत्यपपाठः ।

नात्) प्रकाशनात् (विश्वान्) सर्वान् (देवान्) दिव्यभोगान् (उषर्बुधः) उषः संप्राप्य न्ति तान् (विप्रः) मेधावी (होता) हवनस्य दाताऽऽदाता वा (इह) अस्मिन् जन्मनि लोके वक्षति) प्राप्नोति प्रापयति वा । अत्र लडर्थे लेट् ।। ९ ।।

अन्वयः—यो होता विप्रो विद्वान् सूर्यस्य रोचनादिहोपर्बुधो विश्वान् देवान् [आकीनाद्] वक्षति प्राप्नोति, स सर्वा विद्याः प्राप्यानन्दी भवति ।। ९ ।।

अत्र श्लेषालङ्कारः ।

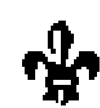
भावार्थः—यदीश्वर इमान् पदार्थान्नोत्पादयेत्तर्हि कश्चिदपि जन उपकारं ग्रहीतुं कथं यात् । यदा मनुष्या निद्रास्था भवन्ति, तदा न किमपि भोक्तव्यं द्रव्यं प्राप्तुमर्हन्ति, किञ्च रणं प्राप्य भोगकरणे समर्था भवन्त्येतस्मादुपर्बुध इत्युक्तम् । एतेभ्यः पदार्थेभ्यो धीमान् पुरुष क्रियासिद्धिं कर्तुं शक्नोति नेतर इति ।। ९ ।।

किस प्रकार से मनुष्य उन गुणों का ग्रहण कर सकते हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र या है—

पदार्थान्वयभाषा—जो (होता) होम में छोड़ने योग्य वस्तुओं का देने-लेनेवाला (विप्रः) गान् विद्वान् पुरुष (सूर्य्यस्य) चराचर के आत्मा परमेश्वर वा सूर्य्यलोक के (रोचनात्) श से (इह) इस जन्म वा लोक में (उपर्बुधः) प्रातःकाल को प्राप्त होकर को चितानेवाले (विश्वान्) समस्त (देवान्) श्रेष्ठ भोगों को [(आकीम्) सब ओर से] क्षति) प्राप्त होता वा कराता है, वही सब विद्याओं को प्राप्त होके आनन्दयुक्त होता है ।।९।।

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ।

भावार्थ—यदि ईश्वर इन पदार्थों को उत्पन्न नहीं करता, तो कोई भी पुरुष उपकार लेने को समर्थ हो सकता ? और जब मनुष्य निद्रा में स्थित होते हैं, तब कोई मनुष्य किसी भोग करने पदार्थ को प्राप्त नहीं हो सकता । किन्तु जागृत अवस्था को प्राप्त होकर उनके भोग करने समर्थ होते हैं । इसी से इस मन्त्र में 'उषर्बुधः' इस पद का उच्चारण किया है । संसार के पदार्थों से बुद्धिमान् मनुष्य ही क्रिया की सिद्धि कर सकता है, अन्य कोई नहीं ।। ९ ।।



केन सहैतत् क्रियाहेतुर्भवतीत्युपदिश्यते—

विश्वेभिः सोम्यम् मध्वग्न इन्द्रेण वायुना । पिबा मित्रस्य धामभिः ।।१०।।

विश्वेभिः । सोम्यम् । मधु । अग्ने । इन्द्रेण । वायुना ॥ पिब । मित्रस्य । धामऽभिः ॥१०॥

पदार्थः—(विश्वेभिः) सर्वैः । अत्र बहुलं छन्दसि [अ० ७ । १ । १०] इत्यैसभावः । म्यम्) सोमसम्पादनार्हम् । सोममर्हति यः । अ० ४ । ४ । १३७ इति यः प्रत्ययः । (मधु) दिगुणयुक्तम् (अग्ने) अग्निः प्रत्यक्षाप्रत्यक्षः (इन्द्रेण) परमैश्वर्य्यहेतुना (वायुना) स्पर्शवता

गतिमता पवनेन सह (पिब) पिबति गृह्णाति। अत्र पुरुषव्यत्ययो लडर्थे लोट्, द्व्यचोऽतस्तिङः [अ० ६।३।१३५] इति दीर्घश्च। (मित्रस्य) सर्वगतस्य सर्वप्राणभूतस्य (धामभिः) स्थानैः ॥१०॥

अन्वयः—अयम[ग्नेऽ]ग्निरन्ध्रेण वायुना सह मित्रस्य विश्वेभिर्धामभिः सोम्यं मधु [पिब] पिबति [गृह्णाति] ॥ १० ॥

भावार्थः—अयं विद्युदाख्योऽग्निर्ब्रह्माण्डस्थेन वायुना शरीरस्थैः प्राणैः सह वर्तमानः सन् सर्वेषां पदार्थानां सकाशाद् रस गृहीत्वोद्गिरति, तस्मादयं मुख्यं शिल्पसाधनमस्तीति ॥१०॥

किसके साथ में यह विद्युत् अग्नि क्रियाओं की सिद्धि करानेवाला होता है, सो अगले मन्त्र में कहा है—

पदार्थान्वयभाषा—यह (अग्ने) अग्नि (रन्ध्रेण) परमाणुओं में प्रवेश करनेवाले, (वायुना) स्पर्शवान् वा गमन करनेहारे, और (मित्रस्य) सब में रहनेवाले तथा सब के प्राणरूप होकर वर्त्तनेवाले वायु के साथ (विश्वेभिः) सब (धामभिः) स्थानों में (सोम्यम्) सोमसम्पादन के योग्य (मधु) मधुर आदि गुणयुक्त पदार्थ को (पिब) ग्रहण करता है ॥ १० ॥

भावार्थ—यह विद्युत्रूप अग्नि ब्रह्माण्ड में रहनेवाले पवन तथा शरीर में रहनेवाले प्राणों के साथ वर्त्तमान होकर सब पदार्थों से रस को ग्रहण करके उगलता है, इससे यह मुख्य शिल्पविद्या का साधन है ॥ १० ॥

❧

अथाग्निशब्देनेश्वर उपदिश्यते—

त्वं होता मनुर्हितोऽग्ने यज्ञेषु सीदसि । सेमं नो अध्वरं यज ॥११॥

त्वम् । होता । मनुःऽहितः । अग्ने । यज्ञेषु । सीदसि ॥ सः । इमम् । नः । अध्वरम् । यज ॥११॥

पदार्थः—(त्वम्) जगदीश्वरः (होता) सर्वस्य दाता (मनुर्हितः) मनुयो मननकर्त्तारो मनुष्यादयो हिता धृता येन सः (अग्ने) पूजनीयतम (यज्ञेषु) क्रियाकाण्डादिविज्ञानान्तेषु सङ्गमनीयेषु (सीदसि) अवस्थितोऽसि (सः) जगत्स्रष्टा धर्त्ता च (इमम्) अस्मदनुष्ठीयमानम्। अत्र सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्। अ० ६।१।१३० अनेन सोर्लोपः। (नः) अस्माकम् (अध्वरम्) अहिंसनीयं सुखहेतुम् (यज) सङ्गमयास्य सिद्धिं संपादय ॥ ११ ॥

अन्वयः—हे अग्ने! यस्त्वं मनुर्हितो होता यज्ञेषु सीदसि, स त्वं नोऽस्माकमिममध्वरं यज संगमय ॥ ११ ॥

भावार्थः—येनेश्वरेण सर्वे मनुष्यादयः प्राणिन उत्पाद्य धारिता, यस्मादयं सर्वेषु कर्मोपासनाज्ञानकाण्डेषु पूज्यतमोऽस्ति, तस्मात् स एवेदं जगदाख्यं यज्ञं संगमयित्वा[1]ऽस्मान् सुखयतीति ॥ ११ ॥

१. संगम करोति संगमयति। 'प्रातिपदिकाद् धात्वर्थे०' (अ० ३।१।२६ वा०) इत्यादिना णिच्, ततः क्त्वा। अत एवात्र ल्यपोऽभावः।

अब अगले मन्त्र में अग्नि शब्द से ईश्वर का उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (अग्ने) अतिशय करके पूजन करने योग्य जगदीश्वर ! जो (त्वम्) प (मनुर्हितः) मनुष्य आदि के धारण करनेवाले, और (होता) सब पदार्थों के देनेवाले, यज्ञेषु) क्रियाकाण्ड से लेकर विज्ञान पर्य्यन्त ग्रहण करने योग्य यज्ञों में (सीदसि) वस्थित हो रहे हो, (सः) सो आप (नः) हमारे (इमम्) इस (अध्वरम्) ग्रहण योग्य सुख हेतु यज्ञ को (यज) संगत कीजिये, अर्थात् इसकी सिद्धि को दीजिये ॥ ११ ॥

भावार्थ—जिस ईश्वर ने सब मनुष्य आदि प्राणियों के शरीर आदि पदार्थों को उत्पन्न रके धारण किया है, तथा जो यह सब कर्म उपासना तथा ज्ञानकाण्ड में अतिशय से पूजने के ाग्य है, वही इस जगत्रूपी यज्ञ को सिद्ध करके हम लोगों को सुखयुक्त करता है ॥ ११ ॥



पुनरेकस्य भौतिकस्याग्नेर्गुणा उपदिश्यन्ते—

युक्ष्वा ह्यरुषी रथे हरितो देव रोहितः । ताभिर्देवाँ इहावह ॥ १२ ॥

युक्ष्व । हि । अरुषीः । रथे । हरितः । देव । रोहितः ॥ ताभिः । देवान् । इह । आ । वह ॥ १२ ॥

पदार्थः—(युक्ष्व) योजय । अत्र बहुलं छन्दसि [अ० २।४।७३] इति शपो लुकि नमभावः[1] । (हि) यतः (अरुषीः) रक्तगुणा अरुष्यो गमनहेतवः । अत्र बाहुलकादुषच्[2] त्ययः । अन्यतो ङीप् । अ० ४ । १ । ४० अनेन ङीष्[3] प्रत्ययः । वा छन्दसि । अ० ६।१।१०२ नेन जसः पूर्वसवर्णम् । (रथे) भूसमुद्रान्तरिक्षेषु गमनार्थे याने (हरितः) हरन्ति यास्ता वालाः (देव) विद्वन् (रोहितः) रोहयन्त्यारोहयन्ति यानानि यास्ताः । अत्र हृसृरुहियुषिभ्य तिः । उ० १ । ९७ अनेन 'रुह' धातोरितिः प्रत्ययः । (ताभिः) एताभिः (देवान्) दिव्यान् क्रयासिद्धान् व्यवहारान् (इह) अस्मिन् संसारे (आ) समन्तात् (वह) प्रापय ॥१२॥

अन्वयः—हे देव ! विद्वँस्त्वं रथे रोहितो हरितोऽरुषीर्युक्ष्व, ताभिरिह देवानावह प्रापय ॥१२॥

---

१. अत्र पूर्वत्र ५३१ पृष्ठस्था प्रथमा टिप्पणी द्रष्टव्या ।

२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'उषन्' इत्यपपाठः । अत्र 'पृनहिकलिभ्यः उषच्' (उ० ४।७५) इत्यनेन विहितोऽर्त्तेरपि द्रष्टव्यः । चित्त्वादन्तोदात्तोऽरुषशब्दः ।

३. प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वे प्राप्ते छान्दसत्वाद् वृषादेराकृतिगणत्वाद् (अ० ६।१।१९७) वाऽऽद्युदात्तत्वम् । वस्तुतस्तु अरुष—अरुषी, आयस—आयसी इत्यादिषु अन्तोदात्तानां स्त्रियामाद्युदात्तत्वं दृश्यते, तस्मादत्र स्त्रियां ङीनुपसंख्येयः । सायणस्तु 'अहृनिम्यामुषन्' (उ० १।७३) इत्युषन् विधाय 'नित्त्वादाद्युदात्तोऽरुषशब्दः' इत्याह, तदरुषशब्दस्य सर्वत्रैवान्तोदात्तत्वदर्शनाच्चिन्त्यम् । अरुषोऽन्तोदात्तत्वे च ङीपः स्थाने ङीन् छान्दसो विधेयः । ४. अन्वये 'हि' पदं त्यक्तम् ।

भावार्थः—विद्वद्भिरग्न्यादिपदार्थान् कलायन्त्रयानेषु संयोज्य तैरिहास्मिन् संसारे मनुष्याणां सुखाय दिव्याः पदार्थाः प्रकाशनीया इति ॥ १२ ॥

अथ चतुर्दशस्यास्य सूक्तस्य विश्वेषां देवानां गुणप्रकाशनेन क्रियार्थसमुच्चयात् त्रयोदश-सूक्तार्थेन सह संगतिरस्तीति बोध्यम् ॥

इदमपि सूक्तं सायणाचार्य्यादिभिर्यूरोपदेशनिवासिभिर्विलसनादिभिश्चान्यथैव व्याख्यातम् ॥

इति चतुर्दशं सूक्तं सप्तविंशो वर्गश्च समाप्तः ॥

फिर अगले मन्त्र में अकेले भौतिक अग्नि के गुणों का उपदेश किया है—

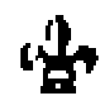
पदार्थान्वयभाषा—हे (देव) विद्वान् मनुष्य ! तू (रथे) पृथिवी समुद्र और अन्तरिक्ष में जाने आने के लिये विमान आदि यान में (रोहितः) नीची-ऊंची जगह उतारने-चढ़ाने, (हरितः) पदार्थों को हरने, (अरुषीः) लालरङ्गयुक्त तथा गमन करानेवाली ज्वाला अर्थात् लपटों को (युक्ष्व) युक्त कर। और (ताभिः) इनसे (इह) संसार में (देवान्) दिव्यक्रियासिद्ध व्यवहारों को (आवह) अच्छी प्रकार प्राप्त कर ॥ १२ ॥

भावार्थ—विद्वानों को कला और विमान आदि यानों में अग्नि आदि पदार्थों को संयुक्त करके इनसे इस संसार में मनुष्यों के सुख के लिये दिव्य पदार्थों का प्रकाश करना चाहिये ॥१२॥

सब देवों के गुणों के प्रकाश तथा क्रियाओं के समुच्चय से इस चौदहवें सूक्त की सङ्गति पूर्वोक्त तेरहवें सूक्त के साथ जाननी चाहिये ॥

इस सूक्त का भी अर्थ **सायणाचार्य्य** आदि विद्वान् तथा यूरोपदेशनिवासी विलसन आदि ने विपरीत ही वर्णन किया है ॥

यह चौदहवां सूक्त और सत्ताईसवां वर्ग पूरा हुआ ॥



अथ द्वादशर्चस्य पञ्चदशसूक्तस्य कण्वो मेधातिथिर्ऋषिः । ऋतवः; १ इन्द्रः, २ मरुतः, ३ त्वष्टा, ४ अग्निः, ५ इन्द्रः, ६ मित्रावरुणौ, ७-१० द्रविणोदाः, ११ अश्विनौ, १२ अग्निश्च देवताः[1] । गायत्री[2] छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

तत्र प्रत्यृतुं रसोत्पत्तिर्गमनं च भवतीत्युपदिश्यते—

इन्द्र सोमं पिब॑ ऋतुनाऽऽ त्वा॑ विशन्त्विन्द॑वः । मत्सरास॒स्तदो॑कसः ॥१॥

इन्द्र॑ । सोम॑म् । पिब॑ । ऋतुना॑ । आ । त्वा॒ । विशन्तु॑ । इन्द॑वः ॥ मत्सरास॑ः । तत्ऽओ॑कसः ॥१॥

१. प्रतिदैवतं प्रतिमन्त्रं सम्बन्धः ।

२. सामान्येनेति शेषः । विशेषेण तु—१, १२ निचृद्गायत्री; २, ४ भुरिग्गायत्री; ३, ५-१० गायत्री; ११ पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री ॥

पदार्थः—(इन्द्र) कालविभागकर्त्ता सूर्यलोकः (सोमम्) ओषध्यादिरसम् (पिब) पिबति। त्ययः, लडर्थे लोट् च। (ऋतुना) वसन्तादिभिः सह। अत्र जात्याख्यायामेकस्मिन् अन्यतरस्याम्। अ० १। २। ५८ अनेन जात्यभिप्रायेणैकत्वम्। (आ) समन्तात् (त्वा) णनमिममप्राणिनं पदार्थं सूर्यस्य किरणसमूहं वा (विशन्तु) विशन्ति। अत्र लडर्थे लोट्। जलानि, उन्दन्ति आर्द्रीकुर्वन्ति पदार्थांस्ते[1]। अत्र उन्देरिच्चादेः। उ० १। १२ इत्युः आदेरिकारादेशश्च। इन्दव[2] इत्युदकनामसु पठितम्। निघं० १। १२। (मत्सरासः) (तदोकसः) तान्यन्तरिक्षवाय्वादीन्योकांसि येषां ते॥ १॥

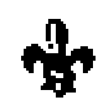
अन्वयः हे [3]मनुष्य! अयमिन्द्र ऋतुना सोमं पिब पिबति। इमे तदोकसो मत्सरास इन्दवो ऋतुना सह त्वा त्वां तं वा प्रतिक्षणमाविशन्त्वाविशन्ति॥ १॥

भावार्थः—अयं सूर्यः संवत्सरायनर्तुपक्षाहोरात्रमुहूर्त्तकलाकाष्ठानिमेषादिकालविभागान्। अत्राह मनुः—'निमेषा दश चाष्टौ च काष्ठा त्रिंशत्तु ताः कला। त्रिंशत्कला मुहूर्त्तः रात्रं तु तावतः' [१। ६४] इति। तैस्सह सर्वौषधिभ्यो रसान् सर्वस्थानेभ्य उदकानि ति। तानि किरणैः सहान्तरिक्षे निवसन्ति, वायुना सह गच्छन्त्यागच्छन्ति च॥१॥

अब पन्द्रहवें सूक्त का आरम्भ है। उसके प्रथम मन्त्र में ऋतु-ऋतु में रस की उत्पत्ति ति का वर्णन किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे मनुष्य! यह (इन्द्र) समय का विभाग करनेवाला सूर्य्य (ऋतुना) आदि ऋतुओं के साथ (सोमम्) ओषधि आदि पदार्थों के रस को (पिब) पीता है। (तदोकसः) जिनके अन्तरिक्ष वायु आदि निवास के स्थान हैं, तथा जो (मत्सरासः) आनन्द न्न करनेवाले (इन्दवः) जलों के रस हैं, वे वसन्त आदि ऋतुओं के साथ (त्वा) इस प्राणी वा सूर्य की किरणों को क्षण-क्षण (आविशन्तु) आवेश करते (=प्राप्त होते) हैं॥१॥

भावार्थ—यह सूर्य्य वर्ष, उत्तरायण दक्षिणायन, वसन्त आदि ऋतु, चैत्र आदि बारहों, शुक्ल और कृष्णपक्ष, दिनरात [4][जो ३० मुहूर्त्त का संयोग], मुहूर्त्त जो कि तीस कलाओं योग, कला जो ३० (तीस) काष्ठा का संयोग, काष्ठा जो कि अठारह निमेष का संयोग, निमेष आदि समय के विभागों को प्रकाशित करता है, जैसे कि मनुजी ने कहा है। और के साथ सब ओषधियों के रस और सब स्थानों से जलों को खींचता है। वे किरणों के साथ रक्ष में स्थित होते हैं, तथा वायु के साथ आते-जाते हैं॥ १॥



१. 'इन्दवः' पदमभिप्रेत्य पुंस्त्वम्। 'जलानि' पदमपेक्ष्य 'तानि' पाठेन भाव्यम्।

२. निघण्टौ 'इन्दुः' इत्येकवचनं दृश्यते।

३. वै० य० मुद्रितयोः १-२ संस्करणयो 'हे मनुष्या यमिन्द्र' इति प्रमादान्मुद्रणे संश्लिष्टः पाठः (=हे -|-अयमिन्द्र=हे मनुष्याऽयमिन्द्र)। ३-४ संस्करणयोः 'हे मनुष्या! यमिन्द्र' इत्येवं भ्रष्टतरं मुद्रितम्।

४. वै० य० मुद्रित चतुर्थसंस्करण में कोष्ठान्तर्गत पाठ बढ़ाया गया।

अथ ऋतुभिः सह मरुतः पदार्थानाकर्षन्ति पुनन्ति चेत्युपदिश्यते—

मरुतः पिबत ऋतुना पोत्राद् यज्ञं पुनीतन । यूयं हि ष्ठा सुदानवः ॥२॥

मरुतः । पिबत । ऋतुना । पोत्रात् । यज्ञम् । पुनीतन ॥ यूयम् । हि । स्थ । सुऽदानवः ॥२॥

पदार्थः—(मरुतः) वायवः । मृग्रोरुतिः । उ० १ । ६४ इति 'मृङ्' धातोरुति. प्रत्ययः । मरुत इति पदनामसु पठितम् । निघं० ५ । ५, अनेन गमनागमनक्रियाप्रापका वायवो गृह्यन्ते । (पिबत) पिबन्ति । अत्र व्यत्ययो लडर्थे लोट् च । (ऋतुना) ऋतुभिः सह (पोत्रात्) पुनाति येन गुणेन तस्मात् । अत्र सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् । उ० ४ । १५६ इति पूञ्धातोः ष्ट्रन् प्रत्ययः, स्वरव्यत्ययश्च[1] । (यज्ञम्) त्रिविधं पूर्वोक्तम् (पुनीतन) पुनन्ति पवित्रीकुर्वन्ति । अत्र व्यत्ययो लडर्थे लोट् तकारस्य तनबादेशश्च[2] । (यूयम्) एते (हि) यतः (स्थ) सन्ति । अत्र पुरुषव्यत्ययो लडर्थे लोट्, अन्येषामपि दृश्यते [अ० ६ । ३ । १३६] इति दीर्घश्च । (सुदानवः) सुष्ठु दानहेतवः । दाभाभ्यां नुः । उ० ३ । ३१ इति सूत्रेण नुः प्रत्ययः ॥ २ ॥

अन्वयः—इमे मरुत ऋतुना सर्वान् पिबत पिबन्ति, त एव पोत्राद्यज्ञं पुनीतन पुनन्ति, हि यतो यूयमेते सुदानवः स्थ सन्ति, तस्माद् युक्त्या योजिता [एते] कार्य्यसाधका भवन्तीति ॥२॥

भावार्थः—ऋतुपर्य्यायेण वायुष्वपि गुणा यथाक्रममुत्पद्यन्ते । तद्विशिष्टाः सर्वेषां त्रसरेण्वादीनां चेष्टानां च हेतवः सन्ति । अग्नौ सुगन्ध्यादिहोमद्वारा पवित्रीभूत्वा सर्वान् सुखयुक्तान् कृत्वा त एव दानादानहेतवो भवन्ति ॥ २ ॥

अब ऋतुओं के साथ पवन आदि सब पदार्थों को खींचते और पवित्र करते हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—ये (मरुतः) पवन (ऋतुना) वसन्त आदि ऋतुओं के साथ सब रसों को (पिबत) पीते हैं। वे ही (पोत्रात्) अपने पवित्रकारक गुण से (यज्ञम्) उक्त तीन प्रकार के यज्ञ को (पुनीतन) पवित्र करते हैं। तथा (हि) जिस कारण (यूयम्) ये (सुदानवः) पदार्थों के अच्छी प्रकार दिलाने[=प्राप्त कराने]वाले (स्थ) हैं, इससे ये युक्ति के साथ क्रियाओं में युक्त किए हुए कार्य्यों को सिद्ध करते हैं ॥ २ ॥

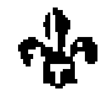
---

१. वै० य० मुद्रिते चतुर्थसंस्करणे 'सुदाऽनवः' इत्येवं पाठो भ्रष्टः ।

२. ष्ट्रनि नित्त्वादाद्युदात्तत्वे प्राप्ते स्वरव्यत्ययेनान्तोदात्तत्वमित्यर्थः । यद्वा—'दाद्भिस्यदछन्दसि' (उ० ४।१७०) इति सूत्रेण 'त्रः' प्रत्ययः (द्र०—दशपादी उ० वृ० ८।६०, पृष्ठ ३४८) । त्रे प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वमञ्जसा सिद्ध्यति । सायणस्तु 'पोत्रात् पोतृसम्बन्धिपात्रं पोत्रम् । तस्येदम् (अ० ४।३।१२०) इत्यण्' इत्युक्त्वाऽऽद्यवृद्ध्यभावाय, वृद्धिं विधाय पुनर्ह्रस्वत्वाय च प्रयतितवान्, तत्सर्वं चिन्त्यम् । मन्त्रे 'पोत्रात् यज्ञं पुनीतन' इत्यनेन स्पष्टमेव यत् पुनातेरत्र पोत्रशब्दः । न तु पोतृ-ऋत्विक्सम्बन्धात् सोमपात्रं पोत्रम् ।

३. द्र०—अष्टा० ७।१।४५ ॥

ावार्थ—ऋतुओं के अनुक्रम से पवनों में भी यथायोग्य गुण उत्पन्न होते हैं। इसी से वे ादि पदार्थों या क्रियाओं के हेतु होते हैं। तथा अग्नि के बीच में सुगन्धित पदार्थों के होम ावित्र होकर प्राणीमात्र को सुखसंयुक्त करते हैं, और वे ही पदार्थों के देने-लेने में हेतु २ ॥



अथर्तुना सह विद्युत् किं करोतीत्युपदिश्यते—

ाभि युज्ञं गृणीहि नो ग्नावो नेष्टः पिबं ऋतुना। त्वं हि रत्नधा असि ॥३॥

ाभि। युज्ञम्। गृणीहि। नः। ग्नावः। नेष्टरिति। पिबं। ऋतुना॥ त्वम्। हि। रत्नऽधाः।

दार्थः—(अभि) आभिमुख्ये (यज्ञम्) संगम्यमानं पूर्वोक्तं [त्रिविधं यज्ञम्] (गृणीहि) स्तुतिहेतुर्भवति। अत्र व्यत्ययो लडर्थे लोट् च। (नः) अस्माकम् (ग्नावः) सर्वपदार्थ-स्य[1] व्यवहारे [ग्नाः]। ग्ना इति उत्तरपदनामसु[2] पठितम्। निघं० ३। २९[3]। (नेष्टः) दार्थशोधकत्वात् पोषकत्वाच्च नेनेक्ति सर्वान् पदार्थानिति। नप्तृनेष्टृ०। उ० २। ९६ ।पातनम्। (पिब) पिबति। अत्र व्यत्ययो लडर्थे लोट् च। (ऋतुना) ऋतुभिः सह सोऽयम् (हि) यतः (रत्नधाः) रत्नानि रमणार्थानि पृथिव्यादीनि वस्तूनि दधातीति सः अस्ति। अत्र व्यत्ययः॥ ३॥

अन्वयः—हे विद्वन्! [हि] यत इयं नेष्टर्नेष्ट्री[4] विद्युद् ऋतुना सह रसान् पिब पिबति, अस्यस्ति, [त्वं] सा ग्नावो ग्नावती[5] न इमं यज्ञमभिगृणीहि गृणाति। तस्मात् त्वमेतया ग साधय॥ ३॥

भावार्थः—इयं विद्युदग्नेः सूक्ष्मावस्था वर्त्तते। सा सर्वान् मूर्त्तद्रव्यसमूहावयवानभिव्याप्य छिनत्ति वा, अतः[6] एव चाक्षुषो[7]ऽग्निः प्रादुर्भवत्यत्रैवान्तर्दधाति चेति॥३॥

---

१. अनेन गत्यर्थो निर्दिशितः। ग्नाशब्दात् मतुपि वत्वे च 'मतुवसो रु संबुद्धौ छन्दसि' (अ० ८।३।१) रुत्वम्। आमन्त्रितस्वरः। अत्र व्यत्ययेन प्रथमार्थः। 'यस्य' स्थाने 'यस्मिन्' पदं साधु स्यात्।

२. निघण्टौ 'उत्तराणि नामानि' इत्येव पाठः। विभक्त्यन्तपाठात् स्वतः प्राप्तं पदत्वं भाष्यकृता 'उत्तरपदनामसु' इत्युक्तम्।

३. वै० य० मुद्रितेषु १, २, ३ संस्करणेषु '१६' संख्या निर्दिश्यते, साऽशुद्धा ज्ञेया।

४. भाष्यकारेण अग्निपदस्य 'विद्युद्' अर्थकरणात् नेष्टरिति पुंल्लिगं स्त्रीलिङ्गे परिवर्तितम्।

५. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'स ग्नावो ग्नावान्' इत्यपपाठः। विद्युदर्थत्वाऽपि स्त्रीत्वं युक्तम्, इति मानिस्तथा पाठः शोधितः।

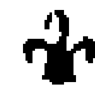
६. अयं पार्थिवोऽग्निश्चाक्षुष मध्यमस्थानीयाद् विद्युत उत्तमस्थानीयात् सूर्याच्चोत्पद्यते। अस्य जन्म यास्केन 'कथं त्वेताभ्यां जायते' (निरु० ७। २२) इत्यादिनोपपादितम्। तत्रैव द्रष्टव्यम्।

७. सोऽयं (अ० ४। २। ९२) इति लक्षणमधिकारश्च। तेन चक्षुषा गृह्यते चाक्षुषः प्रत्यक्ष इति द्र०—काशिका ४। २। ९२॥

अब ऋतुओं के साथ विद्युत् अग्नि क्या करता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे विद्वन्! (हि) जिस कारण यह (नेष्टः) शुद्धि और पुष्टि आदि हेतुओं से सब पदार्थों का प्रकाश करनेवाली [1]बिजुली (ऋतुना) ऋतुओं के साथ रसों को (पिब) पीती है, तथा (रत्नधाः) उत्तम पृथिव्यादि पदार्थों को धारण करने [वा देनेवाली[1]] (असि) है, [(त्वम्)] सो यह (ग्नावः) सब पदार्थों को प्राप्ति करानेहारी (नः) हमारे इस (यज्ञम्) यज्ञ को (अभिगृणीहि) सब प्रकार से ग्रहण करती है, इसलिये तुम लोग इससे सब कार्यों को सिद्ध करो ॥ ३ ॥

भावार्थ—यह बिजुली अग्नि की सूक्ष्म अवस्था है। सो सब स्थूल पदार्थों के अवयवों में व्याप्त होकर उनको धारण और छेदन करती है। इसी[2] से यह प्रत्यक्ष अग्नि उत्पन्न होके उसी में विलीन जाता है ॥ ३ ॥



अग्निरपि ऋतुयोजको भवतीत्युपदिश्यते—

अग्ने॑ दे॒वाँ इ॒हा व॑ह सा॒दया॒ योनि॑षु त्रि॒षु। परि॑ भू॒ष पिब॑ ऋ॒तुना॑ ॥४॥

अग्ने॑। दे॒वान्। इ॒ह। आ। व॒ह॒। सा॒दय॑। योनि॑षु। त्रि॒षु॥ परि॑। भू॒ष॒। पिब॑। ऋ॒तुना॑ ॥४॥

पदार्थः—(अग्ने) अग्निर्भौतिको विद्युत्प्रसिद्धो वा (देवान्) दिव्यगुणसहितान् पदार्थान् (इह) अस्मिन् संसारे (आ) समन्तात् (वह) वहति प्रापयति (सादय) हन्ति। अत्रोभयत्र व्यत्ययः, लडर्थे लोट् च[3], अन्येषामपि दृश्यते [अ० ६। ३। १३६] इति दीर्घश्च[4]। (योनिषु) युवन्ति मिश्रीभवन्ति येषु कार्य्येषु कारणेषु वा तेषु। अत्र वहिश्रिश्रु०। उ० ४। ५१ अनेन 'यु' धातोर्निः प्रत्ययो निच्च। (त्रिषु) नामजन्मस्थानेषु त्रिविधेषु लोकेषु (परि) सर्वतोभावे (भूष) भूषत्यलंकरोति (पिब) पिबति। अत्रापि व्यत्ययः[5]। (ऋतुना) ऋतुभिः सह ॥ ४ ॥

अन्वयः—[अग्ने] भौतिकोऽयमग्निरिहर्तुना त्रिषु योनिषु देवान् दिव्यान् सर्वान् पदार्थान् आवह समन्तात् प्रापयति, सादय स्थापयति, परिभूष सर्वतो भूषत्यलंकरोति, सर्वेभ्यो रसं पिब पिबति ॥ ४ ॥

---

१. डुधाञ् धातु के प्राचीनाचार्यों के मत में दान और धारण दोनों अर्थ हैं।

२. इसी से अर्थात् विद्युद्रूप अग्नि से यह चाक्षुष पार्थिव अग्नि उत्पन्न होती है। पार्थिव अग्नि की विद्युत् और सूर्य से कैसे उत्पत्ति होती है, इसका निरूपण यास्क ने निरुक्त ७।२२ में किया है।

३. ख.कोशे सम्पूर्णः पाठो दृश्यते। ग.कोशे प्रतिलिपिकर्त्रा त्यक्तः, इति कृत्या नोपलभ्यते। अतः 'अत्रोभयत्र व्यत्ययः' पुनर्वर्धितः।

४. दीर्घत्वं केवलं 'सादया' इत्यत्रैव ज्ञेयम्।

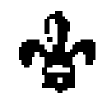
५. लडर्थे लोट् चेति शेषः।

वार्थः—अयमग्निर्दाहगुणयुक्तो रूपप्रकाशेन सर्वान् पदार्थानुपर्य्यधोमध्यस्थान् शोभितान् हवने शिल्पविद्यायां च संयोजितः सन् दिव्यानि सुखानि प्रकाशयतीति ॥ ४ ॥

ग्न भी ऋतुओं का संयोजक होता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

र्थान्वयभाषा—यह (अग्ने) प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष भौतिक अग्नि वा विद्युत् (इह) में (ऋतुना) ऋतुओं के साथ (त्रिषु) तीन प्रकार के (योनिषु) जन्म नाम और लोकों में (देवान्) श्रेष्ठ गुणों से युक्त पदार्थों को (आ वह) अच्छी प्रकार प्राप्त सादय) स्थापित करता, (परिभूष) सब ओर से भूषित करता, और सब पदार्थों के (पिब) पीता है ॥ ४ ॥

वार्थ—दाहगुणयुक्त यह अग्नि अपने रूप के प्रकाश से ऊपर-नीचे वा मध्य में रहनेवाले को अच्छी प्रकार सुशोभित करता है। तथा होम और शिल्पविद्या में संयुक्त किया सुखों का प्रकाश करता है ॥ ४ ॥



ऋतुना सह वायुः किं करोतीत्युपदिश्यते—

ाह्मणादिन्द्र राधसः पिबा सोममृतूँरनु । तवेद्धि सख्यमस्तृतम् ॥५॥

ाह्मणात् । इन्द्र । राधसः । पिब । सोमम् । ऋतून् । अनु ॥ तव । इत् । हि । सख्यम् । ॥ ५ ॥

वार्थः—(ब्राह्मणात्)[1] ब्रह्मणो [2]बृहतोऽवयवात् । अत्र अनुदात्तादेश्च[3] । अ० ४ । ३ । यवयवार्थेऽञ् प्रत्ययः । (इन्द्र) ऐश्वर्य्यजीवनहेतुत्वाद् वायुः । (राधसः) पृथिव्यादि- । अत्र सर्वधातुभ्योऽसुन् [उ० ४ । १८९ । इत्यसुन्[5]] प्रत्ययः । (पिब) पिबति गृह्णाति । यचो लडर्थे लोट्, द्व्यचोऽतस्तिङः [अ० ६ । ३ । १३४] इति दीर्घश्च । (सोमम्) म् (ऋतून्) रसाहरणसाधकान् (अनु) पश्चात् (तव) तस्य प्राणरूपस्य (इत्) एव लु (सख्यम्) मित्रस्य भाव इव (अस्तृतम्) हिंसारहितम् ॥५॥

वै० य० मुद्रितेषु सर्वसंस्करणेषु 'ब्राह्मणो' इत्यपपाठः । ख.ग.कोशयोः 'ब्रह्मणो' इति शुद्धः पाठ ।

२. वै० य० मुद्रितयोः १, २ संस्करणयोः 'बृअहतोऽवयवात्' अपपाठः ।

३. ब्रह्मन् नपुंसकलिङ्ग आद्युदात्तः, पुंल्लिङ्गश्चान्तोदात्तो मन्त्रेष्वसकृत् प्रयुज्यते । अत्रान्तोदात्ताद् ादनेनावयवार्थेऽञ् प्रत्ययो द्रष्टव्यः ।

४. धात्वर्थयोगाद् धनशब्दोऽत्र 'पृथिव्यादिषु निहितात् जलात्' इत्येवंरूपेण व्याख्येयः । यद्वा—निघण्टौ २) उदकनामसु धनपर्यायस्य 'रयिः' पदस्य पाठात् तथाऽर्थो नेयः ।

५. 'इत्यसुन्' इति पाठो वै० य० मुद्रिते तृतीयसंस्करणे वर्धितः ।

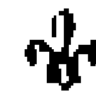
अन्वयः—य इन्द्र वायुर्ब्राह्मणाद् राधसोऽनुऋतून् सोमं पिब पिबति गृह्णाति, [अत इत् एव] हि खलु [तव] तस्य वायोर् [ऋतुभिर्] अस्तृतं सख्यमस्ति ॥ ५ ॥

भावार्थः—मनुष्यैर्जगत्स्रष्ट्रेश्वरेण ये ये यस्य यस्य वाय्वादेः पदार्थस्य मध्ये नियमाः स्थापितास्तान् विदित्वा[1] कार्य्याणि साधनीयानि । तत्सिद्ध्या सर्वर्त्तुषु सर्वप्राण्यनुकूलं हितसंपादनं कार्य्यम् । युक्त्या सेविता एते मित्रवद्भवन्त्ययुक्त्या च शत्रुवदिति वेद्यम् ॥ ५ ॥

ऋतुओं के साथ वायु कैसा-कैसा कार्य करता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—जो (इन्द्र) ऐश्वर्य का जीवन का हेतु वायु (ब्राह्मणात्) बड़े [ब्रह्माण्ड] के अवयवरूप (राधसः) पृथिवी आदि लोकों में निमित्त जलों से (अनुऋतून्) अपने-अपने प्रभाव से पदार्थों के रस को हरनेवाले वसन्त आदि ऋतुओं के अनुक्रम से (सोमम्) सब पदार्थों के रस को (पिब) ग्रहण करता है, इसमें (इत् हि) निश्चय ही (तव) उस वायु का ऋतुओं के साथ (अस्तृतम्) अविनाशी (सख्यम्) मित्रपन है ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि '[2]जगत् के रचनेवाले परमेश्वर ने जो-जो जिस-जिस वायु आदि पदार्थों में नियम स्थापन किये हैं, उन-उन को जानकर कार्यों की सिद्धि, और उस सिद्धि से सब ऋतुओं में सब प्राणियों के अनुकूल हित सम्पादन करना चाहिये । युक्ति के साथ सेवन किये हुए ये पदार्थ मित्र के समान होते हैं । और इससे विपरीत शत्रु के समान होते हैं, ऐसा जानना चाहिये ॥ ५ ॥



इदानीं वायुविशेषौ प्राणोदानावृतुना सह किं कुरुत इत्युपदिश्यते—

युवं दक्षं धृतव्रत मित्रावरुण दूळभम् । ऋतुना यज्ञमाशाथे ॥६॥

युवम् । दक्षम् । धृतऽव्रता । मित्राऽवरुणा । दुःऽदभम् । ऋतुना । यज्ञम् । आशाथे इति ॥६॥

पदार्थः—(युवम्) ताविमौ । अत्र व्यत्ययः, प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम् । अ० ७ । २ । ८८ इति भाषायामाकारस्य विधानाद्वेद आकारादेशो न । (दक्षम्) बलम् (धृतव्रता) धृतानि

---

१. अयं भावार्थो 'ब्राह्मणात्' पदस्य भूतपूर्वव्याख्यानुसारं ज्ञेयः । ह.ग.कोशयोः 'ब्राह्मणात्' पदस्येत्थं व्याख्यानं दृश्यते—'ब्रह्मणो जगत्स्रष्टुरिदं नियमस्थापनं तस्मात् । अत्र 'तस्येदम्' [अ० ४।१।१२०] इत्यण् ।' पदार्थे परिवर्तिते भावार्थस्य तथा परिवर्तनमावश्यकमासीत्, तच्चात्र नानुष्ठितमिति कृत्वा भेदः प्रतीयते ।

२. यह भावार्थ ह.ग.कोशस्थ 'ब्राह्मणात्' पद के व्याख्यानानुसार है । भाषा-पदार्थ भी ह. ग.कोश में संस्कृत-पदार्थ के समान '(ब्राह्मणात्)' जगत् के रचनेवाले परमेश्वर के नियमों के स्थापन से सम्पादित' पाठ था । परन्तु मुद्रणकाल में संस्कृत और भाषा-पदार्थ वर्तमान पाठानुसार बना दिया । भावार्थ पूर्ववत् ही रह गया ।

न बलानि याभ्यां तौ (मित्रावरुणा) मित्रश्च वरुणश्च तौ प्राणोदानौ[1]। अत्रोभयत्र सुलुग्० इति विभक्तेराकारादेशो व्यत्ययेन ह्रस्वत्वं[2] च। (दूळभम्) शत्रुभिर्दुःखेन नतुमर्हम् । दुरो दाशनाशदभध्येषूत्वं वक्तव्यमुत्तरपदादेश्च ष्टुत्वम् । अ० ६ । ३ । १०९ वार्तिकेन दुर इत्यस्य रेफस्योकारः सवर्णदीर्घादेशो धातोर्दकारस्य डकारश्च, खलन्तं रूपम्[3]। णाचार्य्येण दूडभपदस्य 'दह' धातो रूपमिति साधितं, तन्महाभाष्यकारव्याख्यानविरुद्धत्वाद-मेव[4]। (ऋतुना) ऋतुभिः[5] सह (यज्ञम्) पूर्वोक्तं त्रिविधं क्रियाजन्यम् (आशाथे) व्याप्त-स्तः। अत्र व्यत्ययः॥ ६॥

अन्वयः—युवमिमौ [धृतव्रता] धृतव्रतौ [मित्रावरुणा] मित्रावरुणावृतुना दूळभं दक्षं माशाथे व्याप्तवन्तौ स्तः॥ ६॥

भावार्थः—सर्वमित्रो बाह्यगतिः प्राणः, आभ्यन्तरगतिर्बलसाधको वरुण उदानः, एताभ्या-प्राणिभिः सर्वजगदाख्यो यज्ञो बलं चर्तुयोगेन धृत्वा व्याप्यते, येन सर्वे व्यवहाराः ध्यन्तीति॥ ६॥

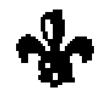
इत्यष्टविंशो वर्गः समाप्तः॥

अब वायुविशेष प्राण वा उदान ऋतुओं के साथ क्या-क्या करते हैं, इस बात का उपदेश गले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—(युवम्) ये (धृतव्रता) बलों को धारण करनेवाले (मित्रावरुणा) ण और उदान (ऋतुना) ऋतुओं के साथ (दूळभम्) शत्रुओं से दुःख के साथ धर्षण करने ग्य (दक्षम्) बल, तथा (यज्ञम्) उक्त तीन प्रकार के यज्ञ को (आशाथे) व्याप्त होते हैं॥६॥

भावार्थ—सब का मित्र बाहर आनेवाला प्राण, तथा शरीर के भीतर रहनेवाला उदान है। न्हीं से प्राणी सब संसाररूप यज्ञ और बल को ऋतुओं के साथ धारण करके व्याप्त होते हैं। जससे सब व्यवहार सिद्ध होते हैं॥ ६॥

यह अट्ठाईसवां वर्ग पूरा हुआ॥



१. प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ। श० १। ८। ३। १२॥

२. इदमाकारादेशस्य ह्रस्वत्वं पदपाठानुसारं ज्ञेयम्। मन्त्रपाठस्तु द्विवचनस्य लुकाऽप्युपपद्यते।

३. वार्तिके 'दभ' निपातनादेव च दम्भेरनुनासिकलोपोऽपि द्रष्टव्यः।

४. तथा चाह सायणाचार्यः—'दुःखेन दह्यते इति दुर्दहः। ······व्यत्ययो बहुलम् इति उकारस्य ऊकारो रेफस्य लोपो दकारस्य डकारो हकारस्य च भकारः' इति। इदं व्याख्यानं महाभाष्यात् पदपाठात् स्ववचो-विरुद्धं च। महाभाष्यविरोध उपरि निर्दिष्टः। पदपाठविरोधस्त्वित्थं ज्ञेयः—पदकारो ह्यत्रोत्तरपदं दम्भेर-नुजानानः 'दुःऽदभः' इत्येवं निर्दिशति। दहे रूपे तु पदपाठे यथाऽन्यच्छान्दसकार्याण्यपहाय रूपं प्रदर्शयति, तथा दहेर्भत्वमपि निराकृत्य 'दुःऽदहः' रूपं प्रादर्शयिष्यत्। स्ववचोविरोधस्तु—इदमेकं विहायान्यत्र सर्वत्र 'दूळभ'-व्याख्याने प्रत्यक्षाप्रत्यक्षरूपेण दम्भेरेवार्थनिर्देशात् स्पष्ट एव।

५. जातावेकवचनमाश्रित्य बहुवचनेनार्थनिर्देशः।

पुनरीश्वरभौतिकगुणा उपदिश्यन्ते—

द्रविणोदा द्रविणसो ग्रावहस्तासो अध्वरे । यज्ञेषु देवमीळते ॥७॥

द्रविणःऽदाः । द्रविणसः । ग्रावऽहस्तासः । अध्वरे ॥ यज्ञेषु । देवम् । ईळते ॥७॥

पदार्थः—(द्रविणोदाः) द्रविणांसि विद्याबलराज्यधनानि ददातीति स परमेश्वरो भौतिको वा। द्रविणमिति बलनामसु पठितम्। निघं० २। ९। द्रविणमित्यपि पदनामसु पठितम्। निघं० ५। २। द्रविणं करोति द्रविणति, अस्मात् सर्वधातुभ्योऽसुन् [उ० ४। १८९] इत्यसुन् प्रत्ययः, तद्ददातीति निरुक्त्या, पदनामसु पठितत्वाज्ज्ञानस्वरूपत्वादीश्वरो ज्ञानक्रियाहेतुत्वादग्न्यादयश्च[1] गृह्यन्ते। द्रूयन्ते प्राप्यन्ते यानि तानि द्रविणानि[2]। द्रुदक्षिभ्यामिनन्। उ० २। ५० अनेन 'द्रु' धातोरिनन् प्रत्ययः। (द्रविणसः) यज्ञकर्तारः द्रविणसंपादकाः[3]। (ग्रावहस्तासः) ग्रावा स्तुतिसमूहो ग्रहणं हननं वा[4], ग्रावाणः पाषाणादयो यज्ञशिल्पविद्यासिद्धिहेतवो हस्तेषु येषां ते। ग्रावाणो हन्तेर्वा गृणातेर्वा गृह्णातेर्वा। निरु० ९। ८। (अध्वरे) अनुष्ठातव्ये क्रियासाध्ये यज्ञे (यज्ञेषु) अग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तेषु शिल्पविद्यामयेषु वा (देवम्) दिव्यगुणवन्तम् (ईळते) स्तुवन्ति अध्येषन्ति वा।

एतद्विषयान् मन्त्रान् यास्कमुनिरेवं व्याख्यातवान्—द्रविणोदाः कस्मात्? धनं द्रविणमुच्यते यदेनदभिद्रवन्ति। बलं वा द्रविणं यदेनेनाभिद्रवन्ति। तस्य दाता द्रविणोदास्तस्यैषा भवति—'द्रविणोदा द्रवि०'। द्रविणोदा यस्त्वं द्रविणस इति द्रविणसादिन इति वा द्रविणसानिन इति वा द्रविणसस्तस्मात् पिबत्विति वा। यज्ञेषु देवमीडते याचन्ति स्तुवन्ति वर्धयन्ति पूजयन्तीति वा।

तत्को द्रविणोदाः? इन्द्र इति क्रौष्टुकिः, स बलधनयोर्दातृतमस्तस्य च सर्वा बलकृतिः, 'ओजसो जातमुत मन्य एनम्[5]' इति चाह। अथाप्यग्निं द्राविणोदसमाह। एष पुनरेतस्माज्जायते—'यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान[6]' इत्यपि निगमो भवति। अथाप्यृतुयाजेषु द्राविणोदसाः प्रवादा भवन्ति, तेषां पुनः पात्रस्यैन्द्रपानमिति भवति। अथाप्येनं सोमपानेन स्तौति। अथाप्याह—'द्रविणोदाः पिबतु द्राविणोदसः[7]' इति। अयमेवाग्निर्द्रविणोदा इति शाकपूणिः। आग्नेयेष्वेव हि

१. प्रकृतमन्त्रेऽग्निरेव गृह्यते, यथा पूर्वं 'भौतिको वा' इत्युक्तम्। तथाप्यत्र द्रविणोदाःपदेन भिन्नार्थोऽपि ग्रहीतुं शक्य इति निदर्शयितुमिहाग्न्यादिपदस्य निर्देशो ज्ञेयः।

२. ख.कोशे 'द्रूयते प्राप्यते यत्तद् द्रविणम्' इत्येकवचनान्तः पाठः।

३. निरुक्ते द्रविणसादिनः, द्रविणसानिन इत्युभयथा निर्देशः (द्र०—उद्ध्रियमाणो निरुक्तपाठः)। तत्र द्रविणपदस्य द्रविणसाधके यज्ञे लक्षणया प्रयोगे 'यज्ञकर्तारः' इत्यर्थः। मन्त्रार्थेऽपरो 'द्रविणसम्पादिनः' इत्यर्थो ज्ञेयः।

४. 'हस्तेषु येषां ते' इत्युत्तरेण पाठेन सम्बन्धः। अत्र 'ग्रावापदस्य' 'गॄ शब्दे' इत्यस्मान्निर्वचने स्तुतिसमूहोऽर्थः', 'गॄ निगरणे' इत्यस्मान्निर्वचने ग्रहणं हननं वा लाक्षणिकोऽर्थो ज्ञेयः। यो निगीर्यते स मुखेन गृह्यते, दन्तैश्च हिंस्यते चर्व्यते।

५. ऋ० १०। ७३। १०॥ ६. ऋ० २। १२। १३॥ ७. ऋ० २। ३७। ४॥

तेषु द्राविणोदसाः प्रवादा भवन्ति—'देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम्[१]' इत्यपि निगमो भवति। एतस्य बलधनयोर्दातृतम इति ? सर्वासु देवतास्वैश्वर्यं विद्यते। यथो एतदोजसो जातमुत मन्य मिति चाहेति ? अयमप्यग्निरोजसा बलेन मथ्यमानो जायते। तस्मादेनमाह—'सहसस्पुत्रं[२]'; हसः सूनुं[३]; 'सहसो यहुम्[४]'। यथो एतदग्निं द्राविणोदसमाहेति ? ऋत्विजोऽत्र द्रविणोदस यन्ते, हविषो दातारस्ते चैनं जनयन्ति। 'ऋषीणां पुत्रो अधिराज एषः[५]' इत्यपि निगमो भवति। एतत्तेषां पुनः पात्रस्येन्द्रपानमिति भवतीति ? भक्तिमात्रं तद्भवति। यथा वायव्यानीति षां सोमपात्राणाम्। यथो एतत्सोमपानेनैनं स्तौतीति ? अस्मिन्नप्येतदुपपद्यते—'सोमं पिब दसानो गणश्रिभिः[६]' इत्यपि निगमो भवति। यथो एतद् द्रविणोदाः पिबतु द्रविणोदस इत्यस्यैव द्भवति॥ निरु० ८। १-२ **अनेन निरुक्तेनैवमेव द्रविणोदश्शब्दस्य यथायोग्यं सर्वत्रार्थान्वयो ज्ञेयः।**

सायणाचार्य्येण **द्रविणोदा इति पदं क्विबन्तं साधितं, तदप्यत्राशुद्धमेवास्ति। कुतः ?** निरुक्त-रस्य **द्राविणोदसम्[७]' इत्यादिव्याख्यानविरोधात्[८]। स्वरस्तु** गतिकारकोपपदात्० [अ० ६। । १३८] **इति सिद्ध एव॥ ७॥**

अन्वयः—यो द्रविणोदा देवः **परमेश्वरो भौतिको वास्ति,** यं देवं ग्रावहस्तासो द्रविणस ऋत्विजोऽध्वरे यज्ञेष्वीळते **पूजयन्त्यध्येष्य योजयन्ति वा, तमुपास्योपयुज्य एव मनुष्याः सदानन्दिता वन्ति॥ ७॥**

अत्र श्लेषालङ्कारः।

भावार्थः—सकलैर्मनुष्यैः सर्वेषु कर्मोपासनाज्ञानकाण्डसाध्येषु यज्ञेषु परमेश्वरः पूज्यः, मशिल्पादिषु यज्ञेषु भौतिकोऽग्निः सुयोजनीयश्चेति॥ ७॥

---

१. ऋ० १। ९६। १॥ २. ऋ० २। ७। ६॥ ३. ऋ० ८। ७५। ३॥
४. ऋ० १। ७९। ४॥ ५. अ० ४। ३९। ९॥ ६. ऋ० ५। ६०। ८॥
७. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'द्रविणोदम्' इत्यपपाठः।

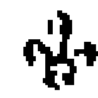
८. निरुक्तकारेण 'अग्निं द्राविणोदसमाह' इत्युक्तम्। 'द्राविणोदस' इत्येतत् 'द्रविणोदस्' इति सान्त-ब्दादेव तस्येदमित्यर्थे तद्धितप्रत्यये उपपद्यते। क्विबन्ते 'द्रविणोदा' इत्याकारान्तात् तद्धिते सति 'द्राविणोदः' ति रूपमुपपद्येत। तस्मात् निरुक्तोक्ताद् 'द्राविणोदसम्' प्रयोगात् 'द्रविणोदस्' शब्दः सान्त इति निश्चीयते। च 'भूरञ्जिभ्यां कित्' (उ० ४। २१७) सूत्रेण असुनः कित्त्वे 'आतो लोप इटि च' (अ० ६। ४। ६४) त्याकारलोपे सिद्ध्यति। न चात्र 'गतिकारकोपपदयोः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च' (उ० ४। २२७) इत्यनेन पूर्व-दप्रकृतिस्वरत्वं शङ्कयम्, तस्यानुवर्तमानेऽसिप्रत्यये विधानात्। अतएवायं भाष्यकारः स्वरविषयेऽनुपदं वक्ति—'स्वरस्तु गतिकारकोपपदात्' (अ० ६।२।१३८) सिद्ध एव' इति। अपि च वेदे 'द्रविणोदा द्रविणोदस्' इत्युभौ शब्दावुपलभ्येते। तत्राकारान्तः क्विपा विचा च सिद्ध्यति, सान्तस्त्वसुनि। आकारान्तोऽपि क्विपैव साधनीयः, न विचा। यतो वेदे आकारान्तस्य द्रविणोदाशब्दस्य अजादावसर्वनामस्थाने 'द्रविणोदः' (ऋ० १। १५। १०) प्रयोगस्योपलम्भात्। क्विबन्तस्यैव तत्राकारलोपः संभवति, न विजन्तस्य। 'क्विबन्तो धातुत्वं न जहाति' इति परिभाषया धातुत्वमाश्रित्यैव 'आतो धातोः' (अ० ६। ४। १४०) इत्याकारलोपः प्रवर्तते। अतः सायणाचार्यस्य ऋ० १। ९६। १ मन्त्रव्याख्याने विज्विधानमपि चिन्त्यमेव।

फिर अगले मन्त्र में ईश्वर और भौतिक अग्नि के गुणों का उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—जो (द्रविणोदाः) विद्या बल राज्य और धनादि पदार्थों का देनेवाला ज्ञानस्वरूप परमेश्वर, तथा उत्तम धन आदि पदार्थ देनेवाला, ज्ञान तथा क्रिया का हेतु भौतिक अग्नि है, जिस (देवम्) देव को (ग्रावहस्तासः) स्तुति-समूह, ग्रहण वा हनन[कर्म,] और पत्थर आदि यज्ञरूप शिल्पविद्या की सिद्धि के हेतुरूप पदार्थ हाथ में हैं जिनके ऐसे जो (द्रविणसः) यज्ञ करनेवाले वा द्रव्यसंपादक विद्वान् (अध्वरे) अनुष्ठान करने योग्य, क्रियासाध्य, हिंसा के के अयोग्य यज्ञ, और (यज्ञेषु) अग्निहोत्र आदि अश्वमेध-पर्य्यन्त वा शिल्पविद्यामय यज्ञों में (ईळते) पूजन वा उसके गुणों का उपयोग करते हैं, वे ही मनुष्य सदा आनन्दयुक्त रहते हैं ॥ ७ ॥

इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है ।

भावार्थ—सब मनुष्यों को सब कर्म उपासना तथा ज्ञानकाण्ड [से साध्य] यज्ञों में परमेश्वर ही पूजा [के योग्य है ।] तथा होम वा शिल्पादि कर्मों में भौतिक अग्नि अच्छी प्रकार युक्त करने योग्य है ॥ ७ ॥



स एव सर्वेषां पदार्थानां प्रदातेत्युपदिश्यते—

द्र॒वि॒णो॒दा द॑दातु नो॒ वसू॑नि॒ यानि॑ शृण्वि॒रे । दे॒वेषु॒ ता व॑नामहे ॥८॥

द्र॒वि॒णःऽदाः । द॒दा॒तु॒ । नः॒ । वसू॑नि । यानि॑ । शृ॒ण्वि॒रे ॥ दे॒वेषु॑ । ता । व॒ना॒म॒हे॒ ॥८॥

पदार्थः—(द्रविणोदाः) सुष्ठूपासितो जगदीश्वरः, सम्यग्योजितो भौतिको वा (ददातु) ददाति वा । अत्र पक्षे लडर्थे लोट् । (नः) अस्मभ्यम् (वसूनि) विद्याचक्रवर्त्तिराज्यप्राप्याण्युत्तमानि धनानि (यानि) परोक्षाणि[1] (शृण्विरे) श्रूयन्ते । अत्र 'श्रु' धातोः छन्दसि लुङ्लङ्लिटः [अ० ३ । ४ । ६] इति लडर्थे लिट्[2], छन्दस्युभयथा [अ० ३ । ४ । ११७] इति सार्वधातुकत्वेन श्नुविकरणः, आर्द्धधातुकत्वाद्यगभावः, विकरणव्यवहितत्वाद्[3] द्वित्वं च न भवति । (देवेषु) विद्वत्सु दिव्येषु सूर्य्यादिपदार्थेषु वा (ता) तानि । अत्र शेश्छन्दसि बहुलम् [अ० ६ । १ । ६८] इति लोपः । (वनामहे) संभजामहे । अत्र व्यत्ययेनात्मनेपदम् ॥८॥

अन्वयः—अस्माभिर्यानि देवेषु दिव्येषु कर्म्मसु राज्येषु वा शिल्पविद्यासिद्धेषु विमानादिषु

---

१. यच्छब्दः परोक्षार्थेऽपि प्रयुज्यते । तदुक्तम्—'प्रत्यक्षे च परोक्षे च समीपे दूरतस्तथा । सर्वेषां च प्रयोक्तव्यस्तथा पुंस्त्रीनपुंसके' इति दशपाद्युणादिवृत्तिः । ६ । ४३, पृष्ठ २३६ ।

२. यद्वाऽत्र छान्दसत्वात् 'विदो लटो वा' (अ० ३ । ४ । ८३) इत्यनेन विदो लटः स्थाने णलादयस्तो शृणोतेरपि लटः स्थाने भवन्ति । अस्मिन् पक्षे प्रयोगकल्पना लघीयसी भवति ।

३. 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (अ० ६ । १ । ८) इत्यत्राव्यवहिते लिटि धातोर्द्वित्वविधानात् ।

वसूनि शृण्विरे श्रूयन्ते, ता तानि वयं वनामहे, एतानि च द्रविणोदा जगदीश्वरो नोऽस्मभ्यं भौतिकश्च ददाति ।।८।।

[अत्र श्लेषालङ्कारः[२]] ।

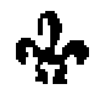
भावार्थः—परमेश्वरेणास्मिन् जगति प्राणिभ्यो ये पदार्था दत्तास्तेभ्य उपकारे संयोजितेभ्यो न्ति प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणि वस्तुजातानि वर्त्तन्ते, तानि देवेषु विद्वत्सु स्थित्वैव सुखप्रदानि न्तीति ।।८।।

उक्त अग्नि ही सब पदार्थों का देने वा दिलानेवाला है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हम लोग (देवेषु) विद्वानों वा दिव्य कर्म राज्य तथा सूर्य्य आदि, र शिल्पविद्या से सिद्ध विमान आदि पदार्थों में (यानि) जिन (वसूनि) विद्या वा क्रवर्ति राज्य से प्राप्त होने योग्य उत्तम धनों को (शृण्विरे) सुनते, और [(ता) उनका] वनामहे) सेवन करते हैं, भली-भांति उपासना किया हुआ (द्रविणोदाः) जगदीश्वर (नः) लोगों के लिये [उन धनों को] (ददातु) देवे, तथा अच्छी प्रकार सिद्ध किया हुआ भौतिक ग्न भी देता है ।। ८ ।।

[इस मन्त्र में श्लेषालंकार है ।[३]]

भावार्थ—परमेश्वर ने इस संसार में जीवों के लिये जो पदार्थ दिये हैं, उपकार में संयुक्त ये उन पदार्थों से जितने प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष वस्तुसमूह उत्पन्न होते हैं, वे विद्वानों ही के सङ्ग सुख देनेवाले होते हैं ।। ८ ।।



यज्ञकर्तॄणामृतुषु कर्त्तव्यान्युपदिश्यन्ते—

द्रविणोदाः पिपीषति जुहोत प्र च तिष्ठत । नेष्ट्रादृतुभिरिष्यत ।।९।।

द्रविणःऽदाः । पिपीषति । जुहोत । प्र । च । तिष्ठत ।। नेष्ट्रात् । ऋतुऽभिः । इष्यत ।।९।।

पदार्थः—(द्रविणोदाः) यज्ञानुष्ठाता मनुष्यः (पिपीषति) सोमादिरसान् पातुमिच्छति । अत्र 'पीङ्' धातोः सन्, व्यत्ययेन परस्मैपदं च । (जुहोत) दत्त आदत्त वा[४] ।

---

१. सच्छब्दोऽत्र पदार्थवाचकः ।

२. पदार्थेऽन्वये च द्विविधार्थ-निर्देशात् पूर्वमन्त्रभाष्य इवेहापि श्लेषालङ्कारो वक्तव्यः ।

३. यहां दो प्रकार का मन्त्रार्थ होने से पूर्वमन्त्र के समान श्लेषालङ्कार का निर्देश होना चाहिये ।

४. इतोऽग्रे वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'अत्र तत् पिबतीति तम्' इत्यसंबद्धः पाठ उपलभ्यते । ख.कोशे यं न दृश्यते । लिपिकरप्रमादात् सन्निविष्टं स्यात् ।

(प्र) प्रकृष्टार्थे (च) समुच्चयार्थे (तिष्ठत) प्रतिष्ठां प्राप्नुत। अत्र वा च्छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति [महा० १ । ४ । ९] इति नियमात्[1] समवप्रविभ्यः स्थः। अ० १ । ३ । २२ इत्यात्मनेपदं न भवति। (नेष्ट्रात्) विज्ञानहेतोः। अत्र णीञ्[2] गतौ इत्यस्मात् सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्। उ० ४ । १५९ इति 'ष्ट्रन्[3]' प्रत्ययः, बाहुलकात् [प्रत्ययस्वरः]। (ऋतुभिः) वसन्तादिभिर्योगे (इष्यत) विजानीत ।। ६ ।।

अन्वयः—हे मनुष्याः! यथा द्रविणोदा यज्ञानुष्ठाता विद्वान् मनुष्यो यज्ञेषु सोमादिरसं पिपीषति, तथैव यूयमपि तान् यज्ञान् नेष्ट्रात् जुहोत। तत्कृत्वर्त्तुभिर्योगे सुखैः [प्र] प्रकृष्टतया तिष्ठत प्रतिष्ठध्वं, तद्विद्यामिष्यत च ।। ६ ।।

अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः।

भावार्थः—मनुष्यैः सत्कर्मण एवा[4]ऽनुकरणं कर्त्तव्यं, नासत्कर्मणः। सर्वेष्वृतुषु यथायोग्यानि कर्म्माणि कर्त्तव्यानि। यस्मिन्नृतौ यो देशः स्थातुं गन्तुं योग्यस्तत्र स्थातव्यं गन्तव्यं च, तत्तद्देशानुसारेण भोजनाच्छादनविहाराः कर्त्तव्याः, इत्यादिभिर्व्यवहारैः सुखानि सततं सेव्यानीति ।। ६ ।।

यज्ञ करनेवाले मनुष्यों को ऋतुओं में करने योग्य कार्य्यों का उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे मनुष्यो! जैसे (द्रविणोदाः) यज्ञ का अनुष्ठान करनेवाला विद्वान् मनुष्य, यज्ञों में सोम आदि ओषधियों के रस को (पिपीषति) पीने की इच्छा करता है, वैसे ही तुम लोग भी उन यज्ञों को (नेष्ट्रात्) विज्ञान से जानकर (जुहोत) करो कराओ। तथा उन यज्ञों

१. समवप्रविभ्यः स्थः (अ० १ । ३ । २२) इति पञ्चमीश्रवणाद् अव्यवहिताद् उपसर्गात् परे धातौ सत्यात्मनेपदं भवति। इह च चशब्दव्यवधानादुपसर्गात् परो धातुर्नास्तीति नैवात्मनेपदस्य प्राप्तिरस्ति। परन्तु महाभाष्यकारेण 'नेरिति नैषा पञ्चमी, का तर्हि विशेषणषष्ठी—'नेर्यो विशिः' कश्च नेर्विशिः ? विशेष्यः। व्यवहिताश्चापि शक्यन्ते विशेषयितुम्' (महा० १ । ३ । ६०) इत्यपि पक्ष उपस्थापितः। अस्मिन् पक्षे च यत्र यत्र सूत्रेषु पञ्चमी श्रूयते, सा षष्ठ्यर्थे व्याख्येया। अस्मिंश्च पक्षे व्यवहितेऽप्यात्मनेपदस्य प्राप्तिर्भवति। तं निराकर्त्तुं भाष्यकारस्य (दयानन्दस्य) अयं प्रयत्नः। एवं च कृत्वाऽस्य भाष्यकारस्य सायणस्य च 'सं वो मदासो अग्मत' (ऋ० १ । २० । ५) इति मन्त्रव्याख्याने। 'समो गम्यृच्छिभ्याम्' (अ० १ । ३ । २९) इति सूत्रेणात्मनेपदविधानमप्युपपद्यते।

२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'नेष्टृ' इत्यपपाठः।

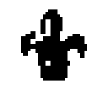
३. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'इति बाहुलकात् 'ष्ट्रन्' प्रत्ययः' इत्युपलभ्यते। ष्ट्रनः सर्वधातुभ्यो विधानान्नात्र 'बाहुलकात्' पदमपेक्षते। ष्ट्रनि नित्त्वादाद्युदात्तत्वं (६।१।१९१) प्राप्नोति, इष्यते चात्रान्तोदात्तत्वम्। अतोऽस्माभिः 'बाहुलकात्' पदमुपरिष्टान्नीत्वा 'प्रत्ययस्वरः' इति पदं प्रपूर्य स्वरदोषनिराकरणं विहितम्। भाष्यकारेण १ । १५ । २ मन्त्रे 'पोत्रात्' पदव्याख्याने ष्ट्रनं विधायान्तोदात्तत्वं स्वरव्यत्ययेनोक्तः, इह च बाहुलकेन, उभयथाऽपि समान एव स्वरः।

४. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'सत्कर्मणोऽनुकरणमेव' इत्येवमस्थान 'एव' पठ्यते।

धि के साथ सिद्ध करके (ऋतुभिः) ऋतु-ऋतु के संयोग से सुखों के साथ (प्रतिष्ठत) प्रतिष्ठा प्त होवो, [(च)] और उनकी विद्या को सदा (इष्यत) जानो॥ ९॥

इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थ—मनुष्यों को अच्छे ही कामों का अनुकरण करना चाहिये दुष्टों का नहीं। और सब ओं में सब सुखों के लिये यथायोग्य कर्म्म करना चाहिये। तथा जिस ऋतु में जो देश स्थिति वा जाने-आने योग्य हो, उसमें उसी समय स्थिति वा जाना-आना, तथा उस देश के अनुसार पीना वस्त्रधारणादि व्यवहार करके सुखों को निरन्तर सेवन करना चाहिये॥ ९॥



पुनः प्रत्यृतुमीश्वरध्यानमुपदिश्यते—

यत्त्वा॑ तु॒रीय॑मृ॒तुभि॒र्द्रवि॑णोदो॒ यजा॑महे। अध॑ स्मा नो द॒दिर्भ॑व॥१०॥

यत्। त्वा॒। तु॒रीय॑म्। ऋ॒तुऽभिः॑। द्रवि॑णःऽदः। यजा॑महे॥ अध॑। स्म॒। नः॒। द॒दिः। भ॒व॒॥१०॥

पदार्थः—(यत्) यम् (त्वा) त्वां जगदीश्वरं (तुरीयम्) चतुर्णां स्थूलसूक्ष्मकारणपरमकारणानां[1] संख्यापूरकम्। अत्र चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च। अ० ५। २। ५१ इति वार्त्तिकेनास्य द्धिः। (ऋतुभिः) ऋच्छन्ति प्राप्नुवन्ति यैस्तैः। अत्र अर्त्तेश्च तुः। उ० १। ७२ इति 'ऋ' तोस्तुः प्रत्ययः किच्च। (द्रविणोदः) ददातीति दाः, द्रविणस्यात्मशुद्धिकरस्य विद्यावेर्धनस्य[2], तत्संबुद्धौ (यजामहे) पूजयामहे (अध) निश्चयार्थे (स्म) सुखार्थे। निपातस्य च [अ० ६। । १३५] इति दीर्घः। (नः) अस्मभ्यम् (ददिः) दाता। अत्र आदृगम०। अ० ३। २। १७१ 'डुदाञ्' धातोः किः प्रत्ययः। (भव) [स्पष्टार्थः]॥ १०॥

अन्वयः—हे द्रविणोदो जगदीश्वर! वयं यत् यं तुरीयं त्वा त्वामृतुभिर्योगे यजामहे स्म, स नोऽस्मभ्यमुत्तमानां विद्यादिधनानां ददिरध भव॥१०॥

भावार्थः—परमेश्वरस्त्रिविधस्य स्थूलसूक्ष्मकारणाख्यस्य जगतः सकाशात् पृथग्वस्तुत्वात् तुर्यो वर्त्तते। यश्च सकलैर्मनुष्यैः सर्वाभिव्यापी सर्वान्तर्यामी सर्वाधारो नित्यं पूजनीयोऽस्ति, तं विहाय केनचिदन्यस्येश्वरबुद्धयोपासना कार्य्या। नैवैतस्माद्भिन्नः कश्चित् कर्मानुसारेण वेभ्यः फलप्रदाताऽस्ति॥१०॥

फिर ऋतु-ऋतु में ईश्वर का ध्यान करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (द्रविणोदः) आत्मा की शुद्धि करनेवाले विद्या आदि धनदायक

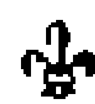
---

१. अत्र निर्दिष्टं चतुर्थं परमकारणं ब्रह्म। स एव तुरीयः। द्रष्टव्योऽत्र भावार्थः।

२. अर्थप्रदर्शनमिदम्, समासस्तु द्रविणांसि ददातीति पूर्वनिर्दिष्टः (ऋ० १। १५। ७) एव द्रष्टव्यः। 'द्रविणस्य' इत्यपि एतदर्थकद्रविणस्सकारान्तशब्दस्य स्थानेऽर्थप्रदर्शनपर एव प्रयोगः।

ईश्वर ! हम लोग (यत्) जिस (तुरीयम्) स्थूल सूक्ष्म कारण और परम-कारण आदि पदार्थों में चौथी संख्या पूरण करनेवाले (त्वा) आपको (ऋतुभिः) पदार्थों को प्राप्त करानेवाली ऋतुओं के योग से (यजामहे स्म) सुखपूर्वक पूजते हैं, सो आप (नः) हमारे लिये उत्तम विद्यादि धनों को (अध) निश्चय करके (ददिः) देनेवाले (भव) हूजिये ॥ १० ॥

भावार्थ—परमेश्वर तीन प्रकार के अर्थात् स्थूल सूक्ष्म और कारणरूप जगत् से अलग होने के कारण चौथा है। वह सर्वव्यापी सबका अन्तर्यामी और सब का आधार नित्य सब मनुष्यों को पूजन करने योग्य है। उसको छोड़कर ईश्वरबुद्धि करके किसी दूसरे पदार्थ की उपासना न करनी चाहिये। क्योंकि उससे भिन्न कोई दूसरा कर्म के अनुसार जीवों को फल देनेवाला नहीं है ॥ १० ॥



पुनः सूर्य्याचन्द्रमसोर्ऋतुयोगे गुणा उपदिश्यन्ते—

अश्विना पिबतं मधु दीद्यग्नी शुचिव्रता । ऋतुना यज्ञवाहसा ॥११॥

अश्विना । पिबतम् । मधु । दीद्यग्नी इति दीदिऽअग्नी । शुचिऽव्रता ॥ ऋतुना । यज्ञऽवाहसा ॥११॥

पदार्थः—(अश्विना) सूर्य्याचन्द्रमसौ। सुपां सुलुग्० [अ० ७। १। ३९] इत्याकारादेशः सर्वत्र। (पिबतम्) पिबतः। अत्र व्यत्ययो लडर्थे लोट् च। (मधु) मधुरं रसम् (दीद्यग्नी) दीदिर्दीप्तिहेतुरग्निर्ययोस्तौ (शुचिव्रता) शुचिः पवित्रकरं व्रतं शीलं ययोस्तौ (ऋतुना) ऋतुभिः सह (यज्ञवाहसा) यज्ञान् हुतद्रव्यान् वहतः प्रापयतस्तौ ॥११॥

अन्वयः—हे विद्वांसः ! यूयं यौ शुचिव्रता यज्ञवाहसा दीद्यग्नी अश्विना मधु पिबतं पिबतः, ऋतुना ऋतुभिः सह रसान् गमयतस्तौ विजानीत ॥११॥

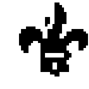
भावार्थः—ईश्वर उपदिशति—[1]मया यौ सूर्य्याचन्द्रमसावित्यादिसंयुक्तौ द्वौ द्वौ पदार्थौ कार्य्यसिद्ध्यर्थमीश्वरेण संयोजितौ, हे मनुष्याः ! युष्माभिस्तौ सम्यक् [प्रयुक्तौ] सर्वर्त्तुकं सुखं व्यवहारसिद्धिं च प्रापयत इति बोध्यम् ॥११॥

फिर ऋतुओं के साथ में सूर्य्य और चन्द्रमा के गुणों का उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे विद्वान् लोगो ! तुम जो (शुचिव्रता) पदार्थों की शुद्धि करने के स्वभाववाले, (यज्ञवाहसा) होम किये हुए पदार्थों को प्राप्त कराने, तथा (दीद्यग्नी) प्रकाश-हेतुरूप अग्निवाले (अश्विना) सूर्य और चन्द्रमा (मधु) मधुर रस को (पिबतम्) पीते हैं, तथा (ऋतुना) ऋतुओं के साथ रसों को प्राप्त कराते हैं, उनको यथावत् जानो ॥ ११ ॥

१. अत्र भावार्थे कानिचित् पदानि दूरान्वयानि वर्तन्ते। अत्रायं सुगमः क्रमो ज्ञेयः—हे मनुष्याः ! मयेश्वरेण यौ सूर्याचन्द्रमसावित्यादिसंयुक्तौ द्वौ द्वौ पदार्थौ कार्यसिद्ध्यर्थं संयोजितौ, तौ युष्माभिः सम्यक्प्रयुक्तौ सर्वर्त्तुकं सुखं व्यवहारसिद्धिं च प्रापयत इति बोध्यम्।

भावार्थ—ईश्वर उपदेश करता है कि मैंने जो सूर्य्य-चन्द्रमा इत्यादि मिले हुए अन्य दो पदार्थ कार्यों की सिद्धि के लिये संयुक्त किये हैं, हे मनुष्यो ! वे तुम लोगों से अच्छी प्रयुक्त किये गये सब ऋतुओं के सुख तथा व्यवहार की सिद्धि को प्राप्त कराते हैं, ऐसा ग समझें ॥ ११ ॥



पुनरपि भौतिकाग्निगुणा उपदिश्यन्ते—

गार्हपत्येन सन्त्य ऋतुना यज्ञनीरसि । देवान् देवयते यज ॥१२॥

गार्हऽपत्येन । सन्त्य । ऋतुना । यज्ञऽनीः । असि ॥ देवान् । देवऽयते । यज ॥१२॥

पदार्थः—(गार्हपत्येन) गृहपतिना संयुक्तेन व्यवहारेण । गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः । अ० ४ । ९० अनेन ञ्यः प्रत्ययः । (सन्त्य) सन्तौ सनने क्रियासंविभागे भवः स सन्त्योऽग्निः । अत्र धातोर्बाहुलकादौणादिकस्तिः[1] प्रत्ययः, ततो भवे छन्दसि [अ० ४ । ४ । ११०] इति यत् । तुना) ऋतुभिः सह (यज्ञनीः) यज्ञं त्रिविधं नयति प्रापयतीति सः । सत्सूद्विषद्रुह० [अ० ३ । ६१] इति क्विप् । (असि) भवति । अत्र सर्वत्र व्यत्ययः । (देवान्) दिव्यव्यवहारान् वयते) [दिव्यव्यवहारान्] कुर्वते शिल्पिने (यज) यजति शिल्पविद्यायां संगमयति । अत्र र्थे लोट् ॥१२॥

अन्वयः—यः [सन्त्य] सन्त्योऽग्निर्गार्हपत्येनर्त्तुना सह यज्ञनीरसि भवति, स देवयते शिल्पिने न् यज यजति संगमयति ॥१२॥

भावार्थः—यो विद्वद्भिः सर्वेषु व्यवहारकृत्येषु प्रयुक्तं विद्यया सम्यक् संप्रयोजितोऽयमरस्ति, स मनुष्यादिप्राणिभ्यो दिव्यानि सुखानि प्रापयति ॥१२॥

चतुर्दशसूक्तार्थेनास्य पञ्चदशसूक्तार्थस्य विश्वेदेवानुयोग्यत्वादीनां यथाक्रमं प्रतिपादनेन तिरस्तीति बोध्यम् ।

इदमपि सूक्तं सायणाचार्य्यादिभिरध्यापकविलसनादिभिश्चान्यथैव व्याख्यातम् ॥

इति पञ्चदशं सूक्तमेकोनत्रिंशो वर्गश्च समाप्तः ॥

फिर भी भौतिक अग्नि के गुणों का उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—जो (सन्त्य) क्रियाओं के विभाग में अच्छी प्रकार प्रकाशित होनेवाला तिक अग्नि (गार्हपत्येन) गृहस्थों के व्यवहार से (ऋतुना) ऋतुओं के साथ (यज्ञनीः) न प्रकार के यज्ञ को प्राप्त करानेवाला (असि) है, सो (देवयते) दिव्य व्यवहारों को रनेवाले शिल्पी के लिये (देवान्) दिव्य व्यवहारों का (यज) शिल्पविद्या में संगम राता है ॥ १२ ॥

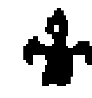
१. पदिप्रथिभ्यां नित् (उ० ४।१८३) इत्यनेन तिः, स च नित्, नित्त्वात् सन्ति पदमाद्युदात्तम् ।

भावार्थ—जो विद्वानों से सब व्यवहाररूप कार्यों में [illegible] क्रिया के साथ अच्छी प्रकार प्रयोग किया हुआ अग्नि है, सो मनुष्य आदि प्राणियों के लिये भिन्न भिन्न गुणों को प्राप्त कराता है ॥ १२ ॥

जो सब देवों के अनुयोगी वसन्त आदि ऋतु हैं, उनके [illegible] गुण-प्रतिपादन से चौदहवें सूक्त के अर्थ के साथ इस पन्द्रहवें सूक्त के अर्थ की सङ्गति जाननी चाहिये ॥

इस सूक्त का भी अर्थ सायणाचार्य आदि, तथा यूरोपदेशवासी विलसन आदि लोगों ने कुछ का कुछ वर्णन किया है ॥

यह पन्द्रहवां सूक्त और उनतीसवां वर्ग पूरा हुआ ॥



अथ नवर्चस्य षोडशसूक्तस्य काण्वो मेधातिथिर्ऋषिः ।

इन्द्रो देवता । गायत्री[1] छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

तत्रेन्द्रगुणा उपदिश्यन्ते ॥

आ त्वा वहन्तु हरयो वृषणं सोमपीतये । इन्द्र त्वा सूरचक्षसः ॥१॥

आ । त्वा । वहन्तु । हरयः । वृषणम् । सोमऽपीतये । इन्द्र । त्वा । सूरऽचक्षसः ॥१॥

पदार्थः—(आ) समन्तात् (त्वा) तं सूर्यलोकम् (वहन्तु) प्रापयन्तु (हरयः) हरन्ति ये ते [हरयः] किरणाः । हृपिषिरुहि० । उ० ४ । १२५ इति 'हृ' धातोरिन् प्रत्ययः । (वृषणम्) यो वर्षति जलं स वृषा तम् । कनिन् युवृषि० । उ० १ । १५६ इति कनिन् प्रत्ययः । वा षपूर्वस्य निगमे । अ० ६ । ४ । ९ इति विकल्पाद्दीर्घाभावः । (सोमपीतये) सोमानां सुतानां पदार्थानां पीतिः पानं यस्मिन् व्यवहारे तस्मै । अत्र सह सुपा [अ० २ । १ । ४] इति समासः । (इन्द्र) विद्वन् (त्वा) तं पूर्वोक्तम् (सूरचक्षसः) सूरे सूर्ये चक्षांसि दर्शनानि येषां ते ॥१॥

अन्वयः—हे इन्द्र ! यं वृषणं सोमपीतये सूरचक्षसो हरयः [आ] सर्वतो वहन्ति, त्वा तं त्वमपि वह । यं सर्वं शिल्पिनो वहन्ति तं सर्वं वहन्तु । हे मनुष्या ! यं वयं विजानीमस्त्वा तं यूयमपि विजानीत[2] ॥१॥

१. सामान्येन, विशेषेण तु १, २, ४, ६-८ गायत्री; ३, ५ पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री; ९ विराड्गायत्री ।

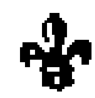
२. इस मन्त्र का संस्कृत-पदार्थ और अन्वय 'ख' कोश से भिन्न है । ऋग्वेद-भूमिका का वै० य० मुद्रित संस्करणों में पाठ भी उसी के अनुरूप है । ख.कोश का पाठ भी उपयोगी है, इस कारण हम उसे यहां उद्धृत करते हैं । पदार्थ में जितना अंश भिन्न है, उसे ही लिखा है—

भावार्थः—याः सूर्य्यस्य दीप्तयस्ताः सर्वरसाहारकाः सर्वस्य प्रकाशिका वृष्टिकराः सन्ति, यथायोग्यमानुकूल्येन मनुष्यैः सेविता उत्तमानि सुखानि जनयन्तीति ॥१॥

अब सोलहवें सूक्त का आरम्भ है। उसके प्रथम मन्त्र में सूर्य के गुणों का उपदेश है—

पदार्थान्वयभाषा—'हे (इन्द्र) विद्वन्! जिस (वृषणम्) वर्षा करनेहारे सूर्य्यलोक को (सोमपीतये) उत्पन्न हुए पदार्थों के रसों का पान जिसमें होता है, उस व्यवहार के लिये (सूरचक्षसः) जिनका सूर्य्य में दर्शन होता है, वे (हरयः) हरण करनेहारे किरण (आ) सब ओर से प्राप्त करते हैं, (त्वा) उसको तू भी प्राप्त हो। जिसको सब कारीगर लोग [यन्त्रादि रचना निमित्त] प्राप्त करते हैं, उसको सब मनुष्य (वहन्तु) प्राप्त करें। हे मनुष्यो! जिसको हम जानते हैं (त्वा) उसको तुम भी जानो ॥ १ ॥

भावार्थ—जो सूर्य्य की प्रत्यक्ष दीप्ति सब रसों के हरने, सबका प्रकाश करने, तथा वर्षा करनेवाली हैं, वे यथायोग्य अनुकूलता के साथ सेवन करने से मनुष्यों को उत्तम-उत्तम सुख देती हैं ॥ १ ॥



पुनस्तद्गुणा उपदिश्यन्ते—

इमा धाना घृतस्नुवो हरी इहोप वक्षतः । इन्द्रं सुखतमे रथे ॥२॥

इमाः । धानाः । घृतऽस्नुवः । हरी इति । इह । उप । वक्षतः ॥ इन्द्रम् । सुखऽतमे । रथे ॥२॥

पदार्थः—(इमाः) प्रत्यक्षाः (धानाः) धीयन्ते यासु ता दीप्तयः । [अत्र] धापृवस्य० । उ० ३ । ६ इति नः प्रत्ययः । (घृतस्नुवः) घृतमुदकं स्नुवन्ति प्रस्रवन्ति यास्ताः (हरी) हरति याभ्यां तौ, कृष्णशुक्लपक्षौ वा पूर्वपक्षापरपक्षौ[2] वा इन्द्रस्य हरी, ताभ्यां ह्रीदं सर्वं हरति । षड्विंशब्रा० प्रपा० १ । खं० १ । (इह) अस्मिन् संसारे (उप) सामीप्ये (वक्षतः) वहतः । अत्र

"पदार्थः—······(वहन्तु) प्रापयन्ति । अत्र लडर्थे लोट् । (हरयः) हरन्ति ये ते हरयः किरणाः । ····(इन्द्र) सूर्यलोकः (?, सूर्यलोकम्) (त्वा)······॥ १ ॥

अन्वयः—यमिमे **सूरचक्षसो हरयस्त्वा** तं **वृषणम्** [इन्द्र] इन्द्रं सोमपीतये **आ वहन्तु** सर्वतो वहन्ति, त्वा तमिन्द्रं **सोमपीतये** वयं विजानीमः ।"

१. ख कोश में भाषा-पदार्थ पूर्वनिर्दिष्ट संस्कृत-पदार्थ और अन्वय के अनुसार है।

२. यहां पूर्वपक्ष से शुक्लपक्ष और अपरपक्ष से कृष्णपक्ष अभिप्रेत है। पूर्वकाल में प्रत्येक मास अमावस्या पर पूर्ण होता था। गुजरात तथा दक्षिण भारत में इस समय भी यही प्रथा है। उत्तरभारतीय पञ्चाङ्गों में भी पूर्णिमा का संकेत १५ संख्या से, और अमावास्या का ३० संख्या से आजकल भी होता है। अमावास्या के लिये ३० संख्या का संकेत भी इसी मत का पोषक है कि चैत्रादि मास वस्तुतः अमावास्या पर समाप्त होते हैं।

लडर्थे लेट्। (इन्द्रम्) सूर्य्यलोकम् (सुखतमे) अतिशयेन सुखहेतौ (रथे) रमयति येन तस्मिन्। हनिकुषिनीरमि०। उ० २। २ इति क्थन् प्रत्ययः॥२॥

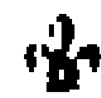
अन्वयः—हरी [1]कृष्णशुक्लपक्षाविहेमा घृतस्नुवो धाना इन्द्रं सुखतमे रथ उपवक्षत उपगतं वहतः प्रापयतः॥२॥

भावार्थः—यावस्मिन् संसारे रात्रिदिवसौ शुक्लकृष्णपक्षौ दक्षिणायनोत्तरायणौ हरीसंज्ञौ स्तः, ताभ्यां सूर्य्यः सर्वानन्दव्यवहारान् प्रापयति॥२॥

फिर भी अगले मन्त्र में सूर्य्यलोक के गुणों का ही उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—(हरी) पदार्थों को हरनेवाले कृष्ण वा शुक्ल पक्ष (इह) इस लोक में (इमाः) इन (घृतस्नुवः) वर्षा की निमित्त (धानाः) दीप्तियों, तथा (इन्द्रम्) सूर्य्यलोक को (सुखतमे) अत्यधिक सुख के हेतु (रथे) रमण के साधन विमानादि रथों के (उप) समीप (वक्षतः) प्राप्त कराते हैं॥ २॥

भावार्थ—जो इस संसार में रात्रि और दिन, शुक्ल तथा कृष्णपक्ष, दक्षिणायन और उत्तरायण [हरि=]हरण करनेवाले कहलाते हैं, उनसे सूर्य्यलोक सब आनन्दरूप व्यवहारों को प्राप्त कराता है॥ २॥



अथेन्द्रशब्देन त्रयोऽर्था उपदिश्यन्ते—

इन्द्रं॑ प्रा॒तर्ह॑वामह॒ इन्द्रं॑ प्रय॒त्य॑ध्व॒रे। इन्द्रं॒ सोम॑स्य पी॒तये॑॥३॥

इन्द्र॑म्। प्रा॒तः। ह॒वा॒म॒हे॒। इन्द्र॑म्। प्र॒ऽय॒ति। अ॒ध्व॒रे॥ इन्द्र॑म्। सोम॑स्य। पी॒तये॑॥३॥

पदार्थः—(इन्द्रम्) परमेश्वरम् (प्रातः) प्रतिदिनम् (हवामहे) आह्वयेम। बहुलं छन्दसि [अ० ६। १। ३३] इति संप्रसारणम्। (इन्द्रम्) परमैश्वर्य्यसाधकं भौतिकमग्निम्। (प्रयति) प्रैति प्रकृष्टं ज्ञानं ददातीति प्रयत् तस्मिन्। इण् गतौ इत्यस्माल्लटः स्थाने शतृ प्रत्ययः। (अध्वरे) उपासनाक्रियासाध्ये यज्ञे (इन्द्रम्) बाह्याभ्यन्तरस्थं वायुम् (सोमस्य) सूयते सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यो रसस्तस्य (पीतये) पानाय। अत्र 'पा'धातोर्बाहुलकात्तिः प्रत्ययः [कित् संज्ञा च][2]॥३॥

---

१. नेह कृष्णशुक्लपक्षयोरिह क्रमोऽभिप्रेतः। क्रमापेक्षायां दाक्षिणात्यव्यवहारेण विरोधः स्यात्। 'नवो नवो भवति जायमानः' (ऋ० १०।८५।१९) मन्त्रेऽप्ययमेव क्रमो दृश्यते। तथा च व्याख्यातं यास्केन—'नवो नवो भवति जायमान इति पूर्वपक्षादिमभिप्रेत्य, अह्नां केतुरुषसामेत्यग्र इत्यपरपक्षान्तमभिप्रेत्य।' निरुक्त ११। १॥ अपि च भावार्थे 'शुक्लकृष्णपक्षौ' इत्युच्यते, तेनापि क्रमापेक्षाभावो द्योत्यते।

२. अयं कोष्ठान्तर्गतः पाठः ख.कोशे दृश्यते। अस्यायं भावः—कित्त्वमपि तिप्रत्ययस्य बाहुलकाद् बोध्यम्। कित्त्वादेव च 'घुमास्थागापा०' (अ० ६। ४। ६६) इत्यादिना ईत्वं भवति। अत्र 'वरोस्तिः'

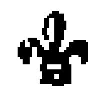
अन्वयः—वयं प्रातः प्रतिदिनमिन्द्रं परमैश्वर्य्यप्रदातारमीश्वरं प्रयत्यध्वरे हवामहे। वयं ध्वरे प्रातः प्रतिदिनमिन्द्रं विद्युदाख्यमग्निं हवामहे। वयं प्रयत्यध्वरे सोमस्य पीतये प्रातः दिनमिन्द्रं वायुं हवामहे ॥३॥

भावार्थः—मनुष्यैः परमेश्वरः प्रतिदिनमुपासनीयस्तदाज्ञायां वर्त्तितव्यं च। प्रतियज्ञं दाख्योऽग्निर्योजनीयः प्राणविद्यया पदार्थभोगश्च कार्य्य इति ॥३॥

अब अगले मन्त्र में इन्द्रशब्द से तीन अर्थों का उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हम लोग (प्रातः) नित्यप्रति (इन्द्रम्) परम ऐश्वर्य देनेवाले ईश्वर (प्रयत्यध्वरे) बुद्धिप्रद उपासना-यज्ञ में (हवामहे) आह्वान करें। हम लोग उत्तम ज्ञान वाले, क्रिया से सिद्ध होने योग्य [शिल्पविद्याख्य] यज्ञ में प्रतिदिन (इन्द्रम्) उत्तम ऐश्वर्य्य-क विद्युत् अग्नि को क्रियाओं में संयुक्त करें। तथा हम लोग (सोमस्य) सब पदार्थों के साररूप के (पीतये) पीने के लिये प्रतिदिन (इन्द्रम्) बाहरले वा शरीर के भीतरले प्राण वायु को रूप यज्ञ में (हवामहे) विचार में लावें, और उसके सिद्ध[२] करने का विचार करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को परमेश्वर प्रतिदिन उपासना करने योग्य है, और उसकी आज्ञा के कूल वर्त्तना चाहिये। [शिल्पविद्यासम्बन्धी यज्ञ में] बिजुली [रूप अग्नि की योजना करनी हिये]। तथा जो प्राणरूप वायु है, उसकी विद्या से पदार्थों का भोग करना चाहिये ॥३॥



अथेन्द्रशब्देन वायुगुणा उपदिश्यन्ते—

उप॑ नः सु॒तमा ग॑हि॒ हरि॑भिरिन्द्र के॒शिभिः॑। सु॒ते हि त्वा॒ हवा॑महे ॥४॥

उप॑। नः॒। सु॒तम्। आ। ग॒हि॒। हरि॑ऽभिः। इ॒न्द्र॒। के॒शिऽभिः॑॥ सु॒ते। हि। त्वा॒। हवा॑महे ॥४॥

पदार्थः—(उप) निकटार्थे (नः) अस्माकम् (सुतम्) उत्पादितम् (आ) समन्तात् गहि) गच्छति। अत्र व्यत्ययो, लडर्थे लोट्, बहुलं छन्दसि [अ० २।४।७३] इति शपो

उ० ४। १८०) इत्यादिना वसेर्विहितः 'तिः' पातेरपि द्रष्टव्यः। यद्वा—'दृणातेः किद्ध्रस्वश्च' इति दश-गुणादिसूत्रेण (१। ७६) विहितः तिः कित्वं च ज्ञेयम्। अस्मिन् पक्षे आद्युदात्त-दृतिशब्द-निष्पत्तये नित्वं नेरुगादनुवर्तते। तथा सति नित्वादाद्युदात्तत्वे बाहुलकात् प्रत्ययस्वरोऽत्र विधातव्यः। प्रथमपक्षे कित्वम्, परपक्षे प्रत्ययस्वरत्वं बाहुलकाद् विधेयं भवतीति न किञ्चिद् गौरवलाघवम्। तथाप्यपरपक्षे ह्रस्वविधान-ामर्थ्यादेव गुणाभावे सिद्धे किद्विधानमनर्थकं सञ्ज्ञापयतीत्यन्यस्मादपि तिर्भवतीति ज्ञापकमुपपद्यते। सायणस्तु तानि छान्दसमन्तोदात्तमाह। इदं चात्रावधेयम्—कित्ङित्विधाने संज्ञापक्षो यद्यपि महाभाष्यकृता निराकृत-थापि दशपाद्युणादिवृत्त्यादिष्वयं पक्षोऽप्याश्रीयते। एतद्भाष्यकृता स्वीयेऽष्टाध्यायीभाष्ये संज्ञापक्षो नाश्रितः। हाभाष्यकारोक्तोऽतिदेशपक्ष एवाश्रितः।

१. यज्ञशब्देन शिल्पविद्याख्यो यज्ञो ग्राह्यः। २. सिद्ध=वशीभूत।

लुक्। वा छन्दसि [अ० ३। ४। ८८] इति हेरपित्वाद्[1] अनुनासिकलोपश्च। (हरिभिः) हरणाहरणशीलैर्वेगवद्भिः किरणैः (इन्द्र) वायुः (केशिभिः) केशा बह्वयो रश्मयो विद्यन्ते येषामग्निविद्युत्सूर्याणां तैः सह। क्लिशेरन् लो लोपश्च। उ० ५। ३३ अनेन 'क्लिश'धातोरन् प्रत्ययो लकारलोपश्च। ततो भूम्न्यर्थ इनिः। केशी केशा रश्मयस्तैस्तद्वान् भवति, काशनाद्वा प्रकाशनाद्वा। केशीदं ज्योतिरुच्यते। निरु० १२। २५-२६। (सुते) उत्पादिते होमशिल्पादिव्यवहारे (हि) यतः (त्वा) तम् (हवामहे) आदद्मः ॥४॥

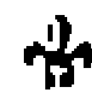
अन्वयः—हि यतोऽय[मिन्द्र इ]न्द्रो वायुः केशिभिर्हरिभिः सह नोऽस्माकं सुतमुपागह्युपागच्छति, तस्मात् त्वा तं सुते वयं हवामहे ॥४॥

भावार्थः—येऽस्माभिः शिल्पव्यवहारादिषूपकर्त्तव्याः पदार्थाः सन्ति, तेऽग्निविद्युत्सूर्या वायुनिमित्तेनैव प्रज्वलन्ति, गच्छन्त्यागच्छन्ति च ॥४॥

अब अगले मन्त्र में इन्द्र शब्द से वायु के गुणों का उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—(हि) जिस कारण यह (इन्द्र) वायु (केशिभिः) जिनके बहुत से केश अर्थात् किरण विद्यमान हैं, उन अग्नि विद्युत् और सूर्य्य के (हरिभिः) पदार्थों के हरने वा स्वीकार करनेवाले वेगयुक्त किरणों के साथ (नः) हमारे (सुतम्) उत्पन्न किये हुए होम, वा शिल्प आदि व्यवहार के (उपागहि) निकट प्राप्त होता है, इससे (त्वा) उसको (सुते) उत्पन्न किये हुए होम वा शिल्प आदि व्यवहारों में हम लोग (हवामहे) ग्रहण करते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो पदार्थ हम लोगों को शिल्प आदि व्यवहारों में उपकारयुक्त करने चाहियें, वे अग्नि विद्युत् और सूर्य, वायु के निमित्त से ही प्रकाशित होते, तथा जाते-आते हैं ॥ ४ ॥



पुनरिन्द्रगुणा उपदिश्यन्ते—

सेमं नः स्तोममा गह्युपेदं सवनं सुतम्। गौरो न तृषितः पिब ॥५॥

सः। इमम्। नः। स्तोमम्। आ। गहि। उप। इदम्। सवनम्। सुतम्॥ गौरः। न। तृषितः। पिब ॥ ५ ॥

पदार्थः—(सः) इन्द्रः (इमम्) अनुष्ठीयमानम् (नः) अस्माकम् (स्तोमम्) स्तूयते गुणसमूहो यस्तं यज्ञम् (आ) समन्तात् (गहि) गच्छति। अत्र व्यत्ययो, लडर्थे लोट्, बहुलं छन्दसि [अ० २। ४। ७३] इति शपो लुक् च[2]। (उप) सामीप्ये (इदम्) प्रत्यक्षम् (सवनम्)

---

१. अपित्वे सति 'सार्वधातुकमपित्' (अ० १। २। ४) इति ङित्त्वम्। ङित्त्वे 'अनुदात्तोपदेश०' (अ० ६।४।३७) इत्यनिनानुनासिकलोपः।

२. चात् पूर्वमन्त्रोक्तो हेरपित्त्वादनुनासिकलोपोऽपि समुच्चेतव्यः।

ऐश्वर्यं प्राप्नुवन्ति येन तत् क्रियाकाण्डम् (सुतम्) ओषध्यादिरसम् (गौरः) गौरगुण-ष्टो मृगः (न) जलाशयं प्राप्य जलं[1] पिबतीव (तृषितः) यस्तृष्यति पिपासति सः (पिब) । अत्र व्यत्ययो, लडर्थे लोट् च ।।५।।

अन्वयः—य इन्द्रो नोऽस्माकमिमं स्तोमं सवनं तृषितो गौरो मृगो न इवोपागह्युपागच्छति, सुतमुत्पन्नमोषध्यादिरसं पिब पिबति ।।५।।

अत्रोपमालङ्कारः ।

भावार्थः—यथाऽत्यन्तं तृषिता मृगादयः पशुपक्षिणो वेगेन धावनं कृत्वोदकाशयं प्राप्य जलं न्ति, तथैवैष इन्द्रो वेगवद्भिः किरणैरोषध्यादिकं प्राप्यैतेषां रसं पिबति । मनुष्यैः सोऽयं वृद्धये यथावदुपयोक्तव्यः ।।५।।

इति त्रिंशत्तमो वर्गः समाप्तः ।।

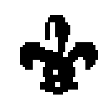
फिर भी अगले मन्त्र में इन्द्र के गुणों का उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—जो उक्त सूर्य्य (नः) हमारे (इमम्) अनुष्ठान किये हुए (स्तोमम्) नीय यज्ञ, वा (सवनम्) ऐश्वर्य प्राप्त करानेवाले क्रियाकाण्ड को (न) जैसे (तृषितः) (गौरः) गौरगुणविशिष्ट हरिन (उपागहि) जलाशय के समीप पहुंच कर जल को है, वैसे (सः) वह (इदम्) इस (सुतम्) उत्पन्न किये ओषधि आदि के रस को ब) पीता है ।। ५ ।।

इस मन्त्र में उपमालङ्कार है ।

भावार्थ—जैसे अत्यन्त प्यासे मृग आदि पशु और पक्षी वेग से दौड़कर नदी तालाब आदि शय का प्राप्त होके जल को पीते हैं, वैसे ही यह सूर्य्यलोक अपनी वेगवती किरणों से ओषधि को प्राप्त होकर उनके रस को पीता है । सो यह [इन्द्र=सूर्य] विद्या की वृद्धि के लिये यों को यथावत् उपयुक्त करना चाहिये ।। ५ ।।

यह तीसवां वर्ग पूरा हुआ ।।



अथ वायुः कस्मै कस्मिन् कान् पिबतीत्युपदिश्यते—

इमे सोमास इन्दवः सुतासो अधि बर्हिषि । ताँ इन्द्र सहसे पिब ।।६।।

इमे । सोमासः । इन्दवः । सुतासः । अधि । बर्हिषि ।। तान् । इन्द्र । सहसे । पिब ।।६।।

पदार्थः—(इमे) प्रत्यक्षाः (सोमासः) सूयन्त उत्पद्यन्ते सुखानि येभ्यस्ते (इन्दवः) न्दि स्नेहयन्ति सर्वान् पदार्थान् ये ते रसाः । उन्देरिच्चादेः । उ० १ । १२ इत्युः प्रत्ययः,

१. पदार्थस्य स्पष्टतार्थं 'पिबति' पदमत्राध्याहृतम् ।

आदेरिकारादेशश्च। (सुतासः) ईश्वरेणोत्पादिताः (अधि) उपरिभावे (बर्हिषि) बृंहन्ति वर्धन्ते सर्वे पदार्था यस्मिन्नन्तरिक्षे, तस्मिन्। बृंहेर्नलोपश्च। उ० २। १०९ अनेन इसिः प्रत्ययो नकारलोपश्च। (तान्) उक्तान् (इन्द्र) वायुः (सहसे) बलाय। सह इति बलनामसु पठितम्। निघं० २। ९। (पिब) पिबति। अत्र व्यत्ययो, लडर्थे लोट् च ॥६॥

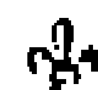
अन्वयः—ये[1]ऽधिबर्हिषीश्वरेणेमे सोमास इन्दवः सहसे सुतास उत्पादिताः, तानिन्द्रो वायुः प्रतिक्षणे[2] [पिब] पिबति ॥६॥

भावार्थः—ईश्वरेणास्मिन् जगति प्राणिनां बलाभिवृद्धये यावन्तो मूर्त्ताः पदार्था उत्पादिताः, तान् सूर्य्येण छेदितान् वायुः स्वसमीपस्थान् कृत्वा धरति। तस्य संयोगेन प्राण्यप्राणिनो बलयन्ति[3] ॥६॥

अब वायु किसलिये किसमें किन पदार्थों के रस को पीता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—(अधिबर्हिषि) जिसमें सब पदार्थ वृद्धि को प्राप्त होते हैं, उस अन्तरिक्ष में ईश्वर ने जो (इमे) ये, (सोमासः) जिनसे कि सुख उत्पन्न होते हैं, और जो कि (इन्दवः) सब पदार्थों को गीला करनेवाले रस हैं, वे (सहसे) बल आदि गुणों के लिये (सुतासः) उत्पन्न किये हैं, (तान्) उनको (इन्द्र) वायु (पिब) क्षण क्षण में पिया करता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—ईश्वर ने इस संसार में प्राणियों के बल आदि की वृद्धि के लिये जितने मूर्तिमान् पदार्थ उत्पन्न किये हैं, सूर्य से छिन्न-भिन्न किये हुए उनको पवन अपने निकट करके धारण करता है। उसके संयोग से प्राणी और अप्राणी बलपराक्रमवाले होते हैं ॥ ६ ॥



स कीदृग्गुणोऽस्तीत्युपदिश्यते—

अयं ते स्तोमो अग्रियो हृदिस्पृगस्तु शन्तमः। अथा सोमं सुतं पिब ॥७॥

अयम्। ते। स्तोमः। अग्रियः। हृदिऽस्पृक्। अस्तु। शम्ऽतमः॥ अथ। सोमम्। सुतम्। पिब ॥७॥

पदार्थः—(अयम्) अस्माभिरनुष्ठितः (ते) तस्यास्य (स्तोमः) गुणप्रकाशक्रियासमूहः[4] (अग्रियः) अग्रे भवोऽत्युत्तमः। घच्छौ च। अ० ४। ४। ११७ अनेनाग्रशब्दाद् घः

---

१. उत्तरत्रान्वयः—'य इमे'।

२. 'तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्' (अ० २।४।८४) इत्यमभावे विभक्तेः श्रवणम्। नपामभावे अव्ययत्वाद् विभक्तिलुका भाव्यम्, तस्यापि बाधात्। ३. बलं कुर्वन्ति बलिनो भवन्तीति यावत्। अत्र तत्करोति तदाचष्टे (अ० ३। १। २६ वा०) इति करोत्यर्थे णिच्।

४. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'गुणप्रकाशसमूहक्रियः' इत्यपपाठः। द्रष्टव्योऽत्र भावार्थः।

। (हृदिस्पृक्) यो हृद्यन्तःकरणे सुखं स्पर्शयति सः (अस्तु) भवेत्। अत्र [1]लिङर्थे लोट्। मः) शं सुखमतिशयितं [2]यस्मिन् सः। शमिति सुखनामसु पठितम्। निघं० ३। ६। (अथ) ार्थे, निपातस्य च [अ० ६। ३। १३५] इति दीर्घः। (सोमम्) सर्वपदार्थाभिषवम् उत्पन्नम् (पिब) पिबति। अत्र व्यत्ययो, लडर्थे लोट् च ।।७।।

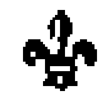
अन्वयः—मनुष्यैर्यथाऽयं वायुः पूर्वं सुतं सोमं पिब, अथेत्यनन्तरं ते तस्याग्रियो हृदिस्पृक स्तोमो [विदितोऽस्तु] भवेत्तथाऽनुष्ठातव्यम् ।।७।।

भावार्थः—मनुष्यैः शोधित उत्कृष्टगुणोऽयं पवनोऽत्यन्तसुखकारी भवतीति बोध्यम् ।।७।

उक्त वायु कैसे गुणवाला है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—मनुष्यों को जैसे यह वायु प्रथम (सुतम्) उत्पन्न किये हुए (सोमम्) दार्थों के रस को (पिब) पीता है, (अथ) उसके अनन्तर (ते) जो इस वायु का ग्रयः) अत्युत्तम, (हृदिस्पृक्) अन्तःकरण में सुख का स्पर्श करानेवाला, (शन्तमः) य सुखवाला (स्तोमः) गुणों से प्रकाशित क्रियाओं का समूह (अस्तु) विदित हो, वैसे करने चाहियें ।। ७ ।।

भावार्थ—मनुष्यों से शुद्ध किया हुआ उत्तम गुणवाला यह पवन अत्यन्त सुखकारी होता ऐसा जानना चाहिये] ।। ७ ।।



पुनस्तद्गुणा उपदिश्यन्ते—

विश्वमित् सवनं सुतमिन्द्रो मदाय गच्छति । वृत्रहा सोमपीतये ।।८।।

विश्वम्। इत्। सवनम्। सुतम्। इन्द्रः। मदाय। गच्छति ॥ वृत्रऽहा। सोमऽपीतये ।।८।।

पदार्थः—(विश्वम्) जगत् (इत्) एव (सवनम्) सर्वसुखसाधनम् (सुतम्) उत्पन्नम् द्रः) वायुः (मदाय) आनन्दाय (गच्छति) प्राप्नोति (वृत्रहा) यो वृत्रं मेघं हन्ति[3] सः।

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'लडर्थे' इत्यपपाठः, 'भवेत्' इत्यर्थनिर्देशात्। क. ख.ग.कोशेषु '(अस्तु) अत्र लडर्थे लोट्' इति पाठः (इत्थमेवान्वये आसीत्)। 'भवति' अर्थे 'लडर्थे लोट्' इति पाठो युक्त 'भवति' स्थाने 'भवेत' संशोधनं कृतम्, अग्रिमः पाठोऽसंशोधित एव स्थित। अतः सोऽपपाठः अत एवास्माभिः, 'लिङर्थे' इत्येवं शोधितः।

२. अर्थप्रदर्शनपरं वाक्यम्। नास्य मत्वर्थे तमपो विधाने तात्पर्यम्। शं सुखं यस्मिन्, तदपि तारतम्यो-ऽभिरुच्यते। एवं च शन्तमः पदेन यस्मिन्नतिशयेन शं तदेवोच्यते इति युक्त एवात्रार्थनिर्देशः।

३. यद्यपि 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्' (अ० ३।२।८८) सूत्रे 'भूते' इत्यनुवर्तते, तथापीह छान्दसत्वादभूतेऽपि ज्ञेयः।

ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्। अ० ३। २। ८७ अनेन 'हन'धातोः क्विप्। (सोमपीतये) सोमानां पीतिः पानं यस्मिन्नानन्दे, तस्मै। अत्र सह सुपा [अ० २। १। ४] इति समासः[1] ॥८॥

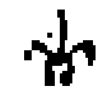
अन्वयः—अयं वृत्रहेन्द्रः सोमपीतये मदायैवैष सवनं सुतं विश्वं गच्छति प्राप्नोति ॥८॥

भावार्थः—वायुः [2]स्वर्गमनागमनैः सकलं जगत् प्राप्य वेगवान् मेघहन्ता सन् सर्वान् प्राणिनः सुखयति। नैवैतेन विना कश्चित् कंचिदपि व्यवहारं साधितुमलं भवतीति ॥८॥

फिर अगले मन्त्र में उसी के गुणों का उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—यह (वृत्रहा) मेघ को हनन करनेवाला (इन्द्रः) वायु (सोमपीतये) उत्तम-उत्तम पदार्थों का पान करानेवाले (मदाय) आनन्द के लिये (इत्) निश्चय करके (सवनम्) जिससे सब सुखों को सिद्ध करते हैं, उस (सुतम्) उत्पन्न हुए (विश्वम्) जगत् को (गच्छति) प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—वायु आकाश में अपने गमनागमन से सब संसार को प्राप्त होकर मेघ से वृष्टि करने वा सबसे वेगवाला होकर सब प्राणियों को सुखयुक्त करता है। इसके बिना कोई प्राणी किसी भी व्यवहार को सिद्ध करने को समर्थ नहीं हो सकता ॥ ८ ॥



अथेन्द्रशब्देनेश्वरगुणा उपदिश्यन्ते—

सेमं नः काममा पृण गोभिरश्वैः शतक्रतो। स्तवाम त्वा स्वाध्यः ॥९॥

सः। इमम्। नः। कामम्। आ। पृण। गोभिः। अश्वैः। शतक्रतो इति शतऽक्रतो॥ स्तवाम। त्वा। सुऽआध्यः ॥९॥

पदार्थः—(सः) जगदीश्वरः (इमम्) वेदमन्त्रैः प्रेम्णा सत्यभावेनानुष्ठीयमानम् (नः) अस्माकम् (कामम्) काम्यत इष्यते सर्वैर्जनैः, तम् (आ) अभितः (पृण) पूरय (गोभिः) इन्द्रिय-पृथिवीविद्याप्रकाशपशुभिः (अश्वैः) आशुगमनहेतुभिरग्न्यादिभिस्तुरङ्गहस्त्यादिभिर्वा (शतक्रतो) शतमसंख्यातानि क्रतवः कर्माण्यनन्ता प्रज्ञा वा यस्य तत्संबुद्धौ, सर्वकामप्रदेश्वर! (स्तवाम) नित्यं स्तुवेम[3] (त्वा) त्वाम् (स्वाध्यः) ये स्वाध्यायन्ति ते। अत्र स्वाङ् पूर्वाद् ध्यै

१. योगविभागेनेति शेषः। २. 'स्वः' इत्यन्तरिक्षार्थं वेदे लोके च प्रसिद्धः।

३. धातुपाठे धातूनां तत्तद्गणेषु निवेशः प्रायिकः। अत्र च 'बहुलमेतन्निदर्शनम्' इति धातुसूत्रं (१०।३६६) प्रमाणम्। तथा च 'तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके' (अ० ७।३।९५) सूत्रेण शम्यमोर्दैवादिकभौवादिक-धात्वोरदादिगणे निर्देश उपपद्यते। न ह्यादादिके स्वीकारे आभ्यां विकरणलुगुपपद्यते। विकरणलुगभावे च नाभ्यां परो हलादिः सार्वधातुकमव्यवहितं सम्भवति। न च छान्दसो विकरणलुक् कल्पयितुं शक्यः, सूत्रे छन्दसीत्य-स्याननुवृत्तेः। एवं च कृत्वा भाष्यकारोक्तः 'स्तुवेम' इति प्रयोग उपपद्यतेतराम्। धातूनां तत्तद्गणपाठस्य प्रायिक-त्वानभिगमे बहवः शिष्टप्रयोगा व्याकुप्येरन्।

न्तायाम् इत्यस्मात् ध्यायतेः संप्रसारणं च। अ० ३।२।१७८ अनेन [वार्त्तिकेन][1] क्विप् [प्र]सारणं च ॥९॥

अन्वयः—हे शतक्रतो जगदीश्वर ! यं त्वा [त्वां] स्वाध्यो वयं स्तवामः स्तुवेम, स त्वं [गो]भिरश्वैर्नोऽस्माकम् [इमं] काममापृण समन्तात् प्रपूरय ॥९॥

भावार्थः—ईश्वरस्यैतत् सामर्थ्यं वर्त्तते, यत् पुरुषार्थिनां धार्मिकाणां मनुष्याणां स्वस्वकर्मा[नुसा]रेण सर्वेषां कामानां पूर्तिं करोति। यः सृष्टौ परमोत्तमपदार्थोत्पादनधारणाभ्यां सर्वान् [प्रा]णिनः सुखयति, तस्मात् स एव सर्वैर्नित्यमुपासनीयो, नेतरः ॥९॥

अस्य षोडशसूक्तार्थस्यर्त्तुसंपादकानां सूर्य्यवाय्वादीनां यथायोग्यं प्रतिपादनात् पञ्चदश[सू]क्तार्थेन सह संगतिरस्तीति बोध्यम् ॥

इदमपि सूक्तं सायणाचार्य्यादिभिर्यूरोपदेशवासिभिरध्यापकविलसनादिभिश्च विपरीतार्थं [व्य]ाख्यातमिति ॥

इति षोडशं सूक्तमेकत्रिंशो वर्गश्च समाप्तः ॥

अब अगले मन्त्र में इन्द्र शब्द से ईश्वर के गुणों का उपदेश किया है—

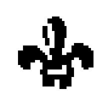
पदार्थान्वयभाषा—हे (शतक्रतो) असंख्यात कामों को सिद्ध करनेवाले, अनन्तविज्ञान[य]ुक्त जगदीश्वर ! जिस (त्वा) आपकी (स्वाध्यः) अच्छे प्रकार ध्यान करनेवाले हम लोग (स्तवाम) नित्य स्तुति करें, (सः) वह आप (गोभिः) इन्द्रिय पृथिवी विद्या का प्रकाश और पशु, तथा (अश्वैः) शीघ्र चलने और चलानेवाले अग्नि आदि पदार्थ, वा घोड़े हाथी आदि से (नः) हमारी [(इमम्)] वेदमन्त्रों से प्रेम, और सत्यभाव से अनुष्ठीयमान (कामम्) कामनाओं को (आपृण) सब ओर से पूरण कीजिये ॥ ९ ॥

भावार्थ—ईश्वर में यह सामर्थ्य सदैव रहता है कि वह पुरुषार्थी धर्मात्मा मनुष्यों को उनके कर्मों के अनुसार सब कामनाओं से पूरण करता है। तथा जो संसार में परम उत्तम-उत्तम पदार्थों का उत्पादन तथा धारण करके सब प्राणियों को सुखयुक्त करता है, इससे सब मनुष्यों को उसी परमेश्वर की नित्य उपासना करनी चाहिये ॥ ९ ॥

ऋतुओं के संपादक जो कि सूर्य्य और वायु आदि पदार्थ हैं, उनके यथायोग्य प्रतिपादन से पन्द्रहवें सूक्त के अर्थ के साथ इस सोलहवें सूक्त के अर्थ की सङ्गति समझनी चाहिये ॥

इस सूक्त का भी अर्थ **सायणाचार्य्य** आदि, तथा यूरोपदेशवासी अध्यापक **विलसन** आदि ने विपरीत वर्णन किया है ॥

यह सोलहवां सूक्त और इकतीसवां वर्ग पूरा हुआ ॥



1. वै० य० मुद्रिते चतुर्थसंस्करणे कोष्ठके परिवृद्धं पदम्।

अथास्य नवर्चस्य सप्तदशसूक्तस्य काण्वो मेधातिथिर्ऋषिः । इन्द्रावरुणौ देवते ।
१, ३, ७, ९ गायत्री; यवमध्याविराड्गायत्री; ४ पादनिचृद्गायत्री;
५ भुरिगार्च्ची गायत्री; ६ निचृद्गायत्री; ८ पिपीलकामध्या-
निचृद्गायत्री च छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

तत्रेन्द्रावरुणगुणा उपदिश्यन्ते—

इन्द्रावरुणयोरहं सम्राजोरव आ वृणे । ता नो मृळात ईदृशे ॥१॥

इन्द्रावरुणयोः । अहम् । सम्ऽराजोः । अवः । आ । वृणे ॥ ता । नः । मृळातः । ईदृशे ॥१॥

पदार्थः—(इन्द्रावरुणयोः) इन्द्रश्च वरुणश्च तयोः सूर्य्याचन्द्रमसोः । इन्द्र इति पदनामसु पठितम् । निघं० ५ । ४ । वरुण इति च । निघं० ५ । ४ अनेन व्यवहारप्रापकौ गृह्येते । (अहम्) होमशिल्पादिकर्मानुष्ठाता (सम्राजोः) यौ सम्यग्राजेते दीप्येते, तयोः (अवः) अवनं रक्षणम्, अत्र भावेऽसुन्[1] । (आ) समन्तात् (वृणे) स्वीकुर्वे (ता) तौ, अत्र सुपां सुलुग्० [अ० ७ । १ । ३९] इत्याकारादेशः । (नः) अस्मान् (मृळातः) सुखयतः । अत्र लडर्थे लेट् । (ईदृशे) चक्रवर्त्तिराज्यसुखस्वरूपे व्यवहारे ॥१॥

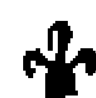
अन्वयः—अहं ययोः सम्राजोरिन्द्रावरुणयोः सकाशादव आवृणे, [ता] तावीदृशे नोऽस्मान मृडातः ॥१॥

भावार्थः—यथा प्रकाशमानौ जगदुपकारकौ सर्वसुखव्यवहारहेतू चक्रवर्त्तिराजवद्[2] रक्षकौ सूर्य्याचन्द्रमसौ वर्त्तेते, तथैवाऽस्माभिरपि भवितव्यम् ॥१॥

अब सत्रहवें सूक्त का आरम्भ है । इसके पहिले मन्त्र में इन्द्र और वरुण के गुणों का उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—मैं जिन (सम्राजोः) अच्छी प्रकार प्रकाशमान (इन्द्रावरुणयोः) सूर्य्य और चन्द्रमा के गुणों से (अवः) रक्षा को (आवृणे) अच्छी प्रकार स्वीकार करता हूं, (ता) वे दोनों (ईदृशे) चक्रवर्त्ति-राज्य-सुखरूप व्यवहार में (नः) हम लोगों को (मृळातः) सुखयुक्त करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे प्रकाशमान, संसार के उपकार करने, सब सुखों के देने, व्यवहारों के हेतु, और चक्रवर्त्ति राजा के समान सब की रक्षा करनेवाले सूर्य्य और चन्द्रमा हैं, वैसे ही हम लोगों को भी होना चाहिये ॥ १ ॥



१. 'सर्वधातुभ्योऽसुन्' (उ० ४।१८९) इत्यनेनेति शेषः ।

२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'चक्रवर्तिराज्यवद्' इति पाठः । भाषार्थोऽत्र द्रष्टव्यः ।

अथेन्द्रावरुणाभ्यां सह संप्रयुक्ता अग्निजलगुणा उपदिश्यन्ते—

गन्तारा हि स्थोऽवसे हवं विप्रस्य मावतः। धर्त्तारा चर्षणीनाम् ॥२॥

गन्तारा। हि। स्थः। अवसे। हवम्। विप्रस्य। माऽवतः॥ धर्त्तारा। चर्षणीनाम् ॥२॥

पदार्थः—(गन्तारा) गच्छत इति गमनशीलौ। अत्र सुपां सुलुग्० [अ० ७। १। ३९] आकारादेशः। (हि) यतः (स्थः) स्तः, अत्र व्यत्ययः। (अवसे) क्रियासिद्धयेषणाय (हवम्) होति ददात्यादवाति यस्मिन्, तं होमशिल्पव्यवहारम् (विप्रस्य) मेधाविनः (मावतः) बुधस्य पण्डितस्य। अ० वतुप्प्रकरणे युष्मदस्मद्भ्यां छन्दसि सादृश्य उपसंख्यानम्। अ० ५। १। ३९ अनेन वार्त्तिकेनास्मच्छब्दात् सादृश्ये वतुप् प्रत्ययः, आ सर्वनाम्नः। अ० ६। ३। ९० याकारादेशश्च। (धर्त्तारा) कलाकौशलयन्त्रेषु योजितौ होमरक्षणशिल्पव्यवहारान् धरतः, (चर्षणीनाम्) मनुष्यादिप्राणिनाम्। कृषेरादेश्च चः। उ० २। १०४ अनेन 'कृष'धातोरनिः प्रत्यय आदेश्चकारादेशश्च ॥२॥

अन्वयः—[१]ये हि खल्विमे अग्निजले संप्रयुक्ते मावतो विप्रस्य हवं[गन्तारा] गन्तारौ स्थः स्तः, चर्षणीनां धर्त्तारा धारणशीले चात अहमेतौ स्वस्य सर्वेषां चावसे आवृणे ॥२॥

पूर्वस्मान्मन्त्रात् 'आवृणे' इति क्रियापदस्यानुवर्त्तनम्।

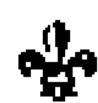
भावार्थः—विद्वद्भिर्यदा कलायन्त्रेषु युक्त्या संयोजिते अग्निजले प्रेर्य्येते, तदा यानानां शीघ्रगमनकारके तत्र स्थितानां मनुष्यादिप्राणिनां पदार्थभाराणां च धारणहेतू सुखदायके च भवत इति ॥२॥

अब इन्द्र और वरुण से संयुक्त किये हुए अग्नि और जल के गुणों का उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—जो (हि) निश्चय करके ये संप्रयोग किये हुए अग्नि और जल (मावतः) मेरे समान पण्डित तथा (विप्रस्य) बुद्धिमान् विद्वान् के (हवम्) पदार्थों का लेना-देना करानेवाले होम वा शिल्पव्यवहार को (गन्तारा) प्राप्त करानेवाले (स्थः) होते हैं, तथा (चर्षणीनाम्) मनुष्यादि प्राणियों के (धर्त्तारा) कलाकौशलादि यन्त्रों में प्रयुक्त किये हुए होम रक्षण तथा शिल्पादि व्यवहारों को धारण करनेवाले होते हैं, इससे मैं इनको अपने तथा सबको (अवसे) क्रिया की सिद्धि के लिये (आवृणे) स्वीकार करता हूं ॥ २ ॥

पूर्वमन्त्र से इस मन्त्र में 'आवृणे' इस पद का ग्रहण किया है।

भावार्थ—विद्वानों से युक्ति के साथ कलायन्त्रों में प्रयुक्त किए हुए अग्निजल जब कलाओं से प्रेरित किये जाते हैं, तब रथों को शीघ्र चलाने, उनमें बैठे हुए मनुष्य आदि प्राणियों वा पदार्थों के भार के धारण करने, और सब को सुख देनेवाले होते हैं। २॥



१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'यौ ये' इत्येव पाठः, तत्र 'यौ' पदं निष्प्रयोजनम्।

एवं साधितावेतौ किंहेतुकौ भवत इत्युपदिश्यते—

अनुकामं तर्पयेथामिन्द्रावरुण राय आ। ता वां नेदिष्ठमीमहे ॥३॥

अनुऽकामम्। तर्पयेथाम्। इन्द्रावरुणा। रायः। आ॥ ता। वाम्। नेदिष्ठम्। ईमहे ॥३॥

पदार्थः—(अनुकामम्) कामंकाममनु (तर्पयेथाम्) तर्पयेते। अत्र व्यत्ययो, लडर्थे लोट् च। (इन्द्रावरुणा) अग्निजले। अत्र सुपां सुलुग्० [अ० ७। १। ३९] इत्याकारादेशो वर्णव्यत्ययेन ह्रस्वत्वं[1] च। (रायः) धनानि (आ) समन्तात् (ता) तौ। अत्रापि सुपां सुलुग्० [अ० ७। १। ३९] इत्याकारादेशः। (वाम्) द्वावेतौ। अत्र व्यत्ययः। (नेदिष्ठम्) अतिशयेनान्तिकं समीपस्थम्। अत्र अन्तिकबाढयोर्नेदसाधौ। अ० ५। ३। ६३ अनेनान्तिकशब्दस्य नेदादेशः। (ईमहे) जानीमः प्राप्नुमः। ईङ् गतौ इत्यस्माद् बहुलं छन्दसि [अ० २। ४। ७३] इति शपो लुकि श्यनभावः[2] ॥३॥

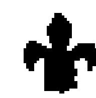
अन्वयः—याविमाव् [इन्द्रावरुणा] इन्द्रावरुणावनुकामं रायो धनानि [दत्त्वाऽऽ]तर्पयेथां तर्पयेते, ता तौ वां द्वावेतौ वयं नेदीष्ठमीमहे ॥३॥

भावार्थः—मनुष्यैरेवं [3]याविन्द्रावरुणौ गुणान् विदित्वा क्रियायां संयोजितौ बहूनि सुखानि प्रापयतः, तौ युक्त्या कार्य्येषु संप्रयोजनीया इति ॥३॥

इस प्रकार साधे हुए ये दोनों किस-किसके हेतु होते हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—जो ये (इन्द्रावरुणा) अग्नि और जल (अनुकामम्) हर एक इच्छा अनुसार (रायः) धनों को देकर ([आ] तर्पयेथाम्) तृप्ति करते हैं, (ता) उन (वाम्) दोनों को हम लोग (नेदिष्ठम्) अच्छी प्रकार अपने निकट जैसे हों, वैसे (ईमहे) प्राप्त करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य को योग्य है कि[4] जिस प्रकार इन अग्नि और जल के गुणों को जानकर क्रियाकुशलता में संयुक्त किये हुए ये दोनों बहुत उत्तम-उत्तम सुखों को प्राप्त कराते हैं, उस युक्ति के साथ कार्य्यों में अच्छी प्रकार इनका प्रयोग करना चाहिये ॥ ३ ॥



१. आकारादेशस्य ह्रस्वत्वं चेत्यर्थः। इदं पदकाराभिप्रायेण ज्ञेयम्। सांहितिकपाठस्तु द्विवचनस्य लुकाऽपि सिध्यति। पूर्वत्र ६४९ पृष्ठस्था २ टिप्पणी द्रष्टव्या।

२. श्यनादयः शबादेशा इत्यस्मिन् पक्षे स्थानिनोऽभावे आदेशाभावः। द्र०—पूर्वत्र पृष्ठ ४०८, प्रकृतसूत्र-व्याख्यानम्।

३. वै०य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'यो मित्रावरुणयोर्गुणान्' इत्यपपाठः, मन्त्र 'इन्द्रावरुण' पदस्य श्रवणात्।

४. यह भाषार्थ संस्कृत पाठ से कुछ भिन्न होते हुए भी स्पष्टार्थक होने से युक्त है।

तदेतत्करणेन किं भवतीत्युपदिश्यते—

युवाकु हि शचीनां युवाकु सुमतीनाम् । भूयाम वाजदाव्नाम् ॥४॥

युवाकु । हि । शचीनाम् । युवाकु । सुऽमतीनाम् ॥ भूयाम । वाजऽदाव्नाम् ॥४॥

पदार्थः—(युवाकु) मिश्रीभावम् । अत्र बाहुलकादौणादिकः काकुः[1] प्रत्ययः । (हि) यतः (शचीनाम्) वाणीनां सत्कर्मणां वा । शचीति वाङ्नामसु पठितम् । निघं० १।११। कर्मनामसु च । निघं० २ । १ । (युवाकु) अपृथग्भावम्[2] । अत्रोभयत्र सुपां सुलुग्० [अ० ७ । १ । ३९] इति भवतेर्लुक्[3] । (सुमतीनाम्) शोभना मतिर्येषां तेषां विदुषाम् । (भूयाम) समर्था भवेम । शकि लिङ् च । अ० ३ । ३ । १७२ इति लिङ्, बहुलं छन्दसि [अ० २ । ४ । ७३] इति शपो लुक् च । (वाजदाव्नाम्) वाजस्य विज्ञानस्यान्नस्य दातॄणामुपदेशकानां वा ॥४॥

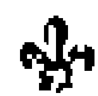
अन्वयः—वयं हि शचीनां युवाकु वाजदाव्नां सुमतीनां युवाकु भूयाम समर्था भवेम, अत एतौ साधयेम ॥४॥

भावार्थः—मनुष्यैः सदाऽऽलस्यं त्यक्त्वा सत्कर्माणि सेवित्वा विद्वत्समागमो नित्यं कर्त्तव्यः, यतोऽविद्यादारिद्र्ये मूलतो नष्टे भवेताम् ॥४॥

उक्त कार्य्य के करने से क्या होता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हम लोग (हि) जिस कारण (शचीनाम्) उत्तम वाणी वा श्रेष्ठ कर्मों के (युवाकु) मेल, तथा (वाजदाव्नाम्) विज्ञान वा अन्न के उपदेश करने वा देनेवाले, (सुमतीनाम्) श्रेष्ठ बुद्धिवाले विद्वानों के (युवाकु) अपृथग्भाव[4] [=मेल] करने को (भूयाम) समर्थ होवें, इस कारण से इनको साधें ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को सदा आलस्य छोड़कर अच्छे कामों का सेवन करके विद्वानों का समागम नित्य करना चाहिए । जिससे अविद्या और दरिद्रपन जड़-मूल से नष्ट हों ॥४॥



---

१. कठिकुषिभ्यां काकुः (उ० ३ । ७७) इत्यनेन विहितः ।

२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'पृथग्भावम्' इत्येवार्थः' भावार्थेऽपि 'पृथग्भाव' इत्येव दृश्यते । परन्तु 'सुमतीनां विदुषां युवाकु पृथग्भावम्' इत्यर्थो नोपपद्यते, विदुषां सहभावस्यैवेष्टत्वात् । अपि च भावार्थे 'विद्वत्-समागमो नित्यं कर्तव्यः' इत्युच्यते । सोऽप्यपग्भाव एवोपद्यत इति कृत्वा संशोधनमस्माभिः कृतम् ।

३. युवाकुशब्दोऽन्यत्र (ऋ० १।३।३; १।१२०।३ इत्यादिषु) पुंसि प्रयुज्यते । अत एवात्र 'सुपां सुलुक्' (अ० ७।१।३९) इत्युक्तं भाष्यकृता । नपुंसकत्वेऽपि स्वीकृते 'स्वमोर्नपुंसकात्' (अ० ७ । १ । २३) इत्येव लुक् सिद्धः ।

४. वै० य० मुद्रित संस्करणों में यहां तथा संस्कृत-पदार्थ में पृथग्भाव का ही निर्देश है । यह अप-पाठ है । विद्वानों से मेल=समागम इष्ट है न कि पृथग्भाव=दूर रहना । भावार्थ में भी विद्वानों के समागम का ही उपदेश है ।

पुनः कथंभूताविन्द्रावरुणावित्युपदिश्यते—

इन्द्रः सहस्रदाव्नां वरुणः शंस्यानाम् । क्रतुर्भवत्युक्थ्यः ॥ ५ ॥

इन्द्रः । सहस्रऽदाव्नाम् । वरुणः । शंस्यानाम् ॥ क्रतुः । भवति । उक्थ्यः ॥५॥

पदार्थः—(इन्द्रः) अग्निर्विद्युत् सूर्यो वा (सहस्रदाव्नाम्) यः सहस्रस्यासंख्यातस्य धनस्य दातॄणां मध्ये [1]साधकतमः । अत्र आतो मनिन्० । अ० ३ । २ । ७४ अनेन वनिप्प्रत्ययः । (वरुणः) जलं वायुश्चन्द्रो वा (शंस्यानाम्) प्रशंसितुमर्हाणां पदार्थानां मध्ये स्तोतुमर्हः (क्रतुः) करोति कार्य्याणि येन सः । कृञः कतुः । उ० १ । ७६ अनेन 'कृञ्'धातोः कतुः प्रत्ययः । (भवति) वर्त्तते (उक्थ्यः) यानि विद्यासिद्धयर्थं वक्तुं वाचयितुं योग्यानि तेषु[2] साधुः ॥ ५ ॥

अन्वयः—मनुष्यैर्य इन्द्रो हि सहस्रदाव्नां मध्ये क्रतुर्भवति, वरुणश्च शंस्यानां मध्ये क्रतुर्भवति, तस्मादयमुक्थ्योऽस्तीति बोध्यम् ॥५॥

अत्र पूर्वस्मान्मन्त्राद् हेरनुवृत्तिः ।

भावार्थः—यतो यावन्ति पृथिव्यादीन्यन्नादिदानसाधननिमित्तानि सन्ति, तेषां मध्येऽग्निविद्युत्सूर्य्या मुख्या वर्त्तन्ते । ये चैतेषां[3] मध्ये जलवायुचन्द्रास्तत्तद्गुणं प्रशस्या ज्ञातव्याः सन्तीति विदित्वा कर्मसु संप्रयोजिताः सन्तः क्रियासिद्धिहेतवो भवन्तीति ॥५॥

इति द्वात्रिंशो वर्गः समाप्तः ॥

फिर इन्द्र और वरुण किस प्रकार के हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—सब मनुष्यों को योग्य है कि जो (इन्द्रः) अग्नि बिजुली वा सूर्य (हि[4]) जिस कारण (सहस्रदाव्नाम्) असंख्यात धन के देनेवालों के मध्य में (क्रतुः) उत्तमता से कार्य्यों को सिद्ध करनेवाला (भवति) होता है, तथा जो (वरुणः) जल पवन वा चन्द्रमा भी (शंस्यानाम्) प्रशंसनीय पदार्थों में उत्तमता से कार्य्यों का साधक है, इससे उक्त [अग्नि] वा बिजुली आदि पदार्थ (उक्थ्यः) साधुता के साथ विद्या की सिद्धि करने में उत्तम हैं, ऐसा जानना चाहिये ॥ ५ ॥

पहिले मन्त्र से इस मन्त्र में 'हि' इस पद की अनुवृत्ति है ।

भावार्थ—जितने पृथिवी आदि पदार्थ अन्न आदि दान के साधक हैं, उनमें अग्नि

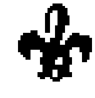
१. साधकतमो दातृतम इत्यर्थः । २. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'तेषु साधुः' इत्यपपाठः ।

३. एतेषां पृथिव्यादीनामित्यर्थः । ख.ग.कोशयोस्त्वत्र एवं पाठो दृश्यते—'·········मुख्या वर्त्तन्ते । तस्मात् सर्वैरेतेषां गुणाः स्तोतव्या उपदेष्टव्याश्च । ये पृथिव्यादीनां मध्ये··· ···' । वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु भावार्थोऽप्यस्यैव पाठस्योपलभ्यते ।

४. इस पद की पूर्व मन्त्र से अनुवृत्ति है ।

द्युत् और सूर्य्य मुख्य हैं[1]। और जो इन पृथिवी आदि पदार्थों में जल वायु और चन्द्रमा अपने-अपने गुणों के साथ प्रशंसा करने और जानने योग्य हैं, ऐसा जानकर वे क्रिया में कुशलता से युक्त किये हुए उन क्रियाओं की सिद्धि करानेवाले होते हैं ॥५॥

यह बत्तीसवां वर्ग समाप्त हुआ ॥



पुनस्ताभ्यां मनुष्यैः किं कर्त्तव्यमित्युपदिश्यते—

तयोरिदवसा वयं सनेम नि च धीमहि । स्यादुत प्ररेचनम् ॥६॥

तयोः । इत् । अवसा । वयम् । सनेम । नि । च । धीमहि ॥ स्यात् । उत । प्रऽरेचनम् ॥६॥

पदार्थः—(तयोः) इन्द्रावरुणयोर्गुणानाम्[2] (इत्) एव (अवसा) विज्ञानेन तदुपकारकरणेन वा (वयम्) विद्वांसो मनुष्याः (सनेम) सुखानि भजेम (नि) नितरां क्रियायोगे (च) समुच्चये (धीमहि) तां धारयेमहि। अत्र बहुलम् छन्दसि [अ० २। ४। ७३] इति शपो लुक्। (स्यात्) भवेत् (उत) उत्प्रेक्षायाम् (प्ररेचनम्) प्रकृष्टतया रेचनं पुष्कलं व्ययार्थम् ॥६॥

अन्वयः—वयं ययोर्गुणानामवसा [इद्] एव यानि सुखानि धनानि च सनेम, तयोः प्रकाशात्तानि पुष्कलानि धनानि च निधीमहि, तैः कोशान् प्रपूरयेम, येभ्योऽस्माकं प्ररेचनमुत स्यात् ॥ ६ ॥

भावार्थः—मनुष्यैरग्न्यादिपदार्थानामुपयोगेन पूर्णानि धनानि संपाद्य रक्षित्वा वर्द्धित्वा च तेषां यथायोग्येन व्ययेन [विद्या]राज्यवृद्धया सर्वहितमुन्नेयम् ॥६॥

फिर उन दोनों से मनुष्यों को क्या करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हम लोग जिन इन्द्र और वरुण के (अवसा) गुण ज्ञान वा उनके उपकार से (इत्) निश्चय ही जिन सुखों और उत्तम धनों को (सनेम) सेवन करें, (च) और (तयोः) उनके निमित्त से पाये हुए उन असंख्यात धनों को (निधीमहि) स्थापित करें, अर्थात् उनसे कोश आदि उत्तम स्थानों को भरें, उन धनों से हमारा (प्ररेचनम्) अच्छी प्रकार अत्यन्त खर्च (उत) भी (स्यात्) सिद्ध हो ॥ ६ ॥

१. वै० य० मुद्रित संस्करणों में '…मुख्य हैं, इससे सबको चाहिये कि उनके गुणों का उपदेश करके स्तुति वा उपदेश सुनें और करें, क्योंकि जो पृथिवी…' पाठ है। यह पूर्व (टि० १ में) निर्दिष्ट ख.ग. कोशस्थ संस्कृत पाठ के अनुसार है। आगे भाषा-पाठ में स्वल्प शोधन करके उसे वर्तमान संस्कृतपाठानुसारी स्पष्टार्थक बना दिया है।

२. 'गुणानाम्' इत्यध्याहृतं पदम्।

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि अग्नि आदि पदार्थों के उपयोग से भरपूर धनों को सम्पादन कर, और उनकी रक्षा वा उन्नति करके यथायोग्य व्यय द्वारा विद्या और राज्य की वृद्धि से सब के हित की उन्नति करनी चाहिये ॥ ६ ॥



कीदृशाय धनायेत्युपदिश्यते—

इन्द्रा॑वरुण वा॒मह॒ं हु॑वे चि॒त्राय॒ राध॑से । अ॒स्मान्त्सु जि॒ग्युष॑स्कृतम् ॥७॥

इन्द्रा॑वरुणा । वा॒म् । अ॒हम् । हु॒वे । चि॒त्राय॑ । राध॑से ॥ अ॒स्मान् । सु । जि॒ग्युष॑: । कृ॒तम् ॥७॥

पदार्थः—(इन्द्रावरुणा) पूर्वोक्तौ । अत्र सुपां सुलुग्० [अ० ७ । १ । ३९] इत्याकारादेशो वर्णव्यत्ययेन ह्रस्वश्च[1] । (वाम्) तौ, अत्र व्यत्ययः । (अहम्) (हुवे) आददे, अत्र व्यत्ययेनात्मनेपदं, बहुलं छन्दसि [अ० २ । ४ । ७३] इति शपो[2] लुक्, लडुत्तमस्यैकवचने रूपम् । (चित्राय) अद्भुताय, राज्यसेनाभृत्यपुत्रमित्रसुवर्णरत्नहस्त्यश्वादियुक्ताय (राधसे) राध्नुवन्ति संसेधयन्ति सुखानि येन, तस्मै धनाय । राध इति धननामसु पठितम् । निघं० २ । १० । (अस्मान्) धार्मिकान् मनुष्यान् (सु) सुष्ठु (जिग्युषः) विजययुक्तान् (कृतम्) कुरुतः । अत्र लडर्थे लोट्, मध्यमस्य द्विवचने बहुलं छन्दसि [अ० २ । ४ । ७३] इति शपो[3] लुक् च ॥७॥

अन्वयः—यौ [इन्द्रावरुणा] सम्यक् प्रयुक्तावस्मान् सुजिग्युषः कृतं कुरुतः, वां ताविन्द्रावरुणौ चित्राय राधसेऽहं हुव आददे ॥७॥

भावार्थः—ये मनुष्याः सुसाधिताविन्द्रावरुणौ[4] कार्य्येषु योजयन्ति, ते विविधानि धनानि विजयं च प्राप्य सुखिनः सन्तः सर्वान् प्राणिनः सुखयन्ति ॥७॥

कैसे धन के लिये उपाय करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—जो (इन्द्रावरुणा) पूर्वोक्त इन्द्र और वरुण अच्छी प्रकार क्रिया

१. अत्र ६४६ पृष्ठस्था टिप्पणी २ द्रष्टव्या ।

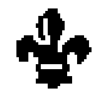
२. जुहोतेः शपः श्लौ प्राप्ते छन्दसत्वाच्छपो लुगित्यर्थः ।

३. शपो लुकि तत्स्थानीयस्य उविकरणस्याप्यभाव इत्यर्थः । यद्वा—स्वादौ पठितस्य कृञः श्नो लुकि रूपम् । भाष्यकारश्चायं कृञो स्वादावपि पाठं मनुते । तथा चोक्तं ३ । ५८ यजुषो मन्त्रव्याख्याने—'डुकृञ् करणे इत्यस्य स्वादिगणान्तर्गतपाठात् श्नुविकरणोऽत्र गृह्यते, तनादिभिः सह पाठादुविकरणोऽपि ।' प्राचीनाः क्षीरतरङ्गिणीकार-देव-पाल्यकीर्ति-हेमचन्द्र-दशपाद्युणादिवृत्तिकारादयो वैयाकरणाः कृञो स्वादौ पाठं प्रतिजानते । प्रथमतः सायणेनैव कृञो स्वादिपाठो निराकृतः (द्र०—ऋग्भाष्य १।८२।१; धातुवृत्तिश्च) । भट्टोजिदीक्षितादयोऽपि सायणमेवानुययुः । विस्तरस्त्वत्र ३ । ५८ यजुर्वेदभाष्यविवरणेऽस्मदाभ्यासितायां क्षीरतरङ्गिण्यां (पृ० १६०, टि० १) च द्रष्टव्यः ।

४. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'सुसाधितौ मित्रावरुणौ' इत्यपपाठः, मन्त्रे 'इन्द्रावरुणा' पदस्य श्रवणात् ।

ाता से प्रयोग किये हुए (अस्मान्) हम लोगों को (सुजिग्युषः) उत्तम विजययुक्त ाम्) करते हैं, (वाम्) उन इन्द्र और वरुण को (चित्राय) आश्चर्य्यरूप, राज्य सेना र पुत्र मित्र सोना रत्न हाथी घोड़े आदि पदार्थों से भरे हुए, (राधसे) और जिससे उत्तम-उत्तम को सिद्ध करते हैं, उस धन के लिये (अहम्) मैं (हुवे) ग्रहण करता हूं ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अच्छी प्रकार सिद्ध किये हुए इन्द्र और वरुण को कामों में युक्त ा हैं, वे नाना प्रकार के धन आदि पदार्थों वा विजय आदि सुखों को प्राप्त होकर आप सुख- ्त होते, तथा औरों को भी सुखसंयुक्त करते हैं ॥७॥



पुनस्ताभ्यां किं भवतीत्युपदिश्यते—

इन्द्रा॑वरुण॒ नू नु वां॒ सिषा॑सन्तीषु धी॒ष्वा। अ॒स्मभ्यं॒ शर्म॑ यच्छतम् ॥८॥

इन्द्रा॑वरुणा। नु। नु। वाम्। सिषा॑सन्तीषु। धी॒षु। आ॥ अ॒स्मभ्य॑म्। शर्म॑। य॒च्छ॒त॒म्। ८॥

पदार्थः—(इन्द्रावरुणा) वायुजले सम्यक् प्रयुक्ते। पूर्ववदाकारादेशह्रस्वत्वे। (नु) ्रम्। न्विति क्षिप्रनामसु पठितम्। निघं० २। १५। ऋचि तुनुघ० [अ० ६। ३। १३३] ा दीर्घः। (नु) हेत्वपदेशे। निरु० १। ४ अनेन हेत्वर्थे नुः। (वाम्) तौ, अत्र व्यत्ययः। ्षासन्तीषु) सनितुं संभक्तुमिच्छन्तीषु। जनसनखनां०। अ० ६। ४। ४२ अनेनानुनासि- ्याकारादेशः। (धीषु) दधति जना याभिस्तासु प्रज्ञासु। धीरिति प्रज्ञानामसु पठितम्। ं० ३। ९। (आ) समन्तात् क्रियायोगे (अस्मभ्यम्) पुरुषार्थिभ्यो विद्वद्भ्यः (शर्म) ्णाति हिनस्ति दुःखानि यत्तत् सर्वदुःखरहितं सुखम् (यच्छतम्) विस्तारयतः, अत्र पुरुष- ्ययो, लडर्थे लोट् च ॥८॥

अन्वयः—[2]नु यतो यौ [इन्द्रावरुणा] सिषासन्तीषु धीषु नु शीघ्रमस्मभ्यं शर्म आयच्छत- तनुत, तस्माद् वां [3]ताविन्द्रावरुणौ कार्य्यसिद्ध्यर्थं नित्यमहं हुवे ॥८॥

अत्र पूर्वस्मान्मन्त्राद् 'हुवे' इति पदमनुवर्त्तते।

भावार्थः—ये मनुष्याः शास्त्रसंस्कारपुरुषार्थयुक्ताभिर्बुद्धिभिः सर्वेषु शिल्पाद्युत्तमेषु व्यवहारेषु ्द्रावरुणौ [4]संप्रयोजयन्ति, त एवेह सुखानि विस्तारयन्तीति ॥८॥

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'सर्वदुःखरहितं सुखम, शृणाति हिनस्ति दुःखानि यत्तत्' इति ापाठः। भाष्यकारो निर्वचनं पूर्वं ब्रूत इत्यतः स्थानविपर्यासः कृतः।

२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'नु यतो' पदे 'नु शीघ्रं' इत्यतोऽनन्तरं पठ्येते, अन्वयानुसारमिह े इति कृत्वेहानीते।

३. वै० यं० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'तौ मित्रावरुणौ' इत्यपपाठः। मन्त्रे इन्द्रावरुणपदश्रवणात्।

४. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'मित्रावरुणौ' इति पूर्ववदपपाठः।

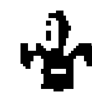
५. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'संप्रयोज्येते' इति कर्मणि प्रयोगोऽपपाठः, वाक्यस्य कर्त्तरि प्रयोगात्।

फिर उन दोनों से क्या सिद्ध होता है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—(नु) जिस कारण ये (इन्द्रावरुणा) इन्द्र और वरुण (सिषासन्तीषु) उत्तम कर्म करने को चाहने, और (धीषु) शुभ अशुभ वृत्तान्त धारण करानेवाली बुद्धियों में (नु) शीघ्र (अस्मभ्यम्) हम पुरुषार्थी विद्वानों के लिये (शर्म) दुःखविनाश करनेवाले उत्तम सुख का (आयच्छतम्) अच्छी प्रकार विस्तार करते हैं, इस कारण (वाम्) उन इन्द्र और वरुण को कार्य्यों की सिद्धि के लिये मैं निरन्तर (हुवे[1]) ग्रहण करता हूं ॥ ८ ॥

इस मन्त्र में पूर्व मन्त्र से 'हुवे' इस पद का ग्रहण किया है ।

भावार्थ—जो मनुष्य शास्त्र से उत्तमता को प्राप्त हुई पुरुषार्थयुक्त बुद्धियों से शिल्प आदि उत्तम व्यवहारों में उक्त इन्द्र और वरुण को अच्छी रीति से युक्त करते हैं, वे ही इस संसार में सुखों को फैलाते हैं ॥ ८ ॥



एतयोर्यथायोग्यगुणस्तवनं कर्त्तव्यमित्युपदिश्यते—

प्र वा॑मश्नोतु सुष्टु॒तिरिन्द्रा॑वरुण॒ यां हु॒वे । याम्॒धाथे॑ स॒धस्तु॑तिम् ॥९॥

प्र । वाम् । अ॒श्नो॒तु । सु॒ऽस्तु॒तिः । इन्द्रा॑वरुणा । याम् । हु॒वे ॥ याम् । ऋ॒धाथे॒ इति॑ । स॒धऽस्तु॑तिम् ॥९॥

पदार्थः—(प्र) प्रकृष्टार्थे क्रियायोगे (वाम्) यौ तौ वा, अत्र व्यत्ययः । (अश्नोतु) व्याप्नोतु (सुष्टुतिः) शोभना चासौ गुणस्तुतिश्च सा (इन्द्रावरुणा) पूर्वोक्तौ, अत्रापि सुपां सुलुग्० [अ० ७ । १ । ३९] इत्याकारादेशो वर्णव्यत्ययेन ह्रस्वत्वं च । (याम्) स्तुतिम् (हुवे) आददे । अत्र व्यत्ययेनात्मनेपदं, बहुलं छन्दसि [अ० २ । ४ । ७३] इति शपो लुक् च । (याम्) शिल्पक्रियाम् (ऋधाथे) वर्धयतः, अत्र व्यत्ययः, बहुलं छन्दसि [अ० २ । ४ । ७३] इति विकरणाभावश्च[2] (सधस्तुतिम्) स्तुत्या सह वर्त्तते ताम् । अत्र वर्णव्यत्ययेन हकारस्य धकारः ॥ ९ ॥

अन्वयः—अहं यथात्रेयं सुष्टुतिः प्राश्नोतु प्रकृष्टतया व्याप्नोतु तथा हुवे, वां [3]यौ [इन्द्रावरुणा] इन्द्रावरुणौ यां सधस्तुतिमृधाथे वर्धयतस्तां चाहं हुवे ॥९॥

[4][अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः ।]

भावार्थः—मनुष्यैर्यस्य पदार्थस्य यादृशा गुणाः सन्ति, तादृशान् सुविचारेण विदित्वा तैरुपकारः सदैव ग्राह्य इतीश्वरोपदेशः ॥९॥

---

१. इस पद की पूर्व मन्त्र से अनुवृत्ति है ।

२. अयमृधधातुर्दिवादिषु स्वादिषु च पठ्यते । अतोऽत्र शपो लुकि तदादेशस्य श्यनः श्नोर्वाऽभावो ज्ञेयः ।

३. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'यौ मित्रावरुणौ' इति पूर्ववदपपाठः ।

४. अन्वये यथातथापदप्रयोगादावश्यकोऽयं पाठः । भावार्थे तूपलभ्यते ।

पूर्वस्य षोडशसूक्तस्यार्थानुयोगिनो [1]रिन्द्रावरुणाथयोरत्र प्रतिपादनात् सप्तदशसूक्तार्थेन सह तदर्थस्य सङ्गतिरस्तीति बोध्यम् ॥

इदमपि सूक्तं सायणाचार्यादिभिर्यूरोपदेशवासिभिरध्यापकविलसनाख्यादिभिश्चान्यथैव व्याख्यातम् ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः सप्तदशं सूक्तं त्रयस्त्रिंशो वर्गश्च समाप्तः ॥

उक्त इन्द्र और वरुण का यथायोग्य गुणकीर्त्तन करना चाहिये, इस विषय का अगले मन्त्र में प्रकाश किया है--

पदार्थान्वयभाषा—मैं जिस प्रकार से इस संसार में यह (=इन्द्र और वरुण के गुणों की) (सुष्टुतिः) अच्छी स्तुति (प्राश्नोतु) अच्छी प्रकार व्याप्त होवे, [उस प्रकार से] उसको (हुवे) ग्रहण करता हूं। और (याम्) जो (इन्द्रावरुणौ) इन्द्र और वरुण (याम्) जिस (सधस्तुतिम्) कीर्त्ति के साथ शिल्पविद्या को (ऋधाथे) बढ़ाते हैं, उस शिल्पविद्या को ग्रहण करता हूं ॥ ६ ॥

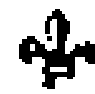
इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है।

भावार्थ—मनुष्यों को जिस पदार्थ के जैसे गुण हैं, उनको वैसे ही जानकर उनसे सदैव उपकार ग्रहण करना चाहिये, इस प्रकार ईश्वर का उपदेश है ॥ ६ ॥

पूर्वोक्त सोलहवें सूक्त के अनुयोगी इन्द्र और वरुण के अर्थ का इस सूक्त में प्रतिपादन करने से इस सत्रहवें सूक्त के अर्थ के साथ सोलहवें सूक्त के अर्थ की सङ्गति जाननी चाहिये ॥

इस सूक्त का भी अर्थ **सायणाचार्य्य** आदि, तथा यूरोपदेशवासी **विलसन** आदि ने कुछ का कुछ ही वर्णन किया है ॥

यह चौथा अनुवाक, सत्रहवां सूक्त, और तेतीसवां वर्ग समाप्त हुआ ॥



अथाष्टादशस्य सूक्तस्य मेधातिथिर्ऋषिः । १-३ ब्रह्मणस्पतिः; ४ [2]ब्रह्मणस्पतीन्द्रसोमाः, ५ [3]ब्रह्मणस्पतिदक्षिणे; ६-८ सदसस्पतिः, ९ [4]सदसस्पति-

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'र्मित्रावरुणयोरत्र' इति पूर्ववदपपाठः।

२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'बृहस्पतीन्द्रसोमाः' इत्यपपाठः, मन्त्रे ब्रह्मणस्पतेः श्रवणात्। यद्यपि ब्रह्मणस्पति-बृहस्पतिशब्दौ क्वचित् समानार्थकौ, तथापि ऋग्वेदभाष्ये देवतानिर्देशे मन्त्रपदस्यैव निर्देशरूपा शैली भाष्यकारस्य दृश्यते। अपि च याज्ञिकप्रक्रियायां बृहस्पतिब्रह्मणस्पत्योर्द्वयोः देवतारूपेण पार्थक्यमाश्रीयते। निघण्टुनिरुक्तयोरप्यनयोः पृथग्देवतारूपेण निर्देश उपलभ्यते।

३. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'बृहस्पतिदक्षिणे' इत्यपपाठः पूर्ववद् विज्ञेयः। अत्र मन्त्रे सोमेन्द्रयोरपि देवतात्वेन निर्देशादिह 'ब्रह्मणस्पतिसोमेन्द्रदक्षिणाः' इति पाठो युक्ततरः स्यात्। तथा चानुक्रान्तं कात्यायनेन—सोमानमिति पञ्च ब्राह्मणस्पत्याः, चतुर्थ्यामिन्द्रश्च सोमश्च, पञ्चम्यां दक्षिणा च। द्र०—ऋक्सर्वानुक्रमणी।

४. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'सदसस्पतिनाराशंसौ' इत्यपपाठः। मन्त्रे नराशंसशब्दस्यैव श्रवणात्,

नराशंसौ च देवताः । १ विराड्गायत्री; २, ७, ९ गायत्री; ३, ६, ८ पिपीलिकामध्यानिचृद् गायत्री; ४ निचृद् गायत्री; ५ पादनिचृद्गायत्री च छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

तत्रादौ यजमानेनेश्वरप्रार्थना कीदृशी कार्य्येत्युपदिश्यते—

सोमानं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते । कक्षीवन्तं य औशिजः ॥१॥

सोमानम् । स्वरणम् । कृणुहि । ब्रह्मणः । पते । कक्षीवन्तम् । यः । औशिजः ॥१॥

पदार्थः—(सोमानम्) यः सवत्यैश्वर्यं करोतीति तं यज्ञानुष्ठातारम् (स्वरणम्) यः स्वरति शब्दार्थसम्बन्धानुपविशति तम् (कृणुहि) सम्पादय । उतश्च प्रत्ययाच्छन्दो वा वचनम् । अ० ६ । ४ । १०६ इति [1][वार्त्तिकेन] विकल्पाद्धेर्लोपो न भवति । (ब्रह्मणः) वेदस्य (पते) स्वामिन्नीश्वर ! षष्ठ्याः पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोषेषु । अ० ८ । ३ । ५३ इति सूत्रेण षष्ठ्या विसर्जनीयस्य सकारादेशः[2] । (कक्षीवन्तम्) याः [3]'कक्ष्यासु कराङ्गुलिक्रियासु'[4] भवाः शिल्पविद्यास्ताः प्रशस्ता विद्यन्ते यस्य तम् । [3]कक्ष्या इत्यङ्गुलिनामसु पठितम् । निघं० २ । ५ अत्र [3]'कक्ष्याशब्दाद् भवे छन्दसि [अ० ४ । ४ । ११०] इति यत्[5], ततः प्रशंसायां मतुप् । कक्ष्यायाः संज्ञायां मतौ संप्रसारणं कर्त्तव्यम् । अ० ६ । १ । ३७ अनेन वार्त्तिकेन संप्रसारणम् । आसन्दीवद० । अ० ८ । २ । १२ इति निपातनान्मकारस्य वकारादेशः । (यः) अहम् (औशिजः) य उशिजि [विद्या]प्रकाशे जातः स उशिक्, तस्य विद्यावतः पुत्र[6] इव ॥

निघण्टुनिरुक्तयोश्च तस्यैव देवतात्वेन निर्देशात् । ऋक्सर्वानुक्रमण्यां तु 'ब्राह्मणस्पत्या नाराशंसी वा' इति निर्देशः सूक्तस्याभिप्रायेण क्रियते । सदसस्पतिर्देवता नराशंसो देवताऽस्या ऋचः सा सादसस्पत्या नाराशंसीत्युच्यते ।

१. अयं कोष्ठान्तर्गतः पाठो वै० य० मुद्रिते चतुर्थे संस्करणे परिवर्धितः, प्राक्तनेषु नास्ति ।

२. संहितायामिति शेषः ।

३. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेष्वत्र 'कक्षासु' 'कक्षा' 'कक्षाशब्दात्' अपपाठः, निघण्टौ कक्ष्या शब्दस्य श्रवणात्, निरुक्ते (३ । ९) कक्ष्याशब्दस्यैव व्याख्यानाच्च ।

४. तात्स्थ्यात् तत्साहचर्याद्वाऽत्र कक्ष्याशब्देन कराङ्गुलिसम्बद्धा क्रिया लक्ष्यते ।

५. कक्ष्याशब्दाद् भवार्थे यति 'हलो यमां यमि लोपः' (अ०८।४।६३) इत्येकस्य यकारस्य लोपो भवति ।

६. वेदेऽपत्यप्रत्ययाः पुत्रशब्दश्च लक्षणया स्वसंबन्धिनः शब्दस्य योऽर्थस्तस्यातिशयं द्योतयन्ति, न तु सन्तत्यर्थम् । यथा सम्प्रति भाषायां 'सरदार-बाप-गुरु-दादा' प्रभृतयः शब्दा लक्षणयाऽतिशयार्थं ब्रुवन्ति (तू चोरों का सरदार, बाप, गुरु वा दादा है) । तथा चोक्तं निरुक्तकृता—'मगन्दः कुसीदी, मांगमिष्यतीति च ददाति, तदपत्यं प्रमगन्दः, अत्यन्तकुसीदिकुलीनः' (निरु० ६ । ३२) । अत एवात्र मेधाविनामसु पठितात् उशिक्-शब्दाद् अपत्यार्थकेन प्रत्ययेनाणा निष्पन्न 'औशिज' शब्दोऽत्यन्तमेधाविनं ब्रूते । न तु कस्यचिदुशिङ्नाम्नः पुरुषस्यापत्यमौशिजनामानम् । इदमेवाभिप्रेत्यात्र भाष्यकारो भावार्थान्ते वक्ष्यति—'इमं मन्त्रं सायणाचार्यः कल्पितपुराणेतिहासभ्रान्त्याऽन्यथैव व्याख्यातवान्' इति ।

इमं मन्त्रं निरुक्तकार एवं व्याख्यातवान्—सोमानं सोतारं प्रकाशवन्तं कुरु ब्रह्मणस्पते कक्षीवन्तमिव य औशिजः। कक्षीवान् कक्ष्यावान्, औशिज उशिजः पुत्रः, उशिग्वष्टेः कान्तिकर्मणः, अपि त्वयं मनुष्यकक्ष एवाभिप्रेत स्यात्, तं सोमानं सोतारं मां प्रकाशनवन्तं कुरु ब्रह्मणस्पते। निरु० ६। १०॥ १॥

अन्वयः—हे ब्रह्मणस्पते! [1]योऽहमौशिजोऽस्मि, तं मां सोमानं स्वरणं कक्षीवन्तं कृणुहि॥ १॥

भावार्थः—यः[2] कश्चिद् विद्याप्रकाशे प्रादुर्भूतो मनुष्योऽस्ति, स एवाध्यापकः सर्वशिल्पविद्यासम्पादको भवितुमर्हति। ईश्वरोऽपीदृशमेवानुगृह्णाति॥१॥

इमं मन्त्रं सायणाचार्य्यः कल्पितपुराणेतिहासभ्रान्त्या[3]ऽन्यथैव व्याख्यातवान्॥१॥

अब अठारहवें सूक्त का आरम्भ है। उसके पहले मन्त्र में यजमान ईश्वर की प्रार्थना कैसी करे, इस विषय का उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (ब्रह्मणस्पते) वेद के स्वामी ईश्वर! (यः) जो मैं (औशिजः) विद्या के प्रकाश में उत्पन्न होनेवाला जो विद्वान्, उसके पुत्र[4] के समान [अर्थात् अत्यन्त विद्यावान्] हूं, उस मुझको अपनी कृपा से (सोमानम्) ऐश्वर्य सिद्ध करनेवाले यज्ञ का कर्त्ता (स्वरणम्) शब्द-अर्थ के सम्बन्ध का उपदेशक, और (कक्षीवन्तम्) कक्षा अर्थात् हाथ वा अंगुलियों की क्रियाओं में होनेवाली प्रशंसनीय शिल्पविद्याओं का सम्पादन करनेवाला (कृणुहि) कीजिये॥ १॥

भावार्थ—जो कोई विद्या के प्रकाश में [उत्पन्न अर्थात्] प्रसिद्ध मनुष्य है, वही पढ़ाने-

---

१. वै०य० मुद्रितेषु सर्वसंस्करणेषु 'योहऽमौशिजो०' इत्येवं भ्रष्टो निर्देशः।

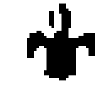
२. ख कोशे त्यत्र मुद्रित एव पाठ उपलभ्यते। वै०य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः। इह कश्चिद्' इत्येवं पाठ उपलभ्यते। स चापपाठः, अन्वये भावार्थे च उपमानिदर्शकयोर्यथातथापदयोरनिर्देशात्। उत्तरवाक्ये च 'सः' पदस्य श्रवणात् पूर्ववाक्ये 'यः' पदनिर्देशस्यौचित्याच्च।

३. द्रष्टव्या एतन्मन्त्रस्था ६७८ पृष्ठस्था टिप्पणी ६।

४. वेद में अपत्य अर्थवाले प्रत्यय अथवा पुत्र शब्द लक्षणा से स्वसम्बन्धी शब्द के अर्थ के अतिशय अर्थ को प्रकट करते हैं, सन्तानरूप अर्थ के वाचक नहीं होते। जैसे भाषा में 'तू चोरों का सरदार या बाप या गुरु या दादा' का प्रयोग चोर के चौर्यकर्म के आत्यन्तिक अर्थ को प्रकट कराते हैं, वैसे ही वेद में अपत्यप्रत्यय वा पुत्र शब्द को जानना चाहिये। इस विषय में निरुक्तकार यास्क का वचन संस्कृत टिप्पणी में देखें। इसी अर्थ को स्पष्ट करने के लिए हमने कोष्ठक में 'अर्थात् अत्यन्त विद्यावान्' पद बढ़ाये हैं। वेद के इस नियम को न जानकर ही सायणाचार्य प्रभृति ने 'औशिजः' का अर्थ 'उशिक् नामवाले व्यक्तिविशेष का पुत्र' किया है। और इसी कारण भाष्यकार ने भावार्थ के अन्त में सायणाचार्य के अर्थ को दूषित बताया है।

वाला और सम्पूर्ण शिल्पविद्या के प्रसिद्ध करने योग्य है । क्योंकि ईश्वर भी ऐसे ही मनुष्य पर अपना अनुग्रह करता है ॥१॥

इस मन्त्र का अर्थ सायणाचार्य्य ने कल्पित पुराण इतिहास ग्रन्थ की भ्रान्ति[1] से कुछ का कुछ ही वर्णन किया है ॥ १ ॥



पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते ॥

यो रेवान् यो अमीवहा वसुवित्पुष्टिवर्धनः । स नः सिषक्तु यस्तुरः ॥२॥

यः । रेवान् । यः । अमीवऽहा । वसुऽवित् । पुष्टिऽवर्धनः ॥ सः । नः । सिसक्तु । यः । तुरः ॥२॥

पदार्थः—(यः) जगदीश्वरः (रेवान्) विद्याद्यनन्तधनवान्. अत्र भूम्न्यर्थे मतुप् । रयेर्मतौ बहुलं सम्प्रसारणम् । अ० ६ । १ । ३६ इति वार्त्तिकेन सम्प्रसारणम् । छन्दसीरः । अ० ८ । २ । १५ इति मकारस्य वकारः (यः) सर्वरोगरहितः (अमीवहा) अविद्यादिरोगाणां हन्ता (वसुवित्) यो वसूनि सर्वाणि वस्तूनि वेत्ति (पुष्टिवर्धनः) य शरीरात्मनोः पुष्टिं वर्धयतीति (सः) ईश्वरः (नः) अस्मान् (सिषक्तु) [2]अतिशयेन [3]सचतु । अत्र 'सच'धातोः बहुलं छन्दसि [अ० २ । ४ । ७५] इति शपः श्लुः । (यः) शीघ्रं सुखकारी (तुरः) तुरतीति । तुर त्वरणे इत्यस्माद्[4] इगुपधत्वात् कः[5] ॥२॥

अन्वयः—यो रेवान् यः पुष्टिवर्धनो यो वसुविदमीवहा यस्तुरो ब्रह्मणस्पतिर्जगदीश्वरोऽस्ति, स नोऽस्मान् विद्यादिधनैः सह सिषक्तु अतिशयेन संयोजयतु ॥२॥

भावार्थः—ये मनुष्याः सत्यभाषणादिलक्षणामीश्वराज्ञामनुतिष्ठन्ति, तेऽविद्यादिरोगरहिताः शरीरात्मपुष्टिमन्तः सन्तश्चक्रवर्त्तिराज्यादिधनानि सर्वरोगहराण्यौषधानि च प्राप्नुवन्तीति ॥२॥

फिर वह ईश्वर कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—(यः) जो (रेवान्) विद्या आदि अनन्त धनवाला, (यः) जो (पुष्टिवर्धनः) शरीर और आत्मा की पुष्टि बढ़ाने, तथा [जो] (वसुवित्) सब पदार्थों का जानने, [और] (अमीवहा) अविद्या आदि रोगों का नाश करने, तथा (यः) जो (तुरः)

१. द्रष्टव्य इसी मन्त्र की पृष्ठ ६७९ की टि० ४।

२. अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते (निरु० १०।४२) इति नियमेन धातोर्द्विवचनमभ्यासादतिमात्रातिशयरूपोऽर्थो भाष्यकृता व्याख्यातः ।

३. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'सचयतु' इत्यपपाठः । षच सेवायां भौवादिक उभयपदी धातुः ।

४. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'इत्यस्मादिगुपधत्वात् कः' इत्यपपाठः ।

५. इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (अ० ३।१।१३५) इत्यनेन ।

शीघ्र सुख करनेवाला, वेद का स्वामी जगदीश्वर है, (सः) वह (नः) हम लोगों को विद्या आदि धनों के साथ (सिषक्तु) अच्छी प्रकार संयुक्त करे ॥ २ ॥

भावार्थ —जो मनुष्य सत्यभाषण आदि नियमों से संयुक्त ईश्वर की आज्ञा का अनुष्ठान करते हैं, वे अविद्या आदि रोगों से रहित और शरीर वा आत्मा की पुष्टिवाले होकर चक्रवर्त्ति राज्य आदि धन तथा सब रोगों को हरनेवाली ओषधियों को प्राप्त होते हैं ॥ २ ॥

अथेश्वरप्रार्थनोपदिश्यते—

मा नः शंसो अररुषो धूर्तिः प्रणङ् मर्त्यस्य । रक्षा णो ब्रह्मणस्पते ॥३॥

मा । नः । शंसः । अररुषः । धूर्तिः । [1]प्रणक् । मर्त्यस्य ॥ रक्ष । नः । [2]ब्रह्मणः । पते ॥३॥

पदार्थः—(मा) निषेधार्थे (नः) अस्माकम् (शंसः) शंसन्ति यत्र सः (अररुषः) अदातुः । रा दाने इत्यस्मात् क्वसुः, ततः षष्ठ्येकवचनम् । (धूर्तिः) हिंसकः [3](प्र) (णक्) नश्यतु । अत्र लोडर्थे लुङ् । मन्त्रे घसह्वरणश० । अ० २ । ४ । ८० अनेन सूत्रेण च्लेर्लुक् । (मर्त्यस्य)

१. अयं पदपाठानुसारं निर्देशः । भाष्यकारस्त्वन्यथा व्याख्याति । तद्विषये पदार्थव्याख्याने टिप्पणी द्रष्टव्या । २. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'ब्रह्मणस्पते' इत्यपपाठः । पूर्वत्र (मं० १) शुद्ध एव पाठो दृश्यते ।

३. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'प्रणक्' इति सहैव मुद्र्यते । भाष्यकारेणात्र 'णक्' शब्दस्यैव 'नश्यतु' इत्यर्थो निर्दिष्टः, 'प्र' शब्दस्य स्पष्टत्वादर्थो नोल्लिखितः । ऐकपद्यं यद्यत्र भाष्यकर्तुरभिप्रेतमभविष्यत्, तर्हि स 'प्रणश्यतु' इत्येवं निरदेक्ष्यत् । तस्मादत्र भाष्यकारस्य द्वैपद्यमिष्टमिति स्पष्टमेव ।

पदकारस्तु 'प्रणक्' इत्यस्यैकपद्यं मनुते । तथा सति 'प्रणक्' पदं पृची संपर्के इत्यस्य लङि तिपि रूपम् । 'तिप इकारस्य लोपे (३।१।८५) तकारस्य हल्ङ्यादिलोपे कुत्वे श्नमश्छान्दसोऽडागमः, यणादेशः, आगमानुदात्तत्वं बाधयित्वा छान्दसत्वादुदात्तत्वम्, चादिलोपे विभाषा (८।१।६३) इति निघाताभावः' इति सायणः ।

अस्यां प्रक्रियायां द्वौ दोषौ स्तः । तत्र प्रथमः—व्यत्ययरूपछान्दसकार्यद्वयाश्रयणम्, तत्रापि छान्दसत्वादागमानुदात्तत्वं बाधित्वा तस्योदात्तत्वविधानं मुख्यम् ।

द्वितीयः—चादिलोपे विभाषा (८ । १ । ६३) सूत्रेण प्रथमतिङ्विभक्तेर्निघाताभावप्रवर्त्तनम् । अनेन सूत्रेण प्रथमायास्तिङ्विभक्तेर्निघाताभावस्तत्रैव भवति यत्र उभयत्र समाना विभक्तिर्भवति । यथा—'व्रीहिभिर्यजेत, यवैर्यजेत', 'शुक्ला व्रीहयो भवन्ति, श्वेता गा आज्याय दुहन्ति' (द्र०—अष्टाध्याय्याः सर्वाः वृत्तय.) । अत्र तु 'प्रणक्' इति लङि तिपि श्रूयते, 'रक्ष' च लोटि सिपि ।

यथा (प्र नक्—द्वे पदे) स्वत्रायं भाष्यकारो व्याख्यातवान्, तथा न कश्चिद् दोषः । न चात्र काचिच्छान्दसकल्पनाश्रयणीया भवति । 'प्र' इति पदमुपसर्गरूपमाद्युदात्तम्, 'नक्' तिङन्तं च अदात् परमिति कृत्वाऽनुदात्तम् ।

अस्मिन् व्याख्याने पदपाठविरोधरूपो दोषः शक्यते वक्तुम्, परन्तु तदप्यविचारितरमणीयम् । संहितापाठ एवापौरुषेयः, पदपाठस्तु पौरुषेय इति सर्ववैदिकानां राद्धान्तः । तेन भाष्यकाराः पदपाठमुज्झित्वा स्वतन्त्र-

मनुष्यस्य (रक्ष) पालय। द्व्यचोऽतस्तिङः [अ० ६। ३। १३४] इति दीर्घः।(नः)अस्मानस्माकं वा (ब्रह्मणः) वेदस्य ब्रह्माण्डस्य वा (पते) स्वामिन्। षष्ठ्याः पति० [अ० ८। ३। ५३] इति[1] विसर्जनीयस्य सत्वम् ॥३॥

अन्वयः—हे ब्रह्मणस्पते जगदीश्वर ! त्वमररुषो मर्त्यस्य सकाशान्नोऽस्मान् रक्ष। यतः[2] नोऽस्माकं मध्ये कश्चिद् धूर्तिर्मनुष्यो न भवेत्। भवत्कृपयाऽस्माकं शंसो मा प्रणक् कदाचिन्मा नश्यतु ॥ ३ ॥

भावार्थः—नैव केनचिन्मनुष्येण धूर्तस्य मनुष्यस्य कदाचित् सङ्गः कर्त्तव्यः। न चैवान्यायेन कस्यचिद्धिंसनं कर्त्तव्यम्, किन्तु सर्वैः सर्वस्य न्यायेनैव रक्षा विधेयेति ॥३॥

अगले मन्त्र में ईश्वर की प्रार्थना का प्रकाश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (ब्रह्मणस्पते) वेद वा ब्रह्माण्ड के स्वामी जगदीश्वर ! आप (अररुषः) जो दान आदि धर्मरहित मनुष्य है, उस (मर्त्यस्य) मनुष्य के सम्बन्ध से (नः) हमारी (रक्ष) रक्षा कीजिये। जिससे कि (नः) हम लोगों के बीच में कोई मनुष्य (धूर्त्तिः) विनाश करनेवाला न हो। और आपकी कृपा से जो हमारा (शंसः) प्रशंसनीय यज्ञ अर्थात् व्यवहार है, वह (मा प्रणक्) कभी नष्ट न होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—किसी मनुष्य को कभी भी धूर्त्त अर्थात् छल-कपट करनेवाले मनुष्य का सङ्ग न

पदच्छेदे स्वतन्त्राः। अपि च यत्र पदकारविहिते पदपाठे कश्चित् स्वरादिदोष आपतति, तत्र पदपाठस्या-प्रामाण्यमपि वैदिकाः स्वीकुर्वते। तथा हि—'वनेन वायो न्यधायि चाकन्' (ऋ० १०।२९।१) इत्यस्य पदपाठे शाकल्यः 'वने, न, वा, यः, नि, अधायि, चाकन्' इत्येवं पदविभागं निर्दिष्टवान्। यास्क इमं मन्त्रं व्याख्यन्नाह—"वन इव वायो वेः पुत्रः, चायन्निति वा कामयमान इति वा। 'वा' इति 'यः' इति च पदकार शाकल्यः। उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यत्, असुसमाप्तश्चार्थः" (निरु० ६।२८)। अस्यायं भावः—यथा शाकल्येन 'वायः' पदं 'वा', 'यः' इत्येवं विभक्तं, तथा सति 'यद्वृत्तान्नित्यम्' (अ० ८। ४। ६६) इति नियमेन 'अधायि' पदेनोदात्तेन भाव्यम्, मन्त्रे च तन्निघातरूपेण पठ्यते। 'यः' पदश्रवणात् 'सः' पदमध्याहृत्य मन्त्रार्थः पूरणीयो भवति, यत्तदो-र्नित्यसम्बन्धात्। एवं च कृत्वा शाकल्यकृतोऽत्र पदपाठः प्रमाणार्हो नास्तीति यास्काभिप्रायः।

प्रकृतमन्त्रेऽपि यदि 'प्रणक्' इत्येवं पदच्छेदे शाकल्यस्य तिङो रूपमभिप्रेतं, तर्हि नामि पदात् पर इति कृत्वा नोदात्तत्वं सम्भवति। चादिलोपे विभाषा नियमस्त्वत्र न सम्भवतीति पूर्वमेवोक्तम्।

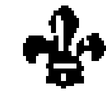
अपि च 'मन्त्रे घसह्वरणश०' (२। ४। ८०) सूत्रस्य समस्तैरपि व्याख्यातृभिः 'नश' धातोरिदं 'प्र णङ् मर्त्यस्य' उदाहरणमेवोदाह्रियते। तेन समस्तवैयाकरणानां मते नशधातोरेवायं प्रयोगः, न 'पृची सम्पर्के' इत्यस्येत्यपि स्पष्टम्।

एवमत्र बहुभिर्हेतुप्रमाणैरस्य भाष्यकारस्य व्याख्यानमेव शास्त्रसम्मतमिति सुधियो विभावयन्तु।

१. वै० य० मुद्रितयोस्तृतीयचतुर्थसंस्करणयोः 'इति' पदं प्रमादात् त्यक्तम्, पूर्वसंस्करणयोरुपलभ्यते।

२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'यतः स' इत्यत्र 'स' पदं व्यर्थम्।

करना चाहिये। तथा अन्याय से किसी की हिंसा न करनी चाहिये। किन्तु सब को सब की न्याय ही से रक्षा करनी चाहिये ॥ ३ ॥



अथेन्द्रादिकृत्यान्युपदिश्यन्ते—

स घा॑ वी॒रो न रि॑ष्यति॒ यमिन्द्रो॒ ब्रह्म॑ण॒स्पतिः॑। सोमो॑ हि॒नोति॒ मर्त्य॑म् ॥४॥

सः। घ॒। वी॒रः। न। रि॒ष्य॒ति॒। यम्। इन्द्रः॑। ब्रह्म॑णः। पतिः॑॥ सोमः॑। हि॒नोति॑। मर्त्य॑म् ॥४॥

पदार्थः—(सः)[1] इन्द्रो ब्रह्मणस्पतिः सोमश्च (घ) एव। ऋचि तुनुघ० [अ०६।३।१३२] इति दीर्घः। (वीरः) अजति व्याप्नोति शत्रुबलानि यः (न) निषेधार्थे (रिष्यति) नश्यति (यम्) प्राणिनम् (इन्द्रः) वायुः[2] (ब्रह्मणः) ब्रह्माण्डस्य (पतिः) पालयिता परमेश्वरः[3] (सोमः) सोमलतादिसमूहरसः (हिनोति) वर्धयति (मर्त्यम्) मनुष्यम् ॥४॥

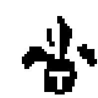
अन्वयः—इन्द्रो ब्रह्मणस्पतिः सोमश्च यं मर्त्यं हिनोति, स वीरो न घ रिष्यति नैव विनश्यति ॥४॥

भावार्थः—ये वायुविद्युत्सूर्यसोमौषधगुणान् संगृह्य कार्य्याणि साधयन्ति, न ते खलु नष्टसुखा भवन्तीति ॥४॥

अगले मन्त्र में इन्द्रादिकों के कार्य्यों का उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—(इन्द्रः) वायु[4], (ब्रह्मणस्पतिः) ब्रह्माण्ड का पालन करनेवाला जगदीश्वर[5], और (सोमः) सोमलता आदि ओषधिसमूह का रस (यम्) जिस (मर्त्यम्) मनुष्य आदि प्राणी को (हिनोति) उन्नतियुक्त करते हैं, (सः) वह (वीरः) शत्रुओं को जीतनेवाला वीर पुरुष (न घ रिष्यति) निश्चय ही विनाश को कभी प्राप्त नहीं होता ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य वायु विद्युत् सूर्य्य और सोम आदि ओषधियों के गुणों को जान वा ग्रहण करके अपने कार्य्यों को सिद्ध करते हैं, वे कभी दुःखी नहीं होते ॥ ४ ॥



१. सर्वनामपदानि प्रायेण पूर्वपदपरामर्शकाणि भवन्ति। तथा क्वचिदुत्तरपदान्यपि परामृशन्ति। यथा—'स गच्छतु यो देवदत्तनामा'। एवमत्रापि 'सः' पदेन उत्तरत्र श्रूयमाणानि इन्द्रादीनि पदानि परामृश्यन्ते।

२. भावार्थे 'इन्द्रः' पदेन वायुविद्युतौ गृह्येते। अत्रापि तयोर्ग्रहणं शक्यते कर्तुम्।

३. भावार्थे ब्रह्मणस्पतिशब्देन ब्रह्माण्डस्य पालयिता सूर्यो गृह्यते, सोऽत्रापि ग्रहीतुं शक्यते।

४. भावार्थ में इन्द्र शब्द का अर्थ विद्युत् भी लिया है। उसका यहां पदार्थ में भी ग्रहण हो सकता है।

५. भावार्थ में ब्रह्मणस्पति शब्द से ब्रह्माण्ड के पालन करनेवाले सूर्य का ग्रहण किया है। उसका यहाँ पदार्थ में भी ग्रहण हो सकता है।

कथं ते रक्षका भवन्तीत्युपदिश्यते—

त्वं तं ब्रह्मणस्पते सोम इन्द्रश्च मर्त्यम् । दक्षिणा पात्वंहसः ॥५॥

त्वम् । तम् । ब्रह्मणः । पते । सोमः । इन्द्रः । च । मर्त्यम् ॥ दक्षिणा । पातु । अंहसः ॥५॥

पदार्थः—(त्वम्) जगदीश्वरः (तम्) यज्ञानुष्ठातारम् (ब्रह्मणः) ब्रह्माण्डस्य (पते) पालकेश्वर! (सोमः) सोमलताद्योषधिसमूहः (इन्द्रः) वायुः (च) समुच्चये (मर्त्यम्) विद्वांसं मनुष्यम् (दक्षिणा) दक्षन्ते वर्धन्ते यया सा। अत्र द्रुदक्षिभ्यामिनन्। उ० २। ५० इतीनन् प्रत्ययः (पातु) पाति। अत्र लडर्थे लोट्। (अंहसः) पापात्। अत्र अम रोगे इत्यस्मात् अमेर्हुक् च। उ० ४। २१३ अनेनासुन् प्रत्ययो हुगागमश्च ॥५॥

अन्वयः—हे ब्रह्मणस्पते! त्वमंहसो यं पासि, तं मर्त्यं सोम इन्द्रो दक्षिणा च पातु पाति ॥ ५ ॥

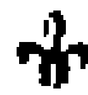
भावार्थः—ये मनुष्या अधर्माद् दूरे स्थित्वा स्वेषां सुखवृद्धिमिच्छन्ति, ते परमेश्वरमुपास्य सोममिन्द्रं दक्षिणां च युक्त्या सेवयन्तु ॥५॥

इति चतुस्त्रिंशो वर्गः सम्पूर्णः ॥

कैसे वे रक्षा करनेवाले होते हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (ब्रह्मणस्पते) ब्रह्माण्ड के पालन करनेवाले जगदीश्वर! (त्वम्) आप (अंहसः) पापों से जिसकी रक्षा करते हैं, (तम्) उस धर्मात्मा यज्ञ करनेवाले (मर्त्यम्) विद्वान् मनुष्य की (सोमः) सोमलता आदि ओषधियों के रस, (इन्द्रः) वायु, और (दक्षिणा) जिससे वृद्धि को प्राप्त होते हैं वह, ये सब पदार्थ (पातु) रक्षा करते हैं ॥ ५ ॥

यह चौंतीसवां वर्ग पूरा हुआ ॥



अथ[1] परमेश्वरगुणा उपदिश्यन्ते—

सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् । सनिं मेधामयासिषम् ॥६॥

सदसः । पतिम् । अद्भुतम् । प्रियम् । इन्द्रस्य । काम्यम् ॥ सनिम् । मेधाम् । अयासिषम् ॥६॥

पदार्थः—(सदसः) सीदन्ति विद्वांसो धार्मिका न्यायाधीशा यस्मिंस्तत् सदः सभा, तस्य। अत्राधिकरणेऽसुन्[2]। (पतिम्) स्वामिनम्[3] (अद्भुतम्) आश्चर्यगुणस्वभावस्वरूपम्। अदि

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'अथेन्द्रशब्देन परमेश्वरगुणा' इत्यपपाठः। पदार्थे 'इन्द्रस्य' पदस्य 'जीवस्य' इत्यर्थनिर्देशात्। २. सर्वधातुभ्योऽसुन् (उ० ४। १८९) इत्यनेन।

३. अन्वयभावार्थयोः सदसस्पतिशब्दस्य परमेश्वरसभापती उभावर्थौ गृहीतौ। अत्र तु सामान्येन निर्देशः कृतः।

ो डुतच्। उ० ५। १ अनेन 'भू'धातोरद्युपपदे डुतच् प्रत्ययः। (प्रियम्) प्रीणाति सर्वान् िनिनस्तम् (इन्द्रस्य) जीवस्य (काम्यम्) कमनीयम् (सनिम्) पापपुण्यानां विभागेन फलातारम्। खनिकष्यज्यसि०। उ० ४। १४० अनेन 'सन्'धातोरिः प्रत्ययः। (मेधाम्) धारणाीं बुद्धिम् (अयासिषम्) प्राप्नुयाम् [अत्र लिङर्थे लुङ्] ॥६॥

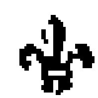
अन्वयः—अहमिन्द्रस्य काम्यं सनिं प्रियमद्भुतं सदसस्पतिं परमेश्वरमुपास्य सभाध्यक्षं प्य मेधामयासिषं बुद्धिं प्राप्नुयाम् ॥६॥

भावार्थः—ये मनुष्याः सर्वशक्तिमन्तं सर्वाधिष्ठातारं सर्वानन्दप्रदं परमेश्वरमुपासते, ये च त्रोत्कृष्टगुणस्वभावपरोपकारिणं सभापतिं प्राप्नुवन्ति, त एव सर्वशास्त्रबोधक्रियायुक्तां धियं ाप्य पुरुषार्थिनो विद्वांसश्च भूत्वा सुखिनो भवन्तीति ॥६॥

अगले मन्त्र में [1]परमेश्वर के गुणों का उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—मैं (इन्द्रस्य) प्राणियों के (काम्यम्) कमनीय, (सनिम्) पापपुण्यरूप कर्मों ा यथायोग्य फल देने, और (प्रियम्) सब प्राणियों को प्रसन्न करनेवाले, (अद्भुतम्) आश्चर्यगुण और स्वभाव-स्वरूप, (सदसस्पतिम्) जिसमें विद्वान् धार्मिक न्याय करनेवाले स्थित हों स सभा के स्वामी परमेश्वर की उपासना, और सब उत्तम गुण स्वभाववाले परोपकारी सभाति को प्राप्त होके (मेधाम्) उत्तम ज्ञान को धारण करनेवाली बुद्धि को (अयासिषम्) ाप्त होऊं ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य सर्वशक्तिमान् सब के अधिष्ठाता और सब आनन्द के देनेवाले रमेश्वर की उपासना करते, और जो उत्कृष्टगुण-स्वभावयुक्त परोपकारी न्यायाधीश को प्राप्त ोते हैं, वे ही सब शास्त्रों के बोध से प्रसिद्ध क्रियाओं से युक्त बुद्धियों को प्राप्त कर पुरुषार्थी और विद्वान् होकर सुखी होते हैं ॥ ६ ॥



स एव सर्वं जगद् रचयतीत्युपदिश्यते—

यस्मा॑दृ॒ते न सिध्य॑ति य॒ज्ञो वि॑प॒श्चित॑श्च॒न। स धी॒नां योग॑मिन्वति ॥७॥

यस्मा॑त्। ऋ॒ते। न। सिध्य॑ति। य॒ज्ञः। वि॒प॒:ऽचित॑:। च॒न ॥ सः। धी॒नाम्। योग॑म्। इ॒न्व॒ति ॥७॥

पदार्थः—(यस्मात्) परमेश्वरात् (ऋते) विना (न) निषेधे (सिध्यति) निष्पद्यते (यज्ञः) संगतः संसारः (विपश्चितः) अनन्तविद्यात् (चन) कदाचित् (सः) जगदीश्वरः (धीनाम्) प्रज्ञानां कर्मणां वा (योगम्) संयोजनम् (इन्वति) व्याप्नोति जानाति वा। इन्वतीति व्याप्तिकर्मसु पठितम्। निघं० २। १८। गतिकर्मसु च। निघं० २। १४॥ ७॥

१. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'मन्त्र में इन्द्र शब्द से परमेश्वर के गुणों का' पाठ है, यह ठीक नहीं है। क्योंकि संस्कृत-पदार्थ में 'इन्द्रस्य' का अर्थ 'जीवस्य' किया है, 'परमेश्वरस्य' नहीं किया।

अन्वयः—हे मनुष्याः ! यस्माद् विपश्चितः सर्वशक्तिमतो जगदीश्वराद् ऋते यज्ञश्चन न सिध्यति, स सर्वप्राणिमनुष्याणां धीनां योगमिन्वति ॥७॥

भावार्थः—व्यापकस्येश्वरस्य व्याप्यस्य सर्वस्य जगतश्च द्वयोर्नित्यसम्बन्धोऽस्ति । स एव सर्वं जगद् रचयित्वा धृत्वा सर्वेषां बुद्धीनां चेष्टाया विज्ञाता सन् सर्वेभ्यः प्राणिभ्यस्तत्तत्कर्मानुसारेण सुखदुःखात्मकं फलं प्रददाति । नैव [1]कदाचिदनीश्वरं स्वभावसिद्धमनधिष्ठातृकं जगद् भवितुमर्हति, जडानां विज्ञानाभावेन यथायोग्यनियमेनोत्पत्तुमनर्हत्वात् ॥७॥

वही सब जगत् को रचता है, इसका उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे मनुष्यो ! (यस्मात्) जिस (विपश्चितः) अनन्त-विद्यावाले सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर के (ऋते) विना (यज्ञः) जो कि दृष्टिगोचर संसार है, सो (चन) कभी (न सिध्यति) सिद्ध नहीं हो सकता, (सः) वह जगदीश्वर सब प्राणी और मनुष्यों की (धीनाम्) बुद्धि और कर्मों के (योगम्) संयोग को (इन्वति) व्याप्त होता वा जानता है ॥ ७ ॥

भावार्थ—व्यापक सब में रहनेवाले ईश्वर और व्याप्य जगत् का नित्य सम्बन्ध है। वही सब संसार को रचकर तथा धारण करके सब की बुद्धि और कर्मों को अच्छी प्रकार जानकर सब प्राणियों के लिये उनके शुभ अशुभ कर्मों के अनुसार सुख-दुःखरूप फल को देता है। ईश्वर को छोड़के अपने आप स्वभावमात्र से सिद्ध होनेवाला अर्थात् जिसका कोई स्वामी (रचनेवाला) न हो, ऐसा संसार कभी नहीं हो सकता। क्योंकि जड़ पदार्थों के अचेतन होने से [उन में] यथा-योग्य नियमों के साथ उत्पन्न होने की योग्यता कभी नहीं होती ॥ ७ ॥

※

पुनः कीदृशः स यज्ञ इत्युपदिश्यते

आदृध्नोति हविष्कृतिं प्राञ्चं कृणोत्यध्वरम् । होत्रा देवेषु गच्छति ॥८॥

आत् । ऋध्नोति । हविःऽकृतिम् । प्राञ्चम् । कृणोति । अध्वरम् ॥ होत्रा । देवेषु । गच्छति ॥८॥

पदार्थः—(आत्) समन्तात् (ऋध्नोति) वर्धयति (हविष्कृतिम्) हविषां कृतिः करणं यस्य तम् । अत्र सह सुपा [अ० २।१।४] इति समासः[2] । (प्राञ्चम्) यः प्रकृष्टमञ्चति प्राप्नोति तम् (कृणोति) करोति (अध्वरम्) क्रियाजन्यं जगत् (होत्रा) जुह्वति येषु यानि तानि । अत्र शेश्छन्दसि बहुलम् [अ० ६ । १ । ६८] इति लोपः । हुयामाश्रु० । उ० ४ । १६८ अनेन 'हु' धातोस्त्रन् प्रत्ययः । (देवेषु) दिव्यगुणेषु (गच्छति) प्राप्नोति ॥८॥

अन्वयः—सर्वज्ञः सदसस्पतिर्देवो यं प्राञ्चं हविष्कृतिमध्वरं [3]होत्रा हवनानि कृणोत्या-दृध्नोति, स पुनर्देवेषु दिव्यगुणेषु गच्छति ॥८॥

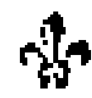
१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'कदिचद्' इत्यपपाठः । २. योगविभागेनेति शेषः ।
३. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'होत्राणि' अपपाठः, मन्त्रे 'होत्रा' पददर्शनात् ।

भावार्थः—यतः परमेश्वरः सकलं जगद् रचयति, तस्मात् सर्वे पदार्थाः परस्परं योजनेन
। एते क्रियामये शिल्पविद्यायां च सम्यक् प्रयोजिता महान्ति सुखानि जनयन्तीति ।।८।।

फिर वह यज्ञ कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—जो उक्त सर्वज्ञ सभापति देव परमेश्वर (प्राञ्चम्) सब में व्याप्त और को प्राणी अच्छी प्रकार व्याप्त होते हैं, (हविष्कृतिम्) होम करने योग्य पदार्थों का जिसमें ार होता है, ऐसे जिस (अध्वरम्) क्रियाजन्य अर्थात् क्रिया से उत्पन्न होनेवाले जगत्रूप में [1](होत्रा) होम से सिद्ध होनेवाली क्रियाओं को (कृणोति) उत्पन्न करता, तथा ृध्नोति) अच्छी प्रकार बढ़ाता है, फिर वही यज्ञ (देवेषु) दिव्य गुणों में[2] (गच्छति) प्राप्त है ।। ८ ।।

भावार्थ—जिस कारण परमेश्वर सकल संसार को रचता है, इससे सब पदार्थ परस्पर -अपने संयोग से बढ़ते हैं, और ये पदार्थ क्रियामययज्ञ और शिल्पविद्या में अच्छी प्रकार संयुक्त हुए बड़े-बड़े सुखों को उत्पन्न करते हैं ।। ८ ।।



पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते —

नराशंसं सुधृष्टममपश्यं सुप्रथस्तमम् । दिवो न सद्ममखसम् ।।९।।

नराशंसम् । सुऽधृष्टमम् । अपश्यम् । सुप्रथःऽतमम् ।। दिवः । न । सद्मऽमखसम् ।।९।।

पदार्थः—(नराशंसम्) नरैरवश्यं स्तोतव्यः, तम् । नराशंसो यज्ञ इति कात्थक्यः, नरा ान्नासीनाः शंसन्ति, अग्निरिति शाकपूणिः, नरैः प्रशस्यो भवति । निरु० ८ । ६ । (सुधृष्टमम्) सकलं जगद्धारयति[3] सोऽतिशयितः, तम् (अपश्यम्) पश्यामि । अत्र लडर्थे लङ् । प्रथस्तमम्) यः प्रथोभिर्विस्तृतैराकाशादिभिस्सहाभिव्याप्तो वर्त्तते, सोऽतिशयितः, तम् (दिवः) विप्रकाशान् (न) इव (सद्ममखसम्) सीदन्ति यस्मिन् तत्सद्म=जगत्, तन्मखः प्राप्तं मस्मिति ।।९।।

अन्वयः—अहं [दिवः] सूर्यादिप्रकाशान् [न] [4]इव सद्ममखसं सप्रथस्तमं सुधृष्टमं नराशंसं सत्पतिं परमेश्वरमपश्यं पश्यामि, तथैव यूयमपि कुरुत ।।९।।

१. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'होत्राणि' अपपाठ है ।

२. अर्थात् दिव्य गुणों को प्राप्त कराता है ।

३. सुष्ठु धारयतीति सुधृत्, तत आतिशायनिके तमपि तकारस्य छान्दसं सत्वं षत्वं च । सायणो धृष्णोतेः पि तमपि छान्दसत्घाज्जस्त्वाभावमाह । छान्दसकार्यंत्वमुभयत्राश्रयणीयं भवति ।

४. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'इव' पदं 'सद्ममखसम्' पदात्परमस्ति, तदस्माभिर्योग्ये स्थाने नीतम् ।

अत्रोपमालङ्कारः। [1]अत्र सप्तममन्त्रात् 'सदसस्पति'रिति पदमनुवर्त्तते।

भावार्थः—यथा मनुष्यः सर्वतो विस्तृतं सूर्य्यादिप्रकाशं पश्यति, तथैव सर्वतोऽभिव्याप्तं ज्ञानप्रकाशं परमेश्वरं ज्ञात्वा विस्तृतसुखो भवतीति ॥९॥

पूर्वेण सप्तदशसूक्तार्थेन '[2]इन्द्रावरुणाभ्यां सहानुयोगित्वादत्र [3]ब्रह्मणस्पत्याद्यर्थानां प्रतिपादनादष्टादशसूक्तार्थस्य संगतिरस्तीति बोध्यम् ॥

इदमपि सूक्तं सायणाचार्य्यादिभिर्यूरोपदेशनिवासिभिर्विलसनादिभिश्चान्यथैव व्याख्यातम् ॥

इत्यष्टादशं सूक्तं पञ्चत्रिंशो वर्गश्च समाप्तः ॥

फिर वह कैसा है, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—मैं जैसे [(दिवः)] प्रकाशमय सूर्य्यादिकों के प्रकाशों की (न) तरह (सद्मखसम्) जिसमें प्राणी रहते हैं वह जगद्रूप यज्ञ जिसमें प्राप्त होता है, (सप्रथस्तमम्) जो बड़े-बड़े आकाश आदि पदार्थों के साथ अच्छी प्रकार व्याप्त, (धृष्णुम्) उत्तमता से सब संसार को धारण करनेवाला, (नराशंसम्) सब मनुष्यों से अवश्य स्तुति करने योग्य, पूर्वोक्त (सदसस्पतिम्)[4] सभापति परमेश्वर [है, उस] को (अपश्यम्) [5]देखता हूं, वैसे तुम भी सभाओं के पति को प्राप्त होके न्याय से सब प्रजा का पालन करके उसका नित्य वर्णन करो ॥९॥

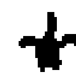
इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। [6]इस मन्त्र में सातवें मन्त्र से 'सदसस्पतिम्' इस पद की अनुवृत्ति जाननी चाहिये।

भावार्थ—जैसे मनुष्य सब जगह विस्तृत हुए सूर्य्यादि के प्रकाश को देखता है, वैसे ही सब जगह व्याप्त ज्ञानप्रकाशरूप परमेश्वर को जानकर सुख के विस्तार को प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

पूर्व सत्रहवें सूक्त के अर्थ के साथ इन्द्र[7] और वरुण के साथ अनुयोगी [8]ब्रह्मणस्पति आदि अर्थों के प्रतिपादन से इस अठारहवें सूक्त के अर्थ की सङ्गति जाननी चाहिये ॥

यह भी सूक्त सायणाचार्य्य आदि और यूरोपदेशवासी विलसन आदि ने कुछ का कुछ ही वर्णन किया है ॥

यह अठारहवां सूक्त और पैंतीसवां वर्ग पूरा हुआ ॥



१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'अत्र ······वर्तते' वाक्यं भावार्थानन्तरमस्यासीत्। ग्रन्थकृतः शैल्यनुसारं वाक्यमिदं भावार्थात् पूर्वं नीतः, तस्यान्वयान्ते सम्बन्धात्।

२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'मित्रावरुणाभ्यां' इत्यपपाठः, पूर्वसूक्ते 'इन्द्रावरुण'शब्ददर्शनात्।

३. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'बृहस्पत्याद्यर्थानां' इत्यपपाठः, अस्मिन् सूक्ते 'ब्रह्मणस्पत्यादि'शब्दानां श्रवणात्। ४. इस पद की पूर्व मन्त्र से अनुवृत्ति है।

५. अर्थात् प्रकाश को चक्षु से प्रत्यक्ष रूप से तथा परमेश्वर को ज्ञानदृष्टि से देखता हूं।

६. वै० य० मुद्रित संस्करणों में यह वाक्य भावार्थ के अन्त में था। ग्रन्थकार की शैली के अनुसार यहां पूर्व में लाया गया है। ७. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'मित्र' अपपाठ है।

८. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'बृहस्पति' अपपाठ है।

अथ नवर्चस्यैकोनविंशस्य सूक्तस्य काण्वो मेधातिथिर्ऋषिः । अग्निर्मरुतश्च देवताः । १, ३–८ गायत्री; २ निचृद्गायत्री; ९ पिपीलिकामध्यानिचृद् गायत्री च छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

तत्रादौ भौतिकाग्निगुणा उपदिश्यन्ते—

प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्र हूयसे । मरुद्भिरग्न आ गहि ॥१॥

प्रति । त्यम् । चारुम् । अध्वरम् । गोऽपीथाय । प्र । हूयसे ॥ मरुत्ऽभिः । अग्ने । आ । गहि ॥१॥

पदार्थः—(प्रति) वीप्सायाम् (त्यम्) तम् (चारुम्) श्रेष्ठम् (अध्वरम्) यज्ञम् पीथाय) पृथिवीन्द्रियादीनां [1]रक्षणाय । निशीथगोपीथावगथाः । उ० २ । ९ अनेनायं ातितः । (प्र) प्रकृष्टार्थे (हूयसे) अध्वरसिद्ध्यर्थं शब्द्यते । अत्र व्यत्ययः । (मरुद्भिः) विशेषैः सह (अग्ने) भौतिकः (आ) समन्तात् (गहि) गच्छति, अत्र व्यत्ययो लडर्थे लोट] । बहुलं छन्दसि [अ० २ । ४ । ७३] इति शपो लुक् च[2] ॥१॥

अन्वयः—योऽ[ग्नेऽ]ग्निर्मरुद्भिः सहागहि समन्तात् प्राप्नोति, स विद्वद्भिस्त्यं तं चारुमध्वरं । गोपीथाय प्रहूयसे प्रकृष्टतया शब्द्यते ॥१॥

भावार्थः—यो भौतिकोऽग्निः प्रसिद्धः विद्युद्रूपेण[3] वायुभ्यः[4] प्रदीप्यते, सोऽयं विद्वद्भिः प्रशस्तया प्रतिक्रियासिद्धि सर्वस्य [च] रक्षणाय तद्गुणज्ञानपुरःसरमुपदेष्टव्यः श्रोतव्यश्चेति ॥१॥

अब उन्नीसवें सूक्त का आरम्भ है । उसके पहिले मन्त्र में भौतिक अग्नि के गुणों का देश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—जो (अग्ने) भौतिक अग्नि (मरुद्भिः) विशेष पवनों के साथ (आगहि) । प्रकार से प्राप्त होता है [अर्थात् प्रज्ज्वलित होता है], वह विद्वानों की क्रियाओं से (त्यम्) त (चारुम् अध्वरम् प्रति) प्रत्येक उत्तम-उत्तम यज्ञ में उनको सिद्धि वा (गोपीथाय) पृथिवी र इन्द्रियादि की रक्षा के लिए (प्रहूयसे) अच्छी प्रकार क्रिया में युक्त किया जाता है ॥ १ ॥

भावार्थ—जो यह भौतिक अग्नि प्रसिद्ध [5]सूर्य्य और विद्युत्रूप करके पवनों के साथ प्रदीप्त

---

१. गवां पीथः रक्षणं तस्मै इत्यर्थः ।

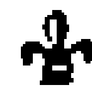
२. 'अनुदात्तोपदेश०' (अ० ६ । ४ । ३७) इत्यनेनानुनासिकलोपः ।

३. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'प्रसिद्धविद्युद्रूपेण' इत्यपपाठः । विद्युतः प्रदीपने वायुर्मेघानां वर्षणरूपेण कारण भवति ।

४. 'ल्यब्लोपे कर्मण्युपसंख्यानम्' (अ० २।३।२८) इत्यनेन । यद्वा—'अकर्तर्यृणे पञ्चमी' (अ० २।३।२४) ःयनेन हेतौ पञ्चमी ।

५. यहां 'सूर्य' पद असम्बद्ध प्रतीत होता है, क्योंकि संस्कृत में यह पद नहीं है ।

होता है, उसका विद्वानों को प्रशंसनीय बुद्धि से हरएक क्रिया की सिद्धि वा सब की रक्षा के लिये गुणों के विज्ञानपूर्वक उपदेश करना वा सुनना चाहिये ॥ १ ॥



अथाग्निशब्देनेश्वरभौतिकगुणा उपदिश्यन्ते—

नहि देवो न मर्त्यो महस्तव क्रतुं परः । मरुद्भिरग्न आ गहि ॥२॥

नहि । देवः । न । मर्त्यः । महः । तव । क्रतुम् । परः ॥ मरुत्ऽभिः । अग्ने । आ । गहि ॥२॥

पदार्थः—(नहि) प्रतिषेधार्थे (देवः) विद्वान् (न) निषेधार्थे (मर्त्यः) अविद्वान्[1] मनुष्यः (महः) महिमा (तव) परमात्मनः, तस्याग्नेर्वा (क्रतुम्) कर्म (परः) प्रकृष्टगुणः (मरुद्भिः) गणैः सह (अग्ने) विज्ञानस्वरूपेश्वर ! भौतिकस्य वा (आ) समन्तात् (गहि) गच्छ, गच्छति वा, अत्र बहुलं छन्दसि [अ० २ । ४ । ७३] इति शपो लुक् । अनुदात्तोपदेश० [अ० ६ । ४ । ३७] इत्यनुनासिकलोपः ॥२॥

अन्वयः—हे अग्ने ! त्वं कृपया मरुद्भिः सहागहि विज्ञातो भव । यस्य तव परो महो महिमास्ति । तव तं क्रतुं कर्म संपूर्णमियत्तया नहि कश्चिद् देवो न च [मर्त्यो] मनुष्यो वेत्तुमर्हति इत्येकः ॥

यस्य [अग्ने] भौतिकाग्नेः परो महो महिमा [ऽस्ति, स] क्रतुं कर्म प्रज्ञां वा [2]प्रापयति [तत्र तस्य] गुणान् न देवो न मर्त्य इयत्तया परिच्छेत्तुमर्हति. सोऽग्निर्मरुद्भिः सहागहि समन्तात् प्राप्नोति, इति द्वितीयः ॥२॥

[3][अत्र श्लेषालंकारः ।]

भावार्थः—नैव परमेश्वरस्य सर्वोत्तमस्य महिम्नः कर्मणश्चानन्तत्वात् कश्चिदेतस्यान्तं गन्तुं शक्नोति । किन्तु यावत्यो यस्य बुद्धिविद्ये [स्तः,] तावन्तं समाधियोगयुक्तेन प्राणायामेनान्तर्यामिरूपेण स्थितं, वेदेषु सृष्ट्यां [4]भौतिकस्याऽग्नेश्च स्वस्वरूपगुणा यावन्तः प्रकाशितास्तावन्त एव ते वेदितुमर्हन्ति नाधिकं चेति ॥२॥

अगले मन्त्र में अग्नि शब्द से ईश्वर और भौतिक अग्नि के गुणों का उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—हे (अग्ने) विज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! आप कृपा करके (मरुद्भिः)

१. देवेन विदुषा सह मर्त्यस्य निर्देशात् 'मर्त्यः' पदस्य 'अविद्वान् मनुष्यः' अर्थो भाष्यकारेण कृतः ।

२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'प्रापयति न देवो न मर्त्यो गुणेयत्तया' इत्यपपाठः ।

३. अग्निपदस्य द्विविधार्थनिर्देशादनेन पाठेन भाव्यम् ।

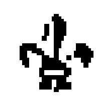
४. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'भौतिकं च मरुतः' इत्यपपाठः । पदार्थेऽन्वये च भौतिकाग्नेरेवोल्लेखात् तस्य स्वरूपगुणा एवेहेष्टाः, न मरुतः । ग.कोशे 'मरुद्भिः' पदस्य 'गुणैः' इत्यपपाठः, तदनुरूप एवेह 'मरुतः' पदस्य प्रवेशः संभाव्यते ।

णों के साथ (आगहि) प्राप्त हूजिये, अर्थात् विदित हूजिये। जिसकी (परः) अत्युत्तम (महः) हमा है, उस (तव) आपके (क्रतुम्) कर्मों को पूर्णता से जानने को (नहि) न कोई (देवः) द्वान् (न) और न कोई (मर्त्यः) अज्ञानी मनुष्य समर्थ हो सकता है ॥ १ ॥

जिस (अग्ने) भौतिक अग्नि का (परः) अति श्रेष्ठ (महः) महिमा है, वह क्रतुम्) कर्म और बुद्धि को प्राप्त कराता है। (तव) उसके गुणों को (नहि देवः) न कोई द्वान् और (न मर्त्यः) न कोई अज्ञानी मनुष्य जान सकता है। वह अग्नि (मरुद्भिः) वायुओं साथ (आगहि) सब प्रकार से प्राप्त होता है ॥ २ ॥ २ ॥

[1][इस मन्त्र में श्लेषालंकार है।]

भावार्थ—सर्वोत्तम परमेश्वर की महिमा वा कर्म अपार हैं, इससे उसका पार कोई हीं पा सकता। किन्तु जितनी जिसकी बुद्धि वा विद्या है, उसके अनुसार समाधियोगयुक्त प्राणायाम द्वारा अन्तर्यामीरूप से स्थित परमेश्वर को, तथा वेद और संसार में परमेश्वर ने अपनी रचना अपने स्वरूप वा गुण, तथा भौतिक अग्नि के स्वरूप वा गुण जितने प्रकाशित किये हैं, उतने ही ान सकता है अधिक नहीं ॥ २ ॥



अथाग्निशब्देनैतयोर्गुणा उपदिश्यन्ते—

ये म॒हो रज॑सो वि॒दुर्विश्वे॑ दे॒वासो॑ अ॒द्रुहः॑ । म॒रुद्भि॑रग्न॒ आ ग॑हि ॥३॥

ये । म॒हः । रज॑सः । वि॒दुः । विश्वे॑ । दे॒वासः॑ । अ॒द्रुहः॑ ॥ म॒रुत्ऽभिः॑ । अ॒ग्ने॒ । आ । ग॒हि॒ ॥३॥

पदार्थः—(ये) मनुष्याः (महः) महसः। अत्र सुपां सुलुग० [अ० ७। १। ३९] इति शसो [लु]क्। (रजसः) लोकान्। यास्कमुनी रजःशब्दमेवं व्याख्यातवान्—रजो रजतेर्ज्योती रज उच्यते, [उ]दकं रज उच्यते, लोका रजांस्युच्यन्ते, असृगहनी रजसी उच्येते। निरु० ४। १९। (विदुः) [जा]नन्ति (विश्वे) सर्वे (देवासः) विद्वांसः। अत्र आज्जसेरसुग्० [अ० ७। १। ५०] इत्य[स]ुगागमः (अद्रुहः) द्रोहरहिताः[2] (मरुद्भिः) वायुभिः सह (अग्ने) स्वयंप्रकाश! सर्वलोक[प्र]काशकोऽग्निर्वा (आ) समन्तात् (गहि) गच्छ, गच्छति वा [[3]अत्रान्यपक्षे व्यत्ययो, लडर्थे लोट्, [ब]हुलं छन्दसि अ० ७। १। ३९ इति शपो लुक् च] ॥३॥

अन्वयः—येऽद्रुहो विश्वे देवासो विद्वांसो मरुद्भिरग्निना च संयोगेन[4] महो रजसो विदुः, त एव

---

१. यहां अग्नि का भी प्रकार का अर्थ करने से श्लेषालङ्कार है। अतः यह निर्देश आवश्यक है।

२. नास्ति ध्रुट् द्रोहो येषु तेऽद्रुहः। नञ्सुभ्याम् (६। २। १७२) इत्युत्तरपदान्तोदात्तत्वम्। [द्रु]हः सत्सूद्विषेत्यादिना क्विप् (अ० ३। ३। ९४ वा०) क्विप्।

३. अयं पाठः ख.कोषे उपलभ्यते, अपदयकाश्चात्रेति कृत्वा प्रवर्धितः।

४. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'संयुगे' इत्यपपाठः।

सुखिनः स्युः। हे अग्ने! यस्त्वं मरुद्भिः सहागहि विदितो भवसि, तेन त्वया योऽग्निर्निर्मितः स मरुद्भिरेव कार्य्यार्थमागच्छति प्राप्तो भवति ॥३॥

[1][अत्र श्लेषालङ्कारः]।

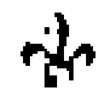
भावार्थः—ये विद्वांसोऽग्निनाकृष्य प्रकाश्य मरुद्भिश्चेष्टयित्वा धारिता [ये] लोकाः सन्ति, तान् सर्वान् विदित्वा कार्य्येषूपयोक्तुं जानन्ति, ते सुखिनो भवन्तीति ॥३॥

अगले मन्त्र में अग्नि शब्द से ईश्वर और भौतिक अग्नि के गुणों का उपदेश किया है—

पदार्थान्वयभाषा—(ये) जो (अद्रुहः) किसी से द्रोह न रखनेवाले (विश्वे) सब (देवासः) विद्वान् लोग (मरुद्भिः) पवन और अग्नि के साथ संयोग से (महः) बड़े-बड़े (रजसः) लोकों को (विदुः) जानते हैं, वे ही सुखी होते हैं। हे (अग्ने) स्वयं प्रकाश होनेवाले परमेश्वर! जो आप पवनों के साथ [अर्थात् प्राणायामादि योगक्रिया से] (आगहि) विदित होते हैं, इससे जो आपका बनाया हुआ, सब लोकों का प्रकाश करनेवाला भौतिक अग्नि है, सो भी आपकी कृपा से पवनों के साथ कार्य्यसिद्धि के लिये प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

[2][इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है।]

भावार्थ—जो विद्वान् लोग अग्नि से आकर्षण वा प्रकाश करके, तथा पवनों से चेष्टा करके धारण किये हुए जो लोक हैं, उन सबको जानकर उनसे कार्यों में उपयोग लेना जानते हैं, वे ही अत्यन्त सुखी होते हैं ॥ ३ ॥



पुनः कीदृशास्ते मरुत इत्युपदिश्यते—

य उग्रा अर्कमानृचुरनाधृष्टास ओजसा। मरुद्भिरग्न आ गहि ॥४॥

ये। उग्राः। अर्कम्। आनृचुः। अनाधृष्टासः। ओजसा ॥ [3]मरुत्ऽभिः। अग्ने। आ। गहि ॥४॥

पदार्थः—(ये) वायवः (उग्राः) तीव्रवेगादिगुणाः, [ऋज्रेन्द्राग्र०। उ० २। २८ इत्यत्र निपातितः।] (अर्कम्) सूर्य्यादिलोकम् (आनृचुः) स्तावयन्ति तद्गुणान् प्रकाशयन्ति. अपस्पृधेथामानृचु०। अ० ६।१।३६ अनेनार्चधातोर्लिट्युसि सम्प्रसारणमकारलोपश्च निपातितः। (अनाधृष्टाः) धर्षितुं निवारयितुमनर्हाः (ओजसा) बलादिगुणसमूहेन सह वर्त्तमानाः (मरुद्भिः) एतैर्वायुभिः सह (अग्ने) विद्युत् प्रसिद्धो वा (आ) समन्तात् (गहि) प्राप्नोति ॥ ४ ॥

१. 'अग्ने' पदस्य श्लेषेण द्विधार्थप्रदर्शनादिहायं पाठ आवश्यकः।

२. 'अग्ने' पद का श्लेष से दो प्रकार का अर्थ दर्शाने से यहां यह पाठ आवश्यक है।

३. वै० य० मुद्रितेषु १-२-३ संस्करणेषु 'मुरुद्भिः' इत्यपपाठः। चतुर्थे संस्करणे शोधितः।

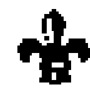
अन्वयः--य उग्रा अनाधृष्टासो वायव ओजसाऽर्कमानृचुः, एतैर्मरुद्भिः सहाग्ने अयमग्निरा-
ागच्छति समन्तात् कार्य्ये सहायकारी भवति ।।४।।

भावार्थः--यावद् बलं वर्त्तते, तावद् वायुविद्युद्भ्यां जायते। इमे वायवः सर्वलोकधारकाः
त । तद्योगेन विद्युत्सूर्यादयः प्रकाश्य ध्रियन्ते। तस्माद् वायुगुणज्ञानोपकारग्रहणाभ्यां बहूनि
र्याणि सिध्यन्तीति ।।४।।

फिर उक्त पवन किस प्रकार के हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—(ये) जो (उग्राः) तीव्र वेग आदि गुणवाले, (अनाधृष्टासः) किसी
रोकने में न आ सकनेवाले पवन (ओजसा) अपने बल आदि गुणों से संयुक्त हुए (अर्कम्)
र्य आदि लोकों के (आनृचुः) गुणों को प्रकाशित करते हैं, इन (मरुद्भिः) पवनों के साथ
अग्ने) यह विद्युत् और प्रसिद्ध अग्नि (आगहि) कार्य्य में सहाय करनेवाला होता है ।। ४ ।।

भावार्थ—जितना बल वर्त्तमान है, उतना वायु और विद्युत् के सकाश से उत्पन्न होता है। ये
ु सब लोकों के धारण करनेवाले हैं। इनके संयोग से बिजुली वा सूर्य्य आदि लोक प्रकाशित
त धारण किये जाते हैं। इससे वायु के गुणों का ज्ञान वा उनसे उपकार ग्रहण करने से अनेक
ार के कार्य्य सिद्ध होते हैं ।। ४ ।।



पुनस्ते कीदृशा इत्युपदिश्यते—

ये शुभ्रा घोरवर्पसः सुक्षत्रासो रिशादसः । मरुद्भिरग्न आ गहि ।।५।।

ये । शुभ्राः । घोरऽवर्पसः । सुऽक्षत्रासः । रिशादसः ।। मरुत्ऽभिः । अग्ने । आ । गहि ।।५।।

पदार्थः—(ये) वायवः (शुभ्राः) स्वगुणैः शोभमानाः (घोरवर्पसः) घोरं हननशीलं
र्पो रूपं स्वरूपं येषां ते । वर्प इति रूपनामसु पठितम् । निघं० ३ । ७ । (सुक्षत्रासः) शोभनं
त्रमन्तरिक्षस्थं राज्यं येषां ते (रिशादसः) रिशा रोगा[स्तेषाम्] अदसोऽत्तारो [2]ये ते
मरुद्भिः) प्राप्तिहेतुभिः सह । मरुत इति पदनामसु पठितम् । निघं० ५ । ५ अनेनात्र प्राप्त्यर्थो
गृह्यते । (अग्ने) भौतिकः (आ) आभिमुख्ये (गहि) प्रापयति [[3]अत्र व्यत्ययो लडर्थे
ोट् च] ।।५।।

अन्वयः—ये घोरवर्पसो रिशादसः सुक्षत्रासः शुभ्रा वायवः सन्ति, तैर्मरुद्भिः सहाग्नेऽग्निरा-
ेह कार्य्याणि प्रापयति ।।५।।

---

१. या का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत् । निरुक्त ७ । ६ ।।
२. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'येस्ते' इत्यपपाठः ।
३. उत्तरयोर्मन्त्रार्थयोरयं पाठो दृश्यतेऽतोऽत्रापि योजितः ।

भावार्थः—ये यज्ञेन शोधिता वायवः सुराज्यकारिणो भूत्वा रोगान् घ्नन्ति, ये चाशुद्धास्ते सुखानि नाशयन्ति, तस्मात् सर्वैर्मनुष्यैरग्निना वायोः शोधनेन सुखानि संसाधनीयानीति ॥५॥

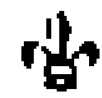
इति षट्त्रिंशो वर्गः समाप्तः ॥

फिर भी उक्त वायु कैसे हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—(ये) जो (घोरवर्पसः) घोर अर्थात् पदार्थों को अत्यन्त भिन्न-भिन्न करनेरूप स्वरूपवाले, (रिशादसः) रोगों को नष्ट करनेवाले, (सुक्षत्रासः) अन्तरिक्ष में निर्भय राज्य करनेहारे, और (शुभ्राः) अपने गुणों से सुशोभित पवन हैं, उन (मरुद्भिः) पवनों के साथ (अग्ने) भौतिक अग्नि (आगहि) प्रकट होता है, अर्थात् कार्य्यसिद्धि को देता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो यज्ञ के धूम से शोधे हुए पवन हैं, वे अच्छे राज्य के करनेवाले होकर रोग आदि दोषों का नाश करते हैं। और जो अशुद्ध अर्थात् दुर्गन्ध आदि दोषों से भरे हुए हैं, वे सुखों का नाश करते हैं। इससे मनुष्यों को चाहिये कि अग्नि में होम द्वारा वायु की शुद्धि से अनेक प्रकार के सुखों को सिद्ध करें ॥ ५ ॥

यह छत्तीसवां वर्ग पूरा हुआ ॥



पुनस्ते कीदृशा इत्युपदिश्यते—

ये नाकस्याधि रोचने दिवि देवास आसते । मरुद्भिरग्न आ गहि ॥६॥

ये । नाकस्य । अधि । रोचने । दिवि । देवासः । आसते ॥ मरुत्ऽभिः । अग्ने । आ । गहि ॥६॥

पदार्थः—(ये) पृथिव्यादयो लोकाः (नाकस्य) सुखहेतोः सूर्य्यलोकस्य (अधि) उपरिभागे (रोचने) रुचिनिमित्ते (दिवि) द्योतनात्मके सूर्य्यप्रकाशे (देवासः) दिव्यगुणाः पृथिवीचन्द्रादयः प्रकाशिताः (आसते) सन्ति (मरुद्भिः) दिव्यगुणैर्वायुभिः सह । [मरुतो वै देवाः । शत०[1]] (अग्ने) अग्निः प्रसिद्धः (आ) समन्तात् (गहि) सुखानि गमयति, [2]अत्र व्यत्ययो लडर्थे लोट् च ॥ ६ ॥

अन्वयः—ये देवासो नाकस्य रोचने दिव्यध्यासते, तद्धारकैः प्रकाशकैर्मरुद्भिः सहाग्नेऽयमग्निरागहि सुखानि प्रापयति ॥ ६ ॥

भावार्थः-सर्वे लोका ईश्वरस्यैव प्रकाशेन प्रकाशिताः सन्ति, परन्तु तद्रचितस्य सूर्य्यलोकस्य

१. अयं प्रमाणपाठः क.कोशे दृश्यते । तुलना कार्या—'गुञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस इति, गुञ्जन्तु त्वा देवा इत्येवैतदाह' । शत० ५ । १ । ४ । ६ ॥

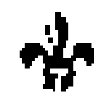
२. अयं पाठः ख कोश उपलभ्यते, आवश्यकश्चाय । द्रष्टव्य उत्तरमन्त्रपदार्थः ।

पृथिवी-चन्द्रादयो लोका दीप्यन्ते । तैर्दिव्यगुणैः सह वर्त्तमानोऽयमग्निः सर्वकार्य्येषु योजनीय ६ ॥

फिर भी उक्त पवन कैसे हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—(ये) जो (देवासः) प्रकाशमान और अच्छे-अच्छे गुणोंवाले पृथिवी द आदि लोक (नाकस्य) सुख की सिद्धि करनेवाले सूर्य्यलोक के (रोचने) रुचिकारक) प्रकाश में (अध्यासते) [वर्त्तमान हैं,] उनके धारण और प्रकाश करनेवाले (मरुद्भिः) के साथ (अग्ने) यह अग्नि (आगहि) सुखों की प्राप्ति कराता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—सब लोक परमेश्वर के प्रकाश से प्रकाशमान हैं, परन्तु उसके रचे हुए सूर्य्यलोक प्ति अर्थात् प्रकाश से पृथिवी और चन्द्रलोक प्रकाशित होते हैं। उन अच्छे-अच्छे गुणों से नग्नि को सब कार्य्यों में संयुक्त करना चाहिये ॥ ६ ॥



पुनस्ते किंकर्महेतवः सन्तीत्युपदिश्यते—

य ईङ्खयन्ति पर्वतान् तिरः समुद्रमर्णवम् । मरुद्भिरग्न आ गहि ॥७॥

ये । ईङ्खयन्ति । पर्वतान् । तिरः । समुद्रम् । अर्णवम् ॥ मरुतऽभिः । अग्ने । आ । गहि ॥७॥

पदार्थः--(ये) वायवः (ईङ्खयन्ति) छेदयन्ति निपातयन्ति (पर्वतान्) मेघान् । इति मेघनामसु पठितम् । निघं० १ । १० । (तिरः) तिरस्करणे (समुद्रम्) सम्यगुद्द्रवन्त्यापो न् तदन्तरिक्षम । समुद्र इत्यन्तरिक्षनामसु पठितम् । निघं० १ । ३ । (अर्णवम्) पृथिवीस्थं म् (मरुद्भिः) उपर्य्यधोगमनशीलैर्वायुभिः (अग्ने) अग्निर्विद्युदाख्यः (आ) अभितः हि) प्राप्नोति, अत्र व्यत्ययो लडर्थे लोट् च ॥ ७ ॥

अन्वयः—ये वायवः पर्वता[न् मेघा]दीनीङ्खयन्ति, अर्णवं तिरस्कुर्वन्ति, समुद्रं प्रपूरयन्ति, द्भिः सहाग्नेऽयमग्निर्विद्युदागह्यागच्छति ॥ ७ ॥

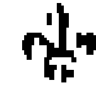
भावार्थः—वायुयोगेनैव वृष्टिर्भवति, जलं रेणवश्चोपरि गत्वाऽऽगच्छन्ति । तैः सह तस्मि- न वा विद्युदुत्पद्य गृह्यते[1] ॥ ७ ॥

फिर उक्त पवन किन कार्य्यों के हेतु होते हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—(ये) जो वायु (पर्वतान्) मेघों को (ईङ्खयन्ति) छिन्न-भिन्न करते वर्षाते हैं, (अर्णवम्) समुद्र का (तिरः) तिरस्कार करते, वा (समुद्रम्) अन्तरिक्ष को से पूर्ण करते हैं, उन (मरुद्भिः) पवनों के साथ (अग्ने) यह अग्नि अर्थात् बिजुली (आगहि) होती, अर्थात् सन्मुख आती जाती है ॥ ७ ॥

१. दृश्यते इत्यर्थः, निगृह्यते निलीयते वा ।

भावार्थ—वायु के संयोग से ही वर्षा होती है, और जल के कण वा रेणु अर्थात् सब पदार्थों के अत्यन्त छोटे-छोटे कण पृथिवी से अन्तरिक्ष को जाते तथा वहां से पृथिवी को आते हैं। उनके साथ वा उनके निमित्त से बिजुली बद्दलों में उत्पन्न होती और छिप जाती है ॥ ७ ॥



एत एव प्रकाशादिकं विस्तारयन्तीत्युपदिश्यते—

आ ये त॒न्वन्ति॑ र॒श्मिभि॑स्ति॒रः स॑मु॒द्रमोज॑सा । म॒रुद्भि॑रग्न॒ आ ग॑हि ॥८॥

आ । ये । त॒न्वन्ति॑ । र॒श्मिऽभिः॑ । ति॒रः । स॒मु॒द्रम् । ओज॑सा ॥ म॒रुत्ऽभिः॑ । अ॒ग्ने॒ । आ । ग॒हि॒ ॥८॥

पदार्थः—(आ) अनुगतार्थे क्रियायोगे (ये) वायवः (तन्वन्ति) विस्तारयन्ति (रश्मिभिः) सूर्य्यकिरणैः सह (तिरः) तिरस्करणे (समुद्रम्) अन्तरिक्षं जलमयं वा (ओजसा) बलेन वेगेन वा (मरुद्भिः) तैर्धनञ्जयाख्यैः सूक्ष्मैः सह (अग्ने) अग्निः (आ) सर्वतः (गहि) प्राप्नोति, अत्र व्यत्ययो लडर्थे लोट् च ॥ ८ ॥

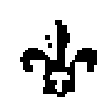
अन्वयः—ये वायव ओजसा समुद्रमन्तरिक्षमागच्छन्ति, जलमयं सागरं तिरस्कुर्वन्ति, ये च रश्मिभिः सहातन्वन्ति, तैर्मरुद्भिः सहाग्न अग्निरागहि प्राप्तोऽस्ति ॥ ८ ॥

भावार्थः—एतेषां वायूनां प्राप्त्या सर्वे पदार्था वर्धित्वा बलहेतवो भवन्ति। तस्मान्मनुष्यै-र्वाय्वग्नियोगेनानेका कार्य्यसिद्धिर्विभावनीयेति ॥ ८ ॥

ये ही प्रकाश आदि गुणों का विस्तार करते हैं, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा—(ये) जो वायु अपने (ओजसा) बल वा वेग से (समुद्रम्) अन्तरिक्ष को प्राप्त होते, तथा जलमय समुद्र का (तिरः) तिरस्कार करते हैं, तथा जो (रश्मिभिः) सूर्य्य की किरणों के साथ (आतन्वन्ति) विस्तार को प्राप्त होते हैं, उन (मरुद्भिः) पवनों के साथ (अग्ने) भौतिक अग्नि (आगहि) कार्य्य की सिद्धि को देता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—इन पवनों की प्राप्ति से सब पदार्थ बढ़कर बल देनेवाले होते हैं। इससे मनुष्यों को वायु और अग्नि के योग से अनेक प्रकार के कार्य्यों की सिद्धि करनी चाहिये ॥ ८ ॥



पुनस्तैः किं साधनीयमित्युपदिश्यते—

अ॒भि त्वा॑ पू॒र्वपी॑तये सृ॒जामि॑ सो॒म्यं मधु॑ । म॒रुद्भि॑रग्न॒ आ ग॑हि ॥९॥

अ॒भि । त्वा॒ । पू॒र्वऽपी॑तये । सृ॒जामि॑ । सो॒म्यम् । मधु॑ ॥ म॒रुत्ऽभिः॑ । अ॒ग्ने॒ । आ । ग॒हि॒ ॥९॥

पदार्थः—(अभि) आभिमुख्ये (त्वा) तत् (पूर्वपीतये) पूर्वं पीतिः पानं सुखभोगो यस्मिन् तस्मा आनन्दाय (सृजामि) रचयामि (सोम्यम्) सोमं प्रसवं सुखानां समूहो रसा-

र्हति तत्। अत्र सोममर्हति यः। अ० ४।४।१३७ अनेन यः प्रत्ययः। (मधु) मन्यन्ते जानन्ति सुखानि येन तत् मधुरं सुखकारकम् (मरुद्भिः) अनेकविधैर्निमित्तभूतैर्वायुभिः (अग्ने) व्यावहारिकः (आ) अभितः (गहि) साधको भवति ॥९॥

अन्वयः--यैर्मरुद्भिरग्नेऽग्निरागहि साधको भवति, तैः पूर्वपीतये त्वा तत् सोम्यं मध्वहमभिसृजामि ॥९॥

भावार्थः—विद्वांसो येषां वाय्वग्न्यादिपदार्थानां सकाशात् सर्वं शिल्पक्रियामयं यज्ञं साध्नुवन्ते, तैरेव सर्वैर्मनुष्यैः सर्वाणि कार्य्याणि साधनीयानीति ॥९॥

अथाष्टादशसूक्तप्रतिपादित-[१]ब्रह्मणस्पत्यादिभिः पदार्थैः सहैतेनोक्तानामग्निमरुतां विद्याप्रकाशितत्वाद् अस्यैकोनविंशस्य सूक्तस्य सङ्गतिरस्तीति बोध्यम् ॥

[२]अस्मिन्नध्यायेऽग्निम् एतस्य वाय्वादीनां च परस्परं विद्योपयोगाय प्रतिपादयन्नीश्वरो वायुसहकारिणमग्निमन्ते प्रकाशयन्नध्यायसमाप्तिं द्योतयतीति ॥

इदमपि सूक्तं सायणाचार्य्यादिभिर्यूरोपदेशनिवासिभिर्विलसनादिभिश्चान्यथैव व्याख्यातम् ॥

इति श्रीमत्परिव्राजकाचार्य्येण दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचिते
संस्कृतभाषार्य्यभाषाभ्यां विभूषिते सुप्रमाणयुक्ते वेदभाष्ये
प्रथमाष्टके प्रथमोऽध्यायः, एकोनविंशं सूक्तं,
सप्तत्रिंशो वर्गश्च समाप्तः ॥

फिर उनसे क्या सिद्ध करना चाहिये, इस विषय का उपदेश अगले मन्त्र में किया है—

पदार्थान्वयभाषा--जिन (मरुद्भिः) पवनों से (अग्ने) भौतिक अग्नि (आगहि) कार्य्यसाधक होता है, उनसे (पूर्वपीतये) पहिले जिसमें पीति अर्थात् सुख का भोग हैं, उस उत्तम आनन्द के लिये (त्वा) उस (सोम्यम्) सुखों के उत्पन्न करने योग्य (मधु) मधुर आनन्द देने वाले पदार्थों के रस को मैं (अभिसृजामि) सब प्रकार से उत्पन्न करता हूं ॥ ९ ॥

भावार्थ--विद्वान् लोग जिन वायु अग्नि आदि पदार्थों के सहयोग से सब शिल्पक्रियारूपी यज्ञ को सिद्ध करते हैं, उन्हीं पदार्थों से सब मनुष्यों को सब कार्य्य सिद्ध करने चाहियें ॥ ९ ॥

अठारहवें सूक्त में कहे हुए [३]ब्रह्मणस्पति आदि पदार्थों के साथ, इस सूक्त से जिन अग्नि

१. वै० य० मुद्रितेषु संस्करणेषु 'बृहस्पत्यादिभिः' इत्यपपाठः। तत्र 'ब्रह्मणस्पते' श्रवणात्।

२. अत्र पाठभ्रंशः समजनि। एवमत्र पाठो द्रष्टव्यः—ईश्वर एतस्मिन्नध्याये आदौ वाय्वादीनां उपयोगाय अग्निं प्रतिपादयन् अन्ते च वायुसहकारिणमग्निं प्रतिपादयन्नध्यायसमाप्तिं सूचयति।
अत्राध्यायशब्देन प्रकरणाभिप्रायो ज्ञेयः। अत्र पूर्वत्र (पृष्ठ ३९२, ३९३) एतद्विषये निर्दिष्टं विस्तरं द्रष्टव्यम्। अष्टकाध्यायमण्डलादिविभागः पौरुषेय इति वेदविदां मतम्।

३. वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'बृहस्पति' अपपाठ है।

ा प्रतिपादन है, उनकी विद्या की एकता होने से इस उन्नीसवे सूक्त की सङ्गति हुये ।।

अध्याय [के आदि] में अग्नि और वायु आदि पदार्थों की विद्या के उपयोग के लिये और [अन्त में] पवनों के साथ रहनेवाले अग्नि का प्रकाश करता हुआ परमेश्वर समाप्ति को प्रकाशित करता है ।।

सूक्त का भी अर्थ **सायणाचार्य्य** आदि, तथा यूरोपदेशवासी **विलसन** आदि ने अन्यथा या है ।।

थम अष्टक में प्रथम अध्याय, उन्नीसवां सूक्त, और सेंतीसवां वर्ग समाप्त हुआ ।।



प्रथमं परिशिष्टम्

ऋग्वेदस्य ऋक्संख्या

सुविदितमेवैतद् वैदिकवाङ्मयजुषां यदासन् कदाचिदृग्वेदस्यैकविंशति संहिताः । तासु सम्प्रत्येकैव संहिता समुपलभ्यते । प्राचीनपरम्परासंरक्षकाणां भारतीयविदुषां जागरूकप्रयत्नेन अतिप्राचीनकालादियमविकृतैवोपलभ्यते । तत्रोपसार्धदशसहस्रर्क् परिमाणायां संहितायां नैकोऽपि वर्णो विकृतिं प्राप, ऋचां न्यूनाधिक्यस्य तु का कथा ? एवं परमप्रयत्नेन संरक्षितायामप्यृक्संहितायां तदृक्परिमाणे प्राचीना अर्वाचीनाश्च प्रायेण सर्वेऽपि वैदिकवाङ्मयविदो मिथो विप्रवदन्ते । तथाहि—

शौनकोऽनुवाकानुक्रमण्यां १०५८० ऋचः पादश्चैकः; छन्दःसंख्यापरिशिष्टकारः १०४०२ ऋचः; सर्वानुक्रमणीटीकाकारो जगन्नाथः १०५५२ ऋचः; चरणव्यूहव्याख्याता महिदासो बालखिल्यसहिताः १०५५२ ऋचः, बालखिल्यरहिताः १०४७२, तदुद्धृतश्लोकानुसारं १०४१६ ऋचः; ऋग्भाष्यरचयिता वेङ्कटमाधवः १०४०२ ऋचः; स एव द्विपदापक्षे १०४८० ऋचः; स्वामी दयानन्दः १०५८९ ऋचः, परं तदुल्लिखिते प्रतिमण्डलयोगे संहृत्य १०५२१ ऋचः; अध्यापको मैकडानलः १०४४२ ऋचः, स एव द्विपदापक्षे १०५६६ ऋचः, ८-८-१९१९ तिथ्यङ्कितपत्रानुसारं[1] १०५६५; पण्डितसत्यव्रतः १०५२२; हरिप्रसादो वैदिकमुनिश्च १०४४० ऋच इति सगिरते ।

ऋग्वेद की ऋक्संख्या

वैदिक वाङ्मय से परिचित विद्वान् इस बात से परिचित हैं कि पुराकाल में ऋग्वेद की शाखाओं को मिलाकर २१ संहिताएं थीं । उनमें से इस समय एक ही उपलब्ध है । प्राचीन परम्परा के संरक्षक विद्वानों के जागरूक प्रयत्न से अति प्राचीन काल से इस लगभग साढ़े दश हजार मन्त्रों से युक्त संहिता में एक वर्ण भी विकार को प्राप्त नहीं हुआ, ऋचाओं की न्यूनाधिकता तो दूर की बात है । इस प्रकार परम प्रयत्न से संरक्षित ऋक्संहिता में कितनी ऋचाएं हैं, इस विषय मे प्राचीन अर्वाचीन अनेक विद्वानों ने लिखा है, परन्तु यह प्रश्न अभी तक रहस्मय बना हुआ है । किन्हीं भी दो विद्वानों की ऋग्गणना परस्पर नहीं मिलती । जैसा कि—

शौनकीय अनुवाकानुक्रमणी—१०५८० और १ पाद । छन्दसंख्या-परिशिष्ट—१०४०२ । ऋक्सर्वानुक्रमणी-टीकाकार जगन्नाथ—१०५५२ । चरणव्यूह-टीकाकार महिदास—बालखिल्यसहित १०५५२, बालखिल्य-बिना १०४७२, उसके द्वारा उद्धृत श्लोकानुसार १०४१९ । वेङ्कटमाधव—

---

१. पत्रमिदं मैकडानलाध्यापकेन पण्डितभगवद्दत्ताय प्रेषितम् । तदीये 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' नाम्नो ग्रन्थस्य प्रथमे भागे २४१ पृष्ठे (सं० २) मुद्रितं द्रष्टव्यम् ।

किमत्र वैमत्ये कारणम्, कियत्यश्चर्क्संहितायां वस्तुत ऋच इत्यस्मिन् निबन्धे विवेचयामः।

शतपथ ऋचां परिमाणमेवमुल्लिखितम्—'स ऋचो व्यौहत द्वादशबृहतीसहस्राणि, एतावत्यो ह्यृचो याः प्रजापतिसृष्टाः' [१०।४।२।२३] इति।

एतदनुसृत्य **द्वादशबृहतीसहस्राणामृचां** (१२००० × ३६) = ४३२००० **चतुर्लक्षाणि द्वात्रिंशत्सहस्राणि चाक्षरमानं जायेत। तच्च शौनकीयानुवाकानुक्रमण्यापि संवदति! वर्तमानायामृक्संहितायां क्षैप्रप्रश्लेषाभिनिहितसन्धीनां व्यूहे कृतेऽपि ३९७२६५ त्रिलक्षाणि सप्तनवतिसहस्राणि पञ्चषट्च्यधिकद्विशतान्येवाक्षराणि भवन्ति। अतो जायते संदेहः—किमियं शातपथी ऋगक्षरमात्रा दशतय्या एवर्चामुत वेदचतुष्टयान्तर्वर्त्तिनीनां सर्वासामृचामिति ?**

अत्रैवं पश्यामः—शतपथस्योक्तप्रकरण ऋग्यजुःसाम्नामेवाक्षरमानमुच्यते, नाथर्वाङ्गिरसाम्। बैदिकवाङ्मये यत्र क्वचिदपि ऋग्यजुःसाम्नां त्रयाणामेवोल्लेखस्तत्र ऋगादीनि पदानि न वेदपराणि, अपि तु मन्त्रविशेषपराण्येव। यथोक्तं जैमिनिना—'यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था सा ऋक्, गीतिषु सामाख्या, शेषे यजुःशब्दः' [**मी० २।१।३५-३७] इति। अत एवं संभाव्यते—उक्ता**

१०४०२, तथा द्विपदापक्ष में १०४८०। स्वामी दयानन्द सरस्वती—१०५८९, परन्तु उनके प्रतिमण्डल गिनी गई ऋचाओं का योग १०५२१। प्रो० मैकडानल—१०४४२, द्विपदापक्ष में १०५६९, तथा ८-८-१९१९ के पत्रानुसार १०५६५। पं० सत्यव्रत सामश्रमी—१०५२२। पं० हरिप्रसाद वैदिक मुनि १०४४०।

हमारा मत है कि प्राचीन आचार्यों की ऋग्गणना प्रायः ठीक है। परन्तु उनके गणना-प्रकार में भेद होने से परस्पर विभिन्नता प्रतीत होती है। आधुनिक विद्वानों ने प्राचीन आचार्यों के गणनाप्रकार को भले प्रकार न समझ कर अनेक भयङ्कर भूलें की हैं। इस लेख में उनकी भूलों का निदर्शन और ऋग्वेद की शुद्ध ऋक्संख्या दर्शाने का यत्न किया जायेगा।

शतपथ ब्राह्मण १०।४।२।२३ में लिखा है—

'स ऋचो व्यौहत द्वादश बृहतीसहस्राणि, एतावत्यो ह्यृचो याः प्रजापतिसृष्टाः।'

अर्थात्—प्रजापति ने १२००० बारह सहस्र बृहती छन्द के परिमाण की ऋचाएं उत्पन्न कीं। इतनी ही प्रजापतिसृष्ट ऋचाएं हैं।

बारह सहस्र बृहती छन्द का १२००० × ३६ = ४३२००० अक्षर-परिमाण होता है।

शतपथ के इस प्रकरण को भले प्रकार देखने से विदित होता है कि यह अक्षर-परिमाण केवल ऋग्वेद की ऋचाओं का नहीं है, अपितु वेदचतुष्टयान्तर्गत समस्त ऋचाओं का है। क्योंकि शतपथ के इस प्रकरण में त्रयी विद्या का वर्णन करते हुए ऋक्, यजुः और साम का ही परिमाण दर्शाया है, अथर्व का नहीं। अतः इस प्रकार के ऋक् यजु और साम शब्द ग्रन्थ-विशेष के वाचक न होकर मन्त्रप्रकार के वाचक हैं। आचार्य जैमिनि ने त्रयी विद्या के लिए प्रयुक्त होनेवाले ऋक् यजुः और साम शब्द का अर्थ इस प्रकार दर्शाया है—

यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था सा ऋक्। गीतिषु सामाख्या। शेषे यजुः शब्दः॥

मीमांसा २।१।३५-३७॥

शातपथी ऋगक्षरगणना वेदचतुष्टयान्तर्गतानां सर्वासामेवर्चाम् । तत्रैतावान् सन्देहोऽवशिष्यते यच्छौनकेनानुवाकानुक्रमण्यां पारायणे १०५८० अशीत्यधिकपञ्चशतोत्तरदशसहस्रमृचः पादश्चैक इति ऋङ्मानमुक्त्वा शतपथवत् ४३२००० चतुर्लक्षाणि द्वात्रिंशत्सहस्राणि चाक्षराणीत्यक्षरमानमुक्तम्, तत्तु ऋग्वेदीयर्चामेव कथमुपपद्यत इति देवा एव वेदितुमर्हन्ति ।

ऋक्संहितान्तर्वर्तिनीनामृचां सङ्ख्यामुपक्रम्य विदुषां वैमत्यं प्रागुपदर्शितम् । तत् किं वास्तविकमुत गणनापद्धतिभेदमूलकमुत भ्रमप्रमादादिजन्यमिति सम्प्रति विचार्यते —

विशिष्टा ऋग्गणना-पद्धतिः

दृश्यन्ते हि दशतय्यां काश्चनेदृश्य ऋचो याः कदाचिद् द्विपदारूपेण गण्यन्ते, कदाचिच्च चतुष्पदारूपेण । तासां द्विपदात्वेन चतुष्पदात्वेन च परिगणने संख्यावश्यं भिद्यते । अतस्तदेव तावद्विवेच्यते-

सन्ति ऋग्वेद आहत्य १५७ सप्तपञ्चाशदुत्तरशतं द्विपदा ऋचः । तासु १७ सप्तदश नित्याः, १४० चत्वारिंशदुत्तरशतं च नैमित्तिकाः । इमाश्चत्वारिंशदुत्तरशतमृचो यज्ञे शंसनादिषु द्विपदात्वेन विनियुज्यन्ते । तथा च ब्राह्मणं भवति—'द्विपदाः शंसति' इति । सूत्र्यते चाश्वला-

---

अर्थात् चारों वेदों में जितने पादबद्ध (पद्यमय) मन्त्र हैं वे 'ऋक्', गानात्मक 'साम', और गद्य मन्त्र 'यजुः' कहाते हैं ।

किन्हीं-किन्हीं विद्वानों का विचार है कि अनुवाकानुक्रमणी में लिखा हुआ ४३२००० अक्षर-परिमाण ऋग्वेद की समस्त शाखाओं में पठित १०५८० और १ पाद ऋचाओं का है । हमें यह कल्पना ठीक प्रतीत नहीं होती । क्योंकि वालखिल्यरहित १०४७२ ऋचाओं का अक्षर-परिमाण ३९४२२१ होता है । यह अक्षरसंख्या पादपूर्त्यर्थ किए गए अक्षर-व्यूह को मानकर उपलब्ध होती है । अतः शेष १८० ऋचाओं और १ पाद का लगभग ३८ सहस्र अक्षर-परिमाण किसी प्रकार नहीं हो सकता । इस हेतु से भी शतपथोक्त ४३२००० अक्षर-परिमाण वेदचतुष्टयान्तर्गत समस्त पादबद्ध (पद्य) मन्त्रों का समझना चाहिए । शौनक ने केवल ऋग्वेद का ४३२००० अक्षर-परिमाण कैसे लिखा, यह हमें ज्ञात नहीं ।

विशिष्ट ऋग्गणना-पद्धति

ऋग्वेद की विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रदर्शित ऋक्संख्या पर विचार करने से पूर्व ऋग्वेद में ऋग्गणना की जो विशिष्ट पद्धति है उसको समझ लेना अत्यावश्यक है । क्योंकि इसको यथार्थतया न समझने के कारण समस्त आधुनिक विद्वानों ने ऋग्गणना में भयङ्कर भूलें की हैं ।

ऋग्गणना और द्विपदा ऋचाएं—ऋग्वेद में कुछ मन्त्र ऐसे हैं, जिनको किसी समय दो-दो पाद का एक मन्त्र मानकर गिनते हैं, और किसी समय उन्हें चार-चार पादों का एक मंत्र मानते हैं, अर्थात् उस समय दो-दो द्विपात् मन्त्रों का एक चतुष्पाद मन्त्र माना जाता है । द्विपदा पक्ष में ऋग्वेद में समस्त १५७ द्विपदा ऋचाएं हैं । इनमें से १७ नित्य द्विपदा ऋचाएं हैं, शेष १४० द्विपदा ऋचाएं नैमित्तिक हैं । अर्थात् ये १४० ऋचाएं वस्तुतः द्विपदा नहीं हैं, अपितु १४०÷२=

यनेन—'पश्वा न तायुमिति द्वैपदम्' [८।१२] **इति । एता एवाध्ययनकाले चतुष्पदा भवन्ति । तदुक्तमृक्**सर्वानुक्रमण्याम्—'द्विद्विपदास्त्वृचः समामनन्ति' [**उपोद्घाते**] **इति ।**

षड्गुरुशिष्यः **सूत्रमिदमित्थं व्याचख्यौ**—"ऋचोऽध्ययने त्वध्येतारो द्वे द्वे द्विपद एकैकामृचं कृत्वा समामनन्ति समामनेयुः अधीयीरन् । म्ना अभ्यासे, लिङर्थे लेट्, शपि मनादेशः । द्वे द्विपदे यासां ता ऋचो द्विद्विपदाः । समामनन्तीति वचनाच्छंसनादौ न भवन्ति । तेन 'पश्वा न तायुम्' [ऋ० १।६५] इति शंसने दशर्चत्वम्, आसां चाध्ययने पञ्चत्वं भवति" **इति ।**

अयमेवाभिप्रायः प्रथममण्डलान्तर्गतपञ्चषष्टितमसूक्तव्याख्याने सायणेनाप्युपवर्ण्यते– 'तत्र पश्वेत्यादीनि षट् सूक्तानि द्वैपदानि । तेष्वध्ययनसमये द्विपदे द्वे द्वे ऋचौ चतुष्पदामेकैकां कृत्वा समाम्नायते । अयुतसंख्यासु तु याऽन्त्यातिरिच्यते, सा तथैवाम्नायते । प्रायेणार्थोऽपि द्वयोर्द्विपदयोरेक एव, प्रयोगे तु ताः पृथक् पृथक् शंसनीयाः । सूत्र्यते हि—पश्वा न तायुम् (ऋ० १ । ६५) इति द्वैपदम् (आश्व० ८ । १२) इति ।'

चरणव्यूहटीकाकारो महिदासोऽप्याह—'हवन एकैका, अध्ययने द्वे द्वे आमनन्ति' [**पृष्ठ १६**] **इति । यज्ञे शंसनं निमित्तं प्राप्य एता द्विपदा भवन्ति, अत एव नैमित्तिका द्विपदा उच्यन्ते,**

---

७० चतुष्पदा ऋचाएं हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में **'द्विपदाः शंसति'** आदि वाक्यों द्वारा ये ऋचाएं द्विपदा बनाकर यज्ञ में विनियुक्त की जाती हैं। अतएव इन ७० × २ = १४० ऋचाओं को 'नैमित्तिक द्विपदा' कहा जाता है। इनके विषय में ऋक्सर्वानुक्रमणी के परिभाषा-प्रकरण में इस प्रकार लिखा है—**'द्विद्विपदास्त्वृचः समामनन्ति ।'**

इस सूत्र की व्याख्या करता हुआ षड्गुरुशिष्य लिखता है—**'ऋचोऽध्ययने०'**—

अर्थात्—ऋचाओं के अध्ययनकाल में अध्येता दो-दो द्विपदाओं को एक-एक ऋचा बनाकर अभ्यास करें। **'समामनन्ति'** कहने से यज्ञान्तर्गत शंसन (स्तुति) काल में दो द्विपदाओं की एक ऋचा नहीं होती है। इसलिये 'पश्वा न तायुम्' (ऋ० १ । ६५) सूक्त शंसनकाल में दश ऋचाओं का माना जाता है, और ये ही दस ऋचाएं अध्ययनकाल में पांच मानी जाती हैं।

सायणाचार्य ने ऋ० १ । ६५ के भाष्य में लिखा है—**तत्र पश्वेत्यादि**—

अर्थात्—'पश्वा'० (ऋ० १ । ६५—७०) इत्यादि छः सूक्त द्वैपद हैं। उनमें अध्ययनकाल में दो-दो द्विपदाओं की एक-एक चतुष्पदा ऋचा बनाकर पढ़ी जाती हैं। जिस सूक्त में विषम संख्यावाली द्विपदाएं हैं, उसमें जो अन्तिम द्विपदा शेष रह जाती है, वह द्विपदारूप में ही पढ़ी जाती है। अर्थ भी प्रायः दो दो द्विपदाओं का एक ही है। प्रयोग अर्थात् यज्ञकाल में उनका पृथक्-पृथक् द्विपदारूप में ही शंसन होता है। आश्वलायन श्रौत (८ । १२) में भी 'पश्वा न' (ऋ० १ । ६५) सूक्त द्विपदारूप से विनियुक्त है।

चरणव्यूह के टीकाकार महिदास ने भी लिखा है—**'हवन एकैका अध्ययने द्वे द्वे आमनन्ति ।'** पृष्ठ १६[1]।

---

१. यह पृष्ठसंख्या चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस के छपे चरणव्यूह के अनुसार है।

न तु स्वभावसिद्धा द्विपदाः । एतेनासां चतुष्पदात्वमेव वास्तविकं स्वरूपमित्युक्तं भवति। अर्थोऽप्यासां चतुष्पदानामेव सगच्छते, न द्विपदानाम् ।

काश्च ता नैमित्तिकाश्चत्वारिंशदुत्तरशतं द्विपदा इति विवक्षायां महिदास आह—

'पश्वा न तायुम् [१।६५।१-१०] दश, रयिर्न [१।६६।१-१०] दश, वनेषु [१।६७।१-१०] दश, श्रीणन् [१।६८।१-१०] दश, शुक्रः शुशुक्वान् [१।६९।१-१०] दश, वनेम पूर्वीः [१।७०।१-१०] दश, अग्ने त्वं नः [५।२४।१-४] चत्वारि, अग्ने भव [७।१७।१-६] षट्, प्र शुक्रैतु [७।३४।१ १०] दश, राजा राष्ट्राणाम् [७।३४।११-२०] दश, क ईं व्यक्ता [८।२६।१-१०] दश, परि प्र धन्व [९।१०९।१-१०] दश, त ते सोतारः [९।१०९।११-२२] द्वादश, इमा नु कम् [१०।१५७।१-८] चत्वारि, आ याहि वनसा [१०।१७२।१-४] चत्वारि, इति नैमित्तिकद्विपदाश्चत्वारिंशोत्तरशतम् (१४०)' [पृष्ठ १८] इति ।

नैमित्तिकेतराः सप्तदश नित्या द्विपदा उपलेखसूत्रे [६ । १-२] परिगण्यन्ते ।

इदमत्रावधेयम्—प्रतिसूक्तमृक्संख्यानिर्देशे कात्यायनेन ऋक्सर्वानुक्रमण्यामिमाः १४० चत्वारिंशदुत्तरशतं नैमित्तिका द्विपदा ऋचो द्विपदात्वेनैव निर्दिष्टाः ।

मैक्समूलरीय ऋक्संस्करणे द्विपदा ऋचः

त्रिंशदुत्तरैकोनविंशतितमे (१९३०) वैक्रमाब्दे (सन् १८७३ ई०) मैक्समूलरेणातिपरिश्रमेण संस्कृत्य ऋग्वेदस्य प्रथमं संस्करणं प्रकाशितम् । विद्यमानास्वपि कतिपयासु महतीषु भ्रान्तिषु तदद्युत्तमं संस्करणमित्यत्र नास्ति विवादावसरः ।

अर्थात्—हवनकाल में एक-एक द्विपदा पढ़ी जाती है, और अध्ययनकाल में दो-दो द्विपदाएं [एक ऋचा मानी जाती है] ।

ऋग्वेद में १४० नैमित्तिक द्विपदाएं कौनसी हैं, उनका संग्रह चरणव्यूह के टीकाकार महिदास ने इस प्रकार दर्शाया है 'पश्वा न तायुम्०' आदि [देखो—संस्कृत भाग] ।

इनके अतिरिक्त १७ नित्य द्विपदाओं का उल्लेख उपलेख सूत्र (वर्ग ६।१-२) में मिलता है ।

इस प्रकार ऋग्वेद में समस्त १७ + १४० = १५७ नित्य नैमित्तिक द्विपदा ऋचाएं हैं। आचार्य कात्यायन ने ऋक्सर्वानुक्रमणी में प्रतिसूक्त जो ऋक्संख्या लिखी है, उसमें इन १४० नैमित्तिक द्विपदाओं को द्विपदा मानकर ही गिना है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।

मैक्समूलर का ऋक्संस्करण और द्विपदा ऋचाएं

मैक्समूलर ने सं० १९३० (सन् १८७३) में ऋग्वेदमूल का प्रथम संस्करण प्रकाशित किया था। यह संस्करण वस्तुतः उसके महान् परिश्रम का फल है, जो किसी भी सम्पादन-कलाभिज्ञ पाठक से छिपा नहीं है। इतना होते हुए भी निःसंकोच कहना पड़ेगा कि मैक्समूलर के ऋक्संस्करण में कुछ भयङ्कर दोष रह गए हैं। उनमें सबसे महान् दोष नैमित्तिक द्विपदा ऋचाओं के मुद्रण में हुआ है, जिसके कारण उत्तरवर्ती अनेक विद्वानों से भयङ्कर भूलें हुई हैं।

तत्र मैक्समूलरेण प्रथममण्डले पञ्चषष्टितमसूक्तादासप्ततितमं षष्टिर्नैमित्तिका द्विपदा ऋचश्चतुष्पदीकृत्य त्रिंशन् मुद्रिताः, प्रतिचतुष्पदमपि च मन्त्रसंख्या निर्दिष्टा। पञ्चमे मण्डले चतुर्विंशतितमस्य सूक्तस्य चतस्रो द्विपदाश्चतुष्पदीकृत्य मन्त्रद्वयं मुद्रितम्। तत्र च प्रथमस्यान्ते १।२ एका द्वे च, द्वितीयस्यान्ते ३।४ तिस्रश्चतस्रश्च संख्या निवेशिताः। शिष्टेषु मण्डलेषु परिशिष्टाः षट्सप्ततिर्नैमित्तिका द्विपदा द्विपदात्वेनैव मुद्रिताः। एवं नैमित्तिकद्विपदानामृचां मुद्रणे मैक्समूलरेण त्रयो विकल्पाः समाश्रिताः। तत्र प्रथमः—आद्यमण्डलान्तर्गताः (सू० ६५–७०) षष्टिर्नैमित्तिका द्विपदाश्चतुष्पदीकृत्य मुद्रिताः, तथैव च तासु त्रिंशत्संख्या निवेशिता। द्वितीयः—पञ्चममण्डलस्य (सूक्त २४) चतस्रो नैमित्तिका द्विपदाश्चतुष्पदीकृत्य मुद्रिताः, संख्या च प्रतिमन्त्रान्ते द्विपदानुसारिण्येव द्वे द्वे (१।२, ३।४) विधृता। तृतीयः—अवशिष्टाः षट्सप्ततिर्नैमित्तिका द्विपदा द्विपदारूपेणैव मुद्रिता इति। इत्थमनुमिनुमो यन्मैक्समूलरेण नैमित्तिकद्विपदानां स्वरूपमेव सम्यङ् नाज्ञायि।

एतदेवोक्तदोषदूषितं मैक्समूलरीयमृक्संस्करणं प्रमाणीकृत्योपयुञ्जाना बहव आधुनिका विद्वांस ऋक्परिगणने विभ्रान्ता इत्यनुपदं वक्ष्यामः।

मैक्समूलर ने अपने मूल ऋग्वेद के संस्करण में म० १, सूक्त ६५–७० तक की ६० नैमित्तिक द्विपदा ऋचाओं को ३० चतुष्पदा ऋचा बनाकर छापा है, और प्रत्येक चतुष्पदा ऋचा पर मन्त्र-संख्या दी है[1]। पञ्चम मण्डल के २४वें सूक्त की ४ चार द्विपदा ऋचाओं को दो-दो चतुष्पदा ऋचा बनाकर छापा है, परन्तु प्रथम के अन्त में १, २ और द्वितीय के अन्त में ३, ४ संख्या छापी है। शेष मण्डलों की अवशिष्ट ७६ नैमित्तिक द्विपदाओं का द्विपदारूप से ही मुद्रण किया है। इस प्रकार मैक्समूलर ने नैमित्तिक द्विपदा ऋचाओं के मुद्रण में तीन प्रकार आश्रित किए हैं। **प्रथम**—पहले मण्डल ६५–७० सूक्त की ६० नैमित्तिक द्विपदाओं को ३० चतुष्पदा बनाकर छापना, और चतुष्पदा के अनुसार मन्त्रसंख्या देना। **द्वितीय**—पञ्चम मण्डल के २४वें सूक्त की ४ नैमित्तिक द्विपदाओं को २ चतुष्पदा बनाकर छापना, और उन पर द्विगुणित (द्विपदा के अनुसार) मन्त्र-संख्या देना। **तृतीय**—शेष मण्डलों की ७६ नैमित्तिक द्विपदाओं को द्विपदारूप में छापना।

सम्पादनकला की दृष्टि से यह दोष अक्षम्य है। इसमें यह भी विदित होता है कि मैक्समूलर को इन १४० नैमित्तिक द्विपदा ऋचाओं का वास्तविक स्वरूप समझ में नहीं आया था।

मैक्समूलर की उपर्युक्त यह भूल यदि उसके संस्करण तक ही सीमित रहती, तो कुछ विशेष हानि नहीं थी। परन्तु उसके संस्करण को प्रामाणिक मानकर उत्तरवर्ती अनेक विद्वानों से भयङ्कर भूलें हुई हैं (जिनका हम इस लेख में यथास्थान निदर्शन करायेंगे)। अतः उसे किसी प्रकार क्षम्य नहीं कहा जा सकता।

---

१. मैक्समूलर सम्पादित ऋग्वेद सायण भाष्य के द्वितीय संस्करण (सन् १८६०) में प्रति चतुष्पदा ऋचा के आगे दुगुनी संख्या (१।२॥ ३।४॥ ५।६॥ इत्यादि) उपलब्ध होती है, जो ठीक है। सायणभाष्य के प्रथम संस्करण में मन्त्रसंख्या किस प्रकार छपी थी, यह हमें ज्ञात नहीं। क्योंकि हमें उसका प्रथम संस्करण देखने को प्राप्त नहीं हुआ।

अनुवाकानुक्रमण्युक्ता ऋक्संख्या:

शौनकेनानुवाकानुक्रमण्यामृक्संख्या द्विरलेखि। तत्र तावत् प्रतिवर्गान्तर्गतऋक्संख्यानुसारं वर्गान् निदर्शयन्नाह—

एकर्च एकवर्गः (१) स्यादेकश्च (१) नवकस्तथा।
द्वौ (२) वर्गौ तु द्व्यृचौ ज्ञेयौ न्यून तृचशत (९७) स्मृतम् ॥४०॥
चतुर्ऋचां शतमेकं च चत्वारः सप्ततिस्तथा (१४७)।
पञ्चर्चानां सहस्रं तु द्वे च सप्तोत्तरे शते (१२०७) ॥४१॥
षळृचाणि शतानि षट्कानां चत्वारिंशत् षट् च (३४६) वर्गाः।
शतमेकोनविंशतिः (११९) सप्तकानां न्यूनाषष्टिर् (५९) अष्टकानाम् ॥४२॥

एषा गणनैव विस्पष्टं प्रतिपत्तव्या—

प्रतिवर्गमृक्संख्या	वर्गसंख्या		समस्तऋक्संख्या
१	१	=	१
२	२	=	४
३	९७	=	२९१
४	१७४	=	६९६
५	१२०७	=	६०३५
६	३४६	=	२०७६
७	११९	=	८३३
८	५९	=	४७२
९	१	=	९
योग:	२००६		१०४१७

एवमाहत्य ऋग्वेदे (२००६) षडधिकद्विसहस्रं वर्गाः, (१०४१७) सप्तदशाधिकचतुःशतोत्तरदशसहस्रमृचो भवन्ति। सैषा ऋक्संख्या शाकलचरणान्तर्गतायाः शैशिरीयसंहिताया बोध्या, 'तान् पारणे शाकले शैशिरीये वदन्ति (३६)' **इत्युपक्रम्योक्तवर्गसंख्यानिर्देशात्। अत्र बाल-**

अनुवाकानुक्रमणी और ऋक्संख्या

शौनक ने अपनी अनुवाकानुक्रमणी में दो स्थानों पर ऋक्संख्या का निर्देश किया है। श्लोक ४०, ४१, ४२ में वर्गसंख्या का निर्देश करता हुआ वह लिखता है—**'एकर्च एकवर्गः०'**। इन श्लोकों का स्पष्टीकरण ऊपर संस्कृत भाग में दर्शाया है।

तदनुसार ऋग्वेद में २००६ वर्ग और १०४१७ ऋचाएं होती हैं। शौनक के मतानुसार यह ऋक्संख्या शाकल चरणान्तर्गत शैशिरीय शाखा की है। वह लिखता है—**'तान् पारणे शाकले शैशिरीये वदन्ति'** (३६)। इस संख्या में बालखिल्य ऋचाएं सम्मिलित नहीं हैं, और नैमित्तिक

खिल्या ऋचो न संकलिताः, न चापि नैमित्तिका द्विपदा द्विपदात्वेन परिगणिताः। वर्तमानायामृक्संहितायामपि बालखिल्या ऋचो विहाय वर्गाः (२००६) षडुत्तरद्विसहस्रमेव, परं मन्त्रसंख्या तु भिद्यते, तत्र मन्त्रा (१०४०२) द्व्यधिकचतुःशतोत्तरदशसहस्रसंमिता एवोपलभ्यन्ते। एतत् पञ्चदशमन्त्राधिक्यं शाखाभेदकृतमित्यनुमिनुमः। न चानुवाकानुक्रमण्यां पञ्चदश मन्त्राधिक्यं दृष्ट्वा संज्ञानसूक्तस्थाः पञ्चदश मन्त्रा अत्र संकलिता इत्यूहनीयम्। तेषाँ संकलने हि तत्सूक्तस्य चत्वारो वर्गा अपि संगृहीताः स्युः। तथा सति वर्गसंख्या षडधिकद्विसहस्रस्थाने दशाधिकद्विसहस्रं भवेत्। अतः क एते पञ्चदश मन्त्राः, कुत्र कुत्र चैते पठिता इति न शक्यते ज्ञातुम्, तथाविधस्य निर्देशस्याभावात्। तदनन्तरं च—

ऋचां दश सहस्राणि ऋचां पञ्च शतानि च। ऋचामशीतिः पादश्च पारणं संप्रकीर्तितम्॥

इत्यनेन श्लोकेन १०५८० अशीत्यधिकपञ्चशतोत्तरदशसहस्रमृचः पादश्चैक इति पारणे ऋक्संख्या दर्शयति।

इयं संख्या पूर्वनिर्दिष्टसंख्यातो नितरां भिद्यते। तत्रैवं समन्वयः—अस्मिन् श्लोके पारण-शब्देन तत्रभवाञ्छौनकाचार्यः शाकलचरणान्तर्वर्तिसर्वशाखागतानामृचां परिमाणं प्रतिपादयति। तथा चोक्तं लौगाक्षिस्मृतौ—

ऋचां दश सहस्राणि ऋचां पञ्च शतानि च। ऋचामशीतिः पादश्च पारायणविधौ खलु॥
पूर्वोक्तसंख्यायाश्चेत्तु सर्वशाखोक्तसूत्रगाः। मन्त्राश्चैव मिलित्वैव कथनं चेति तत्पुनः॥ इति
['वैदिक वाङ्मय का इतिहास' ग्रन्थे उद्धृतौ, भाग १, पृ० १३४]

द्विपदाओं का भी द्विपदारूप में परिगणन नहीं है। वर्तमान ऋग्वेद में बालखिल्य ऋचाओं को छोड़कर वर्गसंख्या २००६ ही है, परन्तु मन्त्र-संख्या १०४०२ है (यह हम आगे दर्शायेंगे)। इस प्रकार इसमें जो १५ ऋचाओं की अधिकता है[1], वह शाखाकृत समझनी चाहिए।

इसके आगे वह पूर्वोद्धृत **'ऋचां दश सहस्राणि'** श्लोक पढ़ता है। तदनुसार ऋग्वेद में १०५८० ऋचाएं और एक पाद है। यद्यपि इन दोनों स्थानों पर कही हुई ऋक्संख्याओं में महती भिन्नता है, तथापि इसका समाधान बहुत साधारण है। 'ऋचां दश सहस्राणि' श्लोक में 'पारणम्' पद विशेष ध्यान देने योग्य है। शौनक ने 'पारणम्' शब्द-द्वारा १०५८० और १ पाद ऋक्परिमाण ऋग्वेद की समस्त शाखान्तर्गत ऋचाओं को दर्शाया है। यह लौगाक्षिस्मृति के निम्नलिखित श्लोकों के साथ तुलना करने पर स्पष्ट विदित हो जाता है। यथा—**'ऋचां दश०'**—

इन श्लोकों में १०५८० और १ पाद ऋक्परिमाण दर्शाकर स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि यह संख्या सर्वशाखोक्त मन्त्रों की है। यद्यपि इन श्लोकों का पाठ अत्यन्त भ्रष्ट है, तथापि उपर्युक्त अभिप्राय सर्वथा स्पष्ट है।

---

१. १५ संख्या का आधिक्य देखकर शैशिरि शाखा में संज्ञान सूक्त के समावेश की कल्पना नहीं करनी चाहिये। क्योंकि संज्ञानसूक्त का समावेश होने पर उसके चार वर्गों का भी वर्गसंख्या में समावेश होगा। वैसा होने पर वर्गसंख्या २००६ न होकर २०१० हो जायगी। अनुवाकानुक्रमणी में वर्गसंख्या २००६ ही लिखी है।

शौनकोक्तमन्त्यमृङ्मान चरणव्यूहपरिशिष्टेऽपि निर्दिश्यते । तथा हि—

ऋचां दश सहस्राणि ऋचां पञ्च शतानि च । ऋचामशीतिः पादश्चैतत् पारायणमुच्यते ॥

[पृष्ठ १४] इति ।

श्लोकमेनं विवृण्वन् महिदासः १०५८० अशीत्यधिकपञ्चशतोत्तरदशसहस्रमृचः पादश्चैक इत्यृङ्मानमित्थमुपपादयाञ्चकार—

'एतत् पारायणं वालखिल्यैर्विना संख्यातम् । बालखिल्यानि पारायणे न सन्ति' [पृ० १७]।

'अथाध्ययने ऋक्संख्योच्यते—षण्णवत्यधिकचतुःशतदशसहस्राणि (१०४९६), ता नैमित्तिकद्विपदाश्चत्वारिंशदुत्तरशतसहिता दशसहस्राणि (षष्ट्यधिकपञ्चशतानि) १०५६६. सञ्ज्ञानमुशना वदत् सूक्तस्य पञ्चदश ऋच एकीकृत्य १०५८० एवं पारायणे ऋक्सख्या। ऋचां दशसहस्राणीति वचनस्य सख्या पूर्णा भवतीत्यर्थः । एका उर्वरिता, सा 'भद्रं नो अपि वातय मनः' [ऋक् १०।२०।१] इति पादाधिक्यम्'' [पृ० २१] इति ।

सन्त्यृग्वेदे कतिपया ऋचो यासु त्रयोऽर्धर्चाः श्रूयन्ते ‡ ताश्च महिदासेन चरणव्यूहटीकायां

चरणव्यूह-परिशिष्ट में लिखा है — **ऋचां दश०'**—

महीदास १०५८० और १ पाद ऋक्सख्या की उपपत्ति इस प्रकार दर्शाता है—**'एतत्०'**—

अर्थात्—अध्ययनकाल की १०५८० और एक पाद सख्य कहते हैं—१०४९६ ऋचाएं हैं, उनमें नैमित्तिक द्विपदा की (अधिक ७०) सख्या जोड़ने पर १०५६६ ऋचाएं होती हैं। सञ्ज्ञान सूक्त की १५ ऋचाएं[1] मिलाने पर १०५८० संख्या पूरी हो जाती है। एक सख्या बचती है, वह है **'भद्रं नो अपि वातय मनः'** (ऋक् १० । २० । १) एक पाद ।

यहां पर महीदास ने १०४०२ ऋचाओं में ९४ संख्या अधिक जोड़ कर १०४९६ संख्या गिनी है। इस ९४ सख्या की उपपत्ति इस प्रकार है—

ऋग्वेद में ९४ ऋचाएं ऐसी है, जिनमें तीन-तीन अर्धर्च हैं।[2] अध्ययनकाल में उनके दो

---

‡द्रष्टव्यैतत्पृष्ठस्था द्वितीया टिप्पणी ।

१. महिदास ने १०५८० और १ पादसंख्या की उपपत्ति में संज्ञान सूक्त की जो १५ ऋचायें गिनी है, वह ठीक नहीं, क्योंकि अनुवाकानुक्रमणी में संज्ञान सूक्त के विना ही १०४१७ मन्त्र कहे है। देखो पूर्व पृष्ठ ७०५ ।

२ महिदास ने उनका परिगणन इस प्रकार दर्शाया है—आसा परिगणनमाह—'अग्निं होतारम (अष्ट० २, अ० १, वर्ग १७, इसी प्रकार आगे भी समझें) पञ्च, 'स हि शर्धो न' (२।१।१३) षड्, 'अय जायत' (२।१।१४) पञ्च, 'विश्वो विहायाः' (२।१।१५) तिस्र., 'य त्व रथम्' (२।१।१६) पञ्च, 'प्र तद् वोचेयम्' (२।१।१७) षट्, 'इन्द्र पाह्यु प नः' (२।१।१८) पञ्च, 'इमा ते वाचम्' (२।१।१९) चत्वारि, 'स नो नव्येभि' (२।१।१९) वर्जम । 'इन्द्राय हि द्यौ.' (२।१।२०) सप्त, 'त्वया वयम्' (२।१।२१) षट्, 'अवर्म ह'(२।१।२२) एका, 'वनोति हि' (२।१।२२) एका, 'आ त्वा जुवो' (२।१।२३) षट्, 'स्तीर्णम्' (२।१।२४) पञ्च, 'इमे वा सोमा' (२।१।२५) एका, 'इमे ये ते सु वायो वा' (२।१।२५) एका, 'प्र सुज्येष्ठम्' (२।१।२६) षट्, 'ऊती देवानाम्' (२।१।२६) वर्जम् । 'गुणमायातम्' (२।२।१) त्रीणि, 'प्र प्र पूष्णः' (२।२।२) चतुष्कम्, अस्तु श्रौषट्'

(पृष्ठ १९,२०) चतुर्नवतिः परिगणिताः। तासामध्ययने द्वयोरर्धर्चयोरेकामृचं कृत्वा परिशिष्टमेकमर्धर्चं चैकामृचं मत्वा परिगणनं क्रियते। तथा सति चतुर्नवतिऋचामष्टाशीत्युत्तरं शतमृचः संपद्यन्ते। तदैवमृचां योगः—१०४०२ द्व्यधिकचतुःशतोत्तरदशसहस्रमृचो बालखिल्यरहिताः ९४ चतुर्नवतिसंख्या च अर्धर्चानामृग्द्वयकल्पनयोत्पन्ना, नैमित्तिकद्विपदानां द्विपदारूपेण परिगणनाद् विवृद्धा ७० सप्ततिसंख्या, संज्ञानसूक्तं च पञ्चदशर्चम्। एवं १०५८१ एकाशीत्यधिकपञ्चशतोत्तरदशसहस्रमृचः संजाताः। तत्र—'भद्रं नो अपि वातय मनः' [ऋ० १०। २०। १] इत्येकपदा ऋक्।

महिदासोक्तोपपत्तौ स्तो द्वे भ्रान्ती। तत्र प्रथमा—महिदासेनात्र—'अध्ययने ऋक्संख्योच्यते' इत्युक्त्वापि नैमित्तिका त्रिपदा द्विपदात्वेन परिगणिताः। न च ता अध्ययने द्विपदात्वेन गण्यन्ते, किन्तर्हि चतुष्पदात्वेनेत्युक्तं पुरस्तात्। सिद्धान्तितं च तेन स्वयमेवान्यत्र—'हवन एकैका, अध्ययने द्वे द्वे' इति, 'तास्त्वृचोऽध्ययने चतुष्पदा कृत्वेत्यर्थः' [पृष्ठ १९] इति च। द्वितीया च—अनुवाकानुक्रमण्यां शौनकेन या १०४१७ सप्तदशाधिकचतुःशतोत्तरदशसहस्रमृचः पारायणे परिगणितास्तासु संज्ञानसूक्तस्थपञ्चदशर्चां सन्निवेशो नास्तीत्युक्तं पुरस्तात्। अतोऽत्र संज्ञानसूक्तगतानामृचां संकलनमपि चिन्त्यम्।

छन्दःसंख्यापरिशिष्टोक्ता ऋग्गणना

अस्ति कस्याश्चिदृक्शाखायाः एकादशश्लोकात्मकं छन्दःसंख्यासंज्ञकं परिशिष्टम्। तत्र चेमे श्लोकाः—

एकपञ्चाशद् ऋग्वेदे गायत्र्यः शाकलेयके। सहस्रं द्वितयं चैव चत्वार्येव शतानि तु ॥ १ ॥
त्रीणि शतानि सैकानि चत्वारिंशत्तथोष्णिहः। अनुष्टुभां शतान्यष्टौ पञ्चाशत् पञ्चसंयुताः ॥२॥
बृहतीनां शतं ज्ञेयमेकाशीत्यधिकं बुधैः। शतानि त्रीणि पङ्क्तीनां द्वादशाभ्यधिकानि तु ॥ ३ ॥

अर्धर्च की एक ऋचा और एक अर्धर्च की एक ऋचा गिनी जाती है। इस प्रकार ९४ ऋक्संख्या की वृद्धि हो जाती है।

महिदास की इस गणना में दो भूलें हैं। **प्रथम**—महिदास ने 'अध्ययन में ऋक्संख्या कहते हैं' ऐसा लिखकर भी उसमें नैमित्तिक द्विपदाओं की गणना कर ली। उसने स्वयं अध्ययनकाल में चतुष्पदा माना है। **दूसरी**—शौनक ने अनुवाकानुक्रमणी में जो १०४१७ ऋचाएं परायण में गिनी हैं, उनमें संज्ञान सूक्तस्थ १५ ऋचाओं का सन्निवेश नहीं है, यह पहले दर्शा चुके हैं।

छन्दःसंख्या-परिशिष्ट और ऋग्गणना

ऋग्वेद की किसी शाखा का छन्दःसंख्यासंज्ञक एक प्राचीन परिशिष्ट उपलब्ध होता है।

(२।२।३) चत्वारि, 'शुचिभिर्नः' (२।२।३) वर्जम्। 'वृषन्निन्दु' (२।२।४) पञ्च, 'ये देवासो' (२।२।४) वर्जम्। 'तवत्यन्नर्यम्' (२।६।२८) एका, 'सखे सखायम्' (३।४।१२) एका, 'अया रुचा' (७।१।२३) त्रीणि, एतास्त्रीणि त्रीण्यर्धर्चा ऋचा हवनीयाश्चतुर्नवतिसंख्या। इति त्रीण्यर्धर्च ऋग्घवने। अध्ययने अर्धर्च द्वयेन ऋगेका, अर्धर्चेनैकैव ऋग्द्वये कर्तव्य इत्यर्थः। चरणव्यूह पृष्ठ १९, २०।

पञ्चाशत् त्रिष्टुभः प्रोक्तास्तिस्रश्चैव ततोऽधिकाः । सहस्राण्येव चत्वारि विज्ञेय तु शतद्वयम् ॥ ४ ॥
चत्वारिंशत्तथाष्टौ च तथा चापि शतत्रयम् । जगतीनामियं संख्या सहस्रं तु प्रकीर्तितम् ॥ ५ ॥
दशैवातिजगत्योऽपि तथा सप्त न संशयः । शक्वर्योऽपि तथैवोक्तास्तथा नव विचक्षणैः ॥ ६ ॥
नव चैवातिशक्वर्यः षडष्ट्यः प्रकीर्तिताः । अशीतिश्च चतस्रश्च तथात्यष्टिऋचः स्मृताः ॥ ७ ॥
धृतिद्वयं विनिर्दिष्टमेकातिधृतिरेव च । एकपदास्तु षट् प्रोक्ता द्विपदा दश सप्त च ॥ ८ ॥
प्रगाथा बार्हता येऽत्र तेषां शतमुदाहृतम् । चतुर्नवतिरेवोक्तास्तद्वद् [1]द्वृचास्त्वसंशयाः ॥ ९ ॥
काकुभानां तु पञ्चाशद् विज्ञेयाः पञ्चसंयुताः । महाबार्हत एवैकः एवं सार्धशतद्वयम् ॥१०॥
एवं दशसहस्राणि शतानां तु चतुष्टयम् । ऋचां द्व्यधिकमाख्यातमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥११॥ इति

एवमन्त्यं विहाय दशसु श्लोकेषु गायत्र्यादिच्छन्दोऽनुसारं या ऋक्संख्या परिगणिता, तदनुसारम्—

गायत्र्यः—२४५१ एकपञ्चाशदधिकचतुःशतोत्तरद्विसहस्रम् । उष्णिहः—३४१ एकचत्वारिंशदधिकं त्रिशतम् । अनुष्टुभः ८५५ पञ्चपञ्चाशदधिकाष्टशतम् । बृहत्यः—१८१ एकाशीत्यधिकैकशतम् । पङ्क्तयः- ३१२ त्रीणि शतानि द्वादश च । त्रिष्टुभः—४२५३ चत्वारि सहस्राणि द्वे शते त्रिपञ्चाशच्च । जगत्यः—१३४८ अष्टचत्वारिंशदधिकत्रिशतोत्तरैकसहस्रम् । अतिजगत्यः—१७ सप्तदश । शक्वर्यः- १९ एकोनविंशतिः । अतिशक्वर्यः—९ नव । अष्टयः—६ षट् । अत्यष्टयः- ८४ चतुरशीतिः । धृती—२ द्वे । अतिधृतिर्—१ एका । एकपदाः—६ षट् । द्विपदाः—१७ सप्तदश । बार्हताः प्रगाथाः—१९४ चतुर्नवत्यधिकशतम् । काकुभाः प्रगाथाः—५५ पञ्चपञ्चाशत् । महाबार्हतः प्रगाथः १ एकः ।

एषु २५० सार्धद्विशतप्रगाथा द्वृचास्तेषां ५०० पञ्चशतमृचः । तत्संकलय्यैकादशे श्लोके १०४०२ द्व्यधिकचतुःशतोत्तरदशसहस्रमृचः शाकलेयक ऋग्वेदे परिसंख्याताः ।

इसमें केवल ११ श्लोक हैं। प्रारम्भ के दस श्लोकों में गायत्र्यादि पृथक्-पृथक् छन्दों के अनुसार ऋक्संख्या का उल्लेख किया है। तत्पश्चात् अन्तिम श्लोक में सामूहिक रूप से ऋक्संख्या का निर्देश है। वे श्लोक इस प्रकार हैं 'एकपञ्चाशद्०' -

इन श्लोकों के अनुसार ऋग्वेद में **गायत्री** २४५१, **उष्णिक्** ३४१, **अनुष्टुभ्** ८५५, **बृहती** १८१, **पंक्ति** ३१२, **त्रिष्टुप्** ४२५३, **जगती** १३४८, **अतिजगती** १७, **शक्वरी** १९, **अतिशक्वरी** ९, **अष्टि** ६, **अत्यष्टि** ८४, **धृति** २, **अतिधृति** १, **एकपदा** ६, **द्विपदा** १७, **बार्हतप्रगाथ** १९४, **काकुभ प्रगाथ** ५५, **महाबार्हत प्रगाथ** १ छन्द हैं। इस प्रकार तत्त्वदर्शी महर्षियों ने ऋग्वेद की समस्त ऋचाओं की संख्या १०४०२ कही है।

---

१. द्वृचशब्दे पाणिनीयव्याकरणेन साक्षादप्रतिपादितोऽपीकारलोपः पृषोदरादित्वाद् द्रष्टव्यः । तस्य च विकल्पाद् द्वृचशब्दोऽप्युपपन्नः । तेन स्वं सामर्थ्योनिष्पन्नेऽपि तृच इत्येव भवति ।

एतदृक्संख्यापरिसंख्यानविषये पण्डितसत्यव्रतसामश्रमिणा **स्वीय ऐतरेयालोचन एवमलेखि**—

'छन्दःसंख्योल्लिखितोक्तसर्वसकलनसंख्या तु प्रतिच्छन्दःसंख्यातोऽपि विरुद्धैव प्रतीयते। तद्यथा तत्रोक्तं श्लोकैः—गायत्र्यः २४५१, उष्णिहः ३४१, अनुष्टुभः ८५५, बृहत्यः १८१, पङ्क्तयः ३१२, त्रिष्टुभः ४२५३, जगत्यः १३४८, अतिजगत्यः १७, शक्वर्यः ६, अतिशक्वर्यः ६, अष्टयः ६, अत्यष्टयः ८४, धृत्यौ २, अतिधृतिः १, द्विपदाः १७, एकपदाः ६, बार्हतप्रगाथाः १९४, ककुप्प्रगाथाः ५५, महाबार्हउतप्रगाथः १। तदेवं तदुक्तप्रतिच्छन्दःसंख्यानां संकलनया १०१४२ (द्विचत्वारिंशदधिकशतोतरदशसहस्रम्) ऋचः स्युः। पूर्वप्रदर्शितश्लोकतस्तु गम्यन्ते १०४०२ (द्व्यधिकचतुःशतोत्तरदशसहस्रम्)। तदत्र प्रायः सर्वत्र संकलनभ्रमोऽस्माभिर्ग्रन्थदृष्ट्या प्रमाणित एव' [पृ० १४३] इति।

अत्र महापण्डितस्यापि सामश्रमिमहाभागस्य द्विविधो भ्रमोऽभूत्। प्रथमः—**षष्ठश्लोकस्योत्तरार्धे 'तथा' पद द्विरुक्तम्। तत्राद्यं पूर्वार्धगताया अतिजगतीगणनाया निर्देशकम्, अपरं प्रागुक्ताया दशसंख्यायाः समुच्चायकम्। तत्रातिजगतीवच्छक्वरीछन्दांस्यपि गणनीयानीत्यभिप्रेयते। सामश्रमिमहोदयेन पुनस्तदपरिज्ञायैकोनविंशतिस्थाने नवैव शक्वर्यः परिगणिताः।** द्वितीयश्च—**नवमे श्लोके विस्पष्टं प्रगाथाः द्वृचा उक्ताः। अतस्तेषां २५० सार्धद्विशतप्रगाथानां पञ्चशतमृचः संपद्यन्ते। ऋक्सर्वानुक्रमण्याः परिभाषाप्रकरणेऽपि—'बृहतीसतोबृहत्यौ बार्हतः, ककुप् चेत् पूर्वा काकुभः, महाबृहतीमहासतोबृहत्यौ महाबार्हतः' इत्यादिसूत्रैर्व्यक्तं द्वृचानां प्रगाथत्वमुच्यते।**

छन्दःसंख्या-परिशिष्ट मे उल्लिखित ऋग्गणना के विषय में पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने ऐतरेयालोचन पृष्ठ १४३ पर लिखा है—**'छन्दःसंख्यो०'**—

अर्थात्—छन्दःसख्या नाम के परिशिष्ट में कही हुई सब छन्दों की संकलन-संख्या (पूर्णयोग) प्रतिच्छन्द दर्शाई हुई छन्दःसख्या के सकलन (योग) से विरुद्ध ही प्रतीत होती है। जैसा कि श्लोकों में कहा है—गायत्री २४५१ · शक्वरी ९ ··। इस प्रकार प्रतिच्छन्द-निर्दिष्ट संख्याओं का संकलन करने से १०१४२ ऋचाएं होती हैं। पूर्वप्रदर्शित (११वें) श्लोक से १०४०२ संख्या जानी जाती है। इस तरह सर्वत्र सकलन-भ्रम हमने ग्रन्थों से प्रमाणित कर दिया।

पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने इन श्लोकों के समझने में दो भूलें की हैं। **प्रथम** भूल—छठे श्लोक के उत्तरार्द्ध में दो बार **'तथा'** शब्द का प्रयोग है। पहला 'तथा' शब्द पूर्वार्धगत अतिजगती की गणनाप्रकार का निर्देशक है। दूसरा 'तथा' शब्द पूर्वोक्त १० संख्या का समुच्चायक है। श्लोक का भाव यह है—जैसे अतिजगती की सख्या १०+७=१७ कही है, वैसे ही शक्वरी की गणना में भी पूर्वसंख्या १० और उत्तरसख्या ९ समझनी चाहिए, अर्थात् शक्वरी छन्द की १०+९=१९ ऋचाएं हैं। पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने **'शक्वर्योऽपि तथैवोक्ताः'** चरण का भाव न समझ कर शक्वरी छन्द की केवल ९ ऋचाएं गिनी हैं। **द्वितीय भूल**—प्रगाथों की संख्या का निर्देश करते हुए ९ वें श्लोक में स्पष्ट कहा है कि ये प्रगाथ='द्वृच' हैं। अतः इन १९४+५५+१=२५० प्रगाथों की ५०० ऋचाएं गिननी चाहिए। ऋक्सर्वानुक्रमणी के परिभाषा प्रकरण में स्पष्ट कहा है कि बार्हत प्रगाथ=बृहती और सतोबृहती, काकुभ प्रगाथ=ककुप् और सतोबृहती, तथा महाबार्हतप्रगाथ=महाबृहती और महासतोबृहतीसंज्ञक छन्दों के योग का नाम

भगवता पाणिनिनाऽपि—'सोऽस्यादिरिति च्छन्दसः प्रगाथेषु' (अ० ४ । २ । ५५) इति सूत्रयता प्रगाथानामनेकर्चत्वं प्रत्यपादि । तदविज्ञायैव सामश्रमिणा सार्धद्विशतप्रगाथानां सार्धद्विशतर्च एव परिगणिताः ।

पण्डितहरिप्रसादोऽपरनामा वैदिकमुनिरपि स्वीये वैदिकसर्वस्वग्रन्थे इत्थमेवाविचार्य सामश्रमिणमनुससार ।

छन्दःसंख्यापरिशिष्टोक्तगणनायां चत्वारिंशदुत्तरशतं नैमित्तिका द्विपदा ऋचश्चतुष्पदीकृत्य सप्तसप्ततिर्मताः । यास्त्वत्र सप्तदश द्विपदाः स्मर्यन्ते, ता नित्या द्विपदाः । इत्थं द्विपदापक्षे सप्तत्यृचो द्विगुणीकृत्यः परिगणने १०४७२ द्विसप्तत्यधिकचतुःशतोत्तरदशसहस्रमृचो भवन्ति । अत्र बालखिल्यानामशीतिऋचां सन्निवेशो न विद्यते । कदाचिच्छन्दःसंख्यापरिशिष्टं शाकलचरणान्तर्गतायास्तादृशशाखायाः स्याद्, यस्यां बालखिल्या ऋचो न स्युः । शैशिरीयशाखायास्तु नेदं संभवतीति विस्पष्टमेव, यतोऽनुवाकानुक्रमण्यनुसारं तत्र पञ्चदशर्चाऽधिकाः (१०४१७) विद्यन्ते ।

प्राध्यापकमैकडानलडेन १२७ द्विपदा परिगणिताः । ते छन्दःसंख्यापरिशिष्टोक्तानां द्विपदां १७ संख्यां दृष्ट्वा (या नित्यद्विपदानां वर्तते) कल्पितं यदत्र १७ संख्यायां मध्यवर्ती २ द्वयङ्को नष्टः ।

है। पाणिनि के 'सोऽस्यादिरितिच्छन्दसः प्रगाथेषु' (अष्टा० ४।२।५५) सूत्र से बार्हत काकुभ आदि में अण्-प्रत्यय इसी अर्थ में होता है । पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने इस साधारण सी बात को न समझ कर २५० प्रगाथों की २५० ऋचायें ही गिन ली । दोष है अपनी समझ का, और मत्थे मढा छन्दःसंख्या-परिशिष्टकार के । यदि प० सत्यव्रत सामश्रमी की इन दोनों त्रुटियों को ठीक कर लिया जाए, तो छन्दःसंख्या-परिशिष्ट की दोना गणनाओं में परस्पर कोई विरोध नहीं रहता ।

प० हरिप्रसाद जी वैदिकमुनि ने भी छन्दःसंख्या-परिशिष्टोक्त ऋग्गणना को नहीं समझा । उन्होंने प० सत्यव्रत सामश्रमी का ही अनुकरण किया है । देखो—'वेदसर्वस्य' पृष्ठ ६५, ६६ । अतः उनके लेख में भी पूर्वोक्त दोष समझने चाहियें ।

छन्दःसंख्यापरिशिष्ट और द्विपदा ऋचाएं

ध्यान रहे कि छन्दःसंख्या-परिशिष्टोक्त १०४०२ ऋचाओं में १४० नैमित्तिक द्विपदाएं चतुष्पदा बनाकर ७० ऋचाए गिनी गई हैं । अत एव यहां जो १७ द्विपदाएं गिनी है, वे नित्य द्विपदाएं है । यदि ७० चतुष्पदाओं को ७०×२=१४० द्विपदा बनाकर गिना जाए, तो कुल ऋक्संख्या १०४७२ होगी । इसी प्रकार छन्दःसंख्या-परिशिष्टोक्त ऋग्गणना में ८० बालखिल्य मन्त्रों का भी समावेश नहीं है । सम्भव है, छन्दःसंख्या-परिशिष्ट शैशिरिशाखा का हो । हम पूर्व लिख चुके है कि शैशिरिशाखा में बालखिल्य ऋचाएं सम्मिलित नही है ।

प्रो० मैकनलड ने ऋग्वेद में १२७ द्विपदा ऋचाएं गिनी हैं (उनकी गणना में जो भूल है, उसे आगे व्यक्त किया जाएगा) । उन्होंने छन्दःसंख्या परिशिष्ट में द्विपदाओं की १७ संख्या देखकर कल्पना की है कि छन्दःसंख्या-परिशिष्टोक्त द्विपदा संख्या में मध्यवर्ती २ की संख्या नष्ट हो गई है । अर्थात् १२७ के स्थान में भूल से १७ लिखी गई । देखो—ऋक्सर्वानुक्रमणी की भूमिका पृष्ठ १८ ।

ऋक्सर्वानुक्रमण्ययुक्ता ऋक्संख्या

अस्ति कात्यायनीयर्क्सर्वानुक्रमण्या द्विविधः पाठः। एकत्र बालखिल्यसूक्तानामृषिदैवतच्छन्दसां निर्देशो नोपलभ्यतेऽपरत्र च दृश्यते। तत्र सर्वानुक्रमणीव्याख्याता षड्गुरुशिष्यः प्रथमं पाठमनुससार, पण्डितजगन्नाथस्तु द्वितीयम्। तत्र प्रथमपाठानुसारं बालखिल्यऋचो विहाय कात्यायनोक्तानां प्रतिसूक्तर्क्संख्यानां संकलने (१०४७२) द्विसप्तधिकचतुःशतोत्तरदशसहस्रमृचो भवन्ति। द्वितीयपाठानुसारं बालखिल्यानामृचां परिगणने (१०५५२) द्विपञ्चाशदधिकपञ्चशतोत्तरदशसहस्रमृचः सम्पद्यन्ते। अयमेव च सर्वानुक्रमणीटीकाकृतो जगन्नाथस्य पक्षः। अत्रोभयथा पाठेऽपि नैमित्तिका द्विपदा द्विपदारूपेण परिगणिताः। चरणव्यूहव्याख्याता महिदासोऽप्याह—

'बालखिल्यसहिता सर्वानुक्रमणीयमन्त्ररूपी संख्या उच्यते द्विपञ्चाशदधिकपञ्चशतदशसहस्रम् १०५५२। बालखिल्यव्यतिरिक्तसंख्या तु द्विसप्तत्यधिकचतुःशतदशसहस्रमृक् १०४७२। एतत्संख्या नित्यद्विपदानैमित्तिकद्विपदासहिता [पृ० १७]' इति।

प्रो० मैकडानल्ड की यह कल्पना सर्वथा अयुक्त है। क्योंकि हम ऊपर सप्रमाण दर्शा चुके हैं कि ऋग्वेद में १४० नैमित्तक द्विपदाए हैं, और १७ नित्य द्विपदाएं हैं। छन्दःसंख्या-परिशिष्ट में केवल नित्य द्विपदाओं का उल्लेख है, नैमित्तिक द्विपदाओं का उल्लेख नहीं है। मैकडानल्ड ने स्वयं अशुद्ध गिनी हुई १२७ द्विपदा संख्या में छन्दःसंख्या-परिशिष्टोक्त १७ द्विपदा संख्या में आद्यन्त संख्या (१ और ७) की समानता देखकर आश्चर्यजनक कल्पना की हैं।

ऋक्सर्वानुक्रमणी और ऋक्संख्या

आचार्य कात्यायन ने ऋक्सर्वानुक्रमणी में प्रतिसूक्त जो ऋक्संख्या लिखी है, उसका योग करने पर बालखिल्य सूक्तों के विना १०४७२ ऋचाए होती हैं‡। ११ बालखिल्य सूक्तों के ८० मन्त्र मिलाने पर १०५५२ ऋक्संख्या उपलब्ध होती है। इस संख्या में नैमित्तिक द्विपदाएं सम्मिलित हैं। ऋक्सर्वानुक्रमणी के टीकाकार जगन्नाथ के मत में भी ऋग्वेद में १०५५२ ऋचाएं हैं‡। चरणव्यूह के टीकाकार महिदास का भी यही निर्णय है। वह लिखता है—**'बालखिल्यसहिता०'**

अर्थात्—बालखिल्य-सहित सर्वानुक्रमणी-निर्दिष्ट मन्त्रसंख्या १०५५२ है, बालखिल्य ऋचाओं के विना १०४७२। इस संख्या में नित्य और नैमित्तक दोनों प्रकार की द्विपदा ऋचायें सम्मिलित हैं।

---

‡ ऋक्सर्वानुक्रमणी के दो प्रकार के पाठ उपलब्ध होते हैं। एक पाठ में बालखिल्य ऋचाओं के ऋषि, देवता, छन्द का निर्देश मिलता है, दूसरे पाठ में नहीं मिलता। अत एव यहां पृथक् निर्देश किया है।

‡ ऐतरेयालोचन पृष्ठ १४२, १४३।

वेङ्कटमाधवीया ऋग्गणना

वैक्रमाब्दस्य द्वादशशताब्द्यां लब्धजनिमा वेङ्कटमाधव ऋग्वेदस्य लघुभाष्यस्य[1] पञ्चमाष्टकस्य पञ्चमाध्यायस्योपोद्घात ऋग्वेदीयर्चां सख्यामित्थ निर्दिदेश—

शतैश्चतुर्भिरधिकमयुतं गणितं मया । द्वे च यान्यतिरिच्येते द्विपदाश्चात्र संगताः ॥२१॥

पृथग् यदा तु गणनं द्विपदानां तदाधिकाः । चतुःशतादशीतिश्च वाक्यं च ग्रहवानयम् ॥२२॥

अर्थात् ऋग्वेदे १०४०२ द्व्यधिकचतुःशतोत्तरदशसहस्रमृचः सन्ति । यदा तु द्विपदाः पृथग्गण्यन्ते तदा १०४८० अशीत्यधिकचतुःशतोत्तरदशसहस्रमृचो भवन्ति ।

अत्र द्विपदापक्ष ऋचः परिगणयन् बभ्राम माधवः । तथा हि—द्व्यधिकचतुःशतोत्तरदशसहस्रासु (१०४०२) ऋक्षु केवल चत्वारिंशदुत्तरशतं नैमित्तिका द्विपदा ऋच एव चतुष्पदीकृत्य सप्ततिः परिगणिताः, अतो द्विपदापक्षे शिष्टा सप्ततिसंख्यैव परिवर्धनीया । वेङ्कटमाधवेन त्वष्टसप्ततिसख्या वर्धिता । अतो मन्यामहे तेन द्व्यधिकचतुःशतोत्तरदशसहस्रासु (१०४०२) नित्यनैमित्तिकानां १५७ द्विपदानामेकां विहाय षट्पञ्चाशदधिकशतर्चां चतुष्पदीकृता अष्टसप्ततिसंख्या परिगणितेति

वेङ्कटमाधव की ऋक्संख्या

वेङ्कटमाधव ने ऋग्वेद के दो भाष्य लिखे हैं । एक लघु और दूसरा बृहत्[2] । वेङ्कटमाधव का काल विक्रम की १२वी शताब्दी के लगभग माना जाता है । वेङ्कट ने ऋग्वेद के लघु भाष्य के ५वें अष्टक के ५वे अध्याय के उपोद्घात में ऋग्वेद की ऋक्संख्या का उल्लेख इस प्रकार किया है—'**शतैश्चतुर्भिः०**'

अर्थात्—मैंने ऋग्वेद में १०४०२ ऋचाएं गिनी हैं। इनमें द्विपदाएं सम्मिलित हैं। जब द्विपदाएं पृथक् गिनी जाती हैं तब १०४८० ऋचाएं होती हैं।

वेङ्कटमाधव ने १४० नैमित्तिक द्विपदाओं को ७० चतुष्पदा मानकर जो १०४०२ ऋक्सख्या लिखी है, वह ठीक हैं, परन्तु द्विपदाओं को पृथक् गिनकर जो १०४८० ऋक्संख्या लिखी है, वह ठीक नही, क्योंकि जब द्विपदाएं पृथक् गिनी जायेंगी तब नैमित्तिक द्विपदाओं की केवल ७० संख्या

---

१. वेङ्कटमाधवेनर्ग्वेदस्य द्वे भाष्ये विरचिते । प्रथमं लघु, अपरं बृहत् । लघुभाष्यस्य डाक्टरलक्ष्मणस्वरूपेण सम्पादितस्य त्रयो भागाः प्रकाशिताः । बृहद्भाष्यस्याडियारनगराद् द्वयोः खण्डयोः प्रथमाष्टकं प्रकाशितम् । इदं बृहद्भाष्यमतिपाण्डित्यपूर्णम् । लघुभाष्यस्य प्रत्यध्यायमादौ ये विषयाः संक्षेपत उपन्यस्तास्तेऽस्मिन भाष्ये विस्तरशो व्यवहृताः । अस्य बृहद्भाष्यस्यैक एव त्रुटिबहुलो हस्तलेख उपलब्धः । बृहद्भाष्यस्य रचयिता अपरो माधव इति तत्संपादकः प्रतिजानीते, परं तन्मिथ्या । निघण्टुटीकाकारेण वेङ्कटमाधवनाम्नोद्धृतानां पाठानामत्र दर्शनात्, लघुभाष्यस्योद्धरणे 'प्रथमभाष्यम्' इति विशेषणस्य निदर्शनाच्च । (द्र०—नि० भाष्य १।१४।१८) । अत्र विस्तरशो विचारः श्रीपण्डितभगवद्दत्तविरचिते 'वैदिकवाङ्मय का इतिहास' ग्रन्थस्य प्रथमभागस्य द्वितीयखण्डे (पृ० ३५-३७) द्रष्टव्यः ।

२. देखो श्री पं० भगवद्दत्तजी कृत वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १, खण्ड २, पृ० ३६ ।

मतं स्यात् । सप्तपञ्चाशदुत्तरशतर्क्षु द्विपदासु सप्तदश नित्या द्विपदास्ता ह्युभयथाऽपि परिगणने न भिद्यन्ते, अवशिष्टाश्चत्वारिंशदुत्तरशतं द्विपदा एव द्विपदापक्षे चतुष्पदापक्षे च संख्याभेदं जनयन्ति । अतो द्विपदापक्षे सप्ततिसंख्यैव परिवर्धनीया, नाष्टसप्ततिरिति दिक् ।

एतदनन्तरमृग्वेदस्य वर्गसंख्यां निदर्शयन्नेवमृक्संख्यामाह—

एकर्चं एको वर्गः स्याद् द्वृचौ द्वौ नवकावुभौ । एकोनं स्यात् त्रिकशतं चतुष्कं पञ्चसप्ततिः ॥२३॥
अधिकं च शतं वर्गाश्चतुःपञ्चाशदष्टकाः । एकविंशशतं प्राहुः सप्तकानां च वैदिकाः ॥२४॥
शतानि त्रीणि षट्कानां चत्वारिंशत् त्रयस्तथा । पञ्चकानां सहस्रं च द्वे शते नवकं तथा ॥२५॥

एषा वर्गसंख्या तदनुसारिणी चर्क्संख्येत्थमवगन्तव्या—

प्रतिवर्गमृक्संख्या		वर्गसंख्या		ऋक्संख्या
१	×	१	=	१
२	×	२	=	४
३	×	९९	=	२९७
४	×	१७५	=	७००
५	×	१२०९	=	६०४५
६	×	३४३	=	२०५८
७	×	१२१	=	८४७
८	×	५४	=	४३२
९	×	२	=	१८
योगः		२००६		१०४०२

बढ़ेगी, जो कि पहली गणना में चतुष्पदा बनाकर गिनी गई है। अतः १४० द्विपदाओं की आधी संख्या ७० ही बढ़ानी चाहिए। इसलिए वेङ्कटमाधव का ७८ संख्या बढ़ाकर १०४८० संख्या लिखना भूल है।

वेङ्कट माधव की भूल का कारण

हम ऊपर कह आए हैं कि ऋग्वेद में १४० नैमित्तिक और १७ नित्य द्विपदाएं हैं, अर्थात् समस्त द्विपदाएं १५७ हैं। गणना-भेद से केवल नैमित्तिक द्विपदाजन्य संख्या बढ़ेगी, नित्य द्विपदाओं की संख्या तो दोनों गणनाओं में समान रहेगी। प्रतीत होता है कि वेङ्कटमाधव ने १०४०२ ऋक्-संख्या में भूल से समस्त (नित्यनैमित्तिक) १५७ द्विपदाओं में से १५६ समसंख्याक ऋचाओं की (१५६÷२=) ७८ चतुष्पदा ऋचाएं सम्मिलित समझ लीं। अतएव जब उसने द्विपदाओं को पृथक् गिना, तब पूर्वोक्त १४०÷२=७० के स्थान में ७८ संख्या को द्विगुणित कर दिया। यह वेङ्कटमाधव की महती भूल है।

इसके आगे २३, २४, २५ श्लोकों में वेङ्कटमाधव वर्गानुसार ऋक्संख्या का उल्लेख करता है, जो इस प्रकार है—(ऊपर गणना देखें)

एवमृग्वेदे षडधिकद्विसहस्रं वर्गाः, द्व्यधिकचतुःशतोत्तरदशसहस्रमृचश्च परिसंख्याताः ।

तदनन्तरमनुवाकानुक्रमण्युक्तर्ग्गणनां दूषयन्नाह—

ऋचां दशसहस्राणि ऋचां पञ्चशतानि च । ऋचामशीतिः पादश्च पाठोऽयं न समञ्जसः ।।

एतेन प्रतीयते माधवोऽनुवाकानुक्रमण्युक्तपरिगणनाप्रकारं नावबुबुधे, अन्यथा तद्गणनां नादूदुषत् ।

महिदासीया ऋग्गणना

महिदासेन स्वीये चरणव्यूहव्याख्याने ऋक्संख्या विस्तरशो न्यरूपि । तत्र तेन द्विपदापक्षे बालखिल्यसहिता १०५५२ द्वापञ्चाशदधिकपञ्चशतोत्तरदशसहस्रमृचः, बालखिल्यैर्विना १०४७२ द्वासप्तत्यधिकचतुःशतोत्तरदशसहस्रमृचः, द्विपदापक्षाभावे च बालखिल्यरहिता १०४०२ द्व्यधिकचतुःशतोत्तरदशसहस्रमृचः परिगणिता इत्युक्तं पुरस्तात । एतस्मिन्नेव प्रकरणे (पृ० २४,२५) प्रतिवर्गर्क्संख्यानुसारेण वर्गसंख्याप्रतिपादकान् कांश्चिच्छ्लोकानुदाजहार । तथा हि—

एकर्चं एकवर्गश्च एकर्चं नवकस्तथा । द्वौ वर्गौ तु द्व्यृचौ ज्ञेयौ ऋक्त्रयस्य शतं स्मृतम् ।।

चतुर्ऋचां पञ्च सप्तत्यधिकं च शतं तथा । पञ्चर्चं तु द्विशतकं सहस्रं रुद्रसंयुतम् ।।

तदनुसार ऋग्वेद में २००६ वग और १०४०२ ऋचाएं होती हैं । वर्गसंख्या तो शौनकीय अनुवाकानुक्रमणी से मिलती है, परन्तु मन्त्रसंख्यानुसार निर्दिष्ट वर्गसंख्या में पर्याप्त भेद है । हां, वेङ्कटमाधव को दोनों (प्रतिवर्गगणना और समस्त गणना की) ऋक्संख्याए परस्पर अवश्य मिलती हैं ।

वह आगे लिखता है—'**ऋचां दश०**'—

अर्थात्—अनुवाकानुक्रमणी आदि में ऋग्वेद को जो १०५८० और १ पाद ऋग्गणना लिखी है, वह ठीक नहीं है ।

वेङ्कटमाधव ने केवल स्वसंख्यात ऋक्संख्या के आधार पर अनुवाकानुक्रमणी आदि निर्दिष्ट '१०५८० और १ पाद' ऋक्संख्या को अशुद्ध बताया है । प्रतीत होता है, उसने उसके 'पारणम्' पद पर किञ्चिन्मात्र ध्यान नहीं दिया, अन्यथा वह इस संख्या को अशुद्ध कहने का साहस न करता ।

महिदास की ऋक्संख्या

चरणव्यूह के टीकाकार महिदास ने ऋग्वेद की ऋग्गणना के विषय में कुछ विस्तार से लिखा है । यद्यपि इस ग्रन्थ के अत्यधिक अशुद्ध मुद्रित होने के कारण अनेक स्थानों में उसका वास्तविक अभिप्राय पूर्णतया समझ में नहीं आता, तथापि उससे ऋग्वेद की ऋग्गणना-सम्बन्धी अनेक ज्ञातव्य बातें विदित होती हैं ।

महिदास के मत में ऋग्वेद में बालखिल्य-सहित १०५५२ मन्त्र हैं, बालखिल्य के विना १०४७२ । इनमें नित्य और नैमित्तिक दोनों प्रकार की द्विपदाए सम्मिलित हैं । पृष्ठ १७ ।

पञ्चचत्वार्यधिकं षड्ऋचां तु शतत्रयम् । सप्तऋचां शतं ज्ञेयं विंशतिश्चाधिका स्मृताः ॥
अष्टऋचां तु पञ्चाशत् पञ्चाधिकास्तथैव च । दशाधिकद्विसहस्राः पञ्चशाखासु निश्चिताः ॥
वर्गाः संज्ञानसूक्तस्य चत्वारश्चात्र मीलिताः । एवं पारायणे प्रोक्ता ऋचां संख्या न न्यूनतः ॥

एषु प्रतिपादिता वर्गसंख्या ऋक्संख्या चैवं विस्पष्टमवगन्तव्या—

प्रतिवर्गर्क्संख्या		**वर्गसंख्या**		**ऋक्संख्या**
१	×	१	=	१
२	×	२	=	४
३	×	१००	=	३००
४	×	१७५	=	७००
५	×	१२११	=	६०५५
६	×	३४५	=	२०७०
७	×	१२०	=	८४०
८	×	५५	=	४४०
९	×	१	=	९
योगः		२०१०		१०४१९

एवमाहृत्य २०१० दशाधिकद्विसहस्रं वर्गाः, १०४१९ एकोनविंशत्यधिकचतुःशतोत्तर-दशसहस्रमृचः संपद्यन्ते । एषा वर्गसंख्या ऋक्संख्या च शाकलचरणान्तर्गतानां पञ्चानां शाखानाम्, अत्र संज्ञानसूक्तस्य चत्वारो वर्गाः पञ्चदशर्चश्चापि संकलिताः । तदभावे १०४०४ चतुरधिकचतुः-शतोत्तरदशसहस्रमृचो भवन्ति । एषा छन्दःसंख्यापरिशिष्टप्रतिपादितायाः संख्यायाः साकाशाद् द्व्यधिका । तच्चाधिक्यं शाखान्तरकृतं द्रष्टव्यम् ।

आस्माकीना वर्गगणना ऋक्संख्या च

ऋक्संख्यागणनाय शौनकवेङ्कटमाधवमहिदासैर्वर्गान्तर्गतर्चोऽनुसृत्य वर्गाः संख्याताः ।

आगे (पृष्ठ २४, २५ पर) महीदास ऋग्वेद के वर्गों तथा ऋचाओं की संख्या प्रदर्शक कुछ श्लोक उद्धृत करता है, जो इस प्रकार हैं—**'एकर्च०'**

इन श्लोकों के अनुसार वर्गों और ऋचाओं की संख्या इस प्रकार है— (ऊपर गणना देखें)

यह वर्गसंख्या शाकल चरण की पांच शाखाओं की है। इसमें संज्ञान सूक्त के ४ वर्ग सम्मिलित हैं। इसी प्रकार १०४१९ मन्त्रसंख्या में संज्ञान सूक्त की १५ ऋचाओं का भी समावेश है। उन्हें न्यून करने पर १०४०४ ऋक्संख्या उपलब्ध होती है, जो पूर्वोक्त छन्दःसंख्या परिशिष्ट की संख्या से २ संख्या अधिक है। यह अधिकता शाखान्तरकृत प्रतीत होती है।

हमारी वर्गों और ऋचाओं की गणना

शौनक, वेङ्कटमाधव और महिदास ने वर्गान्तर्गत ऋक्संख्यानुसार जो वर्ग-संख्या लिखी है,

तत्रैतेषां वर्गपरिसंख्याने महान् भेदो वर्तते। एषु कस्य समञ्जसा वर्गसंख्येति परिज्ञानायास्माभिरपि सूक्ष्मेक्षिकया वर्गाः संख्याताः। आस्माकीना वर्गगणना एभ्यो नितरां विसंवदतीति स्वीयवर्गगणनापरिशुद्धयर्थं (१) द्विपदापक्षे, (२) नैमित्तिकद्विपदाश्चतुष्पदीकृत्य, (३) बालखिल्यानां दश वर्गान्न्यूनीकृत्य त्रिधा पुनर्वर्गाः परिगणिताः। एवं त्रिधा परिगणनेऽपि नैवास्माभिः स्वीयगणनायां कश्चिद्दोष उपलब्धः। सा चेत्थं त्रिधा वर्गगणना—

(१) नैमित्तिका द्विपदा द्विपदारूपेण परिगणय्य प्रत्यष्टकं बालखिल्यसहिता वर्गसंख्या एवं वेदितव्या—

अष्टकं	एकर्चः	द्वृचः	तृचः	चतु०	पञ्च०	षड्०	सप्त०	अष्ट०	नव०	दश०	एका०	द्वाद०	योगः
१	१		१२	२२	१७३	४२	५	४	...	५	१	...	२६५
२	...	...	१७	१५	१२४	४६	१२	७	...	...	...	...	२२१
३	...	...	४	१६	१३५	४१	२०	९	—	...	...	...	२२५
४	...	...	१२	२६	१५८	२९	१५	१०	...	...	—	...	२५०
५	...	...	१३	१७	१३८	४०	२०	७	...	३	...	...	२३८
६	...	...	११	२८	२०७	५८	१६	१०	...	१	...	...	३३१
७	...	...	८	३६	१५६	३३	१०	२	१	१	...	१	२४८
८	...	...	२३	२१	१२०	५२	२४	६	...	...	—	...	२४६
योगः	१	...	१००	१८१	१२११	३४१	१२२	५५	१	१०	१	१	२०२४
बालखिल्य-वर्गाः	.	...	२	६	१०	...	...	...	—	—	...	...	१८
बालखिल्य-रहितवर्गाः	१	...	९८	१७५	१२०१	३४१	१२२	५५	१	१०	१	१	२००६

उसमें परस्पर पर्याप्त विभिन्नता है, यह तीनों की वर्गानुसार ऋग्गणना की दी हुई सारणियों की तुलना से व्यक्त है। इन तीनों में से किसकी गणना ठीक है, इसके ज्ञान के लिए हमनें भी ऋग्वेद की वर्गान्तर्गत ऋक्सख्या के क्रम से वर्गसंख्या की गणना की। गणना करने पर ज्ञात हुआ कि हमारी गणना पूर्वोक्त तीनों गणनाओं से भिन्न है। अतः हमने अपनी गणना की अनेक प्रकार से परीक्षा की, किन्तु हमें उसमें कही भूल उपलब्ध नही हुई। हमने वर्गगणना तीन प्रकार से की है। एक—द्विपदापक्ष में, दूसरी नैमित्तिक द्विपदाओं को चतुष्पदा बनाकर, तीसरी—नैमित्तिक द्विपदाओं को चतुष्पदा बनाकर बालखिल्य के ८० मन्त्रों के १८ वर्ग न्यून करके।

(१) नैमित्तिक द्विपदाओं को द्विपदारूप में गिनकर ऋग्वेद की बालखिल्य-सहित समस्त वर्गसंख्या इस प्रकार है—(ऊपर गणना देखें)

योगः		२०२४		१०५५२

(२) चत्वारिंशदुत्तरशतं नैमित्तिकद्विपदाश्चतुष्पदीकृत्यैवं वर्गसंख्या ऋक्संख्या च वेद्या—

प्रतिवर्गर्क्संख्या		वर्गसंख्या		समस्तर्क्संख्या
१	×	१	=	१
२	×	२	=	४
३	×	१०१	=	३०३
४	×	१८०	=	७२०
५	×	१२२०	=	६१००
६	×	३४३	=	२०५८
७	×	१२१	=	८४७
८	×	५५	=	४४०
९	x	१	=	९
योगः		२०२४		१०४८२

वर्गान्तर्गत ऋक्संख्यानुसार समस्त ऋग्वेद की वर्गसंख्या तथा तदाश्रित ऋक्संख्या इस प्रकार है—(ऊपर देखें)

(२) ऋग्वेद में आई हुई १४० नैमित्तिक द्विपदाओं को चतुष्पदा बनाकर वर्गसंख्या और तदाश्रित ऋक्संख्या इस प्रकार है—(ऊपर देखें)

वर्गान्तर्गतर्क्संख्यानुसारं समस्तस्यर्ग्वेदस्य वर्गसंख्या ऋक्संख्या चेत्थं ज्ञेया—

प्रतिवर्गर्क्संख्या		वर्गसंख्या		समस्तर्क्संख्या
१	×	१	=	१
२	...	—	=	...
३	×	१००	=	३००
४	×	१८१	=	७२४
५	×	१२११	=	६०५५
६	×	३४१	=	२०४६
७	×	१२२	=	८५४
८	×	५५	=	४४०
९	×	१	=	९
१०	×	१०	=	१००
११	×	१	=	११
१२	×	१	=	१२

अस्मिन् परिगणने वर्गसंख्या तु सैव २०२४ चतुर्विंशत्युत्तरद्विसहस्रम्, परं मन्त्रसंख्यायां नैमित्तिकद्विपदानां चतुष्पदीभावे सप्ततिसंख्याया न्यूनता जायते।

(३) यदा तु चतुष्पदापक्षे बालखिल्यानामृचामष्टादशवर्गा अशीतिर्ऋचश्च परिहीयन्ते तदेयं वर्गसंख्या ऋक्संख्या च बोध्या—

प्रतिवर्गमृक्संख्या		वर्गसंख्या		समस्तऋक्संख्या
१	×	१	=	१
२	×	२	=	४
३	×	९९	=	२९७
४	×	१७४	=	६९६
५	×	१२१०	=	६०५०
६	×	३४३	=	२०५८
७	×	१२१	=	८४७
८	×	५५	=	४४०
९	×	१	=	९
योग:		२००६		१०४०२

सम्प्रति शौनक-माधव-महिदासानामस्माकं च बालखिल्यरहितानां वर्गाणां संख्यापरिगणने यो भेदस्तद्विवृत्त्यै सर्वेषामपि वर्गान्तर्गतवर्संख्यानुसारं वर्गाः परिसंख्यायन्ते—

प्रतिवर्गवर्संख्या	शौनकीया	वेङ्कटमाधवीया	आस्माकीना	महिदासीया
१	१	१	१	१
२	२	२	२	२
३	९७	९९	९९	१००
४	१७४	१७५	१७४	१७५
५	१२०७	१२०९	१२१०	१२११
६	३४६	३४३	३४३	३४५
७	११९	१२१	१२१	१२०
८	५९	५४	५५	५५
९	१	२	१	१
योगः	२००६	२००६	२००६	२०१०

इस गणना में नैमित्तिक द्विपदाओं की दो-दो ऋचाओं को एक चतुष्पदा मानकर गिना है। अतः इस गणना में वर्गसंख्या तो वही २०२४ है, परन्तु ऋक्संख्या में ७० संख्या न्यून हो गई है।

(३) यदि नैमित्तिक द्विपदाओं को चतुष्पदा गिन कर दर्शाई हुई उपर्युक्त वर्गसंख्या में से

इदमत्रावधेयम्—शौनकादीनां वर्गसंख्याने बालखिल्या ऋचो न संख्यायन्ते, न च नैमित्तिका द्विपदा द्विपदारूपेण। अतोऽस्माभिस्तत्पक्षीया एव स्वीया वर्गसंख्याऽत्र निर्दिष्टा। सर्वश्चैष वर्गसंख्याभेदोऽवान्तरशाखाभेदकृत एवेत्यनुमिनुमः। महिदासीया वर्गसंख्या तु शाकलचरणान्तर्गतानां पञ्चानां शाखानामिति स एव विस्पष्टं जगाद।

प्रकृतभाष्यकृता परिसंख्याता ऋक्संख्या

प्रकृतभाष्यकृता स्वीयर्ग्वेदभाष्यस्योपोद्घाते (पृष्ठ ४३२–४३७) **ऋग्वेदान्तर्गतानामृचां परिगणनमकारि। तत्र प्रतिमण्डलं या ऋक्संख्याः परिसंख्यातास्तासामयं योगः—**

१९७६+४२९+६१७+५८९+७२७+७६५+८४१+१७२६+१०९७+१७४५=१०५२१।

अत्र प्रतिमण्डलवर्गसंख्यायां लेखकप्रमादाद् द्वे अशुद्धी बभूवतुः। तत्रैका—**अष्टममण्डलान्तर्गतविंशतितमसूक्तमन्त्राणां षड्विंशतिसंख्यास्थाने षट्त्रिंशत्** संख्या लिखिता। तेन **तन्मण्डली-**

बालखिल्यान्तर्गत १८ वर्ग और उनकी ८० ऋचाएं न्यून कर दें तो वर्गसंख्या निम्नलिखित होगी—(ऊपर देखें पृष्ठ ७१९)।

अब हम क्रमशः शौनक, वेङ्कटमाधव, अपनी और महिदास की वर्गगणना नीचे लिखते हैं। इससे प्रत्येक की वर्गगणना में जो भेद हैं, वह व्यक्त हो जाएगा—(ऊपर देखें पृष्ठ ७१९)।

शौनक और वेङ्कटमाधव ने जो वर्गगणना लिखी है, उसमें १४० नैमित्तिक द्विपदाओं को ७० चतुष्पदा बनाकर गणना की है, और उसमें बालखिल्य ऋचाओं की गणना नहीं है। अतः अतः हमने तुलना के लिए अपनी वर्गगणना भी इसी प्रकार की लिखी है। यह भी ध्यान रहे कि महिदास की वर्गगणना शाकलचरण की पाँच संहिताओं की है। यह हम उसी के शब्दों में पूर्व लिख चुके हैं, परन्तु उसकी गणना में भी बालखिल्य ऋचाओं का समावेश नहीं है।

हमारा विचार है कि चारों की वर्गसंख्याओं में जो विभिन्नता है, उसका कारण शाखाभेद है।

प्रकृत भाष्यकार कृत ऋग्गणना

प्रकृत भाष्यकार भगवत्पाद दयानन्द सरस्वती ने अपने ऋग्वेदभाष्य की अनुभूमिका पृष्ठ ४३२–४३७में ऋग्वेद की ऋक्संख्या का उल्लेख किया है। उन्होंने प्रतिमण्डल जो ऋक्संख्याएं लिखी है, उनका योग क्रमशः इस प्रकार है—

१९७६+४२९+६१७+५८९+७२७+७६५+८४१+१७२६+१०९७+१७५४=१०५२१।

इस प्रतिमण्डल ऋक्संख्या में लेखक के प्रमाद से दो अशुद्धियां हुई हैं। **प्रथम**—ऋग्वेद के आठवें मण्डल के २४वें सूक्त की मन्त्रसंख्या २६ के स्थान में ३६ लिखी है, अतएव उसका योग भी १७१६ के स्थान में १७२६ हो गया है अर्थात् यहां १० संख्या अधिक गिनी गई है। वस्तुतः

यग्योगोऽपि १७१६ षोडशाधिकसप्तशतोत्तरैकसहस्रस्थाने १७२६ षड्विंशत्यधिकसप्तशतोत्तरैकसहस्रं संजातः। द्वितीया—नवममण्डलस्य प्रतिसूक्तनिर्दिष्टसंख्यायोगकाले दृष्टिदोषात् काचिद् एकादश संख्या परित्यक्ता। तेन तद्योगोऽपि ११०८ अष्टाधिकशतोत्तरैकसहस्रस्थाने १०९७ सप्तनवत्यधिकैकसहस्रं बभूव। इमौ दोषौ परिमृज्य सकलर्क्संख्या १०५२२ द्वाविंशत्यधिकपञ्चशतोत्तरदशसहस्रं संपद्यते।

अयमृचां योगो मैक्समूलरीयर्क्संस्करणानुसारं विद्यते। तदीयर्क्संस्करणे च ये दोषास्ते पुरस्तात् प्रतिपादिताः। अतोऽत्रापि प्रथममण्डलान्तर्गताः षष्टिर्नैमित्तिका द्विपदाश्चतुष्पदीकृत्य त्रिंशत् परिगणिताः। एतद्दोषपरिमार्जने कृते सैव १०५५२ द्विपञ्चाशदधिकपञ्चशतोत्तरदशसहस्रमृक्संख्या संपद्यते।

प्रतिमण्डलमृक्संख्यामुक्त्वा सर्वर्क्परिगणनां ब्रुवन् स्वामिदयानन्दसरस्वत्याह—'दशसहस्राणि पञ्चशतानि एकोननवतिश्च १०५८९ मन्त्रा सन्तीति वेद्यम्।' (द्र०—पृ० ४३७ इदं संस्करणम्)।

एषा संख्या प्राङ्निर्दिष्टर्क्संख्यातो नितरां भिद्यते। न च तद्भेदे किञ्चित् कारणमुक्तम्। अतो मन्यामहे, अत्रापि लेखकप्रमाद एव कारणं स्यात। स चेत्थम्—प्रतिमण्डलमुक्तानामृक्संख्यानां कृत्स्नं योगं कुर्वता लेखकेनैकविंशत्यधिकपञ्चशतोत्तरदशसहस्रसंख्या अङ्कैः १०५२१ निर्दिष्टा। तदनु स्वामिभिस्तस्मिन्नस्पष्टाङ्कलिखिते योगे एकाङ्को नवाङ्कत्वेन, द्व्यङ्कोऽष्टाङ्कत्वेन (१०५८९) चावबुद्धचाक्षरेषु—'दशसहस्राणि पञ्चशतानि एकोननवतिश्च मन्त्राः' इत्येवं सर्वं ऋग्योगोऽलेखि। नागर्यां लिप्यामेतयोरङ्कयोरस्पष्टलेखने प्रायेणैतादृशो भ्रमो जायते। तेन—'दशसहस्राणि पञ्चशतानि एकोननवतिश्च मन्त्राः' इति लेखो लेखकपाठकभ्रममूलक एव।

इस मण्डल की ऋक्संख्या १७१६ होनी चाहिये। द्वितीय—नवम मण्डल की प्रतिसूक्त लिखित संख्या के योग में ११ संख्या न्यून है। प्रतीत होता है, योग करते समय किसी सूक्त की ११ ऋचाएं गिनने से रह गईं। अतः इस मण्डल की ऋचाओं का योग १०९७ के स्थान में ११०८ होना चाहिए। इस प्रकार यदि अष्टम और नवम मण्डल के योग को शुद्ध कर लिया जाए, तो उनका पूर्ण योग १०५२२ होगा।

यह योग मैक्समूलर के ऋक्संस्करण के अनुसार है। हम पूर्व लिख चुके हैं कि मैक्समूलर के ऋक्संस्करण में प्रथम मण्डल की ६० नैमित्तिक द्विपदाएं ३० चतुष्पदा बनाकर छापी गई हैं (शेष ८० द्विपदारूप में ही छापी हैं)। अतः १०५२२ संख्या में प्रथम मण्डलस्थ द्विपदाओं की शेष ३० संख्या और सम्मिलित कर ली जाए, तो सर्वयोग १०५५२ होगा। इसमें नित्य नैमित्तिक द्विपदा तथा वालखिल्य ऋचाएं सम्मिलित हैं। यह संख्या ऋक्सर्वानुक्रमणी, उसके टीकाकार जगन्नाथ, चरणव्यूहटीकाकार महिदास, और छन्दःसंख्या-परिशिष्ट की दी हुई ऋक्संख्या से पूर्णतया मिल जाती है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने प्रतिमण्डल ऋक्संख्या का पृथक्-पृथक् उल्लेख करके अन्त में समस्त ऋचाओं का योग अक्षरों और अङ्कों दोनों में १०५८९ लिखा है (पृष्ठ ४३७)। इस अशुद्धि का कारण भी लेखक-प्रमाद ही है। प्रतीत होता है प्रतिलिपि करते समय लेखक ने अस्पष्ट

पण्डितभगवद्दत्तमहोदयः स्वीये वैदिकवाङ्मयैतिह्ये स्वामिदयानन्दनिर्दिष्टविभिन्नऋक्-संख्यासमन्वयं प्रतिपादयन्नाह—

'यदि स्वामिदयानन्दस्य १०५२१ ऋग्गणनायां नैमित्तिकद्विपदानामर्धासु सप्ततसंख्यासु पञ्चममण्डलस्य चतुर्विंशसूक्तस्य द्विगुणत्वेन परिगणितां द्विसंख्यां परिहायाष्टषष्टिसंख्याया योगः क्रियेत, तर्हि १०५८९ संख्योपपद्यते' [भा० १, पृ० १३७]।

वस्तुतः पण्डितभगवद्दत्तमहोदयेनापि नैतदवगतं यन्मैक्समूलरीयऋक्संस्करणे कति ऋचो द्विपदारूपेण मुद्रिताः, कति च चतुष्पदारूपेण। यदि ह्यस्य ज्ञानमभविष्यत्तर्हि न स एवमवक्ष्यत्। यतो हि मैक्समूलरीये संस्करणे षट्सप्ततिर्द्विपदा द्विपदारूपेणैव मुद्रिताः। अतो नैव तासां पुनर्द्विगुणीभावो युज्यते।

एवं चैतद् भाष्यकृतोक्तयोः १०५२१ तथा १०५८९ संख्ययोः सामञ्जस्यं नोपपद्यते। वस्तुत उभयोरपि योगयोर्लेखकगणकप्रमाद एव कारणम्।

अङ्कों में लिखे गये १०५२१ योग में २ को ८ और१ को ९ पढ़ लिया होगा, और पूर्णयोग १०५८९ लिख दिया होगा। शीघ्रता में लिखी गई संख्याओं के पढ़ने में प्रायः ऐसी भूलें हो जाती हैं।

श्री पं० भगवद्दत्त जी ने 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' के प्रथम भाग पृष्ठ १३७ पर स्वामी दयानन्द सरस्वती की १०५२१ और १०५८९ दोनों संख्याओं में सामञ्जस्य दर्शाने का प्रयत्न किया है। उनका लेख इस प्रकार है—

स्वामी दयानन्द सरस्वती की १०५२१ गणना में यदि नैमित्तिक द्विपदा ऋचाओं का आधा अर्थात् १४०÷२=७०, और इनमें से ऋ० ५।२४ को २ कम करके (जो पहले ही द्विगुणित हैं) ६८ जोड़ी जाएं, तो कुल संख्या १०५८९ हो जाती है।

पण्डितजी ने उक्त समाधान करते समय इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि १०५२१ (१०५२२) संख्या में कितनी द्विपदाएं द्विपदारूप में गिनी गई हैं और कितनी द्विपदाएं चतुष्पदाएं बनाकर आधी गिनी गई हैं। उन्होंने भी मैक्समूलर सम्पादित ऋक्संस्करण या तदाश्रित अन्य संस्करण को ही प्रमाण मानकर सामञ्जस्य दर्शाने का प्रयत्न किया है। वस्तुतः जिस प्रकार उन्होंने ऋ० ५।२४ के दो मन्त्रों को, जिन्हें प्रथम ही द्विपदा मानकर ४ ऋचाएं गिना गया है, पुनः द्विगुणित करने में छोड़ दिया। इसी प्रकार प्रथम और पञ्चम मण्डलातिरिक्त ७६ नैमित्तिक द्विपदा ऋचाओं को (जिन्हें मैक्समूलर के ऋक्सस्करण में द्विपदारूप में ही छापा है) भी पुनः द्विगुणित नहीं करना चाहिए था। केवल प्रथम मण्डल की द्विपदाएं, जो ३० चतुष्पदा बनाकर छापी गई हैं, पुनः द्विगुणित करनी चाहिएं थीं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती की १०५२१ और १०५८९ संख्या में कोई सामञ्जस्य नहीं बनता। वस्तुतः दोनों विभिन्न संख्याओं का कारण लेखक-प्रमाद ही है, जैसा हम ऊपर दर्शा चुके हैं। इसलिए स्वामी दयानन्द सरस्वती का सर्वयोग भी १०५२२ होना चाहिए।

अध्यापकमैकडानलस्य ऋग्गणना

अध्यापकमैकडानलेन स्वसम्पादितायां ऋक्सर्वानुक्रमण्या उपोद्घाते ऋग्वेदस्य ऋग्गणनामधिकृत्य विस्तरेण लिखितम्। तत्र तस्य बह्वचो भ्रान्तयः संजाताः। तद्यथा—

प्रथमा—मैकडानलस्य प्रतिछन्दोऽनुसारं परिगणितानामृचां सर्वयोगः १०४४२ द्विचत्वारिंशदधिकचतुःशतोत्तरदशसहस्रं भवति। तत्र द्विपदां योगः १२७ सप्तविंशत्युत्तरैकशतम्, प्रथममण्डले चैकत्रिंशद् द्विपदाः परिगणिताः। ऋक्सर्वानुक्रमण्यनुसारं प्रथममण्डले पञ्चषष्टितमसूक्तादासप्ततितमसूक्तमेकषष्टिर्द्विपदाः सन्ति। मैक्समूलरेणाऽऽद्यमण्डलस्थाः षष्टिर्द्विपदाश्चतुष्पदीकृत्य त्रिंशन्मन्त्रा मुद्रिता इत्युक्तं पुरस्तात्। मन्यामहे मैकडानलो मैक्समूलरीये ऋग्वेदे चतुष्पदीकृतास्त्रिंशदृचो भ्रान्त्या द्विपदा मत्वा त्रिंशदेव द्विपदासु परिगणितवान्, (एका तत्र नित्यद्विपदा रूपा)। सर्वानुक्रमण्याश्च सम्पादनं विदधन् सर्वानुक्रमण्यां मैक्समूलरीयसंस्करणे चाद्यमण्डलान्तर्गतानां पञ्चषष्टितमादासप्ततितमं षण्णां सूक्तानां परस्परमृक्संख्याभेदं दृष्ट्वाऽपि मैक्समूलरीयं दोषं नावगतवान्।

प्रो० मैकडानल की ऋग्गणना

प्रोफेसर मैकडानल ने स्वसम्पादित ऋक्सर्वानुक्रमणी की भूमिका पृष्ठ १७, १८ पर ऋग्वेद की ऋक्संख्या के विषय में कुछ विस्तार से लिखा है। उस लेख में प्रो० मैकडानल ने ऋग्वेद की ऋग्गणना के विषय में सबसे अधिक भूलें की हैं।

पहली भूल—मैकडानल ने प्रतिछन्द ऋक्संख्या का निर्देश करके सर्वयोग १०४४२ लिखा है। इस प्रतिछन्द संख्या में द्विपदा ऋचाओं का योग १२७ है। प्रथम मण्डल में ३१ द्विपदाएं लिखी हैं। कात्यायनकृत सर्वानुक्रमणी के अनुसार प्रथम मण्डल के ६५-७० सूक्त तक ६१ द्विपदा ऋचाएं हैं। इन ६१ द्विपदाओं में ७०वें सूक्त की ११वीं ऋचा नित्य द्विपदा है, शेष ६० नैमित्तिक हैं। मैकडानल ने मैक्समूलर के ऋक्संस्करण के अनुसार ६१ ऋचाओं को ३१ गिन लिया। मैक्समूलर ने ६० द्विपदाओं को ३० चतुष्पदा बनाकर छापा है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं। अतः मैकडानल की लिखी हुई ३१ द्विपदाओं में ३० चतुष्पदाएं है और १ द्विपदा। आश्चर्य की बात तो यह है कि मैकडानल ने ऋक्सर्वानुक्रमणी का सम्पादन करते हुए प्रथम मण्डल के ६५-७० सूक्त तक ऋक्सर्वानुक्रमणी और मैक्समूलर-मुद्रित ऋग्वेद में प्रतिसूक्त ऋक्संख्या में भेद देखकर भी मैक्समूलर की द्विपदा-ऋचाओं की मुद्रण-सम्बन्धी भयानक भूल का परिशोध नहीं किया। इससे भी अधिक आश्चर्य इस बात पर है कि उसने मैक्समूलर के ऋक्संस्करण में चतुष्पदा बनाकर छापी गई ऋचाओं को द्विपदा समझ कर द्विपदाओं में गणना कर ली। यह है, पाश्चात्य विद्वानों का पाण्डित्य! जिन्हें द्विपदा और चतुष्पदा ऋचाओं के भेद का भी ज्ञान नहीं। अतः प्रथम मण्डल के ६५-७० सूक्त की ऋचाओं को द्विपदा मानकर गिना जाय, तो उनकी संख्या ३१ के स्थान में ६१ होगी, और द्विपदाओं का सर्वयोग १२७ न होकर १५७ होगा। अत एव मैकडानल का सर्वयोग भी १०४४२ के स्थान में १०४७२ हो जायगा, जो कि सर्वसम्मत है। इसमें बालखिल्य ऋचाएं सम्मिलित नहीं हैं।

द्वितीया—छन्दःसंख्यापरिशिष्टे सप्तदश द्विपदा निर्दिष्टाः। मैकडानलेन द्विपदानामृचां योगः सप्तविंशत्युत्तरशतमुक्तः (१७ नित्याः+३० प्रथमे मण्डले+८० अन्यमण्डलस्थाः)। अनयोः संख्ययोर् (छन्दःसंख्योक्तायां स्वीयायां च) आद्यन्तयोरङ्कयोः साम्यं (आदावेकाङ्कोऽन्ते सप्ताङ्कः) दृष्ट्वा मैकडानल ऊहितवान्—नूनं छन्दःसख्यापरिशिष्टे द्विपदायोगे मध्यवर्ती द्वयङ्को नष्ट इति (अर्थात् १२७ स्थाने कथञ्चित् प्रमादात् १७ सख्या निर्दिष्टा)। महदाश्चर्यम्! यन्मैकडानल इदमपि नावबुबुधे, यच्छन्दःसंख्यापरिशिष्ट उक्ता सप्तदशसंख्या नित्यानां द्विपदानामस्तीति। अतो मन्यामहे—मैकडानलो द्विपदानां नित्यनैमित्तिकभेदमपि नावबुबुध इति।

तृतीया—मैकडानलो निर्दिशति यत्—'ऋग्वेदस्य शाकलसंहितायामृचां पूर्णयोगो १०४४२ द्वाचत्वारिंशदधिकचतुःशतोत्तरदशसहस्रं जायते। छन्द.संख्यापरिशिष्टे तु १०४०२ द्वयधिकचतुः-शतोत्तरदशसहस्रमृच उक्ताः' [ऋक्सर्वा० भूमिका पृ० १७]।

छन्दःसंख्यापरिशिष्टे यदृङ्मानमुक्तं तत्र १४० चत्वारिंशदुत्तरमेकशतं द्विपदाश्चतुष्पदी-कृताः सप्ततिः परिगणिताः। तासां द्विपदापक्षे १०४७२ सप्तत्यधिकचतुःशतोत्तरदशसहस्रं योगो जायत इत्यवोचाम पुरस्तात्। मैकडानलीये ऋग्योगे प्रथममण्डलस्थद्विपदायोगे त्रिंशत्संख्याया अशुद्धिर्वर्तत इत्यप्यनुपदमुक्तमेव। तस्याः परिशोधने विहिते मैकडानलस्य सर्वयोगोऽपि १०४७२ द्वासप्तत्यधिकचतुःशतोत्तरदशसहस्रमेव भवति। संभाव्यते छन्दःसंख्यापरिशिष्टस्य ऋग्गणना-प्रकारं नावगतवान् मैकडानलः।

चतुर्थी—तदग्रे च मैकडानल आह—'१२७ सप्तविंशत्यधिकैकशतद्विपदानां द्विगुणीभावे

दूसरी भूल—मैकडानल लिखता है—'छन्दःसंख्यापरिशिष्ट में १२७ के स्थान में १७ द्विपदाएं गिनी हैं। सम्भव है छन्दःसंख्या की गणना में मध्यवर्ती २ संख्या खण्डित हो गई हो।' मैकडानल की इस कल्पना के विषय में हम पूर्व ही लिख आए हैं। अतः यहां पुनः लिखना पिष्ट-पेषणवत् होगा। प्रतीत होता है कि मैकडानल को द्विपदाओं के नित्य और नैमित्तिक भेदों का कुछ भी ज्ञान नहीं था। अन्यथा वह छन्दःसंख्यापरिशिष्टोक्त १७ नित्य द्विपदाओं के विषय में इस प्रकार की कल्पना कदापि न करता।

तीसरी भूल—मैकडानल लिखता है—'ऋग्वेद की शाकल संहिता की ऋचाओं का सर्वयोग १०४४२ होता है, जब कि छन्दःसंख्यापरिशिष्ट में १०४०२ है।' ऋक्सर्वा० की भूमिका पृ० १७।

छन्दःसंख्या-परिशिष्ट का १०४०२ योग १४० नैमित्तिक द्विपदाओं को ७० चतुष्पदा गिन कर लिखा गया है, यह हम पूर्व दर्शा चुके हैं। तदनुसार द्विपदापक्ष में वह योग १०४७२ होगा। मैकडानल के योग में प्रथम मण्डलस्थ द्विपदाओं की गणना में जो ३० सख्या की भूल हमने ऊपर दर्शाई हैं, उसे ठीक करने पर उसका योग भी १०४७२ होगा। अतः छन्दःसंख्या-परि-शिष्टोक्त १०४०२ संख्या के गणना-प्रकार को न समझकर उसमें भिन्नता दर्शाना तीसरी भूल है।

चौथी भूल—मैकडानल लिखता है—'१२७ द्विपदाओं को दूसरी बार गिनकर मेरा योग (१०४४२+१२७)=१०५६९ होता है।' ऋक्सर्वा० भूमिका पृष्ठ १८।

मदीयो योग: (१०४४२+१२७=) १०५६९ एकोनषष्ट्यधिकपञ्चशतोत्तरदशसहस्रं संपद्यते' [ऋक्सर्वा० भू० का० पृ० १८]।

अत्र मैकडानल ऋक्सर्वानुक्रमण्या.—'द्विर्द्विपदास्त्वृच: समामनन्ति' **इति सूत्रस्यार्थमवधोर्य द्विपदात्वेन परिगणिता अप्यृच: पुनर्द्विगुणीकृतवान्। वस्तुतोऽध्ययनकाले चतुष्पदीकृता एवर्चो यज्ञकाले (द्विपदापक्षे) द्विगुणीक्रियन्ते, न तु द्विपदा एव।**

पञ्चमी—**एतद्विषयकस्य पण्डितभगवद्दत्तीयपत्रस्योत्तरं परिददन् मैकडानल आह— 'ऋग्वेदस्य पञ्चममण्डलस्य चतुर्विंशतितमस्य सूक्तस्य द्वे द्विपदे सर्वानुक्रमण्यामेव कथं द्विगुणीकृते** इति न ज्ञायते ····· **कथमपि तयो: पुनर्द्विगुणीकरणं नोचितं प्रतिभाति। तथा सति मदीय ऋचां योग: १०५६९ एकोनसप्तत्यधिकपञ्चशतोत्तरदशसहस्रस्थाने १०५६५ पञ्चषष्ट्यधिक-पञ्चशतोत्तरदशसहस्र भविष्यति'**[1] [वैदिकवाङ्मयस्येतिहास:, **भाग** १, **पृष्ठ** १३६ **उद्धृतम्**]।

कात्यायन के 'द्विर्द्विपदास्त्व**ृच: समामनन्ति**' इस परिभाषा-सूत्र का षड्गुरु-शिष्य की वृत्ति-सहित शुद्ध अर्थ हम पूर्व लिख चुके हैं। तदनुसार यज्ञकाल में द्विपदारूप में प्रयुक्त होनेवाली (१४०) ऋचाएं दो दो ऋचाएं मिलकर अध्ययनकाल में एक चतुष्पदा ऋक् बनती है। मैकडानल के उपर्युक्त लेख को देखने से विदित होता है कि उसने कात्यायन के इस सूत्र का वास्तविक अर्थ ही नहीं समझा। अत एव उसने द्विपदारूप से गिनी गई ऋचाओं को पुन: द्विगुणित करके १०४४२ में १२७ संख्या और जोड दी, जो सर्वथा अयुक्त है।

पांचवी भूल—प० भगवद्दत्त जी को ऋग्वेद की ५।२४ के विषय में जो भ्रांति हुई, उसका उल्लेख हम पूर्व कर आए हैं। उन्होंने ऋग्वेद ५।२४ के विषय में १६-७-१९१९ को एक पत्र प्रो० मैकडानल को लिखा था। उसके उत्तर में ८-८-१९१९ को मैकडानल ने लिखा है—

'मुझे यह प्रश्न समझ में नहीं आता कि ऋ० ५।२४ की दो द्विपदा ऋचाओं को सर्वानुक्रमणी में ही क्यों द्विगुणित कर दिया ··· किसी दशा में ५।२४ की द्विपदाओं को द्विगुणित करना ठीक प्रतीत नहीं होता। ऐसा करने से मेरी मन्त्रगणना (१०५६७ के स्थान में) १०५६५ हो जाएगी।[1]' देखो—'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' भाग १, पृष्ठ १३६।

---

1. I am unable to look into the question why the two dvipadas of V. 24 are doubled in the text of the Sarvanukramni (1,2I3,4I) unless it is intended to express that they are treated as sacrificial, and not as recited dvipads (cp commentary on introduction § 12, 10. where 1. 65 is quoted). In any case it seems wrong to re-double the two dvipads of V. 24. This would make my total 10, 565. The commentrator of the caranavyuha, according to a marginal note I made long ago in my edition of the Sarvanukramni gives the total 10, 552 only 13 less than my total (counting the Valkhilyas); in another place in the same com. 10, 566 is given as the

अत्र यद् द्विपदयोः पुनर्द्विगुणीकरणमुक्तं, तदपि नैव क्षोदक्षमम्। एतस्या भ्रान्तेर्मूलमपि मैक्समूलरीयमृक्संस्करणमेव। यतो हि तत्र (५।२४) चतस्रो द्विपदाश्चतुष्पदीकृत्य द्वे ऋचे मुद्रिते, मन्त्रसंख्या तु प्रतिमन्त्रं द्विर्द्विर्निदिष्टा। सर्वानुक्रमण्यां चतस्र एव द्विपदा उक्ताः। अतः—'सर्वानुक्रमण्यामेव द्वे द्विपदे कथं द्विगुणीकृते' इति वचनं भ्रममूलकमेव।

षष्ठी—पुरस्तान्निर्दिष्टे पत्रोद्धरणे मैकडानलः पञ्चममण्डलस्य चतुर्विंशतितमसूक्तस्य पुनर्द्विगुणीभावे स्वकीयमृग्योगं संशोधयन् चतुःसंख्या न्यूनीकृत्य १०५६६ स्थाने १०५६५ उक्तवान्। अत्रेदं चिन्त्यम्, यद् द्वयोर्द्विपदयोः पुनर्द्विगुणीभावं संशोधयता द्विसंख्यैव न्यूनीकर्तव्या ऽऽसीन्न तु संख्याचतुष्टयम्। तथा सति १०५६६ स्थाने १०५६७ ऋचां योगस्तेन वक्तव्यो न तु १०५६५।

सत्यव्रतसामश्रमिण ऋग्गणना

पण्डितसत्यव्रतसामश्रमिणा 'ऐतरेयालोचने' ऋग्गणनामधिकृत्य बहु प्रपञ्चितम् तत्र च स

इस लेख से स्पष्ट है कि मैकडानल ने भी पं० भगवद्दत्त जी के कथन को स्वीकार कर लिया। सम्भव है उसने भी ऋ० ५।२४ की ऋचाओं को पुस्तक खोलकर नहीं देखा, या उसे द्विपदा और चतुष्पदा के भेद का बोध न रहा हो। 'सर्वानुक्रमणी में ५।२४ की दो द्विपदाओं को क्यों द्विगुणित कर दिया' यह लिखना भी अयुक्त है।

छठी भूल—सर्वानुक्रमणी मे द्विपदाओं को द्विगुणित नहीं किया, अपितु उन्हें ४ द्विपदा लिखा है, जो उचित है। प्रो० मैकडानल को यह भूल मैक्समूलर के ऋक्संस्करण से हुई है, इसका वर्णन हम विस्तार से पूर्व कर चुके हैं। यहां पर मैकडानल ने एक और भारी भूल की है। उसके कथनानुसार ऋक्सर्वानुक्रमणी में ५।२४ की दो ऋचाओं को द्विगुणित किया है। अतः उसके द्विगुणितत्व को हटाने के लिए दो संख्या न्यून करनी चाहिए थी, परन्तु उसने दो के स्थान में चार संख्या न्यून कर दी।

पं० सत्यव्रत सामश्रमी की ऋग्गणना

पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने ऋग्वेद की ऋक्संख्या के विषय में 'ऐतरेयालोचन' के पृष्ठ १४२, १४३ पर कुछ लिखा है। उसमें उन्होंने भी अनेक भूलें की हैं। उनमें से सबसे प्रधान भूल छन्दः-

---

total counting the 140 naimittikadvipadas, only I more than my corrected total. If tne 1 odd pada is here counted as 1 verse, the total would be exactly the same.

The question of the treatment of the 94 verses consisting of 3 ardharcas should be taken into consideration in calculating totals: when sacrificial, *3 ardharcas* count as *one verse*, if recited, as two verses.

बहुधा बभ्राम। छन्दःसंख्यापरिशिष्टोक्तर्क्संख्याने या तस्य भ्रान्तिः सा पुरस्तात् प्रदर्शिता। ततोऽन्याऽत्र प्रदर्श्यते—

ऐतरेयालोचने सामश्रमिणोक्तम्—'अस्मत्परिगणनया त्वाश्वलायनसंहितायां १०५२२ ऋचो दृश्यन्ते' इति। तदग्रे च—'तद् बालखिल्यसहिताः १०५२२ ऋचः श्रूयन्त इति त्वस्माभिः सुनिश्चितम्' [ऐतरेया० पृ० १४३] इति।

उपलभ्यमाना ऋक्संहिता नाश्वलायनी, अपि तु शाकलचरणस्यैव काचिदियं शाखेत्यत्र नास्ति कस्यापि विदुषो वैमत्यम्। आश्वलायनी शाखा तु शाकलचरणाद् बहिर्भूता स्वतन्त्रा संहितेति नाविदितं वैदिकविदुषाम्। अत एतस्या आश्वलायनीनाम्ना निर्देशो भ्रान्तिमूलक एव। यच्चात्र सामश्रमिणा ऋग्वेदस्य सकलयोगः १०५२२ उक्तः, सोऽपि मैक्समूलरीयर्क्संस्करणानुसारी। तत्र प्रथममण्डलस्थाः षष्टिर्नैमित्तिका द्विपदाश्चतुष्पदीकृत्य त्रिंशन्मुद्रिताः, अवशिष्टास्तु द्विपदात्वेनेत्युक्तं पुरस्तात्। अतोऽत्रापि सामश्रमिणः सुनिश्चिता अपि संख्या दुर्निश्चितैव बभूव। वस्तुतस्तु द्विपदापक्षे १०५५२ सुनिश्चिता संख्या, तदभावेऽध्ययनकाले १०४८२ सुनिश्चिता संख्या विज्ञेया, यथोक्ता पुरस्तादस्माभिः।

हरिप्रसादस्य ऋग्गणना

पण्डितहरिप्रसादेन 'वेदसर्वस्व'ग्रन्थे (पृ० ६५–६८) ऋक्संख्याविषये किञ्चिदलेखि।

संख्या-परिशिष्ट-उल्लिखित ऋग्गणना के विषय में है। इसके विषय में हम पूर्व लिख चुके हैं। अतः उसका यहां पुनः पिष्टपेषण करना उचित नहीं। 'ऐतरेयालोचन' पृष्ठ १४३ पर लिखा है—

'अस्मत्परिगणनया त्वाश्वलायनसहितायाम् १०५२२ ऋचो दृश्यन्ते।'

पुनः आगे लिखता है—**'तद्बालखिल्यसहिताः १०५२२ ऋचः श्रूयन्ते इति त्वस्माभिः सुनिश्चितम्।'**

पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने यहां दो भूले की है। **एक**—ऋग्वेद को वर्त्तमान सहिता को आश्वलायनी लिखा है, वह अयुक्त है। वह वस्तुतः शाकल संहिता है। **दूसरी**—पण्डित जी ने बालखिल्यसहित जो १०५२२ सुनिश्चित ऋक्सख्या लिखी है, वह भी अयुक्त है। उनकी गणना का आधार भी मैक्समूलर सम्पादित या तदाश्रित अन्य ऋक्संस्करण है। मैक्समूलर के ऋक्सस्करण में प्रथम मडल की ६० द्विपदाओं को ३० चतुष्पदा बनाकर छापा है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं। अतएव उसके अनुसार ऋग्गणना करने में प० सत्यव्रत सामश्रमी की सुनिश्चित ऋक्संख्या में भी ३० की न्यूनता रह गई। इसलिये उनकी पूर्णसख्या भी १०५५२ होनी चाहिए। अध्ययन काल में नैमित्तिक १४० द्विपदाओं को चतुष्पदा मानने पर १०४८२ संख्या जाननी चाहिये।

पं० हरिप्रसाद की ऋग्गणना

पं० हरिप्रसाद ने अपने 'वेदसर्वस्व' ग्रन्थ में पृष्ठ ६५-६८ तक ऋग्वेद की मन्त्र-संख्या के

तत्र प्रायः सामश्रमिणोऽनुकृतिरेव। तेन सामश्रमिणो ये दोषास्ते तत्र वर्तन्त एव। अयं तु तत्र विशेषः—

हरिप्रसादो वेदसर्वस्वस्य ६७ सप्तषष्टितमे पृष्ठ आह—'चरणव्यूहटीकाकारेण महिदासेन ऋग्वेदे १०४७२ द्वासप्तत्यधिकचतुःशतोत्तरदशसहस्रमृच उक्ताः। सषा संख्या नैमित्तिक-द्विपदासहिता वर्तते। तासां च १४० चत्वारिंशदधिकं शतं संख्या विद्यते अतो यदि १४० चत्वारिंशदधिकशतं संख्या न्यूनीक्रियेत तर्हि ऋग्वेदस्य १०३३२ द्वात्रिंशदधिकत्रिशतोत्तरदशसहस्र-मृक्संख्याऽवशिष्यते' इति।

अत्र सर्वासामपि १४० चत्वारिंशदधिकशतानां नैमित्तिकद्विपदानां न्यूनीकरणं नाम तस्य महान् भ्रमः। किमेता ऋग्वेदस्यावयवा न सन्ति, यदेताः सर्वा अपि निष्कास्यन्ते? वस्तुतोऽत्र चतुष्पदापक्षे १४० चत्वारिंशदधिकशतसंख्याया अर्धा ७० सप्ततिसंख्यैव न्यूनीकरणीया।

उपसंहारः

अनेन ऋक्संख्याविमर्शेणावगम्यते यन्माधव मैक्समूलर-मैकडानल सत्यव्रतसामश्रमिप्रभृतयो नित्यनैमित्तिकद्विपदानां स्वरूपमेव नावबुबुधिरे। तदनवबोधादेव च ऋग्वेदस्य ऋग्गणनायामेते बहुधा बभ्रमुः, अन्यांश्च भ्रमयाञ्चक्रुः।

विषय में लिखा है। उनका समग्र लेख प्रायः पं० सत्यव्रत सामश्रमी के सस्कृत लेख का भाषा नुवादमात्र है। अतः उनके लेख में भी वे समस्त दोष विद्यमान हैं, जो उनके आधारभूत पं० सत्यव्रत सामश्रमी के लेख में हैं। इसलिये उन पर पुनः लिखना पिष्टपेषणवत् होगा। हां, उनक लेख में जो नए दोष हैं, उनका कुछ निदर्शन हम यहां कराते हैं—

पं० हरिप्रसाद ने 'वेदसर्वस्व' पृष्ठ ६७ पर लिखा है—

चरणव्यूह के टीकाकार महिदास ने ऋग्वेदमन्त्रों की संख्या दस हजार चार सौ बहत्तर (१०४७२) लिखी है। परन्तु यह नैमित्तिक द्विपदा ऋचाओं सहित है, जिनकी सख्या एक सौ चालीस होती है। यदि वह निकाल दी जाए, तो शेष सख्या दस हजार तीन सौ बत्तीस (१०३३२) रह जाती है।'

इस लेख से विदित होता है कि पं० हरिप्रसाद ने न तो द्विपदा ऋचाओं का स्वरूप ही समझा, और न हि महिदास का ऋग्गणना-प्रकार। १४० नैमित्तिक द्विपदाओं की ७० चतुष्पदा ऋचाएं बनती हैं। अतः यदि नैमित्तिकद्विपदात्व ही न्यून करना है, तो ७० संख्या न्यून करनी चाहिए। पूरी १४० द्विपदाओं को निकालना किसी प्रकार उचित नहीं है।

उपसंहार

इस ऋक्संख्या-विमर्श से यह स्पष्ट है कि वेङ्कटमाधव मैक्समूलर मैकडानल और सत्यव्रत सामश्रमी प्रभृति लेखकों ने नित्य नैमित्तिक द्विपदाओं के भेद को यथार्थ रूप में नहीं समझा।

तदेवमृक्सर्वानुक्रमणीमनुसरन् यज्ञप्रक्रियायां नित्यनैमित्तिकद्विपदासहिताः सबालखिल्या १०५५२ द्विपञ्चाशदधिकपञ्चशतोत्तरदशसहस्रमृचो भवन्ति । ता एव चाध्ययनकाले १४० चत्वारिंशदधिकशतानां नैमित्तिकानां द्विपदानां चतुष्पदीभावे १०४८२ द्व्यशीत्यधिकचतुःशतोत्तर-दशसहस्रं जायन्ते । नैवास्यामृक्संहितायां महति सुदीर्घे काले एकाक्षरवर्णमात्रस्यापि भेदः समजनि, ऋचां नैयूनाधिक्यस्य तु कथैव का ? यः कश्चिदपि प्राचीनानामर्वाचीनानां च विदुषां मते ऋक्संख्याभेदः समुपलभ्यते, स सर्वोऽपि ऋग्गणनाप्रकारभेदात्, शाखाभेदात्, तत्तद्विदुषाम-ज्ञानाद्वा दृश्यते, न तु वास्तविकः, इत्यलमतिपल्लवितेन ।।

इसी कारण ये लोग ऋग्वेद की ऋक्संख्या को गणना में बहुत प्रकार से भ्रांत हुए है, तथा उन्होंने औरों को भी भ्रान्त किया है।

इस प्रकार ऋग्वेदीय ऋक्सर्वानुक्रमणी के अनुसार नित्य नैमित्तिक उभयविध द्विपदाओं तथा बालखिल्य ऋचाओं सहित ऋग्वेद में १०५५२ दस सहस्र पांच सौ बावन ऋचाएं हैं। नैमित्तिक १४० द्विपदाओं को अध्ययनकाल में चतुष्पदा बनाकर (७०) गणना करने पर १०४८२ दस सहस्र चार सौ बयासी ऋचाएं होती हैं।

इस ऋक्संहिता में गत सुदीर्घ काल में एक अक्षर वा मात्रा का भी भेद नहीं हुआ, उस अवस्था में ऋक्संख्या में भेद होना तो उपपन्न ही नहीं होता। इस कारण प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों को ऋक्संख्या में जो भेद उपलब्ध होता है, वह सब ऋग्गणना प्रकार के भेद से, शाखा भेद से तथा गणक विद्वानों के अज्ञान वा प्रमाद के कारण दिखाई पड़ता है। वास्तव में 'अग्निमीळे' के 'अ' से 'सुसहासति' तक कहीं अक्षर वर्ण मात्रा स्वर का भी भेद नहीं है।



द्वितीयं परिशिष्टम्

प्रमाणाप्रमाणभूताः ग्रन्थाः

[क] प्रमाणभूतानां ग्रन्थानां सूची

[ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषये, सत्यार्थप्रकाशे तृतीय-समुल्लासे, संस्कारविधौ वेदारम्भसंस्कारे निर्दिष्टा ग्रन्थाः ।]

शिक्षायाम्

ऋ० भा० भू०	पाणिनीय-शिक्षा	(सूत्रात्मिका)
स० प्र०	,,	,,
सं० वि०	,,	,,

व्याकरणे

ऋ० भा० भू०	अष्टाध्यायी	धातुपाठः	उणादिगणः		महाभाष्यम्
स० प्र०	,,	,,	,,		,,
सं० वि०	,,	,,	,,	गणपाठः लिङ्गानुशासनम्	,,

निरुक्ते

ऋ० भा० भू०	निघण्टु-निरुक्ते		
स० प्र०	,,	,,	
सं० वि०	,,	,,	अव्ययार्थः (आप्तमुनिकृतः)

छन्दःशास्त्रे

ऋ० भा० भू०	पिङ्गलछन्दःसूत्रम्	(पिङ्गल-भाष्यसहितम्)	
स० प्र०	,,	,,	
सं० वि०	,,	,,	(भाष्यसहितम्)

साहित्ये

ऋ० भा० भू०	मनुस्मृतिः	वाल्मीकिरामायणम्	महाभारतम्

स० प्र०	मनुस्मृतिः	वाल्मीकिरामायणम्	महाभारतम्	(विदुरनीतिः)
सं० वि०	,,	,,	,,	काव्यालंकारसूत्रम्[1]

दर्शन-शास्त्रेषु

ऋ० भा० भू०	मीमांसा (व्यासभा०)	वैशेषिकम्	(गोतम-प्रशस्त०-भाष्यम्)	न्यायः (वात्स्या०भा०)
स० प्र०	,,	,,	,, (गोतम-भाष्यम्)	,, ,,
सं० वि०	,,	,,	,, (गोतम-प्रशस्तपाद-भाष्यम्)	,, ,,

ऋ० भा० भू०	योगः	(व्यास-भा०)	सांख्यम्	(भागुरि-भाष्यम्)	वेदान्तम्	(बौधायन-वृत्तिः)
स० प्र०	,,	,,	,,	,,	,,	(बौधायन-भाष्यम्)
सं० वि०	,,	,,	,,	,,	,,	,, ,,

उपनिषत्सु

ऋ० भा० भू०	ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्डक-माण्डूक्य-ऐतरेय-तैत्तिरीय-छान्दोग्य-बृहदारण्यकानि
स० प्र०	,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,
सं० वि०	,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,

ब्राह्मणानि वेदसहितानि

ऋ० भा० भू०	ऐतरेयम्-ऋग्वेदः,	शतपथम्-यजुर्वेदः,	साम-सामवेदः,	गोपथम्-अथर्ववेदः
स० प्र०	,, ,,	,, ,,	,, ,,	,, ,,
सं० वि०	,, ,,	,, ,,	,, ,,	,, ,,

पद-क्रम-पाठौ

ऋ० भा० भू०	×	×	×
स० प्र०	×	×	×
सं० वि०	पदक्रम-पाठौ	चतुर्णां वेदानाम्	गानम् (साम्नः)

उपवेदेषु

	आयुर्वेदे—	धनुर्वेदे—
ऋ० भा० भू०	चरक-सुश्रुतौ	धनुर्वेदः (अङ्गिरसादिभिः प्रोक्तः)
स० प्र०	,, ,,	,,
सं० वि०	,, ,, निघण्टुः (धन्वन्तरिकृतः)	,, ,, ,,

	गान्धर्ववेदे—	अर्थवेदे (शिल्पशास्त्रे)—
ऋ० भा० भू०	गान्धर्ववेद	अर्थवेदः (विश्वकर्म-त्वष्टृ-[देवज्ञ]मयप्रोक्ताः संहिताः)
स० प्र०	,,	,,
सं० वि०	,, (नारदसंहितादयः)	,, (विश्वकर्म-त्वष्टृमयप्रोक्ताः संहिताः)

१. यास्कमुनिकृतम्, वात्स्यायनभाष्यसहितम्।

ज्योतिषशास्त्रे

ऋ० भा० भू०	वसिष्ठादिप्रोक्तानि	अङ्क-बीज-रेखागणितविद्याः
स० प्र०	सूर्यसिद्धान्तादीनि	अङ्क-बीज-गणित-खगोल-भूगर्भविद्याः
सं० वि०	"	अङ्क-बीज-रेखागणितविद्याः

कल्पसूत्रेषु

ऋ० भा० भू०	मानवकल्पसूत्रादीनि
स० प्र०	
सं० वि०	आश्वलायनकृतानि श्रौत-गृह्य-सूत्राणि

[ख] अप्रमाणभूतानां ग्रन्थानां नामानि

शिक्षायाम्—	स० प्र०	'अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि' इति श्लोकात्मिका (पाणिनीया शिक्षा)
व्याकरणे—	ऋ० भा० भू०	सारस्वत-चन्द्रिका-कौमुद्यादीनि
	स० प्र०	कातन्त्र-सारस्वत-चन्द्रिका-मुग्धबोध-कौमुदी-शेखर-मनोरमादीनि
कोशे—	स० प्र०	अमरकोशादयः
ज्योतिषे—	ऋ० भा० भू०	मुहूर्तचिन्तामण्यादयः
	स० प्र०	शीघ्रबोध-मुहूर्तचिन्तामण्यादयः
साहित्ये—	स० प्र०	नायिकाभेद-कुवलयानन्द-रघुवंश-माघ-किरातार्जुनीयादयः
मीमांसायाम्—	ऋ० भा० भू०	निर्णयसिन्ध्वादयः
	स० प्र०	धर्मसिन्धु-व्रतार्कादयः
वैशेषिके—	ऋ० भा० भू०, स० प्र०	तर्कसंग्रहः [मुक्तावली च]
न्याये—	" "	जागदीश्यादयः
योगे—	" "	हठप्रदीपिकादयः
सांख्ये—	" "	सांख्यतत्त्वकौमुद्यादयः
वेदान्ते—	ऋ० भा० भू०	योगवासिष्ठ-वेदान्तसारादयः
	स० प्र०	योगवासिष्ठ-पञ्चदश्यादयः
वैद्यके—	स० प्र०	शार्ङ्गधरादयः
स्मृतिषु—	ऋ० भा० भू०, स० प्र०	मनुस्मृतेः प्रक्षिप्ताः श्लोकाः, अन्याश्च सर्वाः स्मृतयः
कल्पसूत्रे—	ऋ० भा० भू०	त्रिकण्डिका-स्नानसूत्र-परिशिष्टादयः
		अन्येऽप्रमाणार्हाः—
	ऋ० भा० भू०	व्रत-तीर्थ-यात्रा-पूजा-माहात्म्यादयः
	स० प्र०	तन्त्र-पुराण-तुलसीरामायण-रुक्मणीमङ्गलादयः, सर्वे च भाषाग्रन्थाः।

तृतीयं परिशिष्टम्

ऋग्वेदभाष्ये प्रथमखण्ड उद्धृतानां प्रमाणानां

वर्णानुक्रमेण सूची‡

‡ क. वेदभाष्य में अष्टाध्यायी तथा उणादि-सूत्रों के उद्धरणों में जहां एक ही सूत्र बहुत स्थानों पर उद्धृत किया गया है, वहां सूत्रांशों के निर्देश में कही-कहीं न्यूनाधिक पाठ दिया है। इस सूची में सूत्रों की सामान्य रूप से प्रतीकों का निर्देश किया है।

ख. निघण्टु गत एक शब्द के जहां अनेक अर्थों का निदर्शन कराया गया है, वहां भाष्य में प्रथम उद्धरण में निघण्टु गत शब्द पढ़ा है और द्वितीय में नहीं पढ़ा। यथा ऋ० १।४।७ के भाष्य में—'ईमिति जलनामसु पठितम्। निघं० १।१२।। पदनामसु च। निघं० ४।२।।' ऐसे स्थलों में हमने इस सूची में दूसरे पाठ में भी निघण्टु गत शब्द का निर्देश कर दिया है। यथा—ईमिति जलनामसु ४९९। ईमिति पदनामसु ४९९।।

१. अष्टाध्यायी और महाभाष्य के उद्धरणों की सूत्रसंख्या रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित सूत्रपाठ के अनुसार दी गई है। अन्य संस्करणों तथा काशिका आदि में कहीं-कहीं सूत्रसंख्या का भेद है।

१. मूलग्रन्थे 'मनुष्यनामसु तस्थुष. पञ्चजना इति' पाठः ।

१. मूलग्रन्थे 'कर्मणा नामसु शचीति' पाठः ।

२. मूलग्रन्थे 'प्रजानामसु शचीति' पाठः ।

३ मूलग्रन्थे 'वाचो नामसु शचीति' पाठ. ।



चतुर्थं परिशिष्टम्

टिप्पण्यामुद्धृतानामुद्धरणानां

वर्णानुक्रमेण सूची

❦

पञ्चमं परिशिष्टम्

भाष्ये प्रमाणत्वेनोपन्यस्तानां

ग्रन्थानां सूची

१. द्र०—सामवेदीय तवलकारोपनिषद् । २. द्र०—सिद्धान्त-कौमुदी
३. द्र०—'पञ्चाङ्गपत्रम्' शब्दः

१. अयं संवत् १९३१ वैक्रमाब्दे प्रकाशितः सभाष्यसन्ध्योपासनादिपञ्चमहायज्ञविधिनामा ग्रन्थः, न तु संवत् १९३४ वैक्रमाब्दे प्रकाशितः ।

२. द्र०—'तिथिपत्रम्' शब्दः ।

३. द्र०—'मीमांसा' शब्दः ।

४. द०—'शुक्लयजुर्वेद' शब्दः ।

१. द्र०—'यजुर्वेद' शब्दः ।
२. द्र०—'कौमुदी' शब्दः ।

षष्ठं परिशिष्टम्

टिप्पण्यामुद्धृतानां ग्रन्थानां सूची

१. द्र०—'ऋग्भाष्योपाद्धात:' शब्द: ।

२. द्र०—'ऋग्भाष्योपक्रमणिका' शब्द: ।

१. द्र०—'कात्यायनश्रौतसूत्रम्' शब्दः ।

२. द्र०—'कातीयश्रौतसूत्र' शब्दः ।

३. द्र०—'चतुर्वेदविषयानुक्रम' शब्दः ।

४. द्र०—'चतुर्वेदविषय-सूची' शब्दः ।

[1] द्र०—'माधवीया धातुवृत्ति' शब्दः । [2] द्र०—'सभाष्यसन्ध्योपासनादिपञ्चमहायज्ञविधि' शब्दः ।

१. द्र०—'धातुवृत्ति' शब्दः ।



१. यजुषो माध्यन्दिनी सहिता ।

२. सं० १६४० वैक्रमाब्दे परिशोध्य प्रकाशितो ग्रन्थ इहाभिप्रेतः, न तु म० १६३२ वैक्रमाब्दे प्रकाशितः ।

३. स० १६३६ वैक्रमाब्दे सशोधितः, १६४१ वैक्रमाब्दे प्रकाशित. । न तु १६३३ वै० (=१८५७ ई०) वत्सरे मुद्रित. ।

४. अयं सं० १६३२ वैक्रमाब्दे प्रकाशितो ग्रन्थः । १६३४ वैक्रमाब्दे 'पञ्चमहायज्ञविधिः' नाम्नाऽपरोऽपि ग्रन्थः प्रकाशित । द्र०—'पञ्चमहायज्ञविधिः' शब्दः ।

सप्तमं परिशिष्टम्

भाष्ये स्मृतानां व्यक्ति-स्थान-विशेषाणां नाम्नां सूची

1. द्र०—'मेधातिथिः (काण्वः) शब्दः ।



1, द्र०—'काण्वो मेधातिथिः' शब्दः ।

अष्टमं परिशिष्टम्

टिप्पण्यां स्मृतानां व्यक्ति-स्थान-विशेषाणां नाम्नां सूच

१. द्र०—'पतञ्जलि:' शब्द: ।
२. द्र०—'निदानसूत्रकार:' शब्द: ।
३. द्र०—'महाभाष्यकार:' शब्द: ।

१. द्र०—'पतञ्जलिः' शब्द.। २. द्र०—'वेङ्कटमाधवः' शब्दः ।
३. द्र०—'ह्विटनी राथ' शब्द । ४. द्र०—'माधवभट्टः' शब्द । ५. द्र०—'राथ ह्विटनी' शब्द. ।

नवमं परिशिष्टम्

ऋग्भाष्ये प्रथमखण्डे व्याख्यातानां मन्त्राणां सूची

दशमं परिशिष्टम्

भगवत्पाददयानन्दस्वामिनो वेदभाष्यस्य विषये

श्रीमतोऽरविन्दघोषस्य मन्तव्यम्

ग्रन्थादौ १७तमे पृष्ठे दयानन्दीयवेदभाष्यविषयिका महात्मनोऽरविन्दस्य धारणा तदीयाऽऽङ्ग्लभाषानिबद्धलेखतः संक्षिप्य संस्कृतभाषायामुपस्थापिता । अत्र तस्य विदुषो मूलभूतो लेख उपस्थाप्यते—

It is objected to the sense Dayananda gave to the Veda that it is no true sense but an arbitrary fabrication of imaginative learning and igenuity, to his method that it is fantastic and unacceptable to the critical reason, to his teaching of a revealed Scripture that the very idea is a rejected superstition impossible for any enlightened mind to admit or to announce sincerely.

I shall only state the broad principles underlying his thought about the Veda as they present themselves to me.

To start with the negation of his work by his critics, in whose mouth does it lie to accuse Dayananda's dealing with the Veda of a fantastic or arbitrary ingenuity? Not in the mouth of those whose who accept Sayana's traditional interpretation. For if ever there was a monument of arbitrarily erudite ingenuity, of great learning divorced, as great learning too often is, from sound judgment and sure taste and a faithful critical and comparative observation, from direct seeing and often even from plainest common sense or of a constant fitting of the text into the Procrustean bed of preconceived theory, it is surely this commentary, otherwise so imposing, so useful as fiirst crude material, so erudite and laborious, left to us by the Acharya Sayana. Nor does the reproach lie in the mouth of those who take as final the recent labours of European scholarship. For if ever there was a toil of interpretation in which the loosest vein has been given to an ingenious speculation, in which doubtful indications have been

snatched at as certain proofs, in which the boldest conclusions have been insisted upon with the scantiest justification, the most enormous difficulties ignored and preconceived prejudice maintained in face of the clear and often admitted suggestions of the text, it is surely this labour, so eminently otherwise for its industry, good will and power of research, performed through a long century by European Vedic scholarship.

What is the main positive issue in this matter ? An interpretation of Veda must stand or fall by its central conception of the Vedic religion and the amount of support given to it by the intrinsic evidence of the Veda itself. Here Dayananda's view is quite clear, its foundation inexpugnable. The Vedic hymns are chanted to the One deity under many names, which are used and even designed to express His qualities and powers. Was this conception of Dayananda's arbitrary conceit fetched out of his own too ingenious imagination ? Not at all; it is the explicit statement of the Veda itself; "One existent, sages" not the ignorant, mind you, but seers, the men of knowledge,—"speak of in many ways, as Indra, as Yama, as Matarisvan, as Agni," The Vedic Rishis ought surely to have known something about their own religion, more, let us hope than Roth or Max Muller, and this is what they knew.

We are aware how modern scholars twist away from the evidence. This hymn, they say, was a late production, this loftier idea which it expresses with so clear a force rose up somehow in the later Aryan mind or was borrowed by those ignorant fire-worshipers, sun-worshipers, sky-worshipers from their cultured and philosophic Dravidian enemies. But throughout the Veda we have confirmatory hymns and expressions : Agni or Indra or another is expressly hymned as one with all the other gods. Agni contains all other divine powers within himself, the Maruts are described as all the gods, one deity is addressed by the names of others as well as his own, or, most commonly, he is given as Lord and King of the universe, attributes only appropriate to the Supreme Deity. Ah, but that cannot mean, ought not to mean, must not mean the worship of One; let us invent a new word, call it henotheism and suppose that the Rishis did not really believe Indra or Agni to be the Supreme Deity but treated any god or every god as such for the nonce, perhaps that he might feel the more flattered and lend a more gracious ear for so hyperbolic a compliment !

But why should not the foundation of Vedic thought be natural monotheism rather than this new fangled monstrosity of henotheism ? Well because primitive barbarians could not possibly have risen to such high conceptions and if you allow them to have so risen you imperil our theory of evolutionary stages of the human development and you destroy our whole idea about the sense of the Vedic hymns and their place in the history of mankind. Truth must hide herself, common sense disappear from the field so that a theory may flourish ! I ask, in this point, and it is the fundamental point, who deals most straightforwardly with the text, Dayananda or the Western scholars ?

But if this fundamental point of Dayananda's is granted, if the character given by the Vedic Rishis themselves to their gods is admitted, we are bound, whenever the hymns speak of Agni or another, to see behind that name present always to the thought of Rishis the one Supreme Deity or else one of His powers with its attendant qualities or workings. Immediately the whole character of the Veda is fixed in the sense Dayananda gave to it; the merely ritual, mythological, polytheistic interpretation of Sayana collapses, the merely meteorological and naturalistic European interpretation collapses. We have instead a real scripture, one of the world's sacred books and the divine word of a lofty and noble religion.

एकादशं परिशिष्टम्

ऋग्वेदभाष्ये तट्टिप्पण्यां चोद्धृतग्रन्थेषु केषाञ्चिद् अत्रोपयुज्यमानानां विशिष्ट-संस्करणानां निर्देशः

अथर्ववेदः—प्राध्यापक-राथह्विटनीभ्यां सम्पादितं संस्करणम् ।

अष्टाध्यायीसूत्रपाठः—पण्डितब्रह्मदत्तजिज्ञासुना सम्पादितः, रामलालकपूरट्रस्ट, बहालगढतः प्रकाशितः ।

उणादिसूत्रपाठः—उणादिकोशनाम्ना भगवद्दयानन्दसरस्वत्या व्याख्यातः, वैदिकयन्त्रालय-अजमेरतः प्रकाशितः ।

काशिका—लाजरसप्रेसकाशीतः प्रकाशिता ।

क्षीरतरङ्गिणी—युधिष्ठिरमीमांसकेन सम्पादिता, रामलालकपूरट्रस्टतः प्रकाशिता ।

गणरत्नमहोदधिः—इटावानगरतः प्रकाशितः ।

चरणव्यूहः—चौखम्बा संस्कृत सीरीजकाशीतो यजुःप्रातिशाख्यान्ते प्रकाशितः ।

छन्दोविचितिः—लवपुरतः प्रकाशितनिदानसूत्रान्तर्गता ।

तैत्तिरीय-आरण्यकम्—आनन्दाश्रम (पूना) तः प्रकाशितम् ।

धातुपाठः—रामलालकपूरट्रस्ट-बहालगढ़तः प्रकाशितः ।

धातुवृत्तिः—माधवीया धातुवृत्तिः, चौखम्बासंस्कृतसीरीजकाशीतः प्रकाशिता ।

निघण्टुः—वैदिकयन्त्रालय-अजमेरतः प्रकाशितः ।

निरुक्तम्—डा० लक्ष्मणस्वरूपेण सम्पादितम्, लवपुरीयपंजाब-विश्वविद्यालयतः प्रकाशितम् ।

निरुक्तसमुच्चयः—युधिष्ठिरमीमांसकेन सम्पादितः, द्वितीयसंस्करणम् ।

पदमञ्जरी—लाजरसप्रेसकाशीतः प्रकाशिता ।

परिभाषावृत्तिः (सीरदेवीया)—पूनातः प्रकाशिते परिभाषासंग्रहे मुद्रिता ।

पूनाप्रवचनम् (उपदेशमञ्जरी)—रामलालकपूरट्रस्टतः प्रकाशितम् ।

प्रतिज्ञापरिशिष्टम् (श्रौतपरिशिष्टम्)—पण्डितश्रीधरवारेण कृतया व्याख्यया समेतम्, नासिकनगरात् प्रकाशितम् ।

" " **(प्राति०परि०)**—चौखम्बासंस्कृतसीरिजकाशीतः प्रकाशिते यजुःप्रातिशाख्यान्ते मुद्रितम् ।

महाभाष्यम्—निर्णयसागरमुम्बई-मुद्रितम् ।

वार्तिकसूत्राणि—महाभाष्य-काशिकान्तर्गतानि । तत्र स्थान-निर्देशः रामलालकपूरट्रस्टतः प्रकाशिताष्टाध्यायीसूत्रपाठानुसारी ।

वेदवाणी—मासिकपत्रिका, रामलालकपूरट्रस्टतः प्रकाश्यमाणा ।

वेदसंज्ञामीमांसा—युधिष्ठिरमीमांसकविरचिता ।

वैदिकछन्दोमीमांसा—युधिष्ठिरमीमांसकविरचिता, रामलालकपूरट्रस्टतः प्रकाशितायाः प्रथमं संस्करणम् ।

वैदिक वाङ्मय का इतिहास (प्रथमो भागः)—पण्डितभगवद्दत्तविरचितः, द्वितीयं संस्करणम् ।

वैदिकस्वरमीमांसा—युधिष्ठिरमीमांसकविरचिता, रामलालकपूरट्रस्टतः प्रकाशिताया द्वितीयं संस्करणम् ।

व्याडिपरिभाषासूचनम्—पूनातः प्रकाशिते परिभाषासंग्रहे संगृहीतम् ।

शिक्षा-सूत्राणि—युधिष्ठिरमीमांसकेन सम्पादितानि ।

संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास—युधिष्ठिर मीमांसकेन विरचितः । प्रथमभागस्य द्वितीयं संस्करणम्, द्वितीयभागस्य प्रथमं संस्करणम् ।



द्वादशं परिशिष्टम्

परिवर्धनं पाठ-शोधनं च

(क) टिप्पणीषु परिवर्धनम्

पृष्ठ ३१, पं० १९—'व्याख्या आगे करेंगे' पर टिप्पणी—युगों के वर्षों के घट-बढ़ की व्याख्या आगे इस ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होती ।

पृष्ठ ३१२, पं० १७—'इति नित्यश्राद्धम्' पर टिप्पणी—एषा पङ्क्ति सर्वसंस्करणेष्वस्थाने पठितोपलभ्यते ।

पृष्ठ ३३८, पं० २९—'०प्युद्धृतः' इत्यतोऽग्रे परिवर्धनीयम्—द्र०—पृष्ठ ५०१ ।

पृष्ठ ४०६, पं० २७ 'अभावं वा वक्ष्यति' इत्यतोऽग्रे परिवर्धनीयम्—"ग्रन्थकृताऽयमेवाभिप्रायः स्वीयेऽष्टाध्यायीभाष्य एवं विवृतः—'शबादेशाः श्यनादयः करिष्यन्त' इति वचनाच्छपो लुकि तत्स्थानभाविनामादेशानामप्यभावः । तेन श्यन्नादीनामपि लुक्युदाहरणानि सिद्ध्यन्ति ।" अष्टा० भाष्य २।४।७३ ।

पृष्ठ ४७८, पं० १५—'धीरिति कर्मप्रज्ञयोर्नामसु' इत्यत्र टिप्पणी—द्र०—कर्मनामसु, निघं० ।१; प्रज्ञानामसु, निघं० ३।९ ॥

पृष्ठ ५३८, पं० ३०—'पातयामः ।' इत्यतोऽनन्तर पाठः परिवर्धनीयः—ऋ० १।१६।३ मन्त्रस्थानामिन्द्रपदानां पृथक्त्वशस्त्रिविधेऽर्थे कृतेऽपि भाष्यकारो न तत्र श्लेषालंकारं निर्दिशति ।

पृष्ठ ५७२, पं० १७—'०गार्तिभ्यस्थन्' अयं ग्रन्थकारकृतोणादिकोशवृत्तिपाठानुसारी पाठः । वस्तुतस्त्वत्र '०गर्तिभ्यस्थन्' इत्येवं शुद्धः पाठो द्रष्टव्यः, 'गा+ऋति' इत्यनयोः संहितायां 'गर्ति' इत्येव रूपं भवति ।

पृष्ठ ५८६, पं० २९—'बोध्यः ।' इत्यनन्तरं पाठो वर्धनीयः—ग्रन्थकृता ऋ० १।१४।७ मन्त्रव्याख्याने कृधिपदार्थे 'विकरणाभावः' इति स्पष्टमुच्यते (द्र०—पृष्ठ ६३६) ।

पृष्ठ ५९८, पं० ३०—'अपपाठः ।' इत्यतोऽग्रे परिवर्धनीयम्—भाष्यकारेण निरुक्ते 'सतः' पदस्य निर्देशाद् 'विद्यमानानां' इत्यर्थो निर्दिष्टः ।

पृष्ठ ५९९, पं० २३; पृष्ठ ६२१, पं० १५; पृष्ठ ६२४, पं० ७; पृष्ठ ६४१, पं० १९—अत्र सर्वत्र **'पूर्वसवर्णम्'** इत्यस्य स्थाने **'पूर्वसवर्ण[दीर्घत्व]म्'** पठनीयम् ।

(ख) पाठ-शोधनम्

अत्र मुद्रणकाले बहुत्रोपरिवर्तमानो रेफ ( ) अनुस्वारचिह्नं च त्रुटितम्। तेनैतादृश्योऽशुद्धयः केषुचिद् ग्रन्थेषु संजाताः, केषुचिन्नेति कृत्वा नैतादृश्योऽशुद्धयोऽत्र निर्दिष्टाः। यत्रैतादृश्योऽशुद्धय उपलभ्यरेन् ता विद्वद्वर्यैः संशोध्य पठनीयाः। प्रधानभूतास्त्वशुद्धयो निर्दिश्यन्ते—

पृष्ठ	पं०	अशुद्धः	शुद्धः
५	६	चक्षु०	चक्षु०
२५	२	वैव वतस्य	वैवस्वतस्य
५६	१८	दूसरा	दूसरा
८५	८	०मवं यच्च	०मंवमं यच्चं
११५	२६	मित्रस्य	मित्रस्यं
११५	२६	भूतानि	भूतानि
१४०	१८	व्युक्रामत्	व्युक्रामत्
१४२	१२	वायव्या०	वायव्या०
१४३	१२	जज्ञिरे	जज्ञिरे
१४७	६	श्रवण	श्रावण
१४८	१३	प्रथमान्यासन्	प्रथमान्यासन्
१४६	१५	संभृतः	संभृतः
१५२	१३	अग्रे	अग्रे
१७०	१०	वेदिस्त्रकोणा	वेदिस्त्रिकोणा
१७२	३	वीर्यमसि वीर्यं	वीर्यमसि वीर्यं
१७२	३	बलं मयि धेहि	बलं मयि धेहि
१७३	६	गणेषु	गुणेषु
१७७	६	शत्रुओं	शत्रुओं
१७८	११	स्वर्यज्ञेन	स्वर्यज्ञेनं
१८४	१२	परमात्मनं	परमात्मानं
२१६	१७	०भयविघं५ बाद०	०भयविघं ५बाद०
३०७	२३	उशन्नुं ऽआ	उशन्नुंशतऽ आ
३१६	१०	कलिपमुनि	कपिलमुनि
३२८	७	जष्	जृष्
४१७	४	३४	३३
४४८	२६	परोपकारीसभाया	परोपकारिणीसभायाः
४५६	१७	गोपमृतस्य	गोपामृतस्य
४७६	१०	'शुभ, पती'	'शुभः, पती'
४८०	७	सर्वसुखशिल्पविद्यासिद्धये	सर्वसुखसिद्धये

पृष्ठ	पं०	अशुद्धः	शुद्धः
४८१	१८	व्रर्णलोपो	वर्णलोपो
४९५	२७	मनीसा	मनीषा
५२१	२३	षष्ठमन्त्रपदार्थे	पञ्चममन्त्रपदार्थे (पृ० ५२४)
५२१	३३	यतीयटिप्पण्या	तृतीयटिप्पण्यां
५६०	२१	४७	७३
५६९	२१	६,७,९-१२	७,९-१२
५६९	२२	८ निचृ०	६,८ निचृ०
५६९	२६	०रनुष्टुप्छन्दसि	०निचृदनुष्टुप्छन्दसि
५७९	१७	सुऽविवृतं	सुविवृतं
५८३	२	चिदिदं	[आचार्यश्] चिदिद
५८६	६	ऋत	ऋत
५९५	२३	पदपा	पदपाठे
५९९	२३	१०६	१०२
६११	२४	स्तुव:	स्तुवः
६११	२५	'स्नुवान'	'स्तवान'
६११	३०	छन्य:शास्त्र०	छन्द:शास्त्र०
६३९	२५	सोम्यम् मध्वऽग्र	सोम्यं मध्वग्र
६४०	२२,२३	धर्त्ता च (इमम्) अस्मद-	धर्त्ता च। अत्र···

१७. **वैदिक-नित्यकर्म-विधि**—ले० प० युधिष्ठिर मीमांसक। प्रातः से शयनपर्यन्त समस्त नैत्यिक कर्म, पञ्चमहायज्ञ, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, और बृहद्यज्ञ के मन्त्रों के विस्तृत सरल शब्दार्थ भावार्थ सहित। प्रार्थना के मन्त्र, पद्य एवं भजनों से युक्त। मूल्य लागतमात्र १-५०

१८. **पंचमहायज्ञविधि**—लेखक ऋषि दयानन्द सरस्वती। मू० ० ३५

१९. **वर्णोच्चारणशिक्षा**—ऋषि दयानन्दकृत पाणिनीय शिक्षासूत्रों की हिन्दीव्याख्या सहित। मूल्य ०-२५

२०. **शिक्षासूत्राणि**—आपिशलि, पाणिनि और चन्द्रगोमी प्रोक्त। सं० यु०मी०। मू० १-५०

२१. **शिक्षाशास्त्रम् (संस्कृत)**—पं० जगदीशाचार्य। मूल्य ४-००

२२. **निरुक्त-शास्त्र**—पं० भगवद्दत्त कृत नरुक्त-प्रक्रियानुसारी हिन्दीभाष्य सहित। २०-००

२३. **निरुक्तसमुच्चयः**—आचार्य वररुचिकृत नैरुक्तसम्प्रदाय का प्रामाणिक ग्रन्थ। सं० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। मू० ५-००

२४. **अष्टाध्यायीसूत्रपाठः**—पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु द्वारा परिशोधित संस्करण। मूल्य १-००, साधारण जिल्द १-१५

२५. **अष्टाध्यायीसूत्रपाठः**—पाठभेद और सूत्रसूची सहित। मूल्य सजिल्द ३-००

२६. **धातुपाठः**—अकारादि क्रम से धातुसूची सहित। मू० १-००

२७. **संस्कृत-धातुकोषः**—सं०पं० युधिष्ठिर मीमांसक। अकारादि क्रम से पाणिनीय अर्थ सहित धातुओं के हिन्दी में विविध अर्थ, तथा उपसर्ग योग से प्रयुज्यमान विविध अर्थ सहित। मू० ३-००

२८. **अष्टाध्यायी भाष्य**—(प्रथमावृत्ति) ले०प० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। प्रत्येक सूत्र का पदच्छेद, विभक्ति समास अनुवृत्ति, वृत्ति उदाहरण, उदाहरण-सिद्धि सहित, संस्कृत तथा हिन्दी भाषा में।
प्रथम भाग—१५-००, **द्वितीय भाग**—१२-५०, **तृतीय भाग** १२-५०

२९. **महाभाष्य**—पं० युधिष्ठिर मीमांसक कृत हिन्दी-व्याख्या सहित। भाग २। (नवाह्निक से आगे का) मूल्य सजिल्द २०-०० तृतीय भाग छप रहा है।

३०. **संस्कृत पठनपाठन की अनुभूत सरलतम विधि**—ले० पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। इस ग्रन्थ के द्वारा बिना रटे संस्कृत भाषा और पाणिनीय व्याकरण का बोध कराया गया है। प्रथम भाग ४-००

द्वितीय भाग—ले० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। प्रथम भाग के निर्देशों के अनुसार। मू० ५-५०

३१. **दैवम्-पुरुषकारवार्तिकोपेतम्**—धातुपाठ का व्याख्यात्मक प्राचीन ग्रन्थ। मूल्य ८-००

३२. **काशकृत्स्न-धातु-व्याख्यानम्**—चन्नवीर कविकृत कन्नड़टीका का पं० युधिष्ठिर मीमांसक कृत संस्कृत-रूपान्तर। मू० ६-२५

३३. **काशकृत्स्न-व्याकरणम्**—सं० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। पाणिनीय व्याकरण से पूर्ववर्ती काशकृत्स्न व्याकरण के उपलब्ध १४० सूत्रों की व्याख्या तथा इतिहास (संस्कृत में) मूल्य ३-००

३४. **वामनीयलिङ्गानुशासनं स्वोपज्ञवृत्ति-सहितम्**—संस्कृत के शब्दों का लिङ्गबोधक संक्षिप्त ग्रन्थ। मू० २-००, सजिल्द ३-००

३५. **शब्दरूपावली**—ले० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। इस ग्रन्थ के द्वारा शब्दों के रूप विना रटे समझपूर्वक बड़ी सुगमता से स्मरण हो जाते हैं। मू० ०-७५

३६. **भागवृत्तिसंकलनम्**—अष्टाध्यायी की लुप्त प्राचीनवृत्ति के २०० उद्धरणों का सकलन। सं० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। मूल्य ३-००

३७. **संस्कृतवाक्यप्रबोध**—स्वामी दयानन्द कृत इस ग्रन्थ पर पं० अम्बिकादत्त व्यास 'अबोध-निवारण' ग्रन्थ के रूप में किये गये आक्षेपों का पाणिनीय व्याकरण के अनुसार उत्तर गया है। सम्पादक पं० युधिष्ठिर मीमांसक। मू० १-२५ ।(**मूलमात्र**)स्वामी द० सरस्वती। मू०

३८. **अनासक्ति-योग—मोक्ष की पगडण्डी**—ले० पं० जगन्नाथ पथिक। नाम के योगविषयक अत्युत्तम ग्रन्थ। मूल्य !

३९. Aryabhivinaya (English Translation and Notes by Swami Bhumanand Sar

मू० २. ७५, सजिल्द

४०. **विष्णुसहस्रनाम-स्तोत्रम्** (सत्यभाष्य-सहितम्)—**लेखक पं० सत्यदेव वासिष्ठ।** **सहस्रनाम की आध्यात्मिक व्याख्या** संस्कृत तथा हिन्दी में चार भागों में। प्रत्येक भाग मूल्य १

४१. **वाल्मीकि-रामायण**—हिन्दी-अनुवाद सहित। अनुवादक तथा परिशोधक—श्री अखिलानन्द झरिया। बालकाण्ड मू० ३-००। अयोध्याकाण्ड मू० ५-००। अरण्य-किष्किन्धा मू० ६-००। सुन्दरकाण्ड मू० ३-५०। युद्धकाण्ड १०-५०।

४२. **विदुरनीति**—नीतिविषयक प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थ, पदार्थ तथा विस्तृत हिन्दी व्या सहित। व्याख्याता—पं० युधिष्ठिर मीमांसक। ४०० पृष्ठ, सुन्दर छपाई, अल्प मूल्य। मू०

४३. **सत्याग्रहनीति-काव्य**—लेखक पं० सत्यदेव वासिष्ठ। भाषानुवाद सहित। मू० ५-

४४. **संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास**—(तीन भागों में) आदिकाल से वर्तमान तक के समस्त वैयाकरणों एवं व्याकरणवाङ्मय का प्रामाणिक इतिहास। लेखक—युधिष्ठिर मीम प्रथम भाग २५-००, द्वितीय भाग २०-००, तृतीय भाग १५-००।

४५. **पाणिनि के समय विद्यमान संस्कृत वाङ्मय**—लेखक पं० युधिष्ठिर मीमांसक। १

४६. **संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि**—ले० डा० कपिल

मू० १०

४७. **ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वलिखित और स्वकथित आत्म-चरित।** मू० ०

४८. **ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज की संस्कृतसाहित्य को देन**—ले० प्रो० भवानी भारतीय एम० ए०, पीएच० डी०। मू० सजिल्द ८-०० मा

४९. **पूना-प्रवचन (उपदेश-मञ्जरी)**—ऋषि दयानन्द सरस्वती के १५ व्याख्यान। मू० २

५०. **अष्टोत्तरशतनाममालिका**—लेखक पं० विद्यासागर शास्त्री एम०ए०। सत्यार्थप्रकाश प्रथम समुल्लास में व्याख्यात ईश्वर नामों की विस्तृत प्रामाणिक व्याख्या। मूल्य ५-

५१. **प्यारा ऋषि**—ले० श्री आनन्द स्वामी जी। मूल्य ०-

५२. **अमीरसुधा**—(भजन-संग्रह) भक्त अमीचन्द। मू० ०-

५३ **देवतावाद का भौतिक तथा वैज्ञानिक रहस्य**—ले० पं० हंसराज रिसर्चस्कालर। १-

५४. **आत्मा की जीवनगाथा**—लेखक श्री कर्मनारायण कपूर। मूल्य १-

५५. **दयानन्द-शास्त्रार्थ-संग्रह**—सं० भवानीलाल भारतीय एम०ए० पीएच० डी०। ३-

५६. **नाडी-तत्त्व-दर्शनम्**—**लेखक पण्डित सत्यदेव वासिष्ठ आयुर्वेदाचार्य। नाडी-विज्ञा सम्बन्धी अपूर्व ग्रन्थ (संस्कृत-हिन्दी)।** मूल्य १०-०

पुस्तक-प्राप्ति-स्थान—

रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, जिला-सोनीपत (हरयाणा)